प्राच्यभारतीग्रन्थमाला—२८
Prācyabhāratīgranthamālā—28

योगवासिष्ठ

हिन्दी अनुवाद सहित

डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी

Prācyabhāratīgranthamālā—28

YOGAVĀSIṢṬHA

OF

MAHĀKĀVI VALMĪKI

with Hindi Translation KUSUMALATĀ

BY

Dr. MAHAPRABHULAL GOSWAMI

Volume III

Upaśam Prakaraṇa (from Adhyāya 31-93) and Nirvāṇa Prakaraṇa Pūrvārdha (Adhyāya 1-62)

Tara Book Agency

Varanasi

प्राच्यभारतीग्रन्थमाला—२८

महाकविश्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः

योगवासिष्ठः

डा० श्रीमहाप्रभुलालगोस्वामिविरचितकुसुमलताख्य-
हिन्दीभाषानुवादेन सहितः

तृतीयो भागः

उपशमप्रकरण (अध्याय ३१-९३) एवं
निर्वाणप्रकरणपूर्वार्द्धे १-६२ अध्यायान्तम्

तारा बुक एजेंसी
वाराणसी

ISBN 81-85403-63-5

प्रकाशक :
तारा बुक एजेंसी
कमच्छा
वाराणसी २२१०१०

Published by
Tara Book Agency
Kamacha
Varanasi 221010

प्रथम संस्करणम्, १९८९
मूल्य : १६०.००

First Edition, 1989
Price : 160.00

मुद्रक :
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी

Printed at
Tara Printing Works
Varanasi

भूमिका

इस खण्ड में निर्वाण प्रकरण के पूर्वार्द्ध में अर्जुन को भगवान् के द्वारा प्रदत्त उपदेशों के द्वारा कर्म, भक्ति और ज्ञान की किस प्रकार मोक्ष के प्रति साधनता है इसका उपक्रम करते हुए इन्द्रियार्थोपलम्भ विचार के बाद मोक्षोपाय की दृढ़ता के लिए अर्जुनोपाख्यान को गीता के अनुसार प्रदर्शित किया है अतः द्वितीय भाग की भूमिका में निश्चित अन्य ग्रन्थों का तुलनात्मक समीक्षण छोड़कर गीता का ही कर्म उद्धारित करने की वाच्यता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—हे अर्जुन ! तुम जन्म-मरण आदि छः ऊर्मियों से निर्मुक्त साक्षात् आत्म-स्वरूप ही किसी को मारने वाले नहीं हो।

अर्जुन ! त्वं न हन्ता त्वमभिमानमलं त्यज ।
जरामरणनिर्मुक्तः स्वयमात्मासि तत्त्वतः ॥ यो० वा० नि० पू० ५३–१

मानव कर्म करते हुए भी यदि अभिमान शून्य रहता है, तो वह हर्ष, शोक, दुःख आदि से लिप्त नहीं होता है।

यस्य नाहङ्कृते भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ यो० वा० नि० पू० ५३–२

इस प्रसङ्ग को देखते हुए यह सामान्य जिज्ञासा होती है कि प्रवृत्ति-कर्म किस प्रकार मोक्ष का साधन हो सकता है और उसको करते हुए भी कैसे राग-द्वेष आदि से लिप्त नहीं होता है।

अतः कर्म, भक्ति और ज्ञान की मोक्षोपायता वर्णन इस भूमिका में विशेष रूप से दिया जा रहा हैं, अन्यथा अर्जुन और श्रीराम की प्रकृति-कर्म की सार्थकता सम्भव नहीं है।

माया से परे अनन्त अनादि चैतन्य परमतत्त्व ही योगवासिष्ठ का प्रतिपाद्यतत्त्व है, उसकी प्राप्ति के साधन का विश्लेषण विविध प्रकरणों के द्वारा किया गया है। मायिक और परिच्छिन्नता का परिचय कर्म और उसके फल की आसक्ति में है। अज्ञान के कारण जीव अभावग्रस्त हो कर्म में तत्पर होता है। अभाव को दूर करने के लिए फल में भी आसक्ति होती है। अतः कर्म करते हुए भी किस प्रकार मानव बन्धन विमुक्त हो सकता है, ऐसी कौन-सी कुशलता है कि बन्धन का कारण कर्म-बन्धन न कर मुक्ति के पथ पर अग्रसर करता है। ससीम से कैसे असीमता को को प्राप्त किया जा सकता है ? किस प्रकार कर्म बन्धनरूपी प्रथम ग्रन्थि शिथिल हो सकती है ?

यज्ञात्मक कर्म-ग्रन्थि के बाद आगे की ग्रन्थिओं का खोलते-खोलते योग, भक्ति और ज्ञान के अन्तराल से बढ़ते हुए वैराग्य की भूमि पर आरूढ हो चरम परम निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। ज्ञान का क्रमिक विकास ही अर्थात् चित्त की झलमल दीप्ति ही मानव को कर्म-बन्धन के परे परिच्छिन्नता से पृथक् करने में सहायक है। "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति सूरयः।" अज्ञान ही बन्धन का मूल हेतु है और ज्ञान के द्वारा उस अज्ञान को प्रकाशित किया जाता है। इसलिए बन्धन से निर्वाण के ज्ञान की शरण में ही जाना पड़ेगा।

बन्धन किस प्रकार दृढ से दृढतर होकर मानव को इन्द्रिय भोग में आबद्ध रखता है और कैसे धीरे-धीरे इससे विमुक्ति होती है। योगवासिष्ठ में गीता के उद्धरणों के द्वारा इस विषय की पुष्टि की गई है, अतः, गीता इसका मूलाधार है—इसे वसिष्ठ ने स्वयं निर्दिष्ट किया है। अर्जुन ने प्रश्न किया था—"अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः। अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥"

इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है—'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।'

काम ही धीरे-धीरे ज्ञान को आवृत कर संसार में प्रवृत्त करता है। इन्द्रियों के गोचर विषयों के सम्पर्क से अज्ञानी सुख-दु:ख का अनुभव करता है। स्नायविक प्रतिक्रिया ही सुख-दु:ख के अनुभव की जनक है और सुख-दु:ख का अनुभव होते ही विषय का ध्यान आरम्भ होता है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। (गीता २।६२-६३)

यही मोह-जाल के विस्तार का क्रम और उसके द्वारा बन्धन का कौशल है। जब तक मानव अज्ञान के कारण अशुभ इन्द्रिय के राज्य में विचरण करता है, तब तक राग, द्वेष, काम और क्रोध के हाथ से छुटकारा का कोई उपाय नहीं है। प्राकृतिक नियम के अनुसार "इन्द्रियस्येन्द्रियार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। इस दैहिक प्रक्रिया की धारा को परिवर्तित करने तक यह अनिवार्य है। इनके रहने तक सुख में राग और सुख की प्राप्ति के लिए कर्म में प्रवृत्ति भोग और ऐश्वर्य के लिए चित्त की स्वाभाविक गति रहेगी ही। निर्मल ज्ञान के पथ पर चित्त की एकतान गति सम्भव नहीं है। प्रह्लाद के चरित्र से इसी विषय का निरूपण योगवासिष्ठ में किया गया है। भक्त भी भोग के कारण राग-द्वेष की भूमि पर स्थिर रहेगा। भक्त जब प्राणिमात्र में उस निर्मल स्वरूप का दर्शन करेगा और प्राणी भगवान् को चिन्मय स्वरूप में देखेगा, तब वह चिन्मय हो जायेगा।

चिन्मात्रमेव संसारसारः सकलसारताम् ।
गतः स देवः सर्वोऽहं तस्मात् सर्वमवाप्यते ।। यो० वा० नि० प्र० ३१।२०

इस उद्धार के उपाय के प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि "कामात्मा होकर स्वर्ग प्राप्ति के स्थान पर ज्ञानात्मा अर्थात् चिन्मय होकर त्याग परक होना चाहिए। इसके लिए स्वाभाविक गति का ही आश्रयण करना होगा । अस्वाभाविक किसी उपाय के अवलम्बन से किसी भी तरह अविच्छिन्न रूप में स्थापित नहीं किया जा सकता है । अवसर मिलते ही अज्ञानात्मक चित्त पुनः अपना स्वरूपधारण करेगा वह अपनी शक्ति (assert) का प्रयोग करेगा ही। कण्टक से ही कण्टक का उद्धार किया जाता है, अतः कर्म से ही कर्म बन्धन को शिथिल करना होगा। ब्रह्मात्मिका ज्ञानमूलक प्रवृत्ति से ही प्रवृत्ति का मुख परिवर्तित करना होगा। इस कर्म को यथार्थ या जीवन्मुक्त का सार्वभौम कर्म कहा जा सकता है। इस कर्म को समर्पित, मदर्थ कर्म तमभ्यर्च्य रूप कर्म बुद्धि युक्त कर्म, यज्ञार्थ कर्म कहा जाता है। ज्ञान युक्त कर्म से परम तत्त्व के अन्वेषण में तत्परता होती है और इससे अज्ञान रूपी कल्मष का क्षय होता है, कल्मष का क्षय होने पर दृढव्रत होता है। दृढव्रत होने पर इन्द्रिय ग्राम को अपने वश में लाना पड़ता है, अर्थात् आत्मवश्य विधेयात्मा होता है, आत्म निर्मलता होने पर विषयों के ध्यान का क्रमशः विनाश के राज्य में प्रवेश होता है, और एक भूमि से दूसरी भूमि की प्राप्ति होती है, इस क्रम में बुद्धि के परे जाकर स्थिरता आती है और कार्य का परित्याग होता है, इस प्रकार काम जय होने पर साथ-साथ राग और द्वेष भी निवृत्त हो जाता है, राग-द्वेष की निवृत्ति होने पर अवसाद के स्थान पर प्रसाद—आनन्द का आगमन होता है। "प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते" बुद्धि स्थिर और अशान्त चित्त शान्त हो जाता है। चित्त की प्रसन्नता ही चित्त की स्थिति निबन्धन स्थिति साधन है। इस प्रकार इन्द्रिय के दौरात्म्य से छुटकारा हो जाने पर स्वाराज्य विस्तार की सुविधा मिलने पर दैवयज्ञ आरम्भ कर ज्ञानयज्ञ की भूमिका से उठकर "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविस्वरूप" कर्म के या यज्ञ के सर्वाङ्ग में ब्रह्म स्वरूप दर्शन करते हुए ब्रह्म कर्म समाधि में मग्न हो जाता है। यही कर्म से कर्म निवृत्ति है, रोग की उत्पत्ति का साधन ही उसकी दवा है। कर्म के साथ ज्ञान के योग की आवश्यकता है। यह बुद्धि या ज्ञान असक्त बुद्धि है। दूसरे शब्दों में यह ज्ञान एका बुद्धि, धृतिगृहीत बुद्धि, योगज बुद्धि, भक्तियुक्त बुद्धि या तत्त्वबुद्धि है।

इस प्रकार तामस, राजस बुद्धि क्रमशः सात्त्विक और शुद्ध होकर प्रथम असक्तता, अनन्तर प्रसन्नता में अवसान में समत्व की प्राप्ति होती है। साधक बाह्य स्पर्श में असक्तात्मा होकर आत्मसुख की प्राप्ति करता है। यज्ञ से योग की भूमि में अवतीर्ण हो जाता है।

ब्रह्मबुद्धि, ब्रह्मात्मा, ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मपरायण की स्थिति में वह उपस्थित रहता है। इस समय बाह्य स्पर्श बाहर ही स्थिर रहता है और निष्पाप योगी समाधिरूप महाध्यान में मग्न रहता है। इस प्रकार सदात्मा योगी नियत मानस हो एक अपूर्व शान्ति का सन्धान प्राप्त करता है। गीता के शब्दों में "शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति" अन्तःसुख अन्तराराम, अन्तर्ज्योति से चित्त परिपूर्ण होकर युक्त, युक्ततर और युक्ततम हो जाता है। यह विषयासक्ति, अव्यक्तासक्ति, ब्रह्मासक्ति अर्थात् भक्त्यासक्ति को प्राप्त कर सभी आश्रयों का परित्याग कर चिदाश्रय, मदाश्रय, ब्रह्माश्रय हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मचित्त, ब्रह्मात्मक प्राण हो सभी दुःख आपदाओं का, सभी दुःखों का, सभी बाधाओं को पार कर ज्ञान प्रासाद पर आरोहण कर भूतकर्म, देव आत्मा, यज्ञ इन पृथक् भावों से हटकर या इनमें एक सद्रूप ब्रह्म का ही दर्शन करता है, जो अपने को आवृत रूप में रखकर अवस्थित था उसका प्रत्यक्षकर सभी संशयों से मुक्ति हो जाती है रौर भोक्तृत्व कर्तृत्व समाप्त हो जाता है। इस तरह तत्त्व की स्फूर्ति से परमतत्त्व में स्थिति हो जाती है। अर्थात् परमपद की प्राप्ति हो जाती है। गीता के शब्दों में "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"[१]।

मानव जीवन की साधना रहस्यात्मक तत्त्व का अन्वेषण कर ज्योतिर्मय तत्त्व का साक्षात्कार है। इसका रहस्य देदीप्यमान लोक में आरोहण कर परमदेवत्व की उपलब्धि है, यही तत्त्व की स्वरूप स्थिति है, प्राण में प्राणाराम को अन्वेषण कर प्राप्त करना, अविराम गति वेग के मूल में स्थित होकर इसको सुनियन्त्रित परिचालित करने वाले का साक्षात्कार ही साधना है।

इस ब्रह्मतत्त्व का आविष्कार कर्मों के मध्य से ही सर्वत्र परिव्याप्त स्वप्रकाश आत्मतत्त्व की प्राप्ति करनी है। यह जगत्-चक्र अज्ञान विजृम्भित कर्मचक्र है। किन्तु, इसी में जीव की उत्पत्ति, स्थिति और चरमतत्त्व की प्राप्ति है। अन्तःस्यूतज्ञान कर्म में निहित हो ज्ञानात्मक कर्म से सृष्टि और वृद्धि के साथ अन्वेषण कर प्रतिष्ठित करना है—इसकी सूचना जनक प्रह्लादादि के चरित्र से योगवासिष्ठ में दी गई है, "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः"। इसी सर्वगत चेतन ब्रह्मतत्त्व के अनुसन्धान में जीवन को उत्सर्ग करना होगा, मात्र अज्ञानात्मक इद्रिय की प्रवृत्ति से कर्मात्मक जीवन से किसी तत्त्व की प्राप्ति नहीं होकर सांसारिक आवागमन का ही कार्य अक्षुण्ण और प्रशस्त रहेगा। इसीलिए गीता में भी कहा है "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" जिसकी सूचना योगवासिष्ठ में कृष्णार्जुन-संवाद[१] के में वर्णित है। कर्म चरम उत्कर्ष की स्थिति की ज्ञान में परिसमाप्ति है। क्योंकि, जिससे कर्म की उत्पत्ति है वहीं उसकी समाप्ति होनी चाहिए। कर्म ब्रह्म से उत्पन्न है, अतः ब्रह्म में ही समाप्त होता है। कर्म और ज्ञान में आपेक्षिक या सामयिक भेद है। वस्तुतः ज्ञानी के कर्म और अकर्म में कोई भेद नहीं है। अतः स्वभावतः शुद्ध और स्वच्छ मूल से दृष्टि के हटने पर मूल सूत्र के छिन्न होने पर जीव का सहज आनन्द स्वरूप समाप्त होकर दुःख का उदय होता है और यह कर्म की अशुद्धि ही बन्धन की सृष्टि करती है। इसीलिए योगवासिष्ठ आरम्भ से ब्रह्म का पुनः पुनः उपदेश देकर मायिक कर्मों से सावधान होने की भावना को दृढ़ करता है। मूल की दृष्टि ही कर्म करते हुए असक्त भावना को उत्पन्न करती है। ज्ञानयुक्त, विवेकयुक्त कर्म, स्थूल की ओर से दृष्टि का परिवर्तन कर मूल ब्रह्म की ओर दृष्टि प्रदान कर क्रमशः विपर्यय या विपरीत बुद्धि और अस्मृति अर्थात् तत्त्वविस्मृति को हटाकर निर्मलबुद्धि की प्राप्ति से जगत् के प्रति असक्त बुद्धि होने से भोगपरायणता का परित्याग कर योगपरायणता को प्राप्त कराता है, फलतः अनासक्त बुद्धि होती है—मनुष्य जितात्मा विगत स्पृह हो नैष्कर्म्य ज्ञान

१. द्रष्टव्य योगवासिष्ठ ५२-५४ अध्याय पृ. ४७२ से ४८५

को प्राप्त कर मानव-जीवन में धन्य होता है। यही इन्द्रियों का मन के द्वारा नियमन है। ज्ञान के द्वारा ब्रह्म को ही एक मात्र तत्त्व समझ कर इन्द्रिय नियमन है। यही सभी कर्मों का मदाश्रय प्राप्ति अर्थात् प्रथम ज्ञानशरण लाभ है।

स्वभाव और अध्यात्मभाव, तत्त्वज्ञान एक ही वस्तु है "स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते"। यह शुद्धभाव अभिमान या स्वामिभाव का परित्याग है, अतः इसको सात्त्विक भाव कहा जाता है। यही अविकृत भाव अर्थात् essential भाव है। इसी स्थिति में स्वभावोत्पन्न गुणों के द्वारा उत्कर्षाभिमुखी कर्म चलता है। गुण विभागस्वरूप सत्त्व के तारतम्य से कर्मविभाग, कर्मविभाग से वर्णविभाग और वर्णविभाग से धर्मविभाग होता है। यह स्वाभाविक वर्णाश्रमोचित कर्म करने से ब्रह्म धर्म में परिणत होता है, यही जीव का श्रेयस्कर और कल्याणकर है। क्योंकि सार्वभौम विराट् वासुदेवात्मक ही सभी वर्ण, आश्रय और तदनुरूप धर्म हैं। सार्वभौम होने के कारण यह कर्म अहंममाभिमानशून्य ब्रह्मात्मक कर्म है।

तीन गुणों में सत्त्वगुण निर्मल और रागद्वेष शून्य है। प्रथम तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति के जालों से विमुक्ति सर्वथा असम्भव है। वामन अर्थात् नाटे व्यक्ति के द्वारा चन्द्रमा की प्राप्ति का प्रयास है। किन्तु एकमात्र ऐसा मार्ग भी है जिस पर चलकर लक्ष्य की प्राप्ति और संसारजाल से विमुक्ति सम्भव है। प्रथम श्रवण, मनन और निदिध्यासन अपेक्षित है। अनन्तर ॐ तत्सत् इन त्रिविध ब्रह्म की उपासना से राजस, तामस दोषों के प्रक्षालन से सात्त्विकता का सम्पादन होता है। गुणों का दोष सर्वथा विनष्ट हो जाता है। उस ब्रह्म की प्राप्ति ही उसकी माया से विमुक्त करती है और अनावृत तत्त्व का साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है। समस्त भूतवर्ग ब्रह्ममय हो जाता है। ब्रह्म के साथ संज्ञान होने का होने का साधन योगवासिष्ठ के अनुसार अज्ञानात्मक इन्द्रियों की सहज प्रवृत्तियों की गति के प्रवेश को सर्वमय त्रिगुणातीत ज्ञानात्मक में लगाना है।

प्रथम कर्म को सात्त्विक या सत्त्व प्रधान करने पर सात्त्विक बुद्धि के आश्रयण से ब्रह्माश्रित करना सुगम है किन्तु सभी कर्मों का सम्पादन करते हुए ब्रह्माश्रित होकर शाश्वत परम अव्यय पद को प्राप्त करना है। संसार से उत्तीर्ण और कर्म-बन्धन एवं गुण-बन्धन से मुक्ति का एकमात्र यही राजपथ है। मानवभूमि में आसुरिक प्रकृति की प्रेरणा जैसे सहज और स्वाभाविक है, दैवी प्रकृति की भावना उससे भी अधिक सहज और स्वाभाविक है। इस प्रकृति के साथ जीव की चेष्टा का सम्मिलन होते ही मणिकाञ्चन योग होता है और यह जीव के लिए ज्ञान के विस्तार का साधन है। प्रथम यह ऊर्ध्वस्रोत हीनबल रहता है, इसके बलाधान के लिए विपुल चेष्टा और दृढ़ अभ्यास की आवश्यकता है। इस सत्त्व शक्ति के प्रबल वेग के लिए देह इन्द्रिय परिव्याप्त होकर उस सर्वत्र अनुस्यूत सद्रूप ब्रह्म का अनुस्मरण करना चाहिए। प्रथम चेष्टा में कर्म के प्रबल वेग के साथ स्मरण का दृढ़ सम्बन्ध (close association) स्थापन करने पर यही शनैः शनैः उस अद्वितीय एक भूमि में प्रतिष्ठित कर देता है। तद्भाव भावित होने पर सतत उसी का स्मरण रहता है और जीवन-संग्राम में सफल रहता है। सदा स्मरण के प्रयास से ध्रुवा स्मृति की प्राप्ति होती है और मोह, राग, द्वेष विनष्ट हो जाता है। फलतः स्वयं निर्वेद आ जाता है, निर्वेद आते ही ज्ञान निश्चल और अचल हो ब्रह्म समाधि के योग्य हो जाता है। यह समहित ज्ञान ही अविद्या और अविद्याजनित अज्ञान के नाश का प्रधान अङ्ग है। इस दृढ़ असङ्ग शास्त्र से संसार का सहज में छेदन हो जाता है।

एवं गुरूपासनयैक भक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धी (२)
विवृश्च जीवाशयमप्रमत्तः सम्पद्य आत्मानमथ त्यजास्त्रम् ॥

विद्याकुठार अर्थात् विवेकज्ञानार्जनसाधन की विशेष अवस्था है, यह विभेदकारिण[1] बुद्धि ही मनुष्य को अभेद की भूमि में ले जाने में सहायक होती है। योगवासिष्ठ में विवेक ख्यातिविप्लवा हानोपाय है। यही chaff from the corn,

१. द्रष्टव्य योगवासिष्ठ ५७-५८ अध्याय

dross from the metal, तण्डुल से छिलका, धातु से खाद को हटाने का परम साधन है। इस भ्रमांश और असत्यांश के दूर होने पर परम तत्त्व स्वयंप्रकाश प्रतिष्ठित हो जाता है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।। (गीता ५।१६)

तत्परं के राज्य में final unity के राज्य में अर्थात् अद्वय तत्त्व में उपनीत हो बुद्धि या ज्ञान की चरम चरितार्थता है, यही धर्म की परम परिपूर्णता परम सार्थकता है। आध्यात्मिकता की यहीं परिसमाप्ति है।

योगवासिष्ठ की साधनाओं का मूल लक्ष्य भेद में अभेद दर्शन है, बुद्धि विचार का प्रधान कार्य अद्वितीय एक तत्त्व में पहुँचना है, अनेक में एक का अन्वेषण कर अनेक से बाहर करना "सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते" यह ईक्षण करना ही है। वेद में योगवासिष्ठ, में अध्यात्म और अधिभूत (Subject and object) स्वरूप द्वैतदर्शन को एक तत्त्व में ले जाने के पथ का निर्देशन है। क्रिया विशेष अनेक के मध्य से विधि का धारण कर नैतिक और प्राकृतिक विधि दोनों ही ब्रह्मसम्भूत दोनों ही ब्रह्मा का ही द्विधा भाव मात्र एवं दोनों में नित्य ब्रह्म प्रतिष्ठित है—इस सूत्र को धारण कर साधन के प्रशस्त पथ का प्रदर्शन करना है। यह भेद के मध्य में अभेद को स्थिर करने के लिए इसको योगवासिष्ठ में बहुधाचक्र कहा गया है। एक वृत्त में जिस प्रकार दो मेरु, एक ही वृत्त का केन्द्र और परिधि भिन्न होकर भी जैसे अभिन्न और तद्रूप हैं; इन दो को लेकर साधना और एक लेकर स्थिति है, इस द्वैत राज्य का आश्रयण का ही अद्वैत राज्य में प्रवेश है। Moral law and natural law—नैतिक और प्राकृतिक विधि एक ही विराट् ज्ञान की द्विधा अभिव्यक्ति या प्रतीति है। परा और अपरा दो का प्रदर्शन भी क्षराक्षर रूप में दो पुरुषों का निर्देश होने पर भी भिन्न पुरुष रूप में प्रतिभात होने पर भी एक ही अद्वय पुरुषोत्तम का सद्वय मात्र है। इसलिए साधक को अनेक में एक सूत्र का धारण करना आवश्यक है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों क्षेत्रों में द्वैत में अद्वैत का अन्वेषण करना होगा। प्रथम यह विधि law के रूप में, यह धर्म के रूप में बाद में; प्रकृति और कारण के रूप में; अन्त में पुरुष के रूप में अवगत करना होगा। इन तीनों क्षेत्रों में बुद्धि चरम और परम कारण का अन्वेषण करती है, कर्म में या कर्म की भूमि में अद्वय ब्रह्म law के रूप में, विधि रूप में साधारण धर्म के रूप में अवगत कराती है। शक्ति की भूमि में भावमयी प्रकृति के रूप में प्रकाश प्राप्त करती है और ज्ञान की भूमि में पुरुष रूप में चेतन रूप में अभिव्यक्त होती है Dr. Martineau ने भी कहा है—

"Nature constitutes throughout one intellectual organism, humanity one moral organism; and as God is the informing thought of the one, so is He the spiritual authority of the other. In recoginition of the former we raise the university; as symbol of the other we dedicate the church–neither of which fulfil its essential idea till it places us at an altitude whence the whole domains of knowledge or the one hand of duty on the other can be surveyed in its relations and seen suffused with the Divine and blending light"

बाह्य जगत् के मध्य में सृष्टिराज्य में इस विधि या धर्म को बुद्धि अवलम्बन करा देती है। ज्ञान ही इसका अनुसन्धान देता है, इसका अवलम्बन करने पर प्रकृति की क्रिया जो ज्ञान के द्वारा चालित है और नैतिक या धर्मक्षेत्र में कर्त्तव्य बोध जो गुप्त प्रेम निर्झरिणी से उद्भूत धर्म विवेक के विकास के फलस्वरूप कर्त्तव्य होता है अर्थात् प्रेम में परिणत हो जाता है। यह प्रेम प्रज्ञा का द्वार खोलकर दोनों के मूल विचार और प्रज्ञा दोनों के मूल अद्वय पुरुष का अवलम्बन करा देती है। प्रज्ञा और विवेक के आधार पर उस अद्वय पुरुष की प्राप्ति होने पर स्थूल एवं प्रत्यक्ष कर्म ब्रह्मोद्भव और वह सर्वगत ब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित हो जाता है। अद्वय ब्रह्म की अवगति के बाद स्थूल के मध्य में प्रत्यक्ष गोचर कर्म के अन्तराल में पंचावयव पूर्ण पुरुष नित्य विद्यमान है अर्थात् इस

आकार-प्रकार, भावाकार, शक्त्याकार, चेतनाकार, स्वरूपाकार से युक्त होकर सदा वर्तमान है । अतः इस स्थूल के साथ सत्ता के रूप में उसकी स्थिति का ज्ञान होने पर मानव के कर्म ब्रह्म समर्पित हो जाते है । यह सत्य है कि विश्व ज्ञान चालित है; उसी के स्वरूप का विश्व आभास है । साधना के आरम्भ में कर्मभूमि से आरम्भ कर ज्ञान धीरे-धीरे व्यक्त=अभिव्यक्त होता है । प्रथम स्वभाव नियत कर्म स्व का भाव अर्थात् अहं का भाव अहं से ही चालित है, यह दृढ़ता नहीं होती, उस समय ऐसा अवगत होता है कि जीव कर्म कर रहा है और एक अज्ञात शक्ति उसको हठात् कर्म के आकार में परिणत कर रही है । गीता के अनुसार 'बलादिव नियोजितः' की स्थिति है । इस अवस्था में कर्तृत्व-बोध अतिशय क्षीण हो जाता है और क्रमशः तमोगुण के दूर होने पर ऐसा बोध होने लगता है कि बहिर्जगत् में कर्तृत्व के बिना भी अन्तर्जगत् अहं की शक्ति अक्षुण्ण है । इसके अनन्तर जब सत्त्वगुण का उद्रेक होता है तब यह अनुभव करता है कि अन्तः और बाहर एक ही धारक के द्वारा संचालित है । दोनों उसीका अंश (Fragment) है, उससे कोई पृथक् नहीं है । इस स्थिति में विश्वात्मा के साथ आंशिक रूप से मिलकर भी खण्डत्व रह जाता है; किन्तु अभ्यास की दृढ़ता, खण्ड भाव का आवरण हट जाने पर परिपूर्णता, भेदशून्यता के उदय के साथ सर्वमय कर्तृत्व के रूप में सर्वाधिष्ठातृत्व उद्भूत हो जाता है । यह चेतना का क्रम विकास है । जाग्रत् दशा में ऐसा प्रतीत होता है कि आदित्य के वाचक प्रकाश से जगत् प्रकाशित है किंतु स्वप्नावस्था में आन्तःप्रकाश ही सर्वविध प्रकाश है, यह ज्ञान होता है । इस प्रकार इन्द्रिय का प्रकाश, मन का प्रकाश, बुद्धि का प्रकाश और अन्त में आत्मा का प्रकाश-राज्य प्राप्त होता है । साधक एक निरपेक्ष प्रकाश की भूमि में आकर, आन्तर और बाहर एक अखण्ड महाप्रकाश से अभिव्यक्त हो जाता है । फलस्वरूप सभी भ्रम और संशय दूर हो जाते हैं । मनुष्य योगभूमि में पहुँचकर विचार भूमि में जाता है, विचार से ध्यान की भूमि में जाता है और बाद में विचार और ध्यान की भूमि से आत्मा की भूमि में अवतीर्ण होता है । दूसरे शब्दों में जीवन को कर्ममय, विचारमय, ज्ञानमय या आत्ममय प्राप्त करना है । हम इसे तीन स्थल में विभक्त कर सकते हैं, कर्मस्तर, भक्तिस्तर और ज्ञानस्तर । कर्मस्तर में भी अनेक विभाग सम्भव है । शुद्ध सकाम और अशुद्ध सकाम । इसके बाद कर्त्तव्यबोध के बोध में Moral stage अर्थात् धर्मस्तर । इस अवस्था में मानव कर्त्तव्य ज्ञान करके ही कर्म करता है यह यज्ञ है । यह कर्म ही प्रीति या प्रेम से संचालित होकर प्रेमपूर्ण त्याग की अवस्था प्राप्त करता है । प्रीति का भाव आने पर देय मात्र ही शेष रह जाता है । अर्थात् भक्ति भाव में प्रथम आत्मतुष्टि और अनन्तर इस की तुष्टि ही प्रधान लक्ष्य हो जाती है और अन्त में सेव्य-सेवक भाव का तादात्म्य हो जाता है । ज्ञान में भी प्रथम विचार अनन्तर प्रणिधान और ध्यान के बाद स्वरूपस्थिति होती है ।

सभी भूमियों में एक विशेष रसास्वादन की अवस्था है । इस रस की प्राप्ति होने पर उस भूमि का उत्कर्ष प्रस्फुटित होता है, रस आनन्द के आकार में परिणत होकर सीमा से परे जीव को ले जाना चाहता है, उस समय सार्वभौम स्वरूप के धारण होने से सङ्कीर्ण भूमि से रहित भूमा के राज्य में अवतीर्ण करता है । कर्म, भक्ति और ज्ञान उस सत्त्व में उपस्थित होकर रस की अभिव्यक्ति होने लगती है । आयास शून्य स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है, विघ्न, बाधा, द्वन्द्व की समाप्ति होकर समता, स्वच्छन्दता का स्फुरण होता है, समता से सुख-लाभ और ब्रह्मानन्द रस में यह परिणत होता है । इस रस से वही समाधि होती है जैसी कर्म, विचार और ज्ञान से समाधि होती है ।

समाधि एक शुद्ध मूर्च्छाभाव नहीं है, वरन् यह एक गम्भीर अनुभूति (absorption into highest concentrated thought) है । यह परम विवेक परम प्रेम और परम ज्ञान का समष्टिभूत कर्म है ।

इसीलिए इसके साधन को संयम शब्द से कहा जाता है । इसमें धारणा ध्यान, एवं समाधि ये सभी मिलकर रहते हैं । यह प्रथम परिगृहीत बुद्धि की भूमि में दिखाई देता है, बाद में प्रीतिगृहीत बुद्धि होने पर परिपूर्णता की प्राप्ति होती है । इसलिए इस समाधि के फल में प्रज्ञा का (intuition) का उदय होता है, अतः यह भावना विशेष है । एक दृष्टि से सभी मन की सत् शक्ति इसमें नियोजित होती है । अतः यह मनुष्य को सत्य ज्ञान के राज्य में शुद्धि

भावना की भूमि में अवतीर्ण कराता है। भक्ति भी योग में परिणत होती है और ज्ञान भी योग की संज्ञा का लाभ करता है—जैसा योगवासिष्ठ में बहुधा कहा गया है। पातञ्जल दर्शन में स्वरूप शून्य अर्थमात्र निर्भास शब्द से इसको कहा गया है। इस अवस्था के ज्ञान में जीव को स्मृति, संस्कार आदि कुछ भी कर ज्ञान को विकृत या अन्य प्रकार में अनुरञ्जित नहीं करता है, इसको स्मृति परिशुद्ध ज्ञान असङ्कीर्ण ज्ञान कहा जाता है। इसको ब्रह्मार्पण या ब्रह्महविः शब्दों से गीता में कहा गया है, जब इन्द्रियों की अर्थों में अनुरक्ति नहीं रह जाती है, विश्व ब्रह्माधिष्ठानात्मक एक सार्वभौम सत्य के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तब कर्म समाधि का फल योग समाधि, विचार समाधि, भक्तिसमाधि, विजितेन्द्रिय, लोहे, पत्थर और काञ्चन में समता को प्राप्त करता है। अध्यात्मचेता वह मनुष्य असन्दिग्धरूप में सभी कुछ जानता है। वस्तुतः ज्ञानसमाधि तो अवर्णनीय है। यह एक अद्वय ब्रह्म शरण की प्राप्ति होने से परिच्छिन्न शून्य भूमा की अवस्था है—सभी साधनाओं की परिसमाप्ति है।

इस प्रकार प्रथम सकाम कर्म चित्त के विकास क्रम में जैसे राम ने तीर्थादि का परिभ्रमण किया, सकाम से निष्काम कर्म प्रशस्त होता है, इन्द्रिय जीवन से धर्म जीवन की ओर प्रवृत्ति है। इसके साथ-साथ धीरे-धीरे की बुद्धि का विकास होता है, यह विवेक बुद्धि कर्म को उसमें अनुरञ्जितकर शनैः-शनैः भूमि से पार्थिव लोक से दिव्य विचार लोक में अवतीर्ण करता है।विचार के बाद ध्यान की स्थिति आती है। ध्यान की भूमि में आते ही जीवन में एक शीघ्र परिवर्तन होता है। ध्यान दृढ़ होकर परम के प्रति प्रीति में पर्यवसित होता है। मन भी गुहा प्रविष्ट हो जाता है और गम्भीर से गम्भीर तर्क मार्मिक भूमि में अवतीर्ण होता है। प्रीति भी चरम अवस्था को प्राप्त करती है। तत्त्व पूर्ण प्रकाश के रूप में अभिव्यक्त होता है। यह परम ज्ञान और जीवन की परिपूर्णता है। विचार की जैसे ध्यान में परिणति है वैसे ही ध्यान की भी ज्ञान में परिणति है। प्रथम अवस्था में ध्यान का आलम्बन बाह्य विषय से रहता है अनन्तर आंतर वृत्ति ही उसका विषय बन जाती है, यह ध्यान मन को निर्विषय बनाती है। भाव वाद की यही चिन्ता धारा पृथक् रह जाता है और भाव की दिशा से जगत् का दर्शन होता है। यह वही स्थिति है जहाँ कवि और उसका अर्थ भी इस नूतन भूमि से अनिर्वचनीय रूप धारण करता है।

विचारणीय है कि ज्ञान का विकास और प्राण का विकास ये दोनों ही रहस्यमय है। इस प्रकार अन्वेषण करने पर भी मूल की उपलब्धि नहीं होती। दोनों ही स्थलों में चैतन्य का ही प्रकाश क्रम है Mode of expression है। दोनों ही चिदाश्रित संकल्पमय है। यहाँ पर 'मत्तः परतरंनान्यत्' यह तत्त्व प्रस्फुटित हो जाता है। जन्म होने पर जड़ के मध्य में आत्मा का विकास और ज्ञान (Mind or soul) मन और बुद्धि के द्वारा आत्मा का विकास है। एक अपरा प्रकृति के मध्य में प्रकाश और दूसरा परावृत्ति के मध्य का प्रकाश। दूसरे शब्दों में ज्ञान क्रिया मिश्रित प्रकृति के मध्य का प्रकाश है और दूसरा शुद्ध सत्त्व ज्ञानमयी प्रकृति के मध्य का प्रकाश एक क्षेत्र का प्रकाश और दूसरा क्षेत्र का प्रकाश। एक दृश्य का प्रकाश है और दूसरा द्रष्टा है। किन्तु दृश्य और द्रष्टा का प्रकाश भिन्न नहीं है। भाव जिस तरह भाषा से अभिव्यक्त होता है वैसे ही वर्ण के मध्य में भी भाव अभिव्यक्त होता है। कर्दम और प्रस्तर (clay and stone) एक ही रूप की अभिव्यक्ति है। शुद्ध चैतन्य प्रथम चिन्मय शक्ति रूप में या शक्ति में आत्मप्रकाश करता है। अनन्तर शक्ति भावाकार को धारण करती है और भाव विचाराकार और विचार वस्तु का आकार धारण कर प्रकाशित होता है। पहले वस्तु आकार जान को विचाराकार में परिणत करती है। विचार भाव के रूप में और भाव आत्माकार रूप में प्रस्फुटित होता है। यह वही अवस्था है जहाँ सर्वत्र आत्म-दर्शन ही होता है। यही ज्ञानियों का विशिष्ट दर्शन है जो योगवासिष्ठ में पुनः पुनः अभिव्यक्त किया गया है। ब्रह्म रूप में कोई भी वस्तु त्याज्य नहीं है। अर्थ परिवर्तन कर दर्शन मात्र है। यहाँ विरोध नहीं है। मात्र विशदीकरण अर्थात् अर्थ का स्वच्छतम रूप है। भाषा जैसे वर्ण को न छोड़कर समृद्ध होती है वैसे ही ज्ञान इन्द्रियानुभूति या प्रत्यक्ष ज्ञान का बिना त्याग किये ही समृद्ध होती है। ज्ञानावस्था में भी चक्षु से ही वस्तु का दर्शन होता है किन्तु अर्थ भिन्न होता है यह आवरण ही अनावृत ज्ञान है। यह स्व प्रकाश का राज्य किस प्रकार इस स्वरूप को धारण करता है यह बुद्धि से परे है। आत्मा

अपने आलोक में स्वयंप्रकाश, स्वत:प्रकाश है। सभी वस्तु अन्य प्रकाश की सहायता चाहता है। इसलिये वह पर-प्रकाश है। दूसरे प्रकाश की सहायता के बिना प्रकाश हो ही नहीं सकता। परिच्छिन्न प्रकाश दोष दुष्ट है। पूर्ण और भूमा ही परमुखापेक्षी सदा रहता है। यह पूर्ण अहम् इदं द्रष्टा दृश्य के आकार में विभक्त के समान होने पर भी एक दूसरे की सहायता लेने को बाध्य हो जाता है। विषय न रहने पर ज्ञान का प्रकाश नहीं होता है और ज्ञान न रहने पर विषय का प्रकाश नहीं होता है। द्रष्टा दृश्य विभाग रहता है तब तक दूसरे की मुखापेक्षा रहती है, तब तक आलोक और अंधकार एवं असंभावना और विपरीत भावना का अवसर बना रहता है। अविद्या की इन दो ग्रन्थियों के समाप्त होते ही स्वयं प्रकाश अपने आलोक में स्वयं प्रकाशित होकर असत्तापादक और अभानापादक दोनों को समाप्त कर पूर्ण व्यवधानशून्य ज्ञान की भूमि का साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो जाता है। वहाँ संबंध के मूल सूत्र और संबंधातीत अवस्था भी कुछ भी नहीं रह जाती। यही भूमात्व लाभ है। समस्त संबंध का राज्य छुड़ा कर निरपेक्ष पूर्णता के राज्य में प्रवेश होता है। यह सर्व-संबंधातीत परम राज्य का प्रवेश है।

इस ज्ञान से सभी परिच्छेद के परे ज्ञान प्रथम शब्द या ज्ञानमय स्पंद रूप में, ज्ञानमय शक्ति रूप में प्रकाशित होता है। परावाक् रूप में परप्राण रूप में परम तत्त्व की यही प्रथम अभिव्यक्ति है। प्रथम अभिव्यक्ति का पर्व वाक्य या प्राण है। पराशक्ति ही साक्षात् अपरोक्ष का साधन है। यह वाक् और ज्ञान मूलत: एक पदार्थ है। यह वाक् जैसे कर्ण के द्वारा प्रवेश करता है वैसे ही हृदय में भी अभिव्यक्त हो उठता है। उसी को भागवत में—'तेने ब्रह्महृदयादि आवये मुह्यन्ति यत् सूरय:' के द्वारा कहा गया है। वाक्यस्थ होना ही आत्मभाव रूप है। वाक् और ज्ञान का अविनाभाव संबंध है। शब्द या वाक् आदि भूत या आदि प्राण में प्रकाशित परम शक्ति महाभाव रूप होने से पूर्ण रूप से परम पुरुष को हृदय में धारण करने में समर्थ है अर्थात् पूर्ण रूप से उनका प्रकाश करने में समर्थ है। इसीलिए महाभाग रूप महाबुद्धि में ही परम ब्रह्म सर्व प्रकाशक जगत् बीज का आधान करता है, यही उसकी योनि है, जो बीज धारण में समर्थ है। प्राण वाक् या नाद ही परम के साथ साक्षात् संयुक्त है।

मुख्य प्राण या नाद ही साक्षात् उपकरण है। मनन और निदिध्यासन यह दूर से उपकारक है अर्थात् परोक्ष उपकारक है। वह जीवात्मा का शुद्ध साधक और शब्द का परम का धारक है, यह शब्द ध्वनि मात्र नहीं है। वरण चेतनाकारा चैतन्य का रूप या मूर्त्त प्रकाश है। इसको दूसरे शब्दों में ज्ञान रूप कहा जाता है। इसलिए तंत्र में 'शब्द ब्रह्म परं ब्रह्म उभे शाश्वती तनू' यह कहा गया है। "First there was the word and the wood was God" ज्ञानाकार के अनन्तर विचार, तदनन्तर वाक्याकार, वाक्य से विचार में, विचार से केन्द्रीय ज्ञान में, ज्ञान से गंभीर चेतना में शनैः शनैः अवतीर्ण होती है। यह वाक् रूप शब्द ज्ञान क्रिया का मिश्रित रूप है। सूक्ष्म होते-होते आकार में भावाकार में परिणत होता है। इसी प्रकार बैखरी वाणी पश्यन्ती अवस्था में प्राप्त होकर बाद में परावस्था शुद्ध चेतना प्राप्त करती है। इस परम शुद्ध अवस्था में ही परम ज्ञान प्रकाशित होता है। यही योगवासिष्ठ की विभिन्न ज्ञान धारा है।

योगवासिष्ठ में संन्यास और त्यागतत्त्व को अवगत कराने के लिए ज्ञान और साधन तत्त्वों को अतिशय अपूर्वरूप में निरूपित किया गया है। भारतीय आर्य परम्परा की ओर दृष्टिपात करने पर संन्यास ही जीवन की चरम साधना है। इसी तत्त्व के ऊपर मुक्ति और जीवन्मुक्ति प्रतिष्ठित है। विश्लेषण में भंगिमा हो सकती है, किन्तु त्याग और संन्यास को स्वीकार करना ही पड़ेगा। आर्य साधना कर्म से जीवन को आरम्भ करती है और संन्यास में पर्यवसान, अहंकार से जीवन का प्रारम्भ और निरहंकार में समाप्ति। इसी संन्यास तत्त्व की अवगति कराने के लिए 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:' इस उपनिषद् वाक्य की व्याख्या के रूप में मनीषियों के द्वारा सहस्र धाराओं में भारतीय दार्शनिक चिन्तन-धारा प्रवाहित है। कर्म से कर्म निवृत्ति ये कैसे उपलब्ध हो सकती है, इसे जानना आवश्यक है। इसका कर्म के प्रेरक, कारक और फल एवं उसकी सर्वाङ्ग शुद्धि कैसे संभव है, यही तो गीता,

योगवासिष्ठ, रामायण आदि का उपसंहार है। अज्ञान अर्थात् प्राकृतिक गुण के राज्य से उठकर ब्रह्म का पूर्ण परिज्ञान कर ही यथार्थ संन्यासी हो सकता है क्योंकि गुणों के मध्य में रहकर संन्यास हो सकता है पर वह गौण संन्यास होगा। यह सत्य है कि यह संन्यास भी मुक्ति के मार्ग को अनावृत कर देता है परन्तु ब्रह्म-साक्षात्कार के बिना अज्ञान और उसके संस्कार का सर्वथा विनाश संभव नहीं है। जीवन परिमार्जित होकर अपरिच्छिन्न तत्त्व की अवगति कर जब जीव सभी बाधाओं से विनिर्मुक्त होता है, खण्ड से अखण्ड भूमि में अवतीर्ण होता है, सभी सीमाओं को पार कर जाता है, उस दिन नदी जैसे समुद्र में मिलकर अपना नाम रूप और स्वतंत्रता को छोड़ कर दोनों किनारों से परिमुक्त असीम में मिल जाती है, वैसे ही जीव भी सभी धर्म और अधर्मों का परित्याग कर सर्वात्मभाव से ब्रह्म-तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, उसी दिन वह यथार्थ संन्यास की अवस्था को प्राप्त करता है। प्रतिक्षण मानव संन्यास और त्याग की चर्चा में ही अपने को भुलाये रखता है किन्तु साधारण त्याग अर्थ में संन्यास ग्रहण करने पर निश्चित ही भ्रम के भयंकर आवर्त से वह मुक्त नहीं हो सकता है। यह त्याग द्रव्य, वित्त आदि बाह्य पदार्थों के त्याग के समान उससे दूर नहीं होना है, उसी के मध्य में रहकर उसका अतिक्रमण ही योगवासिष्ठ की भूमिका है। इसे असक्तता, निर्लिप्तता, निरहंकारिता एवं सर्वसंग विवर्जित अवस्था कहा जा सकता है। ब्रह्म तादात्म्य में कुछ लेना और छोड़ना नहीं है, यह परम ज्ञान की स्थिति है, जहाँ कर्म में अकर्म दर्शन और अकर्म में कर्म दर्शन प्रतिष्ठित रहता है। यह विचित्र अपूर्व अवस्था है जहाँ परिपूर्ण निरहंकार प्रतिष्ठित रहता है और सार्वभौम चिन्मय अद्वय तत्त्व की भूमि में अवतीर्ण होता है। जब तक अहंकार का लेशमात्र भी रहता है तब तक स्वरूप का संधान किसी तरह भी संभव नहीं है। जीव जब तक अहंकार की भूमि में रहता है अर्थात् जब तक गुण के अधिकार में रहता है, जगत् को अज्ञान कल्पित नहीं मानता है; तब तक उसका त्याग चेष्टाजनित त्याग रहता है। वह सहज त्याग नहीं। यह with drawal के समान (उपरति) ही है। अतः काय-क्लेश के भय से त्याग या मोहजनित त्याग नहीं है। इस त्याग से यथार्थ त्याग का जो फल ज्ञान है उसकी प्राप्ति कथमपि संभव नहीं है। मानव कर्म का त्याग करके 'इतः नष्टस्ततो भ्रष्टः' की स्थिति में न आ जाये इसीलिए योगवासिष्ठ का अपूर्व उद्देश्य वस्तुतः एक दुर्विज्ञेय त्याग पदार्थ हैं। क्योंकि त्याग कहते ही ग्रहण के विपरीत जो त्याग उसकी छवि मानव चित्त में परिव्याप्त हो जाती है। इसलिए ग्रहण और त्याग इस द्वन्द्व से बाहर है। इसे मानव सहज में ग्रहण नहीं कर पाता है। विद्वेषमूलक त्याग, त्याग नहीं है यह तो सर्वातिक्रमण मात्र है जो स्वतः होता है, उसका कर्म करना और न करना दोनों ही समान है। तीन प्रकार की त्याग की चर्चा शास्त्रों में दी गई है। जब तक सार्वभौम ब्रह्म का परिज्ञान नहीं होता है और अज्ञान विजृम्भित लोक में ही स्थित रहता है उस समय कर्मत्याग हेय और निन्दनीय है। क्योंकि उस समय कर्मत्याग करने पर देहयात्रा का निर्वाह ही संभव नहीं है। फलतः उन्नति का मार्ग ही अवरुद्ध हो जायेगा। कर्म स्वभावतः दुष्ट नहीं है। फल और संगत्याग स्वयं में निर्दोष है। दूसरे शब्दों में काम्य और अहंकार संयुक्त कर्म ही दोषदुष्ट है। अर्थात् निरहंकृति की भूमि में अर्थात् परमार्थ दशा में कर्म ही नहीं रह जाता है वह अकर्म हो जाता है। वहाँ कर्म के दुष्ट और अदुष्ट होने का प्रसंग ही नहीं आता है। जिस ज्ञानी ने आत्मा में स्थितिलाभ कर ली है अर्थात् आत्मस्वरूप का बोध कर लिया है उसके कर्म के साथ संश्लेष संभव ही नहीं है। क्योंकि वह तो ब्रह्मस्वरूप ज्ञान में सहज रूप से प्रतिष्ठित होने से 'नैव किञ्चित् करोमि' इस ज्ञान से परिपूर्ण रहता है। आत्मा का निर्लेपत्व (निर्लिप्तता) और असंगतता तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। क्योंकि देह इन्द्रिय आदि के क्षेत्रों के कर्मों के साथ भी उसका कोई संस्पर्श नहीं रहता। कर्मों से न उसकी कोई हानि है और न लाभ जैसे वायु का प्रबल वेग आकाश को प्रकम्पित नहीं कर पाता वैसे ही देह, इन्दिय, प्राण, मन और बुद्धि का कोई भी स्पंदन आत्मा के राज्य में नहीं पहुँच पाता है। इसमें विक्षोभ सृष्टि का प्रश्न ही कहाँ ?

सम्बन्ध के [illegible] सर्वसंबंध विवर्जित है, इसी का समाधान योगवासिष्ठ में कहा जाता है

[illegible] संबंधों का मूलाधार होकर भी वह समस्त संबंधों को अतिक्रा

रहता है; यह तब तक अवगत नहीं हो सकता है; जब तक आत्मलोक में प्रतिष्ठित न हो। देह धारण करने वाला मानव कर्माधिकारी है, इसमें संदेह नहीं; क्योंकि वह प्रकृतिस्थ है; इसलिए व्यक्ति को देहात्मभाव छोड़कर आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होना संभव नहीं है। उस समय उसका परम कर्तव्य होता है कि आत्म-शुद्धि के लिए कर्म संपादन करे। अर्थात् आलस्य और तन्द्रा से रहित होकर कर्म करता रहे। यह कर्म ही एक दिन उच्चतर आदर्श के प्रति आकृष्ट कर देता है और वह कर्म-फल का त्याग कर गौण संन्यासी या त्यागी के नाम से विभूषित हो जाता है। यज्ञ, दान और तप ये तीन त्याज्य नहीं हैं। इसका पुनः पुन: उपदेश मिलता है। इन्हीं के द्वारा तो ज्ञान के प्रतिबन्धक पापों का प्रक्षालन कर ज्ञान की उत्पत्ति योग्यतास्वरूप गुणाधान से आत्म विशुद्धि होती है। ज्ञानियों के लिए अंन्तःकरण का विशुद्धि यज्ञ, दान और तप से अद्वैत सिद्धान्त में भी विधि बोधित है। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि त्याग ही अभिभावना का मूल आधार है। यह त्याग यज्ञ, दान, तप रूप क्रियाओं में वैसे ही अभिव्यक्त है, जैसे निरुपाधिक ब्रह्म के साक्षात्कार में सभी उपाधियों के त्याग रूप महात्याग में या संन्यास में प्रस्फुटित होता है। शक्ति के राज्य में, साधना के राज्य में क्रमिक उत्कर्ष प्राप्ति के राज्य में निम्न भूमि का त्याग कर, अपकर्ष भूमि का त्याग कर उत्कर्ष भूमि की ओर अग्रसर रहता है। त्याग ही संगत्याग और फल त्याग में प्रतिष्ठित हो साधक को परम उत्कृष्टज्ञान की भूमि में अवतीर्ण करता है। कर्म के त्याग के लिए एवं आत्मत्व की प्रतिष्ठा के लिए कर्मतत्त्व का सामान्य ज्ञान अपेक्षित है। कर्म के साथ आत्मा का स्वरूप संबंध जानना ही होगा। कर्म के तीन अंग हैं—प्रेरक, कारक और फल। ये तीनों ही प्रकृति के ही कर्म हैं और अज्ञान विजृम्भित है। अत: अज्ञान की भूमि से ऊपर नहीं उठ सकते। उत्कर्ष के लिए ज्ञानार्जन का पथ उन्मुक्त कर प्राकृत जगत् से हटना पड़ेगा। इस अवस्था में प्रकृति के रजोगुण और तमोगुण अभिभूत होकर प्रदर्शित कर्माङ्ग और ज्ञानाङ्ग दोनों ही शुद्ध सत्त्वमय हो जायेंगे। यह सत्त्व-सम्पत्ति ही ब्रह्म प्राप्ति है। इसे ब्रह्ममय जीवन कहा जा सकता है। किन्तु इस अभ्युदय पथ पर अग्रसर होने लिए धर्म ही मूल भित्ति है। आचरण अनुष्ठान और कर्मी कर्म का विषय ही धर्म है। सहसा ब्रह्ममय होना एक श्मशान वैराग्य या किसी जीव का ब्रह्मचर्य-व्रत नहीं है। धर्मों के आचरण से सुनियमित सुसंयत और इच्छाशक्ति दृढ़ हो जाती है। आध्यात्मिक शक्ति शीघ्र ही विकसित होने लगती है। शक्ति के विकास के साथ-साथ इन्द्रियादि करण वर्ग भी परिमार्जित होकर सदाचरण और शक्ति के अवधारण में अधिक योग्य हो जाते हैं। यही मानव के Avolution अर्थात द्रुत परिवर्तन करता है। यह वही अवस्था है यहाँ पाशविकता हटकर मानवता की भूमि प्रशस्त हो जाती है। यही मानवता को भूमि दीप्ति की भूमि में ले जाकर चरम परम चैतन्यलोक में पहुँचा देती। गीता के द्वारा 'सर्वगुह्यतमं ज्ञानं' से यही कहा गया है। इस प्रकार प्रथम सत्त्व विशुद्धि जिसे सात्विक कर्म भी कहा जा सकता है। इसे साधुभाव से सत्भाव, सद्भाव से ब्रह्मभाव और अंत में परमभाव की उपलब्धि होती है। अत: कर्म से ही अकर्म की भूमि प्राप्त हो जाती है। अर्थात् की ही अकर्म हो जाता है। कर्मबंधन के द्वार से दूर हटकर मुक्ति के पथ पर अवतीर्ण होता है। यह कर्म बंधन की सृष्टि न कर ब्रह्मसाधन या ब्रह्मसुख की प्राप्ति का साधन होता है। सम्यक् अनुष्ठान तत्परता ही तो संसिद्धि है। जो अद्वैत ज्ञान के बिना संभव ही नहीं है, यही जीवन की द्रुतपरिणति अर्थात् उत्कर्ष का साधन है। इसीलिए अज्ञान धर्मों के अनुष्ठान की अपेक्षा आत्मधर्म की श्रेष्ठता बताते हुए कहा गया है—'श्रेयान् सधर्मः विगुणः'। उपाधिनिर्मुक्त परमधाम में आध्यात्मिक ज्ञान की विमल ज्योति से प्रकाशित व्यक्ति ही दिव्यलोक की प्राप्ति के अनुरूप दिव्य ज्ञान का अधिकारी होता है। इन सभी कर्म का मूल निरहंकार की प्राप्ति है। ज्ञानी भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर कर्मत्याग नहीं कर पाता है। यह भली-भाँति जानता है कि परिपूर्ण (absolute) आत्मा कर्म के द्वारा ह्रास और वृद्धि को नहीं प्राप्त करता है, ऐसी स्थिति में वह गति में ही अगति का तथा कर्म में ही अकर्म का दर्शन करता है। अर्थात् गति-अगति, कर्म-अकर्म दोनों से अतीत अवस्था, आत्म स्वरूप लाभ की अवस्था सहज निर्वेद की अवस्था है जैसे अतिशय शून्य आकाश किसी से लिप्त नहीं होता है वैसे ही अहंकार-शून्य आध्यात्मिक जगत् में विचरण करने वाला तत्त्ववेत्ता "नैव किञ्चित् करोमि' को सहज में ही अवगत कर लेता है

क्योंकि सार्वभौम आत्मा की सुसंगता और पराकाष्ठा से पूर्ण परिचित है। ऐसा सहज रूप से अवगत होता है कि काम-क्रोध से मोक्ष-राग, द्वेष से मोक्ष, रजः-तमः से मोक्ष, जरा-मरण से मोक्ष, सांसारिक भूत प्रकृति से मोक्ष, मोक्ष ही है। किन्तु यह मोक्ष विकास-जन्य चेष्टा और यत्न से साध्य है, किन्तु इस मोक्ष से पुनः निम्नभूमि में आना संभव है। मोक्ष इससे बहुत ऊँचा है। वह कभी भी किसी शक्ति से पराभूत नहीं हो सकता है। क्योंकि यह द्वन्द्व समाहारों से ऊपर की अवस्था है और यह सहज तथा स्वतः सिद्ध है। यह अखण्ड और अद्वय स्वरूप है। स्वरूप स्थिति और संन्यास भी यही है। विभूतियोग के मध्य से विश्वरूप दर्शनरूप महाप्रकाश अभिव्यक्त होता है और इस विश्वरूप दर्शन से संगृहीत निर्वेद, अद्वेष्टृत्व, अमानित्व, आध्यात्मिक ज्ञानपरक हो जाता है। फलतः वह समत्वदर्शन परमदर्शन की दृष्टि से परिपूर्ण रहता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विवेक से गुणातीत अवस्था को प्राप्ति होती है और परम वैराग्य से चित्त परिपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार जीवन की चरम परिणति ससीम जीव, असीम दिव्यरूप में अपने को समझकर ब्रह्मात्मक जगत् को मानकर सकलजनहिताय कर्म में प्रवृत्त हो जाता है।

आभार प्रदर्शन

ग्रन्थ की भूमिका आदि में जिनकी कृतियों का उपयोग किया गया है उसके लेखकों का सादर आभार वहन करता हूँ। अच्युत ग्रन्थमाला के अनुवाद से विशेष सहायता मिली है, अत: मैं उसका ऋणी हूँ।

निकट भविष्य में ही इसके अन्य भाग भी सहृदय पाठकों की सेवा में क्रमशः उपस्थित हो रहे हैं।

इस तृतीय खण्ड की भूमिका में ग्रन्थ की दार्शनिक समीक्षा एवं क्रमिक सोपान परम्परा के क्रम में विकास भूमि पर अवतीर्ण होने का मार्ग प्रदर्शित किया गया है।

तारा प्रेस के अध्यक्ष भ्रातृकल्प श्री रमाशङ्कर पण्ड्या जी को धन्यवाद देना ही पड़ेगा, क्योंकि ये सदा मेरी प्रेरणा के स्रोत का कार्य करते रहे हैं।

इसके अनुवाद के लिए प्रवृत्ति शुभोदय श्री रविप्रकाश पण्ड्या का एकमात्र आग्रह ही है। इस ग्रन्थ के सम्पादक पुराणेतिहासाचार्य पं० कृपासिन्धु शर्मा, प्राचार्य, ब्रह्मर्षि बलदेव संस्कृत विद्यालय, लक्ष्मीकुण्ड ने अर्थानुसंधानपूर्वक अशुद्धयादि परिमार्जन का महनीय कार्य कुशलतापूर्वक किया है। इसके प्रेसकॉपी आदि के निर्माण में तीर्थानन्द मिश्र ने सहायता प्रदान की है। अस्तु मैं इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ एवं साधुवाद देता हूँ। मेरे अनुजकल्प डा० शशिकान्त दीक्षित की पत्नी श्रीमती इन्दुमती दीक्षित ने भी पुनः पुनः प्रेरणा दी कि इसका अनुवाद कर हम लोगों के लिए बोधगम्य करायें। अतः इनको हृदय से आशीर्वचन प्रदान करता हूँ।

मेरी धर्मपत्नी श्रीमती कुसुमलता गोस्वामी एवं पुत्री श्रीमती साधना शर्मा ने मुझे गृहकार्यों से निश्चिन्त कर इस ग्रन्थ के सम्पादन के लिए सहयोग प्रदान किया है, वह इस युग की ललनाओं के द्वारा संभव नहीं है। मेरे लिए एक मात्र हितचिन्तक डॉ० श्री महेन्द्र कुमार शर्मा, श्री शैलेन्द्र कुमार शर्मा तथा भ्रातृ-पुत्र डॉ० राधाकान्त गोस्वामी के उज्ज्वल भविष्य के लिए सतत मंगलकामना के साथ इनको आशीर्वचन प्रदान करता हूँ।

सहृदय विद्वज्जन मेरे दोषों पर दृष्टि न देकर रागद्वेष-वैराग्य के साथ गुणग्राहक दृष्टि से ही अध्ययन करेंगे। मेरे जैसे अज्ञजनों से दोष तो पद-पद पर सम्भावित ही है।

कार्तिक पूर्णिमा
(२०४६)

विदुषां वशंवदः
महाप्रभुलाल गोस्वामी

योगवासिष्ठ-कथासार

उपशम प्रकरण

सृष्टि, पालन और संहार के एकमात्र कारण श्रीहरि ही हैं। मैं अजन्मा भगवान् नारायण की शरण में आया हूँ। 'नमो नारायणाय' यह मन्त्र मेरे हृदय-कोश से दूर नहीं होता। श्रीहरि ही दिशा हैं, हरि ही आकाश हैं; वे ही पृथ्वी हैं और वे ही जगत् हैं; अतः मैं भी अप्रमेयात्मा श्रीहरि ही हूँ। पृथ्वी ये मेरे दोनों पैर हैं, आकाश मेरा यह सिर है, तीनों लोक मेरे शरीर हैं और सम्पूर्ण दिशाएँ मेरी कुक्षि हैं। मैं नील मेघ के भीतरी भाग की भाँति श्यामकान्ति से सुशोभित, गरुड रूपी पर्वत पर आरूढ़ एवं शङ्ख, चक्र तथा गदा धारण करने वाला साक्षात् विष्णु हूँ। ये ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि और रुद्र आदि देवता बहुसंख्यक मुखों से निकली हुई अनन्त वाणी द्वारा मुझे सर्वेश्वर विष्णु की ही स्तुति करते हैं। मैं अपराजित विष्णु रूप हो गया हूँ, सब प्रकार के द्वन्द्वों से ऊंपर उठकर अपनी सर्वोत्कृष्ट महिमा से सम्पन्न हूँ।

इस प्रकार विचार करके भावना द्वारा अपने शरीर को साक्षात् नारायण का स्वरूप बनाकर प्रह्लाद ने उन असुरारि श्रीहरि की पूजा के लिये फिर चिन्तन आरम्भ किया—मैं भावना-दृष्टि से देख रहा हूँ कि ये भगवान् विष्णु दूसरा शरीर धारण करके मेरे भीतर से बाहर आकर खड़े हैं, गरुड की पीठ पर बैठे हैं। मैं शीघ्र ही भावनाभावित समस्त सामग्रियों से सुशोभित मानसिक पूजा द्वारा इनका पूजन आरम्भ करता हूँ। प्रह्लाद ने विविध पूजा-सामग्रियों के सम्भार से युक्त मन के द्वारा कमलापति माधव का पूजन आरम्भ किया। अपने आपको श्रीहरि के चरणों में भेंट कर दिया। जगत् के सारे वैभवों से भव्य प्रतीत होने वाली पूजन सामग्री एवं उच्च कोटि की भक्ति से प्रह्लाद ने अन्तःपुर में अपने स्वामी भगवान् विष्णु का मानसिक पूजन किया।

प्रह्लाद ने देव-मन्दिर में वैभवों से पूजन के उपचारों द्वारा जनार्दन की पूजा की। देवलोक में यह बात फैल गयी कि सारे दैत्य द्वेष छोड़कर भगवान् विष्णु के भक्त हो गये हैं। आश्चर्य में डूबे हुए देवता स्वर्गलोक से भगवान् श्रीहरि के पास गये। वहाँ बैठे हुए भगवान् से उन्होंने दैत्यों का सारा समाचार कह सुनाया। जो दैत्य सदा ही आपके विरोधी रहे, वे ही आपकी भक्ति में कैसे तन्मय हो गये ? प्रह्लाद का अन्तिम जन्म है। वे मोक्ष के अधिकारी हो गये हैं। जैसे भूना हुआ बीज अङ्कुर नहीं उत्पन्न कर सकता, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि से दग्ध कर्म बन्धनकारक नहीं हो सकते। तब से प्रह्लाद के प्रति देवताओं की मित्रता हो गयी। प्रह्लाद इसी प्रकार प्रतिदिन मन, वाणी और क्रिया द्वारा देवाधिदेव भगवान् जनार्दन की पूजा करने लगे।

भक्तों को आह्लाद प्रदान करनेवाले विष्णु पाताल-मार्ग से प्रह्लाद के उस भवन में पधारे, जिसमें वे अपने इष्टदेव की पूजा किया करते थे। प्रह्लाद ने पहले की अपेक्षा दुगुनी वैभवशालिनी सामग्री से पूजा-विधिद्वारा आदर-सत्कारपूर्वक पूजन किया। प्रह्लाद ने विविध प्रकार से भगवान् की स्तुति की। स्तुति-वचनों द्वारा पूजित असुर-विनाशक तथा नीलकमलदल के समान श्याम भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हो भक्त दैत्यराज प्रह्लाद से बोले—जन्म, मरणरूपी दुःख की निवृत्ति के लिए तुम अपना अभीष्ट वर माँग लो। विभो ! आप जिस वस्तु को सबसे श्रेष्ठ समझते हों, वही मुझे देने की कृपा कीजिये। निष्पाप प्रह्लाद ! ब्रह्मत्व की प्राप्ति न होने तक तुम सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा की प्राप्तिरूप फल के लिये विचार परायण बने रहो। आवागमनरूपी संसार का निवारण करने वाले भगवान् ने मुझे ऐसा उपदेश दिया है कि 'तुम विवेक-विचार-संयुक्त होओ। मैं तो केवल शुद्ध चेतन ही हूँ, जो ममताहीन, मननरूप मन के व्यापार

से शून्य, पाँचों इन्द्रियों के भ्रमों से रहित और माया के सम्बन्ध से हीन है। शङ्ख, चक्र और गदा धारण करने वाला तथा सम्पूर्ण सौभाग्यों की चरम सीमा है, जो इस जगत् का पालन करता है। जो कमलरूपी आसन पर विराजमान होते हैं और निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर परम सुख का अनुभव करते हैं, उन ब्रह्मा के रूप में मैं ही सदा इस जगत् में उत्पन्न होता हूँ। मैं ही त्रिनेत्रधारी शिव होकर प्रलयकाल में इस जगत् का संहार करता हूँ। मैं ही इन्द्ररूप से मन्वन्तर के क्रम से प्राप्त हुई इस सम्पूर्ण त्रिलोकी का पालन करता हूँ। यह जो कुछ स्थावर-जंगमरूप जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, सम्पूर्ण संकल्पों से रहित वह परम शुद्ध चेतन आत्मरूप मैं ही हूँ।

'ॐ' ही जिस सच्चिदानन्द ब्रह्म का सर्वोत्तम नाम है और जो समस्त विकारों से सर्वथा रहित है, वह परमात्मा ही भूतल के समस्त पदार्थों के रूप में विराजमान है। ज्योति: स्वरूप वह परमात्मा ही सूर्य आदि के अंदर स्थित होकर अपनी सत्ता-स्फूर्ति से उन्हें प्रकाशित करता है। शत्रुवीरों का संहार करने वाले प्रह्लाद परमात्मा का चिन्तन करते-करते निर्विकल्प परमानन्द स्वरूप परमात्मा में समाधिस्थ हो गये। प्रह्लाद को समाधि से जगाने का प्रयत्न किया, परंतु वे नहीं जगे। तब उस राजारहित नगर में बलवान् दैत्य लुटेरों की तरह स्वेच्छानुसार लूट-पाट करने लगे, जिससे उद्विग्न होकर अन्य दैत्य अपनी अभीष्ट दिशाओं में भाग गये। सर्वात्मा भगवान् श्रीहरि शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और लक्ष्मी आदि पार्षदों के साथ अपने नगर क्षीरसागर से चल पड़े। वे उसी क्षीरसागर के तले के छिद्र से निकलकर प्रह्लाद के नगर में जा पहुँचे। "साधो! अब उठो, शीघ्र उठो और इस विशाल दैत्य-राज्यलक्ष्मी का तथा अपने स्वरूप का स्मरण करो। अनघ! तुम तो जीवन्मुक्त हो, अत: राज्य शासन करते हुए ही उद्वेगरहित होकर अपने इस शरीर को कल्पान्तपर्यन्त कर्मों में प्रेरित करते रहो। तुम इस शरीर का परित्याग मत करो। ये हम लोग हैं। ये पर्वत हैं। ये प्राणी हैं। यह तुम हो। यह जगत् है। यह आकाश है। ये सभी जब प्रलय पर्यन्त रहने वाले हैं, तब तुम भी इस शरीर को कायम रक्खो।

"असुरेश! इस वर्तमान देह की स्थिरता को लोग जीवन कहते हैं और देहान्तर की प्राप्ति के लिये इसके परित्याग को मरण कहा गया है; किंतु महामते! तुम तो इन दोनों ही जन्म-मरण रूप पक्षों से रहित हो, अतएव इस लोक में वस्तुत: न तो तुम्हारा जन्म है और न मरण ही। तुम्हारी बुद्धि तो सर्वदा एकमात्र परमात्मा में ही लीन रहती है, अतएव तुम चित्प्रकाश से संयुक्त हो। इसीलिये सब कुछ तुम्हीं हो। तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष प्रलय काल में उत्पात सूचक वायुओं के बहने पर, प्रलयाग्नि के धधकने यथा पर्वतों के ढह जाने पर भी नित्य परमात्मा में ही स्थित रहता है। दानवाधीश! उठो और तब तक इस सिंहासन पर बैठे रहो, जब तक मैं शीघ्र स्वयं अपने हाथ से ही तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूँ। साथ ही पाञ्चजन्य शङ्ख की ध्वनि सुनकर जो ये साध्य, सिद्ध और देवगण यहाँ आये हुए हैं, ये सब-के-सब तुम्हारी मङ्गल कामना करें। यों कहकर कमलनयन भगवान् नारायण ने प्रह्लाद को सिंहासन पर बैठा दिया।

इस प्रकार क्रमश: चलते हुए वे क्षीरसागर के तट पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देवगणों को विदा कर दिया और स्वयं शेषशय्या पर स्थित हो गये। इस प्रकार शेषशय्या पर विष्णु, स्वर्गलोक में देवताओं सहित इन्द्र और पाताल में दानवराज प्रह्लाद—तीनों संतापरहित होकर स्थित हुए। श्रीराम! प्रह्लाद की ज्ञान प्राप्ति सम्पूर्ण पापों का विनाश करने वाली तथा अमृत के समान शीतल है। उसका वर्णन मैंने तुम्हें सुना दिया। संसार में जो मनुष्य—चाहे वे घोर-से-घोर पातकी ही क्यों न हों—विवेकपूर्वक उसका विचार करेंगे, वे शीघ्र ही परमपद को प्राप्त हो जायँगे। अज्ञान ही पाप कहलाता है और उस अज्ञान का नाश विवेकपूर्वक विचार करने से होता है; इसलिये पाप का समूल विनाश करने वाले विचार का परित्याग नहीं करना चाहिये।

जिस अनासक्त बुद्धि वाले पुरुष की इष्टानिष्ट कर्मों के ग्रहण-त्याग में अपनी कोई इच्छा नहीं रहती अर्थात् जिसकी इच्छा का सर्वथा अभाव हो गया है, ऐसे पुरुष की स्थिति को तुम जीवन्मुक्त-अवस्था—सदेहमुक्ति

समझो। फिर देह का विनाश होने पर पुनर्जन्म से रहित हुई वही जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति कही गयी है। बीज जमता नहीं है। प्रह्लाद के अन्तःकरण में शुद्ध सत्त्वमयी वासना स्थित थी, वह शङ्ख ध्वनि होते ही उद्‌बुद्ध हो उठी। अपनी उसी वासना से प्रह्लाद को बोध प्राप्त हुआ था। श्रीहरि ही समस्त प्राणियों के आत्मा हैं, इसलिये उनके मन में जैसा संकल्प होता है, वह शीघ्र ही उसी रूप में मूर्त हो जाता है; क्योंकि परमात्मा ही सबके कारण हैं। प्रह्लाद अपने पुरुषार्थ से ही क्यों नहीं प्रबुद्ध हुआ? महामनस्वी प्रह्लाद ने जिन-जिन पदार्थों को प्राप्त किया था, वे सभी उसे अपने पुरुषार्थ से ही मिले थे। उनकी प्राप्ति में दूसरा कोई कारण नहीं है। क्योंकि प्रह्लाद ने परम पुरुषार्थ से जो भक्ति की, उसी से भगवान् ने उनको वर दिया; इसलिये भगवान् का वर मिलना भी अपना पुरुषार्थ ही है। जो विष्णु है, वही सबका आत्मा है और जो सबका आत्मा है, वही विष्णु है। यह संसार रूपी मायाचक्र नित्य भ्रमणशील तथा भ्रान्तिदायक है। चित्त को इस चक्र की महानाभि समझो। जब पुरुष प्रयत्नपूर्वक बुद्धि द्वारा इस चित्त को स्तम्भित कर देता है, तब जिसकी नाभि पकड़ ली गयी है, ऐसा यह मायाचक्र शीघ्र ही आगे बढ़ने से रुक जाता है। यह संसार एक महा भयंकर रोग है। चित्त निरोध ही इस रोग की परमोत्तम औषध है। इस औषध के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयत्न से उस व्याधि की शान्ति नहीं होती। जैसे घड़े के भीतर घटाकाश रहता है, परन्तु घड़े के नष्ट होने पर घटाकाश नहीं रह जाता, उसी तरह यह संसार चित्त के अंदर ही है, अतः चित्त का नाश होने पर संसार भी विनष्ट हो जाता है। इसलिये निश्चयपूर्वक परम प्रयत्न के साथ मन को अविवेक से हटाकर उसे बलात्कार से शास्त्राध्ययन और सत्पुरुषों के सङ्ग में लगाना चाहिये; क्योंकि परमात्मा का साक्षात्कार होने में शुद्ध आत्मा ही प्रधान कारण है।

यह चित्त विषवृक्ष के समान है, जो चिर काल से शरीर रूपी बुरे गड्ढे में उगा हुआ है। आशाएँ ही इसकी विशाल शाखाएँ और विकल्प ही इसके पत्ते हैं। अनेक प्रकार की चिन्ताएँ ही इसकी लंबी-लंबी मञ्जरियाँ हैं। कामोपभोगों के समूह ही इसमें खिले हुए पुष्प हैं। यह जरा-मरण और व्याधि रूपी फलों के भार से झुका हुआ है। इस पर्वताकार अद्‌भुत वृक्ष को तुम निश्शङ्क होकर हठपूर्वक विवेक-विचार रूपी मजबूत आरे से काट डालो। जब तक इस चित्त रूपी पिशाच को—जो अज्ञान रूपी विशाल वट वृक्षों पर विश्राम करने वाला है, तृष्णा-पिशाची जिसकी परिचर्या करती है और जो चेतनरहित सैकड़ों देहधारण करके अपनी कल्पना रूपी अटवी में चिरकाल से भटक रहा है—विवेक, वैराग्य, गुरु-संनिधि, प्रयत्न और मन्त्र आदि स्वतन्त्र उपायों द्वारा जब तक चेतन जीवात्मा के निवास स्थान रूप अपने हृदय से हटाया नहीं जायेगा, तब तक इस जगत् में आत्मसिद्धि की प्राप्ति कैसे हो सकती है।

चिन्तापरवश उद्दालक मुनि ने वन में स्थित होकर बारंबार ध्यान का अभ्यास किया, परंतु विषय उनके बंदर के समान चञ्चल चित्त को अपनी ओर खींच ले जाते थे; जिससे प्रसन्नता प्रदान करने वाली समाधि-स्थिरता उन्हें न मिल सकी। उनका मन कभी-कभी विषयासक्त हो जाता था; उस अवस्थ में वह अपने हृदयान्तर्वर्ती तमोगुण का त्याग करके भयभीत पक्षी की भाँति वहाँ से भाग निकलता था। कभी वह बाह्य और आभ्यन्तर विषयों के चिन्तन का परित्याग करके तमोगुण में लीन होकर निद्रारूपी लंबे कालतक रहने वाली स्थिति को प्राप्त हो जाता था। धर्मात्मा उद्दालक बहुत अन्वेषण के पश्चात् प्राप्त हुई गन्धमादन की एक-एक रमणीय गुहा में प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने कोमल पत्तों का एक आसन बनाया, जिसके चारों ओर पुष्पों के गुच्छे शोभा पा रहे थे। उस आसन के ऊपर उन्होंने एक सुन्दर मृगचर्म फैला दिया। तत्पश्चात् शुद्ध अन्तःकरण वाले उद्दालक अपने मन की वृत्तियों को सूक्ष्म बनाते हुए उस आसन पर विराजमान हुए। वहाँ उन्होंने उत्तराभिमुख होकर दोनों एड़ियों से अण्डकोषों को दबाकर ज्ञानी की भाँति सुदृढ़ पद्मासन लगाया। वे विषयों की ओर दौड़ते हुए अपने मनरूपी मृग को वासनाओं से हटाकर निर्विकल्प समाधि में स्थित थे, इसलिए यों विचार करने लगे—"असत्स्वरूप मन! मैं अहंकार और वासनाओं से रहित निर्विकल्प चिन्मय ज्योतिःस्वरूप हूँ और तू अहंकार का बीज स्वरूप है। अतः तुझसे मेरा

कोई सम्बन्ध नहीं है। 'अहं' रूप से कौन स्थित है ?—इसका मैंने पैर के अँगूठे से लेकर सिर तक सर्वत्र अन्वेषण किया; किंतु यह 'अहं' नामक पदार्थ मुझे कहीं उपलब्ध नहीं हुआ। इस शरीर में यह मांस है, यह रक्त है, ये हड्डियाँ हैं, ये श्वासवायु हैं, फिर यह 'अहं' रूप से स्थित कौन है ? देह में स्पन्दनांश तो प्राणवायुओं का है, चेतनांश परमात्मा का है तथा जरा-मरण शरीर के धर्म हैं; फिर यह 'अहं' क्या वस्तु है ? रे चित्त ! मांस अहं से पृथक् है, रक्त उससे भिन्न है, हड्डियाँ भी दूसरी हैं, चेतनता उससे अन्य है, स्पन्दन भी उससे अलग है; फिर 'अहं' रूप से स्थित पदार्थ कौन है ? यह नासिका है, यह जिह्वा है, यह त्वचा है, ये दोनों कान हैं, यह आँख है और यह स्पन्दन है; फिर 'अहं' रूप से स्थित कौन वस्तु है ? परमार्थरूप से विचार करने पर न तो मन अहं है न चित्त अहं है और न वासना ही अहं है। आत्मा तो अहं हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह तो केवल शुद्ध चेतन प्रकाशस्वरूप है। वस्तुतः तो इस जगत् में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, सर्वत्र मेरा ही स्वरूप है। अथवा विनाशशील असत् होने के कारण कोई भी पदार्थ मेरा स्वरूप नहीं है—यही दृष्टि सच्ची है, इससे भिन्न दूसरा कोई क्रम नहीं है।

यह चेतन आत्मा सर्वव्यापक सच्चिदानन्द स्वरूप है, अतः इसका जन्म अथवा मरण नहीं होता। फिर कैसे इसकी मृत्यु हो सकती है अथवा कैसे किसी के द्वारा यह मारा जा सकता है। इसका जीवन से तो कोई प्रयोजन है नहीं; क्योंकि यह सर्वात्मा ही सबका जीवन है। यदि शुद्ध चेतन आत्मा ही सबका जीवन है तो उसे इस जीवन से कब कौन-सी दूसरी अप्राप्त वस्तु प्राप्त होगी, जिसके लिये उसे जीवन की इच्छा हो ? देहरूपी वृक्ष को अपना निवास स्थान बनाकर रहने वाली तृष्णारूपी काली नागिनें हृदय में विवेक विचाररूपी गरुड़ का आगमन होते ही न जाने कहाँ लुप्त हो जाती हैं। जब विश्व असत्य सिद्ध हो जाता है, तब उससे उत्पन्न होने वाला सारा-का-सारा भेद-व्यवहार असत्य हो जाता है। इस प्रकार व्यवहार के असत्य हो जाने पर 'अहं'-'त्वं' का भेद-व्यवहार सत्य कैसे रह सकता है। तरङ्ग की भाँति क्षणभङ्गुर एवं विनाशोन्मुख इस देह में जिनकी आस्था सुदृढ़ हो गयी है, उन दुर्बुद्धियों का परमार्थ से पतन हो जाता है; क्योंकि देह आदि समस्त वस्तुएँ सर्वत्र उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के पश्चात् नहीं रहतीं, केवल मध्य में ही इनका प्राकट्य दृष्टिगोचर होता है। इसलिये मैं सबसे उत्कृष्ट, केवल—शुद्धस्वरूप, विक्षेपरहित, शान्तरूप, अंशांशीभाव से रहित, अपने आप में परिपूर्ण, निष्क्रिय एवं इच्छारहित ब्रह्मस्वरूप हूँ। स्वच्छता, प्रभावशालिता, सत्ता, सुहृद्वत्ता, सत्यभाषण, यथार्थज्ञान, आनन्दस्वरूपता, शान्ति, सदा मृदुभाषिता, पूर्णता, उदारता, सत्यस्वरूपता, कान्तिमत्ता, एकाग्रता, सर्वात्मकता, निर्भयता और द्वैत के विकल्प का अभाव—ये सभी गुण मुझ आत्मनिष्ठ के हृदय को अत्यन्त प्रिय लगने वाले हैं। चूँकि सर्वरूप परमात्मा में सभी कुछ सर्वदा एवं सर्वथा सम्भव है, इसलिए सभी विषयों के प्रति मेरी इच्छा-अनिच्छा और सुख-दुःख क्षीण हो गये हैं। अब मेरा मोह विनष्ट हो गया है, मन अमनीभाव को प्राप्त हो गया है और चित्त के संकल्प-विकल्प दूर हो गये हैं; अतः मैं शान्त-स्वरूप परमात्मा में रमण कर रहा हूँ। उद्दालक मुनि अपनी विशाल एवं विशुद्ध बुद्धि से निर्णय करके पद्मासन लगाकर बैठ गये। उस समय उनके नेत्र आधे मुदे हुए थे। "जो ॐकार का उच्चारण करता है, उसे परमपद की प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि 'ॐ' यह अक्षर परब्रह्म है।" ऐसा निश्चय करके उन्होंने ॐकार का, जिसकी ध्वनि ऊपर को जा रही थी, उसी प्रकार उच्चस्वर से उच्चारण किया, उनके द्वारा उच्चारित प्रणवध्वनि जब तक ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त व्याप्त नहीं हो गयी और जब तक वे सर्वव्यापक, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मा के अभिमुख नहीं हो गये, तब तक 'ॐ' का उच्चारण करते रहे। प्रणव के अकार, उकार, मकार और बिन्दु—इस प्रकार साढ़े तीन अंश हैं। उनमें से प्रथम अंश अकार के उच्चस्वर से उच्चरित होने पर जब शरीर के भीतर शब्द के गूँजने के कारण प्राण पूर्णरूप से क्षुब्ध हो उठे, तब प्राणवायु को छोड़ने के क्रम ने जिसे रेचक कहा जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण शरीर को रिक्त कर दिया, जैसे महर्षि अगस्त्य ने सागर के जल को पीकर उसे खाली कर दिया था। तत्पश्चात् प्रणव के द्वितीय अंश 'उकार' के उच्चारण के समय ॐकार की समस्थिति होने पर प्राणों का निश्चल कुम्भक नामक क्रम सम्पन्न हुआ। उस समय प्राण न बाहर थे न भीतर, न अधोभाग में थे न ऊर्ध्वभाग में और न दिशाओं में ही भ्रमण कर रहे थे,

बल्कि भलीभाँति स्तम्भित किये गये जल की तरह पूर्णतः शान्त थे। प्रणव के उपशान्तिप्रद तृतीयांश मकार के उच्चारण-काल में प्राण वायु को भीतर ले जाने के कारण प्राणों का पूरक नामक क्रम घटित हुआ। इस तीसरे क्रम में प्राण जीवात्मा में भावना द्वारा भावित अमृत के मध्य में पहुँचकर हिमस्पर्श के समान सुन्दर शीतलता को प्राप्त हो गये।

अनन्तर पद्मासन से बैठे हुए उद्दालक मुनि ने उस भावनामय शरीर में दृढ़ स्थिति करके आलान में बँधे हुए गजराज की तरह अपनी पाँचों इन्द्रियों को देह में निबद्ध कर दिया। फिर वे निर्विकल्प समाधि के लिये तथा शरत्कालीन निर्मल आकाश की तरह अपने स्वभाव को शुद्ध बनाने के हेतु प्रयत्न करने लगे। जब उद्दालक मुनि को उस समाधि से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो गयी, तब वे दृश्य-प्रपञ्च के विकल्पों से रहित होरक उस नित्य अनन्त विज्ञानानन्दघन परमात्मा में तद्रूप हो गये, जो जगत् का अधिष्ठानभूत, शुद्धस्वरूप एवं महान् है।

दृश्य वस्तु है ही नहीं—इस प्रकार की दृढ़ भावना से चित्त जब सर्वथा क्षीण हो जाता है, तब उस सामान्य स्वरूप चेतन की सब में सामान्यभाव से व्यापक स्वत: सिद्ध सत्ता मात्र ही सत्ता,सामान्य अवस्था होती है। जब चैतन्य समस्त दृश्य पदार्थों से रहित होकर परमात्मा में विलीन हो जाता है, तब उसकी निराकार आकाश की भाँति अत्यन्त निर्मल सत्ता-सामान्यता होती है। जब चैतन्य बाह्य एवं आभ्यन्तरसहित यह जो कुछ है, उस सबका अपलाप करके स्थित होता है, तब उसकी सत्ता-सामान्य अवस्था समझनी चाहिये। जब साधक सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्च को अपने वास्तविक स्वरूप से स्वप्रकाशात्मक सत्तासामान्यस्वरूप परमात्मा ही अनुभव करता है, तब उसकी सत्ता, सामान्यतावस्था जाननी चाहिये। संसार से वैराग्य, जप-ध्यान के अभ्यास, सत्-शास्त्रों के विचारपूर्वक अध्ययन, पवित्र और तीक्ष्ण बुद्धि, सद्गुरु के उपदेश और यम-नियमों के पालन से परमात्मा की प्राप्तिरूप विशुद्ध परमपद की प्राप्ति होती है अथवा केवल विशुद्ध और तीक्ष्ण प्रज्ञा से ही परमपद मिल जाता है; क्योंकि जो बुद्धि सम्यक् प्रकार से ज्ञानयुक्त, तीक्ष्ण और दोषरहित है, वह सम्पूर्ण सिद्धान्त के बिना भी यथार्थ ज्ञान द्वारा जीव को अविनाशी परमपद की प्राप्ति करा देती है।

जो इस सत्त्वादि गुणों के समाहाररूप दृश्य जड़ संसार को, अनित्य और मिथ्या की भाँति देखता है, उस पुरुष की जो यह परम शान्तिस्वरूप अन्त:शीतलता है, वही समाधि कहलाती है। मन के रहने पर दृश्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध होता है—ऐसा थिश्चय कर कि जो मनसे रहित होकर परम शान्ति को प्राप्त कर चुका है, ऐसा कोई पुरुष तो व्यवहार में लगा रहता है और कोई ध्यान-समाधि में तल्लीन हो जाता है। यदि उनके अन्त:करण में परम शान्तिरूप शीतलता है तो वे दोनों ही सुखी हैं; क्योंकि जो अन्त:करण की शीतलता है, वह अनन्त साधनरूप तपस्याओं का फल है। इसलिये जो ज्ञानी व्यवहार परायण है और जिसने ज्ञान प्राप्त करके वन का आश्रय ले लिया है, वे दोनों ही सर्वथा समान हैं; क्योंकि उन दोनों को ही सम्पूर्ण संदेहों से रहित परम पद की प्राप्ति हो गयी है। चित्त में कर्तापन का अभाव समाधान है और उसी मङ्गलमय परमानन्द-पद को चिन्मयभाव जो मन वासनाओं से रहित हो गया है, वह स्थिर कहा गया है; वही ध्यान समाधि है, वही केवल चिन्मयभाव है और वही अविनाशी परम शान्ति है।

शान्त बुद्धि पुरुष सर्व व्यापक आत्मा का साक्षात्कार करते हुए न तो किसी के लिये शोक करता है और न किसी की चिन्ता ही करता है, वही समाहित कहलाता है। आकाश की तरह निर्मल शास्त्र और शिष्टाचार के अनुकूल बाह्य चेष्टाओं का सम्यक् आचरण सम्पन्न हर्ष, अमर्ष आदि विकारों में काष्ठ और मिट्टी के ढेले के समान विकाररहित एवं शान्त स्वभाव वाला भय से नहीं, बल्कि स्वाभाविक ही समस्त प्राणियों को अपने आत्मा के तुल्य और पराये धन को मिट्टी के ढेले के सदृश देखता है, वही यथार्थ देखता है।

हिमालय के शिखर कैलास के मूल देश में हेम जट नामक किरात निवास करते थे। उनके राजा का नाम सुरघु था। वह बलवान् तथा प्रजापालन में दक्ष था। पराक्रम में तो वह सूर्य तुल्य और बल में साक्षात्

मूर्तिमान् वायु के समान था। उसने सोचा "मैं इन दुःखी प्रजा-जनों को कोल्हू में पेरे जाते हुए तिलों की भाँति क्यों बलपूर्वक पीड़ित करता हूँ ? मेरे समान ही इन सभी प्राणियों को भी तो दुःख होता होगा। अतः अब इन्हें और अधिक दण्ड देना व्यर्थ हैं। मैं इन्हें धन-सम्पत्ति प्रदान करूँगा; क्योंकि मेरी तरह सभी लोग धन से आनन्दित होते हैं अथवा निग्रह का अवसर प्राप्त होने पर उसे भी करूँगा।

किसी समय महर्षि माण्डव्य सम्पूर्ण दिशाओं में भ्रमण करते हुए राजा सुरघु के घर पधारे राजा ने उनका पूजन किया और यों पूछा भगवान् ! आप तो सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता हैं और चिर काल से परम पद में विश्राम भी कर चुके हैं; अतः आप मेरे संशय का निवारण कीजिये। अपने प्रजा जनों पर मेरे द्वारा किये गये निग्रह और अनुग्रह से उत्पन्न हुई चिन्ताएँ मुझे बहुत उत्पीडित कर रही हैं, अतः मुने ! जिस प्रकार मेरी बुद्धि के समान समता का उदय हो और विषमता न आने पाये, कृपापूर्वक वैसा ही प्रयत्न कीजिये। महर्षि बोले—सूर्य की किरणों के स्पर्श से कुहरे का विनाश हो जाता है, वैराग्य, श्रवण-मनन-निदिध्यासन रूप अभ्यासादि निजी प्रयत्न से तथा आत्म स्थिति रूप उपाय से मन की यह कायरता पूर्णतया नष्ट हो जाती है। आत्म विषयक विवेक विचार करने से ही मनके भीतरी संताप का शमन होता है। तुम मन-ही-मन विचार करो—ये जो पुत्र, मित्र आदि अपने सम्बन्धी हैं तथा अपने शरीर में रहने वाली इन्द्रियाँ हैं; वे तत्त्वतः कौन हैं और कैसी हैं ? मैं कौन हूँ ? कैसा हूँ ? यह दृश्य जगत् क्या है ? प्राणियों के जन्म-मरण कैसे होते हैं ? यों हृदय में विचार करने से तुम्हें परमोत्कृष्ट महत्ता प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार जब परमात्म-तत्त्व का यथार्थ अनुभव कर लेने पर तुम संतुष्ट हो जाओगे। सर्वात्मिका बुद्धि से सब देश में, सब काल में, सभी प्रकारों से सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च का परित्याग कर देता है, उसे सर्वरूप परमात्मा अपने-आप उपलब्ध हो जाते हैं; किंतु जब तक सम्पूर्ण दृश्यों का पूर्णतया त्याग नहीं हो जाता, तब तक परमात्मा का साक्षात्कार होना दुर्लभ है। इसलिये अपने आत्मा का साक्षात्कार करने के लिये सभी विषयों का परित्याग कर देना चाहिये; क्योंकि सब कुछ त्याग देने पर अन्त में जो दृष्टिगोचर होता है, वही परम पद है।

महर्षि माण्डव्य राजा सुरघु को यों उपदेश देकर चले गये। उनके चले जाने पर राजा सुरघु विचार करने लगा—'वस्तुतः स्वयं मैं कौन हूँ ? मैं मेरु पर्वत तो हूँ नहीं और न मेरु गिरि मेरा है। न तो मैं जगत् हूँ और न जगत् मेरा है। मैं पर्वत भी नहीं हूँ, मैं न पृथ्वी और न पृथ्वी मेरी है। यह किरात-मण्डल भी मेरा नहीं है केवल अपने संकेत से ही यह देश मेरा कहा जाता है। लो, मैंने इस संकेत को छोड़ दिया; अतः न तो मैं देश हूँ और न यह देश मेरा है। इस देह में यावन्मात्र जड पदार्थ हैं, वे मैं नहीं हूँ; क्योंकि मैं तो चेतन हूँ। मैं भोग नहीं हूँ और न मैं ही ज्ञानेन्द्रियाँ हूँ; क्योंकि वे जड़ और असत्स्वरूपा हैं। मैं तो सम्पूर्ण विकल्पों से रहित विशुद्ध साक्षी स्वरूप चेतन आत्मा हूँ। जिसकी प्राप्ति के लिये मैं चिर काल से प्रयत्नशील था, उस आत्मा की उपलब्धि तो मुझे आज ही हुई है। जिस विशुद्ध आत्मा का कहीं अन्त नहीं है, वह तत्पदबोध्य असीम आत्मा ही मैं हूँ। वह चेतन आत्मा निर्मल, विषय-दोषों से शून्य, सम्पूर्ण दिङ्मण्डल को परिपूर्ण करने वाला सर्वव्यापक, सूक्ष्म, उत्पत्ति-विनाश-रहित, समस्त आकारों से परे एवं सर्वदा सर्वभाव को प्राप्त है।

गाधिनन्दन विश्वामित्र ने अपने तपोबल से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया था, उसी तरह हेमजट नामक किरातों के राजा सुरघु ने निश्चयात्मक ज्ञान के बल से परम पद प्राप्त कर लिया। तभी से राजा सुरघु चिन्ता ज्वर से मुक्त हो गया। वह सर्वदा निग्रह-अनुग्रह रूपी अपने राजोचित कार्यों में अटल बना रहता था।

परिधि नाम का पारसी देश का राजा था वह किरातराज सुरघु का परम मित्र था। राजा परिध के राज्य में महान् अवर्षण हुआ, उस समय बहुत सी जनता भूख गतप्राण होकर विनष्ट हो गयी, प्रजा के उस कष्ट को देखकर राजा परिध को अपार विषाद हुआ। उसने प्रजाजनों को विनाश से बचाने के लिये अनेकों यत्न किये, किंतु वे सब निष्फल सिद्ध हुए। तब उसे राज्य से वैराग्य हो गया। उसने राज्य

का परित्याग कर दिया और मृगचर्मधारी मुनियों की तरह तपस्या करने के लिये जंगल की राह लीं। उसने अपने मन इन्द्रियों का भी दमन कर लिया था; अतः वह वहाँ एक पर्वत की कन्दरा में आसन लगा कर तपस्या में निरत हो गया। उस समय स्वयं सूख कर गिरे हुए पत्ते ही उसके आहार थे। इस प्रकार चिर काल तक वह अग्नि की भाँति सूखे पत्तों को ही भक्षण करता रहा, जिससे तपस्वियों के मध्य में वह 'पर्णाद' नाम से विख्यात हुआ। तभी से वह परिघ जम्बूद्वीप में मुनियों के आश्रमों में राजर्षि श्रेष्ठ पर्णाद के नाम से प्रसिद्ध हो गया। घोर तपस्या और अभ्यास के द्वारा परमात्मा की कृपा से उसे आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई। वह सुख दुःखादि द्वन्दों से परे हो गया। उसकी विषय वासनाएँ नष्ट हो गयीं। उसका मन विक्षेप शून्य और शान्त हो गया तथा वह विषयों की आसक्तियों और आक्षेपों से रहित हो गया। इस प्रकार जीवन्मुक्त होकर वह तत्त्वज्ञानियों तथा तत्त्वजिज्ञासु मुनियों के साथ स्वेच्छानुकूल विरचण करते हुए जीवन्मुक्त मित्र सुरघु के महल में आया। उसने कहा—तुम्हारे दर्शन से आज मेरा चित्त परमानन्द से परिपूर्ण हो गया है। प्रसन्नता एवं गम्भीरतापूर्ण समदृष्टि से जनता के कल्याणार्थ कर्तव्य कर्मों को करते हो न? तुम्हारे देश में निवास करने वाली जनता शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओं से रहित, धैर्य-सम्पन्न और धन्य-धान्य से परिपूर्ण है न? उसे कोई चिन्ता तो नहीं सताती? क्या उत्तम फल प्रदान करने वाली एवं अनेक विध फलों के भार से नम्र हुई कल्पलता की भाँति तुम्हारे राज्य की भूमि प्रजाजनों का उनके अभिलषित पदार्थों की पूर्ति द्वारा सदा-सर्वदा पोषण करती है? इस नियति की गति सर्प की चाल की तरह बड़ी टेढ़ी है। उसने ही आपको और मुझे चिरकाल तक दूर हटाकर आज पुनः मिला दिया है। अहो! उस नियति के लिये क्या असाध्य है? आज आपके शुभागमन-जनित पुण्य के संस्पर्श से हम सब तरह से कल्याण के भागी और परम पावन हो गये। जिसका अन्तःकरण चञ्चल होने के कारण विश्राम को नहीं प्राप्त हुआ है, वह चाहे पद्मासन बाँधे चाहे परब्रह्म को अञ्जलि समर्पित करे, उसकी कोई समाधि कैसे लग सकती है। मौन होकर बैठे रहना ही समाधि थोड़े ही है। समाधि तो परमात्मतत्त्व के उस यथार्थ ज्ञान को कहते हैं, जो सम्पूर्ण आशारूपी घास-फूस को भस्म करने के लिये अग्नि स्वरूप है। परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी तीक्ष्ण और अचल परा प्रज्ञा को ही समाधि कहते हैं, जो एकाग्र, सदा-सर्वदा तृप्त और सत्य अर्थ को ग्रहण करने वाली है। जो प्रज्ञा क्षोभरहित, अहंकारशून्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से पृथक् रहने वाली तथा मेरु से भी बढ़कर स्थिरता युक्त है, उसे समाधि कहते हैं। जो मनः स्थिति चिन्ता शून्य, अभीष्ट पदार्थों को प्राप्त करने वाली, ग्रहणोपादान से रहित तथा सच्चिदानन्द परमात्म भाव से परिपूर्ण है, उसके लिये समाधि शब्द का व्यवहार किया जाता है। जब मन तत्त्व ज्ञान के साथ सदा के लिये अत्यन्त सम्बद्ध हो जाता है, तबसे ज्ञानी महात्मा की समाधि सदा बनी रहती है, उसका कभी विच्छेद नहीं होता।

परिघ ने कहा—तुम्हें परमात्मा के यथार्थ रूप का ज्ञान प्राप्त हो गया है और उस सच्चिदानन्द घन परब्रह्मरूप परम पद की प्राप्ति भी हो चुकी है। इसीलिए तुम्हारा अन्तःकरण परम शान्ति रूप शीतलता से युक्त हो गया है, जिससे तुम अपनी उत्तम बुद्धि से सार-असार का निर्णय करके उसके झमेले से पार हो गये हो तथा तुम्हें इसका भी ज्ञान हो चुका है कि यह जो कुछ दृश्य प्रपञ्च है, वह सारा-का-सारा अखण्ड परब्रह्म परमात्मा ही है। सुरघु बोला-संसार में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जिसे ग्रहण करने के लिए हमारे मन में अभिलाषा हो; क्योंकि यह जितना दृश्य प्रपञ्च है, यह सभी मिथ्या है। त्रिलोकी में जो ये स्त्रियाँ, पर्वत, समुद्र, वनश्रेणियाँ आदि पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं, ये सभी वास्तविकता से शून्य हैं; क्योंकि वास्तव में उन्होंने एक-दूसरे का आदर-सत्कार किया और फिर वे अपने-अपने कार्य में तत्पर होकर अभीष्ट स्थानों को चले गये। ज्ञानी जब चेतन परमात्मा के देदीप्यमान प्रकाश का उदय होता हैं, तब अज्ञानरूपी रात्रि विनष्ट हो जाती है और ज्ञानी की परमान्द को प्राप्त हुई बुद्धि प्रकाशित हो उठती है। वे ही मित्र सच्चे मित्र हैं, वे ही शास्त्र सत्-शास्त्र हैं और वे ही दिन शुभ दिन हैं, जिनके सहयोग से वैराग्यरूपी उल्लास से युक्त परमात्मा विषयक चित्त का अभ्युदय स्पष्टरूव से सिद्ध होता है।

जिसके पाप क्षीण नहीं हुए हैं और जो परमात्मा की प्राप्ति की उपेक्षा करते हैं, वे जन्मरूपी जंगल के गुल्म हैं, दीन हैं और उन्हें चिरकालतक दुःखों के लिये शोक करना पड़ता है।

जीवात्मा एक बैल के समान है। बुढ़ापे ने इसके शरीर को जर्जरित कर दिया है। यह आशारूपी सैकड़ों पाशों से जकड़ा हुआ है, फिर भी भोगरूपी घास के लिए इसके मन में उत्कृष्ट लालसा भरी है। यह अपनी पीठ पर दुःख का भारी बोझ लिए हुए जन्म रूपी जंगल में भटक रहा है और सारे शरीर में कुकर्म रूपी कीचड़ लपेटे हुए मोह-जलाशय में लोट रहा है। राग की दन्त पंक्तियाँ इसे चबाये डालती हैं और तृष्णारूपी नाथ से यह खींचा जा रहा है। मन रूपी वणिक् ने इस पर अधिकार जमा रखा है। यह बन्धु-ममतारूपी बन्धन में बँधा होने के कारण चलने-फिरने में असमर्थ हो गया है। पुत्र-कलत्र की ममताजनित जीर्णतारूपी दलदल में यह बुरी तरह फँस गया है। लंबे रास्ते पर चलने के कारण इसका मन टूट गया है और विश्राम न मिलने से यह थक गया है, यह संसार रूपी अरण्य में चक्कर काट रहा है, फिर भी परम शान्ति रूप शीतल छाया इसे नसीब नहीं हुई। बाह्य इन्द्रियाँ इसे आक्रान्त किये हुए हैं, जिससे ऊपर से तो इसका आकार सुन्दर है किन्तु अन्तःकरण दीन हो गया है। इसके गले में लटकते हुए कर्मरूपी घंटे का शब्द हो रहा है। यह जन्म-मरण रूपी गाड़ी के बोझ से लदा हुआ अज्ञान के विकट वन में लोट रहा है। अनर्थों में ही सदा निमग्न रहने से दुःखी, दीन और शिथिल अङ्गवाला यह कर्मों के भारी भार से पीड़ित होकर करुण-क्रन्दन कर रहा है। अतः चिरकाल तक उत्तम यत्न का आश्रय लेकर परमात्म-विषयक ज्ञानरूपी बल के सहारे इसका संसाररूपी जलाशय से उद्धार करना चाहिये। परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार होने से जब चित्त विनष्ट हो जाता है, तब जीवात्मा पुनः संसार में कभी जन्म नहीं लेता। 'यह मेरा है, यह मैं हूँ' इस प्रकार के अभिमान को त्याग कर मन से ही विवेकपूर्वक विचार द्वारा संकल्पात्मक मन का छेदन करके यदि परमात्मा का साक्षात्कार न किया जाय तो चित्रलिखित सूर्य के सदृश मिथ्या होते हुए भी इस जगद्-दुःख का कभी नाश नहीं होता।

शरीर—क्षेत्र और शरीरी—क्षेत्रज्ञ आत्मा का जो विभाग है अर्थात् शरीर जड है और आत्मा चेतन है—ऐसे अनुभव के अभाव में केवल देह ही आत्मा है, ऐसी भावना से उत्पन्न देहाभिमान ही सङ्ग है और वही बन्धन का हेतु कहा जाता है तथा देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न होने के कारण आत्मा का स्वरूप अनन्त है। यह दृश्यमान सम्पूर्ण संसार परमात्मा का संकल्प होने के कारण परमात्मा का स्वरूप है, तब फिर मैं उसमें से किसकी चाह करूँ और किसको त्याग दूँ—इस प्रकार की धारणा से उत्पन्न होने वाली जीवन्मुक्त की अवस्था को तुम असङ्ग स्थिति समझो। न तो मैं ही हूँ और न दूसरा ही कुछ है; अतः विषयों से उत्पन्न सुख हों अथवा न हों—ऐसा निश्चय करके जिसका अन्तःकरण अहंता, ममता और आसक्ति से रहित हो गया है, वह मनुष्य मुक्ति का अधिकारी कहलाता है। जो निष्कर्म भाव की प्रशंसा नहीं करता, किसी भी कर्म में आसक्त नहीं होता, सबमें समभाव रखता है और कर्म फलों की इच्छा से रहित है, वही पुरुष असंसक्त कहा जाता है। केवल परमात्मा के स्वरूप में अटल स्थिति वाले जिस महात्मा का मन हर्ष, शोक और ईर्ष्या के वशीभूत नहीं होता, वही असक्त है और उसकी 'जीवन्मुक्त' संज्ञा होती है। जो मनुष्य सम्पूर्ण कर्मों और उनके फल आदि का कर्म से नहीं, अपितु केवल मन से भली-भाँति त्याग कर देता है, वर असंसक्त कहलाता है। यह आसक्ति दो प्रकार की कही गयी है—एक वन्द्या अर्थात् प्रशस्त और दूसरी वन्ध्या अर्थात् पुरुषार्थ फल से शून्य। इनमें तत्त्वज्ञ महात्माओं की अपने स्वरूप में आसक्ति वन्द्या है और वन्ध्या आसक्ति सर्वत्र अज्ञानियों की है। जो आसक्ति आत्मतत्त्व के ज्ञान से शून्य, देह आदि असत्य वस्तुओं से उत्पन्न और बारंबार संसार में सुदृढ़ रूप से स्थित है, वह वन्ध्या कही जाती है तथा जो आसक्ति आत्म-तत्त्व के ज्ञानद्वारा यथार्थ विवेक से उत्पन्न हुई है और पुनर्जन्म का कारण नहीं है, उसे लोग वन्द्या कहते हैं। वन्ध्या आसक्ति के बशीभूत होते से मन विषय भोगों में व्यर्थ ही रमणीयता की कल्पना करके उन पर उसी प्रकार टूट

पड़ता है। वन्ध्या आसक्ति के प्रभाव से ब्रह्माण्डरूपी गूलर के फल के अंदर मच्छर की तरह स्फुरित होते हुए देवता स्वर्गलोक में, मनुष्य मृत्युलोक में और नाग तथा असुर पाताल में स्थित हैं।

शून्य आकाश में केवल मन की आसक्ति रूपी रंग से संकल्पपूर्वक जो यह जगद्रूपी चित्र बनाया गया है, वह कभी-भी सत्य नहीं हो सकता। इस संसार में आसक्ति पूर्ण मन से व्यवहार करने वाले मनुष्यों के शरीरों को तृष्णा क्षीण करती रहती है, जैसे विषयासक्त चित्त वाला मनुष्य दुःखों के कारण सूख जाता है। इस भूतल पर यह जो कुछ दुःख समूह दृष्टिगोचर हो रहा है, उस सबकी कल्पना विषयासक्त चित्तवाले मनुष्यों के लिये ही हुई है। जो मन आसक्ति शून्य, सब ओर से शान्त, आकाश के समान निर्मल रूप से स्थित और असत्-सा प्रतीत होते हुए भी सत्रूप से भासमान हो रहा है, वह साधक के लिये सुख का ही हेतु होता है।

कल्याणकामी विवेकी पुरुष को चाहिये कि वह सर्वत्र स्थित रहते हुए, सबके साथ रहते हुए और सभी न्याययुक्त कर्मों में लगे हुए भी सदा-सर्वदा अपने मन को अनासक्त और सम बनाये रक्खे। उसे चेष्टाओं में, किसी प्रकार की चिन्ताओं में, पदार्थों में, आकाश में, नीचे पाताल में, ऊपर पृथ्वी में, दसो दिशाओं में, लताओं में, बाहर के विशाल विनयभोगों में, इन्द्रिय-वृत्तियों में, अन्तःकरण में, प्राण, मूर्धा और तालु में, भ्रूमध्य में, नासिका के अग्रभाग में, मुख में, दक्षिण नेत्र की कनीनिका में, अन्धकार में, प्रकाश में, इस हृदय रूपी आकाश में, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त अवस्थाओं में, शुद्ध सत्त्वगुण में, तमोगुण में, रजोगुण में, त्रिगुणमय पदार्थ-विशेष में, चल-अचल पदार्थों में, सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में, दूर में, समीप में, सामने, नामरूपात्मक किसी पदार्थ में, अपने आत्मा में, शब्द-स्पर्श रूप आदि विषयों में, अज्ञानजनित आनन्द की वृत्तियों में, गमनागमन की चेष्टाओं में और घड़ी, दिन, मास, संवत्, युग आदि काल की कल्पनाओं में आसक्त नहीं करना चाहिये। सर्वत्र दृश्य पदार्थों में अनासक्त होकर जड दृश्य जगत् के आश्रयभूत नित्य विज्ञानानन्दमन परमात्मा में विश्राम करके परमात्मा में ही अमृतमय रस से युक्त मन वाला होकर स्थित रहना चाहिए। इस प्रकार उस परमात्मा में स्थित हुआ जीवात्मा सम्पूर्ण आसक्तियों से रहित होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। फिर तो वह इन समस्त व्यवहारों को करे अथवा न करे; क्योंकि उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। जैसे आकाश का मेघों के साथ कोई सम्पर्क नहीं रहता, उसी तरह अपने परमात्म स्वरूप में रत हुआ जीवात्मा क्रियाओं को करता हुआ अथवा न करता हुआ भी क्रियाजनित फलों के साथ तनिक भी सम्बद्ध नहीं होता है। और शान्त चैतन्य-घन जीवात्मा को चाहिये कि वह दृश्य संसार के सम्बन्ध का भी परित्याग कर शान्त होकर परमात्मा के स्वरूप में स्थित रहे। जिसने अपने स्वरूप में विश्राम को प्राप्त कर लिया है, जिसका अन्तःकरण आत्मसाक्षात्कार से सम्पन्न है और जिसकी कर्म तथा उसके फलों में तनिक भी आसक्ति नहीं रह गयी है, ऐसा जीवात्मा कर्म करते हुए भी आसक्ति से रहित होने के कारण कर्मजनित फलों से सम्बद्ध नहीं होता।

इस संसार में देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से शून्य एक विशुद्ध चेतन आत्मा ही है; उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है। सर्वत्र व्यापक चेतन 'आत्मा' यह नाम केवल व्यवहार के लिये ही कल्पित है, वास्तव में नाम-रूप आदि भेद तो इस चेतन से अत्यन्त दूर ही हैं, अर्थात् यह चेतन आत्मा नाम-रूप आदि उपाधि से रहित है। यह सब जगत् आत्म स्वरूप ही है, उससे भिन्न पृथ्वी, जल आदि कुछ भी नहीं हैं। जैसे छाया और धूप का तथा प्रकाश और अन्धकार का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता, वैसे ही शरीर और आत्मा का भी परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता। देह और आत्मा का परस्पर सम्बन्ध-भ्रम भी आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से विनष्ट हो जाता है। वह चेतन आत्मा शुद्ध, अविनाशी, स्वप्रकाश एवं सम्पूर्ण विकारों से रहित है और देह विनाशशील, अनित्य और मल रूप विकार से युक्त है। तुम देह के उत्पन्न होने पर उत्पन्न नहीं होते और देह के नष्ट होने पर नष्ट नहीं होते; क्योंकि अपने स्वरूप में तुम विकार-रहित और विशुद्ध हुए नित्य स्थित हो। इस विनाशशील देह के नष्ट हो

जाने पर शुद्ध आत्मा का नाश नहीं होता; इसलिये जो देह का विनाश हो जाने पर 'मैं नष्ट हो जाता हूँ' इस प्रकार की भावना से दु:खी होता है, उस अन्धबुद्धि को धिक्कार है।

अहं, भूत आदि तथा तीनों कालों में उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ दृश्य और दर्शन के सम्बन्धों से दिखायी देने वाली मन की कल्पना ही है। इसलिये आत्म साक्षात्कार रूप दृश्य-दर्शन से रहित सुखानुभूति का अवलम्बन करने से संसार का अभाव हो जाता है, आत्म स्वरूप को आवृत करने वाली दृष्टि का विच्छेद हो जाता है और यथार्थ आत्मानुभव प्रकाशित हो जाता है। उसी का अवलम्बन करने पर तुर्यावस्था प्राप्त हो जाती है और उसी के अवलम्बन से मुक्ति हो जाती है। अब मैं तुमसे दूसरी दृष्टि का वर्णन करता हूँ; उसे तुम सुनो। मैं ही आकाश हूँ, मैं ही आदित्य हूँ, मैं ही दिशाएँ हूँ, मैं ही अध: हूँ, मैं ही ऊर्ध्व हूँ, मैं ही दैत्य हूँ, मैं ही देव हूँ, मैं ही लोक हूँ, मैं ही चन्द्रमा आदि की प्रभा हूँ, मैं ही अन्धकार हूँ, मैं ही मेघ हूँ, मैं ही पृथ्वी हूँ, मैं ही समुद्र आदि हूँ एवं रेणु, वायु, अग्नि और यह सारा जगत् भी मैं ही हूँ; तीनों लोकों में सब जगह जो परमात्मा स्थित है, वह मैं ही हूँ। उस सर्वरूप परमात्मा से भिन्न परिच्छिन्न मैं कौन हूँ ? मैं कभी परिच्छिन्न नहीं हो सकता। देह आदि भी मुझसे भिन्न क्या हैं ? एक अद्वितीय वस्तु परमात्मा में द्वैत कैसे हो सकता है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण जगत् के आत्म रूप से स्थित हो जाने पर कौन अपना और कौन पराया रहेगा ? तत्त्वज्ञ से भिन्न ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो उसे यदि प्राप्त हो जाय तो वह हर्ष और विषाद से ग्रस्त हो ? यदि उसको ऐसी वस्तु के आ जाने से विषाद दिखायी पड़े तो वह तत्त्वज्ञ ही नहीं है, किंतु मूढ़ ही है; क्योंकि ऐसा पुरुष जगन्मय ही होता है, सच्चिदानन्दमय नहीं।

दो प्रकार की अहंकार-दृष्टियाँ सात्त्विक और अत्यन्त निर्मल हैं। उनकी तत्त्वज्ञान से उत्पत्ति होती है। वे मोक्ष प्रदान करने वाली और परमार्थस्वरूपा हैं। मैं सबसे परे, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और विनाशशील सम्पूर्ण पदार्थों से अतीत हूँ—यह पहली अहंकार-दृष्टि है तथा जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ— यह पहली अहंकार-दृष्टि है। इन दोनों से भिन्न तीसरी अहंकार-दृष्टि यह है—देह मैं हूँ। इस दृष्टि को तुम केवल दु:खदायिनी ही जानो, यह कभी शान्तिदायिनी नहीं होती। अब तुम इन तीनों ही अहंकारों को छोड़ कर सबके शेष में रहने वाले अहं-भावना शून्य पूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप का अवलम्बन करके उसी अवलम्बन योग्य परम तत्त्व में निरत स्थित रहो; क्योंकि इस मिथ्या जगत् में परिपूर्ण और सर्व प्रकाशक आत्मा वास्तव में अखिल प्रपञ्च स्वरूप से मुक्त और समस्त पदार्थों की सत्ता से अतीत ही है।

वास्तव में बर्फ और शुक्लता में परस्पर पार्थक्य नहीं है, उसी प्रकार चित्त और अहंकार की पृथक् कल्पना व्यर्थ ही की जाती है; वास्तव में उनका परस्पर कोई भेद नहीं है। ज्ञान से वासना समूल (अविद्या सहित) नष्ट हो जाती है और परमात्मा का वास्तविक स्वरूप प्रकाशित हो जाता है। अविद्या का अस्तित्व किसी प्रकार नहीं है—इस तरह शास्त्र और युक्ति से दृढ़ निश्चय हो जाने पर अविद्या का तत्क्षण विनाश हो जाता है।

मनुष्य को न राज्य से, न स्वर्ग से, न चन्द्रमा से, न वसन्त से और न कान्ता के कमनीय संसर्ग से ही वैसे उत्तम सुख-शान्ति प्राप्त होते हैं, जैसे आशा त्याग से; क्योंकि आशा का त्याग ही सबसे बढ़-चढ़ कर सुख-शान्ति है। जिस परम निर्वाण रूप मोक्ष के लिये तीनों लोकों की सम्पत्तियाँ तिनके की तरह कुछ भी काम नहीं देतीं, वह आशा के त्याग से ही प्राप्त होता है। जिसके हृदय में आशा अपना स्थान कभी नहीं जमा सकती, सम्पूर्ण त्रिभुवन को तृण के सदृश समझने वाले उस विरक्त पुरुष की उपमा किससे दी जा सकती है ? यह सम्पूर्ण जगत् परमात्म स्वरूप ही है, यहाँ नाना रूपता है ही नहीं। जगत् को अद्वितीय परमानन्द स्वरूप जानकर धीर महात्मा तनिक भी खिन्न नहीं होते। इन पदार्थों के समूहों का जो यथार्थ—आत्मा से अभिन्न स्वरूप है, उसको जानने से ही पुरुष बुद्धि के परम विश्राम स्वरूप नैराश्य को प्राप्त होता है। जैसे वीर केसरी के पास से मृगी दूर भाग जाती है, उसी प्रकार तीव्र वैराग्य से वीरता को प्राप्त अन्त:करण से युक्त पुरुष के पास से यह संसार को मोहित करने वाली माया दूर भाग जाती है—फिर उसके पास भी नहीं फटकती।

तत्त्ववेत्ता पुरुष रूप-लावण्य युक्त कामिनी को भी चित्र में लिखित कान्ता की प्रतिमा की तरह ही समझते हैं; क्योंकि जैसे चित्र में चित्रित कामिनी के केश, ओष्ठ आदि अवयव मषी, कुङ्कुम आदि रंग स्वरूप पाँच भूतों को छोड़कर और कुछ भी नहीं होते, उसी प्रकार रूप और लावण्य युक्त जीवित कामिनी के केश, ओष्ठ आदि भी पाँच भूतों के स्वरूप से अतिरिक्त दूसरे कुछ नहीं हैं। इसलिये कान्ता-प्रतिमा और जीवित कान्ता में तत्त्वतः समानता है—इस तत्त्व को जानने वाले विवेकशील विरक्त महात्मा पुरुष का जीवित कान्ता के उपभोग में आग्रह कैसे हो सकता है। जैसे पर-पुरुष में व्यसन (आसक्ति) रखने वाली नारी, घर के काम-काज में व्यग्र रहने पर भी उसी पर-पुरुष-सम्बन्ध रूप रसायन का अपने अंदर आस्वाद लेती रहती है, उसी प्रकार व्यवहार करते हुए भी विशुद्ध परब्रह्म तत्त्व में उत्तम विश्राम को प्राप्त धीर तत्त्वज्ञ पुरुष उस विज्ञानानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में ही मग्न रहता है।

वसिष्ठ जी कहते हैं—राजा जनक सम्पूर्ण चिन्ता रूप ज्वर से तथा अन्तःकरण की व्याकुलता से रहित सदा स्थित रहते हैं। आपके पितामह महाराज दिलीप ने अनेक तरह के उचित सांसारिक कर्मों को सुचारु रूप से करते हुए भी आसक्ति से रहित होकर ही दीर्घ काल तक पृथ्वी का पालन किया। तथा राग आदि दोषों से रहित होने के कारण आत्मज्ञान को प्राप्त तथा सदा जीवन्मुक्त-स्वरूप महाराज मनु ने चिर काल तक प्रजाओं का संरक्षण करते हुए राज्य का पालन किया। विचित्र सैन्य और बाहुबल के प्रयोग से युक्त युद्धों तथा अनेक व्यवहारों को निष्काम भाव से दीर्घ काल तक करते हुए महाराज मान्धाता परम पद को प्राप्त हुए। पाताल के राज्य सिंहासन पर आसीन, सदा त्यागी, सदा अनासक्त राजा बलि यथार्थ रूप से व्यवहार को करते हुए भी जीवन्मुक्त रूप से स्थित हैं। इन्द्र के युद्ध में अपने शरीर का परित्याग करने वाले विशाल-हृदय मानी वृत्रासुर ने प्रशान्त मन होकर ही देवताओं के साथ युद्ध किया। पाताल तक का परिपालन करते समय दानवोचित्त कर्मों का अनासक्त भाव से अनुष्ठान करते हुए भक्त प्रवर प्रह्लाद अविनाशी अनिर्वचनीय परमानन्द स्वरूप परम पद को प्राप्त हुए। समस्त देवताओं के मुख स्वरूप अग्नि क्रिया समूह में तत्पर होते हुए यज्ञिय शोभा का चिर काल तक उपभोग करते हैं तथापि वे मुक्त होकर ही इस त्रिभुवन में निवास करते हैं। जगत् के प्राणि-समूहों के अङ्गों का चिर काल से संचरण कराते हुए भी वायु, जो सदा-सर्वदा सर्वत्र संचरण करने वाले हैं, मुक्त ही स्थित हैं। सूर्य दिवस परम्पराओं का निर्माण करते हैं और यमराज धर्माधर्म-विचारपूर्वक लोगों का नियमन करते हैं। इन पूर्वोक्त महानुभावों के सिवा दूसरे भी सैकड़ों महात्मा यक्ष, राक्षस, मनुष्य और देवता इस त्रिभुवन में मुक्त स्वरूप हुए ही संसार में अनासक्त भाव से विचरण करते हैं। विचित्र आचार-व्यवहारों में स्थित कितने ही पुरुष भीतर शान्ति से युक्त हैं, जब कि कुछ तामसी मूढ़ पुरुष तो मोह में मग्न हुए पत्थर के सदृश बने रहते हैं। कुछ महात्माओं ने परम ज्ञान का सम्पादन करके तपोवन का आश्रय लिया। कुछ तत्त्वज्ञ आकाश में ग्रह, नक्षत्र आदि के आधार भूत ज्योतिश्चक्र के मध्य में स्थित हैं—जैसे बृहस्पति, शुक्राचार्य, चन्द्र, सूर्य, सप्तर्षि आदि। तिर्यक् योनियों में भी सदा से कृतबुद्धि महात्मा रहते हैं और देवयोनियों में भी मूर्ख बुद्धि वाले लोग विद्यमान हैं। जिसका अत्यन्त व्यापक स्वरूप है, उस सर्व स्वरूप परमात्मा में सब कुछ सर्व भाव से सर्वत्र सब प्रकार से सदा ही सम्भव है।

यह जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, अविवेक से स्थिरता को प्राप्त होता है और परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से निश्चय ही न होना ही संसार की स्थिति में कारण है और परमात्मा का यथार्थ ज्ञान ही उस संसार के विनाश में कारण है। यह संसार-सागर ऐसा घोर है कि इससे पार हो जाना अत्यन्त दुष्कर है; युक्ति और प्रयत्न के बिना इसका तरण नहीं किया जा सकता। यह संसाररूपी सागर है इसमें मुग्ध अङ्गनारूपी विस्तृत तरङ्गें हैं। ये स्त्रीरूपी ओठों की शोभारूप पद्मराग मणियों से युक्त, नेत्ररूपी नील-कमलों से परिपूर्ण, स्मितरूपी फेनों से सुशोभित, दाँतरूपी प्रफुल्लित पुष्पों से अलंकृत, केशरूपी इन्द्रनीलमणियों से सुसज्जित, भौंहों के विलासरूपी वायु से आन्दोलित,

नितम्बरूपी पुलिनों से युक्त, कण्ठरूपी शङ्खों से विभूषित, ललाटरूपी मणिसमूहों से सुशोभित, विलासरूपी ग्राहों से संकुल, कटाक्षों की चपलता के कारण अति गहन तथा देहकान्तिरूपी सुवर्ण-वालुका से युक्त हैं। इस प्रकार की अति चञ्चल लहरियों के कारण जो अत्यन्त भयंकर है—ऐसे सागर में निमग्न हुआ पुरुष यदि पार हो जाय तो वह परम पुरुषार्थ ही है। यदि विवेकरूपी नाविक के रहते हुए भी जो मनुष्य इस संसार-सागर से पार नहीं हुआ, उस पुरुष को धिक्कार है। जिसने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है और जिसका मन विक्षेप रहित—शान्तियुक्त हो गया है, वह कैवल्य को प्राप्त महापुरुष आनन्द में मग्न हुआ रहता है। शान्त बुद्धि से सम्पन्न ज्ञानी महात्मा अन्तरात्मा में लीन दृष्टि से जनता के व्यवहारों को यन्त्रनिर्मित कठपुतली के खेल के समान देखता है। तत्त्ववेत्ता पुरुष न भविष्य की परवा करता है, न वर्तमान में किसी पदार्थ में तन्मय होता है, न भूतकालीन वस्तु का स्मरण करता है और सब कुछ करता हुआ भी निर्लेप रहता है। तत्त्वज्ञानी सोता हुआ भी आत्मज्ञान में जागता रहता है और जागता हुआ भी संसार से निःस्पृह तथा उपरत रहता है। वह सब कुछ करता हुआ भी कर्तापन के अभिमान से रहित होने के कारण कुछ भी नहीं करता। सम्पूर्ण संसार की आसक्ति से शून्य और सदा-सर्वदा सम्पूर्ण कामनाओं से रहित तत्त्ववेत्ता महात्मा सब कार्यों को करता हुआ भी समभाव से स्थित रहता है। वह तत्त्वज्ञ पुरुष उदासीन मनुष्य की तरह स्थित रहता है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—शास्त्रों के अध्ययन, सत्पुरुषों के सङ्ग, वैराग्य और अभ्यास से सांसारिक दृश्य पदार्थों में सत्ता का अभाव समझ लेनेपर चिरकालपर्यन्त एकतानतापूर्वक अपने इष्टदेव के ध्यान से और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में स्थिति के लिये तीव्र अभ्यास से प्राणों का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। सुखपूर्वक रेचक, पूरक और कुम्भक आदि प्राणायामों के दृढ़ अभ्यास से तथा एकान्त ध्यानयोग से प्राणवायु निरुद्ध हो जाता है। ॐकार का उच्चारण और ॐकार के अर्थ का चिन्तन करने से बाह्य विषयों के ज्ञान का अभाव हो जानेपर प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है। रेचक प्राणायाम का दृढ़ अभ्यास करने से विशाल प्राणवायु के बाह्य आकाश में स्थित हो जाने पर नासिका के छिद्रों को जब प्राणवायु स्पर्श नहीं करता, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है। इसी का नाम बाह्यकुम्भक प्राणायाम है। पूरक का दृढ़ अभ्यास करते-करते पर्वत पर मेघों की तरह हृदय में प्राणों के स्थित हो जाने पर जब प्राणों का संचार शान्त हो जाता है, तब प्राण-स्पन्दन रुक जाता है। इसी का नाम आभ्यन्तर-कुम्भक प्राणायाम है। कुम्भ की तरह कुम्भक प्राणायाम के अनन्त-कालतक स्थिर होने पर और अभ्यास से प्राण का निश्चल स्तम्भन हो जानेपर प्राणवायु के स्पन्दन का निरोध हो जाता है। इसी का नाम स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है। जिह्वा के द्वारा तालु के मध्यभाग में रहनेवाली घण्टिका को प्रयत्नपूर्वक स्पर्श करने से जब प्राण ऊर्ध्वरन्ध्र में (ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् कपाल-कुहर में, जो सुषुम्णा के ऊपरी भाग का द्वार कहा जाता है) प्रविष्ट हो जाता है, तब प्राणवायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित होनेपर कोई भी नाम-रूप नहीं रहता, तब अत्यन्त सूक्ष्म चिन्मय आकाशरूप परमात्मा के ध्यान से बाह्याभ्यन्तर सारे विषयों के विलीन हो जाने पर प्राणवायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। नासिका के अग्रभाग से लेकर बारह अंगुल पर्यन्त निर्मल आकाशभाग में नेत्रों की लक्ष्यभूत संवित् दृष्टि (वृत्तिज्ञान) के शान्त हो जानेपर अर्थात् नेत्र और मन की वृत्ति को रोकने से प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है।

योगशास्त्रों में प्रदर्शित पवन-निरोध के अभ्यास से ऊर्ध्वरन्ध्र के (सुषुम्णामार्ग से) तालु के ऊपर जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसमें स्थित प्राणवायु जब विलीन हो जाता है, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है। भृकुटी के मध्य में चक्षु-इन्द्रिय की वृत्ति के शान्त होने से आज्ञाचक्र में प्राणों के विलीन हो जानेपर जब चिन्मय परमात्मा का अनुभव हो जाता है, तब-प्राणों का स्पन्दन रुक जाता है। ईश्वर के अनुग्रह से तुरन्त उत्पन्न हुए दृढीभूत तथा समस्त विकल्पांशों से रहित परमात्मज्ञान के हो जाने पर प्राणों का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। हृदय में स्थित एकमात्र

चिन्मय आकाश स्वरूप परमात्मा के ज्ञान से, विषय-वासना के अभाव से और मन के द्वारा परमात्मा का निरन्तर ध्यान करने से प्राणों का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ।

इस जगत् में प्राणियों के दो प्रकार हृदय हैं—एक उपादेय और दूसरा हेय । इयत्तारूप से परिच्छिन्न इस देह में वक्षःस्थल के भीतर शरीर के एक देश में स्थित जो हृदय है; उसे हेय हृदय जानो । चेतनमात्र स्वरूप से स्थित हृदय (परमात्मा) को उपादेय कहा गया है । वह परमात्मा सबके भीतर और बाहर है और भीतर एवं बाहर नहीं भी है । अर्थात् संसार के प्रतीतिकाल में तो परमात्मा उसके भीतर और बाहर—सब जगह परिपूर्ण है और वास्तव में वह संसार के भीतर-बाहर नहीं है; क्योंकि संसार का अत्यन्त अभाव है । परमात्मा में ही यह समस्त जगत् विद्यमान है, वही समस्त पदार्थों का दर्पण है चेतन परमात्मा ही सभी प्राणियों का हृदय कहा जाता है । जड़ और जीर्ण पत्थर के सदृश देह के अवयव का मांस-खण्डरूप एक अंश वास्तविक हृदय नहीं है । इसलिये चेतनस्वरूप विशुद्ध हृदय—परमात्मा में वासनाओं से रहित होकर बलपूर्वक चित्त को लगाने से प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है । इन पूर्वोक्त उपायों से तथा अन्यान्य अनेक तत्त्वज्ञ आचार्यों के मुख से उपदिष्ट नाना संकल्पों से कल्पित उपायों से प्राणस्पन्द निरुद्ध हो जाता है । ये पूर्वोक्त योगविषयक युक्तियाँ अभ्यास के द्वारा ही श्रेष्ठ साधक के लिये संसार का उच्छेदन करने में बाधारहित उपाय हैं । भ्रू, नासिका, तालु संस्थान तथा कण्ठाग्र-प्रदेश से लेकर बारह अंगुल परिमित प्रदेश में अभ्यास से प्राण लीन हो जाता है । अभ्यास से ही पुरुष आत्माराम, वीतशोक तथा परमात्मा की प्राप्तिरूप भीतरी सुख से पूर्ण होता है । उस परमपदरूप परमात्मा में यह समस्त जगत् विद्यमान है; उससे यह सब उत्पन्न हुआ है, वह समस्त जगत् का स्वरूपभूत है और वह इस जगत् के चारों ओर विद्यमान है । किन्तु वास्तव में उसमें न तो यह दृश्यमान समस्त जगत् विद्यमान है, न यह उससे उत्पन्न हुआ है और न जगत् उसका स्वरूप ही है । वास्तव में इस प्रकार का जगत् है ही नहीं, प्रत्युत वह परमात्मा स्वयं ही अपने आप में स्थित है । जो महाबुद्धिमान् ज्ञानी महात्मा पुरुष सारी सीमाओं के अन्तरूप उस परमपद का अवलम्बन करके स्थित रहता है, वह स्थितप्रज्ञ, तत्त्ववेत्ता, जीवन्मुक्त कहलाता है । जिस महात्मा की समस्त कामोपभोग की निवृत्त हो गयी हैं, जिसका सम्पूर्ण पदार्थों में अनुकूलता और प्रतिकूलता संकल्प निवृत्त हो गया है तथा जिसका अन्तःकरण समस्त व्यवहारों में हर्ष और विषाद से रहित सम हो गया है एवं जिसका मन शान्त हो चुका है, वह महात्मा सब पुरुषों में श्रेष्ठ है ।

इस जगत् में आदि और अन्त से रहित प्रकाशस्वरूप परमात्मा ही है—इस प्रकार का जो दृढ़ निश्चय है, उसी निश्चय को ज्ञानी महात्मागण सम्यक् ज्ञान यानी परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कहते हैं । ये जो घट-पट आदि आकारों से युक्त पदार्थों के सैकड़ों समूह हैं, वे सब परमात्मस्वरूप ही हैं; उससे भिन्न अन्य कुछ नहीं है—इस प्रकार का दृढ़ निश्चय ही परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान है । रज्जु का यथार्थ ज्ञान न होने से रज्जु सर्परूप प्रतीत होती है और उसका यथार्थ ज्ञान होने से रज्जु सर्परूप नहीं प्रतीत होती यानी रज्जु रज्जुरूप ही दिखायी पड़ती है । इस मुक्ति में संकल्प से सर्वथा रहित, समस्त विषयों से रहित केवल चिन्मय परमात्मा ही सच्चिदानन्दरूप से विराजमान रहता है; उससे अन्य कुछ भी नहीं रहता । इन तीनों लोकों में यथार्थ आत्मदर्शन इतना ही है कि यह सब जगत् परमात्मा ही है, ऐसा निश्चय करके पुरुष पूर्णता को प्राप्त हो जाय । उस परमात्मा से भिन्न न तो दृश्य जड़ जगत् है और न मन है । ब्रह्म ही यह दृश्य रूप बनकर चेष्टा कर रहा है । समस्त ब्रह्माण्ड एक चिन्मय आकाश-रूप विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही है ।

आकाश में दृष्टिदोष से प्रतीत होनेवाला वृक्ष भ्रमवश वृक्षरूप में प्रतीत होता है, वास्तव में वह विशुद्ध आकाशस्वरूप ही है, उससे पृथक् आकाश-वृक्ष नहीं है, वैसे ही चित्त अविद्यमान, जड़ और माया का कार्य होने से निश्चयरूप से असत् ही है, वह परमात्मा से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है । जैसे नौका में स्थित अज्ञानी बालक को तटवर्ती वृक्ष और पहाड़ में प्रतीत होनेवाली गति केवल भ्रान्ति से ही दिखायी पड़ती है, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य को यह चित्त दिखायी पड़ता है । किन्तु आत्मज्ञानी तत्त्वज्ञ की दृष्टि में वह असन्मय ही है—है ही नहीं । कितने

आश्चर्य की बात है कि यह अत्यन्त चञ्चल मन किसी एक निश्चित विषय में लगाया जानेपर भी क्षणभर भी उसी प्रकार स्थिर नहीं होता, जैसे तरङ्गों के द्वारा बहाया गया पत्ता स्थिर नहीं होता है। मन घट से पट के ऊपर और पट से उत्कट शकट के ऊपर कूद जाता है। यह चित्त विषयों पर उसी प्रकार दौड़ता है, जिस प्रकार वृक्षों के ऊपर बंदर दौड़ता है। इन्द्रियगण, मन के ही अलग-अलग द्वार हैं, अतएव निश्चित ही अधम और जड़ है।

'अज्ञानी चित्त परमपद सर्वत्र व्यापक, सारे पदार्थों में स्थित और सबका स्वरूप है। उसकी प्राप्ति हो जानेपर मनुष्य को सदा-सर्वदा सभी कुछ प्राप्त हो जाता है। उस समय न तो चित्त रहता ही और न देह ही पृथक् रहता है; किंतु एक महान् प्रकाश स्वरूप, सच्चिदानन्द घन ब्रह्म ही अपने आप में स्थित रहता है। स्वभाव से ही प्रकाशस्वरूप, सर्वत्र व्यापक, अद्वितीय चेतन परमात्मा ने ही समस्त ब्रह्माण्ड को परिपूर्ण कर रक्खा है। इसलिये उसके सिवा दूसरी कोई कल्पना ही नहीं हो सकती। वही एक और अनेक—सबका प्रकाशक है, समस्तरूप है। उसी परमात्मा ने अपने आप में संकल्प से इस जगत् की रचना की है। ऐसी स्थिति में कौन किसकी कैसे इच्छा करेगा ?

मुनिवर वीतहव्य समस्त वासनाओं को छोड़कर विन्ध्य पर्वत की गुफा में समाधि लगाकर उसमें अचल स्थित हो गये। उस समय महामुनि वीतहव्य सब प्रकार के क्षोभ से शून्य परिपूर्ण चेतन विज्ञान आनन्द से युक्त होने के कारण अत्यन्त सुशोभित हुए। उनका मन अत्यन्त विलीन था; अतएव वे ऐसे भले लगते थे, जैसे प्रशास्त समुद्र भला लगता है। जिस प्रकार ईन्धन के जल जानेपर अग्नि में ज्वालाओं का संचरण शान्त हो जाता है, वैसे ही उन महामुनि का प्राण-संचार क्रमशः भीतर हृदय में ही शान्त हो गया। समाधि में स्थित महामुनि वीतहव्य के दोनों नेत्र ऐसे दिखायी पड़ते थे, जैसे उनकी वृत्ति नासिका के अग्रभाग में दोनों ओर बराबर फैली हुई हो। महाबुद्धि वीतहव्य ने अपने आसन-बन्ध में शरीर, सिर और ग्रीवा को समानरूप से रक्खा था; इसलिये वे ऐसे जान पड़ते थे, जैसे पत्थरपर खोदी गयी या चित्र में लिखी गयी मूर्ति हो। वर्षा के कीचड़ से ढके हुए महामुनि वीतहव्य निमग्न-से प्रतीत होते थे। विन्ध्याद्रि के किसी झरने के निकट गुफा में इस प्रकार की समाधि में स्थित महामुनि वीतहव्य के तीन सौ वर्ष आधे मुहूर्त की तरह व्यतीत हो गये। परमात्मा में स्थित ध्यान-निमग्न उन मुनि ने जीवन्मुक्तता के कारण इतने काल को कुछ भी नहीं समझा और अपने उस शरीर का त्याग भी नहीं किया। तीन सौ वर्ष बीत जाने पर पृथ्वी की गुफा में दबे हुए वे निग्रहानुग्रहसमर्थ तथा परमात्मा को प्राप्त महामुनि स्वयं ही समाधि से जाग गये। महामुनि वीतहव्य ने सम्पूर्ण भूतों में आत्मभाव होने के कारण अनेक लोगों का ब्रह्मरूप से अनुभव किया और वर्तमान समय में कर भी रहे हैं। श्रीराम का जगत् मनोमय, भ्रमतुल्य एवं परमार्थदशा में सच्चिदानन्द स्वरूप है, महामुनि वीतहव्य का भी वह जगत् मनोमय, भ्रम तुल्य एवं परमार्थ-दशा में सच्चिदानन्द स्वरूप है। जब तक इस प्रकार जगत् को तत्त्वज्ञान द्वारा सच्चिदानन्द रूप नहीं जाना जाता, तब तक वह हृदय में वज्रसार की तरह अत्यन्त दृढ़ रहता है। किंतु यथार्थ रूप से जान लिये जाने पर वह सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है।

महामुनि वीतहव्य धीरे-धीरे प्रणव का उच्चारण करते हुए संकल्प और इच्छाओं से रहित होकर अन्तिम भूमिका को प्राप्त कर अकार, उकार, मकार और अर्ध मात्रा से युक्त पादों के भेद से ॐकार का स्मरण करते हुए ब्रह्म के स्वरूप में संसार का जो अध्यारोप है, उसका बाध कर अर्थात् केवल ब्रह्म के सिवा अन्य कुछ नहीं है—इस प्रकार निश्चय करके अविनाशी विशुद्ध परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करते थे। कल्पित बाह्य और आभ्यन्तर स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर सम्पूर्ण त्रिलोकी के पदार्थों का भी परित्याग करके वे क्षोभ शून्य आकार वाले महामुनि वीतहव्य नित्य आत्मस्वरूप में ही स्थित थे। वे पूर्ण चन्द्र की तरह परिपूर्ण थे तथा मन्दराचल की तरह स्थिर थे। 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों से बोधित जो अद्वैत तत्त्व है और जो वाणी का भी अगोचर है, उस तत्त्व को ये मुनि प्राप्त हो गये। इसके अनन्तर ये मुनि समस्त पदार्थों में व्यापक, समस्त पदार्थों से रहित, निरतिशय समता से पूर्ण, चिन्मय, अतिशय पवित्र परम पद स्वरूप हो गये।

जो चित्र-विचित्र आकाश-गमन आदि क्रिया-कलाप दिखायी पड़ता है, वह प्राणियों और पदार्थों का स्वभाव है। इसलिये वह आत्मतत्त्वज्ञों के लिये वाञ्छनीय नहीं है। आत्मज्ञान से शून्य अमुक्त जीव मणि, औषध आदि द्रव्यों की शक्ति से, पूर्वकृत कर्म की जन्मजात शक्ति से, योगाभ्यास आदि क्रियाओं की शक्ति से और काल की शक्ति से आकाश-गमन आदि सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है। इन आकाश-गमन आदि सिद्धियों का होना आत्मज्ञ पुरुष के लिये गौरव का विषय नहीं है; क्योंकि आत्मज्ञानी स्वयं आत्मा को प्राप्त कर अपने आत्मा में ही तृप्त रहता है, अविद्या के कार्य की ओर नहीं दौड़ता। संसार में जो भी पदार्थ हैं, उन सबको आत्मज्ञ अविद्यामय ही मानते हैं। इसलिये अविद्या से रहित तत्त्वज्ञ उनमें कैसे फँस सकता है? जो योगाभ्यास आदि साधनों से अविद्यारूप आकाश-गमन आदि सिद्धियों को भी सुख का साधन बना लेते हैं, वे आत्मतत्त्वज्ञ हैं ही नहीं; क्योंकि आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ अविद्यामय ही हैं। तत्त्वज्ञ हो चाहे अतत्त्वज्ञ हो, जो कोई भी दीर्घकालतक प्रयत्नपूर्वक द्रव्य-कर्मों से शास्त्रोक्त उपाय का अनुष्ठान करता है, वह आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

परमात्मा के स्वरूप में ही सदा संतुष्ट, परम शान्तिस्वरूप, राग और वासना से रहित तथा आकाश के सदृश निर्मल आकार वाला तत्त्वज्ञानी महापुरुष अपने परमात्मस्वरूप में ही स्थित रहता है। अपने जीवन और मरण की आसक्ति से रहित तत्त्वज्ञानी पुरुष अकस्मात् प्राप्त हुए सुख और दुःख से विचलित नहीं होता। उस महापुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही; तथा सम्पूर्ण प्राणियों में भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता है।

चित्त का विनाश दो प्रकार का होता है—एक सरूप विनाश और दूसरा अरूप विनाश। पहला सरूप विनाश तो जीवन्मुक्त होने से हो जाता है और दूसरा अरूप विनाश विदेह-मुक्त होने पर होता है। इस संसार में चित्त का अस्तित्व दुःख का कारण है और चित्त का विनाश सुख का कारण है। अतः पहले चित्त के अस्तित्व का भूने हुए बीज के समान विनाश करके तदनन्तर चित्त के स्वरूप का भी विनाश कर देना चाहिये। अज्ञान से उत्पन्न हुई वासनाओं से व्याप्त जो जन्म का कारण मन है, उसीको अज्ञानियों का विद्यमान मन समझो। वह विद्यमान मन केवल दुःख का ही कारण होता है। इसलिये जबतक मन का अस्तित्व है, तब तक दुःख का विनाश परमात्मा के स्वरूप में नित्य तृप्त रहती है तथा अपने अभिलषित परमात्मा को प्राप्त करने पर उन महात्माओं का सिद्धियाँ कुछ भी उपकार नहीं करतीं। कैसे हो सकता है। मन जब अस्त हो जाता है, प्राणी का यह संकल्पमय संसार भी अस्त हो जाता है। इस अज्ञानी जीव में ही वासनारूपी अङ्कुरों से दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित इस विद्यमान मन को ही दुःख रूपी वृक्ष का मूल जानो। ये दुःखरूपी वृक्ष समूह के अङ्कुर उन्हीं अज्ञानियों के मन में उत्पन्न होते हैं।

जैसे निःस्वास वायु पर्वतराज को अपने स्वरूप से विचलित नहीं करते, वैसे ही सुख-दुःख रूप दशाएँ जिस धीर पुरुष को सम स्वभाव तथा पूर्णानन्दैकरस परमात्म निष्ठा से विचलित नहीं करतीं, श्रेष्ठ पुरुष उस महात्मा के चित्त को भूने हुए बीज के समान नष्ट हुआ चित्त कहते हैं। 'यह जड देह ही मैं हूँ', 'ये घट आदि सारे पदार्थ मैं नहीं हूँ', इस प्रकार की तुच्छ भावना जिस श्रेष्ठ पुरुष को भीतर से विकार युक्त नहीं करती, विद्वान् लोग उस पुरुष के चित्त को नष्ट कहते हैं। जिस नर रत्न के अंदर विपत्ति, कायरता, उत्साह (हर्ष), मद, बुद्धि की मन्दरता और विवाहादि लौकिक महोत्सव विकार पैदा नहीं करते, विद्वान् लोग उसके चित्त को नष्ट चित्त कहते हैं। इस लोक में यही चित्त का विनाश है और इसी को भूने हुए बीज के समान विनष्ट चित्त भी कहते हैं। यही जीवन्मुक्त महापुरुष की चित्तनाश-दशा है। जीवन्मुक्त पुरुष का मन मैत्री आदि शुभ गुणों से सम्पन्न, उत्तम वासनाओं से युक्त तथा पुनर्जन्म से शून्य होता है। ब्रह्म की वासना से ओतप्रोत, पुनर्जन्म से रहित जो जीवन्मुक्त पुरुष के मन की सत्ता है, वह सत्व नाम से कही जाती है। जिस प्रकार चन्द्रमा में प्रसन्न किरणें रहती हैं, वैसे ही जीवन्मुक्त

पुरुष के मन के विनाश में विशुद्ध मैत्री आदि गुण सदा सब तरह से रहते हैं। शान्तिरूप शीतलता के आश्रय जीवन्मुक्त पुरुष के सत्त्वनामक मन के नाश की अवस्था में अनेक गुण-सम्पत्तियाँ प्रकट होती हैं।

अरूप मनोनाश विदेह मुक्त का ही होता है तथा जो अवयवादि विकारों से रहित है, उस परम पवित्र विदेह मुक्ति रूपी निर्मल परम पद में समस्त श्रेष्ठ गुणों का आश्रय रूप मन भी विलीन हो जाता है। विदेह मुक्त महात्माओं की उस सत्त्व-विनाश रूप अरूप चित्त नाश-दशा में किसी भी दृश्य-पदार्थ का अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् संकल्प सहित सम्पूर्ण संसार का अत्यन्त अभाव हो जाता है। उस अरूप चित्त विनाश-दशा में न गुण है न अवगुण हैं, न शोभा है न अशोभा है, न चञ्चलता है, न अचञ्चलता है, न उदय है न अस्त है, न हर्ष है, न अमर्ष है और न ज्ञान है, न प्रकाश है न अन्धकार है, न संध्या है, न दिन या रात है, न दिशाएँ हैं, न आकाश है, न अधः है और न अनर्थ रूपता है, न कोई वासना है, न किसी प्रकार की रचना है, न इच्छा है न अनिच्छा है, न राग है न भाव है और न अभाव है और न वह पद साध्य ही है। वह परम पद तम और तेज से शून्य, तारे, चन्द्र, सूर्य और वायु से तथा संध्या, रजःकण और सूर्य-कान्ति से रहित शरत्कालीन स्वच्छ आकाश के समान अत्यन्त निर्मल है। वह विशाल पद उन लोगों का आश्रय-स्थान है, जो बुद्धि और संसार-भ्रमण से पार हो गये हैं। सम्पूर्ण दुःखों से रहित, चिन्मय, निष्क्रिय ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण तथा रज और तम से रहित जो परमपद है, उस परमपद में वे चित्त से रहित और आकाश के सदृश सूक्ष्म विदेहमुक्त महात्मा तद्रूप हुए स्थित रहते हैं, वे अपुनरावृत्तिरूप परमगति को प्राप्त हो जाते हैं।

भाव और अभाव का तथा दुःखरूपी रत्नों का खजाना चित्त ही, जो वासनाओं के वश में रहने वाला एक तरह से अनुचर है, शरीर का कारण है। प्रतीत होने के कारण सत् और विनाशशील होने के कारण असत्रूप ये शरीर समूह एकमात्र चित्त से ही उत्पन्न हुए हैं, जैसे स्वप्न में भ्रम से संसार की प्रतीति सबको स्वयं होती है। जो यह मिथ्या जगत् का स्वरूप दृश्यता को प्राप्त है, वह चित्त से उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार मिट्टी से घड़े आदि उत्पन्न होते हैं। अनेक तरह की वृत्तियाँ धारण करने वाले इस चित्तरूपी वृक्ष के दो बीज हैं—एक प्राण-संचरण और दूसरा दृढ़भावना। जब शरीर की नाड़ियों में प्राण-वायु संचरण करने लगता है, तब वृत्तिमय चित्त तत्काल ही उत्पन्न होता है। किंतु जब शरीर की नाड़ियों में प्राण संचरण नहीं करता, तब वृत्तिज्ञान न होने के कारण उसमें चित्त उत्पन्न नहीं होता। यह प्राण-संचरण रूप जगत् ही चित्त के द्वारा दिखायी पड़ते हैं। जीवात्मा के विषयों के सम्पर्क से रहित होने पर ही उसका परम कल्याण होता है, किंतु प्रकट हुआ जीव ही तत्काल बाह्य विषयों की ओर रागवश चला जाता है और उन विषयों के भोग के अनुभव से चित्त में अनन्त दुःख उत्पन्न होते हैं। जब जीवात्मा बाह्य विषयों से उदासीन होकर परमात्मा के ज्ञान के जिए प्रयत्नशील होता है, तब वह प्राप्त करने योग्य निर्मल परमपद रूप परमात्मा को प्राप्त हो जाता है जीवात्मा के संकल्प को ही चित्त जानना चाहिए। उसी चित्त ने इस अनर्थ-जल का विस्तार किया है।

चित्त की शान्ति के लिए योगशास्त्र में बतलाये गये प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यानरूप योग युक्तियों के द्वारा प्राण का निरोध करते हैं। विद्वान् लोग प्राण-निरोध को ही चित्तशान्तिरूप फल का दाता; उत्तम समता का हेतु और जीवात्मा की अपने वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा में सुन्दर स्थिति कहते हैं। तीव्र संवेग से आत्मा के द्वारा जिस पदार्थ की भावना की जाती है, तत्काल ही वह जीवात्मा अन्य स्मृतियों को छोड़कर तद्रूप ही हो जाता है। वासना के अत्यन्त वशीभूत और तद्रूप हुआ वह जीवात्मा जिस किसी को देख लेता है, और वासना के वेगवश अपने स्वरूप को भूल जाता है। फिर वह वास्तविक आत्मज्ञान से रहित जीवात्मा भीतरी वासनाओं के अभिभूत होकर, विष से अभिभूत पुरुष की तरह अनेक मानसिक आपत्तियों से व्याकुल रहता है। जिससे देहादि अनात्मा में आत्मभावना रूप और अवस्तु संसार में वस्तुभावना रूप अयथार्थ ज्ञान होता है, उसको

तुम चित्त जानो । दृढ़ अभ्यास के कारण देह आदि पदार्थों में 'अहम्' 'मम' आदि वासना से ही जन्म, जरा और मरण का कारण अति चञ्चल चित्त उत्पन्न होता है । जब निरन्तर वासना का अभाव होने से मन मनन से रहित हो जाता है, तब मन का अभाव हो जाता है, जो परम उपरति स्वरूप है । जब जगद्रूप वस्तु में किसी पदार्थ की भावना नहीं होती, तब शून्य हृदयाकाश में चित्त कैसे उत्पन्न हो सकता है । आसक्ति से विनाशशील जगद् रूपी वस्तु में वस्तुत्व की भावना करना मात्र ही चित्त का स्वरूप है । बाह्य वस्तुओं के अस्मरण रूप साधन का अवलम्बन करने से जो समस्त दृश्य-जगत् के अभाव की भावना और परमार्थ वस्तु परमात्मा का अनुभव होता है, वह अचित्त कहा जाता है । अत: जिस महामति पुरुष को संस्कार से उत्पन्न विषय-आस्वाद के स्मरण से विषयों में आसक्ति उत्पन्न नहीं होती, उस पुरुष का चित्त अचित्त रूपता को तथा विशुद्ध सत्त्व को प्राप्त कहा जाता है । जिस महापुरुष में पुनर्जन्म की कारण भूता अहंता-ममता रूप वासना का अभाव हो गया है, वह चक्र के भ्रमण-सदृश जगत् के व्यवहार में लगा हुआ भी जीवन्मुक्त और परमात्मा में स्थित है । जिनका चित्त भूने हुए बीज के सदृश पुनर्जन्म से शून्य और विषयानुरक्ति से रहित है, वे महानुभाव जीवन्मुक्त हुए स्थित रहते हैं । जिनका चित्त विशुद्ध सत्त्वरूपता प्राप्त कर चुका है, ऐसे ज्ञान के पारंगत महात्मा चित्त से रचित कहे जाते हैं । प्रारब्ध का क्षय हो जाने पर वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा में विलीन हो जाते हैं ।

वासना और प्राणस्पन्द—दोनों चित्त के कारण हैं । उनमें से किसी एक का लय हो जाने पर दोनों का और उनके कार्य चित्त का विनाश हो जाता है, जैसे विदेहमुक्त ज्ञानी का वासनासहित चित्त और प्राण ब्रह्म में विलीन हो जाता है । वासना और प्राणस्पन्दन—इन दोनों का कारण विषय है; क्योंकि उसी के सम्बन्ध से वे दोनों प्रस्फुरित होते हैं । हृदय में प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयों का चिन्तन करके ही प्राणस्पन्दन और वासना दोनों आविर्भूत होते हैं; इसलिये विषय ही उन दोनों का बीज (कारण) है । जिस प्रकार मूल के उच्छेद से वृक्ष तत्काल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार विषय चिन्तन का परित्याग करने से प्राणस्पन्दन और वासना—दोनों ही तत्काल समूल नष्ट हो जाते हैं । जीवात्मा ही अपनी धीरता का परित्याग करके अपने संकल्प से विषयरूप-सा बनकर चित्त का बीजरूप हो जाता है । जिस प्रकार तिल तेल से रहित नहीं है, उसी प्रकार जीवात्मा से रहित कोई भी विषय नहीं है; क्योंकि जीवात्मा सब विषयों में व्यापक है । इसलिये बाहर और भीतर कोई भी पदार्थ जीवात्मा से अलग नहीं है । अपने संकल्प से चेतन जीवात्मा ही प्रस्फुरित होता हुआ स्वयं पदार्थ को देखता है । जिस तरह स्वप्न में अपना मरण और भिन्न देश में स्थित—दोनों अपने संकल्प से ही होते हैं, उसी तरह जाग्रत्कालीन पदार्थ भी जीवात्मा के संकल्प से ही होते हैं । जिस विवेक-अवस्था में अपने पारमार्थिक स्वरूप का अनुभव होता है, वह अपने संकल्प से हुआ स्वस्वरूपानुभव भी जगज्जाल (स्वप्न के सदृश) ही है; क्योंकि सच्चिदानन्द ब्रह्म अनुभव करनेवाला, अनुभव करने योग्य और अनुभव—इन तीनों से ही रहित है; अत: उस अनुभव को जगज्जाल कहना उचित ही है । जैसे बालक को अपने संकल्प से ही प्रेत का और मनुष्यों को स्थाणु में पुरुष का भ्रम होता है, वैसे ही संकल्प से उत्पन्न भ्रम से ही चेतन जीवात्मा की पदार्थरूपता होती है; वास्तव में नहीं । यह भ्रान्तिज्ञान मिथ्या है । वह यथार्थ परमात्मज्ञान से उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार रज्जु और चन्द्र के निर्दोष दर्शन से रज्जु में सर्प-भ्रान्ति और एक चन्द्र में दो चन्द्ररूपों की भ्रान्ति विलीन हो जाती है । पहले देखा हुआ या न देखा हुआ जो पदार्थ इस जीवात्मा को भासता है, विद्वान् को उसे विवेक-वैराग्यरूप प्रयत्न द्वारा मिथ्या समझकर उसका बाध कर देना चाहिये । इस जड जगत्रूप दृश्य का बाध न करना ही इस बड़े भारी संसार के साथ सम्बन्ध जोड़ना है । यही बन्धन है तथा इस संसार के सम्बन्ध से रहित होना ही मोक्ष है—यह महात्माओं का अनुभव किया हुआ निश्चय है; क्योंकि इस जड दृश्य जगत् का चिन्तन ही जन्मरूप अनन्त दु:ख का हेतु है और उस दृश्य-चिन्तन से रहित होकर सच्चिदानन्द परमात्मा में स्थित रहना ही पुनर्जन्म रहित अक्षय सुख का हेतु है ।

वासना रहित होने के कारण अपनी आत्मा में जब किसी पदार्थ की भावना नहीं रहती और वह परमात्मा के स्वरूप में अचल स्थित रहता है, तब जडता से रहित, विशाल एवं विशुद्ध यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। इसलिये ज्ञानवान् फिर कभी संसार में लिप्त नहीं होता। समस्त वासनाओं का अत्यन्त अभाव होने पर निर्विकल्प समाधि से परम आनन्दरूप परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। संसार के चिन्तन से रहित योगी लोग उसी असीम आनन्द में नित्य स्थित रहते हैं। इसलिये संसारचिन्तन से रहित योगी चलते, बैठते, स्पर्श करते और सूँघते हुए भी चिन्मय अक्षय आनन्द से पूर्ण और सुखी कहा जाता है। यह जीवात्मा जिसकी भावना करता है, उसी रूप में तत्काल परिणत हो जाता है। अज्ञान की भूमिकाओं से मुक्त न होने के कारण जीवात्मा दीर्घकाल बीत जानेपर भी अपना वास्तविक स्वरूप नहीं प्राप्त कर पाता। जीवात्मा ब्रह्म का अंश है, अतः एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म ही इस जीवात्मा का कारण कहा जाता है। सत्ता के दो रूप हैं—एक तो अनेक आकारवाली व्यावहारिक सत्ता और दूसरी एक रूपवाली वास्तविक सत्ता। घटादि रूपों के विभाग से जो घटत्व, पटत्व, त्वत्त्व, मत्त्व आदि उपाधिभूत सत्ता कही जाती है, वह नानाकृति व्यवहारिक सत्ता है। जो विभाग से रहित, सत्तारूप से व्याप्त समान भाव से स्थित वास्तविक सत्ता है, वह एकरूपा वास्तविक सत्ता है। जो दृश्यरूप विशेषता से रहित, निर्लेप और केवल सत्-स्वरूप अद्वितीय महान् वास्तविक सत्ता है, उसी को विद्वान् परमपद कहते हैं। वास्तव में सत्ता का रूप नाना आकार के रूप में कभी नहीं है; क्योंकि वह कायम नहीं रहता; अतः वह सत्यरूप नहीं हो सकता। सत्ता का जो विशुद्ध एकरूप वास्तविक स्वरूप है, वह कभी नष्ट नहीं होता और न कभी लुप्त ही होता है। किन्तु जो विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली विभाग कल्पना नानारूपता का कारण देखी जाती है, वह विशुद्ध पदरूपा कैसे हो सकती है।

सत्ता-सामान्य की चरम अवधिरूप कल्पनाओं से और आदि-अन्त से रहित परमपद है, उसका और कोई कारण नहीं है; क्योंकि वही सबका परम कारण है। जिस परमपद में सम्पूर्ण सत्ताएँ विलीन हो जाती हैं, उस निर्विकार परमपद में स्थित पुरुष इस दुःखमय संसार में कभी नहीं आता और वही वास्तव में परम पुरुषार्थी है। वह परमात्मा ही समस्त कारणों का कारण है, उसका कोई दूसरा कारण नहीं है। वही सम्पूर्ण सारों का सार है, उससे बढ़कर दूसरी सारभूत वस्तु नहीं है। जैसे तालाब में तटस्थ वृक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही उस असीम चिन्मय परमात्मारूप दर्पण में ये सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। उसी आनन्द-समुद्र परब्रह्म से सभी प्रकार के सुख प्रतिबिम्बित होते हैं। उस आनन्दमय परमात्मा में ही सम्पूर्ण संसार उत्पन्न होता है, स्थित रहता है, बढ़ता है और विलीन हो जाती है। वह परब्रह्म भारी से भी भारी, हलके से भी हलका, स्थूल से भी स्थूल और सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम है। वह दूर से दूर, निकट से भी निकट, छोटे से भी छोटा और बड़े से भी अत्यन्त बड़ा है तथा सबका प्रकाशक होने से ज्योतियों का ज्योति है। वह सम्पूर्ण वस्तुओं से रहित और सर्ववस्तुरूप है, वही सत् और असत् है, वही दृश्य और अदृश्य है, वह अहंता से रहित और अहंस्वरूप है। उसकी प्राप्ति होने पर चित्त परम शान्त हो जाता है।

जबतक मन विलीन नहीं होता, तबतक वासना का सर्वथा विनाश नहीं होता और जबतक वासना विनष्ट नहीं होती, तबतक चित्त शान्त नहीं होता। जबतक परमात्मा के तत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तबतक चित्त की शान्ति कहाँ और जबतक चित्त की शान्ति नहीं होती, तबतक परमात्मा के तत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जबतक वासना का सर्वथा नाश नहीं होता, तबतक तत्त्वज्ञान कहाँ से होगा और जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक वासना का सर्वथा विनाश नहीं होगा। इसलिये परमात्मा का यथार्थ ज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय—ये तीनों ही एक दूसरे के कारण हैं। अतः ये दुस्साध्य हैं, किन्तु असाध्य नहीं। विशेष प्रयत्न करने से ये तीनों कार्य सिद्ध हो सकते हैं। विवेक से युक्त पौरुष प्रयत्न से भोगेच्छा का दूर से ही परित्याग करके इन तीनों साधनों का अवलम्बन करना चाहिए। यदि इन तीनों उपायों का एक साथ प्रयत्नपूर्वक भली प्रकार बार-बार अभ्यास न किया

जाय तो सैकड़ों वर्षोंतक भी परमपद की प्राप्ति सम्भव नहीं । वासनाक्षय, परमात्मा का यथार्थ ज्ञान और मनोनाश—इन तीनों का एक साथ दीर्घकालतक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय तो ये परमपदरूप फल देते हैं । वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते । समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मुने ॥ (योगवा० उप० ९२।१७) इन तीनों का चिरकालतक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने से अत्यन्त दृढ़ हृदयग्रन्थियाँ निःशेषरूप से टूट जाती हैं ।

यह संसार की दृढ़ स्थिति सैकड़ों जन्म-जन्मान्तरों से मनुष्यों के द्वारा अभ्यस्त है; अतः चिरकालतक अभ्यास किये बिना वह किसी तरह भी नष्ट नहीं हो सकती । इसलिये चलते-फिरते, श्रवण करते, स्पर्श करते, सूँघते, खड़े रहते, जागते, सोते—सभी अवस्थाओं में परम कल्याण के लिये इन तीनों उपायों के अभ्यास में लग जाना चाहिये । तत्त्वज्ञों का मत है कि वासनाओं के परित्याग के समान ही प्राणायाम भी एक उपाय है । इसलिये वासना-परित्याग के साथ-साथ प्राण-निरोध का भी अभ्यास करना आवश्यक है । वासनाओं का भली-भाँति परित्याग करने से चित्त भूने हुए बीज के समान अचित्तरूप हो जाता है और प्राणस्पन्द के निरोध से भी चित्त अचित्तरूप हो जाता है; इसलिये तुम जैसा उचित समझो, वैसा करो । चिरकालतक प्राणायाम के अभ्यास से, योगाभ्यास में कुशल गुरुद्वारा बतायी हुई युक्ति से, स्वस्तिक आदि आसनों की सिद्धि से और उचित भोजन से प्राण-स्पन्दन का निरोध हो जाता है । परमात्मा के स्वरूप का साक्षात् अनुभव होने पर वासना उत्पन्न नहीं होती । आदि, मध्य और अन्त में कभी पृथक् न होनेवाले एकमात्र सत्यस्वरूप परमात्मा को भली-भाँति यथार्थरूप से जान लेना ही ज्ञान है । यह ज्ञान वासना का सर्वथा विनाश कर देता है तथा अनासक्त होकर व्यवहार करने से, संसार का चिन्तन छोड़ने से और शरीर को विनाशशील समझने से वासना उत्पन्न नहीं होती । वासना का विनाश हो जानेपर चित्त विषयों में नहीं भटकता । बुद्धिमान् पुरुष को एकाग्रचित्त से बारम्बार एकान्त में बैठकर प्राणस्पन्द के निरोध के लिये विशेष यत्न करना चाहिये । जिस प्रकार मदमत्त दुष्ट हाथी अङ्कुश के बिना दूसरे उपाय से वश में नहीं होता, उसी प्रकार पवित्र युक्ति के बिना मन वश में नहीं होता । अध्यात्मविद्या की प्राप्ति, साधु-संगति, वासना का सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दन का निरोध—ये ही युक्तियाँ चित्तपर विजय पाने के लिये निश्चितरूप से दृढ उपाय हैं । अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगम एव च । वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ॥ एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल । (योगवा० उप० ९२।३५-३६) इनसे तत्काल ही चित्तपर विजय प्राप्त हो जाती है । उपर्युक्त इन चार युक्तियों के रहते जो पुरुष हठ से चित्त को वशीभूत करना चाहते हैं, उनके सम्बन्ध में मेरा यही मत है कि वे दीपक का परित्याग करके अञ्जनों से अन्धकार का निवारण करना चाहते हैं ।

विवेकपूर्वक विचार से अपने चित्त का निग्रह करने पर जन्म का फल मिल जाता है । जो विवेकपूर्वक विचारशील है एवं जिसकी एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म के स्वरूप में ही स्थिति है और परमात्मा के स्वरूप में ही जिसको विश्राम प्राप्त हो गया है, उस ज्ञानी महात्मा को संसार के संकल्प-विकल्प विचलित नहीं कर सकते । समस्त संकल्पों की सीमा के अन्त स्वरूप पद में जिस महानुभाव विश्राम को प्राप्त कर लिया है, उन परमात्मा को प्राप्त महात्माओं की दृष्टि में सुवर्णमय सुमेरु पर्वत भी तृण के सदृश है । उन विशाल हृदय महात्माओं की दृष्टि में सारा संसार और एक छोटा-सा तृण, अमृत और विष, कल्प और क्षण समान हैं । जिस जड दृश्य संसार का आदि और अन्त में अस्तित्व नहीं है, उसकी यदि वर्तमान काल में कुछ कालतक सत्ता प्रतीत हो रही है तो वह जीवात्मा का भ्रम ही है । ज्ञानी शरीर, मन, बुद्धि तथा आसक्ति से रहित इन्द्रियों से चाहे कर्म करे या न करे, असङ्ग होने के कारण कर्म से लिप्त नहीं होता । जीवन्मुक्तों के ज्ञान से सम्पन्न, इन्द्रियों को वश में रखने वाला, परमात्मा के स्वरूप का मनन करने वाला श्रेष्ठ मुनि मान, मद, मात्सर्य और चिन्ताज्वर से रहित होकर स्थित रहता है । प्रचुरतर पदार्थों के सदा रहते हुए भी सब में समानभाव रखने वाला तथा बाहर एवं भीतर इच्छा एवं याचना आदि रूप दीनता से शून्य अन्तःकरण वाला यह महात्मा एक मात्र अपने वर्णाश्रमोचित स्वाभाविक क्रम-प्राप्त न्याययुक्त व्यापार

से पृथक् दूसरा कुछ भी व्यापार नहीं करता। वर्णाश्रमानुसार परम्परा-प्राप्त अपना जो कुछ भी कर्तव्य है, उसका वह ज्ञानी संसर्ग सम्बन्ध अर्थात् आसक्ति, अहंता-ममता से रहित बुद्धि से खेद शून्य हो अनुष्ठान करता हुआ परमात्म स्वरूप अपने आत्मा में रमण करता है। आपत्ति अथवा उत्तम सम्पत्ति के प्राप्त होने पर वह महामति तत्त्वज्ञ अपना सहज स्वभाव नहीं छोड़ता।

निर्वाण प्रकरण पूर्वार्ध

वैराग्य और मुमुक्षु-व्यवहार नामक प्रकरणों के बाद जो उत्पत्ति, स्थिति और उपशम नामक तीन प्रकरणों कहे गये हैं, उनमें यह बताया गया कि उत्पत्ति, स्थिति और लय के बोधक तथा 'नेति-नेति' इत्यादि रूप से प्रपञ्च के निषेधक जो वेदान्त-वाक्य हैं, वे अध्यरोपापवाद-न्याय से परमात्मतत्त्व का ही प्रतिपादन करने वाले हैं। अतः वासनाक्षय और मनोनाशपूर्वक परमात्म ज्ञान के द्वारा परमपुरुषार्थ की प्राप्ति कराने में ही उनका तात्पर्य है। अब 'यत्र नान्यत् पश्यति' (छान्दोग्य० ७।२४।१)—'जहाँ परमात्मा के सिवा दूसरी किसी वस्तु को नहीं देखता', 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तैत्तिरीय० २।४।१)—'जहाँ से वाणी उसे न पाकर लौट आती है', 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन' (तैत्तिरीय० २।४।१)—'ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला कभी भयभीत नहीं होता।' 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वम्' (बृहदा० २।५।१९)—'वह यह ब्रह्म अपूर्व है' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध तथा पहले बताये गये समस्त साधनों से प्राप्त होने वाले आत्मज्ञान के फल भूत मोक्ष के स्वरूप का बोध कराने के लिए महर्षि वाल्मीकि निर्वाण-नामक प्रकरण का आरम्भ करते हैं। उपशम प्रकरण के अनन्तर अब इस निर्वाण-प्रकरण का श्रवण करा चाहिए। उसका यथार्थ ज्ञान हो जाने पर यह मोक्ष रूप फल देता है।

परमात्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान से अज्ञान का क्षय तथा वासना का विनाश हो जाने पर शोकशून्य परम पद प्राप्त हो जाता है। देश, काल और वस्तु से रहित एक अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा ही है। उसके सिवा द्वित्वरूप जगत् तो अज्ञान से प्रतीत होता है। वास्तव में परमात्मा के सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है; क्योंकि जहाँ समस्त पदार्थों से रहित, परम शान्त, समानभाव से प्रकाशित एक सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है, वहाँ उस परमात्मा के सिवा दूसरा पदार्थ कैसे रह सकता है। जो सम्पदाएँ हैं, जो प्राणी हैं और जो उनकी इच्छाएँ हैं इम सबके रूप में आदि और अन्त से रहित एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही है, सर्वत्र वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है, दूसरा कुछ नहीं।

जब तक पूर्णता का उदय नहीं होता और जब तक सज्जनों के संसर्ग से अज्ञान का विनाश नहीं होता, तभी तक चित्त आदि पतन की ओर जाते रहते हैं। जब तक सच्चिदानन्द परमात्मा के यथार्थ अनुभव के प्रभाव से यहाँ जगत् की वासना शिथिल नहीं हो जाती, तभी तक चित्त आदि प्रतीत होते हैं। जब तक अज्ञान रूप मूर्खता रहती है, जब तक विषयाभिलाषा से विवशता रहती है एवं जब तक मूर्खतावश मोह का समुद्र बना रहता है, तब तक चित्त आदि की कल्पना रहती है। किन्तु जिसका अन्तःकरण भोगों में आस्था नहीं रखता, जिसको सुशीतल निर्मल निर्वाण परमपद प्राप्त हो चुका है एवं जिसके आशापाश के जाल छिन्न-भिन्न हो गये हैं, उसका चित्तरूप भ्रम नष्ट हो जाता है। मिथ्या भ्रम को उत्पन्न करने वाले अनात्मदर्शन का विनाश तथा परमार्थभूत सच्चिदानन्द परमात्मज्ञान रूप उत्तम सूर्य का उदय होने पर चित्त विनष्ट होकर उसी प्रकार पुनः दिखायी नहीं देता, जिस प्रकार अग्नि में सूखा पत्ता या घी की बूंद गिरने पर पुनः दिखायी नहीं देती। जो कुछ सत्-असत् प्रतीत होता है, वह तुम्हारा संकल्प होने से तुम ही हो और तुम स्वयं प्रकाशरूप हो। वास्तव में जड-पदार्थविशेष तुम नहीं हो और न वह सब तुममें है। तुम्हारा संकल्प होने से वह तुम्हारा स्वरूप भी है और वस्तु से असत् होने के कारण वह नहीं है, तुम अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में नित्य स्थित हो।

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं जिस नाना प्रकार के असंख्य ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति और धारण करने वाला चेतन तुम हो। समरूप, आकाश की तरह सौम्य, बड़ी-बड़ी सृष्टि रूपी जल-तरङ्गों से घन प्रकाशमय परमात्म-चैतन्यरूप समुद्र तुम ही हो। रमन्ते योगिनो यस्मिन् नित्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥ 'जिस नित्यानन्द चिदात्मा में योगी लोग निरन्तर रमण करते हैं, वह परब्रह्म 'राम' पद से कहा जाता है'—ऐसी व्युत्पत्तिवाले 'राम' शब्द के वाच्य भी तुम ही हो। जिस प्रकार अग्नि से उष्णत्व भिन्न नहीं है, कमल से सौगन्ध्य भिन्न नहीं है, कज्जल से कृष्ण रूप भिन्न नहीं है, बरफ से शुक्ल रूप भिन्न नहीं है, ईख से माधुर्य भिन्न नहीं है, तेज से प्रकाश भिन्न नहीं है, चेतन से उसका अनुभव भिन्न नहीं है, चेतन से उसका अनुभव भिन्न नहीं है। अनुभव से 'अहम्' भिन्न नहीं है, 'अहम्' से जीव भिन्न नहीं है, जीव से मन भिन्न नहीं है, मन से इन्द्रिय भिन्न नहीं है, इन्द्रियों से देह भिन्न नहीं है, देह से यह जड़ दृश्य जगत् भिन्न नहीं है, जगत् से भिन्न अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

यह दृश्यमान जगत् रूपी चक्र चिन्मय परमात्मा ने ही अनादि काल से अपने संकल्प द्वारा प्रवृत्त किया है। वास्तव में तो कुछ भी प्रवृत्त नहीं किया है। यथार्थ से तो यह सब कुछ विभाग रहित अनन्त सच्चिदानन्द रूप आकाश ही अपने आप में स्थित है। उसके सिवा दूसरा और कुछ भी नहीं है। मन, बुद्धि अहंकार तथा इन्द्रिय आदि सब कुछ जडतारहित एकमात्र चिन्मय परमात्मा ही है। फिर जीवात्मा उस परमात्मा से अलग कैसे रह सकता है, जब भोग-तृष्णारूपी विषय भोगों से तीव्र वैराग्य हो जाता है, तब अज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे गत रात्रि के अन्धकार के नष्ट हो जाने पर रतौंधी भाग जाती है, भली प्रकार से आलोचित अध्यात्मशास्त्र रूपी विचार से तृष्णा विषरूपी महामारी क्षीण हो जाती है। जैसे ही भावाभाव से रहित हुए तुम उस अत्यन्त विस्तृत परम पद रूप अपने ब्रह्म स्वरूप में स्थिर हो।

जिस अज्ञानी पुरुष की अज्ञानवश देह में ही आत्म-भावन उत्पन्न हो जाती है, उस पुरुष को इन्द्रियाँ रोषपूर्वक शत्रु बनकर पराजित कर देती है। किन्तु जिस विवेकी पुरुष की ज्ञानपूर्वक एकमात्र नित्य परमात्मा के स्वरूप में ही स्थिति रहती है, उस निर्दोष पुरुष की इन्द्रियाँ संतोषपूर्वक मित्र बनकर रहती हे, उसका पतन नहीं कर सकती। व्यवहार करते हुए जिस ज्ञानी पुरुष को निन्दनीय भोग्य पदार्थों में दोष-दर्शन के कारण निन्दा के सिवा स्तुति-बुद्धि उत्पन्न होती ही नहीं, वह पुरुष दुःखदायी देह में किसलिये आत्मबुद्धि करेगा ? शरीर जड़ और मिथ्या है तथा आत्मा चेतन और सत्य है। इसी से न आत्मा शरीर का सम्बन्धी है और न शरीर ही आत्मा का सम्बन्धी, अर्थात् परस्पर विरुद्ध होने के कारण इनका सम्बन्ध सम्भव नहीं है। समस्त भाव विकारों से नित्यमुक्त एवं निर्लिप्त आत्मा न कभी उत्पन्न होता है और न कभी विनष्ट ही होता है, वह सदा-सर्वदा एकरूप से रहता है।

विभिन्न दृष्टियों से देखने पर भी सद्रूप ब्रह्म कभी असद्रूप नहीं हो सकता, इसी प्रकार सर्वव्यापक जीवात्मा का शरीर के साथ तनिक भी सम्बन्ध सम्भव नहीं होता, देह में स्थित जीवात्मा का भी देहसत्ता के साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। परमात्मा का अच्छी प्रकार साक्षात्कार हो जाने पर परमार्थ सत्यरूप परमात्मा में ही स्थिति हो जाती है और देहात्मबुद्धिरूप अज्ञान-प्रयुक्त भ्रम नष्ट हो जाता है। देह और आत्मा के यथार्थ ज्ञान से देह की असत्ता और आत्मा की सत्ता सिद्ध हो जाती है। सभी प्राणियों में अविनाशी चेतन रहता ही है, परन्तु जीवात्मा को इसका भली प्रकार ज्ञान न होने के कारण उसमें कायरता आ गयी है। ऐसे अज्ञानी जीवों के शरीर से श्वास उसी प्रकार निकलते रहते हैं, जैसे लोहार की धौंकनी से हवा निकलती है; अतः उनका जीवन व्यर्थ है। अज्ञान ही आपत्तियों का आश्रय स्थान है।

मदरूपी चन्द्र के उदित होने पर मोतियों से वेष्टित तथा रत्नों से सुशोभित स्त्रियाँ क्षुब्ध काम-क्षीर-सागर की तरङ्ग के समान जो दिखायी पड़ती हैं, वह केवल अज्ञान की ही विभूति है। वसन्तु ऋतु में भूमिपर वनखण्डों में पुष्प काम के दास कामियों को जो रमणीय दिखायी पड़ते हैं, उसमें भी अज्ञान ही कारण है। प्रतीति-

रूपी पुष्पों से उज्ज्वल व्यावहारिक सत्तारूपी लता, जिसमें जगत्‌रूपी पल्लव हैं और जो धर्म-अर्थरूपी फल धारण करती है एवं विकसित होती है, इसका कारण भी माया ही है। जिसमें बड़े-बड़े पर्वत ही खम्भे हैं, सूर्य-चन्द्र ही खिड़कियाँ हैं, आकाश ही आच्छदन (छत) है, ऐसा जगत्-त्रयरूपी महल जो खड़ा हो जाता है, वह भी माया की ही महिमा है। अपनी वासनारूपिणी शलाकाओं से निर्मित शरीर के भीतर स्थित इन्द्रिय-समूहरूप पिंजरे में जो जगत् के अन्तर्गत जीवरूपी पक्षी आशारूपी सूत्र से बँधा हुआ है, उसमें भी उसका अज्ञान ही कारण है। सभी शक्तियाँ अज्ञान से विद्यमान हैं। सुदृढ़ संकल्पों से प्राप्त अर्थसमूह से देदीप्यमान जगत् की ब्रह्म में यह कल्पना में भी अज्ञान ही हेतु है। बारंबार प्राप्त होने वाली सम्पत्तियाँ या आपत्तियाँ बाल्ययौवन-जरा-मरण रूपी महान् संताप सुख-दुःख की परम्परा रूप संसार-सागर में गोता लगाना सब अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकार की विभूतियाँ हैं।

यह अविद्या का कार्य संसारलता बड़े-बड़े मेरु आदि पर्वतरूप पर्वों से युक्त, ब्रह्माण्डरूपी त्वचा से आवृत्त और जनरूपी पत्र, अंकुर आदि विकासों से युक्त है। ये तीनों लोक इसकी देह हैं। इस अविद्यारूपी लता में प्रतिदिन वृद्धि प्राप्त करने वाले सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु और ज्ञान तो फल हैं और अज्ञान इसका मूल है। जन्म से ही अविद्या उत्पन्न होती है और वह बाद में जन्मान्तर रूप फल प्रदान करती है। जन्म से ही वह संसार के रूप में अपना अस्तित्व प्राप्त करती है और बाद में स्थितिरूप फल प्रदान करती है। वह अविद्या अज्ञान से वृद्धि प्राप्त करती है और बाद में अज्ञान रूप फल देती है। ज्ञान से आत्मा का अनुभव प्राप्त करती और अन्त में आत्मा का अनुभव-रूप फल देती है। वह अविद्यारूपी लता अनेक बार उत्पन्न हो चुकी है और उत्पन्न हो रही है, अनेक बार मर चुकी है और मर भी रही है। वह सर्वदा असत्पदार्थ के सदृश बार-बार प्रतीत होती है तथा नित्य विनष्ट भी होती है। यह अविद्या का कार्य-संसार निश्चय ही महती विषमयी लता है; क्योंकि अविचार से इसका सम्बन्ध होने पर यह तत्क्षण संसाररूपी विष से उत्पन्न होने वाली मूर्च्छा लाती है और विवेकपूर्वक सत्-असत् के विचार से तत्क्षण नष्ट हो जाती है और अविवेकी के लिये स्थित रहती है। दृश्यरूप जगत् के सम्बन्ध से और कल्पनाओं से रहित, परम शान्त, सबका आत्मस्वरूप केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही है। उस परमात्मा के संकल्प से कलारूप प्रकृति प्रकट होती है। यह प्रकृति सत्त्व, रज, तम—त्रिगुणमयी है। सत्त्व आदि तीन गुणस्वरूप धर्मों से युक्त प्रकृति ही अविद्या है। यही प्राणियों का संसार है। यह दृश्य-प्रपञ्च इसी अविद्या का कार्य होने से उसी के आश्रित है। ऋषि, मुनि, सिद्ध, दिव्य नाग, विद्याधर, देवता प्रकृति के सात्त्विक, अंशस्वरूप है। प्रकृति का जो शुद्ध सत्त्व-अंश, विद्या है; उस विद्या से अविद्या उत्पन्न होती है, और जिस प्रकार बुद्‌बुद जल में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार उस विद्या में यह अविद्या विलीन हो जाती है। विद्या और अविद्या-दृष्टियों की भेद भावना से ही भिन्नता है, वस्तुत: नहीं। विद्या और अविद्या भी एक रूप ही हैं, पृथक् नहीं। वास्तव में तो एक परमात्मा से भिन्न विद्या और अविद्या नाम की कोई वस्तु ही नहीं है; अत: विद्या और अविद्य-दृष्टि का परित्याग करने पर यहाँ जो कुछ अवशिष्ट रहता है, वह परब्रह्म परमात्मा ही वास्तव में विद्यमान है।

परमात्मा के सिवा जो यह स्थावर-जङ्गरूप जगत् प्रतीत होता है, यथार्थ में वह कुछ भी नहीं है; क्योंकि विवेकपूर्वक विचार करने पर जैसे रज्जु में होने वाले सर्पभ्रम किसी भी सर्प की उपलब्धि नहीं होती, उसी प्रकार हृदय के भीतर जो यह देह में अहंता और बाह्य विषयों में ममतारूपी सम्बन्ध भी होता है, विवेकपूर्वक विचार करने पर उसकी किसी तरह भी उपलब्धि नहीं होती। जाने बिना ही भ्रम से ब्रह्म ही जगत् के रूप में प्रतीत होता है, ब्रह्म का अच्छी प्रकार ज्ञान हो जाने पर सम्पूर्ण जड-चेतन की अन्तिम सीमारूप ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। अज्ञानी चालक की तरह यह जीवात्मा अज्ञान के कारण चित्तस्वरूप को प्राप्त हुआ है, इसलिए चित्त के चलने पर अपने आपको चलता हुआ देखता है, चित्त के स्थिर होने पर अपने को भी स्थिर देखता है। यह आत्मा इस तरह अज्ञान से इस उपद्रव युक्त चित्त को ही अपना स्वरूप समझता है। स्थावर योनियों में जीवात्मा का चित्त न

तो सुषुप्ति की तरह विलीन ही होता है और न जंगम प्राणियों की तरह चञ्चल ही रहता है; बल्कि मूढ़ मनुष्य की तरह वह बीच की-सी स्थिति में रहता है। उन स्थावर योनियों में जीवात्मा विवेकशून्य और दुःख का प्रतीकार करने में असमर्थ रहता है; अतः उन स्थावर शरीरों में मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि वहाँ जीवात्मा कर्मेन्द्रियों से, ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों से तथा मानस व्यापारों से शून्य हुआ केवल सत्ता मात्र से स्थित रहता है। बुद्धिपूर्वक विचारने पर यथार्थ वस्तुरूप परमात्मा के साक्षात्कार से चिन्मय सत्ता का जो सब में समान भाव से अनुभव होता है, वही अविनाशी मोक्षपद है। परमात्म तत्त्व को यथार्थतः जान लेने पर वासनाओं का अशेषरूप से अभाव ही सब में समभाव से सत्तारूप मोक्षपद कहा गया है। वास्तव में अविद्या नाम की कोई वस्तु कहीं भी नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् अखण्ड ब्रह्मस्वरूप ही है, जिस ब्रह्म ने कार्य कारण रूप इस सम्पूर्ण जगत् का निर्माण किया है। 'यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप नहीं है' इस प्रकार का निश्चय ही अविद्या का स्वरूप है और 'यह जगत् ब्रह्मरूप है' यह निश्चय ही उसका विनाश है।

अज्ञान का दूसरा नाम 'अविद्या' है। वह अन्य असंख्य जन्मों से चला आ रहा है, अतएव वह दृढ़ हो गया है। देह की उत्पत्ति और विनाश में, बाहर-भीतर—सर्वत्र समस्त इन्द्रियाँ उस अविद्या का ही निरन्तर अनुभव करती हैं, इसलिए वह अविद्या दृढ़ हो गयी है; क्योंकि परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान तो किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं है। श्री वसिष्ठजी कहते हैं—ब्रह्म ही स्वयं ब्रह्म में तृप्त है, ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है, ब्रह्म ही ब्रह्म में स्फुरित होता है; अतः मैं भी ब्रह्म से भिन्न नहीं हूँ। क्योंकि घट भी ब्रह्म है, पट भी ब्रह्म है, मैं भी ब्रह्म हूँ, यह विस्तृत जगत् भी ब्रह्मस्वरूप ही है, इसलिए यहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त मिथ्या राग-वैराग्य आदि की कल्पना ही नहीं हो सकती है। जिस प्रकार सुवर्ण से आभूषण और जल से तरङ्ग भिन्न नहीं है, वैसे ही प्रकृति ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

'यह देह नहीं हूँ' इस प्रकार जब ज्ञान हो जाता है, तब ब्रह्मभावना उत्पन्न होती है। इसी से देह में अहंभाव मिथ्या सिद्ध हो जाता है। उस समय पुरुष देह से विरक्त हो जाता है। 'मैं एकमत्र ब्रह्मरूप हूँ' इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होने पर ब्रह्मभावना प्रकट होती है। उस अपने वास्तविक रूप का यथार्थ ज्ञान होने पर अज्ञान विलीन हो जाता है। मुझे न दुःख है न कर्म है, न मोह है न कुछ अभिलषित है। मैं एकरूप, अपने स्वरूप में स्थित, शोकशून्य तथा ब्रह्मस्वरूप हूँ—यह ध्रुव सत्य है। मैं कल्पनाओं से शून्य हूँ, मैं सर्वविध विकारों से रहित और सर्वात्मक हूँ; मैं न त्याग करता हूँ और न कुछ चाहता हूँ! मैं परब्रह्मस्वरूप परमात्मा हूँ, यह ध्रुव सत्य है। जिसमें सब कुछ स्थित है, जिससे यह सब उत्पन्न हुआ है, जो यह सब है, जो सब ओर विद्यमान है एवं जो सबका अद्वितीय आत्मा है, वही परब्रह्म परमात्मा है। पूर्वोक्त निश्चयवाले वे सत्पुरुष जीवन्मुक्त महात्मा सत्यस्वरूप परम शान्त परम पद में स्थित है। वे फूलों से पूर्ण, झूले के-से आन्दोलनों से चञ्चल चित्र-विचित्र वनों की पंक्तियों में एवं मेरु पर्वत की चोटियों के ऊपर विचरण करते हैं। वे अनेक प्रकार के सदाचारों के रूप में इन सभी धर्मों का स्वयं अनुष्ठान करते हैं। इसी प्रकार श्रुति-स्मृति विहित कर्मों का भी वे कर्तव्य-बुद्धि से आचरण करते हैं। उन तत्त्ववेत्ता महापुरुषों का मन अत्यन्त कमनीय कञ्चन और कामिनी के प्राप्त होने पर हर्ष और चञ्चलता आदि विकारों को नहीं प्राप्त होता है। वे सुख की प्राप्ति होने पर हर्षित और दुःख की प्राप्ति होने पर खिन्न नहीं होते थे।

भुशुण्ड ने कहा—मुने ! मैं जो निर्विघ्नतापूर्वक आपका दर्शन कर रहा हूँ, इससे प्रतीत होता है कि चिरकाल से संचित किये गये मेरे पुण्यों का फल आज ही प्रकट हुआ है। मुनिराज ! आज आपके दर्शन से यह घोंसला, यह शाखा, यह मैं और यह कल्पतरु—ये सब-के-सब पवित्र हो गये।

मुनीश्वर ! युगान्तकाल में जब भीषण उपद्रव होने लगते हैं और प्रचण्ड वायु बहने लगती है, उस समय भी यह कल्पवृक्ष सुस्थिर रहता है। यह कभी भी कम्पित नहीं होता। अन्य लोकों में विचरण करनेवाले समस्त

प्राणियों के लिये यह अगम्य है, इसीलिये हमलोग यहाँ सुखपूर्वक निवास करते हैं। ऐसे उत्तम वृक्षपर निवास करनेवाले हमलोगों के निकट भला, आपत्तियाँ कैसे फटक सकती हैं।

मुनिराज ! पहले सृष्टि-रचना का संकल्प हुआ, फिर तीनों लोकों का निर्माण हुआ। उस त्रिलोकी में अवान्तर प्रदेशों का विभाग होने के बाद उनमें सात कुलपर्वतों की स्थापना हुई। उन्हीं प्रदेशों में जम्बूद्वीप की पृथक् स्थापना हुई। ब्रह्माजी ने उस जम्बूद्वीप में ब्राह्मण आदि वर्ण, उनके धर्म और उन वर्णों के लिये योग्य विद्याविशेषों की सृष्टि की। तत्पश्चात् अवनिमण्डल एवं नक्षत्र-चक्र की स्थिति और ध्रुवमण्डल का निर्माण किया। तात ! तदनन्तर चन्द्रमा और सूर्य की उत्पत्ति, इन्द्र और उपेन्द्र की व्यवस्था, हिरण्याक्ष द्वारा पृथ्वी का अपहरण, वराहरूपधारी भगवान् द्वारा उसका उद्धार, भूपालों की रचना, मत्स्यरूपधारी भगवान् द्वारा वेदों का लाया जाना, मन्दराचल का उन्मूलन, अमृत के लिये क्षीरसागर का मन्थन, गरुड़ का शैशव, जब कि उनके पंख नहीं जमे थे, और सागरों की उत्पत्ति आदि जो निकटतम सृष्टि की स्मृतियाँ हैं, उन्हें तो मेरी अपेक्षा अल्प आयु वाले योगी भी स्मरण करते हैं; अत: उनमें मेरी क्या आदर-बुद्धि हो सकती है।

मुनिश्रेष्ठ ! हयग्रीव, हिरण्याक्ष, कालनेमि, बल, हिरण्यकशिपु, क्राथ, बलि और प्रह्लाद आदि असुरों में शिवि, न्यङ्कु, पृथु, उलाख्य, वैन्य, नाभाग, केलि, नल, मान्धाता, सगर, दिलीप और नहुष आदि नरेशों में तथा आत्रेय, व्यास, वाल्मीकि, शुक, वात्स्यायन, उपमन्यु, मणीमङ्कि और भगीरथ आदि महर्षियों में कुछ तो सुदूर भूतकाल में कुछ निकटतम अतीत में और कुछ इसी वर्तमान सृष्टि में उत्पन्न हुए हैं; अत: इनके स्मरण की तो बात ही क्या है। मुनिश्वर ! आप तो ब्रह्मा के पुत्र हैं। आपके भी आठ जन्म हो चुके हैं। इस आठवें जन्म में मेरा आपके साथ समागम होगा—यह मुझे पहले से ही ज्ञात था। यह वर्तमान सृष्टि जैसी है, इसके जैसे आचरण हैं और जैसा इसका अवयव संस्थान एवं दिशा गण है, ठीक इसी तरह की तीन सृष्टियाँ पहले भी हो चुकी हैं, जिनका मुझे भली भाँति स्मरण है। अमृत के लिये, जिसमें मन्दराचल के आकर्षण के प्रयास से देवता और दैत्य व्याकुल हो गये थे—ऐसा यह बारहवाँ समुद्र-मन्थन है, यह भी मुझे स्मरण है। युग-युग में जो एकार्थक, विस्तारयुक्त तथा बहुत से पाठभेदवाले पुराण प्रवृत्त होते हैं, उन सबका भी मुझे स्मरण है। प्रत्येक युग में वेद आदि शास्त्रों के ज्ञाता व्यास आदि महर्षियों द्वारा विरचित महाभारत आदि इतिहास भी मुझे याद है। इनके अतिरिक्त रामायण नाम से प्रसिद्ध जो दूसरा महान् आश्चर्यजनक इतिहास है, जिसकी श्लोक-संख्या एक लाख है, उस ज्ञान-शास्त्र का भी मुझे स्मरण है। उस शास्त्र में बुद्धिमानों के लिये हाथपर रक्खे हुए फल की तरह 'श्रीराम की तरह व्यवहार करना चाहिये, परन्तु रावण के विलासी जीवन का अनुकरण नहीं करना चाहिये' ऐसा ज्ञान बतलाया गया है। उसके निर्माता महर्षि वाल्मीकि हैं। अब उनके द्वारा जगत् में जो (वसिष्ठराम-संवादरूप) दूसरे ज्ञातशास्त्र की रचना की जायगी, उसका भी मुझे ज्ञान है और समयानुसार वह आपको भी ज्ञात हो जायगा।

कभी नष्ट न होनेवाली, संशयों से रहित एक परमात्मदृष्टि ही समस्त ज्ञानों में सबसे उन्नत और सबसे श्रेष्ठ है। परमात्मविषयक विचार समस्त दु:खों का अन्त कर देनेवाला तथा अनादिकाल से चले आते हुए अज्ञान से परिपूर्ण, दु:स्वप्न-तुल्य संसाररूपी भ्रम का विनाश करनेवाला है। समस्त संकल्पों से रहित परमात्मविषयक भावना से अज्ञानरूपी अन्धकार का, उसके कार्यों के साथ, भली प्रकार विनाश हो जाता है किंतु सामान्य बुद्धिवाले प्राणी समस्त कल्पनाओं से अतीत इस परमपद को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? अर्थात् साधारण पुरुषों के लिये वह पद प्राप्त होना कठिन है। इस परत्मविषयक भावना के अनेक भेद हैं। उनमें से सम्पूर्ण दु:खों का विनाश करने वाली प्राण भावना का मैंने आश्रय लिया है, वही यहाँ मेरे जीवन का आधार है।

मुनिराज ! इडा और पिङ्गला नाम की दो अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियाँ इस देह रूपी घर के बीच दाहिने और ायें भाग में स्थित कोष्ठ में यानी कुक्षि में रहती हैं। उनक किसी को भान नहीं होता, वे केवल नासापुट में प्राण-

संचार द्वारा प्रतीत होती हैं। उक्त देह में यन्त्र के सदृश तीन कमल के जोड़ें हैं। वे अस्थि-मांसमय एवं अत्यन्त मृदु हैं। उनमें ऊपर और नीचे दोनों ओर से नालदण्ड लगे हुए हैं और वे सम्पुटित होकर एक दूसरे मिले हुए कोमल सुन्दर दलों से सुशोभित हैं। उन तीन हृदय-कमल यन्त्रों में प्राण की समस्त शक्तियाँ ऊपर और नीचे की ओर उसी प्रकार फैली हुई हैं, जिस प्रकार चन्द्र-बिम्ब से किरणें फैलती हैं। इन प्राणशक्तियों से ही शीघ्रगति, आगति, विकर्षण, हरण, विहरण, उत्पतन एवं निपतन की क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं।

शरीर में जो कुछ क्रिया या व्यापार होता है, वह सब शक्ति सम्पन्न वायु करती है, जिस प्रकार यन्त्र चालक कठपुतली से नृत्यादि चेष्टा करता है। उसमें ऊर्ध्वगमन और अधोगमन—ये दो प्रकार के संकेत वाले जो वायु प्रसृत होते हैं, वे दोनों श्रेष्ठ वायु प्राण एवं अपान नाम से प्रसिद्ध एवं प्रकट हैं। मैं उनकी गति का सदा अनुसरण करता हुआ स्थित रहता हूँ। उनका स्वरूप सदा शीतल और उष्ण रहता है एवं वे दोनों निरन्तर शरीर के भीतर आकाश-मार्ग की यात्रा करते रहते हैं। उन प्राण और अपान नामक वायुओं की—जो शरीर में सदा संचरण करते हैं तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में सदा समानरूप हैं—गति का अनुसरण करते हुए मेरे दिन सुषुप्ति-अवस्था में स्थित मनुष्य की भाँति व्यतीत हो रहे हैं। हृदय आदि स्थानों में निरन्तर विचरण करने वाले प्राण और अपान वायुओं की गति के तत्त्व को जानकर उसका अनुसरण करने वालाप्रसन्नचित्त पुरुष जन्म-मरणरूपी फाँसी से छूटकर सदा के लिये मुक्त हो जाता है। वह फिर इस संसार में लौटकर नहीं आता।

इस प्राण में स्पन्दन-शक्ति तथा निरन्तर गतिक्रिया रहती है। यह प्राण बाह्य एवं आन्तर सर्वाङ्गों से परिपूर्ण देह में ऊपर के स्थान में—हृदयदेश में स्थित रहता है। अपान वायु में भी निरन्तर स्पन्दशक्ति तथा सततगति रहती है। यह अपान वायु भी बाह्य एवं आन्तर समस्त अङ्गों से परिपूर्ण शरीर में नीचे के स्थान में—नाभिदेश में स्थित रहता है। मुनिवर! किसी प्रकार के यत्न के बिना प्राणों की हृदय-कमल के कोश से होनेवाली जो स्वभाविक बहिर्मुखता है, विद्वान्लोग उसे 'रेचक' कहते हैं। बारह अंगुल पर्यन्त बाह्य प्रदेश की ओर नीचे गये हुए प्राणों का लौटकर भीतर प्रवेश करते समय जो शरीर के अङ्गों के साथ स्पर्श होता है, उसे 'पूरक' कहते हैं। अपानवायु के शान्त हो जाने पर जब तक हृदय हृदय में प्राणवायु का अभ्युदय नहीं होता, तवतक वह वायु की कुम्भकावस्था (निश्चल स्थिति) रहती है, जिसका योगीलोग अनुभव करते हैं। इसी को आभ्यन्तर कुम्भक कहते हैं। ब्रह्मन्! मृत्तिका के अन्दर असिद्ध घट की स्थिति के सदृश बाहर थासिका के अग्रभाग से लेकर बराबर सामने बाहर अंगुल पर्यन्त आकाशमें जो आपन वायु की निरन्तर स्थिति है; उसे पण्डित लोग 'बाह्य कुम्भक' कहते हैं। अतः बाहर प्राण-वायु के अस्तंगत होनेपर जबतक अपान-वायु का उद्गम नहीं होता, तबतक एकरूप से स्थित पूर्ण (दूसरा) बाह्य कुम्भक रहता है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। प्राण और अपान वायु के स्वभावभूत ये जो बाह्य और आभ्यन्तर कुम्भकादि प्राणायाम हैं; उनका भली प्रकार तत्त्व-रहस्य जानकर निरन्तर उपासना करने वाला पुरुष पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता। मनुष्य अपने भीतर बुद्धिपूर्वक सम्यक् प्रकार से इन कुम्भक आदि प्राणायामों का स्मरण करता हुआ जो कुछ करता है या खाता है, उनमें वह कर्तृव्य आदि के अभिमान से तनिक भी ग्रस्त नहीं होता।

इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने वाले पुरुष का मन विषयाकार वृत्तियों के होने पर भी बाह्य विषयों में रमण नहीं करता। जो शुद्ध और तीक्ष्ण बुद्धिबाले महात्मा इस प्राणविषयक दृष्टि का अवलम्बन करके स्थित हैं, उन्होंने प्रापणीय पूर्ण ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लिया और वे ही समस्त खेदों से रहित हैं। बैठते, चलते, सोते और जागते—सदा-सर्बदा पुरुष यदि तत्त्व-रहस्य समझकर प्राणायाम का अभ्यास करें तो वे कभी बन्धन को प्राप्त ही न हों। ब्रह्मन्! हृदय-कमल से प्राण का अभ्युदय होता है और बाहर अंगुल पर्यन्त प्रदेश में यह प्राण विलीन होकर रहता है। इसी को 'आभ्यन्तर कुम्भक' कहते हैं। जिस बारह अंगुल की चरम सीमा के आकाश-प्रदेश से यह आपन उसी के बाद उत्पन्न हो जाता है। यह प्राण-वायु अग्नि-शिखा की भाँति बाह्य आकाश के सम्मुख होकर बहता,

है और अपान-वायु जल की तरह हृदयाकाश के सम्मुख होकर बहता है और अपान-वायु जल की तरह हृदयाकाश के सम्मुख होकर निम्न भाग में बहता है है। चन्द्रमारूप आपन-वायु शरीर को भीतर से परिपक्व कर देता है। प्राणरूपी सूर्य की किरण का अपानरूपी चन्द्रमा के साथ बाह्य-कुम्भक के समय जिस बाह्य-प्रदेश स्थित ब्रह्म से सम्बन्ध होता है, उस ब्रह्मपद को प्राप्तकर मनुष्य पुनर्जन्म प्राप्त नहीं करता।

जो पुरुष हृदयाकाश में स्थिति प्राणरूप सूर्यदेव को उदय-अस्त, चन्द्रमा-रश्मि और गमनागमन सहित तत्त्व से अनुभव करता है, वही यथार्थ अनुभव करता है। जैसे बाह्य अन्धकार के नष्ट हो जानेपर बाहर के पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं, उसी प्रकार हृदयस्थित अज्ञान के नष्ट हो जाने पर शुद्ध स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। प्राण-वायु के विलीन हो जाने पर और अपान-वायु के उदय के पूर्व बाह्य कुम्भ का चिरकाल तक अभ्यास करने से योगी शोक से रहित हो जाता है। अपान-वायु के विलीन होनेपर और प्राण-वायु के उदय से पूर्व भीतरी कुम्भक का चिरकाल तक अभ्यास करने से योगी शोक से रहित हो जाता है। जिस हृदयवर्ती ब्रह्मरूप स्थान में ये प्राण और अपान दोनों विलीन हो जाते हैं, उस शान्त, आत्म स्वरूप ब्रह्मरूप पद का अवलम्वन करने से योगी अनुतप्त नहीं होता। महर्षे! जिस चिन्मय परब्रह्म परमात्मा में अपान के साथ प्राण का, प्राण के साथ अपान का तथा उन दोनों के साथ बाह्य एवं आभ्यन्तर देश-काल का विलय हो जाता है, उसी परब्रह्मरूप पद का आप दर्शन कीजिये।

जिस समय अपान के प्राकट्य से पूर्व प्राण विलीन हुआ रहता है, उस समय किसी प्रकार के यत्न के बिना स्वाभाविक सिद्ध हुई जो बाह्य-कुम्भक अवस्था है, उसी को योगी लोग 'परम पद' कहते हैं। उसी प्रकार के यत्न के बिना ही सिद्ध हुआ अन्तःस्थ कुम्भक सर्वातिशायी ब्रह्म रूप परम पद है। यह परमात्मा का वास्तविक स्वरूप है और यही सदा प्रकाशमय परम विशुद्ध चेतन है। इसको प्राप्त कर मनुष्य शोक से रहित हो जाता है। जो प्राण-विलय का और जो अपान-विनाश का समीप एवं अन्त में रहकर प्रकाशक है तथा जो प्राण और अपान के अंदर रहता है, जिसकी सत्ता-स्फूर्ति से मन मनन करता है, बुद्धि निश्चय करती है, अहंकार अहंता को प्राप्त है, जिस परमात्मा में समस्त पदार्थ विद्यमान हैं, जिससे समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है, जो सब ओर स्थित है, जो सर्वमय है, जो सम्पूर्ण ज्योतियों का प्रकाशक है, जो समस्त पवित्रों का भी परम पवित्र है, जो सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प आदि भावनाओं से रहित है, जहाँ पर प्राण विलीन हो जाता है, जहाँ अपान भी अस्त हो जाता है तथा जहाँ प्राण और अपान दोनों उत्पन्न भी नहीं होते, बाह्य और आभ्यन्तर प्रदेश में स्थित, योगियों द्वारा अनुभूत होने वाले जो दो प्राण और अपान की उत्पत्ति के स्थान हैं, जो प्राण और अपान के विवेक में हेतु है, जो उनके अस्तित्व का ज्ञान कराने वाला है, जो स्वयं रूप रहित है एवं जो प्राणोपासना से प्राप्तव्य है, उस चिन्मय विज्ञानानन्द घन परमात्मा की उपासना करते हैं।

भुशुण्ड ने कहा—मैंने प्राण समाधि के द्वारा पूर्वोक्त रीति से विशुद्ध परमात्मा में यह चित्त-विश्राम रूप परम शान्ति क्रमशः स्वयं प्राप्त की है। मैं इस प्राणायाम का अवलम्बन करके दृढ़ता पूर्वकस्थित हूँ। इसलिये सुमेरु पर्वत के विचलित होने पर भी मैं चलायमान नहीं होता। चलते-बैठते, जागते या सोते अथवा स्वप्न में भी मैं अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति रूप समाधि से विचलित नहीं होता; क्योंकि तपस्वियों में महान् वसिष्ठ जी! प्राण और अपान के संयम रूप प्राणायाम के अभ्यास से प्राप्त परमात्मा के साक्षात् अनुभव से मैं समस्त शोकों से रहित आदि कारण परम पद को प्राप्त हो गया हूँ। ब्रह्मन्! महाप्रलय से लेकर प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश को देखता हुआ मैं ज्ञानवान् हुआ आज भी जी रहा हूँ। जो बात बीत चुकी और जो होने वाली है, उसका मैं कभी चिन्तन नहीं करता। उपर्युक्त प्राणायामविषयक दृष्टि का अपने मन से अवलम्बन करके इस कल्प-वृक्ष पर स्थित हूँ। न्याय युक्त जो भी कर्तव्य प्राप्त हो जाते है, उनका फलाभिलाषाओं से रहित होकर केवल सुषुप्ति के समान उपरत बुद्धि से अनुष्ठान करता रहता हूँ। प्राण और अपान के संयोग रूप कुम्भक-काल में प्रकाशित होने वाले परमात्म तत्त्व

का निरन्तर स्मरण करता हुआ मैं अपने आप में स्वयं ही नित्य संतुष्ट रहता हूँ। इसलिये मैं दोषरहित होकर चिर काल से जी रहा हूँ। मैंने आज यह प्राप्त किया और भविष्य में दूसरा सुन्दर पदार्थ प्राप्त करूँगा, इस प्रकार की चिन्ता मुझे कभी नहीं होती। मैं अपने या दूसरे किसी के कार्यों की किसी समय कहीं पर कभी स्तुति और निन्दा नहीं करता। शुभ की प्राप्ति होने पर मेरा मन हर्षित नहीं होता और अशुभ की प्राप्ति होने पर कभी खिन्न नहीं होता; क्योंकि मेरा मन नित्य सम ही रहता है।

मुने ! मेरे मन की चञ्चलता शान्त हो गयी है। मेरा मन शोक से रहित, स्वस्थ, समाहित एवं शान्त हो चुका है। इसलिये मैं विकार-रहित हुआ चिरकाल से जी रहा हूँ। लकड़ी, रमणी, पर्वत, तृण, अग्नि, हिम, आकाश—इन सबको मैं समभाव से देखता हूँ। जरा और मरण आदि से मैं भयभीत नहीं होता एवं राज्य प्राप्ति आदि से हर्षित नहीं होता। इसलिये मैं •अनामय होकर जीवित हूँ। ब्रह्मन् ! यह मेरा बन्धु है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा है एवं यह दूसरे का है—इस प्रकार की भेद-बुद्धि से मैं रहित हूँ। ग्रहण और विहार करने वाला, बैठने और खड़ा रहने वाला, श्वास तथा निद्रा लेने वाला यह शरीर ही है, आत्मा नहीं—यह मैं अनुभव करता हूँ। मैं इसलिये मैं चिरजीवी हूँ। मैं जो कुछ क्रिया करता हूँ, जो कुछ खाता-पीता हूँ, यह सब अहंता-ममता से रहित हुआ ही करता हूँ। मैं दूसरों पर आक्रमण करने में समर्थ हुआ भी आक्रमण नहीं करता, दूसरों के द्वारा खेद पहुँचाये जाने पर भी दु:खित नहीं होता एवं दरिद्र होने पर भी कुछ नहीं चाहता. इसलिये मैं विकार-रहित हुआ बहुत काल से जी रहा हूँ। मैं आपत्ति काल में भी चलायमान नहीं होता, वरं पर्वत की तरह अचल रहता हूँ। जगत् आकाश, देश-काल, परम्परा क्रिया—इन सबमें चिन्मय रूप से मैं ही हूँ, इस प्रकार की मेरी बुद्धि है; इसलिये मैं विकार-रहित हुआ बहुत काल से स्थित हूँ। ज्ञान के पारंगत ब्रह्मन् ! एक मात्र आपकी आज्ञा का पालन करने के लिये ही धृष्टतापूर्वक मैंने, जो और जैसा हूँ, वह सब आपसे यथार्थ रूप से बता दिया है।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—'ऐश्वर्यपूर्ण पक्षिराज ! यह बड़े हर्ष का विषय है, जो आपने कानों के लिये भूषण स्वरूप यह अत्यन्त आश्चर्यमयी अपनी अलौकिक स्थिति मुझ से कही है। वे महात्मा धन्य हैं, जो ब्रह्माजी के समान स्थिति अत्यन्त दीर्घजीवी आपके दर्शन करते हैं। ये मेरे नेत्र भी धन्य हैं, जो बराबर आपके दर्शन करते हैं। ये मेरे नेत्र भी धन्य हैं, जो बराबर आपके दर्शन कर रहे हैं। अपने मुझ से बुद्धिको पवित्र करने वाला अपना सम्पूर्ण जीवन-वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों ठीक-ठीक कहा है। मैंने सब दिशाओं में भ्रमण किया और देवताओं एवं बड़े-बड़े तत्त्व-वेत्ताओं की ज्ञान आदि विभूतियों को देखा, परंतु इस जगत् में आपके समान दूसरे किसी महान् ज्ञानी को नहीं देखा। इस संसार में भ्रमण करने पर किसी को किसी महान् पुरुष की प्राप्ति हो भी सकती है; परंतु आप-जैसे ज्ञानी महात्माओं का प्राप्त होना तो इस जगत् में कहीं भी सुलभ नहीं है अर्थात् दुर्लभ है। पुण्य-देह एवं विमुक्तात्मा आपका अवलोकन करके मैंने तो आज अत्यन्त कल्याणकार एक बहुत बड़ा कार्य सम्पादन कर लिया है। पक्षिराज ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम अपनी शुभ गुफा में प्रवेश करो; क्योंकि मध्याह्न-कर्तव्य के लिये मेरा समय हो गया है; अत: मैं भी देवलोक में जा रहा हूँ।'

सत्युग के प्रथम दो शतक जब व्यतीत हो चुके थे, तब मेरु पर्वत के उस कल्पवृक्ष पर भुशुण्ड के साथ मैंने पहले-पहल भेंट की थी। इस सत्ययुग के क्षीण हो जाने पर त्रेतायुग चल रहा है और इस त्रेतायुग के मध्य में आप प्रकट हुए हैं। आज से आठ वर्ष पहले सुमेरु पर्वत के उसी शिखर के ऊपर ज्यों-का-त्यों अजररूपधारी वह भुशुण्ड मुझसे फिर मिला था। इस प्रकार का विचित्र उत्तम भुशुण्ड-वृत्तान्त मैंने तुमसे कहा, इसका श्रवण और विचार करके जैसा उचित समझो, वैसा करो।

इस शरीररूपी घर का—जिसमें हड्डियाँ ही खंभे हैं, मुख आदि नौ दरवाजे हैं और जो रक्त और मांस से लीपा गया है—वास्तव में किसी ने भी इसका निर्माण नहीं किया है। यह शरीर केवल आभासरूप (झलक-

मात्र) ही है—बिना निर्माता के ही अज्ञान से भासित होता है। यह देह प्रतीत होता है, इसलिये इसे सत् कहा गया है और वास्तव में यह नहीं है, इसलिये असत् कहा गया है। जैसे स्वप्नकाल में ही स्वाप्निक पदार्थ सत्-से प्रतीत होते हैं, किंतु जाग्रत्काल में वे असत् हैं—उनका अत्यन्त अभाव है, तथा जैसे मृगतृष्णिका का जल भी मृगतृष्णिका की प्रतीति होने पर ही सत्-सा रहता है, अन्य विचारकाल में वह असत् रहता है, वैसे ही देह की प्रतीति होने पर देह सत्य-सी है और आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर असत्य है, अर्थात् उसका अत्यन्त अभाव है। इसलिए ये शरीर आदि, जो केवल आभासरूप ही हैं, अज्ञानकाल में ही प्रतीत होते हैं।

ये शरीर जिस प्रसार मानसिक संकल्प से उत्पन्न—अतएव सद्रूप और असद्रूप है। यह मेरा धन है, यह मेरा शरीर है, यह मेरा देश है—इस प्रकार की जो भ्रमजनित प्रतीति होती है, वह भी अज्ञान से ही होती है; क्योंकि धन आदि सब कुछ चित्तजनित संकल्प का ही कार्य है। इस संसार को एक तरह का दीर्घ स्वप्न, दीर्घ चित्तभ्रम या दीर्घ मनोराज्य ही समझना चाहिये। स्वप्न और संकल्पों से (मनोराज्यों से) जैसे एक विलक्षण बिना हुए ही जगत् की प्रतीति होती है, वैसे ही यह व्यावहारिक जगत् की स्थिति भी एक प्रकार से संकल्पजनित एवं विलक्षण (अनिर्वचनीय) ही है; क्योंकि वह बिना हुए ही प्रतीत होती है। पौरुष-प्रयत्न से मन को अन्तर्मुख बनाने पर जब परमात्मा के तत्त्व का यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है, तब यह जगदाकार संकल्प चिन्मय परमात्मारूप ही अनुभव होने लगता है; किंतु यदि उसकी विपरीत रूप से भावना की जाय तो विपरीत ही अनुभव होने लगता है। क्योंकि 'यह वह है', 'यह मेरा है' और 'यह मेरा संसार है'—इस प्रकार की भावना करने पर देहादि जगद्रूप संकल्प जो सत्य-सा प्रतीत होता है, वह केवल सुदृढ़ भावना से ही होता है। दिन के व्यवहारकाल में मनुष्य जैसा अभ्यास करता है, वैसा ही स्वप्न में उसे दिखलायी पड़ता है। उसी प्रकार बारंबार जैसी भावना की जाती है, वैसा ही यह संसार दिखलायी देता है। जैसे स्वप्नकाल में थोड़ा-सा समय भी अधिक समय प्रतीत होता है, वैसे ही यह संसार अल्पकालस्थायी और विनाशशील होने पर भी स्थिर प्रतीत होता है।

जैसे सूर्य की किरणों से मरुभूमि में मृगतृष्णा-नदी दिखायी देती है, वैसे ही ये पृथिवी आदि पदार्थ वास्तविक न होने पर भी संकल्प से सत्य-से दिखायी देते हैं। जिस प्रकार नेत्रों के दोष से आकाश में मोरपंख दिखायी देते हैं, वैसे ही बिना हुए ही यह जगत् मन के भ्रम से प्रतीत होता है। किंतु दोषरहित नेत्र से जैसे आकाश में मोरपंख नहीं दिखायी देते, वैसे ही यथार्थ ज्ञान होने पर यह जगत् दिखलायी नहीं पड़ता। जिस प्रकार डरपोक मनुष्य भी अपने कल्पित मनोराज्य के हाथी, बाघ आदि को देखकर भयभीत नहीं होता, क्योंकि वह समझता है कि यह मेरी कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है, वैसे ही यथार्थ ज्ञानी पुरुष इस संसार को कल्पित समझकर भयभीत नहीं होता; क्योंकि ये भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों जगत् प्रतीतिमात्र ही हैं। वे वास्तव में नहीं हैं, इसलिये सत् नहीं है और उनकी प्रतीति होती है, इसलिये उनको सर्वथा असत् भी नहीं कह सकते; अतएव अन्य कल्पनाओं का अभाव ही परमात्मा का यथार्थ ज्ञान है। इस संसार में व्यवहार करने वाले सभी मनुष्यों को अनेक प्रकार की आपदाएँ स्वाभाविक ही प्राप्त हुआ करती हैं। क्योंकि यह जगत्-समूह वैसे ही उत्पन्न होता है, बढ़ता है और विकसित होता है, जैसे समुद्र में बुद्बुदों का समूह; फिर इस विषय में शोक ही क्या। परमात्मा जो सत्य वस्तु है, वह सदा सत्य ही है और यह दृश्य जो असत्य वस्तु है, वह सदा असत्य ही है; इसलिये मायारूप विकृति के वैचित्र्य से प्रतीयमान इस प्रपञ्च में ऐसी दूसरी कौन वस्तु है, जिसके विषय में शोक किया जाय ?

मनुष्य को विवेक-बुद्धि से आसक्ति और अनासक्ति का परित्याग करके अनायास ही शास्त्र-हित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये, शास्त्रनिषिद्ध कर्मों का कभी नहीं। अर्थात् उनकी सर्वथा उपेक्षा कर देनी ये। यह दृश्यमान प्रपञ्च केवल प्रतीतिमात्र है, वास्तव में कुछ नहीं है—यों जिस मनुष्य को भलीभाँति अनुभव ा है, वह अपने भीतर परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है। अथवा 'मैं और यह सारा प्रपञ्च चैतन्यात्मक

परब्रह्मस्वरूप ही है'—इस प्रकार अनुभव करने पर अनर्थकारी यह व्यर्थ जगद्रूपी आडम्बर प्रतीत नहीं होता। जो कुछ भी आकाश में या स्वर्ग में या इस संसार में सर्वोत्तम परमात्म-वस्तु है, वह एकमात्र राग-द्वेष आदि के विनाश से ही प्राप्त हो जाती है। जो पुरुष शास्त्रों में निपुण, चतुर एवं बुद्धमान् होकर भी राग-द्वेष आदि से परिपूर्ण हैं, वे संसार में शृगाल के तुल्य हैं। उन्हें धिक्कार है। धन, बन्धुवर्ग, मित्र—ये सब बार-बार आते और जाते रहते हैं; इसलिये उनमें बुद्धिमान् पुरुष क्या अनुराग करेगा। कभी नहीं, उत्पत्ति-विनाशशील भोग-पदार्थों से परिपूर्ण संसार की रचनारूप यह परमेश्वर की माया आसक्त पुरुषों को ही अनर्थ गर्तों में ढकेल देती है। वास्तव में धन, जन और मन सत्य नहीं हैं, किंतु मिथ्या ही दीख पड़ते हैं। क्योंकि आदि और अन्त में सभी पदार्थ असत् हैं और बीच में भी क्षणिक एवं दुःखप्रद हैं; इसलिये बुद्धिमान् पुरुष आकाश-वृक्ष के सदृश कल्पित इस संसार से कैसे प्रेम करेगा।

जब केवल संकल्परूपी नाभि का भली प्रकार अवरोध कर दिया जाता है, तभी यह संसाररूपी चक्र घूमने से रुक जाता है। किंतु संकल्पात्मक मनोरूप नाभि को राग-द्वेष आदि से क्षोभित करने पर यह संसाररूपी चक्र रोकने की चेष्टा करने पर भी वेग के कारण चलता ही रहता है। इसलिये परम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन की युक्तियों के द्वारा ज्ञानरूपी बल से चित्तरूपी संसार-चक्र की नाभि का अवश्य अवरोध करना चाहिये। क्योंकि कहीं पर ऐसी कोई वस्तु उपलब्ध है ही नहीं, जो उत्तम बुद्धि तथा सौजन्य से परिपूर्ण शास्त्रसम्मत परम पुरुषार्थ से प्राप्त न की जा सके। प्रज्ञासौजन्ययुक्तेन शास्त्रसंवलितेन च। पौरुषेण न यत्प्राप्तं न तत्क्वचन लभ्यते॥ आधि और व्याधि से निरन्तर दुःखित, अश्रु आदि से क्लिन्न तथा स्वयं विनाशशील इस शरीर में उस प्रकार की भी स्थिरता नहीं रहती, जिस प्रकार की चित्रलिखित पुरुष में रहती है। चित्रित मनुष्य की यदि भलीभाँति रक्षा की जाय तो वह दीर्घकाल तक सुशोभित रहता है; किंतु उसका बिम्बरूप शरीर तो अनेक यत्नों से रक्षित होने पर भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। स्वप्न आदि का शरीर स्वप्नकालीन संकल्प से जनित होने के कारण दीर्घकालीन संकल्प से उत्पन्न होने के कारण दीर्घकाल दुःखों से आक्रान्त रहता है। संकल्प से उत्पन्न होने के कारण दीर्घकाल के दुःखों से आक्रान्त रहता है। संकल्पमय यह शरीर स्वयं भी नहीं है और न आत्मा के साथ इसका सम्बन्ध ही है; अतः इस शरीर के लिये यह अज्ञानी जीव निरर्थक क्लेश का भाजन क्यों बनता है? अर्थात् इसमें एकमात्र अज्ञान ही हेतु है। जिस प्रकार मनोराज्य में उत्पन्न शरीर आदि पदार्थों का क्षय या विनाश हो जाने पर आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती, जिस प्रकार स्वप्न में उत्पन्न पदार्थों का क्षय या विनाश हो जाने पर आत्मा की हानि नहीं होती अथवा जिस प्रकार मृगतृष्णिका-नदी के जल का क्षय या विनाश हो जाने पर वास्तविक जल की कुछ भी हानि नहीं होती, उसी प्रकार एकमात्र संकल्प से उत्पन्न, स्वभावतः विनाशशील इस शरीररूपी यन्त्र का क्षय या विनाश हो जाने पर आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती। अतः शरीर के लिये शोक करना निरर्थक ही है। चित्त के संकल्प से कल्पित तथा दीर्घकालीन स्वप्नमय इस देह के अलंकारों से भूषित या आधि-व्याधि से दूषित हो जाने पर चेतन आत्मा की कुछ भी हानि नहीं है। देह का विनाश होने पर चेतन आत्मा विनष्ट नहीं होता।

अज्ञानरूपी चक्र के ऊपर स्थित हुआ जीवात्मा देह के जन्म-मरणरूपी चक्र को देखता रहता है, वह उत्तरोत्तर अधिक भ्रान्ति को देने वाला, स्वयं भ्रान्तिरूप, पतनोन्मुख स्वरूप से ग्रस्त, भली प्रकार अनर्थ-गर्तों में गिराया गया, हत एवं हन्यमान ही दीख पड़ता है। इसलिये मनुष्य को उत्तम धैर्य का भली प्रकार आश्रय लेकर इस अनादि दृढ़ीभूत भ्रम का परित्याग कर देना चाहिये। मिथ्या अज्ञान के द्वारा एकमात्र संकल्प से उत्पन्न हुआ यह शरीर सत्य-सा होने पर भी वास्तव में असत्य ही है; क्योंकि जो वस्तु अज्ञान से उत्पन्न हुई है, वह किसी समय भी सत्य नहीं हो सकती।

विवेक एवं धैर्य से रहित जिस मूर्ख ने अपने अहंकाररूपी महोत्सव का अवलम्ब किया, उसे तत्काल विनष्ट हुआ ही समझो। जिन बेचारों को अहंकाररूपी पिशाच ने अपने अधीन बना लिया, वे सब नरकरूपी अग्नियों के इन्धन ही बन गये अर्थात् वे नरक की ज्वाला से जलते रहते हैं। पापशून्य 'हा ! हा ! मैं मर गया हूँ', 'मैं जल गया हूँ' इत्यादि जो दु:खवृत्तियाँ हैं, वे अहंकाररूपी पिशाच की ही शक्तियाँ हैं, दूसरे की नहीं। जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक आकाश यहाँ किसी से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक आत्मा भी अहंकार से लिप्त नहीं होता। प्राणवायु से युक्त यह चञ्चल देहरूपी यन्त्र जो कुछ करता एवं जो कुछ लेता है, वह सब अहंकार की ही चेष्टा है।

जड चित्त का, जो आत्मा से सर्वथा पृथक् है, चेतन आत्मा के साथ कभी सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। चित्त ही आत्मा है—यों अज्ञान से ही प्रतीत होता है। यह जो आत्मा है, वह ज्ञानस्वरूप (चैतन्यरूपी), अविनाशी, सर्वत्र विद्यमान और व्यापक है; जब कि अहंकाररूप चित्त तो मूर्ख और हृदयवर्ती सबसे बडा अज्ञान है। जिस पुरुष का चित्तरूपी वेताल शान्त हो चुका है, ऐसे पुरुष का गुरु, शास्त्र, धन और बन्धु उसी प्रकार उद्धार करने में समर्थ हैं, जिस प्रकार अल्प कीचड़ में फँसे हुए पशु का मनुष्य उद्धार करने में समर्थ हो। इस जगत्रूपी महान् अरण्य में अपने द्वारा ही स्वयं दृढ़ता से धैर्य धारणकर अपना उद्धार कर लेना चाहिये। मनुष्य को उचित है कि विषयरूपी सर्पों का बहिष्कार कर दे, आर्यों के मार्ग का अनुसरण करे और महा वाक्यों के अर्थ का भली प्रकार विचार करके अपनी अद्वितीय आत्मा का ही आश्रय ले। मनुष्य को अपवित्र, तुच्छ, भाग्य रहित तथा दुष्ट आकृति वाले इस शरीर के आराम के लिये विषय भोग में कभी नहीं फँसना चाहिये; क्योंकि उसमें फँसे हुए पुरुषों को चिन्ता रूप क्रूर राक्षसी खा डालती है। जैसे पत्थर का पत्थरपन अथवा जैसे घट का घटपना सामान्य सत्ता स्वरूप परमात्मा से अभिन्न ही है, वैसे ही समष्टि मन आदि भी परमात्मा से अभिन्न ही हैं।

कैलास नामक एक पर्वतों का राजा है। वह अपनी ऊँचाई से स्वर्ग लोक को भी पार गया है और वह उमापति भगवान् श्री शंकर का निवास स्थान है। वहाँ पर स्वयं प्रकाशमान भगवान् महादेव जी रहते हैं। पहले किसी समय उसी पर्वत पर उन देवाधि देव की पूजा करता हुआ मैं गङ्गा जी के किनारे आश्रम बनाकर रहता था। तप के लिये वहाँ पर मैंने दीर्घ काल तक तपस्वियों के आचरण का अनुसरण किया। वहाँ पर मेरे चारों ओर सिद्धों के समूह रहते थे। मैं उनसे विचार-विनिमय करके शास्त्रीय दुरुह तत्त्वों का अनुशीलन करता था। मैंने फूल चुनने के लिये एक डलिया रख छोड़ी थी और अनेक शास्त्रीय पुस्तकें भी जुटा रखी थीं। उस तरह के गुणों से सम्पन्न कैलास वन के कुञ्जों में तपश्चर्या करते हुए मेरा बहुत समय व्यतीत हो गया। इसके अनन्तर किसी एक समय की बात है—श्रावण के कृष्ण पक्ष की अष्टमी तिथि थी और रात्रि का प्रथम भाग यानी प्रदोष काल पूजा, जप, ध्यान आदि में व्यतीत हो चुका था। उस समय उस अरण्य में मैंने तत्काल ही उत्पन्न हुआ एक बड़ा तेज देखा। वह तेज सैकड़ों बादलों के तुल्य सफेद एवं असंख्य चन्द्र-बिम्बों के सदृश चमकीला था, उस तेज की चकाचौंध से दिशाओं के समस्त कुञ्ज चमक उठे। उसे देख कर मैंने भीतर की प्रकाशमान दिव्य-दृष्टि से उसके विषय में विचार किया और तदनन्तर फिर बाह्य दृष्टि से विशेष अवयवों के अनुसंधानपूर्वक उसका अवलोकन किया। विचार कर ज्यों ही मैं सामने का शिखर-प्रदेश देखता हूँ, त्यों ही चन्द्र कलाधर महादेव जी उपस्थित हो गये। वहाँ अर्घ्य पात्र लेकर सावधान एवं प्रसन्न मन मैं उन गौरीपति के निकट गया। तदनन्तर चन्द्र-ज्योत्स्ना के समान कोमल, शीतल तथा समस्त संतापों का अपहरण करने वाली उस महादेव जी की दृष्टि का मैं दीर्घकाल तक भाजन बना रहा। पुष्पों के शिखर पर उपविष्ट तीनों लोकों के साक्षी उन देवाधिदेव को मैंने समीप जाकर अर्घ्य, पुष्प तथा पाद्य समर्पण किया। उनके सामने मैंने अनेक मन्दार-पुष्पों की अञ्जलियाँ बिखेर दीं और नानाविध नमस्कार एवं स्तोत्रों से शिव जी का अभ्यर्चन किया। तदनन्तर मैंने शिव जी की पूजा के

सदृश ही पूजा से सखियों से युक्त तथा गणमण्डल से परिवेष्टित भगवती गौरी का उत्तम रीति से पूजन किया। पूजा की समाप्ति होने पर उनकी आज्ञा से पुष्पमय शिखर पर बैठे हुए मुझसे अर्ध चन्द्र की कला धारण करने वाले भगवान् उमापति परिपूर्ण हिमांशु की किरण के सदृश शीतल वाणी से कहने लगे।

भगवान् उमापति ने कहा—ब्रह्मन् ! शान्ति से युक्त, परमात्मा में विश्राम लेने वाली तथा कल्याण करने वाली तुम्हारी चित्तवृत्तियाँ अपने स्वरूप में अवस्थित तो हैं ? तुम्हारा कल्याण कारी तप निर्विघ्न रूप से बराबर चल रहा है न ? तुमने प्राप्तव्य वस्तु प्राप्त कर ली है न ? और सांसारिक भय शान्त हो रहे हैं न ?

(श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—) रघुनन्दन ! महेश्वर ! देवाधि देव ! त्रिलोचन ! आपकी निरन्तर स्मृति से प्राप्त हुए उत्तम कल्याण से सम्पन्न पुरुषों के लिये इस संसार में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है और न किसी तरह के भय ही हैं। आपके निरन्तर स्मरण से जनित आनन्द के कारण जिनका चित्त चारों ओर से मुग्ध हो गया है, ऐसे पुरुषों को इस जगत्कोश में सभी प्राणी प्रणाम करते हैं। एकमात्र आपके अनुस्मरण में निरन्तर जिनका मन लगा रहता है, ऐसे पुरुष जहाँ स्थित रहते हैं, वे ही देश, वे ही जनपद, वे ही दिशाएँ और वे ही पर्वत प्रशस्ततम हैं। प्रभो ! आपका अनुस्मरण पूर्व-संचित, वर्तमान और भविष्य के पुण्य समूह की वृद्धि करता है। आपका अनुस्मरण ज्ञान रूपी अमृत का एकमात्र आधार भूत कलश है, धृति रूपी ज्योत्स्ना के लिये चन्द्रमा है और मोक्ष रूपी नगर का द्वार है। समस्त भूतों के अधिपते ! आपके निरन्तर चिन्तन रूपी उदार चिन्तामणि से शोभित मैंने समस्त वर्तमान और भविष्य कालीन आपत्तियों को पैर से ठुकरा दिया है।' श्रीराम ! सुप्रसन्न उन भगवान् शंकर जी से यों कह कर फिर नत मस्तक हो मैंने जो कुछ कहा, उसे तुम सुनो ! 'भगवन् ! यद्यपि आपकी अनुकम्पा से मेरे लिये समस्त दिशाएँ अभीष्ट पदार्थों से परिपूर्ण हैं, तथापि देवेश ! मुझे जो एक संदेह है, उसके विषय में आप से निर्णय पूछता हूँ। प्रभो ! वह देवार्चन-विधान किस तरह का है, जो उद्वेग का नाशक, विकार रहित, समस्त पापों का विनाशकारी तथा समस्त कल्याणों का अभिवर्धक है ? उसे प्रसन्न मति से आप मुझसे कहिये।'

श्रीमहादेवजी ने कहा—ब्रह्मज्ञानियों में अग्रगण्य मुनिवर ! मैं तुमसे सर्वश्रेष्ठ वह देवार्चन का विधान कहता हूँ, जिसका अनुष्ठान करने से तत्काल ही मनुष्य मुक्त हो जाता है। जो आदि और अन्त से रहित, वास्तविक ज्ञान स्वरूप है, वही 'देव' कहा जाता है। सबको सत्ता स्फूर्ति देनेवाला सत्-स्वरूप सच्चिदानन्द घन ब्रह्म ही 'देव' शब्द का वाच्य है, इसलिये उसी की पूजा करनी चाहिये। कौन पूज्य है, इस विषय का तात्त्विक ज्ञान रखने वाले विद्वान् कहते हैं कि एक मात्र निर्गुण निराकार विज्ञानानन्द घन विशुद्ध परमात्मा शिव ही पूज्य है और उसकी पूजन-सामग्री में ज्ञान, समता और शान्ति—ये सबसे श्रेष्ठ पुष्प हैं। महर्षे ! ज्ञान स्वरूप परमात्म देव की ज्ञान, समता और शान्ति रूप पुष्पों से जो पूजा की जाती है, उसी को आप वास्तविक देवार्चन जानिये। परमात्मा ही विज्ञान स्वरूप देव, भगवान् शिव और परम कारण स्वरूप है। अत: ज्ञान रूप पूजन-सामग्री से उसी की सदा-सर्वदा पूजा करनी चाहिये। महर्षे जो परमार्थत: सबसे श्रेष्ठ है, जो आपका—'तत्' पदार्थ का, मेरा तथा समस्त जगत् का स्वरूप भूत है, एवं जो स्वयं परिपूर्ण स्वरूप है, ज्ञान रूप सामग्री से पूजा करने योग्य उस देव का मैंने आप से वर्णन कर दिया। सभी वस्तुओं का समस्त जगत् का, दूसरे का, आपका और मेरा सर्वव्यापी चिन्मय परमात्मा ही पारमार्थिक स्वरूप है, दूसरा नहीं।

श्रीमहादेवजी ने कहा—ब्रह्मन् ! इस रीति से यह संसार समस्त संसार एकमात्र परमात्म स्वरूप ही है। ब्रह्म ही परम आकाश है और यही सबसे बड़ा देव कहा गया है। इस परमदेव का पूजन सबसे कल्याणकर है। उसीसे सब कुछ प्राप्त होता है। यही समस्त जगत्-सृष्टि के आरोप का अधिष्ठान है और उसी में यह सब व्यवस्थित है। स्वाभाविक, आदि-अन्त से रहित, अद्वितीय, अखण्ड नित्य परमानन्द उसी एकमात्र देव के अर्चन से प्राप्त होता है। वह सच्चिदानन्द काल्याण स्वरूप शिव समस्त गुणों से अतीत और सम्पूर्ण संकल्पों से रहित है। देश और

काल आदि परिच्छेदों से रहित, समस्त संसार का प्रकाश करनेवाला विशुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा ही देव कहा जाता है। वही परब्रह्म परमात्मा 'ॐ', 'तत्', 'सत्'—इन नामों से कहा गया है। यह स्वभावतः महान्, ध्रुव, सत्यस्वरूप है, सर्वत्र समभाव से व्यापक है; वही महान् चेतन और परमार्थ स्वरूप कहा जाता है। वह परमात्मा सर्वव्यापी होने से किसी के लिये भी दूर नहीं है; अतः वह किसी के लिये दुष्प्राप्य भी नहीं है। वही यह परमात्मा चिन्मय, सूक्ष्म , सर्वव्यापी और मायारहित है। देव, दानव और गधर्वों तथा पर्वत, समुद्र आदि से युक्त सम्पूर्ण जगत् उस चैतन्य में स्थित होकर कर्मानुसार उसी प्रकार घूमता रहता है, जिस प्रकार जल-भँवर में जल।

चिन्मय परमात्मा ने ही गदा, चक्र आदि आयुधों से युक्त चतुर्भुज विष्णुरूप से समस्त असुर-समूह का उसी प्रकाश विनाश कर दिया था, जिस प्रकार वर्षा ऋतु इन्द्र-धनुष से युक्त मेघरूप से आतप का विनाश कर देती है। चेतन परमात्मा ने ही वृषभ और चन्द्रमा के चिह्नों से युक्त त्रिनेत्र रूप धारण कर गौरी को प्राप्त किया है। चेतन परमात्मा ही भगवान् विष्णु के नाभि-कमल में भ्रमर के समान ध्यान में तल्लीन एवं वेदत्रयीरूपी कमलिनी का महान् सरोवरस्वरूप ब्रह्माजी का रूप धारण करता है। इसी महाचैतन्य परमात्मा के सकाश से सूर्य-चन्द्रमा आदि सदा प्रकाशित होते हैं। निर्मल चेतनरूपी चन्द्रबिम्ब में खरगोश की तरह सम्बन्ध प्राप्त कर यह जगत् में स्थित पदार्थों की शोभा सर्वत्र दिखायी पड़ती है। भद्र ! सुनो। यद्यपि इस देहरूपी वृक्ष में हाथ, पैर आदि अपने अङ्ग ही शाखाएँ हैं और केशों का समूह ही सुन्दर लताओं का समूह है, तथापि यह वृक्ष क्या पर्याप्तरूप से चेतन के सम्बन्ध के बिना किसी तरह शोभित हो सकता है ? चराचर पदार्थों का निर्माण करने वाला भी यह चेतन ही है, दूसरा नहीं। इसलिये एकमात्र चेतन ही अपने संकल्प से जगत्रूप में प्रकट है। ब्रह्मन् ! वस्तुतः इस शरीर में दो प्रकार का सर्वभूतस्वरूप चेतन है—एक तो चञ्चल स्वभाव जीवात्मा और दूसरा निर्विकल्प परम चेतन परमात्मा। वह चेतन परमात्मा ही अपने संकल्प से जीवात्मा के रूप में अपने से भिन्न-सा होकर स्थित है। वह चेतन परमात्मा ही अपने संकल्प से आकाश आदि पाँच भूतों, शब्दादि पाँच विषयों, प्राणापानादि पाँच प्राणों और देश-काल के रूप में परिणत होता है। सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही नारायण होकर समुद्र में शयन करता है, ब्रह्मा होकर ब्रह्मलोक में ध्यान स्थित रहता है, हिमालय पर्वतपर पार्वती के सहित महादेवजी का रूप धारण कर निवास करता है और वैकुण्ठ में देवश्रेष्ठ विष्णु का रूप धारणकर रहता है। वह परमात्मा ही सूर्य बनकर दिवस का निर्माण करता है, मेघ बनकर जल बरसाता है, वायु बनकर बहता है। सबका आत्मा, सर्वत्र व्यापक एवं अपनी समस्त संकल्पशक्ति के प्रभाव से सर्व स्वरूप होने के कारण वह चिन्मय ब्रह्म जगत्-रूप हो जाता है। वास्तव में तो वह विज्ञानानन्द परमात्मा आकाश से भी बढ़कर निर्मल और सूक्ष्म है। वह परमात्मा जब-जब जहाँ पर जिस भाव से जिस तरह संकल्प करता है, तब-तब वहाँ वैसा ही बन जाता है।

चेतन जीवात्मा अज्ञान के कारण 'मैं दुःखी हूँ' इस भावना से व्यर्थ ही दुःखी होता है और 'मैं नष्ट हो गया, मैं मर गया' यों भावना करता हुआ रोता रहता है। किंतु जिस प्रकार पत्थर में तेल नहीं रहता, उसी प्रकार शुद्ध चेतन आत्मा में दृश्य, दर्शन और द्रष्टा की त्रिपुटी नहीं रहती। जैसे चन्द्रमा में कालिमा नहीं रहती, वैसे ही शुद्ध आत्मा में कर्ता, कर्म और करण नहीं रहते। जिस प्रकार आकाश में नवीन अङ्कुर का अभाव है, उसी प्रकार आत्मा में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण—इन तीनों का अभाव है। जिस प्रकार नन्दन-वन में खैर के वृक्ष का अभाव है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा में मन, मनन और दृश्य विषय का अभाव है। जैसे आकाश में पर्वत का अभाव है, वैसे ही शुद्ध चेतन में मैं-पना, तू-पना और वह-पना आदि नहीं हैं। जैसे काजल में सफेदी नहीं रहती, वैसे ही चेतन में अपनी देह तथा परायी देह का भाव नहीं रहता। वह शुद्ध चेतन आत्मा केवल, निर्विकल्प, सर्वव्यापक, सम्पूर्ण तेजों को भी प्रकाशित करने वाला, सर्वव्यापक, नित्य शुद्ध, नित्य प्रकाशरूप, मन से रहित, निर्विकार और निरञ्जन है। एक वही घट और पट में, वट और दीवाल में, शकट और वानर में, गदहे और असुर में, सागर

और आकाशादि भूतों में तथा नर और नाग में—सर्वत्र व्यापक होकर स्थित है। वह शुद्ध हुआ भी मलिन-सा, निर्विकल्प हुआ भी सविकल्प-सा, चेतन हुआ भी जड-सा और सर्वव्यापी हुआ भी एकदेशीय-सा प्रतीत होता है।

कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति में तत्परता संकल्प होती है। वह संकल्प मननजनित है। वह मनन चित्त की अशुद्धि के कारण होता है और उन सबका साक्षी आत्मरूप चेतन सर्वविध मलों से रहित है। जिस प्रकार स्फटिक-शिला में अरण्य, पर्वत, नदी आदि का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार अपने स्वरूप में ही स्थित प्रकाशस्वरूप नित्य चेतन के अन्तःकरण में इस जगत् का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस जगत् को अपने संकल्प में धारण करने वाला अद्वितीय, निर्विकार चेतन न उत्पन होता है न विनष्ट होता है, न क्षीण होता है और न बढ़ता ही है। अर्थात् वह सब प्रकार के विकारों से रहित है। असत्स्वरूप यह जगत् अज्ञान के कारण विशाल स्वप्न की तरह आत्मा में ही प्रतीत होता है। किंतु वास्तव में मृगतृष्णिका-जल के सदृश प्रतीत होने वाला यह जगत् तनिक भी सत्य नहीं है। मुने ! यह परम चेतन आत्मा अपने पुर्यष्टक में (मनो बुद्धिरहंकारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम्। इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिकः॥ (नि० पू० ५१।५०) 'मन, बुद्धि, अहंकार एवं पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ—इन आठों का समूह 'पुर्यष्टक' कहा गया है और यही 'आतिवाहिक' देह कहा गया है।') ही प्रतिबिम्बित होता है, जैसे स्वच्छ दर्पण में ही प्रतिमा दिखलाई पड़ती है। महर्षे ! अनेक प्रकार की कल्पनाओं से ग्रस्त यह पुर्यष्टकरूप दृश्य समूह शुद्ध चिन्मय आत्मा से ही उत्पन्न होता है, उसी में स्थित और विलीन हो जाता है। इसलिये यह सम्पूर्ण विश्व विशुद्ध चेतन आत्म स्वरूप ही है, दूसरा नहीं—यह जानिये।

ब्रह्मन् ! परमात्मा ने ही शरीररूपी गाड़ी खींचने के लिये मनःशक्ति और प्राण-शक्ति—ये दो सुदृढ़ बैठ उत्पन्न किये हैं। सच्चिदानन्दघन निर्विकार परमात्मा के सकाश से ही यह जीव जीवन धारण करता है, जिस प्रकार दीपक के प्रकाश से घर शोभा देता है। अज्ञान के कारण इस जीव की आधियाँ एवं व्याधियाँ उसी प्रकार उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करती हैं, जिस प्रकार जल का तरङ्गरूप और उस तरङ्गरूप का फेनरूप उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करता है। सर्वशक्तिरूप होनेपर भी वही चेतन जीवात्मा अज्ञान के कारण 'मैं चेतन नहीं हूँ' इस भावना से इस देह में परवशता प्राप्त करता है, किंतु अपने स्वरूप के ज्ञान से मोह-रहित हो जाता है। हृदयरूप कमल पत्र के चेष्टा-रहित हो जानेपर प्राण शान्त हो जाते हैं, जिस प्रकार पंखे के कम्पन शून्य हो जानेपर पवन की शक्तियाँ बिलीन हो जाती हैं। द्विजवर ! जब तक देह में पुर्यष्टक विद्यमान रहता है, तबतक देह जीवित रहती है और जब देह में से पुर्यष्टक विलीन हो जाता है, तब देह में 'मृत' कही जाती है। किंतु जब शरीर का हृदय कमलरूपी यन्त्र सदा चलता रहता है, तब यह जीव अपने संकल्पवश प्रकृति के अधीन हुआ कर्म करता रहता है। पर राग-द्वेष रहित विशुद्ध वासना जिनके हृदय में रहती है, वे अटल एवं एक-रूप रहनेवाले मनुष्य जीवन्मुक्त हैं। हृदय-कमलरूपी यन्त्र के रुक जाने तथा प्राण के शान्त हो जानेपर यह देव पृथ्वीपर लकड़ी और ढेले आदि की भाँति गिर जाती है। मुने ! ज्यों ही हृदयाकाश के वायु में अर्थात् प्राण में यह पुर्यष्टक लीन हो जाता है, त्यों ही मन भी प्राण में ही विलीन हो जाता है। जिस प्रकार घर के लोगों के घर छोड़कर दूर चले जाने पर घर शून्य हो जाता है, उसी प्रकार मन एवं प्राण से शून्य हुआ यह शरीर शवरूप हो जाता है। जिस प्रकार नाना प्रकार के पत्ते उत्पन्न हो-होकर समय पाकर वृक्ष से झड़ जाते हैं—विनष्ट हो जाते हैं। जीवों के ये शरीर और वृक्षों के पत्ते उत्पन्न और नष्ट होते ही रहते हैं, अतः उनके विषय में शोक ही क्या है। चैतन्य समुद्र परमात्मा में ये देह रूपी बुद्बुद कहीं एक प्रकार के तो कहीं दूसरे प्रकार के उत्पन्न होते रहते हैं। बुद्धिमान् जन विनाशशील समझ कर इन पर विश्वास नहीं करते।

जब वह ब्रह्म सत्स्वरूप, अद्वितीय और सर्वशक्तिमान् है, तब उसमे यह भेद और अभेद की कल्पना ही निर्मूल है। जैसे तरङ्ग, कण, कल्लोल और जल-प्रवाह जल से विभक्त नहीं रहते, वैसे ही ब्रह्म का सर्व शक्ति वास्तव में ब्रह्म से विभक्त नहीं रहता। जिस प्रकार फूल, कोंपल, पत्ते आदि लता से वास्तव में भिन्न नहीं हैं,

वैसे ही द्वित्व, एकत्व, जगतत्त्व-पन, मैं-पन आदि भी चेतन से भिन्न नहीं हैं। चेतन का देश, काल, क्रिया आदिरूप जो भेद किया गया है, वह भेद चेतन स्वरूप ही है। 'वास्तव में चेतन में द्वैत (भेद) है ही नहीं, तब उसमें भेद कहाँ से आया ?'—यह प्रश्न ही नहीं बनता; क्योंकि देश, काल और क्रिया की सत्ता एवं नियति आदि शक्तियाँ स्वयं चेतन की सत्ता से ही सत्तायुक्त होकर स्थित हैं, इसलिये वे सब चेतन स्वरूप परमात्मा ही हैं। वही यह चेतन तत्त्व परम ब्रह्म, सत्य, ईश्वर, शिव तथा निराकार, एक परमात्मा आदि अनेक नामों से कहा जाता है। इन नामों एवं रूपों से अतीत जो परमात्मा का स्वरूप है तथा जो सम्पूर्ण मलों से रहित आत्म पदार्थ है, वह वाणी और मन का विषय नहीं है। जो यह संसार दिखायी दे रहा है, वह उस महा चेतन परमात्मा रूपी लता के फल, पल्लव तथा पुष्प आदि रूप ही है, अत: उससे भिन्न नहीं। किंतु अज्ञानी जीव को अपने ही द्वैत संकल्प से एक में ही द्वैत की इसी प्रकार प्रतीति होती है, जैसे पुरुष की वेताल-कल्पना से उसे भयंकर वेताल की प्रतीति होने लगती है।

मुने ! अपने संकल्प से निर्मित मनोराज्य और गन्धर्वनगर की तरह जो वस्तु अपने संकल्प से बनायी गयी है, वह संकल्प के अभाव से नष्ट हो जाती है। केवल दृढ़ संकल्प से जो यह संसाररूपी दु:ख प्राप्त हुआ है, वह केवल संकल्प के अभाव से ही नष्ट हो जायगा, फिर इस विषय में क्लेश ही क्या ? क्योंकि तनिक भी संकल्प करके मनुष्य दु:ख में डूब जाता है और कुछ भी सङ्कल्प न करके वह अविनाशी सुख पाता है। अत: अपने विवेकरूपी पवन से संकल्परूप मेघों का विनाश करके शरत्काल में आकाश-मण्डल की भाँति तुम उत्तम निर्मलता प्राप्त करो। अविवेकरूप प्रबल प्रवाह से उमड़ती हुई उन्मत्त संकल्परूप नदी को तुम मणिमन्त्र से सुखा दो और उसमें बहते हुए अपने-आपको धैर्य देकर मन से रहित हो जाओ एवं अपने-आप अपने संकल्पात्मक कालुष्य का विनाश करके आत्मा की उत्तम विशुद्धता प्राप्त कर अविनाशी आनन्दरूप हो जाओ। यह आत्मा समस्त शक्तियों से परिपूर्ण है, अत: जब कभी वह किसी वस्तु की जैसी भी भावना करता है, अपने संकल्प से रचित उस वस्तु को उसी समय वैसी ही देखता है। यह उत्पन्न हुआ मिथ्यारूप जगत् एकमात्र संकल्पात्मक ही है; अत: केवल संकल्प के अभाव से ही कहीं भी विलीन हो जाता है। इसलिये संकल्परूप जड़ को उखाड़ कर अत्यन्त दृढ़ता को प्राप्त हुई इस तृष्णारूपी करंजलता को आप सुखा डालिये। मैं एक हूँ, मैं परमात्मा हूँ—इस प्रकार की भावना कीजिये। इस भावना से आप परमात्मा ही हो जायँगे।

महर्षे ! चेतन जीवात्मा ने अज्ञान के कारण अपने संकल्प से संसाररूपता प्राप्त की है; किंतु वास्तव में मोहरूपी कलङ्क से रहित वह असंसारी है तथा ब्रह्म से अभिन्न और अद्वैत ब्रह्मरूप है। मैं दृश्य देहादि-स्वरूप हूँ—इस प्रकार मोह को प्राप्त हुआ चेतन जीवात्मा संसार में फँस जाता है; पर वही शुद्ध चिन्मय परमात्मस्वरूप को, जो अपने से अभिन्न है, अनुभव करके संसार के बन्धन से निर्मुक्त हो जाता है। मन से रहित यही चेतन जीवात्मा शान्ति से सुशोभित सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियों से एवं अन्धकार-अज्ञान आदि जडता से रहित तथा विस्तृत आकाश की भाँति परम सुन्दर है। वह दोषरहित जीवात्मा अपने वास्तविक परमात्मस्वरूप में स्थित हो जब तुर्यातीत अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तब वह परमपद को प्राप्त होता है, वह परमपद सभी उत्तमोत्तम अवस्थाओं की परम अवधि है, परम मङ्गलरूप होने के कारण समस्त मङ्गलों में प्रधान मङ्गल है। वही एक अखण्ड परम पवित्र चेतनरूप है। वह परमपद जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं और कल्पना से अतीत है। उसीका आपसे मैंने वर्णन किया है। उसी पद में आप सदा स्थित रहें। वह पद ही अविनाशी पूज्य देव है। इस समस्त जगत् का उपादान वही परमदेव है—इस ज्ञान से यह समस्त विश्व चिन्मय ब्रह्मरूप ही है। यह विश्व ब्रह्म के संकल्प से कल्पित होने के कारण प्रतीत होता है; किंतु यथार्थ ज्ञान होने पर वास्तव में इसकी सत्ता नहीं रहती, इसलिये यह नहीं है। वह परमपद शान्त, शिव एवं वाणी के व्यापार से अतीत है। 'ॐ' इस अक्षर की जो आनन्दमयी तुरीयमात्रा है, वही परमगति है।

मुने ! आप पूर्वोक्त विचार का अवलम्बन करके अपने पारमार्थिक स्वरूप का ही प्रमाणों से शीघ्र निर्धारण करें एवं उसके विपरीत अनर्थरूप देहाभिमान का अवलम्बन न करें। जो इस संसार में जानने योग्य है, उस परमात्मा को तत्त्वज्ञानी ने जान लिया। फिर संसार के भ्रम के साथ उसका कोई प्रयोजन नहीं रहा। अतः उस तत्त्वज्ञानी के लिये कर्तव्य या अकर्तव्य कुछ नहीं रहता, यह मैं जानता हूँ। आप इन शान्तिमय और अशान्तिमय विकल्पों का यदि दलन करते हैं तो आप धीर हैं। यदि वैसा नहीं करते तो आप धीर नहीं हैं। इसलिये आस्था रखकर आप परमात्मदर्शी बन जाइये। ब्रह्मज्ञान के लिए शीघ्र ही उपर्युक्त दृष्टि का आश्रय करके मेरे द्वारा जो कुछ कहा जाय, उसे सुनिये। आत्मज्ञान के प्रयत्न के बिन चुपचाप बैठे रहने से क्या लाभ ? त्रिशूलधारी भगवान् शंकर इस प्रकार कहकर फिर बोले कि 'आप बाह्यदेह में आत्मबुद्धि मत कीजिये; क्योंकि यन्त्र की भाँति प्राण से ही यह शरीर चेष्टा करता है और प्राणवायु से रहित शरीर निश्चेष्ट हो मूक के सदृश स्थित रहता है, किंतु चेतन जीवात्मा आकाश से बढ़कर निर्मल और अव्यक्त है। सत्स्वरूप परमात्मा की सत्ता ही चेतन जीवात्मा के अस्तित्व में कारण है। जीवात्मा के बिना तो प्राण और देह—ये दोनों नष्ट हो जाते हैं और देह-वियोग से प्राणवायु में विलीन हो जाता है; आकाश से भी निर्मल चेतन आत्मा नष्ट नहीं होता। इसलिये संसार-भ्रम से उसका क्या प्रयोजन है ? ब्रह्मज्ञान के द्वारा दोषों से रहित हो जीवात्मा परमशिव परब्रह्म परमात्मा हो जाता है। वह परब्रह्म ही हरि है, वही शिव है, वही हिरण्यगर्भ है, वही चतुर्मुख ब्रह्मा है, वही इन्द्र है; वही वायु, वह्नि, चन्द्र एवं सूर्यरूप है और वही परमेश्वर है। वही सर्वव्यापी परमात्मा, सर्वचेतनों का मूल स्रोत, देवेश, देवभृत्, धाता, देवदेव और स्वर्ग का अधिपति है। जिस तरह पल्लवों का मूलबीज वृक्ष है, उसी तरह सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि का मूल बीज है। वही सच्चिदानन्दघन परब्रह्म ज्ञानी महात्माओं का वन्दनीय और पूजनीय है; क्योंकि सबका बल और नाम उसी के हैं। वही सर्वात्मक, प्रकाशरूप, समस्त ज्ञानों का एकमात्र उत्पादक और सबको सत्ता देने वाला है। सबका आदि कारण तथा पूजा, नमस्कार, स्तुति और अर्घ्य के योग्य एवं समस्त देवताओं का स्वामी वही परम चेतन परब्रह्म परमात्मतत्त्व है—यह आप जान लें। यही बड़े-बड़े ज्ञातव्य पदार्थों की चरमसीमा है। जरा, शोक एवं भय के विनाशक इस परमात्मा का साक्षात्कार करके मनुष्य फिर संसार में भूने हुए बीज की भाँति जन्म नहीं लेता। तत्त्व से जान लिये जाने पर जो समस्त प्राणियों को अभय कर देता है, जो सबका आदिकारण है और जो अनायास उपासना के योग्य है, आप वही अज, परम एवं परमात्मरूप परमपद हैं।

मुने ! समस्त पदार्थों के भीतर रहने वाले अनुभव स्वरूप एकमात्र विशुद्ध प्रकाशमय परमचेतन परमात्मा को मुनिलोग महादेव रूप परमेश्वर समझते हैं। वह परमचेतन तत्त्व सम्पूर्ण कारणों का कारण है, किंतु वास्तव में उसका कोई कारण नहीं है; वह अपनी सत्ता से समस्त भावों को सत्ता प्रदान करने वाला है, किंतु स्वयं भावना का विषय नहीं है। वह विशुद्ध और अजन्मा है। वही समस्त चेतनों का चेतन, दृश्य विषयों का प्रकाशक और दृश्य-संसार का परम आधार है। उसी को मुनि लोग चक्षु आदि एवं सूर्य आदि प्रकाशकों का प्रकाशक, स्वयं चक्षु-सूर्य आदि प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित न होने वाला, अलौकिक, समस्त बीजों का भी बीज, ज्ञानस्वरूप और विशुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा कहते हैं। सत्य प्रतीत होने वाला दृश्य संसार और असत्य न प्रतीत होने वाली प्रकृति—इन दोनों का कारण होने से वह चिन्मय परमात्मा तत्त्वस्वरूप है; किंतु वास्तव में वह प्रकृति और संसार से रहित, परमशान्त है। इस महान् चिन्मय परमात्मा में पहले करोड़ों जगद्रूपी मरुमरीचिकाएँ हो चुकी हैं, आगे भी होती रहेंगी और वर्तमान काल में भी हो रही हैं। महान् मेरुपर्वत एवं महान् कल्प आदि काल उस चेतन तत्त्व परमात्मा में समाये हुए हैं। फिर भी वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम है। कर्तापन के अभिमान रहित होने के कारण यह परमात्मा कुछ न करते हुए ही संसार की रचना करता है और यह संसार का उद्धाररूप महान् कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं

करता। जिस परमात्मा के संकल्प में यह समस्त संसार विद्यमान है, जिससे यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है, जो सर्वस्वरूप है, जो सब ओर व्याप्त है एवं जो सर्वमय है; उस सर्वात्मक परमात्मा को बार-बार नमस्कार है।

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः॥

महर्षे! उस समस्त जगत्सत्ता स्वरूप मणि की पिटारी परम चेतन सर्वेश्वर परमात्मा में उनकी शक्तियाँ प्रत्यक्ष आविर्भूत होती रहती हैं। उनसे से परमात्मा की एक शक्ति महाकाशरूप दर्पण के अंदर अपनी सत्ता के प्रतिबिम्ब के सदृश कल्प-निशेषनामक निर्मल कालात्मक शरीर धारण करती है। जैसे घर में दीपक के रहने पर घर भर की क्रियाएँ प्रकाशित हो जाती हैं, वैसे ही साक्षीरूपी उस प्रकाशात्मक, सत्यस्वरूप चेतनतत्त्व के रहने पर ही जगत्रूप चित्त की परम्पराएँ प्रकाशित होती हैं।

उस निराकार, सर्वात्मक, अप्रमेय, परम शान्त, सच्चिदानन्दघन सदाशिव परमात्मा की इच्छा सत्ता, व्योम सत्ता, काल सत्ता तथा नियति-सत्ता और महा सत्ता—ये पाँच सत्तात्मक शक्तियाँ हैं। (तात्पर्य यह है कि 'सोऽकामयत बहु स्याम्' इस श्रुति के अनुसार सबसे पहले उनकी इच्छा सत्ता अभिव्यक्त हुई। तदनन्तर आकाश की अभिव्यक्ति होने पर आकाश सत्ता, तदनन्तर कालात्मक सूत्र की अभिव्यक्ति होने पर काल सत्ता, सद्रूप के नियत संस्थान वाले भूत एवं भौतिक पदार्थों का आविर्भाव होने पर नियति-सत्ता अभिव्यक्त हुई और तदनन्तर उनमें अनुस्यूत महासत्ता अभिव्यक्त हुई।) इनके सिवा ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति, कर्तृत्व शक्ति और अकर्तृत्व शक्ति आदि परमात्मा की अनेक शक्तियाँ हैं। उन सदा शिव स्वरूप परमात्मा की इन शक्तियों का कोई अन्त नहीं है।

अनन्त असीम आकार वाले सदा शिव रूप परमात्मा की यह चिन्मात्र रूपता ही उसकी शक्ति कही जाती है। एकमात्र कल्पना से ही वह चेतन परमात्मा से भिन्न-सी प्रतीत होती है, वास्तव में कुछ भी भेद नहीं है। ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, साक्षित्व आदि कल्पनाओं से परमात्मा की ये शक्तियाँ उसी प्रकार विविध स्वरूप धारण करती हैं, जैसे समुद्र में तरङ्ग आदि भेद-कल्पनाओं से जल विविध रूप धारण करता है। गमनशील ब्रह्माण्ड रूपी नृत्य-मण्डप में ऋतु, मास आदि काल नियति-क्रम द्वारा महाकाल रूपी नट से उत्तम रीति से शिक्षित हुई उस प्रकार की शक्तिरूपिणी नटियाँ नाचती हैं। यही परा और अपरा एवं नियति कही जाती है। ईश्वर की क्रिया, कृति, इच्छा या काल इत्यादि उसी के नाम हैं। तृण से लेकर ब्रह्मापर्यन्त जितने चराचर जीव हैं, उनको मर्यादा में रखने वाली नियति कही जाती है। नाट्यशास्त्र में प्रसिद्ध स्वेद, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि विकारों से व्याप्त, चिर काल से प्रवृत्त हुए इस संसार नामक नाटक के नाट्यों में सारभूत नियति-नटी के विलास में अधिपति होकर देखने वाला सदा उदित स्वभाव यह परमेश्वर अद्वितीय होकर ही स्थित है। वह परमार्थतः उस नटी और नाट्य से भिन्न नहीं है।

महर्षे! उस परमात्म देव के पूजन के जितने क्रम हैं, उन सबमें पहले देहाभिमान को प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये। ध्यान ही इस परमात्म देव की पूजा है। इसलिये तीनों भुवनों के आधारभूत इस परमात्म-देव की निम्न प्रकार के ध्यान से सदा पूजा करनी चाहिये। वह चेतन परमात्मा ज्ञान के द्वारा लाखों सूर्यों के समान देदीप्यमान- सूर्य आदि समस्त प्रकाशकों का भी प्रकाशक तथा सबसे परे रहने वाला ज्ञान स्वरूप है। उसका मन से चिन्तन करना चाहिये। इस नियति-नाटक के साक्षी परमात्मा का इतना बड़ा स्वरूप है कि सबसे बड़े असीम आकाश का जो विपुल विस्तार है, वह उसकी गर्दन है; नीचे के आकाश का जो असीम विस्तार है, वह उसका चरण-सरोज है। सीमा-शून्य दिशाओं के किनारों का यह जो विस्तार है, वही उसका भुज-मण्डल है और उसी से वह सुशोभित है; उन हाथों में उसने विविध ब्रह्माण्डों में विद्यमान बड़े-बड़े सत्य आदि लोक रूप श्रेष्ठ आयुधों को ग्रहण कर रक्खा है। उसके हृदय-कोश के एक कोने में अनेक ब्रह्माण्ड-समूह छिपे हुए हैं। वह प्रकाश

स्वरूप एवं तम से परे है और उसके स्वरूप का कहीं पार भी नहीं पाया जा सकता। पूर्वोक्त नियति के नाटक का साक्षी यह परमात्मा ही परम देव है। यही समस्त पदार्थों का आश्रय, सर्व व्यापक, चिन्मय और अनुभव रूप है। सभी सज्जनों द्वारा यही सर्वदा पूजनीय है। यही परम देव परमात्मा घट में, पट में, वट में, दीवाल में, छकड़े में और वानर आदि प्राणियों में समभाव से स्थित है। यही परमात्मा शिव, हर, हरि, ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर और यम स्वरूप है। अनेक प्रकार की घट-पट आदि आकृतियों को लेकर असंख्य पदों से बोधित होने वाली तथा उन आकृतियों को छोड़ने पर एक पद से बोधित होने वाली सत्ता रूप इस जगज्जाल का उत्पादक महाकाल इस परमात्म देवक द्वारपाल है। पर्वतों एवं चौदह भुवनों के असीम विस्तार से युक्त यह ब्रह्माण्ड-मण्डल इस परमात्म देव के किसी एक देहकोश में स्थित होकर उसके अङ्ग का अवयवरूप हो गया है।

महर्षे! जिसके हजारों कान एवं आँखें हैं, हजारों मस्तक हैं और जो स्वयं हजारों भुजाओं से विभूषित है, ऐसे शान्तस्वभाव महादेव का चिन्तन करना चाहिये। वह परमात्मा सभी जगह दर्शन-शक्ति परिपूर्ण है यानी सर्वत्र देखता है, सब ओर घ्राण-शक्ति से समन्वित है, सर्वतः स्पर्शन-शक्ति से युक्त है, सभी ओर रसन-शक्ति से परिपूर्ण है, सर्वत्र श्रवण-शक्ति से व्याप्त है, सर्वत्र मनन-शक्तिवाला है; तथापि वह सर्वथा संकल्प से रहित है एवं सभी ओर सर्वश्रेष्ठ कल्याणस्वरूप है। उस परमात्मदेव का चिन्तन करना चाहिये। नित्य, सम्पूर्ण जगत् के कर्ता, सबको अपने-अपने संकल्प के अनुसार समस्त पदार्थ प्रदान करनेवाले, सारे प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित और सभी के लिये एकमात्र साध्य, सर्वस्वरूप उस परमात्म देव का चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार ध्यान के द्वारा उस देवाधि-देव की पूजा करनी चाहिये। अनायास प्राप्त होने योग्य, शान्तिमय, अविनाशी, अमृत स्वरूप एकमात्र परमात्म स्वरूप के ज्ञान से सदा इस देव की पूजा की जा सकती है। जो यह हृदय प्रदेश में स्थित शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा का निरन्तर अनुभव है, यही श्रेष्ठ ध्यान है और यही परम पूजा कही गयी है। देखते-सुनते, स्पर्श करते, सूँघते-खाते, चलते-सोते, श्वास-प्रश्वास लेते, बोलते, त्याग करते और ग्रहण करते—सभी समय मनुष्य को शुद्ध चिन्मय परमात्मा के ध्यान में ही तत्पर रहना चाहिये। इस परमात्मा के लिये शुद्ध ज्ञान रूप ध्यान ही प्रियतम वस्तु है, अतः ध्यान ही उसके लिये अर्घ्य, पाद्य और पुष्प है। यह परमात्म देव ध्यान से ही प्रसन्न होता है। इस प्रकार आठों पहर ध्यान द्वारा पूजन करने से मनुष्य परम धाम में निवास करता है। यह जो परमात्म देव का उत्तम पूजन मैंने आप से कहा है, यही परम योग है, यही वह उत्तम कर्म है। आत्म रूप वसिष्ठ जी! जो मनुष्य दुःख और विक्षेप से रहित हो सारे पापों के विनायक एवं परम पवित्र इस ध्यान रूप पूजन को करेगा, उस समस्त बन्धनों से मुक्त और ब्रह्मतत्व को प्राप्त पुरुष की जगत् में सुर एवं असुर वैसे ही वन्दना करेंगे, जैसे वे मेरी वन्दना करते हैं।

महर्षे! यह ध्यान पवित्र करने वालों को भी पवित्र करने वाला तथा संपूर्ण अज्ञानों का नाशक है। अतः शरीर में स्थित, समस्त ज्ञानों के उत्पादक एवं बोधक परम कल्याणस्वरूप इस परमात्मदेव का अपने अन्तः-करण से नित्य ही ध्यान करना चाहिये। सबके हृदयरूपी गुहा में स्थित, समस्त ज्ञान और ज्ञेय के ज्ञाता, सम्पूर्ण कर्मों के कर्ता और समस्त ज्ञानों के स्मर्ता, सम्पूर्ण प्रकाशों से भी अधिक प्रकाशरूप तथा सर्वव्यापी परम शिव परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। वह परमात्मा मन की मननात्मिका शक्ति में, प्राण एवं अपान के मध्य में तथा हृदय, कण्ठ, तालु और भौं के मध्य में स्थित (व्यापक) है। वह कलाओं की कल्पनाओं से रहित और देह के एक देशभूत सुन्दर हृदय-कमल में विशेषरूप से और सम्पूर्ण देह में समानरूप से स्थित है। वह परमात्मा केवल चेतन और शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। उसका चिन्तन करना चाहिये।

इसके सिवा ध्यान का एक दूसरा प्रकार यह है कि मैं जीवात्मा ही परिच्छेदशून्य आकारवाला, अनन्त-स्वरूप, सम्पूर्ण पदार्थों से परिपूर्ण, सब वस्तुओं का पूरक एवं अखण्ड अद्वितीय चिवस्वरूप परमात्मा हूँ—इस प्रकार

स्वच्छ और अलौकिक भावना करके देवभाव से परिपूर्ण यह जीवात्मा महान् परमात्मा बन जाता है। वह परमात्मा को प्राप्त पुरुष सब में सम रहता है। उसका व्यवहार भी समान होता है। उसका ज्ञान भी सम रहता है। उसका भाव भी सम होता है। उस सौम्य पुरुष का उद्देश्य भी महान् सुन्दर होता है। वह देहपातपर्यन्त अखण्ड तत्त्वज्ञान से युक्त होता हुआ चिरकाल तक निरन्तर परमात्मा का ध्यानरूप पूजत ही करता रहता है। इसलिये मनुष्य को उचित है कि सज्जनों के हृदय में रहने वाली, चन्द्रमा की भाँति शीतल, मधुर-स्वभाव, दृढ़ मैत्री से हृदय प्रदेश में स्थित उस परमात्मदेव की ध्यान रूप पूजा करे। दुष्टों की उपेक्षा, दुखियों पर दया, पुण्यात्माओं के प्रति हृदय की नित्य मुदिता (प्रसन्नता) की भावना से, शुद्ध सामर्थ्य की पद्धति से और ज्ञानरूप ध्यान से उस परमात्मदेव की पूजा करे।

प्रारब्ध से प्राप्त सम्पूर्ण इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थों में सर्वदा ही परम समता का आश्रय लेकर नित्य चेतन परमात्मा का ध्यानरूप व्रत करना चाहिये। अनुकूल और प्रतिकूल की प्राप्ति में सम होकर नित्य चिन्मय परमात्मा के ध्यानरूप व्रत का अनुष्ठान करना चाहिये। यह मैं हूँ और यह से नहीं हूँ—इस प्रकार के भेद को छोड़ देना चाहिये तथा 'यह सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार निश्चय करके नित्य चिन्मय परमात्मा के ध्यानरूप व्रत का आचरण करना चाहिये। इस परमात्मा के ध्यानरूप पूजा के विधान में जो द्रव्य-सम्पत्तियाँ बतलायी गयी हैं, वे व एकमात्र समतारूप रस से परिपूर्ण होने के कारण मधुर-रसवती ही हो जाती हैं। रसमयी शक्ति-समता मधुर र अतीन्द्रिय है। उस समता से जो भी दृश्य विषय भावित होगा, वह तत्क्षण ही अमृततुल्य मधुर हो जायेगा। नतारूप अमृत से जो-जो भावित होता है, वह सब परम मधुरता को प्राप्त होता है। ब्रह्मैक्य-दर्शनस्वरूप समता से ग्यं आकाश की तरह विकारशून्य होकर मन के लय होने पर जो स्वाभाविक स्थिति है, वही परमात्मा की ध्यानरूप ़जा कही जाती है। महात्मा ज्ञानी को पूर्णचन्द्र की भाँति परिपूर्ण, समता के द्वारा समान ज्ञानवान्, एक, चिन्मय, स्वच्छ और स्फटिक-शिला की तरह निर्मल एवं दृढ़ होना चाहिए। जो भीतर आकाश की तरह विशाल और बाहर न्यायतः प्राप्त कार्यों को करने वाला, आसक्ति से रहित एवं परमात्मा के यथार्थ तत्त्व का पूर्णतया ज्ञाता है, वही सच्चा उपासक है। अज्ञानरूप मेघों के नष्ट होने पर स्वप्न में भी जिसमें राग-द्वेष हृदय-विकार नहीं देखे जाते तथा जिसका अहंता-ममतारूप कुहरा शान्त हो चुका है, ऐसे निर्मल आकाश के समान वह तत्त्वज्ञ सुशोभित होता है।

महर्षे ! यथा समय और यथाशक्ति आप जो कुछ भी कर्म करते हैं अथवा नहीं करते, उसी को चिन्मय शिवस्वरूप परमात्मा का अन्तःपूजन समझना चाहिये। इस प्रकार के पूजन से ही साधक अपने पारमार्थिक निरतिशय आनन्दमय स्वरूप का अनुभव करता है। शिव, शान्त, अन्य से प्रकाशित न होने वाला, स्वप्रकाशरूप परमात्मा ही जगत् के रूप में प्रतीत हो रहा है। भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों जगत् में व्यापक, परम विशुद्ध चेतन परमात्मारूप ईश्वर के स्वरूप का वाणी से वर्णन भी नहीं किया जा सकता। इसलिए तुच्छ दृष्टि का परित्याग करके और अपनी अखण्ड दृष्टि का आश्रय लेकर सम, निर्मलमन, शान्त, राग और दोष से रहित तथा शोकरहित बुद्धि से युक्त होकर आप न्यायतः प्राप्त पदार्थों से परमात्मदेव की पूजा करते हुए स्थित रहें।

भगवान् शंकर ने कहा—मुने ! जिस प्रकार स्वप्न में मनुष्य स्वप्न के संसार को देखता है, उसी प्रकार वह जीवात्मा भी परम सूक्ष्म मायामय आकाश में कर्मानुसार शरीरों को देखता है। जैसे आज भी स्वप्न मनुष्य चैतन्यघन आत्मा के सर्वत्र व्यापक होने से स्वप्न में कार्य करता है, वैसे ही देहधारी जीवात्मा भी जाग्रदवस्था में कार्य करता है। जिस तरह शून्यस्वरूप वेताल वास्तविक दृष्टि से असद्रूप है, किंतु भ्रम से सद्रूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह समस्त जगत् वास्तव में असत् है, किंतु भ्रम से सद्रूप प्रतीत होता है; इसलिये जगत् का कारण वास्तव में अहंकार ही है। यह संसार वास्तव में सत् नहीं है; न यह कल्पित है न क्षणिक है, न यह कुछ उत्पन्न ही होता है और न कुछ विनष्ट ही होता है। वास्तव में इसका अत्यन्त अभाव है। चेतन जीवात्मा ही सम्पूर्ण प्रपञ्च की संकल्प-

रूप से अपने में उसी प्रकार कल्पना करता है, जिस प्रकार मनुष्य स्वप्न में नगर का निर्माण और विनाश करता है पर जागने पर वास्तव में उसका स्वप्न के देश और काल से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। इस विनाशशील संसार का वास्तविक स्वरूप तत्त्व से समझ लेने पर इस मायारूप संसार की भेद सत्ता का अभाव हो जाता है। तदनन्तर ज्ञानपूर्वक ध्यान के अभ्यास से कल्याणमय शिवरूप परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। नहीं तो यह जीवात्मा अपने कर्मानुसार देह, इन्द्रिय आदि के संयोग-क्रम से मृगी, लता, कीट, देव, असुर आदि रूप हो जाता है। नित्य, व्यापक, अनन्त, दृढ़ और विश्व में व्याप्त एवं विश्व के कर्ता जिस परब्रह्म में यह जगत् कल्पित है, विवेक होने पर वह जगत् न दूर है, न समीप, न ऊपर न नीचे, न आपका है, न मेरा, न पहले था, न आज है, न प्रातःकाल में है, न सत् है न असत् और न सत् और असत् के मध्य में अर्थात् वास्तव में यह कल्पना मात्र ही है। जैसा आपने पूछा, वैसा ही मैंने उत्तर दे दिया। आपका कल्याण हो। अब हमलोग अपनी अभिलषित दिशा की ओर जा रहे हैं।

आसक्ति से तथा तथा कर्तृत्वाभिमान से रहित एवं न्याययुक्त व्यवहार करने वाले अन्तःकरण से इन्द्रियों के साथ तुम जो कुछ करते हो, वह कर्म कर्म ही नहीं है। जिस तरह प्राप्तिकाल में विषय तुष्टिकारक होता है, उसी तरह उसके बाद दूसरे काल में नहीं होता। इसलिये बालबुद्धि अविवेकी ही क्षणिक सुख देने वाले विषयों में आसक्त होता है, विवेकी नहीं। श्रीराम ! तुम आत्मज्ञानी हो। इसलिये अहंकार तुम्हारा पतन नहीं कर सकता; क्योंकि जिसने निरन्तर असीम सत्यस्वरूप ब्रह्म का स्मरण किया है और जो तत्त्वज्ञानरूप सुमेरु पर्वत के शिखर पर स्थित है, उस पुरुष का पुनर्जन्मरूप पतन नहीं हो सकता। तुम्हारा जो यह समता एवं सत्यतामय स्वभाव मुझे दिखायी देता है, इससे मैं मानता हूँ कि तुम संकल्प-विकल्प और अविद्या से रहित हो, अपने स्वरूप में भलीभाँति स्थित हुए तुम मानो मुझे यह प्रत्यक्ष करा रहे हो कि सागर के समान पूर्ण समता तुममें विद्यमान है। जिस-जिस वस्तु को तुम देख रहे हो, उस-उस वस्तु में समानभाव से सत्तारूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा स्थित है।

जिस प्रकार चित्रलिखित पुरुष में संसार की भावना नहीं हो सकती, उसी प्रकार दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध का अभाव होने पर हृदय में जगत् की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती। चित्त के संकल्प से उत्पन्न जगत् चित्त के संकल्प का अभाव होने पर उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार जल की चञ्चलता से उत्पन्न तरङ्ग जल की चञ्चलता का अभाव होने पर विलीन हो जाती है। वासना के त्याग से, परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से अथवा प्राणों के निरोध से चित्त के संकल्परहित हो जाने पर जगत् कहाँ से उत्पन्न होगा ? जब चित्त-संकल्प के अभाव से अथवा प्राणों के निरोध से चित्त का विनाश हो जाता है, तब जो बच रहता है, वही परमपद है। जहाँ चित्त का अभाव है, वहाँ वह सारा सुख स्वाभाविक ब्रह्मसुखरूप ही है। वह सुख स्वर्गादि भोगभूमियों में नहीं हो सकता। चित्त का विनाश होने पर जो ब्रह्म विषयक सुख होता है, वह वाणी से भी नहीं कहा जा सकता। वह सुख सब समय एकरस रहता है—न घटता है न बढ़ता है। परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से चित्त का अन्त (अभाव) हो जाता है। बालकल्पित वेताल की तरह अज्ञान से मोह घनरूपता प्राप्त करता है। उस अज्ञान से ही चित्त की सत्ता प्रतीत होती है। ज्ञानी का चित्त नाम से नहीं कहा जाता, किंतु सत्त्व नाम से कहा जाता है। चित्त का स्वरूप वास्तव में किसी भी काल में नहीं है। उसका स्वरूप भ्रान्ति से प्रतीत होता है। इसलिये भ्रान्ति का नाश होने पर उसका विनाश हो जाता है। वह मिथ्या भ्रान्ति तत्त्वज्ञान से शान्त हो जाती है; क्योंकि जो सद् वस्तु है, उसका अभाव कभी नहीं होता। जैसे खरगोश के सींग की सत्ता का अभाव है, वैसे ही विकल्परूप मन आदि का भी अभाव है। वे सब आत्मा में आरोपित हैं। इसलिये उनका परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से विनाश हो जाता है।

प्रेममय होने से स्निग्ध (चिकनी), स्वयम्प्रकाश होने से स्पष्ट, आनन्दमय होने से मृदुल स्पर्शवाली अनन्त होने के कारण महाविस्तार से युक्त, प्रचुर होने से घन, नित्य विकार रहित एक ब्रह्म रूप महती शिला है।

उस महाशिला के भीतर मनःकल्पनाओं से अनन्त वे सभी भुवनादि रूप कमल विराज रहे हैं। यहाँ पर मैंने यह कोई अपूर्व शिला ही दृष्टान्त रूप से आपके समक्ष उपस्थित की है, जिसकी महाकुक्षि के भीतर यह सब जगत् प्रतीत होने के कारण तो है, किंतु वास्तव में नहीं है तुमसे उस चिन्मय ब्रह्म रूप शिला का ही मैंने कथन किया है, जिसके संकल्प में ये सारे जगत् विद्यमान हैं। इस सच्चिदानन्द ब्रह्म में शिला की ज्यों घनता, एक रूपता आदि है। अत्यन्त घनीभूत अङ्गों वाली और पोल से रहित इस सच्चिदानन्दघन रूप शिला के अंदर यह जगत्-समूह कल्पित है। यद्यपि उस चेतन रूप शिला में स्वर्ग, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ विद्यमान प्रतीत होती हैं, तथापि उसमें वस्तुतः तनिक भी अवकाश नहीं है। इस चेतन रूप शिला में घनीभूत अवयवों वाला जगद्रूपी कमल विकसित हो रहा है। वह यद्यपि उससे पृथक्-सा प्रतीत होता है, तथापि वास्तव में उससे पृथक् नहीं है। जैसे पत्थर में चित्रकार की मनःकल्पना से शङ्ख, कमल आदि चित्र निर्मित किये जाते हैं, वैसे ही एकमात्र मन की कल्पना से इस चेतन रूप शिला में भूत, वर्तमान और भविष्यत्—सारा संसार चित्रित किया गया है। प्राकृत शिला में जैसे पुतली आदि वास्तविक-से प्रतीत होते हैं, पर वास्तविक हैं नहीं; अपितु शिला रूप ही है, वैसे ही चेतन शिला में सभी पदार्थ वास्तविक से प्रतीत होने पर भी वास्तविक नहीं हैं, किंतु चिन्मय ब्रह्म ही हैं। भीतर स्थित शङ्ख, कमल आदि आकारों से युक्त शिला अनेक रूप से प्रतीत होती हुई भी जैसे घनीभूत एक शिला ही है, वैसे ही कल्पित आकारों से युक्त होकर अनेक आकृतियों के रूप में प्रतीत होता हुआ भी वास्तव में घनीभूत एक ब्रह्म ही है। जिस प्रकार पाषाण शिला के भीतर शिल्पी द्वारा लिखित कमल, उस शिलाकोश से अभिन्न होने पर भी, अपने परिच्छिन्न आकार से युक्त होकर उससे भिन्न-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार चेतन के स्वरूप से अभिन्न होने पर भी यह सृष्टि उससे अन्य—परिच्छन्न आकार वाली होकर उससे भिन्न-सी प्रतीत होती है, वास्तव में भिन्न नहीं है। वास्तव में ये प्रतीत होने वाले भुवन आदि विकार विकारादि अर्थों से शून्य ब्रह्म रूप ही हैं; क्योंकि ब्रह्म अनन्त है। विकार आदि रूप से ब्रह्म ही अवस्थित है और ब्रह्म ही क्रमशः विकार आदि के रूप में उत्पन्न हुआ है। इस चेतन शिला के भीतर जो ये विकारादि पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं, उन्हें तुम मृगतृष्णा-जल के सदृश समझो। जिस प्रकार रेखाओं एवं उप रेखाओं से युक्त एक ही स्थूल शिला दीखती है, उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म ही त्रैलोक्य से युक्त प्रसिद्ध जगत् रूप से दीखता है। जैसे इस लौकिक शिला के भीतर सर्वदा स्थित शिल्पी के वासना स्वरूप कमल आदि वास्तव में न उदित होते हैं और न अस्त ही होते हैं, वैसे ही इस चेतन शिला में मनोरूप जगत् की गति भी वास्तव में न उदित होती है और न अस्त ही होती है। जिस तरह शिला के भीतर की रेखा आदि शिला से भिन्न नहीं हैं, किंतु शिलामय ही हैं, उसी तरह कर्तृत्व आदि जगत् चेतन का संकल्प होने से चिन्मय ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं, किंतु ब्रह्म रूप हीं हैं।

रघुनन्दन ! देश, काल, क्रिया आदि भी ब्रह्म रूप ही हैं; अतः 'यह अन्य है', 'यह अन्य है' इस प्रकार की कल्पना यहाँ नहीं बन सकती। जिस प्रकार चिन्ता मणि के अन्तर्गत चिन्तकों के अनन्त फल पर्याप्त रूप से रहते हैं, उसी प्रकार परम चेतन परमात्म रूप मणि में अनन्त जगत् रहते हैं। समुद्र में स्थित आवर्त, तरङ्ग आदि रूप जल स्पन्दन के विलास की तरह और शिला के भीतर अङ्कित कमल की तरह यह अद्वितीय चेतन परमात्मा जगद्रूप से नाना प्रतीत होता है। जो वर्तमान-कालिक जगत् है, वह चेतन में एक तरह से शिला में खुदी गयी मूर्ति के सदृश है और जो जगत् वर्तमान काल में नहीं है यानी भूत एवं भविष्यत्कालिक जो जगत् है, वह एक तरह से चेतन शिला में न खोदी गयी मूर्ति के सदृश है। जैसे कमल आदि शब्द और उनके अनेकों अर्थ शिला को छोड़ कर नाना-से प्रतीत होते हैं, वास्तव में शिला से उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है। वैसे ही अद्वय चेतन परमात्मा को छोड़कर ये जगदादि शब्द और उनके अर्थ नाना-से प्रतीत होते हैं; वास्तव में चिन्मय परमात्मा से पृथक् उनका अस्तित्व नहीं है, किंतु वे चिन्मय परमात्मा ही हैं। मरु-मरीचिका मृग की दृष्टि में तो निर्मल जल-राशि ही है, किंतु विवेक-बुद्धि से सम्पन्न विद्वानों को स्थल पर सूर्य की किरणें ही पड़ती हुई दिखायी देती हैं। वहाँ जैसे

सत्स्वरूप किरणें ही असत् जलराशि के रूप में दिखायी पड़ती हैं, वैसे ही सच्चिदानन्द-स्वरूप तुम ही असत् जगद्रूप से प्रतीत होते हो। वास्तव में तो तुम सच्चिदानन्द-स्वरूप हो। जैसे सच्चिदानन्दघन परमात्मा में उत्पत्ति-विनाश का अभाव है, वैसे ही जगत् में भी उत्पत्ति-विनाश का अभाव है; क्योंकि जिस प्रकार मरुभूमि में सूर्य की किरणें जल रूप से प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगद्रूप से प्रतीत होता है। जैसे सूर्य की धूप से बर्फ गलकर जलरूप ही हो जाता है, वैसे ही मेरु, तृण, गुल्म, मन और जगत् आदि सारे पदार्थ परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से परम विशुद्ध परमात्मा ही हो जाते हैं, यों ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं।

अपने अतिशय परमानन्दमय स्वरूप का अनुभव करने वाले ज्ञानी मुनि, देवतागण, सिद्ध और महर्षि लोग सर्वथा तुरीय पद में स्थित रहते हैं। व्यवहार में लगे हुए जो लोग बाह्य दृश्य विषयों में सत्यता की भावना से रहित हैं, जो पुरुष विषयेन्द्रिय सम्बन्धों का परित्याग करके समाधि में निरत हैं' चित्रलिखित देहधारियों की भाँति जो प्राणों के स्पन्द से रहित हैं और उन्हीं की भाँति जो मनोगति से भी शून्य हैं, वे सब अपने उस परमपद-स्वरूप परमात्मा में—जहाँ मन का एवं दृश्य की आसक्ति का अभाव है—समानभाव से नित्य स्थित हैं। वह विशुद्ध चिन्मय परमात्मा न तो दृष्टि का विषय है और न उपदेश का ही विषय है। वह न तो अत्यन्त समीप है और न दूरवर्ती ही है; किंतु केवल अनुभव से ही प्राप्त और सब जगह समान भाव से स्थित है। शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा न देहस्वरूप है, न इन्द्रिय एवं प्राणरूप है, न चित्तस्वरूप है, न वासनारूप है, न स्पन्दस्वरूप है, न ज्ञानरूप है और न जगद्रूप ही है, बल्कि इन सबसे अति परे महान् श्रेष्ठ है। वह न सद्रूप है, न असद्रूप है और न सत् एवं असत् के मध्यवर्ती ही है। वह न तो शून्यस्वरूप है और न अशून्य-स्वरूप ही है; वह देश, काल एवं वस्तु भी नहीं है, किंतु ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं। वह ब्रह्म देह आदि समस्त पदार्थों से रहित है और जिसके रहने पर यह दृश्य जगत् आविर्भाव, तिरोभाव आदिरूप से स्पन्दित होता है वह परमात्मपद ही है। ये हजारों देहरूप घड़े उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं; किंतु बाहर एवं भीतर व्याप्त इस परमात्म स्वरूप आकाश का नाश नहीं होता। (अर्थात् जिस प्रकार घड़ों का नाश होने पर भी घटाकाशका नाश नहीं होता।) आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीराम ! उपर्युक्त देहादि सम्पूर्ण जगत् परमात्मरूप ही है, किंतु वह जगत् केवल अज्ञानवश ही परमात्मा से पृथक्-सा प्रतीत होता है। तुम्हें तो अपनी पवित्र बुद्धि से यह ज्ञात ही है कि यह विश्व परमात्मस्वरूप है। स्थावर एवं जङ्गम-स्वरूप जो कुछ यह जगत् दीखता है, वह सब ब्रह्म ही है; किंतु वास्तव में वह ब्रह्म लक्षों और गुणों से, मल से, विकारों से तथा आदि और अन्त से रहित एवं नित्य, शान्त और समस्वरूप है।

विकार तथा आदि और अन्त से रहित यह पूर्ण ब्रह्मतत्त्व पहले भी था, इस समय भी है और भविष्य में भी सदा रहेगा। वास्तव में अविद्या का किंचिन्मात्र भी अस्तित्व नहीं है, यह मेरा दृढ़ निश्चय है। 'ब्रह्म' इस शब्द से जो वाच्य एवं वाचक का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है, उसका भी भेद में तात्पर्य नहीं है, किंतु वह समझाने के लिये ही है। तुम और मैं, यह संसार और दिशाएँ, आकाश और पृथ्वी अथवा अनल आदि और अन्त से रहित ब्रह्म ही है, अविद्या तो वास्तव में है ही नहीं; क्योंकि मुनि लोग 'अविद्या' को भ्रम मात्र और असत् कहते हैं। वास्तव में जो वस्तु है ही नहीं, वह सत्य कैसे समझी जा सकती है। वेद रूप वाणी का रहस्य जानने वालों में सर्वश्रेष्ठ विद्वानों ने 'यह अविद्या है और यह जीव है इत्यादि कल्पना अज्ञानी जनों को उपदेश देने के लिये ही की है। केवल युक्ति से ही बोध कराकर इस जीव को परमात्मा में नियुक्त किया जा सकता है; क्योंकि जो कार्य युक्ति से सम्पादित होता है, वह सैकड़ों अन्य उपायों से नहीं होता। मैं ब्रह्म हूँ, तीनों जगत् ब्रह्म हैं, तुम ब्रह्म हो और यह दृश्य पृथ्वी भी ब्रह्म ही है; ब्रह्म से पृथक् कोई दूसरी कल्पना ही नहीं है। सोते जागते, चलते फिरते, बैठते, श्वास लेते—सब समय अपने हृदय में 'सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही मैं हूँ' ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि तुम वास्तव में सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित, शान्त, चिन्मय ब्रह्म हो तथा सर्वव्यापी,

अद्वितीय, शुद्ध ज्ञान स्वरूप, आदि और अन्त से रहित, प्रकाशात्मक परम पद स्वरूप हो एवं ब्रह्म, तुरीय, आत्मा, अविद्या, प्रकृति—ये सब भी अभिन्न, अद्वितीय नित्य परमात्म स्वरूप ही हैं। जैसे मिट्टी से घड़ा पृथक् नहीं है, वैसे ही परमात्मा से प्रकृति पृथक् नहीं है। जैसे वायु और उसका स्पन्दन एक ही पदार्थ हैं और नाम से दोनों भिन्न होते हुए भी वास्तव में भिन्न नहीं हैं, वैसे ही परमात्मा और प्रकृति—ये दोनों एक हैं और नाम से भिन्न होते हुए भी वास्तव में भिन्न नहीं हैं। जैसे अज्ञान से इन दोनों में भेद जान पड़ता है और वह भेद यथार्थ ज्ञान से ही विनष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि परमात्मा के सिवा—उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

इस संसार में विशुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म के सिवा इन्द्रिय, चित्त और घट आदि किसी भी अन्य पदार्थ का पृथक् अस्तित्व नहीं है। अर्थात् एक विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही है। वह चिन्मय परमात्मा ही प्रकृति के अंश से इन्द्रिय आदि एवं घट आदि उत्पन्न हुए हैं। किंतु आदि और अन्त से रहित, विकार-रहित, प्रकाशस्वरूप, शुद्ध चैतन्यमात्र, जगत्-कारणरूप ब्रह्म वास्तव में माया से रहित है। यह अज्ञानी जीवात्मा ही अज्ञान के कारण अपनी भावना के अनुसार संसार का रूप धारण करता है। वह अहंभावना से 'अहंकार', मनन से 'मन', निश्चय की भावना से 'बुद्धि', इन्द्रियों की भावना से 'इन्द्रिय', देह की भावना से 'देह' और घट की भावना से घट बन जाता है। इस प्रकार अपनी भावना के कारण यह जीवात्मा 'पुर्यष्टक' बन जाता है। ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों को लेकर 'मैं ज्ञाता हूँ', कर्मेन्द्रियों के व्यापारों को लेकर 'मैं कर्ता हूँ', उन ज्ञान-कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से जनित सुख-दुःखों का आश्रय होने से 'मैं भोक्ता हूँ', उदासीन होकर सबका प्रकाशन करने से 'मैं साक्षी हूँ' इत्यादि अभिमान-युक्त जो चैतन्य है, वही 'जीव' कहा गया है। वही जीवात्मा अपनी भावना से समय-समय पर स्वयं ही अनेकरूप हो जाता है। जैसे जल सींचने से बीज के पल्लव आदि आकार होते हैं, वैसे ही भावना के अनुसार उस जीव के भी शरीर आदि, स्थावर आदि एवं जंगम आदि अनेक रूप होते हैं; क्योंकि वह जीवात्मा अज्ञान से यह मान लेता है कि मैं चेतन आत्मा नहीं हूँ, किंतु शरीर आदि हूँ। वासनाओं के वशीभूत हुआ यह जीव कर्मानुसार चिरकाल तक स्वर्ग-नरक में आवागमनों द्वारा जगत् में घूमता ही रहता है। इनमें से कोई तो विशुद्ध जन्म के कारण पहले जन्म में ही परमात्मा को यथार्थ जानकर आदि-अन्त से रहित परमपद परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। कोई बहुत कालतक अनेक योनियों में प्राप्त सुख-दुःखादि भोगों के अनन्तर परमात्मा के यथार्थ ज्ञान द्वारा परमपद को प्राप्त होता है। बाह्य विषयों के ज्ञान में इन्द्रिय-सम्बन्ध ही सदा कारण है और वह इन्द्रियों का सम्बन्ध चित्त से युक्त जीवित पुरुष में ही सम्भव है, मृत पुरुष में कभी नहीं। जब शान पर चढ़े हुए चमकीले नवीन रत्न के समान आँखों के तारे में बाह्य दृश्य पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है, तब उस पदार्थ का हृदय में प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण देहाभिमानी जीव के साथ सम्बन्ध हो जाता है। इस रीति से बाह्य वस्तु जीव द्वारा हृदय में जानी जाती है।

व्यष्टि चेतन जीवात्मा गर्भ में चक्षु आदि इन्द्रियों के प्रादुर्भाव से सम्पन्न पुर्यष्टकस्वरूप हो जाने पर जिस वस्तु की जिस प्रकार भावना करता है, उसी प्रकार उसे अपनी भावना से तत्काल ही अनुभव करने लगता है। किंतु वास्तव में अद्वितीय, असीम और अवेद्य होने से निर्विकार शुद्ध आत्मा में दूसरे किसी पदार्थ का अस्तित्व है ही नहीं। अतः वह चेतन आत्मा वास्तव में दृश्य के सम्बन्ध से कभी भी मनोरूपता, जीवरूपता अथवा पुर्यष्टकरूपता को नहीं प्राप्त होता। परमात्मा तो वास्तव में विद्या आदि द्वारा नहीं जाना जा सकता और वह सदा विद्यमान होते हुए भी अश्रद्धालु विश्वासहीन पुरुषों के लिये नहीं है। वही 'परमात्मा' इस नाम से कहा गया है तथा वहीं पाँचों इन्द्रिय और छठे मन से अतीत है अर्थात् इनके द्वारा वह जाना नहीं जा सकता। 'उस परमात्मा से चेतन जीव उत्पन्न होता है' इत्यादि मननात्मक कल्पना एकमात्र शिष्यों को समझाने के लिये ही कही गयी है। वास्तव में परमात्मा से भिन्न अन्य कुछ है ही नहीं। जैसे मृगतृष्णा-जल को प्रयत्न से भी किसी ने कहीं नहीं पाया, उसी प्रकार प्रतीत होने पर भी जो अभावरूप पदार्थ हैं, वे प्रयत्न से भी किस तरह पाये जा सकते हैं। क्योंकि

असत् पदार्थ ही सत् प्रतीत होता है। उसकी सत्यता असद्रूप अविद्या से ही है। ज्ञान से तो वस्तु वास्तव में जिस प्रकार की रहती है, वह उसी प्रकार की अनुभूत हो जाती है और भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। ये इन्द्रिय, मन, प्राण आदि आन्तरिक पदार्थ हैं और ये घट आदि बाह्य पदार्थ हैं—ऐसे विचार वाला जीवात्मा जिसकी जैसी भावना कर लेता है, उसे वैसे ही प्रतीति होने लगती है। द्वैत एवं अद्वैतरूप यह सम्पूर्ण जगत् उसी प्रकार परमात्मा से ही बना है, जैसे ईख के रस से खाँड़ और मिट्टी से महान् घट। खाँड़, घट आदि में—देश, काल आदि से परिच्छिन्न होने के कारण—अवयव-विन्यास, विकार आदि हो सकते हैं; परंतु ब्रह्म तो देश, काल आदि से परिच्छिन्न नहीं है; सुतरां उसमें वे विकार आदि वास्तव में हो ही नहीं सकते। केवल ब्रह्म में जगत् की कल्पनामात्र है। क्योंकि जिस प्रकार भूषण में स्थित सुवर्ण में यानी सुवर्ण के आभूषण में सत्य एवं असत्य रूप सुवर्णत्व और कटकत्व दोनों रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा में भी चेतनता और जड़ता दोनों रहती हैं। तात्पर्य यह कि जैसे स्वर्ण ही आभूषण के रूप में प्रतीत होता है, वैसे ही चेतन ब्रह्म ही जड जगत् के रूप में प्रतीत होता है।

जैसे मनुष्य स्वप्न में शीघ्र ही दीवाल बन कर पट बन जाता है, वैसे ही मरण काल में जीवात्मा दूसरा शरीर अपने आप बन जाता है। स्वप्न में अपने संकल्प से ही जीवात्मा जन्मता मरता है, वास्तव में यह सब मिथ्या है। इस जीव की अपनी वासना ही पाञ्च भौतिक देह होकर उसी प्रकार आगे खड़ी हुई सी रहती है, जिस प्रकार बालक के आगे कल्पित असत्य महान् प्रेत खड़ा हुआ सा रहता है। मन, बुद्धि, अहंकार एवं पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ—इन आठों का समूह पुर्यष्टक कहा गया है और यही 'आतिवाहिक' देह कहा गया है। जीवात्मा के यथार्थ ज्ञान से ही मुक्ति होती है और उसी ज्ञान से वह परमात्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता हैं। जीवात्मा के यथार्थ ज्ञान से जो मुक्ति प्राप्त होती है, शास्त्रों में दो प्रकार की बतलायी गयी है—एक जीवन्मुक्ति और दूसरी विदेह मुक्ति। जीवन्मुक्ति ही तुरीयावस्था है। उसके परे तुरीयातीत परम ब्रह्म पद है। यथार्थ ज्ञान होने से यह जीव प्रबोध स्वरूप हो जाता है यानी उत्कृष्ट चैतन्यात्मक ब्रह्म रूप हो जाता है और वह यथार्थ ज्ञान या बोध पुरुष-प्रयत्न से साध्य है। जो जीवात्मा अपने सर्वव्यापी स्वरूप को यथार्थ जान जाता है, वह सच्चिदानन्दमय ही हो जाता है। किंतु जो जीव उपर्युक्त ज्ञान से शून्य है, वह अज्ञानवश शिला की तरह दृढीकृत अपने हृदय में दीर्घतम संसार स्वप्न भ्रान्ति रूप तीव्र भय का अनुभव करता रहता है। जीव के भीतर चिन्मय आत्मा के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। पर यह अज्ञान के कारण उसी चेतन आत्मा को जड देह के रूप में समझ कर व्यर्थ ही शोक किया करता है। जीवात्मा के भीतर परम ब्रह्म के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। अहो! जहाँ-तहाँ यह जो जगत् प्रतीत होता है, वह माया का ही परिणाम है।

कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा कहे हुए उस शुभ अनासक्ति योग को तुम सुनो, जिसका अवलम्बन करके मनुष्य जीवन्मुक्त महामुनि बन जाता है। उस उपदेश को सुनकर महाराज पाण्डु का पुत्र अर्जुन जीवन्मुक्तरूप सुख से युक्त हुआ अपना जीवन बितायेगा।

एक समय पृथ्वी मृत्युलोक में आये हुए भारस्वरूप पापी प्राणियों से व्याप्त, वन-गुल्मों से संकीर्ण-सी और दीन हो जायगी। उस समय पापी मनुष्यों के भार से पीड़ित यह दीन पृथ्वी शरण पाने के लिये भगवान् विष्णु के समीप उसी तरह जायेगी, जिस तरह लुटेरों से लूटी गयी कातर स्त्री अपने पति के समीप जाती है। तब सम्पूर्ण देवांशों के साथ भगवान् श्रीहरि नर और नारायण के अवताररूप में दो शरीरों से पृथ्वी पर प्रकट होंगे उनमें से श्रीहरि के नारायण स्वरूप का साक्षात् अवतार एक तो 'श्रीवासुदेव' इस नाम से विख्यात होगा और दूसरा अंशावतार नरस्वरूप पाण्डुपुत्र 'अर्जुन' इस नाम से विख्यात होगा। चारों समुद्रों से घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वी का अधिपति एवं धर्म का पुत्र 'युधिष्ठिर' इस नाम से प्रसिद्ध होगा। वह पाण्डुपुत्र धर्मज्ञ होगा, उसका चचेरा भाई 'दुर्योधन' नाम से विख्यात होगा और उस दुर्योधन का 'भीम' नामक द्वितीय पाण्डु-पुत्र वैसा ही प्रतिद्वन्द्वी होगा, जैसे सर्प का

प्रतिद्वन्द्वी नकुल । पृथ्वी को अपने-अपने अधिकार में करने के लिये परस्पर युद्ध करने में तत्पर उन दोनों की भयंकर अठारह अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्र में होने वाली महाभारत की लड़ाई में इकट्ठी होगी । महान् गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन की देह से उन सेनाओं को नष्ट कर श्रीविष्णु भगवान् (श्रीकृष्ण) पृथ्वी को भार से मुक्त कर देंगे । युद्ध के प्रारम्भ में भगवान् विष्णु का अंश अर्जुन प्राकृत भाव में स्थित होकर हर्ष और शोक से युक्त मनुष्य-धर्म वाला बन जायगा । दोनों सेनाओं में पहुँचे हुए और मरने के लिये तैयार अपने बन्धुओं को देखकर वह अर्जुन विषाद को प्राप्त हो जायगा और युद्ध करना अस्वीकार कर देगा । उस समय अर्जुन को उपस्थित कार्य की सिद्धि के लिये श्रीविष्णु भगवान् अपने ज्ञानमय श्रीकृष्णस्वरूप से इस प्रकार उपदेश देंगे—

'यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता । जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तव में न तो किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है । अनन्त, एकरूप, सत्स्वरूप और आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म प्रभाव शाली परम शुद्ध आत्मा का किससे किस तरह क्या नष्ट होता है ? अर्थात् उसका किसी प्रकार कभी विनाश नहीं होता ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—अर्जुन ! तुम स्वयं जरा-मरण से रहित नित्य चिन्मय आत्मस्वरूप हो । तुम 'मारने वाले' नहीं हो, अतः इस अभिमान रूप दोष का त्याग कर दो । क्योंकि जिस पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में और कर्मों में लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मार कर भी वास्तव में न तो मारता है और न पाप से बँधता है । इसलिये 'अयम्' यानी यह संसार 'सोऽहम्' यानी वह मारने वाला मैं, 'इदम्' यानी यह देह और 'तन्मे' यानी वे बन्धु आदि मेरे हैं— इस तरह की अन्तःकरण में उत्पन्न हुई वृत्ति का त्याग कर दो । क्योंकि भारत ! इसी बुद्धि वृत्ति के कारण 'मैं पापों से युक्त हूँ', 'मैं विनाशशील हूँ' इत्यादि भ्रान्तियों के अधीन होकर तुम चारों ओर सुख-दुःखों से संतप्त हो रहे हो । वास्तव में सम्पूर्ण कर्म अपनी आत्मा के अंश रूप गुणों के द्वारा ही विभागपूर्वक किये जाते हैं; तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकार से मोहित हो रहा है, वह अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है । महात्मा पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं' नाम की कोई वस्तु नहीं है; फिर तुम्हारे लिये कौन पदार्थ क्लेशकारक है ? अर्थात् कोई नहीं । जैसे विवेकी और लौकिक विषयों का ज्ञाता होने पर भी दुष्ट-प्रकृति पुरुष कहीं शोभा नहीं पाता, वैसे ही ममता रूपी दोष से दूषित मनुष्य कहीं भी शोभा नहीं पाता । जो ममता और अहंकार से रहित, सुख और दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान् है, वह मनुष्य कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता । यह शास्त्र विहित उत्तम क्षात्र-कर्म तुम्हारा स्वकर्म है । वह बन्धु-वधरूप होने पर भी कर्तव्य बुद्धि से किये जाने पर सुख अभ्युदय और कल्याण का जनक है ।'

सङ्ग-त्याग, ब्रह्मार्पण, ईश्वरार्पण, सर्वथा संन्यास तथा ज्ञान और योग का विभाग क्या है ? मेरे मोह की निवृत्ति के लिये यह सब बतलाइये ।

सारे संकल्पों की भली-भाँति शान्ति हो जाने पर सम्पूर्ण वासनाओं और भावनाओं से रहित जो विशुद्ध केवल चेतनतत्त्व है, वही परब्रह्म परमात्मा कहा गया है । संस्कार के द्वारा पवित्र बुद्धिवाले पुरुषों ने उस परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के साधन को ही ज्ञान कहा है और उसी को योग कहा है तथा 'सम्पूर्ण संसार ब्रह्म ही है', और 'मैं भी ब्रह्मरूप ही हूँ'—इस प्रकार अपने आपको ब्रह्म में अर्पण कर देने को ब्रह्मार्पण कहा है एवं सम्पूर्ण कर्म-फलों के त्याग को ज्ञानियों ने संन्यास कहा है । संकल्प-समूहों का जो त्याग है, वही असङ्ग (आसक्ति का अभाव) कहा गया है । आसक्ति के अभाव का नाम ही सङ्गत्याग है । सभी संकल्प-विकल्प-समूहों में जो एक

ईश्वर के एकत्व की भावना है, उसी को जीवात्मा का ईश्वर में अर्पण कहा गया है। क्योंकि अज्ञान के कारण ही चेतन परमात्मा में इन जीव और जगत् आदि का नाममात्र ही भेद है। वास्तव में यह नाम-रूपात्मक सम्पूर्ण जगत् ज्ञानस्वरूप है; अत: जगत् एक ब्रह्ममय ही है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। दिशाएँ मैं हूँ, जगत् मैं हूँ, आत्मा मैं हूँ और कर्म भी मैं ही हूँ। काल मैं हूँ, अद्वैत और द्वैत—सब मैं ही हूँ। इसलिये मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरे पूजक बनो, मुझको प्रणाम करो। इस प्रकार आत्मा को मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तुम मुझको ही प्राप्त होओगे।

आपके पर और अपर—दो रूप किस प्रकार के हैं और परमपदरूप सिद्धि के लिये किस समय किस रूप का आश्रय लेकर मैं स्थित रहूँ?

यह जान लो कि मेरे दो रूप हैं—एक तो सामान्य रूप और दूसरा परम रूप। शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म-धारण करने वाला चतुर्भुज साकारस्वरूप तो मेरा सामान्य रूप है और जो मेरा विकार रहित, अद्वितीय, आदि और अन्त से रहित निर्गुण निराकार स्वरूप है, वह परम रूप है; वही ब्रह्म, शुद्ध आत्मा, परमात्मा आदि शब्दों से कहा जाता है। तुम सम्प्रबुद्ध होकर परम उत्कृष्ट, आदि और अन्त से रहित मेरे उस रूप को जान जाओगे, जिसके ज्ञान से प्राणी इस संसार में फिर उत्पन्न नहीं होता। यदि तुम ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के योग्य हो तो मुझ परमेश्वर की आत्मा को और अपनी आत्मा को एकरसकर अखण्ड परिपूर्णात्मा का तत्काल आश्रय ले लो। 'यह मैं हूँ' और 'यह भी मैं हूँ' इत्यादि जो कुछ मैं कहता हूँ, वह सब इस आत्मतत्त्व का ही उपदेश मैं तुम्हें देता हूँ। मैं समझता हूँ कि मेरे उपदेश से तुम भली प्रकार प्रबुद्ध हो चुके हो, ब्रह्मपद में विश्रान्ति पा चुके हो। और सर्वसंकल्पों से भी मुक्त हो चुके हो। अब तुम सत्य एवं अद्वितीय आत्मस्वरूप होकर स्थित रहो एवं सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव से स्थितिरूप योग से युक्त और सबको समभाव से देखने वाले तुम आत्मा को सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखो—अर्थात् एक परमात्मा के सिवा और कुछ नहीं है, ऐसा समझो। क्योंकि जो पुरुष 'सब कुछ ब्रह्म ही है' 'मैं भी ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार एकीभाव का आश्रय लेकर सम्पूर्ण भूतों में स्थित परमात्मा को भजता है, वह सब प्रकार से व्यवहार करता हुआ भी पुन: इस संसार में उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् वह परमपद को प्राप्त हो जाता है।

सम्पूर्ण शरीरों के भीतर स्थित जो दृश्य संसार से रहित और सूक्ष्मरूप से व्यापक अनुभवस्वरूप है, वही यह सर्वव्यापी परमात्मा है। बाहर-भीतर प्रकाश करने वाला तेजस्वरूप मैं देहों के भीतर प्रत्यक्ष विद्यमान रहता हुआ भी प्रतीत नहीं होता। जिस तरह हजारों घड़ों के बाहर और भीतर आकाश समभाव से व्यापक है, उसी तरह भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों जगत् में स्थित शरीरों के भी बाहर और भीतर मैं व्यापक हूँ; किंतु लाखों देहों के भीतर समभाव व्याप्त हुआ भी यह परमात्मा सूक्ष्म होने के कारण प्रतीत नहीं होता। ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त जितना भी पदार्थ-समूह है, उसमें जो समभाव से नित्य स्थित है, विद्वान् लोग उसे ही नित्य चिन्मय परमात्मा जानते हैं। विनाशशील पदार्थों में साक्षी की भाँति समभाव से स्थित अविनाशी परमात्मा को जो देखता है, वही यथार्थ देखता है। 'समस्त शरीरों में चेतन ही मैं हूँ, शरीर मैं नहीं हूँ' इस प्रकार जो मैं कहता हूँ, वह अद्वितीय परमात्मा मैं सबका आत्मा हूँ। तुम मुझे इस प्रकार तत्त्वत: जानो। जिस प्रकार पर्वतों का वास्तविक स्वरूप पाषाण ही है, वृक्षों का स्वरूप काष्ठ ही है और तरङ्गों का स्वरूप जल ही है, उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों का वास्तविक स्वरूप परमात्मा ही है। जो पुरुष परमात्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को परमात्मा में कल्पित देखता है एवं आत्मा को अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है। इसलिये भारत सम्पूर्ण पदार्थ और भूत-प्राणी परम ब्रह्म—इन सबको एकरूप ही जानो, इनमें लेशमात्र भी पृथक्त्व नहीं है। इस प्रकार के उपदेशों को सुनकर और निश्चयपूर्वक भीतर अभय ब्रह्म की भली भाँति भावना करके समबुद्धि महात्मा लोग

जीवन्मुक्त होकर इस संसार में विचरा करते हैं। जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोष को जीत लिया है, जिनकी परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूप से नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं।

सर्दी, गर्मी और सुख-दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये उनको तुम सहन करो। इन्द्रियाँ, इन्द्रियों का विषय-संसर्ग, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व या इनसे मिल जो कुछ पदार्थ हैं, वे सब-के-सब एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा से तनिक भी पृथक् नहीं हैं अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही है। अतः फिर सुख और दुःख कहाँ? आदि-अन्त से रहित तथा अवयवहीन परमात्मा में पूर्णता और अपूर्णता कैसे हो सकती है। इसलिये जो पुरुष सुख-दुःख में समान और धीर है, वह अमृतमय ब्रह्मपद को प्राप्त करने में समर्थ होता है। वास्तव में सभी तरह से सुख-दुःखों का अस्तित्व तनिक भी नहीं है। परमतत्त्व ही सर्वस्वरूप है, इसलिये आत्मस्वरूप संसार की सत्ता कैसे स्थिर होगी? क्योंकि असत् वस्तु की तो सत्ता है नहीं और सत् का अभाव नहीं है अतएव सुख-दुःख आदि हैं ही नहीं, केवल एक सर्वव्यापी परमात्मा ही है। अर्जुन! यद्यपि आत्मा दृश्य पदार्थों का साक्षीरूप से साक्षात्कार करने वाला चेतन स्वरूप है और शरीर के अंदर रहता भी है, तथापि वह सुखों से न तो हर्षित होता है और न दुःखों से दुःखित ही। परमात्मा से पृथक् देह आदि कुछ भी नहीं है और न दुःख आदि ही हैं; अतः वास्तव में कौन किसका अनुभव करेगा? क्योंकि एक परमात्मा के सिवा दूसरी वस्तु है ही नहीं। यह दुःख अज्ञान से उत्पन्न एक प्रकार की भ्रान्ति ही है, अतः परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से वह सर्वथा विनष्ट हो जाता है।

अर्जुन! तुम मान, मद, शोक, भय, इच्छा, सुख, दुःख—इस सम्पूर्ण असद्रूप जड द्वैत-प्रपञ्च से रहित हो जाओ और एकमात्र अद्वितीय चिन्मय सत्यस्वरूप परमात्मा में तद्रूप हो जाओ। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय और पराजय के ज्ञान से रहित होकर तुम एकमात्र शुद्ध ब्रह्मरूप हो जाओ; क्योंकि तुम ब्रह्मरूप ही हो। तुम जो कर्म करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान देते हो और भविष्य में जो कुछ शास्त्रानुकूल अनुष्ठान करोगे, वह सब परमात्म रूप ही है—इस प्रकार के ज्ञान में स्थिर रहो। जो पुरुष अपने अन्तःकरण में जिस पदार्थ का संकल्प करता है, वह निःसंदेह उसी रूप में बदल जाता है। तुम कर्मों में वासना तथा कर्तापन के अभिमान से रहित हो जाओ। तुम्हारी कर्मों को न करने में आसक्ति न हो और तुम योग में स्थित हुए अनासक्त भाव से शास्त्र विहित कर्तव्य कर्मों का आचरण करो। मूढ़ता, अकर्मण्यता तथा कर्मों में आसक्ति के आश्रय से रहित हुए सबमें समभाव होकर स्थित रहो। जो पुरुष समस्त कर्मों में और उनके फल में आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संसार के आश्रय से रहित हो गया है और परमात्मा में नित्य तृप्त है, वह कर्मों को भली-भाँति करता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता।

तुम हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से रहित, नित्य वस्तु परमात्मा में स्थित, योग-क्षेम को न चाहने वाले और स्वाधीन अन्तःकरण वाले हो जाओ एवं न्याय से प्राप्त शास्त्रोक्त कर्मों को करते हुए पृथ्वी को विभूषित करने वाले आदर्श पुरुष बन जाओ। जो मूढ़बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियों को हठपूर्वक ऊपर से रोककर मन से उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है। किंतु जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है। जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसका विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं।

बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि प्रारब्धानुसार न्याय से प्राप्त भोगों का त्याग न करे और अप्राप्त भोगों को पाने की इच्छा न करे एवं न्याय से प्राप्त भोगों का शास्त्रानुकूल उपभोग करते हुए भी समभाव से स्थित रहे । जन्मादि विकार स्वभाव वाले अनात्म रूप जड देह में मैं-पन की भावना मत करो, अपितु जन्मादि विकार से रहित सत्य चिन्मय आत्मा में ही आत्मा की भावना करो । देह का नाश होने पर अविनाशी आत्मा का नाश नहीं होता । इसलिये सम्पूर्ण परिग्रहों से रहित, चित्त रहित पुरुष का पतन नहीं होता । वह कर्मों को करता हुआ भी कुछ नहीं करता; क्योंकि परमात्मा के यथार्थ तात्त्विक ज्ञान का आश्रय लेने वाले आसक्ति रहित महात्मा के हृदय में सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी कहीं कभी कतृत्वाभिमान नहीं होता । यह आत्मा अविनाशी, आदि और अन्त से रहित, अजर कहा गया है; इसलिये 'आत्मा का नाश होता है' यह दुःखदायी दुर्बोध तुम जैसे मनुष्य को नहीं होना चाहिये । उत्तम आत्मज्ञानी लोग 'आत्मा नाशवान् है' इस रूप से आत्मा को नहीं देखते । देहाभिमानी अज्ञानी मनुष्य ही आत्मा में आत्मा को अनात्मरूप से देखते हैं, यानी देह को ही आत्मा मानते हैं तथा यह नष्ट हो गया और यह प्राप्त हो गया—इत्यादि भावनाएँ वन्ध्या-स्त्री के पुत्र के समान मोहजनित भ्रम (असत्) हैं । असत् वस्तु की तो सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं है । इस प्रकार इन दोनों का ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है । नाश रहित तो तुम उसको जानो, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्य वर्ग व्याप्त है । इस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है । इस नाश रहित, अप्रमेय नित्य स्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं । इसलिये भरतवंशी अर्जुन ! तुम युद्ध करो आत्मा एक है और द्वैत है ही नहीं; अतः आत्मा के सिवा दूसरे असत् पदार्थ की उत्पत्ति हो कैसे सकती है ? क्योंकि सत् का नाश नहीं होता, इसलिये यह सद्रूप परमात्मा अविनाशी और अनन्त है ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन और बुद्धि—इनसे युक्त तन्मात्राओं का जो समूह है, अज्ञान से तत्स्वरूप हुआ ही जीव देहों में स्थित रहता है । वह देह में स्थित जीवात्मा वासना से उसी तरह खींचा जाता है जिस तरह रस्सी से बछड़ा । वह शरीर के अंदर पिंजरे में पक्षी की तरह बैठा रहता है । जब देश और काल से जर्जर हुए शरीर से यह जीव वासना लेकर निकल जाता है, तब इसी को लोग मरना कहते हैं । जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचा को तथा रसना और घ्राण को ग्रहण करके पूर्व शरीर से दूसरे शरीर में चला जाता है । इसका शरीर वासनामय ही है, यानी केवल वासना के अनुसार ही उत्पन्न हुआ है, अन्य किसी दूसरे कारण से नहीं । अत एव वासना का त्याग होने पर लिङ्ग देह विनष्ट हो जाने पर वह जीवात्मा परम पद को प्राप्त हो जाता है । यह वासनामय जीव बासना से परिपुष्ट होकर अज्ञान से अनेक भ्रमों का भार ढोता हुआ कर्मानुसार नाना योनियों में भ्रमण करता है; यही जीवात्मा का जन्म-मरण है ।

अनात्म वस्तु देह में आत्म-भावना रूप यह वासना अज्ञान स्वरूप मोह से उत्पन्न हुई है और परमात्मा के यथार्थ अनुभव रूप ज्ञान से यह विनष्ट हो जाती है । तुम पवित्रात्मा हो चुके हो और सत्य वस्तु का विवेक भी तुम्हें हो चुका है । अब तुम 'यह' 'वह' 'मैं' और 'ये लोग' इत्यादि रूप वासना से रहित हो जाओ । क्योंकि दूसरे के अधीन न रहने वाला, संकल्प रहित और अविनाशी जीवात्मा का परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से वासना से छूट जाना ही उसका 'मोक्ष' है । वासना रूप रज्जु के बन्धन से छूटा हुआ पुरुष 'मुक्त' कहा जाता है । अतः तुम वासना से रहित होकर जीते जी ही उस वास्तविक यथार्थ तत्त्व का अनुभव करो । जो वासना से रहित नहीं है,—भले ही वह समस्त धर्मों के परायण क्यों न हो, सर्वज्ञ यानी समस्त सांसारिक विषयों का पण्डित ही क्यों न हो,—फिर भी वह पिंजरे में स्थित पक्षी की भाँति सब ओर से वासना-जाल से बँधा हुआ है । क्योंकि वासना ही बन्धन है और वासना का क्षय ही मोक्ष है ।

वासना:निवृत्ति रूप जीवन्मुक्ति के द्वारा तुम आन्तरिक शान्ति प्राप्त कर बन्धुवधप्रयुक्त दुःख का निःशेषरूप से परित्याग कर दो । जरा और मरण से रहित; आकाश की तरह विशाल चित्तवाले तथा इष्ट

एवं अनिष्ट विषयों के संकल्पों से रहित होकर तुम वीतराग हो जाओ। सदा से चला आने वाला स्वधर्मरूप कर्म जो समभाव से किया जाता है, वह तो जीवन्मुक्तों के लिये स्वाभाविक ही है और वही जीवन्मुक्तता है। 'यह कर्म मैं छोड़ता हूँ' और 'इस कर्म को मैं अङ्गीकार करता हूँ'—इस प्रकार जो त्याग और ग्रहण का निर्णय है, वह एकमात्र अज्ञानियों के मन का स्वरूप है; ज्ञानियों की तों उनमें सम स्थिति रहती है। जिसकी इन्द्रियाँ कछुए के अङ्गों की भाँति इन्द्रियों के विषयों से हट कर अन्तःकरण में स्थिर हो जाती हैं, वही स्थित प्रज्ञ और जीवन्मुक्त है। वास्तव में यह संसार आकाश से भी बढ़ कर वैसे ही शून्य रूप है, जैसे स्वप्न में क्षणमात्र में चित्त में होने वाले तीनों लोकों का नाश और उत्पत्ति—यह तुम जानो। क्योंकि आत्मा, मन और उसका कार्य यह बाह्य और आभ्यन्तर सम्पूर्ण जगत् स्वप्न की तरह शून्य है (असत् ही हैं)। यह सब चिरकालिक मनोराज्य है, इसलिये अज्ञानी मनुष्यों को इसमें सत्यत्व की प्रतीति होती है। किंतु वह सत्यत्व की प्रतीति तत्त्वज्ञान रूप आलोक से नष्ट हो जाती है। चित्त रूपी चितेरे के चित्र में अवस्थित त्रिभुवन आदि विचित्र मूर्तियाँ आधारभूत भीत के न रहने से बाहर आकार-रहित यानी मिथ्या ही हैं। वास्तव में न तो उन चित्त कल्पित मूर्तियों का अस्तित्व है और न तुम्हारे शरीर का ही अस्तित्व है; इसलिये कौन किससे मारा जाता है? अतः नाश्य-नाशक का मोह छोड़कर तुम निर्मल बनकर ब्रह्म रूप परम पद में स्थित हो जाओ। जैसे एकमात्र चित्त में रहने वाला मनोराज्य रूप चित्र आकार वाला प्रतीत होता हुआ भी वास्तव में शून्य स्वरूप होने से असत् ही है, वैसे ही यह जगत् भी शून्य रूप है—यह तुम जानो।

अर्जुन! चेतन आकाश स्वरूप ब्रह्म से निर्मित सब कुछ ब्रह्म ही है। ब्रह्म में ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म विलीन होता है। ब्रह्म में ही ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म का उपभोग किया जाता है और ब्रह्म द्वारा ब्रह्म में ब्रह्म का ही विस्तार हुआ है। जैसे प्रतिबिम्ब अपने आधार दर्पण में प्रतीत होता है, वैसे ही यह जगत् भी अपने आधार ब्रह्म में ही प्रतीत होता है। जब ब्रह्म में प्रतिभासित छेदन-भेदन आदि सम्पूर्ण व्यवहार और उनका विषय जगत्—ये सब ब्रह्म से अभिन्न होकर एकमात्र चिन्मय आकाश स्वरूप ही हैं, तब किस कर्ता या करण से किस प्रकार से किस देश या किस काल में क्या छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। इसलिये बोध से तुम्हारी वासनाओं का अभाव सिद्ध ही है। जो वासना से रहित नहीं है, भले ही वह समस्त शास्त्रीय कर्मों के परायण हो और समस्त सांसारिक विषयों का ज्ञाता हो; फिर भी वह वैसे ही अत्यन्त बद्ध है, जैसे पिंजरे में स्थित सिंह। जिसकी चित्त रूपी भूमि में अणु मात्र भी वासना रूप बीज पड़ा रहता है, उसका संसार रूप जंगल पुनः बढ़ जाता है। जब सत्य स्वरूप परमात्मा का यथार्थ ज्ञान अभ्यास के द्वारा हृदय में दृढ़ हो जाता है, तब वासना पूर्णतया नष्ट हो जाती है और वह फिर उत्पन्न नहीं होती। वासनाओं के पूर्णतया नष्ट हो जानेपर विशुद्ध जीवात्मा सांसारिक सुख-दुःखादि वस्तुओं में वैसे ही लिप्त नहीं होता, जैसे पानी में कमल का पत्ता। असंख्य वासनाओं से रहित तुम मुझसे सुने हुए पवित्र उपदेश को भली-भाँति समझकर परमात्मा में चित्त को विलीनकर भय और मोह से रहित एवं शान्त निर्वाण ब्रह्मस्वरूप हुए स्थित रहो।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—अर्जुन! यदि परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से तुम्हारे हृदय में रागादि वृत्तियाँ अशेषरूप से शान्त हो चुकीं तो तुम जान लो कि तुम्हारा सवासनात्मक चित्त भी भीतर शान्त होकर निर्वासनता को प्राप्त हो गया। इस सत्त्वावस्था में सर्वस्वरूप जीवात्मा सम्पूर्ण वासनाओं और विषयों से मुक्त हो जाता है। उस जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप को कोई भी उसी प्रकार नहीं देख सकते, जिस प्रकार भूमि से आकाश में उड़कर दूर-देश में गये हुए पक्षी को। मन-इन्द्रियों के प्रकाशक, शुद्धस्वरूप, संकल्परहित, निर्विषय इस जीवात्मा को मन-इन्द्रियों से दूर समझो। जैसे अग्नि के पर्वतपर पहुँचकर हिमकण सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से अविद्या भी नष्ट हो जाती है। नाना प्रकार के आकार और विकारोंवाली यह अविद्या

तभीतक रहती है, जबतक जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप—विशुद्ध विज्ञानानन्दघन परमात्मा को भली-भाँति नहीं जान लेता जो समग्र परमात्मा अपने आप से परिपूर्ण है, समग्र दृश्य संसार से रहित है और वाणी से अतीत है, उस अनुपम परम वस्तु परमात्मा की किसके साथ उपमा दी जा सकती है अर्थात् किसी के साथ नहीं। इसलिये तुम अभीष्ट कामनाओं की निवृत्तिरूप युक्ति से विषयात्मक विष से उत्पन्न महामारीरूप अन्त:करण की वासना को निपुणतापूर्वक दूर कर संसार से तथा सम्पूर्ण भयों से रहित परमात्मास्वरूप ही हो जाओ।

जिससे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित रहता है, जो सम्पूर्ण जगत्स्वरूप हैं, जो सब ओर विद्यमान है और जो सर्वमय है, उसी को नित्य परमात्मा समझो। वह परमात्मा अश्रद्धालु के लिये दूर होता हुआ भी श्रद्धालु के लिये समीप ही है। वह सर्वव्यापी होने से सबमें स्थित है एवं वास्तव में ज्ञान और ज्ञेय से रहित सच्चिदानन्द परमपदस्वरूप है। वही परमपद सबकी पराकाष्ठा है, वही सम्पूर्ण दृष्टियों में सर्वोत्तम दृष्टि है, वही सारी महिमाओं की सर्वोत्तम महिमा है तथा वही गुरुओं का भी गुरु है। वही सबका आत्मा है और वही विज्ञान है, वही शून्यस्वरूप है, वही परब्रह्म है, वही परम कल्याण है, वही शान्त और मङ्गलमय शिव है, वही परम विद्या है और वही परम स्थिति है। उस परमात्मा में यह जगत् अविचार से ही सत्य-सा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में विवेकपूर्वक विचार करने से असत् है। आदि और अन्त से रहित आकाश के समान व्यापक मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूँ, मुझसे अतिरिक्त यह संसार कुछ भी नहीं है—यों निश्चय करने पर फिर ब्रह्मस्वरूप मुझमें परिमितता नहीं रह सकती। जो पुरुष इस प्रकार के निश्चय से युक्त रहता है, वह बाहर से लोक-शास्त्र की मर्यादा के अनुसार कार्य करने पर भी वास्तव में उत्पत्ति और विनाश से रहित है। जिसका मन सम से-भी-सम ब्रह्म में लीन होकर फिर न उदित होता है और न अस्त होता है एवं जिसकी बुद्धि में मन का अभाव है, वह महात्मा ब्रह्मरूप ही है। एकमात्र ब्रह्मभावना से अद्वितीय परमपद पर आरूढ हुआ वह महात्मा व्यवहार करता हुआ भी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता। व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुष के हृदय में मानापमान से जनित सुख:दुख आदि विकार तनिक भी नहीं होते, वह पुरुष मुक्ति का अधिकारी है।

परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से ही भोग-वासना क्षीण हो जाती है और भोग-वासना का अभाव ही ज्ञानी का उत्तम लक्षण है। ज्ञान और वैराग्य के कारण तत्त्वज्ञ पुरुष को संसार के भोग स्वभाव से ही रुचिकर नहीं होते। यह संसार सर्वात्मस्वरूप परमात्मा ही है—इस प्रकार का जिसके हृदय में दृढ़ अनुभव है, वही जीवन्मुक्त कहा गया है। किंतु यह जीवात्मा जब तक अज्ञान से आवृत रहता है, तब तक दृश्य विषय भोगों में स्थित हुआ संसार का संकल्प करता रहता है। जब अन्त:करण में उत्तम तत्त्वज्ञान का उदय हो जाता है, तब संकल्प-विकल्प का यह क्रम बुझे हुए दीपक की भाँति शान्त हो जाता है। स्वयम्प्रकाश, चैतन्यरूप, सम्पूर्ण पदार्थों का आश्रय और विषयोन्मुखता से रहित शुद्ध चेतन का जो स्वरूप है, उसे ही तुम परमपद जानो। यह संसार संकल्पमय ही है; इसलिये संकल्प नष्ट हो जाने पर संसार भी नष्ट हो जाता है और फिर सच्चिदानन्द परमात्मा ही रह जाता है।

मुनिवरों ने दो तरह के मुनि बतलाये हैं—एक काष्ठतपस्वी और दूसरा जीवन्मुक्त। परमात्मा की भावना से रहित शुष्क क्रिया में बद्धनिश्चय और हठ से सम्पूर्ण इन्द्रियों को जीत रखने वाला मुनि काष्ठमौनी कहा गया है। इस विनाशशील संसार के स्वरूप को यथार्थरूप से जानकर जो विशुद्धात्मा और परमात्मा में स्थित ज्ञानी महात्मा बाहर न्याययुक्त लौकिक व्यवहार करता हुआ भी भीतर विज्ञानानन्दघन परमात्मा में तृप्त रहता है, वह जीवन्मुक्त मुनि कहा गया है। मौन को चाहने वाले मुनिमों ने मौन के चार भेद बतलाये हैं—वाङ्मौन, इन्द्रियमौन, काष्ठमौन और सुषुप्तमौन। वाणी का निरोध वाङ्मौन, हठपूर्वक विषयों से इन्द्रियों का निग्रह इन्द्रियमौन और सम्पूर्ण चेष्टाओं का त्याग काष्ठमौन कहलाता है। एवं परमात्मा के स्वरूपानुभव में जो जीवन्मुक्त निरन्तर लगा रहता है, उसके मौन को सुषुप्तमौन कहते हैं। काष्ठमौन में वाङ्मौन आदि तीनों मौनों का अन्तर्भाव है और सुषुप्तमौनावस्था में

जो तुर्यावस्था है, वही जीवन्मुक्तों की स्थिति है। ऊपर जो तीन प्रकार का मौन कहा गया है, वह प्रस्फुरित हुए चित्त का चलन ही है। अतएव ये तीनों मौन उपादेय नहीं वरन् त्याज्य हैं। किंतु इन तीनों से भिन्न चौथा जो सुषुप्तमौन है, वह जीवन्मुक्तों की स्थिति है। इसमें स्थित जीवात्मा का पुनर्जन्म नहीं होता। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रिय-वृत्तियाँ अनुकूल में तो हर्षित नहीं होतीं और प्रतिकूल में घृणा नहीं करतीं। जो विभाग रहित, अभ्यास रहित एवं आदि और अन्त से रहित है तथा जो ध्यान करते हुए या ध्यान न करते हुए सभी अवस्थाओं में समभाव से स्थित है, वही सुषुप्तमौन कहा जाता है। अनेक प्रकार के विभ्रमयुक्त संसार के और परमात्मा के तत्त्व को यथार्थरूप से जानने पर जो संदेहरहित स्थिति होती है, वही सुषुप्त मौन है, जो सर्वशून्य, आलम्बन-रहित, शान्तिस्वरूप, विज्ञानमात्र तथा सत्-असत् से रहित स्थिति है, वह उत्तम सुषुप्त मौन कही गयी है। इस जगत् में विकार-रहित, सर्वात्मक तथा सत्ता-सामान्यस्वरूप परमात्मा मैं ही हूँ—इस तरह की ज्ञानावस्था को सौषुप्तमौन कहते हैं।

योगवासिष्ठ-विषय-सूची

उपशम-प्रकरणे

निर्वाणप्रकरण पूर्वार्द्ध

श्रीमहाप्रभुलालगोस्वामिप्रणीत-
कुसुमलताख्यभाषानुवादालङ्कृतः
आदिकविश्रीमद्वाल्मीकिमहर्षिविरचितः

योगवासिष्ठः

३१

वसिष्ठ उवाच

अथ दुःखपरीतात्मा हरिणा हतदानवे ।
प्रह्लादश्चिन्तयामास मौनी पातालकोटरे ॥ १ ॥
कोऽन्वस्माकमुपायः स्याद्य एवेहाऽसुराङ्कुरः ।
तीक्ष्णाग्रो जायते तं तं भुङ्क्ते शाखामृगो हरिः ॥ २ ॥
न कदाचन पाताले दैत्या दोर्दण्डशालिनः ।
स्थिरा बभूवुरुद्भिन्नाः पद्मा इव हिमाचले ॥ ३ ॥
उत्पत्योत्पत्य नश्यन्ति भासुराकारघर्घराः ।
क्षीणप्रस्फुरितारम्भास्तरङ्गा इव वारिधेः ॥ ४ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं कष्टं समग्रालोकहारिणः ।
रिपवः प्रौढिमायाता अपूर्वतिमिरभ्रमाः ॥ ५ ॥
तमःप्रपूर्णहृदयाः संकुचत्पत्रसंपदः ।
सुहृदः खेदमायान्ति निशीथकमलाकराः ॥ ६ ॥
तातस्य मलिनैर्नूनं पादपीठोपमर्दकैः ।
सुरैर्विषय आक्रान्तो मृगैरिव महावनम् ॥ ७ ॥
निरुद्यमा गतश्रीका दीनाः प्रकटिताशयाः ।
बान्धवा न विराजन्ते पद्माः प्लुष्टदला इव ॥ ८ ॥
स्फुरन्त्यसुरवीराणां गृहेष्वविरतानिलैः ।
धूसरा भस्मनीहारा धूपधूमभरा इव ॥ ९ ॥
हृतद्वारकपाटासु दैत्यान्तःपुरभित्तिषु ।
प्रभा मरकतस्येव जाता नवयवाङ्कुराः ॥ १० ॥

३१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर पातालगर्त में दानवों का विनाश होने से दुःखसन्तप्त मौनी प्रह्लाद ने विचार किया ॥ १ ॥

मेरे लिए कौन साधन है क्योंकि सम्पत्ति रूपी पल्लवों को उत्पन्न करने में समर्थ असुर रूपी वृक्ष का अङ्कुर रूप तेजस्वी जो भी यहाँ पर पैदा होता है, उसी को श्रीहरि रूपी बन्दर खा डालता है ॥ २ ॥

पाताल में भुजदण्डशाली बलवान् दैत्य कभी-भी अङ्कुरित होकर वैसे ही स्थिर नहीं हुए जैसे हिमालय में विकसित कमल कभी स्थिर नहीं होते ॥ ३ ॥

समुद्र की तरङ्गों के समान प्रखर आकृति और गर्जन वाले सब दैत्य, जिनका तनिक विकसित कार्य नष्ट कर दिया जाता है, उत्पन्न हो-होकर विलीन हो जाते हैं ॥ ४ ॥

महान् कष्ट है, बाहरी और भीतरी सब सम्पत्ति रूपी प्रकाशों को हरने वाले अद्भुत अन्धकार के समान हमारे शत्रु उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके हैं ॥ ५ ॥

हमारे अन्धकारपूर्ण हृदय वाले एवं प्रतिदिन सम्पत्ति रूपी सङ्कुचित पंखुरी वाले मित्र रूपी अर्ध रात्रि के कमलतडाग, खेद को प्राप्त हो रहे हैं ॥ ६ ॥

प्रणाम के समय मेरे पिता जी के चरण-कमल का स्पर्श करने वाले द्वेष से कलुषित देवताओं ने हमारा देश इस प्रकार आक्रान्त कर दिया है जैसे मृग सिंह के वन को आक्रान्त करता है ॥ ७ ॥

अपने हृदयवर्ती महा दुःख को सबके आगे कहने वाले उद्यमरहित, कान्तिहीन तथा दीनहीन हमारे बान्धव ग्रीष्म ऋतु में जिनकी पँखुरियाँ झुलस चुकीं ऐसे कमलों के समान शोभित नहीं होते हैं ॥ ८ ॥

आजकल शूरवीर असुरों के घरों में निरन्तर बहने वाले उत्पात वायुओं से बिखेरे जा रहे भस्मरूपी कुहरे पहले की धूप की धूमराशि के समान प्रतीत हो रहे हैं ॥ ९ ॥

जिनके चौखट और किवाड़ देवता हर ले गये हैं, ऐसी दैत्यों के अन्तःपुर की दीवारों पर समृद्धिकाल की मरकतप्रभा के समान इस समय जौ के अङ्कुर उगे हैं ॥ १० ॥

त्रिलोकीनाभिनलिनीमत्तेभा दानवा अपि ।
देववद्दैन्यमायाताः किमसाध्यमहो विधेः ॥ ११ ॥
मनाक्चलति पर्णेऽपि दृष्टारिभयभीतयः ।
वध्वस्त्रस्यन्ति विध्वस्ता मृग्यो ग्रामगता इव ॥ १२ ॥
आसुरीकर्णपूरार्थं फुल्ला रत्नगुलुच्छकाः ।
नरसिंहकरालूनाः स्थाणुतामागता द्रुमाः ॥ १३ ॥
दिव्याम्बरलतापत्रा रत्नस्तबकदन्तुराः ।
पुनरारोपितास्तत्र नन्दने कल्पपादपाः ॥ १४ ॥
पुरा त्वमरबन्दीनामसुरैः संस्तुतं मुखम् ।
अद्य त्वसुरबन्दीनां सुरैरालोकितं मुखम् ॥ १५ ॥
मन्ये दानमहानद्यः सुरेभकटभित्तिषु ।
प्रवृत्तास्ता भविष्यन्ति शैलसानुष्विवाऽऽपगाः ॥ १६ ॥
अस्माकमिभगण्डेषु दानदाहविभूतयः ।
लसन्ति मरुखण्डेषु संशुष्केष्विव धूलयः ॥ १७ ॥
विकासिसितमन्दारमकरन्दारुणानिलाः ।

पहले सुमेरुरूपी कमलिनी के मर्दन में मदोन्मत्त हाथी के सदृश दानवगण भी आज देवताओं के सदृश दीन हो गये हैं। अहो, भाग्य के लिए क्या असाध्य है? ॥ ११ ॥

दैत्यों की स्त्रियाँ, जिन्हें शत्रुभय का अनुभव हो चुका है, तनिक पत्तों के फड़कने पर भी वैसे ही डरती हैं जैसे गाँव में गई हुई भयभीत मृगियाँ तनिक पत्ते के फड़कने पर भी डरती हैं ॥ १२ ॥

असुर नारियों के कर्णपूर बनाने के लिए लगाये रत्नों के गुच्छे वाले फूले हुए दिव्य वृक्ष नरसिंह के हाथों से तहस-नहस होकर ठूंठ बन गये हैं ॥ १३ ॥

देवताओं ने उस नन्दन वन में दिव्य वस्त्रों से युक्त लता और पत्ते वाले रत्नों के गुच्छों से लदे हुए कल्पवृक्ष फिर लगा लिये हैं ॥ १४ ॥

पहले देवताओं की बन्दीनारियों के सुन्दर मुख असुरों ने प्रशंसा के साथ देखे थे, लेकिन अब असुरों की बन्दी नारियों के मुख देवताओं द्वारा देखे जाते हैं ॥१५॥

मानो, देवताओं के ऐरावत आदि हाथियों के गण्डस्थल में बह रहीं मदधारारूपी महानदियाँ शैलशिखरों पर बह रहीं नदियों के समान हो जायँगी ॥ १६ ॥

मद के दाह से उत्पन्न हुई राख हमारे हाथियों के सूखे हुए गण्डस्थलों में सूखे हुए मरुस्थलों में धूलि के समान प्रतीत होती है ॥ १७ ॥

फूले हुए सफेद मन्दार के पराग युक्त मकरन्दों से रंगे हुए वायु जिनका अंगस्पर्श किये जाने वाले मारे हर्ष

ते मेरुशिखरैस्तुल्या दैत्या दुर्लभतां गताः ॥ १८ ॥
सुरगन्धर्वसुन्दर्यो दानवान्तःपुरोचिताः ।
अद्य मेरौ स्थितिं याता मञ्जर्य इव पादपे ॥ १९ ॥
कष्टं तातपुरन्ध्रीणां शुष्काम्बुरुहनीरसाः ।
विलासाः सुरनारीभिर्भर्त्स्यन्ते लास्यलीलया ॥ २० ॥
पूर्वं यैरेव मत्तातश्चामरैरुपवीजितः ।
सहस्रनयनः स्वर्गे कष्टं तैरेव वीज्यते ॥ २१ ॥
इयमस्माकमप्यापदागता दैन्यदायिनी ।
तस्यैकस्य प्रसादेन दुष्पौरुषगतेर्हरेः ॥ २२ ॥
तद्दोर्वनघनच्छायालब्धविश्रान्तयः सुराः ।
न कदाचन तप्यन्ते हिमाद्रेरिव सानवः ॥ २३ ॥
शौरिशौर्याग्रशिखरसंश्रयेणाऽऽश्रितश्रियः ।
अस्मान् समुपरुन्धन्ति शुनः शाखामृगा इव ॥ २४ ॥
तेनाऽसुरपुरन्ध्रीणां नित्यं मण्डनमण्डने ।
मुखपद्मे स्थितं बाष्पमब्जिनीनां हिमं यथा ॥ २५ ॥

के मेरुशिखरों के तुल्य दैत्य दुर्लभ हो गये हैं ॥ १८ ॥

पहले दानवों के अन्तःपुर में चिरकाल निवास करने वाली देवता और गन्धर्वों की सुन्दरियाँ आज वृक्षपर मञ्जरियों के समान मेरुपर निवास करती हैं ॥ १९ ॥

बहुत कष्ट है कि मेरे पिताजी की पटरानियों के सूखे हुए कमलों की तरह नीरस विलासों की अप्सराएँ नृत्यों में अनुकरण द्वारा भर्त्सना करती हैं ॥ २० ॥

बड़े खेद की बात है, पहले जो चँवर मेरे पिता पर डुलाने गये थे, वे ही चँवर आज स्वर्ग में इन्द्र पर डुलाये जाते हैं ॥ २१ ॥

जिनका पराक्रमस्मरण भी दुःखदायी है, ऐसे उन एकमात्र भगवान् श्रीहरि के प्रसाद से महाप्रतापशाली हम लोगों को भी ये आपत्तियाँ प्राप्त हैं ॥ २२ ॥

उन विष्णु भगवान् की बाहुओं की निविड़ छाया में विश्रान्त देवताओं को कभी सन्ताप वैसे ही प्राप्त नहीं होता जैसे हिमालय में शिखर कभी सन्तप्त नहीं होते ॥ २३ ॥

वैसे ही भगवान् विष्णु के पराक्रमरूपी पर्वत या वृक्ष की चोटी के अवलम्बन से समृद्ध हुए देवता लोग हम बलवानों को भी वैसे ही पाताल में ढकेल रहे हैं जैसे पर्वत या वृक्ष की चोटी पर बैठे हुए बन्दर बलवान् कुत्तों को भी तंग करते हैं ॥ २४ ॥

भगवान् के पराक्रम से अलङ्कारों को भी अलङ्कृत करने वाले असुर नारियों के मुखारविन्द पर कमलिनियों के मुखभूत कमल पर हिम के समान आंसू सदा बने रहते हैं ॥ २५ ॥

शीर्णभिन्नलुठद्भित्तिर्जगज्जरठमण्डपः ।
अयं नीलमणिस्तम्भैस्तद्भुजैरेव धार्यते ॥ २६ ॥
स धर्ता सुरसैन्यस्य मज्जतो विपदर्णवे ।
क्षीरोदोदरमग्नस्य मन्दरस्येव कच्छपः ॥ २७ ॥
एते तातादयः सर्वे तेनैवाऽसुरसत्तमाः ।
पतिताः क्षुब्धकल्पान्तवातेनेव कुलाचलाः ॥ २८ ॥
स एक एव संहारकर्मक्षमभुजानलः ।
सुरसार्थगुरुः श्रीमान् विषमो मधुसूदनः ॥ २९ ॥
दैत्यदोर्दण्डपरशोस्तस्य वीर्येण वीर्यवान् ।
दानवान् बाधते शक्रो बालकानिव मर्कटः ॥ ३० ॥
दुर्जयः पुण्डरीकाक्षः प्रतिमुक्तायुधोऽपि सन् ।
नासौ शस्त्रास्त्रविच्छेदैर्वज्रसारो विदीर्यते ॥ ३१ ॥
अभ्यस्ता बहवस्तेन मिथःप्रेरितपर्वताः ।
भीमाः समरसंरम्भाः सममस्मत्पितामहैः ॥ ३२॥
तासु तास्वतिघोरासु विततास्वरिराजिषु ।

जगद्रूपी जीर्ण-शीर्ण मकान, जिसकी जीर्ण-शीर्ण टूटी-फूटी भित्तियाँ गिर रही हैं, नीलमणि के स्तम्भरूप भगवान् की भुजाओं द्वारा सम्हाला जाता है ॥ २६ ॥

विपत्तिरूपी सागर में डूब रही देवसेना के वह भगवान् वैसे ही धारणकर्ता हैं जैसे क्षीरसागर के मध्य में डूबे हुए मन्दराचल के धारणकर्ता कच्छप भगवान् हैं ॥२७॥

जैसे क्षुब्ध हुआ प्रलयकाल का वायु कुलाचलों को गिराता है वैसे ही उन्होंने ये मेरे पिता आदि सब असुर श्रेष्ठों को गिरा डाले हैं ॥ २८ ॥

केवल एक उन्हीं की भुजारूपी अग्नि हम लोगों का संहार करने में समर्थ है। देवताओं के गुरु श्रीमान् मधुसूदन हम लोगों के द्वारा आक्रान्त नहीं हो सकते हैं ॥२९॥

दैत्यों के बाहुदण्ड के लिए कुठारभूत उन श्रीहरि भगवान् के पराक्रम से पराक्रमशाली होकर इन्द्र दैत्यों को वैसे ही छेड़ रहा है जैसे बन्दर बालकों को छेड़ता है ॥३०॥

यदि भगवान् शस्त्रास्त्र का त्याग कर दें, तो भी उनपर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। वज्र से भी कठिन वे शस्त्रास्त्रों के आघातों से छिन्न-भिन्न नहीं किये जा सकते ॥ ३१ ॥

उन्होंने हमारे बाप-दादों के साथ बहुत से भयङ्कर युद्धकौशलों का, जिनमें परस्पर पर्वत फेंके गये थे, अभ्यास किया है ॥ ३२ ॥

उन अति भीषण और विशाल शत्रुपङ्क्तियों में जो भयभीत नहीं हुआ था, वह इस समय भयभीत होगा, इसकी कथा ही क्या है? ॥ ३३ ॥

यो न भीत इदानीं स भयमेष्यति का कथा ॥ ३३ ॥
उपायमेकमेवेमं हरेराक्रमणे स्फुटम् ।
मन्ये तद्व्यतिरेकेण विद्यते न प्रतिक्रिया ॥ ३४ ॥
सर्वात्मना सर्वधिया सर्वसंरम्भरंहसा ।
स एव शरणं देवो गतिरस्तीह नाऽन्यथा ॥ ३५ ॥
न तस्मादधिकः कश्चिदस्ति लोकत्रयान्तरे ।
प्रलयस्थितिसर्गाणां हरिः कारणतां गतः ॥ ३६ ॥
अस्मान्निमेषादारभ्य नारायणमजं सदा ।
संप्रपन्नोऽस्मि सर्वत्र नारायणमयो ह्यमेम् ॥ ३७ ॥
नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ।
नाऽपैति मम हृत्कोशादाकाशादिव मारुतः ॥ ३८ ॥
हरिराशा हरिर्व्योम हरिरुर्वी हरिर्जगत् ।
अहं हरिरमेयात्मा जातो विष्णुमयो ह्यहम् ॥ ३९ ॥
अविष्णुः पूजयन् विष्णुं न पूजाफलभाग्भवेत् ।
विष्णुर्भूत्वा यजेद्विष्णुमयं विष्णुरहं स्थितः ॥ ४० ॥

हरि के आक्रमण में स्पष्टतः यही एक उपाय है इसके अतिरिक्त कोई प्रतिक्रिया (उपाय) नहीं है ॥ ३४ ॥

जगत् में सब वस्तुओं के स्वभाव से, सब प्रकार की बुद्धियों से और सब प्रकार के कर्मों के उद्योगों से शरणार्थी लोगों के लिए एकमात्र भगवान् ही शरण हैं, अन्यथा गति नहीं है ॥ ३५ ॥

तीनों लोकों में उन से बढ़कर कोई भी नहीं हैं। सृष्टि, प्रलय और संहार के एकमात्र हेतु हरि ही हैं ॥ ३६ ॥

इस क्षण से मैं सदा अजन्मा नारायण की शरण में प्राप्त हुआ हूँ। सब देश, सब काल और सब वस्तुओं में मैं नारायणमय हूँ ॥ ३७ ॥

सब पुरुषार्थों का साधक 'नमो नारायणाय' यह मन्त्र मेरे हृदयकोश से वैसे ही दूर न हो जैसे आकाश से वायु कभी नहीं हटता ॥ ३८ ॥

हरि दिशा हैं, हरि आकाश हैं, हरि पृथ्वी हैं, हरि जगत् हैं और अप्रमेयात्मा मैं हरि हूँ। मैं भावनावश प्रायः विष्णु हो गया हूँ ॥ ३९ ॥

स्वयं विष्णु हुए बिना विष्णु की पूजा करता हुआ पुरुष पूजा का फल-भागी नहीं होता है। अतः विष्णु बनकर विष्णु की पूजा करनी चाहिये, इसलिए मैं विष्णु रूप से स्थित हूँ, ('नाविष्णुः पूजयेद्विष्णुं नाशिवः पूजयेच्छिवम्') ॥ ४० ॥

हरिः प्रह्लादनामा यो मत्तो नाऽन्यो हरिः पृथक् ।
इति निश्चयवानन्तर्व्यापकोऽहं च सर्वतः ॥ ४१ ॥
अनन्तमिदमाकाशमापूर्य विनतासुतः ।
कनकाङ्गो ममाऽङ्गानामयमासनतां गतः ॥ ४२ ॥
करशाखैकविश्रान्तसर्वहेतिविहङ्गमाः ।
नखांशुमञ्जरीकीर्णा महामरकतद्रुमाः ॥ ४३ ॥
इमे ते मृदुमन्दारदामदिग्धांसमण्डलाः ।
मन्दराघृष्टकेयूराश्चत्वारो मम बाहवः ॥ ४४ ॥
चलच्छशिकलापूरचारुचामरधारिणी ।
इयं मे पार्श्वगा लक्ष्मीः क्षीरोदकुहरोत्थिता ॥ ४५ ॥
हेलाविलुब्धभुवना त्रैलोक्यतरुमञ्जरी ।
इयं मे पार्श्वगा कीर्तिरचलाऽमलभासिनी ॥ ४६ ॥
अनारतजगज्जालनवनिर्माणकारिणी ।
इयं मे पार्श्वगा माया स्वेन्द्रजालविलासिनी ॥ ४७ ॥
इयं सा हेलयाऽऽक्रान्तत्रैलोक्यतरुखण्डिका ।

जो हरि है वही प्रह्लाद नाम का है। प्रत्यगात्मा से अन्य हरि पृथक् नहीं है ऐसा मन में निश्चय वाला मैं सर्वव्यापक हूँ ॥ ४१ ॥

इस असीम आकाश को व्याप्त करके स्थित यह सुवर्ण के समान वर्ण वाला गरुड है, मेरे अङ्गों का आसन बन गया है ॥ ४२ ॥

जिनके हाथों के अवयवों पर सब चक्र, गदा, खड्ग आदि अस्त्र रूपी पक्षियों की नित्य निवास-स्थल नख कान्ति रूपी मञ्जरियों से व्याप्त मूल प्रदेश कोमल-कोमल मन्दार के फूलों की मालाओं से सुगन्धित एवं मन्दराचल से घिसे बाजूबन्द वाले महामरकत मणि के वृक्ष रूप ये मेरे बाहु हैं ॥ ४३, ४४ ॥

चञ्चल चन्द्रकाला की राशि के समान सुन्दर चंवर धारण करने वाली क्षीरसागर के मध्य से उत्पन्न यह लक्ष्मी मेरे एक बगल में स्थित है ॥ ४५ ॥

अनायास तीनों भुवनों को प्रलोभित करने वाले त्रैलोक्य रूपी वृक्ष की मंजरी के समान विराजमान यह हरि की निर्मल निश्चल कीर्ति मेरे समीप में स्थित है ॥४६॥

निरन्तर अनेक जगतों का नूतन निर्माण करने वाली अपने इन्द्रजाल से शोभित होने वाली यह विष्णु की माया मेरे समीप में स्थित है ॥ ४७ ॥

अनायास त्रैलोक्य की वृक्षराशियों पर विजय प्राप्त करने वाली कल्पवृक्ष की लता के समान यह लक्ष्मी की सखी जया मेरी दूसरी बगल में विराजमान हो रही

जया स्फुरति मे पार्श्वे लता कल्पतरोरिव ॥ ४८ ॥
इमौ मे नित्यशीतोष्णौ देवौ शीतांशुभास्करौ ।
प्रकटीकृतसंसारौ मुखमध्ये विलोचने ॥ ४९ ॥
ममेयमुत्पलश्यामा पीनाम्भोधरसुन्दरी ।
श्यामीकृतककुप्चक्रा देहदीप्तिर्विसर्पिणी ॥ ५० ॥
अयं मम करे शङ्खः पाञ्चजन्यः स्फुरद्ध्वनिः ।
मूर्तं खमिव शब्दात्मा क्षीरोद इव संस्थितः ॥ ५१ ॥
अयं मे कर्णिकाकोशनिलीनब्रह्मषट्पदः ।
पद्मः करतले श्रीमान् स्वनाडीकुहरोद्भवः ॥ ५२ ॥
इयं मे रत्नचित्राङ्गी सुमेरुशिखरोपमा ।
हेमाङ्गदा गदा गुर्वी दैत्यदानवमर्दिनी ॥ ५३ ॥
अयं मे भास्कराकार उद्यदंशुः सुदर्शनः ।
ज्वालाजटिलपर्यन्तपरिपाटलदिक्तटः ॥ ५४ ॥
अयं मे केतुमद्वह्निसुन्दरो ज्वलितोऽसितः ।
कुठारो दैत्यवृक्षाणां नन्दयन्नन्दकः स्थितः ॥ ५५ ॥

है ॥ ४८ ॥

नित्य शीतल और नित्य उष्ण संसार को प्रकाशित करने वाले चन्द्रमा और भास्कर ये दो देवगण, मेरे मुँह में मेरे दो लोचन हैं ॥ ४९ ॥

मेरी नील कमल के समान श्यामल, घन मेघ के समान सुन्दर, फैल रही यह देह-कान्ति ने दिशाओं को श्यामल बना रक्खा है ॥ ५० ॥

मूर्तिमान् आकाश के समान शब्द रूप यह पाञ्चजन्य शङ्ख, क्षीरसागर के समान शुभ्र है और जिससे सदा ध्वनि निकलती है, मेरे हाथ में है ॥ ५१ ॥

मेरी नाभि से उत्पन्न हुआ यह सुन्दर कमल है, जिसकी कर्णिका के मध्य में ब्रह्मरूपीभ्रमर छिपा है, मेरी हथेली पर विद्यमान है ॥ ५२ ॥

यह रत्नों से चित्र-विचित्र शरीर वाली, सुमेरु के शिखर के तुल्य, सोने से मढ़ी हुई मेरी भारी गदा दैत्य और दानवों का संहार करती है ॥ ५३ ॥

यह सूर्य के समान चमकीले मेरे सुदर्शन चक्र से सदा किरणें बाहर फूट रही हैं और जो चारों ओर ज्वाला रूपी जटाओं से व्याप्त है इसने चारों ओर दिक्तटों को पाटल के समान रक्त कर दिया है ॥ ५४ ॥

धूमयुक्त अग्नि के समान सुन्दर काला और चमकीला यह दैत्य रूपी वृक्षों के लिए कुठारभूत हैं और देवताओं को आनन्द देने वाला मेरा यह नन्द नामक खड्ग है ॥ ५५ ॥

इदं मे शरधाराणां पुष्करावर्तकोपमम् ।
शार्ङ्गं धनुरहीन्द्राभमिन्द्रकार्मुकसुन्दरम् ॥ ५६ ॥
इमान्यहमनन्तानि जगन्ति जठरे चिरम् ।
बिभर्मि जातनष्टानि वर्तमानान्यनेकशः ॥ ५७ ॥
इमौ मही मे चरणाविदं मे गगनं शिरः ।
इदं वपुर्मे त्रिजगदिमे मे कुक्षयो दिशः ॥ ५८ ॥
साक्षादयमहं विष्णुर्नीलमेघोदरद्युतिः ।
सुपर्णपर्वतारूढः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ ५९ ॥
एते मत्तः पलायन्ते समग्रा दुष्टचेतसः ।
तार्णास्तरलसंचाराः पवनादिव राशयः ॥ ६० ॥
अयं नीलोत्पलश्यामः पीतवासा गदाधरः ।
लक्ष्मीवान् गरुडारूढः स्वयमेवाऽहमच्युतः ॥ ६१ ॥
को मामेति विरुद्धात्मा त्रैलोक्यदहनक्षमम् ।
स्वनाशाय ततः क्षुब्धं कालाग्निं शलभो यथा ॥ ६२ ॥
इमे मे तैजसीं सृष्टिं ममाऽग्रस्थाः सुरासुराः ।
न शक्नुवन्ति संरोद्धुं चक्षुर्मन्दाः प्रभा इव ॥ ६३ ॥
इमं मामीश्वरं विष्णुं ब्रह्मेन्द्राग्निहरादयः ।
स्तुवन्त्यनन्तया वाचा बहुवक्त्रसमुत्थया ॥ ६४ ॥
अयं विजृम्भितैश्वर्यो जातोऽहमजिताकृतिः ।
सर्वद्वन्द्वपदातीतो महिम्ना परमेण हि ॥ ६५ ॥
त्रिभुवनभवनोदरैकमूर्त्ति
प्रसभविभिन्नसमस्तदुष्टसत्वम् ।
घनगिरितृणकाननान्तरस्थं
सकलभयापहरं वपुः प्रणौमि ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
प्रह्लादनिर्वाणे नारायणीकरणं नाम एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

यह बाण रूपी वृष्टिधाराओं की वृष्टि करने में पुष्करावर्त मेघ के तुल्य और शेषनाग के सदृश विशाल शार्ङ्ग नामक धनुष विविध मणियों से विचित्र होने के कारण इन्द्रधनुष के समान सुन्दर है ॥ ५६ ॥

मैं उत्पन्न होकर नष्ट हुए अतीत और वर्तमान इन अनेक जगतों को अपने उदर में चिरकाल तक धारण करता हूँ ॥ ५७ ॥

पृथिवी मेरे चरण हैं, आकाश मेरा सिर है, तीनों जगत् मेरा शरीर है, दिशाएँ मेरे उदर हैं ॥ ५८ ॥

मैं नील मेघ के मध्य के समान श्यामल कान्ति वाला गरुड रूपी पर्वत पर आरूढ़ तथा शङ्ख-चक्र-गदाधारी साक्षात् विष्णु हूँ ॥ ५९ ॥

ये सब दुष्ट चित्त वाले जीव वैसे ही मुझ से भाग रहे हैं जैसे चञ्चल तृण-राशियाँ वायु से उड़ती हैं ॥ ६० ॥

यह नील कमल के समान श्यामल कान्ति वाला, पीताम्बरधारी, हाथ में गदा धारण किये हुए, गरुड पर आरूढ़ और लक्ष्मी युक्त मैं स्वयं ही अच्युत हो गया हूँ ॥ ६१ ॥

कौन मेरा विरोधी होकर त्रैलोक्य को भस्म करने में समर्थ मेरे प्रति युद्ध के लिए आता है ? जो आता है, वह वैसे ही स्वविनाश के लिए आता है जैसे क्षुब्ध हुई कालाग्नि के प्रति शलभ अपने नाश के आता है ॥ ६२ ॥

ये मेरे सामने खड़े हुए सुर और असुर मेरे तेज की ज्वालाओं को वैसे ही नहीं सह सकते जैसे कमजोर नेत्र वाले लोग सूर्य की प्रभा को नहीं सह सकते ॥ ६३ ॥

ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि, शिव आदि देवता बहुत से मुखों से निर्गत वेद-वाणी से इस ऐश्वर्यशाली विष्णु स्वरूप मेरी स्तुति करते हैं ॥ ६४ ॥

विपुल ऐश्वर्य वाला विष्णु की आकृति वाला मैं हूँ और परमार्थ स्वभाव से सब द्वन्द्वों से अतीत हो गया हूँ ॥ ६५ ॥

जिसके उदर में त्रिभुवन रूपी भवन स्थित हैं ऐसी मूर्तिवाला, सब दुष्ट प्राणियों को छिन्न-भिन्न करने वाला मेघ, पर्वत, तृण वन आदि सब वस्तुओं के अधिष्ठान रूप से स्थित और सब भयों को दूर करने वाला विराट् रूप परब्रह्मात्मक मैं हूँ । उसे मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ६६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में
प्रह्लादनिर्वाण में नारायणीकरण नामक कुसुमलता का इकतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३१ ॥

३२

वसिष्ठ उवाच

प्रह्लाद इति संचिन्त्य कृत्वा नारायणीं तनुम् ।
पुनः संचिन्तयामास पूजार्थमसुरद्विषः ॥ १ ॥
वपुषो वैष्णवादस्मान्मा भून्मूर्तिः परावरा ।
अयं प्राणप्रवाहेण बहिर्विष्णुः स्थितोऽपरः ॥ २ ॥
वैनतेयसमारूढः स्फुरच्छक्तिचतुष्टयः ।
शङ्खचक्रगदापाणिः श्यामलाङ्गश्चतुर्भुजः ॥ ३ ॥
चन्द्रार्कनयनः श्रीमान् कान्तनन्दकनन्दनः ।
पद्मपाणिर्विशालाक्षः शार्ङ्गधन्वा महाद्युतिः ॥ ४ ॥
तदेनं पूजयाम्याशु परिवारसमन्वितम् ।
सपर्यया मनोमय्या सर्वसंभाररम्यया ॥ ५ ॥
तत एनं महादेवं पूजयिष्याम्यहं पुनः ।
पूजया बाह्यसम्भोगमहत्या बहुरत्नया ॥ ६ ॥
प्रह्लाद इति संचिन्त्य सम्भारभरभारिणा ।
मनसा पूजयामास माधवं कमलाभवम् ॥ ७ ॥
रत्नौघपात्रपटलैश्चन्दनादिविलेपनैः ।
धूपैर्दीपैर्विचित्रैश्च नानाविभवभूषणैः ॥ ८ ॥
मन्दारमालावलनैर्हेमाब्जपटलोत्करैः ।
कल्पवृक्षलतागुच्छै रत्नस्तबकमण्डलैः ॥ ९ ॥
पल्लवैर्दिव्यवृक्षाणां नानाकुसुमदामभिः ।
किंकिरातैर्बकैः कुन्दैश्चम्पकैरसितोत्पलैः ॥ १० ॥
कह्लारैः कुमुदैः काशैः खर्ज्जूरैश्चूतकिंशुकैः ।
अशोकैर्मदनैर्बिल्वैः कर्णिकारैः किरातकैः ॥ ११ ॥
कदम्बैर्बकुलैर्निम्बैः सिन्दुवारैः सयूथकैः ।
पारिभद्रैर्गुग्गुलीभिर्बिन्दुकैः पुष्पकोत्करैः ॥ १२ ॥
प्रियङ्गुपटलैः पाटपाटलैर्धातुपाटलैः ।
आम्रैराम्नातकैर्गव्यैर्हरीतकबिभीतकैः ॥ १३ ॥
शालतालतमालानां लताकुसुमपल्लवैः ।
कोमलैः कलिकाजालैः सहकारैः सकुङ्कुमैः ॥ १४ ॥

३२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—प्रह्लाद ने इस प्रकार विचार कर और भावना द्वारा अपने शरीर को नारायणरूप बनाकर भगवान् विष्णु की पूजा के लिए पुनः विचार किया ॥ १ ॥

मुझसे कल्पित इस वैष्णव शरीर से अन्य समष्टिरूप अथवा व्यष्टि देवतारूप मूर्ति न हो, किन्तु यह मद्रूप विष्णु ही है ॥ २ ॥

यह गरुड पर बैठे हुए, क्रिया, ज्ञान, इच्छा, अनुग्रहरूप चार शक्तियों से सम्पन्न, हाथ में शङ्ख, चक्र और गदा लिये हुए, श्यामल शरीर, चतुर्बाहु है ॥ ३ ॥

यह चन्द्र सूर्यरूपी नेत्र वाले, सुन्दर नन्दन नामक खड्ग से अपने भक्तों को प्रसन्न करने वाले, हाथ में कमल लिये हुए, विशाल नेत्र, शार्ङ्ग नामक धनुष को धारण किये हुए हैं ॥ ४ ॥

महाकान्ति वाले और संकर्षण, प्रद्युम्न आदि व्यूह और पार्षदों से युक्त हैं, हृदय से पुष्पाञ्जलि भावना द्वारा बाहर आवाहित होकर पूजा की समाप्ति तक अन्य की तरह स्थित हों। इनकी मैं सब सामग्रियों से रमणीय मानसिक पूजा से पूजा करता हूँ ॥ ५ ॥

इन पूजनीय देवाधिदेव की बाहरी उपकरणों से विस्तृत तथा बहुत रत्नों से पूर्ण पूजा से फिर बाह्य पूजा करूँगा ॥ ६ ॥

प्रह्लाद ने ऐसा विचार कर विविध पूजा-सामग्रियों से पूर्ण मन से लक्ष्मी के पति भगवान् विष्णु की पूजा की ॥ ७ ॥

रत्नों के समूहों से जटित विविध पात्रों के प्रान्तों द्वारा किये गये अभिषेकों से, चन्दन आदि के विलेपनों से धूप, दीप और विविध प्रकार के विभव वाले आभूषणों से, मन्दार की मालाओं के वेष्टनों से, सुवर्ण-कमलों की राशियों से, कल्पवृक्ष की लताओं के गुच्छों से, रत्नों के गुच्छों से और कल्पवृक्ष आदि देववृक्षों के पल्लवों से, विविध प्रकार के फूलों की मालाओं से, किंकिरात, अगस्ति, कुन्द, चम्पा, नीलकमल, रक्तकमल, कुईं, काश, खजूर, आम, पलास, अशोक, मैनफल, बिल्व, कनैल, किरातक, कदम्ब, मौलसिरी, नीम, सेन्दुआर, जुही, बकायन, गुगुलि, बिन्दुक आदि फूलों के समूहों से, मेंहदी, पाटल, आम, अमड़ा, गव्य और हर्रे, बहेड़ों के फूलों से, शाल, ताल और तमालों के लता, फूल और पल्लवों से, कोमल-कोमल कलियों से, काश्मीर केसर युक्त आम के बौरों से, केवड़े, कमल और इलायची की मञ्जरियों से, इनके अतिरिक्त, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, दर्पण, छत्र, चँवर, आरती, पुष्पाञ्जलि, प्रदक्षिणा, नमस्कार आदि

केतकैः शतपत्रैश्च तथैलामञ्जरीगणैः ।
सर्वसौन्दर्यसंमानैः स्वयमात्मार्पणैरपि ॥ १५ ॥
हरिं परमया भक्त्या जगद्विभवभव्यया ।
मनसा पूजयामास प्रह्लादोऽन्तःपुरे पतिम् ॥ १६ ॥
अथ देवगृहे तस्मिन् बाह्यार्थैः परिपूर्णया ।
पूजया पूजयामास दानवेशो जनार्दनम् ॥ १७ ॥
बहिर्द्रव्यैरनेनैव क्रमेण परमेश्वरम् ।
पुनः पुनः पूजयित्वा तुष्टिमान् दानवोऽभवत् ॥ १८ ॥
ततस्ततःप्रभृत्येव प्रह्लादः परमेश्वरम् ।
तथैव प्रत्यहं भक्त्या पूजयामास पूर्णया ॥ १९ ॥
अथ तस्मिन् पुरे दैत्यास्ततःप्रभृति वैष्णवाः ।
सर्व एवाऽभवन् भव्या राजा ह्याचारकारणम् ॥ २० ॥
जगाम वार्ता गगनं देवलोकमथाऽरिहन् ।
विष्णोर्द्वेषं परित्यज्य भक्ता दैत्याः स्थिता इति ॥ २१ ॥
देवा विस्मयमाजग्मुः शक्राद्याः समरुद्गणाः ।
गृहीता वैष्णवी भक्तिर्दैत्यैः किमिति राघव ! ॥ २२ ॥

सौन्दर्य युक्त सब उपचारों से स्वयं अपने अर्पण द्वारा भी जगत् में जो-जो विभव प्रसिद्ध हैं उपकरण बनाये गये उनसे भव्य भक्ति से प्रह्लाद ने अपने अन्तःपुर में मन से अपने स्वामी भगवान् की पूजा की ॥ ८–१६ ॥

अनन्तर दानवराज प्रह्लाद ने उस देवगृह में बाह्य सामग्री से पूर्ण मन से भगवान् विष्णु की पूजा की ॥१७॥

इसी मानस पूजा में कहे गये क्रम से बाह्य पदार्थों से परमेश्वर की बार-बार पूजा कर दानवराज प्रह्लाद को संतोष हुआ ॥ १८ ॥

अनन्तर तभी से प्रह्लाद प्रतिदिन पूर्वोक्त पूर्ण भक्ति से भगवान् की पूजा करने लगा ॥ १९ ॥

अनन्तर उस नगर में सभी दैत्य विष्णुभक्त और सदाचारी हो गये । राजा आचार का हेतु है ॥ २० ॥

हे शत्रुनाशक ! अनन्तर यह समाचार दूतों द्वारा अन्तरिक्ष और स्वर्ग लोक में पहुँच गया कि दैत्य भगवान् विष्णु का द्वेष करना छोड़कर उनके भक्त बन गये हैं ॥२१॥

हे श्रीराघव ! मरुतों सहित इन्द्र आदि सब देवताओं को आश्चर्य हुआ कि दैत्यों ने किस कारण से विष्णु भगवान् की भक्ति अपनाई है ? ॥ २२ ॥

आश्चर्य से आकुल हुए देवता अमरावती का त्यागकर क्षीरसागर में शेषशय्या पर विराजमान युद्धविजयी श्रीहरि के समीप गये ॥ २३ ॥

क्षीरोदे भोगिभोगस्थं विबुधा विस्मयाकुलाः ।
जग्मुरम्बरमुत्सृज्य हरिमाहवशालिनम् ॥ २३ ॥
तत्रैनं दैत्यवृत्तान्तं कथयामासुरस्य ते ।
पप्रच्छुश्चैनमासीनमपूर्वाश्चर्यविस्मयम् ॥ २४ ॥

विबुधा ऊचुः

किमेतद् भगवन् ! दैत्या विरुद्धा ये सदैव ते ।
ते हि तन्मयतां याता मायेयमिति भाव्यते ॥ २५ ॥
क्व किलाऽत्यन्तदुर्वृत्ता दानवा दलिताद्रयः ।
क्व पाश्चात्यमहाजन्मलभ्या भक्तिर्जनार्दने ॥ २६ ॥
प्राकृतो गुणवान् जात इत्येषा भगवन् ! कथा ।
अकालपुष्पमालेव सुखायोद्वेजनाय च ॥ २७ ॥
नोपपन्नं हि यद्यत्र तत्र तन्न विराजते ।
मध्ये काचकलापस्य महामूल्यो मणिर्यथा ॥ २८ ॥
यो यो यादृग्गुणो जन्तुः स तामेवैति संस्थितिम् ।
सदृशेष्वप्यजेषु श्वा न मध्ये रमते क्वचित् ॥ २९ ॥
न तथा दुःखयन्त्यङ्गे मज्जन्त्यो वज्रसूचयः ।
वैसादृश्येन सम्बद्धा यथैता वस्तुदृष्टयः ॥ ३० ॥

वहाँ पर उन्होंने श्रीहरि के लिए यह वृत्तान्त कहा और शेषशय्यापर बैठे हुए भगवान् से यह अपूर्व अद्भुत आश्चर्य पूछा ॥ २४ ॥

देवताओं ने कहा—भगवन् ! यह क्या बात है, सदा ही आपके विरुद्ध रहने वाले दैत्य आपके भक्त हो गये हैं । यह माया मालूम होती है ॥ २५ ॥

कहाँ तो जिन्होंने आपके भक्तों, देवता और मुनियों के निवासभूत पर्वत तक तोड़-फोड़ डालने वाले और कहाँ अन्तिम उत्तम जन्म में प्राप्त होनेवाली भगवान् जनार्दन में भक्ति ॥ २६ ॥

हे भगवन् ! पामर पुरुष गुणवान् हो गया, यह कथा औत्पातिकी अकालपुष्पमाला के समान सुख के लिए और उद्वेग के लिए भी है ॥ २७ ॥

जो जहाँ पर उचित न हो वह वहाँ वैसे ही शोभित नहीं होता जैसे काँचों के बीच में बहुमूल्य मणि शोभित नहीं होती ॥ २८ ॥

जो-जो जैसे गुण का प्राणी होता है, वह उसी तामसी, राजसी या सात्त्विक स्थिति को प्राप्त करता है, यही बात उचित है, कुत्ते के सदृश बकरों के बीच में शोभित नहीं होता ॥ २९ ॥

जैसा अनौचित्य से संबद्ध ये वस्तु दृष्टियाँ दुःख देती हैं वैसा शरीर में चुभती हुई वज्र की सुइयाँ दुःख नहीं देती ॥ ३० ॥

यद्यत्र क्रमसंप्राप्तमुपपन्नमनिन्दितम् ।
तदेव राजते तत्र जलेऽम्भोजं न तु स्थले ॥ ३१ ॥
क्वाऽधमः प्राकृतारम्भो हीनकर्मरतिः सदा ।
वराको दानवो हीनजातिर्भक्तिः क्व वैष्णवी ॥ ३२ ॥
कमलिनी परुषोषरभूगता
सुखयतीह यथा न दुराश्रया ।
दितिसुतोऽपि हि माधवभक्तिमान्
इति कथा न तथेश सुखाय नः ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशम-
प्रकरणे विबुधवाक्यं नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

जो जहाँ पर क्रम से प्राप्त हो, उचित हो और अनिन्दित हो, वही वहाँ पर शोभित होता है। देखिये न, कमल जल में ही शोभित होता है, स्थल में नहीं ॥ ३१॥

कहाँ तो पामरोचित कार्य करने वाला, सदा निन्दित कर्मों में निरत और तामसयोनि अधम शोचनीय दानव और कहाँ वैष्णवी भक्ति ? ॥ ३२ ॥

कमलिनी सन्तप्त ऊषर भूमि में स्थित है, यह कथा जैसे श्रोताओं को सुख नहीं देती वैसे ही दिति की सन्तति भी भगवान् में भक्ति करती है। यह अधम पुरुष का अवलंबन करने वाली कथा भी हमारे लिए सुखदायी नहीं है ॥ ३३ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में
विबुधवाक्य नामक कुसुमलता का बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३२ ॥

३३

वसिष्ठ उवाच

गर्जन्तमतिसंरब्धं सुरलोकमथाऽरिहा ।
उवाच माधवो वाक्यं शिखिवृन्दमिवाऽम्बुदः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

विबुधा मा विषण्णाः स्थ प्रह्लादो भक्तिमानिति ।
पाश्चात्यं जन्म तस्येदं मोक्षार्होऽसावरिन्दमः ॥ २ ॥
अत उत्तरमेतेन गर्भता दनुजन्मना ।
न कर्तव्या प्रदग्धेन बीजेनेवाङ्कुरक्रिया ॥ ३ ॥
गुणवान्निर्गुणो जात इत्यनर्थक्रमं विदुः ।
निर्गुणो गुणवान् जात इत्याहुः सिद्धिदं क्रमम् ॥ ४ ॥
आत्मीयानि विचित्राणि भुवनान्यमरोत्तमाः ।
प्रयात नासुखायैषा प्राह्लादी गुणितेह वः ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा विबुधांस्तत्र क्षीरोदार्णववीचिषु ।
अन्तर्धानं ययौ देवस्तटतापिच्छगुच्छवत् ॥ ६ ॥
सोऽपि संपूजितहरिः सुरौघोऽव्रजदम्बरम् ।
पुनर्मन्दरनिर्धूतात् कणजालमिवाऽर्णवात् ॥ ७ ॥

३३

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनुचित देखने से कुपित जोर से चिल्ला कर पूछ रहे देववृन्द से शत्रुओं का विनाश करने वाले भगवान् वैसे ही वाक्य बोले जैसे मयूरों के झुण्ड से बादल बोलता है ॥ १ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे देववृन्द ! प्रह्लाद भक्तिमान् हो गया है, यह जान कर आप लोग दुःखी न हों ? उसका यह अन्तिम जन्म है ॥ २ ॥

इसके बाद इस दानव को मातृगर्भ में निवास वैसे ही नहीं करना होगा जैसे जला हुआ बीज अङ्कुर पैदा नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

गुणवान् पुरुष गुणहीन होने पर विद्वान् लोग पुरुषार्थ का विघात करने वाला क्रम कहते हैं। निर्गुण के गुणवान् होने पर तो इसे सिद्धिदायक क्रम कहते हैं ॥ ४ ॥

हे देवश्रेष्ठो ! आप लोग अपने-अपने अद्भुत लोकों को जाये। प्रह्लाद की यह भक्ति आदि गुणवत्ता आप लोगों के अमङ्गल के किए नहीं है ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—भगवान् देवताओं से यह कह कर वहाँ क्षीरसागर की लहरों में तटवर्ती तापिच्छ वृक्ष के गुच्छों की तरह अन्तर्हित हो गये ॥ ६ ॥

पहले आकाश से आये हुए वे देवता भी स्तुति द्वारा भगवान् की पूजा कर फिर वैसे ही आकाश में चले गये जैसे पहले आकाश से समुद्र में गिरा हुआ जलकणसमूह मन्दराचल से कम्पित सागर से फिर आकाश में चला जाता है ॥ ७ ॥

प्रह्लादं प्रति गीर्वाणास्ततः स्निग्धत्वमाययुः ।
महान्तो यत्र नोद्विग्नास्तत्र विश्वासवन्मनः ॥ ८ ॥
प्रत्यहं पूजयामास देवदेवं जनार्दनम् ।
मनसा कर्मणा वाचा प्रह्लादो भक्तिमानिति ॥ ९ ॥
अथ पूजापरस्याऽस्य समवर्धन्त कालतः ।
विवेकानन्दवैराग्यविभवप्रमुखा गुणाः ॥ १० ॥
नाऽभ्यनन्ददसौ भोगपूगं शुष्कमिव द्रुमम् ।
न चाऽरमत कान्तासु मृगो लोकमहीष्विव ॥ ११ ॥
न रेमे लोकचर्यासु शास्त्रार्थकथनादृते ।
न जायते रतिस्तस्य दृश्ये स्थल इवाऽब्जिनी ॥ १२ ॥
न विशश्राम चेतोऽस्य भोगरोगानुरञ्जने ।
मुक्ताफलमसंश्लिष्टं मुक्ताफल इवाऽमले ॥ १३ ॥
त्यक्तभोगादिकलनं विश्रान्तिमनुपागतम् ।
चेतः केवलमस्याऽऽसीद्दोलायामिव योजितम् ॥ १४ ॥
प्राह्लादीं तां स्थितिं विष्णुर्देवः क्षीरोदमन्दिरात् ।

तब से प्रह्लाद के प्रति देवताओं की मित्रता हो गई। जिस पुरुष या विषय में अपने पूजनीय पिता, आचार्य आदि उद्विग्न नहीं हुए, उसमें बालकों का भी मन विश्वासी हो जाता है ॥ ८ ॥

इस प्रकार के भक्तिमान् प्रह्लाद ने देवाधिदेव भगवान् विष्णु की प्रतिदिन मन, कर्म और वचन से पूजा की ।।९।

अनन्तर भगवत्पूजा में परायण प्रह्लाद के समय क्रम से विवेक, आनन्द, वैराग्य, विभव आदि गुण बढ़ गये ॥ १० ॥

उसकी भोगों की ओर अभिरुचि वैसे ही न थी जैसे सूखे हुए वृक्ष की ओर किसी का आकर्षण नहीं होता है और वह कान्ताओं में वैसे ही नहीं रमता था जैसे मृग जनाकीर्ण भूमि में प्रसन्न नहीं होता ।। ११ ।।

शास्त्रार्थकथन के सिवा अशास्त्रीय लोकवृत्तों में वह नहीं रमता था। स्थल में दर्शनयोग्य समाज, उत्सव आदि कौतुकों में उसका वैसे ही प्रेम न था जैसे कमलिनी का प्रेम नहीं होता ।। १२ ॥

भोगरूपी रोगों के विषयरूपी अपथ्य के सेवन द्वारा अनुकूलाचरण में उसका चित्त वैसे ही स्थिर नहीं होता था जैसे न गूँथा हुआ मोति निर्मल मोति पर स्थिर नहीं रह सकता ।। १३ ।।

उसके चित्त ने भोग आदि की कल्पना का त्याग कर दिया था, किन्तु विश्रान्ति सुख को वह प्राप्त नहीं हुआ

विवेद सर्वगतया धिया परमकान्तया ॥ १५ ॥
अथ पातालमार्गेण विष्णुराह्लादिताग्रतः ।
पूजादेवगृहं तस्य प्रह्लादस्य समाययौ ॥ १६ ॥
विज्ञायाऽभ्यागतं देवं पूजया द्विगुणेद्धया ।
दैत्येन्द्रः पुण्डरीकाक्षमादरात् पर्यपूजयत् ॥ १७ ॥
पूजागृहगतं देवं प्रत्यक्षावस्थितं हरिम् ।
प्रह्लादः परमप्रीतो गिरा तुष्टाव पुष्टया ॥ १८ ॥

प्रह्लाद उवाच

त्रिभुवनभवनाभिरामकोशं
सकलकलङ्कहरं परं प्रकाशम् ।
अशरणशरणं शरण्यमीशं
हरिमजमच्युतमीश्वरं प्रपद्ये ॥ १९ ॥
कुवलयदलनीलसन्निकाशं
शरदमलाम्बरकोटरोपमानम् ।
भ्रमरतिमिरकज्जनाभं
सरसिजचक्रगदाधरं प्रपद्ये ॥ २० ॥

था, फलतः वह झूले में लटकाये हुए की तरह बीच में लम्बमान स्थित रहा ॥ १४ ॥

भगवान् विष्णु ने प्रह्लाद की उस स्थिति को क्षीर-सागर से सबमें विद्यमान अपनी परम रमणीय बुद्धि से जान लिया ॥ १५ ॥

अनन्तर भक्तों को आह्लादित करने वाले भगवान् विष्णु पाताल मार्ग से पूजादेवगृह में प्रह्लाद के सामने आये ।। १६ ।।

भगवान् पुण्डरीकाक्ष को आया हुआ जानकर दैत्य-राज प्रह्लाद ने दुगुनी सामग्री से देदीप्यमान पूजा से आदरपूर्वक उनकी पूजा की ।। १७ ।।

परम प्रसन्न हुए प्रह्लाद ने पूजागृह में आये हुए नेत्रों के सामने स्थित भगवान् श्रीहरि की अतिशय हर्ष के विकास को प्राप्त वाणी से स्तुति की ।। १८ ।।

प्रह्लाद ने कहा :—

मैं त्रिभुवन की सुरक्षित स्थिति के अनुकूल सुन्दर कोश गृहरूप, बाह्य और आभ्यन्तर अन्धकार का विनाश करने वाले, स्वयं ज्योतिस्वरूप, अनाथों के रक्षक, शरण के योग्य, सर्वशक्तिसम्पन्न, रजोगुण से ब्रह्मा स्वरूप सत्त्वगुण से अच्युतस्वरूप और तमोगुण से शिवस्वरूप, सब दुःखों का हरण करने वाले हरि के शरणागत होता हूँ ।। १९ ।।

नीलकमल और नीलमणि के समान कान्ति वाले,

विमलमलिकलापकोमलाङ्गं
सितदलपङ्कजकुड्मलाभशङ्खम् ।
श्रुतिरणितविरञ्चिचञ्चरीकं
स्वहृदयपद्मदलाश्रयं प्रपद्ये ॥ २१ ॥
सितनखगणतारकावकीर्णं
स्मितधवलाननपीवरेन्दुबिम्बम् ।
हृदयमणिमरीचिजालगङ्गं
हरिशरदम्बरमाततं प्रपद्ये ॥ २२ ॥
अविरलकृतसृष्टिसर्वलीनं
सततमजातमवर्द्धनं विशालम् ।
गुणशतजरठाभिजातदेहं
तरुदलशायिनमर्भकं प्रपद्ये ॥ २३ ॥
नवविकसितपद्मरेणुगौरं
स्फुटकमलावपुषा विभूषिताङ्गम् ।
दिनशमसमयारुणाङ्गरागं
कनकनिभाम्बरसुन्दरं प्रपद्ये ॥ २४ ॥
दितिसुतनलिनीतुषारपातं
सुरनलिनीसततोदितार्कबिम्बम् ।
कमलजनलिनीजलावपूरं
हृदि नलिनीनिलयं विभुं प्रपद्ये ॥ २५ ॥
त्रिभुवननलिनीसितारविन्दं
तिमिरसमानविमोहदीपमग्र्यम् ।
स्फुटतरमजडं चिदात्मतत्त्वं
जगदखिलार्तिहरं हरिं प्रपद्ये ॥ २६ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति गुणबहुलाभिर्वाग्भिरभ्यर्चितोऽसौ
हरिरसुरविनाशः श्रीनिषण्णांसदेशः ।
जलद इव मयूरं प्रीतिमान् प्रीयमाणं
कुवलयदनीलः प्रत्युवाचाऽसुरेन्द्रम् ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे नारायणागमनं नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥३३॥

शरत्कालीन निर्मल आकाश के मध्यभाग के तुल्य श्यामल, भ्रमर, अन्धकार, काजल और अञ्जन के समान कान्ति वाले, कमल, चक्र और गदा धारण करने वाले आपकी शरण में मैं प्राप्त होता हूँ ॥ २० ॥

जिनका शरीर भौंरों की राशि के समान कोमल है, जिनका शुभ्र शङ्ख सफेद कमल के कुड्मल के समान सुशोभित होता है, श्रुति ही जिनका गुंजन है—ऐसे ब्रह्मा जी जिनके नाभिकमल के भ्रमर हैं एवं जो अपने भक्तों के हृदय-कमल में निवास करते हैं, ऐसे भगवान् की मैं शरण लेता हूँ ॥ २१ ॥

सफेद नखरूपी तारे जिसमें बिखरे हैं, मन्द-मन्द हास से प्रकाशमान मुख ही जिसमें पूर्ण चन्द्रबिम्ब है एवं कौस्तुभमणि की किरणराशि ही जिसमें आकाशगंगा है, इस प्रकार के विस्तृत हरिरूपी शरत्कालिक आकाश की मैं शरण लेता हूँ ॥ २२ ॥

रची गई घनी सृष्टि जिसमें बिना किसी संकोच के निविष्ट है, सत्त्व आदि मायागुणों से होने वाले अनन्त कल्याण गुणगणों से जिनकी चिरन्तन मूर्ति रमणीय है, प्रलयकाल में वटपत्र पर सोने वाले बालकरूप अविनाशी, अज, अविकारी, सर्वव्यापक, भगवान् की शरण में मैं जाता हूँ ॥ २३ ॥

ताजे फूले हुए नाभि कमल के पराग से वक्षःस्थल में पीले वर्ण वाले, प्रकाशमान लक्ष्मी के शरीर से विभूषित वामाङ्ग वाले, सायंकाल के समय के समान अरुण अङ्गराग वाले एवं सुवर्ण के समान चमकदार पीताम्बर से सुन्दर भगवान् की शरण में मैं जाता हूँ ॥ २४ ॥

दैत्यरूपी नलिनी के लिए हिमपातरूप, देवरूपी नलिनी के लिए सदा उदित सूर्य मण्डलरूप, ब्रह्मारूपी नलिनी के तडागरूप एवं हृदयकमल में निवास करने वाले विष्णु की मैं शरण लेता हूँ ॥ २५ ॥

त्रिभुवनरूपी कमलिनी के लिए सूर्यरूप, अन्धकार के सदृश आच्छादक अज्ञान के लिए श्रेष्ठ दीपरूप, नित्य-स्वप्रकाश, अजड, चिदात्मतत्त्वरूप, जगत् की सब पीड़ाओं को दूर करने वाले भगवान् की मैं शरण लेता हूँ ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार विविध गुणों से युक्त स्तुति वचनों से पूजित असुरों का विनाश करने वाले श्रीलक्ष्मीजी से आलिङ्गित कण्ठ वाले नील कमल सदृश श्यामल भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होकर जैसे मेघ मयूर के प्रति बोलता है वैसे ही दैत्यराज प्रह्लाद के प्रति बोले ॥ २७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में नारायणागमन नामक कुसुमलता का तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३३ ॥

३४

श्रीभगवानुवाच

वरं गुणनिधे दैत्यकुलाचूडामहामणे ।
गृहाणाऽभिमतं भूयो जन्मदुःखोपशान्तये ॥ १ ॥

प्रह्लाद उवाच

सर्वसङ्कल्पफलद ! सर्वलोकान्तरस्थित ! ।
यदुदारतमं वेत्सि तदेवाऽऽदिश मे विभो ! ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

सर्वसंभ्रमसंशान्त्यै परमाय फलाय च ।
ब्रह्मविश्रान्तिपर्यन्तो विचारोऽस्तु तवाऽनघ ! ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा दितिपुत्रेन्द्रं विष्णुरन्तरधीयत ।
कृतघर्घरनिर्ह्रादस्तरङ्गस्तोयधेरिव ॥ ४ ॥
विष्णावन्तर्हिते देवे पूजायां कुसुमाञ्जलिम् ।
पाश्चात्यं दानवस्त्यक्त्वा मणिरत्नपरिष्कृतम् ॥ ५ ॥
पद्मासनस्थोऽतिमुदा ह्युपविश्य वरासने ।
स्तोत्रपाठविधावन्तश्चिन्तयामास चेतसा ॥ ६ ॥
विचारवानेव भवान् भवत्विति भवारिणा ।
देवेनोक्तोऽस्मि तेनाऽन्तः करोम्यात्मविचारणम् ॥ ७ ॥
किमहं नाम तावत् स्यां योऽस्मिन् भुवनडम्बरे ।
वच्मि गच्छामि तिष्ठामि प्रयत्नेनाऽऽहरामि च ॥ ८ ॥
जगत्तावदिदं नाऽहं सवृक्षतृणपर्वतम् ।
यद्बाह्यं जडमत्यन्तं तत्स्यां कथमहं किल ॥ ९ ॥
असन्नभ्युदितो मूकः पवनैः स्फुरितः क्षणम् ।
कालेनाऽल्पेन विलयी देहो नाऽहमचेतनः ॥ १० ॥
जडया कर्णशष्कुल्या कल्प्यमानः क्षणक्षयी ।
शून्याकृतिः शून्यभवः शब्दो नाऽहमचेतनः ॥ ११ ॥
त्वचा क्षणविनाशिन्या प्राप्यमप्राप्यमप्यथ ।
चित्प्रसादोपलब्धात्म स्पर्शनं नाऽस्म्यचेतनम् ॥ १२ ॥

३४

श्रीभगवान् ने कहा :—

हे दैत्यकुल के चूड़ामणिस्वरूप ! हे गुणसागर ! पुनः जन्मरूपी दुःख की निवृत्ति के लिए तुम अभीष्ट वर माँगो ॥ १ ॥

प्रह्लाद ने कहा—हे प्रभो ! आप सब सङ्कल्पों का फल देने वाले हैं और सब प्राणियों के हृदय में स्थित हैं, जिस वस्तु को आप सर्वोत्तम समझते हों, उसीको मुझे देने की कृपा करें ॥ २ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे पापरहित ! सब सन्देहों की निवृत्ति के लिए और मुक्तिरूपी सर्वोत्तम फल के लिए तुम्हारा ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्त विचार हो ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—दैत्यराज प्रह्लाद से यह कह कर भगवान् विष्णु वैसे ही अन्तर्हित हो गये जैसे कलकल ध्वनि करके समुद्र की लहर छिप जाती है ॥ ४ ॥

भगवान् विष्णु के अन्तर्हित होनेपर प्रह्लाद ने पूजा में मणि-रत्नों से सुशोभित अन्तिम पुष्पाञ्जलि देकर सुन्दर आसन पर बैठकर, पद्मासन लगाकर स्तोत्रपाठ करने के समय बड़े हर्ष से अपने अन्तःकरण में विचार किया ॥ ५—६ ॥

जन्ममरणरूपी संसार से छुटकारा देनेवाले भगवान् ने तुम विचारवान् ही हो, ऐसा मुझे उपदेश दिया है। इसलिए मैं अपने अन्तःकरण में आत्मविचार करता हूँ ॥ ७ ॥

इस संसाररूपी आडम्बर में बोलता हूँ, चलता हूँ, बैठता हूँ और सब उद्योगों से विषयों का उपभोग करता हूँ, वह मैं कौन हूँ, यही विचार पहले मुझे करना चाहिये ॥ ८ ॥

वृक्ष, तृण, पर्वत आदि से युक्त यह सारा जगत् तो आत्मा नहीं हो सकता है, क्योंकि बाहरी और अत्यन्त जड़ मैं कैसे हो सकता हूँ ॥ ९ ॥

असत् होते हुए भी उदित, जड़ होने के कारण बोलने में असमर्थ, प्राणवायुओं द्वारा केवल अपने संचार के समय में संचलित, थोड़े समय में नष्ट होने वाला यह अचेतन शरीर मैं नहीं हूँ ॥ १० ॥

जड़ कर्णच्छिद्र द्वारा अति दीर्घ, गम्भीर, पद, वाक्य आदि भेदों से कल्पित क्षणभर में नष्ट होने वाला, क्षयी होने के कारण शून्याकार, आकाश से उत्पन्न होने वाला अचेतन शब्द मैं नहीं हूँ ॥ ११ ॥

क्षण में नष्ट होने वाली त्वगिद्रिय से प्राप्त होने वाला और अन्य प्रकार से प्राप्त न होने वाला, चित् के प्रसाद से आत्मस्वरूप को प्राप्त अचेतनस्वरूप स्पर्श भी मैं नहीं हूँ ॥ १२ ॥

बद्धात्मा जिह्वया तुच्छो लोलया लोलसत्तया ।
स्वल्पस्पन्दो द्रव्यनिष्ठो रसो नाऽहमचेतनः ॥ १३ ॥
दृश्यदर्शनयोर्लीनं क्षयि क्षणविनाशिनोः ।
केवले द्रष्टरि क्षीणं रूपं नाऽहमचेतनम् ॥ १४ ॥
नासया गन्धजडया क्षयिण्या परिकल्पितः ।
पेलवोऽनियताकारो गन्धो नाऽहमचेतनः ॥ १५ ॥
निर्ममोऽमननः शान्तो गतपञ्चेन्द्रियभ्रमः ।
शुद्धचेतन एवाऽहं कलाकलनवर्जितः ॥ १६ ॥
चेत्यवर्जितचिन्मात्रमहमेषोऽवभासकः ।
सबाह्याभ्यन्तरव्यापी निष्कलामलसन्मयः ॥ १७ ॥
अनेन चेतनेनेमे सर्वे घटपटादयः ।
सूर्यान्ता अवभाष्यन्ते दीपेनोत्तमतेजसा ॥ १८ ॥
आ इदानीं स्मृतं सत्यमेतत्तदखिलं मया ।
निर्विकल्पचिदाभास एष आत्माऽस्मि सर्वगः ॥ १९ ॥
अनेनैताः स्फुरन्तीह विचित्रेन्द्रियवृत्तयः ।

अनित्य, चञ्चल जिह्वा से संबद्धस्वभाव वाला द्रव्य में रहने वाला, अचेतन तुच्छ रस, जिह्वा के अग्रभाग से लेकर कण्ठ तक आस्वाद का प्रसार वाला भी मैं नहीं हूँ ॥ १३ ॥

क्षण विनाशी पदार्थ और चक्षु इन दोनों के अधीन सिद्धिवाला विनश्वर तथा केवल द्रष्टा में अविद्यमान अचेतन रूप मैं नहीं हूँ ॥ १४ ॥

गन्धवती, जड़, नष्ट होने वाली घ्राणेन्द्रिय द्वारा कल्पित, अनियत आकार वाला अचेतन तुच्छ गन्ध भी मैं नहीं हूँ ॥ १५ ॥

'मम' इस प्रकार के अभिमान से रहित, मन रूप मन के व्यापार से शून्य, माया के सम्बन्ध से रहित, पञ्चेन्द्रियों के भ्रम से शून्य शान्त शुद्ध चेतन ही मैं हूँ ॥ १६ ॥

स्वयं ज्योति, सब का प्रकाशक, बाह्य और आभ्यन्तर सर्वत्र व्यापक, अखण्ड निमल, सन्मय मैं चेत्यरहित ही हूँ ॥ १७ ॥

अन्यनिरपेक्ष होने के कारण उत्तम तेज रूप इस चेतन रूप दीपक से ही घट-पट आदि सूर्यपर्यन्त ये सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं ॥ १८ ॥

इस सारे सत्य का मुझे अब स्मरण हो आया है। आकाश आदि विकल्पों से रहित चिद्रूप प्रकाश सर्व व्यापक यह आत्मा मैं हूँ ॥ १९ ॥

तेजसाऽन्तःप्रकाशेन यथाऽग्निकणपङ्क्तयः ॥ २० ॥
अनेनैताः स्फुरन्तीह विचित्रेन्द्रियपङ्क्तयः ।
सर्वगेन निदाघेन यथा मरुमरीचिकाः ॥ २१ ॥
अनेनैतत्पदार्थानां वस्तुत्वं प्रतिपाद्यते ।
शुक्लादिगुणवत्त्वं स्वं प्रदीपेनेव वाससाम् ॥ २२ ॥
असावेव हि भूतानां सर्वेषामेव जाग्रताम् ।
सर्वानुभविताभूमिरात्मा मुकुरवत् स्थितः ॥ २३ ॥
तस्यैकस्याऽविकल्पस्य चिद्दीपस्य प्रसादतः ।
उष्णोऽर्कः शिशिरश्चन्द्रो घनोऽद्रिर्विद्रुतं पयः ॥ २४ ॥
सातत्येनाऽनुभूतानां सर्वेषां च जगत्स्थितौ ।
एतत्कारणमाद्यं तत्कारणं नाऽस्य विद्यते ॥ २५ ॥
सातत्येनाऽनुभूतानां पदार्थानामनेन तत् ।
पदार्थत्वमुदेत्युच्चैः प्रतापेनेव तप्तता ॥ २६ ॥
अनाकारात् कारणाच्च सर्वकारणकारणात् ।
एतस्मादिदमुत्पन्नं जगच्छैत्यं हिमादिव ॥ २७ ॥

अन्तःप्रकाशमान तेज रूप इन विचित्र इन्द्रिय-वृत्तियों का इसी से वैसे ही स्फुरण होता है जैसे भीतर प्रकाशमान तेज से अभिभूत अंगार कण पंक्तियों का स्फुरण होता है ॥ २० ॥

सर्व व्यापक इस चेतन से ये विचित्र इन्द्रिय पंक्तियाँ वैसे ही स्फुरित होती हैं। जैसे ग्रीष्म ऋतु से मरुमरीचिकाओं का (मृगतृष्णाओं का) स्फुरण होता है ॥२१॥

पदार्थों की यह अपनी सत्ता वैसे ही इसी से प्रतिपादित होती है जैसे शस्त्रों का अपना शुक्लादि गुणवत्त्व प्रदीप से प्रतिपादित होता है ॥ २२ ॥

आत्मा चेतन सभी जीवों के सब अनुभवों का वैसा ही विश्रान्ति स्थान है जैसे दर्पण सब प्रतिबिम्बों का विश्रान्ति स्थान है ॥ २३ ॥

उसी एक विकल्परहित चिद्रूपी दीपक के प्रसाद से सूर्य उष्ण, चन्द्रमा ठण्डा, पर्वत ठोस और जल तरल है ॥ २४ ॥

प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूत सब पदार्थों की जगत् में उत्पत्ति आदि की व्यवस्था में सद्रूप से सब कार्यों में व्यक्त यही आदि कारण है, इसका कोई कारण नहीं है ॥२५॥

नैरन्तर्य क्रम से अनुभूत सब पदार्थों की सूर्य के अत्यन्त सन्तप्तता उत्पन्न होती है वैसे ही इसी के प्रताप से प्रसिद्ध आकाश आदि पदार्थत्व उत्पन्न होता है ॥ २६ ॥

वस्तुतः निराकार कारणत्व आदि आकार से शून्य

ब्रह्मविष्ण्वन्द्ररुद्राणां कारणानां जगत्स्थितौ ।
एतत्कारणमाद्यं तत्कारणं नाऽस्य विद्यते ॥ २८ ॥
चिच्चेत्यद्रष्टृदृश्यादिनामभिर्वर्जितात्मने ।
स्वयं सकृद्विभाताय मह्यमस्मै नमो नमः ॥ २९ ॥
एतस्मिन् सर्वभूतानि निर्विकल्पचिदात्मनि ।
गुणभूतानि भूतेशे तिष्ठन्ति विविशन्ति च ॥ ३० ॥
यत्किलाऽनेन कलितं चेतनेनान्तरात्मना ।
तत्तद्भवति सर्वत्र नेतरत्तसदपि स्थितम् ॥ ३१ ॥
यच्चिता कलितं किञ्चित्तदाप्नोति निजं पदम् ।
यच्चिता कलितं नेह तत्सदप्यन्तमागतम् ॥ ३२ ॥
इमे घटपटाकाराः पदार्थशतपङ्क्तयः ।
जागत्यो विपुलादर्शे ह्यस्मिन् व्योमनि बिम्बिताः ॥३३॥
एतद्वृद्धं वृद्धतरे क्षयि क्षयिणि जायते ।
पदार्थे सदसच्चापि प्रतिबिम्बार्कवत्स्थितम् ॥ ३४ ॥

और अविद्या से कारणभूत सब कारणों के कारण इससे यह दृश्य वैसे ही उत्पन्न हुआ है जैसे बर्फ से शीतलता उत्पन्न होती है ॥ २७ ॥

जगत् में उत्पत्ति आदि की व्यवस्था में कारणभूत ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र और रुद्र का यही आदि कारण है। इसका कोई कारण नहीं है ॥ २८ ॥

चित्, चेत्य, द्रष्टा, दृश्य आदि नामों से वर्जित स्वरूप वाले स्वयं नित्य स्वप्रकाश इसे मुझ प्रत्यक् चैतन्य के लिए बार-बार नमस्कार है ॥ २९ ॥

निर्विकल्प चैतन्य स्वरूप सब प्राणियों के अधिष्ठाता इसमें गुणों की तरह अभिन्न सत्ता वाले सब भूत स्थित रहते हैं और प्रवेश भी करते हैं ॥ ३० ॥

इस चेतन अन्तरात्मा ने यह उत्तर क्षण में उत्पन्न हो ऐसा संकल्प किया वही सर्वत्र उत्तर क्षण में उत्पन्न होता है, अन्य नहीं ॥ ३१ ॥

जिस वस्तु को चेतन ने अपनी सत्ता और स्फूर्ति के प्रदान द्वारा उज्जीवित किया, वही अपने व्यवहार पद को प्राप्त होता है और जिसको चेतन ने अपनी सत्ता और स्फूर्ति के प्रदान द्वारा उज्जीवित नहीं किया, वह होते हुए भी सत्त्व रूप नाश को प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥

ये घटपटाकार जगत् के सैकड़ों पदार्थ विशाल दर्पण-रूप इस चिदाकाश में प्रतिबिम्बित हैं ॥ ३३ ॥

यह भी विशाल पदार्थ में विशाल, विनष्ट होने वाले पदार्थ में विनाशी और सत्-असत्‌रूप से वैसे ही स्थित है जैसे प्रतिबिम्बित सूर्य में क्षय और वृद्धि प्रतिबिम्बरूप से स्थित सूर्य में ही अध्यस्त होकर अन्यवृत्तितया प्रतीत होते हैं ॥ ३४ ॥

अदृश्यं सर्वभूतानां प्राप्यं गलितचेतसाम् ।
एतत्तद्दृश्यते सद्भिः परं व्योमाऽतिनिर्मलम् ॥ ३५ ॥
इयमभ्युदयं याति नानादृश्यसुमञ्जरी ।
आचारचञ्चरीकाढ्या एतस्मात् कारणद्रुमात् ॥ ३६ ॥
अस्मादियमुदेत्युच्चैः संसाररचना चला ।
विचित्रतरुगुल्माढ्या शैलादिव वनावली ॥ ३७ ॥
सर्वेषामविभिन्नोऽसौ त्रैलोक्योदरवर्त्तिनाम् ।
ब्रह्मादीनां तृणान्तानां चिदात्मा संप्रकाशकः ॥ ३८ ॥
एकोऽसावहमाद्यन्तरहितः सर्वगाकृतिः ।
चराचराणां भूतानामन्तः स्वानुभवः स्थितः ॥ ३९ ॥
अस्य तस्य ममेमानि स्थावराणि चराणि च ।
परिसंख्यादिहीनानि शरीराणि बहूनि च ॥ ४० ॥
एकोऽसावनुभूत्यात्मा स्वानुभूतिवशात् स्वयम् ।
सर्वदृग्द्रष्टृदृश्यत्वात् सहस्रकरलोचनः ॥ ४१ ॥

अज्ञानियों के दर्शन के अयोग्य विलीन चित्त वाले महात्माओं को प्राप्त होने योग्य यह अतिशय निर्मल परमाकाश सत्पुरुषों द्वारा देखा जाता है ॥ ३५ ॥

आचार रूपी भौंरों से वेष्टित यह विविध दृश्य रूपी सुन्दर मञ्जरी इसी कारण रूप वृक्ष से उत्पन्न होती है ॥ ३६ ॥

यह चञ्चल विशाल संसार रचना इसी से वैसे ही उत्पन्न होती है जैसे विविध प्रकार के वृक्ष, झाड़ी और लताओं द्वारा वेष्टि वनपंक्ति पर्वत से उत्पन्न होती है ॥ ३७ ॥

तीनों लोकों में ब्रह्मा से लेकर तिनके तक सब पदार्थों का प्रकाशक यह स्वयंज्योति चिदात्मा सबसे अभिन्न है ॥ ३८ ॥

जन्म और विनाशरहित सर्वव्यापाक यह एक मैं सब चराचर भूतों के अन्दर स्वानुभव रूप स्थित हूँ ॥ ३९ ॥

मेरे ये स्थावर और जंगम बहुत शरीर हैं, जिनकी संख्या गणना, काल की इयत्ता और देश की इयत्ता नहीं हो सकती ॥ ४० ॥

अनुभूति स्वरूप अद्वय यह अपनी अनुभूति वश स्वयं सर्वद्रष्टा, सर्वदृश्य और सर्वदर्शन एवं हजारों लोचन और हाथ वाला है ॥ ४१ ॥

एषोऽसावहमाकाशे सूर्यदेहेन चारुणा ।
विहरामीतरेणाऽपि वायुदेहेन वायुना ॥ ४२ ॥
ममैतद्वपुरानीलं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
सर्वसौभाग्यसीमान्तं ह्यस्मिञ्जगति वल्गति ॥ ४३ ॥
अहमस्मिन् समुद्भूतः पद्मासनगतः सदा ।
निर्विकल्पसमाधिस्थः परां निर्वृतिमागतः ॥ ४४ ॥
अहं त्रिनेत्रयाऽऽकृत्या गौरीवक्त्राब्जषट्पदः ।
सर्गान्ते संहरामीदं कूर्मोऽङ्गपटलं यथा ॥ ४५ ॥
अहमिन्द्रेण रूपेण त्रिलोकीमखिलामिमाम् ।
पालयामि क्रमप्राप्तां मठिकामिव तापसः ॥ ४६ ॥
स्त्री पुमानहमेवैतत्कुमारो ह्यहमित्यपि ।
जीर्णोऽहं देहधारित्वाज्जातोऽहं विश्वतोमुखः ॥ ४७ ॥
अहं तृणलतागुल्मजालं रसतया स्थितः ।
उत्थापयामि चिद्भूमेः कूपोऽन्तरलतामिव ॥ ४८ ॥

यह प्रत्यक्ष ईश्वरभूत मैं सुन्दर सूर्यरूप होकर आकाश में विचरण करता हूँ एवं वायु रूप होकर अन्य वायु देह से भी आकाश में विचरण करता हूँ ॥ ४२ ॥

मेरा शङ्ख, चक्र और गदा धारण करने वाला, यह श्यामल शरीर, सब सौभाग्यों की चरम सीमा स्वरूप इस संसार में व्यवहार करता है ॥ ४३ ॥

इस जगत् में सदा पद्मासनासीन होकर निर्विकल्पक समाधि में स्थित परम सुख को प्राप्त ब्रह्मा रूप से मैं उत्पन्न हुआ हूँ ॥ ४४ ॥

मैं तीन नेत्रवाली आकृति से श्रीपार्वती के मुख-कमल का भ्रमर बनकर इस जगत् का प्रलयकाल में वैसे ही संहार करता हूँ जैसे कछुआ अपने अङ्गों को समेट लेता है ॥ ४५ ॥

इन्द्ररूप से मैं मन्वन्तर क्रम से प्राप्त इस सारे त्रिलोक का वैसे ही पालन करता हूँ जैसे तपस्वी गुरु परम्परा प्राप्त अपने मठ की रक्षा करता है ॥ ४६ ॥

मैं ही स्त्री हूँ, मैं ही पुरुष हूँ, मैं ही कुमार भी हूँ, देहधारी होने से मैं जीर्ण हो गया हूँ और मैं ही सर्वतो-मुख विराट् पुरुष हूँ ॥ ४७ ॥

मैं जीवसाररूप से स्थित होकर तृण, लता, झाड़ी आदि के समूह को चिद्रूप भूमि से इस प्रकार उत्पन्न करता हूँ जैसे जलरूप से स्थित जीर्ण कूप अपने अन्दर लता को उत्पन्न करता है ॥ ४८ ॥

स्वलीलार्थमिदं चारु जगदाडम्बरं ततम् ।
मयाऽभिजातबालेन पङ्कक्रीडनकं यथा ॥ ४९ ॥
मयेदमाप्यते सर्वं सत्ता मां प्राप्य गच्छति ।
मत्परित्यक्तमेतच्च सदप्येव न किञ्चन ॥ ५० ॥
मयि स्फारे चिदादर्शे प्रतिबिम्बं यदागतम् ।
तदस्ति नेतरद्यस्मान्मत्तोऽन्यन्नेह विद्यते ॥ ५१ ॥
कुसुमेष्वहमामोदः पुष्पपत्रेष्वहं छविः ।
छविष्वहं रूपकला रूपेष्वनुभवोऽप्यहम् ॥ ५२ ॥
यद्यत्किञ्चिदिदं दृश्यं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वसङ्कल्परहितं तच्चित्तत्त्वमहं परम् ॥ ५३ ॥
आद्या रसमयी शक्ती रसौघो विस्तृतो यया ।
सा यथा दारुकुडचेषु तथाऽहं सर्ववस्तुषु ॥ ५४ ॥
परमां तामहं सर्वपदार्थान्तरवर्तिताम् ।
उपेत्य संविद्वैचित्र्यं प्रतनोमि स्वयेच्छया ॥ ५५ ॥

सुन्दर बालकरूप मैंने इस सुन्दर जगद्रूपी आडम्बर का मिट्टी के खिलौने के समान अपनी क्रीडा के लिए विस्तार किया है ॥ ४९ ॥

मुझसे कारणरूप से यह जगत् व्याप्त किया जाता है। मुझे ही प्राप्त कर यह सत्ता को प्राप्त करता है। अपने तत्त्वदर्शन द्वारा मुझसे परित्यक्त यह जगत् जीवन्मुक्त व्यवहार में विद्यमान होता हुआ भी कुछ नहीं है ॥ ५० ॥

मुझ विशाल चिद्रूपी दर्पण में प्रतिबिम्ब प्राप्त यह मुझसे पृथक् नहीं है, क्योंकि इस संसार में मुझसे अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं ॥ ५१ ॥

मैं फूलों में सुगन्ध हूँ, फूलों की पंखुरियों में कान्ति हूँ, कान्तियों में रूपकला हूँ और रूपों में भी मैं अनुभव हूँ ॥ ५२ ॥

चराचर जगद्रूप में जो कुछ दृश्य है, वह सब सर्व-संकल्परहित परम चिदात्मतत्त्व मैं ही हूँ ॥ ५३ ॥

रसमयी आदि शक्ति जिससे सागर, नदी, तालाब, कूप आदि जलसमूह विस्तृत है, वही जलभूत शक्ति जैसे वृक्षों में शाखा, पल्लव आदि की उत्पत्ति में हेतुरूप से और दीवारों में तिनके, जौ के अङ्कुर आदि की उत्पत्ति में हेतुरूप से फैली है वैसे ही मैं सब वस्तुओं में तत्-तत् कार्यों की उत्पत्ति में हेतुरूप से फैला हूँ ॥ ५४ ॥

मैं अपनी इच्छा से सब पदार्थों की उस परम अन्तर्यामिता को प्राप्त कर ज्ञान वैचित्र्य का विस्तार करता हूँ ॥ ५५ ॥

घृतं यथाऽन्तः पयसो रसशक्तिर्यथा जले ।
चिच्छक्तिः सर्वभावेषु तथाऽन्तरहमास्थितः ॥ ५६ ॥
इदं जगत्त्रिकालस्थं चिति मध्ये च संस्थितम् ।
चेत्योपचाररहितं वस्तुजातमिवाऽवनौ ॥ ५७ ॥
भरिताशेषदिक्कुक्षिस्त्यक्तसङ्कोचविभ्रमः ।
सर्वस्थः सर्वकर्ता च विराट् सम्राडहं स्थितः ॥ ५८ ॥
अपूर्वमनिबद्धेन्द्रमशस्त्रदलितामरम् ।
अप्रार्थितं मे संप्राप्तं जगद्राज्यमिदं ततम् ॥ ५९ ॥
अहो नु विततात्माऽस्मि न माम्यप्यात्मनाऽऽत्मनि ।
कल्पान्तपवनाधूत एकार्णव इवाऽर्णवे ॥ ६० ॥
नाऽऽत्मन्यन्तवाप्नोमि स्वस्थेऽन्तः स्वदिते स्वयम् ।
क्षीरवारिनिधौ पङ्गुः सरीसृप इव स्फुरन् ॥ ६१ ॥
स्वल्पेयं मठिका ब्राह्मी जगन्नाम्नी सुसङ्कटा ।
गजो विल्व इव स्वाङ्गे न माति विपुलं वपुः ॥ ६२ ॥

चिच्छक्तिरूप मैं सब पदार्थों में वैसे ही स्थित हूँ जैसे दूध के अन्दर घृत रहता है और जल के अन्दर रस-शक्ति रहती है ॥ ५६ ॥

जैसे तृण, काष्ठ, लोष्ठ आदि वस्तुएँ पृथ्वी पर स्थित हैं अतीत, वर्तमान और भविष्य यह जड़ जगत् चिद्रूप मुझमें वैसे ही व्यवस्थित है ॥ ५७ ॥

सब दिशाओं के मध्य को जिसने पूर्ण कर रक्खा है, संकोच भ्रम का जिसने त्याग कर दिया है, सबमें स्थित सबका रचयिता और व्यष्टि भेद से शोभित होने वाला एवं समष्टिरूप से शोभित होने वाला मैं हूँ ॥ ५८ ॥

यह विस्तृत अपूर्व जगद्राज्य, जिसमें इन्द्र का बन्धन नहीं किया गया और अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा देवताओं का संहार नहीं किया गया, बिना प्रार्थना के मुझे प्राप्त हुआ है ॥ ५९ ॥

अहो ! मैं विस्तृत आत्मा वाला हूँ, मैं अपने-आप अपने आत्मा में, कोठिले में धानों की उसी प्रकार नहीं समा रहा हूँ जैसे प्रलय काल की घोर आँधी से उद्वेलित प्रलय सागर पहले के सागर के घेरे में नहीं समाता है ॥ ६० ॥

अन्दर अपने ही निरतिशय आनन्दरूप से स्वाद में आ रहे स्वस्थ आत्मा में मैं वैसे ही अन्त नहीं पाता हूँ जैसे कुण्ठित गतिवाला साँप क्षीरसागर में चलता हुआ उसका अन्त नहीं पाता ॥ ६१ ॥

यह जगन्नामक ब्रह्माण्ड, जिसका भीतर का भाग संकुचित है, बड़ा छोटा है, इसलिए मेरा विशाल शरीर इसमें वैसे ही नहीं समा सकता है जैसे बेल के फल के अन्दर हाथी नहीं समा सकता ॥ ६२ ॥

विरिञ्चभवनात् पारे तत्त्वान्तेऽप्याहरत् पदम् ।
प्रसरत्येव मे रूपमद्याऽपि न निवर्तते ॥ ६३ ॥
अयं नामाऽहमित्यन्तः कुतो निरवलम्बना ।
अपर्यन्ताकृतेरेषा किलाऽऽसीत् स्वल्पता मम ॥ ६४ ॥
भवानयमयं चाऽहमिति मिथ्येव विभ्रमः ।
को देहः कोऽप्यदेहो वा को मृतः कश्च जीवति ॥ ६५ ॥
वराकाः पेलवधियो बभूवुर्मे पितामहाः ।
ये साम्राज्यमिदं त्यक्त्वा रेमिरे भवभूमिषु ॥ ६६ ॥
क्वेयं किल महादृष्टिर्भरिता ब्रह्मबृंहिता ।
क्व सरीसृपभीमाशाभीमा राज्यविभूतयः ॥ ६७ ॥
अनन्तानन्दसम्भोगा परोपशमशालिनी ।
शुद्धेयं चिन्मयी दृष्टिर्जयत्यखिलदृष्टिषु ॥ ६८ ॥
सर्वभावान्तरस्थाय चेत्यमुक्तचिदात्मने ।
प्रत्यक्चेतनरूपाय मह्यमेव नमो नमः ॥ ६९ ॥

ब्रह्माण्डरूप ब्रह्मा के घर से आगे अन्त में भी फैल रहा मेरा स्वरूप आज भी प्रसार को प्राप्त हो रहा है वापिस नहीं होता है ॥ ६३ ॥

यह देह आदि मैं हूँ, इस प्रकार की निराधार यह कल्पना, इतने दिनों तक मेरे हृदय में कहाँ से हुई ? जिसकी आकृति का आर-पार नहीं है, ऐसी मेरी यह स्वल्पता कैसे हुई ? ॥ ६४ ॥

ये आप हैं, यह मैं हूँ, यह मिथ्या भ्रान्ति ही है। कौन शरीर है ? अशरीर भी कौन है ? कौन मरा ? प्राण कौन उनसे वियुक्त हुआ और कौन जीता है ॥ ६५ ॥

मेरे पिता, पितामह आदि सुकोमल मन्दमति थे, इसीलिए इस सामाज्य का त्याग कर भवभूमि में अनुरक्त हुए ॥ ६६ ॥

कहाँ ब्रह्म से बढ़ी हुई पूर्ण यह महा दृष्टि और कहाँ साँपों की भाँति भयंकर आशाओं से भीषण राज्य विभूतियाँ ॥ ६७ ॥

अनन्त आनन्द का भोग प्राप्त यह शुद्ध चिन्मय दृष्टि परम शान्ति देने वाली है, सब दृष्टियों में बढ़कर है ॥ ६८ ॥

सब पदार्थों के अन्दर विद्यमान चेत्यरहित चिदात्मा रूप प्रत्यक् चेतन स्वरूप मेरे लिए बार-बार नमस्कार है ॥ ६९ ॥

जयाम्यहमजो जातो जीर्णसंसारसंसृतिः ।
प्राप्तप्राप्यो महात्माऽयं जीवामि च जयामि च ॥ ७० ॥
इदमुत्तमसाम्राज्यं बोधं संत्यज्य शाश्वतम् ।
न रमेऽहमरम्यासु राज्यदुःखविभूतिषु ॥ ७१ ॥
दारुवारिदृषन्मात्रे लुलितो यो धरातले ।
धिग्वराकमनात्मज्ञं तं कुदानवकीटकम् ॥ ७२ ॥
अविद्यैकात्मभिर्द्रव्यैरविद्यामयमङ्गकम् ।
अज्ञेन संतर्पयता किं नाम गुरुणा कृतम् ॥ ७३ ॥
वर्षाणि कतिचित् प्राप्य जगच्छ्रीमठिकामिमाम् ।
किं नाम प्रापदुचितं हिरण्यकशिपुः किल ॥ ७४ ॥
अनास्वाद्येदमानन्दं जगद्राज्यशतान्यपि ।
समास्वादयता नेह किञ्चिदास्वादितं भवेत् ॥ ७५ ॥
न किञ्चिद्येन संप्राप्तं तेनेदं परमामृतम् ।
संप्राप्याऽन्तः प्रपूर्णेन सर्वं प्राप्तमखण्डितम् ॥ ७६ ॥

संसार सरणि को जीर्ण कर मैं अज हो गया हूँ, चारों ओर से जेतव्य के जय के फलरूप सर्वानर्थनिवृत्ति ो प्राप्त और प्राप्तव्य सब सुखों को प्राप्त कर मेरा ावन सफल हो गया है अतएव मैं सर्वोत्कृष्ट रूप से राजमान हूँ ॥ ७० ॥

नित्य बोध रूप इस उत्तम साम्राज्य का त्याग कर ररमणीय राज्य के विविध दुःखों में मुझे आनन्द नहीं मिलता है ॥ ७१ ॥

भूतल पर वनदुर्ग में लड़कियाँ, जलदुर्ग में जल और गिरि दुर्ग में पत्थर विपत्तियों के समय शरण होते हैं, स्वामित्व के अभिमान से सतृष्ण उस अज्ञानी कुदानव रूपी कीड़े के लिए धिक्कार है ॥ ७२ ॥

एकमात्र अविद्यात्मक अन्न-पान आदि पदार्थों से अविद्यामय गर्हित शरीर को तृप्त कर अज्ञानी हमारे पिता ने क्या किया ? ॥ ७३ ॥

कुछ वर्षों तक इस जगद्रूपी सम्पत्ति युक्त छोटे से मठ को पाकर हिरण्यकशिपु ने क्या कश्यप के कुल में में जन्म के अनुरूप परम पुरुषार्थ प्राप्त किया ? ॥ ७४ ॥

इस आत्म रूप आनन्द का आस्वाद न कर यहाँ सैकड़ों जगद्राज्यों का आस्वाद ले रहे पुरुष को कुछ भी आस्वाद नहीं मिला ॥ ७५ ॥

जिसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ, इस परम अमृत को पाकर पूर्ण अन्तःकरण वाले उसको यह सब निरन्तर प्राप्त हो जाता है ॥ ७६ ॥

त्यक्त्वा पदमिदं मूर्खो मितमेति न पण्डितः ।
उष्ट्रो हि त्यक्तसुलतः कण्टकं याति नेतरः ॥ ७७ ॥
परां दृष्टिमिमां त्यक्त्वा दग्धराज्ये रमेत कः ।
कस्त्यक्त्वेक्षुरसं प्राज्ञः कटुनिम्बपयः पिबेत् ॥ ७८ ॥
मूर्खा एव हि ते सर्वे बभूवुर्मे पितामहाः ।
इमां दृष्टिं परित्यज्य रेमिरे राज्यसङ्कटे ॥ ७९ ॥
क्व फुल्ला नन्दनस्थल्यः क्व दग्धमरुभूमयः ।
क्वेमा बोधदृशः शान्ताः क्व भोगेष्वात्मबुद्धयः ॥ ८० ॥
न किञ्चिदपि त्रैलोक्ये यद्राज्यमपि वाञ्छते ।
सर्वमस्त्येव चित्तत्त्वे तत्कस्मान्नाऽनुभूयते ॥ ८१ ॥
चिता सर्वस्थया स्वस्थसमया निर्विकारया ।
सर्वया सर्वदा सर्वं सर्वतः साधु लभ्यते ॥ ८२ ॥
भासिनी तैजसी शक्तिरमृतप्राप्तिरैन्दवी ।
ब्राह्मी महत्ता महती शाक्री त्रैलोक्यराजता ॥ ८३ ॥

इस परम पद का त्याग कर मूर्ख परिमित पदार्थ को प्राप्त करता है पण्डित नहीं। ऊँट ही सुन्दर लता का त्याग कर काँटों की ओर जाता है, अन्य नहीं ॥ ७७ ॥

इस परम दृष्टि का त्याग कर इस गर्हित राज्य में किसको प्रीति होगी ? कौन बुद्धिमान् पुरुष ईख के रस का त्याग कर नीम के पत्तों का कड़वा रस पीयेगा ॥७८॥

सचमुच मेरे पिता, पितामह सब मूर्ख ही रहे, इसी लिए इस दृष्टि का त्याग कर राज्य रूपी विपत्ति में प्रीति की ॥ ७९ ॥

कहाँ फूली हुई नन्दन वन की स्थालियाँ, कहाँ सन्तप्त मरुभूमियाँ, कहाँ शान्त ये ज्ञान दृष्टियाँ और कहाँ भोगा-यतन शरीर आदि में आत्मबुद्धि ? ॥ ८० ॥

त्रैलोक्य में राज्य को प्राप्त कर कुछ भी सुख नहीं मिलता है। पुरुष फिर भी उसे ही चाहता है, सब कुछ निहित चित्तत्त्व का ज्ञान क्यों नहीं करना ? ॥ ८१ ॥

सब में स्थित स्वस्थ और सम, निर्विकार, सर्वरूप चित् से सदा सब जगह सब सुख के साधन आनन्द से प्राप्त होते हैं ॥ ८२ ॥

तेज की भासन शक्ति, चन्द्रमा की अमृत प्राप्ति, हिरण्यगर्भ की सर्वमान्यता, इन्द्र की सर्वोत्कृष्ट त्रैलोक्य-राजता, शिवजी की निरतिशय ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द-शक्तिपूर्णता विष्णु की जयलक्ष्मी, मन की शीघ्रगतिता, वायु की बलवत्ता, अग्नि की दाहकता, जल की आप्या-यकता, भृगु आदि मुनियों की महातपःसिद्धि, बृहस्पति की

परमा पूर्णता शार्वी जयलक्ष्मीश्च वैष्णवी ।
मानसी शीघ्रगतिता बलवत्ता च वायवी ॥ ८४॥
आग्नेयी दाहकलना पायसी रसनिर्वृतिः ।
मौनी महातपःसिद्धिर्विद्या बार्हस्पती तथा ॥ ८५ ॥
वैमानिकी व्योमगतिः स्थिरता चाऽपि पार्वती ।
गम्भीरताऽथ सामुद्री मैरवी च महोन्नतिः ॥ ८६ ॥
शमश्रीः सौगती सौम्या मादिरी मदलोलता ।
माधवी पुष्पमयता वार्षिकी घनशब्दिता ॥ ८७ ॥
याक्षी च मायामयता नाभसी निष्कलङ्कता ।
शीतताऽपि च तौषारी नैदाघी तापतप्तता ॥ ८८ ॥
एताश्चाऽन्यास्तथा बह्वयो देशकालक्रियात्मिकाः ।
नानाकारविकारोत्थास्त्रिकालोदरसंस्थिताः ॥ ८९ ॥
विचित्राः शक्तयः स्वस्थसमया निर्विकारया ।
चिता क्रियन्ते परया कलाकलनयुक्तया ॥ ९० ॥
विकल्पहीना चित्सर्वा पदार्थशतदृष्टिषु ।
सममेवाऽभिपतति प्रभा प्राभाकरी यथा ॥ ९१ ॥

विद्या, विमानों की आकाश गति, पर्वतों की स्थिरता, समुद्र की गम्भीरता, मेरु पर्वत की महोन्नतता, बौद्ध सिद्धान्त में सिद्धशून्यता रूप सर्व उपद्रव शान्ति या ब्रह्मसाक्षात्कार-सम्बन्धिनी सर्वानर्थनिर्वापणशक्ति, मदिरा की मदचञ्चलता, वसन्त ऋतु की पुष्पमयता, वर्षा ऋतु की मेघशब्दता, यक्षों की मायामयता, आकाश की निर्मलता , हिम की शीतलता, ग्रीष्म ऋतु की तापतप्तता ये और इनसे अतिरिक्त अन्यान्य बहुत-सी देश, काल और क्रिया रूप नाना आकार विकारों से उत्पन्न, भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों के अन्दर स्थिति विचित्र शक्तियों का स्वस्थ, सम, निर्विकार परम चैतन्य द्वारा, जो तत्-तत् शक्ति के कार्य के अनुसन्धान से युक्त है, निर्माण किया जाता है ॥ ८३–९० ॥

सब वृत्तियों में प्रविष्ट भी चित् चित्तवृत्ति में स्थित विकल्पों से रहित होकर सैकड़ों पदार्थों में वैसे ही समान रूप से गिरती है । जैसे सूर्य की प्रभा वृत्ति से किये गये स्थाणु, पुरुष इत्यादि विकल्पों से रहित हो सब पदार्थों में समान रूप से गिरती है ॥ ९१ ॥

यह निर्मल चित् तीनों कालों में स्थित सारे संसार विशाल दृश्य शोभा को, एक क्षण में वैसे ही प्रथित कर देती है जैसे सूर्य की प्रभा सब दिशाओं के मध्य में स्थित तीनों कालों में चेष्टा से युक्त प्रचुर पदार्थराशि को एक

सर्वाशाकोशविश्रान्तां पदार्थपटलीं महीम् ।
कालत्रयेहाकलितां यथाऽनुभवति क्षणात् ॥ ९२ ॥
तथा समस्तसंसारबृहद्दृश्यदशाश्रियम् ।
कालत्रयस्थाममला चिच्चेतति तदात्मिका ॥ ९३ ॥
तुल्यकालपरामृष्टा त्रिकालकलनाशता ।
अनन्तभुवनाभोगा परिपूर्णैव शुद्धचित् ॥ ९४ ॥
परामृष्टत्रिकालाया दृष्टानन्तदृशश्रितः ।
समतापरपर्याया पूर्णतैवाऽवशिष्यते ॥ ९५ ॥
तुल्यकालावबुद्धेन स्वादुना कटुनाऽपि चित् ।
समेन समतामेति मधुनिम्बानुभूतिवत् ॥ ९६ ॥
त्यक्तसङ्कल्पकलया सूक्ष्मया चिद्व्यवस्थया ।
सर्वभावानुगतया सत्ताद्वैतैकरूपया ॥ ९७ ॥
विचित्राऽपि पदार्थश्रीरन्योन्यवलितान्तरा ।
तुल्यकालानुभवना साम्येनैवाऽनुभूयते ॥ ९८ ॥
भावेनाऽभावमाश्रित्य भावस्त्यजति दुःखताम् ।
प्रेक्ष्य भावमभावेन भावस्त्यजति दुष्टताम् ॥ ९९ ॥

क्षण में प्रकाशित करती है ॥ ९२-९३ ॥

अखण्ड ही शुद्ध चित् अभिन्न काल से सम्बद्ध होती हुई ही अतीत, अनागत आदि तीनों कालों की सैकड़ों कल्पनाओं से भिन्न के समान और प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान आदि अनन्त प्रमाण, प्रमेय और पुरुषों के भेद से भिन्न कलेवर वाली की तरह प्रतीत होती है ॥ ९४ ॥

जिसे तीनों कालों के परिज्ञान से सम्पन्न और अनन्त वृत्तियों से युक्त चैतन्य की पूर्णता ही, जिसका दूसरा नाम समता है, अवशिष्ट रहती है ॥ ९५ ॥

शहद और नीम आदि प्रत्येक की अनुभूति के समान एक काल में अनुभूत तुल्य रस वाले दो मधुर रसों से और दो कड़ुवे रसों से भी चित् समता को ही प्राप्त होती है ॥ ९६ ॥

संकल्प कला का त्याग कर सूक्ष्म, सर्वानुगत, एकमात्र सत्ता अद्वैतरूप चिद् व्यवस्था से एक ही समय में अनुभूयमान होती हुई समता से अनुभूत होती है विषमता से नहीं ॥ ९७-९८ ॥

चित्त से अभाव का अवलम्बन कर चित्तरूप भाव शोक, मोह आदि के परिणामरूप दुःखता का तुरन्त त्याग करता है । सर्वदृश्य प्रतिषेधरूप अभाव से परमार्थ सद् अद्वैतानन्द स्वभाव आत्मा का दर्शन कर वह चित्तरूप भाव राग आदि दुष्टता का भी त्याग कर देता है ॥९९॥

कालत्रयमपश्यन्त्या हीनायाश्चेत्यबन्धनैः ।
चितश्चेत्यमुपेक्षिण्याः समतैवाऽवशिष्यते ॥१००॥
याति वाचामगम्यत्वादसत्तामिव शाश्वतीम् ।
नैरात्म्यसिद्धान्तदशामुपयातेव तिष्ठति ॥१०१॥
भवत्यात्मा तथा ब्रह्म न किञ्चिच्चाऽखिलं च वा ।
परमोपशमेऽलीना मोक्षनाम्ना परोच्यते ॥१०२॥
सङ्कल्पकलिता त्वेषा मन्दाभासतया जगत् ।
न सम्यक्पश्यतीदं चिद् दृष्टिः पटलिनी यथा ॥१०३॥
ईहानीहामयैरन्तर्या चिदावलिता मलैः ।
सा हि नोड्डयितुं शक्ता पाशबद्धेव पक्षिणी ॥१०४॥
सङ्कल्पकलनेनैव ये केचन जना इमे ।
पतिता मोहजालेषु विनेत्रा इव पक्षिणः ॥१०५॥
सङ्कल्पजालवलितैर्विषयावटपातिभिः ।
पदवी गतबाधेयं न दृष्टा मत्पितामहैः ॥१०६॥

वर्तमान दृश्य उपेक्षा करने वाले, अतीत चेत्य के वासनारूपी बन्धनों से शून्य और चेत्य के आधारभूत तीनों कालों का दर्शन न करने पर समता ही अवशिष्ट रहती है ॥ १०० ॥

चित् वाणी व्यवहार के अगोचर होने से शाश्वत असत्ता के समान प्राप्त होती है । नैरात्म्यसिद्धान्तदशा को प्राप्त हुई-सी स्थित रहती है ॥ १०१ ॥

स्थित ही शास्त्रीय व्यवहार ये प्रत्यक् होने के कारण आत्मा है तथा बृहत् होने से ब्रह्म है, परमार्थ दृष्टि से तो उसमें वाणियों की प्रवृत्ति का अभाव होने से कुछ भी नहीं है । सब दृश्यों का परम उपशम होने पर उनकी अवधि होने से लय को प्राप्त न हुई वह चित् परम समता 'मोक्ष' नाम से कही जाती है ॥ १०२ ॥

संकल्प से कल्पित यह चित् पटलरूप अवरण से युक्त दृष्टि के समान मन्दप्रकाश होने के कारण इस जगत् को परमार्थरूप से नहीं देखती है ॥ १०३ ॥

इष्ट-अनिष्ट संकल्परूप मलों से ओतप्रोत चित् सारे आकाश को व्याप्त करने में वैसे ही समर्थ नहीं होती है जैसे जाल में बँधी हुई चिड़िया आकाशमार्ग से उड़ने में समर्थ नहीं होती ॥ १०४ ॥

जो व्यक्ति ये नेत्रविहीन पक्षियों की तरह मोहरूपी जाल में पड़े हैं, वे सब संकल्पकल्पना से ही पड़े हैं ॥ १०५ ॥

विविध संकल्पों से परिवेष्टित विषयरूपी गड्ढों में गिरने वाले मेरे पिता, पितामह आदि पूर्वजों ने यह दुःख-

दिनैः कतिपयैरेव स्फुरिता धरणीतले ।
वराकास्तेन ते नष्टा मशकाः कुहरेष्विव ॥१०७॥
यद्यज्ञास्यन्निमे तत्त्वं भोगदुःखार्थिनस्तदा ।
भावाभावान्धकूपेषु नाऽपतिष्यन् हताशयाः ॥१०८॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन जन्तवः ।
धराविवरमग्नानां कीटानां समतां गताः ॥१०९॥
ईहितानीहिताकाराः कलनामृगतृष्णिकाः ।
सत्यावबोधमेघेन यस्य शान्ताः स जीवति ॥११०॥
कुतः किलाऽस्याः शुद्धाया अविच्छिन्नामलाकृतेः ।
चन्द्रिकाया रुचः कोष्णाः कलङ्काः कलनाश्रितः ॥१११॥
आत्मनेऽस्तु नमो मह्यमविच्छिन्नचिदात्मने ।
लोकालोकमणे देव चिरेणाऽधिगतोऽस्यहो ॥११२॥
परामृष्टोऽसि लब्धोऽसि प्रोदितोऽसि चिराय च ।
उद्धृतोऽसि विकल्पेभ्यो योऽसि सोऽसि नमोऽस्तु ते ॥११३॥

शून्य अपरिच्छिन्न आत्मपदवी नहीं देखी ॥ १०६ ॥

अपरिच्छिन्न आत्मपदवी के अदर्शन से गड्ढों में मच्छरों के समान पृथिवीपर सुशोभित हुए वे बेचारे मेरे पिता, पितामह आदि कुछ ही दिनों में नष्ट हो गये ॥ १०७ ॥

भोगरूपी दुःख की चाह वाले दुर्बुद्धि वे लोग यदि आत्मतत्त्व को जान गये होते, तो भाव और अभावरूपी अन्धे कुएँ में न गिरते ॥ १०८ ॥

इच्छा-द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्वमोह से सभी जीव छिद्र में छिपे हुए कीड़ों के तुल्य हो गये हैं ॥ १०९ ॥

इष्ट और अनिष्ट कल्पनारूपी मृगतृष्णा सत्यज्ञानरूपी मेघ से (द्वन्द्वताप की शान्ति द्वारा) शान्त हो जाने पर जीवन सार्थक है उसी का शान्त जीवन जीव है ॥ ११० ॥

चाँदनी की मन्दोष्ण एवं कलङ्क युक्त शोभा के समान निरन्तर निर्मल आकारवाली इस शुद्ध चित् की कल्पनाएँ कहाँ से हो सकती हैं ? ॥ १११ ॥

हे लोगों के ज्ञानप्रकाश में मणिस्वरूप हे देव ! आप चिरकाल में प्राप्त अविच्छिन्न चिदात्मरूप मुझ आत्मा के लिए नमस्कार है ॥ ११२ ॥

चिरकाल तक मैंने आपका विचार किया है, आपको प्राप्त किया है, अपने पारमार्थिकरूप से अभिव्यक्त किया है और विकल्पों से आपका उद्धार किया है, आप जो हैं वह हैं आपके लिए नमस्कार है ॥ ११३ ॥

मह्यं तुभ्यमनन्ताय मह्यं तुभ्यं शिवात्मने ।
नमो देवाधिदेवाय पराय परमात्मने ॥११४॥
गतघनपरिपूर्णमिन्दुबिम्बं गतकलनावरणं स्वमेव रूपम् ।
स्ववपुषि मुदिते स्वयं स्वसंस्थं स्वयमुदितं स्ववशं स्वयं नमामि ॥११५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे प्रह्लादात्मोपदेशयोगो नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

आत्मरूप आप अनन्त के लिए, आत्मरूप आप शिव देवाधिदेव परम परमात्मा के लिए नमस्कार है ॥ ११४ ॥

मेघरूपी आवरण से शून्य परिपूर्ण चन्द्रबिम्ब के समान कलनारूपी आवरण से शून्य अपना ही रूप अनन्दैकरस स्वात्म में स्वयं अपने पारमार्थिकरूप से स्थित, स्वप्रकाश स्वाधीन आनन्दवाला है, उससे अभिन्नरूप मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ११५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में प्रह्लादत्मोपदेशयोग नामक कुसुमलता का चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३४ ॥

३५

प्रह्लद उवाच

ओमित्येकोचिताकारो विकारपरिवर्जितः ।
आत्मैवाऽयमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ॥ १ ॥
मेदोऽस्थिमांसमज्जासृगतीतोऽप्येष चेतनः ।
अन्तरस्थो हि सूर्यादीन् प्रकाशयति दीपकः ॥ २ ॥
उष्णीकरोति दहनं रसयत्यमृतं रसम् ।
इन्द्रियानुभवान् भुङ्क्ते भोगानिव महीपतिः ॥ ३ ॥
तिष्ठन्नपि हि नाऽऽसीनो गच्छन्नपि न गच्छति ।
शान्तोऽपि व्यवहारस्थः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ४ ॥
पूर्वमद्य तथेदानीमिहाऽमुत्रोभयत्र च ।
विहितोऽविहितोऽप्येष समः सर्वासु वृत्तिषु ॥ ५ ॥
उद्भवत्यभयो भावं भुवनानि ततस्ततः ।
ब्रह्मादितृणपर्यन्तं जगदावर्तयन् स्थितः ॥ ६ ॥
नित्यस्पन्दमयो नित्यमपि देवात् सदागतेः ।
स्थाणोरप्यक्रियो नित्यमाकाशादप्यलेपकः ॥ ७ ॥

३५

प्रह्लाद ने कहा—'ॐ' ही जिसका स्वानुरूप अभिधान है और विकारों से रहित यह आत्मा ही जो कुछ इस जगतीतल में स्थित है वह सब कुछ है ॥ १ ॥

मेदा, अस्थि, मांस, मज्जा और रक्त आदि रूप देह परिमित यह चेतन नहीं है, किन्तु उससे अतीत है। सूर्य आदि के अन्दर स्थित दीपकरूप यह सूर्य आदि को प्रकाशित करता है ॥ २ ॥

चिदात्मा ही स्वसत्ता से अग्नि को उष्ण करता है एवं जल को रसरूप से प्रकट करता है। जैसे राजा भोगों को भोगता है वैसे ही वह अन्यान्य इन्द्रियानुभवों का भोग करता है ॥ ३ ॥

सदा निष्क्रिय रहकर भी वह बैठे हुए के समान धावन आदि व्यापार से विरत नहीं है, क्योंकि वायु और सूर्य रूप से सदा गतियुक्त है। कालरूप से सदा चलता हुआ भी कुलाल के चक्र के समान एक तिलभर भी इधर-उधर नहीं जाता, व्यवहार रहित होने पर भी सब व्यवहार में स्थित है, कर्म करता हुआ भी उनके फल से लिप्त नहीं होता है ॥ ४ ॥

पूर्व जन्म में, और इस समय इस लोक में, परलोक में तथा इस लोक की सन्धिरूप स्पप्न में शास्त्र से निहित शुभ कर्म के फलों का भोग करता हुआ और शास्त्रनिषिद्ध अशुभ कार्मों के फलों का भोग करता हुआ भी यह सब भोगवृत्तियों में सम ही रहता है ॥ ५ ॥

समय अर्थात् भयरहित यह आत्मा ही तत् तत् कर्मों के अनुरूप स्वयं होता है और उत्पन्न हुए ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त भोक्ता और भोगों तथा उनके आधार चौदह भुवनों को केवल अपनी सन्निधि से घुमाता रहता है ॥६॥

नित्य स्पन्दसत्ता है, वह सदा चलने वाले देवरूप वायु से भी नित्य स्पन्दमय है। नित्य स्थाणु से भी बढ़कर निष्क्रिय है और नित्य आकाश से भी बढ़कर लेप-रहित है ॥ ७ ॥

मनांसि क्षोभयत्येष पल्लावानीव मारुतः ।
वाहयत्यक्षपङ्क्तिं स्वामश्वालीमिव सारथिः ॥ ८ ॥
अतिदुर्विधवद् देहगेहे कर्मरतः सदा ।
सम्राडिवाऽऽत्मनि स्वस्थः संस्थितो भोगभुग् विभुः॥९॥
एष एव सदाऽन्विष्यः स्तुत्यो ध्यातव्य एव तु ।
जरामरणसंमोहादनेनोत्तीर्य गम्यते ॥ १० ॥
सुलभश्चाऽयमत्यन्तं सुज्ञेयश्चाऽऽप्तबन्धुवत् ।
शरीरपद्मकुहरे सर्वेषामेव षट्पदः ॥ ११ ॥
अनाक्रुष्टोऽप्यनाहूतः स्वदेहादेव लभ्यते ।
मनागेवोपहूतोऽपि क्षणाद् भवति सन्मुखः ॥ १२ ॥
नाऽस्य संसेव्यमानस्य सर्वसम्पत्तिशालिनः ।
धनानामीश्वरस्येव स्मयो गर्वो यथा भवेत् ॥ १३ ॥
आमोद इव पुष्पेषु तैलं तिलकणेष्विव ।
रसजातिष्विवाऽऽस्वादो देवो देहेषु संस्थितः ॥ १४ ॥

यह आत्मा मन में क्षोभ वैसे ही पैदा करता है जैसे वायु पल्लवों में हलचल पैदा करता है। वह अपनी इन्द्रियों को तत्-तत् कार्यों में वैसे ही प्रवृत्त करता है जैसे सारथि घोड़ों को हाँकता है ॥ ८ ॥

भोगों का भोग करने वाला विभु आत्मा सम्राट् के समान अपनी आत्मा में स्वस्थ होकर स्थित होकर भी अतिदुर्दशाग्रस्त पुरुष के समान देहरूपी घर में सदा कर्म-निरत रहता है ॥ ९ ॥

इसी की सदा खोज करनी चाहिये, इसी की स्तुति करनी चाहिये और इसी का ध्यान करना चाहिये। खोजे गये इसी से पुरुष जरामरणरूपी संसार से पार होकर परम पद को प्राप्त करता है ॥ १० ॥

सभी के शरीररूपी पद्मगर्भ में भ्रमररूप यह केवल ज्ञान से प्राप्त होने के कारण अत्यन्त सुलभ है। अत्यन्त आप्त बन्धु के समान केवल स्मरणमात्र से ही यह वश में हो जाता है ॥ ११ ॥

यह तो बिना जोर से पुकारे अपने शरीर से ही प्राप्त हो जाता है तथा केवल प्रणव के उच्चारण से थोड़ा स्मरण करने पर क्षणभर में सन्मुख हो जाता है ॥ १२ ॥

सेवन किये जा रहे सर्वसम्पत्तिशाली इसको तनिक भी मान या गर्व वैसे ही नहीं होता जैसे सेवित हो रहे सर्वसम्पत्तिशाली धनी को अभिमान हो सकता है ॥१३॥

फूलों में सुगन्ध के समान, तिलों में तेल के समान और रसों में माधुर्य के समान वह देव सब शरीरों में स्थित है ॥ १४ ॥

अविचारवशादेष हृदयस्थोऽपि चेतनः ।
न ज्ञायते चिराद्दृष्टो दृष्टबन्धुरिवाऽग्रतः ॥ १५ ॥
विचारणापरिज्ञात एतस्मिन् परमेश्वरे ।
अभ्युदेति परानन्दो लब्धे प्रियजने यथा ॥ १६ ॥
अस्मिन् दृष्टे परे बन्धावुद्दामानन्ददायिनि ।
आयान्ति दृष्टयस्तास्ता याभिर्भङ्गो विलीयते ॥ १७ ॥
त्रुट्यन्ते सर्वतः पाशाः क्षीयन्ते सर्वशत्रवः ।
न कृन्तन्ति मनांस्याशा गृहाणीव दुराखवः ॥ १८ ॥
यस्मिन् दृष्टे जगद् दृष्टं श्रुतेऽस्मिन् सकलं श्रुतम् ।
स्पृष्टे चाऽस्मिञ्जगत् स्पृष्टं स्थितेऽस्मिन् संस्थितं जगत्॥१९॥
एष जागर्ति सुप्तानां प्रहरत्यविवेकिनाम् ।
हरत्यापदमार्तानां वितरत्यमहात्मनाम् ॥ २० ॥
विचरत्येष लोकेषु जीव एव जगत्स्थितौ ।
विलसत्येव भोगेषु प्रस्फुरत्येव वस्तुषु ॥ २१ ॥

सदा हृदय में विद्यमान भी यह चेतन अविचारवश वैसे ही ज्ञात नहीं होता है जैसे चिरकाल से पहले न देखा गया और तत्काल आगे देखा गया पिता आदि बन्धु पहिचान में नहीं आता है ॥ १५ ॥

विचारणा द्वारा इस परमेश्वर के ज्ञात होने पर वैसे परमानन्द होता है जैसे प्रिय बन्धुजन के प्राप्त होने पर परम आनन्द होता है ॥ १६ ॥

अतिशय आनन्द देने वाले इस परमात्मरूप परम बन्धु के दर्शन होने पर मरणादि विच्छेद शून्य वे दृष्टियाँ प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

सब ओर से स्नेह आदि पाश टूट जाते हैं, काम आदि सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं और तृष्णाएँ मन को छिन्न-भिन्न वैसे ही नहीं करतीं जैसे दुष्ट चूहे घरों को छिन्न-भिन्न करते हैं ॥ १८ ॥

इस परमात्मा का दर्शन होने पर सारा जगत् दृष्ट होता है, इसके सुनने पर सब सुना जाता है, इसका स्पर्श होने पर सारे जगत् का स्पर्श हो जाता है तथा इसके रहने पर जगत् स्थित होता है ॥ १९ ॥

सोये हुए लोगों के बीच में यह जाग्रत् रहता है, अविवेकियों के ऊपर प्रहार करता है, दुःखियों की आपत्ति दूर करता है और जो महात्मा नहीं हैं, उनको मनोवाञ्छित देता है ॥ २० ॥

जगत् स्थिति में यह आत्मा ही जीव होकर लोकों में विचरण करता है, भोगों में विलास करता है और वस्त्र आभूषण, समाज, उत्सव आदि वस्तुओं में शोभित होता है ॥ २१ ॥

आत्मनाऽऽत्मानमेवाऽतः शान्तेनाऽनुभवन् भवी ।
स्थितः सर्वेषु देहेषु तीक्ष्णत्वं मरिचेष्विव ॥ २२ ॥
चेतनाकलनारूपी सबाह्याभ्यन्तराश्रितः ।
जगत्पदार्थसंभारे सत्तासामान्यमास्थितः ॥ २३ ॥
एष शून्यत्वमाकाशे स्पन्द एष सदागतौ ।
प्रकाशश्चैष तेजस्सु पयस्स्वेष रसः परः ॥ २४ ॥
काठिन्यमवनावेष औष्ण्यमेष हुताशने ।
शैत्यमेष निशानाथे सत्ता चैष जगद्गणे ॥ २५ ॥
मषीपिण्डे यथा कार्ष्ण्यं शैत्यं हिमकणे यथा ।
यथा पुष्पेषु सौगन्ध्यं देहे देहपतिस्तथा ॥ २६ ॥
यथा सर्वगता सत्ता कालः सर्वगतो यथा ।
प्रभुशक्तिर्महीपस्य सर्वदेशगता यथा ।
रूपालोकमनस्कारयुक्तं सत्त्वं तथाऽऽत्मनः ॥ २७ ॥
नित्यः सोऽयं महादेवो देवानामेव बोधकः ।
अहमेवाऽस्मि मे नाऽस्ति कलनाऽपि किलेतरा ॥ २८ ॥

अतः शान्त आत्मा से आत्म का ही अनुभव करता हुआ यह सब देहों में वैसे ही स्थित है जैसे मरिचों में तीक्ष्णता रहती है ॥ २२ ॥

चेतना और कलना रूपी, बाह्य और आभ्यन्तर चेतनोपाधियों में स्थित यह जगत् पदार्थों के संभार में अधिष्ठानसत्ता सामान्य स्वभाव को प्राप्त है ॥ २३ ॥

आकाश में यह शून्यता है, वायु में यह स्पन्दन है, तेज में यह प्रकाश है, जल में यह मधुर रस है ॥ २४ ॥

पृथ्वी में काठिन्य है, अग्नि में यह उष्णता है, चन्द्रमा में यह शीतलता है और सब जगतों में यह सत्ता है ॥ २५ ॥

जैसे मसी-पिण्ड में कालिमा है, जैसे हिमकण में शीतलता है, जैसे पुष्पों में सुगन्ध है वैसे ही देह में आत्मा प्रकाशित होता है ॥ २६ ॥

सत्ता जैसे सर्वगत है, काल जैसे सर्वगत है और राजा की प्रभुशक्ति जैसे सर्वदेश व्याप्त होती है वैसे ही नेत्र आदि के व्यापारों और मानसिक व्यापारों से युक्त जो बाहरी और भीतरी प्रकाश है, वह आत्मा का ही कार्य है यानी वह प्रकाशैक स्वभाव है। सूर्य, चन्द्र आदि सब देवताओं का भी बोधक यह प्रसिद्ध महादेव मैं ही हूँ। मेरी दूसरी कल्पना ही नहीं है ॥ २७-२८ ॥

मुझमें दूसरों से सम्बन्ध वैसे ही नहीं है जैसे अत्यन्त सूक्ष्म रेणु से आकाश में सम्बन्ध नहीं होता, जैसे जल

रेणुनेवाऽणुना व्योम्नि पद्मपत्रमिवाऽम्भसा ।
संभ्रमेणेव पाषाणे संबन्धो मयि नेतरैः ॥ २९ ॥
सुखदुःखश्रियो देहे मा पतन्तु पतन्तु वा ।
तुम्बकोपरि धाराश्च का नः क्षतिरुपस्थिता ॥ ३० ॥
दीपाङ्गातिगतो रज्ज्वा नाऽऽलोको बध्यते यथा ।
तथा नाऽयमहं बद्धः सर्वभावगणातिगः ॥ ३१ ॥
संबन्धः कोऽस्तु नः कामैर्भावाभावैरथेन्द्रियैः ।
केन संबध्यते व्योम केन संबाध्यते मनः ॥ ३२ ॥
शरीरे शतधा याते खण्डना का शरीरिणः ।
कुम्भे भग्ने क्षते क्षीणे कुम्भाकाशस्य का क्षतिः ॥ ३३॥
पिशाचक इवाऽदृश्यो मनो नामोदितं मुधा ।
जडे तस्मिन् क्षते बोधात् का न क्षतिरुपस्थिता ॥ ३४ ॥
सुखदुःखमयी यस्य वासना तन्मनो मम ।
अभवत्पूर्वमद्यैका संपन्नाऽतनुनिर्वृतिः ॥ ३५ ॥
अन्यो भुङ्क्तेऽन्य आदत्तेऽप्यन्यस्याऽनर्थसंकटः ।
अन्यः पश्यत्यहो मौर्ख्यं कस्येयं खलु चक्रिका ॥ ३६ ॥

से कमलदल का सम्बन्ध नहीं होता और जैसे पाषाण में भय, कम्प आदि से सम्बन्ध नहीं होता ॥ २९ ॥

तुम्बी के ऊपर जलधाराओं के समान देह मे सुख-दुःख गिरें अथवा न गिरें उससे तुम्बी के आकाश के समान हम लोगों की कौन-सी हानि है ? ॥ ३० ॥

सब पदार्थों से अतीत यह मैं वैसे ही बद्ध नहीं होता हूँ जैसे दीपक के अङ्गभूत तेल, बत्ती, वर्तन आदि का अतिक्रमण कर निकला हुआ दीपालोक रस्सी से नहीं बाँधा जाता ॥ ३१ ॥

काम, भाव, अभाव और इन्द्रियों से हमारा कौन सम्बन्ध है ? भला आकाश किससे बाँधा जाता है और मन किससे विनष्ट किया जाता है ॥ ३२ ॥

शरीर के सैकड़ों टुकड़े होने पर शरीरी=आत्मा के कौन खण्ड-खण्ड होते हैं, घड़ा चाहे टुटे, टूटे या ध्वस्त हो जाय, पर घटाकाश की क्या क्षति हुई ? ॥ ३३ ॥

अदृश्य पिशाच के समान यह मिथ्या मन उदित है, ज्ञान से जड़ मन का विनाश होनेपर हमारी कौन क्षति हुई ? ॥ ३४ ॥

अज्ञानावस्था में सुख-दुःखमयी वासनामय मेरा मन था, अब मुझे एकमात्र अपरिच्छिन्न सुखविश्रान्ति हो गई है ॥ ३५ ॥

भोग अन्य करता है, ग्रहण अन्य करता है, अनर्थप्राप्ति अन्य को होती है, अन्य देखता है, अहो ! भोक्ता आदि की

भुङ्क्ते प्रकृतिरादत्ते मनो देहस्य संकटः ।
दुष्टात्मा मौर्ख्यमस्तीह न किंचित् केवले क्षतिः ॥ ३७ ॥
न मे भोगस्थितौ वाञ्छा न च भोगविवर्जने ।
यदायाति तदायातु यत्प्रयाति प्रयातु तत् ॥ ३८ ॥
सुखेषु मम नाऽपेक्षा नोपेक्षा दुःखवृत्तिषु ।
सुखदुःखान्यपायान्तु यान्तु वाऽप्यहमेषु कः ॥ ३९ ॥
वासना विविधा देहे त्वस्तं चोदयमेव वा ।
प्रयान्तु नाऽहमेतासु न चैता मम काश्चन ॥ ४० ॥
एतावन्तमहं कालमज्ञानरिपुणा हतः ।
हृत्वा विवेकसर्वस्वमेकान्तमवपोथितम् ॥ ४१ ॥
वैष्णवेन प्रसादेन स्वसमुत्थेन चारुणा ।
इदानीं संपरिज्ञाय मयैष परिमोषितः ॥ ४२ ॥
अहङ्कारपिशाचोऽयं शरीरतरुकोटरात् ।
परावबोधमन्त्रेण मयेदानीमपाकृतः ॥ ४३ ॥

एकता के कारण मूर्खता किस जादूगर की चक्की के समान घुमाने की चातुरी है ॥ ३६ ॥

भोग प्रकृति करती है, ग्रहण मन करता है, क्लेश देह प्राप्त होता है, प्रवृत्ति आदि से दुष्ट आत्मा होता है । चार करने पर केवल आत्मा में कुछ भी मौर्ख्य नहीं है, तलिए कोई क्षति नहीं है ॥ ३७ ॥

न भोग भोगने की मेरी आकाङ्क्षा है और न भोगों के याग में मेरी वाञ्छा है, जो आता है वह आवे और जो जाता है वह जावे ॥ ३८ ॥

सुखों की मुझे अपेक्षा नहीं है और दुःखों में मेरी उपेक्षा नहीं है । सुख-दुःख चाहे आवे अथवा जाए इनमें मैं कौन हूँ ॥ ३९ ॥

विविध वासनाएँ मेरे शरीर में चाहे विनष्ट हो चाहे दित हों, न इन वासनाओं में मैं हूँ और न ये मेरी कोई है ॥ ४० ॥

अत्यन्त विनष्ट हुए विवेकरूपी सर्वस्व को दूर कर इतने समय तक अज्ञानरूपी शत्रु ने मुझे क्लेश पहुँचाया है ॥ ४१ ॥

इस समय उत्पन्न हुए सर्वाङ्गसुन्दर श्रीविष्णुप्रसाद से परम तत्त्व का ज्ञान कर मैंने इसका त्याग कर दिया है ॥ ४२ ॥

परम ज्ञानरूपी मन्त्र से इस अहङ्काररूपी पिशाच को शरीररूपी वृक्ष के खोखले से इस समय मैंने निकाल दिया है ॥ ४३ ॥

निरहङ्कारयक्षोऽयं मच्छरीरमहाद्रुमः ।
पुण्यतामलमायातः प्रफुल्ल इव राजते ॥ ४४ ॥
प्रशान्तमोहदारिद्र्यो दुराशादोषसंक्षये ।
विवेकधनसंभारान् स्थितोऽस्मि परमेश्वरः ॥ ४५ ॥
ज्ञातं ज्ञातव्यमखिलं दृष्टा द्रष्टव्यदृष्टयः ।
तत्प्राप्तमधुना येन नाऽप्राप्तमवशिष्यते ॥ ४६ ॥
दिष्ट्या दूरोज्झितानर्थामपेतविषयोरगाम् ।
संशान्तमोहनीहारां शान्तशामृगतृष्णिकाम् ॥ ४७ ॥
रजोरहितसर्वाशां शीतलोपशमद्रुमाम् ।
प्राप्तोऽस्मि विततां भूमिमुन्नतां पारमार्थिकीम् ॥ ४८ ॥
स्तुत्या प्रणत्या विज्ञप्त्या शमेन नियमेन च ।
लब्धोऽयं भगवानात्मा दृष्टश्चाऽधिगतः स्फुटम् ॥ ४९ ॥
अहङ्कारपदातीतश्चिरात् संस्मृतिमागतः ।
स्वभावाद् भगवानात्मा विष्णोर्ब्रह्म सनातनम् ॥ ५० ॥

अहङ्काररूपी यक्ष से विहीन यह मेरा शरीररूपी महावृक्ष अत्यन्त पवित्रता को प्राप्त कर प्रफुल्लित वृक्ष के समान सुशोभित हो रहा है ॥ ४४ ॥

दुराशारूपी दोष का नाश होने पर विवेकरूपी धन-समृद्धि को प्राप्त कर मेरी मोहरूपी दरिद्रता नष्ट हो चुकी है, मैं परमेश्वररूप से स्थित हूँ ॥ ४५ ॥

मैंने ज्ञातव्य सब कुछ जान लिया है द्रष्टव्य सब कुछ देख लिया है । इस समय मुझे वह वस्तु प्राप्त है, जिससे कुछ भी अप्राप्त नहीं रहता है ॥ ४६ ॥

मैं अनर्थों के नाम-निशान से रहित ऊँची और विस्तृत पारमार्थिक भूमि को, प्राप्त किया है जहाँ विषयरूपी साँप नहीं रह गये हैं और आशारूपी मृगतृष्णा शान्त हो चुकी है ॥ ४७ ॥

मोहरूपी कुहरा नष्ट हो गया है, जिसकी चारों दिशाएँ धूलि से रहित हैं और जिसमें शीतल शान्तिरूपी वृक्ष है उसको प्राप्त कर चुका हूँ ॥ ४८ ॥

भगवान् विष्णु की स्तुति से, प्रणाम से, प्रार्थना से, श्रम और नियम से मैं भगवान् आत्मा को पा चुका हूँ और मैंने इसे भली-भाँति जान लिया है ॥ ४९ ॥

भगवान् विष्णु के अनुग्रह से अहङ्कार शून्य अविनाशी ब्रह्मरूप भगवान् आत्मा, चिर काल से स्मृतिपटल पर आरूढ़ हो गया है ॥ ५० ॥

इन्द्रियोरगगर्तेषु मरणश्वभ्रभूमिषु ।
तृष्णाकरञ्जकुञ्जेषु कामकोलाहलेषु च ॥ ५१ ॥
वासनावनजालेषु जन्मकूपान्तरेषु च ।
दुःखदावाग्निदाहेषु दुःखदावाग्निहारिषु ॥ ५२ ॥
पातोत्पातदशालक्षैर्मज्जनोन्मज्जनभ्रमैः ।
आविर्भावतिरोभावैराशापाशविचेष्टनैः ॥ ५३ ॥
अहं चिरमहङ्कारद्विषा समवमोषितः ।
निशायामल्पवीर्यात्मा पिशाचेनेव जङ्गले ॥ ५४ ॥
स्वयमेव त्वयेदानीं क्रियाशक्त्या स्वयैव हि ।
शौरिणा व्यपदेशेन विवेकश्रीर्विबोधिता ॥ ५५ ॥
प्रबुद्धे भवतीशाने तमहङ्काररराक्षसम् ।
न पश्यामि नभोदीपे ज्वलिते तिमिरं यथा ॥ ५६ ॥
तस्याऽहङ्कारयक्षस्य मनोविवरवासिनः ।
दीपस्येव प्रशान्तस्य न वेद्मि गतिमीश्वरः ॥ ५७ ॥
दृष्ट एव त्वयीशाने पलायनपरायणः ।

वासना रूपी घोर वनों में, इन्द्रिय रूपी साँपों के अनेक बिल में मरण रूपी बड़े-बड़े गड्ढों में काम के कोलाहल से पूर्ण तृष्णा रूपी करञ्जों की झाँड़ियों में जिनमें दुःख रूपी धधकती वनाग्नियों में तथा दुःखदायी वनाग्नि के सदृश क्रूर परधन-प्राण हरने वाले हैं, अहङ्कार-रूपी शत्रु ने नीचे गिरने और ऊपर चढ़ने के तुल्य लाखों विपत्ति और सम्पत्तियों से, अधोगति और उत्तमगतियों से, आविर्भाव और तिरोभाव से एवं आशा-पाशों की विविध चेष्टाओं द्वारा मुझे ऐसे ही सर्वस्वहरण द्वारा पीड़ित किया, जैसे कि रात्रि के समय अल्प बल वाले पुरुष को जंगल में पिशाच पीड़ित करता है ॥५१-५४ ॥

मैंने इस समय प्रसन्न हुए विष्णु भगवान् के बहाने अपनी ही क्रियाशक्ति से स्वयं विवेक को उद्दीप्त कर लिया है ॥ ५५ ॥

विवेक से परमेश्वर आत्मा के प्रबुद्ध होने पर मैं उस अहङ्काररूपी पिशाच को वैसे ही नहीं देख रहा हूँ जैसे सूर्य के उदित होने पर अन्धकार नहीं दिखाई देता है ॥५६॥

मनरूपी बिल में निवास करनेवाले उस अहङ्काररूपी पिशाच की गति को परमेश्वररूप मैं वैसे ही नहीं जानता हूँ जैसे बुझे हुए दीपक की गति नहीं होती है ॥ ५७ ॥

ईश्वररूपी आपका साक्षात्कार होते ही मेरा अहङ्कार भागने के लिए वैसे ही तत्पर हो गया जैसे सूर्योदय होने पर चोर भागने की तैयारी करता है ॥ ५८ ॥

पिशाच की तरह भ्रान्तिवश मिथ्या उदित अहङ्कार

संपन्नो मदहङ्कारश्चौरः सूर्योदये यथा ॥ ५८ ॥
असदभ्युत्थिते तस्मिन्नहङ्कारे पिशाचवत् ।
गते तिष्ठाम्यहं स्वस्थो निर्गोनस इव द्रुमः ॥ ५९ ॥
शाम्यामि परिनिर्वामि जगत्यस्मिन् प्रबोधवान् ।
तस्करेणोज्झितोऽस्मीति निर्वृतोऽस्मि चिरोदयम् ॥६०॥
शैत्यमभ्यागतोऽस्म्यन्तः शान्ताशामृगतृष्णिकः ।
प्रावृडम्बुभरस्नातः शान्तदाव इवाऽचलः ॥ ६१ ॥
प्रमार्जितेऽहमित्यस्मिन् पदे स्वार्थविचारतः ।
को मोहः कानि दुःखानि काः कदाशाः क आधयः ॥६२॥
नरकस्वर्गमोक्षादिभ्रमाः सत्यामहङ्कृतौ ।
भित्तावेव प्रवर्तन्ते चित्रेहा न नभस्तले ॥ ६३ ॥
अहङ्कारकलापित्ते चित्ते ज्ञानचमत्कृतिः ।
न राजतेऽशुके म्लाने यथा कुङ्कुमरञ्जना ॥ ६४ ॥
निरहङ्कारजलदे तृष्णासारविवर्जिते ।
भाति चित्तशरद्व्योम्नि स्वच्छता कान्तिशालिनी ॥६५॥

के चले जाने पर मैं भागे हुए अजगर वाले उस बगीचे के समान स्वस्थ होकर बैठा हूँ ॥ ५९ ॥

इस जगत् में ज्ञानवान् मैं अहङ्कार रूपी चोर से छुटकारा पा चुका हूँ और चिरकाल से निर्वृत्त हुआ हूँ यह सोचकर मैं विश्रान्ति को प्राप्त कर रहा हूँ और निर्वाण को प्राप्त कर रहा हूँ ॥ ६० ॥

वर्षा ऋतु की जल-राशि से सींचे गये वनाग्नि की लपटों से रहित पर्वत के समान मैंने हृदय में शीतलता को प्राप्त कर लिया है। मेरी आशा रूपी मृगतृष्णा शान्त हो चुकी है ॥ ६१ ॥

आत्मतत्त्व के विचार से अहङ्कार के परिमार्जित होने पर कौन मोह है, क्या दुःख है, क्या तुच्छ आशाएँ हैं और कौन मानसिक चिन्ताएँ हैं ॥ ६२ ॥

अहङ्कार के रहते ही नरक, स्वर्ग, मोक्ष आदि भ्रम वैसे ही होते हैं। जैसे चित्र निर्माण की चेष्टा भीत में ही होती है आकाश में नहीं होती ॥ ६३ ॥

चित्त में अहङ्कारावेश रूपी पित्तज उन्माद के रहने पर ज्ञान चमत्कार वैसे ही शोभित नहीं होता है जैसे वस्त्र के मलिन होने पर उसमें कुङ्कुम का रंग शोभित नहीं होता ॥ ६४ ॥

अहङ्कार रूपी मेघ से रहित तृष्णा रूपी मूसलाधार वृष्टि से शून्य चित्त रूपी शरत्कालीन आकाश में आत्मा रूपी चन्द्रमा के प्रकाश से शोभित होने वाली निर्मलता शोभित होती है ॥ ६५ ॥

निरहङ्कारपङ्काय संप्रसन्नान्तराय च ।
मह्यमानन्दसरसे तुभ्यमात्मन्नमो नमः ॥ ६६ ॥
शान्तेन्द्रियोग्रग्राहाय क्षीणचित्तौर्ववह्नये ।
आनन्दाम्बुधये तुभ्यं मह्यमात्मन्नमो नमः ॥ ६७ ॥
गताहङ्कारमेघाय शान्ताशादाववह्नये ।
मह्यमानन्दशैलाय विश्रान्ताय नमो नमः ॥ ६८ ॥
प्रफुल्लानन्दपद्माय शान्तचिन्तामयोर्मये ।
मह्यं सन्मानसायाऽऽत्मंस्तुभ्यमन्तर्नमो नमः ॥ ६९ ॥
संविदाभासपक्षाय पद्मकोटरवासिने ।
सर्वमानसहंसाय स्वात्मनेऽन्तर्नमो नमः ॥ ७० ॥
कलाकलितरूपाय निष्कलायाऽमृतात्मने ।
सदोदिताय पूर्णात्मन् शशिने ते नमो नमः ॥ ७१ ॥
सदोदिताय शान्ताय महाहृद्ध्वान्तहारिणे ।

हे आत्मन् ! अहङ्कार रूपी कीचड़ से रहित अत्यन्त प्रसन्न आनन्द के सरोवर प्रत्यगात्म रूप तुम्हारे लिए बार-बार नमस्कार है ॥ ६६ ॥

हे आत्मन् ! जिसके इन्द्रिय रूपी भयंकर मगर शान्त हो गये हैं, जिसका चित्त रूपी बड़वानल नष्ट हो गया ऐसे आनन्द के सागर प्रत्यगात्म रूप तुम्हारे लिए बार-बार नमस्कार है ॥ ६७ ॥

जिससे अहङ्कार रूप मेघ चला गया है और आशा रूपी वनग्नि जिसमें शान्त हो चुकी ऐसे निश्चल आनन्द पर्वत रूप प्रत्यगात्म ब्रह्म को पुनः पुनः नमस्कार है ॥ ६८ ॥

हे आत्मन् ! जिसमें आनन्द रूपी कमल खिले हैं और चिन्ता रूपी लहरें शान्त हो चुकी हैं ऐसे सुन्दर मानसरोवर रूप प्रत्यगात्मभूत तुम्हारे लिए पुनः पुनः नमस्कार ॥ ६९ ॥

बुद्धि और उसकी वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जिसके पक्ष है, जो हृदय कमल के मध्य में निवास करता है और जो मानसरोवर में हंस के समान सब के मन का हंस रूप है ऐसे आत्मा के लिए बारबार नमस्कार है ॥ ७० ॥

अमृत कलाओं से जिसने अपने रूप की कल्पना की है, वस्तुतः जो निरवयव है, सदा उदित अमृत रूपी चन्द्र रूप आपके लिए बारबार नमस्कार है ॥ ७१ ॥

सदा उदित, शान्त हृदय के महान् अज्ञान का नाश करने वाले, सर्वव्यापी होने पर भी अदृश्य, चैतन्य रूपी

सर्वगायाऽप्यदृश्याय चित्सूर्याय नमो नमः ॥ ७२ ॥
अस्नेहस्नेहदीपाय वृत्तिनिष्क्रान्तवर्तिने ।
स्वभावाधारधीराय चिद्दीपाय नमो नमः ॥ ७३ ॥
मदनानलसंतप्तं शीतेन मनसा मनः ।
भग्नमन्तर्मया तप्तमयसेव बलादयः ॥ ७४ ॥
इन्द्रियेणेन्द्रियं छित्त्वा छित्त्वा च मनसा मनः ।
अहङ्कृतिमहङ्कृत्या छित्त्वा शेषो जयाम्यहम् ॥ ७५ ॥
भावेनाऽभावमाच्छिद्य हित्वा तृष्णामतृष्णया ।
निष्पिष्य प्रज्ञयाऽप्रज्ञां ज्ञोऽज्ञः सत्योऽसि ते नमः ॥७६॥
मनसा मनसि च्छिन्ने निरहङ्कारतां गते ।
भावेन गलिते भावे स्वच्छस्तिष्ठामि केवलः ॥ ७७ ॥
निर्भावं निरहंकारं निर्मनस्कमनीहितम् ।
केवलं स्पन्दशुद्धात्मन्येव तिष्ठति मे वपुः ॥ ७८ ॥

सूर्य के लिए पुनः पुनः नमस्कार है ॥ ७२ ॥

तेल रहित परम प्रेम को उद्दीप्त करने वाले, वृत्ति द्वारा निष्क्रमण रूप बत्ती से सम्पन्न, सब वस्तुओं के स्वभाव के आधाररूप बुद्धिप्रकाशक चैतन्य रूप दीपक लिए बारबार नमस्कार है ॥ ७३ ॥

शम, दम आदि से युक्त मन से कामाग्नि से सन्तप्त मन को मैंने हठात् वैसे ही नष्ट कर दिया है जैसे लोहे के घन वे तपा हुआ लोहा टूट जाता है ॥ ७४ ॥

प्रत्यगात्मोन्मुख चक्षु आदि इन्द्रियों से बाह्य पदार्थोन्मुख इन्द्रियों को नष्ट कर, प्रत्यगात्मोन्मुख मन से बाह्य पदार्थोन्मुख मन का उच्छेद कर और प्रत्यगात्मोन्मुख अहंकार से बाह्य पदार्थोन्मुख अहंकार का उच्छेदकर अवशिष्ट चिन्मात्र मैं सर्वोत्कृष्ट रूप से स्थित हूँ ॥७५॥

श्रद्धा से अश्रद्धा का उच्छेद कर, अतृष्णा से तृष्णा का त्याग कर, ऊहापोहवती बुद्धि से अविचार, सन्देह आदि रूप अप्रज्ञा का विनाश कर ज्ञातृत्वाभिमानशून्य ज्ञान मात्र स्वभाव प्रत्यक् चैतन्य रूप तुम्हारे लिए नमस्कार है ॥ ७६ ॥

मन से उच्छिन्न मन के निरहङ्कार होने पर तथा ब्रह्माहंभाव से देहादि में अहंभाव के विनष्ट होने पर केवल स्वच्छ चिन्मात्र स्वभाव मैं रहता हूँ ॥ ७७ ॥

भावना में हेतुभूत बुद्धि से रहित, अहंकार रहित, मन रहित, इच्छाहेतुभूत चित्त से शून्य मेरा शरीर एक मात्र प्राणनक्रिया से शुद्ध स्वरूप वाले जीवन्मुक्त आत्मा में ही अवस्थित है ॥ ७८ ॥

हेलानुकम्पितानन्तविश्वेशादतिशायिनी ।
परमोपशमोपेता जातेयं मम निर्वृतिः ॥ ७९ ॥
प्रशान्तमोहवेतालो गताहङ्काररराक्षसः ।
कदाशारूपिकोन्मुक्तो जातोऽस्मि विगतज्वरः ॥ ८० ॥
तृष्णारज्जुगुणं छित्त्वा मच्छरीरकपञ्जरात् ।
न जाने क्व गतोड्डीय दुरहङ्कृतिपक्षिणी ॥ ८१ ॥
उद्धूलिते घनाज्ञानकुलाये कायपादपात् ।
न जाने गत उड्डीय क्वाऽहंभावविहङ्गमः ॥ ८२ ॥
दुराशादीर्घदौरात्म्यधूसराभोगभस्मना ।
भयभोगिहिता दिष्ट्या भूयस्यो वासनाः क्षताः ॥ ८३ ॥
एतावन्तमहं कालं कोऽभूवं चित्रमीदृशम् ।
येनाऽहमेष मिथ्यैव दृढाहङ्कारतां गतः ॥ ८४ ॥
अद्याऽहमस्मि जातोऽयमहमद्य महामतिः ।
अहङ्कारमहाभ्रेण यत्कृष्णेनाऽलमुज्झितः ॥ ८५ ॥
दृष्टोऽयमात्मा भगवांस्तथैवाऽधिगतो मया ।
आलब्धश्चाऽनुभूतोऽङ्गं स्वानुभूतौ नियोजिताः ॥ ८६ ॥
गतास्पदं गतमननं गतैषणं
तिरस्कृतं निपुणमहङ्कृतिभ्रमैः ।
निरीहितं व्यपगतरागरञ्जनं
विकौतुकं प्रशममिदं गतं मनः ॥ ८७ ॥
दुरुत्तराः समविषमा महापदः
सुदुःसहाः प्रभवनदीर्घदोषदाः ।
गताः क्षयं समधिगतो महेश्वर-
श्चिदद्वयोऽपगतमचित्त्वमन्तरे ॥ ८८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
ब्रह्मात्मलाभचिन्ता नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

लीला से ही भोग-ऐश्वर्य दान द्वारा अपने अनन्त भक्तों पर अनुग्रह करने वाले ब्रह्मा, विष्णु आदि से भी उत्कृष्ट निरतिशयानन्द परम शान्तिमय विश्रान्ति, मुझे प्राप्त हो गई ॥ ७९ ॥

मेरा मोह रूपी वेताल शान्त हो चुका है, अहङ्कार रूपी राक्षस मुझको छोड़कर गया है और कुत्सित आशा रूपी पिशाचिनी से मैं उन्मुक्त हूँ, मैं सन्तापरहित हूँ ॥ ८० ॥

तृष्णा रूपी रस्सी को तोड़ कर दुरहङ्कार रूपी चिड़िया मेरे शरीर रूपी पञ्जर से उड़कर न जाने कहाँ चली गई है ॥ ८१ ॥

निविड़ अज्ञान रूपी घोंसले के ज्ञानाभ्यासवश चूर-चूर करके उड़ा देने पर अहंभाव रूपी पक्षी मेरे शरीर रूपी वृक्ष से उड़कर न मालूम कहाँ चला गया है ॥८२॥

दुराशाओं से और लम्बे काल से दुष्ट देह आदि में आत्मत्व के अभिमान से मलिन और भयरूपी सर्पों के लिए हितैषी बहुत-सी मेरी दुर्वासनाएँ समाधि से उच्छिन्न हो गई हैं ॥ ८३ ॥

इतने समय तक मैं कौन हुआ ? जिससे यह मिथ्या ही दृढ़ अहंकारता को प्राप्त कर लिया था कैसा आश्चर्य है ॥ ८४ ॥

आज मैं अनुभव में आ रहे निरतिशयानन्द स्वभाव वाला हूँ । मेरी साक्षात्कार वृत्ति अपरिच्छिन्न ब्रह्माकारा है, अहंकार रूपी काले बादल ने मेरा सर्वथा त्याग कर दिया है ॥ ८५ ॥

मैंने भगवान् आत्मा का वाक्य-प्रमाण से दर्शन कर लिया है और उनका मनन से ज्ञान भी कर लिया। समाधि में मन से श्लेषपूर्वक उन्हें पा लिया है और समाधि में उनका अनुभव कर लिया है और शरीर के समान सदा अनुभूति में उनका नियोग भी कर लिया है ॥ ८६ ॥

विषय रहित, मनन और एषणा रहित, अहंकार भ्रमों से सर्वथा मुक्त निश्चेष्ट, रागों के सम्पर्क से रहित और भोगोत्कण्ठा से शून्य मेरा मन कष्टरहित अग्नि के समान शान्ति को प्राप्त है ॥ ८७ ॥

विविध योनियों में जिनको पार नहीं किया जा सकता है ऐसी चिर काल तक एकमात्र दुःखरूप, क्षण-प्रतिक्षण में विचित्र दुःखरूप, असह्य, दुस्तर बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ नष्ट हो गई हैं और चैतन्यघन अद्वितीय पूर्णानन्द आत्मा महेश्वर प्राप्त हो गया है, प्रत्यगात्मा में अज्ञान ज्ञान से बाधित हो चुका है ॥ ८८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में ब्रह्मात्मलाभचिन्ता नामक कुसुमलता का पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३५ ॥

३६

प्रह्लाद उवाच

आत्मा सर्वपदातीतश्चिरात् संस्मृतिमागतः ।
दिष्ट्या लब्धोऽसि भगवन्नमस्तेऽस्तु महात्मने ॥ १ ॥
अभिवन्द्याऽथ चाऽऽलोक्य चिरमालिङ्ग्यसे मया ।
कोऽन्यः स्यात्त्वदृते बन्धुर्भगवन् ! भुवनत्रये ॥ २ ॥
हंसि पासि ददासि त्वं स्तौषि यासि विवल्गसि ।
अयं प्राप्तोऽसि दृष्टोऽसि किं करोषि क्व गच्छसि ॥ ३ ॥
स्वसत्तापूरिताशेषविश्व विश्वजनीन भोः ।
सर्वत्र लक्ष्यसे नित्यमधुना क्व पलायसे ॥ ४ ॥
आवयोरन्तरं भूरिजन्मव्यवहितान्तरम् ।
अदूरमद्य संपन्नं दिष्ट्या दृष्टोऽसि बान्धव ! ॥ ५ ॥
नमस्ते कृतकृत्याय कर्त्रे भर्त्रे नमोऽस्तु ते ।
नमः संसारवृन्ताय नित्याय विमलात्मने ॥ ६ ॥
नमश्चक्राब्जहस्ताय नमश्चन्द्रार्धधारिणे ।
नमो विबुधनाथाय नमस्ते पद्मजन्मने ॥ ७ ॥
वाच्यवाचकदृष्ट्यैव भेदो योऽयमिहाऽऽवयोः ।
असत्या कल्पनैवेषा वीचिवीच्यम्भसोरिव ॥ ८ ॥
त्वमेवाऽनन्तयाऽनन्तवस्तुवैचित्र्यरूपया ।
भावाभावविलासिन्या नित्ययैव विजृम्भसे ॥ ९ ॥
नमो द्रष्ट्रे नमः स्रष्ट्रे नमोऽनन्तविकासिने ।
नमः सर्वस्वभावाय नमस्ते सर्वगात्मने ॥ १० ॥
प्रतिजन्म चिरं बह्व्यो दीर्घदुःखवता मया ।
त्वया मयोपदिष्टेन दग्धेनाऽपहृतौजसा ॥ ११ ॥
आलोकिता लोकदृशो दृष्टा दृष्टान्तदृष्टयः ।
न प्राप्तस्तत्त्वयाऽनेन किंचिदासादितं भवेत् ॥ १२ ॥

३६

प्रह्लाद ने कहा'—हे भगवन् ! सुखोत्कर्ष के स्थानों से भी बढ़ कर आनन्द रूप प्रत्यगात्मा चिर काल से मेरी स्मृति पर आरूढ़ है। तुम भाग्य से मुझे प्राप्त हो। अपरिच्छिन्न स्वभाव वाले तुम्हारे लिए नमस्कार है ॥१॥

हे भगवन् ! दर्शन कर प्रणाम कर के चिर काल तक समाधि में क्षीर-नीर की तरह सम्मिलित रूप से मेरे द्वारा आपका आलिङ्गन किया जाता है। तीनों भुवनों में तुम्हारे सिवा मेरा कौन परम प्रिय होगा ? ॥ २ ॥

तुम अभक्तों का नाश करते हो और भक्तों की रक्षा करते हो, आराधित होकर वरदान देते हो, स्तुतिकर्ता आदि के रूप से स्तुति करते हो, गमनकर्ता के रूप से चलते हो और सर्व रूप से व्यवहार करते हो। मैंने तो यह नित्य अपरोक्ष स्वभाव आत्मा पा लिया है और देख लिया है। अब मेरे प्रति क्या करते हो अथवा कहाँ जाते हो ? ॥ ३ ॥

हे विश्वजनीन ! आपने अपनी सत्ता से सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर लिया है, सदा सब जगह आप दिखाई देते हैं। अब इस समय आप कहाँ भाग रहे हैं ॥ ४ ॥

हे बान्धव ! बहुत से जन्मों से व्यवहित अज्ञान हम दोनों का व्यवधायक था। आज उसका नाश होने से अत्यन्त अभेद रूप समीपता उत्पन्न हो गई है। बड़े भाग्य से मैंने आपको देखा है ॥ ५ ॥

कृतकृत्य आपको नमस्कार है, कर्ता आपको नमस्कार है, सबका भरण-पोषण करने वाले हैं आपको बार-बार नमस्कार है। आप संसार रूपी पत्ते के वृन्त रूप, नित्य और निर्मल हैं, आपके लिए नमस्कार है ॥६॥

हाथ में चक्र और कमल धारण करने वाले आपको नमस्कार है। अर्धचन्द्र धारण करने वाले शिव रूप आप को नमस्कार है। देवताओं के अधिपति आपको नमस्कार है। कमलयोनि आपको नमस्कार है ॥ ७ ॥

व्यवहार दृष्टि से हम दोनों का लहर और लहर के जल के समान यह भेद असत्य कल्पना ही है ॥ ८ ॥

भाव और अभावों से विलसित होने वाली, अत्यन्त वस्तुओं की विचित्रता से पूर्ण स्वरूप वाली अत्यन्त कल्पना से आप ही विस्तार को प्राप्त हैं ॥ ९ ॥

द्रष्टा आपको नमस्कार है सृष्टि करने वाले आपको नमस्कार है और अनन्त रूपों से विकास को प्राप्त होने वाले आपके लिए नमस्कार है सर्वव्यापी आपके लिए नमस्कार है ॥ १० ॥

मैंने प्रत्येक जन्म में चिर काल तक ऊपर, नीचे और मध्य लोकों में बहुत से संसार भ्रम देखे यथा उनमें विवेक के अनुकूल दृष्टान्त-दृष्टियाँ देखीं। उस बहिर्लोक के दर्शन से आपने अपने को प्राप्त नहीं किया। तीनों लोकों के दर्शन से तनिक भी पुरुषार्थ रूप प्राप्त नहीं हुआ ॥ ११, १२ ॥

सर्वं मृत्काष्ठपाषाणवारिमात्रमिदं जगत् ।
नेहाऽस्ति त्वदृते देव ! यत्प्राप्तौ नाऽभिवाञ्छति ॥१३॥
देवाऽयमद्य लब्धोऽसि दृष्टोऽस्यधिगतोऽसि च ।
संप्राप्तोऽसि गृहीतोऽसि नमस्तेऽस्तु न मुह्यसि ॥ १४ ॥
योऽक्ष्णोः कनीनिकारश्मिजालप्रोतवपुः स्थितः ।
देव ! दर्शनरूपेण कथं सोऽत्र न दृश्यते ॥ १५ ॥
यस्त्वक्स्पर्शौ स्पृशन् सर्वं गन्धं तैलं तिले यथा ।
स्पर्शमन्तः करोत्येष स कथं नाऽनुभूयते ॥ १६ ॥
यः शब्दश्रवणादन्तः शब्दशक्तिं परामृशन् ।
रोमाञ्चं जनयत्यङ्गे स दूरस्थः कथं भवेत् ॥ १७ ॥
जिह्वापल्लवलग्नानि स्वदितस्याऽग्रतोऽपि च ।
स्वदन्ते यस्य वस्तूनि स्वदते स न कस्य च ॥ १८ ॥
पुष्पगन्धानुपादाय प्राणहस्तेन देहकम् ।

हे देव ! सारा जगत् मिट्टी, काष्ठ, पत्थर और जल-मात्र है। जिसकी प्राप्ति होने पर पुरुषार्थेच्छा पूर्ण होती है, ऐसी वस्तु आपके सिवा इस जगत् में दूसरी नहीं है ॥ १३ ॥

हे देव ! आज यह तुम मुझे मिल गये हो, मैंने देख लिया है और तुम्हारा स्वरूपपरिज्ञान हो गया है। तुम्हारी प्राप्ति हो गई है, तुम्हें मैंने ग्रहण कर लिया है, तुम मोहशून्य हो गये हो, तुम्हारे लिए नमस्कार है ॥ १४ ॥

हे देव ! अन्तःकरण के चक्षु द्वारा घटादिदेशनिर्ग-मन में घटावच्छिन्न चैतन्य रूप जो नेत्र की पुतली की किरणों से ओतप्रोत शरीर होकर स्थिति है, वह यहाँ पर दर्शन रूप से कैसे नहीं दिखाई देता है ? ॥ १५ ॥

जो त्वचा और उष्णत्व आदि स्पर्श को स्पार्शन वृत्ति से व्याप्त कर शीत आदि स्पर्शों को व्याप्त कर वैसे ही प्रकाशित करता है, जैसे तिल के अन्तर्गत तेल तिल से मिले हुए पुष्पों की सुगन्ध ग्रहण करता है, वह कैसे अनुभूत नहीं होता ? ॥ १६ ॥

जो शब्द सुनने से शब्दशक्ति को प्रकाशित कर शरीर में रोमांच पैदा करता है, वह दूरवर्ती कैसे हो सकता है ॥ १७ ॥

जिह्वा रूपी पल्लव में संलग्न मीठी, खट्टी आदि वस्तुएँ प्रेम के स्वादिष्ट किसको सुख रूप से वह स्फुरित नहीं होता ॥ १८ ॥

हाथ के समान वस्तु के ग्रहण में कारणभूत घ्राणेन्द्रिय

य आलोकयति प्रीत्या कस्याऽसौ न करे स्थितः ॥१९॥
वेदवेदान्तसिद्धान्ततर्कपौराणगीतिभिः ।
यो गीतः स कथं ह्यात्मा विज्ञातो याति विस्मृतिम् ।२०।
सैवेह देहभोगाली सुभगापीयमद्य मे ।
अन्तर्न स्वदते स्वच्छे त्वयि दृष्टे परावरे ॥ २१ ॥
त्वया विमलदीपेन भानुः प्रकटतां गतः ।
त्वया शीततुषारेण चन्द्रः शिशिरतां गतः ॥ २२ ॥
त्वयैते गुरवः शैलास्त्वयैते द्युचरा धृताः ।
त्वयैवेयं धरा धीरा त्वयैवाऽम्बरमम्बरम् ॥ २३ ॥
दिष्ट्या मत्तामसि प्राप्तो दिष्ट्या त्वत्तामहं गतः ।
अहं त्वं त्वमहं देव ! दिष्ट्या भेदोऽस्ति नाऽऽवयोः ॥२४॥
अहं त्वमिति शब्दाभ्यां पर्यायाभ्यां महात्मनः ।
तव वा मम वा शाखासंयुक्ताभ्यां नमो नमः ॥ २५ ॥

से गले में डाली हुई माला के फूलों की सुगन्ध ग्रहण कर माला से अलङ्कृत अपने शरीर को प्रसन्नता से देखने पर वह किसको हाथ में स्थित की तरह स्पष्ट प्रत्यक्ष नहीं है ॥ १९ ॥

वेद-वेदान्त के सिद्धान्त, तर्क, पुराण के गीत आदि से जिनका वर्णन हुआ वह विज्ञात आत्मा कैसे विस्मृत हो सकता है ? ॥ २० ॥

स्वच्छ परब्रह्म परमात्म रूप आपका साक्षात्कार होने पर सुन्दर देह के भोग आज मुझे पहले के समान अच्छे नहीं लगते ॥ २१ ॥

निर्मल दीप रूप तुम से सूर्य प्रकाशित शीतल हिम रूप तुम से चन्द्रमा शीतल है ॥ २२ ॥

ये पर्वत तुम्हारे द्वारा ही भार युक्त हैं, ये वायु आदि आकाशचारी तुम से धारण किये गये हैं, यह पृथिवी तुम्हारे द्वारा ही अचल है और यह आकाश तुम्हारे द्वारा ही अवकाश देने वाला है ॥ २३ ॥

हे देव ! भाग्य से तुम मेरी आत्मस्वरूपता को प्राप्त हो गये हो और भाग्य से मैं त्वत्स्वरूपता को प्राप्त हो गया हूँ। मैं तुम हूँ और तुम मैं हो। बड़े भाग्य की बात है हम लोगों का भेद नहीं रह गया है ॥ २४ ॥

लक्ष्य महात्मा के बोधन में पर्यायरूप, मेरे शाखा के समान एकदेशभूत उपाधि द्वारा भेदकल्पन से संयुक्त त्वम् और अहं शब्दों के लिए पुनः-पुनः नमस्कार है ॥ २५ ॥

नमो मह्यमनन्ताय निरहंकाररूपिणे ।
नमो मह्यमरूपाय नमः समसमात्मने ॥ २६ ॥
मय्यात्मनि समे स्वच्छे साक्षिभूते निराकृतौ ।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने स्वात्मन्येवेह तिष्ठसि ॥ २७ ॥
मनः प्रक्षोभमायाति स्फुरन्तीन्द्रियवृत्तयः ।
शक्तिरुल्लसति स्फारा प्राणापानप्रवाहिनी ॥ २८ ॥
वहन्ति देहयन्त्राणि कृष्टान्याशावरत्रया ।
चर्ममांसास्थिदिग्धानि मनःसारथिमन्ति च ॥ २९ ॥
अयं संविद्वपुरहं न काचिन्न कृतास्पदः ।
देहः पततु वोदेतु यथाभिमतयेच्छया ॥ ३० ॥
चिरादहमहं जातः स्वात्मलाभश्चिरादयम् ।
चिरादुपशमं याति कल्पस्यान्ते जगद्यथा ॥ ३१ ॥
चिरात् संसारगामित्वाद्दीर्घे संसारवर्त्मनि ।
विश्रान्तोऽस्मि चिरं श्रान्तः कल्पस्यान्त इवाऽनलः ।३२।

अनन्त मुझे प्रत्यगात्म रूप के लिए नमस्कार है, अत्यन्त सब स्वरूप के लिए नमस्कार है, अहंकार रहित था रूपरहित मुझ प्रत्यगात्मा के लिए नमस्कार है ॥२६॥

सम, निर्मल, निराकार साक्षिभूत, दिशा, काल आदि से अनवच्छिन्न स्वात्मरूप मुझ प्रत्यक् स्वभाव में आप रहते हैं कभी-भी पराक् स्वभाव में नहीं रहते ॥ २७ ॥

आप से प्रेरित मन क्षुब्ध होता है, आपकी प्रेरणा से चक्षु आदि इन्द्रियों की वृत्तियाँ स्फुरित होती है, प्राण और अपान में प्रवाहित होने वाली प्रचुर शक्ति उल्लासित होती हैं ॥ २८ ॥

आशा रूपी रस्सी से खींचे गये, चर्म, मांस और हड्डियों से व्याप्त एवं मन रूपी सारथि से युक्त शरीर रूपी यन्त्र आप से प्रेरित होकर चलते हैं ॥ २९ ॥

यह मैं संवित् देह ही हूँ, न तो मैं कोई प्राण न आदि शक्ति हूँ और न देह में स्थित अहङ्कार आदि ही हूँ। देह अपने इच्छानुसार चाहे गिरे चाहे उदित हो, उससे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥ ३० ॥

मैं चिर काल से मैं 'मैं' हुआ हूँ, चिर काल से मुझे मेरा स्वरूप लाभ हुआ है। चिर काल से भ्रम वैसे ही शान्ति को प्राप्त होता है जैसे प्रलय के अन्त में प्रलयाग्नि शान्त होती है ॥ ३१ ॥

चिर काल से संसार में भ्रमणशील होने के कारण इतने काल तक दीर्घ संसार मार्ग में थका हुआ मैं इस समय विश्राम को वैसे ही प्राप्त हुआ हूँ जैसे प्रलय के अन्त में प्रलयाग्नि श्रान्त होकर विश्राम को प्राप्त होती है ॥ ३२ ॥

सर्वातीताय सर्वाय तुभ्यं मह्यं नमो नमः ।
तेभ्योऽपि च नमस्तेऽस्तु ये मां त्वां प्रवदन्ति च ॥३३॥
अखिलानन्तसंभोगा न स्पृष्टा दोषवृत्तिभिः ।
जयत्यकृतसंरम्भा साक्षिता परमात्मनः ॥ ३४ ॥
आत्मन् पुष्प इवाऽऽमोदो भस्त्रापिण्ड इवाऽनिलः ।
तिले तैलमिवास्मिंस्त्वं सर्वत्र वपुषि स्थितः ॥ ३५ ॥
हंसि पासि ददासि त्वमवस्फूर्जसि वल्गसि ।
अनहंकृतिरूपोऽपि चित्रेयं तव मायिता ॥ ३६ ॥
जयामीशज्वलद्दीप्तिः सर्वमुन्मीलयञ्जगत् ।
जयाम्युपरतारम्भो जगद् भूयो निमीलयन् ॥ ३७ ॥
परमाणोस्तवैवाऽन्तरिदं संसारमण्डलम् ।
वटत्वं वटधानायां बभूवाऽस्ति भविष्यति ॥ ३८ ॥
हयद्विपरथाकारैर्यद्वत् खे दृश्यतेऽम्बुदः ।
तद्वदालोक्यसे देव ! पदार्थशतविभ्रमैः ॥ ३९ ॥

सबसे परे सर्वरूप त्वत्स्वरूप मेरे लिए नमस्कार है। जो गुरु अथवा वेदान्त तुमको मद्रूप कहते हैं, उनके लिए भी नमस्कार है ॥ ३३ ॥

जिससे अनन्त भोग प्रकाश्य हैं, फिर भी दोषवृत्तियों से स्पृष्ट नहीं है और उदासीन है, ऐसी परमात्मा की साक्षिता सर्वोत्कृष्ट रूप से विद्यमान है ॥ ३४ ॥

हे आत्मन् ! फूलों में सुगन्ध की तरह, धौंकनी में वायु की तरह तथा तिलों में तेल की तरह इस शरीर में सब जगह आप ही साररूप हैं ॥ ३५ ॥

निरहंकार रूप होते हुए आप दुष्टों का नाश करते हैं, सज्जनों की रक्षा करते हैं, भक्तों को वरदान देते हैं, गर्जन करते हैं और व्यवहार करते हैं, यह आपकी मायावत्ता बड़ी विचित्र है ॥ ३६ ॥

चिदात्म रूप से बाहर-भीतर पदार्थों के प्रकाश द्वारा प्रदीप्त मैं जीव रूप से प्रवेश कर नाम रूपात्मक सम्पूर्ण जगत् की रचना करना तुम्हारे ही स्वरूप से उसे वशीभूत करके पालता हूँ। प्रलय काल में मैं फिर जगत् का उपसंहार तुम्हारे स्वरूप से ही उसका अभिभव करता हूँ ॥ ३७ ॥

परमाणु रूप आपके अन्दर यह संसार-मण्डाल वैसे ही था, है और होगा। जैसे वट के बीज के अन्दर वटता पहले थी, है और होगी ॥ ३८ ॥

हे देव ! आप भी सैकड़ों पदार्थों के रूप से वैसे ही दिखाई देते हैं जैसे आकाश में बादल घोड़े, हाथी और रथों के आकार से दिखाई देता है ॥ ३९ ॥

भावानां भूरिभङ्गानामभावाय भवाय च ।
भव भावविमुक्तात्मा भावाभावबहिष्कृतः ॥ ४० ॥
जहि मानं महाकोपं कालुष्यं क्रूरतां तथा ।
न महान्तो निमज्जन्ति प्राकृते गुणसंकटे ॥ ४१ ॥
प्राक्तनीं दीर्घदौरात्म्यदशां स्मृत्वा पुनः पुनः ।
कोऽहं किं तद्बभूवेति हसन् मुक्ताच्छटासितम् ॥ ४२ ॥
ते प्रयाताः समारम्भा गतास्ते दग्धवासराः ।
येषु चिन्तानलज्वालाजालाकीर्णो भवानभूत् ॥ ४३ ॥
अद्य त्वं देहनगरे राजा स्फारमनोरथः ।
न दुःखैर्गृह्यसे नाऽपि सुखैर्व्योमकरैरिव ॥ ४४ ॥
अद्येन्द्रियदुरश्वांश्च जित्वा जितमनोगजः ।
भोगारिमभितो भङ्क्त्वा साम्राज्यमधितिष्ठसि ॥ ४५ ॥
अपाराम्बरपान्थस्त्वमजस्रास्तमयोदयः ।
अवभासकरो नित्यं बहिरन्तश्च भास्करः ॥ ४६ ॥
सर्वदैवाऽसि संसुप्तः शक्त्या संबोध्यसे विभो ! ।
भोगालोकनलीलार्थं कामिन्या कामुको यथा ॥ ४७ ॥
दृक्क्षुद्राभिरुपानीतं दूराद् रूपमधु त्वया ।
पीयते स्वीकृतं शक्त्या नेत्रवातायनस्थया ॥ ४८ ॥
ब्रह्माण्डकोटराध्वान्ताः प्राणापानपरैस्त्वया ।
गतागतैर्ब्रह्मपुरे संप्रेक्ष्यन्ते प्रतिक्षणम् ॥ ४९ ॥
देहे पुष्पे त्वमामोदो देहेन्दौ त्वमृतामृतम् ।
रसस्त्वं देहविटपे शैत्यं देहहिमे भवान् ॥ ५० ॥
त्वय्यस्ति विस्मयस्नेहः शरीरक्षीरसर्पिषि ।
त्वमन्तरस्य देहस्य दारुण्यग्निरिव स्थितः ॥ ५१ ॥
त्वमेवाऽनुत्तमास्वादः प्राकाश्यं तेजसामपि ।
अवगन्ताः त्वमर्थानां त्वं भासामवभासकः ॥ ५२ ॥

बहुत प्रकार के विकारपूर्ण स्वभाव वाले पदार्थों के बाध और निरतिशयानन्द स्वरूप के आविर्भाव के लिए असंगात्मदर्शन से भाव और अभावों से रहित असंगात्म-भाव से ही सदा विमुक्तात्मा हो जाओ, फिर बन्धन को प्राप्त मत हो ॥ ४० ॥

मान, महाकोप, कलुषता और कुटिलता का त्याग करें। महापुरुष प्राकृतिक गुण संकट में नहीं गिरते ॥४१॥

मैं कौन हूँ, क्या हो गया, ऐसा विचार कर मोतियों के कणों के समान सफेद हँसीं हँसते हुए अपनी पूर्वजन्मों की दीर्घ दौरात्म्य दशा का बार-बार स्मरण कर उसका त्याग करें ॥ ४२ ॥

ये कार्य बीत चुके, वे दग्ध दिन चले गये, जिनमें आप चिन्ता रूपी अग्नि की अनेक ज्वालाओं से आक्रान्त थे ॥ ४३ ॥

आज आप देह रूपी नगर में विफल मनोरथ वाले राजा के समान स्थित हैं। आप दुःखों से गृहीत वैसे ही नहीं होते जैसे आकाश मुष्टियों से नहीं पकड़ा जाता ॥ ४४ ॥

मन रूपी हाथी पर विजय प्राप्त करने वाले आप आज इन्द्रिय रूपी दुष्ट घोड़ों को जीत कर भोग रूपी शत्रु को चारों ओर से चूर्ण-विचूर्ण कर साम्राज्य सिंहासन पर स्थित हैं ॥ ४५ ॥

अपार आकाश के पथिक आप से निरन्तर जगत् का उदय और अस्त होता है, नित्य बाहर और भीतर प्रकाश करने वाले सूर्य हैं ॥ ४६ ॥

हे विभो ! आप सर्वदा सुप्त हो, भोक्ता की अदृष्ट शक्ति से भोगालोकन क्रीड़ा के लिए केवल उतने प्रबोध को आप वैसे ही प्राप्त होते हैं जैसे कामिनी द्वारा भोगा-लोकन लीला के लिए कामुक प्रबोधित होता है ॥४७॥

इन्द्रियवृत्ति रूपी मधुमक्खियों द्वारा दूर से किया गया तथा नेत्र रूपी झरोखे पर बैठी हुई चित्-शक्ति से स्वीकृत रूपादिरूप शहद आपके द्वारा पिया जाता है ॥ ४८ ॥

प्राण और अपान के निरोध में तत्पर योगियों द्वारा अन्य स्थान में संचार आदि के अनुकूल नाना नाडी मार्गों में गमना-गमन द्वारा (संचार द्वारा) अन्य ब्रह्माण्ड में जाने के लिए अथवा अर्चिरादि मार्ग से सूर्य-मण्डल में में जाने के लिए स्वयं ज्योति आपके द्वारा देखे जाते हैं ॥ ४९ ॥

आप देह रूपी फूल में आमोद हैं, देह रूपी चन्द्र में परमार्थ सत्यभूत अमृत हैं, देह रूपी शाखा में रागादि रूपी पल्लवों की उत्पत्ति में निमित्तभूत रस हैं और देह रूपी हिम में शीतलता हैं ॥ ५० ॥

सब प्राणियों के शरीर में गर्व के निमित्तभूत स्नेह शरीर रूप दूध के घृत के सदृश सारभूत आप में ही है। देह के अन्दर आप वैसे ही स्थित हैं जैसे काष्ठ में अग्नि स्थित रहती है ॥ ५१ ॥

आप ही सर्वोत्तम स्वाद स्वरूप है। आप ही सूर्यादि ज्योतियों के भी प्रकाशनिमित्त आप ही पदार्थों के ज्ञाता तथा चक्षु आदि इन्द्रियों के अवभासक हैं ॥ ५२ ॥

स्पन्दस्त्वं सर्ववायूनां त्वं मनोहस्तिनो मदः ।
प्रज्ञानलशिखायास्त्वं प्राकाश्यं तैक्ष्ण्यमेव च ॥ ५३ ॥
त्वद्वशादियमात्मीया वाचा संप्रविलीयते ।
दीपवत् पुनरन्यत्र समुदेति कुतोऽपि सा ॥ ५४ ॥
त्वयि संसारवर्त्तिन्यः पदार्थावलयस्तथा ।
कटकाङ्गदकेयूरयुक्तयः कनके यथा ॥ ५५ ॥
भवानयमयं चाऽहं त्वं शब्दैरेवमादिभिः ।
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं लीलार्थं स्तौषि वक्षि च ॥ ५६ ॥
मन्दानिलविनुन्नोऽब्दो गजाश्वनरदृष्टिभिः ।
यथा संलक्ष्यते व्योम्नि तथा त्वं भूतदृष्टिभिः ॥ ५७ ॥
यथा हयगजाकारैर्ज्वाला लसति वह्निषु ।
तथैवाऽव्यतिरिक्तैस्त्वं दृश्यसे भुवि सृष्टिषु ॥ ५८ ॥
त्वं ब्रह्माण्डकमुक्तानामच्छिन्नस्तन्तुराततः ।
क्षेत्रं त्वं भूतसस्यानां चिद्रसायनसेवितम् ॥ ५९ ॥

सब वायुओं के स्पन्द रूप आप हैं, मन रूपी हाथी के मद के तुल्य भ्रान्ति के निमित्त आप हैं, ज्ञान रूपी अग्निशिखा के प्रकाश निमित्त और उष्णता निमित्त आप हैं ॥ ५३ ॥

यह आत्मीया वाणी भी आपके उपसंहार से ही दीपक के समान लीन हो जातीं है फिर देहान्तर में कहीं से उदित हो जाती है ॥ ५४ ॥

संसार में स्थिति पदार्थ राशियाँ आप में वैसे ही उदित होती हैं जैसे सुवर्ण में कड़ा, बाजूबन्द आदि आविर्भूत होते हैं ॥ ५५ ॥

क्रीड़ा के लिए स्वयं अपने से अपनी आप; यह, तुम, मैं आदि शब्दों से आप ही स्तुति करते हैं और कहते हैं आप से अन्य कोई नहीं है ॥ ५६ ॥

आप विविध जीवों के आकारों से वैसे ही दिखाई देते हैं जैसे मन्द वायु से हिलाया जा रहा मेघ हाथी, घोड़े, मनुष्य आदि आकारों से दिखाई देता है ॥ ५७ ॥

पृथिवी विविध सृष्टियों में आप अपने से अभिन्न जीवों के आकार से वैसे ही दिखाई देते हैं जैसे अग्नियों में ज्वाला हाथी और घोड़े के आकार से शोभित होती है ॥ ५८ ॥

ब्रह्माण्ड रूपी मोतियों के अविच्छिन्न दीर्घ तन्तु और भूतरूपी धान्यों के चैतन्य रूपी रसायन से सींचे हुए क्षेत्र हैं ॥ ५९ ॥

अनभिव्यक्त असद्रूप असत्प्राय स्रष्टव्य पदार्थों का प्रसिद्ध स्वरूप आप से सृष्टि द्वारा वैसा ही प्रकाशित

असत्तदनभिव्यक्तं पदार्थानां प्रकाश्यते ।
त्वया तत्त्वं यथा पक्त्या मांसानां स्वादवेदनम् ॥ ६० ॥
विद्यमानाऽपि वस्तुश्रीर्न स्थिता त्वयि न स्थिते ।
वनितारूपलावण्यसत्तेव गतचक्षुषः ॥ ६१ ॥
सदपीह न सत्तायै वस्तुना वर्जितं त्वया ।
तृप्तये न स्वलावण्यं मुकुरात् प्रतिबिम्बितम् ॥ ६२ ॥
लुठति त्वां विना देहः काष्ठलोष्टसमः क्षितौ ।
सन्नप्यसन् नगोच्छ्रायः श्यामास्विव रविं विना ॥ ६३ ॥
सुखदुःखक्रमः प्राप्य भवन्तं परिनश्यति ।
प्राकाश्यमासाद्य यथा तमस्तेजोऽथवा हिमम् ॥ ६४ ॥
त्वदालोकनयैवैते स्थितिं यान्ति सुखादयः ।
सूर्यालोकनया प्रातर्वर्णाः शुक्लादयो यथा ॥ ६५ ॥
लब्धात्मानो विनश्यन्ति संबन्धक्षण एव ते ।
ते तमांसीव दीपस्य दृष्टा एव व्रजन्त्यलम् ॥ ६६ ॥

किया जाता है जैसे पाक से मांसों की आस्वादन योग्य स्वादुता प्रकाशित होती है ॥ ६० ॥

आपके स्थित न होने पर विद्यमान भी वस्तु शोभा वैसे ही स्थित नहीं रहती जैसे कि अन्धे के लिए वनिता की विद्यमान भी रूपलावण्य सत्ता विद्यमान नहीं रहती ॥६१॥

वस्तुभूत आप से रहित विद्यमान भी पदार्थ अर्थ क्रिया के लिए वैसे ही समर्थ नहीं होता जैसे दर्पण आदि में प्रतिबिम्बित अपने मुख का सौन्दर्य कान्ताओं के चुम्बन आदि अर्थ क्रिया प्रयुक्त तृप्ति के लिए पर्याप्त नहीं होता ॥ ६२ ॥

आपके बिना काष्ठ-लोष्ठ के तुल्य यह शरीर पृथिवी पर वैसे ही पड़ा रहता है जैसे अन्धेरी रात में सूर्य के बिना वृक्ष, पर्वत आदि की ऊँचाई विद्यमान होती हुई भी भान न होने के कारण असत्प्राय रहती है ॥ ६३ ॥

आपको प्राप्त कर यह सुख दुःख क्रम वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे सूर्य के प्रकाश को पाकर अन्धकार नष्ट हो जाता है अथवा जैसे सूर्य के तेज को पाकर हिम नष्ट हो जाता है ॥ ६४ ॥

आपके आलोकन से ही ये सुख आदि स्थित को वैसे ही प्राप्त होते हैं। जैसे प्रातःकाल में सूर्य के आलोकन से शुक्ल आदि वर्ण स्थित को प्राप्त होते हैं ॥ ६५ ॥

चूँकि आपके आलोकन से ही उत्पन्न हुए वे सुख आदि चरम साक्षात्कार से दीप्त आपसे सम्बन्ध समय में ही नष्ट हो जाते हैं, आपके द्वारा देखे गये ही वे दूर होते हैं ॥ ६६ ॥

तमस्ता तमसो दीपासत्तायां स्फुटतां गता ।
दीपसंबन्धसमये सा चोत्पद्य विनश्यति ॥ ६७ ॥

तदेवं सुखदुःखश्रीर्दृष्ट्वैव त्वामनामयम् ।
जायते जातमात्रैवं सर्वनाशेन नश्यति ॥ ६८ ॥

भङ्गुरत्वादिह स्थातुं कालं नाऽणुमपि क्षमा ।
निमेषलक्षभागाख्या तन्वी कालकला यथा ॥ ६९ ॥

गान्धर्वी नगरी तन्वी सुखदुःखादिभावना ।
स्फुरति त्वत्प्रसादेन त्वयि दृष्टे विलीयते ॥ ७० ॥

त्वदालोकेक्षणोद्भूता त्वदालोकेक्षणक्षया ।
मृतेव जाता जातेव मृता केनोपलक्ष्यते ॥ ७१ ॥

क्षणमप्यस्थिरं वस्तु कथं कार्यकरं भवेत् ।
तरङ्गैरुत्पलाकारैर्माला कथमवेक्ष्यते ॥ ७२ ॥

यदा वा जातनिर्नष्टं क्रियां वस्तु करिष्यते ।
तदा रमेत लोकोऽयं मालां कृत्वा तडिद्गणैः ॥ ७३ ॥

इमां सुखादिकां लक्ष्मीं विवेकिजनचेतसि ।
स्थितः सन्नेव गृह्णासि न जहासि समस्थितिम् ॥ ७४ ॥

अविवेकिषु योऽसि त्वं सहजात्मन् ! यदृच्छया ।
तद्रूपकथनेनाऽलं ममाऽनल्पपदास्पद ! ॥ ७५ ॥

निरीहेण निरंशेन निरहङ्कृतिना त्वया ।
सता वाऽप्यसता वाऽपि कर्तृत्वमुररीकृतम् ॥ ७६ ॥

जय प्रोड्डामराकार जय शान्तिपरायण ।
जय सर्वागमातीत जय सर्वागमास्पद ॥ ७७ ॥

जय जात जयाऽजात जय क्षत जयाऽक्षत ।
जय भाव जयाऽभाव जय जेय जयाऽजय ॥ ७८ ॥

उल्लसाम्युपशाम्यामि तिष्ठाम्यधिगतोऽस्मि च ।
जयी जयाय जीवामि नमो मह्यं नमोऽस्तु ते ॥ ७९ ॥

दीपक के अभाव में स्फुटता को प्राप्त अन्धकार की अन्धकारता दीपक के प्रकाश के संबन्ध के समय अपने धर्मी से वियुक्त होकर नष्ट हो जाती है ॥ ६७ ॥

इस प्रकार सुख-दुःख निर्दोष आपको देखकर ही उत्पन्न होते हैं। पूर्वोक्त रीति से उत्पन्न होते ही बीज भाव के साथ वे नष्ट हो जाते हैं ॥ ६८ ॥

सुख-दुःख भी विषयों के हटने के कारण स्वतः भङ्गुर होने से इस नित्य निरतिशय आनन्द प्रकाश रूप आत्मा में वैसे ही क्षणभर भी रह नहीं सकते जैसे निमेष की लाखवें हिस्से के रूप से प्रसिद्ध अतिसूक्ष्म काल-काला स्वतः ही नष्ट हो जाती है ॥ ६९ ॥

गन्धर्व नगरी के समान मिथ्याभूत भी सुख-दुःख आदि की भावना अज्ञात आपके प्रसाद से सत्य के समान प्रतीत होने पर भी आपका साक्षात्कार होने पर विलीन हो जाती है ॥ ७० ॥

अज्ञात आपके प्रकाश रूप दुष्ट चक्षु से उत्पन्न और सुज्ञात आपके प्रकाश रूप चक्षु से क्षीण यह सुख-दुःखादि की भावना मर कर स्वप्न में फिर उत्पन्न के समान स्वप्न में उत्पन्न होकर जागरण में फिर मरे के समान किसके द्वारा देखी जा सकती है ? ॥ ७१ ॥

क्षण भर भी स्थिर न रहने वाली वस्तु कैसे अर्थ-क्रियाकारी हो सकती है ? कमल बुद्धि से कल्पित आकार वाले तरंगों में माला कैसी देखी जाती है ? ॥ ७२ ॥

जब उत्पन्न होते ही नष्ट हुई वस्तु अर्थक्रिया करेगी, तो यह लोक बिजलियों से माला बनाकर आनन्द करेगा ॥ ७३ ॥

यह सुख-दुःख आदि श्री विवेकी जनों के हृदय में स्थित आप ग्रहण करते हैं, किन्तु समस्थिति का त्याग नहीं करते हैं ॥ ७४ ॥

हे सहजात्मन् ! अविवेकियों में सहज रूप में नान वासनाओं के उदय से आप जो हो, हे अनन्तरूपों औ नामों के आस्पद ! उनके स्वरूपक कथन में मेरी वार्ण समर्थ नहीं है ॥ ७५ ॥

निरीह निरवयव, निरहंकार, सद्रूप याअसद्रूप आपने कर्तृता को स्वीकार किया है ॥ ७६ ॥

हे ब्रह्माण्ड आदि अति विस्तृत आकार वाले ! आपकी जय हो, हे शान्ति परायण ! आपकी जय हो, हे भगवन् ! आप सब प्रमाणों से परे हैं, आपकी जय हो; हे भगवन् ! आप सब प्रमाणों से वेद्य हैं आपकी जय हो, हे जात ! आपकी जय हो; हे अजात ! आपकी जय हो, हे क्षत ! हे अक्षत ! आपकी जय हो। हे भाव ! आपकी जय हो, हे अभाव ! आपकी जय हो, हे जय ! आपकी जय हो, हे अजय ! आपकी जय हो ॥ ७७, ७८ ॥

मैं उल्लसित हूँ, निर्माण को प्राप्त कर रहा हूँ, स्थित हूँ, ज्ञाततत्त्व हूँ, आविद्यिकरूप पर विजय पाने के कारण मैं जयी हूँ। प्रारब्धशेष के भी जय के लिए जी रहा हूँ। प्रत्यगात्मरूप मेरे लिए नमस्कार है, ब्रह्मरूप तुम्हारे लिए नमस्कार है ॥ ७९ ॥

त्वयि स्थिते मयि विगतामयात्मनि
स्वसंस्थितौ व्यपगतरागरञ्जने ।
क्व बन्धनं क्व च विपदः क्व सम्पदो
भवाभवौ क्व शममुपैमि शाश्वतम् ॥ ८० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
आत्मस्तवनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

मेरे दोषरहित आत्माराम रागरञ्जना से शून्य आत्म-स्वरूप आपका स्वभाव होने पर मेरा बन्धन कहाँ, विपत्तियाँ कहाँ, सम्पत्तियाँ कहाँ और जन्म-मरण कहाँ ? अतः मैं शाश्वत सुखविश्रान्ति को प्राप्त हूँ ॥ ८० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में
आत्मस्तवन नामक कुसुमलता का छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

३७

वसिष्ठ उवाच

इति संचिन्तयन्नेव प्रह्लादः परवीरहा ।
निर्विकल्पपरानन्दसमाधिं समुपाययौ ॥ १ ॥
निर्विकल्पसमाधिस्थश्चित्रार्पित इवाऽचलः ।
शैलादिव समुत्कीर्णो बभौ स्वपदमास्थितः ॥ २ ॥
तथाऽनुतिष्ठतस्तस्य कालो बहुतरो ययौ ।
स्वगृहे भुवनस्थस्य मेरोरिव समुद्विषः ॥ ३ ॥
बोधितोऽप्यसुराधीशैर्नाऽबुध्यत महामतिः ।
अकाले बहुसेकोऽपि बीजकोशादिवाऽङ्कुरः ॥ ४ ॥
एवं वर्षसहस्राणि पीनात्माऽतिष्ठदेकदृक् ।
शान्त एवाऽसुरपुरे मार्तण्ड इव चोपले ॥ ५ ॥
परानन्ददशैकान्तपरिणामितया तया ।
निरानन्दं पराभासमिवाऽऽभासपदं गतः ॥ ६ ॥
एतावताऽथ कालेन तद्रसातलमण्डलम् ।
बभूवाऽराजकं तीक्ष्णमात्स्यन्यायकदर्थितम् ॥ ७ ॥
हिरण्यकशिपौ क्षीणे समाधौ तत्सुते स्थिते ।
न बभूवाऽपरः कश्चिद्राजा दनुसुतालये ॥ ८ ॥
असुरेशार्थिनां तेषां दानवानां समाधितः ।
परेणाऽपि प्रयत्नेन प्रह्लादो न व्यबुध्यत ॥ ९ ॥
न प्रापुर्विकसद्रूपं पतिं तममरारयः ।
लसत्पत्रलताजालं निशि पद्ममिवाऽलयः ॥ १० ॥

३७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—शत्रुनाशक प्रह्लाद ने आत्मा का चिन्तन करते हुए निर्विकल्प परमानन्दपूर्ण समाधि को प्राप्त किया ॥ १ ॥

निर्विकल्प समाधि में स्थित स्वरूप साम्राज्य को प्राप्त प्रह्लाद चित्रलिखित की तरह निश्चल पर्वत से गढ़ कर बनाये हुए के समान शोभित हुआ ॥ २ ॥

अपने घर में समाधि में स्थित प्रह्लाद का भुवन के बीच में स्थित मेरु की तरह स्थित इस प्रकार बहुत समय बीत गया ॥ ३ ॥

असुर श्रेष्ठों द्वारा जगाने पर भी वह महामति समाधि से वैसे ही विचलित नहीं हुआ जैसे बहुत सेक करने पर भी अकाल में बीज से अङ्कुर नहीं निकलता ॥ ४ ॥

इस प्रकार पत्थर पर गढ़े हुए सूर्य के समान निश्चल ब्रह्म स्वरूप वह शान्त असुरपुर में ही हजार वर्ष तक बाह्य दृष्टि शून्य होकर स्थित रहा ॥ ५ ॥

उस परमानन्द स्वरूप भूमा की देश में अत्यन्त परिणति से प्रह्लाद निरानन्द नहीं और परमात्मा भास-शून्य मरणावस्था को प्राप्त एक समान प्रतीत हुआ ॥ ६ ॥

अनन्तर इस बीच में वह पातालमण्डल अराजक और प्रबल मात्स्यन्याय से पीड़ित हुआ ॥ ७ ॥

हिरण्यकशिपु के मर जाने और उसके पुत्र प्रह्लाद के समाधिस्थ होने पर पाताल में कोई दूसरा राजा न रहा ॥ ८ ॥

असुरों के अधिपति की इच्छा वाले उन दानवों के विशेष प्रयास से भी प्रह्लाद समाधि से प्रबुद्ध नहीं हुआ ॥ ९ ॥

असुरों ने उस स्वामी को समाधि से वैसे ही बोध-युक्त नहीं पाया जैसे रात्रि में भ्रमर जिसकी पंखुरियाँ विकसित हो रही हों ऐसे कमल को नहीं पा सकते ॥ १० ॥

संविद्वादो न तस्याऽन्तरबोध्यत विचेतसः ।
भुवश्चेष्टाक्रम इव पौरुषो गतभास्वतः ॥ ११ ॥
अथोद्विग्नेषु दैत्येषु गतेष्वभिमतां दिशम् ।
विचरत्सु यथाकाममराजनि पुरे पुरा ॥ १२ ॥
चिराय पातालमभूदभूपालतया तया ।
मात्स्यन्यायविपर्यस्तमस्तं गतगुणक्रमम् ॥ १३ ॥
बलिमुक्ताबलपुरं मर्यादाक्रमवर्जितम् ।
सर्वार्तशिषवनितं परस्परहृताम्बरम् ॥ १४ ॥
प्रलापाक्रन्दपुरुषं विसंस्थानपुरान्तरम् ।
लुठद्दुद्यानगरं व्यर्थानर्थकदर्थितम् ॥ १५ ॥
चिन्तापरासुरगणं निरन्नफलबान्धवम् ।
अकाण्डोत्पातविवशं ध्वस्ताशामुखमण्डलम् ॥ १६ ॥
सुरार्भकपराभूतं भूतैराक्रान्तमन्तमन्त्यजैः ।
भूतरिक्तमलक्ष्मीकमुच्छिन्नप्रायकोटरम् ॥ १७ ॥
अनियतवनितार्थमन्त्रयुद्धं
हृतधनदारविरावितं समन्तात् ।
कलियुगसमयोद्भटोत्कटाभं
तदसुरमण्डलमाकुलं बभूव ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे असुरमण्डलव्याकुलीभवनं नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

चित्तरहित उसके अन्दर वैसे ही प्रबोध का लेश भी ज्ञात नहीं हुआ जैसे जिससे सूर्य अस्त हो गये हों, ऐसी भूमि के अन्दर सोये हुए पुरुषों की स्नान, दान, गमन, धावन आदि चेष्टाएँ नहीं होतीं ॥ ११ ॥

अनन्तर उद्विग्न निर्बल दैत्यों के अपने अभीष्ट देशों में चले जाने पर और बलवान् दैत्यों के दस्युओं की भाँति अराजक नगर में यथेच्छ लूट-पाट व्यवहार करने पर अराजकता से सारा पाताल चिरकाल तक बलवानों द्वारा दुर्बलों के उत्पीडन रूप मात्स्यन्याय से अस्त-व्यस्त और मर्यादारहित हो गया ॥ १२, १३ ॥

(मातृस्यन्याय का वर्णन करते हुए कहा गया है) उसमें बलवानों द्वारा दुर्बलों के नगर छीने गये थे, मर्यादा या क्रम का कहीं नाम-निशान न था, वनिताएँ सब लोगों से पीड़ित थीं, नगर का मध्य भाग खण्डहरों में परिणत हो गया था, सब पुरुष प्रलाप और रोदन से आक्रान्त थे, परस्पर एक दूसरे के वस्त्र हरते थे, बगीचे और नगर के वृक्ष ढह गये थे, व्यर्थ अनर्थों से सारा पाताल पीड़ित था, सब के सब असुर चिन्ताग्रस्त थे, अन्न, फल और बन्धु-बान्धवों का अभाव हो गया था, अनवसर के उत्पात से सारा पाताल विवश था, दिशाओं के मुख धूलि से व्याप्त थे, देवताओं के बच्चे भी उसका तिरस्कार करते थे, चण्डाल, कुत्ते, शृगाल, राक्षस, पिशाच आदि तामस प्राणियों से वह आक्रान्त हो गया था, वहाँ के आदि निवासी भद्र प्राणियों से वह शून्य हो गया था, उसकी शोभा नष्ट हो चुकी थी और सब अटारियाँ भग्नप्राय हो चुकी थीं ॥ १४–१७ ॥

वह असुरगण चारों ओर से भयोद्विग्न हो गये थे, उसमें स्त्रियाँ, धन, मन्त्र, तन्निमित्तक युद्ध नियमरहित हो गये थे । धन-सम्पत्ति और स्त्रियाँ हरी गई थीं, उन लोगों के विलाप से वह कोलाहल युक्त था, कलियुग के समय में दूसरों के धन हरने में शूरवीर क्रूर दस्युओं के तुल्य पाताल लोक हो गया था ॥ १८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में असुरमण्डलव्याकुलीभवन नामक कुसुमलता का सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३७ ॥

३८

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथाऽखिलजगज्जालक्रमपालनदेवनः ।
क्षीरोदनगरे शेषशय्यासनगतो हरिः ॥ १ ॥
प्रावृण्निद्राव्युपरमे देवार्थमरिसूदनः ।
धिया विलोकयामास कदाचिज्जागतीं गतिम् ॥ २ ॥

३८

श्री वसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर क्षीरसागर रूपी नगर में शेषशय्या रूप सिंहासन पर बैठे हुए अरिमर्दन भगवान् हरि ने समस्त जगतों के नियमों का पालन ही जिनकी क्रीड़ा है, वर्षा ऋतु की निद्रा टूटने पर देवताओं के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए किसी समय अपनी बुद्धि से तीनों लोकों की तात्कालिक स्थिति का निरीक्षण किया ॥ १, २ ॥

त्रिविष्टपं स्वमनसा पार्थिवं चाऽवलोक्य सः ।
आचारमाजगमाऽऽशु पातालमरिपालितम् ॥ ३ ॥
तत्र स्थिरसमाधाने स्थिते प्रह्लाददानवे ।
दृष्ट्वा संपदमिन्द्रस्य पुरे प्रौढिमुपागताम् ॥ ४ ॥
व्यालतल्पतलस्थस्य क्षीरोदार्णवशायिनः ।
शङ्खचक्रगदापाणेर्देहस्याऽन्तरचारिणः ॥ ५ ॥
पद्मासनस्थस्य मनः शरीरेणाऽतिभास्वता ।
इदं संचिन्तयामास त्रैलोक्याब्जमहालिना ॥ ६ ॥
प्रह्लादे पदविश्रान्ते पाताले गतनायके ।
कष्टं सृष्टिरियं प्रायो निर्दैत्यत्वमुपागता ॥ ७ ॥
दैत्याभावे सुरश्रेणी निर्जिगीषुपदं गता ।
शममेष्यत्यदृष्टाब्दपटलेषु सरिद् यथा ॥ ८ ॥
मोक्षाख्यं निर्गतद्वन्द्वं ततो यास्यति तत्पदम् ।
क्षीणाभिमानविरसा लतेव प्रविशुष्कताम् ॥ ९ ॥
देवौघे शान्तिमायाते भुवि यज्ञतपःक्रियाः ।

उन्होंने मन से स्वर्ग का अवलोकन कर, भूलोक के निवासियों के शुभाशुभ आचरण का अवलोकन कर दैत्यों द्वारा पालित पाताल में शीघ्र गये ॥ ३ ॥

पाताल में दानवराज प्रह्लाद के निश्चल समाधि में स्थित होने पर इन्द्र के नगरभूत स्वर्ग में संपत्ति को अति-वृद्धि को प्राप्त हुई देखकर पहले क्षीरसागर में सोये हुए अनन्तर जाग कर शेषशय्या पर स्थित वहाँ पर भी पद्मासन लगाकर बैठे हुए हाथ में शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये हुए भगवान् विष्णु के मन ने त्रिलोक रूपी कमल के महा भ्रमर रूपी अपने देदीप्यमान शरीर से यह विचार किया ॥ ४–६ ॥

प्रह्लाद के समाधि में विश्रान्ति लाभ करने पर और पाताल के नायक रहित होने पर यह सृष्टि प्रायः दैत्य शून्य हो गई है, यह कष्ट की बात है ॥ ७ ॥

दैत्यों के अभाव में निर्जिगीषु पद को प्राप्त देववृन्द वैसे ही रागद्वेष रहित हो जायँगे जैसे अनावृष्टि के समय में नदी सूख जाती है ॥ ८ ॥

अभिमान शून्य होने के कारण स्वर्ग सुख से विमुख देवता रागद्वेषा भाव रूप शम से शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों के उपद्रव से रहित मोक्ष नामक उस परम पद को वैसे ही प्राप्त होंगे। जैसे जल सेक रहित लता शुष्कता को प्राप्त होती है ॥ ९ ॥

मनुष्यों में भी शम आदि की प्राप्ति होने से पृथिवी में सब यज्ञ आदि क्रियाएँ देवत्व रूप फल से रहित होकर उच्छेद को प्राप्त होंगी। इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥१०॥

अदेवत्वफलाः सर्वाः शममेष्यन्त्यसंशयम् ॥ १० ॥
क्रियास्वथोपशान्तासु भूर्लोऽस्तमुपैष्यति ।
असंसारप्रसंगोऽथ तस्य नाशे भविष्यति ॥ ११ ॥
आकल्पान्तं त्रिभुवनं यदिदं कल्पितं मया ।
नाशमेष्यत्यकालेन तापे हिमकणो यथा ॥ १२ ॥
किमेवमस्मिन्नाभोगे विलीय क्षयमागते ।
कृतं मयेह भवति स्वलीलाक्षयकारिणा ॥ १३ ॥
ततोऽहमपि शून्येऽस्मिन्नष्टचन्द्रार्कतारके ।
वपुःप्रशान्तिमाधाय स्थितिमेष्यामि तत्पदे ॥ १४ ॥
अकाण्ड एवमेवं हि जगत्युपशमं गते ।
नेह श्रेयो न पश्यामि मन्ये जीवन्तु दानवाः ॥ १५ ॥
दैत्योद्योगेन विबुधास्ततो यज्ञतपःक्रियाः ।
तेन संसारसंस्थानं न संसारक्रमोऽन्यथा ॥ १६ ॥
तस्माद् रसातलं गत्वा यथावत् स्थापयाम्यहम् ।
स्वे क्रमे दानवाधीशमृतुः पुनरिव द्रुमम् ॥ १७ ॥

यज्ञ आदि क्रियाओं के उच्छिन्न होने पर कर्मभूमि व्यर्थ हो जायगी और कर्म के व्यर्थ होने पर संसार का उच्छेद हो जायगा ॥ ११ ॥

प्रलय पर्यन्त रहने वाले मेरे द्वारा निर्मित्त तीनों भुवन, अकाल में ही वैसे ही नाश को प्राप्त हो जायँगे जैसे धूप में हिम-कण नष्ट हो जाता है ॥ १२ ॥

इस प्रकार इन जगतों के विलीन होकर नष्ट होने पर अपनी लीला का नाश करने वाले मुझ से क्या उचित किया गया ॥ १३ ॥

चन्द्रमा, सूर्य और तारे से शून्य जगत् में लीला के लिए गृहीत अपने शरीर का उपसंहार कर फिर संसार की अनुत्पत्ति के लिए उस पूर्ण आत्मपद में स्थिति को प्राप्त हो जाऊँगा ॥ १४ ॥

इस प्रकार अनवसर में ही जगत् के नष्ट होने पर देव, मनुष्य आदि जीव वर्ग का मैं कल्याण नहीं देखता वह बात नहीं है मैं कल्याण देखता ही हूँ, इसलिए क्रमशः सब को उक्त कल्याण की प्राप्ति के लिए दानव जीवित रहें ॥ १५ ॥

दैत्यों के उद्योग से देवता जिगीषु बनेंगे, देवताओं के कारण यज्ञ, तप आदि क्रियाएँ होंगी, उससे संसार की स्थिति होगी, संसार नियम अन्यथा नहीं होगा ॥ १६ ॥

इसलिए पाताल में जाकर मैं दानवराज प्रह्लाद को अपने कर्म में पूर्ववत् वैसे ही स्थापित करता हूँ जैसे वसन्त आदि ऋतु वृक्ष को फिर पूर्ववत् स्थित करती है ॥ १७ ॥

विना प्रह्लादमथचेदितरं दानवेश्वरम् ।
करोमि तदसौ मन्ये देवानासादयिष्यति ॥ १८ ॥
प्रह्लादस्य त्वयं देहः पश्चिमः पावनो महान् ।
आकल्पमिह वस्तव्यं देहेनाऽनेन तेन च ॥ १९ ॥
एवं हि नियतिर्देवी निश्चिता पारमेश्वरी ।
प्रह्लादेन यथाकल्पं स्थातव्यमिह देहिना ॥ २० ॥
तस्मात्तमेव गत्वा तु दैत्येन्द्रं बोधयाम्यहम् ।
गर्जन् गिरिनदीसुप्तं मयूरमिव वारिदः ॥ २१ ॥
जीवन्मुक्तसमाधिस्थः करोत्वसुरनाथताम् ।
मणिर्मुक्तमनस्कारः प्रतिबिम्बक्रियामिव ॥ २२ ॥
नहि नश्यति सर्गोऽयमेवं सह सुरासुरैः ।
भविष्यति च तद्द्वन्द्वं तन्मे क्रीडा भविष्यति ॥ २३ ॥
सर्गक्षयोदयावेतौ सुसमौ मम यद्यपि ।
तथापीदं यथासंस्थं भवत्वन्येन किं मम ॥ २४ ॥
भावाभावेषु यत्तुल्यं तन्नाशे तत्स्थितौ च वा ।
यः प्रयत्नस्त्वबुद्धित्वात्तद्योगगमनं भवेत् ॥ २५ ॥
तस्मात् प्रयामि पातालं बोधयाम्यसुरेश्वरम् ।
स्थयं यामि न संसारलीलां सम्पादयाम्यहम् ॥ २६ ॥
असुरपुरमवाप्य प्रोद्धताचारघोरं
कमलमिव विवस्वान् दैत्यमुद्बोधयामः ।
जगदिदमखिलं स्वस्थैर्यमभ्यानयामो
घनविधिरिव शैले चञ्चलं मेघजालम् ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
परमेश्वरवितर्को नाम अष्टात्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

मैं प्रह्लाद को छोड़ दूसरे को दानवराज बनाऊँ, तो वह निश्चय देवताओं पर चढ़ाई कर देगा ॥ १८ ॥

प्रह्लाद का तो यह शरीर परम पवित्र और अन्तिम है। इस देह से वह कल्प पर्यन्त रहेगा ॥ १९ ॥

देहधारी प्रह्लाद को कल्पपर्यन्त यहाँ रहना होगा, इस प्रकार की परमेश्वर की नियति देवी निश्चित है ॥ २० ॥

इसलिए पाताल में जाकर दैत्यराज प्रह्लाद को वैसे ही जगाता हूँ जैसे गरज रहा मेघ पर्वत नदी के तटपर सोये हुए मयूर को जगाता है ॥ २१ ॥

जीवन्मुक्तों की अनासक्तिरूप समाधि में स्थित प्रह्लाद वैसे ही दानवाधिपत्य को ग्रहण करे जैसे मन की चेष्टा से रहित मणि अपने में संनिहित वस्तु के प्रति-बिम्ब को धारण करती है ॥ २२ ॥

इस प्रकार सुर और असुरों के साथ यह सृष्टि नष्ट नहीं होगी तथा सुर और असुरों का द्वन्द्व युद्ध होगा, यह मेरी क्रीड़ा होगी ॥ २३ ॥

जगत् की सृष्टि और संहार ये दोनों मेरे लिए समान ही हैं तथापि यह पूर्वोक्त सृष्टि के अनुसार हो, अन्य से मेरा क्या मतलब है ॥ २४ ॥

आसक्ति के अभाव से जो गमन यदि प्रयत्न है, वह योग गमन ही है वह अन्य और गमन नहीं है, क्योंकि योग निद्रा से प्राप्त होने वाला सुख गमनयत्न की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति में समान है और गमनप्रयत्न आदि की स्थिति और नाश में समान है ॥ २५ ॥

इसलिए मैं पाताल में जाता हूँ और असुरराज प्रह्लाद को जगाता हूँ। चलता हुआ भी मैं निश्चलता को ही प्राप्त हूँ, मैं अज्ञ के समान संसार-लीला नहीं करता ॥ २६ ॥

यह मर्यादा रहित दस्युओं के अनाचार से भयानक पाताल में जाकर प्रह्लाद को समाधि से वैसे ही जगाते हैं, जैसे वर्षा ऋतु चञ्चल मेघ-राशि को पर्वत पर स्थिर करती है वैसे ही उससे सम्पूर्ण जगत् को स्थिरता को प्राप्त करते हैं ॥ २७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में परमेश्वरवितर्क नामक कुसुमलता का अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३८ ॥

३९

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति संचिन्त्य सर्वात्मा क्षीरोदादात्मकात् पुरात् । चचाल परिवारेण सहसानुरिवाऽचलः ॥ १ ॥

३९

श्रीवसिष्ठजी ने कहा:—यह सोच कर सर्वात्मा भगवान् क्षीरसागर रूप अपने नगर से अपने परिवार के साथ वैसे ही चले जैसे अपने शिखरों के साथ पर्वत की तरह चले ॥ १ ॥

क्षीरोदतलरन्ध्रेण तेनैव स्तम्भिताम्भसा ।
प्रह्लादनगरं प्राप शक्रलोकमिवाऽपरम् ॥ २ ॥
हेममन्दिरकोशस्थं ददर्शाऽत्राऽसुरं हरिः ।
अथ शैलगुहालीनं समाधिस्थमिवाऽब्जजम् ॥ ३ ॥
तत्र ते तेजसा दैत्या वैष्णवेनाऽवधूलिताः ।
दूरं ययुर्दिनेशांशुवित्रस्ता इव कौशिकाः ॥ ४ ॥
द्वित्रैः सहाऽसुरैर्मुख्यैः परिवारयुतो हरिः ।
प्रविवेशाऽसुरगृहं तारावानिव खं शशी ॥ ५ ॥
वैनतेयासनस्थोऽसौ लक्ष्मीविधुतचामरः ।
स्वायुधादिपरीवारो देवर्षिमुनिवन्दितः ॥ ६ ॥
महात्मन् संप्रबुद्धचस्वेत्येवं विष्णुरुदाहरन् ।
पाञ्चजन्यं प्रदध्मौ च ध्वनयन् ककुभां गणम् ॥ ७ ॥
महता तेन शब्देन वैष्णवप्राणजन्मना ।
तुल्यकालपरिक्षुब्धकल्पाभ्रार्णवरंहसा ॥ ८ ॥
आसुरीजनता भूमौ पपाताऽऽगतसम्भ्रमा ।

भगवान् उसी क्षीरसागर के तल के छेद से, जिसका जल रोक दिया गया था, द्वितीय इन्द्र नगर के तुल्य प्रह्लाद नगर में गये ॥ २ ॥

यहाँ पहुँचने पर भगवान् श्रीहरि ने प्रह्लाद नगर में सुवर्णमय गृह के अन्दर स्थित असुरराज प्रह्लाद को पर्वत की गुहा में बैठे हुए समाधिस्थ ब्रह्मा के समान देखा ॥ ३ ॥

वहाँ पर विष्णु भगवान् के तेज से वे सबके सब दैत्य धूलि के समान उड़ गये और सूर्य की प्रखर किरणों से भयभीत उल्लुओं की भाँति दूर चले गये ॥ ४ ॥

दो या तीन मुख्य-मुख्य असुरों के साथ परिवार युक्त भगवान् श्रीहरि ने असुर-गृह में वैसे ही प्रवेश किया जैसे तारों से परिवेष्टित चन्द्रमा आकाश में प्रवेश करता है ॥ ५ ॥

भगवान् गरुडरूपी आसन पर बैठे थे, श्री लक्ष्मी जी उन पर चँवर डुला रही थी, शङ्ख, चक्र, गदा, आयुध आदि उनके परिवार थे और देवर्षि और मुनि उनकी स्तुति कर रहे थे ॥ ६ ॥

हे महात्मन् ! जागो, यह कहते हुए और दिङ्मण्डल को मुखरित करते हुए इस प्रकार के विष्णु भगवान् ने अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया ॥ ७ ॥

भगवान् विष्णु के बल से उत्पन्न हुए एक साथ क्षुब्ध हुए प्रलय काल के मेघ और सागर के शब्द के समान वेगवाले उस महान् शब्द से, भयजनित मूर्च्छा को प्राप्त

मत्तनीलाभ्रनादेन राजहंसावली यथा ॥ ९ ॥
जहर्ष जनितानन्दा वैष्णवो गतसम्भ्रमा ।
जनता जलदध्वानफुल्लेव कुटजावली ॥ १० ॥
बभूव संप्रबुद्धात्मा दानवेशः शनैः शनैः ।
मेघावसर उत्फुल्लकदम्ब इव कानने ॥ ११ ॥
ब्रह्मरन्ध्रकृतोत्थाना प्राणशक्तिरथाऽसुरम् ।
शनैराक्रमयामास गङ्गा सर्वमिवाऽर्णवम् ॥ १२ ॥
क्षणादाक्रमयामास प्राणश्रीः सर्वतोऽसुरम् ।
उदयानन्तरं सौरी प्रभेव भुवनान्तरम् ॥ १३ ॥
प्राणेषु रन्ध्रनवके प्रवृत्तेष्वथ तस्य चित् ।
चेत्योन्मुखी बभूवाऽन्तः प्राणदर्पणबिम्बिता ॥ १४ ॥
चेतनीयोन्मुखी चेत्यं चिन्मनस्तामुपाययौ ।
द्वित्वं मुकुरसंक्रान्ता मुखश्रीरिव राघव ! ॥ १५ ॥
किञ्चिदङ्कुरिते चित्ते नेत्रे विकसनोन्मुखे ।
शनैर्बभूवतुस्तस्य प्रातर्नीले यथोत्पले ॥ १६ ॥

होकर आसुरी जनता भूमि पर वैसे ही गिर पड़ी, जैसे कि मत्त नील मेघ के शब्द से राज हंसावली भूमि पर गिर पड़ती है ॥ ८, ९ ॥

किन्तु भयरहित वैष्णवी जनता आनन्द को प्राप्त होकर वैसे ही हर्षित हुई जैसे मेघ के शब्द से कुटज वृक्षों की पङ्क्ति खिल उठती है ॥ १० ॥

वर्षा ऋतु में वन में फूले हुए कदम्ब की तरह दानवराज प्रह्लाद शनैः शनैः प्रबुद्ध हुआ ॥ ११ ॥

अनन्तर ब्रह्मरन्ध्र में उदित हुई प्राणशक्ति ने प्रह्लाद को वैसे ही पूर्ण कर दिया जैसे गंगा जी धीरे-धीरे सागर को भर देती है ॥ १२ ॥

क्षणभर में प्राणों ने चारों ओर से प्रह्लाद को वैसे ही पूर्ण कर दिया जैसे उदय के अनन्तर सूर्य की प्रभा भुवन के मध्य को पूर्ण कर देती है ॥ १३ ॥

अनन्तर इन्द्रियों के नौ छिद्रों में प्रवृत्त होनेपर उसकी चेतनाशक्ति लिङ्गदेहरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर विषयोन्मुख हो गई ॥ १४ ॥

हे श्रीराघव ! जैसे दर्पणपर पड़ी हुई मुखश्री द्वित्व को प्राप्त होती है वैसे ही चेतनीय विषयोन्मुखी चित्याकार संस्कार का उद्‌बोध होने से चेत्य-सी होकर चिज्जड़-उभयतारूप मनस्ता को प्राप्त हुई ॥ १५ ॥

चित्त के कुछ अङ्कुरित होनेपर उसके नेत्र वैसे ही विकसित होने लगे जैसे प्रातःकाल में नील कमल विकसित होने लगते हैं ॥ १६ ॥

प्राणापानपरामृष्टा नाडीविवरसंविदः ।
वातार्तस्येव पद्मस्य स्पन्दोऽस्य समजायत ॥ १७ ॥
निमेषान्तरमात्रेण मनः पीवरतां ययौ ।
तस्मिन् प्राणवशात् पूर्णे तरङ्ग इव वारिणि ॥ १८ ॥
अथाऽसौ विकसन्नेत्रमनःप्राणवपुर्बभौ ।
अर्द्धोदित इवाऽऽदित्ये सरः स्फुरितपङ्कजम् ॥ १९ ॥
अस्मिन्नवसरे यावद् बुध्यस्वेत्यवदद् विभुः ।
प्रबुद्धस्तावदेषोऽभूद् बर्हो घनरवादिव ॥ २० ॥
प्रफुल्लनयनं जातमननं पीवरस्मृतिम् ।
उवाचैनं त्रिलोकेशः पुरा नाभ्यब्जजं यथा ॥ २१ ॥
साधो ! स्मर महालक्ष्मीमात्मीयां स्मर चाऽऽकृतिम् ।
अकाण्ड एव किं देहविरामः क्रियते त्वया ॥ २२ ॥
हेयोपादेयसङ्कल्पविहीनस्य शरीरगैः ।
भावाभावैस्तवाऽर्थः किमुत्तिष्ठोत्तिष्ठ सम्प्रति ॥ २३ ॥

भीतर प्रविष्ट प्राण और अपान से उद्बोधित चारों ओर से नाडीविवरों में जो संवेदन हुआ उससे वैसे ही स्पन्द हो गया जैसे वायु से प्रेरित कमल में स्पन्द होता है ॥ १७ ॥

केवल एक निमेष में प्राणों से पूर्ण उसमें मन वैसे ही स्थूलता को प्राप्त हो गया जैसे पूर्ण जल में तरङ्ग होती है ॥ १८ ॥

उसके भी नेत्र, मन, प्राण और शरीर वैसे ही विकसित हुए जैसे सूर्य के आधे उदित होने पर तालाब में कमलों में स्फुरण हो जाता है ॥ १९ ॥

इस बीच में ही भगवान् श्रीहरि के द्वारा जागो, यह शब्द कहने पर मेघ के गर्जन से मयूर के समान वह प्रबुद्ध हो गया ॥ २० ॥

कल्प के आदि में जैसे नाभि कमल से उत्पन्न ब्रह्मा से त्रिलोकाधिपति भगवान् कहते हैं वैसे ही मैं प्रह्लाद हूँ, इस प्रत्यभिज्ञा से समन्वित जिसकी पूर्वावस्था की स्मृति दृढ़ हो चुकी थी, कहा ॥ २१ ॥

हे साधो ! तुम महती दैत्यराज्यश्री का और अपनी आकृति का स्मरण करो । तुम देह के विस्मरण से अनवसर में हो देह का अवसान किसलिए कर रहे हो ॥ २२ ॥

हेयोपादेय के संकल्प से रहित तुम्हारे शरीर में स्थित प्रिय और अप्रिय से क्या प्रयोजन है, इसलिए तुम इस समय अवश्य उठो ॥ २३ ॥

स्थातव्यमिह देहेन कल्पं यावदनेन ते ।
वयं हि नियतिं विद्मो यथाभूतामनिन्दिताम् ॥ २४ ॥
जीवन्मुक्तेन भवता राज्य एवेह तिष्ठता ।
क्षेपणीया गतोद्वेगमाकल्पान्तमियं तनुः ॥ २५ ॥
तन्वां कल्पान्तशीर्णायां स्वे महिम्नि त्वयाऽनघ ! ।
वस्तव्यं स्फुटिते कुम्भे कुम्भाकाशेन खे यथा ॥ २६ ॥
कल्पान्तस्थायिनी शुद्धा दृष्टलोकपरावरा ।
इयं तव तनुर्जाता जीवन्मुक्तविलासिनी ॥ २७ ॥
नोदिता द्वादशादित्या न प्रलीनाः शिलोच्चयाः ।
न जगज्ज्वलितं साधो ! तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ २८ ॥
वायुर्वहति नोन्मत्तस्त्रिलोकीभस्मधूसरः ।
लोलामरकपालाङ्कस्तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ २९ ॥
अशोक इव मञ्जर्यः पुष्करावर्तविद्युतः ।
न स्फुरन्ति जगत्कोशे तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ ३० ॥

तुम्हें कल्पपर्यन्त इस देह से यहां पर रहना होगा । हम तुम्हारे यथार्थ और अगर्हित आयु के नियम को जानते हैं ॥ २४ ॥

यहाँपर राज्यसिंहासनपर ही स्थित हो रहे जीवन्मुक्त-रूप तुमको कल्पतक इस शरीर को बिना किसी उद्वेग के व्यवहार में प्रेरित करना चाहिये ॥ २५ ॥

हे निष्पाप ! इस शरीर के कल्पान्त में विनष्ट होने-पर तुम्हें आत्मभूत निरतिशय महत्ता में वैसे ही निवास करना होगा जैसे घड़े के फूटने पर घटाकाश महाकाश में समा जाता है ॥ २६ ॥

तुम्हारा यह शरीर, जो कल्पन्त तक रहने वाला है, लोक के विविध व्यवहारों को देख चुका है और जीव-न्मुक्ति से सुशोभित है, शुद्ध हो गया है ॥ २७ ॥

हे सज्जनशिरोमणे ! अभी प्रलयकाल में उदित होने वाले बारह सूर्य उदित नहीं हुए हैं, हिमालय आदि पर्वत समाप्त नहीं हुए हैं और जगत् जला नहीं है, तुम व्यर्थ क्यों शरीर का त्याग करते हो ? ॥ २८ ॥

अभी तीनों लोकों की राख से धूसर तथा देवताओं की चञ्चल खोपड़ियाँ जिसकी चिह्नभूत हैं, ऐसी प्रलय-कालीन प्रखर वायु नहीं बह रही है, तुम क्यों शरीर को छोड़ते हो ? ॥ २९ ॥

अशोक के वृक्षों पर मञ्जरियों की तरह इस समय ब्रह्माण्ड में पुष्करावर्तनामक प्रलयकालीन मेघों पर बिज-लियाँ नहीं चमकती हैं फिर तुम व्यर्थ क्यों शरीर का त्याग करते हो ? ॥ ३० ॥

धरासाररणच्छैलाः प्रज्वलज्ज्वलनोज्ज्वलाः ।
ककुभो न विशीर्यन्ते तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ ३१ ॥
न ब्रह्मविष्णुरुद्राख्यत्रयीशेषमिदं स्थितम् ।
जगज्जरठजीमूतं तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ ३२ ॥
न चेहाऽद्रिदलश्रेणिमात्रैकानुमितान्तराः ।
दिशो जर्जरतां यातास्तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ ३३ ॥
स्फुटदद्रीन्द्रटङ्काराः कराः सौरा भ्रमन्ति खे ।
कल्पाभ्राणि न गर्जन्ति तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ ३४ ॥
अहं भूतावकीर्णासु सालोकासु खगध्वजः ।
विहरामि दशाशासु मा देहमवधीरय ॥ ३५ ॥
इमे वयमिमे शैला भूतानीमान्ययं भवान् ।
इदं जगदिदं व्योम मा देहमवधीरय ॥ ३६ ॥
पीवराज्ञानयोगेन यस्य पर्याकुलं मनः ।
दुःखानि विनिकृन्तन्ति मरणं तस्य राजते ॥ ३७ ॥
कृशोऽतिदुःखी मूढोऽहमेताश्चाऽन्याश्च भावनाः ।
मतिं यस्याऽवलुम्पन्ति मरणं तस्य राजते ॥ ३८ ॥
आशापाशनिबद्धोऽन्तरितश्चेतश्च नीयते ।
यो विलोलमनोवृत्त्या मरणं तस्य राजते ॥ ३९ ॥
यस्य तृष्णाः प्रभञ्जन्ति हृदयं हृतभावनाः ।
प्ररोहमिव गर्धेभ्यो मरणं तस्य राजते ॥ ४० ॥
चित्तवृत्तिलता यस्य तालोत्तालमनोवने ।
फलिता सुखदुःखाभ्यां मरणं तस्य राजते ॥ ४१ ॥
रोमराजीलताजालं यस्येमं देहदुर्द्रुमम् ।
अनर्थौघो हरत्युच्चैर्मरणं तस्य राजते ॥ ४२ ॥
यस्य स्वदेहविपिनमाधिव्याधिदवाग्नयः ।
दहन्ति लोलाङ्गलतं मरणं तस्य राजते ॥ ४३ ॥

जल रही भूमि के प्रकम्प से विदीर्ण होने के कारण जिसमें पर्वत शब्द कर रहे हों और अग्नि के जलने से जो उज्ज्वल हों ऐसी दिशाएँ विशीर्ण नहीं हुई हैं, व्यर्थ में तुम शरीर का क्यों त्याग करते हो ? ॥ ३१ ॥

जिसमें प्रलय काल के मेघ वृद्धि को प्राप्त हुए हों यह जगत् ऐसा नहीं हुआ है और जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नामक तीन देवता शेष रह गये हैं, ऐसा नहीं हुआ है; इसलिए तुम व्यर्थ शरीर का त्याग क्यों करते हो ॥ ३२ ॥

जिनके भेद का अनुमान लोकालोक पर्वत के शिखरों से होता है जो भूमिरूपी कमल की पँखुरियों के सदृश हैं, यहाँ पर दिशाएँ जर्जरित नहीं हुई हैं, तुम व्यर्थ शरीर का त्याग क्यों करते हो ॥ ३३ ॥

आकाश में बारहों आदित्यों को तोड़े जा रहे मेरु के टङ्कार की तरह ध्वनि वाली किरणें नहीं घूमती हैं और प्रलय काल के मेघगर्जन नहीं कर रहे हैं फिर तुम व्यर्थ शरीर का त्याग क्यों करते हो ? ॥ ३४ ॥

गरुड पर सवार मैं अण्डज आदि चार प्रकार के प्राणियों से व्याप्त तथा सूर्य आदि के प्रकाश से युक्त दसों दिशाओं में विहार कर रहा हूँ, तुम शरीर का परित्याग मत करो ॥ ३५ ॥

ये हम लोग हैं, ये पर्वत हैं, ये प्राणी हैं, यह तुम हो, यह जगत् है, यह आकाश है, इसलिए तुम प्रलय पर्यन्त स्थायी शरीर का त्याग मत करो ॥ ३६ ॥

जिसके व्याकुल मन को घन अज्ञान के सम्बन्ध से विविध दुःख छिन्न-भिन्न करते हैं, उसका मरना शोभा देता है ॥ ३७ ॥

मैं कृश हूँ, मैं अत्यन्त दुःखी हूँ और मैं मूढ़ हूँ ये या इनसे अन्य भावनाएँ जिसकी मति को नष्ट करती हैं, उसका मरना शोभा देता है ॥ ३८ ॥

भीतर की अनेक आशा रूपी पाशों से जो बँधा है और चञ्चल मनोवृत्ति द्वारा इधर-उधर ले जाया जाता है, उसका मरना शोभा देता है ॥ ३९ ॥

तृष्णाएँ, जिन्होंने विवेक रूपी अङ्कुर को हर लिया, जिसके हृदय को भग्न कर देती हैं, उसका मरना वैसे ही शोभा देता है । जैसे मूढ़ पुरुष महान् फल देने वाले धान के अङ्कुर आदि को उसे खाने वाले पशु आदि के लिए काट देते हैं ॥ ४० ॥

जिसके ताड़ वृक्ष के समान राग आदि की उन्नति से सम्पन्न मन रूपी वन में चित्तवृत्ति रूपी लता सुख-दुःख रूपी फलों से युक्त है, उसका मरना उचित है ॥ ४१ ॥

जिसके रोमराजी रूपी शाखाओं के समूह से सम्पन्न देह रूपी दुष्ट वृक्ष को, काम आदि अनर्थ रूपी जोर की आँधी दूर हर ले जाती है, उसका मरना शोभा देता है ॥ ४२ ॥

जिसके चञ्चल अङ्ग रूपी लता वाले स्वदेह रूपी वन को आधि-व्याधि रूपी वनाग्नियाँ जलाती हैं, उसका मरना उचित है ॥ ४३ ॥

कामकोपात्मका यस्य स्फूर्जन्त्यजगरास्तनौ ।
अन्तःशुष्कद्रुमस्येव मरणं तस्य राजते ॥ ४४ ॥
योऽयं देहपरित्यागस्तल्लोके मरणं स्मृतम् ।
न सता नाऽसता तेन कारणं वेद्यवेदनम् ॥ ४५ ॥
यस्य नोत्क्रामति मतिः स्वात्मतत्त्वावलोकनात् ।
यथार्थदर्शिनो ज्ञस्य जीवितं तस्य शोभते ॥ ४६ ॥
यस्य नाऽहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
यः समः सर्वभावेषु जीवितं तस्य राजते ॥ ४७ ॥
योऽन्तःशीतलया बुद्ध्या रागद्वेषविमुक्तया ।
साक्षिवत् पश्यतीदं हि जीवितं तस्य राजते ॥ ४८ ॥
येन सम्यक्परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्झता ।
चित्तस्याऽन्तेऽर्पितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते ॥ ४९ ॥
अवस्तुसदृशे वस्तुन्यसक्तं कलनामले ।
येन लीनं कृतं चेतो जीवितं तस्य शोभते ॥ ५० ॥
सत्यां दृष्टिमवष्टभ्य लीलयेयं जगत्क्रिया ।
क्रियतेऽवासनं येन जीवितं तस्य राजते ॥ ५१ ॥
नाऽन्तस्तुष्यति नोद्वेगमेति यो विहरन्नपि ।
हेयोपादेयसंप्राप्तौ जीवितं तस्य शोभते ॥ ५२ ॥
शुद्धपक्षस्य शुद्धस्य हंसौघः सरसो यथा ।
यस्माद्गुणौघो निर्याति जीवितं तस्य शोभते ॥ ५३ ॥
यस्मिन् श्रुतिपथं प्राप्ते दृष्टे स्मृतिमुपागते ।
आनन्दं यान्ति भूतानि जीवितं तस्य शोभते ॥ ५४ ॥
यस्योदयेषु हृदयेन जनाम्बुजानि
　जीवालिमन्ति सकलानि विलासवन्ति ।
तस्यैव भाति परिजीवितमक्षयेन्दो-
　रापूर्णतेव दनुजेश्वर ! नेतरस्य ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमकरणे प्रह्लादनिर्वाणे नारायणवचनोपन्यासो नाम एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

कामक्रोधी-रूपी अजगर जिसके शरीर में वैसे ही फुफकारते हैं, जैसे सूखे हुए वृक्ष के खोखले में अजगर फुफकारता है उसका मरना शोभा देता है ॥ ४४ ॥

इस देह का परित्याग है जो लोक में मरण नाम से प्रसिद्ध है। देहत्याग तत्त्वज्ञानी का सत् आत्मा से नहीं किया जा सकता, असत् देह से भी उसका सम्पादन नहीं हो सकता, प्रमाणों द्वारा अवश्य वेदनार्ह आत्मा का ज्ञान ही देह आदि की असत्ता में कारण है, क्योंकि देहादि के सद्भाव की प्रतीति अज्ञान निबन्धन है ॥ ४५ ॥

जिसकी बुद्धि स्वात्मतत्त्व के विचार से उचटती नहीं, उस यथार्थदर्शी तत्त्वज्ञानी का जीवन शोभित होता है ॥ ४६ ॥

जिसका किसी देह में अहंभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि देह के प्रिय अप्रिय से लिप्त नहीं होती वह सब भावों में और विषयों में सम है उसके मरण संभव न होने से सदा उसका जीवन ही शोभित होता है ॥ ४७ ॥

रागद्वेष से रहित अन्तःशीतल बुद्धि से साक्षी के समान इस जगत् को जो देखता है, उसका जीवन शोभा देता है ॥ ४८ ॥

असार जानकर हेय और उपादेय का त्याग कर जिसने चित्त के विरामभूत साक्षी में अपने चित्त का समर्पण कर दिया है, उसका जीवन शोभित होता है ॥४९॥

शुक्ति, रजत आदि के सदृश वस्तु के समान भासमान बाह्यार्थ कल्पना रूप में अनासक्त चित्त को ब्रह्म में ही लीन करने वाले का जीवन शोभा देता है ॥ ५० ॥

सत्य दृष्टि का अवलम्बन कर इस जगत्-व्यवहार को वासनारहित लीला से करने वाले का जीवन शोभा देता है ॥ ५१ ॥

जो लोकव्यवहार का सम्बन्ध करता हुआ भी दुःख हेतु पदार्थ की प्राप्ति होने पर न तो उद्वेग को प्राप्त होता है और न सुख हेतु वस्तु की प्राप्ति होने पर मन में प्रसन्न होता है, उसका जीवन शोभा देता है ॥ ५२ ॥

तालाब से हंसों के समूह के समान जिससे गुणों का समूह चला जाता है, जिसके तत्त्वज्ञानी ही आत्मीय है और स्वयं शुद्ध है, उसका जीवन शोभित होता है ॥५३॥

जिसके गुण आदि के श्रवणगोचर होने पर, दर्शन होने पर और स्मरण होने पर प्राणियों को अतिशय आनन्द होता है, उसका जीवन सफल है ॥ ५४ ॥

हे दनुजेश्वर ! जिसका उदय होने पर जीवरूपी भ्रमर से युक्त जनरूपी कुमुद हृदय से आनन्दित होते हैं, क्षयरोग रहित चन्द्रमा की पूर्णता के समान उसीका जीवन शोभित होता है, अन्य का नहीं ॥ ५५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में प्रह्लादनिर्वाण में नारायणवचनोपन्यास नामक कुसुमलता का उन्तालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३९ ॥

४०

श्रीभगवानुवाच

स्थैर्यं देहस्य दृष्टस्य जीवितं प्रोच्यते जनैः ।
देहान्तरार्थं देहस्य संत्यागो मरणं स्मृतम् ॥ १ ॥

द्वाभ्यां चैवाऽसि पक्षाभ्यामाभ्यां मुक्तो महामते ! ।
किं ते मरणमस्तीह किं वा जीवितमस्ति ते ॥ २ ॥

निदर्शनार्थमेतत्तु मयोक्तमरिमर्दन ! ।
न त्वं जीवसि सर्वज्ञ ! म्रियसे न कदाचन ॥ ३ ॥

देहसंस्थोऽप्यदेहत्वाददेहोऽसि विदेहदृक् ।
व्योमसंस्थोऽप्यसक्तत्वादव्योमेव हि मारुतः ॥ ४ ॥

स्पर्शसंबोधकारित्वाद्देह एवाऽस्ति सुव्रत ! ।
उत्सेधारोधकत्वेन खमुत्सेधस्य कारणम् ॥ ५ ॥

प्रबुद्धो ज्ञातवस्तुत्वाद्देहः क्व शमिनामिह ।
इदं त्वेकं परिच्छिन्नं रूपमज्ञेषु दुःस्थितम् ॥ ६ ॥

सर्वदा सर्वमेवाऽसि चित्प्रकाशः परैकधीः ।
को देहः कोऽप्यदेहस्ते यं गृह्णासि जहासि च ॥ ७ ॥

समुदेतु वसन्तो वा वातु वा प्रलयानिलः ।
भावाभावविहीनस्य किमभ्यागतमात्मनः ॥ ८ ॥

प्रलुठत्स्वपि शैलेषु कल्पाग्निषु दहत्स्वपि ।
वहत्सूत्पातवातेषु स्वात्मन्येव हि तिष्ठति ॥ ९ ॥

सर्वभूतानि तिष्ठन्तु सर्वमेव प्रयातु वा ।
नश्यन्तु वाऽथ वर्धन्तामात्मन्येवाऽभितिष्ठति ॥ १० ॥

क्षीयते न क्षयं प्राप्ते वर्धमाने न वर्धते ।
न स्पन्दते स्पन्दमाने देहेऽस्मिन् परमेश्वरः ॥ ११ ॥

देहस्याऽहमहं देहीति क्षीणे चित्तविभ्रमे ।
त्यजामि न त्यजामीति किं मुधा कलनोदिता ॥ १२ ॥

४०

दृष्ट देह की स्थिरता को लोग जीवन कहते हैं फिर द्वितीय देह के ग्रहण के लिए पूर्व देह का त्याग मरण कहा गया है ॥ १ ॥

हे महामने ! इन दोनों पक्षों से तुम मुक्त हो, यहाँ तुम्हारा क्या मरना है अथवा क्या जीवन है ॥ २ ॥

हे शत्रुतापन ! मैंने दृष्टान्त के लिए यह सब कहा था । हे सर्वज्ञ ! न तो तुम कभी जीवित हो और न कभी मरते हो ॥ ३ ॥

देह दृष्टिशून्य तुम भी देह में स्थित होते हुए भी वैसे ही देहरहित होने के कारण अदेह हो जैसे आकाश में स्थित भी वायु आसङ्गरहित होने के कारण आकाशशून्य होता है ॥ ४ ॥

हे सुव्रत ! देह में शीत, उष्ण आदि स्पर्श के वेदन का निमित्त होने से और अन्यत्र उसके अदर्शन से देह में ही तुम हो । असंग आत्मा स्पर्श के संवेदन में वैसे ही कारण हैं जैसे वृक्ष के बढ़ने में रोधक न होने से आकाश बढ़ने में कारण है ॥ ५ ॥

तुम प्रबुद्ध हो गये हो क्योंकि तत्त्वज्ञान हो गया है । बोध होने पर सर्व द्वैत से रहित पुरुषों का शरीर यहां कहाँ रहता है, यह एक परिच्छिन्न देहरूप यद्यपि असंभाव्य है तथापि अज्ञानियों में ही स्थित है ॥ ६ ॥

प्रकाशक होने के कारण तुम्हारी सब वस्तुओं में समान ही स्थित है । इसलिए एकमात्र परमात्मा में बुद्धि-वृत्तिवाले प्रकाशस्वरूप तुम सब कुछ हो अज्ञानी के समान देहमात्र नहीं हो । कौन वस्तु तुम्हारी देह होगी, जिसका कि तुम अहंबुद्धि से ग्रहण करो और अदेह भी कौन होगी, जिसका कि तुम अनहंबुद्धि से त्याग करो ॥ ७ ॥

चाहे वसन्त ऋतु का उदय हो या प्रलयकाल की घनघोर आँधी हो प्रिय और अप्रिय से शून्य आत्मा को क्या लाभ है ॥ ८ ॥

पर्वतों के ढहने पर प्रलयाग्नियों के धधकने पर और उत्पात वायुओं के बहने पर तत्त्वज्ञानी आत्मा में ही स्थित रहता है ॥ ९ ॥

सब भूत रहें या सब कुछ चला जाय सबका नाश हो जाय या सबकी वृद्धि प्राप्त हों, तत्त्वज्ञानी आत्मनिष्ठ ही रहता है उससे विचलित नहीं होता है ॥ १० ॥

इस देह के विनष्ट होने पर परमात्मा का विनाश नहीं होता है, इसके बढ़ने पर परमात्मा नहीं बढ़ता और इसमें चेष्टा होने पर चेष्टित नहीं होता है ॥ ११ ॥

देह के सम्बन्धी में 'अहं' इस प्रकार तादात्म्याध्यास-रूप 'मैं देही हूँ' तद्धर्म संसर्गाभ्यासरूप चित्तभ्रम के नष्ट होने पर मैं त्याग करता हूँ अथवा त्याग नहीं करता, इस प्रकार की निरर्थक कल्पना कैसे उदित हो सकती है ? ॥ १२ ॥

इदं कृत्वा करोमीदमिदं त्यक्त्वेदमित्यलम् ।
इति तत्त्वविदां तात ! संकल्पाः संक्षयं गताः ॥ १३ ॥

प्रबुद्धाः सर्वकर्तारः करिष्यन्तीह किञ्चन ।
न तस्याऽकरणे नित्यमकर्तृत्वपदं गताः ॥ १४ ॥

अकर्तृत्वादभोक्तृत्वमर्थादेव समागतम् ।
संगृहीतं किलाऽनुप्तं केनेह भुवनत्रये ॥ १५ ॥

शान्ते कर्तृत्वभोक्तृत्वे शान्तिरेवेह शिष्यते ।
प्रौढिमभ्यागता सैव मुक्तिरित्युच्यते बुधैः ॥ १६ ॥

प्रबुद्धाश्चिन्मयाः शुद्धाः सर्वमाक्रम्य संस्थिताः ।
किं त्यक्तं परिगृह्णन्तु किं गृहीतं त्यजन्तु वा ॥ १७ ॥

ग्राह्यग्रहकसंबन्धप्रमितावयविक्रमैः ।
हीनः प्रमेयावयवैः किं गृह्णातु जहातु किम् ॥ १८ ॥

ग्राह्यग्राहकसंबन्धे क्षीणे शान्तिरुदेत्यलम् ।

हे तात ! इस कार्य को करके मैं इस कार्य को करता हूँ, इसका त्याग कर इसका त्याग करता हूँ, इस प्रकार के संकल्प तत्त्वज्ञानियों के सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ॥१३॥

ज्ञानी पुरुष इस संसार में सब कुछ करते हुए भी कुछ भी नहीं करते हैं। कर्म के न करने के कारण वे सदा अकर्तृरूप से स्थित रहते हैं ॥ १४ ॥

कर्तृत्व न होने से अनायास अभोक्तृत्व प्राप्त हो जाता है। धान आदि के बीज बोये बिना तीनों लोकों में कौन धान आदि का संग्रह कर सकता है ? ॥ १५ ॥

कर्तृत्व और भोक्तृत्व के शान्त होने पर एकमात्र निर्विक्षेपता ही अवशिष्ट रहती है। कर्तृत्व के मूलोच्छेद से बद्धमूल निर्विक्षेपता ही विद्वानों द्वारा मुक्ति कही जाती है ॥ १६ ॥

ज्ञानवान्, चैतन्यस्वरूप परमात्मस्वरूप के आविर्भाव से सब का तिरस्कार करके स्थित शुद्धात्मा पुरुष पहले प्राप्त न हुए किस ऐहिक फल का ग्रहण करें या पहले से गृहीत किस फल का त्याग करें ? ॥ १७ ॥

ग्राह्य, ग्राहक और तत्संबन्धरूप अज्ञानावस्था में यथार्थ रूप से प्रतीत किया और कारक के संबन्ध से बने हुए अवान्तर वाक्यार्थ रूप अवयविक्रम वाले महावाक्यार्थ के अवयवों से आत्मा किसका ग्रहण करे और किसका त्याग करे ? ॥ १८ ॥

ऐहिक और पारलौकिक इष्ट और अनिष्टों के साधनों के त्याग और उपादान के साधन ग्राह्यग्राहक संबन्ध के

स्थितिमभ्यागता शान्तिर्मोक्षनाम्नाऽभिधीयते ॥ १९ ॥

तत्र स्थिताः सदा शान्तास्त्वादृशाः पुरुषोत्तमाः ।
सुषुप्तावयवस्पन्दसाधर्म्येण चरन्ति हि ॥ २० ॥

परावबोधविश्रान्तवासनो जगति स्थितिम् ।
अर्धसुप्त इवेहेमां त्वं पश्याऽऽत्मस्थया धिया ॥ २१ ॥

न रमन्ते हि रम्येषु स्वात्मन्येव गताशयाः ।
नोद्विजन्तेऽन्यदुःखेषु स्वात्मन्येकरसायनाः ॥ २२ ॥

नित्यप्रबुद्धा गृह्णन्ति कार्याणीमान्यसङ्गिनः ।
मुकुरा इव बिम्बानि यथाप्राप्तान्यवाञ्छया ॥ २३ ॥

जाग्रति स्वात्मनि स्वस्थाः सुप्ताः संसारसंस्थितौ ।
बालवत् प्रविवेपन्ते सुषुप्तसदृशाशयाः ॥ २४ ॥

त्वमजितपदवीमुपागतोऽन्तः
कमलजवासरमेकमेव भुक्त्वा ।

नष्ट होने पर रागादिविक्षेपों की शान्ति उत्पन्न होती है। वही रागादि के मूलोच्छेद से स्थिरता को प्राप्त होकर मोक्ष नाम से कही जाती है ॥ १९ ॥

निर्विक्षेप रूप शान्ति में सदा स्थित तुम्हारे ऐसे शान्त पुरुष गाढ़ निद्रा में सोये हुए पुरुष के अवयवों की चेष्टाओं के समान व्यवहार करते हैं ॥ २० ॥

परब्रह्म के ज्ञान से वासनारहित तुम इस जगत् में आत्मनिष्ठ बुद्धि से अर्धसुप्त के समान इस राज्यपालन आदि व्यवस्था को देखो ॥ २१ ॥

स्वात्मा में ही संलग्न चित्त वाला ज्ञानी पुरुष रमणीय अनात्म पदार्थों में सुख का अनुभव नहीं करता और केवल स्वात्मा में ही जिन्हें रसायन के समान मधुर सुख का आस्वाद करता है, और आत्मा का स्पर्श न करने वाले दुःखों के उपस्थित होने पर उद्विग्न नहीं होता है ॥ २२ ॥

नित्यप्रबुद्ध असंग पुरुष यथाप्राप्त इन कार्यों को जैसे दर्पण बिम्बों को ग्रहण करते हैं वैसे ही अनास्था से ग्रहण करते हैं ॥ २३ ॥

संसारस्थिति में सोये हुए आत्मनिष्ठ पुरुष स्वात्मा में ही जागरूक रहते हैं। सुषुप्त के सदृश आशय वाले वे बालकों की तरह व्यवहार करते हैं ॥ २४ ॥

हे महात्मन् ! अन्तः से अजित भगवान् विष्णु की पदवी को प्राप्त तुम ब्रह्मा के एक दिनतक इस पाताल में

गुणगणकलितामिहैव लक्ष्मीं व्रज परमास्पदमच्युतं महात्मन् ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे प्रह्लादबोधनं नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

ही विविध गुणों से युक्त राज्यलक्ष्मी का उपभोग कर विदेह कैवल्य नामक अच्युत परमपद को प्राप्त करो ॥२५॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में प्रह्लादबोधन नामक कुसुमलता का चालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४० ॥

४१

श्रीवसिष्ठ उवाच

जगद्रत्नसमुद्गेन त्रैलोक्याद्भुतदर्शिना ।
इत्युक्ते पद्मनाभेन ज्योत्स्नाशीतलया गिरा ॥ १ ॥
प्रह्लादनामा देहोऽसौ विकाशिनयनाम्बुजः ।
मुदोवाच वचो धीरो गृहीतमननक्रमः ॥ २ ॥

प्रह्लाद उवाच

हिताहितविचारेण राजकार्यशतेन च ।
अत्यहं श्रमितो देव ! क्षणं विश्रामतां गतः ॥ ३ ॥
भगवंस्त्वत्प्रसादेन स्थितिः सम्यगथाऽऽगता ।
समाधावसमाधौ च रूपेणाऽहं समः सदा ॥ ४ ॥
चिरमन्तर्महादेव ! दृष्टोऽस्यमलया धिया ।
पुनर्बहिरयं दृष्ट्या दिष्ट्या देव ! प्रदृश्यसे ॥ ५ ॥
अहमासमनन्तायामस्यां दृष्टौ महेश्वर ! ।
सर्वसङ्कल्पमुक्तायां व्योम व्योम्नीव निर्मले ॥ ६ ॥
न शोकेन न मोहेन न च वैराग्यचिन्तया ।
न देहत्यागकार्येण न संसारभयेन च ॥ ७ ॥
एकस्मिन् विद्यमाने हि कुतः शोकः कुतः क्षतिः ।
कुतो देहः क्व संसारः क्व स्थितिः क्व भयाभये ॥ ८ ॥
यथेच्छयैवाऽमलया केवलं स्वयमुत्थया ।
एवमेवाऽहमवसं वितते पावने पदे ॥ ९ ॥
हा विरक्तोऽस्मि संसारं त्यजामीतीयमीश्वर ! ।
अप्रबुद्धदृशां चिन्ता हर्षशोकविकारदा ॥ १० ॥
देहाभावे न दुःखानि देहे दुःखानि मे मतिः ।
इति चिन्ताविषव्याली मूर्खमेवाऽवलुम्पति ॥ ११ ॥

४१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—प्रलय में जगद्रूपी रत्नों को अपने अन्दर समेट लेने के कारण जगद्रूप रत्नों के सन्दूक रूप और सृष्टिकाल में त्रैलोक्यरूपी अद्भुत पदार्थ का दर्शन करने वाले भगवान् विष्णु के चाँदनी के समान शीतल वाणी से पूर्वोक्त बातें कहा ॥ १ ॥

यह सुनकर प्रह्लाद नामक देह ने, मारे आनन्द के जिसके नेत्रकमल विकसित थे और जिसने मनन ग्रहण कर लिया था, प्रसन्नता से उस में वचन कहे ॥ २ ॥

प्रह्लाद ने कहा—हे देव ! असुरों का क्या हित है और देवताओं का क्या अहित है, इस विचार से सैकड़ों राज्यकार्यों से मैं अत्यन्त थक गया था, इसलिए एक क्षण के लिए मैंने विश्राम लिया ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! आप के प्रसाद से तत्त्वबोध से भली-भाँति स्वरूपावस्थिति मुझे प्राप्त हो गई है। मैं समाधि और असमाधि में तथा सदेह और विदेह मुक्तियों में पारमार्थिक रूप से सदा समान ही हूँ ॥ ४ ॥

हे देव ! निर्मल अखण्ड मानस साक्षात्कार वृत्ति से मैंने चिरकाल तक आप के दर्शन किये हैं। इस समय फिर चर्म-चक्षु से भी बड़े भाग्यवश आप मेरे दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥ ५ ॥

हे महेश्वर ! मैं सब सङ्कल्पों से रहित इस अनन्त अभ्यन्तर दृष्टि से निर्मल आकाश में आकाश की तरह न शोक से, न मोह से, न वैराग्यचिन्ता से, न देहत्याग के कार्य से और न संसारभय से ही स्थित था। भाव यह कि शोक, मोह आदि कारणों से समाधि में मैं स्थित नहीं था, जिससे मेरे देहत्याग का प्रसंग आता ॥ ६, ७ ॥

एक तत्त्ववस्तु के विद्यमान रहने पर कहाँ शोक, कहाँ नाश और कहाँ शरीर होगा ? कहाँ संसार, कहाँ स्थिति और कहाँ भय और अभय होंगे ? ॥ ८ ॥

स्वयं उत्पन्न निर्मल यथेच्छा से ही देहत्याग आदि के सङ्कल्प के बिना ही विस्तृत पावन पद में मैं स्थित हूँ ॥ ९ ॥

हे ईश्वर ! अहो ! मैं विरक्त हूँ, संसार का त्याग करता हूँ, इस प्रकार की अज्ञानियों की चिन्ता हर्षशोक रूपी विकार देनेवाली है ॥ १० ॥

इदं सुखमिदं दुःखमिदं नाऽस्तीदमस्ति मे ।
इति दोलायितं चेतो मूढमेव न पण्डितम् ॥ १२ ॥
अहमन्योऽन्य एवाऽयमित्यज्ञानां तु वासना ।
दूरोदस्तात्मबुद्धीनां जयत्यसुमतामिह ॥ १३ ॥
इदं त्याज्यमिदं ग्राह्यमिति मिथ्या मनोभ्रमः ।
नोन्मत्ततां नयत्यन्तर्ज्ञमज्ञमिव दुर्धियः ॥ १४ ॥
सर्वस्मिन्नात्मनि तते त्वयि तामरसेक्षण ! ।
हेयोपादेयपक्षस्था द्वितीया कलना कुतः ॥ १५ ॥
विज्ञानाभासमखिलं जगत्सदसदुत्थितम् ।
किं हेयं किमुपादेयमिह यत्त्यज्यते न वा ॥ १६ ॥
केवलं स्वस्वभावेन द्रष्टृदृश्ये विचारयन् ।
क्षणं विश्रान्तवानन्तः परमात्माऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥ १७॥
भावाभावविनिर्मुक्तो हेयोपादेयवर्जितः ।
एवमासमहं पूर्वमधुनेत्थं व्यवस्थितः ॥ १८ ॥

देह का अभाव होने पर दुःख नहीं रहते, देह में दुःख रहते हैं, इस प्रकार की चिन्तारूपी विषैली नागिन मूर्ख को ही डंसती है, यही मेरा विश्वास है ॥ ११ ॥

यह सुख है, यह दुःख है, यह मेरा है और यह मेरा नहीं है इस प्रकार दोलायमान चित्त मूढ़ को नष्ट करता है, पण्डित को नहीं ॥ १२ ॥

मैं अन्य हूँ और यह है, इस प्रकार की वासना तत्त्वज्ञान को बहुत दूर फेंकने वाले अज्ञानी जीवों को होती है, तत्त्वज्ञानियों को ऐसी वासना नहीं होती ॥ १३ ॥

यह त्याज्य है और यह ग्राह्य है इस प्रकार का दुर्बुद्धियों का मिथ्या मनोभ्रम अज्ञानी की तरह ज्ञानी को उन्मत्त नहीं बनाता है ॥ १४ ॥

हे कमलनयन ! सब में आत्मरूप आप के व्याप्त होने पर हेयोपादेय पक्ष में स्थित दूसरी कल्पना कहाँ से हो सकती है ? ॥ १५ ॥

भ्रान्तिज्ञान में भासित होनेवाला यह सारा जगत् सत् और असत् से उत्पन्न हुआ है। वहाँ पर क्या वस्तु हेय और क्या वस्तु उपादेय है, जिसका कि त्याग अथवा ग्रहण किया जाय ॥ १६ ॥

अपने स्वभाव से केवल द्रष्टा और दृश्य का विचारशील असीम परमात्मरूप मैंने अपने से अपने में क्षणभर विश्राम लिया ॥ १७ ॥

मैं प्रिय और अप्रिय से रहित हेयोपादेय से विहीन था। इस समय आप से आज्ञप्त पदार्थों के ग्रहण की योग्यता से स्थित हूँ ॥ १८ ॥

स मयाऽऽत्मीयमापन्नं सर्वमात्माऽऽत्मतां गतः ।
करोम्यहं महादेव ! तुभ्यं यत्परिरोचते ॥ १९ ॥
त्वमयं पुण्डरीकाक्षः पूज्यस्तावज्जगत्त्रये ।
तन्मत्तः प्रकृतिप्राप्तां पूजामादातुमर्हसि ॥ २० ॥
इत्युक्त्वा दानवाधीशः पुरः क्षीरोदशायिनः ।
शैलेन्द्र इव पूर्णेन्दुमर्घपात्रमुपाददे ॥ २१ ॥
सायुधं साप्सरोवृन्दं ससुरं सखगाधिपम् ।
पूजयामास गोविन्दं सत्रैलोक्यमथाऽग्रगम् ॥ २२ ॥
सबाह्याभ्यन्तराभ्रान्तभुवनं भुवनेश्वरम् ।
पूजयित्वाऽथ तिष्ठन्तमुवाच कमलापतिः ॥ २३ ॥

श्रीभगवानुवाच

उत्तिष्ठ दानवाधीश ! सिंहासनमुपाश्रय ।
यावदाभिषेकं ते स्वयमेव ददाम्यहम् ॥ २४ ॥
पाञ्चजन्यरवं श्रुत्वा य इमे समुपागताः ।
सिद्धाः साध्याः सुरौघास्ते कुर्वन्तु तव मङ्गलम् ॥२५ ॥

अपने स्वभाव को प्राप्त मैं मेरे द्वारा स्वकर्तव्यता से प्राप्त किये गये आप से आज्ञप्त आप की इच्छा का वशवर्ती होकर सब कार्य करता हूँ, अपने राग से नहीं ॥ १९ ॥

तीनों जगतों में पूज्य आप ये पुण्डरीकाक्ष हैं, इसलिए मुझ से शास्त्र और लोकप्रसिद्धि से प्राप्त पूजा को आप ग्रहण करें ॥ २० ॥

ऐसा कहकर दानवराज प्रह्लाद ने अर्घपात्र वैसे ही उपस्थित किया जैसे—क्षीरोदशायी भगवान् के आगे शैलराज पूर्ण चन्द्रमा को उपस्थित करता है ॥ २१ ॥

प्रह्लाद ने अपने शङ्ख, चक्र आदि आयुधों से युक्त, अप्सराओं द्वारा परिवेष्टित, देवताओं से परिवृत, पक्षिराज गरुड़ से युक्त, उदर के अन्दर स्थित त्रैलोक्यसहित, अपने सामने स्थित भगवान् विष्णु की पूजा की ॥ २२ ॥

जिनके बाहर रोमकूप आदि में और भीतर वस्ति, उदर, हृदय आदि में लोक घूम रहे थे, ऐसे भगवान् ने पूजा करके खड़े हुए प्रह्लाद से भगवान् ने कहा ॥ २३ ॥

श्रीभगवान् ने कहाः—हे दानवेन्द्र, उठो, सिंहासन पर बैठो, मैं स्वयं अपने हाथों से तुम्हारा शीघ्र राज्याभिषेक करता हूँ ॥ २४ ॥

पाञ्चजन्य शङ्ख की ध्वनि सनकर
और देववृन्द आये हैं वे तुम्हारा

इत्युक्त्वा पुण्डरीकाक्षो दानवं सिंहविष्टरे ।
योजयामास योग्यं तं मेरुशृङ्ग इवाऽम्बुदम् ॥ २६ ॥
अथैनं हरिराहूतैः क्षीरोदाद्यैर्महाब्धिभिः ।
गङ्गादिभिः सरित्पूरैः सर्वतीर्थजलैस्तथा ॥ २७ ॥
सर्वविप्रर्षिसङ्घैश्च सर्वसिद्धगणैः सह ।
पुनर्विद्याधरयुतो लोकपालसमन्वितः ॥ २८ ॥
अभ्यषिञ्चदमेयात्मा दैत्यराज्ये महासुरम् ।
मरुद्गणैः स्तूयमानं पूर्वं स्वर्गे हरिं यथा ॥ २९ ॥
सुरासुरैः स्तूयमानं स्तूयमानः सुरासरैः ।
अभिषिक्तमुवाचेदं प्रह्लादं मधुसूदनः ॥ ३० ॥

श्रीभगवानुवाच

यावन्मेरुर्धरा यावद्यावच्चन्द्रार्कमण्डले ।
अखण्डितगुणश्लाघी तावद्राजा भवाऽनघ ! ॥ ३१ ॥
इष्टनिष्टफलं त्यक्त्वा समदर्शनया धिया ।
वीतरागभयक्रोधो राज्यं समनुपालय ॥ ३२ ॥
राज्येऽस्मिन् भोगसम्पूर्णे दृष्टानुत्तमभूमिना ।
न गन्तव्यस्त्वयोद्वेगः स्वर्गे मानवकेऽथवा ॥ ३३ ॥
देशकालक्रियाकारैर्यथाप्राप्तासु दृष्टिसु ।
प्रकृतं कार्यमातिष्ठ त्यक्त्वा मानसमास्स्व भो ॥ ३४ ॥
अतिदेहतयेदन्ताममतापरिवर्जितम् ।
भावाभावे समं कार्यं कुर्वन्निह न बाध्यसे ॥ ३५ ॥
दृष्टसंसारपर्यायस्तुलितातुलतत्पदः ।
सर्वं सर्वत्र जानासि किमन्यदुपदिश्यते ॥ ३६ ॥
वीतरागभयक्रोधे त्वयि राजनि राजति ।
नेदानीं दुःखदुर्ग्रन्थिर्नाऽसुरान् दलयिष्यति ॥ ३७ ॥
बाष्पश्रीर्नाऽसुरीकर्णमञ्जरीः प्लावयिष्यति ।
वनराजिमिवोन्मत्ता सरित्तारतरङ्गिणी ॥ ३८ ॥
अद्यप्रभृत्यसंप्राप्तदानवामरसङ्गरम् ।
निर्मन्दराम्भोनिधिवज्जगत्स्वस्थमिव स्थितम् ॥ ३९ ॥
देवासुरकुटुम्बिन्यो भर्तृष्वन्तःपुरेषु च ।
स्वेष्वेव यान्तु विश्वासमपरस्परमाहृताः ॥ ४० ॥

ऐसा कह कर भगवान् ने मेरु के शिखर पर मेघों के समान योग्य उस दानव को सिंहासन पर बैठाया ॥ २६ ॥

अनन्तर अप्रमेय भगवान् श्रीहरि ने विद्याधर और लोकपालों से परिवृत होकर बुलाये गये क्षीरोद आदि महासागरों, गङ्गा आदि जल-प्रवाहों और सब तीर्थ के जलों से, सब विप्रर्षियों और सब सिद्धगणों के साथ असुर-राज प्रह्लाद का दैत्यराज के रूप में जैसे कि पहले स्वर्ग में देववृन्दों से स्तूयमान इन्द्र का अभिषेक किया था वैसे ही अभिषेक किया ॥ २७–२९ ॥

सुर और असुरों से स्तूयमान भगवान् श्रीहरि ने राज्य में अभिषिक्त, सुर और असुरों से स्तूयमान प्रह्लाद से यह कहा ॥ ३० ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे अनघ ! तुम जब तक पृथिवी और जब तक चन्द्र-सूर्य मण्डल हैं तब तक अखण्डित गुणों से प्रशंसनीय राजा हो ॥ ३१ ॥

अनुराग, भय और क्रोध से रहित तुम, इष्ट और अनिष्ट फल का त्याग कर समबुद्धि से राज्य का पालन करो ॥ ३२ ॥

तुम निरतिशयानन्द भूमि देख चुके हो, तुम्हें सब भोगों से परिपूर्ण राज्य में अरति रूप उद्विग्नता होनी चाहिये और अपने पिता-पितामहों की भाँति स्वर्ग अथवा भूलोक में उद्विग्नता उत्पन्न नहीं करनी चाहिये ॥३३॥

देश, काल और क्रिया से प्रजा, शत्रु आदि के ऊपर निग्रह, अनुग्रह आदि यथा प्राप्त दृष्टियों में तत्-तत् पुरुषों के अनुरूप अपने ऊपर प्राप्त वध, बन्धन आदि कार्य करो। राग, द्वेष आदि विषमता का त्याग कर रहो ॥ ३४ ॥

देह से अतिरिक्त आत्मा है, इस भाव से लाभ और हानि में समान रूप से इदन्ता और ममता से रहित कार्य कर रहे तुम सुख-दुःखों से पीड़ित नहीं होओगे ॥ ३५ ॥

संसार के व्यवहार को तुम देख चुके हो, तुम्हें अनुपम उस परम पद का भी अनुभव हो चुका है, इसलिए सर्वत्र सब कुछ तुम जानते हो। तुमको अधिक क्या उपदेश दिया जाय ? ॥ ३६ ॥

राग, भय और क्रोध से रहित तुमको राजा होने पर अब असुरों में दुःखरूपी दुर्ग्रन्थि नहीं रहेगी और देवताओं में स्थित वह दुःखदुर्ग्रन्थि मेरे द्वारा असुरों का संहार नहीं करावेगी ॥ ३७ ॥

आंसुओं की धारा असुरनारियों की कर्णमञ्जरियों को वैसे ही प्लावित नहीं करेगी जैसे वर्षा ऋतु में बढ़ी हुई बड़ी-बड़ी तरंगवाली नदी वनस्थली को प्लावित नहीं कर देती है ॥ ३८ ॥

आज से देव-दानवों के युद्ध से वञ्चित जगत् मन्दर-रहित सागर के समान स्वस्थ-सा हो जायगा ॥ ३९ ॥

देवता और असुरों की नारियाँ एक दूसरे के पतियों से बन्दी न होकर अपने ही अन्तःपुरों और पतियों में विश्वास को प्राप्त हों ॥ ४० ॥

भव बहुलनिशानितान्तनिद्रा-
तिमिरमपास्य सदोदिताशयश्रीः ।
दनुसुत ! वनिताविलासरम्यां
चिरमजितामुपभुङ्क्ष्व राज्यलक्ष्मीम् ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे प्रह्लादाभिषेको नाम एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

हे पुत्र ! कृष्णपक्ष की रात्रियों में गाढ़ निद्रा और अन्धकाररूप अज्ञानान्धकार को दूर कर तुम सदा उदित, स्वप्रकाश ब्रह्मात्म स्फूर्ति सम्पन्न होकर असुरों की स्त्रियों के विलासों से रमणीय तथा काम आदि शत्रुओं से अपराजित राज्यश्री का चिरकाल उपभोग करो ॥ ४१ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के देवदूतोक्त मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में प्रह्लाद-अभिषेक नामक कुसुमलता का इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४१ ॥

४२

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा पुण्डरीकाक्षः सनरामरकिन्नरः ।
द्वितीय इव संसारश्चचालाऽसुरमन्दिरात् ॥ १ ॥
प्रह्लादादिविनिर्मुक्तैः पश्चात्पुष्पाञ्जलिव्रजैः ।
पूर्यमाणो विहङ्गेशपाश्चात्याङ्गरुहोत्करैः ॥ २ ॥
क्रमात् क्षीरोदमासाद्य विसृज्य सुरवाहिनीम् ।
भोगिभोगासने तस्थौ श्वेताब्ज इव षट्पदः ॥ ३ ॥
भोगिभोगासने विष्णुः शक्रः स्वर्गे सहाऽमरैः ।
पाताले दानवाधीश इति तस्थुर्गतज्वराः ॥ ४ ॥
एष ते कथिता राम ! निःशेषमलनाशिनी ।
प्राह्लादी बोधसंप्राप्तिरैन्दवद्रवशीतला ॥ ५ ॥
तां तु ये मानवा लोके बहुदुष्कृतिनोऽपि हि ।
धिया विचारयिष्यन्ति ते प्राप्स्यन्त्यचिरात् पदम् ॥६॥
सामान्येन विचारेण क्षयमायाति दुष्कृतम् ।
योगवाक्यविचारेण को न याति परं पदम् ॥ ७ ॥
अज्ञानमुच्यते पापं तद्विचारेण नश्यति ।
पापमूलच्छिदं तस्माद् विचारं न परित्यजेत् ॥ ८ ॥
इमां प्रह्लादसंसिद्धिं प्रविचारयतां नृणाम् ।
सप्तजन्मकृतं पापं क्षयमायात्यसंशयम् ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

परे पदे परिणतं पाञ्चजन्यस्वनैर्मनः ।
कथं प्रबुद्धं भगवन् ! प्रह्लादस्य महात्मनः ॥ १० ॥

४२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार कहकर सुर, नर और किन्नरों से युक्त होने के कारण दूसरे संसार के समान विस्तृत सुर, नर और किन्नरों के सहित भगवान् पुण्डरीकाक्ष असुरगृह से चले ॥ १ ॥

प्रह्लाद आदि के द्वारा पीछे से छोड़ी गई पक्षिराज गरुड़ के पीछे के परोंपर राशिभूत पुष्पाञ्जलियों से आच्छन्न किये गये ॥ २ ॥

भगवान् क्रम से क्षीरसागर में पहुँचकर अनन्तर सुरवृन्द को विदाकर जैसे सफेद कमल पर भ्रमर बैठता है वैसे ही शेषशय्या पर स्थित बैठ गये ॥ ३ ॥

इस प्रकार शेषनाग के शरीररूपी आसन पर भगवान् विष्णु, स्वर्ग में देवताओं के साथ इन्द्र और पाताल में असुरराज प्रह्लाद तीनों उद्वेग रहित होकर स्थित हुए ॥४॥

हे श्रीरामचन्द्र ! यह अशेष पापों को दूर करने वाली चन्द्रमा के अमृत के समान शीतल प्रह्लाद की ज्ञानप्राप्ति, मैंने आप से कही ॥ ५ ॥

बड़े पातकी मनुष्य भी उसका संसार में बुद्धिपूर्वक विचार करेंगे, तो शीघ्र परम पद को प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

सामान्य विचार से भी जब पाप का नाश हो जाता है तब वेदान्तवाक्यों के विचार से कौन परम पद को प्राप्त न करेगा ? ॥ ७ ॥

अज्ञान पाप कहा जाता है, वह विचार से नष्ट होता है, इसलिए पाप की जड़ उखाड़ फेंकने वाले विचार का परित्याग नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥

प्रह्लाद की सिद्धि विचार कर लोगों के निश्चित ही सात जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा—हे भगवन् ! महात्मा प्रह्लाद का परम पद में परिणत मन पाञ्चजन्य शङ्ख की ध्वनि से कैसे प्रबुद्ध हुआ ? अर्थात् मन का विलय होने पर पाञ्चजन्य शङ्ख-ध्वनि का श्रवण ही दुर्लभ है, फिर उससे वह प्रबुद्ध कैसे हुआ ? ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

द्विविधा मुक्तता लोके संभवत्यनघाकृते ।
सदेहैका विदेहाऽन्या विभागोऽयं तयोः शृणु ॥ ११ ॥
असंसक्तमतेर्यस्य त्यागादानेषु कर्मणाम् ।
नैषणा तत्स्थितिं विद्धि त्वं जीवन्मुक्ततामिह ॥ १२ ॥
सैव देहक्षये राम! पुनर्जननवर्जिता ।
विदेहमुक्तता प्रोक्ता तत्स्था नाऽऽयान्ति दृश्यताम् ॥१३॥
भ्रष्टबीजोपमा भूयोजन्माङ्कुरविवर्जिताः ।
हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना ॥ १४ ॥
पावनी परमोदारा शुद्धसत्त्वानुपातिनी ।
आत्मध्यानमयी नित्यं सुषुप्तस्येव तिष्ठति ॥ १५ ॥
अपि वर्षसहस्रान्ते तयैवाऽन्तरवस्थया ।
सति देहे प्रबुद्धयन्ते जीवन्मुक्ता रघूद्वह ! ॥ १६ ॥
प्रह्लादोऽन्तस्थया शुद्धसत्त्ववासनया स्वया ।
बोधमाप महाबाहो! शङ्खशब्दावबुद्धया ॥ १७ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे निष्पाप आकृति वाले श्रीरामचन्द्र जी ! संसार में दो प्रकार की मुक्ति होती है—एक संदेह मुक्ति और दूसरी विदेह मुक्ति। उनका यह विभाग है, उसे आप सुनें ॥ ११ ॥

जिस अनासक्त बुद्धि वाले पुरुष का इष्ट और अनिष्ट कर्मों के त्याग और ग्रहण में राग नहीं रहता है, उसकी स्थिति को आप जीवन्मुक्ति जानें ॥ १२ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! देह धारण में हेतुभूत प्रारब्धशेष का भोग द्वारा क्षय होने पर पुनर्जन्म से रहित विदेहमुक्ति है ॥ १३ ॥

विदेहमुक्ति में स्थित पुरुष भुने हुए बीजों के समान पुनर्जन्मरूपी अङ्कुर से रहित पुरुष देहदृश्यता को प्राप्त नहीं होते हैं ॥ १४ ॥

जीवन्मुक्त पुरुषों के हृदय में शुद्ध, पवित्र, तृष्णा, कार्पण्य आदि से रहित, आत्मध्यानमयी शुद्धसत्त्वानुपातिनी वासना ऐसे ही रहती है जैसे कि सुषुप्त पुरुष के हृदय में रहती है ॥ १५ ॥

हे रघुकुल श्रेष्ठ ! देहधारणहेतु प्रारब्ध के शेष रहने पर हजारों वर्षों के बाद भी हृदय में स्थित उसी वासना से वे प्रबोध को प्राप्त करते हैं ॥ १६ ॥

हे महाबाहो ! प्रह्लाद हृदय में स्थित अपनी शुद्ध-सत्त्वमयी वासना से, शङ्खध्वनि से उद्‌बुद्ध प्रबोध को प्राप्त किया था ॥ १७ ॥

हरिरात्मा हि भूतानां तस्य यत्प्रतिभासते ।
तत्तथैव भवत्याशु सर्वमात्मैव कारणम् ॥ १८ ॥
प्रबोधमेतु प्रह्लादो यदैवेति विचिन्तितम् ।
निमेषाद् वासुदेवेन यदैवैतदुपस्थितम् ॥ १९ ॥
आत्मन्यकारणेनैव भूतानां कारणेन च ।
सृष्ट्यर्थं वपुरात्तं हि वासुदेवमयात्मना ॥ २० ॥
आत्मावलोकनेनाऽऽशु माधवः परिदृश्यते ।
माधवाराधनेनाऽऽशु स्वयमात्माऽवलोक्यते ॥ २१ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य राघवात्माऽऽवलोकने ।
विहराऽऽशु विचारात्मा पदं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥२२॥
दुःखासारवती राम! संसारप्रावृडातता ।
जाड्यं ददाति परमं विचारार्कमपश्यताम् ॥२३॥
प्रसादादात्मनो विष्णोर्मायियमतिभासुरा ।
प्रबाधते न धीरांस्तु यक्षी मन्त्रवतो यथा ॥ २४ ॥

भगवान् हरि सब प्राणियों की आत्मा हैं, वे सत्य-संकल्प हैं, उनको जैसा भान होता है वह सब शीघ्र वैसा ही हो जाता है ॥ १८ ॥

प्रह्लाद प्रबोध को प्राप्त हो भगवान् वासुदेव के ऐसा विचार करते ही पलक भर में ऐसा हो गया ॥ १९ ॥

स्वयं अकारण शुद्धरूप और भूतों के कारण अव्यक्त हरि ने काम, कर्म आदि निमित्तों से अपने में ही जगत् की सृष्टि के लिए वासुदेवमयरूप से शरीर ग्रहण किया है ॥ २० ॥

आत्मदर्शन से शीघ्र भगवान् का दर्शन हो जाता है और भगवान् की आराधना से शीघ्र अपने-आप आत्मा का दर्शन हो जाता है ॥ २१ ॥

हे श्रीराघव ! इस सृष्टि का अवलम्बन कर आप शीघ्र आत्मदर्शन के लिए प्रयत्न करें। विचारात्मा आप शाश्वत पद को प्राप्त करेंगे ॥ २२ ॥

हे रामचन्द्र ! दुःखरूपी मुसलाधार वृष्टिवाली संसाररूपी वर्षा ऋतु, चारों ओर व्याप्त है और वह विचाररूपी सूर्य को न देख रहे लोगों को परम अज्ञान देती है ॥ २३ ॥

जैसे मन्त्रसिद्ध पुरुषों को पिशाची पीड़ित नहीं कर सकती वैसे ही यह अत्यन्त देदीप्यमान माया विष्णुरूप आत्मा के प्रसाद से धीर पुरुषों को पीड़ित नहीं करती है ॥ २४ ॥

आत्मेच्छयैव घनतां समुपागतान्तरा-
त्मेच्छयैव तनुतामुपयाति काले ।
संसारजालरचनेयमनन्तमाया-
ज्वालेह वातवलयादिव पावकस्य ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
प्रह्लादव्यवस्था नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

वैसे ही संसार जालरचनारूप यह विष्णुमाया आत्मा की इच्छा से वैसे ही देहादिरूप निविड अनर्थता को प्राप्त हुई है जैसे अग्नि की ज्वाला वायु के कारण ही निविडता को प्राप्त करती है और अन्त में क्षीणता को प्राप्त करती है ॥ २५ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के देवदूतोक्त मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में
प्रह्लादव्यवस्था नामक कुसुमलता का बयालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४२ ॥

४३

श्रीराम उवाच

भगवन् ! सर्वधर्मज्ञ ! शुद्धैस्त्वद्वचनांशुभिः ।
निर्वृताः स्म शशाङ्कस्य करैरोषधयो यथा ॥ १ ॥
कर्णाभिवाञ्छमानानि पवित्राणि मृदूनि च ।
सुखयन्ति गृहीतानि पुष्पाणीव वचांसि ते ॥ २ ॥
पौरुषेण प्रयत्नेन सर्वमासाद्यते यदि ।
प्रह्लादस्तत्कथं बुद्धो न माधववरं विना ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

यद्यद्राघव ! संप्राप्तं प्रह्लादेन महात्मना ।
तत्तदासादितं तेन पौरुषादेव नाऽन्यतः ॥ ४ ॥
आत्मा नारायणश्चैव न भिन्नस्तिलतैलवत् ।
तथैव शौक्ल्यपटवत् कुसुमामोदवत्तथा ॥ ५ ॥
यो हि विष्णुः स एवाऽऽत्मा यो ह्यात्माऽसौ जनार्दनः ।
विष्ण्वात्मशब्दौ पर्यायौ यथा विटपिपादपौ ॥ ६ ॥
प्रह्लादनामा प्रथममात्मैव स्वयमात्मना ।
स्वयैव परया शक्त्या विष्णुभक्तौ नियोजितः ॥ ७ ॥
प्रह्लादो ह्यात्मनैवैनं वरमर्जितवान् स्वयम् ।
स्वयं विचारगं कृत्वा स्वयं विदितवान् मनः ॥ ८ ॥
कदाचिदात्मनैवाऽऽत्मा स्वयं शक्त्या प्रबुध्यते ।
कदाचिद्विष्णुदेहेन भक्तिलभ्येन बोध्यते ॥ ९ ॥

४३

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे सब धर्मों के ज्ञाता ! हे भगवन् ! स्फटिक के समान शुद्ध आप के वचन रूपी किरणों से हम वैसे ही आह्लादित हुए हैं जैसे चन्द्रमा की किरणों से औषधियाँ आह्लादित होती हैं ॥ १ ॥

कानों को भले लगने वाले पवित्र और कोमल आप के वचन हम लोगों द्वारा गृहीत होने पर वैसे ही सुख देते हैं जैसे कर्णभूषण के लिए कानों द्वारा वाञ्छित, गुरु, देवता आदि की प्रसन्नता से पाप दूर करने के कारण पवित्र और कोमल फूल ग्रहण करने पर सुख देते हैं ॥ २ ॥

यदि पौरुष प्रयत्न से ही सब कुछ प्राप्त होता है, तो प्रह्लाद भगवान् के वर के बिना भी अपने ही पौरुष से क्यों प्रबुद्ध नहीं हुआ है ? ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–हे श्रीराघव ! महात्मा प्रह्लाद ने जो कुछ प्राप्त किया वह दूसरे से नहीं सब अपने पौरुष से ही उसने प्राप्त किया है ॥ ४ ॥

जैसे तिलों के अन्तर्गत और तिलों से निकाला हुआ तेल भिन्न नहीं है जैसे शुक्लता और वस्त्र भिन्न नहीं हैं और जैसे फूलों का सार आमोद है वैसे ही आत्मा और नारायण भिन्न नहीं हैं ॥ ५ ॥

जो विष्णु है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही जनार्दन है जैसे विटपी और पादप शब्द पर्याय हैं वैसे ही विष्णु और आत्मशब्द पर्याय हैं ॥ ६ ॥

पहले प्रह्लाद नामक आत्मा ही स्वयं अपने द्वारा अपनी परम शक्ति से विष्णुभक्ति में नियोजित हुआ ॥ ७ ॥

स्वात्मभूत विष्णु से ही प्रह्लाद ने स्वयं इस वर का उपार्जन किया। अपने मन को स्वयं ही विचारयुक्त बनाकर अपनी आत्मा का ज्ञान उसने स्वयं प्राप्त किया ॥ ८ ॥

कभी स्वात्मभूत विष्णु द्वारा ही आत्मा अपने प्रयत्न से किये गये विचार के बल से स्वयं प्रबुद्ध किया जाता है

एकस्तस्मात्समुत्तस्थौ जरावान् रक्तलोचनः ।
काचभृङ्गं हिमापूर्णमिव श्वपचनायकः ॥ १० ॥
भो कटंजेति सहसा वदन् कीरमहीपतिम् ।
इह राजा भवन्तं वा कच्चिद् गेयक्रियाविदम् ॥ ११ ॥
रक्तकण्ठं मानयति रागवानिव कोकिलम् ।
आपूरयति वा कच्चिद् गृहवस्त्रासनार्पणैः ॥ १२ ॥
मधू रसालविटपं फलपुष्पभरैरिव ।
दर्शनेन तवाऽद्याऽहं परां निर्वृतिमागतः ॥ १३ ॥
पद्मं सूर्योदयेनेव चन्द्रोदय इवौषधी ।
आनन्दानामशेषाणां लाभानां महतामपि ॥ १४ ॥
विश्रमाणामनन्तानां सीमान्तो बन्धुदर्शनम् ।
श्वपचे प्रवदत्येवं राजा यावत् तया तया ।
चकार तत्कालजया चेष्टयैवाऽवधीरणम् ॥ १५ ॥
तावद् वातायनगताः कान्ताः प्रकृतयस्तथा ।
श्वपचोऽयमिति ज्ञात्वा म्लानतामलमाययुः ॥ १६ ॥

उनमें ने लाल नेत्र वाला और हिम से आच्छन्न पर्वत के कांचमय शृङ्ग के समान वृद्धावस्था से सफेद केशों से आच्छन्न काले शरीर का एक बूढ़ा चाण्डालों का नेता उठा ॥ १० ॥

उसने 'हे कटंज' ! इस पूर्वनाम से कीर देश के अधिपति गवल का सहसा संबोधन करते हुए कहा—जैसे शृङ्गारी पुरुष मधुर कण्ठ वाले कोकिल का सम्मान करता है वैसे ही यहां पर राजा गानविद्या में कुशल मधुर कण्ठ वाले आप का सम्मान करता है क्या ? ॥ ११, १२ ॥

जैसे वसन्त फल और पुष्पों की राशियों से आम के वृक्ष को पूर्ण कर देता है, वैसे ही घर, वस्त्र, आसन आदि के दाने से राजा आप को पूर्ण करता है क्या ? ॥ १३ ॥

आप के दर्शनों से सूर्योदय से कमल के समान तथा चन्द्रमा के उदय से औषधियों के समान मैं परम आनन्द को प्राप्त हुआ हूँ। बन्धुओं का दर्शन सब आनन्दों की, बड़े-बड़े लाभों की और अनन्त विश्रामों की चरम सीमा है। चाण्डाल के ऐसा कहने पर राजा ने उस काल में उत्पन्न हुई विभिन्न चेष्टाओं से ही उसका तिरस्कार किया ॥ १४, १५ ॥

उसी समय झरोखे में बैठी हुई स्त्रियाँ और अमात्य आदि प्रकृतियाँ यह चाण्डाल है यह जानकर अत्यन्त उदास हुई ॥ १६ ॥

पद्मास्तुषारप्रावृष्ट्या ग्रामाः सावग्रहा इव ।
दाववन्त इवाऽद्रीन्द्रा नागरा न विरेजिरे ॥ १७ ॥
नृपोऽवधीरयामास तां तां श्वपचसंकथाम् ।
वृक्षाग्रगतमार्जारफेत्कारं मृगराडिव ॥ १८ ॥
सत्वरं प्रविवेशाऽन्तःपुरमाम्लानमानवम् ।
राजहंस इवाऽवर्षे सीदत्सरसिजं सरः ॥ १९ ॥
सर्वावयवविश्रान्तां म्लानतामयमाययौ ।
जानुस्तम्भान्तरमहारन्ध्राग्निरिव दुर्द्रुमः ॥ २० ॥
तत्राऽपश्यदसौ सर्वं विषण्णवदनं जनम् ।
जालं कुङ्कुमपुष्पाणां भुक्तमूलमिवाऽऽखुना ॥ २१ ॥
मन्त्रिणो नागरा नार्यस्ततस्ते तं महीपतिम् ।
नाऽस्प्राक्षुरपि तिष्ठन्तं गृह एव शवं यथा ॥ २२ ॥
भृत्याश्चाऽकृतसत्कारं दूर एनमथाऽत्यजन् ।
दुःखयुक्ता घनस्नेहा अपि बालाः शवं यथा ॥ २३ ॥

वे नागरिक वैसे ही सुशोभित नहीं हुए जैसे तुषार से भरने वाली वृष्टि से कमल शोभित नहीं होते और जैसे उत्पातों से युक्त ग्राम शोभित नहीं होते और जैसे वनाग्नि से भरे हुए पर्वत शोभित नहीं होते हैं ॥ १७ ॥

राजा ने चाण्डाल के संभाषण का वैसे ही तिरस्कार किया जैसे वृक्ष की चोटी पर बैठे हुए बिलाव के फुफकार का सिंह तिरस्कार करता है ॥ १८ ॥

उसने तुरन्त आनन्दरहित अन्तःपुर में वैसे ही प्रवेश किया जैसे राजहंस अवर्षण में जिसके कमल म्लान हो रहे हों ऐसे तालाब में प्रवेश करता है ॥ १९ ॥

जिसके तने के बड़े खोखले में अग्नि लगी हो ऐसा सेमल आदि का वृक्ष जैसे म्लानता को प्राप्त होता है वैसे ही वह सब अवयवों में भींनी हुई म्लानता को प्राप्त हुआ ॥ २० ॥

वहाँ पर चूहे ने जिसकी जड़ खा डाली हो ऐसे कुङ्कुम के फूलों की झाड़ी के समान सब लोगों को उसने उदास देखा ॥ २१ ॥

अनन्तर उन मन्त्री, नगरवासी और नारियों ने उसका स्पर्श वैसे ही नहीं किया जैसे घर में ही स्थित शव का लोग स्पर्श नहीं करते ॥ २२ ॥

भृत्यों ने असत्कृत उसका दूर से वैसे ही त्याग कर दिया जैसे दुःखी अत्यन्त स्नेह वाली ललनाएँ शव का दूर से ही त्याग कर देती हैं ॥ २३ ॥

अनानन्दमुखं श्यामं शरीरश्रीविवर्जितम् ।
दग्धं स्थलमिवैनं ते बह्वमन्यन्त नाऽऽकुलाः ॥ २४ ॥
धूमायमानदेहस्य परितापदशावती ।
नाऽढौकताऽस्य जनता पार्श्वमग्निगिरेरिव ॥ २५ ॥
मन्दोत्साहाः समुद्भूताः सभ्यसंघातवर्जिताः ।
न तदाज्ञाः पदं प्रापुर्भस्मनीवाऽम्बुविप्रुषः ॥ २६ ॥
क्रूरकर्मकराकारात् संगताशुभदायिनः ।
तस्माद् विशेषेण जना राक्षसादिव दुद्रुवुः ॥ २७ ॥
एक एव बभूवाऽसौ जनमध्यगतोऽपि सन् ।
अर्थादिगुणनिर्मुक्तः परदेश इवाऽध्वगः ॥ २८ ॥
भृशमालपतेऽप्यस्मै नाऽऽलापं नागरा ददुः ।
मुक्ताजालयुतायाऽपि कीचकायाऽध्वगा इव ॥ २९ ॥
अथ सर्वे वयं दीर्घकालं श्वपचदूषिताः ।
प्रायश्चित्तैर्नन शुद्ध्यामः प्रविशामो हुताशनम् ॥ ३० ॥

उसके मुँह पर आनन्द की रेखा भी न थी, शरीर काला पड़ गया था, शोभा ने तो उसका सर्वथा त्याग कर दिया था, वह श्मशान-भूमि के समान था। दुःखी नागरिकों ने उसका कुछ भी सम्मान नहीं किया ॥ २४ ॥

उसका शरीर धुएँ के समान मैला था। परितापदशा वाली जनता उसके समीप वैसे ही नहीं गई जैसे पर्वत के शिलामय प्रदेश के समीप अग्नि नहीं जाती ॥ २५ ॥

भट आदि के समुदाय से उपेक्षित मन्दोत्साह हुई उसकी आज्ञा, भस्म में जल-बिन्दुओं के समान, आज्ञापन योग्य पुरुष को प्राप्त न कर सकी ॥ २६ ॥

क्रूर कार्यकारी आकार वाले तथा संगति से अशुभ फल देने वाले उससे भयभीत होकर लोग विशेषरूप से वैसे ही भागते थे जैसे लोग राक्षस से भयभीत होकर भागते हैं ॥ २७ ॥

वह बहुत से लोगों के बीच में रहते हुए भी वैसे ही अकेला ही हुआ जैसे परदेश में धन आदि गुणों से रहित पथिक बहुत बड़े जनसमुदाय के बीच रहता हुआ भी अकेला ही रहता है ॥ २८ ॥

वैसे ही खूब पुकार रहे एवं मोतियों के हारों से अलङ्कृत भी उसे नगरवासियों से वैसे ही प्रतिवचन नहीं दिया जैसे पथिक वायु के कारण शब्द कर रहे तथा मोतियों की राशि से युक्त भी कीचक नाम के विशेष वाँसों को वचन नहीं देते हैं ॥ २९ ॥

इसके अनन्तर हम सब लोग चिर काल तक चाण्डाल के स्पर्श से दूषित हैं, प्रायश्चित्तों से हमारी शुद्धि होने की नहीं; अतएव हम लोग अग्नि में प्रवेश करते हैं ॥ ३० ॥

इति निर्णीय नगरे नागरा मन्त्रिणस्तथा ।
अभितो ज्वालयामासुश्चिताः शुष्केन्धनैधिताः ॥ ३१ ॥
ज्वालितास्वभितस्तासु तारकास्विव खे तदा ।
बभूव नगरं सर्वमाक्रन्दपरमानवम् ॥ ३२ ॥
करुणारावमुखरैः कलत्रैर्बाष्पवर्षिभिः ।
अवष्टब्धं ज्वलत्कुण्डोपान्तमन्दरुदत्प्रजम् ॥ ३३ ॥
अग्निकुण्डप्रविष्टानां मन्त्रिणां भृत्यरोदनैः ।
रुदत्क्रन्दद् दृढतरमरण्यमिव मारुतैः ॥ ३४ ॥
चितादीपितविप्रेन्द्रमांसमांसलगन्धया ।
जातनीहारमुत्पातवात्ययाऽवकरोद्धतैः ॥ ३५ ॥
वातदीर्घवसागन्धदूरानीतखगोर्जितैः ।
चक्रैर्व्योमाऽभवच्छन्नभास्करं जलदैरिव ॥ ३६ ॥
वातोद्धूतचितावह्निप्रज्वलद्व्योममण्डलम् ।
उड्डीनाग्निकणव्राततारासारदिगन्तरम् ॥ ३७ ॥

ऐसा निश्चय कर नगर में सब नागरिक तथा मन्त्रियों ने सूखी हुई लकड़ियों से बढ़ाई हुई चिताएँ चारों ओर बनाईं ॥ ३१ ॥

तब आकाश में तारों के समान चारों ओर उन चिताओं के प्रज्वलित होने पर सारे नगर के लोग विलाप करने लगे ॥ ३२ ॥

करुण विलाप करने वाली और आंसुओं की धारा वर्षा ने वाली नारियों द्वारा नगर व्याप्त था तथा वहाँ जल रहे कुण्डों के आस-पास लोग किं कर्तव्यविमूढ होकर रो रहे थे ॥ ३३ ॥

अग्निकुण्डों में प्रविष्ट हुए मन्त्रियों के भृत्यों के रोदन द्वारा सारा नगर वैसे ही खूब आंसू बहा रहा था और विलाप कर रहा था जैसे वायुओं से अरण्य दृढ़तर शब्द करता है ॥ ३४ ॥

चिताओं में जले हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणों के मांस से अधिक गन्ध वाली उत्पात की आँधी द्वारा मिट्टी के ढेरों से उठे हुए धूलिकणों से वैसा प्रतीत होता था जैसे उस पर तुषार की वृष्टि हुई हो ॥ ३५ ॥

वायु से दूर-दूर तक फैली चर्बी की गन्ध से दूर से लाये गये पक्षियों और पिशाच आदि के मण्डलों से आच्छन्न सूर्य वाला वह नगर बादलों से जिसमें सूर्य आच्छन्न हो ऐसे आकाश के समान हुआ ॥ ३६ ॥

वायु से उड़ाई गई चिताओं की अग्नि से उस नगर का आकाशमण्डल जल रहा था तथा उड़े हुए अग्निकणों के संघातरूपी तारों से दिशाएँ कर्बुरित हो गई थी ॥३७॥

४७

श्रीवसिष्ठ उवाच

मुहूर्तद्वितयेनाऽथ गाधिराधिभवभ्रमात् ।
प्रशशामाऽऽकुलीभावो वेलावर्त इवाऽम्बुधेः ॥ १ ॥
मनोनिर्माणसंमोहात्तस्मात्स विरराम ह ।
कल्पान्तसमये ब्रह्मा जगद्विरचनादिव ॥ २ ॥
बोधमाप शनैः शान्तः स्वमेवोन्निद्रधीरिव ।
क्षीबतायां प्रशान्तायां यथा परिणताशयः ॥ ३ ॥
अयं सोऽहमिदं कार्यमिदं नेति ददर्श ह ।
निशाव्यपगमे लोको यथा क्षीणे तमःपटे ॥ ४ ॥
स्मृतस्वरूपोऽथ पदमुद्दध्रे स जलान्तरात् ।
शिशिरान्ते प्रवृत्तास्यं सरोजमिव माधवः ॥ ५ ॥
एतद्वारिककुब्व्योमवतीं वसुमतीमिमाम् ।
अन्यामिव पुनः पश्यन् विस्मयं परमं ययौ ॥ ६ ॥
कोऽहं किमिव पश्यामि किमकार्षमहं किल ।
एवं विचारयंश्चित्रं सभ्रूभङ्गमभूत् क्षणम् ॥ ७ ॥
श्रान्तस्तत्क्षणमात्रेण संभ्रमं दृष्टवानहम् ।
इति विज्ञाय सलिलादुदस्थादुदयार्कवत् ॥ ८ ॥
चिन्तयामास च तटे क्व सा माता क्व सा प्रिया ।
यदाऽहं मृतिमायातो मध्ये मातृमहेलयोः ॥ ९ ॥
बालस्य मातापितरौ नष्टौ किल ममाऽमतेः ।
वातनीतस्य पत्रस्य वल्लीवृक्षमिवाऽसिना ॥ १० ॥
अविवाहोऽस्मि जानामि न स्वरूपमपि स्त्रियः ।
दुष्टायाः क्षोभकारिण्या मदिराया इव द्विजः ॥ ११ ॥
अतिदूरतरीभूताः स्वदेशस्य स्वबान्धवाः ।
के नाम मम येषां ते मध्ये जीवं त्यजाम्यहम् ॥ १२ ॥
तस्मादेतत्समुद्भूतमहं किं नाम दृष्टवान् ।
विविधारम्भसंरम्भ गन्धर्वनगरं यथा ॥ १३ ॥

४७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर श्रीगाधिजी पूर्वोक्त संसार-भ्रम से वैसे ही शान्त हुए जैसे समुद्र का अतिसंक्षुब्ध तटवर्ती आवर्त शान्त होता है ॥ १ ॥

मन की रचनारूप मोह से वे वैसे ही विरत हुए जैसे प्रलय के समय ब्रह्माजी जगत् की रचना से विरत होते हैं ॥ २ ॥

निद्रारहित बुद्धि वाले शान्त गाधि धीरे-धीरे पूर्वोक्त गाध्यहंभाव बोध को वैसे ही प्राप्त किया जैसे मदिरा आदि के मद के शान्त होने पर स्वच्छ चित्त पुरुष 'मैं अमुक हूँ' इस बोध को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

जो स्थान के लिए जल में उतरा था वह गाधि मैं हूँ, यह अवशिष्ट स्नान, तर्पण आदि कृत्य मेरा कार्य है यह पहले देखा गया चाण्डालराज्य आदि मेरा कार्य नहीं है यह उन्होंने वैसे ही देखा जैसे कि रात्रि के बीतने पर अन्धकारावरण के क्षीण होने पर लोग देखते हैं ॥ ४ ॥

गाधि ने, जिन्हें अपने स्वरूप का स्मरण हो चुका था, जल से वैसे ही पैर बाहर किया जैसे शिशिर ऋतु के अन्त में वसन्त कमल को, जिस का मुकुलरूपी मुख उत्पन्न हो चुका हो, जल के अन्दर से बाहर करता है ॥ ५ ॥

पूर्वानुभूत जल दिशा और आकाशवाली इस पृथिवी को फिर अन्य-सी देख रहे वे परम विस्मित हुए ॥६॥

मैं कौन हूँ, क्या देखता हूँ, मैंने क्या किया इस प्रकार क्षण भर भूभ्रङ्गपूर्वक अन्दर विचार करते हुए वे स्थित रहे ॥ ७ ॥

थके हुए मैंने उस थकावट से ही क्षणभर में महाभ्रम देखा । ऐसा विचार कर वह जल से वैसे ही बाहर निकले जैसे उदयाचल से सूर्य निकलते हैं ॥ ८ ॥

तट पर उन्होंने विचार किया—मेरी वह माता कहाँ है और वह स्त्री कहाँ है ? जब कि मैंने माता और पत्नी के बीच में मृत्यु को प्राप्त किया ॥ ९ ॥

मुझ मन्दभाग्य के माता और पिता, जब मैं बालक ही था तभी, मृत्यु से वैसे नष्ट हो गये थे जैसे वायु से उड़ाये गये पत्ते का माता-पिता-स्थानीय लताप्रधान वृक्ष तलवार से नष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

मैं अविवाहित हूँ, मैं क्षोभकारिणी स्त्री का स्वरूप भी वैसे ही नहीं जानता जैसे ब्राह्मण चित्त में क्षोभ पैदा करने वाली दुष्ट मदिरा के रस को नहीं जानता ॥ ११ ॥

मेरे जन्मभूमि के आत्मीय बन्धुबान्धव मुझ से बहुत दूर हैं, जिनके बीच में मैंने प्राण त्यागे थे, वे न मालूम कौन थे ? ॥ १२ ॥

इसलिए उत्पन्न हुए ये विविध प्रकार के पदार्थ और जन्म आदि का अभिमान गन्धर्वनगर के समान मैंने क्या देखा ? ॥ १३ ॥

प्रमत्ततस्करक्रन्दद्वेल्लद्बालकुमारकम् ।
संत्रस्तनागरापास्तजीविताख्यमसंस्थिति ॥ ३८ ॥
अलक्षितगृहं चौरलुण्ठिताखिलसंचयम् ।
त्यक्तपुत्रकलत्रं तन्मरणव्यग्रनागरम् ॥ ३९ ॥
तस्मिंस्तथा वर्तमाने कष्टे विधिविपर्यये ।
अशेषजनताशेषकल्पान्तसदृशस्थितौ ॥ ४० ॥
राज्यसज्जनसंपर्कपवित्रीकृतधीरधीः ।
गवलश्चिन्तयामास शोकेनाकुलचेतनः ॥ ४१ ॥
मदर्थं हि कदर्थोऽयं देशेऽस्मिन् स्थितिमागतः ।
अकालकल्पान्तमयः सर्वनायकनाशनः ॥ ४२ ॥
किं मे जीवितदुःखेन मरणं मे महोत्सवः ।
लोकनिन्द्यस्य दुर्जन्तोर्जीवितान्मरणं वरम् ॥ ४३ ॥
इति निश्चित्य गवलो ज्वलिते ज्वलने पुनः ।
पतङ्गवदनुद्वेगमकरोदाहुतिं वपुः ॥ ४४ ॥
तस्मिन् बलाद् गवलनाम्नि हुताशराशौ
देहे पतत्यवयवाकुलतां प्रयाते ।
स्वाङ्गावदाहदहनस्फुरणानुरोधा
दन्तर्जले झटिति बोधमवाप गाधिः ॥ ४५ ॥
इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायंतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्टमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते राज्यभ्रंशो नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

॥ द्वादशो दिवसः ॥

वहाँ पर उन्मत्त चोर, लुटेरों द्वारा आभूषण आदि के हरण के समय बालक और कुमार रो और काँप रहे थे, भयभीत नागरिकों ने अपने जीवन और नाम का त्याग कर दिया था एवं किसी प्रकार की मर्यादा नहीं रह गई थी ॥ ३८ ॥

उस नगर में घर नहीं दिखाई देते थे, चोरों ने सब धनसञ्चय लूट लिया था, लोगों ने अपने पुत्र-कलत्र का त्याग कर दिया था और मरने के लिए सब नगरवासी व्यग्र थे ॥ ३९ ॥

इस प्रकार इस कष्ट कर विधिविपर्यय के, जिससे सारी जनता की पूर्ण प्रलय के समान स्थिति थी, प्रवृत्त होने पर शोक से व्याकुल चित्त वाले गवल ने, राज्य के सज्जनों के संसर्ग से जिस की धीर बुद्धि पवित्र हो गई थी, विचार किया ॥ ४०, ४१ ॥

मेरे ही कारण यह अनर्थ, जो अकालप्रलयमय और सब नेताओं का नाशकारी है, इस देश में उत्पन्न हुआ है ॥ ४२ ॥

मेरे जीवन के क्लेश से क्या प्रयोजन है मेरा मरना ही महोत्सव है। लोकनिन्दनीय दुष्ट जीव का जीवन की अपेक्षा मरण अच्छा है ॥ ४३ ॥

ऐसा विचार कर गवल ने अपने शरीर को पतङ्ग के समान बिना किसी उद्वेग के प्रज्वलित अग्नि में आहुति बना दिया ॥ ४४ ॥

गवल नामक उस देह के निर्वेदवश अग्नि में गिरने और अवयवों से व्याकुल होने पर अपने अङ्गों के दाहवश हिलने-डुलने के कारण जल के अन्दर अघमर्षण कर रहे गाधि ने तुरन्त बोध को प्राप्त किया ॥ ४५ ॥

मुनि महाराज के ऐसा कहने पर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचलावलम्बी हो गये और सभा मुनिजी को नमस्कार कर सायंकाल की विधि के लिए स्नानार्थ चली गई और दूसरे दिन रात्रि बीतने पर सूर्य की किरणों के साथ फिर आ गई ॥ ४६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में गाधिवृत्तान्त में राज्यभ्रंश नामक कुसुमलता का छीयालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४६ ॥

॥ बारहवाँ दिवस ॥

मृतमात्मानमात्मीये सदने शोच्यतां गतम् ।
पतितं वातवेगेन कन्दरान्तरिव द्रुमम् ॥ २१ ॥
प्राणापानप्रवाहेण मुक्तमन्तमुपागतम् ।
संशान्तावयवस्पन्दं निर्वात इव खण्डकम् ॥ २२ ॥
पाण्डुराननमाम्लानं वृक्षपर्णमिवाऽरसम् ।
शवीभूतमिवाऽऽम्लानं छिन्ननालमिवाऽम्बुजम् ॥ २३ ॥
विपर्यस्तेक्षणं प्रातर्मग्नतारमिवाऽम्बरम् ।
सावग्रहमिव ग्रामं सर्वतः पांसुधूसरम् ॥ २४ ॥
बाष्पविलिन्नमुखैर्दीनैः करुणाक्रन्दकारिभिः ।
आवृतं बन्धुभिः खिन्नैः कुररैरिव पादपम् ॥ २५ ॥
सेतुभङ्गगलद्वारिह्रियमाणमुखाब्जया ।
नलिन्या समधर्मिण्या भार्यया पादयोः श्रितम् ॥ २६ ॥
ताराक्रन्दरणद्रेफलापालापलुब्धया ।
मात्रा गृहीतं चिबुके नवव्यञ्जनलाञ्छिते ॥ २७ ॥
अन्यैः पार्श्वगतैर्दीनैः स्रवदश्रुमुखैर्जनैः ।

उसने अपने घर पर अपने को वायुवेग से कन्दरा के बीच में गिरे हुए वृक्ष के समान मृत और शोचनीय दशा को प्राप्त हुआ देखा ॥ २१ ॥

उसने अपने को प्राण और अपान वायुओं के प्रवाह से मुक्त, नाश को प्राप्त निर्वात स्थान में गिरे हुए कदली के वृक्ष आदि के समान प्रशान्त अवयवचेष्टा वाला, पीले मुँहावला, वृक्ष के सूखे हुए पत्ते के समान मुरझाया हुआ, शव के समान जिसकी नाल कट गई हो ऐसे कमल के समान कुम्हलाया हुआ, प्रातःकाल जिससे तारे अस्त हो गये ऐसे आकाश के समान अस्त नेत्रवाला देखा। वह अनावृष्टि से उध्वस्त ग्राम के समान चारों ओर धूलि से धूसरित था ॥ २२-२४ ॥

करुण विलाप करने वाले दुःखी दीन बन्धुओं से, जिनका मुँह वाष्पधारा से आर्द्र था, वह ऐसे परिवृत था जैसे कुररनामक पक्षियों से वृक्ष आवृत होता है ॥ २५ ॥

बाँध के टूट जाने से बह रहे जल से जिसका मुखरूपी कमल हरा जा रहा हो, ऐसी कमलिनी के तुल्य भार्या ने उसके चरण पकड़ रक्खे थे ॥ २६ ॥

ऊँचे गूंज रहे (रोदन कर रहे) भौंरों के समान प्रलाप और दीर्घ स्वर के आलाप में आसक्त माँने उसकी ठुड्ढी, जो नूतन मूँछ-दाढ़ी से युक्त थी, पकड़ रक्खी थी ॥ २७ ॥

पास में बैठे हुए दुःखी अश्रुधारा बहा रहे अन्यान्य लोगों से वह परिवेष्टित था जैसे ओस बहा रहे सूखे

श्रितं गलदवश्यायैः शुष्कपर्णैरिव द्रुमम् ॥ २८ ॥
वियोगभीत्या संयोगपरिहारपरैरिव ।
दूरं विप्रसृतैरङ्गैरनात्मीयैरिवाऽऽवृतम् ॥ २९ ॥
परस्परमलग्नाभ्यामोष्ठाभ्यां दशनैः सितैः ।
सविरागमिवाऽऽम्लानैर्हसन्तं स्वात्मजीवितम् ॥ ३० ॥
मौनध्यानमिवाऽऽपन्नं पङ्कादिव विनिर्मितम् ।
अप्रबोधाय संसुप्तं विश्राम्यन्तमिवोच्चकैः ॥ ३१ ॥
बान्धवाक्रन्दसंरम्भकोलाहलगता गिरः ।
स्नेहभावविचारार्थं शृण्वन्तमिव यत्नतः ॥ ३२ ॥
अथ तत्कालकल्लोलप्रलापाकुलचेष्टितैः ।
सोरस्ताडनमूर्च्छोत्थनेत्रवारिवहाप्लुतैः ॥ ३३ ॥
क्रमेण स्वजनैः क्षुब्धैस्ताराक्रन्दादिघर्घरैः ।
निष्कालितममङ्गल्यमपुनर्दर्शनाय वै ॥ ३४ ॥
नीतं श्मशानं मांसान्त्रवसापङ्ककलङ्कितम् ।
शुष्काशुष्करसक्लिन्नं कङ्कालशतसंकुलम् ॥ ३५ ॥

पत्तों से वृक्ष परिवेष्टित होता है ॥ २८ ॥

वियोग के भय से संयोग का त्याग करने के समान दूर हटे हुए हाथ, पैर आदि अङ्गों से अनात्मीय जनों की भाँति वह आवृत था ॥ २९ ॥

परस्पर न सटे हुए ओठों से और कुछ मलिन सफेद दाँतों से अपने जीवन को इतने समय तक वृथा गया इस प्रकार हंस रहा था ॥ ३० ॥

विरक्त पुरुष के समान मौन ध्यान को प्राप्त हुआ-सा, पङ्कसे बनाया हुआ-सा, फिर न जागने के लिए सोया-सा, दीर्घ विश्राम कर रहा-सा था ॥ ३१ ॥

बान्धवों के रोने पीटने के कोलाहल से मिली हुई वाणियों को किसका मेरे प्रति अधिक स्नेह है और किसका कम इस प्रकार विचार करने के लिए वह यत्न से सुन रहा था ॥ ३२ ॥

तदनन्तर उस समय राशिभूत निरन्तर प्रलापों से व्याकुल चेष्टावाले छाती पीटने के साथ मूर्च्छा से उत्पन्न नेत्र के जलप्रवाह से सरावोर दीर्घ विलाप आदि के घर्घर शब्द से पूर्ण दुःखी आत्मीयों से उसका अमङ्गल शव फिर न देखने के लिए घर से बाहर निकाला गया और श्मशान में ले जाया गया ॥ ३३-३४ ॥

वह श्मशान माँस, आँतें और चर्बी के पङ्क से दूषित, सूखे और ताजे खून से तर तथा सैकड़ों कङ्कालों से व्याप्त था ॥ ३५ ॥

गृध्राभ्रच्छन्नसूर्यांशु चिताज्वलननिस्तमः ।
शिवाशिवमुखज्वालाजालपल्लवितावनि ॥ ३६ ॥
वहद्रक्तसरित्स्नातमग्नकङ्कोग्रवायसम् ।
रक्तार्द्रतन्त्रीप्रसरजालाबद्धजरत्खगम् ॥ ३७ ॥
तत्र ते ज्वलने दीप्ते चक्रुस्तं भस्मसाच्छवम् ।
बान्धवाः सलिलापूरं समुद्रा इव वाडवे ॥ ३८ ॥
चिटिच्चटचटास्फोटैः शवमाशु ददाह सा ।
शुष्केन्धनबहूच्छूनज्वालाजालजटावली ॥ ३९ ॥
अभ्युल्लसत्कटकटारवमुक्तगन्ध-
व्याप्ताम्बुवाहपटलोऽस्थिचयं हुताशः ।
दन्ती सरन्ध्रमिव वेणुवनं समन्ता-
दुद्वान्तमेदुररसं दलयाञ्चकार ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते गाधिविनाशो नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

चील, गीधरूपी मेघों से उसमें सूर्य की किरणें आच्छन्न थीं, चिता की अग्नि से अन्धकार न था, सियारों के मुख से निकली हुई अशुभ ज्वालाओं से उसमें पृथ्वी पल्लव-युक्त-सी प्रतीत होती थी ॥ ३६ ॥

वहाँ पर बह रहीं खून की नदियों में कोई सफेद चील और कौवे स्नान करते थे और कोई डूब गये थे, खून से तर आँतों के समूहरूपी जाल में बूढ़े पक्षी बँधे हुए थे ॥ ३७ ॥

वहाँ पर उन बन्धुओं ने प्रदीप्त अग्नि में जैसे समुद्र बड़वानल में अपने जलप्रवाह को भस्म करते हैं वैसे ही उसे भस्म किया ॥ ३८ ॥

सूखे हुए इन्धनों से खूब बढ़ी हुई ज्वालाराशि रूपी जटाओं से युक्त उस चिता ने चट-चट शब्दों से शव को शीघ्र जला दिया ॥ ३९ ॥

जिसने बढ़ रहे कट-कट शब्दों से और छोड़ी गई दुर्गन्धि से मेघमण्डल को व्याप्त करने वाली अग्नि ने जिस से बढ़े हुए रस निकल चुके थे अस्थियों को वैसे ही विद-लित कर दिया जैसे हाथी सूराखनाले बाँस के समूह को चारों ओर विदलित कर देता है ॥ ४० ॥

इस प्रकार ऋषीप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में गाधिवृत्तान्त में गाधिविनाश नामक कुसुमलता का चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४४ ॥

४५

वसिष्ठ उवाच

अथाऽपश्यदसौ गाधिः स्वाधिपीवरया धिया ।
अन्तर्जलस्थ एवाऽन्तरात्मनाऽऽत्मनि निर्मले ॥ १ ॥
भूतमण्डलपर्यन्तग्रामोपान्तनिवासिनाम् ।
श्वपचानां स्त्रिया गर्भे स्थितमात्मानमाकुलम् ॥ २ ॥
गर्भवासभराक्रान्तं पीडितं पेलवाङ्गकम् ।
श्वपचीहृदये सुप्तं स्वविष्ठायामिवाऽऽकुलम् ॥ ३ ॥
शनैः पक्वतया काले प्रसूतं मेचकच्छविम् ।
श्वपच्या प्रावृषेवाऽब्दं श्याममावलितं मलैः ॥ ४ ॥
संपन्नं श्वपचागारे शिशुं श्वपचवल्लभम् ।
इतश्चेतश्च गच्छन्तमुत्पीडमिव यामुनम् ॥ ५ ॥
द्वादशाब्ददशां यातं संस्थितं षोडशाब्दिकम् ।
पीवरांसमुदाराङ्गं पयोदमिव मेदुरम् ॥ ६ ॥

४५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इसके बाद जल के भीतर स्थित गाधि ने मानसिक दुःखों से पूर्ण अपनी बुद्धि से निर्मल आत्मा में अन्तरात्मा से अपने को भूतमण्डल-नामक देश की सीमा के गांव के समीप रहने वाले चाण्डालों की स्त्री के गर्भ में स्थित आकुल देखा ॥ १,२॥

गर्भवास के दुःखों से वह पीड़ित था, उसके अङ्ग कोमल थे और वह अपनी विष्ठा के समान चाण्डाली के हृदय में सोया व्याकुल था ॥ ३ ॥

क्रमशः परिपक्व होने के कारण वैसे ही समय पर चाण्डाली से उत्पन्न किया गया वह काली कान्तिवाला तथा मल-मूत्र आदि से वैसे ही वेष्टित था जैसे वर्षा ऋतु काले मेघ को समय पर पैदा करती है ॥ ४ ॥

चाण्डालों के घर में उत्पन्न और चाण्डालों का अत्यन्त प्रिय शिशुरूप इधर-उधर चल रहा वह यमुना-प्रवाह में गिरे हुए कर्णभूषणरूप नील कमल के समान था ॥ ५ ॥

बारह वर्ष की अवस्था को प्राप्त अनन्तर सोलह वर्ष की अवस्था में स्थित, स्थूल कन्धावाला, विशालकाय, उदीयमान मेघ के समान था ॥ ६ ॥

सारमेयपरीवारं विहरन्तं वनाद् वनम् ।
निघ्नन्तं मृगलक्षाणि पौलिन्दीं स्थितिमागतम् ॥ ७ ॥
तमाललतयेवाऽथ श्रितं श्वपचकन्यया ।
स्तनस्तबकशालिन्या नवपल्लवहस्तया ॥ ८ ॥
श्यामया मलिनाकारदशनामलमालया ।
वनपल्लवयाभूरिविलासवलिताङ्गया ॥ ९ ॥
विलसन्तं वनान्तेषु तया सह नवेष्टया ।
श्यामलं श्यामया भृङ्गं भृङ्ग्येव कुसुमर्धिषु ॥ १० ॥
वनपर्णलतापत्रे वसन्तं व्यसनातुरम् ।
विन्ध्यकान्तारमाकारमभ्यागममिवोद्भूटम् ॥ ११ ॥
विश्रान्तं वनकुञ्जेषु सुप्तं गिरिदरीषु च ।
निलीनं पत्रपुञ्जेषु गुल्मकेषु कृतालयम् ॥ १२ ॥
किंकिराताावतंसाढ्यं यूथिकास्रग्विभूषितम् ।
केतकोत्तंससुभगं सहकारस्रगाकुलम् ॥ १३ ॥

शिकार खेलने के लिए कुत्तों से परिवृत होकर एक वन से दूसरे वन में विहार कर रहा, लाखों मृगों को मार रहा वह व्याधों की अवस्था को प्राप्त था ॥ ७ ॥

अनन्तर तमाल की लता के समान चाण्डालकन्या से उसने विवाह कर लिया था। वह स्तनरूपी स्तवकों से सुशोभित थी, नूतन पल्लव के समान उसके हाथ थे। दन्तधावन न करने के कारण मलिन और स्वाभाविक शुक्लता के कारण निर्मल उसकी दन्तपंक्ति थी और वह स्वयं श्याम थी। नव पल्लवों का अनुकरण करनेवाले बहुत से विलासों से उसके अंग पूर्ण थे ॥ ८, ९ ॥

श्यामवर्ण वाला वह नूतन होने के कारण ही अभीष्ट श्यामवर्ण वाली उसके साथ पुष्पों की समृद्धि से पूर्ण वन-प्रान्तों में वैसे ही विहार करता था जैसे काली भँवरी के साथ काला भौंरा पुष्पों की समृद्धि से पूर्ण वनान्तों में विहार करता है ॥ १० ॥

वन की ताम्बूल लताओं के पत्ते में निवास कर रहा व्यसनों से आतुर वह पुरुष का आकार धारण किये हुए विन्ध्याचल के समान भीषण था ॥ ११ ॥

वह वन के कुञ्जों में विश्राम करता था, पर्वत की गुफाओं में सोता था, पत्तों की ओट में छिपा रहता था, बड़ी-बड़ी झाड़ियों को उसने अपना निवास-स्थान बना रक्खा था ॥ १२ ॥

वह किंकिरात की मञ्जरियों के कर्णभूषणों से अलङ्कृत रहता था, जुही की मालाओं से विभूषित रहता था, केवड़े के कर्णपूरों से बड़ा सुन्दर लगता था और आम के बौरों की माला से आच्छन्न रहता था ॥ १३ ॥

लुलितं पुष्पशय्यासु भ्रान्तमद्रितटीषु च ।
तज्ज्ञं कननकोशेषु बहुज्ञं मृगमारणे ॥ १४ ॥
प्रसूतमथ शैलेषु पुत्रान्निजकुलाङ्कुरान् ।
अत्यन्तविषमोदन्तान् खदिरः कण्टकानिव ॥ १५ ॥
कलत्रवन्तं संपन्नं स्थितं प्रक्षीणयौवनम् ।
शनैर्जर्जरतां यातं वृष्टिहीनमिव स्थलम् ॥ १६ ॥
ततो भूतग्रहग्रामजन्मदेशमुपेत्य तम् ।
संस्थितं मठिकां पर्णैः कृत्वा दूरे मुनीन्द्रवत् ॥ १७ ॥
जराजरठतां यातं स्वदेहसमपुत्रकम् ।
जीर्णप्रायरसश्वभ्रतमालतरुसंनिभम् ॥ १८ ॥
प्रौढं श्वपचगार्हस्थ्यं कुर्वाणं बहुबान्धवम् ।
क्रूरनामार्थवचनं परां वृद्धिमुपागतम् ॥ १९ ॥
अथाऽपश्यदसौ गाधिर्यावत्तस्य कलत्रिणः ।
जरठः श्वपचेभ्यश्च स्वात्मनो भ्रमहारिणः ॥ २० ॥

फूलों की सेजों पर लेटा रहता था, पर्वत के तटों पर घूमता था, वनों के विषयों में असाधारण ज्ञान रखता था और मृगों का शिकार करने में पण्डित था ॥ १४ ॥

अनन्तर उसने वनों में अपने कुल के अङ्कुर रूप श्रवण के भी अयोग्य पुत्रों को वैसे ही उत्पन्न किया जैसे खैर काँटों को पैदा है ॥ १५ ॥

पहले वह स्त्री-पुत्र आदि पारिवार वाला हुआ, उसके बाद उसका यौवन क्षीण हो गया, अनन्तर वृष्टिरहित भूमि की तरह धीरे-धीरे जर्जर हो गया ॥ १६ ॥

अनन्तर भूतमण्डल नामक देश की अपनी जन्म-भूमि में आकर दूर में पर्णकुटी बनाकर मुनीश्वर के समान रहने लगा ॥ १७ ॥

वह वृद्धावस्था से अत्यन्त जर्जरता को प्राप्त हो गया, अपने शरीर के समान प्रमाण वाले उसके लड़के थे, वह गड्ढे में उत्पन्न सूखे हुए तमाल वृक्ष के समान था ॥१८॥

वह बड़ा प्रौढ था, चाण्डाल की गृहस्थी कर रहा था, उसके बहुत से बन्धु-बान्धव थे, नाम, कर्म और वचन बड़े क्रूर थे और वह बहुत बड़ी कुटुम्बवृद्धि को प्राप्त था ॥ १९ ॥

अनन्तर अन्य चाण्डालों से वृद्ध, अपने पूर्वोक्त भ्रम का अनुसरण कर रहे कुटुम्बी गाधि ने अपना जितना कुटुम्ब था उसे मृत्यु द्वारा आवृत कर—जैसे वृष्टि-जल

तत्कलत्रमशेषेण नीतमावृत्य मृत्युना ।
आसारसलिलेनाऽऽशु वनपर्णगणो यथा ॥ २१ ॥
प्रलपत्येक एवाऽसावटव्यां दुःखकर्शितः ।
वियूथ इव सारङ्गो विगतास्थोऽश्रुलोचनः ॥ २२ ॥
दिनानि कतिचित्तत्र नीत्वा शोकपरीतधीः ।
जहौ स्वदेशं संशुष्कपद्मं सर इवाऽण्डजः ॥ २३ ॥
विजहार बहून् देशाननास्थश्चिन्तयाऽन्वितः ।
प्रेर्यमाण इवाऽन्येन वातनुन्न इवाऽम्बुदः ॥ २४ ॥
एकदा प्राप कीराणां मण्डले श्रीमतीं पुरीम् ।
खेचरो विहरन् शून्ये सद्विमानमिवाऽम्बरे ॥ २५ ॥
नृत्यद्रत्नांशुकच्छन्नमार्गवृक्षलताङ्गनम् ।
आगुल्फाकीर्णकुसुमं चन्दनागुरुसुन्दरम् ॥ २६ ॥
सामन्तैर्ललनाभिश्च नागरैश्च निरन्तरम् ।
स्वर्गमार्गोपमं राजमार्गमध्यमवाप सः ॥ २७ ॥
मणिरत्नकृतागारं तत्र मङ्गलहस्तिनम् ।
ददर्शाऽमरशैलेन्द्रमिव संचारचञ्चलम् ॥ २८ ॥
मृते राजनि राजार्थं विहरन्तमितस्ततः ।
रत्नज्ञमिव रत्नार्थं चिन्तामणिदिदृक्षया ॥ २९ ॥
तमसौ श्वपचो नागं कौतुकोद्धुरया दृशा ।
चिरमालोकयामास स्पन्दयुक्ताचलोपमम् ॥ ३० ॥
आलोकयन्तमादाय तं करेण स वारणः ।
स्वकटेऽयोजयन्मेरुस्तटेऽर्कमिव सादरम् ॥ ३१ ॥
तस्मिन् कटगते नेदुर्जयदुन्दुभयोऽभितः ।
कल्पाम्बुद इवाऽऽकाशमधिरूढे महार्णवाः ॥ ३२ ॥
पूरिताशो बभौ राजा जयतीति जनस्वनः ।
उदभूत्संप्रबुद्धानां विहगानामिवाऽऽरवः ॥ ३३ ॥
उदभूद् वन्दिवृन्दानां घनकोलाहलस्ततः ।
वेलाविलुलिताम्बूनामम्बुधीनामिव ध्वनिः ॥ ३४ ॥
तं तत्राऽऽवरयामासुर्मण्डनार्थं वराङ्गनाः ।
क्षीरोदगतविभ्रान्ता लहर्य इव मन्दरम् ॥ ३५ ॥

का प्रवाह वन में गिरे हुए सूखे पत्तों को ले जाता है वैसे ही—हरा गया देखा ॥ २०-२१ ॥

दुःख से पीड़ित वह झुण्ड से बिछुड़े हुए मृग के समान एकाकी ही वन में रोता था। उसके नेत्र आँसुओं से भींगे रहते थे और उसका कोई अवलम्ब न था ॥२२॥

शोक से व्याकुल बुद्धि वाले उसने कुछ दिन वहाँ बिता कर वैसे ही स्वदेश का त्याग कर दिया जैसे सूखे कमल वाले सरोवर का हंस आदि त्याग कर देते हैं ॥२३॥

अवलम्बरहित और शोकपीड़ित वह किसी दूसरे के द्वारा प्रेरित हो रहे के समान वायु से उड़ाये गये बादल के सदृश बहुत देशों में भटकता रहा ॥ २४ ॥

एक समय आकाश में सुन्दर विमान के समान आकाश में विचरण करने वाला श्रीमती पुरी में कीर लोगों के जो निवासभूत देश था वहाँ पहुँचा ॥ २५ ॥

वह स्वर्ग मार्ग के तुल्य राजमार्ग के मध्य में—जहाँ पर रत्नों और वस्त्रों से आच्छादित मार्ग स्थित वृक्ष, लताएँ और अङ्गनाएँ नाच रही थीं, टखनों तक फूल बिखरे हुए थे, अधीन राजाओं, ललनाओं और नागरिक लोगों से जो ठसाठस भरा था और चन्दन तथा अगर से सुशोभित था वहाँ पहुँचा ॥ २६-२७ ॥

वहाँ पर उसने चलने से चञ्चल हुए श्रेष्ठ मणियों से देवताओं के मन्दिर वाले सुमेरु पर्वत के, तुल्य श्रेष्ठ रत्नों के झूले से अलङ्कृत मङ्गल हस्ती को देखा ॥ २८ ॥

राजा के मरने पर राजा के लिए वह वैसे ही इधर-उधर विहार कर रहा थ, जैसे रत्न परीक्षा कुशल पुरुष चिन्तामणि को देखने की इच्छा से रत्न के लिए विहार करे ॥ २९ ॥

उस चाण्डाल ने कौतूहल से विस्फारित दृष्टि से स्पन्दयुक्त पर्वत के समान उस हाथी को बहुत देर तक देखा ॥ ३० ॥

उस हाथी ने देख रहे उस चाण्डाल को अपनी सूँड से पकड़ कर बड़े आदर के साथ उसको अपने गण्डस्थलतट पर वैसे ही चढ़ाया जैसे मेरु अपने तटपर सूर्य को संलग्न करता है ॥ ३१ ॥

उसके गण्डस्थल पर आरूढ़ होने पर चारों ओर विजय के नगारे वैसे ही बजने लगे जैसे प्रलयकाल के मेघ के आकाश में आरूढ़ होने पर सागर गरजते हैं ॥ ३२ ॥

मनोरथों को पूर्ण करने वाला राजा सुशोभित हुआ। अनन्तर जागे हुए पक्षियों की ध्वनि के समान राजा की जय हो, इस प्रकार की दिशाओं को करने वाली जनध्वनि उत्पन्न हुई ॥ ३३ ॥

इसके बाद जलतटों से टकराये सागरों की ध्वनि के समान बन्दि-वृन्दों का तुमुल कोलाहल हुआ ॥ ३४ ॥

क्षीरसागर के मन्थन से जनित क्षोभ से घूम रहीं लहरियों ने सुन्दर-सुन्दर ललनाओं ने अलङ्कृत करने के लिए वैसे ही उसे घेर लिया जैसे मन्दराचल को परिवेष्टित किया था ॥ ३५ ॥

मानिन्यस्तं गुणप्रोतैर्नानारत्नैरपूरयन् ।
नानाप्रभाप्रभातार्का वेला इव तटाचलम् ॥ ३६ ॥

तुषारशिशिरस्पर्शैस्तास्तं हारैरभूषयन् ।
श्यामा वननदीपूरैर्वर्षाः शृङ्गमिवोत्तमम् ॥ ३७ ॥

विचित्रवर्णसौगन्ध्यैः पुष्पैरावलयन् स्त्रियः ।
वनं मधुश्रिय इव तं लोलकरपल्लवाः ॥ ३८ ॥

नानावर्णरसामोदैस्तास्तमाशु विलेपनैः ।
अलेपयन् प्रभाजालैर्नगोऽभ्रमिव धातुभिः ॥ ३९ ॥

रत्नकाञ्चनकान्तोऽसावाददे चित्तमाततम् ।
संध्याभ्रतारेन्दुनदीव्याप्तं मेरुरिवाऽम्बरम् ॥ ४० ॥

भूषितः सविलासाभिर्बालवल्लीभिरावृतः ।
रत्नपुष्पांशुकाकीर्णः कल्पवृक्ष इवाऽऽबभौ ॥ ४१ ॥

तादृशं तमुपाजग्मुः परिवारसमन्विताः ।

उन्होंने सूत्रों में गुँथे हुए रत्नों से उसे वैसे ही परिपूर्ण किया जैसे वेलाएँ, जिनमें सूर्य नाना प्रकार के मणियों में प्रतिबिम्बित होने के कारण तत्-तत् प्रभाओं से सुशोभित रहता है, अपने तटवर्ती पर्वत को पूरित करती हैं ॥ ३६ ॥

हिम के समान शीतल स्पर्श वाले हारों ने उन युवतियों ने उसे वैसे ही विभूषित किया जैसे वृष्टियाँ जल-प्रवाहों से वनमध्य में स्थित उत्तम शिखर को विभूषित करती हैं ॥ ३७ ॥

विचित्र वर्ण और सुगन्धि वाले फूलों से स्त्रियों ने उसे वैसे ही परिवेष्टित किया जैसे चञ्चल कररूपी पल्लव वाली बसन्त शोभा वन को फूलों से वेष्टित करती है ॥ ३८ ॥

विविध रंग, रस और सुगन्धि वाले विलेपनों से उन्होंने शीघ्र उसका वैसे ही लेप किया जैसे पर्वत मेरु आदि धातुओं की प्रभाराशियों से मेघ को लिप्त करता है ॥ ३९ ॥

रत्न और सुवर्ण के भूषणों से भूषित उसने उनके उदार चित्त को वैसे ही हर लिया जैसे मेरु सन्ध्याकाल के मेघ, तारे, चन्द्रमा और आकाशगंगा से व्याप्त आकाश को ग्रहण करता है ॥ ४० ॥

भाँति-भाँति के विलासों से युक्त ललनारूपी लताओं से परिवेष्टित और मणि और सुवर्ण के आभूषणों से विभूषित वह विलासयुक्त छोटी-छोटी लताओं से व्याप्त

सर्वाः प्रकृतयः फुल्लं मार्गद्रुममिवाऽध्वगाः ॥ ४२ ॥

ता एनमासने सैंहे तत्राऽभिषिषिचुः क्रमात् ।
तस्मिन्नेव गजे शक्रमैरावत इवाऽमराः ॥ ४३ ॥

एवं स श्वपचो राज्यं प्राप कीरपुरान्तरे ।
आरण्यं हरिणं पुष्टमप्राणमिव वायसः ॥ ४४ ॥

कीरीकरतलाम्भोजप्रमृष्टचरणाम्बुजः ।
सर्वाङ्गे कुङ्कुमालेपैः सन्ध्याम्बुधरशोभनः ॥ ४५ ॥

जज्वाल कीरनगरे नागरीगणवानसौ ।
सिंहीगणयुतः सिंहो यथा कुसुमिते वने ॥ ४६ ॥

हरिहतकरिकुम्भोन्मुक्तमुक्ताकलाप-
प्रविरचितशरीरः शान्तचिन्ताविषादः ।
अरमत सह सद्भिस्तत्र भोगैः सरस्यां
रविकरमदतप्तो वारिपूरैरिवेभः ॥ ४७ ॥

रत्नरूपी पुष्प और वस्त्रों से सुशोभित कल्पवृक्ष के समान सुशोभित हुआ ॥ ४१ ॥

इस प्रकार के उसके पास परिवारयुक्त सब प्रकृतियाँ वैसे ही आईं जैसे फूले हुए मार्ग के वृक्ष के समीप पथिक जाते हैं ॥ ४२ ॥

उन्होंने उसी हाथी पर उसका सिंहासन में वैसे ही अभिषेक किया जैसे देवता ऐरावत हाथी पर इन्द्र का अभिषेक करते हैं ॥ ४३ ॥

उस चाण्डाल ने कीरनगर के मध्य में वैसे ही इस प्रकार राज्य प्राप्त किया जैसे कौवा परिपुष्ट, प्राणविहीन जंगली हरिण को पाता है ॥ ४४ ॥

कीर देश की नारियों के करकमलों से जिसके चरण दबाये जाते थे, सर्वाङ्ग में कुङ्कुम के लेप से जो सन्धाकाल के समान सुन्दर था ॥ ४५ ॥

इस प्रकार का वह नागरिक जनों से युक्त होकर जैसे फूले हुए वन में सिंहिनियों के झुण्ड से युक्त सिंह सुशोभित होता है वैसे ही कीरनगर में सुशोभित हुआ ॥ ४६ ॥

सिंहों से विदीर्ण किये गये हाथियों के कुम्भों से गिरे हुए मोतियों से विभूषित शरीर वाला और चिन्ता एवं विषाद से शून्य वह सज्जनों के साथ भोगों से वैसे ही आनन्द लेता था जैसे तालाब में सूर्य की किरण और मद से सन्तप्त हुआ हाथी जल के प्रवाहों से क्रीड़ा करता है ॥ ४७ ॥

परिविसृतनृपौजाः सर्वदिक्संस्थिताज्ञः
कतिपयदिवसेहासिद्धदेशव्यवस्थः ।
प्रकृतिभिरलमूढाशेषराजन्यभारः
स गवल इति नाम्ना तत्र राजा बभूव ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते श्वपचराज्यलाभो नाम पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

चारों ओर उसकी राज्यशक्ति व्याप्त थी, सब दिशाओं में उसकी आज्ञा चलतीं थी। कुछ दिनों स्वेच्छा से ही उसकी सारी राज्यव्यवस्था सिद्ध हो गई थी। प्रकृतियों ने ही उसके समस्त अधीनस्थ राजाओं का भार वहन किया था, इस प्रकार का वह गवल इस नाम से प्रसिद्ध होकर वहाँ का राजा हुआ ॥ ४८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में गाधिवृत्तान्त में श्वपचराज्यलाभ नामक कुसुमलता का पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४५ ॥

४६

श्रीवसिष्ठ उवाच

विलासिनीभिर्वलितो मन्त्रिमण्डलपूजितः ।
वन्दितः सर्वसामन्तैश्छत्रचामरलालितः ॥ १ ॥
सिद्धानुशासनः कान्तो ज्ञातराज्यगुणक्रमः ।
वीतशोकभयायासप्रजः प्राप्तमहादशः ॥ २ ॥
विस्मृतात्मस्वभावोऽभूदनिशं स्तवमङ्गलैः ।
आनन्दपूर्णया वृत्त्या भृशं क्षीब इवाऽऽसवैः ॥ ३ ॥
कीरेषु श्वपचो राज्यं वर्षाण्यष्टौ चकार ह ।
आर्यवृत्तमशेषेण तावत्कालं बभार ह ॥ ४ ॥
यदृच्छयैकदाऽथाऽसावतिष्ठत् त्यक्तभूषणः ।
अतमस्तारकेन्द्वर्कतेजोम्भोदमिवाऽम्बरम् ॥ ५ ॥
बह्वमन्यत नो हारकेयूरवलयान्यसौ ।
प्रभुताबृंहितं चेतो नाऽऽहार्यमभिनन्दति ॥ ६ ॥
एक एवाऽजिरं बाह्यं तादृग्वेषः स निर्ययौ ।
मुख्याङ्गणान्नभोभागादस्तं गच्छन्निवांऽशुमान् ॥ ७ ॥
तत्राऽपश्यद् घनं श्यामं पीनं श्वपचपेटकम् ।
गायन्मृदु वसन्तोत्थं कोकिलानामिव व्रजम् ॥ ८ ॥
धुनानं वल्लकीतन्त्रीं करपल्लवलीलया ।
मृदुरेफं रणद्रेफामलिश्रेणिमिव द्रुमम् ॥ ९ ॥

४६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वह विलासवती सुन्दरियों से व्याप्त मन्त्रिमण्डल द्वारा समादृत, सब सामन्तों द्वारा वन्दित, छत्र और चँवरों से लालित था ॥ १ ॥

अप्रतिहत आज्ञा वाला तथा सुन्दर आकृति वाला था, उसे राज्य के सब गुण ज्ञात थे। उसकी प्रजाओं के शोक, भय, क्लेश आदि नष्ट हो गये थे ॥ २ ॥

निरन्तर स्तुति-मङ्गलों से और आनन्दपूर्ण वृत्ति से, आसवों से अत्यन्त उन्मत्त हुए पुरुष के समान वह अपने स्वभाव को भूल गया था ॥ ३ ॥

कीर देश में उस चाण्डाल ने आठ वर्षोंतक राज्य किया। तबतक उसने दया, दाक्षिण्य, शौच आदि सद्वृत्त को पूर्णरूप से धारण किया ॥ ४ ॥

अनन्तर एक समय वह अपनी इच्छा से भूषणरहित अन्धकार, तारे, चन्द्रमा, सूर्य के तेज और मेघों से रहित आकाश के समान स्थित था ॥ ५ ॥

प्रभुता से परिपूर्ण चित्त को कृत्रिम आभूषण आदि भले नहीं लगते अतः वह हार, बाजूबन्द, कड़े आदि आभूषणों का बहुत आदर न करता था ॥ ६ ॥

वह मुख्य जनों से आश्रित भीतर के आँगन से साधारण लोगों से सेवित बाहरी आँगन में पूर्वोक्त वेष से वैसे ही अकेले ही गया जैसे अस्त को प्राप्त सूर्य मुख्य आकाश रूपी आँगन से आकाश के अन्तिम भाग को जाता है ॥ ७ ॥

वहाँ पर उसने वसन्त में उत्पन्न हुए कोकिलों के समूह की नाईं मधुर गा रहे काले और स्थूल देहवाले चाण्डालों के संघ को देखा ॥ ८ ॥

करपल्लव की लीला से वीणा के तारों को मधुर स्वर के साथ वैसे ही बजा रहा था जैसे भ्रमरपंक्ति, जिसके पर शब्द कर रहे हों, वृक्ष को कम्पित करती है ॥ ९ ॥

एकस्तस्मात्समुत्तस्थौ जरावान् रक्तलोचनः ।
काचश्रृङ्गं हिमापूर्णमिव श्वपचनायकः ॥ १० ॥
भो कटंजेति सहसा वदन् कीरमहीपतिम् ।
इह राजा भवन्तं वा कच्चिद् गेयक्रियाविदम् ॥ ११ ॥
रक्तकण्ठं मानयति रागवानिव कोकिलम् ।
आपूरयति वा कच्चिद् गृहवस्त्रासनार्पणैः ॥ १२ ॥
मधू रसालविटपं फलपुष्पभरैरिव ।
दर्शनेन तवाऽद्याऽहं परां निर्वृतिमागतः ॥ १३ ॥
पद्मं सूर्योदयेनेव चन्द्रोदय इवौषधी ।
आनन्दानामशेषाणां लाभानां महतामपि ॥ १४ ॥
विश्रमाणामनन्तानां सीमान्तो बन्धुदर्शनम् ।
श्वपचे प्रवदत्येवं राजा यावत् तया तया ।
चकार तत्कालजया चेष्टयैवाऽवधीरणम् ॥ १५ ॥
तावद् वातायनगताः कान्ताः प्रकृतयस्तथा ।
श्वपचोऽयमिति ज्ञात्वा म्लानतामलमाययुः ॥ १६ ॥

उनमें ने लाल नेत्र वाला और हिम से आच्छन्न पर्वत के कांचमय श्रृङ्ग के समान वृद्धावस्था से सफेद केशों से आच्छन्न काले शरीर का एक बूढ़ा चाण्डालों का नेता उठा ॥ १० ॥

उसने 'हे कटंज' ! इस पूर्वनाम से कीर देश के अधिपति गवल का सहसा संबोधन करते हुए कहा—जैसे श्रृङ्गारी पुरुष मधुर कण्ठ वाले कोकिल का सम्मान करता है वैसे ही यहां पर राजा गानविद्या में कुशल मधुर कण्ठ वाले आप का सम्मान करता है क्या ? ॥ ११, १२ ॥

जैसे वसन्त फल और पुष्पों की राशियों से आम के वृक्ष को पूर्ण कर देता है, वैसे ही घर, वस्त्र, आसन आदि के दाने से राजा आप को पूर्ण करता है क्या ? ॥ १३ ॥

आप के दर्शनों से सूर्योदय से कमल के समान तथा चन्द्रमा के उदय से औषधियों के समान मैं परम आनन्द को प्राप्त हुआ हूँ । बन्धुओं का दर्शन सब आनन्दों की, बड़े-बड़े लाभों की और अनन्त विश्रामों की चरम सीमा है । चाण्डाल के ऐसा कहने पर राजा ने उस काल में उत्पन्न हुई विभिन्न चेष्टाओं से ही उसका तिरस्कार किया ॥ १४, १५ ॥

उसी समय झरोखे में बैठी हुई स्त्रियाँ और अमात्य आदि प्रकृतियाँ यह चाण्डाल है यह जानकर अत्यन्त उदास हुईं ॥ १६ ॥

पद्मास्तुषारप्रावृष्ट्या ग्रामाः सावग्रहा इव ।
दाववन्त इवाऽद्रीन्द्रा नागरा न विरेजिरे ॥ १७ ॥
नृपोऽवधीरयामास तां तां श्वपचसंकथाम् ।
वृक्षाग्रगतमार्जारफेत्कारं मृगराडिव ॥ १८ ॥
सत्वरं प्रविवेशाऽन्तःपुरमाम्लानमानवम् ।
राजहंस इवाऽवर्षे सीदत्सरसिजं सरः ॥ १९ ॥
सर्वावयवविश्रान्तां म्लानतामयमाययौ ।
जानुस्तम्भान्तरमहारन्ध्राग्निरिव दुद्रुमः ॥ २० ॥
तत्राऽपश्यदसौ सर्वं विषण्णवदनं जनम् ।
जालं कुङ्कुमपुष्पाणां भुक्तमूलमिवाऽऽखुना ॥ २१ ॥
मन्त्रिणो नागरा नार्यस्ततस्ते तं महीपतिम् ।
नाऽस्प्राक्षुरपि तिष्ठन्तं गृह एव शवं यथा ॥ २२ ॥
भृत्याश्चाऽकृतसत्कारं दूर एनमथाऽत्यजन् ।
दुःखयुक्ता घनस्नेहा अपि बालाः शवं यथा ॥ २३ ॥

वे नागरिक वैसे ही सुशोभित नहीं हुए जैसे तुषार से भरने वाली वृष्टि से कमल शोभित नहीं होते और जैसे उत्पातों से युक्त ग्राम शोभित नहीं होते और जैसे वनाग्नि से भरे हुए पर्वत शोभित नहीं होते हैं ॥ १७ ॥

राजा ने चाण्डाल के संभाषण का वैसे ही तिरस्कार किया जैसे वृक्ष की चोटी पर बैठे हुए बिलाव के फुफकार का सिंह तिरस्कार करता है ॥ १८ ॥

उसने तुरन्त आनन्दरहित अन्तःपुर में वैसे ही प्रवेश किया जैसे राजहंस अवर्षण में जिसके कमल म्लान हो रहे हों ऐसे तालाब में प्रवेश करता है ॥ १९ ॥

जिसके तने के बड़े खोखले में अग्नि लगी हो ऐसा सेमल आदि का वृक्ष जैसे म्लानता को प्राप्त होता है वैसे ही वह सब अवयवों में भींनी हुई म्लानता को प्राप्त हुआ ॥ २० ॥

वहाँ पर चूहे ने जिसकी जड़ खा डाली हो ऐसे कुङ्कुम के फूलों की झाड़ी के समान सब लोगों को उसने उदास देखा ॥ २१ ॥

अनन्तर उन मन्त्री, नगरवासी और नारियों ने उसका स्पर्श वैसे ही नहीं किया जैसे घर में ही स्थित शव का लोग स्पर्श नहीं करते ॥ २२ ॥

भृत्यों ने असत्कृत उसका दूर से वैसे ही त्याग कर दिया जैसे दुःखी अत्यन्त स्नेह वाली ललनाएँ शव का दूर से ही त्याग कर देती हैं ॥ २३ ॥

अनानन्दमुखं श्यामं शरीरश्रीविवर्जितम् ।
दग्धं स्थलमिवैनं ते बह्वमन्यन्त नाऽऽकुलाः ॥ २४ ॥
धूमायमानदेहस्य परितापदशावती ।
नाऽढौकताऽस्य जनता पार्श्वमग्निर्गिरेरिव ॥ २५ ॥
मन्दोत्साहाः समुद्भूताः सभ्यसंघातवर्जिताः ।
न तदाज्ञाः पदं प्रापुर्भस्मनीवाऽम्बुविप्रुषः ॥ २६ ॥
क्रूरकर्मकराकारात् संगताशुभदायिनः ।
तस्माद् विशेषेण जना राक्षसादिव दुद्रुवुः ॥ २७ ॥
एक एव बभूवाऽसौ जनमध्यगतोऽपि सन् ।
अर्थादिगुणनिर्मुक्तः परदेश इवाऽध्वगः ॥ २८ ॥
भृशमालपतेऽप्यस्मै नाऽऽलापं नागरा ददुः ।
मुक्ताजालयुतायाऽपि कीचकायाऽध्वगा इव ॥ २९ ॥
अथ सर्वे वयं दीर्घकालं श्वपचदूषिताः ।
प्रायश्चित्तैर्नन शुद्ध्यामः प्रविशामो हुताशनम् ॥ ३० ॥

उसके मुँह पर आनन्द की रेखा भी न थी, शरीर काला पड़ गया था, शोभा ने तो उसका सर्वथा त्याग कर दिया था, वह श्मशान-भूमि के समान था। दुःखी नागरिकों ने उसका कुछ भी सम्मान नहीं किया ॥ २४ ॥

उसका शरीर धुएँ के समान मैला था। परितापदशा वाली जनता उसके समीप वैसे ही नहीं गई जैसे पर्वत के शिलामय प्रदेश के समीप अग्नि नहीं जाती ॥ २५ ॥

भट आदि के समुदाय से उपेक्षित मन्दोत्साह हुई उसकी आज्ञा, भस्म में जल-बिन्दुओं के समान, आज्ञापन योग्य पुरुष को प्राप्त न कर सकी ॥ २६ ॥

क्रूर कार्यकारी आकार वाले तथा संगति से अशुभ फल देने वाले उससे भयभीत होकर लोग विशेषरूप से वैसे ही भागते थे जैसे लोग राक्षस से भयभीत होकर भागते हैं ॥ २७ ॥

वह बहुत से लोगों के बीच में रहते हुए भी वैसे ही अकेला ही हुआ जैसे परदेश में धन आदि गुणों से रहित पथिक बहुत बड़े जनसमुदाय के बीच रहता हुआ भी अकेला ही रहता है ॥ २८ ॥

वैसे ही खूब पुकार रहे एवं मोतियों के हारों से अलङ्कृत भी उसे नगरवासियों से वैसे ही प्रतिवचन नहीं दिया जैसे पथिक वायु के कारण शब्द कर रहे तथा मोतियों की राशि से युक्त भी कीचक नाम के विशेष वाँसों को वचन नहीं देते हैं ॥ २९ ॥

इसके अनन्तर हम सब लोग चिर काल तक चाण्डाल के स्पर्श से दूषित हैं, प्रायश्चित्तों से हमारी शुद्धि होने की नहीं; अतएव हम लोग अग्नि में प्रवेश करते हैं ॥ ३० ॥

इति निर्णीय नगरे नागरा मन्त्रिणस्तथा ।
अभितो ज्वालयामासुश्चिताः शुष्केन्धनैर्घिताः ॥ ३१ ॥
ज्वालितास्वभितस्तासु तारकास्विव खे तदा ।
बभूव नगरं सर्वमाक्रन्दपरमानवम् ॥ ३२ ॥
करुणारावमुखरैः कलत्रैर्बाष्पवर्षिभिः ।
अवष्टब्धं ज्वलत्कुण्डोपान्तमन्दरुदत्प्रजम् ॥ ३३ ॥
अग्निकुण्डप्रविष्टानां मन्त्रिणां भृत्यरोदनैः ।
रुदत्क्रन्दद् दृढतरमरण्यमिव मारुतैः ॥ ३४ ॥
चितादीपितविप्रेन्द्रमांसमांसलगन्धया ।
जातनीहारमुत्पातवात्ययाऽवकरोद्धतैः ॥ ३५ ॥
वातदीर्घवसागन्धदूरानीतखगोर्जितैः ।
चक्रैर्व्योमाऽभवच्छन्नभास्करं जलदैरिव ॥ ३६ ॥
वातोद्धूतचितावह्निप्रज्वलद्व्योममण्डलम् ।
उड्डीनाग्निकणव्राततारासारदिगन्तरम् ॥ ३७ ॥

ऐसा निश्चय कर नगर में सब नागरिक तथा मन्त्रियों ने सूखी हुई लकड़ियों से बढ़ाई हुई चिताएँ चारों ओर बनाईं ॥ ३१ ॥

तब आकाश में तारों के समान चारों ओर उन चिताओं के प्रज्वलित होने पर सारे नगर के लोग विलाप करने लगे ॥ ३२ ॥

करुण विलाप करने वाली और आंसुओं की धारा वर्षा ने वाली नारियों द्वारा नगर व्याप्त था तथा वहाँ जल रहे कुण्डों के आस-पास लोग किं कर्तव्यविमूढ होकर रो रहे थे ॥ ३३ ॥

अग्निकुण्डों में प्रविष्ट हुए मन्त्रियों के भृत्यों के रोदन द्वारा सारा नगर वैसे ही खूब आंसू बहा रहा था और विलाप कर रहा था जैसे वायुओं से अरण्य दृढ़तर शब्द करता है ॥ ३४ ॥

चिताओं में जले हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणों के मांस से अधिक गन्ध वाली उत्पात की आँधी द्वारा मिट्टी के ढेरों से उठे हुए धूलिकणों से वैसा प्रतीत होता था जैसे उस पर तुषार की वृष्टि हुई हो ॥ ३५ ॥

वायु से दूर-दूर तक फैली चर्बी की गन्ध से दूर से लाये गये पक्षियों और पिशाच आदि के मण्डलों से आच्छन्न सूर्य वाला वह नगर बादलों से जिसमें सूर्य आच्छन्न हो ऐसे आकाश के समान हुआ ॥ ३६ ॥

वायु से उड़ाई गई चिताओं की अग्नि से उस नगर का आकाशमण्डल जल रहा था तथा उड़े हुए अग्निकणों के संघातरूपी तारों से दिशाएँ कर्बुरित हो गई थी ॥ ३७ ॥

प्रमत्ततस्करक्रन्दद्बालद्बालकुमारकम् ।
संत्रस्तनागरापास्तजीवितारव्यमसंस्थिति ॥ ३८ ॥
अलक्षितगृहं चौरलुण्ठिताखिलसंचयम् ।
त्यक्तपुत्रकलत्रं तन्मरणव्यग्रनागरम् ॥ ३९ ॥
तस्मिंस्तथा वर्तमाने कष्टे विधिविपर्यये ।
अशेषजनताशेषकल्पान्तसदृशस्थितौ ॥ ४० ॥
राज्यसज्जनसंपर्कपवित्रीकृतधीरधीः ।
गवलश्चिन्तयामास शोकेनाकुलचेतनः ॥ ४१ ॥
मदर्थं हि कदर्थोऽयं देशेऽस्मिन् स्थितिमागतः ।
अकालकल्पान्तमयः सर्वनायकनाशनः ॥ ४२ ॥
किं मे जीवितदुःखेन मरणं मे महोत्सवः ।
लोकनिन्द्यस्य दुर्जन्तोर्जीवितान्मरणं वरम् ॥ ४३ ॥
इति निश्चित्य गवलो ज्वलिते ज्वलने पुनः ।
पतङ्गवदनुद्वेगमकरोदाहुतिं वपुः ॥ ४४ ॥
तस्मिन् बलाद् गवलनाम्नि हुताशराशौ
देहे पतत्यवयवाकुलतां प्रयाते ।
स्वाङ्गावदाहदहनस्फुरणानुरोधा
दन्तर्जले झटिति बोधमवाप गाधिः ॥ ४५ ॥
इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायंतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
गाधिवृत्तान्ते राज्यभ्रंशो नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

॥ द्वादशो दिवसः ॥

वहाँ पर उन्मत्त चोर, लुटेरों द्वारा आभूषण आदि के हरण के समय बालक और कुमार रो और काँप रहे थे, भयभीत नागरिकों ने अपने जीवन और नाम का त्याग कर दिया था एवं किसी प्रकार की मर्यादा नहीं रह गई थी ॥ ३८ ॥

उस नगर में घर नहीं दिखाई देते थे, चोरों ने सब धनसञ्चय लूट लिया था, लोगों ने अपने पुत्र-कलत्र का त्याग कर दिया था और मरने के लिए सब नगरवासी व्यग्र थे ॥ ३९ ॥

इस प्रकार इस कष्ट कर विधिविपर्यय के, जिससे सारी जनता की पूर्ण प्रलय के समान स्थिति थी, प्रवृत्त होने पर शोक से व्याकुल चित्त वाले गवल ने, राज्य के सज्जनों के संसर्ग से जिस की धीर बुद्धि पवित्र हो गई थी, विचार किया ॥ ४०, ४१ ॥

मेरे ही कारण यह अनर्थ, जो अकालप्रलयमय और सब नेताओं का नाशकारी है, इस देश में उत्पन्न हुआ है ॥ ४२ ॥

मेरे जीवन के क्लेश से क्या प्रयोजन है मेरा मरना ही महोत्सव है। लोकनिन्दनीय दुष्ट जीव का जीवन की अपेक्षा मरण अच्छा है ॥ ४३ ॥

ऐसा विचार कर गवल ने अपने शरीर को पतङ्ग के समान बिना किसी उद्वेग के प्रज्वलित अग्नि में आहुति बना दिया ॥ ४४ ॥

गवल नामक उस देह के निर्वेदवश अग्नि में गिरने और अवयवों से व्याकुल होने पर अपने अङ्गों के दाहवश हिलने-डुलने के कारण जल के अन्दर अघमर्षण कर रहे गाधि ने तुरन्त बोध को प्राप्त किया ॥ ४५ ॥

मुनि महाराज के ऐसा कहने पर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचलावलम्बी हो गये और सभा मुनिजी को नमस्कार कर सायंकाल की विधि के लिए स्नानार्थ चली गई और दूसरे दिन रात्रि बीतने पर सूर्य की किरणों के साथ फिर आ गई ॥ ४६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में गाधिवृत्तान्त में राज्यभ्रंश नामक कुसुमलता का छीयालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४६ ॥

॥ बारहवाँ दिवस ॥

४७

श्रीवसिष्ठ उवाच

मुहूर्तद्वितयेनाऽथ गाधिराधिभवभ्रमात् ।
प्रशशामाऽऽकुलीभावो वेलावर्त इवाऽम्बुधेः ॥ १ ॥
मनोनिर्माणसंमोहात्तस्मात्स विरराम ह ।
कल्पान्तसमये ब्रह्मा जगद्विरचनादिव ॥ २ ॥
बोधमाप शनैः शान्तः स्वमेवोन्निद्रधीरिव ।
क्षीबतायां प्रशान्तायां यथा परिणताशयः ॥ ३ ॥
अयं सोऽहमिदं कार्यमिदं नेति ददर्श ह ।
निशाव्यपगमे लोको यथा क्षीणे तमःपटे ॥ ४ ॥
स्मृतस्वरूपोऽथ पदमुद्दध्रे स जलान्तरात् ।
शिशिरान्ते प्रवृत्तास्यं सरोजमिव माधवः ॥ ५ ॥
एतद्वारिककुब्व्योमवतीं वसुमतीमिमाम् ।
अन्यामिव पुनः पश्यन् विस्मयं परमं ययौ ॥ ६ ॥
कोऽहं किमिव पश्यामि किमकार्षमहं किल ।
एवं विचारयंश्चित्रं सभ्रूभङ्गमभूत् क्षणम् ॥ ७ ॥
श्रान्तस्तत्क्षणमात्रेण संभ्रमं दृष्टवानहम् ।
इति विज्ञाय सलिलादुदस्थादुदयार्कवत् ॥ ८ ॥
चिन्तयामास च तटे क्व सा माता क्व सा प्रिया ।
यदाऽहं मृतिमायातो मध्ये मातृमहेलयोः ॥ ९ ॥
बालस्य मातापितरौ नष्टौ किल ममाऽमतेः ।
वातनीतस्य पत्रस्य वल्लीवृक्षमिवाऽसिना ॥ १० ॥
अविवाहोऽस्मि जानामि न स्वरूपमपि स्त्रियः ।
दुष्टायाः क्षोभकारिण्या मदिराया इव द्विजः ॥ ११ ॥
अतिदूरतरीभूताः स्वदेशस्य स्वबान्धवाः ।
के नाम मम येषां ते मध्ये जीवं त्यजाम्यहम् ॥ १२ ॥
तस्मादेतत्समुद्भूतमहं किं नाम दृष्टवान् ।
विविधारम्भसंरम्भ गन्धर्वनगरं यथा ॥ १३ ॥

४७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर श्रीगाधिजी पूर्वोक्त संसार-भ्रम से वैसे ही शान्त हुए जैसे समुद्र का अति-संक्षुब्ध तटवर्ती आवर्त शान्त होता है ॥ १ ॥

मन की रचनारूप मोह से वे वैसे ही विरत हुए जैसे प्रलय के समय ब्रह्माजी जगत् की रचना से विरत होते हैं ॥ २ ॥

निद्रारहित बुद्धि वाले शान्त गाधि धीरे-धीरे पूर्वोक्त गाध्यहंभाव बोध को वैसे ही प्राप्त किया जैसे मदिरा आदि के मद के शान्त होने पर स्वच्छ चित्त पुरुष 'मैं अमुक हूँ' इस बोध को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

जो स्थान के लिए जल में उतरा था वह गाधि मैं हूँ, यह अवशिष्ट स्नान, तर्पण आदि कृत्य मेरा कार्य है यह पहले देखा गया चाण्डालराज्य आदि मेरा कार्य नहीं है यह उन्होंने वैसे ही देखा जैसे कि रात्रि के बीतने पर अन्धकारावरण के क्षीण होने पर लोग देखते हैं ॥ ४ ॥

गाधि ने, जिन्हें अपने स्वरूप का स्मरण हो चुका था, जल से वैसे ही पैर बाहर किया जैसे शिशिर ऋतु के अन्त में वसन्त कमल को, जिस का मुकुलरूपी मुख उत्पन्न हो चुका हो, जल के अन्दर से बाहर करता है ॥ ५ ॥

पूर्वानुभूत जल दिशा और आकाशवाली इस पृथिवी को फिर अन्य-सी देख रहे वे परम विस्मित हुए ॥ ६ ॥

मैं कौन हूँ, क्या देखता हूँ, मैंने क्या किया इस प्रकार क्षण भर भ्रूभङ्गपूर्वक अन्दर विचार करते हुए वे स्थित रहे ॥ ७ ॥

थके हुए मैंने उस थकावट से ही क्षणभर में महाभ्रम देखा । ऐसा विचार कर वह जल से वैसे ही बाहर निकले जैसे उदयाचल से सूर्य निकलते हैं ॥ ८ ॥

तट पर उन्होंने विचार किया—मेरी वह माता कहाँ है और वह स्त्री कहाँ है ? जब कि मैंने माता और पत्नी के बीच में मृत्यु को प्राप्त किया ॥ ९ ॥

मुझ मन्दभाग्य के माता और पिता, जब मैं बालक ही था तभी, मृत्यु से वैसे नष्ट हो गये थे जैसे वायु से उड़ाये गये पत्ते का माता-पिता-स्थानीय लताप्रधान वृक्ष तलवार से नष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

मैं अविवाहित हूँ, मैं क्षोभकारिणी स्त्री का स्वरूप भी वैसे ही नहीं जानता जैसे ब्राह्मण चित्त में क्षोभ पैदा करने वाली दुष्ट मदिरा के रस को नहीं जानता ॥ ११ ॥

मेरे जन्मभूमि के आत्मीय बन्धुबान्धव मुझ से बहुत दूर हैं, जिनके बीच में मैंने प्राण त्यागे थे, वे न मालूम कौन थे ? ॥ १२ ॥

इसलिए उत्पन्न हुए ये विविध प्रकार के पदार्थ और जन्म आदि का अभिमान गन्धर्वनगर के समान मैंने क्या देखा ? ॥ १३ ॥

तदास्तामेतदेषा हि बन्धुमध्ये मृतस्थितिः ।
मायामोहे मनागस्मिन् न सत्यमुपलभ्यते ॥ १४ ॥
नित्यमेवमनन्तासु भ्रान्तिदृष्टिषु देहिनाम् ।
चेतो भ्रमति शार्दूलो वनराजिष्विवोन्मदः ॥ १५ ॥
अवधार्येति तं चित्ते मोहं गाधिर्निनाय सः ।
दिनानि कतिचित्तस्मिन् स्वक एवाऽऽश्रमे तदा ॥ १६ ॥
एकदा गाधिमगमत्कश्चित्तत्र प्रियोऽतिथिः ।
ब्रह्माणमिव दुर्वासाः स विशश्राम सश्रमः ॥ १७ ॥
परमां तुष्टिमानीतः फलपुष्परसाशनैः ।
सोऽतिथिर्गाधिना तेन वसन्तेनेव पादपः ॥ १८ ॥
मिथो वन्दितसन्ध्यौ तौ कृतजाप्यामुभावपि ।
क्रमाच्छयनमासाद्य तस्थतुर्मृदुपल्लवम् ॥ १९ ॥
ततः प्रावर्तते शान्ता तयोस्तापसयोः कथा ।
स्वव्यापारोचिता पुष्पश्रीरिवर्तुत्वमाशयोः ॥ २० ॥
तं पप्रच्छाऽतिथिं गाधिः प्रसंगपतितं वचः ।

यह बन्धुओं के बीच में मृत स्थिति में रहे इस माया-अनित मोह में यह कुछ भी सत्य दृष्टिगोचर नहीं होता ॥ १४ ॥

यह प्राणियों का चित्त अनन्त भ्रान्तियों में वैसे ही नित्य घूमता है जैसे मदोन्मत्त सिंह वनराजियों में घूमता है ॥ १५ ॥

इस प्रकार गाधि ने चित्त में उस मोह का विचार कर उसी अपने आश्रम में कतिपय दिन बिताये ॥ १६ ॥

वहाँ एक समय गाधि के पास कोई प्रिय अतिथि ब्रह्मा के पास दुर्वासा की तरह आया। श्रान्त हुए उसने वहाँ पर विश्राम लिया ॥ १७ ॥

जैसे वसन्त फल, पुष्प, रस आदि से वृक्ष को परम प्रसन्नता को प्राप्त कराता है वैसे ही गाधि ने फल, पुष्प, रस और भोजन से उस अतिथि को प्रसन्नता को प्राप्त कराया ॥ १८ ॥

एकान्त में दोनों ने सन्ध्यावन्दन और जप किया। दोनों ही क्रम से कोमल पल्लवों के शयनों पर आकर बैठे ॥ १९ ॥

अनन्तर उन दोनों तपस्वियों की अपने तप, ध्यान आदि कर्मों के अनुरूप शान्त रस प्रधान कथा वैसे ही प्रवृत्त हुई जैसे कि भगवान् सूर्य का उत्तर दिशा से सम्बन्ध होने पर वसन्त ऋतु के अनुरूप पुष्पशोभा प्रवृत्त होती है ॥ २० ॥

गाधि ने बात-चीत के प्रसङ्ग में उस अतिथि से पूछा

किं ब्रह्मन् ! सुकृशाङ्गस्त्वं किमिति श्रमवानसि ॥२१॥

अतिथिरुवाच

ममाऽतिकार्श्यश्रमयोर्भगवन् ! शृणु कारणम् ।
कथयामि तथाभूतं वयं नाऽसत्यवादिनः ॥ २२ ॥
अस्त्यस्मिन् वसुधापीठे उत्तराशानिकुञ्जके ।
कीरो नामाऽतिविख्यातः श्रीमाञ्जनपदो महान् ॥ २३ ॥
तत्राऽहमवसं मासं पूज्यमानः पुरे जनैः ।
नानात्मस्वादलोलात्मा चित्तवेतालमोहितः ॥ २४ ॥
एकदैकेन तत्रोक्तं कथाप्रस्तावतः क्वचित् ।
इहाऽभूच्छ्वपचो राजा वर्षाण्यष्टौ द्विजेति मे ॥ २५ ॥
ततो ग्रामेषु तत्पृष्टैः प्रोक्तं सकलजन्तुभिः ।
राजा बभूव श्वपचो वर्षाण्यष्टाविहेति तैः ॥ २६ ॥
सोऽयमन्ते परिज्ञातः प्रविष्टो ज्वलनं जवात् ।
ततो द्विजशतानीह प्रविष्टानि हुताशनम् ॥ २७ ॥
इति तेषां मुखाच्छ्रुत्वा तस्मान्निर्गत्य मण्डलात् ।
प्रयागेऽकरवं शुद्धयै प्रायश्चित्तमहं द्विज ! ॥ २८ ॥

हे ब्रह्मन् ! आप क्यों कृश हैं और क्यों थके हैं ? ॥ २१ ॥

अतिथि ने कहा—हे भगवन् ! मेरी अत्यन्त कृशता और श्रम का कारण सुने।

हम लोग असत्यवादी नहीं हैं। वास्तव बात मैं आप से कहता हूँ ॥ २२ ॥

इस भूतल में उत्तर दिशारूपी निकुञ्ज में कीर नाम से विख्यात समृद्ध और विशाल देश है ॥ २३ ॥

उसमें पुरवासी लोगों से आदृत हो रहा और विविध प्रकार के आत्मा को अच्छे लगने वाले भोज्यों में तृष्णा युक्त और चित्तरूपी वेताल से मोहित मैं एक मास रहा ॥ २४ ॥

वहाँ पर कहीं एक समय एक ने कथा के सिलसिले में मुझसे कहा—हे द्विज ! यहाँ पर आठ वर्ष तक चाण्डाल राजा हुआ ॥ २५ ॥

अनन्तर गाँवों में पूछे गये सब लोगों ने आठ वर्ष तक यहाँ पर चाण्डाल राजा हुआ, यह कहा ॥ २६ ॥

वह अन्त में जाना गया और अग्नि में प्रविष्ट हो गया। उससे सैकड़ों ब्राह्मणों ने यहाँ पर अग्नि में प्रवेश किया ॥ २७ ॥

हे विप्र, उनके मुख से यह सुनकर उस देश से बाहर निकल कर मैंने शुद्धि के लिए प्रयाग में प्रायश्चित्त किया ॥ २८ ॥

कृत्वा चान्द्रायणस्याऽन्ते तृतीयस्याऽद्य पारणम् ।
इहाऽहमागतस्तेन श्रान्तोऽस्म्यतिकृशोऽस्मि च ॥ २९ ॥
वसिष्ठ उवाच
इति श्रुतवता तेन गाधिना स तदा द्विजः ।
भूयः पृष्टोऽप्येतदेव कथयामास नाऽन्यथा ॥ ३० ॥
अथ विस्मयवान् गाधिस्तां नीत्वा तत्र शर्वरीम् ।
जगन्देहमहादीपे रवावुदयमागते ॥ ३१ ॥
कृतप्रातःस्नानविधावापृच्छ्य स्वातिथौ गते ।
इदं संचिन्तयामास विस्मयोद्धुरया धिया ॥ ३२ ॥
यन्मया संभ्रमे दृष्टं सत्यभूतं द्विजेन तत् ।
उक्तं ममेति किं नाम स्यान्मायाशम्बरक्रमः ॥ ३३ ॥
यद्बन्धुमध्ये मरणं मया तद्दृष्टमात्मनः ।
सा मायैव न सन्देहः शेषं पश्यामि तस्य तम् ॥ ३४ ॥
तदात्मश्वपचोदन्तं द्रष्टुं तावदखिन्नधीः ।
भूतमण्डलपर्यन्तग्रामं गच्छामि सत्वरम् ॥ ३५ ॥
इति संचिन्तयन् गन्तुं मण्डलान्तरमादरात् ।

आज तीसरे चान्द्रायण के बाद पारणा कर मैं यहाँ आया हूँ, इसी कारण मैं थका हूँ और अत्यन्त कृश हूँ ॥ २९ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जब गाधि ने यह सुना तब उन्होंने ब्राह्मण से फिर पूछा। उन्होंने यही बात कही इससे विपरीत बात नहीं कही ॥ ३० ॥

इसके बाद आश्चर्य को प्राप्त गाधि ने उस रात्रि को वहाँ पर बिताकर जगद्रूपी घर के महाद्वीप स्वरूप सूर्य के उदित होने पर और प्रातःकाल स्नान विधि कर चुकने पर पूछकर अपने अतिथि के चले जाने पर विस्मय से भरी हुई बुद्धि से यह विचार किया ॥ ३१, ३२ ॥

जो बात मैंने भ्रान्तिदशा में देखी वह मेरे अतिथि ने सत्य ही कही। मेरा इस प्रकार का रूप शाम्बरी माया है क्या ? ॥ ३३ ॥

मैंने बन्धुओं के बीच में अपना वह मरण देखा वह तो निःसन्देह माया ही है उसमें सत्यत्व देखा नहीं जा सकता, किन्तु अवशिष्ट जो अतिथि से चान्द्रायण में निमित्तभूत अपना चाण्डाल वृत्तान्त है, उसे मैं देखूँगा ॥ ३४ ॥

मैं अपने उस चाण्डाल वृत्तान्त को देखने से लिए खेदरहित होकर भूतमण्डल देश की सीमा में स्थित ग्राम में शीघ्र जाता हूँ ॥ ३५ ॥

ऐसा विचारशील गाधि मण्डलान्तर को जाने के लिए उद्यत होकर वैसे ही उठे जैसे सूर्य मेरु के पार्श्व भाग को देखने के लिए उद्यत होकर उदित होते हैं ॥ ३६ ॥

उत्तस्थौ भास्करः पार्श्वं मेरोर्द्रष्टुमिवोद्यतः ॥ ३६ ॥
मनोराज्यमपि प्राज्ञा लभन्ते व्यवसायिनः ।
गाधिना स्वप्नसंदृष्टं गत्वा लब्धमखण्डितम् ॥ ३७ ॥
सर्वमध्यवसायेन दुष्प्रापमपि लभ्यते ।
पश्यन् गाधिर्जगन्मायां प्रमेयीकर्तुमुद्यतः ॥ ३८ ॥
विनिर्गत्याऽभवन्मार्गे प्रावृडोघजवेन सः ।
देशानुल्लङ्घयामास बहून् वाततुरङ्गवत् ॥ ३९ ॥
तच्चेदृशनिजाचारं भूतमण्डलमागतः ।
करभः कण्टकार्थ्येकः कारञ्जमिव काननम् ॥ ४० ॥
तत्र संवित्स्थितेनैव सन्निवेशेन वै पुनः ।
अपश्यद् ग्रामकं केचिद् गन्धर्व इव पत्तनम् ॥ ४१ ॥
ददर्श तस्य पर्यन्ते तमेव श्वपचालयम् ।
अधस्ताद्भुवनस्येव पाताले नरकव्रजम् ॥ ४२ ॥
चित्तचिन्तितविस्तारं तन्निवेशमयं परम् ।
गन्धर्ववदसावात्मश्वपचत्वं च दृष्टवान् ॥ ४३ ॥

उद्योगी बुद्धिमान् पुरुष मनोराज्य को भी पा जाते हैं। गाधि ने जाकर स्वप्न में देखा हुआ ज्यों का त्यों पाया ॥ ३७ ॥

उद्योग से दुष्प्राप्य भी सब कुछ प्राप्त होता है। देखिये न, जगन्माया को स्वप्न में देख रहे गाधि उसे नेत्रगोचर करने को तत्पर हुए ॥ ३८ ॥

गाधि घर से निकल कर मार्ग में वर्षा ऋतु के जल-प्रवाह के वेग से त्वरायुक्त हुए उन्होंने वायु ही जिसका वाहन है अर्थात् मेघ के समान बहुत से देशों को लाँघ डाला ॥ ३९ ॥

गाधि एकाकी ही पूर्वोक्त प्रकार के आचार-विचार वाले उक्त भूत-मण्डल नामक देश में वैसे ही पहले गये जैसे काँटों को चाहने वाला अकेला ऊँट बबूर के वन में जाता है ॥ ४० ॥

फिर वहाँ पर स्मृतिपथ में आरूढ हो रहे आकार-प्रकार से गन्धर्वनगर के समान किसी एक गाँव को देखा ॥ ४१ ॥

उस गाँव के छोर पर गाधि ने भुवन के नीचे पाताल में नरक-मण्डल के समान उसी चाण्डाल-गृह को देखा ॥ ४२ ॥

गन्धर्व के समान गाधि ने जिसमें जन्म आदि के विस्तार का चित्त में विचार किया था और जो गृह आदि में प्रचुर आसक्तिवाला था इस तरह का अपना चाण्डालत्व को भी चिह्नों से देखा ॥ ४३ ॥

तेनैव सन्निवेशेन प्राग्दृष्टं श्वपचास्पदम् ।
तस्य कामपि वैराग्यपदवीमनयन्मनः ॥ ४४ ॥

प्रावृडासारलुठितं भित्तिजातयवाङ्कुरम् ।
पर्यस्तच्छादनार्धाङ्कं किंचिदादृष्टतल्पकम् ॥ ४५ ॥

दारिद्र्यं तद्दृढमिव दौर्भाग्यमिव कुडचमत् ।
भ्रष्टाङ्गमिव दौरात्म्यं दौःस्थित्यमिव खण्डितम् ॥४६॥

गाधिर्दन्तावदलितैर्गवाश्वमहिषास्थिभिः ।
धवलैर्व्याप्तपर्यन्तं साक्ष्यं कर्तुमिव स्थितैः ॥ ४७ ॥

भुक्तं पीतं पुरा तेन येषु खर्परकेषु वै ।
तैरस्पन्दाभ्रसलिलैः पानपूर्णैरिवाऽऽवृतम् ॥ ४८ ॥

ताभिरेवाऽन्त्रतन्त्रीभिः संशुष्काभिर्लतावृतैः ।
तृष्णाभिरिव दीर्घाभिः परितः परिवेष्टितम् ॥ ४९ ॥

चिरमालोकयामास स तदात्मगृहं जवात् ।
प्राक्तनं शुष्कशवतां यातं देहमिवाऽऽत्मवान् ॥ ५० ॥

पहले देखे गये चाण्डाल-गृह ने अपने उसी आकार-प्रकार से गाधि के मन को अपूर्व वैराग्य में पहुँचा दिया ॥ ४४ ॥

वह चाण्डालगृह वर्षा ऋतु की मूसलाधार वृष्टि से छिन्न-भिन्न हो गया था, उसकी दीवारों पर जो अङ्कुर जमे थे, उसका आधा छप्पर अस्त-व्यस्त हो गया था एवं उसमें कुछ-कुछ शयन के भग्नावशेष दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ४५ ॥

वह दारिद्रय के समान कठोर था, दौर्भाग्य के समान भित्तिमात्रावशिष्ट गृहाकार था, चौर्य आदि दौरात्म्य के समान उसके अवयव शिथिल हो गये थे और दुर्दशा के समान उसका एक भाग खण्डित हो गया था ॥ ४६ ॥

गाधि ने दाँतों से चबाई हुई गाय, घोड़े, भैंस आदि की सफेद हड्डियों से, जो मानो गवाही देने के लिए वहाँ पर पड़ी थी ॥ ४७ ॥

चारों ओर व्याप्त, जिनमें उसने पहले भोजन और पान किया था, वर्षा के निश्चल जल से भरे हुए अतएव ऐसा मालूम पड़ता था आशव आदि से भरे हैं ऐसे खप्परों से आवृत है ॥ ४८ ॥

तृष्णाओं के समान लम्बी-लम्बी सूखी हुई उन्हीं आतों से लता के समान स्तम्भ आदि के वेष्टनों द्वारा परिवेष्टित है ॥ ४९ ॥

उस प्राक्तन अपने घर को शुष्क शवप्राय हुए प्राक्तन देह के समान बड़ी त्वरा से चिरकाल तक देखा ॥५०॥

अतिविस्मयमातस्थौ ग्रामकं समुपाययौ ।
उल्लङ्घ्य म्लेच्छनगरमार्यदेशमिवाऽध्वगः ॥ ५१ ॥

तत्राऽपृच्छज्जनं साधो ! कच्चित्स्मरति भो भवान् ।
प्राग्वृत्तमस्य ग्रामस्य पर्यन्ते श्वपचक्रमम् ॥ ५२ ॥

सर्व एव हि धीमन्तश्चिरवृत्तमपि स्फुटम् ।
करस्थमिव पश्यन्ति मयेति सुजनाच्छ्रुतम् ॥ ५३ ॥

अत्र श्वपचमेकान्ते वासिनं वृद्धमुत्तमम् ।
स्मरस्येनं किमुत भो दुःखानामिव देहकम् ॥ ५४ ॥

यदि जानासि भोः साधो ! तन्मे कथय तत्त्वतः ।
पान्थ ! संशयविच्छेदे महत्पुण्यफलं स्मृतम् ॥ ५५ ॥

भूयो भूय इति ग्राम्याः पृष्टा गाधिद्विजन्मना ।
अनल्पस्मयसंरम्भमार्तेनेव चिकित्सकाः ॥ ५६ ॥

ग्राम्या ऊचुः

यथा कथयसि ब्रह्मंस्तत्तथा न तदन्यथा ।
कटंजनामा श्वपच इहाऽभूद् दारुणाकृतिः ॥ ५७ ॥

गाधि को बड़ा आश्चर्य हुआ उसके समीपवर्ती कुग्राम में वैसे ही गये जैसे पथिक म्लेच्छनगर को लाँघकर आर्यों के देश में जाता है ॥ ५१ ॥

वहाँ पर उन्होंने लोगों से पूछा—हे सज्जन, क्या आपको इस गाँव के छोर पर पहले हुए चाण्डालवृत्तान्त का स्मरण है ॥ ५२ ॥

सभी धीमान् पुरुष चिरकाल की घटनाओं को भी हवेली में रक्खे हुए आँवले के समान स्पष्ट रूप से देखते हैं, ऐसा मैंने सज्जन के मुँह से सुना है ॥ ५३ ॥

हे सज्जन, यहाँ पर एकान्त में निवास करने वाले अतिवृद्ध चाण्डाल का जो दुःखों की मूर्ति के समान था, क्या आपको स्मरण है ॥ ५४ ॥

हे साधो, यदि आप उसको जानते हैं, तो यथार्थ रूप से मुझ से कहिये । हे पथिक, सन्देह को निवृत्त करने में बड़ा पुण्य कहा गया है ॥ ५५ ॥

गाधि नाम के ब्राह्मण ने ग्रामीण लोगों से अत्यन्त आश्चर्य और प्रश्नोद्योग के साथ चिकित्सक से पूछता है ॥ ५६ ॥

ग्रामीणों ने कहा—हे ब्रह्मन् ! जैसा आप कहते हैं वह ठीक वैसा ही है, उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं है । यहाँ पर क्रूर आकृति वाला कटंज नाम का चाण्डाल उत्पन्न हुआ था ॥ ५७ ॥

पुत्रपौत्रसुहृद्भृत्यबन्धुस्वजनपेटकम् ।
यस्याऽतिविस्तीर्णमभूत् पत्रवृन्दं तरोरिव ॥ ५८ ॥
यस्य वृद्धस्य तत्सर्वं कलत्रं मृत्युराच्छिनत् ।
अद्रेः पुष्पफलोपेतं दावो वनमिवाऽनलः ॥ ५९ ॥
यस्ततो देशमुत्सृज्य ययौ कीरपुरान्तरम् ।
वर्षाण्यष्टावनुद्वेगं तत्र राजा बभूव सः ॥ ६० ॥
यस्तत्राऽर्थं परिज्ञाय जनैर्दूरे निराकृतः ।
यथा राशिरनर्थस्य यथा ग्रामे विषद्रुमः ॥ ६१ ॥
ततो जनेऽग्निं प्रविशत्यात्मना यो हुताशनम् ।
आर्यतामार्यसंसर्गादागतः प्रविवेश ह ॥ ६२ ॥
किं त्वमेव प्रयत्नेन श्वपचं पृच्छसि प्रभो ! ।
किं ते बन्धुरसौ कच्चिदभवस्त्वं स्वतोऽथवा ॥ ६३ ॥
एवं कथयतो ग्राम्यान् गाधिः पृच्छन् पुनः पुनः ।
सर्वेषु तत्र प्रान्तेषु मासमेकमुवास सः ॥ ६४ ॥
यथा तेनाऽनुभूतं तच्छ्वापचं तत् तथैव तैः ।
ग्रामीणैस्तस्य कथितं सर्वैरेवाऽवखण्डितम् ॥ ६५ ॥
अव्याहतं सकलभूतमुखादथत-
दाकर्ण्य सम्यगवलोक्य यथाऽनुभूतम् ।
गाधिः शशाङ्कमलवद्धृदयेऽधिरूढं
गूढाकृतिः परमविस्मयमाजगाम ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते प्रत्यक्षावलोकनं नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

जिसका वृक्ष के पत्र समूह के समान पुत्र, पौत्र, सुहृत, भृत्य और बन्धुबान्धवों का संघ अति विस्तृत हुआ ॥ ५८ ॥

काल ने उस वृद्ध के सारे कुटुम्ब को वैसे ही नष्ट कर दिया जैसे वनाग्नि पर्वत के पुष्प फल से पूर्ण वन को नष्ट कर देती है ॥ ५९ ॥

अनन्तर जो देश का त्याग कर कीरपुर में गया, वहाँ पर वह विना किसी उद्वेग के आठ वर्ष तक राजा हुआ ॥ ६० ॥

यहाँ यथार्थ वृत्त जानकर लोगों ने जैसे लोग अनर्थ की राशि को दूर कर देते हैं और जैसे ग्राम में विषवृक्ष दूर कर देते हैं उसे वैसे ही दूर कर दिया ॥ ६१ ॥

अनन्तर लोगों के अग्नि में प्रवेश करने पर आर्यों के संसर्ग से आर्यता को प्राप्त वह स्वयं अग्नि में प्रविष्ट हुआ ॥ ६२ ॥

हे प्रभो ! आप इतने प्रयास से चाण्डाल को क्यों पूछते हैं, क्या वह आपका बन्धु था या आप स्वयं उसके बन्धु हो गये ? ॥ ६३ ॥

इस प्रकार कहते हुए ग्रामीणों से पुनः-पुनः पूछ रहे गाधि वहाँ पर सब प्रान्तों में पूरा एक महीना रहे ॥६४॥

जिस प्रकार गाधि ने चाडालत्व का अनुभव किया था उसी प्रकार सभी ग्रामीणों से ज्यों-का-त्यों सारा वृत्तान्त कहा ॥ ६५ ॥

सब प्राणियों के मुँह से यथार्थ वचन सुनकर स्वयं भी अबाधित प्रत्यभिज्ञा से जैसा अनुभूत हुआ था वैसा देख कर लज्जा से गूढ़ आकृति वाले गाधि ने चन्द्रमा के कलङ्क के समान अपने हृदय में उत्पन्न परम विस्मय को प्राप्त किया ॥६६॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में गाधिवृत्तान्त में प्रत्यक्षावलोकन नामक कुसुमलता का सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४७ ॥

४८

वसिष्ठ उवाच
लुठितं श्वपाचागारे पुनर्विस्मयमाययौ ।
गाधेर्मनो हि नाऽऽयाति तृप्तिमाश्चर्यदर्शने ॥ १ ॥
तत्राऽवलोकयामास स्थानानि सदनानि च ।
कल्पक्षोभविवृत्तानि जगन्तीवाऽम्बुजोद्भवः ॥ २ ॥

४८

वसिष्ठजी ने कहा—चाण्डालों के घर में चिरकाल से आसक्त गाधि का मन फिर आश्चर्य में पड़ गया, क्योंकि अद्भुत दृश्य को देखने से गाधि का मन तृप्त नहीं हुआ ॥ १ ॥

वहाँ गाधि ने प्रलय काल के उपद्रव से नष्ट हुए त्रिलोक को जिस प्रकार ब्रह्मा देखते हैं उसी प्रकार बहुत से स्थानों और घरों को देखा ॥ २ ॥

उवाच स्वात्मनैवेदमरण्ये लुठितालये ।
शुष्कास्थिमालावलिते पिशाचक इव द्रुमे ॥ ३ ॥
इमास्ता मृतमातङ्गदन्तमाला वृतौ कृताः ।
अद्याऽपि संस्थिताः कल्पं प्रति मेरुशिखा इव ॥ ४ ॥
इह तद्वानरीमांसं पक्ववंशाङ्कुरैः सह ।
भुक्तं पुराऽऽसवोन्मत्तैः सह श्वपचबन्धुभिः ॥ ५ ॥
आलिङ्ग्य श्वपचश्यामामिह केसरिचर्मणि ।
सुप्तमापीय मैरेयं तिक्तं गजमदेन च ॥ ६ ॥
कौलेयककुटुम्बिन्यः पिण्याकपलवर्द्धिताः ।
इह बद्धा वरत्राभिर्मृतेभरदकाष्ठके ॥ ७ ॥
इह वारणमुक्तानां ददासीत्पिठरत्रयम् ।
पिनद्धं माहिषेणोग्रचर्मणाऽम्बुदशोभिना ॥ ८ ॥
स्थलीष्वेतासु तास्वत्र सह श्वपचबालकैः ।
चिरं विलुठितं चूतपत्रपुञ्जे पिकैरिव ॥ ९ ॥
अत्र तद्वालनिःश्वासरणद्वंशप्रवृत्तवत् ।

जैसे पिशाच सूखी हड्डियों की मालाओं से परिवेष्टित श्मशान के वृक्ष पर अपने आप कहता है, वैसे ही जंगल में खण्डहर में उसने अपने मन में कहा ॥ ३ ॥

परिखा में खाई में गाड़ी हुई ये मरे हुए हाथियों के दातों की मालाएँ आज भी प्रलय काल को लक्ष्य करके मेरु की चोटियों के समान स्थित हैं ॥ ४ ॥

यहाँ पर पहिले मैंने मद्य पीकर उन्मत्त अपने चाण्डाल भाइयों के साथ बन्दरियों का माँस पके हुए बाँस के अंकुरों के साथ खाया था ॥ ५ ॥

हाथियों के मद से तीखा मद्य पीकर मैं चाण्डाल तरुणी का सिंह-चर्म पर आलिङ्गन कर यहाँ पर सोया था ॥६॥

यहाँ पर मैंने माँस और खल से पुष्ट कुतियाँ मृत हाथियों के दाँत रूपी खूँटों पर रस्सियों से बाँधीं थीं ॥७॥

यहाँ पर हाथियों के मोतियों की तीन थालियों के परिमाण वाला हाथियों के दाँतों का काले मेघ की शोभा को धारण किये हुए भैंस के चर्म से ढका हुआ पात्र था ॥ ८ ॥

ये वे भूमिस्थल हैं जहाँ पर आम के पत्तों पर कोकिलों के समान चाण्डाल-बालकों के साथ चिरकाल तक मैंने धूलि-क्रीड़ा की थी ॥ ९ ॥

यहाँ पर उन बालकों के साँस से बजते हुए बंश के ताल स्वर के समान गान किया था, कुत्ती का रुधिर पीया था और और मुर्दे को सजाने बाली वस्तुओं से सब की सजावट की थी ॥ १० ॥

गीतं पीतं शुनीरक्तं साधिता शवभूषितः ॥ १० ॥
अत्र सार्द्धं कुटुम्बेन जन्यत्रेषु कुटुम्बिना ।
नृत्तं तत्कृतमुन्नादं कल्लोलैर्जलधाविव ॥ ११ ॥
अत्रोड्डयनलोलानां काकभासपतत्त्रिणाम् ।
धृतानामन्यदाशार्थं ग्रथितं वंशपञ्जरम् ॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवंप्रायाः स्मरन् गाधिः प्राक्तनीः श्वपचक्रियाः ।
विस्मयोत्कम्पितशिरा धातुश्चेष्टां परामृशत् ॥ १३ ॥
चचाल तस्माद्दीर्घेण देशात्कालेन कार्यवित् ।
भूतमण्डलमुत्सृज्य प्राप देशान्तरं क्रमात् ॥ १४ ॥
समुल्लङ्घ्य नदीशैलमण्डलारण्यसन्ततिम् ।
आससाद तुषाराद्रिरत्नं किल जनास्पदम् ॥ १५ ॥
तत्र प्राप महीपालनगरं नगसंनिभम् ।
जगद्भ्रमणखिन्नात्मा स्वर्लोकमिव नारदः ॥ १६ ॥
अथाऽऽत्मनाऽनुभूतानि दृष्टान्यासेवितानि च ।
स्थानानि नगरे पश्यन् पप्रच्छ जनमादृतः ॥ १७ ॥

यहाँ पर विवाहों में अपने सब कुटुम्ब वाले मैंने उत्कृष्ट ध्वनि वाला वैसे ही नृत्य किया था जैसे सागर में कल्लोल ध्वनिपूर्वक नृत्य करते हैं ॥ ११ ॥

यहाँ पर दूसरे दिन के भोजन के लिये पकड़े हुए काक, भास आदि उड़ने के कारण चञ्चल पक्षियों का बांस का पिंजड़ा बनाया था ॥ १२ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस तरह की पहिले हुई चाण्डालों की क्रियाओं का स्मरण कर गाधि जिनका सर आश्चर्य से काँप रहा था, विधाता की विचित्र लीलाओं का विचार करने लगे ॥ १३ ॥

कर्तव्य को जानने वाले गाधि उस देश से बहुत काल के बाद चले एवं क्रम से भूतमण्डाल नामक देश को छोड़ कर दूसरे देश में पहुँचे ॥ १४ ॥

अनन्तर बहुस-सी नदियों, पर्वतों, देशों तथा जंगलों का उल्लँघन करके हिमालय पर्वतों के मध्य में रत्न के समान श्रेष्ठ पूर्वदृष्टि कीर देश में पहुँचे ॥ १५ ॥

वहाँ पर गाधि रत्नों से समृद्ध पर्वत के समान ऊँचे महलों वाले राजनगर में वैसे ही पहुँचे ॥ १६ ॥

उसके बाद अपने उपभोग में आये हुए अपने महल, देखे हुए दूसरों के मकान और पूर्व में आपने आनन्द के साधनीभूत बगीचों को और नगर के बहुत से स्थानों को देखते हुए गाधि नागरिक लोगों से पूछने लगे ॥ १७ ॥

साधो ! स्मरसि किंचित्त्वमिह श्वपचमीश्वरम् ।
यदि जानासि तत्त्वं मे वर्णयाऽऽशु यथाविधि ॥ १८ ॥
नागरा उचुः
अभूदिहाऽष्टौ वर्षाणि श्वपचो भूमिपो द्विज ! ।
राजत्वमर्पितं यस्य नाम मङ्गलहस्तिना ॥ १९ ॥
अन्ते च संपरिज्ञातः स प्रविष्टो हुताशनम् ।
अद्य द्वादशवर्षाणि समतीतानि तापस ! ॥ २० ॥
यं यं पृच्छत्यसौ गाधिर्जनं जातकुतूहलः ।
तस्य तस्य मुखादेव शृणोत्यास्वादयत्यपि ॥ २१ ॥
अथाऽपश्यत्पुरे तस्मिन्नृपं सबलवाहनम् ।
देवं चक्रधरं विष्णुं मन्दिरान्निर्गतं बहिः ॥ २२ ॥
स दृष्ट्वा स्थगिताकाशं चलरेणुपयोधरैः ।
प्राक्तनीं राजतां स्मृत्वा समुवाचाऽतिविस्मयः ॥ २३ ॥
इमास्ताः कीरकामिन्यः पद्मगर्भोपमत्वचः ।
कनकद्रववर्णिन्यो लोलनीलोत्पलेक्षणाः ॥ २४ ॥
चामरौघा इमे चन्द्रकरसंपिण्डपाण्डुराः ।

हे सज्जनो, क्या आप लोगों को स्मरण है कि यहाँ का राजा चाण्डाल था, यदि आप जानते हैं, तो इस विषय का विविधपूर्वक शीघ्र वर्णन कीजिये ॥ १८ ॥

नागरिक लोगों ने कहा—हे द्विज ! यहाँ आठ वर्ष तक चाण्डाल राजा हुआ, जिसको मंगल हस्तीने राजा बनाया था ॥ १९ ॥

अन्त में स्वरूप ज्ञात होने पर वह अग्नि में जल गया। हे तपस्विन्, आज इस बात को हुए बारह वर्ष बीत गये हैं ॥ २० ॥

इस प्रकार कुतूहल से भरे हुए गाधि जिस-जिस मनुष्य को देखते थे उस-उस मनुष्य से पूछते थे और उसी के मुख से सुनते थे और आस्वादन करते थे ॥२१॥

इसके बाद गाधि ने उस नगर में सेना अश्वादि के सहित राजमहल से बाहर निकले हुए राजा के रूप में चक्रधर भगवान् विष्णु को देखा ॥ २२ ॥

उड़ती हुई धूलि रूपी मेघों द्वारा आकाश को आच्छादित करती हुई सेना को देखकर अपनी पूर्व राज्यावस्था का स्मरण कर अत्यन्त विस्मित हुए गाधि ने कहा ॥ २३ ॥

ये वे ही कीर देश के नृप की कामिनियाँ हैं, जिनकी त्वचाएँ कमल के मध्य भाग की तरह कोमल हैं और जिनका रंग पिघले हुए सुवर्ण की भाँति सुन्दर हैं और जिनके नेत्र चञ्चल नील कमल के सदृश हैं ॥ २४ ॥

ये चन्द्रमा की किरणों की राशि के समान श्वेत,

स्थिरनिर्झरसंकाशाः काशपुष्पचया इव ॥ २५ ॥
कान्ताभिरवधूयन्ते बालव्यजनराजयः ।
इमास्ता वनबल्लीभिर्दीप्यमाना इवर्द्धयः ॥ २६ ॥
इमास्ता मत्तमातङ्गघटा घटितदिक्तटाः ।
संकल्पपादपा मेरोरिव भृङ्गपरम्पराः ॥ २७ ॥
एते ते यमवारीशकुबेरप्रतिमौजसः ।
सामन्ता वासवस्येव लोकपाला महीभृतः ॥ २८ ॥
इमास्ताः सर्ववस्त्वोघाः सर्वाभिमतदास्तताः ।
कल्पवृक्षलताकुञ्जसुन्दर्यो गृहपङ्क्तयः ॥ २९ ॥
इदं तत् कीरजनताराज्यं प्राग्भुक्तमद्य मे ।
आत्मजन्मान्तराचार इव प्रत्यक्षतां गतम् ॥ ३० ॥
सत्यं स्वप्न इवाऽयं मे जाग्रद्भूतः पुनः स्थितः ।
न जाने किंकृतोत्थाना मायेयं प्रविजृम्भते ॥ ३१ ॥
अहो नु खलु दीर्घेण मनोमोहेन वल्गता ।
वैवश्यमुपनीतोऽहं जालेनेव शकुन्तकः ॥ ३२ ॥

निश्चल निर्झर के समान तथा काशों के फूलों की राशि समान चबँरों का समूह सामने है ॥ २५ ॥

मनोहर ललनाएँ इन चँवरों को डुला रही हैं, जैसे वन की लताएँ खिले हुए पुष्पों की समृद्धि को कँपाती हों ॥ २६ ॥

कल्पवृक्ष से युक्त मेरुपर्वत की शिखर परम्परा के समान ये सब दिशाओं के भागों में उन्मत्त हाथियों के जमघट हैं ॥ २७ ॥

ये इन्द्र के यम आदि लोकपालों के समान राजा के यम, वरुण, कुबेर के समान तेजस्वी अधीन देशों के राजा लोग हैं ॥ २८ ॥

ये कल्पवृक्ष की लताओं के कुञ्जों की तरह सुन्दर, सब अभीष्ट वस्तुओं को देनेवाली एवं हर एक वस्तुओं से भरी हुईं घरों की पङ्क्तियाँ विस्तृत हैं ॥ २९ ॥

मेरे द्वारा पहले उपयुक्त यह वही कीरजनता का राज्य है, और जिसका आज अपने पूर्वजन्म के चरित्र की भाँति मुझे प्रत्यक्ष हुआ है ॥ ३० ॥

यह बिलकुल सत्य है कि यह समाचार पहले स्वप्न की तरह देखा गया फिर जाग्रद्भूत होकर सामने खड़ा है, न मालूम किससे, क्यों और किस लिये इस माया का बार बार आविर्भाव होता है ॥ ३१ ॥

अहो कष्ट की बात है। मैं फैल रहे मन के दीर्घ मोह से वैसे ही विवश हो गया हूँ जैसे विस्तार को प्राप्त हो रहे जाल से पक्षी विवश हो जाता है ॥ ३२ ॥

हा धिक्कष्टमबुद्धं मे मनो वासनया हृतम् ।
पश्यति भ्रमजालानि विततानि शिशोरिव ॥ ३३ ॥
एषा हि माया महती तेन मे चक्रधारिणा ।
दर्शितेत्यधुना साधु मया स्मृतमखण्डितम् ॥ ३४ ॥
तदिदानीं तथा यत्नं करिष्ये गिरिकन्दरे ।
यथा कुसंभ्रमस्याऽस्य जाने जन्म तथा स्थितिम् ॥३५॥
इति संचिन्त्य नगराद् गाधिस्तस्माज्जगाम ह ।
कन्दरं प्राप्य शैलस्य तस्थौ विश्रान्तसिंहवत् ॥ ३६ ॥
तत्र संवत्सरं सार्द्धं पयश्चुलुकभोजनम् ।
तपश्चक्रे महातेजास्तुष्टये शार्ङ्गधन्वनः ॥ ३७ ॥
अथाऽस्य पुण्डरीकाक्षः पयोमूर्तिरुपाययौ ।
प्रसादमुत्पलश्यामः शरदीव महाह्लदः ॥ ३८ ॥
तमाजगाम शैलेन्द्रकन्दरं द्विजमन्दिरम् ।
पयोधरवदच्छाच्छच्छविर्व्योम्न्यथाऽवसत् ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

गाधे ! कच्चित्त्वया दृष्टा माया मम गरीयसी ।

अहो ! बड़े खेद की बात है, अप्रबुद्ध और वासना से नष्ट मेरा मन, नन्हें से बालक के मन के समान विस्तृत विविध भ्रमों को देखता है ॥ ३३ ॥

यह बड़ी माया पहले तपस्या से प्रसन्न विष्णु भगवान् ने भली-भाँति मुझे दिखाई है। अब मुझे अच्छी तरह सारे वृतान्त का स्मरण हो गया है ॥ ३४ ॥

अब पर्वत की गुफा में जाकर ऐसा यत्न करूँगा, जिससे इस मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति के निमित्त का और इसकी स्थिति के निमित्त का मुझे ज्ञान हो जाय ॥ ३५ ॥

ऐसा सोचकर गाधि उस नगर से चले गये और पर्वत की गुफा में जाकर थके हुए सिंह की तरह बैठ गये ॥ ३६ ॥

वहाँ उस बड़े भारी तेजस्वी गाधि ने डेढ़ वर्षतक चुल्लूभर पानी पीकर विष्णु भगवान् को प्रसन्न करने के लिए जटिल तपस्या की थी ॥ ३७ ॥

इसके बाद जल की तरह स्वच्छ मूर्तिवाले, कमल नेत्र एवं नील कमल की तरह श्यामवर्ण वाले विष्णु भगवान् शरत् काल में जलस्वरूप एवं नील कमलों से श्यामवर्ण वाले बड़े भारी सरोवर की तरह गाधि पर प्रसन्न हुये ॥ ३८ ॥

गाधि के निवासभूत पर्वतराज की उस गुफा में भगवान् उनके पास आये और आकाश में मेघ के समान विशुद्ध श्यामकान्ति वाले भगवान् वहाँ खड़े हो

दृष्टं त्वया जगज्जालचेष्टितं दैष्टिकात्मकम् ॥ ४० ॥
चित्ताभिगत एतस्मिन् प्राप्ते सम्यगनिन्दितः ।
तपो गिरितटे कुर्वन् किमन्यदभिवाञ्छसि ॥ ४१ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवं वदन्तमालोक्य हरिं गाधिर्द्विजोत्तमः ।
अर्चां कुसुमपूरेण पादयोः पर्यपूरयत् ॥ ४२ ॥
दत्त्वाऽर्घ्यं कीर्णकुसुमः प्राणम्याऽऽशु प्रदक्षिणैः ।
विष्णुमाह द्विजो वाक्यमम्भोदमिव चातकः ॥ ४३ ॥

गाधिरुवाच

देव ! यैषा त्वया माया दर्शिताऽतितमोमयी ।
महीं प्रातरिवाऽऽदित्यस्तां मे प्रकटतां नय ॥ ४४ ॥
भ्रमं यं पश्यति मनो वासनामलमालितम् ।
स्वप्नवत् स कथं देव ! जाग्रत्यपि हि दृश्यते ॥ ४५ ॥
मुहूर्तमुपलब्धश्च जलान्तः स्वप्नविभ्रमः ।
कथं प्रत्यक्षतां प्राप्तो ममाऽमलपदास्पद ! ॥ ४६ ॥

गये ॥ ३९ ॥

श्रीविष्णु भगवान् ने कहा—हे गाधे ! क्या तुमने मेरी गुरुतर माया को देखा और संसाररूपी भाग्याधीन जाल के कार्य को भी, देखा ? ॥ ४० ॥

हे गाधि ! मनोऽभिलषित इस मायादर्शन के प्राप्त होने पर पर्वत भूमि में तपस्या करके निष्कलङ्क तुम और क्या चाहते हो ? ॥ ४१ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार कह रहे विष्णु भगवान् को दर्शन कर द्विजों में श्रेष्ठ गाधि ने पुष्पों की राशि से भगवान् के चरणों की पूजा की ॥ ४२ ॥

पुष्पों को बिखेर कर गाधि ने अर्घ्य देकर और प्रदक्षिणा के साथ शीघ्र प्रणाम कर श्रीविष्णु भगवान् से वैसे ही यह वाक्य कहा जैसे चातक मेघ से कहता है ॥ ४३ ॥

गाधि ने कहा—यह जो आपने अत्यन्त अन्धकारमय माया दिखाई है, उसको आप जिस प्रकार सूर्य प्रातःकाल में पृथ्वी को प्रकट करते हैं उसी प्रकार प्रकट कीजिये ॥४४॥

हे देव ! वासनारूपी मल से मलिन मन जिस भ्रम को स्वप्न की तरह देखता है, वह जाग्रदवस्था में भी क्यों दिखाई देता है ? ॥ ४५ ॥

हे अविद्यादि मल से रहित प्रतिष्ठा वाले मुझे जल के अन्दर क्षणभर के लिए स्वप्न की तरह उपलब्ध यह भ्रम अधिक काल तक दृष्टिगोचर क्यों हुआ ? ॥ ४६ ॥

दैर्घ्यादैर्घ्येऽस्य कालस्य शरीरस्य भवाभवाः ।
कथमन्तस्थिता न स्युर्मदीयैः श्वपचभ्रमैः ॥ ४७ ॥

श्रीभगवानुवाच

गाधे ! स्वाधिविधूतस्य स्वरूपस्यैतदात्मकम् ।
चेतसोऽदृष्टतत्त्वस्य यत्पश्यत्युरुविभ्रमम् ॥ ४८ ॥

बहिर्न किंचिदप्यस्ति खाद्रचब्ध्युर्वीदिगादिकम् ।
एतत् स्वचित्त एवाऽस्ति पत्रपुञ्जमिवाऽङ्कुरे ॥ ४९ ॥

फलादि स्फारतोमेति यथैव बहिरङ्कुरात् ।
बहिः प्रकटतां याति तथा पृथ्व्यादि चेतसः ॥ ५० ॥

सत्यं पृथ्व्यादि चित्तस्थं न बहिष्ठं कदाचन ।
अङ्कुरस्थः पल्लवस्तु तस्माद् यस्मात् फलश्रियः ॥५१॥

रूपालोकमनस्कारतत्ताकालक्रियात्मकम् ।
कुम्भकारो घटमिव चेतो हन्ति करोति च ॥ ५२ ॥

आबालमेतत् पुरुषैः सर्वैरेवाऽनुभूयते ।

मेरे चाण्डालविषयक मिथ्या ज्ञान से कल्पित समय की दीर्घता एवं अल्पता तथा चाण्डालशरीर का जन्म और नाश मन में ही क्यों न स्थित रहे वे बाहर कैसे स्थित हैं ? ॥ ४७ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे गाधे ! जिस संसाररूपी भ्रम को तुम देखते हो यह सब जिसको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, वासनारूपी व्याधि से जो ग्रस्त है उस मनोभाव को प्राप्त आत्मा का स्वरूप है, बस्तुत: कुछ नहीं है ॥४८॥

आकाश, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी; दिशा आदि कुछ भी बाहर नहीं हैं ? ये सब अङ्कुर में पत्तों के समूह की तरह अपने चित्त में ही हैं ॥ ४९ ॥

आकाश आदि पदार्थ भी मनोभाव को प्राप्त आत्मा से उसी प्रकार बाहर प्रकट होते हैं जिस प्रकार अङ्कुर से फल, पुष्प आदि बाहर प्रकट होते हैं ॥ ५० ॥

यह सत्य है कि पूर्वोक्त पृथिवी आदि चित्त में स्थित है बाहर कभी नहीं रहते हैं, यह देखा गया है कि पल्लव अङ्कुर में स्थित है और फल की शोभा पल्लवाधीन है ॥ ५१ ॥

वर्तमान विषय में चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा रूपालोक प्रत्यय, अर्थात् भाती काल में विषय का मन से समर्थन किया जाता है, अत: भावी विषय में मनस्कार प्रत्यय होता है एवं अतीत विषय में तत्ता प्रत्यय होता है, क्योंकि अतीत स्मृति का विषय होता है। अत: तीनों प्रत्ययों के ज्ञापक तीन काल हुए और कालों की व्यञ्जिका सूर्य

स्वप्नभ्रममदावेगरागरोगादिदृष्टिषु ॥ ५३ ॥

चित्ते वृत्तान्तलक्षाणि संस्थितान्यात्तवासने ।
पादपे फलपुष्पाणि मूलाक्रान्तावनाविव ॥ ५४ ॥

त्यक्तावनेर्विटपिनो भूयः पत्राणि नो यथा ।
निर्वासनस्य जीवस्य पुनर्जन्मादि नो तथा ॥ ५५ ॥

यत्राऽनन्तजगज्जालं संस्थितं तेन तेजसा ।
श्वपचत्वं प्रकटितं यदि तद्विस्मयोऽत्र किम् ॥ ५६ ॥

अवबुद्धा श्वपचता प्रतिभासवशात्त्वया ।
यथैवाऽनल्पसंरम्भा विचित्राधिविकारदा ॥ ५७ ॥

तथैवाऽतिथिरायातो भुक्तवान्सुप्तवान्द्विजः ।
कथां कथितवांश्चेति दृष्टवानसि संभ्रमम् ॥ ५८ ॥

तथैवोत्थाय गच्छामि प्राप्तोऽहं भूतमण्डलम् ।
इमे भूता इमे ग्रामा दृष्टवानसि संभ्रमम् ॥ ५९ ॥

की क्रिया है। इसलिए सब का पर्यवसान क्रिया में ही हुआ। इन क्रियात्मक वस्तुओं का उपसंहार और सृष्टि मन स्वयं ऐसे ही करता है जैसे कि कुम्हार घट का नाश और सृष्टि करता है ॥ ५२ ॥

इस बात का बालक, वृद्ध ओर वनिताएँ स्वप्न, भ्रम, मद, आवेग, राग, रोग आदि की बुद्धियों में अनुभव करते हैं स्वप्नभ्रमादि सब चित्त के ही धर्म हैं ॥ ५३ ॥

वासनाओं से युक्त चित्त में लाखों वृत्तान्त वैसे ही रहते हैं जैसे जड़ों से पृथिवी को आक्रान्त किये हुए वृक्ष में लाखों फल और पुष्प रहते हैं ॥ ५४ ॥

वासना रहित जीव के जन्म आदि वैसे ही नहीं होते हैं जैसे पृथिवी से उखाड़े गये वृक्ष में पत्ते आदि नहीं रहते ॥ ५५ ॥

जिस चित्त में सदधिष्ठान के अनन्त जगत्-रूपी जाल फँसा है, उस चित्त में यदि चाण्डालत्व प्रकट हो गया, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? ॥ ५६ ॥

जिस प्रकार प्रचुर वेगवाली तथा नाना प्रकार के मानसिक चिन्तारूपी विकारों को पैदा करनेवाली चाण्डालता प्रतिभास के द्वारा (अज्ञान के द्वारा) तुम्हें ज्ञात हुई है उसी तरह 'एक ब्राह्मण अतिथि आया, उसने भोजन किया, वह सोया और उसने कथा कही' यह भी सब तुमने भ्रमात्मक ही देखा है ॥ ५७, ५८ ॥

उसी प्रकार 'मैं उठ कर जाता हूँ, मैंने भूतमण्डल नाम के ग्राम में गया ये भूत हैं, ये ग्राम हैं' यह भी तुमने भ्रमात्मक ही देखा है ॥ ५९ ॥

तथैवेदं कटंजस्य प्राक्तनं लुठितं गृहम् ।
जनैरुक्तं कटंजस्य दृष्टवानसि संभ्रमम् ॥ ६० ॥
तथैव कीरनगरं प्राप्तोऽस्मि कथितं च मे ।
कीरैः श्वपचराजत्वं दृष्टवानसि संभ्रमम् ॥ ६१ ॥
एवं सर्वं त्वया दृष्टं मोहजालं द्विजोत्तम ! ।
यत्सत्यमिति जानासि यच्चाऽसत्यमवैषि च ॥ ६२ ॥
वासनावलितं चेतः किन्नामाऽन्तर्न पश्यति ।
साधितं दृश्यते स्वप्ने वर्षसाध्यं प्रयोजनम् ॥ ६३ ॥
नाऽतिथिर्न च भूतास्ते न कीरास्ते न तत्पुरम् ।
सर्वमेतन्महाबुद्धे ! व्यामोहाद् दृष्टवानसि ॥ ६४ ॥
गच्छता भवता भूतदेशं पान्थेन कन्दरे ।
कस्मिंश्चिद्विप्र ! विश्रान्तं कुरङ्गेणेव कानने ॥ ६५ ॥
तत्रैव श्रममूढत्वादिदं तद्भूतमण्डलम् ।
इदं तच्छ्वपचागारमिति दृष्टं न सत्यतः ॥ ६६ ॥
तथैव कीरनगरं दृष्टवानसि तत्तथा ।
तदैव चाऽन्यदा वाऽपि मायार्थं हि भवान् द्विज ! ॥६७॥
सर्वदैव समग्रासु विहरन्नसि दृष्टवान् ।
दिक्षु प्रोन्मत्तक इव विभ्रमं मनसा मुने ! ॥ ६८ ॥
तदुत्तिष्ठ निजं कर्म कुर्वंस्तिष्ठोपशान्तधीः ।
न स्वकर्म विना श्रेयः प्राप्नुवन्तीह मानवाः ॥ ६९ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति निगदितवान् स पद्मनाभो
भुवनगतापसवृन्दपूज्यमानः ।
विबुधमुनिगणैः पवित्रहस्तै-
र्वृत उदधिं निजमास्पदं जगाम ॥ ७० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते मायामहत्त्वकथनं नामाऽष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

उसी प्रकार कटंज नाम के चाण्डाल का यह नष्ट हुआ प्राक्तन घर है, इस प्रकार मनुष्यों से कहे गये कटंज के गृहरूप भ्रम को तुमने देखा ॥ ६० ॥

उसी तरह 'मैंने कीर देश को प्राप्त किया और कीर देश के वासियों ने मुझ से चाण्डाल के राजा होने की कथा कही' यह सब भी तुमने भ्रम ही देखा ॥ ६१ ॥

हे द्विजोत्तम ! इस तरह तुमने यह सब मोहजाल देखा है, जिसको तुम यह सत्य है, इस प्रकार जानते हो और जिसको यह असत्य है, यह भी तुम जानते हो ॥ ६२ ॥

वासनाओं से ओतप्रोत चित्त अपने भीतर क्या नहीं देखता, वर्षभर में सिद्ध होने वाले कार्य को भी स्वप्न में सिद्ध हुआ देखता ॥ ६३ ॥

न अतिथि है, न वे कीर हैं, न वे भूत हैं और न वह नगर है। हे महाबुद्धे ! यह सब तुमने अज्ञान से देखा है ॥ ६४ ॥

तुम भूतदेश और कीरदेश को अभी-भी नहीं गये, किन्तु अतिथि का वाक्य सुनकर भूतदेश को जाते हुए तुमने रास्ते में थकावट के कारण किसी पर्वत की गुफा में विश्राम किया और वहीं श्रम से विमूढ़चित्त होने के कारण स्वप्न की तरह 'यह वह भूतमण्डल है, यह चाण्डाल का घर है', इत्यादि सब तुमने भ्रमात्मक देखा है, परमार्थतः नहीं देखा है ॥ ६५, ६६॥

हे द्विज ! उसी तरह कीरनगर भी भ्रमात्मक देखा है और दूसरे दिन अघमर्षण के समय भी सब मायापूर्ण वस्तुएँ देखी हैं ॥ ६७ ॥

हे मुने ! केवल ये ही पूर्वोक्त भ्रम तुमने नहीं देखे प्रत्युत सब कालों में समस्त दिशाओं में महान् उन्मत्त की तरह घूम रहे तुमने मन से विशिष्ट भ्रम देखा है ॥६८॥

इसलिए उठो और शान्त बुद्धि हो अपना ब्रह्मचर्या-श्रमोचित अग्निहोत्रादि एवं स्वाध्यायादि कर्म करो, क्योंकि यहाँ मनुष्य अपने कर्म किये बिना कल्याण को प्राप्त नहीं करते हैं ॥ ६९ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—तीनों लोकों के तपस्वियों से पूजित एवं भगवान् के चरणस्पर्शादि से पवित्र हाथों वाले पण्डित और मुनियों के समूह से व्याप्त पद्मनाभ भगवान्, इस प्रकार कह कर अपने स्थान क्षीरसागर को चले गये ॥ ७० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में गाधिवृत्तान्त में मायामहत्त्वकथन नामक कुसुमलता का अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

४८

वसिष्ठ उवाच

अथ गाधिर्गते विष्णौ पुनर्भूतादिकं क्रमात् ।
स्वयं मोहविचारार्थं बभ्रामाऽभ्रमिवाऽम्बरे ॥ १ ॥
उपलभ्य तथैवाऽऽत्मवृत्तान्तं जनतस्ततः ।
हरिमाराधयामास पुनरद्रिगुहां गतः ॥ २ ॥
आजगामैनमल्पेन कालेनाऽथ जनार्दनः ।
सकृदाराधनेनैव माधवो याति बन्धुताम् ॥ ३ ॥
उवाच गाधिं भगवान् मयूरमिव वारिदः ।
किं त्वं प्रार्थयसे भूयस्तपसेति प्रसादवान् ॥ ४ ॥

गाधिरुवाच

भ्रान्तोऽस्मि देव ! षण्मासान् भूतकीरजनास्पदम् ।
तत्र व्यभिचरत्यस्मद्वृत्तान्तो न कथास्वपि ॥ ५ ॥
मायया भूतभूर्दृष्टा त्वयेत्युक्तोऽस्मि किं प्रभो ! ।
मोहनाशाय महतां वचो नो मोहवृद्धये ॥ ६ ॥

श्रीभगवानुवाच

काकतालीययोगेन चेतसि श्वपचस्थितिः ।
सर्वेषां भूतकीराणां तवेव प्रतिबिम्बति ॥ ७ ॥
तेनाऽङ्ग तव वृत्तान्तं यथावत् कथयन्ति ते ।
प्रतिभासो हि नाऽऽयाति पुनरप्रतिभासताम् ॥ ८ ॥
केनचिच्छ्वपचेनाऽन्ते ग्रामस्य रचितं गृहम् ।
तत्त्वया दृष्टमाविष्टकाखण्डतां गतम् ॥ ९ ॥
कदाचित् प्रतिभैकैव बहूनामपि जायते ।
काकोलतालस्थितिवद्विचित्रा हि मनोगतिः ॥ १० ॥
तथाहि बहवः स्वप्नमेकं पश्यन्ति मानवाः ।
स्वापभ्रमदमैरेयमदमन्थरचित्तवत् ॥ ११ ॥
एकस्यामेव लीलायां रमन्ते बहुबालकाः ।
एकस्यामेव नीलायां वनस्थल्यामिवैणकाः ॥ १२ ॥

४९

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर भगवान् विष्णु के चले जाने पर फिर गाधि स्वयं अपने मोह के विचार के लिए भूतमण्डल आदि देशों में आकाश में मेघ की तरह क्रम से भटके ॥ १ ॥

अनन्तर लोगों के मुँह से अपने चाण्डालत्व आदि के वृत्तान्त को पूर्वानुभूत के समान ही सुनकर और चिह्नों से देखकर फिर पर्वत की गुफा में जाकर उन्होंने श्रीहरि भगवान् की आराधना की ॥ २ ॥

अनन्तर थोड़े ही समय में भगवान् श्रीहरि उनके पास आये। भगवान् एक बार थोड़ीसी आराधना से ही बन्धुता को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

प्रसन्न भगवान् गाधि के प्रति वैसे ही बोले—जैसे मेघ मयूर के प्रति बोलता है। हे गाधि ! तपस्या से तुम फिर क्या चाहते हो ? ॥ ४ ॥

गाधि ने कहा—हे देवदेव ! मैंने छः महीने तक भूतमण्डल और कीरराज्य में भ्रमण किया। वहाँ पर जनप्रवादों में भी मेरे वृत्तान्त में व्यभिचार नहीं आया ॥ ५ ॥

हे प्रभो ! आपने मुझ से तुमने माया से भूतमण्डल देखा, ऐसा क्यों कहा ? महात्माओं का वचन मोह के नाश के लिए होता है न कि मोह की वृद्धि के लिए ॥ ६ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—गाधे ! काकतालीयन्याय से प्रसिद्ध भूतमण्डल देश के और कीरदेश के लोगों के मन में, तुम्हारे मन की तरह कटंज चाण्डाल की स्थिति अपरोक्षरूप से भ्रान्तिवश प्रतिबिम्बित है ॥ ७ ॥

वे तुम्हारे वृत्तान्त को जैसा का तैसा कहते हैं। बाधक ज्ञान के बिना भ्रम अभ्रमता को प्राप्त नहीं होता ॥ ८ ॥

किसी चाण्डाल द्वारा गाँव के छोरपर बनाया गया मकान, यह पहले मैंने बनाया था इस प्रकार तुम्हारे भ्रान्तिजनित आग्रह का विषयीभूत है और अब ईंटों के टुकड़ों के रूप में परिणत हो गया है, तुमने देखा था ॥ ९ ॥

कभी भ्रान्तिरूप प्रतिभास बहुतों का भी एक-सा ही होता है। कौए की टाड़ के नीचे स्थिति के समान मनोगति बड़ी विचित्र है ॥ १० ॥

देखो न बहुत से लोग एक ही स्वप्न देखते हैं जैसे कि निद्रा के समान भ्रमप्रद मदिरा के मद से मत्तचित्त वाले बहुत से समानरूप से घूम रही-सी दिशाओं को देखते हैं ॥ ११ ॥

एक ही नीली वनस्थली में मृगछौनों के समान बहुत से बालक एक ही बाल आदि से बनाये हुए गृह, महल दुर्ग आदि की भ्रमलीला में खेलते हैं ॥ १२ ॥

बहवस्तुल्यकालं च प्रतिभासेन कर्मणाम् ।
जना यतन्ते स्वफलपाकेऽतिबहुलाकृतौ ॥ १३ ॥
प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञानां कालो दातेति या श्रुतिः ।
विप्र ! संकल्पमात्रोऽसौ कालो ह्यात्मनि तिष्ठति ॥१४॥
अमूर्तो भगवान् कालो ब्रह्मैव तमजं विदुः ।
न जहाति न चाऽऽदत्ते किंचित्कस्य कदेति च ॥ १५ ॥
लौकिको यस्त्वयं कालो वर्षकल्पयुगात्मकः ।
संकल्प्यते पदार्थौघैः पदार्थौघश्च तेन तु ॥ १६ ॥
समानप्रतिभासोत्थसंभ्रमं भ्रान्तचेतसः ।
तथा तं दृष्टवन्तस्ते भूतकीरजनोच्चयाः ॥ १७ ॥
स्वव्यापारपरो भूत्वा धियाऽऽत्मानं विचारय ।
साधो ! गतमनोमोहमिहैवाऽऽस्स्व व्रजाम्यहम् ॥ १८ ॥
इत्युक्त्वा भगवान् विष्णुर्जगामाऽन्तर्द्धिमीश्वरः ।
अतिष्ठत् कन्दरे गाधिराधिपीवरया धिया ॥ १९ ॥

वध, बन्धन, पराजय, पलायन आदि विविध आकार वाले अपने प्रारब्धफलपाक की प्राप्ति होने पर भी बहुत से सैनिक आदि लोग एक ही समय एक तरह के जय, लाभ, भोग आदि प्रयोजनों की भ्रान्ति से उनके लोभ से युद्ध आदि द्वारा यत्न करते हैं ॥ १३ ॥

काल प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा का दाता है ऐसा जो लोकप्रवाद है, उसमें विरोध नहीं आता है, क्योंकि प्रतिबन्ध और अनुज्ञा का हेतुभूत काल भी संकल्पमात्र ही है।

जो अकल्पित अखण्डकाल (परमात्मा) है, वह स्वात्मा में स्थित रहता हैं, किसी के लिए न तो प्रतिबन्धक होता है और न किसी को अभ्यनुज्ञा ही देता है ॥ १४ ॥

अमूर्त जो भगवान् काल है, उसे तो पण्डित लोग जन्मादिविकाररहित ब्रह्म ही कहते हैं। वह न तो कभी किसी का कुछ भी त्याग करता है और न कभी किसी का कुछ भी ग्रहण करता है ॥ १५ ॥

वर्ष, कल्प, युगरूप यह लौकिक काल है, वह जन्य मात्र के कालरूप उपाधिजन्य होने के कारण सूर्यक्रिया, चन्द्रपिण्ड आदि पदार्थ समूहों के द्वारा संकल्पित होता है और उस काल द्वारा प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञावश सब पदार्थों के समूह, उनकी क्रिया, फल की व्यवस्था संकल्पित होती है ॥ १६ ॥

उन भ्रान्तचित्तवाले भूतदेश के और कीरदेश के लोगों ने समान प्रतिभास से उत्पन्न भ्रम को वैसे ही देखा ॥१७॥

हे साधो ! अपने वर्ण और आश्रम के आचरण में

ततः कतिपयेष्वद्रौ मासेष्वतिगतेषु सः ।
पुनराराधयामास पुण्डरीककरं द्विजः ॥ २० ॥
ददर्श चैकदा नाथमागतं प्रणनाम तम् ।
पूजयामास मनसा चोक्तेनोवाच चेश्वरम् ॥ २१ ॥

गाधिरुवाच

भगवन् ! संस्मरंश्चैतामात्मनः श्वपचस्थितिम् ।
इमां संसारमायां च परिमुह्यामि चेतसा ॥ २२ ॥
तदुक्त्वाऽऽस्स्व यथावस्तु महामोहनिवृत्तये ।
एकस्मिन्नेव विमले मां नियोजय कर्मणि ॥ २३ ॥

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मन् ! जगदिदं माया महाशम्बरडम्बरम् ।
सर्वा आश्चर्यकलनाः सम्भवन्तीह विस्मृतेः ॥ २४ ॥
भूतकीरपुरे मोहाद् दृष्टवांस्तत्तथा भवान् ।
इत्येतत्संभवत्येव दृश्यते हि जनैर्भ्रमः ॥ २५ ॥

तत्पर होकर आप बुद्धि से अपने आत्मा का विचार करें तभी मोहरहित होकर यहीं रहिये मैं जाता हूँ ॥ १८ ॥

ऐसा कहकर सबके अधिपति भगवान् विष्णु अन्तर्हित हो गये और चिन्ता से व्याप्त बुद्धि से युक्त गाधि कन्दरा में जा बैठे ॥ १९ ॥

अनन्तर पर्वत पर कुछ महीनों के बीतने पर वहीं उस गाधि ने पुण्डरीकाक्ष भगवान् की पुनः आराधना की ॥२०॥

एक समय उन्होंने आये हुए प्रभु को देखा, प्रणाम किया, मन, वचन और कर्म से उनकी पूजा की तथा प्रश्न की अनुज्ञा के वाक्य से पूछा ॥ २१ ॥

गाधि ने कहा—हे भगवान् ! अपनी इस चाण्डालस्थिति का चित्त से स्मरण कर रहा और इस जन्म, मरण आदि अनर्थप्रचुर संसारमाया का स्मरण कर मुझे अत्यन्त मोह को प्राप्त हो रहा है ॥ २२ ॥

इसलिए महामोह की निवृत्ति के लिए उपाय कह कर झटपट न चले जायें, किन्तु संशय से उत्पन्न मोह का नाश होने तक स्थित होजाइये और मुझे एक ही निर्मल कर्म में नियुक्त कीजिये ॥ २३ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे ब्रह्मन् ! यह जगत् मायारूपी महाशम्बरासुर का आडम्बर रूप है। इसमें आत्मतत्त्व के आवरण के निमित्तभूत अज्ञान से सब आश्चर्यमय कल्पनाएँ होती हैं ॥ २४ ॥

तुमने भूतमण्डल और कीरनगर में जो वैसा देखा, वह सब संभव ही है, क्योंकि निद्रा आदि में असंभावित पदार्थों का भ्रम लोगों को दिखाई ही देता है ॥ २५ ॥

भूतास्त्वमिव कीराश्च दृष्टवन्तस्तथा भ्रमम् ।
मुधैवेत्यपि सत्याभं समकालादिसंभवात् ॥ २६ ॥
इदं तु शृणु वक्ष्यामि यथाभूतमनिन्दितम् ।
यथैति तनुतां चिन्ता मार्गशीर्षलतेव ते ॥ २७ ॥
योऽसौ कटंजको नाम श्वपचो भूतमण्डले ।
तेनैव सन्निवेशेन स तथैवाऽभवत् पुरा ॥ २८ ॥
तथैव विकलत्रत्वं प्राप्य देशान्तरं गतः ।
बभूव कीरनृपतिः प्रविवेशाऽनलं ततः ॥ २९ ॥
भवतः केवलं चित्ते जलान्तर्वर्तिनस्तदा ।
प्रतिभाता तथाभूता कटंजाचारसंस्थितिः ॥ ३० ॥
द्रष्टाऽनुभूतमप्यर्थं कदाचिद् विस्मरत्यलम् ।
कदाचिदप्यदृष्टं तु चेतः पश्यति दृष्टवत् ॥ ३१ ॥
यथा स्वप्नमनोराज्यधातुसंस्थितिविभ्रमाः ।
जाग्रत्यपि तथैवाऽङ्ग दृश्यन्ते मनसा स्वयम् ॥ ३२ ॥

भूतदेशवासियों और कीरदेशवासियों ने तुम्हारी ही तरह मिथ्या होते हुए भी सत्य की तरह वैसा भ्रम देखा, क्योंकि समान संकल्प से समान काल आदि संभव है ॥ २६ ॥

मैं तुम्हारे चाण्डालनिन्दासम्बन्ध को हटाने वाले यथार्थ विषय को कहूँगा, तुम इसे सुनो, इससे मार्गशीर्ष की लता के समान तुम्हारी चिन्ता नष्ट हो जायेगी ॥२७॥

जो यह कटंज नाम का चाण्डाल भूतमण्डल में पहले हुआ, वह तुम्हारे द्वारा देखे गये उसी आकार-प्रकार से वैसे ही युक्त हुआ जैसे पहले हुआ ॥ २८ ॥

वैसे ही कलत्र रहित होकर दूसरे देश में गया, कीर-देश का अधिपति हुआ और तदनन्तर अग्नि में प्रवेश कर गया ॥ २९ ॥

तब जल के अन्दर डूबे हुए तुम्हारे मन में उस प्रकार की कटंज के आचार की स्थिति भ्रान्ति से केवल प्रति-भासित हुई, क्योंकि ऐसा ही तुम्हारा संकल्प था ॥ ३० ॥

चित्त कभी न देखी गई वस्तु को भी पूर्वदृष्ट के समान वैसे ही देखता है जैसे द्रष्टा पुरुष कभी अनुभूत वस्तु को भी बिलकुल भूल जाता है ॥ ३१ ॥

हे गाधे ! जाग्रत् में भी मन से स्वयं भ्रम वैसे ही देखे जाते हैं जैसे स्वप्न, मनोरथ, संनिपात के भ्रम होते हैं ॥ ३२ ॥

हे गाधे ! अतीत भी कटंज का चरित वर्तमान प्रतिभा को वैसे ही प्राप्त होता है जैसे त्रिकालदर्शी योगी की दृष्टि से भविष्यत् वस्तु भी उसके उत्तर काल में होने

भविष्यद् भूतकालस्थं यथा त्रैकाल्यदर्शिनः ।
प्रतिभामेति गाधे यत् कटंजाचरितं तथा ॥ ३३ ॥
अयं सोऽहमिदं तन्म इति मज्जति नाऽऽत्मवान् ।
अयं सोऽहमिदं तन्म इति मज्जत्यनात्मवान् ॥ ३४ ॥
सर्वमेवाऽहमेवेति तत्त्वज्ञो नाऽवसीदति ।
न गृह्णाति पदार्थेषु विभागानर्थभावनम् ॥ ३५ ॥
तेनाऽसौ भ्रमयोगेषु सुखदुःखविलासिषु ।
न निमज्जति मग्नोऽपि तुम्बीपात्रमिवाऽम्भसि ॥ ३६ ॥
त्वं तावद् वासनाजालग्रस्तचित्तो विचेतनः ।
किञ्चिच्छेषमहाव्याधिरिव न स्वस्थमागतः ॥ ३७ ॥
ज्ञानस्याऽपरिपूर्णत्वान्न शक्नोषि मनोभ्रमम् ।
विनिवारयितुं मेघमसम्यग्यत्नवानिव ॥ ३८ ॥
यदेव ते मनोमात्रे सहसा प्रतिभासते ।
तरुरुच्चजनेनेव तेनैवाऽऽक्रम्यसे क्षणात् ॥ ३९ ॥

वाले दृश्यमान पदार्थों की अपेक्षा भूतकालस्थ होती है ॥ ३३ ॥

यह देह मैं हूँ तथा ये घर-द्वार आदि मेरे हैं, इस प्रकार आत्मज्ञानी निमग्न नहीं होता । यह देह मैं हूँ ये घर-द्वार आदि मेरे हैं, इस प्रकार अनात्मज्ञानी ही निमग्न होता है ॥ ३४ ॥

सब कुछ मैं ही हूँ ऐसी भावना से तत्त्वज्ञानी दुःखी नहीं होता, वह पदार्थों में भेद रूप अनर्थ भावना का ग्रहण नहीं करता है ॥ ३५ ॥

इसी कारण वह सुख, दुःख से युक्त भ्रमों में जल में तुम्बी के समान निमग्न प्राय होता हुआ भी निमग्न नहीं होता ॥ ३६ ॥

वासनाओं से ग्रस्त चित्त वाले, चेतनारहित तुम जिसकी महाव्याधि कुछ शेष रह गई हो, उस रोगी के सदृश हो, तुम भी स्वरूप में अवस्थित आत्मा को वैसे ही प्राप्त नहीं किये हो जैसे कुछ अविशिष्ट महाव्याधि वाला पुरुष स्वास्थ्य को लाभ नहीं करता ॥ ३७ ॥

ज्ञान के परिपूर्ण न होने के कारण तुम मनोभ्रम का निवारण करने के लिए वैसे ही समर्थ नहीं हो जैसे गृह-रचना या गृह-प्रवेश आदि सम्यग् प्रयत्न से रहित पुरुष वृष्टि का निवारण करने में समर्थ नहीं होता ॥ ३८ ॥

तुम्हारे चित्त में जो सहसा प्रतिभासित होता है ऊँचे पुरुष के द्वारा वृक्ष के समान क्षणभर में उसी से तुम आक्रान्त हो जाते हो यानी उसके अभिमान से तिरस्कृत हो जाते हो ॥ ३९ ॥

चित्तं नाभिः किलाऽस्येह मायाचक्रस्य सर्वतः ।
स्थीयते चेत्तदाऽऽक्रम्य तन्न किञ्चित् प्रबाधते ॥ ४० ॥
त्वमुत्तिष्ठ गिरेः कुञ्जे दशवर्षाण्यखिन्नधीः ।
तपः कुरु ततो ज्ञानमनन्तं समवाप्स्यसि ॥ ४१ ॥
इत्युक्त्वा पुण्डरीकाक्षस्तत्रैवाऽन्तरधीयत ।
वाताभ्रवद्दीपकवद्यमुनोत्पीडवत् क्षणात् ॥ ४२ ॥
गाधिर्विवेकवशजं वैराग्यपदमागतः ।
शरत्समयपर्यन्ते वैरस्यमिव पादपः ॥ ४३ ॥
विचित्रं चेष्टितं धातुरसमञ्जसमागतम् ।
भ्रमद्भ्रमभरोन्मुक्तमतिर्मन्दमगर्हयत् ॥ ४४ ॥
जगाम करुणार्द्रात्मा नियमायोत्तमश्रिये ।
विश्रान्त्यै ऋष्यमूकं तु पयोधर इवाऽचलम् ॥ ४५ ॥
निरस्ताशेषसङ्कल्पस्तपस्तत्र चकार ह ।
दश वर्षाणि तेनाऽसावात्मज्ञानमवाप ह ॥ ४६ ॥
अरमत तदनु स्वां प्राप्य सत्तां महात्मा
ह्यपगतभयशोको भोगभूमावनीषु ।
सततमुदितजीवन्मुक्तरूपः प्रशान्तः
सकल इव शशाङ्को घूर्णितापूर्णचेताः ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते गाधेर्ज्ञानप्राप्तिर्नाम एकोनपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस मायाचक्र का मध्यभूत चित्त यहाँ पर चारों ओर घूमता है। यदि पुरुष चित्त का आत्मा में प्रविलापन द्वारा तिरस्कार कर स्थित हो जाय, तो वह मायाचक्र उसे कुछ भी पीड़ा नहीं पहुँचाता है ॥ ४० ॥

तुम उठो, पर्वत के कुञ्ज में दस वर्ष तक अखिन्नबुद्धि होकर चित्तनिरोध का अभ्यास करो। अनन्तर तुम अनन्त ज्ञान को प्राप्त करोगे ॥ ४१ ॥

ऐसा कह कर भगवान् श्रीहरि वायु में लीन मेघ के मान बुते हुए दीपक की तरह और यमुना की तरङ्ग की रह एक क्षण में वहीं पर अन्तर्हित हो गये ॥ ४२ ॥

गाधि विवेकवश उत्पन्न हुए वैराग्य को वैसे ही प्राप्त किया जैसे शरदृतु के बाद पतझड़ में वृक्ष पत्तों से रहित हो जाता है ॥४३ ॥

घूम रही भ्रमराशि से उन्मुक्त बुद्धि वाले गाधि ने प्राक्तन कर्मरूप दैव की अयोग्य चाण्डालभावप्रदर्शनरूप विचित्र चेष्टा की थोड़ी निन्दा की ॥ ४४ ॥

करुणा से आर्द्र चित्त वाले गाधि कल्याणकारी चित्त-नियमन के अभ्यास के लिए तथा सर्वश्रेष्ठ पद में विश्रान्ति के लिए ऋष्यमूक पर्वत पर गये जैसे सजल मेघ पर्वत पर जाता है ॥ ४५ ॥

सब संकल्पों का त्याग कर गाधि ने वहाँपर दस वर्ष तक तप का संयम किया, उससे उन्होंने आत्मज्ञान प्राप्त किया ॥ ४६ ॥

आत्मज्ञानप्राप्ति के बाद महात्मा गाधि अपनी पारमार्थिक सत्ता को लाभ कर भय-शोकरहित हो निरन्तर उदित जीवनमुक्तस्वरूपवाले अपरिच्छिन्न स्वानन्द मद से आघूर्णित और पूर्णचित्त षोडश कलाओं से पूर्ण चन्द्रमा के समान अपरिच्छिन्न ब्रह्माकाश में विहार करने लगे ॥४७॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में गाधिवृत्तान्त में गाधि के ज्ञानप्राप्ति नामक कुसुमलता का ऊनचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४९ ॥

५०

वसिष्ठ उवाच

एवमेषाऽतिवितता दुर्ज्ञाना रघुनन्दन ! ।
महामोहमयी माया विषमा पारमात्मिकी ॥ १ ॥
क्व मुहूर्तद्वयस्वप्नसंभ्रमाल्लोकदृष्टता ।
क्वाऽनेकवर्षसंभुक्तश्वपचावनिपभ्रमः ॥ २ ॥
क्व संभ्रमोपलब्धत्वं क्व प्रत्यक्षनिदर्शनम् ।
क्वाऽसत्यत्वमसंदिग्धं क्व सत्यपरिणामिता ॥ ३ ॥

५०

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे रघुनन्दन ! इस प्रकार अतिशय विस्तृत यह महामोहमयी विषम माया अचिन्तनीय है, एकमात्र परमात्मा ही इसका आश्रय और विषय है ॥ १ ॥

कहाँ दो मुहूर्त के भ्रम से लोकदर्शन, कहाँ अनेकों वर्षों में भुक्त होनेवाला चाण्डालराज का भ्रम है ॥ २ ॥

कहाँ भ्रमावस्था की प्राप्ति और कहाँ प्रत्यक्ष दर्शन, कहाँ निःसन्देह असत्यता और कहाँ सत्य में परिणत होना है ॥ ३ ॥

अतो वच्मि महाबाहो ! मायेयं विषमाऽन्वहम् ।
असावधानमनसं संयोजयति संकटे ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

एवमस्य कथं ब्रह्मन् ! मायाचक्रस्य रोधनम् ।
कुर्युः प्रवहतो वेगात् सर्वाङ्गच्छेदकारिणः ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

अस्य संसाररूपस्य मायाचक्रस्य राघव ! ।
चित्तं विद्धि महानाभिं भ्रमतो भ्रमदायिनः ॥ ६ ॥
तस्मिन् द्रुतमवष्टब्धे धिया पुरुषयत्नतः ।
गृहीतनाभि वहनान्मायाचक्रं निरुध्यते ॥ ७ ॥
अवष्टब्धमनोनाभि मोहचक्रं न गच्छति ।
यथा रज्ज्वां निरुद्धायां कीलकं रज्जुवेष्टितम् ॥ ८ ॥
चक्रयुद्धैकतज्ज्ञोऽसि कस्माज्जानासि नाऽनघ ! ।
चक्रं नाभाववष्टब्धं वशमायाति नाऽन्यथा ॥ ९ ॥

इसलिए मैं कहता हूँ, हे महाबाहो ! यह विषम माया असावधान मनवाले पुरुष को प्रतिदिन संकट में डालती है ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! अधिकारी लोग परिपूर्ण आनन्दस्वरूप आत्मा को परिच्छिन्न ज्ञानस्वरूप अङ्गच्छेद के हेतु तथा वेग से बह रहे इस मायाचक्र का निरोध कैसे करें ? ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—हे राघव ! घूम रहे और भ्रान्ति देनेवाले इस संसाररूपी मायाचक्र की महानाभि अर्थात् पहिये के बीच का भाग स्वरूप चित्त को जानिये ॥ ६ ॥

पुरुष प्रयत्न से बुद्धि द्वारा उस चित्तरूपी महानाभि के अर्थात् पहिये के बीच के हिस्से के रुकने पर पकड़ी गई नाभि वाला मायाचक्र भ्रमण से रुक जाता है ॥ ७ ॥

जैसे रस्सी के रोकने पर रस्सी में लपेटा हुआ काँसे आदि का बनाया हुआ क्रीडाचक्र लट्टू नहीं चलता है वैसे ही रोकी गई नाभि वाला मनरूपी मोहचक्र नहीं चलता ॥ ८ ॥

हे निष्पाप ! आप चक्रयुद्धों में मुख्य तथा उनको रोकने और घुमाने आदि में कुशल हैं, इसलिए आप उक्त दृष्टान्त को क्यों नहीं जानते हैं । नाभि में रोका गया चक्र वश में आता है, अन्यथा नहीं ॥ ९ ॥

हे राघव ! इसलिए प्रयत्नपूर्वक चित्तरूपी नाभि को रोककर संसाररूपी चक्र से आत्मा को जन्मपरम्परा की

चित्तं नाभिमवष्टभ्य तस्माद् यत्नेन राघव ! ।
संसारचक्रं वहनादात्मनः परिरोधय ॥ १० ॥
एतां युक्तिं विना दुःखमनन्तमितमात्मनः ।
अस्यां दृष्टौ क्षणादन्तं गतमेवाऽवलोकय ॥ ११ ॥
चित्ताक्रमणमात्रात्तु परमादौषधादृते ।
प्रयत्नेनाऽपि संसारमहारोगो न शाम्यति ॥ १२ ॥
तस्माद् राघव ! संत्यज्य तीर्थदानतपःक्रियाः ।
श्रेयसे परमायाऽन्तश्चित्तमेव वशं कुरु ॥ १३ ॥
चित्तान्तरेव संसारः कुम्भान्तः कुम्भखं यथा ।
चित्तनाशे न संसारः कुम्भनाशे न कुम्भखम् ॥ १४ ॥
चिरं संसरणाकाशकोटरं चित्तकुम्भखम् ।
विनाश्याऽतुलिताकाशस्वरूपं रूपमाविश ॥ १५ ॥
वर्तमानमनायासं भजद् बाह्यधिया क्षणम् ।
भूतं भविष्यदभजद् याति चित्तमचित्तताम् ॥ १६ ॥

प्राप्ति कराने से रोकिये ॥ १० ॥

इस चित्तनिरोधरूपी उपाय के बिना आत्मा को अनन्त दुःख प्राप्त हुआ है । इस दृष्टि की प्राप्ति होनेपर दुःख को क्षणभर में नष्ट हुआ ही जानिये ॥ ११ ॥

केवल चित्त को वश में करनेरूपी परम ओषधि के बिना यह संसाररूपी महारोग किसी भी प्रयत्न से शान्त नहीं होता है ॥ १२ ॥

इसलिए हे राघव ! तीर्थसेवन, दान, तपस्या आदि कर्मों को छोड़कर परम कल्याण के लिए भीतरी चित्त को ही वश में कीजिये ॥ १३ ॥

चित्त के अन्दर वैसे ही संसार है जैसे घड़े के अन्दर घटाकाश रहता है । चित्त का नाश होनेपर संसार वैसे ही नहीं रहता जैसे घड़े के नष्ट होनेपर घटाकाश नहीं रहता ॥ १४ ॥

आप भी चित्त के नाश से चित्तरूपी घटाकाश का विनाश कर वैसे ही अतुलित ब्रह्माकाश में प्रवेश कीजिये जैसे घटाकाश में रोका गया मच्छर आदि जिसमें दुःखपूर्वक संसरण है ऐसे आकाशकोटर को भाग्यवश घड़े के विनाश से नष्ट कर, अनुपम महाकाश में प्रवेश कर बन्धनरहित हो सुखी होता है ॥ १५ ॥

बाह्य बुद्धि से वर्तमान क्षण का अनायास सेवन कर रहा और भूत तथा भविष्यत् का सेवन न कर रहा चित्त अचित्तता को प्राप्त होता है । भूत भविष्यत् विषयों के अनुसन्धान के त्याग से ही क्रमशः चित्त का क्षय होता है ॥ १६ ॥

सङ्कल्पांशानुसन्धानवर्जनं चेत् प्रतिक्षणम् ।
करोषि तदचित्तत्वं प्राप्त एवाऽसि पावनम् ॥ १७ ॥
यावत्संकल्पकलना तावच्चित्तविभूतयः ।
यावज्जलदविस्तारस्तावत्खजलबिन्दवः ॥ १८ ॥
सचित्तं चेतनं यावत्तावत् संकल्पकल्पनम् ।
सचन्द्रांशु जगद् यावत् तावत् प्रालेयलेशकाः ॥ १९ ॥
चेतनं चित्तरिक्तं चेद्भावितं तत्स्वसंसृतेः ।
आमूलमेव दग्धानि विद्धि मूलानि सिद्धवत् ॥ २० ॥
चेतनं चित्तरिक्तं हि प्रत्यक्चेतनमुच्यते ।
निर्मनस्कस्वभावं तन्न तत्र कलनामलः ॥ २१ ॥
सा सत्यता सा शिवता साऽवस्था पारमात्मिकी ।
सर्वज्ञता सा सा दृष्टिर्न तु यत्र मनः क्षतम् ॥ २२ ॥
मनो यत्र तु तत्राऽऽशास्तत्र दुःखसुखानि च ।
सदा सन्निधिमायान्ति श्मशान इव वायसाः ॥ २३ ॥

यदि आप भावी विषयों के संकल्प का और उसके अंशभूत पदार्थों के अनुसन्धान का प्रत्येक क्षण में सावधानी से त्याग करें तो आप पवित्र अचित्तता को प्राप्त ही हैं ।। १७ ।।

जब तक संकल्प कल्पना है तब तक चित्त विभूतियाँ रहती हैं तथा जब तक मेघ का विस्तार है तब तक वृष्टि के बिन्दु रहते हैं ।। १८ ।।

जब तक चेतन चिदात्मरूप चित्तसहित है तब तक संकल्पों की कल्पना अवश्य होगी जब तक जगत् चन्द्रमा के किरणों से युक्त रहेगा तब तक ओस की बूंदें अवश्य होंगी ।। १९ ।।

यदि चेतन चित्त से पृथक् है इस प्रकार की भावना करने पर तो अपने संसार के मूलों को मूलाज्ञान नाश के साथ महासिद्ध के समान जला ही हुआ जानें ।। २० ।।

चित्त से रहित चेतन प्रत्यक् चेतन आत्मा कहा जाता है। वह स्वभावतः मन रहित है। अतः उसमें कल्पना-रूपी मल का संभव नहीं है ।। २१ ।।

चित्त रहित चेतन स्वरूप ही परमार्थ सत्य है, वही निरतिशय आनन्द रूप है, वही परमात्मस्वभावभूत अवस्था है, वही सर्वावभासक चिद्रूपता है और वही परमार्थ दृष्टि है, किन्तु जिस अवस्था में दुष्ट मन है तब तक वह वैसी नहीं है ।। २२ ।।

जहाँ पर मन रहता है वहीं पर श्मशान में कौए के समान वैसे सदा विविध आशाएँ और सुख-दुःख समीप में आते हैं ।। २३ ।।

वस्तुतत्त्वावबोधेन सर्वभावव्यवस्थितेः ।
संसृतिव्रततेर्बीजं सङ्कल्पे नोपजायते ॥ २४ ॥
शास्त्रसज्जनसंपर्कसन्तताभ्यासयोगतः ।
जागतानामवस्तुत्वं भावानामवगम्यते ॥ २५ ॥
अविवेकादुपाहृत्य चेतः सोद्यमनिश्चयैः ।
बलात्कारेण संयोज्यं शास्त्रसत्पुरुषक्रमैः ॥ २६ ॥
मुख्यं कारणमात्मैव परमात्मावलोकने ।
अगाधे पतितं रत्नं रत्नेनैवाऽवलोक्यते ॥ २७ ॥
स्वानुभूतानि दुःखानि स्वात्मैव त्यक्तुमिच्छति ।
तेनाऽऽत्मैवाऽऽत्मविज्ञाने हेतुरेकः परः स्मृतः ॥ २८ ॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
निरस्तमननानन्तसंविन्मात्रपरो भव ॥ २९ ॥
जायमानस्तथा जीवन्म्रियमाणः क्रियारतः ।
स्वात्मन्यमलतां प्राप्ते संविदंशे स्थिरो भव ॥ ३० ॥

ज्ञानियों का मानस संकल्प में आशा आदि सब भावों की व्यवस्थापिका संसार रूपी लता के वासना रूपी बीज ही नहीं उगते, क्योंकि वे तत्त्वज्ञान से बाधित हो जाते हैं ।। २४ ।।

शास्त्र और सज्जनसंगति के निरन्तर अभ्यास से जगत् के पदार्थों की अवास्तविकता का ज्ञान होता है।।२५।।

चित्त को अविवेक से हटाकर पुरुषकार के साथ मैं अवश्य ही इसी जन्म में ज्ञान प्राप्त करूँगा, इस तरह के दृढ़ निश्चयों से शास्त्र और सत्संगति में दृढ़तापूर्वक लगाना चाहिये ।। २६ ।।

परमात्मा के दर्शन में आत्मा ही मुख्य कारण है। अगाध जल में गिरा हुआ रत्न से रत्न ही अर्थात् प्रकाशमान अपने स्वरूप से ही देखा जाता है ।। २७ ।।

आत्मा ही अपने से अनुभूत दृश्य दुःख को देखने के बाद विवेक से उन्हें छोड़ना चाहता है, अतएव अपनी आत्मा के अवलोकन में दृश्यप्रतिकूल स्वभाववाला आत्मा ही स्वयं एक मुख्य कारण कहा गया है ।। २८ ।।

बात करते हुए, त्याग करते हुए, ग्रहण करते हुए, आँखें खोलते हुए, बन्द करते हुए आप मनन से अर्थात् मन के व्यापार रहित अनन्त चिन्मात्र में परायण तल्लीन रहें ।। २९ ।।

उत्पन्न हो रहे, जी रहे, मर रहे तथा अन्य कर्मों में निरत आप शोधन द्वारा निर्मलता को प्राप्त कर संविन्मात्रांशरूप स्वात्मा में स्थिर होयें ।। ३० ।।

ममेदं तदयं सोऽहमिति संत्यज्य वासनाः ।
एकनिष्ठतयाऽन्तस्थसंविन्मात्रपरो भव ॥ ३१ ॥

वर्तमानभविष्यन्त्योः स्थित्योरादेहमेकधीः ।
स्वसंवित्त्याऽनुसन्धानसमाधानपरो भव ॥ ३२ ॥

बाल्ययौवनवृद्धेषु दुःखेषु च सुखेषु च ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु स्वसंवित्तिपरो भव ॥ ३३ ॥

मलं संवेद्यमुत्सृज्य मनो निर्गलयन् परम् ।
आशापाशमलं छित्त्वा स्वसंवित्तिपरो भव ॥ ३४ ॥

शुभाशुभस्वसङ्केतसंशान्ताशाविषूचिकः ।
नष्टेष्टानिष्टदृष्टिस्त्वं संवित्सारपरो भव ॥ ३५ ॥

सकर्तृकर्मकरणान् स्वास्पर्शानन्तरा स्पृशन् ।
निर्विकल्पनिरालम्बः स्वचिन्मात्रपरो भव ॥ ३६ ॥

जाग्रत्येव हि संसुप्तां भावयन् सुस्थिरां स्थितिम् ।
सर्वमस्मीति संचिन्त्य सत्तैकात्मवपुर्भव ॥ ३७ ॥

नानानानादशामुक्तो युक्तो मुक्ततया समे ।
समग्रकलनादीपः स्वचिन्मात्रपरो भव ॥ ३८ ॥

आत्मतापरते त्यक्त्वा निर्विभागो जगत्स्थितौ ।
वज्रस्तम्भवदात्मानमवलम्ब्य स्थिरो भव ॥ ३९ ॥

छित्त्वाऽन्तर्मानसान् पाशानाशारूपानुदारया ।
धिया धैर्यैकधर्मिण्या निर्धर्माधर्मतां व्रज ॥ ४० ॥

समास्वादयतस्तत्त्वं स्वसंवेदनधर्मिणः ।
विषं हालाहलमपि यास्यत्यमृततामथ ॥ ४१ ॥

तदोदेति महामोहः संसृतिभ्रमकारणम् ।
निर्मलाया निरंशायाः संवित्तेश्चाऽमतिर्यदा ॥ ४२ ॥

तदा संक्षीयते मोहः संसारभ्रमकारणम् ।
निर्मलायां निरंशायां स्वसंवित्तौ स्थितिर्यदा ॥ ४३ ॥

स्वरूपमनुयातस्य तीर्णस्याऽऽशामहार्णवम् ।
प्रसरिष्यति ते संवित्सूर्यांशुरिव सर्वतः ॥ ४४ ॥

यह सन्मुखस्थित वह दूरदेश में स्थित मेरा है, यह प्रत्यभिज्ञायमान देह मैं हूँ, इस प्रकार की वासनाओं का भली-भाँति त्याग कर एकाग्रता से भीतर स्थित संविन्मात्र में तत्पर होयें ॥ ३१ ॥

वर्तमान स्थिति बाल्यावस्था और भविष्यत्स्थिति यौवन, राज्य आदि की स्थिति इन दोनों में जब तक देह रहे तब तक एकबुद्धि होकर स्वसंवित् से ध्यान और समाधि में तत्पर रहें ॥ ३२ ॥

बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था में सुखों में, दुःखों में, जाग्रत् अवस्था में, स्वप्नावस्था में और सुषुप्ति अवस्था में स्वसंवित् में चिन्मात्र में तल्लीन रहे ॥ ३३ ॥

बाह्य विषयरूपी मल का त्यागकर मन को खूब गला रहे आप आशापाशरूपी मल को छिन्नभिन्न कर स्वसंवित् परायण हो जाइये ॥ ३४ ॥

अपने संकल्प से किये गये शुभ और अशुभरूप संकेतों में जिनकी आशारूपी विषूचिका शान्त हो गई है, जिनकी यह इष्ट है और यह अनिष्ट है, यह दृष्टि नष्ट हो चुकी है ऐसे आप संवित् रूपी सार-पदार्थ में संलग्न होइये ॥ ३५ ॥

कर्ता, कर्म, बाह्यविषय और करणों-इन्द्रियों के साथ तथा अपना स्पर्श न करने वाले इस प्रकार के संसारों का जैसे मणि अपने अन्दर प्रतिबिम्बों का विस्तार करती है वैसे ही अपने में विस्तार कर विकल्परहित तथा आलम्बनरहित आप स्वचिन्मात्रपरायण होइये ॥ ३६ ॥

जाग्रत् अवस्था में ही सुषुप्त के समान निर्विकल्प तथा अत्यन्त स्थिर स्थिति की भावना कर रहे आप 'मैं सब हूँ' यह विचार एकमात्र सत्तारूप होइये ॥ ३७ ॥

जाग्रत् और स्वप्नदशा और सुषुप्तिदशा से मुक्त अथवा सृष्टि और प्रलय दशा से मुक्त, मुक्तरूप से सम में ब्रह्म में संलग्न तथा सबकी नानाबुद्धिवृत्तियों के दीप के तुल्य प्रकाशक आप स्वचिन्मात्रपरायण होइये ॥ ३८ ॥

आत्मता और परता का त्याग कर जगत् की स्थिति में द्वैतज्ञानशून्य आप आत्मा का अवलम्बन कर वज्र के स्तम्भ की तरह स्थिर होइये ॥ ३९ ॥

एकमात्र धैर्यधर्म वाली उदार बुद्धि से आशारूप मानसिक जालों का भीतर उच्छेद कर धर्माधर्म रहित होइये ॥ ४० ॥

आत्मज्ञान सम्पन्न एवं तत्त्व का आस्वादन कर रहे पुरुष के लिए हालाहल विष भी अमृत बन जाता है ॥ ४१ ॥

जब निर्मल और अखण्ड चैतन्य का अज्ञान रहने पर संसाररूपी भ्रम का कारणरूप महामोह उदित होता है ॥ ४२ ॥

जब निर्मल और अखण्ड स्वसंवित् में (चित् में) स्थिति होने पर संसारभ्रम का कारणभूत मोह नष्ट हो जाता है ॥ ४३ ॥

अपने स्वरूप को प्राप्त एवं आशारूपी महासागर को पार करने वाले आपकी बुद्धि सूर्य की किरणों के समान चारों ओर फैलेगी ॥ ४४ ॥

स्वभावमालोकयत आनन्दाद्वयसंस्थितेः ।
रसायनमपि स्वादु राम ! प्रतिविषायते ॥ ४५ ॥
तैर्नो भजामहे पुंभिर्ये स्वभावमुपागताः ।
शेषा पुरुषनामानो गर्दभा दीर्घबाहवः ॥ ४६ ॥
पर्वतात् पर्वतं यान्ति पुरोऽद्रेरिव दन्तिनः ।
परां कोटिं प्रयातस्य स्वसंवित्त्युन्नतस्थितेः ॥ ४७ ॥
अदृष्टादृश्यसीम्नोऽन्तः सूर्यादीन्यखिलान्यपि ।
न तेजांस्युपकुर्वन्ति स्वसंविद्दिव्यचक्षुषः ॥ ४८ ॥
अवस्तुतां व्रजन्त्येते माध्याह्ना इव दीपकाः ।
अर्कादयो महालोका विद्ययाऽधिगतात्मनः ॥ ४९ ॥
तेजोंऽशुषु प्रभावेषु बलिष्वपि महत्स्वपि ।
सर्वेषून्नतियुक्तेषु तत्त्वज्ञः परमोन्नतः ॥ ५० ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! अपनी अद्वितीयानन्दस्वरूपता का दर्शन कर अद्वितीय आनन्दरूप ब्रह्म में स्थित पुरुष को स्वादिष्ट अमृत आदि रसायन भी प्रतिकूल विष के समान लगता है ॥ ४५ ॥

जो लोग हमारे प्रत्यगात्मभाव को प्राप्त हैं—पुरुष-जन्म को सार्थक करने से, पुरुषार्थ साधन से तथा सफल पौरुषवाले होने से—उन श्रेष्ठतम पुरुषों के साथ हम सदा मित्रता का सम्बन्ध रखते हैं। अन्य तो पुरुषार्थ के उपयोगी पौरुष से हीन होने के कारण नाममात्र से पुरुष हैं, पुरुषशब्द के अर्थ का उनमें नाम-निशान भी नहीं है, वस्तुतः लम्बी बाहुवाले वे गदहों के समान उपेक्षा के ही पात्र हैं, दर्शन आदि के योग्य भी नहीं है ॥ ४६ ॥

अपनी संवित् से उन्नत स्थितिवाले उत्कर्ष की परम सीमा में पहुँचे हुए तत्त्वज्ञानी महापुरुषों के सामने योगी आदि पर्वत के सामने एक निकटवर्ती क्षुद्र पर्वत से दूसरे पर्वत पर जाते हैं वैसे ही वे जाते हुए से प्रतीत होते हैं। मेरु के समान सर्वोन्नत दृढ़रूप से विश्रान्त नहीं मालूम पड़ते हैं ॥ ४७ ॥

जिसकी सीमाएँ पहले किसी के द्वारा नहीं देखी गईं, वर्तमान समय में एवं भविष्य में भी देखने योग्य नहीं हैं, ऐसे स्वसंविद् रूपी दिव्य चक्षुवाले तत्त्वज्ञानी के अन्तःकरण का कल्पित सूर्य आदि सभी तेज उपकार नहीं करते हैं। अर्थात् स्वसंवित् से ही उसकी उन्नत स्थिति है ॥ ४८ ॥

विद्या से आत्मतत्त्व के ज्ञान से सम्पन्न तत्त्ववेत्ता के सम्मुख ये महाप्रकाश वाले सूर्य आदि मध्याह्न के दीपकों की तरह अवस्तुस्वरूपता को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ४९ ॥

तेज के कार्य प्रकाशनों में, योगसिद्धि के वशित्व आदि प्रभावों में, शारीरिक बलवानों में, ऐश्वर्य, आयु आदि से श्रेष्ठों में तथा वाग्मिता आदि उन्नति से युक्त सब में तत्त्वज्ञानी परम उन्नत है ॥ ५० ॥

भान्तीह भासा यस्याऽर्कवह्नीन्दुमणितारकाः ।
तथा जगति राजन्ते ज्ञातज्ञेया नरोत्तमाः ॥ ५१ ॥
धराविवरकीटेभ्यो गर्दभेभ्योऽपि मानवाः ।
तिर्यग्भ्यश्चाप्यतत्त्वज्ञा राम ! तुच्छतराः स्मृताः ॥५२॥
तावत् संमोहवेतालो देही यावदनात्मवान् ।
आत्मज्ञ एव संयुक्तश्चेतनेनेति तद्विदः ॥ ५३ ॥
अनात्मज्ञो हि दुःखेहः प्रस्फुरन्नपि भूतले ।
शव एव भ्रमत्युच्चैरात्मज्ञस्तु सचेतनः ॥ ५४ ॥
दूरादात्मज्ञता याति चित्ते पीवरतां गते ।
आलोकलक्ष्मीरभितो महामेघ इवोत्थिते ॥ ५५ ॥
भोगाभोगतिरस्कारैः कार्श्यं नेयं शनैर्मनः ।
रसापहारैस्तज्ज्ञेन कालेनाऽजीर्णपर्णवत् ॥ ५६ ॥

जिस जगदीश्वर की दीप्ति से सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, मणि और तारा दीप्त होते हैं, उसके तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठ पुरुष सुशोभित होते हैं ॥ ५१ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! जिन लोगों को तत्त्वज्ञान नहीं हुआ वे पृथिवी के बिलों में रहने वाले कीड़ों से, गदहों से और पशु-पक्षियों से भी तुच्छ कहे गये हैं ॥ ५२ ॥

जबतक देहधारी सत् भी अज्ञान से आत्मा की असत्ता मानने के कारण अनात्मवान् है तभीतक अज्ञान रूपी वेताल है अतएव वह अचेतन है, आत्मज्ञानी ही चेतन से संयुक्त है, ऐसा विद्वानों का कथन है ॥ ५३ ॥

आत्मतत्त्व को नहीं जानने वाले सब चेष्टाएँ दुःख के लिए ही हैं। वह भूतल में इधर-उधर चलता फिरता हुआ भी शवरूप से ही भ्रमण करता है, केवल आत्मज्ञानी ही सचेतन है ॥ ५४ ॥

चित्त के स्थूल होनेपर आत्मज्ञता, जो थोड़ी बहुत उपार्जित भी हो चुकी हो वैसे ही दूर भाग जाती है जैसे चारों ओर से महान् मेघ के उदित होनेपर प्रकाशशोभा दूर चली जाती है ॥ ५५ ॥

इसलिए मन को प्राप्त भोगों के विषयों के सेवन के तिरस्कार से और अप्राप्त भोगों की अभिलाषा के त्याग के द्वारा समय से अजीर्ण पत्र के समान धीरे-धीरे कृश बनाना चाहिये ॥ ५६ ॥

अनात्मन्यात्मभावेन देहमात्रास्थयाऽनया ।
पुत्रदारकुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ५७ ॥
अहंकारविकारेण ममतामलहेलया ।
इदं ममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ५८ ॥
जरामरणदुःखेन व्यर्थमुन्नतिमीयुषा ।
दोषाशीविषकोशेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ५९ ॥
आधिव्याधिविलासेन समाश्वासेन संसृतेः ।
हेयादेयप्रयत्नेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ६० ॥
स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणियोषिताम् ।
आपातरमणीयेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ६१ ॥
दुराशाक्षीरपानेन भोगानिलबलेन च ।
आस्थादानेन चारेण चित्ताहिर्याति पीनताम् ॥ ६२ ॥
आगमापायवपुषा विषवैषम्यशंसिना ।
भोगाभोगेन भीमेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ६३ ॥
शरीरदुःश्वभ्रचिरप्ररूढं
चिन्ताचयोच्चाकृतिमञ्जरीकम् ।
जरामृतिव्याधिफलौघनम्रं
कामोपभोगौघविकासिपुष्पम् ॥ ६४ ॥
विचारसारक्रकचेन चित्त-
विषद्रुमं त्वद्भुतमद्रिकल्पम् ।
आशामहाशाखमशङ्कमेनं
छिन्धि प्रसह्याऽत्र विकल्पपत्रम् ॥ ६५ ॥
मत्तेक्षणं चैकतटोपवेशं
विश्रान्तिसौख्येष्वसमर्थमुग्रम् ।
आलोकनोत्कं सुजनक्रमाब्ज-
खण्डस्य चण्डं सुखदुःखगण्डम् ॥ ६६ ॥
चेतोगजं कायकुकाननस्थं
सुतीक्ष्णया धीकरजाग्रपङ्क्त्या ।
विदारयाऽऽदीर्घविकारदन्तं
क्रियाकरं राघव ! राजसिंह ! ॥ ६७ ॥

अनात्मा में अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि में आत्मभाव से, इस देहमात्र में आस्था से, पुत्र, कलत्र और कुटुम्ब से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

अहंकार के विकास से, ममतारूपी मल में आसक्ति से तथा यह शरीर मेरी आत्मा या भोगस्थान है, इस भाव से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥ ५८ ॥

जरा-मरणरूपी दुःख से पूर्ण, व्यर्थ ही दिन-पर-दिन बढ़े हुए दोषरूपी साँपों के विषरूपी 'इदं मम' इस भाव से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥

आधि मानसिक व्यथा और व्याधि शारीरिक व्यथा की अभिवृद्धि से, संसार की रमणीयता, चिरस्थायिता आदि के विश्वास से और यह हेय उपादेय है इस प्रयत्न से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

स्त्री, पुत्र आदि के प्रति स्नेह तथा मणि और स्त्रियों के लाभ से, जो आपाततः रमणीय प्रतीत होता है, उत्पन्न हुए धन के लोभ से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥

दुराशा रूपी दुग्ध के पान से, भोगरूपी पवन के बल से, आदर प्रदान से तथा नाना विषयों में संसार से चित्त रूपी सर्प स्थूलता को प्राप्त होता है ॥ ६२ ॥

विष से जैसी दाह, मूर्च्छा और व्याकुलता होती है वैसी दाह, मूर्च्छा और व्याकुलता को सूचित करने वाले भीषण भोगों के सेवन से, जिसके स्वरूप और स्वभाव आवागमन वाले हैं, ऐसा चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥

शरीर रूपी बुरे गड्ढे में चिरकाल से उगे हुए इस अद्भुत चित्त रूपी विष वृक्ष को विविध चिन्ताएँ ही जिसमें लम्बी-लम्बी मञ्जरियाँ हैं, जो जरा, मरण और व्याधि रूपी फलों के समूह से लदा है, कमोपभोगों के समूह ही जिसमें खिले हुए फूल हैं, आशा ही बड़ी-बड़ी शाखाएँ हैं, विकल्प ही पत्ते हैं और जो पर्वत के तुल्य अचल है, विचार रूपी मजबूत आरे से उसे शीघ्र ही हठात् निशङ्क काट डालो ॥ ६४–६५ ॥

हे राघव ! हे राजाओं में सिंह ! आप चित्त रूपी हाथी को अत्यन्त चोखी बुद्धि रूपी नखराशियों से चीर डालिये। उक्त चित्तरूपी हाथी के आगम, अनुमानरूपी नेत्र आत्मतत्त्व विवेक में प्रमाद करने वाले हैं, वह एक बहिर्मुखरूप संसार पर्वत तटपर बैठता है, वह अन्तर्मुख विश्रान्ति सुख का अनुभव करने में असमर्थ है, द्वेष, ईर्ष्या आदि से भीषण होने के कारण उग्र है, सज्जनों द्वारा गृहीत होने वाले शम, दम, तितिक्षा आदि रूप कमल वन के अवलोकन में उत्कण्ठित तो है, पर अत्यन्त क्रोधी है, उसके रक्षण में अयोग्य है, सुख और दुःख ही उसके शीतल और गर्म वाष्प वाले मद को बहाने वाले गण्डस्थल हैं, वह शरीररूपी भीषण वन में रहता है और बड़े-बड़े काम आदि विकार ही उसके दाँत हैं, वह धैर्य आदि क्रिया का उच्छेदरूप कार्य करता है ॥ ६६-६७ ॥

रतिं गतं नित्यमसत्प्रदेशे
शरीरमांसग्रसनेन पुष्टम् ।
दुष्टक्रियाकर्कशचञ्चुदण्ड-
मेकेक्षणं पुष्टतमोंशुकृष्णम् ॥ ६८ ॥
दूरे समुत्सारय भारभूतं
दुश्चेष्टितं कर्कशमारटन्तम् ।
गन्धोद्गतं कायकुलायकोशाद्
दोषोपशान्त्यै निजचित्तकाकम् ॥ ६९ ॥
तृष्णापिशाच्या परिचर्यमाणं
विश्रान्तमज्ञानमहावटेषु ।
भ्रान्तं चिरं देहशतेष्वटव्यां
स्वसंसृतौ चेतनवर्जितेषु ॥ ७० ॥
विवेकवैराग्यगुरुप्रयत्नमन्त्रैः
स्वतन्त्रैः स्वचिदात्मगेहात् ।
नोत्सादयेच्चित्तपिशाचमेनं
यावत् कुतस्तावदिहाऽऽत्मसिद्धिः ॥ ७१ ॥

स्त्रीचिह्न आदि कुत्सित स्थानों में नित्य आसक्ति को प्राप्त, शरीररूपी मांस के ग्रसन के तुल्य अन्तर्भाव के आपादन से पुष्ट, परमर्मभेदनरूपी दुष्कर्म में कठोर चोंच वाले, केवल स्वार्थ में ही दृष्टि रखने वाले, वृद्धि को प्राप्त तामस वृत्तियों से मलिन, वहन करने वाले आत्मा के भारभूत, दुष्ट चेष्टा वाले, कठोर शब्द कर रहे तथा दुर्वासनाओं से आविर्भूत अपने चित्तरूपी श्मशान आदि गर्हित स्थानों में सदा आसक्त, मांस के ग्रसन से पुष्ट शव आदि के मर्मस्थानों को नोचने में कठोर चोंच वाले, एक आंख वाले, गाढ़ अन्धकार के भागों के समान काले, वृक्ष आदि के भारभूत, दुष्ट चेष्टाएँ करने वाले, कर्ण कठोर काँव-काँव शब्द कर रहे, दुर्गन्धि से चले हुए कौए को दोषों की शान्ति के लिए ारीररूपी घोंसले के अन्दर से दूर हटा दें ॥ ६८-६९ ॥

अज्ञानरूपी महान् वटवृक्षों पर बैठे हुए, तृष्णारूपी पिशाचिनी द्वारा सेव्यमान, चित्त के हटने पर चेतन रहित अनन्त कोटि देहरूपी अरण्य में चिरकाल तक भटके हुए दस चित्तरूपी पिशाच को चिदात्मा के गृहभूत हृदय से जबतक विवेक, वैरान्य, गुरुसमीप गमन, पुरुषकार आदि स्वतन्त्र मन्त्रों द्वारा पुरुष नहीं हटाता तब तक यहां पर आत्मसिद्धि कैसे हो सकती है ? ॥ ७०-७१ ॥

शुभाशुभास्यं हतमानवौघं
चिन्ताविषं कायकुकञ्चुकं च ।
अजस्रमच्छश्वसनाशनं च
सर्वस्य नानाभयनाशदं च ॥ ७२ ॥
हृदब्जदुःशाल्मलिकोटरस्थ-
ममोघया चित्खगमन्त्रशक्त्या ।
नीत्वा शमं राम ! मनोमहाहिं
भयं भृशं प्रोज्झ्य भवाऽभयात्मा ॥ ७३ ॥
अमङ्गलाकारधरः शरीर-
शवावलीसन्ततसेवनेन ।
दिगावलीसंभ्रमणश्रमार्तः
श्मशानसेवी वपुषा क्षतेन ॥ ७४ ॥
भोगामिषो दिक्ष्वभिधावमान
उत्कन्धरो धीरविवृद्धगर्धः ।
उड्डीय वै गच्छति चित्तगृध्रो
देहद्रुमात् तन्निपुणं जयस्ते ॥ ७५ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! शुभ और अशुभ रूप दो दाढ़ वाले चित्तरूपी सर्प को जो एक-दो नहीं अनेकानेक मनुष्यों की हत्या कर चुका है, चिन्ता ही जिसका विष है, शरीर ही गर्हित केंचुल है, निरन्तर श्रम आदि दोषों से रहित प्राणवायु ही जिसका भोजन है, जो सबको विविध भय और मृत्यु देता है एवं हृदयकमलरूपी सेमर के पेड़ के खोखले में रहता है, चिदेकरस ब्रह्मरूपी गरुड के बोधक 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि मन्त्रों के अमोघ प्रभाव से मूलज्ञान के साथ नष्ट कर भय को सर्वथा मिटा कर निर्भय ही जाये ॥ ७२-७३ ॥

शरीररूप शवराशियों के निरन्तर अनुसन्धान से अमङ्गल आकार को धारण करनेवाला, नाना दिशाओं में भ्रमण से उत्पन्न श्रम से पीडित, अपमान, व्यय, शोक, भय आदि से क्षत-विक्षत शरीर से सुषुप्ति में श्मशान-वृक्ष के तुल्य सुप्त देह का अर्थात् शवों के भक्षण से कौए, चील आदि के प्रहार से क्षत-विक्षत शरीर करने वाले एवं श्मशान वृक्ष का सेवन करने वाला, भोगों की अभिलाषावश दिशाओं में इधर-उधर दौड़ रहा, ऊपर को गर्दन किया हुआ एवं अधीर और बढ़ी-चढ़ी अभिलाषावाला चित्तरूपी गृध्र यदि आपके देहवृक्ष से उड़कर चला जाय, तो आपकी विजय है ॥ ७४-७५ ॥

भ्रान्तं वनान्तेषु दिगन्तरेषु
फलार्थिनं चञ्चलमाकुलाङ्गम् ।
जन्मावनेर्जन्ममहीं प्रयातं
संसारबन्धं जनतां हसन्तम् ॥ ७६ ॥
द्रुमेऽक्षिनासाकुसुमे भुजादि-
शाखे विलोलाङ्गुलिजालपत्रे ।
समुल्लसन्तं परिमारयाऽन्त-
र्मनोमहामर्कटमङ्ग सिद्ध्यै ॥ ७७ ॥
अभ्युत्थितं सत्फलसंक्षयाय
लसन्मुखासङ्गितडित्प्रकाशम् ।
वर्षन्तमासारमनर्थसार्थ-
मान्दोलितं वासनवात्ययाऽन्तः ॥ ७८ ॥
सङ्कल्पसङ्कल्पनवर्जनोग्र-
मन्त्र प्रभावाद्धृदयाम्बरस्थम् ।
सोत्साहमुत्सादय चित्तमेघं
बृहत्फलं प्राप्य भवाऽलमाद्यः ॥ ७९ ॥

फल चाहने वाले, चञ्चल तथा व्याकुल अङ्ग-प्रत्यङ्ग वाले मनरूपी महामर्कट को, जो वनप्रान्तों में दिशाओं के मध्यों से खूब भटका है, एक जन्मरूपी भूमि से दूसरी जन्मरूपी भूमि में गया है, जनता और उसके संसारबन्धन का अपनी चेष्टाओं द्वारा अनुकरण कर रहा है तथा आँख और नाक जिसके फूल हैं, भुजा आदि जिसकी शाखाएँ हैं और चञ्चल अङ्गुलियाँ जिसके पत्ते हैं, ऐसे देहरूपी वृक्ष पर उल्लास को प्राप्त हो रहा है। उसे सिद्धि के लिए चारों ओर से घेर कर भीतर ही भीतर मार डाले ॥७६-७७॥

परमार्थ सुखरूप सत्फल के अथवा मेघपक्ष में पकी हुई फसल के नाश के लिए असमय के उपस्थित हुए, हृदयरूपी आकाश में स्थित चित्तरूपी मेघ का, जिसके मुख सदृश बहिर्मुखवृत्ति के अग्रभाग में प्रतिबिम्बन द्वारा बिजली के समान चिदाभास प्रकाश संक्रान्त है, जो अनर्थ समूहरूपी मूसलाधार वृष्टि कर रहा है, वासनारूपी आंधी ने जिसे भीतर चक्कर में डाल रक्खा है, संकल्पों के बार-बार समर्थनों के त्यागरूप अचूक मन्त्रों के प्रभाव से उत्साहपूर्वक उच्छेद कर जीवन्मुक्तिरूप महान् पद नित्य मुक्तात्मा हो जाइये ॥ ७८-७९ ॥

जिसकी आत्मा ही उपादान कारण है ऐसी कल्प की आदि सृष्टि से लेकर आजतक की गयी पुण्य-पाप कर्मों से निरन्तर गांठ देने से मजबूत बनायी गयी मन्त्रों द्वारा छिन्न-भिन्न नहीं हुई, अग्नि से जलायी न गयी आत्मा

ग्रन्थीकृतं कर्मभिरात्मसृष्टे-
र्मन्त्रैरभेद्यं ज्वलनैरदग्धम् ।
पीडां परामात्मनि कल्पयन्तं
समस्तजात्यन्तरदीर्घदाम ॥ ८० ॥
संप्रोतनिःसंख्यशरीरमालं
बलादसंकल्पनमात्रशस्त्रैः ।
छित्त्वा स्वयं राघव चित्तपाशं
यथासुखं त्वं विहराऽस्तशङ्कः ॥ ८१ ॥
फूत्कारदग्धाखिलपान्थलोक-
मत्यन्तदुष्प्रापपरप्रबोधम् ।
आशीविषं शोषितलोकखण्डं
व्यात्त्यामिषोद्धूतशरीरदण्डम् ॥ ८२ ॥
आमन्थरं देहगुहासु सुप्तं
संकल्पघोराजगरं जवेन ।
अकामनानामुमहानलेन
बलेन दग्ध्वा विभवो भव त्वम् ॥ ८३ ॥

में महती पीड़ा की कल्पना कर रहे, अतएव सब नाना योनियों के विविध जन्मों के क्रमशः बन्धन के लिए लम्बी रस्सी के समान स्थित चित्तरूपी जाल को, जिसमें असंख्य शरीर पङ्क्तियां गूंथी गई हैं, असंकल्परूप शस्त्रों से जबर्दस्ती काटकर आप स्वयं पुनर्जन्मशङ्कारहित होकर सुखपूर्वक विहार करें ॥ ८०-८१ ॥

आप जिसने क्रोध आदि रूप सविष (विषैले) फुफकार से दक्षिण-उत्तर मार्ग से जाने वाले जीवों को जला डालने वाले संकल्परूपी भयङ्कर अजगर को जिसके कारण परतत्त्व का बोध तो अत्यन्त दुर्लभ है, जो अत्यन्त विषैला है, अतएव अपने विष से जिसने सब भुवनों को संतप्त कर दिया है, तृष्णारूपी मुँह को खोलकर विषयरूपी भोग्य वस्तुओं के लिए चार प्रकार के शरीररूपी दण्ड को जिसने कँपाया है, जो मोक्ष के उद्योग में आलसी होने के कारण मन्दगति वाला है और देहरूपी गुहा में सोया है, शीघ्र परम वैराग्य नामक महा अग्नि से जबर्दस्ती भस्म करके आप अपने स्वरूप में पूर्णानन्दवैभव वाले हो जाइये ॥ ८२-८३ ॥

वैराग्य से संकल्प पर विजय पाने से चित्तशुद्धि होने पर उसी प्रकार ज्ञान और समाधि के क्रम से चित्त पर विजय भी हो जाती है, ऐसा कहते हैं—'चित्तेन' इत्यादि से ।

चित्तेन चेतः शममाशु नीत्वा
शुद्धेन घोरास्त्रमिवाऽस्त्रयुक्त्या ।
चिराय साधो ! त्यज चञ्चलत्वं
विमर्कटो वृक्ष इवाऽक्षतश्रीः ॥ ८४ ॥

अमलमिति च कृत्वा चेतसा वीतशङ्क-
मुपशमितमनोऽन्तः सर्वमादेहमेव ।
तृणलवलघुपश्यँल्लीलया हेयदृष्ट्या
पिब विहर रमस्व प्राप्तसंसारपारः ॥ ८५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे राघवाशयविनियोगो नाम पञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५० ॥

हे सज्जन ! जैसे अस्त्र के प्रयोग से घोर अस्त्र का शमन किया जाता है वैसे ही शुद्ध चित्त से चित्त का शीघ्र शमन कर आप बन्दर से छुटकारा पाये हुए जिसकी शोभा नष्ट-भ्रष्ट नहीं हुई ऐसे वृक्ष के समान चिरकाल-तक चञ्चलता का त्याग करें ॥ ८४ ॥

तत्त्वावबोध से प्रत्यगात्मा में उपशम को प्राप्त मन को राग आदि मलों से शून्य बनाकर निर्मल चित्त से स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहपर्यन्त सब दृश्य समूह को हेयदृष्टि से तिनके के टुकड़े से भी तुच्छ समझकर संसार से पार हुए आप लोकसंग्रह के लिए सोम आदि का पान करें, ऋत्विक् आदि के साथ यज्ञों में विहार करें तथा शास्त्र अविरुद्ध लौकिक विषय में रमण करें। उससे आपको पुनर्बन्धनप्राप्ति नहीं होगी ॥ ८५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में राघवाशयविनियोग नामक कुसुमलता का पचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५० ॥

५१

वसिष्ठ उवाच

परिदीर्घासु तन्वीषु सुतीक्ष्णासु सितासु च ।
क्षुरधारोपमानासु चित्तवृत्तिषु तिष्ठ मा ॥ १ ॥
कालेन महता क्षेत्रे जातेयं बुद्धिवल्लरी ।
वृद्धिं विवेकसेकेन नय तां नयकोविद ! ॥ २ ॥
यावन्म्लायति नो कायलतिका कालभास्वता ।
भूतलेऽपतितां तावदेनामुद्धृत्य धारय ॥ ३ ॥
मद्वाक्यार्थैकतत्त्वज्ञ मद्वाक्यार्थैकभावनात् ।
सुखमाप्नोषि सर्पारिर्यथाऽभ्ररवभावनात् ॥ ४ ॥
उद्दालकवदालूनं विशीर्णं भूतपञ्चकम् ।
कृत्वा कृत्वा धिया धीरधीरयाऽन्तर्विचारय ॥ ५ ॥

५१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—(ऐहिक, पारलौकिक और दूरस्थित विषयों में आसक्ति होने के कारण) बड़े लम्बे, (वासना प्रचुर होने के कारण) अत्यन्त महीन, (प्रमाद कर रहे पुरुष के तुरन्त ही समाधिसुख के विच्छेद के हेतु होने के कारण) अत्यन्त तीक्ष्ण, (आत्मा के प्रतिबिम्ब के ग्रहण में योग्यतारूप निर्मलता होने के कारण) सफेद छुरे की धार के तुल्य चित्त के चरितों में आप प्रमादवश विश्वस्त मत रहें ॥ १ ॥

हे नीतिशास्त्र विशारद ! सत्कुलरूपी खेत में उत्पन्न देहरूपी लता में चित्तशुद्धि, श्रवण आदि उपायों से यह परमात्मज्ञानरूप आपकी बुद्धिलता चिरकाल में उत्पन्न हुई है। इसे आप विवेकरूपी जल के सेक से बढ़ायें ॥ २ ॥

कालरूपी सूर्य से यह देहरूपी लता जबतक मुरझाती नहीं तबतक पृथ्वी पर न गिरी हुई इस देहलता का गुरु-शुश्रूषा, श्रवण आदि से उद्धार कर बुद्धिरूपी लता का पालन करें ॥ ३ ॥

मेरे वाक्यों के अर्थों की एकमात्र भावना से आप भी वैसे ही सुख को प्राप्त होते हैं वैसे ही आप मेरे वाक्यार्थों के एकमात्र तत्त्वज्ञ हैं जैसे मयूर मेघ के गर्जन की भावना से सुख को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

देह आदि के आरम्भक और बाह्य प्रपञ्च के आरम्भक पाँच महाभूतों को उद्दालक मुनि के समान छिन्न-भिन्न और मूलाविद्या के तहस-नहस होने से शिथिल कर उनके अधिष्ठानभूत सन्मात्र के अन्वेषण में धीरों से भी धीर बुद्धि से मन में विचार करें ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

केन क्रमेण भगवन्! मुनिनोद्दालकेन तत् ।
भूतपञ्चकमालूनं कृत्वाऽन्तः प्रविचारितम् ॥ ६ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु राम! यथा पूर्वं भूतवृन्दविचारणात् ।
उद्दालकेन संप्राप्ता परमा दृष्टिरक्षता ॥ ७ ॥
जगज्जीर्णगृहस्याऽस्य कोणे कस्मिंश्चिदातते ।
भूमेरनिलदिग्नाम्नि भूभृद्भाण्डसमाकुले ॥ ८ ॥
गन्धमादनशैलेन्द्रनाम्नि काचित् किल स्थली ।
विद्यते कीर्णकुसुमा द्रुमकर्पूरकेसरा ॥ ९ ॥
विचित्रवर्णविहगा नानावल्लीविलासिनी ।
वनेचरव्याप्ततटी पुष्पकेसरभासिनी ॥ १० ॥
क्वचित् स्फीतमहारत्ना क्वचिल्लोलाम्बुजोत्पला ।
क्वचिन्नीहारकबरी सरसीदर्पणा क्वचित् ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन्! उद्दालक मुनि ने किस क्रम से उन पञ्चमहाभूतों को छिन्न-भिन्न कर अपने अन्तःकरण में विचार किया था ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्र! प्राचीन काल में उद्दालक मुनि ने पञ्च महाभूतों के विचार से अकुण्ठित जिस तरह परम दृष्टि प्राप्त की थी? उसे आप सुने ॥ ७ ॥

इस जगत्‌रूपी जीर्ण-शीर्ण घर के किसी विस्तृत कोने में, जो पर्वतरूपी उल्टे करके रक्के हुए बर्तनों से भरा है और जिसका नाम है भूमि की आग्नेयी दिशा में खूब फूल बिखरे हुए एवं फूले हुए तेड़ ही कपूर के तुल्य सफेद पराग और केसरों से चारों ओर से व्याप्त होने के कारण उसके कर्पूर-केसर से व्याप्त गन्धमादन नाम के शैलराज पर एक अद्भुत भूमिभाग है ॥ ८—९ ॥

उस पर भांति-भाँति के पक्षि रहते हैं, नाना प्रकार की लताएँ सुशोभित रहती हैं, उसके तट वनेचरों के झुण्डों से भरे रहते हैं, फूलों के केसरों से उसकी शोभा कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है ॥ १० ॥

उसके किसी प्रदेश पर विशाल महारत्न हैं तो कहीं पर चञ्चल कमल खिले हैं, कहींपर सरोवररूपी दर्पण उसकी शोभा बढ़ाये रहते हैं, तो कहींपर कुहरारूपी केशों से वह व्याप्त रहता है ॥ ११ ॥

उस गन्धमादन पर्वत के भूमिभागपर किसी एक उठे हुए शिखरपर, जिसमें सीधे वृक्ष हैं, टखनों तक फूल

तत्र कस्मिंश्चिदुदिते सानौ सरलपादपे ।
आगुल्फाकीर्णकुसुमे स्निग्धच्छायमहाद्रुमे ॥ १२ ॥
उद्दालको नाम मुनिर्मौनी मानी महामतिः ।
अप्राप्तयौवनः पूर्वमुवासोद्दामतापसः ॥ १३ ॥
प्रथमं तु बभूवाऽसावल्पप्रज्ञोऽविचारवान् ।
अप्राप्तपदविश्रान्तिरप्रबुद्धः शुभाशयः ॥ १४ ॥
ततः क्रमेण तपसा शास्त्रार्थनियमैः क्रमैः ।
विवेक आजगामैनं नवर्तुरिव भूतलम् ॥ १५ ॥
अथेमं चिन्तयामास संसारामयभीरुधीः ।
एकान्त एव निवसन् कदाचित् कान्तमानसः ॥ १६ ॥
किं तत् प्राप्यं प्रधानं स्याद् यद्विश्रान्तौ न शोच्यते ।
यत् प्राप्य जन्मना भूयः सम्बन्धो नोपजायते ॥ १७ ॥
कदाऽहं त्यक्तमनने पदे परमपावने ।
चिरं विश्रान्तिमेष्यामि मेरुशृङ्ग इवाऽम्बुदः ॥ १८ ॥

बिखरे रहते हैं ओर घनी ठण्ढी छायावाले महावृक्ष हैं ॥ १२ ॥

वहाँ पहले उद्दालक नाम के एक मौनी मुनि रहते थे। वे यत्न से मैं अवश्य पुरुषार्थ का साधन करूँगा ऐसा अभिमान रखते थे और शास्त्र, अनुमान आदि प्रमाण में कुशल थे। उनका मन महा उदार था और वे बड़े तपस्वी थे। अभी उन्हें युवावस्था प्राप्त नहीं हुई थी ॥ १३ ॥

पहले तो वे अल्प प्रज्ञा वाले, अविचारवान्, परम पद में विश्रान्ति को अप्राप्त, अप्रबुद्ध तथा प्रबोध के अनुकूल पुण्यपूर्ण अन्तःकरण वाले थे ॥ १४ ॥

अनन्तर क्रमशः तपस्या से शास्त्रार्थ के नियमों से अभ्यासपरिपाक के क्रमों से वैसे ही उन्हें विवेक प्राप्त हुआ जैसे भूतल को वसन्त ऋतु प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

अनन्तर एकान्त में ही निवास कर रहे, संसाररूपी रोग से भयभीत बुद्धि वाले, पवित्र मन वाले उन्होंने किसी समय इस प्रकार विचार किया ॥ १६ ॥

जिसमें विश्रान्ति होने पर फिर शोक नहीं होता तथा जिसे प्राप्त करके फिर जन्म से सम्बन्ध नहीं होता ऐसा प्राप्त करने योग्य पुरुषार्थों में से प्रधान पुरुषार्थ क्या है? ॥ १७ ॥

मैं परम पावन पद में, जिसमें मन के व्यापारों का त्याग हो चुका, चिरकालतक कब वैसे ही विश्रान्ति को प्राप्त करूँगा? जैसे मेरुपर्वत के शिखरपर मेघ चिरकालतक विश्राम को प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

कदा शममुपैष्यन्ति ममाऽन्तर्भोगसंविदः ।
आलोलकल्लोलरवा ऊर्मयोऽम्बुनिधाविव ॥ १९ ॥
इदं कृत्वेदमप्यन्यत् कर्तव्यमिति कल्पनाम् ।
कदाऽन्तर्विहसिष्यामि पदविश्रान्तया धिया ॥ २० ॥
कदा विकल्पजालं मे न लगिष्यति चेतसि ।
स्थितमप्युज्झितासङ्गं पयः पद्मदले यथा ॥ २१ ॥
कदा बहुलकल्लोलां नावा परमया धिया ।
परितीर्णो भविष्यामि मत्तां तृष्णातरङ्गिणीम् ॥ २२ ॥
कदेमां जागतैर्भूतैः क्रियमाणामसन्मयीम् ।
क्रियामपहसिष्यामि बाललीलामिवाऽऽकुलाम् ॥ २३ ॥
कदा विकल्पपर्यस्तं मनो दोलावदोलनम् ।
शममेष्यति मे शान्तवातौजस इव भ्रमः ॥ २४ ॥
कदोदितवपुर्भासा विहसञ्जागतीर्गतीः ।
अन्तः संतोषमेष्यामि विराडात्मेव पूर्णधीः ॥ २५ ॥

मेरे अन्दर भोगतृष्णाएँ, जिनकी ध्वनि अशान्त कल्लोलों की ध्वनि के समान गंभीर है वैसे ही कब शान्त होंगी जैसे चञ्चल अशान्त कल्लोलों की ध्वनि के समान ध्वनिवाली तरङ्गे समुद्र में शान्त हो जाती है ॥ १९ ॥

मुझे यह कार्य करके यह भी दूसरा कार्य कर्तव्य है, इस कल्पना का मैं परमपद में विश्रान्त बुद्धि से अपने अन्दर कब उपहास करूँगा ? ॥ २० ॥

केवल आभास से मेरे चित्त में स्थित होते हुए भी उपेक्षा करने के कारण सम्बन्ध रहित विविध विकल्प मेरे चित्त में वैसे ही कब न लगेंगे जैसे कमल के पत्ते में स्थित भी जल स्पर्श न होने के कारण कमल के पत्ते में नहीं लगता ? ॥ २१ ॥

मैं बहुत-सी बड़ी-बड़ी तरङ्गों से भरी हुई तथा अविवेक से खूब बढ़ी हुई तृष्णारूपी नदी को विवेक बुद्धिरूपी नौका से कब पार कर जाऊँगा ? ॥ २२ ॥

मैं जगत् के प्राणियों से की जा रही असन्मयी तथा चित्त को व्यग्र करने वाली इस बाह्य प्रवृत्ति का बालकों की क्रीड़ा के समान कब उपहास करूँगा ? ॥ २३ ॥

विकल्पों से विक्षिप्त, झूले के समान अशान्त मेरा मन वैसे ही कब शान्ति को प्राप्त होगा ? जैसे जिसका उन्मादरूपी वातरोग निवृत्त हो चुका ऐसे पुरुष की विक्षिप्तता शान्त हो जाती है ॥ २४ ॥

आविर्भूत हुए स्वरूप के प्रकाश के लिटकने से जगत् की विविध गतियों का उपहास कर रहा मैं ब्रह्माण्ड शरीर वाले सर्वव्यापक आत्मा के समान परिपूर्ण बुद्धि हो कब अन्तःकरण में सन्तोष को प्राप्त करूँगा ॥ २५ ॥

अन्तः समसमाकारः सौम्यः सर्वार्थनिस्पृहः ।
कदोपशममेष्यामि मन्थमुक्तामृताब्धिवत् ॥ २६ ॥
कदेमामचलां दृश्यश्रियमाशाशतात्मिकाम् ।
सर्वां सुषुप्तवत् पश्यन् भविष्याम्यन्तराततः ॥ २७ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं सर्वं शान्तकल्पनया धिया ।
पश्यंश्चिन्मात्रमखिलं भावयिष्याम्यहं कदा ॥ २८ ॥
कदोपशान्तचित्तात्मा चित्तामुपगतः पराम् ।
परमालोकमेष्यामि जात्यन्धविगमादिव ॥ २९ ॥
कदाऽभ्यासोपलभ्येन चित्प्रकाशेन चारुणा ।
दूरादालोकयिष्यामि तन्वीं कालकलामिमाम् ॥ ३० ॥
ईहितानीहितैर्मुक्तो हेयोपादेयवर्जितः ।
कदाऽन्तस्तोषमेष्यामि स्वप्रकाशपदे स्थितः ॥ ३१ ॥
कदाशाकौशिकोकीर्णा जाड्यजीर्णहृदम्बुजा ।
क्षयमेष्यति कृष्णेयं कदा मे दोषयामिनी ॥ ३२ ॥

परमात्मा से एकरस आकार वाला सौम्य, धर्म, अर्थ तथा कामरूप त्रिवर्ग में स्पृहा रहित हो मैं कब वैसे ही अन्तःकरण में शान्ति को प्राप्त करूँगा ? जैसे मथन से उत्पन्न विक्षेप से मुक्त हुआ क्षीरसागर समाधिस्थ भगवान् श्रीविष्णु से सुशोभित आकार वाला, प्रशान्त और मथन से निकली हुई अमृत, कौस्तुभ आदि वस्तुओं में निस्पृह हो शान्ति को प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

सैकड़ों आशापाशरूपी इस अचल-अटल सारी दृश्य शोभा को सन्मात्ररूप से देख रहा मैं कब अपने अन्दर अपरिच्छिन्न स्वरूप को प्राप्त होऊँगा ॥ २७ ॥

शान्तकल्पनावाली बुद्धि से बाहरी और भीतरी सारे प्रपञ्च को चिन्मात्र देख रहा मैं कब उसकी भावना से स्थिर होऊँगा ? ॥ २८ ॥

शान्त चित्त स्वरूपवाला उत्तम चिदेकरसता को प्राप्त मैं जन्मान्धता के सदृश अनादि मूलाज्ञान के हटने से कब परम आलोक को प्राप्त करूँगा ॥ २९ ॥

अभ्यास से प्राप्त होने योग्य सुन्दर चैतन्यरूपी प्रकाश से बाधितानुवृत्तिरूप होने के कारण तुच्छ आयुक्षेपरूप कालकला को आत्मा से सम्बन्ध न होने के कारण दूर से ही कब देखूँगा ॥ ३० ॥

इष्ट और अनिष्टों से निर्मुक्त हेय और उपादेय से रहित एवं स्वयंज्योति परम पद में स्थित मैं कब अन्तः-करण में सन्तोष को प्राप्त करूँगा ॥ ३१ ॥

दुराशारूपी उल्लुओं से पूर्ण मूर्खता से (दूसरे पक्ष में बर्फ से) हृदयरूपी कमल को जिसने जीर्ण-शीर्ण कर दिया

कदोपशान्तमननो धरणीधरकन्दरे ।
समेष्यामि शिलासाम्यं निर्विकल्पसमाधिना ॥ ३३ ॥
कदा मे मानमातङ्गः स्वाभिमानमहामदः ।
सत्त्वावबोधहरिणा हतो नाशमुपैष्यति ॥ ३४ ॥
निरंशध्यानविश्रान्तेर्मूकस्य मम मूर्धनि ।
कदा तार्णं करिष्यन्ति कुलायं वनघूर्णिकाः ॥ ३५ ॥
कदा निःशङ्कमुरसि ध्यानधीरधियः खगाः ।
मम विश्रान्तिमेष्यन्ति शैलस्थाण्वचलस्थितेः ॥ ३६ ॥
तृष्णाकरञ्जजटिलां जन्मजर्जरगुल्मिकाम् ।
संसारारण्यसरसीं त्यक्त्वा यास्याम्यहं कदा ॥ ३७ ॥
इति चिन्तापरवशो वन उद्दालको द्विजः ।

है तथा काली मेरी यह अविद्यान्धकाररूपी रात्रि कब नाश होगी ? ॥ ३२ ॥

पर्वत की गुफा में निर्विकल्प समाधि से शान्तमनोव्यापारवाला चिदेकरसता से मनोवृत्ति रहित मैं कब शिला की समता को प्राप्त करूँगा ॥ ३३ ॥

स्वांशभूत अभिमानवृत्तिरूपी मद-प्रवाह वाला मेरा अहङ्काररूपी हाथी परमार्थ सन्मात्र के ज्ञानरूप सिंह के द्वारा निहत होकर कब नाश को प्राप्त होगा ? ॥ ३४ ॥

निर्विकल्प ध्यान में मग्न मौनव्रतधारी मेरे मस्तक पर वनघूर्णिकाएँ (एक प्रकार की चिड़ियाँ) कब तिनकों का घोंसला बनावेंगी ॥ ३५ ॥

ध्यान में स्थिर बुद्धिवाले पर्वत के ठूँठ के समान निश्चल स्थिति वाले मेरे वक्षःस्थल पर लम्बमान जटाओं के अग्रभाग में बनाये गये घोंसले में चिड़ियाँ कब निःशङ्क होकर विश्राम लेंगी ॥ ३६ ॥

तृष्णारूपी करञ्ज के वृक्षों से चारों ओर व्याप्त, काम आदिरूपी मृगों से जर्जर जन्मरूपी झाड़ियों से भरे हुए संसाररूपी जङ्गली तालाब का त्याग कर मैं कब जाऊँगा ॥ ३७ ॥

इस प्रकार की चिन्ताओं से परवश हुए उद्दालक नाम के ब्राह्मण ने बार-बार ध्यान में बैठते हुए वन में ध्यानाभ्यास किया ॥ ३८ ॥

किन्तु विषयों से हृत अतएव बन्दर के समान चञ्चल चित्त में प्रसन्नताप्रदान करनेवाली समाधिस्थिरता उन्हें नहीं मिली ॥ ३९ ॥

किसी समय बाह्य विषयों के सम्बन्ध के त्याग के बाद उनका चित्तरूपी वानर सात्त्विक देवता आदि से भोग्य विषय में या सात्त्विक वृत्ति के सुखास्वाद में मनो-

पुनःपुनस्तूपविशन्ध्यानाभ्यासं चकार ह ॥ ३८ ॥
विषयैर्नीयमाने तु चित्ते मर्कटचञ्चले ।
न स लेभे समाधानप्रतिष्ठां प्रीतिदायिनीम् ॥ ३९ ॥
कदाचिद् बाह्यसंस्पर्शपरित्यागादनन्तरम् ।
तस्याऽगच्छच्चित्तकपिः प्रोद्वेगं सत्त्वसंस्थितौ ॥ ४० ॥
कदाचिदान्तरस्पर्शान् परित्यज्य मनःकपिः ।
लोलत्वात्तस्य संयातो विषयं विषदग्धवत् ॥ ४१ ॥
कदाचिदुदितार्काभं तेजो दृष्ट्वाऽन्तरे मनः ।
विषयोन्मुखतां यातं तस्य तामरसेक्षण ॥ ४२ ॥
आन्तरान्ध्यतमस्त्यागं कृत्वा विषयलम्पटम् ।
तस्योड्डीय मनो याति कदाचित् त्रस्तपक्षिवत् ॥ ४३॥

रथों द्वारा चञ्चल हुआ ॥ ४० ॥

किसी समय उनका मनरूपी वानर चञ्चलतावश अन्दर होने वाले समाधि-सुख-सम्बन्ध का त्यागकर विषयों को वैसे ही प्राप्त हुआ जैसे विष से मरा हुआ पुरुष जठराग्निसम्बन्धी देह की उष्णता का त्यागकर अन्य लोक में जाता है ॥ ४१ ॥

हे कमलनयन ! कभी उनका मन हृदयाकाश में उदित हुए सूर्य के सदृश तेज को देखकर विषयों में उन्मुख हो गया संस्कृत व्याख्या में इसको व्यक्त करते हुए लिखा है—

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥

योगी की पहले तुषार के समान चित्तवृत्ति होती है, अनन्तर धुँए के समान चित्तवृत्ति होती है, अनन्तर सूर्य के समान चित्तवृत्ति होती है, अनन्तर अग्नि के समान चित्तवृत्ति होती है, अनन्तर भीतर का वायु बाह्य वायु के समान क्षुभित होता है, अनन्तर जुगनू के समान चित्तवृत्ति होती है, अनन्तर बिजली के समान, तदुपरान्त स्फटिक के समान, अनन्तर पूर्ण चन्द्र के सदृश चित्तवृत्ति होती है। इस तरह तुषार धुँआ, सूर्य, अग्नि, वायु, जुगनू, बिजली स्फटिक और पूर्णचन्द्रमा के रूप के सदृश ये बुद्धि के रूप योगियों के अनुभवसिद्ध हैं। योग करने पर ब्रह्म की अभिव्यक्ति के द्योतक ये पूर्वरूप (चिह्न) आविर्भूत होते हैं ॥ ४२ ॥

कभी उनका मन हृदयवर्ती गाढ़ अज्ञानरूपी अन्धकार का थोड़ी-बहुत ब्रह्म की अभिव्यक्ति से त्याग कर उसी समय विषमवासना के जागने से विषयलम्पट होकर भयभीत पक्षी के समान उड़कर चला जाता था ॥ ४३ ॥

बाह्यानाभ्यन्तरान् स्पर्शांस्त्यक्त्वा निद्रां च तन्मनः ।
तमस्तेजोऽन्तिके लेभे कदाचिच्छाश्वतीं स्थितिम् ॥४४॥
इति पर्याकुलस्याऽन्तः स खलु ध्यानवृत्तिषु ।
दरीष्वन्वहमुग्रासु वातमग्न इव द्रुमः ॥ ४५ ॥
अतिष्ठद् ध्यानसंरूढमननः सङ्कटे यथा ।
दोलायितवपुस्तुच्छतृष्णातीरतरङ्गकैः ॥ ४६ ॥
अथ पर्याकुलमना विजहार मुनिर्गिरौ ।
प्रत्यहं दिवसाधीशो महामेराविवैककः ॥ ४७ ॥
समस्तभूतदुष्प्रापामेकदा प्राप कन्दराम् ।
संशान्तसर्वसंचारां मुनिर्मोक्षदशामिव ॥ ४८ ॥
अपर्याकुलितां वातैरप्राप्तमृगपक्षिणीम् ।
अदृष्टां देवगन्धर्वैः परमाकाशशोभनाम् ॥ ४९ ॥
पुष्पप्रकरसंछन्नां मृदुशाद्वलकोमलाम् ।
ज्योतीरसाश्मसंप्रोतैः कृतां मरकतैरिव ॥ ५० ॥
सुस्निग्धशीतलच्छायां प्रकटां रत्नदीपकैः ।
सुगुप्तां वनदेवीनामन्तःपुरकुटीमिव ॥ ५१ ॥
कुलम्बनाहिमालोकां नाऽत्युष्णां नाऽतिशीतलाम् ।
शारदस्योदितार्कस्य हेमगौरीं प्रभामिव ॥ ५२ ॥
बालालोकपरिम्लानां कोमलाशब्दमारुताम् ।
मञ्जरीजटिलोपेतां बालां मालावतीमिव ॥ ५३ ॥
उपशमपदवीमिवाऽनुरूपां
कमलजविश्रमणाय योग्यरूपाम् ।
कुसुमनिकरकोमलाभिरामां
सरसिजकोटरकोमलां समन्तात् ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे उद्दालकमनोरथो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

कभी उनका मन बाह्य विषयों के सम्बन्धों का और आभ्यन्तर समाधिसुख-सम्बन्धों का त्याग कर अज्ञान और तेज आत्मज्योति के अन्तराल में लीन होकर निद्रारूपी चिरकाल तक चलनेवाली स्थिति को प्राप्त होता था ॥४४॥

जैसे वायु द्वारा निकटवर्ती जल में डुबाया गया और तीर की लहरों से हिलाया जा रहा वृक्ष बड़े संकट में स्थित रहता है वैसे ही बड़ी-बड़ी गुफाओं में ध्यानमग्न मन वाले उद्दालक से ध्यानवृत्तियों में व्याकुल मन के मध्य में तुच्छ तृष्णारूपी तीरतरङ्गों से दोलायित शरीरवाले होकर बड़े संकट में स्थित रहे ॥ ४५, ४६ ॥

अनन्तर व्याकुल मन वाले मुनि पर्वत पर वैसे ही भ्रमण करते थे -जैसे सूर्य प्रतिदिन महामेरु में अकेले ही भ्रमण करते हैं ॥ ४७ ॥

एक समय वे सब प्राणियों से दुष्प्राप्य सबके संचार से रहित कन्दरा में जैसे मुनि सबके संचार से रहित मोक्ष-दशा को प्राप्त होता है वैसे ही पहुँचे ॥ ४८ ॥

उस कन्दरा में वायु द्वारा विक्षेप-व्याकुलता न थी, कोई मृग-पक्षी वहाँ कभी नहीं पहुँचे थे, देवता और गन्धर्वोंतक को उसका दर्शन कभी नहीं मिला था और वह परमाकाश के (ब्रह्म के) समान शोभायमान थी ॥ ४९ ॥

पुष्पों की राशियों से वह कन्दरा चारों ओर आच्छन्न थी, नरम हरी घास से ढकी होने से बड़ी भली लगती थी, मालूम होता था कि मानो तेज स्वरूप रस के चन्द्रमा के पत्थरों के साथ चन्द्रकान्तमणियों के साथ जोड़ी हुई मरकत मणियों से बनाई गई है ॥ ५० ॥

उसके दरवाजे पर बड़ी मीठी और ठण्ढी छाया थी, रत्नरूपी दीपकों से वह जगमगाती थी और वनदेवियों के अन्तःपुर की कुटी के समान बड़ी गुप्त थी ॥ ५१ ॥

उसके दरवाजे पर केवल शीतनिवारण करने वाले आलोक फैलते थे, शरद् ऋतु के प्रातःकालीन सूर्य की प्रभा के समान न वह अति उष्ण थी और न अति शीतल थी उसका सुवर्ण के समान पीला रङ्ग था ॥ ५२ ॥

वह गुफा बाल आतप से सूखी हुई थी उसमें बिना शब्द का मन्द-मन्द पवन बहता था और मञ्जरियों से लदे हुए वृक्षों से वह युक्त थी। वह स्वयंवर के लिए तत्पर अतः हाथ से वरमाला लिए हुए राज्यकन्या के समान थी ॥ ५३ ॥

वह गुफा कमल के मध्यभाग के समान कोमल थी, ब्रह्मा के विश्राम के योग्य थी, चारों ओर फूलों की राशियों से कोमल और बड़ी मनोहर थी तथा उपशम पदवी के समान सदा ही आश्रयण के अनुरूप थी ॥ ५४॥

इस प्रकार ऋषीप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में उद्दालकमनोरथ नामक कुसुमलता का इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५१ ॥

५२

वसिष्ठ उवाच

स तां विवेश धर्मात्मा गन्धमादनकन्दराम् ।
चित्रभ्रमणसम्प्राप्तामलिः पद्मकुटीमिव ॥ १ ॥
समाधानोन्मुखतया प्रविशन् स व्यराजत ।
सर्गव्यापारविरतावात्मपुर्यामिवाऽब्जजः ॥ २ ॥
चकाराऽऽसनमम्लानैः पत्रैरन्तस्वगुच्छकम् ।
मृदु मेघविधिर्वृन्दमम्भोदमिव तत्र सः ॥ ३ ॥
स तत् प्रस्तारयामास पृष्ठे चारु मृगाजिनम् ।
नीलरत्नतटे मेरुस्तारासारमिवाऽम्बरम् ॥ ४ ॥
स तत्रोपाविशद् वृत्तीश्चेतसस्तनुतां नयन् ।
अन्तःशुद्धवपुः श्रृङ्गे वृष्य मूक इवाऽम्बुदः ॥ ५ ॥
बुद्धवत् सुदृढं बद्धपद्मासन उदङ्मुखः ।
पार्ष्णिभ्यां वृषणौ धृत्वा चकार ब्राह्ममञ्जलिम् ॥ ६ ॥
वासनाभ्यः समाहृत्य मनोमृगमुपप्लुतम् ।
निर्विकल्पसमाध्यर्थं चकारेमां विचारणाम् ॥ ७ ॥
अयि मूर्ख ! मनः कोऽर्थस्तव संसारवृत्तिभिः ।
धीमन्तो न निषेवन्ते पर्यन्ते दुःखदां क्रियाम् ॥ ८ ॥
अनुधावति यो भोगांस्त्यक्त्वा शमरसायनम् ।
संत्यज्य मन्दारवनं स याति विषजङ्गलम् ॥ ९ ॥
यदि यासि महीरन्ध्रं ब्रह्मलोकमथाऽपि वा ।
तन्न निर्वाणमायासि विनोपशमनामृतम् ॥ १० ॥
आशाशतावपूर्णत्वे त्वमेवं सर्वदुःखदम् ।
त्यज्य याहि परं श्रेयः परमेकान्तसुन्दरम् ॥ ११ ॥
इमा विचित्राः कलना भावाभावमयात्मिकाः ।
दुःखायैव तवोग्राय न सुखाय कदाचन ॥ १२ ॥

५२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वे धर्मात्मा मुनि बहुत प्रकार के अन्वेषण से मिली हुई पद्मगर्भ के समान मनोहर उस गन्धमादन गुफा में वैसे ही प्रविष्ट हुए जैसे भ्रमर बहुत प्रकार के भ्रमण से मिले हुए कमलगर्भ में प्रवेश करता है ॥ १ ॥

समाधिप्रवणता से उस गुफा में प्रवेश कर रहे वे वैसे ही विराजित हुए जैसे सृष्टि-रचना वैराग्य होने पर सत्यलोक में स्थित अपराजिता नाम की अथवा भगवन्नाभिकमलरूप अपनी नगरी में प्रवेश कर रहे ब्रह्मा जी विराजमान होते हैं ॥ २ ॥

वहां पर उन्होंने ताजे पत्तों से कोमल आसन, जिसमें उनका शरीर ही गुच्छ के समान वैसे ही शोभित हो रहा था, बनाया जैसे इन्द्र मेघ को, जिसके मध्य में बिजलियाँ स्वगुच्छ के समान फैली रहती हैं, राशिभूत करते हैं ॥ ३ ॥

उन्होंने उस आसन के ऊपर सुन्दर मृगचर्म बिछाया जैसे सुमेरु नीलरत्नमय अपने तटपर आकाश को, जिसमें तारे ही बहुमूल्य रत्न हैं, बिछाता है ॥ ४ ॥

शुद्धान्तःकरण वाले वे चित्त की वृत्तियों को जड़ विषय के त्याग से लघु बनाते हुए वैसे ही उस पर बैठे जैसे मेघ वृष्टि से अपने जाड्य का जलता का त्याग कर सफेद और गर्जन रहित होकर पर्वत के शिखर पर बैठता है ॥ ५ ॥

प्रबुद्ध (ज्ञानी) कपिल आदि के समान दृढ सिद्धासन बाँधकर एड़ी से वृषणों को अण्डकोशोंको दबाकर उत्तर की ओर मुंह किए हुए उन्होंने ब्रह्मा आदि गुरु-परम्परा के लिए प्रणामाञ्जलि की ॥ ६ ॥

विषयों में दौड़े हुए मनरूपी मृग को वासनाओं से हटाकर उन्होंने निर्विकल्प समाधि के लिए यह विचार किया ॥ ७ ॥

अरे मूर्ख मन, तुम्हारा संसारवृत्तियों से क्या मतलब है ? बुद्धिमान् लोग अवसान में दुःख देनेवाले कर्म का सेवन नहीं करते हैं ॥ ८ ॥

जो शान्तिरूपी रसायन का त्यागकर विषयभोगों की ओर दौड़ता है, वह मन्दारवन का त्याग कर विषवृक्षों से भरे हुए जंगल में जाता है ॥ ९ ॥

चाहे तुम पाताल में जाओ चाहे ब्रह्मलोक में भी चलें जाओ, किन्तु उपशमनरूपी अमृत के बिना उस निरतिशय सुख में विश्रान्ति को प्राप्त नहीं हो सकते ॥ १० ॥

हे चित्र ! तुम सैकड़ों भोगाशाओं का त्यागकर दुःख-स्पर्श रहित निरतिशय आनन्दरूप होने के कारण अत्यन्त सुन्दर परम कल्याण को प्राप्त करो ॥ ११ ॥

भाव इष्ट वस्तु का सम्पादन और अभाव अनिष्ट का निवारण स्वरूप ये विचित्र विषय तुम्हारे उत्कट दुःख के लिए ही हैं, ये सुख के लिए कभी नहीं हो सकते हैं ॥ १२ ॥

शब्दादिकाभिरेताभिः किं मूर्ख ! हृतवृत्तिभिः ।
भ्रमस्यविरतं व्यर्थं मेघे मण्डूकिका यथा ॥ १३ ॥
मनोमण्डूकिके व्यर्थमियन्तं कालमन्धया ।
भ्रमन्त्या भुवनं क्षिप्रं किं समासादितं त्वया ॥ १४ ॥
यस्मात् किञ्चिदवाप्नोषि यस्मिन् वहसि निर्वृतिम् ।
तस्मिश्चेतः शमे मूर्ख ! नाऽनुबध्नासि किं पदम् ॥ १५ ॥
आगत्य श्रोत्रतां मूर्ख ! व्यर्थोत्थानोपबृंहिताम् ।
धिया शब्दानुसारिण्या मृगवन्मा क्षयं व्रज ॥ १६ ॥
त्वक्तामागत्य दुःखाय स्पर्शोन्मुखतया धिया ।
मूर्ख ! मा बद्धतामेहि गजीलुब्धगजेन्द्रवत् ॥ १७ ॥
रसनाभावमागत्य गर्धेनाऽन्ध दुरन्धसाम् ।
मा नाशमेहि बडिशपिण्डीलम्पटमत्स्यवत् ॥ १८ ॥
चाक्षुषीं वृत्तिमाश्रित्य प्रभारूपचयोन्मुखी ।
मा गच्छ दग्धतां मुग्ध कान्तिलुब्धपतङ्गवत् ॥ १९ ॥
घ्राणमार्गमुपाश्रित्य शरीराम्भोजकोटरे ।
गन्धोन्मुखतया बन्धं मा त्वं संश्रय भृङ्गवत् ॥ २० ॥
कुरङ्गालिपतङ्गेभमीनास्त्वेकैकशो हताः ।
सर्वैर्युक्तैरनर्थैस्तु व्याप्तस्याऽज्ञ कुतः सुखम् ॥ २१ ॥
हे चित्त ! वासनाजालं बन्धाय भवतोहितम् ।
स्वात्मनः सहजः फेनस्ततः कुकृमिणा यथा ॥ २२ ॥
शरदभ्रवदागत्य शुद्धिं त्यक्तभवामयाम् ।
यदि शाम्यसि निर्मूलं तदनन्तो जयस्तव ॥ २३ ॥
क्षयोदयदशाधात्रीं पर्यन्तपरितापिनीम् ।
जानन्नपि जगत्सृष्टिं न त्यक्ष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ २४ ॥
करोम्यथ किमर्थं वा तवैतदनुशासनम् ।
विचारणवतः पुंसश्चित्तमस्ति हि नाऽनघ ! ॥ २५ ॥

हे मूर्ख चित्त ! तुम शब्द आदि इन गर्हित वृत्तियों से क्यों वैसे ही निरन्तर भ्रमण करते हो? मेढकी जैसे मेघ में शब्दादिक व्यर्थ वृत्तियों भ्रमण करती है ।। १३ ।।

हे मनरूपी मेढकी ! इतने समयतक व्यर्थ भुवन या जल में त्वरा से भटक रही अन्धी तूने क्या फल पाया ? ।। १४ ।।

हे चित्त ! जिससे मन और वाणी का अगोचर विदेहकैवल्यसुख तुम्हें मिले, जिस में तुम्हें जीवन्मुक्ति-श्रान्तिसुख मिले, उस सकलवृत्त्युपशमरूप समाधि में उद्योग क्यों नहीं करते हो ? ।। १५ ।।

हे मूर्ख ! व्यर्थ बहिर्मुखतारूप उत्थान से बढ़ी हुई श्रोत्रेन्द्रिय तादात्म्यापत्तिरूप श्रोत्रता को प्राप्त कर व्याध के गीत और घंटा की ध्वनि से मोहित मृग के समान शब्दानुसारिणी वृत्ति से नाश को प्राप्त मत हो ।। १६ ।।

हे मूर्ख मन ! उस स्पर्शार्ह सुखानुभव की इच्छा से केवल दुःख के लिए त्वगिन्द्रियता को प्राप्त हो तू हथिनी पर लोलुप हाथी के समान बन्धन को मत प्राप्त हो ।। १७ ।।

अरे अन्धे दुष्ट अन्नों की अभिलाषा से रसनेन्द्रियता को प्राप्त हो बंसी में बँधे हुए मांस के टुकड़े पर लोलुप मछली के समान तू नाश को मत प्राप्त हो ।। १८ ।।

हे मूढ़ ! तू कान्तिसम्बन्धी नानाप्रकार के रूपों में तत्पर चक्षुरिन्द्रियाता को प्राप्त कर प्रकाश में लोलुप फतींगे के समान दाह को प्राप्त मत हो ।। १९ ।।

गन्ध के अनुभव की इच्छा से घ्राणेन्द्रियता का आश्रण कर हाथी द्वारा मसले गये कमल के अन्दर स्थित भँवरे के समान शरीररूपी कमल के अन्दर बन्धन को मत प्राप्त हो ।। २० ।।

अरे मूर्ख ! मृग, भँवरा, फतींगे, हाथी और मत्स्य एक-एक शब्द आदि विषय से विनष्ट होते हैं अर्थात् मृग एकमात्र शब्द से, भँवर एकमात्र गन्ध से, फतींगे एकमात्र प्रकाश में हाथी एकमात्र स्पर्श से और मछलियाँ एकमात्र रस से विनष्ट हुई; संमिलित सब अनर्थों से व्याप्त तुम्हें कहाँ से सुख हो सकता है ? ।। २१ ।।

हे चित ! तुमने भी वासनाजाल की अपने कुवितर्क से वैसे ही रचना की है जैसे क्षुद्र रेशम का कीड़ा अपने स्वाभाविक लार के फेन का अपने बन्धन के लिए कोश रूप से प्रसार करता है ।। २२ ।।

पहले कर्म, उपासना आदि से शरत्कालीन मेघ के समान शुद्धि को—जिसमें संसाररूपी दोष का सर्वथा त्याग हो चुका—प्राप्त होकर श्रवण, मनन आदि का परिपाक होने के कारण ज्ञानोदय से यदि वासनाजाल का सर्वथा उच्छेद कर शान्त होते हो, तो तुम्हारी असीम विजय है ।। २३ ।।

यदि तुम लोक की प्रवृत्ति को जन्म तथा मरण की एवं बाल्य आदि अवस्था और दारिद्र्य आदि अवस्थाओं का पालन करने वाली धात्रीस्वरूप, मरने के बाद भी नरक, स्थावर आदि गतियों में सन्ताप देने वाली समझते हुए भी नहीं छोड़ोगे, तो विनष्ट हो जाओगे ।। २४ ।।

हे निष्पाप ! मैं तुम्हें यह हित उपदेश क्यों दूँ ? आत्मा से पृथक् चित्त नाम की क्या कोई वस्तु है ? इस प्रकार विचार कर रहे पुरुष का चित्त ही नहीं है ।।२५।।

यावदज्ञानघनता तावत् प्रघनचित्तता ।
यावत् प्रावृड्जलदता तावन्नीहारभूरिता ॥ २६ ॥
यावदज्ञानतनुता तावच्चित्तस्य तानवम् ।
प्रावृट्परिक्षयो यावत्तावन्नीहारसंक्षयः ॥ २७ ॥
यावत्तानवमायातं शुद्धं चित्तं विचारतः ।
तावत्तत् क्षीणमेवाऽहं मन्ये शारदमेघवत् ॥ २८ ॥
अनुशासनमेतद् यदसतो नश्यतोऽथवा ।
क्रियते तन्नभोवारिपवनाहननैः समम् ॥ २९ ॥
तस्मात् संक्षीयमाणत्वात् त्यजामि त्वामसन्मयम् ।
मौर्ख्यं परममेवाऽऽहुः परित्याज्याऽनुशासनम् ॥ ३० ॥
निर्विकल्पोऽस्मि चिद्दीपो निरहङ्कारवासनः ।
त्वयाऽहङ्कारबीजेन न सम्बद्धोऽस्म्यसन्मय ! ॥ ३१ ॥
अयं सोऽहमिति व्यर्थं दुर्दृष्टिरवलम्बिता ।

पूर्ण अज्ञान रहने तक घनीभूत चित्त है, वर्षा ऋतु के मेघ के रहने तक प्रचुर कुहरा अवश्य रहेगा ही ॥ २६ ॥

जितना अज्ञान क्षीण होता जायगा उतना ही चित्त भी कृश होता जायगा। जितना पावस का विनाश होगा उतना ही कुहरा क्षीण होगा ॥ २७ ॥

विचार से शुद्ध हुआ चित्त वासनाक्षय से जितनी सूक्ष्मता को प्राप्त होता है शरत् काल के मेघ की तरह मैं उसको उतना क्षीण हुआ समझता हूँ ॥ २८ ॥

असत् या नाश हो रहे चित्त का जो यह उपदेश किया जाता है, यह आकाश जल और वायु के ताड़न के समान व्यर्थ ही है ॥ २९ ॥

दिन पर दिन तुम क्षीण हो रहे हो, इसलिए क्षीयमाण होने के कारण असन्मय तुम्हारा मैं त्याग करता हूँ विद्वान् जन परित्याज्य को उपदेश देना भारी मूर्खता ही कहते थे ॥ ३० ॥

हे असन्मय चित्त ! मैं अहंकार वासना से रहित निर्विकल्प स्वयंप्रकाश चैतन्य हूँ। अहङ्कार के मूलभूत तुमसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार की तुमने यह, वह, मैं व्यर्थ दुर्दृष्टि का आलम्बन किया है। वह दुर्दृष्टि शङ्काविष से हुई विषूचिका के समान मिथ्या के कारण होती हुई भी मूढ़ों के विनाश के लिए होती है ॥ ३२ ॥

अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व की इस प्रकार के परिच्छिन्न मन के अन्दर परिच्छिन्न स्थिति अर्थात् देह आदि में अहङ्कारभाव से स्थिति वैसे ही नहीं हो सकती है जैसे

त्वया मूढविनाशाय शङ्काविषविषूचिका ॥ ३२ ॥
अनन्तस्याऽऽत्मतत्त्वस्य तन्वीति मनसि स्थितिः ।
न संभवति बिल्वान्तर्वासितादन्तिनोर्यथा ॥ ३३ ॥
महाश्वभ्रीव गम्भीरा दुःखदा वासनाऽऽश्रिता ।
त्वयैषा बत चित्तेति नैनामनुसराम्यहम् ॥ ३४ ॥
कः किलाऽयं मुधा मोहो बालस्येवाऽविचारिणः ।
अयं सोऽहमिति भ्रान्तिस्त्वहन्ता परिकल्पिता ॥ ३५ ॥
पादाङ्गुष्ठाच्छिरो यावत् कणशः प्रविचारितम् ।
न लब्धोऽसावहं नाम कः स्यादहमिति स्थितः ॥ ३६ ॥
भरिताशेषदिक्कुञ्जं यत् स्यामेकं जगत्त्रये ।
संवेदनमसंवेद्यं सर्वत्र विगतात्मकम् ॥ ३७ ॥
दृश्यते यस्य नेयत्ता न नामपरिकल्पना ।
नैकता नाऽन्यतैवेह न महत्ता न चाऽणुता ॥ ३८ ॥

हथिनी और हाथी की विल्व के अन्दर स्थिति नहीं हो सकती है ॥ ३३ ॥

हे चित्त ! अहा तुमने बड़े भारी जीर्ण कुँए आदि के समान अगाध तथा काम, क्रोध, लोभ आदिस्वरूप साँप, विच्छू, पिशाच आदि के निवासभूत होने के कारण दुःखदायी इस वासना को ही अपने निवासस्थान के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु मैं तो इसका अनुसरण नहीं करता हूँ। (उसके अनुगामी मन का त्याग करता हूँ) ॥ ३४ ॥

यह देह आत्मा मैं हूँ ऐसी भ्रान्ति की तुमने अहन्ता से यह कल्पना की है, अविचारशील बालकों के तुल्य यह व्यर्थ का मोह है। मैं तो विचारशील हूँ, मेरा इस मोह से क्या सम्बन्ध है ? कुछ भी नहीं है ॥ ३५ ॥

पैर के अँगूठे से लेकर सिर तक मैंने तिल-तिलपर विचार किया। यह 'अहम्' नामक पदार्थ मुझे नहीं मिला। 'अहम्' रूप से यह कौन स्थित होगा ? ॥ ३६ ॥

तीनों जगत् में जिसने सब दिशारूपी कुञ्जों में व्याप्त है अर्थात् जो दिशा कृत परिच्छेद से शून्य है, एक अर्थात् वस्तुकृत परिच्छेद से रहित और ज्ञेय क्रम से भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीन अवस्थारूप काल से किये गये परिच्छेद से शून्य है, अतएव सब प्रकारों में वस्त्वन्तरस्वरूपशून्य है इस प्रकार का ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ ॥ ३७ ॥

परिच्छिन्न रूप से रहित नाम की कल्पना से शून्य, एकत्व संख्या रहित अन्यता है, महत्ता और अणुता से रहित ज्ञानरूप मैं हूँ ॥ ३८ ॥

वेद तत्त्वां स्वसंवेद्यमाततं दुःखकारणम् ।
विवेकजेन बोधेन तदिदं हन्यसे मया ॥ ३९ ॥
इदं मांसमिदं रक्तमिमान्यस्थीनि देहके ।
इमे ते श्वासमरुतः कोऽसावहमिति स्थितः ॥ ४० ॥
स्पन्दो हि वातशक्तीनामवबोधो महाचितः ।
जरामृतिश्च कायेऽस्मिन् कोऽसावहमिति स्थितः ॥४१॥
मांसमन्यदसृक्चाऽन्यदस्थीन्यन्यानि चित्त हे ! ।
बोधोऽन्यः स्पन्दनं चाऽन्यत् कोऽसावहमिति स्थितः ।४२।
इदं घ्राणमियं जिह्वा त्वगियं श्रवणे इमे ।
इदं चक्षुरसौ स्पन्दः कोऽसावहमिति स्थितः ॥ ४३ ॥
यथाभूततया नाऽहं मनो न त्वं न वासना ।
आत्मा शुद्धचिदाभासः केवलोऽयं विजृम्भते ॥ ४४ ॥

हे चित्त ! मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इसलिए साक्षीभूत अपने से ज्ञेय चारों ओर फैले हुए दुःखकारण तुम को, दुःख के कारण होने से ही तुम विवेक का उपार्जन कर विवेक से उत्पन्न बोध द्वारा मुझ से मारे जाते हो ॥ ३९ ॥

शरीर में यह मांस है, यह रक्त है, ये हड्डियाँ हैं, ये श्वासवायु हैं किन्तु यह 'अहम्' रूप से स्थित कौन है ? आशय यह है कि इदन्ता से गृहीत हो रहे मांस आदि में यह अहंशब्दार्थ कोई भी नहीं है, क्योंकि इदन्ता और अहन्ता का परस्पर विरोध है ॥ ४० ॥

सभी स्पन्दन अंश प्राणवायुओं का है, ज्ञानांश परमात्मा का है, बुढ़ापा और मरण देह के धर्म हैं, अतः यह 'अहम्' रूप से स्थित कौन पदार्थ है ? ॥ ४१ ॥

हे चित्त ! अहंपदार्थ से मांस भिन्न है, रक्त भी अतिरिक्त है, हड्डियाँ भी 'अहम्' से भिन्न हैं, ज्ञानेन्द्रिय-व्यापार भी अन्य है, स्पन्दन भी उससे अतिरिक्त है फिर 'अहम्' रूप से स्थित कौन पदार्थ है ? मांस आदि तो आत्मा से भिन्नरूप से प्रतीत हो रहे हैं, वह अहं नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥

यह नासिका है, यह जिह्वा है, यह त्वचा है, ये दो कान हैं, यह चक्षु है, यह कर्म साधन कर्मेन्द्रियाँ हैं यह 'अहम्' रूप से स्थित कौन पदार्थ है ? नासिका आदि भी इदन्ता से प्रतीत होने के कारण अहंशब्दार्थ नहीं हैं ॥४३॥

परमार्थ रूप से विचार करने पर मन 'अहम्' नहीं है, तुम 'अहम्' नहीं हो, वासना भी 'अहम्' नहीं है। शुद्ध चित्प्रकाश यह आत्मा तो अहन्ता से अतिरिक्त ही विलसित होता है अर्थात् आत्मा तो अहन्ता से सर्वथा अस्पृष्ट है ॥ ४४ ॥

अहमेवेह सर्वत्र नाऽहं किंचिदपीह वा ।
इत्येव सन्मयी दृष्टिर्नेतरो विद्यते क्रमः ॥ ४५ ॥
चिरमज्ञानधूर्तेन पोथितोऽस्मि त्वहन्तया ।
वृकेण दृप्तेनाऽटव्यां लब्धेन पशुपोतकः[1] ॥ ४६ ॥
दिष्टयेदानीं परिज्ञातो मयैवाऽज्ञानतस्करः ।
पुनर्न संश्रयाम्येनं स्वरूपार्थापहारिणम् ॥ ४७ ॥
निर्दुःखो दुःखयोग्यस्य नाऽहं तस्य न चैष मे ।
कश्चिद् भवति शैलस्य तत्स्थ एव यथाऽम्बुदः ॥ ४८ ॥
भूत्वा त्वहमिदं वच्मि वेद्मि तिष्ठामि यामि च ।
आत्मावलोकनेनाऽहमनहङ्कारतां गतः ॥ ४९ ॥
नूनमेवाऽहमेवैते मन्ये ज्ञाश्चक्षुरादयः ।
यान्तु तिष्ठन्तु वा देहे ममैते तु न किञ्चन ॥ ५० ॥

आत्मा में यदि अध्यारोपदृष्टि से मैं ही सर्वत्र अधिष्ठान हूँ, इसलिए सब कुछ मैं ही हूँ । अपवाददृष्टि से यहां मैं कुछ भी नहीं हूँ, ऐसी जो दृष्टि है वह वास्तविक है। एकदेहमात्र में सीमित अहंभावरूप दूसरा अहंकार क्रम नहीं है इस जगत् में सर्वत्र प्रतीयमान मैं ही हूँ अथवा यहां पर प्रतीयमान कुछ भी मैं नहीं हूँ, ऐसी जो दृष्टि है, वही वास्तविक है, अन्यदृष्टियाँ परिच्छिन्न विषय में अहंप्रतीतिरूप क्रम वास्तविक नहीं है ॥ ४५ ॥

चिरकाल तक अज्ञान रूपी धूर्त ने वञ्चना द्वारा स्वरूपवियोग से इसी प्रकार मुझे क्लेश पहुँचाया है जिस तरह मस्त भेड़िया जंगल में मृग के बच्चे को क्लेश पहुँचाता है ॥ ४६ ॥

सौभाग्य से अब मैंने ज्ञानरूपी चोर को पहचान लिया है। अपने वास्तविक स्वरूप रूपी धन को हरने वाले इसको फिर अपना नहीं बनाऊँगा ॥ ४७ ॥

दुःखरहित मैं दुःख के भाजन उसका वैसे ही सम्बन्धी नहीं हूँ और वह मेरा सम्बन्धी नहीं है जैसे पर्वत पर स्थित मेघ पर्वत का कोई नहीं होता है ॥ ४८ ॥

कल्पना के द्वारा अहंकार बन कर यह उपदेश आदि करता हूँ, नेत्र आदि से जानता हूँ, बैठता हूँ तथा चलता हूँ। वास्तव में आत्मदर्शन से अहंकारशून्य हो गया हूँ ॥४९॥

मुझे इसका पूरा निश्चय है कि वास्तव में ये चक्षु आदि मैं ही हूँ । यदि ये मुझसे भिन्न हैं, तो जड़ हैं चाहे मेरे शरीर में रहें अथवा जावें। ये मेरे कोई नहीं हैं ॥ ५० ॥

१. लघुयोगवासिष्ठ में 'मृगपोतो यथा तथा' पाठ है ।

कष्टं कोऽयमहं नाम कथं केनोपकल्पितः ।
जगद्बालकवेतालस्तालोत्तालातुलाकृतिः ॥ ५१ ॥
एतावन्तं चिरं कालं व्यर्थमालुठितोऽवटे ।
अहमत्र तृणोन्मुक्ते दुरद्रौ हरिणो यथा ॥ ५२ ॥
स्वार्थमालोकने चक्षुर्यदि तून्मुखतां गतम् ।
तदहं नाम कोऽसौ स्याद्योऽस्मिन् दुःखेन मोहितः ॥५३॥
स्पर्शनाय निजे तत्त्वे यदि जाता त्वगुन्मुखी ।
तत्कोऽयं स्यादहं नाम कुपिशाच इवोदितः ॥ ५४ ॥
रसेष्वभिनिषण्णेऽस्मिन् स्वक्रमे रसनेन्द्रिये ।
अहं मृष्टभुगित्येष कुतस्त्यः कुत्सितो भ्रमः ॥ ५५ ॥
शब्दशक्ति गते श्रोत्रे वराके स्वार्थपीडिते ।
तदहङ्कारदुःखस्य निर्बीजस्य क आगमः ॥ ५६ ॥
आत्मंभरित्वेन निजे घ्राणे स्वं गन्धमागते ।
अहं घ्रातेति यो माता तं चौरं नैव वेद्म्यहम् ॥ ५७ ॥

कष्ट से कहना पड़ता है कि जगत् रूपी बालक का वेताल रूपी तथा ताड़ के पेड़ से भी लम्बी और अनूठी आकृति वाला यह 'अहम्' कौन है ? किसने और कैसे इसकी कल्पना की है ? ।। ५१ ।।

मैं इस संसार रूपी गड्ढे में इतने दीर्घ काल तक वैसे ही वृथा लुढकता रहा जैसे तृण-विहीन खराब पर्वत में हरिण दीर्घ काल तक व्यर्थ इधर-उधर लुढ़कता है ।। ५२ ।।

चक्षु के अपने लिए आलोकन में प्रवृत्त होने पर 'अहम्' नाम का कौन है, जो दुःख से मोहित हुआ ।।५३।।

त्वचा के अपने विषय में स्पर्श के लिए तत्पर होने पर संसार में 'अहम्' नाम का दुष्ट पिशाच के तुल्य कौन उदित हुआ है ? ।। ५४ ।।

रसनेन्द्रिय के अपने विषय रसों में प्रवृत्त होने पर मैं मीठा भोजन करने वाला हूँ, इस प्रकार का गर्हित भ्रम कहाँ से आता है ? ।। ५५ ।।

श्रवणतृष्णा से पराधीन बेचारी श्रवणेन्द्रिय के द्वारा शब्दरूप विषय की प्राप्ति होनेपर निर्बीज अहंकार दुःख की प्राप्ति कैसी ? ।। ५६ ।।

अपनी नासिका की अभिलाषा से अपने गन्ध की प्राप्ति होने पर 'मैं सूँघनेवाला हूँ' ऐसा जिसे अभिमान होता है, उस चोर को मैं नहीं ही जानता हूँ ।। ५७ ।।

पूर्वोक्त स्थलों में प्रसिद्ध यह अहन्ता की कल्पना मृग-तृष्णा के समान व्यर्थ हो रही है। उस अहन्ता की कल्पना के निर्विषय होने पर यह शरीर 'अहम्' (मैं) हूँ, इस

मृगतृष्णाक्रमेणैषा भावना व्यर्थभाविनी ।
भवस्तस्यामसत्यायां यः सोऽयमिति संभ्रमः ॥ ५८ ॥
वासनाहीनमप्येतच्चक्षुरादीन्द्रियैः स्वतः ।
प्रवर्तते बहिः स्वार्थे वासना नाऽत्र कारणम् ॥ ५९ ॥
वासनारहितं कर्म क्रियते ननु चित्त हे ! ।
केवलं नाऽनुभूयन्ते सुखदुःखदृशोऽग्रगाः ॥ ६० ॥
तस्मान्मूर्खाणीन्द्रियाणि त्यक्त्वाऽन्तर्वासनां निजाम् ।
कुरुध्वं कर्म हे ! सर्वं न दुःखं समवाप्स्यथ ॥ ६१ ॥
भवद्भिरेव दुःखाय वासना वासिता मुधा ।
बालैः पङ्कक्रीडनकं विनाशेनेव खिन्नता ॥ ६२ ॥
वासनाद्या दृशः सर्वा व्यतिरिक्तास्तु नाऽऽत्मनः ।
जलादिव तरङ्गाद्या ज्ञस्यैवाऽन्यस्य नाऽनघ ! ॥ ६३ ॥
तृष्णयैव विनष्टाः स्थ व्यर्थमिन्द्रियबालकाः ।
कोशकारकृक्रमयस्तन्तुनेव स्वयंभुवा ॥ ६४ ॥

प्रकार का भाव भ्रान्ति ही है, इसलिए देह में अहंभाव-वासना का सर्वथा त्याग करना चाहिये ।। ५८ ।।

वासनाहीन यह शरीर होने पर भी अपने जीवन के हेतु कर्म में चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा स्वतः बाहर प्रवृत्त में वासना कारण नहीं है ।। ५९ ।।

हे चित्त ! वासनारहित कर्म करने पर तात्कालिक भोगाभास में मैं दुःखी हूँ, यह अभिमान नहीं होता, भावी आगे होने वाले सुख-दुःखों का अनुभव नहीं होता है आशय यह है कि उनसे होनेवाले शोक, मोह, भय, विषाद, चिन्ता, उद्वेग आदि सब संतापों की शान्ति ही इसका गुण है ।। ६० ।।

हे मूर्ख इन्द्रियाँ ! भीतर अपनी वासना का त्याग कर तुम सब कर्म करो, उससे तुम्हें दुःख प्राप्त नहीं होगा ।।६१।

तुमने इन्द्रियों ने भी विषयों के उपार्जन और उनके विनाश में केवल दुःख के लिए ही अज्ञ आत्मा में भोग-वासना की वैसे ही व्यर्थ स्थापना की है जैसे बालक पहले मिट्टी के खिलौने बनाते हैं फिर उनके विनाश से उन्हें पश्चात्ताप होता है ।। ६२ ।।

हे निष्पाप ! ज्ञानी की दृष्टि में वैसे ही वासना आदि सब दृष्टियाँ आत्मा से वैसे ही पृथक् नहीं हैं जैसे तरङ्ग, बुद्‌बुद, फेन आदि जल से पृथक् नहीं हैं अज्ञानी की दृष्टि तो उनकी पृथक् सत्ता है ।। ६३ ।।

हे इन्द्र रूपी बालको ! तुम लोग भी स्वतः उत्पन्न हुई तृष्णा से वैसे ही नष्ट हुए हो । जैसे रेशम के कीड़े अपने से उत्पन्न हुए तन्तु से नष्ट हो जाते हैं ।। ६४ ।।

तृष्णयैवेह लुठथ जरामरणसङ्कटे ।
भ्रमद्दृष्ट्येव शिखरिपथिकाः श्वभ्रभूमिषु ॥ ६५ ॥
वासनैवेह भवतां हेतुरेकत्र बन्धने ।
रज्जुः शून्याशयप्रोता मुक्तानामातता यथा ॥ ६६ ॥
कल्पनामात्रकलिता सत्यैषा हि न वस्तुतः ।
असङ्कल्पनमात्रेण दात्रेणेव विलूयते ॥ ६७ ॥
एषा हि भवतामेव विमोहाय क्षयाय च ।
वातलेखेव दीपानां स्फुरतामपि तेजसाम् ॥ ६८ ॥
हे चित्त ! सर्वेन्द्रियकोश ! तस्मात्
सर्वेन्द्रियैरैक्यमुपेत्य नूनम् ।
आलोक्य चात्मानमसत्स्वरूपं
निर्वाणमेवाऽमलबोधमास्स्व ॥ ६९ ॥
विषयविषविषूचिकामनन्तां
निपुणमहं स्थितिवासनामपास्य ।
अभिमतपरिहारमन्त्रयुक्त्या भव
विभवो भगवान् भियामभूमिः ॥ ७० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे उद्दालकविचारो नाम द्विपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५२ ॥

जरा, मरण आदि क्लेशों से पूर्ण इस संसार रूपी पत्थर कंकड़ पूर्ण भूमि में तुम लोग तृष्णा से वैसे ही लुढ़क रहे हो जैसे पर्वत के पथिक पर्वत के शिखर में जाते-जाते पित्तवश घूम रही दृष्टि से गिरकर विषम गर्तमय भू-भाग में गिरते हैं ॥ ६५ ॥

आप लोगों के एक जगह बन्धन में वासना वैसे ही हेतु है जैसे छेदे हुए मनकों में (मनियों में) गूँथी हुई दीर्घ डोरी मोतियों के बन्धन में कारण होती है ॥६६॥

एकमात्र भ्रान्ति में बनाई गई यह वासना वास्तविक दृष्टि से सत्य नहीं है । हँसुए से पत्तों के समान एकमात्र असङ्कल्प से ही यह काटी जा सकती है ॥ ६७ ॥

बढ़ रही यह वासना आप लोगों के वैसे ही विमोहन और क्षय के लिए है जैसे वायु का झोंका दीपकों के तथा चमक रहे उल्का, बिजली आदि तेजों के विनाश के लिए होता है ॥ ६८ ॥

हे सभी इन्द्रियों के कोश के तुल्य आधारभूत चित्त ! तुम सब इन्द्रियों के साथ ऐकमत्य को प्राप्त कर निश्चय अपने को मिथ्याभूत जानकर केवल निर्वाण रूप निर्मल बोधमात्र होकर स्थित हो, चित्त रूप का ग्रहण मत करो ॥ ६९ ॥

सभी शास्त्रतत्त्वज्ञाताओं के अभिमत द्वैतवासना-परिहाररूप मन्त्रयुक्ति से असंख्य दुःखवाली अहङ्कार-वासना रूपी विषम विष तुल्य अज्ञान से पैदा हुई विषूचिका का अच्छी तरह परित्याग कर संसार शून्य हो मरण आदि सब भयों के अस्थान परिपूर्णानन्दात्मा ही तुम हो जाओ ॥ ७० ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में उद्दालकविचार नामक कुसुमलता का बावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

५३

उद्दालक उवाच

अपारपर्यन्तवपुः परमाण्वणुरेव च ।
चिदचेत्या तदाक्रान्तौ न शक्ता वासनादयः ॥ १ ॥
मनः शेमुष्यहङ्कारप्रतिबिम्बैर्जडेन्द्रियैः ।
वासना वितता शून्या वेतालत्रासनोद्यताः ॥ २ ॥

५३

उद्दालक ने कहा—परिच्छिन्न तिल आदि फूल आदि से वासित होते हैं आत्मचित् तो असीम है । स्थूल पृथिवी, जल, तेज, वायु कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों की वासना से वासित होते हैं, चित् परमाणु से, अपञ्चीकृत आकाश से और अव्याकृत आकाश से भी सूक्ष्मतम है, उसका तनिक भी स्पर्श करने के लिए वासना आदि समर्थ नहीं हैं । साक्षात् उसके स्पर्श में असमर्थ होने पर भी उसके चेत्य के स्पर्श से वासना आदि उसका स्पर्श करेंगे, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह चेत्य रहित है ॥१॥

बुद्धि में और अहङ्कार में चित् के प्रतिबिम्बवश जड़ इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों की सूक्ष्म अवस्थास्वरूप शून्य असत्-रूप होती हुई भी बेतालों के समान कष्ट देने में उद्यत विस्तृत वासनाओं का मन अनुभव करता है ॥२॥

तत्कृतेभ्यो विचारेभ्योऽनुभूतेभ्योऽपि भूरिशः ।
भूयोऽप्यनुभवत्यन्तरहं हि चिदलेपिका ।। ३ ।।
स्वदुर्भावोपरचितां देहः संसारसंस्थितिम् ।
गृह्णात्वथ त्यजतु वाऽप्यहं हि चिदलेपिका ।। ४ ।।
चितो न जन्ममरणे सर्वगायाश्चितः किल ।
किं नाम म्रियते जन्तुर्मार्यते केन वाऽपि किम् ।। ५ ।।
चितो न जीवितेनाऽर्थः सर्वात्मा सर्वजीवितम् ।
किं प्राप्स्यति कदात्मैषा प्रायता यदि जीवितम् ।। ६ ।।
जीव्यते म्रियते चेति कुविकल्पकमालिनी ।
कलना मनसामेव नाऽऽत्मनो विमलात्मनः ।। ७ ।।
यो ह्यहंभावतां प्राप्तो भावाभावैः स गृह्यते ।
आत्मनो नास्त्यहंभावो भावाभावाः कुतोऽस्य ते ।। ८।।

जाग्रत् अवस्था में बुद्धि और अहङ्कार से बहुत बार किये गये विषयविचारों से और मन से अनुभूत विषयों से मेरा कुछ भी सम्पर्क नहीं है, लेप रहित चित् ही मैं हूँ, मन आदि का संघातरूप अहं (मैं) नहीं हूँ ।। ३ ।।

देह अपनी दुश्चेष्टाओं से विस्तार को प्राप्त संसार स्थिति का ग्रहण करे या त्याग करे, किन्तु मैं तो उसकी दोनों अवस्थाओं में निर्लेप चित् ही रहूँगा ।। ४ ।।

चित् का जन्म और मरण नहीं है, वह सर्वव्यापक और चित् स्वरूप है । अतएव क्या जीव मरता है और क्या किसी के द्वारा मारा जाता है । आशय यह है कि जीव का मरना और मारना दोनों असंगत हैं । अविनाशी अद्वितीय आत्मा का दर्शन होने पर बध्य-घातक बुद्धि ही नहीं रह जातीं है और आत्यन्तिक अभय सिद्धि हो जाती है ।। ५ ।।

चित् का अपने जीवन के लिए किसी का कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि सर्वात्मा चित् ही सब वस्तुओं का जीवन है । यदि सब देश, काल और वस्तुओं में फैली हुई स्वरूपभूत चित् ही इसका जीवन होने से उस जीवन से कब क्या दूसरी अप्राप्त वस्तु प्राप्य होगी, जिसके लिए उसकी इच्छा होगी ? ।। ६ ।।

कुविकल्पों की मालाओं से भरी हुई जीता है और मरता है, इस प्रकार की कल्पना, मनों की ही है, निर्मलस्वरूप आत्मा की नहीं है ।। ७ ।।

देह में अहंभावता को प्राप्त करने वाला व्यक्ति देह के भाव और अभाव रूप जन्म-मरणों के फन्दे में पड़ता है । आत्म रूप तुम में देहाहंभाव नहीं है, अतः तुम्हारा भाव और अभाव रूप जन्म-मरण कहाँ से होगा ? ।। ८ ।।

अहंभावो मुधा मोहो मनश्च मृगतृष्णिका ।
जडः पदार्थसंभारः कस्याऽहङ्कारभावना ।। ९ ।।
रक्तमांसमयो देहो मनो नष्टं विचारणात् ।
जडाश्चित्तादयः सर्वे कुतोऽहंभावभावना ।। १० ।।
आत्मंभरितया नित्यमिन्द्रियाणि स्थितान्यलम् ।
पदार्थाश्च पदार्थत्वे कुतोऽहंभावभावना ।। ११ ।।
गुणा गुणार्थे वर्तन्ते प्रकृतौ प्रकृतिः स्थिता ।
सदेव सति विश्रान्तं कुतोऽहंभावभावना ।। १२ ।।
सर्वगं सर्वदेहस्थं सर्वकालमयं महत् ।
केवलं परमात्मानं चिदात्मैवेह संस्थितः ।। १३ ।।
एवं किमाकृतिः को वा किमादेशश्च किंकृतः ।
किंरूपः किमयः कोऽहं किं गृह्णामि त्यजामि किम् ।१४।

अहंकार व्यर्थ ही मोहस्वरूप है, मन मृगतृष्णास्वरूप है तथा पदार्थसमूह जड़ है; अतः अहंकार भावना किसकी होगी ? ।। ९ ।।

देह रक्तमांसमय है, मन के विवेक से नष्ट हो जाने से और चित्त आदि सबके जड़ होने से देह में अहंभावना कैसे होगी ? ।। १० ।।

सभी इन्द्रियाँ नित्य स्वस्वविषयव्यापाररूप केवल स्वोदरपूरण में ही लगी हैं । अहंकारपुष्टिरूप परोपकार में नहीं लगी हैं, सभी पदार्थ पदार्थस्वरूप में स्थत हैं, अतः अहंभावभावना कैसे होगी ? ।। ११ ।।

सत्त्व आदि गुण गुणों के प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह रूप अपने व्यापार में स्थित हैं, प्रकृति गुणसाम्यावस्था रूप स्वभाव में स्थित है और सत् ब्रह्म स्वात्मभूत सत्स्वभाव में ही विश्रान्त है, अतः अहंभावना कैसे और किसको होगी ? ।। १२ ।।

इस देह में जो चिदात्मा है, वह सर्वव्यापक सभी देहों में स्थित, सर्वकालमय महान् अद्वितीय परमात्मा ही मैं हूँ, यह निश्चय कर स्थित है, (वह भी अहंकारास्पद नहीं है,) ।। १३ ।।

इस स्थिति में केवल इस देह के अभिमानी 'अहम्' कैसी आकृति है, क्या आकार है, अथवा कैसी अंगों की बनावट है वास्तव में कौन है, किस रूप से निर्देश के योग्य है, किस हेतु से बनाया गया है, कैसी उसकी रूप-रेखा है और किसका विकार है ? अहंभाव से मैं किसका ग्रहण करता हूँ अथवा अहंभाव के अभाव से मैं किसका त्याग करता हूँ ।। १४ ।।

तेनाऽहं नाम नेहाऽस्ति भावाभावोपपत्तिमान् ।
अनहङ्कारूपस्य संबन्धः केन मे कथम् ॥ १५ ॥
असत्यलमहङ्कारे संबन्धः कस्य केन कः ।
संबन्धाभावसंसिद्धौ विलीना द्वित्वकल्पना ॥ १६ ॥
एवं ब्रह्मात्मकमिदं यत्किंचिज्जगति स्थितम् ।
सदेवाऽस्मि तदेवाऽस्मि परिशोचामि किं मुधा ॥ १७ ॥
एकस्मिन्नेव विमले पदे सर्वगते स्थिते ।
अहङ्कारकलङ्कस्य कथं नामोदयः कुतः ॥ १८ ॥
नाऽस्त्येव हि पदार्थश्रीरात्मैवाऽस्तीह सर्वगः ।
पदार्थलक्ष्म्यां सत्यां च संबन्धोऽस्ति न कस्यचित् ॥१९॥
इन्द्रियैरिन्द्रियैरङ्गैर्मनो मनसि वल्गति ।
चिदलिप्तवपुः केन संबन्धः कस्य किं कथम् ॥ २० ॥
उपलायःशलाकानां संबन्धो न यथा मिथः ।
तथैकत्राऽपि दृष्टानां देहेन्द्रियमनश्चिताम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार अपने अस्तित्व और अभाव में उपपत्ति रखनेवाला 'अहम्' नामक कोई पदार्थ यहाँ पर नहीं है। अतः निरहङ्कारस्वरूप मेरा किस के साथ और कैसे सम्बन्ध हो सकता है ? ॥ १५ ॥

अहंकार का सर्वथा अभाव होने पर किसका किस से कौन सम्बन्ध ? सम्बन्ध का अभाव सिद्ध होने से 'त्वम्' 'अहम्' ऐसी द्वैतकल्पना विलीन हो जाती है ॥ १६ ॥

इस प्रकार इस जगत् में जो कुछ भी स्थित है, वह सब ब्रह्मस्वरूप ही है। 'सत्' ब्रह्म ही हूँ, मैं 'तत्' ब्रह्म ही हूँ, अतः व्यर्थ शोक क्यों करता हूँ ॥ १७ ॥

सर्वव्यापक एक ही निर्मल पद के रहने पर अहंकार-रूपी कलङ्क का कैसे और कहाँ से उदय हो सकता है॥१८

पदार्थ श्री यहाँ बिलकुल ही नहीं है, एकमात्र सर्व-व्यापक आत्मा ही है अथवा पदार्थ शोभा के होने पर भी उसका किसी के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है ॥ १९ ॥

मन के अवयवरूप से कल्पित सब इन्द्रियों से मन में ही स्वप्न के समान उल्लास को प्राप्त होता है। अतः वह बाह्य विषयों का स्पर्श करने के लिए समर्थ नहीं होता है, और चित् तो इन्द्रियों और बाह्य विषयों से असंगस्वभाव है। ऐसी अवस्था में किसके साथ सम्बन्ध कैसे और किसके द्वारा हो सकता है ? ॥ २० ॥

एक स्थान पर देखे गये देह, इन्द्रिय, मन और चित् का परस्पर वैसे ही सम्बन्ध नहीं है जैसे एक स्थान पर देखे गये भी पत्थर और लोहे की शलाकाओं का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता ॥ २१ ॥

असदभ्युत्थिते व्यर्थमहङ्कारमहाभ्रमे ।
ममेदमिदमस्येति विपर्यस्तमिदं जगत् ॥ २२ ॥
अतत्त्वालोकजातेयमहङ्कारचमत्कृतिः ।
तापेन हिमलेखेव तत्त्वालोके विलीयते ॥ २३ ॥
आत्मनो व्यतिरेकेण न किंचिदपि विद्यते ।
सर्वं ब्रह्मेति मे तत्त्वमेतत्तद्भावयाम्यहम् ॥ २४ ॥
अहङ्कारभ्रमस्याऽस्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
अपुनःस्मरणं मन्ये नूनं विस्मरणं वरम् ॥ २५ ॥
समूलं संपरित्यज्य चिरायाऽहङ्कृतिभ्रमम् ।
तिष्ठाम्यात्मनि शान्तात्मा शरत्खं शरदीव खे ॥ २६ ॥
ददात्यनर्थनिचयं विस्तारयति दुष्कृतम् ।
विस्तारयति सन्तापमहंभावोऽनुसंहितः ॥ २७ ॥
स्फुरत्यहङ्कारघने हृद्व्योम्नि सलिलात्मनि ।
विकसत्यभितः कायकदम्बे दोषमञ्जरी ॥ २८ ॥

अहङ्काररूपी भ्रम के अज्ञान से इस सम्पूर्ण चराचर विश्व के उदित होने पर 'यह मेरा है और यह इसका है' इस प्रकार वृथा भ्रान्ति होती है ॥ २२ ॥

यह अहङ्कारचमत्कार आत्मतत्त्व के अज्ञान से उत्पन्न है। तत्त्वज्ञान होनेपर यह वैसे ही गल जाता है जैसे सूर्य के ताप से हिम-कणिका गल जाती है ॥ २३ ॥

सब ब्रह्म ही है उस आत्मा से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इस प्रकार का मेरा अनुभवसिद्ध जो तत्त्व है, उसकी मैं भावना करता हूँ ॥ २४ ॥

मैं आकाश की नीलिमा के समान उत्पन्न इस अहङ्कार रूपी महाभ्रम का इस प्रकार का पुनः कभी स्मरण न हो विस्मरण ही उत्तम समझता हूँ ॥ २५ ॥

चिरकाल से आरूढ़ हुए अहङ्कारभ्रम का समूल परि-त्याग कर शान्तात्मा मैं निर्मल आत्मा में वैसे ही स्थित हूँ जैसे शरत्काल का आकाश अपने निर्मल स्वभाव में स्थित रहता है ॥ २६ ॥

वृद्ध को प्राप्त अहंभाव अनर्थ परम्पराओं की सृष्टि करता है, पाप का विस्तार करता है और सन्ताप की वृद्धि करता है ॥ २७ ॥

दुर्वसनारूपी जल से भरे हुए हृदयरूपी आकाश में अहङ्काररूपी मेघ के विकास की प्राप्ति होनेपर शरीररूपी कदम्बवृक्ष पर दोषरूपी मञ्जरियाँ चारों ओर से स्वयं विकसित हो जाती हैं ॥ २८ ॥

मरणं जीवितोपान्तं जीवितं मरणान्तगम् ।
भावोऽभावाद् व्यवच्छिन्नः कष्टेयं दुःखवेदना ।। २९ ।।
इदं लब्धमिदं प्राप्स्यामीत्यार्तिर्दाहकारिणी ।
न शाम्यत्यर्करत्नानां ग्रीष्मेऽग्निरिव दुर्धियाम् ।। ३० ।।
नाऽस्तीदमिदमस्तीति चिन्ता धावत्यहङ्कृतिम् ।
जडाशया जडामभ्रमाला शैलावलीमिव ।। ३१ ।।
अहंभावे परिक्षीणे शुष्कः संसारपादपः ।
भूयः प्रयच्छत्यरसो न पाषाणवदङ्कुरम् ।। ३२ ।।
स्वतृष्णाकृष्णभोगिन्यो देहद्रुमकृतालयाः ।
क्वाऽपि यान्ति विचारात्मन्यागते विनतासुते ।। ३३ ।।
असदभ्युत्थिते विश्वे तज्जाते भ्रमसन्मये ।
असन्मयपरिस्पन्दे त्वहं त्वं चेतिः कः क्रमः ।। ३४ ।।

मरणादि पारलौकिक दुःख पुनर्जन्म तक एवं जीवन आदि ऐहिक दुःख मरणपर्यन्त तक रहता है और भोग्यवर्ग भोग के द्वारा नाश से समाप्त होता है, यह दुःखवेदना बड़ी कष्टकारिणी है ।। २९ ।।

जैसे ग्रीष्म ऋतु में सूर्यकान्तमणियों की अग्नि शान्त नहीं होती वैसे ही दुर्बुद्धियों की 'यह मुझे मिल गया, इसको मैं प्राप्त करूँगा' इस प्रकार की सन्तापप्रद पीड़ा कभी शान्त नहीं होती ।। ३० ।।

'यह है यह नहीं है' इस प्रकार की चिन्ता, जिसका आश्रय अज्ञ पुरुष है, जड़ अहङ्कार की ओर वैसे ही अग्रसर होती है जैसे जल की आश्रयभूत जल से पूर्ण मेघमाला गुरुतर पर्वतपङ्क्ति की ओर दौड़ती है ।। ३१ ।।

अहङ्कार के क्षीण होने पर शुष्क संसार रूपी वृक्ष रूपी अङ्कुर की उत्पादन शक्ति से रहित पत्थर के समान होकर फिर अङ्कुर को उत्पन्न नहीं करता है, ।। ३२ ।।

अपनी तृष्णारूपी काली नागिनों ने देहरूपी वृक्ष में अपना बिल बनाया है, विचाररूपी गरुड के आने पर न मालूम वह कहाँ चली जाती हैं ।। ३३ ।।

इसलिए विश्व के मिथ्याभूत अज्ञान से उत्पन्न अतएव अभ्यास से ही सन्मय और असन्मय व्यवहार वाला होकर 'त्वम्' (तुम) 'अहम्' (मैं) इस प्रकार का भेदव्यवहार भी कौन है ? विश्व के मिथ्या सिद्ध होने पर उससे होने वाला सम्पूर्ण भेदव्यवहार भी जहाँ सत्य रह सकता है ? यह आशय है ।। ३४ ।।

सत्य प्रयोजन से सर्वथा शून्य यह जगत् पहले कारणत्व के अयोग्य अज्ञान से प्रतीत होता है। बिना कारण के उत्पन्न हुई वस्तु 'सत्' कैसे कही जा सकती

इदं जगदुदेत्यादावकारणमकारणात् ।
यदकारणमुद्भूतं तत्सदित्युच्यते कथम् ।। ३५ ।।
अपर्यन्तपुराकाले मृदि कुम्भ इवाऽऽकृतिः ।
देहोऽभवदिदानीं तु तथैवाऽस्ति भविष्यति ।। ३६ ।।
मध्येतरपयोमात्रं कञ्चित्कालं चलाचलम् ।
आद्यन्तसौम्यते त्यक्त्वा वारि वीचितया यथा ।। ३७ ।।
अस्मिन् क्षणपरिस्पन्दे देहे विसरणोन्मुखे ।
तरङ्गे च निबद्धास्था ये हस्तास्ते कुबुद्धयः ।। ३८ ।।
प्राक्पुरस्ताच्च सर्वाणि सन्ति वस्तूनि नाऽभितः ।
मध्ये स्फुटत्वमेतेषां कैवाऽऽस्था हतरूपिणी ।। ३९ ।।
चित्तं पूर्वं पुरस्ताच्च चिद्देहं शान्तमित्यपि ।
सदसद्वा खसंलीनं मध्येऽस्मिन् किं तवोदितम् ।। ४० ।।

है ? ।। ३५ ।।

सृष्टि से पूर्व अनादि अनन्त काल में मिट्टी में घटरूप आकार के समान ब्रह्म में ही शरीर था, वैसे ही इस समय भी है और आगे भी होगा ।। ३६ ।।

देह आदि भी तीनों काल में ब्रह्म ही हैं, ससे अतिरिक्त वैसे ही कुछ भी नहीं हैं । जैसे जल, पूर्व और उत्तर काल में तरङ्ग आदि से अविकृत केवल मात्र जल रूप से स्थित रहता है, मध्य में कुछ समय के लिए चञ्चल होकर पूर्व और उत्तर काल में प्रसिद्ध सौम्यता का त्याग कर तरङ्ग रूप होकर जल ही रहता है दूसरी वस्तु नहीं है ।। ३७ ।।

जो केवल एक क्षण के लिए चेष्टा युक्त इस देह में है, और नाशोन्मुख है । तरङ्ग में जिन्होंने अहं रूप से विश्वास किया वे मन्दमति उसके नाश से नष्ट हो गये नाशोन्मुख तरङ्ग के समान क्षणविनश्वर तथा जीवन रूप एक क्षण के लिए चेष्ट युक्त शरीर में अहं रूप से आस्था मन्दमतियों की ही हो सकती है, अन्य की नहीं ।। ३८ ।।

उत्पत्ति के पूर्व और नाश के पश्चात् सर्वत्र देह आदि सब वस्तुएँ नहीं हैं। अपने आधार प्रदेश में उनकी विद्यमान रूप से प्रतीति होती है । विकल्पपूर्वक यह विचार किया जाय कि उनकी उक्त सकल प्रदेश में प्रतीति होती है या उसके एक देश में, तो यह निर्वचन करना कठिन हो जायगा । उनमें भी हतरूपिणी यह कैसी कौन सी आस्था है ? अर्थात् यह अनुचित है ।। ३९ ।।

चित्त अर्थात् चित्तोपलक्षित लिङ्ग शरीर अपनी उत्पत्ति से पूर्व समय में और पूर्व प्रदेश में स्वसाक्षी चिन्मात्र स्वभाव ही था । उत्तर काल में और अन्य प्रदेश

यथा स्वप्नविकारेषु यथा संभ्रमदृष्टिषु ।
यथा वा मदलीलासु यथा नौयानसंभ्रमे ॥ ४१ ॥
यथा धातुविकारेषु यथा चेन्द्रियविक्लवे ।
यथाऽतिसंभ्रमानन्दे दोषावेशदशासु च ॥ ४२ ॥
दृश्यते क्षीयते चैव रूपं सदसतोश्चलम् ।
तथैवेयमिह त्वेषा काले न्यूनातिरिक्तता ॥ ४३ ॥
सा च त्वया कृता नित्यं चित्त दुःखसुखोदये ।
यथा वियोगयामिन्यो मतयो हन्ति रागिणम् ॥ ४४ ॥
मयैवेहाऽसदभ्यासान्मिथ्या सदिव लक्ष्यसे ।
मृगतृष्णेव तेनैतत्त्वत्कृतं मत्कृतं भवेत् ॥ ४५ ॥

में नष्ट हुआ देश से परिच्छिन्न भी आकाश में लीन हुए के समान अत्यन्त तिरोहित वह सत् है या असत् है यह नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार का तुम्हारा चित्त लिङ्ग देह वर्तमान समय में और इस प्रदेश में सत् से अतिरिक्त किस रूप में उदित हुआ अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ ४० ॥

इस स्थूल सूक्ष्म देह आदि रूप जगत् की भ्रान्ति वैसे ही है जैसे स्वप्न के विकारों में असत्य भी स्वशिरश्छेद आदि सत्य-सा प्रतीत होता है, जैसे बाघ, चोर आदि की भय दृष्टियों में बाघ आदि के न रहने पर भी सर्वत्र बाघ आदि की शंका होती है, मदिरा आदि के नशे में न घूमती हुई भी पृथ्वी, घूमती हुई-सी प्रतीत होती है, जैसे नाव की सवारी से हुए भ्रम में पृथिवी पेड़ आदि के न चलने पर भी वे चलते हुए के समान प्रतीत होते हैं, जैसे वात, पित्त, आदि के संनिपात में भय आदि के हेतु के न रहने पर भी भय, आदि होते हैं, जैसे नेत्र आदि इन्द्रिय के दोषदूषित होने पर द्विचन्द्रत्वभ्रान्ति होती है, जैसे अतिप्रियतम के लाभ आदि से होने वाले आनन्द में और विधुरों की काम आदि दोषावेश की दशाओं में भाव और अभाव का रूप चञ्चल अर्थात् केवल प्रतीतिकाल में ही स्थायी रहता है, कुछ कामिनी आदि का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है शीघ्र ही बाध होने से वे नष्ट हो जाते हैं किन्तु स्वप्न आदि थोड़े समय तक रहते हैं और जगद्भ्रम मोक्षपर्यन्त रहता है। इस प्रकार समय में न्यूनता और अधिकता से अतिरिक्त उनमें अन्य कुछ भी विशेषता नहीं है ॥ ४१—४३ ॥

समय की न्यूनता और अधिकता व्यावहारिक वस्तुओं में सत्यता के भ्रम से वियोग और संयोगवश नित्य सुख और दुःख के उदय में निमित्त मानने से तुम्हें वे वैसे ही पीड़ित करते हैं जैसे पुत्र, आदि के न मरने पर भी वञ्चक पुरुष के कथन से उत्पन्न हुई उनके मरण की बुद्धि तथा

यदिदं किंचिदाभोगि तत्सर्वं दृश्यमण्डलम् ।
अवस्त्वित विनिर्णीय मनो यात्यमनःपदम् ॥ ४६ ॥
अवस्त्विदमिति स्फारे रूढे मनसि निश्चये ।
हेमन्त इव मञ्जर्यः क्षीयन्ते भोगवासनाः ॥ ४७ ॥
चित्त्वाद् दृष्टात्मना नूनं संत्यक्तमननौजसा ।
मनसा वीतरागेण स्वयं स्वस्थेन भूयते ॥ ४८ ॥
परमात्माऽनले क्षिप्तं संवृत्याऽवयवं स्वयम् ।
दग्ध्वाऽऽत्मानमलं चित्तं शुद्धतामेति शाश्वतीम् ॥ ४९ ॥
देहमन्यतया दृष्ट्वा त्यक्त्वा विषयवासनाम् ।
विनाशमुररीकृत्य मनो जयति वीरवत् ॥ ५० ॥

उससे कल्पित वियोग दुःख रागी पुरुष को मार डालते हैं ॥ ४४ ॥

यहाँ पर असद्रूप तुममें अहंभाव के अभ्यास से मैं मृगतृष्णा के तुल्य मिथ्याभूत तुमको सत् के समान देखता हूँ। इसी से तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह सब मेरा किया हुआ हो गया है ॥ ४५ ॥

जो यह विशाल दृश्यमण्डल है, वे सभी अवास्तविक ही है, ऐसा निर्णय कर मन के मननरूप व्यापार से रहित होने पर ही निर्वाण पद को प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

इस प्रकार मन में दृढ़ निश्चय होने पर कि यह अवास्तविक है कि हेमन्त ऋतु में वृक्षों की मञ्जरियों की नाईं भोगवासनाएँ क्षीण हो जाती हैं ॥ ४७ ॥

चित् के प्रतिबिम्ब के ग्रहण से चिद्रूप होने के कारण रागरहित और विरक्त संकल्प और विकल्परूप व्यसन का त्यागकर चरमसाक्षात्कारवृत्ति से आत्मसाक्षात्कार कर, मन ही स्वयं स्वस्थ मोक्षविश्रान्तिमान् होता है मैं नहीं, मैं तो सदा एकरूप सदा अद्वितीय ब्रह्मरूप है, अतः मैं की मोक्षविश्रान्ति की प्राप्ति ही कैसी होगी ॥ ४८ ॥

चित्त स्वयं बाहर प्रवृत्त अपने अवयवरूप इन्द्रिय आदि का संवरण कर तत्त्वबोध द्वारा परमात्मरूप अग्नि में प्रक्षिप्त कर चित्-स्वरूप को जला कर अत्यन्त शाश्वत परम शुद्धि की प्राप्त करता है ॥ ४९ ॥

चित्त देह को अपने से भिन्न जानकर, विषय-वासना का त्यागकर और अपने विनाश को स्वीकार कर ब्रह्मलोकपर वैसे ही विजय पाता है जैसे वीर पुरुष युद्धभूमि में अपने शरीर को स्वर्गगामी। अपने से भिन्न देखकर और उस शरीर से सम्बन्ध रखने वाले घर, खेत, धन आदि की वासना का त्यागकर अपने नाश तक को स्वीकार कर ब्रह्मलोक को जीतता है अर्थात् मोक्षविश्रान्ति को प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

मनः शत्रुः शरीरस्य शरीरं मनसो रिपुः ।
एकाभावेन नश्येते आधाराधेयकार्यवत् ॥ ५१ ॥
रागद्वेषवतोर्नित्यमन्योन्यातिविरुद्धयोः ।
एतयोर्मूलकाषेण विनाशः परमं सुखम् ॥ ५२ ॥
एतयोरेकसंस्थाने मृतिरित्येव या कथा ।
सा व्योम्न्यया[1] स्त्रिया भुक्ता धरेति कथया समा ॥५३॥
अकृत्रिमविरोधस्थौ यत्र संघटितावुभौ ।
धारा इव पतन्त्येव तत्राऽनर्थपरम्पराः ॥ ५४ ॥
मिथो विरुद्धसंसर्गे रतिमेत्यधमो हि यः ।
त्यक्तव्यः स पतद्वारावग्निराशावलेपने ॥ ५५ ॥

मन शरीर का शत्रु है और शरीर मन का रिपु है। इन दोनों में से एक की वासना के विनाश से ये दोनों वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे आधार और आधेयरूप जल और घड़े का कार्यभूत संयोग दोनों में से एक के नष्ट हो जाता है ॥ ५१ ॥

परस्पर प्रबल विरोध रखने वाले इन दोनों अर्थात् शरीर और मन के रहते बेचारे जीव को वैसे ही सुख नहीं होता जैसे परस्पर एक-दूसरे के पोषक होने के कारण अनुरागवाले, परस्पर संतापक होने के कारण द्वेषवाले बाधों के रहते वनमृग को सुख नहीं होता किन्तु इनका मूलाज्ञान के अर्थात् और उसके संस्कार के विनाश से विनाश ही परम सुख है ॥ ५२ ॥

इन दोनों में से देह का विनाश होने पर भी मन के रहने पर पुनः देहकल्पना अवश्य होगी। अतः मरण की बात आकाश में जा रही स्त्री ने भूमि निगल डाली इस कथा के समान असंभावित है,। 'व्योम्न्ययःस्त्रिया' यह पाठान्तर है इस पाठ में—लोहे की स्त्री-प्रतिमाने आकाश में भूमि निगल डाली, इस कथा के समान है, यह अर्थ है। लोहे की प्रतिमा का आकाश में जाना और वहाँ पर भूमि को निगलना जैसे अत्यन्त असंभावित है वैसे ही मन के रहते मरण भी अत्यन्य असंभावित है ॥ ५३ ॥

स्वाभाविक विरोधवाले ये दोनों जहाँ पर एकत्रित होते हैं वहाँ पर अनर्थों की परम्पराएँ वैसे ही अवश्य गिरती हैं जैसे लड़ रहे दो योद्धाओं के मध्य में स्थित पुरुष के शरीर पर तलवार और बाणों की बौछार गिरती है ॥ ५४ ॥

परस्परविरुद्ध देह और मन जहाँ पर संघटित होते हैं उस वैषयिक सुखभोग में जो मूर्ख अनुराग रखता है उसे निरन्तर समुद्र का जल गिरने वाले आवरण रहित खुले हुए बड़वानल में फेंक देना चाहिये। आशय यह है कि वहाँ पर भी वह अनुराग करेगा। वैषयिक सुख भोग बड़वानल से कम भीषण नहीं है अतः वैषयिक सुखभोग में अनुराग रखनेवाला बड़वानल में अवश्य अनुराग करेगा ॥ ५५ ॥

संकल्पेन मनः पुष्ट्वा शरीरं बालयक्षवत् ।
आयुरेवाऽशनान्यस्मै स्वदुःखानि प्रयच्छति ॥ ५६ ॥
तैर्दुःखैस्तापितो देहो मनो हन्तुमथेच्छति ।
पुत्रोऽपि हन्ति पितरमाततायिपदं गतम् ॥ ५७ ॥
नाऽस्ति शत्रुः प्रकृत्यैव न च मित्रं कदाचन ।
सुखदं मित्रमित्युक्तं दुःखदाः शत्रवः स्मृताः ॥ ५८ ॥
देहो दुःखान्यनुभवन् स्वमनो हन्तुमिच्छति ।
देहं मनः स्वदुःखानां संकेतं कुरुते क्षणात् ॥ ५९ ॥
एवं मिथो दुःखदयोः श्लिष्टयोः कः सुखागमः ।
एतयोर्देहमनसोर्जात्यैवाऽतिविरुद्धयोः ॥ ६० ॥

मन अपने संकल्प से शरीर की कल्पना कर इसके लिए आयुपर्यन्त भोजन की कल्पना कर पुष्ट बनाकर अपने अभिनिवेश से होनेवाले सब दुःखों को इसे वैसे ही देता है जैसे बालक अपने संकल्प से यक्ष की कल्पना करता है ॥ ५६ ॥

अनन्तर उन दुःखों से तापित शरीर मन को मारने की इच्छा करता है अर्थात् दुर्विषयों के सेवन से मन में राग-द्वेष, शोक, मोह, पाप आदि की उत्पत्ति से मन को पीड़ित करना चाहता है। मन से उत्पन्न मन का पुत्र रूप शरीर पितृस्थानीय मनको मारना चाहता है, क्योंकि आततायी पीड़ाप्रद पिता को पुत्र भी मारता ही है ॥५७॥

प्रकृति से न कोई किसी का शत्रु है और प्रकृति से ही न कोई किसी का कभी मित्र है। जो सुख देता है वह मित्र कहा गया है और दुःखदायी शत्रु कहे ग हैं ॥ ५८ ॥

दुःखों का अनुभव करता हुआ शरीर अपने मन विनाश करने की इच्छा करता है और मन क्षणभर शरीर को अपने दुःखों का भोगायतन बना लेता है ॥ ५९ ॥

इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को दुःख देनेवाले तथा स्वभाव से ही अत्यन्त विरुद्ध मन और शरीर के संगत होने पर सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥ ६० ॥

मनस्येव परिक्षीणे न देहो दुःखभाजनम् ।
तत्क्षयोत्कतया नित्यं देहोऽपि परिधावति ॥ ६१ ॥
नष्टानष्टमनर्थाय शरीरं पदमापदाम् ।
अलब्धात्मविवेकेन मनसा सुप्रजायते ॥ ६२ ॥
एते मनःशरीरे हि मिथः पीवरतां गते ।
जडरूपे हि वपुषा पयोदसरसी यथा ॥ ६३ ॥
मिथो दुःखाय संपन्ने एकरूपे द्विधा स्थिते ।
व्यवहारपरे सार्धं लोके वार्यनलाविव ॥ ६४ ॥
चित्ते क्षयिणि संक्षीणे देहो ह्युन्मूलितो भवेत् ।
वर्धमाने तरुरिव शतशाखः प्रवर्तते ॥ ६५ ॥
क्षीयते मनसि क्षीणे देहः प्रक्षीणवासनः ।
मनो न क्षीयते क्षीणे देहे तत् क्षपयेन्मनः ॥ ६६ ॥
संकल्पपादपं तृष्णालतं छित्त्वा मनोवनम् ।

मन का विनाश होने पर शरीर दुःख का भाजन नहीं होता है, इसलिए शरीर मन के विनाश में उत्कण्ठित रहने से ज्ञान और उसकी प्राप्ति के उपायों में सदा यत्नशील रहता है ॥ ६१ ॥

मन को आत्मविवेक न होने पर उसके द्वारा शरीर का चाहे नाश हो चाहे न हो वह आपत्तियों का स्थान बनकर अनर्थों की ही सृष्टि करता है, यही कारण है कि शरीर के नाश में मन की इष्टसिद्धि नहीं होती है ॥६२॥

शरीर से जड़रूप ये मन और शरीर परस्पर के अनुग्रह से वैसे ही पुष्ट को प्राप्त होते हैं जैसे शरीर से जलरूप मेघ और तालाब परस्पर एक दूसरे से पुष्ट होते हैं ॥ ६३ ॥

जैसे लोक में परस्परविरुद्ध होने के कारण पृथक्-पृथक् स्थित जल और अग्नि अन्नपाक के लिए एकरूप होते हैं वैसे ही विरुद्ध स्वभाव दो प्रकार से स्थित ये परस्पर तादात्म्याध्यास से एकरूप हो दुःखों का भोग करने के लिए एक साथ भोग और मोक्ष के व्यवहारसाधन में तत्पर हैं ॥ ६४ ॥

विनाशी चित्त के क्षीण होने पर देह उन्मूलित हो जाता है और चित्त के बढ़ने पर वृक्ष के समान सैकड़ों शाखाप्रशाखावाला होता है ॥ ६५ ॥

मन के क्षीण होने पर शरीर क्षीण वासनावाला हो क्षीण हो जाता है। देह के क्षीण होने पर मन क्षीण नहीं होता है अतः मन को ही क्षीण करना चाहिए ॥ ६६ ॥

संकल्परूपी वृक्षों से पूर्ण तृष्णारूपी लतावाले मनरूपी

विततां भुवमासाद्य विहरामि यथासुखम् ॥ ६७ ॥
प्रक्षीयमाणमेवेदं न मनो मनसि स्थितम् ।
प्रशाम्यद्वासनाजालं प्रावृडन्त इवाऽम्बुदः ॥ ६८ ॥
धातूनां सन्निवेशोऽयं देहनामा रिपुर्मम ।
प्रक्षीयमाणे मनसि गलत्वेषोऽवतिष्ठतु ॥ ६९ ॥
यदर्थं किल भोगश्रीर्वाञ्छते स्वकलेवरम् ।
तन्मे नाऽपि न तस्याऽहं कोऽर्थः सुखलवेन मे ॥ ७० ॥
नाऽहं देह इति त्वस्मिन् युक्तिमाकर्णय क्रमे ।
सर्वाङ्गेष्वपि सत्स्वेव शवः कस्मान्न वल्गति ॥ ७१ ॥
तस्माद्देहादतीतोऽहं नित्योऽनस्तमितद्युतिः ।
यः सङ्गं भास्वता प्राप्य वेद्मि व्योमनि भास्करम् ॥७२॥
नाऽज्ञोऽहं न च मे दुःखं नाऽनर्थो न च दुःखिता ।
शरीरमस्तु मा वाऽस्तु स्थितोऽस्मि विगतज्वरः ॥७३॥

वन को छिन्न-भिन्न कर विस्तृत मुक्तिरूपी भूमि को प्राप्त कर मैं सुखपूर्वक विहार कर रहा हूँ ॥ ६७ ॥

संकल्प का नाश होने पर क्षीण हो मन में अपने स्वभाव में स्थित न हो कर यह मन वासनाजाल रहित होकर वर्षा ऋतु के अन्त में मेघ के समान नष्ट हो जाता है ॥ ६८ ॥

धातुओं का अर्थात् त्वचा, रक्त, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और शुक्र नाम का संघातरूप यह देहनामक मेरा शत्रु मन के क्षीण होने पर नष्ट हो जाय, चाहे रहे मेरी कोई भी हानि नहीं है ॥ ६९ ॥

भोगेच्छु जिसके लिए अपने शरीर की कामना करता है वह न तो मेरा सम्बन्धी और न मैं ही उसका सम्बन्धी हूँ। सुखलेश से मेरा क्या प्रयोजन है ? ॥ ७० ॥

मैं देह नहीं हूँ, इस अवश्य ज्ञातव्य अर्थ के विषय में युक्ति को सुनें। यदि देह मैं अर्थात् आत्मा होता तो सब अंगों के रहने पर भी शव यह व्यवहार नहीं होता अतः देह आत्मा नहीं है ॥ ७१ ॥

शव में ज्ञान आदि के न होने से यह सिद्ध है कि मैं देह से अतिरिक्त नित्य हूँ, मेरी ज्योति कभी अस्त नहीं होती है। व्यापक होने के कारण सूर्यमण्डल में स्थित सूर्य से संगत होकर आकाश में स्थित सूर्य को जानता हूँ, वही चिद्रूप मैं हूँ ॥ ७२ ॥

न तो मैं अज्ञानी हूँ, न मुझे दुःख है, न अनर्थ है और न मुझमें दुःखिता है। मेरा शरीर रहे चाहे न रहे मैं सन्तापशून्य होकर स्थित हूँ ॥ ७३ ॥

यत्राऽऽत्मा तत्र न मनो नेन्द्रियाणि न वासनाः ।
पामराः परितिष्ठन्ति निकटे न महीभृतः ॥ ७४ ॥

पदं तदनुयातोऽस्मि केवलोऽस्मिजयाम्यहम् ।
निर्वाणोऽस्मि निरंशोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरीप्सितः ॥७५॥

इदानीमस्म्यसम्बद्धो मनोदेहेन्द्रियादिभिः ।
पृथक्कृतस्य तैलस्य तिलैर्विगलनैरिव ॥ ७६ ॥

स्वस्मात् पदवरादस्माल्लीलया चलितस्य मे ।
पृथक्कृतमतेः किञ्च परिवारो ह्ययं शुभः ॥ ७७ ॥

स्वच्छतोर्जितता सत्ता हृद्यता सत्यता ज्ञता ।
आनन्दितोपशमिता सदा च मृदुभाषिता ॥ ७८ ॥

पूर्णतोदारता सत्या कान्तिमत्तैकतानता ।
सर्वैकता निर्भयता क्षीणद्वित्वविकल्पता ॥ ७९ ॥

नित्योदिताः समाः स्वस्थाः सुन्दर्यः सुभगोदयाः ।
ममैकात्ममतेर्नित्यं कान्ता हृदयवल्लभाः ॥ ८० ॥

सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वस्मिन् संभवत्यतः ।
सर्वं प्रति मम क्षीणे वाञ्छावाञ्छे सुखासुखे ॥ ८१ ॥

विगतमोहतया विमनस्तया
गतविकल्पनचित्ततया स्फुटम् ।
उपरमाम्यहमात्मनि शीतले
घनलवः शरदीव नभस्तले ॥ ८२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
उद्दालकविचारविलासो नाम त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

जहाँ पर आत्मा है वहाँ मन, इन्द्रिय और विविध वासनाएँ वैसे ही नहीं रहती हैं जैसे राजा के निकट पामर लोग नहीं रह सकते हैं ॥ ७४ ॥

मैंने उस परमपद को प्राप्त हो गया हूँ । मैं सजातीय, विजातीय और स्वगतभेद से रहित सबसे उत्कृष्ट ब्रह्म-स्वरूप तीनों तापों की शान्ति से निर्वाणस्वरूप परिपूर्ण होने के कारण अंश रहित आप्तकाम होने के कारण किसी वस्तु की अभिलाषा से रहित निरीह हूँ ॥ ७५ ॥

मन, देह, इन्द्रिय आदि से अब मेरा वैसे ही कोई सम्बन्ध नहीं है जैसे तिलों से पृथक् किये गये तेल का पेरे हुए तिलों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है ॥ ७६ ॥

प्रारब्धशेष के भोग के लिए इस स्वात्मरूप श्रेष्ठ पद से व्यवहाराभास में अवतीर्ण पूर्व वासना से पृथक्कृत बुद्धिवाले यह देहेन्द्रिय आदि मेरा परिवार परिजन की तरह विनोद के हेतु है ॥ ७७ ॥

स्वच्छता, पूर्णकामता, सद्रूपता, सर्वप्रियता, सत्यता, ज्ञानिता, आनन्दस्वरूपता, निर्विकारता, सदा मृदुभाषिता, पूर्णता, निर्लोभता, अबाधित स्वभावता, कान्तिमत्ता, एकतानता, सर्वात्मकता, निर्भयता, द्वित्वादिविकल्प रहित आदि ये मेरी नित्य उदित हुई स्वस्थ, सम, सुन्दरी तथा सुन्दर उदय वाली कान्तएँ हैं, ये एकमात्र आत्मनिष्ठ मुझे सदा प्रिय हैं ॥ ७८—८० ॥

सब में सब कुछ सदा सर्वथा संभव है, अतः सब विषयों के प्रति मेरे राग-द्वेष और उनके फल सुख-दुःख क्षीण हो गये हैं ॥ ८१ ॥

मैं शरत्-ऋतु में आकाश में मेघ-खण्ड के समान शीतल अर्थात् त्रिविधतापशून्य आत्मा में दृश्यभाव का त्याग कर विश्राम ग्रहण कर रहा हूँ । मेरा मोह समाप्त हो गया है, मेरा मन क्षीण हो गया है, चित्त के संकल्प-विकल्प भी मुझमें नहीं रह गये हैं ॥ ८२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में उद्दालकविचारविलास नामक कुसुमलता का तिरपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

५४

वसिष्ठ उवाच

इति निर्णीय ततया धिया धवलया मुनिः ।
बद्धपद्मासनस्तस्थावर्धोन्मीलितलोचनः ॥ १ ॥

ओमित्येतत् परं ब्रह्म निर्णीय स मुनिस्तदा ।
ॐकारोच्चारितो येन तेनाऽऽप्तं परमं पदम् ॥ २ ॥

५४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—विशुद्ध तथा विशाल बुद्धि से इस प्रकार निर्णय कर पद्मासन लगा कर और नेत्रों को निमीलित कर मुनि बैठे गये ॥ १ ॥

जिसने ॐकार का उच्चारण किया, उसको परमपद प्राप्त हो गया, ॐ यह अक्षर परब्रह्म का प्रधान नाम और अन्तरङ्ग प्रतीक है, यह अक्षर परब्रह्म ही है ॥ २ ॥

ॐकारमकरोत् तारस्वरमूर्ध्वगतध्वनिम् ।
सम्यगाहतलाङ्गूलं घण्टाकुण्डमिवाऽऽरवम् ॥ ३ ॥
ओमुच्चारयतस्तस्य संवित्तत्त्वे तदुन्मुखे ।
यावदोङ्कारमूर्धस्थे वितते विमलात्मनि ॥ ४ ॥
सार्धत्र्यंशात्ममात्रस्य प्रथमेंऽशे स्फुटारवे ।
प्रणवस्य समाक्षुब्धप्राणारणितदेहके ॥ ५ ॥
रेचकाख्योऽखिलं कायं प्राणनिष्क्रमणक्रमः ।
रिक्तीचकार पीताम्बुरगस्त्य इव सागरम् ॥ ६ ॥
अतिष्ठत् प्राणपवनश्चिद्रसापूरिताम्बरे ।
त्यक्तदेहः परित्यक्तनोडः खग इवाऽम्बरे ॥ ७ ॥
हृदयाग्निर्ज्वलज्ज्वालो ददाह निखिलं वपुः ।
उत्पातपवनोद्भूतो दावः शुष्कमिव द्रुमम् ॥ ८ ॥

ऐसा निश्चय कर मुनि ने ॐकार का उच्चारण किया। उद्दालक मुनि ने घण्टे के अधोभाग में लटके हुए लोहे के जीभ के आकार के लटकन को अच्छी तरह ताडन करने से घण्टे के आकाशभाग में उत्पन्न नाद की तरह ॐकार का, जिसका ऊँचा स्वर था तथा ध्वनि ऊपर को गई थी, उच्चारण किया ॥ ३ ॥

उद्दालक मुनि ने तब तक ॐकार का उच्चारण किया जबतक की उनकी उस प्रकार से उच्चारित प्रणवध्वनि मूलाधार से उठकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त परिव्याप्त न हुई और उनके संवित्तत्त्व अर्थात् ॐकाराकर बुद्धि और जीवतत्त्व अर्थात् जीवाख्य अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य अर्द्धमात्रा के उच्चारण बाद अर्थात् अर्धमात्रोच्चारण का उपरम होनेपर जो निरंशकूटस्थ ब्रह्मचैतन्य अनुभूति में अभिव्यक्त होता है, उसी ब्रह्मचैतन्य के अभिमुख न हो गये ॥ ४ ॥

अर्धमात्रासहित अकार, उकार, मकाररूप तीन अवयव वाले प्रणव के प्रथम अंश उदात्त 'अकार' का उच्च स्वर से तारभाव अभिव्यक्त होने पर बाहर निकलने के लिए उद्यत प्राणों द्वारा मूलाधार से लेकर ओष्ठपुटतक शरीर को ध्वनित किया ॥ ५ ॥

रेचक नाकवाले प्राण निकलने के क्रम ने जिस प्रकार अगस्त्य ऋषि ने जल पीकर समुद्र को रिक्त कर दिया था उसी प्रकार समस्त शरीर को खाली कर दिया अर्थात् उद्दालकमुनि ने रेचन द्वारा शरीर को सुख दिया ॥ ६ ॥

उनका रेचित प्राणवायु शरीर का त्यागकर ब्रह्म की भावना अभिव्यक्त हार्दरस से भरे हुए बाह्यकाश में वैसे ही स्थित हुआ जैसे पक्षी घोंसले को छोड़कर आकाश में घूमता है ॥ ७ ॥

यावदित्थमवस्थैषा प्रणवप्रथमक्रमे ।
बभूव न हठादेव हठयोगो हि दुःखदः ॥ ९ ॥
अथेतरांशावसरे प्रणवस्य समस्थितौ ।
निष्कम्पकुम्भको नाम प्राणानामभवत् क्रमः ॥ १० ॥
न बहिर्नाऽन्तरे नाऽधो नोर्ध्वे नाऽऽशासु तत्र ते ।
संक्षोभमगमन् प्राणा आपः संस्तम्भिता इव ॥ ११ ॥
दग्धदेहपुरो वह्निः शशामाऽशनिवत् क्षणात् ।
अदृश्यत सितं भस्म शारीरं हिमपाण्डुरम् ॥ १२ ॥
यत्र कर्पूरशय्यायां सुप्तानीव सुखोचितम् ।
शरीरास्थीनि लक्ष्यन्ते निष्पन्दानि सितानि च ॥ १३॥
तद्भस्म पवनानीतं सास्थि वायुरयोजयत् ।
स्वदेहे भृशमुत्सन्ने त्रिनेत्रव्रतवानिव ॥ १४ ॥

जिस प्रकार उत्पातपवन से पैदा हुई दावाग्नि शुष्क वृक्षों को जला देती है उसी प्रकार प्राणों के निष्क्रमण और संघर्ष से हृदय में भावना द्वारा उत्पन्न जलती ज्वालाओं वाली अग्नि ने उनके सारे शरीर को जला दिया ॥ ८ ॥

इस तरह प्रणव के प्रथम अंश में जितनी यह पूर्वोक्त अवस्था हुई, सब भावना से ही हुई, हठ नहीं हुई, बलात्कार से प्राणों को बाहर निकालने में मूर्छा, मरण आदि का भय रहता है क्योंकि हठयोग दुःखद होता है ॥ ९ ॥

इसके बाद दूसरे 'उकार' अंश के अनुदात्तस्वर से गंभीर उच्चारण के समय प्रणव की समस्थिति होने पर प्राणों का निश्चल कुम्भक नाम का क्रम हुआ ॥ १० ॥

वे प्राण बाहर भीतर अधोभाग में ऊर्ध्वभाग में और दिशाओं में न थे, वे बाँध में रुके हुए जल की तरह संक्षुब्ध थे ॥ ११ ॥

अग्नि शरीररूपी नगर को जला कर बिजली की तरह क्षण भर से शान्त हो गई, बरफ की तरह सफेद रंग वाली शरीर की भस्म दिखाई दी ॥ १२ ॥

उस समय शरीर की निश्चल एवं सफेद हड्डियाँ कपूर के चूर्ण से सुसज्जित शय्या में उचित सुख से सोई हुई के समान भावना से लक्षित हुई ॥ १३ ॥

आँधी से उड़ाई गई हड्डियों से युक्त वह भस्म श्रीमहादेवजी के भस्मधारणरूपी व्रतवाले की तरह प्रचण्ड वायु ने तपस्या से कृश शरीर की तरह अलक्ष्य अपने शरीर में उड़ाई ॥ १४ ॥

तच्चण्डपवनोद्धूतमावृत्त्ये गगनं क्षणात् ।
शरदीवाऽभ्रमिहिका क्वाऽपि भस्माऽस्थिमद् ययौ॥१५॥
यावदित्थमवस्थैषा प्रणवस्याऽपरे क्रमे ।
बभूव न हठादेव हठयोगो हि दुःखदः ॥ १६ ॥
ततस्तृतीयावसरे प्रणवस्योपशान्तिदे ।
पूरणात् पूरको नाम प्राणानामभवत् क्रमः ॥ १७ ॥
अस्मिन्नवसरे प्राणाश्चेतनामृतमध्यगाः ।
व्योम्नि शीतलतामीयुर्हिमसंस्पर्शसुन्दरीम् ॥ १८ ॥
क्रमाद् गगनमध्यस्थाश्चन्द्रमण्डलतां ययुः ।
धूमा गगनकोशस्थाः शीतलाम्बुदतामिव ॥ १९ ॥
कलाकलापसम्पूर्णे ते तस्मिंश्चन्द्रमण्डले ।
पुण्यराशाविवाऽऽपूर्णे रसायनमहार्णवे ॥ २० ॥
रसायनमया धाराः संपन्नाः प्राणवायवः ।
मणियष्टिसमाकारा [illegible] ॥ २१ ॥
सा पपाताऽम्बराद्धारा शेषे शरीरभस्मनि ।
रसायनी हरशिरःपतितेव सुरापगा ॥ २२ ॥
उदभूदिन्दुबिम्बाभं चतुर्बाहुवपुस्तया ।
प्रस्फुरन्मन्दरादब्धेः पारिजात इव द्रुमः ॥ २३ ॥
उद्दालकशरीरं तन्नारायणतयोदितम् ।
प्रफुल्लनेत्रवक्त्राब्जमाबभौ दीप्तिसुन्दरम् ॥ २४ ॥
रसायनमयाः प्राणास्तच्छरीरमपूरयन् ।
सलिलौघा इव सरो वृक्षं मधुरसा इव ॥ २५ ॥
अन्तःकुण्डलिनीं प्राणाः पूरयामासुरादृताः ।
चक्रानुवर्तप्रसृतां पयांसीव सरिद्वराम् ॥ २६ ॥
प्रकृतस्थं बभूवाऽस्य तच्छरीरं द्विजन्मनः ।
प्रावृट्शरीरविगमे धौतं तलमिवाऽवनेः ॥ २७ ॥

प्रचण्ड वायु से उड़ाई हुई वह हड्डियों से मिली हुई भस्म क्षणभर आकाश को ढक कर शरद् ऋतु की बदली की तरह कहीं चली गई ॥ १५ ॥

इस प्रकार यह जितनी भी अवस्था प्रणव के दूसरे अंश में अर्थात् कुम्भकक्रम में हुई सब भावना द्वारा ही हुई हठ से नहीं हुई, क्योंकि हठयोग दुःखद होता है ॥ १६ ॥

इसके बाद प्रणव के उपशान्तिप्रद तृतीय मकारक्रम में अर्थात् मकारोच्चारण के समय में पूरण करने के कारण प्राणों का 'पूरक' नाम का क्रम उत्पन्न हुआ ।

यद्यपि रेचक, कुम्भक और पूरक समग्र प्रणव के ही साधन प्रसिद्ध हैं तथापि रेचक में प्रथम भाग का ही विस्तार किया जाता है, कुम्भक में मध्यभाग का और पूरक में अन्तिम भाग का क्योंकि कण्ठ से निकलते हुए प्राणवायु से कण्ठस्थानीय अकार भाग की ही अभिव्यक्ति होती है, संकुचित हो रहे ओष्ठों से उकार भाग की और ओष्ठों के सम्पुटित होने पर मकार भाग की अभिव्यक्ति के समय प्राणवायु के पुनः प्रवेश करने पर भी उसमें प्रणव के संस्कार का ही अनुवर्तन होता है ॥ १७ ॥

इस अवसर में, जीव चैतन्य में अर्थात् जीवात्मा में भावना द्वारा भावित अमृत के ब्रह्म के मध्य में गये हुए प्राणों ने हिम के स्पर्श की तरह सुन्दर शीतलता प्राप्त की ॥ १८ ॥

उसी प्रकार आकाश के मध्य में स्थित प्राण क्रम से उसी प्रकार चन्द्र-मण्डलता को प्राप्त किया जिस प्रकार गगन कोष में स्थित कुहरा शीतल हमें हो जाता है ॥१९॥

अमृतमय कलाओं के समूह से भली-भाँति पूर्ण एवं धर्म मेघाख्य समाधि की तरह आह्लाद से भरे हुए, रसायन महासागर रूपी उस चन्द्र-मण्डल में प्राणवायु उसी तरह अमृतमय किरणों की धारा बन गयी। जिस प्रकार गवाक्ष में (झरोखे में) गई हुई चन्द्र किरणें स्फटिक दण्डाकार हो जाती हैं ॥ २०–२१ ॥

प्राणों की वह अमृतमय धारा शेष बचे हुए शरीर के भस्म पर आकाश से उसी प्रकार गिरी जिस प्रकार महादेव शी के सिर पर अमृतमय गङ्गा की धारा गिरती है ॥ २२ ॥

अमृतमय धारा चन्द्रबिम्ब की तरह कान्ति वाला चार भुजाओं से युक्त शरीर उसी प्रकार उत्पन्न हुआ जिस प्रकार मथन करने से चञ्चल मन्दराचल वाले समुद्र से पारिजात वृक्ष उत्पन्न हुआ था ॥ २३ ॥

नारायण रूप से प्रादुर्भूत एवं मुख बाला सुन्दर कान्तिमय उद्दालक का कमल की तरह खिले हुए नेत्र एवं प्रसन्न शरीर अतिशय सुशोभित हुआ ॥ २४ ॥

अमृतमय प्राणों ने उनके शरीर को वैसे ही सर्वाङ्ग-पूर्ण बना दिया जैसे जल का समुदाय सरोवर को एवं वसन्त ऋतु में कोमल पत्तों को पैदा करने वाले पार्थिव रस वृक्ष को सर्वाङ्गपूर्ण बना देते हैं ॥ २५ ॥

प्राणों ने अन्दर कुण्डलिनी को वैसे ही पूर्ण किया जैसे चक्राकार भँवरों से बह रही श्रीगङ्गाजी को जल पूर्ण करते हैं ॥ २६ ॥

ब्राह्मण का शरीर भी दहन, प्लावन आदि की भावना से कालुष्यरहित होकर वैसे ही प्रकृत समाधिरूप कार्य में स्थित हो गया जैसे शरद ऋतु में अन्तिम वृष्टि से धुला हुआ और शीघ्र सूखा हुआ पृथिवीतल वर्षा काल

अथ पद्मासनगतः कृत्वा देहे स्थितिं दृढम् ।
आलान इव मातङ्गं निबद्धचेन्द्रियपञ्चकम् ।। २८ ।।
निर्विकल्पसमाध्यर्थं व्यवसायमुपाददे ।
स्वभावं स्वच्छतां नेतुं शरत्काल इवाऽमलम् ।। २९ ।।
प्रशान्तवातहरिणमाशादिगणगामिनम् ।
चिन्तया हृदयं निन्ये दूराद्रज्ज्वेव कीलकम् ।। ३० ।।
धावमानमधो मत्तं चित्तं विमलमाकुलम् ।
बलात् संरोधयामास सेतुर्जलमिव द्रुतम् ।। ३१ ।।
निमिमील दृशावर्धं परिपक्ष्मलपक्ष्मके ।
निस्पन्दतारामधुरे सन्ध्याकाल इवाऽम्बुजे ।। ३२ ।।
सौम्यतामनयन्मौनी प्राणापानजवं मुखे ।

के कीचड़ आदि के नष्ट हो जाने पर निर्मल हो जनता के यातायात आदि कार्य के योग्य हो जाता है ।। २७ ।।

इसके बाद पद्मासन लगाकर उस भावमय शरीर में दृढ़ता से स्थित होकर उद्दालक मुनि ने जिस प्रकार बन्धन स्तम्भ में हाथी को बांधते हैं उसी प्रकार देह में पाँचों इन्द्रियों को बाँधकर निर्विकल्पक समाधि के लिए तथा मन को, जिसमें प्राणायाम द्वारा प्राणवायुरूपी मृग शान्त हो चुके थे और जो आशा, लोभ, तृष्णा, उत्कण्ठा प्रतीक्षा आदि के पीछे-पीछे दौड़ने वाला था, स्वच्छ बनाने के लिए ऐसे उद्योग किया जैसे कि शरत्काल शान्त मृगवाले तथा दिशाओं में फैले हुए अपने निर्मल स्वभाव को स्वच्छ करने के लिए उद्योग करता है। परन्तु इस अवस्था में जिस प्रकार ढीले गढ़े हुए अश्व आदि के बाँधने के खूँटे को अश्व आदि से खींची गई रस्सी उखाड़कर खींच लेती है उसी प्रकार पूर्वानुभूत घर, खेत, पुत्र, मित्र आदि की चिन्ता ने उनके मन को दूर आकृष्ट किया ।। २८-३० ।।

उन्होंने गृह, पुत्र, मित्र आदि क्षुद्र विषयों में भागते हुए उन्मत्त व्याकुल मन को विवेक बल से वैसे ही निर्मल बना कर रोक दिया जैसे अतिशीघ्रता से बह रहे जल को पुल अर्थात् बाँध रोक देता है ।। ३१ ।।

उन्होंने निश्चल पुतलियों से मनोहर एवं दोनों पलकों के मिलने से सघन केशों से युक्त पक्ष्मों वाले नेत्र को वैसे ही निमीलित किया जैसे संध्याकाल निश्चल आँख की पुतली के भ्रमरों से युक्त कमलों को संकुचित कर देता है ।। ३२ ।।

ऋषी ने मौनी होकर प्राण, अपान के वेग को वैसे ही मुख में क्षोभ, वैषम्य आदि से रहित कर दिया जैसे

श्वसनं श्रेयसे देशे प्रशस्तः समयो यथा ।। ३३ ।।
तिलेभ्य इव तैलानि पृथक् चक्रे प्रयत्नतः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः कूर्मोऽङ्गानीव गोपयन् ।। ३४ ।।
बाह्यस्पर्शानशेषेण जहौ दूरे स धीरधीः ।
सहसा कुण्डकच्छन्नो मणिर्दूरत्विषो यथा ।। ३५ ।।
विलीनानान्तरांश्चक्रे स्पर्शानुज्झितदर्शनात् ।
रसान् विटपकोशस्थान् मार्गशीर्ष इव द्रुमः ।। ३६ ।।
रुरोध गुदसंकोचान्नवद्वारानिलानथ ।
मुखसंस्थगितः कुम्भो रन्ध्रकोशानिवेतरान् ।। ३७ ।।
स्वात्मरत्नप्रकाशाढ्यां स्पष्टां कुसुमलाञ्छिताम् ।
दधार कन्धरां धीरो मेरुः शृङ्गशिखामिव ।। ३८ ।।

चक्रवर्ती का प्रशस्त जन्म समय जगत् का कल्याण सूचित करने के लिए शीतल, मन्द और सुगन्ध वायु को उनके जन्म देश में सम अर्थात् न अतिवेग से और न अतिमन्द चाल से बहाता है ।। ३३ ।।

जैसे कछुआ अपने अङ्गों एवं इन्द्रियों को छिपाता है वैसे ही इन्द्रियों को छिपाते हुए उन्होंने प्रयत्न द्वारा इन्द्रियों को विषयों से उसी प्रकार पृथक् कर दीं जिस प्रकार तिलों से तैल पृथक् किया जाता है ।। ३४ ।।

समस्त विषयों को उस धीर बुद्धि वाले ने वैसे ही सहसा दूर छोड़ दिया जैसे छोटे कुण्डे से सहसा ढकी हुई मणि दूर तक फैली हुई किरणों को छोड़ देती है ।। ३५ ।।

उन्होंने समस्त वस्तुओं का दर्शन छूट जाने से मनोवासनारूप आभ्यन्तरिक विषयों का आकर्षण द्वारा बाध होने से वैसे ही अधिष्ठानतत्त्व में विलीन कर दिया जैसे वृक्ष पत्रों के कोश में स्थित रस को अर्थात् जल को मार्गशीर्ष में नष्ट कर देता है ।। ३६ ।।

उन्होंने मूलाधार के अवरोध से एड़ी के द्वारा मल-द्वार के संकोच से नौ द्वारों से निकलने वाली वायुओं को वैसे ही रोक दिया जैसे मुख में कसकर बाँधा हुआ जल पूर्ण अधोमुख घड़ा अन्दर वायु के प्रवेश के बिना दूसरे छिद्रों से जल के न चूने से इतर रन्ध्रकोशों को रोकता है ।। ३७ ।।

उस धीर ने अपने आत्मरूपी रत्न के प्रकाश से प्रकाशित तथा प्रसन्न मुखरूपी कमल पुष्प से सुशोभित एवं रजोगुण तथा तमोगुण अनावृत कन्धे को वैसे ही धारण किया जैसे मेरु अपने रत्नों के प्रकाश से पूर्ण एवं कल्पवृक्षों के पुष्पों से सुशोभित विशद शिखर को धारण करता है ।। ३८ ।।

बभार हृदयाकाशे मनः संयममागतम् ।
विन्ध्यखात इवोन्मत्तं गजं युक्तिवशीकृतम् ॥ ३९ ॥
शरन्नभोवदासाद्य निर्मलामतिसौम्यताम् ।
जहार परिपूर्णाब्धेर्निर्वातस्याऽचलां श्रियम् ॥ ४० ॥
दुधावऽतिविकल्पौघान् प्रतिभासमुपेयुषः ।
पुरः परिस्फुरद्रूपान् मशकानिव मारुतः ॥ ४१ ॥
आगच्छतो यथाकामं प्रतिभासान् पुनः पुनः ।
अच्छिनन्मनसा शूरः खड्गेनेव रणे रिपून् ॥ ४२ ॥
विकल्पौघे परालूने सोऽपश्यद्धृदयाम्बरे ।
तमश्छन्नविवेकार्कं लोलकज्जलमेचकम् ॥ ४३ ॥
तमप्युन्मार्जयामास सम्यक्स्वान्तविवस्वता ।

उन्होंने एक विषय में धारणा-ध्यान-समाधिरूप संयम के प्रति आकृष्ट एवं प्रत्याहाररूप उपायों से वश में किये हुए मन को हृदयाकाश में वैसे ही धारण किया जैसे हाथी पकड़ने वाले लोग विन्ध्याचल के गड्ढे में युक्तियों से वश में किये हुए उन्मत्त हाथी को पकड़ लेते हैं ॥ ३९ ॥

उन्होंने क्षोभ आदिविहीनता को प्राप्त कर निर्वात एवं परिपूर्ण समुद्र की अचल शोभा को वैसे ही हर लिया जैसे शरदृतु में आकाश निर्मल सौम्यता को प्राप्त करता है ॥ ४० ॥

ब्रह्माकारचित्तवृत्ति में विक्षेप करने के लिए विपरीत भावना से उठे हुए विकल्पों को उन्होंने वैसे ही दूर भगा दिया अर्थात् नष्ट कर दिया जैसे सामने उड़ते हुए मच्छरों को वायु दूर उड़ा ले जाता है ॥ ४१ ॥

आत्मज्ञानी उद्दालक ने अपनी इच्छानुसार बार-बार आ रहे भावनाजन्य मिथ्यावासना से उत्पन्न विकल्पों को दृढ़ मन के द्वारा वैसे ही नष्ट कर दिया जैसे शूरवीर पुरुष सामने आये हुए शत्रुओं को रण में तलवार से काट डालता है ॥ ४२ ॥

विकल्पों के समूह का उच्छेद हो जाने पर उन्होंने अपने हृदयाकाश में चञ्चल कज्जल की तरह काले तमोगुण को अधिकता से उत्पन्न विवेकरूपी सूर्य को आच्छन्न करने वाले अन्धकार को देखा ॥ ४३ ॥

उन्होंने पवन से कज्जल के समान सत्त्वगुण के उद्रेक से उदित ज्ञानरूपी प्रकाश वाले अन्तःकरण रूपी सूर्य से उस तमोगुण रूपी अन्धकार को भी शीघ्र अच्छी तरह नष्ट कर दिया ॥ ४४ ॥

उद्दालक ने तमोगुणरूपी अन्धकार के शान्त हो जाने

सम्यग्ज्ञानोदितेनाऽऽशु पवनेनेव कज्जलम् ॥ ४४ ॥
तमस्युपरते कान्तं तेजःपुञ्जं ददर्श सः ।
शार्वरे तिमिरे शान्ते प्रातः सन्ध्यामिवाऽम्बुजम् ॥४५॥
तल्लुलाव स्थलाब्जानां वनं बाल इव द्विपः ।
अपिबच्चाऽप्यसृक्पूरं वेताल इव वेगतः ॥ ४६ ॥
तेजस्युपरते तस्य घूर्णमानं मनो मुनेः ।
निशाब्जवदगान्निद्रां लोलं क्षीबवदेव वा ॥ ४७ ॥
मेघमालामिव मरुद् व्यालो नीलाब्जिनीमिव ।
यामिनीमिव तीक्ष्णांशुस्तामप्याशु लुलाव सः ॥ ४८ ॥
निद्राव्यपगमे तस्य भावयामास तन्मनः ।
व्योमश्यामलदृग्जन्तुर्नभसीव शिखण्डकान् ॥ ४९ ॥

पर मनोहर तेज के समूह को वैसे ही देखा जैसे रात्रि-सम्बन्धी अन्धकार के शान्त हो जानेपर कमल उदित हो रहे सूर्य से युक्त प्रातःसन्ध्या को देखता है, आशय यह है कि उन्हें सत्त्वगुण के अनुरूप तेजःपुञ्ज का भ्रम हुआ ॥४५॥

उन्होंने उस भ्रम को वैसे ही नष्ट कर दिया जैसे हाथी का बच्चा स्थलकमलों के वन को छिन्न-भिन्न कर देता है।

जैसे पिशाच वर्तन में भरे हुए रक्त को अत्यन्त वेग से क्षणभर में पी जाता है वैसे ही वे तेजःपुञ्जात्मक भ्रम को शीघ्र पी गये। आशय यह है कि अधिष्ठान तत्त्व का साक्षात्कार होने से उसका बाध हो गया, रजोगुणादि द्वारा तेजःपुञ्ज का नाश नहीं हुआ ॥ ४६ ॥

उस मुनि का चञ्चल और घूरता हुआ मन तेजःपुञ्ज के उपरत होनेपर विषय का लाभ न होने से वैसे ही निद्रा में डूब गया जैसे सूर्य के अस्त होने पर रात्रि में तालाब की तरङ्गों से चञ्चल कमल बन्द हो जाता है या उन्मत्त घूरता हुआ शराबी रात्रि में नशे से निद्रा को प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥

उस मुनि ने उस निद्रा को भी वैसे ही शीघ्र छिन्न-भिन्न कर दिया जैसे वायु मेघपङ्क्ति को, दुष्ट हाथी नील कमलिनी को और सूर्य रात्रि को छिन्न-भिन्न कर देता है ॥ ४८ ॥

उनके मन ने निद्रा का नाश होने पर वैसे आकाश नानारूप वाला है ऐसी भावना की जैसे सूर्य की धूप की और दृष्टि लगाये हुए पुरुष को आकाश में बालों के गोले, मयूर आदि के पुच्छ की तरह चमचमाहट प्रतीत होती है ॥ ४९ ॥

पयोद इव तापिच्छं नीहारमिव मारुतः ।
दीपस्तम इवाऽच्छात्म तदप्याशु ममार्ज सः ॥ ५० ॥
व्योमसंविद्विनष्टायां मूढं तस्याऽभवन्मनः ।
निद्रायां तु विलीनायां मैरेयमदवानिव ॥ ५१ ॥
मोहमप्येष मनसस्तं ममार्ज महाशयः ।
यामिनीजनितं जाड्यं भुवनादिव भास्करः ॥ ५२ ॥
ततस्तेजस्तमोनिद्रामोहादिपरिवर्जितम् ।
कामप्यवस्थामासाद्य विशश्राम मनः क्षणम् ॥ ५३ ॥
विश्रम्याऽऽशु पपातऽङ्ग संविदं विश्वरूपिणीम् ।
सेतुरुद्धं सरोवारि प्रतीपं स्वमिवाऽऽस्पदम् ॥ ५४ ॥
चिरानुसंधानवशात् स्वदनाच्च स्वसंविदः ।
ततश्चिन्मयतामागाद्धेमनूपुरतामिव ॥ ५५ ॥
चित्तत्वमथ संत्यज्य चित्तं चित्तत्त्वतां गतम् ।

मुनि ने स्वच्छ स्वभाव वाले आकाश में देखे हुए नाना रूपों को भी वैसे ही नष्ट कर दिया जैसे मेघ तमाल पुष्प को, वायु कुहरे को और दीपक अन्धकार को नष्ट कर देता है ॥ ५० ॥

आकाश के भ्रमात्मक ज्ञान का नाश होने पर उस मुनि का मन वैसे ही मूढ़ अर्थात् मोहाक्रान्त हो गया जैसे निद्रा-भङ्ग हो जाने पर शराबी विक्षिप्त के समान हो जाता है ॥ ५१ ॥

इस विवेकी ने उस मोह को वैसे ही मन से हटा दिया जैसे सूर्य संसार से रात्रि द्वारा उत्पन्न अन्धकार को हटा देता है ॥ ५२ ॥

इसके बाद तेज, अन्धकार, निद्रा, मोह आदि से रहित मन किसी अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त कर क्षण भर के लिए विश्रान्त हुआ अर्थात् निर्विकल्पक समाधि को प्राप्त कर क्षण भर के लिए शान्त हो गया ॥ ५३ ॥

नहर द्वारा खेत में पहुँचाया गया सरोवर का जल खेत को भर कर पुल अर्थात् बाँध से रुककर मन क्षण भर विश्रान्त होकर पुनः शीघ्र बाह्यप्रपञ्चाकार वृत्ति को वैसे ही प्राप्त हो गया जैसे नहर द्वारा लौट कर उलटे प्रवाह से फिर स्थान पर सरोवर में आ जाता है ॥ ५४ ॥

उसके बाद पूर्व में ध्यानादि चिरकाल तक किये गये अनुसन्धानवश और समाधि में किये गये अनुभव द्वारा रसास्वाद के कारण फिर वहीं आकृष्ट मन चिदाकारवृत्ति को वैसे ही प्राप्त हो गया, अर्थात् चिदंशप्रधान सविकल्प समाधि के रूप में परिणत हो गया जैसे सुवर्ण नूपुरभाव को प्राप्त करता है अर्थात् नूपुराकार में परिणत हो जाता है ॥ ५५ ॥

अन्यदेव बभूवाऽऽशु पङ्कः कुम्भस्थितो यथा ॥ ५६ ॥
चेत्यं संत्यज्य चिच्छुद्धा चित्सामान्यमथाऽऽययौ ।
त्यक्तवीच्यादिभेदोऽब्धिर्वाः सामान्यमिवैकधीः ॥ ५७ ॥
त्यक्तभूतौघमननं ततो विश्वम्भरं महत् ।
चिदाकाशं ततः शुद्धं सोऽभवद् बोधमागतः ॥ ५८ ॥
तत्र प्रापदथाऽऽनन्दं दृश्यदर्शनवर्जितम् ।
अनन्तमुत्तमास्वादं रसायनमिवाऽर्णवम् ॥ ५९ ॥
शरीरात् समवेतोऽसौ कामप्यवनिमागतः ।
सत्तासामान्यरूपात्मा बभूवाऽऽनन्दसागरः ॥ ६० ॥
द्विजचेतनहंसोऽसावानन्दसरसि स्थितः ।
अतिष्ठच्छरदच्छे खे कलापूर्ण इवोडुपः ॥ ६१ ॥
बभूवाऽवातदीपाभो लिपिकर्मार्पितोपमः ।
वीतवीच्यम्बुधिप्रख्यो वृष्टमूकाम्बुदस्थितिः ॥ ६२ ॥

इसके बाद अपने चित्तत्व को छोड़कर आत्मतत्त्वरूप एकरसता को प्राप्त हुआ उनका चित्त पूर्व अवस्था से वैसे ही भिन्न ही हो गया अर्थात् अधिष्ठानचित्तत्त्व में लीन हो गया जैसे घड़े में स्थित पङ्किल जल का पङ्क जल के सूख जाने पर घट से सम्बद्ध हो जाता है ॥ ५६ ॥

एकरसाकार बुद्धिवाला वह प्रतिबिम्बवृत्त्याकार को छोड़कर शुद्ध चित् स्वप्रकाशात्मक ब्रह्म सर्वसाक्षिचित्सामान्यरूप को वैसे ही प्राप्त हो गया जैसे तरंग आदि के भेद को छोड़ता हुआ समुद्र जलसामान्यरूप को प्राप्त हो जाता है ॥ ५७ ॥

अनन्तर उस समाधि से तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर उद्दालक मुनि द्वैत के प्रतिभास से रहित होकर जगत् के अधिष्ठानभूत शुद्धस्वरूप महत् चिदाकाश हो गये ॥ ५८ ॥

अनन्तर उद्दालक ने अमृत के गृहस्वरूप समुद्र की तरह बाह्य प्रपञ्च के दर्शन से रहित होकर ब्रह्मादि उत्तम प्रकृतिवालों से आस्वादित निरतिशय आनन्द को वहाँ प्राप्त किया ॥ ५९ ॥

उद्दालक ऋषि शरीर से पृथक् हो शुद्ध के समान अनिर्वचनीय अवस्थिति को प्राप्त कर सन्मात्रस्वभावरूप होकर आनन्द के सागर हो गये ॥ ६० ॥

द्विज चेतनात्मा उद्दालक आनन्दरूपी सरोवर में हंस की तरह वैसे ही स्थित हुए जैसे शरद् ऋतु के स्वच्छ आकाश में समस्त कलाओं से परिपूर्ण चन्द्रमा स्थित होता है ॥६१॥

वह उद्दालक ऋषि निर्वातदीपक के समान कान्ति वाले, चित्रलिखित के समान अनन्यमनस्क, निस्तरङ्ग समुद्र के सदृश गम्भीर एवं वृष्टि करने के बाद में निर्जल और मूक मेघ की स्थिति के समान स्थिति वाले हो गये ॥६२॥

अथैतस्मिन् महालोके तिष्ठन्नुद्दालकश्चिरम् ।
अपश्यद् व्योमगान् सिद्धानमरानपि भूरिशः ॥ ६३ ॥
आगतानि विचित्राणि सिद्धिजालानि चाऽभितः ।
शक्रार्कपददातॄणि नीरन्ध्राण्यप्सरोगणैः ॥ ६४ ॥
तानि नाऽऽदरयाञ्चक्रे सिद्धिवृन्दानि स द्विजः ।
गम्भीरमतिरक्षुब्धो विलासानिव शैशवान् ॥ ६५ ॥
सिद्धिसार्थमनादृत्य तस्मिन्नानन्दमन्दिरे ।
अतिष्ठदथ षण्मासान् दिक्तटेऽर्क इवोत्तरे ॥ ६६ ॥
जीवन्मुक्तपदं तत्तद्यावत् संप्राप्तवान् द्विजः ।
तत्र सिद्धाः सुराः साध्याः स्थिता ब्रह्महरादयः ॥ ६७॥
आनन्दे परिणामित्वादनानन्दपदं गतः ।
नाऽऽनन्दे न निरानन्दे ततस्तत्संविदाबभौ ॥ ६८ ॥
क्षणं वर्षसहस्रं वा तत्र लब्ध्वा स्थितिं मनः ।
रतिमेति न भोगौघे दृष्टस्वर्ग इवाऽवनौ ॥ ६९ ॥
तत्पदं सा गतिः शान्ता तच्छ्रेयः शाश्वतं शिवम् ।
तत्र विश्रान्तिमाप्तस्य भूयो नो बाधते भ्रमः ॥ ७० ॥
तत्पदं साधवः प्राप्य दृश्यदृष्टिमिमां पुनः ।
नाऽऽयान्ति खदिरोद्यानं लब्धचैत्ररथा इव ॥ ७१ ॥
तां महानन्दपदवीं चित्तादासाद्य देहिनः ।
दृश्यं न बहु मन्यन्ते राजानो दीनतामिव ॥ ७२ ॥
चेतस्तत्पदविश्रान्तं बुद्धं दृश्यदशां प्रति ।
कदर्थाद् बोधमायाति नाऽऽयात्येवाऽथवाऽनघ ! ॥ ७३ ॥
उद्दालकोऽत्र षण्मासान् दूरोत्सारितसिद्धिभूः ।
उषित्वोन्मिषितोम्भोदकोशादर्को मधाविव ॥ ७४ ॥
ददर्श संप्रबुद्धात्मा पुनः परमतेजसः ।
प्रणामलालसाः स्निग्धाश्चन्द्रबिम्बवपुर्धराः ॥ ७५ ॥

अनन्तर इस महालोक में परम पद में चिरकालतक स्थित या इस महाप्रकाश में चिरकालतक स्थित उद्दालक ऋषि ने आकाश में चलने वाले बहुत से सिद्ध और देवताओं को देखा ॥ ६३ ॥

वहाँ उनके चारों ओर इन्द्रपद और सूर्यपद देनेवाले और अप्सरओं से निविड़ सिद्धियों के बहुत से विचित्र गण भी आ गये ॥ ६४ ॥

क्षोभरहित गम्भीर बुद्धि वाले उद्दालक ने उन सिद्धिगणों का वैसे ही आदर नहीं किया जैसे गंभीर बुद्धि उदार पुरुष बच्चों के विलास के साधन खिलौनों का आदर नहीं करता ॥ ६५ ॥

उत्तरायण के आधार दिशा भाग में सूर्य जिस प्रकार छः मास तक रहता है उसी प्रकार उद्दालक उस आनन्दमन्दिर रूप समाधि में सिद्धियों के गणों का अनादर करके छः महीने तक स्थित रहे ॥ ६६ ॥

सर्वोत्कृष्ट सप्तमभूमिका में स्थितिरूप जीवन्मुक्तपद को प्राप्त करने के बाद उनके पास सिद्ध, सुर, गणदेवता, ब्रह्मा, महादेव आदि सब वहाँ उपस्थित रहे ॥ ६७ ॥

आनन्द में चित्त का रसास्वादलक्षण परिणाम न होने से उस उद्दालक ने 'निरानन्द' पद को प्राप्त किया; अतः उनका संविदात्मचैतन्य विषयी मनुष्यों की तरह न क्षुद्र आनन्द में रहा और न दुःख में ही रहा, वरन् स्वप्रकाशैकरसपूर्ण हो गया ॥ ६८ ॥

क्षणभर अथवा हजार वर्षतक उक्त स्थिति को प्राप्त कर भोगसामग्री में वैसे ही प्रेम नहीं करता जैसे जिस पुरुष ने स्वर्ग देख लिया उसका प्रेम पृथिवी पर किसी भोगसामग्री में नहीं होता ॥ ६९ ॥

बह सर्वोत्कृष्ट पद ही सर्वोत्कृष्ट शान्त गति वही शाश्वत कल्याणकर और वह शिव है, वहाँ पर विश्रान्ति को प्राप्त मनुष्यों को पुनः भ्रम बाधा नहीं पहुँचाता है ॥ ७० ॥

सन्त पुरुष ब्रह्मसाक्षात्कार कर इस बाह्य प्रपञ्चात्मक दृष्टि को वैसे ही फिर प्राप्त नहीं करता है जैसे जो पुरुष चैत्ररथ (कुबेर का उद्यान) प्राप्त कर लेता है वह खदिर के (खैर के) उद्यान में नहीं जाता है ॥ ७१ ॥

श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि द्वारा परिष्कृत चित्त से महाआनन्द पदवी को प्राप्त कर जीव दृश्य का वैसे ही आदर नहीं करते जैसे राजगण दीनता को कुछ नहीं गिनते ॥ ७२ ॥

हे निष्पाप ! उस पद में विश्रान्ति की प्राप्ति और बोध की प्राप्ति के बाद चित्त पृष्ठ भूमिका में दूसरों के महाप्रयत्न से समाधिव्युत्थान दशा के प्रति बोध को प्राप्त करता है या सप्तम भूमिका में उसको प्राप्त नहीं करता है ॥ ७३ ॥

जिस प्रकार सूर्य चैत्र मास में कुहरे से दूर रहता है उसी प्रकार समाधि में छः महीने वास कर समाधि से जागकर उन्होंने परम तेजस्विनी, प्रणाम करने की लालसा वाली तथा चन्द्रबिम्ब के सदृश शरीर को धारण किये हुई स्नेह युक्त रमणियों को देखा ॥ ७४–७५ ॥

रमणीगौरमन्दाररेणुभ्रमरचामराः ।
स्फुरत्पताकापटला द्युविमानपरम्पराः ॥ ७६ ॥

अस्मदादीन् मुनीन् दर्भपवित्राङ्ककराम्बुजान् ।
विद्याधरीभिर्वलितान् विद्याधरपतीनपि ॥ ७७ ॥

ते तमूचुर्महात्मानमुद्दालकमुनिं तथा ।
प्रसादेन प्रणामान्नो भगवन्नवलोकय ॥ ७८ ॥

आरुह्येदं विमानं त्वमेहि त्रैविष्टपं पुरम् ।
स्वर्ग एव हि सीमान्तो जगत्संभोगसंपदाम् ॥ ७९ ॥

आकल्पमुचितान् भुङ्क्ष्व भोगानभिमतान् विभो ! ।
स्वर्गादिफलभोगार्थमेवाऽशेषतपःक्रियाः ॥ ८० ॥

हारचामरधारिण्यो विद्याधरवराङ्गनाः ।
पश्येमास्त्वामुपासीनाः करिण्यः करिणं यथा ॥ ८१ ॥

कामो धर्मार्थयोः सारः कामसाराः सुयोषितः ।
वसन्त इव मञ्जर्यः स्वर्ग एव भवन्ति ताः ॥ ८२ ॥

गौर मन्दार पुष्पों की धूलि से धूसरित भ्रमरों से और चँवरों से युक्त फहराती हुई पताकाओं के समूह वाली दिव्य विमानों की पङ्क्तियों को देखा ॥ ७६ ॥

करकमल में कुशा की पवित्री के चिह्न वाले हमारे जैसे मुनियों को और विद्याधरियों को सहित विद्याधरों के अधिपतियों को भी देखा ॥ ७७ ॥

उन सबने उन महात्मा उद्दालक मुनि से कहा—हे भगवन् ! आप हमारे प्रणाम से अनुग्रहपूर्ण दृष्टि से हमको देखें ॥ ७८ ॥

इस विमानपर चढ़कर देवताओं के नगर स्वर्ग को चलिये, क्योंकि संसार के उपभोगों की अन्तिम सीमा स्वर्ग ही है ॥ ७९ ॥

हे विभो ! प्रलयपर्यन्त अपने वाञ्छित और उचित भोग्यपदार्थों का उपभोग करें, क्योंकि समस्त तपस्याएँ स्वर्गादिरूप फल के भोगने के लिए ही होती हैं ॥ ८० ॥

उसी प्रकार हार एवं चँवरों को धारण किये हुई गन्धर्वललनाएँ आप की उपासना करती हुईं वैसे ही खड़ी हैं, जैसे हाथियों के चारों ओर हथिनियाँ उसकी उपासना करती हैं, कृपया इनको देखें ॥ ८१ ॥

धर्म और अर्थ दोनों का सार काम है और काम का सार सुन्दर युवतियाँ हैं । ये वराङ्गनाएँ बसन्त में मञ्जरी के समान स्वर्ग में ही होती हैं ॥ ८२ ॥

वह मुनि इस प्रकार कह रहे इन सब अतिथियों की

एवं कथयतः सर्वानतिथीनित्यसौ मुनिः ।
परिपूज्य यथान्यायमतिष्ठद् गतसंभ्रमम् ॥ ८३ ॥

नाऽभ्यनन्दन्न तत्याज तां विभूतिं स धीरधीः ।
भो सिद्धा व्रजतेत्युक्त्वा स्वव्यापारपरोऽभवत् ॥ ८४ ॥

अथ स्वधर्मनिरतं भोगेष्वरतिमागतम् ।
तमुपास्य ययुः सिद्धा दिनैः कतिपयैः स्वयम् ॥ ८५ ॥

जीवन्मुक्तः स च मुनिर्विजहार यथासुखम् ।
यावदिच्छं वनान्तेषु मुनीनामाश्रमेषु च ॥ ८६ ॥

मेरुमन्दरकैलासहिमवद्विन्ध्यसानुषु ।
द्वीपोपवनदिक्कुञ्जजङ्गलारण्यभूमिषु ॥ ८७ ॥

ततःप्रभृति संप्राप्तपदमुद्दालको द्विजः ।
गुहासु गिरिकुक्षीणामवसद् ध्यानलीलया ॥ ८८ ॥

कदाचिदह्ना मासेन कदाचिद् वत्सरेण च ।
कदाचिद् वत्सरौघेण ध्यानासक्तो व्यबुध्यत ॥ ८९ ॥

यथोचित पूजा करके मिथ्यात्व आदि के निश्चय से अर्थात् स्वर्ग और स्वर्ग के विविध भोग मिथ्या हैं इस निश्चय से बिना किसी प्रकार के कौतूहल से बैठे रहे ॥ ८३ ॥

उस धीरमति मुनि ने गन्धर्वललनाएँ आदि विभूतियों का न तो अभिनन्दन किया और न त्याग ही किया अर्थात् उनसे उदासीन रहे और हे सिद्धों ! आप लोग जाएँ, ऐसा कहकर फिर अपनी समाधि में लग गये ॥ ८४ ॥

अनन्तर अपने धर्म में निरत भोगों से विरक्त उद्दालक मुनि की चिरकाल तक प्रतीक्षा, प्रणाम, प्रशंसा आदि द्वारा उपासना कर सिद्ध लोग कुछ दिनों के बाद स्वयं चले गये ॥ ८५ ॥

जीवन्मुक्त उस मुनि ने वनों में और मुनियों के आश्रमों में सुखपूर्वक यथेच्छ विहार किया ॥ ८६ ॥

मेरु, मन्दराचल, कैलास, हिमालय और विन्ध्याचल को चोटियों पर और द्वीप, उपवन, दिशा. कुञ्ज, जङ्गल और अरण्यभूमि—इन सब में यथेच्छ विहार किया ॥ ८७ ॥

उस समय से उद्दालक द्विज ध्यानरूपी लीला से पर्वतों की भीतर की गुफाओं में परमपदप्राप्तिपूर्वक रहने लगे ॥ ८८ ॥

समाधिस्थ मुनि कभी एक दिन में, कभी एक महीने में, कभी एक वर्ष में और कभी कई वर्षों में समाधि से जागते थे ॥ ८९ ॥

उद्दालकस्तदारभ्य व्यवहारपरोऽपि सन् ।
सुसमाहित एवाऽसौ चित्तस्त्वैकत्वमागतः ॥ ९० ॥
चित्तत्त्वैकघनाभ्यासान्महाचित्त्वमुपेत्य सः ।
बभूव सर्वत्र समस्तेजः सौरमिवाऽवनौ ॥ ९१ ॥
चित्सामान्यचिराभ्यासात् सत्तासामान्यमेत्य सः ।
दृश्येऽस्मिश्चित्ररविवन्नाऽस्तमायान्न चोदयम् ॥ ९२ ॥
शमपरपदलाभप्राप्तिसंशान्तचेता
गलितजननपाशः क्षीणसन्देहदोलः ।
शरदि खमिव शान्तं व्याततं चोर्जितं च
स्फुटममलमचेतस्तद्वपुः संबभार ॥ ९३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
उद्दालकविश्रान्तिर्नाम चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

उस समय से उद्दालक मुनि व्यवहार काल में भी चिद्भावरूप एकत्व को प्राप्त कर समाहितचित्त ही रहते थे। अर्थात् व्यावहारिक दशा में भी ध्यानस्थ ही रहते थे ॥ ९० ॥

अन्तःकरण वृत्ति के अनुगत और उसके साक्षी चिद्मात्र के निरन्तर साक्षात्कार रूपी समाधि के अभ्यास से अपरिच्छिन्न चिद्भाव को प्राप्त वह मुनि सर्वत्र राग-द्वेष शून्य और करुणा से अविषम ब्रह्मभाव के दर्शन से वैसे ही सम रहे जैसे पृथिवी पर सूर्य का तेज सर्वत्र सम रहता है ॥ ९१ ॥

चित्सामान्य के निरन्तर अभ्यास के कारण सत्तासामान्य को प्राप्त कर अर्थात् दृश्य और उसके संस्कार का मूलोच्छेद होने पर उसके प्रथनरूपचित्त्वव्यवहार का उपरम होने से स्वप्रकाशात्मक निरतिशय आनन्द सन्मात्रभाव का परिशेष होने के कारण सत्तासामान्य को प्राप्त कर वह मुनि चित्रस्थ सूर्य के समान इस दृश्य प्रपञ्च में न उदय को प्राप्त करते थे और न अस्त को प्राप्त करते थे ॥ ९२ ॥

विक्षेपों का उपशमन हो जाने से तथा परमपद की प्राप्ति से शान्तचित्त, जन्ममरणरूपी पाशों के विनाश से युक्त और संशयरहित उस मुनि ने शरदृतु के आकाश के समान शान्त, अपरिच्छिन्न, तेजस्वी, स्फुट प्रकाशमय, प्राक्तनदशा का अत्यन्त विस्मरण होने के कारण चित्त रहित ब्रह्मस्वभावापन्न शरीर को धारण किया। पहले की नाईं उद्दालक ने पूर्व के समान शरीर को धारण नहीं किया वरन् ब्रह्मस्वरूप हो गये ॥ ९३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में उद्दालकविश्रान्ति नामक कुसुमलता का चौवनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥

५५

श्रीराम उवाच

आत्मज्ञानदिनैकार्क मत्संशयतृणानल ।
अज्ञानदाहशीतांशो सत्तासामान्यमीश किम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

यदा संक्षीयते चित्तमभावात्यन्तभावनात् ।
चित्सामान्यस्वरूपस्य सत्तासामान्यता तदा ॥ २ ॥

५५

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवान्! आप आत्मज्ञान रूपी दिन के लिए सूर्य स्वरूप हैं, मेरे संशय रूपी तिनके लिए अग्नि रूप हैं एवं अज्ञान से होने वाले तापत्रय सन्ताप के लिए चन्द्रमा स्वरूप हैं; अतः बतलाइये कि सत्ता सामान्य क्या है? अर्थात् सत्ता सामान्य का क्या लक्षण है? अज्ञान रूपी अन्धकार का विनाश करने में, अज्ञान प्रयुक्त संशय विपर्यय का उच्छेद करने में तथा संशय-विपर्यय प्रयुक्त सब दुःखों के उच्छेद में केवल आप ही समर्थ हैं अतएव सत्ता सामान्य का लक्षण बताने की कृपा कीजिए। यह आश्रय है गुरु के प्रति ईश्वर रूप की धारणा रखनी चाहिए यह ईश इस सम्बोधन से व्यक्त है ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जब चित् पूर्ण शुद्ध है, उसमें कुछ नहीं है, ऐसी भावना से यानी तीनों कालों में भी दृश्य वस्तुतः नहीं है यों श्रुति युक्ति और अनुभव से निरन्तर अनुसन्धान करने से चेत्यसंस्कारों का मूलोच्छेद होने पर चित्त भली-भाँति क्षीण हो जाता है तब जड़ और चेतन सब में अनुगत स्वतः सिद्ध सत्ता मात्र ही सत्ता सामान्य होता है। आशय यह है कि छठी भूमिका में चित्त के अवान्तर भेदों का परिमार्जन कर चित् सामान्य

नूनं चेत्यांशरहिता चिद्यदात्मनि लीयते ।
असद्रूपवदत्यच्छा सत्तासामान्यता तदा ॥ ३ ॥
यदा सर्वमिदं किञ्चित् सबाह्याभ्यन्तरात्मकम् ।
अपलप्य वसेच्चेतः सत्तासामान्यता तदा ॥ ४ ॥
यदा सर्वाणि दृश्यानि सत्तासामान्यवेदनम् ।
स्वरूपेण स्वरूपाभं सत्तासामान्यता तदा ॥ ५ ॥
कूर्मोऽङ्गानीव दृश्यानि लीयन्ते स्वात्मनाऽऽत्मनि ।
अभावितान्येव यदा सत्तासामान्यता तदा ॥ ६ ॥
दृष्टिरेषा हि परमा सदेहादेहयोः सदा ।
मुक्तयोः संभवत्येव तुर्यातीतपदोपमा ॥ ७ ॥
व्युत्थितस्य भवत्येषा समाधिस्थस्य चाऽनघ ! ।
ज्ञस्य केवलमज्ञस्य न भवत्येव बोधजा ॥ ८ ॥

भूत चेत्याभाव की अत्यन्त भावना करने से चेत्य संस्कारों का आत्यन्तिक उच्छेद होने पर जब चित्त क्षीण हो जाता है तब स्वमात्र सत्ता से स्वतःसिद्ध हो रही परिशिष्ट चित्-अचित् दोनों में अनुगत सत्ता ही सत्ता सामान्य होती है, अर्थात् विक्षेप के हेतुभूत चित्त का अभाव होने से आत्मा की स्वरूप सत्ता ही रहती है ॥ २ ॥

सकल प्रपञ्च का बाध होने पर अन्तःकरण की वृत्तियों और वृत्ति के विषयों से रहित होकर समस्त वृत्तियों में प्रतिबिम्बित चैतन्य का स्वात्मा में अर्थात् बिम्ब चैतन्य में लीन होने पर उस बिम्ब की असत् रूप के समान अर्थात् आकाश के स्वच्छ सत्ता सामान्यता समान होता है ॥ ३ ॥

चित्त की वृत्तियों में अभिव्यक्त अखण्ड चैतन्य जब बाह्य एवं आभ्यन्तरिक सब का अपलाप कर अर्थात् यह कुछ नहीं है, ऐसा निश्चय कर स्थित होता है तब सत्ता सामान्यता रहती है ॥ ४ ॥

चित्त की वृत्तियों में अभिव्यक्त अखण्ड चैतन्य होने पर समस्त भूतप्रपञ्च का अपलाप अपने पारमार्थिक स्वरूप से स्वप्रकाशात्मक, सत्ता सामान्यात्मक, केवल चित्स्वरूप होता है तब सत्ता सामान्यता रहती है ॥५॥

दृश्यप्रपञ्च को किसी भावना आदि प्रयत्न के बिना ही आत्मा वैसे ही अपने से अपने में लीन कर देता है जैसे कछुवा अपने-आप ही अपने में अंगों को लीन कर लेता है तब सत्ता सामान्यता समझनी चाहिए ॥ ६ ॥

यह सप्तम भूमिका रूढ़ दृष्टि तुर्यातीत पद के समान है, इसलिए सदेहमुक्त और विदेहमुक्त दोनों को सदा होती ही है अर्थात् सदेहमुक्त और विदेहमुक्त दोनों की समान स्वरूप स्थिति में भेद नहीं है ॥ ७ ॥

हे निष्पाप ! पञ्चमादि भूमिकाओं में भी बोध से उत्पन्न दृष्टि समाधिस्थ ज्ञानी को होती है, सप्तम भूमिका में तो व्युत्थित को भी अर्थात् समाधिस्थ जो नहीं है उसको भी होती है, अज्ञान को कभी नहीं होती है ॥८॥

अस्यां दृशि स्थिताः सर्वे जीवन्मुक्ता महाशयाः ।
सिद्धा रसा इव भुवि व्योमवीथ्यामिवाऽनिलाः ॥ ९ ॥
अस्मत्प्रभृतयः सर्वे नारदाद्याश्च राघव ! ।
ब्रह्मविष्णवीश्वराद्याश्च दृष्टावस्यां व्यवस्थिताः ॥ १० ॥
एतामालम्ब्य पदवीं समस्तभयनाशिनीम् ।
उद्दालकोऽसाववसद् यावदिच्छं जगद्गृहे ॥ ११ ॥
अथ कालेन बहुना बुद्धिस्तस्य बभूव ह ।
विदेहमुक्तस्तिष्ठामि देहं त्यक्त्वेति निश्चला ॥ १२ ॥
एवं चिन्तितवानद्रेर्गुहायां पल्लवासने ।
बद्धपद्मासनस्तस्थावर्धोन्मीलितलोचनः ॥ १३ ॥
संयम्य गुप्तसंरोधाद् द्वाराणि नव चेतसः ।
मात्रास्पर्शान् विचिन्वानो भावितस्वाङ्गचिद्घनः ॥१४॥

इस दृष्टि में स्थिति गम्भीर स्वभाव वाले सब जीवन्मुक्त लोग किसी भी ऐहिक अथवा आमुष्मिक भोग की तृष्णा रूपी धूलि से वैसे ही स्पृष्ट नहीं होते जैसे पृथिवी पर प्रसिद्ध पारा आदि रस एवं आकाश रूपी गली में वायु किसी वस्तु से स्पृष्ट नहीं होते हैं ॥ ९ ॥

हे श्रीराघव ! हमारे समान मनुष्य भूलोक में स्थित हैं, नारदादि मुनिगण आकाश रूपी वीथी में और ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि उनसे भी ऊर्ध्व लोक में इस दृष्टि में स्थित हैं ॥ १० ॥

समस्त भय का नाश करने वाली इस पदवी का आलम्बन कर उद्दालक प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने तक संसार रूपी घर में रहे ॥ ११ ॥

अनन्तर बहुत काल के बाद उद्दालक की यह दृढ़ बुद्धि हुई कि 'मैं इस देह को छोड़कर विदेह मुक्त हो जाऊँ ॥ १२ ॥

इस प्रकार चिन्तित अर्थ में दृढ़ निश्चय वाले उद्दालक ऋषि बद्धपद्मासन होकर निमीलित लोचन होकर पर्वत की गुफा में पत्तों के आसन पर बैठ गये ॥ १३ ॥

मलद्वार के अवरोध से नव द्वारों का संयत कर शब्द-स्पर्शादि विषयक वृत्तियों को बदरी फल की तरह चुनकर हृदय में उनका निवेश कर फिर उनके पारमार्थिक स्वरूप की अपने अंग के समान भावना कर अर्थात्

संरुद्धप्राणपवनः समसंस्थानकन्धरः ।
तालुमूलतलालग्नजिह्वामूलोल्लसन्मुखः ॥ १५ ॥
न बहिर्नाऽन्तरे नाऽधो नोर्ध्वे नाऽर्थे न शून्यके ।
संयोजितमनोदृष्टिर्दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ॥ १६ ॥
प्राणप्रवाहसंरोधसमः स्वच्छाननच्छविः ।
अङ्ग चित्संविदुत्तानरोमकण्टकिताङ्गभूः ॥ १७ ॥
अङ्गचित्संविदाभ्यासाच्चित्सामान्यमुपाददे ।
तदभ्यासादवापाऽन्तरानन्दस्पन्दमुत्तमम् ॥ १८ ॥
तदास्वादनतो लीनचित्सामान्यदशाक्रमम् ।
विश्वम्भरमनन्तात्म सत्तासामान्यमाययौ ॥ १९ ॥
तस्थौ समसमाभोगः परां विश्रान्तिमागतः ।
अनानन्दसमानन्दमुग्धमुग्धमुखद्युतिः ॥ २० ॥

स्वात्मा के साथ ऐक्य स्थापित कर चिदात्मा एवं सैन्धव घन के समान एकरस उद्दालक ने चित्सामान्य को प्राप्त किया ॥ १४ ॥

प्राण वायुओं को रोक कर सम रूप से स्थित कण्ठ वाले, तालु के मूलतल में फाटक के समान लगे हुए जिह्वा मूल से उन्नत सुन्दर मुँह वाले, न बाहर, न भीतर, न नीचे, न ऊपर. न रूपादि विषयों में, न शून्य आकाश में कहीं भी मन और दृष्टि को संयुक्त न कर एवं दाँतों से दाँतों का स्पर्श न कर तथा प्राणों के प्रवाह के अवरोध से सम अर्थात् उनकी क्रियों से उत्पन्न हुए शरीर, मन और इन्द्रियों के चाञ्चल्य से शून्य, प्रसन्नवदन, चिद्रूप ब्रह्मानन्द के अनुभव से सीधे खड़े हुए रोमराजि से पुलकित शरीर उद्दालक ऋषि ने अन्तःकरण के एकदेशभूत वृत्तिभेदों में प्रतिबिम्बित चित् के निरन्तर अनुसन्धान से अपनी उपाधिभूत वृत्तिभेदों के विलयन के अभ्यास के कारण बिम्बभूत चित्सामान्य को प्राप्त किया एवं उन्होंने बिम्बभूत चिन्मात्र के अनुसन्धानाभ्यासवश हृदय में सर्वोत्कृष्ट आनन्दप्रवाह का अनुभव किया ॥ १५—१८ ॥

उद्दालक ने आनन्द के आस्वादन से चित्सामान्यदशाक्रम के लयवाले, विश्वम्भर, अनन्त, परिपूर्ण, सत्तासामान्य को प्राप्त किया । आशय यह है कि निरतिशय आनन्द का आस्वाद प्राप्त न होने तक चित्त अपनी वृत्तियों के निरोध से उत्पन्न क्लेश को सहन न करता हुआ बाह्य विषयों में प्रवृत्त होता है । आनन्द का आस्वादन करने पर तो 'गुडपिपीलिका' न्याय से वहीं पर आसक्त चित्त अपने स्वरूप को भी भूलकर अपने में

संशान्तानन्दपुलकः पदं प्राप्याऽमलं गतः ।
चिरकालपरिक्षीणमननादिभवभ्रमः ॥ २१ ॥
बभूव स महासत्त्वो लिपिकर्मार्पितोपमः ।
समः कलावपूर्णेन शरदच्छाम्बरेन्दुना ॥ २२ ॥
उपशशाम शनैर्दिवसैरसौ
कतिपयैः स्वपदे विमलात्मनि ।
तरुरसः शरदन्त इवाऽमले
रविकरौजसि जन्मदशातिगः ॥ २३ ॥
गतसकलविकल्पो निर्विकारोऽभिरामः
सकलमलविलासोपाधिनिर्मुक्तमूर्तिः ।
विगलितसुखमाद्यं तत्सुखं प्राप यस्मि-
स्तृणमिव जलराशावुह्यते शक्रलक्ष्मीः ॥ २४ ॥

अनुगत चित्सामान्य निरतिशय स्वप्रकाश सत्तासामान्यता को प्राप्त करता है, इसी को चित्सामान्यावस्था क्रम का लय और सत्तासामान्य प्राप्ति कहते हैं ॥ १९ ॥

सर्वथा विक्षेप-वैषम्य से रहित स्वभाव एवं अनुपम आनन्द से अत्यन्त मनोहर मुखकान्ति सम्पन्न उद्दालक ऋषि सर्वोत्कृष्ट आनन्द पदवी को प्राप्त हो बैठ गये ॥ २० ॥

शान्त रोमाञ्चों समन्वित तथा मनन, निदिध्यासन चिरकाल तक जगद् विषयक्रम शून्य उद्दालक ऋषि जीते हुए ही निर्वाण पद को प्राप्त कर प्रारब्ध भोग के हेतुभूत शेष दोषों के क्षय के कारण विशुद्ध हो गये ॥ २१ ॥

चित्रलिखित के समान अनन्यचित्त एवं अचल महात्मा उद्दालक समस्त कलाओं से परिपूर्ण शरद् ऋतु के स्वच्छ आकाश के चन्द्रमा के समान विशुद्ध हो गये ॥ २२ ॥

क्रमशः कुछ दिनों में वह उद्दालक ऋषि जन्म-मरण से छुटकारा पाकर अपने प्राप्त करने योग्य स्थान शुद्ध आत्मा में वैसे ही शान्त हो गये जैसे हेमन्त ऋतु में वृक्षों का रस निर्मल सूर्य किरणों के तेज में शान्त हो जाता है अर्थात् उद्दालक ने अपने प्राणों को अपनी आत्मा में लीन कर दिया ॥ २३ ॥

समस्त संशयों का विनाश हो जाने से संशयशून्य विकाररहित एवं समस्त तुच्छ विषयों में आसनियुक्त अन्तःकरणवृत्तियों से रहित स्वभाव वाले मनोहर उद्दालक ऋषि ने हिरण्यगर्भपदपर्यन्त सब विषयसुख अग्नि से चिनगारियों की तरह बाहर निकल रहे वाणी के अगोचर उन सुखों को प्राप्त किया, जिसे सुखों को प्राप्त करके

अपरिमितनभोन्तर्व्यापिदिग्व्यापि पूर्णं
भुवनभरणशीलं भूरिभव्योपसेव्यम् ।
कथनगुणमतीतं सत्यमानन्दमाद्यं
परमसुखमनन्तं ब्राह्मणोऽसौ बभूव ॥ २५ ॥
गतवति पदमाद्यं चेतसि स्वच्छभावं
द्विजतनुरथ मासैः सोपविष्टैव षड्भिः ।
रविकरपरितप्ता वातभाङ्काररम्या
तनुतरुभुजतन्त्री शैलवीणा बभूव ॥ २६ ॥
अथ बहुतरकालेनैतदद्रेर्भुवं ता-
मुपययुरगकन्यासंयुता मातरः खात् ।
अभिमतफलसिद्ध्यै संयुता एव सर्वा
अनलमिव शिखानां पङ्क्तयः पिङ्गकेश्यः ॥ २७ ॥
दिनकरकरशुष्कं विप्रकङ्कालकं त-
ज्झटिति मुकुटकोटौ खड्गखट्वाङ्गमध्ये ।
सकलविबुधवन्द्या खिखिनी देवदेवी
निशि नवतरवृत्ता कान्तकान्ति चकार ॥ २८ ॥
इत्युद्दालकदेहकं सुविलसन्मायूरबर्हव्रज-
व्यालोलाब्दलवे नवैर्विवलिते मन्दारमालागणैः ।
शेते खिखिनिकामहाभगवतीलीलाललामे लता-
जाले भृङ्ग इवाऽन्तपुष्पपटले पश्चादुपागच्छति ॥२९॥
एषोद्दालकचित्तवृत्तिकलनावल्ली विवेकस्फुर-
त्स्वानन्दप्रविकासभासिकुसुमा हृत्कानने विस्तृता ।

इन्द्रलक्ष्मी भी अर्थात् इन्द्र का भी वैभव समुद्र में तृण के समान समझी जाती है ॥ २४ ॥

वह उद्दालक ब्राह्मण प्रतिब्रह्माण्ड के भेद से अनन्त आकाशों को व्याप्त करने वाली दिशाओं को भी व्याप्त करने वाला अर्थात् देशकृत परिच्छेद से शून्य, सर्वदा समस्त वस्तुओं में पूर्ण, सकल वस्तुओं के आधारभूत भुवनों का धारण-पोषण करने वाला*, बड़े भाग्यों से और उत्तम जनों से सेवा करने योग्य, वाणी के अगोचर, अनन्त, आद्य अर्थात् काल से अपरिच्छिन्न, पारमार्थिक सत्तावाला वह उद्दालक ब्राह्मण सबको ब्रह्मरूप एकरस में मस्त करने वाला सर्वोत्कृष्ट भूमाख्य परम सुख स्वरूप ही हो गया ॥ २५ ॥

अनन्तर उद्दालक की जीवात्मा के निर्मलस्वरूप आद्य पद को प्राप्त करने पर उस उद्दालक ब्राह्मण का शरीर छः मास तक वहीं पड़ा हुआ सूर्य की किरणों से तप्त होकर सूख गया और बह रहे वायु की टक्कर से उत्पन्न भाङ्कार शब्द से रमणीयता को प्राप्त करता हुआ बाल-वृक्षरूपी भुजाओं की बजाने योग्य शिरातन्त्रियों से पर्वत के विलास के लिए वीणा स्वरूप हो गया ॥ २६ ॥

अनन्तर बहुत काल के बाद उस पर्वतभूमिपर, जहाँ उद्दालक का शव पड़ा हुआ था, पर्वतकन्या के साथ पीले केशों वाली ब्राह्मी आदि सब माताएँ किसी भक्त की अभिमतफल सिद्धि के लिए वैसे ही आईं जैसे पीली ज्वालाओं की पङ्क्तियाँ अग्नि के पास आती हैं ॥ २७ ॥

समस्त पण्डितों की एवं देवताओं की भी पूज्य रात्रि के समय नूतन-नूतन आभूषणों के वैचित्र्य से एक-से-एक सुन्दर नये-नये लास्यादि बृत्तान्तबाली चामुण्डा नाम की माता ने सूर्य की किरणों से सूखे हुए उस ब्राह्मण के शव को शीघ्र ही उद्यत तलवार और शस्त्रविशेष के मध्य में स्थित अपने मुकुट का भूषण बना दिया ॥ २८ ॥

इस प्रकार उद्दालक ऋषि का वह तुच्छ शरीर महाभगवती चामुण्डा के लीलाविलास के लिए बने हुए शिरोभूषणों की मोरों के (मयूरों के) मनोहर पुच्छरूपी चञ्चल मेघखण्डबिराजमान माला में आनन्द के साथ हो गया और वह माला नूतन-नूतन मन्दारपुष्पों से परिवेष्टित थी और अग्रभागों में पुष्पों का गुच्छा था अतएव वेणी के चोटी के छल से पीछे से आ रहे लता-जालपर मानो भ्रमर आनन्द से लेटा हो, इस प्रकार वह शव ज्ञात हुआ ॥ २९ ॥

समस्त दृश्य पदार्थों के विवेक में स्फूर्ति को प्राप्त आनन्दरूपी विकसित पुष्पोंवाली, प्रदर्शित उद्दालक के विदेहकैवल्यप्राप्तिपर्यन्त चरित्र की आदर एवं निरन्तर अभ्यास से शिक्षारूपी कल्पलता पुरुष के हृदय रूपी वन में उत्पन्न होकर उत्तरोत्तर भूमि में आरूढ होकर फैल गई, पुरुष तीनों तापरूपी (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों तापरूपी) सूर्य से व्याप्त व्यवहार रूपी कानन में विहार करता हुआ भी सत्य, शान्ति, दान्ति गुणों से सुगन्धित, शीतल एवं सहज संतोषस्वरूप छाया से कभी भी वियुक्त नहीं होता है। वरन् सर्वोत्कृष्ट मोक्ष-फल के साथ पुनरावृत्तिरहित स्वात्मभाव से सम्बन्ध को

* इससे उसकी सर्वाधिष्ठानता अभिव्यक्त हुई, अतः कोई वस्तु उससे भिन्न नहीं है।

रूढा यस्य कदाचिदेव विहरन्नप्येव सच्छायया नाऽसावेति वियोगमेति सफलेनोच्चैस्तरां संगमम्॥३०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
उद्दालकनिर्वाणं नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

प्राप्त करता है । अतः पूर्वोक्त लता का हृदय में आरोप कर विस्तार करना चाहिये ॥ ३० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
उद्दालकनिर्वाण नामक कुसुमलता का पचपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५५ ॥

५६

वसिष्ठ उवाच

क्रमेणाऽनेन विहरन् विचार्याऽऽत्मानमात्मना ।
विश्रान्तिमेहि वितते पदे पद्मदलेक्षण ! ॥ १ ॥
शास्त्रार्थगुरुचेतोभिस्तावत् तावद् विचार्यते ।
सर्वदृश्यक्षयाभ्यासाद् यावदासाद्यते पदम् ॥ २ ॥
वैराग्याभ्यासशास्त्रार्थप्रज्ञागुरुयमक्रमैः ।
पदमासाद्यते पुण्यं प्रज्ञयैवैकयाऽथवा ॥ ३ ॥
संप्रबोधवती तीक्ष्णा कलङ्करहिता मतिः ।
सर्वसामग्र्यहीनाऽपि पदं प्राप्नोति शाश्वतम् ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

भगवन् ! भूतभव्येश ! कश्चिज्जातसमाधिकः ।
प्रबुद्ध इव विश्रान्तो व्यवहारपरोऽपि सन् ॥ ५ ॥
कश्चिदेकान्तमाश्रित्य समाधिनियतः स्थितः ।
तयोस्तु कतरः श्रेयानिति मे भगवन् ! वद ॥ ६ ॥

वसिष्ठ उवाच

इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः ।
अन्तःशीतलता याऽसौ समाधिरिति कथ्यते ॥ ७ ॥
दृश्यैर्मनसि सम्बन्ध इति निश्चित्य शीतलः ।
कश्चित् संव्यवहारस्थः कश्चिद् ध्याने व्यवस्थितः ॥८॥
द्वावेतौ राम ! सुखितावन्तश्चेत् परिशीतलौ ।
अन्तःशीतलता या स्यात् तदनन्ततपःफलम् ॥ ९ ॥
समाधिस्थानकस्थस्य चेतश्चेद् वृत्तिचञ्चलम् ।
तत्तस्य तत् समाधानं सममुन्मत्तताण्डवैः ॥ १० ॥

५६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे कमलपत्राक्ष ! बिचार, वैराग्य और समाधि के अभ्यास के क्रम से विहार कर रहे आप स्वयं आत्मस्वरूप का विचार कर भूमाख्य परम पद में विश्रान्ति को प्राप्त करें ।। १ ।।

शास्त्र के श्रवण पदार्थकत्त्व के परीक्षण गुरुवचनों पर विश्वास तथा अपने चित्त के शोधन से तबतक विचार करना चाहिये जबतक सब दृश्य के बाध के अभ्यास से परमपद प्राप्त न हो जाय ॥ २ ॥

वैराग्य के अभ्यास, शास्त्रार्थ विचार, प्रज्ञा, गुरु-उपदेश और यमनियमों के क्रम से पुण्यपद प्राप्त होता है या केवल प्रज्ञा से ही पुण्यपद प्राप्त होता है ।। ३ ।।

सम्यक् प्रबोध युक्त तीक्ष्ण और दोषरहित बुद्धि सब सामग्रियों से विहीन होती हुई भी जीव को परम पद प्राप्त करा देती है ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! हे भूत और भविष्यत् के ज्ञाता, कोई प्रबुद्ध पुरुष व्यवहार करता हुआ भी समाधिस्थ के तुल्य विश्रान्त रहता है ।। ५ ।।

हे भगवन् ! कोई एकान्त का आश्रयण कर समाधि में स्थित रहता है । इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है, यह मुझसे कहने की कृपा करें ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस मायिक विश्व को अनात्म रूप (मिथ्या) देख रहे पुरुष की यह अन्तःशीतलता ज्ञान-प्रतिष्ठा की फलभूत पूर्णकामता ही समाधि कही जाती है ॥ ७ ॥

पूर्णकामता के प्राप्त होने पर विक्षेप का प्रसंग ही नहीं रहता । मन के रहने पर दृश्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध, विक्षेप का हेतु होता है, किन्तु मेरा मन नहीं है, ऐसा निश्चय कर पूर्णकाम पुरुष व्यवहार निरत होता है और कोई ध्यान में निरत होता है ॥ ८ ॥

अन्तःकरण शीतल होते पूर्वोक्त ये दोनों ही सुखी हैं । जो अन्तःशीतलता है, वह अनन्त तपस्याओं का फल है ॥ ९ ॥

यदि समाधिस्थान में स्थित पुरुष का चित्त अपनी वृत्ति से चञ्चल हो, तो उस पुरुष की वह समाधि उन्मत्त पुरुष के ताण्डव के तुल्य है ॥ १० ॥

उन्मत्तताण्डवस्थस्य चेतश्चेत् क्षीणवासनम् ।
तदस्योन्मत्तवृत्तं तत्समं बुद्धसमाधिना ॥ ११ ॥
व्यवहारी प्रबुद्धो यः प्रबुद्धो यो वने स्थितः ।
द्वावेतौ सुसमौ नूनमसन्देहं पदं गतौ ॥ १२ ॥
अकर्तृ कुर्वदप्येतच्चेतः प्रतनुवासनम् ।
दूरं गतमना जन्तुः कथासंश्रवणे यथा ॥ १३ ॥
अकुर्वदपि कर्तैव चेतः प्रघनवासनम् ।
निस्पन्दाङ्गमपि स्वप्ने श्वभ्रपातस्थिताविव ॥ १४ ॥
चेतसो यदकर्तृत्वं तत् समाधानमुत्तमम् ।
तं विद्धि केवलीभावं सा शुभा निर्वृतिः परा ॥ १५ ॥
चेतश्चलाचलत्वेन परमं कारणं स्मृतम् ।
ध्यानाध्यानदृशोस्तेन तदेवाऽनङ्कुरं कुरु ॥ १६ ॥
अवासनं स्थिरं प्रोक्तं मनो ध्यानं तदेव तु ।
स एव केवलीभावः शान्ततैव च सा सदा ॥ १७ ॥

यदि उन्मत्त ताण्डव कर रहे पुरुष का चित्त वासना विहीन हो, तो उसकी उन्मत्त चेष्टा ब्रह्म-समाधि के तुल्य है ॥ ११ ॥

जो प्रबुद्ध व्यवहार रत है और जो प्रबुद्ध बनवासी है, ये दोनों ही ही समान हैं, क्योंकि दोनों हां सब सन्देहों का उच्छेद करने वाले परम पद में प्रतिष्ठित हैं ॥ १२ ॥

वासना रहित यह मन व्यवहार करता हुआ भी भी वैसे ही कर्तृत्व प्रयुक्त दोषों से बद्ध नहीं होता जैसे कान्ता आदि की कथा के श्रवण में अन्यत्र आसक्त मन-वाला पुरुष कथा-श्रवण करता हुआ भी राग आदि विकारों का उदय न होने से रागादि प्रयुक्त दोषों से बद्ध नहीं होता ॥ १३ ॥

प्रचुर वासनावाला चित्त कर्म न करता हुआ भी वैसे ही कर्ता के समान होता है अर्थात् कर्तृत्वप्रयुक्त दोषों से बद्ध होता है जैसे स्वप्न में निश्चल देहावयव वाला भी सुषुप्त पुरुष का मन गर्तपात और उसमें निवास का कर्ता बनता है ॥ १४ ॥

चित्त का जो अकर्तृत्व है वही उत्तम समाधि है, उसी को आप केवली भाव समझें और वही श्रेष्ठ परम-सुखविश्रान्ति है ॥ १५ ॥

चित्त चञ्चलता और अचञ्चलता से समाधि और असमाधि में परम कारण कहा गया है, इसलिए आप उसी को अङ्कुररहित अर्थात् वासनारहित करें ॥ १६ ॥

वासनारहित मन स्थिर कहा गया है, वही ध्यान है, वही केवलीभाव है और वही सदा शान्तता है ॥ १७ ॥

तनुवासनमत्युच्चैः पदायोद्यतमुच्यते ।
अवासनं मनोऽकर्तृ पदं तस्मादवाप्यते ॥ १८ ॥
घनवासनमेतत्तु चेतः कर्तृत्वभाजनम् ।
सर्वदुःखप्रदं तस्माद् वासनां तनुतां नयेत् ॥ १९ ॥
प्रशान्तजगदास्थोऽन्तर्वीतशोकभयैषणः ।
स्वस्थो भवति येनाऽऽत्मा स समाधिरिति स्मृतः ॥२०॥
चेतसा संपरित्यज्य सर्वभावात्मभावनाम् ।
यथा तिष्ठसि तिष्ठ त्वं तथा शैले गृहेऽथवा ॥ २१ ॥
गृहमेव गृहस्थानां सुसमाहितचेतसाम् ।
शान्ताहङ्कृतिदोषाणां विजना वनभूमयः ॥ २२ ॥
अरण्यसदने तुल्ये समाहितमनोदृशाम् ।
भवतामिह भूतानां भूतानां महतामिव ॥ २३ ॥
शान्तचित्तमहाभ्रस्य जनज्वालोज्ज्वलान्यपि ।
नगराण्यपि शून्यानि वनान्यवनिपात्मज ! ॥ २४ ॥

स्वल्पवासना वाला अर्थात् चतुर्थी आदि भूमिकाओं में क्षीणवासना वाला मन परमपद प्राप्ति के लिए उद्यत कहा जाता है। सर्वथा क्षीणवासनावाला मन अकर्ता है, उससे सप्तमभूमिका प्रतिष्ठारूप पद प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

प्रचुर वासना वाला यह मन कर्तृत्व-भाजन कर्ता है। कर्ता होने के कारण ही वह सब दुःखों को देने वाला होता है, इसलिए वासना को क्षीण बनायें ॥ १९ ॥

जिससे आत्मा देह आदि दृश्य में अहंममताभिनिवेश से रहित शोक, भय और एषणाओं से शून्य और स्वस्थ स्वरूप प्रतिष्ठित होती है, वह 'समाधि' कही जाती है ॥ २० ॥

सभी पदार्थों में अहं और ममताध्यास का मन से त्याग कर अपनी अभिरुचि के अनुसार आप चाहे पर्वत पर समाधिस्थ होकर बैठिये अथवा घर में व्यवहाररत होकर बैठिये ॥ २१ ॥

अच्छी तरह समाहित चित्तवाले अहंकार आदि दोषों से रहित ग्रहस्थों के लिए घर ही निर्जन वनभूमि है ॥ २२ ॥

नित्य अपरोक्ष प्रत्यगात्मा में स्थित, समाहित मन और दृष्टि वाले आप लोगों के लिए आकाश आदि महा-भूतों के समान वन और घर एक ही हैं ॥ २३ ॥

हे राजपुत्र ! चित्तरूपी महामेघ के शान्त होने पर अर्थात् शरत् के आकाश के तुल्य निर्मल हृदय वाले पुरुष के लिए जनरूपी ज्वालाओं से उज्ज्वल नगर भी निर्जन वन ही हैं ॥ २४ ॥

वृत्तिमच्चित्तमत्तस्य विजनानि वनान्यपि ।
नगराणि महालोकपूर्णानि परवीरहन् ॥ २५ ॥
व्युत्थितं चित्तमभ्येति भ्रमस्याऽन्तः सुषुप्तताम् ।
निर्वाणमेति निर्वाणं यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २६ ॥
सर्वभावपदातीतं सर्वभावात्मकं च वा ।
यः पश्यति सदात्मानं स समाहित उच्यते ॥ २७ ॥
ईहितानीहिते क्षीणे यस्याऽन्तर्विततात्कृतेः ।
सर्वे भावाः समा यस्य स समाहित उच्यते ॥ २८ ॥
सदात्मना सदेवेदं जगत् पश्यति नो मनः ।
यथा स्वप्ने तथैवाऽस्मिन् जाग्रत्यपि जनेश्वर ! ॥ २९ ॥
यथा विपणिकालोका विहरन्तोऽप्यसत्समाः ।
असम्बन्धात्तथा ज्ञस्य ग्रामोऽपि विपिनोपमः ॥ ३० ॥
अन्तर्मुखमना नित्यं सुप्तो बुद्धो व्रजन्नपि ।
पुरं जनपदं ग्राममरण्यमिव पश्यति ॥ ३१ ॥

हे वीर शत्रुनाशक ! राग आदि वृत्तिवाले चित्त से मत्त हुए पुरुष के लिए निर्जन वन भी प्रचुर लोगों से संकीर्ण नगर हैं ।। २५ ।।

राग आदि से विक्षिप्त चित्त के विविध विषय भ्रम का अन्दर लय होने से फिर सैकड़ों व्युत्थानों की बीजभूत सुषुप्ति की प्राप्ति होती है । राग आदि की वासनाओं से रहित चित्त मोक्ष को प्राप्त होता है, आप जैसा चाहे वैसा करें ।। २६ ।।

जो सर्वभावपदातीत अथवा सर्वभावात्मक आत्मा को सदा देखता है वह समाहित कहा जाता है । आशय यह है कि तत्त्वज्ञानी समाधि में सर्वभावपदातीत तत्त्व को देखता है इस प्रकार केवल एक पिण्ड में अहंकार न होने से उसमें राग आदि की प्रसक्ति ही नहीं होती है ।।२७।।

विस्तृत स्वरूप के अन्दर राग-द्वेष के क्षीण ही जाने पर और जिसके लिए सब भाव समान हैं वह समाहित कहा जाता है ।। २८ ।।

हे जनेश्वर ! उसका मन जैसे स्वप्न में वैसे हो जाग्रत् में भी इस दृश्य को सद्रूप से सद् ही देखता है । जगत् को सद् से व्यतिरिक्त रूप में यह नहीं देखता है ।। २९ ।।

ग्राम भी ज्ञानी के लिए, ग्रामवासी जनों के साथ सम्बन्ध न होने से वैसे ही अरण्यतुल्य ही हैं अर्थात् विक्षेप हेतु नहीं है जैसे बाजार में इकट्ठे हुए भी बहुत से लोग अपने-अपने व्यवहार करते हुए उदासीन न शत्रु हैं और न मित्र हैं के लिए कुछ भी उपकारक न होने से सब प्रकार से असत् ही हैं, क्योंकि उनके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है ।। ३० ।।

सर्वमाकाशतामेति नित्यमन्तर्मुखस्थितेः ।
सर्वथाऽनुपयोग्यत्वाद् भूताकुलमिदं जगत् ॥ ३२ ॥
अन्तःशीतलतायां तु लब्धायां शीतलं जगत् ।
विज्वराणामिव नृणां भवत्याजीवितस्थितेः ॥ ३३ ॥
अन्तस्तृष्णोपतप्तानां दावदाहमयं जगत् ।
भवत्यखिलजन्तूनां यदन्तस्तद्बहिः स्थितम् ॥ ३४ ॥
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिताः ॥ ३५ ॥
वटधाना वट इव यदन्तस्थं सदात्मनः ।
तद् बहिर्भासते भास्वद्विकासे पुष्पगन्धवत् ॥ ३६ ॥
न बहिष्ठं न वाऽन्तस्थं क्वचित् किञ्चन विद्यते ।
यद् यथा कचितं चित्त्वात्तत्तथा तत्त्वमुत्थितम् ॥ ३७ ॥
आत्मतत्त्वान्तरं भाति बहिष्ट्वेन जगत्तया ।
कर्पूरमिव गन्धेन संकोचे प्रविकासि च ॥ ३८ ॥

मन सदा अन्तर्मुख रहने पर पुरुष सोया हो, जागा हो, या चलता हो नगर, देश और ग्राम को अरण्य के समान ही देखता है ।। ३१ ।।

नित्य अन्तर्मुख स्थितिवाले पुरुष के लिए पृथिवी आदि महाभूतों से व्याप्त यह सारा जगत् बाधित होने के कारण सर्वथा अनुपयोग्य होने से शून्य हो जाता है ।।३२।।

अन्तःशीतलता अर्थात् ज्ञानप्रतिष्ठा की फलभूत पूर्णकामता की प्राप्ति होने पर ज्वररहित पुरुषों के समान सम्पूर्ण जगत् जीवनपर्यन्त शीतल हो जाता है ।। ३३ ।।

भीतर तृष्णा से सन्तप्त लोगों का जगत् वनाग्निसन्तापमय होता है, क्योंकि भीतर सभी जीवों का चित्त जैसा तप्त या शीतल होता है वही बाहर जगत् के रूप से स्थित होता है ।। ३४ ।।

द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ अन्तःकरण तत्त्व के बाहरी भागों के समान स्थित हैं ।। ३५ ।।

वट के फल के अन्दर वटबीजों के समान सदा अपने अन्दर रहने पर वही देदीप्यमान होकर विकास होनेपर पुष्प के गन्ध के समान बाहर प्रकट होता है ।। ३६ ।।

कोई वस्तु न तो बाहर है और न कहीं पर भीतर है, जिस वस्तु का पूर्व वासना के बल से विकास हुआ उसके वेष से परमार्थ तत्त्व ही उदित हुआ है ।। ३७ ।।

आन्तर वस्तु आत्मतत्त्व रूप ही बाह्य रूप होकर जगद्रूप से प्रतीत होती है । वह विभिन्न उपाधियों के अनुसार संकोच होने पर भी वैसे ही विकसित होता है

आत्मैव स्फुरति स्फारं जगत्त्वेनाऽप्यहन्तया ।
बाह्यत्वेनाऽऽन्तरत्वेन स च नाऽसन्न सन्विभुः ॥ ३९ ॥

बहिष्ठेनाऽऽन्तरं बाह्यमन्तःस्थेनाऽऽन्तरस्थितम् ।
यथाविदितमात्माऽयं स्वचित्तमनुपश्यति ॥ ४० ॥

सबाह्याभ्यन्तरं शान्तमात्मनो भेदितं जगत् ।
अहन्त्वादि स्थिते भेदे भूरिभङ्गभयं तु तत् ॥ ४१ ॥

द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
कल्पादिरेव ज्वलितं सर्वमाधिहतात्मनः ॥ ४२ ॥

यस्त्वात्मरतिरेवाऽन्तः कुर्वन् कर्मेन्द्रियैः क्रियाः ।
न वशो हर्षशोकाभ्यां स समाहित उच्यते ॥ ४३ ॥

जैसे डिब्बे में रक्खा हुआ कपूर गन्ध रूप से प्रदेश में विस्तृत होता है ॥ ३८ ॥

आत्मा ही जगद्रूप से और अहन्ता से बाह्य रूप और आन्तर रूप से बहुत स्फुरित होता है। वह न तो चक्षु आदि से अदृश्य अहङ्कार रूप है और न उससे दृश्य बाह्य स्थूल रूप है, किन्तु विभु सन्मात्र रूप है ॥ ३९ ॥

यह आत्मा अपने चित्त को पूर्वपूर्व अनुभव के अनुसार बहिर्मुख चक्षु आदि से बाह्य अर्थात् जगदाकर में देखता है। अन्दर स्थित जाग्रत्-वासना आदि के कारण हृदय में स्थित स्वप्न आदि को देखता है ॥ ४० ॥

बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार जगत् दोनों में अनुस्यूत सत् आत्मा से पृथक् होकर असत् ही है अर्थात् सत् के रूप में जगत् आदि की प्रतीति होने पर वह शान्त ही है अर्थात् मृत ही है, किन्तु पृथक्करण के अभाव में उसकी सत्ता से ही बाह्य और आभ्यन्तर भेद के रहने पर उसमें अहन्ता और ममता का अभ्यास होने से उसका नाश होने पर भयंकर नाश का भय होता है ॥ ४१ ॥

विभिन्न तत् मानसी व्यथाओं से हतात्मा पुरुष के लिए द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नादियाँ, दिशाएँ आदि सब भी पदार्थ तीनों तापों की ज्वालाओं से ज्वलित होकर प्रलयारम्भ काल के रूप में ही हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

अन्दर एकमात्र आत्मरति होकर जो पुरुष कर्मेन्द्रियों से क्रिया करता हुआ हर्ष और शोक के वशीभूत नहीं होता, वह समाधिस्थ कहा जाता है ॥ ४३ ॥

सर्वगत आत्मा का साक्षात्कार कर शान्तधी पुरुष शोक और ध्यान नहीं करता है, वह समारहित कहा जाता है ॥ ४४ ॥

जगद्गति को उत्पत्ति और विनाश युक्त समझ कर

यः सर्वगतमात्मानं पश्यन् समुपशान्तधीः ।
न शोचति ध्यायति वा स समाहित उच्यते ॥ ४४ ॥

सपूर्वापरपर्यन्तां यः पश्यन् जागतीं गतिम् ।
दृष्टिष्वेतासु हसति स समाहित उच्यते ॥ ४५ ॥

समे परेऽपि नाऽहन्ता न जगज्जन्म नो मयि ।
वीचिवृन्देष्विवाऽऽतप्ता नाऽऽकाशे फलधातवः ॥ ४६ ॥

यस्याऽन्तरस्थिताहन्त्वं न विभागादि नो मनः ।
न चेतनाचेतनत्वे सोऽस्ति नाऽस्तीतरो जनः ॥ ४७ ॥

व्योमस्वच्छो बहिष्ठेहां सम्यगाचरतीह यः ।
हर्षामर्षविकारेषु काष्ठलोष्ठसमः शमः ॥ ४८ ॥

जो पुरुष मूढ़ जनों में प्रसिद्ध अहंता, ममता आदि दृष्टियों पर उपहास करने वाला पुरुष समाधिस्थ कहा जाता है ॥ ४५ ॥

सर्वानुभवसिद्ध अहन्ता और जगत् प्रत्यक् स्वभाव मेरे आश्रित मानेंगे या ब्रह्म स्वभाव के आश्रित मानेंगे। किन्तु मुझ में तो उनका संभव नहीं है, क्योंकि द्रष्टा दृश्य का आश्रय नहीं हो सकता है परब्रह्म में भी उनका संभव नहीं है, क्योंकि असंग, अद्वितीय, कूटस्थ स्वरूप सम ब्रह्म अहन्ता और जगत् के जन्म आदि विषमता का आधार नहीं हो सकता है जैसे शरद् ऋतु की धूप से मिश्रित दूर से दिखाई दे रही लहरियों में द्रवीभूत रजत के समान स्फुरित हो रही पुञ्जीभूत कान्ति लहरियों के अन्दर नहीं है, क्योंकि समीप में जाने पर और लहरियों में डूब कर खोजने पर वह दिखाई नहीं देती और न उनके अन्दर और बाहर स्थित आकाश में है, क्योंकि आकाश में प्राप्य आदि चार प्रकारों की क्रियाओं के फल का दर्शन नहीं होता अतः लहरों की क्रिया से उत्पन्न फल का आश्रय होना यह संभव नहीं है। अतः उस कान्ति के समान अहन्ता और जगत् निराश्रय होने के कारण मिथ्या ही हैं ॥ ४६ ॥

ज्ञानी का आभ्यन्तर प्रत्यगात्म रूप अहन्ता से रहित होने पर जिस ज्ञानी के दृश्य जगत् विभाग आदि नहीं हैं, मन नहीं है और मन के अधीन कल्पना वाली चेतना और अचेतना नहीं हैं, वह एक ही सर्वात्मा है उससे अतिरिक्त चेतन नहीं है, अर्थात् उससे अतिरिक्त द्रष्टा नहीं है ॥ ४७ ॥

आकाश के समान स्वच्छ बाह्य चेष्टाओं का शास्त्र और शिष्टाचार के अविरोध से आचरण करता है और हर्ष, क्रोध आदि विकारों में काठ और ढेले के समान

आत्मवत् सर्वभूतानि परद्रव्याणि लोष्टवत् ।
स्वभावादेव न भयाद् यः पश्यति स पश्यति ॥ ४९ ॥
अर्थोऽतनुस्तनुर्वाऽपि नाऽसद्रूपेण चेत्यते ।
सद्रूपो नाऽनुभूतोऽज्ञेन ज्ञेनैव न तत्तया ॥ ५० ॥
ईदृशाशयसंपन्नो महासत्त्वपदं गतः ।
तिष्ठतूदेतु वा यातु मृतिमेतु न तत्स्थितिम् ॥ ५१ ॥
वसतूत्तमभोगाढ्ये स्वगृहे वा जनाकुले ।
सर्वभोगोज्झिताभोगे सुमहत्यथवा वने ॥ ५२ ॥
उद्दाममन्मथं पानतत्परो वाऽपि नृत्यतु ।
सर्वसंगपरित्यागी सममायातु वा गिरौ ॥ ५३ ॥
चन्दनागुरुकर्पूरैर्वपुर्वा परिलिम्पतु ।
ज्वालाजटिलविस्तारे निपतत्वथवाऽनले ॥ ५४ ॥
पापं करोतु सुमहद् बहुलं पुण्यमेव च ।

शान्त स्वभाव वाला स्वभाव से ही न कि भय से सभी जीवों को अपने समान और परद्रव्य को ढेले के समान देखता है वही वस्तुतः दर्शनवान् है ॥ ४८-४९ ॥

मूढ पुरुष हिरण्यगर्भ के ऐश्वर्य पर्यन्त या अल्प स्वर्ण कामिनी आदि विषय को मिथ्या नहीं देखता है और उसके अधिष्ठान सद्रूप का अनुभव न होने से सन्मात्र स्वभाव से भी उसे नहीं देखता है क्योंकि तत्त्वज्ञानी ही सभी को सद्रूप से देखता है, इसलिए किसी भी प्रकार से उसमें समदर्शिता की ही उत्पत्ति होती है अर्थात् अद्वितीय सद्रूप से सम्पूर्ण विश्व को देखने से समदर्शिता है एवं जगत् को मिथ्या स्वरूप न देखने पर भी विश्व को ही सद्रूप में दर्शन से समदर्शिता रहती है ॥ ५० ॥

इस आशय वाला व्यक्ति ब्रह्मपद को प्राप्त पुरुष निष्किञ्चन रहे या ऐश्वर्य आदि अभ्युदय की प्राप्ति करे पुत्र, बन्धु-बान्धव आदि की मृत्यु की ही प्राप्ति हो, अभ्युदयस्थिति की प्राप्ति न हो या उत्तमोत्तम भोग्य पदार्थों से परिपूर्ण और बन्धु-बान्धवों से भरपूर घर में रहे या सब प्रकार के भोगों से शून्य विशाल अरण्य में रहे या मदिरापान में निरत होकर प्रबल कामवेदना के साथ नाचे या सब पर आसक्ति का त्याग कर निर्विकार हो पर्वत पर तपस्या के लिए जाए या चन्दन, अगर और कपूर से शरीर का लेप करे या धधकती हुई ज्वालाओं से प्रचुर विस्तारवाली अग्नि में गिरे या महापाप करे या प्रचुर पुण्य करे या आज ही मृत्यु को प्राप्त हो या अनेक प्रलयों के बाद मरे, समदर्शी यह महात्मा का अहन्त का

अद्य वा मृतिमायातु कल्पान्तनिचयेन वा ॥ ५५ ॥
नाऽसौ किञ्चिन्न तत् किञ्चित् कृतं तेन महात्मना ।
नाऽसौ कलङ्कमाप्नोति हेमपङ्कगतं यथा ॥ ५६ ॥
संवित्पुरुषशब्दार्थैः सकलङ्कैः कलङ्क्यते ।
अहंत्वंवासनारूपैः शुक्तिकारजतोपमैः ॥ ५७ ॥
समस्तवस्तुप्रशमात्सम्यग्ज्ञानाद्यथास्थितेः ।
स्वभावस्योपशान्तोऽन्तः कलङ्कोऽसत्तया स्वतः ॥५८ ॥
अहंत्ववासनानर्थप्रसूतेः संविदात्मनः ।
पुरुषस्य विचित्राणि सुखदुःखानि जन्मनि ॥ ५९ ॥
रज्ज्वां सर्पभ्रमे शान्तेऽहिर्नेति निर्वृतिर्यथा ।
अहंत्वभावसंशान्तौ तथाऽन्तः समता मता ॥ ६० ॥
यत्करोति यदश्नाति यद्ददाति जुहोति वा ।
न तज्ज्ञस्य न तत्र ज्ञो मा करोतु करोतु वा ॥ ६१ ॥

आश्रय मरण, दुःख आदि विकारों से युक्त देह, मन आदि नहीं होता है अर्थात् उसे किसी प्रकार का सुख-दुःख आदि नहीं होता है, क्योंकि अतएव उस महात्मा ने कुछ भी नहीं किया है वह कलङ्क को वैसे ही प्राप्त नहीं होता है जैसे कीचड़ में गिरा हुआ सुवर्ण कलङ्कित नहीं होता है ॥ ५१—५६ ॥

शास्त्रों के द्वारा अभ्यनुज्ञा प्राप्त होने पर विषयों के सेवन से दूषित वासनारूप ऐन्द्रियक संवित् उनके आयतन शुक्ति रजत के समान देह और उनके भोग्य शब्दार्थरूप विषयों से अहङ्कारप्रधान लिङ्गात्मा कलङ्कित होता है ॥ ५७ ॥

वस्तुस्थिति का सम्यक् ज्ञान होने से सब वस्तुओं का प्रशमन होने के कारण चित्त का कलङ्क का बाध हो जाने के कारण असत्ता से वह स्वतः शान्त हो जाता है ॥५८॥

अहङ्कार के अध्यास से वासनारूपी अनर्थ उद्बुद्ध होते हैं उससे पुरुष के जन्म में विचित्र सुख-दुःख होते हैं ॥ ५९ ॥

अहन्त्व की शान्ति होने पर चित्त में सर्वदुःख वैषम्य-शून्यतारूप समता वैसे ही प्राप्त होती है जैसे रज्जु में सर्पभ्रान्ति के शान्त होनेपर 'यह साँप नहीं है' इस निर्भयता से आह्लाद होता है ॥ ६० ॥

ज्ञानी जो करता है, जो खाता है, जो देता है अथवा जो यज्ञ में हवन आदि करता है वह ज्ञानी का नहीं है न उनमें ज्ञानी निरत ही रहता है। वह करे या न करे, उनके फल से लिप्त नहीं होता है ॥ ६१ ॥

कर्मणाऽस्ति न तस्याऽर्थो नाऽर्थस्तस्याऽस्त्यकर्मणा ।
यथास्वभावावगमात्स आत्मन्येव संस्थितः ॥ ६२ ॥
इच्छास्ततः समुद्यन्ति न मञ्जर्य इवोपलात् ।
याश्चोद्यन्ति च ताः सर्वाः स एवाऽप्स्विव वीचयः ।६३।
सकलमिदमसावसौ च सर्वं
जगदखिलं न विभागिताऽत्र काचित् ।
परमपुरुषपावनैकरूपी स
सदिति तत्सदकिञ्चिदेव नाऽसौ ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे ध्यानविचारो नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

ज्ञानी का न तो कर्म से कोई प्रयोजन है और न कर्मत्याग से ही उसका कोई प्रयोजन है। अपने यथार्थस्वरूप के ज्ञान से वह आत्मा में ही स्थित है ॥ ६२ ॥

ज्ञानी पुरुष की इच्छाएँ वैसे ही उत्पन्न नहीं होती है जैसे पत्थर से मञ्जरियां उत्पन्न नहीं होती है कदाचित् कोई इच्छाएँ उत्पन्न भी होती हैं तो वे जल में तरङ्गों के समान उससे अभिन्न ही हैं अर्थात् कभी वासनाभ्यासवश इच्छा के उदय होने पर भी इच्छाएँ परमार्थदृष्टि से उसकी स्वात्मभूत ही रहती हैं ॥ ६३ ॥

सकलजगद्रूप ज्ञानी है और ज्ञानीरूप अखण्ड जगत् है, क्योंकि इस जगत् में विभागिता अर्थात् त्रिविध परिच्छेदशालिता कुछ भी नहीं है। क्योंकि भेदक स्वरूप कार्यकारणोपाधियों के तत्तत्साक्षिचिन्मात्र होने से सर्वजगदधिष्ठान सन्मात्र ही है, कि वह परम, पूर्ण होने से पुरुष और सब दोषों से अस्पृष्ट होने से पावन परमात्मा ही स्वरूप है। इस प्रकार तत्वज्ञानी सब द्वैतबन्धनों से निर्मुक्त सत्स्वरूपमात्र परिशिष्ट नित्यमुक्त हो जाता है ॥ ६४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में ध्यानविचार नामक कुसुमलता का छप्पनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५६ ॥

५७

वसिष्ठ उवाच

यदात्ममरिचस्याऽन्तश्चित्त्वात्तीक्ष्णत्ववेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि देशकालादि चेत्यतः ॥ १ ॥
यदात्मलवणस्याऽन्तश्चित्त्वाल्लवणवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि देशकालादिमत्स्थितम् ॥ २ ॥
स्वतो यदन्तरात्मेक्षोश्चित्त्वान्माधुर्यवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि जगत्तत्त्वादिजृम्भितम् ॥ ३ ॥
स्वतो यदात्मदृषदश्चित्त्वात्काठिन्यवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि देशकालादितां गतम् ॥ ४ ॥
स्वतो यदात्मशैलस्य ज्ञतया जाड्यवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि भुवनादीति संस्थितम् ॥ ५ ॥

५७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—आत्मरूपी मरिच के अर्थात् आत्मा ही स्वप्रकाश स्वरूप तीक्ष्णता से युक्त मिर्चा है उसके अन्दर चेतन होने के कारण तीक्ष्णताप्रथिति रूप जो अनुभव है, वही स्वरूपज्ञान का अभाव होने के कारण मै, तुम आदि के रूप, घट, कुड्य भेद आदिरूप और उसके आधार देश-कालरूप जगत् है ॥ १ ॥

आत्मरूपी लवण के अन्दर चित् होने के कारण लवणताप्रथितिरूप वेदन ही वह अहम्, त्वम् आदि; घट, कुड्य भेद आदि रूप और उसके आधार देश, काल आदि से युक्त जगद्-रूप से स्थित है ॥ २ ॥

आत्मारूपी ईख के अन्दर चित् होने से स्वतः माधुर्यवेदन ही तत्-तत् आकारों से अभिव्यक्त अहन्ता, त्वन्ता आदि रूप और घट, कुड्य भेद आदि रूप जगत् है ॥ ३ ॥

आत्मरूपी पाषाण के चित् होने से स्वतः काठिन्यप्रथितिरूप वेदन ही अहन्ता, त्वन्ता आदि रूप, घट, कुड्य भेद आदि रूप और देश, काल आदि रूपता को प्राप्त है ॥ ४ ॥

आत्मरूपी पर्वत के चेतन होने से स्वतः गुरुता प्रथितिरूप वेदन ही अहन्ता, त्वन्ता आदि रूप, घट, कुड्य भेदादिरूप भुवनरूप से स्थित है ॥ ५ ॥

स्वतो यदात्मतोयस्य चिद्द्रवत्वादिवर्तनम् ।
तदावर्ताद्यहन्तादि भेदाद्याकारिता इव ॥ ६ ॥
स्वतो यदात्मवृक्षस्य शाखादिस्तस्य वेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि भुवनादीव सत्स्फुरत् ॥ ७ ॥
यदात्मगगनस्याऽन्तश्चित्त्वाच्छून्यत्ववेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि भुवनादीति भावनम् ॥ ८ ॥
यदात्मगगनस्याऽन्तश्चित्त्वात् सौषिर्यवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि शरीरादि च दीपितम् ॥ ९ ॥
स्वतो यदात्मकुडचस्य नैरन्तर्यं निरन्तरम् ।
तदहन्तादिभेदेन चित्ताद्बहिरिव स्थितम् ॥ १० ॥
स्वतो यदात्मसत्तायाश्चित्त्वात्सत्त्वैकवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि चेतनानीतिवत् स्थितम् ॥ ११ ॥
अन्तरात्मप्रकाशस्य स्वतो यदवभासनम् ।
तदहन्तादि चित्त्वादि जीव इत्येव वेद सः ॥ १२ ॥
अन्तरस्ति यदात्मेन्दोश्चिद्रूपं चिद्रसायनम् ।
स्वत आस्वादितं तेन तदहन्तादिनोदितम् ॥ १३ ॥
परमात्मगुडस्याऽन्तर्यच्चित्त्वादूदयात्मकम् ।
तदेवाऽऽस्वाद्यते तेन स्वतोऽहन्तादिनाऽऽन्तरे ॥ १४ ॥
परमात्ममणेश्चित्त्वाद्यदन्तः कचनं स्वयम् ।
चेतनात्मपदे चाऽन्तरहमित्यादि वेत्त्यसौ ॥ १५ ॥
न च किञ्चन वेत्त्यन्तर्वेद्यस्याऽसम्भवादिह ।
न चाऽऽस्वादयति स्वादु स्वाद्यस्याऽसम्भवादयम् ॥१६॥
न च किञ्चिच्चिनोत्यन्तश्चेत्यस्याऽसम्भवे सति ।
विन्दते न च वा किञ्चिद्वेद्यस्याऽसम्भवादसौ ॥ १७ ॥
असदाभास एवाऽऽत्मा अनन्तो भरिताकृतिः ।
स्थितः सदैवैकघनो महाशैल इवाऽऽत्मनि ॥ १८ ॥
अनया तु वचोभङ्ग्या मया ते रघुनन्दन ! ।
नाऽहन्तादिजगत्तादिभेदोऽस्तीति निर्दर्शितम् ॥ १९ ॥
न चित्तमस्ति नो चेता न जगत्तादिविभ्रमः ।
वृष्टमूकाम्बुदसितं शान्तं शाम्यति केवलम् ॥ २० ॥

आत्मरूपी जल के चित् होने से स्वतः द्रवत्व आदि में वर्तन है वही आवर्त आदि, अहन्ता त्वन्ता, आदि घट, कुडच भेद आदि तत्-तत् आकारवत्ता के समान स्थित है ॥ ६ ॥

आत्मरूपी वृक्ष के चित् होने से शाखादि रूप से प्रथिति रूप वेदन ही अहन्ता, त्वन्ता आदिरूप, घट, कुडच भेद आदिरूप भुवन आदि के समान वर्तमान और भासमान है ॥ ७ ॥

आत्मरूपी आकाश के चित् होने से शून्यताप्रथिति रूप वेदन ही अहन्ता, त्वन्ता आदि रूप भुवन आदि कल्पना है ॥ ८ ॥

आत्मरूपी आकाश के चित् होने से मूर्त पदार्थों के अन्दर छिद्रताप्रथितिरूप वेदन ही अहन्ता, त्वन्ता आदि और शरीर आदि रूप से प्रदीप्त हैं ॥ ९ ॥

आत्मरूपी कुडच का दीवार का स्वतः निरन्तर निविड़ताप्रथिपिरूप अनुभव ही अहन्ता आदि भेद से दृश्य होने से चित् से व्यतिरिक्त के रूप में बाहर स्थित है ॥१०॥

आत्मसत्ता के चित् होने से स्वतः एकमात्र सत्ता के रूप से वेदन ही अहन्तादि, भेद आदि चिदाभास के तुल्य स्थित है ॥ ११ ॥

आत्मप्रकाश का स्वतः अवभासन ही अहन्ता, त्वन्ता आदि की और वृत्तिभेद से भिन्न चिदाभासों में अनुगत सामान्य की कल्पना करता है वही जीव है ॥ १२ ॥

आत्मरूपी चन्द्रमा के अन्दर चिद्रूप चिदमृत ही उसके द्वारा स्वप्रकाशरूप से स्वतः आस्वादित वह अहन्ता आदिरूप से आविर्भूत हुआ है ॥ १३ ॥

परमात्मरूपी गुड़ के अन्दर स्वादुरूप चित् का ही अहन्तारूप से स्वतः आस्वादन करता है ॥ १४ ॥

परमात्मारूपी मणि का चित् होने के कारण अन्दर स्वयं स्फुरण होना ही उसी की चेतनारूप स्वरूप में 'अहम्' इत्यादि रूप से कल्पना करता है ॥ १५ ॥

यहाँ पर परमार्थतः जानने योग्य वस्तु का अभाव होने के कारण जानने योग्य वस्तु का अपने अन्दर न अनुभव करता है और स्वाद लेने योग्य वस्तु का अभाव होने के कारण न तो आस्वाद्य वस्तु का स्वाद लेता है ॥ १६॥

यह आत्मा विकार होते योग्य वस्तु का अभाव होने पर अवने भीतर विभिन्न जीवादि चैतन्यरूप से कुछ भी विकार यह आत्मा नहीं करता है और प्राप्य वस्तु के न रहने से उसकी प्राप्ति नहीं करता है ॥ १७ ॥

असत् जगदाकार का अधिष्ठानभूत अनन्त आत्मा, स्वरूप परिपूर्ण है, सर्वदा एकरूप होकर अपने स्वरूप में ही महान् पर्वत के समान अवस्थित है ॥ १८ ॥

श्रीरघुनन्दन ! इस वचोभङ्गी से मैंने आपको इसका दिग्दर्शन कराया कि जीवभाव आदि एवं जगद्भाव आदि का तनिक भी भेद नहीं है ॥ १९ ॥

न चित्त है, न प्रमाता है और न जगत्स्वरूप आदि विभ्रम हैं, वर्षा वृष्टि होने के काल में अनन्तर शरत्-काल में शब्दशून्य मेघ के समान शुद्ध अधिष्ठान-सदात्मरूप से परिशिष्ट बाधित जगत् शान्त हो शान्ति को प्राप्त होता है ॥ २० ॥

यथाऽऽवर्तादितामेति द्रवत्वाद् वारि वारिणि ।
तथाऽहन्तादितामेति ज्ञप्ता ज्ञप्तौ ज्ञ आत्मनि ॥ २१ ॥
यथा द्रवत्वं पयसि यथा स्पन्दः सदागतौ ।
अहन्तादेशकालादि तथा ज्ञे ज्ञप्तिमात्रके ॥ २२ ॥
ज्ञो ज्ञतायां शिवं ज्ञानं जानाति ज्ञानबृंहया ।
ज्ञायतेऽहन्तदि ज्ञेन जीवादीत्यभिजीवनैः ॥ २३ ॥
यथोदेति ययाऽज्ञस्य तृप्तिर्ज्ञानेन यादृशी ।
अनन्ये वाऽन्यता बुद्धा स तथा जृम्भते तया ॥ २४ ॥
जीवनं ज्ञातता ज्ञाता जीवनं जीवजीवनम् ।
अत्यन्तमस्ति नो भेदश्चिद्रूपत्वे ज्ञजीवयोः ॥ २५ ॥
यथा ज्ञजीवयोर्नाऽस्ति भेदो नाम तथैतयोः ।
भेदोऽस्ति न ज्ञशिवयोर्विद्धि शान्तमखण्डितम् ॥ २६ ॥
सर्वं प्रशान्तमजमेकमनादिमध्य-
माभास्वरं स्वदनमात्रमचेत्यचिह्नम् ।
सर्वं प्रशान्तमिति शब्दमयी तु दृष्टि-
र्बोधार्थमेव हि मुधैव तदोमितीदम् ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे भेदनिरासो नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

मायावी सर्वज्ञ ही अपनी माया से संयुक्त ज्ञप्तिरूप आत्मा में अहंतादिरूप को अर्थात् जीव और जगत् के रूप को वैसे ही प्राप्त करता है जैसे द्रवस्वभाव होने के कारण जल ही जल में आवर्त आदि भाव को प्राप्त होता है ॥२१॥

परमार्थरूप से केवल ज्ञप्तिस्वरूप वाले सर्वज्ञ परमात्मा में वैसे ही अहंता, देश, काल आदि रहते हैं जैसे जल में द्रवत्व सदा गमन करने वाले वायु में स्पन्द रहता है ॥२२॥

ईश्वर अपने ईश्वरभाव में निरतिशय आनन्दरूप स्वरूपज्ञान को समग्र आवरण और परिच्छिन्नता से शून्य ज्ञान की अभिवृद्धि से सदा सर्वदा ही जानता है और अहङ्कार एवं स्थूल-देहस्वरूप जीवभाव में चेतनरूप होता हुआ भी जीवन के हेतुभूत प्राण, इन्द्रिय और विषयों के साथ विभिन्न अध्यासों के कारण 'मैं जीव आदि स्वरूप ही आत्मा हूँ' इस प्रकार जानता है, तात्त्विक ज्ञान उसे नहीं रहता है ॥ २३ ॥

जिस काम और कर्मों की वासना से जिस प्रकार के विषयपरिज्ञान से अज्ञानी जीवात्मा को जिस दर्शन, लाभ और उपभोग के वैचित्र्य से जिस तरह के प्रिय, मोद, प्रमोद आदि विभिन्न प्रकार के उपयोगों का आविर्भाव होता है या वह अनन्य स्वरूप में जैसी भोक्ता, भोग्य और भोग की विचित्रतारूपी अन्यता का अनुभव करता है, उस जीव की काम आदि की वासना से वह परमेश्वर वैसे अपने अङ्गों के विचित्र स्वरूप को धारण करता है ॥२४॥

जब जीव सत्-शास्त्रों से और सद् गुरुओं के उपदेशों से यह जान लेता है कि इस भोग्य जगत् का जीवन परमार्थ स्थिति अधिष्ठान सन्मात्ररूप स्फूर्ति ही है और भोक्ता के जीवन अर्थात् परमार्थ स्थिति के अधीन समस्त जीवों का आनन्दस्वरूप जीवन है, तब भोग्य और भोक्ता के दोनों अधिष्ठानों की चिद्रूपता ही अवशिष्ट रह जाने की स्थिति में जीव और ईश्वर का कभी-भी भेद नहीं रहता है ॥ २५ ॥

प्राज्ञ और तुरीय दोनों का भेद भी वैसे ही नहीं है जैसे वास्तव में जीव और ईश्वर का भेद नहीं है, वस्तुतः आप उन सबको शान्त अखण्ड पूर्णानन्दैकरस ब्रह्मरूप ही जाने ॥ २६ ॥

सम्पूर्ण चराचर जगत् पूर्णस्वप्रकाशस्वरूप, आनन्दैकरस, विषय एवं अपने भेदक धर्मों से रहित अज, एक, आदि-मध्य से रहित, प्रशान्त ब्रह्मस्वरूप है। सब प्रशान्त ब्रह्मरूप है इत्यादि तात्कालिक शब्दमयी दृष्टि को पदों से बोधित कराने वाले अर्थों के अभेदसंसर्ग का उल्लेख करने वाली आहार्य कृत्रिम भेददृष्टि साक्षात् प्रयोजन न होने के कारण मिथ्या ही रहती है, क्योंकि विरोध का भान होने पर भागत्याग-लक्षणा का आश्रयण कर लक्ष्यार्थ अखण्ड का बोध कराना ही उसका प्रयोजन है। बोध्य अखण्ड रूप अर्थ तो ॐकार से लक्षित विशुद्ध चैतन्य है, अतः सब ॐकारस्वरूप है, यही जानना चाहिए। ॐकार से विशुद्ध चैतन्य इस प्रकार लक्षित होता है, ॐकार, जगत् और ब्रह्म का एकीकरण कर अनन्तर विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत और तुरीयस्वरूप अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा—ॐकार के चार तरह पादों का विभाग कर पूर्व पूर्व पादों का उत्तरोत्तर पादों में उपसंहार का लेने के बाद चतुर्थ आधी मात्रा से निर्लिप्त अद्वय पूर्णानन्दैक रस नित्य-अपरोक्ष प्रत्यक्-चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म बोधित होता है ॥ २७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में भेदनिरास नामक कुसुमलता का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५७ ॥

५८

वसिष्ठ उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
किरातेशस्य सुरघोर्वृत्तान्तं विस्मयास्पदम् ॥ १ ॥
उत्तरस्या दिशो मेदः कर्पूरपटलं भुवः ।
संभूतं हसनं शार्वं शुक्लो वा चान्द्र आतपः ॥ २ ॥
हिमाद्रेः शृङ्गमस्तीह कैलासो नाम पर्वतः ।
शैलकुञ्जरनिर्मुक्तकलापस्येव नायकः ॥ ३ ॥
विष्णोः क्षीरोदक इव स्वर्गः सुरपतेरिव ।
अब्जजस्येव नाभ्यब्जं गृहं यः शशिमौलिनः ॥ ४ ॥
रुद्राक्षवृक्षदोलाभिः साप्सरोभिर्विभाति यः ।
लोलरत्नशलाकाभिर्लहरीभिरिवार्णवः ॥ ५ ॥
गणाङ्गनानामनिशं मत्तानां चरणैर्हताः ।
अशोका इव राजन्ते यत्राऽशोका विलासिनः ॥ ६ ॥
संचरन् शङ्करो दिक्षु भृगुष्विन्दुमणिद्रवैः ।
निवर्तन्ते प्रवर्तन्ते यत्राऽजस्रं च निर्झराः ॥ ७ ॥
यो लतावृक्षगुल्मौघवापीह्रदनदीनदैः ।
मृगैर्मृगगणैर्भूतैर्ब्रह्माण्डवदिवाऽऽवृतः ॥ ८ ॥
तस्य हेमजटा नाम किराताः संस्थिताः स्थले ।
पिपीलिका वटतरोर्मूलकोशगता इव ॥ ९ ॥
कैलासपादारण्यानां रुद्राक्षैस्तरुगुल्मकैः ।
वसन्ति घूकवत् क्षुद्रास्ते वै निकटजीविनः ॥ १० ॥
आसीत्तेषामुदारात्मा राजा परपुरञ्जयः ।
जयलक्ष्म्या भुज इव यः प्रजायाश्च दक्षिणः ॥ ११ ॥

५८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—कथित अर्थ में प्राचीन भिल्लों के राजा सुरघु का अत्यन्त विस्मय कराने वाला वृत्तान्त के इतिहास का उदाहरण देते हैं अर्थात् शब्दात्मक भेद दृष्टिबोध के लिए इसको उदाहरण से प्रदर्शित किया है ॥ १ ॥

उत्तर दिशा का सार है, भूमि से निकले हुए कपूर का समूह है, शिवजी का कल्याणमय हास्य है, विशुद्ध चन्द्रमा का तेजःपुञ्ज है अथवा उत्तर दिशा का सार, शिवजी का हास्य और चन्द्रमा का प्रकाश—ये सब पृथ्वी में आकर मानो एक कपूर का ढेर स्वरूप हिमालय का शृङ्ग है ॥ २ ॥

पर्वतों में श्रेष्ठ हिमालय के द्वारा धारण की गई शिखरों की परम्परारूप मोतियों की माला का सुमेरु मणि है अथवा यों कहिये कि वह शैलों में विहार करने वाले हाथियों से निकले हुए मुक्तासमुदाय का नायक—संग्राहक राशि है ॥ ३ ॥

भगवान् विष्णु के क्षीरसागर की तरह, सुरपति इन्द्र के स्वर्ग की तरह और ब्रह्मा के आश्रय विष्णुनाभिकमल की तरह वह शशिमौली पार्वतीपति का घर हिमालय का कैलास नाम का पर्वत है ॥ ४ ॥

दिव्याङ्गना अप्सराओं से समन्वित, अतिशय चञ्चल रत्नों की शलाकाओं से युक्त, रुद्राक्ष वृक्षों में लटक रहे झूलों से वह ऐसा शोभायमान है, जैसे समुद्र चञ्चल रत्न रूपी शलाकाओं से युक्त लहरियों से शोभायमान होता है ॥ ५ ॥

जहाँ प्रमत्त प्रमथगणों की अङ्गनाओं के चरणों के विताड़ित विलासी शोकरहित पुरुष अशोक वृक्ष के समान प्रिय लगते हैं ॥ ६ ॥

उस शिखर पर जिन दिशाओं में भगवान् शङ्कर विचरण करते हैं उन दिशाओं में मस्तक में धारित चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के सम्पर्क से चन्द्रकान्तमणि के द्रवों से प्रपातस्थानों में झरने बह रहे हैं और जिन दिशाओं में उनका विचरण नहीं होता है उन दिशाओं में बहते हुए भी झरने रुक जाते हैं ॥ ७ ॥

लताओं, वृक्षों, गुल्मों, बावड़ियों, तलाबों, नदियों, नदों, पशुओं, हरिणों और भूतों के आधार अथवा उन लता आदि से समस्त ब्रह्माण्ड की तरह आच्छादित वह अनेक ब्रह्माण्डों के आधार ब्रह्म के समान है ॥ ८ ॥

उस हिमालय के शिखरभूत कैलास के मल देश में सुवर्ण के सदृश पीत जटावाले दाम के किरात वैसे ही निवास करते थे, जैसे वट वृक्ष के मूल देश में चीटियां निवास करती हैं ॥ ९ ॥

कैलास पर्वत के नीचे पर्वतों के वनों में उत्पन्न होने वाले रुद्राक्ष और अन्य वृक्षों के फल, पुष्प, कन्दमूल आदि से क्षुद्र किरात अपना जीवन व्यतीत करने के कारण उल्लू के समान निकट-जीवी होकर रहते थे ॥ १० ॥

उदार चेता और शत्रुओं के दुर्गों को जीतने वाला मानो विजयलक्ष्मी के हाथ वाला, प्रजा के पालन में दक्ष उन किरातों का एक राजा था ॥ ११ ॥

सुरघुर्नाम बलवान् सुरघोरारिदर्पहा ।
अर्कः पराक्रम इव मूर्तिमानिव मारुतः ॥ १२ ॥
जितो वै राज्यविभवैर्धनैर्गुह्यकनायकः ।
शतक्रतुगुरुर्बोधैः काव्यैरसुरदेशिकः ॥ १३ ॥
स चक्रे राजकार्याणि निग्रहानुग्रहक्रमैः ।
यथाप्राप्तान्यखिन्नाङ्गो दिनानीव दिवाकरः ॥ १४ ॥
तज्जाभ्यां सुखदुःखाभ्यामथ तस्याऽभ्यभूयत ।
स्वगतिर्वागुरावन्धैः श्लिष्टाङ्गस्येव पक्षिणः ॥ १५ ॥
किमार्तं पीडयाम्येनं तिलान् यन्त्रमिवौजसा ।
सर्वेषामेव भूतानां ममेवाऽऽर्तिः प्रजायते ॥ १६ ॥
धनमस्मै प्रयच्छामि धनेनाऽऽनन्दवान् जनः ।
भवत्यहमिवाऽशेषस्तदलं मेऽर्तिनिग्रहैः ॥ १७ ॥

अत्यन्त बली बड़े-बड़े शत्रुओं के दर्प को देवों के समान मिनट भर में विचूर्णित करने वाला, पराक्रम में सूर्य के सदृश गति में शरीरधारी वायु के तुल्य सुरघु नाम का राजा था ॥ १२ ॥

अपने नैकविध राज्य वैभवों से तथा विविध धन-संपत्तियों से उसने गुह्यकों के नायक कुबेर को भी मात कर दिया था । उच्च आत्म ज्ञान के कारण सुराधीश इन्द्र के वृहस्पति के और रस, अलङ्कार आदि से परिपूर्ण काव्यों की विविध रचनाओं के कारण असुरदेशिक के शुक्राचार्य के ऊपर उसने विजय पाई थी ॥ १३ ॥

वह सुरघु नाम का राजा अङ्गों में थकावट का अनुभव किये बिना जिस समय जो राजकार्य प्राप्त होते गये, उनको निग्रह और अनुग्रह की व्यवस्था से ठीक वैसे ही करता था जैसे सहस्रांशु दिवाकर किसी प्रकार की अङ्गों में थकावट का अनुभव किये बिना क्रमशः एक के पीछे एक अनेक दिवसों का निर्माण करते हैं ॥ १४ ॥

जैसे फंदे में फँसे पक्षी की गति लुप्त हो जाती है। वैसे ही निग्रहानुग्रह-व्यवस्था से किये जाने वाले उन राजकार्यों से उत्पन्न सुख और दुःखों के कारण उसकी पारमार्थिक गति लुप्त हो जाती है ॥ १५ ॥

इन दुःखी प्रजाजनों को बलपूर्वक वैसे ही मैं क्यों पीसता हूँ अर्थात् दुःख दे रहा हूँ। तिल पिसे जाते हैं कोल्हू यन्त्र में सभी प्राणियों को वैसे ही दुःख होता है, जैसे कि मुझे होता है ॥ १६ ॥

इसलिए इन दुःखी जनों को मैं धन दूँ, इनके ऊपर निग्रह करना व्यर्थ है । सम्पूर्ण मनुष्य धन से ही वैसे ही आनन्दित होते हैं जैसे धन मिलने पर मैं आनन्दित

अथवा निग्रहं प्राप्तं करोम्येतेन वै विना ।
वर्तते न प्रजैवेयं विना वारि सरिद्यथा ॥ १८ ॥
हा कष्टमेष निग्राह्यो नित्यानुग्राह्य एष मे ।
दिष्ट्याऽद्य सुखवानस्मि कष्टमद्याऽस्मि दुःखवान् ॥१९॥
इति दोलायितं चेतो न विशश्राम भूपतेः ।
एकत्राऽम्बुमहावर्ते चिरतृष्णमिव भ्रमत् ॥ २० ॥
अथैकदा गृहं तस्य माण्डव्यो मुनिराययौ ।
भ्रान्ताऽशेषककुप्कुञ्जो वासवस्येव नारदः ॥ २१ ॥
तमसौ पूजयामास पप्रच्छ च महामुनिम् ।
सन्देहदुद्रुमस्तम्भपरशुं सर्वकोविदम् ॥ २२ ॥

सुरघुरुवाच

भवदागमनेनाऽऽस्मि मुने ! निर्वृतिमागतः ।
परमां वसुधापीठं संप्राप्त इव माधवे ॥ २३ ॥

होता हूँ ॥ १७ ॥

अथवा धर्मशास्त्र ने जिस पुरुष के लिए जैसा निग्रह यानी वध, बन्धन आदि दण्ड योग्य ठहराया हो, उसे वैसा ही दण्ड दूँ, वैसे ही बिना दण्ड दिये वह प्रजा अपनी-अपनी मर्यादा में प्रवृत्त नहीं होती है, जैसे जल के बिना नदी प्रवृत्त नहीं होती है ॥ १८ ॥

वध और बन्धन आदि से यह मेरा दण्डनीय है, यह पुरस्कार आदि से सदा अनुकम्पनीय है, भाग्यवश आज सुखी हूँ तो दुर्भाग्यवश आज दुःखी हूँ, यह सब परिशेष में कष्ट ही है ॥ १९ ॥

भूमिपत सुरघु का उपर्युक्त विकल्पों से चञ्चल हुआ मन कहीं एक जगह वैसे ही विश्राम को प्राप्त नहीं हुआ जैसे सोये हुए प्यासे पुरुष का बहुत काल की तृषा से युक्त मन जल के बड़े-बड़े आवर्तों में घूम रहा कहीं एक जगह विश्राम नहीं पाता है ॥ २० ॥

अनन्तर किसी समय जिन्होंने समस्त दिशा रूपी मण्डलों में भ्रमण किया है, ऐसे महर्षि माण्डव्य वैसे ही राजा के घर पर आये जैसे देवर्षि नारद इन्द्र के घर आते हैं ॥ २१ ॥

इस राजा ने सम्पूर्ण शास्त्रों के विज्ञाता, सन्देह रूपी दुष्ट वृक्ष-स्तम्भ के छेदन में कुठार स्वरूप उस महामुनि माण्डव्य का पूजन किया और पूछा ॥ २२ ॥

सुरघु ने कहा—हे महामुने, आपके शुभागमन से मैं वैसे ही अत्यन्त सुखी हुआ जैसे भूमि पर वसन्त ऋतु के अथवा विष्णु के आने पर लोक परम सुखी होते हैं ॥ २३ ॥

अद्य तिष्ठाम्यहं नाथ ! धन्यानां धुरि धर्मतः ।
विकासि रविणेवाऽब्जं यत्त्वयाऽस्म्यवलोकितः ॥ २४ ॥
भगवन् ! सर्वधर्मज्ञ ! चिरं विश्रान्तवानसि ।
तदमुं संशयं छिन्धि ममाऽर्कस्तिमिरं यथा ॥ २५ ॥
महतां संगमेनाऽऽर्तिः कस्य नाम न नश्यति ।
सन्देहं तु परामार्तिमाहुरार्तिविदो जनाः ॥ २६ ॥
मन्निग्रहानुग्रहजा मद्भृत्यवपुषि स्थिताः ।
कषान्ति मामलं चिन्ता गजं हरिनखा इव ॥ २७ ॥
तद्यथा समतोदेति सूर्यांशुरिव सर्वदा ।
मतौ मम मुने ! नाऽन्या तथा करुणया कुरु ॥ २८ ॥

माण्डव्य उवाच

स्वयत्नेन स्वसंस्थेन स्वेनोपायेन भूपते ! ।
एषा मनःपेलवता हिमवत् प्रविलीयते ॥ २९ ॥

हे नाथ ! कमल को विकसित करने वाले सूर्य के समान आपने ने मेरे ऊपर कृपादृष्टि की है । अतः आज मैंने पुण्यवान् लोगों में धर्मतः प्रथम स्थान प्राप्त किया है ॥ २४ ॥

हे सम्पूर्ण धर्मों के जानने वाले भगवन् ! आप परम पद में चरकाल से ही विश्रान्ति पा चुके हैं अतः मेरे इस संशय को वैसे ही काट दीजिये जैसे सूर्य अन्धकार को काट डालता है ॥ २५ ॥

बड़ों के संसर्ग से भला किस का दुःख से छुटकारा नहीं होता ? दुःख के स्वरूप को भलीभाँति जानने वाले विज्ञजन सन्देह को ही महान् दुःख कहते हैं ॥ २६ ॥

मेरे शत्रु, मित्र आदि के शरीरों के विषय में मेरे द्वारा किये गये निग्रह और अनुग्रह से जनित चिन्ताएँ मुझे वैसे ही अत्यन्त उत्पीड़ित कर रही हैं जैसे सिंह के नख हाथी को उत्पीडित करते हैं ॥ २७ ॥

हे मुने ! इसलिए जैसे सूर्य के किरणों के समान मेरी बुद्धि में सर्वदा समदृष्टि का उदय हो और विषमदृष्टि उदय न हो, वैसा कृपापूर्वक करें ॥ २८ ॥

माण्डव्य ने कहा—हे भूपते ! वैराग्य, त्याग आदि स्वयत्न से तथा आत्मसाक्षात्कार होने तक निरन्तर अनुष्ठित श्रवण, मनन आदि आत्मा के अभिव्यञ्जक उपायों से यह मन की मृदुता, हर्ष, विषाद आदि कण्टकों से होने वाली छेदनयोग्यता वैसे ही विनष्ट हो जाती जैसे आतप से कुहरा नष्ट हो जाता है ॥ २९ ॥

केवल अपनेपन का विचार करने से ही मन का भीतरी संताप शीघ्रातिशीघ्र वैसे ही विलीन हो जाता है

स्वविचारणयैवाऽऽशु शाम्यत्यन्तर्मनोज्वरः ।
शरदागममात्रेण मिहिका महती यथा ॥ ३० ॥
स्वेनैव मनसा स्वानि स्वशरीरगतानि च ।
विचारयेन्द्रियाण्यन्तः कीदृशान्यथ कानि च ॥ ३१ ॥
कोऽहं कथमिदं किं वा कथं मरणजन्मनी ।
विचारयाऽन्तरेवं त्वं महत्तामलमेष्यसि ॥ ३२ ॥
विचारणापरिज्ञातस्वभावस्य सतस्तव ।
हर्षामर्षदशाश्चेतस्तोलयिष्यन्ति नाऽचलम् ॥ ३३ ॥
मनः स्वरूपमुत्सृज्य शममेष्यति विज्वरम् ।
भूतपूर्ववपुर्भूत्वा तरङ्गः पयसीव ते ॥ ३४ ॥
तिष्ठदेव मनो रूपं परित्यक्ष्यति तेऽनघ ! ।
कलङ्कविकलं कालं मन्वन्तरगताविव ॥ ३५ ॥

जैसे शरत्-काल के आगमनमात्र से बड़े-बेड़े मेघमण्डल विलीन हो जाते हैं ॥ ३० ॥

आप अपने ही मन से भीतर विचार करें कि अपने सम्बन्धी पुत्र, मित्र आदि, अपने शरीर में रहने वाली इन्द्रियाँ तथा बुद्धि आदि वस्तुएँ हैं, वे तत्त्वतः कौन हैं एवं युक्ति से उनका क्या प्रकार है ? ॥ ३१ ॥

मैं कौन हूँ ?, कैसा हूँ ?, यह दिखाई देनेवाला जगत् क्या है ? कैसे जन्म और मरण होते हैं ? इसका भी अन्दर से विचार करें, विचारने से आप महत्ता को अर्थात् अविचार से भासने वाली मिथ्या परिच्छिन्नता के निकल जाने के कारण अपरिच्छिन्नता को अनायास प्राप्त करेंगे ॥ ३२ ॥

जब तथोक्त विचार से अपने सत्स्वरूपभूत स्वभाव को आप जान जायँगे तब आप के अन्तःकरण की स्थिति वैसे ही अनियत नहीं होगी जैसे आप के निश्चल मानस को हर्ष, अमर्ष आदि अवस्थाएँ उत्तोलन नहीं कर पायेंगी अर्थात् उन्नमन और आनमन के हेतु पदार्थों से तराजू की स्थिति अनियत हो जाती है ॥ ३३ ॥

चिन्ताज्वर से मुक्त हुआ आप का मन अपने सङ्कल्प-विकल्पात्मक स्वरूप को छोड़ पूर्वसिद्ध ब्रह्मस्वभाव होकर शान्ति को निर्विक्षेपता को वैसे ही प्राप्त हो जायगा जैसे तरङ्ग अपने उत्तुङ्ग स्वरूप को छोड़ पूर्वसिद्ध जलस्वभाव होकर शान्त हो जाता है ॥ ३४ ॥

जीवन्मुक्त के व्यवहार में समर्थ होने से मन भी विद्यमान रहता हुआ ही वैसे ही पहले के अपने रूप को छोड़ देता है जैसे पहले मनु के बाद कलिकाल को प्राप्त

अनुकम्प्या भविष्यन्ति श्रीमन्तः सर्व एव ते ।
दृष्टतत्त्वस्य तुष्टस्य जनाः पितुरिवाऽवनौ ॥ ३६ ॥
विवेकदीपदृष्टात्मा मेर्वब्धिनभसामपि ।
अथो करिष्यसि नृप ! महत्तामुत्तमार्थदाम् ॥ ३७ ॥
महत्तामागते चेतस्तव संसारवृत्तिषु ।
न निमज्जति हे साधो ! गोष्पदेष्विव वारणः ॥ ३८ ॥
कृपणं तु मनो राजन् ! पेलवेऽपि निमज्जति ।
कार्ये गोष्पदतोयेऽपि जीर्णाङ्गो मशको यथा ॥ ३९ ॥
चेतोवासनया पङ्के कीटवत् परिमज्जसि ।
दृश्यमात्रावलम्बिन्या स्वया दीनतया तया ॥ ४० ॥
तावत्तावन्महाबाहो ! स्वयं संत्यज्यतेऽखिलम् ।
यावद्यावत्परालोकः परमात्मैव शिष्यते ॥ ४१ ॥
तावत्प्रक्षाल्यते धातुर्यावद्धेमैव शिष्यते ।

कर अनेकविध पापों से आक्रान्त हुआ भूमण्डल फिर दूसरे मनु की गति में विद्यमान रहता हुआ ही पापों से छुटकारा पाता है ॥ ३५ ॥

वे विभवसम्पन्न ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता भी विदित तत्त्व अतएव सन्तुष्ट वैसे ही आप की कृपा के पात्र होंगे जैसे लोक में प्रजाजन, पालन करने वाले सन्तुष्ट पिता की कृपा के पात्र होते हैं ॥ ३६ ॥

हे नृप ! विवेक दीप से आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर आप मेरु, समुद्र और आकाश की भी उत्तम अर्थ देने वाली महत्ता बढ़ायँगे ॥ ३७ ॥

हे साधो ! महत्त्व प्राप्त कर लेने पर आप का अन्तःकरण वैसे ही सांसारिक वृत्तियों में नहीं डूबेगा जैसे गाय के खुरमात्र जल में हाथी नहीं डूबता ॥ ३८ ॥

काम, कार्पण्य आदि दोषों से दूषित मन वैसे ही तुच्छ कार्य में भी मोह को प्राप्त हो जाता है जैसे शिथिल शरीरवाला मच्छर गाय के खुरमात्र जल में डूब जाता है ॥ ३९ ॥

दृश्य मात्र का अवलम्बन करने वाली अन्तःकरण की वासनारूपी अपनी दीनता से कीड़े की तरह आप कीचड़ में फँस रहे हैं ॥ ४० ॥

हे महाबाहो ! स्वयं ज्योति परमात्मा का ही अवशेषरूप से अनुभव नहीं करने तक समस्त प्रपञ्च का स्वयं परित्याग करना चाहिए ॥ ४१ ॥

तबतक समस्त अध्यात्म आदि शास्त्र वैसे ही देखे जाते हैं, जबतक कि केवल आत्मा प्राप्त हो नहीं जाता

तावदालोक्यते सर्वं यावदात्मैव लभ्यते ॥ ४२ ॥
सर्वः सार्विकया बुद्ध्या सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।
सर्वथा संपरित्यज्य स्वात्मनाऽऽत्मोपलभ्यते ॥ ४३ ॥
यावत्सर्वं न संत्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते ।
सर्वावस्थापरित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते ॥ ४४ ॥
यावदन्यन्न संत्यक्तं तावत्सामान्यमेव हि ।
वस्तु नाऽऽसाद्यते साधो ! स्वात्मलाभे तु का कथा ॥४५॥
यत्र सर्वात्मनैवाऽऽत्मा लाभाय यतति स्वयम् ।
त्यक्तान्यकार्यं प्राप्नोति तन्नाम नृप ! नेतरत् ॥ ४६ ॥
स्वात्मावलोकनार्थं तु तस्मात् सर्वं परित्यजेत् ।
सर्वं किञ्चित्परित्यज्य यद् दृष्टं तत्परं पदम् ॥ ४७ ॥
सकलकारणकार्यपरम्परा-
मयजगद्गतवस्तुविजृम्भितम् ।

जैसे जिस धातु में सुवर्ण अस्तित्व है, उस धातु का तबतक शोधन किया जाता है, जबतक केवल सुवर्ण अवशिष्ट नहीं रह जाता ॥ ४२ ॥

सर्वदा सभी प्रकारों से सर्वात्मक बुद्धि से सभी स्थानों सभी दृश्यों का परित्याग कर पूर्णात्मा अपने आप ही प्राप्त हो जाता है। अर्थात् किसी प्रकार कुछ विषयों का परित्याग करने मात्र से वह प्राप्त नहीं होता है ॥ ४३ ॥

सम्पूर्ण दृश्यों का जबतक परित्याग नहीं होता है आत्मा का तबतक साक्षात्कार नहीं होता है क्योंकि सभी अवस्थाओं का परित्याग करने पर शेष ही आत्मा कहा जाता है ॥ ४४ ॥

हे साधो ! व्यवहार में भी विरोधी वस्तु को जबतक नहीं छोड़ते तबतक सामान्य गाय, धन आदि वस्तु को भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है तब असाधारण आत्मा के लाभ की तो कथा ही क्या है ? ॥ ४५ ॥

हे नृप ! अन्य सब कार्यों को छोड़कर जिस विषय की प्राप्ति के लिए आत्मा स्वयं सभी तरह से प्रयत्न करता है, उसी को प्राप्त होता है, दूसरे को नहीं ॥ ४६ ॥

इससे आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए सभी विषयों का परित्याग करे। सब का परित्याग करने पर जो तत्त्व दिखाई देगा, वही परम पद है ॥ ४७ ॥

मणियों में सूत की तरह सम्पूर्ण कार्य और कारणों की परम्परारूप जगत् में अनुगत सद्रूप वस्तु में केवल अपनी कल्पना से अभिव्यक्ति मिथ्याभूत सद्भिन्न वस्तुओं का सर्वथा परित्याग कर, अनन्तर मन के स्वरूप का भी

अलमपास्य मनः स्ववपुस्ततः परिविलाप्य यदेति तदेव तत् ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सुरघुवृत्तान्ते माण्डव्योपदेशो नामाऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

अज्ञान और उसके संस्कार का भी नाश होने से बाध के द्वारा स्व का भी प्रविलाप कर मन जिस सच्चिदानन्दैक-मात्र वस्तुको प्राप्त करता है, वही परब्रह्म का स्वरूप है ॥ ४८ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में सुरघुवृत्तान्त में माण्डव्योपदेश नामक कुसुमलता का अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५८ ॥

५९

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा भगवानेनं सुरघुं रघुनन्दन ! ।
ययौ स्वमेव रुचिरं माण्डव्यो मौनमण्डलम् ॥ १ ॥
गते वरमुनौ राजा गत्वैकान्तमनिन्दितम् ।
धिया संचिन्तयामास को नामाऽहमिति स्वयम् ॥ २ ॥
नाऽहं मेरुर्न मे मेरुर्जगन्नाऽहं न मे जगत् ।
नाऽहं शैला न मे शैला धरा नाऽहं न मे धरा ॥ ३ ॥
किरातमण्डलं नेदं मम नाऽहं च मण्डलम् ।
निजसङ्केतमात्रेण केवलं देश एव मे ॥ ४ ॥
त्यक्तो मयैष सङ्केतो नाऽहं देशो न वैष मे ।
इदानीं नगरं शिष्टमेष एवाऽत्र निश्चयः ॥ ५ ॥
पताकावनपङ्क्त्याढ्या भृत्योपवनसङ्कुला ।
गजाश्वसामन्तयुता पुरी नाऽहं न मे पुरी ॥ ६ ॥
व्यर्थसङ्केतसम्बन्धं सङ्केतविगमे क्षतम् ।
भोगवृन्दं कलत्रं च नाऽहं नैतन्ममाऽखिलम् ॥ ७ ॥
एवं सभृत्यं सबलं सवाहनपुरान्तरम् ।
नाऽहं राज्यं न मे राज्यं सङ्केतो ह्ययमाकुलः ॥ ८ ॥
देहमात्रमहं मन्ये हस्तपादादिसंयुतम् ।
तदिदं तावदाश्वन्तरलमालोकयाम्यहम् ॥ ९ ॥
तदत्र तावन्मांसास्थि नाऽहमेतदचेतनम् ।
न चैतन्मम संश्लेषमेत्यब्जस्य यथा जलम् ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरघुनन्दन ! इस सुरघु राजा को उपदेश देकर भगवान् माण्डव्य अपने सुन्दर मुनियों की निवास-भूमि की ओर चले गये ॥ १ ॥

उस राजा ने तत्त्वद्रष्टा माण्डव्य मुनि के चले जाने पर एकान्त और अनिन्दित स्थान में जा कर बुद्धि से विचार किया कि मैं स्वयं कौन हूँ ? ॥ २ ॥

न मैं मेरु पर्वत हूँ और न मेरा मेरु है, न जगत् हूँ और न मेरा जगत् है, न मैं पर्वत हूँ और न मेरे पर्वत हैं, न मैं पृथ्वी हूँ, और न मेरी पृथ्वी है न तो मेरा यह किरात मण्डल है और न मैं ही किरात मण्डाल हूँ, केवल अपने सब लोगों की संमति से पट्टाभिषेक आदि के द्वारा मैं राजा बनाया गया हूँ, इस प्रकार अपनी कल्पना से ही मेरा कल्पना केवल देश ही है ॥ ३–४ ॥

मैंने यह कल्पना छोड़ दी, न मैं देश हूँ और न मेरा यह देश है । अब नगर बचा, पर इस नगर के विषय में भी कल्पना त्याग से यही निश्चय निकलता है ॥ ५ ॥

ध्वजाओं और बागों की पंक्तियों से युक्त, सेवक और उद्यानों से भरी, हाथियों, अश्वों और सामन्तों से युक्त नगरी न तो मैं हूँ और न तो नगरी मेरी है ॥ ६ ॥

मिथ्याभूत कल्पना से सम्बन्ध रखने वाला तथा कल्पना का विनाश होने पर नष्ट हो जाने वाला यह भोग समुदाय तथा भार्या आदि कुटुम्ब-परिवार मैं नहीं हूँ और न तो यह सब मेरा ही है ॥ ७ ॥

एवं भृत्यों, सेनाओं, वाहनों और अन्य नगरों से युक्त राज्य मैं नहीं हूँ और न मेरा राज्य है, यह सम्बन्ध अनादि अन्धपरम्परा के व्यवहार से केवल कल्पित है ॥ ८ ॥

हाथ, पैर आदि अवयवों से समन्वित केवल देह मैं हूँ, ऐसा मैं मनता हूँ । इस विषय में भी मैं अपने भीतर पूर्व रूप से शीघ्र विचार करता हूँ ॥ ९ ॥

इस शरीर में विद्यमान माँस और अस्थि मैं नहीं हूँ, वे अचेतन हैं अतः मेरे सम्बन्ध को माँस और अस्थि मैं प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि जल में कमल की तरह मैं असङ्ग हूँ ॥ १० ॥

मांसं जडं न तदहं नैवाऽहं रक्तमप्यलम् ।
जडान्यस्थीनि नैवाऽहं न चैतानि मम क्वचित् ॥ ११ ॥
कर्मेन्द्रियाणि नैवाऽहं न च कर्मेन्द्रियाणि मे ।
जडं यत् किल देहेऽस्मिस्तदहं नैव चेतनः ॥ १२ ॥
नाऽहं भोगा न मे भोगा न मे बुद्धीन्द्रियाणि च ।
जडान्यसत्स्वरूपाणि न च बुद्धीन्द्रियाण्यहम् ॥ १३ ॥
मूलं संसृतिदोषस्य मनो नाऽहं जडं हि तत् ।
अथ बुद्धिरहङ्कार इति दृष्टिर्मनोमयी ॥ १४ ॥
मनोबुद्धीन्द्रियाद्यन्तो भूतकोशश्चलद्वपुः ।
नाऽहमेवं शरीरादि शिष्टमालोकयाम्यहम् ॥ १५ ॥
शेषस्तु चेतनो जीवः स चेच्चेत्येन चेतति ।
अन्येन बोध्यमानोऽसौ नाऽऽत्मतत्त्वपुर्भवेत् ॥ १६ ॥
एवं त्यजामि संवेद्यं चेत्यं नाऽहं हि तत् किल ।

मांस जड़ है, अतः मांस मैं नहीं हूँ, रक्त जड़ है, अतः वह भी मद्रूप होने में समर्थ नहीं है। हड्डियाँ भी जड़ हैं, अतः हड्डियाँ भी मैं नहीं हूँ और न वे मांस आदि मेरे हैं ॥ ११ ॥

हाथ, पैर, मुख, गुदा और उपस्थ कर्मेन्द्रियाँ मैं नहीं हूँ और मेरी कर्मेन्द्रियाँ नहीं हैं। इस देह में जो कुछ जड़ पदार्थ है वह मैं नहीं हूँ, क्योंकि मैं चेतन हूँ ॥१२॥

मै भोग नहीं हूँ और भोग मेरे नहीं हैं, मेरी आंख, कान, नाक, जिह्वा, त्वक् ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और जड़ एवं असत्स्वरूप वाली ज्ञानेन्द्रियाँ मैं नहीं हूँ ॥ १३ ॥

संसार रूपी दोष का मूल कारण अचेतन मन मैं नहीं हूँ, ज्ञान स्वरूप बुद्धि और अहङ्कार भीं मैं नहीं हूँ और वे मेरे नहीं हैं, क्योंकि अन्तःकरण की अवस्था रूप होने के कारण वे तो जड़ हैं ॥ १४ ॥

अति चपल शरीर से लेकर बुद्धि, इन्द्रिय आदि तक जो स्थूल-सूक्ष्म भूतों का समूह भी मैं नहीं हूँ क्योंकि ये जड़ हैं अब जो शेष बचा है उसे भी देखकर विचार करता हूँ ॥ १५ ॥

शेष प्रमाता जीव विषयों के साथ जब प्रकाशित होता है, तब 'मैं इसे जानता हूँ' इस प्रकार त्रिपुटी-साक्षात्कार से बोधित होने वाला यह प्रमाता आत्मा का तात्त्विक स्वरूप कैसे हो सकता है ? ॥ १६ ॥

इसी प्रकार साक्षिसंवेद्य प्रमिति और प्रेमय को छोड़ता हूँ, क्यों कि चेत्य मैं नहीं हूँ, यह निश्चित है। अन्त में यह इस निश्चय होता है कि समस्त विकल्पों से शून्य, विशुद्ध साक्षी रूप शेष आत्मा मैं हूँ ॥ १७ ॥

शेषो विकल्परहितो विशुद्धचिदहं स्थितः ॥ १७ ॥
चित्रमेषोऽस्मि लब्धात्मा जातः कालेन कार्यवान् ।
एष सोऽहमनन्तात्मा नाऽन्तोऽस्य परमात्मनः ॥ १८॥
ब्रह्मणीन्द्रे यमे वायौ सर्वभूतगणे तथा ।
स एष भगवानात्मा तन्तुर्मुक्तास्विव स्थितः ॥ १९ ॥
चिच्छक्तिरमला सैषा चेत्यामयविवर्जिता ।
भरिताशेषदिक्कुक्षा भैरवाकारधारिणी ॥ २० ॥
सर्वभावगता सूक्ष्मा भावाभावविवर्जिता ।
आब्रह्मभुवनान्तःस्था सर्वशक्तिसमुद्गिका ॥ २१ ॥
सर्वसौन्दर्यसुभगा सर्वप्राकाश्यदीपिका ।
सर्वसंसारमुक्तानां तन्तुराततरूपिणी ॥ २२ ॥
सर्वाकारविकाराढ्या सर्वाकारविवर्जिता ।
सर्वभूतौघतां याता सर्वदा सर्वतां गता ॥ २३ ॥

अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि अनादि काल से लेकर प्रयत्नशील लब्धात्मा भी मैं आज ही परम पुरुषार्थ रूप फल का भाजन हुआ। यह मैं तत्पदबोध्य असीम आत्म रूप हूँ, इस परम आत्मा का कहीं पर अन्त नहीं है ॥१८॥

ब्रह्मा, इन्द्र, यम, वायु और समस्त प्राणियों के समूह में वैसे ही यह निखिल ऐश्वर्यों से परिपूर्ण तत्पदबोध्य आत्मा अनुस्यूत रूप से अवस्थित है जैसे मोतियों में अनुस्यूत रूप से सूत अवस्थित रहता है ॥ १९ ॥

यह निर्मल चितिशक्ति विषयों के आमय से (बिमारी से) रहित है, समस्त दिशाओं के मण्डलों को व्याप्त कर लेने वाली है और अज्ञानियों के भय की हेतु होने से भयङ्कर आकार धारण करने वाली है ॥ २० ॥

चितिशक्ति समस्त मानसिक वृत्तियों में निवास करती है, सूक्ष्म है, इसका परिज्ञान करना सहज नहीं वरन् अत्यन्त कठिन है, उत्पत्ति और विनाश दोनों से यह रहित है, पाताल से लेकर ब्रह्मलोक तक समस्त भुवनों के भीतर निवास करती है एवं समस्त शक्तियों की पिटारी है ॥ २१ ॥

चिति शक्ति निरतिशयानन्दरूप सर्वसौन्दर्य से परिपूर्ण है, समस्त प्रकाश-योग्य पदार्थों को प्रकाशित करने वाली दीपिका है और सम्पूर्ण संसाररूपी मोतियों की माला को गुहने के लिए विशाल सूत्र स्वरूप है ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण आकार और विकारों से समन्वित और सकल आकारों से रहित तथा सब भूतों के समूह की रूपता को प्राप्त कर चितिशक्ति ने सदा सर्वभाव को प्राप्त किया है ॥ २३ ॥

चतुर्दशविधान्येषा भूतानि भुवनोदरे ।
एतन्मयीयं कलना जागती वेदनात्मिका ॥ २४ ॥
मिथ्यावभासमात्रं तु सुखदुःखदशागतिः ।
नानाकारमयाभासः सर्वमात्मैव चित्परा ॥ २५ ॥
सेयमात्मा मम व्यापी सेयं यदवबोधनम् ।
सेयमाकलिताङ्गाभा करोति नृपविभ्रमम् ॥ २६ ॥
अस्या एव प्रसादेन मनो देहरथे स्थितम् ।
संसारजाललीलासु याति वल्गति नृत्यति ॥ २७ ॥
इदं मनःशरीरादि न किञ्चिदपि वस्तुतः ।
नष्टे न किञ्चिदप्यस्मिन् परिनश्यति पेलवे ॥ २८ ॥
जगज्जालमयं नृत्तमिदं चित्तनटैस्ततम् ।
एतयैवैकया बुद्धया दृश्यते दीपलेखया ॥ २९ ॥

यह चितिशक्ति चौदह भुवनों के भेद से चौदह प्रकार के भूतों के सङ्घों को अन्दर धारण करती है । अनु-भवात्मक जगत् की यह कल्पना भी इस चितिशक्ति को छोड़कर और कुछ भी नहीं है ॥ २४ ॥

सुख और दुःख की अवस्था का परिज्ञान केवल मिथ्या अवभास है और नाना प्रकार के आकारों से अवभासमान आत्मा सब कुछ परा चित् ही है ॥ २५ ॥

समस्त जगत् में अनुगत मेरी आत्मा यह चितिशक्ति है, मेरी बुद्धि की साक्षी यह चितिशक्ति द्रष्टा और दृश्य के भेद से काल्पनिक शरीर होकर 'मैं राजा हूँ' ऐसा भ्रम पैदा करती है अर्थात् ज्ञान दशा के पहले उसी ने 'मैं राजा हूँ' यह भ्रम पैदा किया था ॥ २६ ॥

इसी चितिशक्ति के प्रसाद से शरीररूपी रथ पर आरूढ़ मन अनेक तरह के संसारों की लीलाओं में जाता है, दौड़-धूप करता है और नृत्य करता है ॥ २७ ॥

ये मन, शरीर आदि वस्तुएँ वास्तव में कुछ भी नहीं हैं । तुच्छ मन आदि के नष्ट हो जाने पर इस आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ता है ॥ २८ ॥

चित्तरूपी नटों से निर्मित जगज्जालरूपी यह नाटक इसी एक साक्षीरूपी बुद्धि से, दीपक की शिखा की तरह देखा जाता है ॥ २९ ॥

दुःख की बात है कि निग्रह और अनुग्रह की स्थिति में मुझे व्यर्थ ही देहविषयिणी चिन्ता हुई, क्योंकि यहाँ परमार्थ दृष्टि से देह कुछ भी नहीं है ॥ ३० ॥

अहो ! अब तो मैं जाग गया हूँ, मेरा असत् ज्ञान अर्थात् अज्ञान नष्ट हो गया, द्रष्टव्य को समग्ररूप से मैंने

कष्टं मुधैव मे चिन्ता निग्रहानुग्रहस्थितौ ।
बभूव देहनिष्ठेह न किञ्चिदपि देहकम् ॥ ३० ॥
अहो त्वहं प्रबुद्धोऽस्मि गतं दुर्दर्शनं मम ।
दृष्टं द्रष्टव्यमखिलं प्राप्तं प्राप्यमिदं मया ॥ ३१ ॥
सर्वं किञ्चिदिदं दृश्यं दृश्यते यज्जगद्गतम् ।
चिन्निष्पन्दांशमात्रांशान्नान्यत्किञ्चन शाश्वतम् ॥ ३२ ॥
क्व तौ कीदृग्विधौ वाऽपि किन्निष्ठौ वा किमात्मकौ ।
निग्रहानुग्रहौ लोके हर्षामर्षक्रमौ तथा ॥ ३३ ॥
किं सुखं किं नु वा दुःखं सर्वं ब्रह्मेदमाततम् ।
अहमासं मुधा मूढो दिष्टयाऽमूढोऽस्म्यहं स्थितः ॥३४ ॥
किमस्मिन्नेवमालोके शोच्यते किं विमुह्यते ।
किं प्रेक्ष्यते किं क्रियते स्थीयते वाऽथ गम्यते ॥ ३५ ॥

देख लिया और प्राप्तव्य को भी प्राप्त कर लिया ॥ ३१ ॥

जगत् में यह जो कुछ दृश्य दिखाई देता है, वह चित् का निष्पन्द माया से जीवभाव के विभ्रम अंश है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—इन सत्रह अवयवों से युक्त लिङ्गशरीर का भ्रम इसकी मात्राएँ हैं, बाह्य और अन्तःकरण के अभेद का विभ्रम अंश है, जाग्रत् और स्वप्न के दृश्यों का विभ्रम, निष्कर्ष यह निकला कि माया से होने वाले चित् के जीव-भ्रम के अंशभूत सत्रह अवयवों वाले लिङ्गशरीर के मात्राभूत बाह्य और अन्तःकरण के अभेद विभ्रमों के अंश जाग्रत् और स्वप्नों के दृश्यों के विभ्रम से भिन्न दूसरा स्थायी अर्थात् जिसका तीनों कालों में बाध नहीं होता है ऐसा नहीं है ॥ ३२ ॥

लोक में निग्रह और अनुग्रह कहाँ हैं, किस तरह वे हैं, किसमें रहते हैं, उनका रूप क्या है, इसी तरह उनके हेतु हर्ष और अमर्ष की परम्परा भी कहाँ है अर्थात् सभी व्यर्थ मिथ्या ही हैं ॥ ३३ ॥

क्या सुख है ? क्या दुःख है ? काल्पनिक सुख और दुःख दोनों ही मिथ्या हैं । यह सब कुछ व्यापक ब्रह्म स्वरूप का ही विस्तार है पहले मैं व्यर्थ ही मूढ़ बन कर बैठा था, अब भाग्यवश अपने वास्तव स्वरूप में अवस्थित हो गया हूँ ॥ ३४ ॥

आनन्दैकरस पूर्णस्वभाव से अनुभव होने वाले ब्रह्म-रूप आलोक में क्या शोक है ? क्या मोह है ? क्या प्रेक्षण है ? क्या कार्य है ? क्या अवस्थान है और क्या गमन है ? अर्थात् शोक आदि की संभावना नहीं है ॥३५॥

किञ्चिदेवमिदं नाम चिदाकाशं विराजते ।
नमो नमस्ते निस्तत्त्व दिष्ट्या दृष्टोऽसि सुन्दर ! ॥३६॥
अहो नु संप्रबुद्धोऽस्मि सम्यग्ज्ञातमलं मया ।
नमो मह्यमनन्ताय सम्यग्ज्ञानोदयाय च ॥ ३७ ॥
विगतरञ्जननिर्विषयस्थिति-
र्गतभवभ्रमरञ्जितवर्जिते ।
स्थिरसुषुप्तकलाभिगतस्ततः
समसमं निवसाम्यहमात्मनि ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
सुरघुविश्रान्तिर्नाम एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

अलौकिक चमत्कार से परिपूर्ण यह चिदाकाश नाम की वस्तु सबका अतिक्रमण कर या सबसे परे अपना अस्तित्व रखती है। हे निरतिशयानन्दरूपी सौन्दर्य से परिपूर्ण, निःशेषतत्त्वरूप निर्गुण चिदाकाश ! आपको मेरा बार-बार नमस्कार हैं, प्रबल सौभाग्य से मैं आपको देख सका हूँ ॥ ३६ ॥

अहो ! निश्चित रूप से मैं प्रबुद्ध हो चुका हूँ, ज्ञातव्य को भली-भाँति पूर्णरूप से मैंने जान लिया है जिसका सम्यक्-ज्ञान होने पर आविर्भाव होता है सम्यक्-ज्ञानरूपी जो अभ्युदय है, उस अनन्त आत्मरूप तत्त्व को नमस्कार है ॥ ३७ ॥

राग, द्वेष आदि दोषों के निकल जाने के कारण मेरी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति रूपी तीनों अवस्थाएँ चली गई हैं तथा निश्चल सुषुप्ति कला से उपाधियों के हट जाने के कारण मैंने परब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त कर लिया है, इसलिए मैं संसार भ्रम से रहित आकाश आदि अध्यारोप रूपी राग से शून्य प्रत्यक्-ब्रह्म में परम अभेद से निवास करता हूँ, अब कभी मैं विषता को प्राप्त नही करूँगा ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में
सुरघुविश्रान्ति नामक कुसुमलता का उनसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५९ ॥

६०

वसिष्ठ उवाच

इति हेमजटाधीशो लेभे पदमनुत्तमम् ।
विवेकाध्यवसायेन ब्राह्मण्यमिव गाधिजः ॥ १ ॥
अनर्थाकारकार्यासु नाऽऽसीच्चेष्टासु खेदवान् ।
भूयो भूयः प्रयुक्तासु दिनमालास्विवेश्वरः ॥ २ ॥
ततः प्रभृति सोऽतिष्ठत् सर्वदा विगतज्वरः ।
समासमे स्वके कार्ये जलौघाग्र इवाऽचलः ॥ ३ ॥
हर्षामर्षविनिर्मुक्तः प्रत्यहं कार्यमाहरन् ।
उदारगम्भीरवपुर्जहाराऽम्बुनिधेः श्रियम् ॥ ४ ॥
सुषुप्तपदधर्मिण्या चित्तवृत्या व्यराजत ।
निष्कम्पया प्रकाशिन्या दीपः स्वशिखयेव सः ॥ ५ ॥

६०

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—हेमजट नामक भिल्लों के राजा सुरघु ने विवेक के वैसे ही निश्चयात्मक ज्ञान से परम पद का लाभ किया जैसे विश्वामित्र ने अपने तपोबल से ब्रह्मत्व प्राप्त किया था ॥ १ ॥

पुनः पुनः दिवस मालाओं के निर्माता भगवान् सूर्य की तरह वह राजा पुनः पुनः धर्म, अर्थ आदि की प्राप्ति की हेतुभूत क्रियाओं का अनुष्ठान करता था, उन क्रियात्मक चेष्टाओं से दुःखात्मक फलों के होने पर भी वह दुःखी नहीं होता था ॥ २ ॥

तब से वह राजा जैसे प्रबल प्रवाह के सामने नदी के मध्य में रहने वाला पर्वत अटल बना रहता है वैसे ही चिन्ताज्वर से मुक्त हो अपने राजोचित निग्रह और अनुग्रह रूपी कार्यों में अटल बना रहता था ॥ ३ ॥

हर्ष और विषाद से रहित होकर प्रतिदिन अपने आय व्यय आदि कार्यों को करते हुए उस उदार और गम्भीर आकृति वाले राजा ने मानों समुद्र की सुन्दरता चुरा ली अर्थात् समुद्र की तरह वह उदार और गम्भीर था ॥४॥

जैसे प्रकाशमयी कम्पनशून्य अपनी शिखा से दीपक अत्यन्त शोभित होता है, वैसे ही वह राजा सुषुप्ति के समान निश्चल प्रकाश-मयी चित्तवृत्ति से अत्यन्त शोभित होता था ॥ ५ ॥

न निर्घृणो दयावाद् नो न द्वन्द्वी नाऽथ मत्सरी ।
न सुधीर्नाऽसुधीर्नाऽर्थी नाऽनर्थी स बभूव ह ॥ ६ ॥
समदर्शनया नित्यं वृत्त्याऽचापलधीरया ।
अन्तःशीतलया रेजे परिपूर्णार्णवेन्दुवत् ॥ ७ ॥
सर्वं चित्तत्त्वकलनं जगदित्यवलोक्य सः ।
प्रशान्तसुखदुःखश्रीस्तस्य पूर्णा मतिर्बभौ ॥ ८ ॥
उल्लसन्विकसन्पूर्णस्तिष्ठन्गच्छन्विशन्स्वपन् ।
अभूत्समसमाधिस्थः प्रबुद्धश्चिल्लयं गतः ॥ ९ ॥
स कुर्वन्विगतासङ्गं राज्यं राजीवलोचनः ।
अतिष्ठदक्षताकारो भूरिवर्षशतान्यथ ॥ १० ॥
संविवेशमिमं देहनामकं तदनु स्वयम् ।
स जहौ तेजसाक्रान्तो रूपं हिमकणो यथा ॥ ११ ॥
विवेश परमाद्यन्तकारणं कारणेश्वरम् ।
प्रज्ञया सरितां वारिपरिपूर्णमिवाम्बुधिम् ॥ १२ ॥
अधिगतविमलैकरूपतेजा
विजनदशां समुपेत्य शान्तशोकः ।
अलमभवदसौ परस्वरूपं
घटखमिवाम्बरसंयुतं महात्मा ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
सुरघुवृत्तान्ते सुरघुनिर्वाणं नाम षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

वह न निर्दयी था, न दयालु था, न द्वन्द्वों से युक्त था, न मत्सर वाला था, न बुद्धिमान् था, न बुद्धि रहित था, न अर्थी था और न अनर्थी था ॥ ६ ॥

सदा समदृष्टि, चाञ्चल्यरहित धीर और अन्तःशीतलवृत्ति के द्वारा परिपूर्ण सागर और चन्द्रमा के समान शोभायमान हुए ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण जगत् को चित्त संकल्प के रूप में समझकर उनकी बुद्धि सुख-दुःख के भावों से सर्वथा परिशून्य होकर शोभायमान होने लगी ॥ ८ ॥

उल्लसित शरीर और विकसित चित्त होकर अवस्थान, गमन, शयन, जागरण सभी अवस्थाओं में समाधिस्थ के समान चैतन्य में विलीन होने लगा ॥ ९ ॥

उस कमलनयन सुरघु ने इस प्रकार अनासक्त भाव से राज्य करते हुए अक्षत शरीर-अविनश्वर देह अर्थात् किसी प्रकार के विकारों से शून्य शरीर होकर अनेक सौ व व्यतीत किये ॥ १० ॥

अनन्तर हिमकण जैसे सूर्य की किरणों के पड़ने प अपने स्वरूप का त्याग करता है अर्थात् विलीन हो जाता है। वैसे ही उसने स्वयं शरीर का त्याग किया ॥ ११ ॥

नदी का जल जैसे परिपूर्ण सागर में प्रवेश करता है उसमें मिल जाता है वैसे ही सृष्टि और प्रलय के समय जगत् के और ब्रह्मा आदि के कारण उस परब्रह्म में साक्षात्करात्मक वृत्ति से लीन हो गया ॥ १२ ॥

घट का विनाश होने पर घटाकाश जैसे महाकाश में विलीन हो जाता है, वैसे ही वह महात्मा सुरघु विमल आनन्दैक रस अवप्रकाश आत्मा में लीन होने से जन्म आदि विकारों से शून्य एवं शोकरहित होकर परब्रह्म स्वरूप हो गये ॥ १३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में सुरघुवृत्तान्त में सुरघुनिर्वाण नामक कुसुमलता का साठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६० ॥

६१

वसिष्ठ उवाच

एवमुत्पलपत्राक्ष ! राघवाघविपर्यये ।
पदमासादयाद्वन्द्वं विशोको भव भूतये ॥ १ ॥
सतां दृष्टिमवष्टभ्य न मनः परितप्यते ।
घोरे तमसि निर्मग्नं लब्धदीपं शिशुर्यथा ॥ २ ॥

६१

हे कमलनयन राघव ! तुम भी तत्त्वज्ञान के द्वारा शोक और हर्ष आदि के निमित्त कारण आपका विनाश कर अर्थात् समूल उच्छेद कर शोकरहित अद्वन्द्व पद को प्राप्त करो ॥ १ ॥

जैसे बालक घोर अन्धकार में पड़कर अतिशय भयभीत होता है और दीपक का प्रकाश प्राप्त कर भयशून्य हो जाता है वैसे ही घोर अज्ञानान्धकार में मग्न मन विषय से सन्तप्त होता है और बाद में तत्त्वज्ञान के द्वारा आत्मप्रकाश की प्राप्ति कर सन्तापरहित हो जाता है ॥ २ ॥

विवेकावस्थया चेतस्तथैवायाति निर्वृतिम् ।
पतच्छ्वभ्रे दृढतृणप्रचयालम्बनादिव ॥ ३ ॥
अथैतां पवनीं दृष्टिं भावयित्वाप्युदाहरन् ।
नित्यमेकसमाधानो भव भूषितभूतलः ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

कथमेक समाधानं कीदृशं वा मुनीश्वर ! ।
वाताहतमयूराङ्गरुहलोलं मनो भवेत् ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु तस्यैव सुरघोः प्रबुद्धस्य सतस्तदा ।
पर्णादस्य च राजर्षेः संवादमिममद्भुतम् ॥ ६ ॥
राघवैकसमाधानबोधितायोजितात्मनोः ।
परस्परं समालापमिमं प्रकथयामि ते ॥ ७ ॥
बभूव पारसीकानां पार्थिवः परवीरहा ।
परिघो नाम विख्यातः परिघः स्यन्दने यथा ॥ ८ ॥
स बभूव परं मित्रं सुरथो रघुनन्दन ! ।

मोहरूपी अन्धेरे कूप में गिरा हुआ मन इस सुरघु के समान ही विवेक की अवस्था को प्राप्त कर दृढ़ तृण समूह के द्वारा हाथ के सहारे की प्राप्ति के समान ही ारम शान्ति को प्राप्त करो ॥ ३ ॥

तुम इस पवित्र दृष्टि का अवलम्बन कर अर्थात् पुनः ुनः अनुशीलनकर और अन्य लोगों को भी इसका उपदेश ेकर सदा समाहित चित्त होकर भूतल को अलङ्कृत करो ॥ ४ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! मन तो वायु से आहत मोर के पंखों के समान अतिशय चञ्चल है उसकी एक समाधानता कैसे हो सकती है और एक समाधान क्या है ? —यह आप कहें ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—प्रबुद्ध अवस्था की प्राप्ति होने- र सुरघु और पर्णाद राजर्षि के अपूर्व संवाद को कहता , सुनें ॥ ६ ॥

हे राघव ! एकरूप समाधि के बल से प्रबुद्धात्मा ारघु और पर्णाद की परस्पर वार्ता को तुमसे कहता हूँ नो ॥ ७ ॥

पारसीक देश के रथ के परिघ अर्थात् चक्र के दण्ड के मान सभी का आश्रयदाता वीर शत्रुओं का नाशक रघ नाम का एक राजा था ॥ ८ ॥

नन्दनकाननवासी कन्दर्प का वसन्त ऋतु जैसे परम है वैसे ही वह परिघ सुरघु का परम मित्र था ॥९॥

किसी समय प्रजाओं के पापाचरण के कारण परिघ

नन्दनोद्यानसंस्थस्य मदनस्येव माधवः ॥ ९ ॥
कदाचित्परिघस्याभूदवर्षं मण्डले महत् ।
कल्पान्त इव संसारे प्रजादुष्कृतदोषजम् ॥ १० ॥
विनेशुर्जनतास्तत्र बह्व्यः क्षुत्क्षामजीविताः ।
ज्वलिते विपिने वह्नौ यथा भूतपरम्पराः ॥ ११ ॥
तद्दुःखं परिघो दृष्ट्वा विषादमतुलं ययौ ।
तत्याजाखिलं राज्यं दग्धं ग्राममिवाध्वगः ॥ १२ ॥
प्रजानाशप्रतीकारेष्वसमर्थो विरागवान् ।
जगाम विपिने कर्तुं तपोऽजिनमुनीन्द्रवत् ॥ १३ ॥
पौराणामपरिज्ञाते कस्मिंश्चिद्दूरकानने ।
समुवास विरक्तात्मा लोकान्तर इवापरे ॥ १४ ॥
तपश्चरञ्छान्तमतिर्दान्तिकन्दरमन्दिरे ।
स्वयं शीर्णानि शुष्काणि तत्र पर्णान्यभक्षयत् ॥ १५ ॥
चिरं हुताशवच्छुष्कपर्णान्येवाथ भक्षयन् ।
पर्णाद इति नामासौ प्राप मध्ये तपस्विनाम् ॥ १६ ॥

के राज्य में प्रलयकाल के समान भयङ्कर अनावृष्टि हुई ॥ १० ॥

अनावृष्टि से उसके प्रजागण भूख के कारण प्रज्वलित दावानल में पतङ्गों—कीड़ों के समान विनष्ट हो गये ॥ ११ ॥

प्रजाओं के इस विषम कष्ट को देखकर राजा अति- शय दुःखी हुआ अग्नि से जलते हुए गाँव को जैसे पथिक शीघ्र छोड़ देता है वैसे ही उसने भी दुःख से राज्य का शीघ्र ही परित्याग किया ॥ १२ ॥

प्रजाओं के विनाश को दूर करने में असमर्थ होकर परिघ ने वैराग्यपूर्वक मृग-चर्माम्बर परिधान कर महा तपस्वी के समान तप करने के लिए वन में चला गया ॥ १३ ॥

राज्य से विरक्त भाव सम्पन्न होकर नगरवासियों से सर्वथा अज्ञात राज्य से बहुत दूर जङ्गल में रहने लगा, ऐसा मालूम देता था कि दूसरे ही लोक में जाकर निवास कर रहा है ॥ १४ ॥

शमदमगुणों से समन्वित होकर वृक्ष से स्वयं गिरे हुए सूखे पत्तों को खाकर वहाँ एक कन्दरा गृह में तपस्या करने लगा ॥ १५ ॥

जैसे अग्निदेव शुष्क पत्तों का भोजन करते हैं, वैसे ही वह सूखे पत्तों का ही सेवन करता था, अतः तपस्वियों के मध्य में उसकी 'पर्णाद' नाम से प्रसिद्धि हो गई ॥१६॥

ततःप्रभृति पर्णादनामा राजर्षिसत्तमः ।
जम्बूद्वीपे बभूवासौ विख्यातो मुनिसद्मसु ॥ १७ ॥
ततो वर्षसहस्रेण तपसा दारुणात्मना ।
प्रापदभ्यासवशतो ज्ञानमात्मप्रसादजम् ॥ १८ ॥
बभूव विगतद्वन्द्वो निराशः शान्तमानसः ।
नीरागो निरनुक्रोशो जीवन्मुक्तः प्रबुद्धधीः ॥ १९ ॥
विजहार यथाकामं त्रिलोकीमठिकामिमाम् ।
सिद्धसाध्यैः समं साधो ! सहंसालिरिवाब्जिनीम् ॥२०॥
एकदा तस्य सदनं हेमचूडमहीपतेः ।
प्राप रत्नविनिर्माणं मेरोः शृङ्गमिवापरम् ॥ २१ ॥
ते तत्र प्राक्तने मित्रे पूजामकुरुतां मिथः ।
पूर्णौ विज्ञातविज्ञेयौ मौर्ख्यगर्भाद्विनिर्गतौ ॥ २२ ॥
अहो नु वत कल्याणैः फलितं मम पावनैः ।

उस समय से जम्बूद्वीप में निवास करने वाले मुनियों के समाज में पर्णाद नाम के राजर्षि श्रेष्ठ के रूप में विख्यात हुए ॥ १७ ॥

अनन्तर परिघ ने सहस्र वर्षों तक घोर तपस्या के द्वारा अभ्यास के बल से आत्मप्रसाद से अर्थात् चित्त शुद्धि और ईश्वर के अनुग्रह से उत्पन्न तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की ॥ १८ ॥

उस दिन से वह शीत और उष्ण आदि द्वन्द्वों के अनुभव से रहित, आशा शून्य शान्तचित्त, विषयों के प्रति अनुराग रहित, निरनुक्रोश अर्थात् निन्दा प्रशंसा सुख दुःखादि से शून्य प्रबुद्धमति जीवन्मुक्त हो गये ॥ १९ ॥

हे साधो ! हंसों के सान्निध्य समन्वित पद्मिनी के ऊपर जैसे भ्रमर समूह भ्रमण करते हैं वैसे ही सिद्ध और साध्यों के बीच में इस त्रिलोकी रूपी मठिका में वह भ्रमण करने लगा ॥ २० ॥

भ्रमण करते-करते एक समय हेमजटा अर्थात् स्वर्णचूड नाम के देश के राजा उस सुरघु के रत्न जालमयी द्वितीय सुमेरु शिखर के समान मनोहारिणी राजधानी में आया ॥ २१ ॥

प्राचीन बन्धुता के सूत्र में आबद्ध जानने योग्य सभी विषयों के ज्ञाता, मूर्खता के आधारभूत संसार से जीवन्मुक्त वे परिघ और सुरघु जिनकी बहुत दिनों के बाद भेट हुई थी, परस्पर आदर और पूजा करने लगे ॥ २२ ॥

वे दोनों एक दूसरे को लक्ष्य कर कहने लगे कि "अहो ! आज मेरे पुण्यकार्य का फल मिला है कि आज मैंने तुमको प्राप्त किया है ॥ २३ ॥

संप्राप्तवानहं यत्त्वामित्यन्योऽन्यमथोचतुः ॥ २३ ॥
आलिङ्गितशरीरौ तावन्योऽन्यानन्दिताकृती ।
एकासने विविशतुश्चन्द्रार्काविव भूधरे ॥ २४ ॥

परिघ उवाच

परमानन्दमायातं चेतस्त्वद्दर्शनेन मे ।
इन्दुबिम्ब इवोन्मग्नं मनः शीतलतां गतम् ॥ २५ ॥
अकृत्रिमसुखं प्रेम वियोगो शतशाखताम् ।
प्रयाति पल्वलतटेऽच्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ २६ ॥
विश्रब्धास्तान्कथालापांस्ता लीला तच्च चेष्टितम् ।
संस्मृत्य प्राक्तनं साधो ! हृष्यामि च पुनः पुनः ॥२७॥
ज्ञानमेतन्मया प्राप्तं त्वया ज्ञातं यथाऽनघ ! ।
माण्डव्यस्य प्रसादेन परमात्मप्रसादजम् ॥ २८ ॥
अद्य कच्चिददुःखस्त्वं कच्चिद्विश्रान्तवानसि ।
परमे कारणे मेराविव भूमण्डलाधिपः ॥ २९ ॥

अतिशय आनन्दित होकर परस्पर आलिङ्गन कर वे दोनों पृथ्वी पर चन्द्र और सूर्य के समान एक आसन पर बैठे ॥ २४ ॥

परिघ ने कहा—आज तुम्हारा दर्शन प्राप्त कर मेरा अन्तःकरण वैसे ही आनन्दित और सन्तापरहित हो गया है जैसे चन्द्रबिम्ब में अर्थात् शीतांशुकिरणों में निमग्न मन आनन्दित और सुशीतल हो जाता है। प्रकृत में "चेतो" और 'मन' इनके प्रयोग का यह आशय है कि चिति शक्ति की प्रधानता में आनन्दाविर्भाव और मननशक्ति की प्रधानता में ताप के उपशमन की प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

जैसे पल्वल प्रान्त में अर्थात् सामान्य जल से सिक्त स्थान में जिसकी जड़ कटी नहीं है ऐसा वृक्ष शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार से बढ़ने लगता है वैसे ही विरहावस्था में भी अकृत्रिम प्रेम बढ़ता ही है अर्थात् हम लोगों की वियुक्त स्थिति में भी कम नहीं हुआ है, वरन् बढा ही है ॥ २६ ॥

हे साधो ! तुम्हारा पहले के विश्वस्त आलाप, लीलाएँ और अन्य चेष्टाओं का पुनः पुनः स्मरण कर मुझे प्रसन्नता हो रही है ॥ २७ ॥

हे निष्पाप ! जैसे तुमने माण्डव्य मुनि के अनुग्रह से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की थी, वैसे ही मैंने परमात्मा के अनुग्रह से यह ज्ञान प्राप्त किया है ॥ २८ ॥

आज तुम दुःखरहित हो तो ? भूमण्डल के अधिपति सूर्य जैसे सुमेरु पर्वत पर विश्राम करते हैं वैसे ही तुम भी परमकारण परब्रह्म में विश्राम प्राप्त करते हो तो। अर्थात् परम कारण स्वरूप विवर्त और उपादान कारणों से उप-

कच्चित्परमकल्याण आत्मारामतया तव ।
प्रसादो जायते चित्ते शरदीव सरोऽम्भसि ॥ ३० ॥
कच्चित्करोषि समया सुप्रसन्नगभीरया ।
दृष्ट्या सुभग कार्याणि कार्याण्येव नराधिप ! ॥ ३१ ॥
निराधिव्याधयो धीराः कच्चित्सम्पन्नशालयः ।
जनतास्तव देशेषु तिष्ठन्ति विगतज्वरम् ॥ ३२ ॥
कच्चिदुद्दामफलिनी फलिनीव फलानता ।
धरा नव फलापूरैर्भृशं धारयति प्रजाः ॥ ३३ ॥
कच्चित्तव दिगन्तेषु चन्द्रस्येवांऽशुपञ्जरम् ।
तुषारनिकराकारं प्रसृतं पावनं यशः ॥ ३४ ॥
कच्चिद्गुणगणैरेता दिशो निर्विवरीकृताः ।
त्वया सरोम्भसाऽबाह्या बिसानामिव भूमयः ॥ ३५ ॥
कच्चित्कलमकेदारकोणस्थानेषु हृष्यतीः ।

लक्षित ब्रह्म में उत्तरोत्तर भूमिका के परिपाक सविश्रान्ति की प्राप्ति कर रहे हो ॥ २९ ॥

शरत्काल में सरोवर का जल जैसे प्रसन्न=स्वच्छ होता है, वैसे ही आत्माराम होने से परमकल्याण भाजन तुम्हारा चित्त इस समय प्रसन्न अर्थात् रजोगुण और तमोगुण से अनावृत हो गया है तो ? ॥ ३० ॥

हे नराधिप ! हे सौभाग्यशालिन् ! प्रसन्न और सर्वत्र समभावापन्न अनन्त दृष्टि अर्थात् असीम अपरिच्छिन्न दृष्टि का अवलम्बन कर अवश्यकर्तव्य कर्मों को सम्पन्न करते हैं तो ? ॥ ३१ ॥

तुम्हारे प्रजा वर्ग आधि-व्याधि से निर्मुक्त, धन-धान्यादि सम्पन्न और विगत ज्वर=क्लेशशून्य होकर धीर भाव से रहते हैं तो ? ॥ ३२ ॥

तुम्हारे अधिकारस्थ पृथिवी धान्य आदि फलों से परिपूर्ण होकर फल के भार से अवनत कल्पलता के समान यथा समय अभीष्ट फल देकर तुम्हारी प्रजाओं को अच्छी तरह से धारण और पोषण करती है तो ? अर्थात् उत्कृष्ट धान्य आदि फलों से सम्पन्न फलवती कल्पना के समान प्रजाओं के अभिलषित फलों की पूर्ति के द्वारा पालन-पोषण करती है तो ॥ ३३ ॥

चन्द्रमा की अनेक किरणों की तरह समस्त दिशाओं में तुषार के समूह के समान क्या आपका पवित्र यश फैला है ? ॥ ३४ ॥

क्या आपने अपने प्रशस्त गुण-गणों से वैसे ही दिशाएँ भर दी हैं ? जैसे तालाब का जल अपने अन्दर रहने वाली कमल के नाल की भूमि को भर देता

प्रतिग्रामं कुमार्यस्ते गायन्त्यानन्दनं यशः ॥ ३६ ॥
कुशलं तव धान्येषु धनेषु विभवेषु च ।
भृत्येषु च कलत्रेषु पुत्रेषु नगरेषु च ॥ ३७ ॥
आधिव्याधिविहीनेयं कच्चित्कायलता तव ।
फलं फलति पुण्याख्यं यदिहाऽमुत्र चोदितम् ॥ ३८ ॥
आपातरमणीयेषु वर्तेताऽत्यन्तवैरिषु ।
कच्चिद्विषयसर्पेषु सविरागं मनस्तव ॥ ३९ ॥
अहो बत चिरं कालमावां विश्लेषमागतौ ।
कालेन श्लेषितौ भूयो वसन्ताद्रितटाविव ॥ ४० ॥
न ता जगति विद्यन्ते सुखदुःखदशा सखे ! ।
जीवद्भिर्या न दृश्यन्ते संयोगजवियोगजाः ॥ ४१ ॥
तथैतास्वतिदीर्घासु दशास्वन्यत्वमागताः ।
भूयो वयमपि श्लिष्टाश्चित्रो हि नियतेर्विधिः ॥ ४२ ॥

है ॥ ३५ ॥

क्या धान की क्यारियों के कोनों में अवस्थित अति प्रसन्न कुमारियाँ प्रत्येक गाँव में आपके आनन्दवर्धक यशोगान कर रहीं हैं ॥ ३६ ॥

धान्य, धन, विभव, सेवक, स्त्रीजन, पुत्र-परिवार और नगर आदि सर्वत्र स्थानों में कुशल तो है न ? ॥३७॥

शारीरिक और मानसिक पीडाओं से रहित यह आपकी देहरूपी लता ऐहिक फल के साधनरूप से विहित कारीरी आदि और पारलौकिक फल के साधनरूप से विहित ज्योतिष्टोम आदि क्रियाओं से होनेवाले पुण्यरूपी फल उत्पन्न तो करती है न ? ॥ ३८ ॥

ऊपर से रमणीय दिखाई देनेवाले, पर वास्तविक में आत्मतत्त्वज्ञान में भारी प्रतिबन्धक होने के कारण महान् वैरी इन विषयरूपी सर्पों में आपका अन्तःकरण वैराग्य तो धारण करता है ? ॥ ३९ ॥

अहो हम दोनों को अर्थात् परिघ और सुरघु को एक दूसरे से अलग हुए बहुत काल व्यतीत हो गये परन्तु वसन्त ऋतु और पर्वत तट की तरह समय प्राप्त होने पर फिर मिल गये ॥ ४० ॥

इस जगत् में देहधारी प्राणियों के द्वारा अनुभूत न होती हों ऐसी इष्ट और अनिष्ट जनों के संयोग एवं वियोग से होनेवाली वे सुख और दुःख की अवस्थाएँ नहीं है ॥ ४१ ॥

इसी तरह हम लोग इन अत्यन्त दीर्घकालिक सुख और दुःख की अवस्थाओं में चिरकाल तक वियोगी थे, फिर भी इस समय हम लोग एक दूसरे से मिल गये हैं,

सुरघुरुवाच

भगवन् ! नियतेरस्या गतिं सर्पगतेरिव ।
दैविक्याः को हि जानाति गम्भीरां विस्मयप्रदाम् ॥४३॥
त्वमहं च व्यपोह्येति दूरे दूरदशासु च ।
अद्य सङ्घटितौ भूयः किमसाध्यमहो विधेः ॥ ४४ ॥
वयं त्वद्य महासत्व भृशं कुशलिनः स्थिताः ।
त्वदागमनपुण्येन परां पावनतां गताः ॥ ४५ ॥
पश्य त्वदागमक्षीणपापानां पुण्यपादपैः ।
तथा फलितमस्माकं न यथा वयमाकुलाः ॥ ४६ ॥
सर्वाः सम्पत्तयोऽस्माकं राजर्षे संस्थिताः पुरे ।
भवदागमनेनाद्य प्रयाताः शतशाखताम् ॥ ४७ ॥
विकिरति परितो रसायनाना-
मिव निकरं मधुरं महानुभाव ।
तव वचनमवेक्षणं च पुण्यं
परमपदप्रतिमो हि साधुसङ्गः ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सुरघुपरिघसमागमो नामैकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

क्योंकि प्राणियों के कर्मों के अनुसार होनेवाली भगवदिच्छा का विलास अद्भुत है ॥ ४२ ॥

सुरघु ने कहा—हे भगवन् ! भगवान् की इच्छीरूपी इस नियति की सर्प-गति के समान गम्भीर और विस्मय-कारक गति को कौन जानता है ? ॥ ४३ ॥

विधि ने इस प्रकार आप और हम दोनों को देशतः अत्यन्त दूर तथा कालतः भी अधिक समय तक अलग रख कर आज फिर संघटित किया है। अहो ! विधि के लिए क्या असाध्य है ? ॥ ४४ ॥

हे महासत्त्व ! आज तो हम लोग अत्यन्त सुखी होकर स्थित हैं, आपके आगमनरूपी पुण्य से हम अत्यन्त पवित्र हो गये हैं ॥ ४५ ॥

आपके आगमन से क्षीणपाप हम लोगों के पुण्यरूपी वृक्षों ने वह चित्तसमाधानरूपी फल दिया, जिससे कि हम लोग सम्पूर्ण व्याकुलताओं से विमुक्त होकर कृतकृत्य हो गये ॥ ४६ ॥

हे राजर्षे ! नगर में अवस्थित हम लोगों की सम्पूर्ण सम्पत्तियाँ आज आपके शुभागमन से चारों ओर फलोन्मुख हो गईं है ॥ ४७ ॥

आपकी पुण्य वाणी और दर्शन चारों ओर से मानो अमृतों की मधुर राशि बरसा रहे हैं, क्योंकि सज्जन पुरुषों का समागम मोक्ष सुख की प्राप्ति के समान होता है ॥ ४८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में सुरघुपरिघसमागम नामक कुसुमलता का एकसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६१ ॥

६२

वसिष्ठ उवाच

अथैवंप्रायया तत्र विश्रम्भकथया चिरम् ।
प्राक्तनस्नेहगर्भिण्या स्थित्वोवाचाऽऽयुधाभिधः ॥ १ ॥

परिघ उवाच

यद्यत्संसारजालेऽस्मिन् क्रियते कर्म भूमिप ! ।
तत्समाहितचित्तस्य सुखायाऽन्यस्य नाऽनघ ! ॥ २ ॥
कच्चित्सङ्कल्परहितं परं विश्रमणास्पदम् ।
परमोपशमं श्रेयः समाधिमनुतिष्ठसि ॥ ३ ॥

६२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर चिरकाल तक उस तरह की प्राक्तन प्रेम ने ओतप्रोप विश्वस्त कथालापों से सुरघु के सुन्दर सदन में विश्रान्ति लेकर शस्त्रविशेष के नाम के समान नाम वाले राजा परिघ, कहने लगे ॥ १ ॥

परिघ ने कहा—हे भूमिपाल ! इस संसाररूपी जाल में रहकर जो कर्म किये जाते हैं, वे समाहित चित्तवाले ज्ञानी के लिए सुखकारक होने पर भी उससे भिन्न अज्ञानी के लिए सुखकारक नहीं हैं ॥ २ ॥

हे भगवन् ! समग्र संकल्पों से रहित विश्रान्ति के सबसे उत्तम स्थानरूप, विक्षेपात्मक दुःखों के उपशम के परम साधन तथा सांसारिक सुखों की अपेक्षा अधिक प्रशस्त समाधि का क्या आप अनुष्ठान करते हैं ? ॥ ३ ॥

सुरघुरुवाच

एतन्मे ब्रूहि भगवन् ! सर्वसङ्कल्पवर्जितम् ।
परमोपशमं श्रेयः समाधिर्हि किमुच्यते ॥ ४ ॥
यो ज्ञो महात्मन् ! सततं तिष्ठन् व्यवहरंश्च वा ।
असमाहितचित्तोऽसौ कदा भवति कः किल ॥ ५ ॥
नित्यं प्रबुद्धचित्तास्तु कुर्वन्तोऽपि जगत्क्रियाः ।
आत्मैकतत्त्वसन्निष्ठाः सदैव सुसमाधयः ॥ ६ ॥
बद्धपद्मासनस्याऽपि कृतब्रह्माञ्जलेरपि ।
अविश्रान्तस्वभावस्य कः समाधिः कथं च वा ॥ ७ ॥
तत्त्वावबोधो भगवन् ! सर्वाशातृणपावकः ।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः ॥ ८ ॥
समाहिता नित्यतृप्ता यथाभूतार्थदर्शिनी ।
साधो ! समाधिशब्देन परा प्रज्ञोच्यते बुधैः ॥ ९ ॥
अक्षुब्धा निरहङ्कारा द्वन्द्वेष्वननुपातिनी ।
प्रोक्ता समाधिशब्देन मेरोः स्थिरतराकृतिः ॥ १० ॥
निश्चिन्ताऽधिगताभीष्टा हेयोपादेयवर्जिता ।
प्रोक्ता समाधिशब्देन परिपूर्णा मनोगतिः ॥ ११ ॥
यतः प्रभृति बोधेन युक्तमात्यन्तिकं मनः ।
तदारभ्य समाधानमव्युच्छिन्नं महात्मनः ॥ १२ ॥
न हि प्रबुद्धमनसो भूत्वा विच्छिद्यते पुनः ।
समाधिर्दूरमाकृष्टो बिसतन्तुः शिशोरिव ॥ १३ ॥
समग्रं दिनमालोकाद् विरमत्यक्षयो यथा ।
आजीवितान्तं नो प्रज्ञा तथा तत्त्वावलोकनात् ॥ १४ ॥

सुरघु ने कहा—

हे भगवन् ! युक्त होने के कारण आप मुझसे यह कहिये कि सम्पूर्ण संकल्पों से रहित निरतिशय उपशमरूप सांसारिक सुखों की अपेक्षा प्रशस्त होने पर भी यह आप मुझसे क्यों कहते हैं कि समाधि का अनुष्ठान करना चाहिए ॥ ४ ॥

हे महात्मन् ! तत्वज्ञ पुरुष चुप-चाप ही सदा बैठा रहे चाहे व्यवहार करे उसका समाहित-चित्तता को छोड़ कर और क्या स्वरूप हो सकता है ? यह सर्वदा अनावृत-चित्स्वभाव होने के कारण कभी भी वह असमाहित चित्त-वाला नहीं हो सकता है ॥ ५ ॥

प्रबुद्ध चित्ततत्त्वज्ञ मुनि सदा सर्वदा जगत् के व्यव-हार को करते हुए भी आत्मारूपी अद्वितीय तत्त्व में परम निष्ठावाले होने के कारण सदा समाधिसम्पन्न ही रहते हैं ॥ ६ ॥

अन्तःकरण परमशान्तिरूपी विशुद्धि को अप्राप्त पुरुष पद्मासन लगावे चाहे परब्रह्म को हाथ जोड़े उसको किसी भी उपाय से किसी तरह की समाधि नहीं लग सकती है, चित्त को लगाने के तत्त्व को वह जानता ही नहीं है ॥७॥

हे भगवन् ! चुपचाप बैठे रहना समाधि नहीं है वरन् समस्त आशारूपी तृणों के लिए अग्निरूप आत्मतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार ही समाधि है, क्योंकि 'सम्यक् आधा-नम् समाधिः' अर्थात् सम्यक् यानी समस्त अभिलषित विषयों के समूल बाध से परमार्थिक स्वरूप में चित्त का जो आधान वह समाधि है ॥ ८ ॥

हे साधो ! समाधिशब्द से एकाग्र, सदा सर्वदा तृप्त, सत्य अर्थ का ग्रहण करने वाली परा प्रज्ञा अर्थात् अबा-धित आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कारात्मक ज्ञान अर्थात् अर्थ कहते हैं ॥ ९ ॥

क्षोभ से शून्य, अहङ्कार से रहित, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के अनुपतन से रहित और सुमेरु से भी अधिक स्थिर आकार वाली प्रज्ञा समाधिशब्द से कही जाती है ॥ १० ॥

निश्चिन्त अभीष्ट पदार्थ से समन्वित हेय और उपा-देय से शून्य तथा परिपूर्ण मानसिक वृत्ति समाधिशब्द से कही गई ॥ ११ ॥

जिस समय से मन तत्त्यज्ञान के साथ सर्वदा के लिए सम्बद्ध हो जाता है, उस समय से लेकर महात्मा विद्वान् की समाधि सतत बनी ही रहती है, उसका कदापि विच्छेद नहीं होता है ॥ १२ ॥

प्रबुद्ध अन्तःकरणवाले ज्ञानी की समाधि लग कर पुनः वैसे ही टूट जाती है जैसे क्रीडा कर रहे बालक के हाथ से दूर खींचा गया कमल का तन्तु टूट जाता है ॥ १३ ॥

तत्त्वज्ञानी की प्रज्ञा विदेह मुक्ति पर्यन्त तत्त्व के अवलोकन से जैसे ही विराम नहीं करती, अपितु दृढ़ संस्कार के कारण सदा सर्वदा अनुवर्तन करती ही है जैसे सूर्य सारे दिन प्रकाश से विराम नहीं करता, प्रकाश-पूर्ण ही रहता है ॥ १४ ॥

आत्मस्वरूप को आवृत करने वाले अज्ञान का एक बार उदित हुई ब्रह्माकार वृत्ति से समूल नाश हो जाता है या तो फिर वह आवरण करने की शक्ति ही नहीं रखता, इसलिए तत्त्ववेत्ता को स्वरूपावरण रूप समाधि-भङ्ग का प्रसङ्ग ही नहीं है, इस आशय से कहते हैं— 'अजस्र०' इत्यादि से ।

अजस्रमम्बुवहनाद्यथा नद्या न रुद्धयते ।
तथा विज्ञानदृग्बोधात् क्षणमात्रं न रुद्धयते ॥ १५ ॥
न विस्मरत्यविरतं यथा कालः कलागतिम् ।
न विस्मरत्यविरतं स्वात्मानं प्राज्ञधीस्तथा ॥ १६ ॥
न विस्मरति सर्वत्र यथा सततगो गतिम् ।
न विस्मरति निश्चेयं चिन्मात्रं प्राज्ञधीस्तथा ॥ १७ ॥
गतिं कालकला यद्वच्चिन्वाना समवस्थिता ।
चिच्चितिश्चेत्यरहिता चिन्वाना गतयस्तथा ॥ १८ ॥
यथा सात्ताविहीनात्मा पदार्थो नोपलभ्यते ।
तथाऽऽत्मज्ञानहीनात्मा कालो ज्ञस्य न लभ्यते ॥ १९ ॥
न सम्भवति संसारे गुणहीनो गुणी यथा ।
न सम्भवत्यात्मसंविद्वर्जितो ह्यात्मवांस्तथा ॥ २० ॥
सर्वदैवाऽस्मि संबुद्धः सर्वदैवाऽस्मि निर्मलः ।
सर्वदैवाऽस्मि शान्तात्मा सर्वदाऽस्मि समाहितः ॥ २१ ॥
भेदः केन समाधेर्मे जन्यते कथमेव वा ।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण नित्यमेव सदात्मता ॥ २२ ॥
तस्मात् कदाचिदपि मे नाऽसमाधिमयं मनः ।
न वा समाहितं नित्यमात्मतत्त्वैकसम्भवात् ॥ २३ ॥
सर्वगः सर्वदैवाऽऽत्मा सर्वमेव च सर्वथा ।
असमाधिर्हि कोऽसौ स्यात्समाधिरपि कः स्मृतः ॥ २४ ॥
नित्यं समाहितधियः सुसमा महान्त-
स्तिष्ठन्ति कार्यपरिणामविभागमुक्ताः ।
तेनाऽसमाहितसमाहितभेदभङ्ग्या
मिथ्योदितः क्व नु स उत्तम वाक्प्रपञ्चः ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे समाधिनिश्चयो नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥६२ ॥

तत्त्ववित् की आत्मतत्त्वसाक्षात्कारात्मक दृष्टि स्वरूप ज्ञान से क्षणमात्र भी वैसे ही नहीं रुक सकती है अर्थात् तत्त्वज्ञ का साक्षात्कारात्मक बोध किसी आवरण से आवृत नहीं होता है जैसे नदी निरन्तर जल के प्रवाह से क्षण-मात्र भी नहीं रुक सकती है ॥ १५ ॥

जैसे काल अपनी कलाओं की गति को कभी भी विस्मृत नहीं होता, वैसे ही तत्त्ववित् पुरुष की बुद्धि अपने आत्मस्वरूप का कभी भी विस्मरण नहीं करती है ॥१६॥

तत्त्ववित् ज्ञानी की प्रज्ञा निश्चय करने योग्य चिति-मात्र का वैसे ही कभी विस्मरण नहीं करती है जैसे सर्वत्र सदा गमन स्वभाव वायु अपनी गति का विस्मरण नहीं करता है ॥ १७ ॥

विषयों से विनिर्मुक्त अनावृत चैतन्यस्फूर्ति भी वैसे ही अपनी गतियों को अर्थात् स्वाकारवृत्तियों को बटोरती हुई निरन्तर आत्माकार-वृत्तियों से सम्पन्न होती हुई ही रहती है। जैसे काल के मूर्ति रूप सूर्य आदि निरन्तर गतिसम्पन्न होते हुए ही सदा स्थित रहते हैं ॥ १८ ॥

तत्त्वज्ञानी का समय आत्मज्ञान से विहीन होकर वैसे ही कभी भी उपलब्ध नहीं होता है जैसे घट आदि पदार्थ सत्ता से (अस्तित्व से) विहीन होकर कभी-भी उपलब्ध नहीं होते ॥ १९ ॥

आत्मा की पहचान कर चुकने वाला आत्मवान् ज्ञानी वैसे ही कभी-भी आत्मज्ञान से विहीन नहीं रहता है जैसे संसार में उष्णत्व आदि स्वाभाविक गुणों से युक्त अग्नि आदि गुणवान् पदार्थ कभी-भी उक्त गुणों से विहीन नहीं रहते है ॥ २० ॥

मैं सदा-सर्वदा ही आत्मज्ञान से सम्पन्न हूँ, सदा-सर्वदा ही निर्मल-स्वभाव हूँ, सदा-सर्वदा ही शान्तामा हूँ और सदा-सर्वदा ही समाधियुक्त हूँ ॥ २१ ॥

मेरा समाधि से विच्छेद किससे और कैसे हो सकता है ? क्योंकि मेरी समाधि आत्मस्वरूप से भिन्न नहीं है, अतः उसका अस्तित्व सदा-सर्वदा बना हुआ ही है ॥२२॥

इसलिए यदि मेरा मन है, तो वह किसी भी समय समाधि से वर्जित नहीं है और यदि नहीं है, तो मन किसी भी समय समाधि से युक्त नहीं है, आशय यह है कि समाधि करने की आवश्यकता ही मुझे नहीं रहती, क्योंकि विक्षेपकारण के न रहने से अद्वितीय आत्मतत्त्व की एक-रूपता का ही सर्वदा संभव है ॥ २३ ॥

यह दिखाई देने वाला सभी कुछ सदा सब प्रकार से सर्वव्यापक आत्मस्वरूप ही है, इसलिए यह समाधि क्या होगी और असमाधि भी क्या कही जायगी ? ॥ २४ ॥

बुद्धि से भेद का विघटन हो जाने पर जो कार्यों के परिणामों से सुख-दुःख आदि विकारों से होने वाली भेद-भावनाओं से विनिर्मुक्त हो चुके हैं, ऐसे बड़े-बड़े तत्त्ववित् सदा सर्वदा एक ही स्वरूप से समदृष्टि होकर अवस्थित रहते हैं, इसलिए समाहित और असमाहित के भेद को मान कर प्रवृत्त हुआ आपका वह वाणी का प्रपञ्च किस अर्थ का बोधक होगा ? ऐसी स्थिति में वाग्विलास मिथ्या ही है।॥२५॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में समाधिनिश्चय नामक कुसुमलता का बासठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६२ ॥

६३

परिघ उवाच

राजन्नूनं प्रबुद्धोऽसि प्राप्तवानसि तत्पदम् ।
संशीतलान्तःकरणः पूर्णेन्दुरिव राजसे ॥ १ ॥
आनन्दमधुसम्पूर्णलक्ष्म्या च परया श्रितः ।
शीतलः स्निग्धमधुरो राजीवमिव राजसे ॥ २ ॥
निर्मलो विततः पूर्णो गम्भीरः प्रकटाशयः ।
वेलानिलविलासेन मुक्तोऽब्धिरिव राजसे ॥ ३ ॥
स्वच्छ आनन्दसम्पूर्णो नष्टाहङ्कारवारिदः ।
स्फुटो विस्तीर्णगम्भीरः शरत्खमिव राजसे ॥ ४ ॥
सर्वत्र लक्ष्यसे स्वस्थः सर्वत्र परितुष्यसि ।
सर्वत्र वीतरागोऽसि राजन् ! सर्वत्र राजसे ॥ ५ ॥
सारासारपरिच्छेदपारगस्त्वं महाधिया ।
जानासि सर्वमेवेदं यथास्थितमखण्डितम् ॥ ६ ॥
भावाभावपरिच्छेदतत्त्वज्ञ ! मुदिताशयम् ।
गमागमदशालौल्यमुक्तं तव वपुः स्थितम् ॥ ७ ॥
वस्तुना वस्तुनैवाऽन्तरमृतेनेव सागरः ।
अपुनःप्रक्षयायैव परे तृप्तोऽसि सुन्दर ! ॥ ८ ॥

सुरघुरुवाच

न तदस्ति मुने ! वस्तु यत्रोपादेयताऽस्ति नः ।
यावत्किञ्चिदिदं दृश्यं तावदेतन्न किञ्चन ॥ ९ ॥
उपादेयस्य चाऽभावाद्धेयमप्यस्ति किं किल ।
प्रतियोगि व्यवच्छेद्यं विना हेयं किमुच्यते ॥ १० ॥
तुच्छत्वात् सर्वभावानामतुच्छत्वाच्च कालतः ।
चिरं मम परिक्षीणे तुच्छातुच्छे मनःस्थिती ॥ ११ ॥

६३

परिघने कहा—निश्चित रूप से आप तत्त्वज्ञ हैं और उस उत्तम परम पद भी प्राप्त कर चुके हैं । सम्यक् शीतल अन्तःकरण से युक्त होने के कारण आप शीतलात्मा परिपूर्ण चन्द्रमा के समान प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १ ॥

स्नेह के कारण अत्यन्त मधुर, सुशीतल, आनन्द रूपी पुष्प रस से परिपूर्ण उत्तम श्री से सम्पन्न आप कमल के समान शोभायमान हैं ॥ २ ॥

निर्मल विस्पष्ट रूप से दिखाई देने वाले अन्तःकरण से समुद्र-पक्ष में अन्तःप्रदेश से–युक्त, गम्भीर, पूर्ण व्यापक स्वरूप तथा संसार रूपी वायु के झकोरों से निर्मुक्त आप वैसे ही सुशोभित हो रहे हैं । जैसे तट के झंझावात के झकोरों से निर्मुक्त तथा निर्मलता आदि गुणों से युक्त विस्तृत समुद्र शोभित होती है ।। ३ ॥

स्वच्छ, आनन्द से परिपूर्ण, अहंकार रूपी काले बादलों से रहित, विस्पष्ट, विस्तीर्ण और अतिगम्भीर होने के कारण आप जैसे शरत् काल के आकाश के समान सुशोभित हो रहे हैं ॥ ४ ॥

सभी इष्ट और अनिष्ट विषयों में आप समान दिखाई देते हैं, सभी विषयों में आप सन्तुष्ट रहते हैं, सभी विषयों की आसिक्त से रहित हैं, इसलिए सुशोभित हो रहे हैं ॥ ५ ॥

अपनी उत्तम बुद्धि से क्या सार है एवं क्या असार है, इसका आप ने विचारपूर्वक निर्णय किया है और उसके पारङ्गत हो गये हैं एवं यह भी जानते हैं कि यह दृश्यमान समस्त प्रपञ्च एक रूप से अवस्थित अखण्डित परब्रह्म स्वरूप ही है ॥ ६ ॥

सत् और असत् के निर्णय के तत्त्वों के ज्ञाता, प्रसन्न चित्त से समन्वित तथा संसार में आवागमन की हेतु भोगासक्ति से अभिलाषा से होने वाली शून्य आप का शरीर अवस्थित है ॥ ७ ॥

जिसकी अपेक्षा संसार में दूसरी परमार्थ बस्तु है ही नहीं ऐसा स्वात्मरूपी वस्तु में ही आप पुनः संसार-प्राप्ति में अहेतुभूत अपनी महिमा में ही वैसे ही परितृप्त रहते हैं । जैसे समुद्र अपने अन्दर में अवस्थित अमृत से तृप्त रहता है ॥ ८ ॥

सुरघु ने कहा—

हे मुनि ! जो कुछ यह दृश्य संसार में है वह हम लोगों के लिए उपादेय नहीं है वे सब कुछ भी नहीं है अर्थात् मिथ्या ही है ॥ ९ ॥

उपादान योग्य वस्तु का अभाव होने से कुछ भी त्याज्य नहीं है, गृहीत वस्तु का परित्याग ही तो हान है, ऐसी स्थिति में त्याग के विरोधी और त्याग से हट जाने वाले ग्रहण के बिना 'यह हेय है' ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? ॥ १० ॥

इसलिए दीर्घकाल से मेरी तुच्छ और अतुच्छ विषयक मानस स्थिति नष्ट हो चुकी है क्योंकि देश और कालवश सभी पदार्थ तुच्छ और अतुच्छ हो जाते हैं, सम्पूर्ण भूमण्डल का राजा मुक्त हो जाने पर एक छोटे से तुच्छ

देशकालवशादेव तुच्छस्याऽतुच्छतामिह ।
अतुच्छस्य तु तुच्छत्वं वर्ज्ये निन्दास्तुती बुधैः ॥ १२ ॥
रागान्निन्दास्तुती लोके रागश्च परिवाञ्छितम् ।
वाञ्छ्यते च महोदारं वस्तु शोभनबुद्धिना ॥ १३ ॥
त्रैलोक्ये च स्त्रियः शैलाः समुद्रवनराजयः ।
भूतानि वस्तुशून्यानि सारो नाऽस्त्यत्र वस्तुतः ॥ १४ ॥
मांसास्थिदारुमृद्रत्नमये जगति जर्जरे ।
वाञ्छनीयविहीनेऽस्मिन् शून्ये किमिव वाञ्छ्यते ॥१५॥
वाञ्छायां विनिवृत्तायां संक्षयो द्वेषरागयोः ।
दिनलक्ष्म्यां व्यपेतायामालोकातपयोरिव ॥ १६ ॥
अलमतिविततैर्वचःप्रपञ्चै-
रियमुचितेह सुखाय दृष्टिरेका ।
उपशमितरसं समं मनोऽन्तर्यदि
मुदितं तदनुत्तमा प्रतिष्ठा ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
सुरघुपरिघनिश्चयो नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

गाँव में भी सन्तुष्ट रहता है और पहले के विस्तृत राज्य को भी तुच्छ समझता है, अतः समयवश ही तुच्छत्व और अतुच्छत्व का ज्ञान होता है ॥ ११ ॥

संसार में देश और काल के प्रभाव से तुच्छ में अतुच्छत्व और अतुच्छ में तुच्छत्व भावना हो जाती है, इसलिए पण्डितों को तुच्छ और अतुच्छ बुद्धि से किसी की निन्दा या स्तुति नहीं करनी चाहिए ॥ १२ ॥

लोक में निन्दा और स्तुति दोनों राग से होते हैं और राग इच्छा के कारण को कहते हैं, जिसकी बुद्धि निर्मल है, ऐसा पुरुष महोदार आत्मवस्तु की इच्छा करता है, क्योंकि वहाँ स्तुति और निन्दा की प्रसक्ति ही नहीं है ॥ १३ ॥

इस त्रिलोकी में स्त्रियाँ, पर्वत, समुद्र, वनपंक्तियाँ आदि पदार्थ सारहीन हैं, वास्तव में यहाँ कुछ भी सारभूत वस्तु नहीं है ।: १४ ॥

जर्जर अवाञ्छनीय तथा शून्यात्मक इस मांस और अस्थिमय अध्यात्म जगत् में तथा काष्ठ, मृतिका और शिलामय अधिभूत जगत् में किसी विषय की अभिलाषा की जाय ? ॥ १५ ॥

राजन् ! इच्छा का विनाश हो जाने पर तदनुगामी राग और द्वेष दोनों का वैसे ही विनाश हो जाता है जैसे दिवस-शोभा का विनाश हो जाने पर तदनुगामी प्रकाश और आतप दोनों का विनाश हो जाता है अर्थात् राग-द्वेषमूलक प्रवृत्ति और निवृत्ति का निरास हो जाता है ॥ १६ ॥

अधिक वाक्यों का प्रयोग करना अब इस विषय में व्यर्थ है। यदि अन्तःकरण के चारों ओर से रागमुक्त होकर तथा समस्त विक्षेपरूपी विषमता से रहित होनेपर अपने आत्मस्वरूप में ही परितृप्त रहना ही सबसे उत्तम विश्रान्ति है। सर्वातिशायी सुख के लिए केवल इसी एक दृष्टि का सदा सर्वदा आश्रयण करना उचित है ॥ १७ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में सुरघुपरिघनिश्चय नामक कुसुमलता का तिरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६३ ॥

६४

वसिष्ठ उवाच

सुरघुः परिघश्चैव विचार्येति जगद्भ्रमम् ।
मिथः प्रपूजितौ तुष्टौ स्वव्यापारपरौ गतौ ॥ १ ॥
तदेव राघव ! श्रुत्वा परमं बोधकारणम् ।
अनेनैव विबोधेन भव लब्धास्पदः स्फुटम् ॥ २ ॥

६४

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—

सुरघु और राजा परिघ दोनों जगत्-विभ्रम का विचार कर अत्यन्त प्रसन्न हुए, उन्होंने परस्पर एक दूसरे का विशिष्ट पूजन किया और अपने-अपने कार्यों में तत्पर हो यथास्थान चले गये ॥ १ ॥

हे राघव ! उस संवादरूपी उत्तम बोध साधन का श्रवण करना निश्चय ही बोध के लिए पर्याप्त है। इसी सुरघु और परिघ के संवाद के श्रवण से उत्पन्न निश्चयात्मक ज्ञान से आप प्राप्त परम पद हो जायें ॥ २ ॥

परया प्रज्ञया धीरविचारगततीक्ष्णया ।
गलत्यलमहङ्कारकालमेघे हृदम्बरे ॥ ३ ॥
समस्तलोकानुमते सफले ह्लादकारिणि ।
निर्मले वितते चेतःशरत्काल उपस्थिते ॥ ४ ॥
ध्येये शरण्ये सुगमे सकलानन्दसंपदि ।
सुप्रसन्ने चिदाकाशे स्थीयते परमात्मनि ॥ ५ ॥
यो नित्यमध्यात्ममयो नित्यमन्तर्मुखः सुखी ।
नित्यं चिदनुसन्धानो मनःशोकैर्न बाध्यते ॥ ६ ॥
व्यवहारपरोऽप्युच्चै रागद्वेषमयोऽपि सन् ।
नाऽन्तःकलङ्कमायाति पद्मो जलगतो यथा ॥ ७ ॥
सम्यग्विज्ञानवान् शुद्धो योऽन्तः शान्तमना मुनिः ।
न बाध्यते स मनसा करिणेव मृगाधिपः ॥ ८ ॥

पण्डितों के साथ विचार के द्वारा या निश्चल अपनी अत्यन्त तीव्र उत्तम प्रज्ञा से हृदयाकाश में अहङ्काररूपी काले मेघ के सर्वथा गल जाने से समस्त लोगों से अनुमोदित, फलात्मक बोध से सम्पन्न शरत्-पक्ष में सस्यादि फलों से समन्वित प्रसन्नता बढ़ाने वाले राग आदि मलों से रहित शरत्-पक्ष में पङ्क आदि मलों से शून्य विस्तृत चित्तरूपी शरत्काल के उपस्थित होने पर; ध्यान करने योग्य, समग्र अनर्थों के नाशक, आत्मरूपता के कारण सुगम, सम्पूर्ण आनन्दों की निधि, अत्यन्त प्रसन्न परमात्मारूपी चिदाकाश में अवस्थित सदा केवल आत्मा के विचार में निरत, सदा बाह्य आसक्ति से शून्य, सुखी तथा पुनः पुनः आदर से केवल चिन्मात्र वस्तु में आस्वाद लेने वाला मानसिक शोकों से कभी भी विचलित नहीं होता है ॥ ३—६ ॥

तत्त्वज्ञ व्यवहार में निरत अज्ञानी जनों द्वारा 'यह राग और द्वेष से भरा है' इस प्रकार कल्पित हो रहा भी राग, द्वेष आदि भीतरी कलङ्कों से कलङ्कित नहीं होता है वैसे ही जैसे जल में रहने वाला कमल जलगत कीचड़ आदि कलङ्कों से कलङ्कित नहीं होता है ॥ ७ ॥

सम्यक् ज्ञान से युक्त, निर्मल, भीतर से प्रसन्नमन मुनि कभी-भी मन से पराभव को वैसे ही प्राप्त नहीं नहीं होता है जैसे हाथियों से मृगाधिप (सिंह) पराभव को प्राप्त नहीं होता ॥ ८ ॥

विज्ञानी पुरुष का केवल विषयोपभोगों में शरण लेने वाला वैसे ही अत्यन्त दीनता से युक्त मन नहीं होता है क्योंकि उसका चित्त बड़ा है क्षुद्र विषयसुखों की अभिलाषा से वर्जित है जैसे नन्दन वन में बिसैले कांटों से

भोगैकशरणं दीनं न चित्तं ज्ञस्य विद्यते ।
नन्दने दुर्द्रुम इव ज्ञचित्तं हि महावपुः ॥ ९ ॥
विरक्तो जन्ममरणे यथा दुःखी न मानवः ।
परीज्ञाताखिलाविद्यं तथा चित्तं न दुःखितम् ॥ १० ॥
परिज्ञातमनोमोहो जगद्भावोद्भवात्मना ।
स्पृश्यते नैनसा साधो ! रजसेव नभस्तलम् ॥ ११ ॥
अविद्यासम्परिज्ञातमिदमेव महौषधम् ।
अविद्याविततव्याधेस्तिमिरस्येव दीपकम् ॥ १२ ॥
अविद्या संपरिज्ञाता यदैव हि तदैव हि ।
सा परिक्षीयते भूयः स्वप्नेनेव हि भोगभूः ॥ १३ ॥
व्यवहारपरोऽप्यन्तरसक्तमतिरेकधीः ।
स्पृश्यते नैनसा साधुर्मत्स्येक्षणमिवाऽम्भसा ॥ १४ ॥

युक्त वृक्ष नहीं होता है ॥ ९ ॥

जिसने चारों ओर से विचार कर वियय, इन्द्रिय, शरीर आदि समस्त दृश्यरूप मिथ्याभ्रान्ति का परिज्ञान कर लिया है, ऐसा तत्त्वज्ञ पुरुष का अन्तःकरण वैसे ही दुःखी नहीं होता है जैसे विरक्त पुरुष कामुक पुरुष के समान स्त्री आदि के मरण होने पर दुःखी नहीं होता ॥ १० ॥

हे साधो ! विचारपूर्वक मनोमोह का स्वरूप भलीभाँति जान लेने वाले पुरुष को स्वरूप जगत् में मिथ्याभूत कर्तृत्वाभिमान से उत्पन्न पाप स्पर्श नहीं कर सकते जैसे धूली आकाश-तल को स्पर्श नहीं कर सकती ॥ ११ ॥

जगदाकार में फैले हुए इस अज्ञानरूपी रोग का सबसे बड़ा औषध वैसे ही 'यह जगत् अविद्यामात्र है' इस प्रकार का विचारजनित ज्ञान है, जैसे अन्धकाररूपी रोग का महान् औषध दीपक है ॥ १२ ॥

ज्यों ही यह अविद्या है, इस प्रकार अविद्या का स्वरूपज्ञान हो जाने पर उसका सदा सर्वदा के लिए वैसे ही विनाश हो जाता है जैसे यह स्वप्न है, इस प्रकार जाने गये स्वप्न से स्वाप्निक भोगभूमिका सदा सर्वदा के लिए विनाश हो जाता है, ॥ १३ ॥

व्यवहार में निरत हुए भी साधु पुरुष को, अद्वितीय परब्रह्म में बुद्धि रखने वाले और भीतर से आसक्तिवर्जित अविद्यारूपी पाप वैसे ही स्पर्श नहीं करता जैसे जल मछलियों के नेत्रों को स्पर्श नहीं करता [यदि जल मछलियों के नेत्रों को स्पर्श करेगा, तो नेत्रों के बन्द हो जाने के कारण जल में उनके देखना आदि व्यवहार ही लुप्त हो जायँगे] ॥ १४ ॥

प्राप्ते चिद्भासुरालोके प्रक्षीणा ज्ञानयामिनी ।
शेमुषी परमानन्दमागता ज्ञस्य राजते ॥ १५ ॥
अज्ञाननिद्रोपशमे जनो ज्ञानार्कबोधितः ।
तत्प्रबोधमवाप्नोति पुनर्येन न मुह्यति ॥ १६ ॥
दिनानि जीव्यते तानि सानन्दास्ते क्रियाक्रमः ।
आत्मचन्द्रोदिता येषु चिज्ज्योत्स्ना हृदयाम्बरे ॥ १७ ॥
नरो मोहसमुत्तीर्णः सततं स्वात्मचिन्तया ।
अन्तःशीतलतामेति स्वामृतेनेव चन्द्रमाः ॥ १८ ॥
तानि मित्राणि शास्त्राणि तानि तानि दिनानि च ।
विरागोल्लासवान् येभ्य आत्मचित्तोदयः स्फुटम् ॥१९॥
चिरं शोचन्ति ते दीना जन्मजङ्गलवीरुधः ।
आत्मावलोकने हेला येषामविगतैनसाम् ॥ २० ॥
आशापाशशतैर्बद्धं भोगोलपसुलालसम् ।
जराजर्जरिताकारं शोकोच्छ्वासकदर्थितम् ॥ २१ ॥
व्यूढदुःखमहाभारं जन्मजङ्गलजीवितम् ।
कुकर्मकर्दमालिप्तं मोहपल्वलशायिनम् ॥ २२ ॥
रागदंशावलीदष्टं कृष्टं तृष्णावरत्रया ।
मनोवणिङ्निकेतस्थं बन्धुबन्धननिश्चलम् ॥ २३ ॥
पुत्रदारजराजीर्णे मग्नोन्मग्नं कुकर्दमे ।
श्रान्तं विगतविश्रामं भग्नमादीर्घवर्त्मनि ॥ २४ ॥
गमागमपरिक्षीणं संसारारण्यचारिणम् ।
अलब्धशीतलच्छायं तीव्रतापोपतापितम् ॥ २५ ॥
आकारभासुरं दीनं बाह्यैराक्रान्तमिन्द्रियैः ।
कर्मघण्टारवाक्रान्तं क्रान्तं दुष्कृतताडनैः ॥ २६ ॥
आविर्भावतिरोभावचक्रावर्तधुरोद्वहम् ।
अज्ञानविकटाटव्यां लुठितं सन्नगात्रकम् ॥ २७ ॥
निजानर्थसदामग्नं सीदमानमकिञ्चनम् ।
सन्नाङ्गं कर्मभारेण करुणाक्रन्दकारिणम् ॥ २८ ॥
राम ! जीवबलीवर्दमिमं संसारपल्वलात् ।
परमं यत्नमास्थाय चिरमुत्तारयेद् बलात् ॥ २९ ॥

देदीप्यमान चिद्रूपी प्रकाश का उदय हो जाने पर अज्ञानरूपी रात्रि सदा के लिए विलीन हो जाती है और परमानन्द को प्राप्त ज्ञानी की प्रज्ञा प्रकाशित रहती है ॥ १५ ॥

शास्त्ररूपी सूर्य से बोधित पुरुष अज्ञानरूपी निद्रा का विनाश होने के बाद जिसकी प्राप्ति से मनुष्य को फिर कभी मोह नहीं होता है उस विज्ञान को प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

जिन दिनों और क्रियाओं में सदा सर्वदा हृदयरूपी आकाश में आत्मारूपी चन्द्रमा से उदित चिद्रूपिणी ज्योत्स्ना प्रकाशित हो रही हों वे ही दिन जीवनपूर्ण हैं और वे ही क्रियाएँ आनन्द से युक्त हैं ॥ १७ ॥

मोह का अतिक्रमण कर लेने वाला पुरुष निरन्तर आत्मचिन्तनरूपी अमृत से अपने भीतर वैसे ही शीतलता को प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

वे ही मित्र हैं, वे ही शास्त्र हैं और वे ही दिन हैं, जिनके कारण वैराग्यरूपी उल्लास से युक्त आत्माकार-वृत्तिरूपी चित्ताभ्युदय सुस्पष्ट रूप से सिद्ध होता है ॥१९॥

पाप के विनाश से वर्जित होते हुए भी जिन मनुष्यों की आत्मा को जानने में उपेक्षा है, वे जन्मरूपी जङ्गल के प्रतान हैं, दीन हैं और चिरकाल तक संसार दुःखों से दुःखित होकर शोक किया करते हैं ॥ २० ॥

विषयाभिलाषारूपी सैकड़ों बन्धनों से आबद्ध भोग-रूपी तिनकों में अत्यन्त लालच सम्पन्न बुढ़ौती के कारण जर्जर आकारता को प्राप्त शोकजनित उच्छास से विडम्बित दुःखरूपी भारी बोझ को ढो रहे, जन्मरूपी जङ्गल में जी रहे, कुकर्मरूपी कीचड़ से चारों ओर चुपड़े गये, मोहरूपी स्वल्प जलाशय में सो रहे; रागरूपी दाँतों की पंक्तियों से चबाये गये, तृष्णारूपी चर्ममयी नासा रज्जू से खींचे गये, मनरूपी बनिये की आज्ञा में स्थित बान्धवरूपी बन्धनों के कारण चलने फिरने में अशक्त पुत्र और स्त्री की शिथिलता से जनित जीर्णतारूपी गोबर में बार-बार डूबे हुए, सदा थके हुए, विश्रान्ति से वर्जित, आवागमन के दीर्घ मार्गों में भग्न; आवागमन के कारण चारों ओर से क्षीण, संसाररूपी अरण्य में चक्कर काट रहे, शीतल छाया को अप्राप्त तीव्र विषयसंसर्गजन्य तापों से संतापित केवल बाहरी आकार से होते हुए भी भीतर से दीन, बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रभावित, काम्य कर्मों में रुचि की वृद्धि करने वाले अर्थवादरूपी घण्टानादों से भ्रमित, पापरूपी कोड़ों के आघातों से पीड़ित; जन्म-मरणरूपी गाड़ी के बोझ से लदे हुए, अज्ञानरूपी विकट अटवी में लुठित भग्न-शरीर; अपने अनर्थ में ही सर्वदा निमग्न, दुःखी, दीन, जडीभूत शरीर, कर्मों के बोझ से सदा करुण क्रन्दन कर रहे इस जीवरूपी बैल का संसार-रूपी स्वल्प तालाब से दीर्घकाल तक उत्तम प्रयत्न करके ज्ञानरूपी बल से उद्धार करना चाहिए ॥ २१-२९ ॥

तत्त्वावलोकनात् क्षीणे चित्ते नो जायते पुनः ।
जीवः कदाचन तदा भवेत् तीर्णभवार्णवः ॥ ३० ॥
महानुभावसम्पर्कात् संसारार्णवलङ्घने ।
युक्तिः संप्राप्यते राम ! स्फुटा नौरिव नाविकात् ॥३१॥
यस्मिन् देशमरौ तज्ज्ञो नाऽस्ति सज्जनपादपः ।
सफलः शीतलच्छायो न तत्र निवसेद् बुधः ॥ ३२ ॥
स्निग्धशीतवचःपत्रे सच्छाये स्मितपुष्पके ।
क्षणाद् विश्रम्यते राम ! भृशं सुजनचम्पके ॥ ३३ ॥
तदभावे महामोहतापसम्पत्तिदायिनि ।
किञ्चिज्जातविवेकेन स्वप्तव्यं नेह धीमता ॥ ३४ ॥
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मनाऽऽत्मैवमुद्धरेत् ।
नाऽऽत्मानमवलेपेन जन्मपङ्कार्णवे क्षिपेत् ॥ ३५ ॥
किमिदं कथमायातं किंमूलमिति किंक्षयम् ।

दर्शन के द्वारा चित्त के क्षीण हो जाने पर जीव संसार में फिर कभी-भी जन्म-ग्रहण नहीं करता है और वह चित्त की क्षयदशा में ही संसार-सागर से पार हो जाता है ॥ ३० ॥

हे श्रीराम जी ! समुद्र का उलङ्घन करने के लिए नाविक से जैसे नौका पास होती है, बड़े-बड़े सत्-पुरुषों के समागम से संसाररूपी समुद्र का उलङ्घन करने की युक्ति वैसे ही प्राप्त होती है ॥ ३१ ॥

मरुभूमि की तरह जिस भूमि में मोक्षरूपी फल को देनेवाला और मानसिक शान्तिरूपी शीतल छाया को करनेवाला तत्त्वज्ञ सत्-पुरुषरूपी वृक्ष नहीं हो, वहाँ विद्वान् को नहीं रहना चाहिए ॥ ३२ ॥

मनोहर और तापोपशामक शीतल वचनरूपी पत्तेवाले परोपकारपरायणता उत्तम छाया समन्वित और मुसकुराहटरूपी पुष्पवाले सत्पुरुषरूपी चम्पा के वृक्ष के नीचे मनुष्य को क्षणभर में ही आत्यन्तिक विश्रान्ति अर्थात् आत्मलाभरूप विश्रान्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ३३ ॥

स्वात्मप्राप्तिरूप विश्रान्ति रहित महामोह से जनित संतापरूपी संपत्तिदाता इस संसार में थोड़े विवेक से सम्पन्न बुद्धिमान् पुरुष को स्वल्प भी निद्रा नहीं लेनी चाहिए ॥ ३४ ॥

आत्मा ही आत्मा का बन्ध है, इसलिए इन साधु-समागम आदि उपायों से अपने स्वयं ही अपना उद्धार कर लेना चाहिए, देहाभिमान के गर्व से जन्म कीचड़ के समुद्र में अपने को कभी-भी फँसाना नहीं चाहिए ॥ ३५ ॥

बुद्धिमान् व्यक्तियों को अपनी बुद्धि, शास्त्र और

देहदुःखमिति प्राज्ञैः प्रेक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ३६ ॥
न धनानि न मित्राणि न शास्त्राणि न बान्धवाः ।
नरायणामुपकुर्वन्ति मग्नस्वात्मसमुद्धृतौ ॥ ३७ ॥
मनोमात्रेण सुहृदा सदैव सहवासिना ।
सह किञ्चित् परामृश्य भवत्यात्मा समुद्धृतः ॥ ३८ ॥
वैराग्याभ्यासयत्नाभ्यां स्वपरामर्शजन्मना ।
तत्त्वालोकनपोतेन तीर्यते भवसागरः ॥ ३९ ॥
शोच्यमानं जनैर्नित्यं दह्यमानं दुराशया ।
नाऽऽत्मानमवमन्येत प्रोद्धरेदेनमादरात् ॥ ४० ॥
अहङ्कारमहालानं तृष्णारज्जुं मनोमदम् ।
जन्मजम्बालनिर्मग्नं जीवदन्तिनमुद्धरेत् ॥ ४१ ॥
अयमेतावतैवाऽऽत्मा त्रातो भवति राघव ! ।
यदपास्य विमूढत्वमहङ्कारः प्रमार्ज्यते ॥ ४२ ॥

सज्जनों की सहायता लेकर प्रबल प्रयत्न से इस देहाधीन दुःख के विषय में विचार करना चाहिए कि यह क्या है ? कैसे आया ? इसका मूल क्या है ? और इसका विनाश कैसे हो सकता है ? (इस पद्य में 'इति' शब्द का दो बार प्रयोग विचारयोग्य प्रज्ञा की अनेकताबोधक है) ॥ ३६ ॥

धन, मित्र, अनात्मशास्त्र और बान्धव ये कुछ भी अज्ञान से डूबी हुई अपनी आत्मा का उद्धार करने में मनुष्यों का उपकार नहीं करते हैं ॥ ३७ ॥

संसार समुद्र से आत्मा का उद्धार सदा सर्वदा ही साथ रहने वाले विशुद्ध मनोरूपी मित्र के साथ कुछ परामर्श करने से हो जाता है ॥ ३८ ॥

इस भवसागर को वैराग्य और अभ्यासरूपी प्रयत्नों के द्वारा किये गये आत्मविचार से उत्पन्न आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूपी बड़े जहाज से पार किया जा सकता है ॥ ३९ ॥

प्रतिदिन अनेक मनुष्यों के द्वारा शोकसंतप्त तथा दुष्ट आशाओं के द्वारा दाह से परिव्याप्त आत्मा की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, इसका अत्यन्त आदर से उद्धार करना चाहिए ॥ ४० ॥

अहंकार रूपी मजबूत आलान तृष्णारूपी ही बाँधने की रस्सी मनरूपी गण्डस्थल से झरने वाले मद से सम्पन्न और जन्मरूप कीचड़ में फँसे हुए जीवरूपी हाथी का उद्धार करना चाहिए ॥ ४१ ॥

हे राघव ! इस आत्मा की इतने यत्न से ही रक्षा की जा सकती है, जितने यत्न से अपने अज्ञान को दूर कर अहंकार निकाल दिया जाय ॥ ४२ ॥

एतावतैव सन्मार्गे याति प्रकटतामलम् ।
यदपास्य मनोजालमहंभावो विलूयते ॥ ४३ ॥
एतावतैव देवेशः परमात्माऽवगम्यते ।
काष्ठलोष्टसमत्वेन देहो यदवलोक्यते ॥ ४४ ॥
अहङ्कराम्बुदे क्षीणे दृश्यते चिद्दिवाकरः ।
ततस्तत्परिणामेन तत्पदं समवाप्यते ॥ ४५ ॥
यथा ध्वान्तसमुच्छेदे स्वयमालोकवेदनम् ।
तथाऽहङ्कारविच्छेदे स्वयमात्मावलोकनम् ॥ ४६ ॥
अहङ्कारे परिक्षीणे याऽवस्था सुखमोदजा ।
साऽवस्था भरिताकारा सा सेव्या संप्रयत्नतः ॥ ४७ ॥
परिपूर्णार्णवप्रख्या न वा गोचरमेति नः ।
नोपमानमुपादत्ते नाऽनुधावति रञ्जनम् ॥ ४८ ॥
केवलं चित्प्रकाशांशकलिता स्थिरतां गता ।

मन के द्वारा रचित बाह्य और आध्यात्मिक आसक्तिओं का हटाकर अहंकारभाव के दूर करने पर है, उसके दूर होते ही परमात्मा का ज्ञान होने तक अनुष्ठित विचार से आत्मा पूर्णरूप से सुस्पष्ट प्रकट हो जाता है ॥ ४३ ॥

काठ और मिट्टी के ढेले की तरह यह देह है, इस प्रकार के दर्शन मात्र से ही देवाधिदेव परमात्मा जाना जाता है ॥ ४४ ॥

अहंकाररूपी मेघ के विनष्ट होनेपर पहले चैतन्यरूपी भास्कर प्रकट होता है, अनन्तर उस परमात्मदर्शन की भूमिका का परिपाक होने पर उससे परमपद प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

अहंकार का विच्छेद हो जाने पर प्रकाश का परिज्ञान वैसे ही स्वतः हो जाता है जैसे अन्धकार का उच्छेद हो जाने पर प्रकाश का परिज्ञान स्वतः हो जाता है, ॥ ४६ ॥

अहङ्कार के विनष्ट होने पर निरतिशयानन्दविश्रान्ति की स्वरूपभूत निर्विकल्पावस्था अविर्भूत होती है, वह परिपूर्ण अवस्था है, उसी का उत्तम प्रयत्न से सेवन करना चाहिए ॥ ४७ ॥

परिपूर्ण समुद्र की तरह असीम वह निर्विकल्प अवस्था न तो सब लोगों के मन का विषय है, और न किसी उपमान से उनको उपमित किया जा सकती है और न वह विषयों के सम्बन्धों को प्राप्त करती है ॥ ४८ ॥

चेतन के प्रकाशात्मक अंश से गृहीत स्थिरता सम्पन्न तुरीय दृष्टि प्राप्त होने पर उसी तुरीय दृष्टि से निर्विकल्प

तुर्या चेत् प्राप्यते दृष्टिस्तत्तया सोपमीयते ॥ ४९ ॥
अदूरगतसादृश्यात् सुषुप्तस्योपलक्ष्यते ।
साऽवस्था भरिताकारा गगनश्रीरिवाऽऽतता ॥ ५० ॥
मनोहङ्कारविलये सर्वभावान्तरस्थिता ।
समुदेति परानन्दा या तनुः पारमेश्वरी ॥ ५१ ॥
सा स्वयं योगसंसिद्धा सुषुप्तादूरभाविनी ।
न गम्या वचसां राम ! हृद्येवेहाऽनुभूयते ॥ ५२ ॥
अनुभूतिं विना तत्त्वं खण्डादेर्नाऽनुभूयते ।
अनुभूतिं विना रूपं नाऽऽत्मनश्चाऽनुभूयते ॥ ५३ ॥
अखिलमिदमनन्तमात्मतत्त्वं
दृढपरिणामिनि चेतसि स्थितेऽन्तः ।
बहिरुपशमिते चराचरात्मा
स्वयमनुभूयत एव देवदेवः ॥ ५४ ॥

अवस्था का अर्थात् परमेश्वर-स्वरूपाविर्भाव-दशा की समता कही जा सकती है ॥ ४९ ॥

तुरीय अवस्था में स्थित निर्विक्षेपत्व अंश को लेकर सुषुप्ति के पास के सादृश्य से सुषुप्ति तुर्यावस्था संभावित होती है (अर्थात् यदि सुषुप्ति अवस्था में अज्ञानरूपी आवरण न होता, तो वह तुर्यावस्था ही होती, इस प्रकार किसी तरह सुषुप्त अवस्था से उसकी संभावना की जा सकती है ।) वह निर्विकल्प परमात्मभावावस्था सम्पूर्ण तथा आकाश-शोभा की तरह सर्वत्र व्यापक है ॥ ५० ॥

मन और अहंकार का विलय होने पर समस्त पदार्थों के भीतर रहने वाली जिस निरतिशयानन्दात्मक शरीर परमात्मस्वरूपावस्था का उदय होता है, स्वयं समाधि से सिद्ध उस अवस्था को सुषुप्त अवस्था के साथ किसी अंश में मिलती जुलती है, वाणी से उसका परिज्ञान नहीं होता है केवल अपने इस हृदय में ही उसका अनुभव होता है ॥ ५१–५२ ॥

आत्मा के स्वरूप का भी अपने अनुभव के सिवा और किसी दूसरे प्रमाण से वैसे ही परिज्ञान नहीं होता है जैसे गुड आदि के स्वरूप का अपने अनुभव के सिवा और किसी दूसरे प्रमाण से परिज्ञान नहीं होता है ॥ ५३॥

यह सब व्यापक आत्मस्वरूप ही है। जब चित्त बाह्य विषयों से उपरत हो जाता है और प्रत्यगात्मा में क्षीरोदक के समान एकरस रूप से उसका निश्चल परिणाम हो जाता है, तब चर और अचरों के स्वभूत तथा चक्षु आदि इन्द्रियों का साक्षीरूप से प्रकाश करने वाला आत्मा स्वयं ही अनुभूत हो जाता है ॥ ५४ ॥

तदनु विषयवासनाविनाश-
स्तदनु शुभः परमः स्फुटप्रकाशः ।
तदनु च समतावशात् स्वरूपे
परिणमनं महतामचिन्त्यरूपम् ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीयेमोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
उपदेशो नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

उस प्रकार चतुर्थ भूमिका में आत्मा का अनुभव होने के अनन्तर पाँचवीं भूमिका में विषय वासानाओं का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है, उसके बाद छठी भूमिका में किसी तरह के प्रयत्न के बिना ही शुभ परम पुरुषार्थ रूप अपने आत्मा की सदा ही पूर्णता का अनुभव सिद्ध होता है। उसके बाद सातवीं भूमिका में समाधि और असमाधि की समता के कारण विषमता का अत्यन्त निरास हो जाने से, समुद्र के भीतर विलीन सैन्धवघन के समान, स्व-स्वरूप में सुखैकरसतास्वरूप से अपने में ही परमात्मभाव हो जाने से स्वरूपनिष्ठा सिद्ध हो जाती है। इस परिणमन के तत्त्व का ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता भी इयत्तारूप से परिज्ञान नहीं कर सकते, क्योंकि वह अचिन्त्य स्वरूप है ॥ ५५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
उपदेश नामक कुसुमलता का चौसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६४ ॥

६५

वसिष्ठ उवाच

ममेत्यहमिति त्यक्त्वा तत्तामरसलोचन ! ।
मनसैव मनश्छित्त्वा यद्यात्मा नाऽवलोक्यते ॥ १ ॥
नाऽस्तमेति जगद्दुःखं यथा चित्रगतो रविः ।
आयात्यापदनन्तत्वं महार्णववदातता ॥ २ ॥
पुनः पुनरुपायाति जलकल्लोलकारणम् ।
मेघनीलतमःश्यामा संसृतिप्रावृडाकुला ॥ ३ ॥
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं सुहृदोः सह्यसानौ भासविलासयोः ॥ ४ ॥
अस्त्युत्सेधजिताकाशः पीठेन जितभूतलः ।
तलेन जितपातालस्त्रिलोकविजयो गिरिः ॥ ५ ॥
असङ्ख्यकुसुमापूरोऽसङ्ख्यनिर्मलनिर्झरः ।
गुह्यकारक्षितनिधिः सह्यनामाऽविषह्यभाः ॥ ६ ॥
मुक्तापटलसम्पूर्णैर्भानुभासुरभित्तिभिः ।
भासुरः काञ्चनतटैः कटैरिव सुरद्विपः ॥ ७ ॥

६५

वसिष्ठ जी ने कहा—हे कमलनयन ! मम=मेरा और अहं=मैं अर्थात् 'पुत्र आदि मेरे हैं, यह देह आदि मैं हूँ' इत्यादि अभिमान का परित्याग कर शास्त्र से संस्कृत मन से संकल्पात्मक चित्त का छेदन कर यदि आत्मा का साक्षात्कार नहीं करने पर चित्र में लिखित सूर्य के समान जगत्-रूपी दुःख का कभी-भी अन्त नहीं होता है। प्रत्युत महान् समुद्र की तरह असीम संसाररूपी विपत्ति अनन्ता स्वरूता को ही धारण करती रहती है ॥ १, २ ॥

जल के तरङ्गों की लीला साधन मेघों से और तज्जनित नील अन्धकारों से श्याम तथा दुःख-कारण संसाररूपी वर्षा ऋतु बार-बार आती रहती है ॥ ३ ॥

इसी विषय में सह्याद्रि के शिखर पर रहने वाले भास और विलास नाम के दो विशुद्धात्मा मित्रों के संवाद रूपी इस प्राचीन इतिहास को उदाहरण स्वरूप कहते हैं ॥ ४ ॥

ऊँचाई से आकाश का अतिक्रमण करने वाला, उपत्यका भाग से तराई या पर्वत के पास की भूमि से पृथ्वी का अतिक्रमण करने वाला और भूमि के भीतर प्रविष्ट मूलभाग से पाताल का अतिक्रमण करने वाला तीनों लोकों में विजयी एक पर्वत है ॥ ५ ॥

उस पर्वत का नाम सह्य है, उसमें भाँति-भाँति के असंख्य फूल हैं, असंख्य निर्मल झरने बह रहे हैं, गुह्यकों (देवविशेषों) द्वारा वहाँ की धन-सम्पत्तियों की चारों ओर से रक्षा की गई है, वहां के रत्नों की दीप्तियों से मनुष्यों की दृष्टि चकाचौंध हो जाती है ॥ ६ ॥

मोतियों के समूह से भरे तथा मानिक आदि रत्नों की दीप्तियों से प्रकाशित हो रही भित्तियों से युक्त सुवर्ण-मय नितम्ब देश से वह गण्डस्थल से ऐरावत की तरह बड़ा सुन्दर लगता है ॥ ७ ॥

क्वचित्पुष्पभरासारो धातुसाराततः क्वचित् ।
क्वचित्फुल्लसरःसारो रत्नशालिशिलः क्वचित् ॥ ८ ॥
इतो रटन्निर्झरवानितः क्वणितकीचकः ।
इतो रटद्गुहावात इतः षट्पदघुङ्घुमः ॥ ९ ॥
सानौ गीतोऽप्सरोवृन्दैर्वने मृगखगारवः ।
अधित्यकायां मत्ताभ्रो गगनेषु खगारवः ॥ १० ॥
विद्याधराश्रितगुहो भृङ्गगीताम्बुजाकरः ।
किरातगीतपर्यन्तः खगगीतवनद्रुमः ॥ ११ ॥
स्कन्धेषु देवैर्वलितः पादेषु वलितो नरैः ।
पाताले वलितो नागैर्जगद्गृहमिवाऽपरम् ॥ १२ ॥
कन्दरेषु श्रितः सिद्धैर्निधानैरन्तराश्रितः ।
चन्दनेषु श्रितो नागैः सिंहैः शृङ्गशिखासु च ॥ १३ ॥
पुष्पाभ्रसंवीतवपुः पुष्परेण्वभ्रपांसुलः ।
पुष्पवात्याभ्रहृद्भ्रान्तः पुष्पपादपपाण्डुरः ॥ १४ ॥
धातुधूल्यभ्रकपिलो रत्नोपलतलस्थितैः ।
मन्दारगैरिव पुरस्त्रीगणैरलमाश्रितः ॥ १५ ॥
अभ्रनीलांशुकच्छन्ना मूकरत्नविभूषणाः ।
शिलाः कनकसुन्दर्यो यत्र शृङ्गाभिसारिकाः ॥ १६ ॥
तत्रोत्तरतटे सानौ विनम्रफलपादपे ।
रत्नपुष्करिणीजालवहन्निर्झरवारिणि ॥ १७ ॥
चूतद्रुमलतोन्मुक्तपुष्पस्तबकदन्तुरे ।
विफुल्लाङ्कोलपुन्नागनीलनीरजदिक्तटे ॥ १८ ॥
लतावितानच्छन्नार्के रत्नांशुभरभास्वरे ।
स्रवज्जम्बूरसस्यूते स्वर्लोकाह्लादकारिणि ॥ १९ ॥
ब्रह्मलोकसमः स्वर्गरम्यः शिवपुरोपमः ।
अत्रेरस्त्याश्रमः श्रीमान् सिद्धश्रमहरो महान् ॥ २० ॥

उस पर्वत पर कहीं अनेक तरह के पुष्पों के समूह-के-समूह मिलकर प्रवाहित हो रहे हैं, कहीं हरिताल, गैरिक आदि धातुएँ भरी पड़ी हैं, कहीं विकसित कमलों से सुशोभित सरोवर हैं, कहीं रत्नों से युक्त शिलाएँ हैं ॥८॥

उस पर्वत पर किसी स्थान में झरनों की गुनगुनाहट हो रही है, कहीं वायुप्रवेश से बाँसों के मधुर शब्द हो रहे हैं, कहीं गुफाओं से निकला वायु सनसनाहट कर रहा है, कहीं भ्रमरों का मञ्जुल घुंघुम शब्द हो रहा है ॥ ९ ॥

उसके शिखर पर अप्सराएँ कहीं गाना गा रही हैं, उसके वन प्रदेश में मृग और पक्षियों के सुन्दर शब्द हो रहे हैं। उसके ऊपरी प्रदेश में मत्तों की नाईं मेघ गरज रहे हैं और आकाश प्रदेश में पक्षियों के शब्द हो रहे हैं ॥ १० ॥

उस पर्वत की गुफाएँ विद्याधरों से आश्रित हैं, जिनमें भ्रमरों के मधुर गीत हो रहे हैं, ऐसे कमलों का वह आकर है, उसके नीचे देश में किरात अपना निराला गीत गा रहे हैं, वनों के वृक्षों में पक्षियों का मधुर कलनाद हो रहा है ॥ ११ ॥

सारे संसार का मानो यह दूसरा घर है, क्योंकि उस पर्वत का ऊपरी हिस्सा देवों से भरा है, नीचे का हिस्सा मनुष्यों से भरा है और पृथ्वी के भीतर का हिस्सा नागों से भरा है ॥ १२ ॥

उसकी छोटी-छोटी कन्दराओं में सिद्ध लोग रहते हैं, भीतरी भागों में गढ़ी अनेक निधियाँ हैं। चन्दन-वृक्षों में सर्प में रहते हैं और शिखरों की चोटियों पर सिंह रहते हैं ॥ १३ ॥

उस पर्वत का शरीर नीचे गिरे हुए पुष्परूपी अभ्रों से आच्छादित-तुरत के गिरे हुए पुष्पों की अन्तरिक्षस्थ धूली-रूपी अभ्र से धूलीमय उड़ रहे पुष्पों के झंझावातरूपी अभ्र से भ्रान्त-हृदय तथा पुष्पों के वृक्षों से धवलवर्ण है ॥१४॥

वह अनेक तरह की धातुओं की धूलीरूपी अभ्रों से कपिलवर्ण और रत्नों की शिलाओं के ऊपर अवस्थित मन्दारवृक्ष के ऊपर आरूड़ सिद्ध स्त्रियों की तरह मनोहर नागरिक अङ्गनाओं का चारों ओर से आश्रम-स्थान है ॥ १५ ॥

मेघरूपी नील वस्त्रों का परिधान किये हुए उस पर्वत में मूक रत्नों को धारण करने से अत्यन्त शोभित सुवर्ण-मयी शिलारूपी सुन्दरियाँ शिखररूपी पुरुषों का आलिङ्गन करने के कारण अभिसारिकाएँ बनी हुई हैं ॥ १६ ॥

उस पर्वत में उत्तर किनारे के शिखर पर—जहाँ फलों से लदे विनम्र वृक्ष हैं, रत्नमयी अनेक बावड़ियों से जल के झरने बह रहे हैं और आम्रवृक्ष की शाखाओं के द्वारा ऊपर की ओर विस्तारित फूलों के गुच्छों से ऊँचे दांतों से युक्त होकर स्थित है, जिसकी दिशाओं के तट में विकसित अंकोलक, श्वेत कमल और नील कमल विद्यमान हैं ॥ १७-१८ ॥

लताओं के विस्तार से सूर्य ढक जाता है, रत्नों के दीप्ति समूहों से वह अत्यन्त प्रकाशित है, बह रहे जम्बूरसों से पूर्ण है ॥ १९ ॥

स्वर्गस्थान की तरह वह अत्यन्त आनन्द देनेवाले महान् सिद्धों का श्रम रहने बाले ब्रह्मलोक के सदृश, स्वर्ग की तरह रमणीय, शिवजी के नगर की उपमावाले उस स्थान में अत्यन्त सुन्दर महामुनि अत्रि का महान् आश्रम है ॥ २० ॥

महत्यत्राऽऽश्रमे तस्मिंस्तापसौ द्वौ बभूवतुः ।
कोविदौ तु नभोमार्ग इव शुक्रबृहस्पती ॥ २१ ॥
तयोरथैकास्पदयोस्तत्राऽभूतां सुतावुभौ ।
फुल्लाङ्कुरौ शुद्धतनू सरस्यम्बुजयोरिव ॥ २२ ॥
विलासभासनामानौ वृद्धिमाययतुः क्रमात् ।
तौ पित्रोः पल्लवे दीर्घे लतापादपयोरिव ॥ २३ ॥
आस्तामन्योन्यसुस्निग्धौ सुहृदौ वल्लभौ मिथः ।
तिलतैलवदाश्लिष्टौ तौ पुष्पामोदवत्स्थितौ ॥ २४ ॥
नाऽयुक्तौ पुत्रयुक्तौ तु सुरक्ताविव दम्पती ।
एकं द्वित्वमिवाऽऽपन्नं सममासीत्तयोर्मनः ॥ २५ ॥
तौ तथाऽन्योन्यमुदितौ मनोहरतराकृती ।
तस्थतुः स्वाश्रमे मौने सरोज इव षट्पदौ ॥ २६ ॥

प्रापतुर्यौवनं बाल्यमुत्सृज्य नववल्लभौ ।
कालेनाऽल्पतरेणैव चन्द्रसूर्याविवोदितौ ॥ २७ ॥
जग्मतुर्देहमुत्सृज्य ततस्तौ पितरौ तयोः ।
स्वर्गं जरार्तावुड्डीय नीडादिव विहङ्गमौ ॥ २८ ॥
पञ्चत्वं गतयोः पित्रोर्दीनवक्त्रौ बभूवतुः ।
तप्ताङ्गौ विगतोत्साहौ पद्माविव जलोद्धृतौ ॥ २९ ॥
तत्रौर्ध्वदैहिकं कृत्वा चक्राते परिदेवनम् ।
लोकस्थितिरलङ्घ्या हि महतामपि मानद ! ॥ ३० ॥
कृत्वौर्ध्वदैहिकमथो व्यथयाऽभिभूतौ
शोकोत्थया करुणयाऽऽर्तगिरा विलप्य ।
चित्रार्पिताविव निरस्तसमस्तचेष्टौ
तौ संस्थितौ सुखमशून्यहृदौ विवृत्तौ ! ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे भासविलास-
वृत्तान्ते सह्यगिरिवर्णनं नाम पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

उस विस्तीर्ण आश्रम में आकाश मार्ग में रहने वाले बृहस्पति और शुक्र को तरह शास्त्रों को जाननेवाले दो विद्वान् तपस्वी बृहस्पति और शुक्र रहते थे ।। २१ ।।

किसी समय वहाँ पर एक ही आश्रम में रहने वाले उन दोनों तपस्वियों के विशुद्धस्वरूपवाले दो पुत्र, तालाब में दो कमलों के पौधों में फूलों की प्रकृति कलियों के समान उत्पन्न हुए ।। २२ ।।

पिताओं के स्थान में ही विलास और भास वे दोनों क्रमशः लता और वृक्ष के दीर्घ पल्लवों की तरह बढ़ने लगे ।। २३ ।।

वे दोनों एक दूसरे के प्रति अत्यन्त स्निग्ध प्यार करते थे और मित्र थे। वे दोनों एक दूसरे से वैसे ही मिलजुल कर रहते थे जैसे तिलों में तेल और पुष्पों में सुगन्ध एक दूसरे से मिले जुले रहते हैं ।। २४ ।।

वैसे ही वे दोनों कभी-भी एक दूसरे से जैसे पुत्र के लिए मिले हुए अनुरक्त पति-पत्नी एक दूसरे से अलग नहीं होते हैं, उन दोनों के मन समान होने के कारण ऐसा मालूम पड़ता था कि एक ही मनने मानो दो भागों में बट कर दो स्वरूप धारण कर लिया है ।। २५ ।।

मुनियों से सुशोभित उस सुन्दर आश्रम में अत्यन्त मनोहर शरीर वाले वे दोनों बालक कमल में दो भ्रमरों की तरह एक दूसरे से प्रसन्न उसी प्रकार प्रेमयुक्त होकर निवास करते थे ।। २६ ।।

थोड़े ही समय में बाल्य अवस्था को व्यतीत कर नबीनप्रिय उन दोनों ने उदयकालीन सूर्य और चन्द्रमा के समान युवावस्था प्राप्त की ।। २७ ।।

अनन्तर वृद्धावस्था से पीड़ित उन दोनों के वे दोनों पिता शुक्र और बृहस्पति वैसे ही शरीर को छोड़ परलोक चले गये जैसे अपने खोते से उड़कर दो पक्षी अन्यत्र चले जायँ ।। २८ ।।

पिताओं के मर जाने पर पानी से निकाले गये कमल की तरह वे दोनों चेहरे से दीन, शरीर से सन्तप्त और उत्साह से रहित हो गये ।। २९ ।।

हे मानद ! बालकों ने अपने पिताओं की दाह आदि क्रिया कर अत्यन्त विलाप किया, क्योंकि बड़े विद्वान् के लिए लौकिक स्थिति का उल्लङ्घन करना कठिन होता हैं ।। ३० ।।

अनन्तर और्ध्वदेहिक क्रिया सम्पन्न कर व्यथाग्रस्त उन दोनों ने शोक से निकली करुणापूर्ण दीन वाणी से अपने पितरों के लिए अत्यन्त विलाप किया, उनकी समस्त चेष्टाएँ निरस्त हो गई, वे मरे नहीं, पर विलाप के कारण अचानक अशून्यहृदय हो गये अर्थात् मूर्छित हो गये और उस समय चित्र में लिखित मनुष्यों की तरह उनकी स्थिति हो गई ।। ३१ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में भासविलास-वृत्तान्त में सह्यगिरिवर्णन नामक कुसुमलता का पैंसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। ६५ ।।

६६

वसिष्ठ उवाच

अतिशोकपराभूतौ तस्थतुर्दृढतापसौ ।
तापसंशुष्कसर्वाङ्गौ तावरण्यद्रुमाविव ॥ १ ॥
विरक्तौ विपिने कालं क्षपयामासतुर्द्विजौ ।
वियूथाविव सारङ्गावनास्थामागतौ पराम् ॥ २ ॥
जग्मुर्दिनानि मासाश्च वर्षाण्यथ तयोस्तदा ।
क्रमाद् द्वावपि संयातौ जरां श्वभ्रद्रुमाविव ॥ ३ ॥
अप्राप्तविमलज्ञानौ चिराज्जर्जरतापसौ ।
तावेकदा संघटिताविदमन्योन्यमूचतुः ॥ ४ ॥

विलास उवाच

जीविताग्र्यद्रुमफल हृदावासामृताम्बुधे ।
जगत्यस्मिन्महाबन्धो भास ! स्वागतमस्तु ते ॥ ५ ॥
एतावत्यो दिनावल्यो मद्वियोगवता त्वया ।
वद क्व क्षपिताः साधो ! कच्चित्ते सफलं तपः ॥ ६ ॥
कच्चित्ते विज्वरा बुद्धिः कच्चिज्जातस्त्वमात्मवान् ।
कच्चित्फलितविद्यस्त्वं कच्चित्कुशलवानसि ॥ ७ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्तवन्तं संसारसमुद्विग्नमलं तथा ।
प्राहाऽप्राप्तमहाज्ञानं सुहृत् सुहृदमादरात् ॥ ८ ॥

भास उवाच

साधो ! स्वागतताऽद्यैव दिष्टचा दृष्टोऽसि मानद ! ।
कुशलं तु कुतोऽस्माकं संसारे तिष्ठतामिह ॥ ९ ॥
यावन्नाऽधिगतं ज्ञेयं यावत्क्षीणा न चित्तभूः ।
यावत्तीर्णो न संसारस्तावन्मे कुशलं कुतः ॥ १० ॥
आशा यावदशेषेण न लूनाश्चित्तसंभवाः ।
वीरुधो दात्रकेणेव तावन्नः कुशलं कुतः ॥ ११ ॥
यावन्नाऽधिगतं ज्ञानं यावन्न समतोदिता ।
यावन्नाऽभ्युदितो बोधस्तावन्नः कुशलं कुतः ॥ १२ ॥

६६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—ग्रीष्म की प्रचण्ड धूप से तथा दावाग्नि के ताप से सर्वथा सूखे हुए अरण्य में उत्पन्न दो वृक्षों के समान शोक से अतिशय पराजित पिता के वियोगजन्य संताप से सर्वथा सूखे हुए वे दोनों दृढ़ तपस्वी रहते थे ।। १ ।।

घर, खेत, धन, आदि पदार्थों में अत्यन्त विरक्त वे दोनों ब्राह्मण, झुण्ड से अलग हुए दो मृगों की तरह, अलग अलग होकर जङ्गल में अपना-अपना कालक्षेप करने लगे ।। २ ।।

अनन्तर उसी अवस्था में क्रमशः उनके दिन, मास और वर्ष बीतने लगे और वे दोनों, गड्ढे में उत्पन्न दो वृक्षों की तरह वृद्ध हो गये ।। ३ ।।

बहुत समय बीतने पर एक समय प्रारब्धवश कुछ समय से बिछुड़े हुए विशुद्ध ज्ञानशून्य एक दूसरे से पुनः मिल गये और परस्पर यह कहने लगे ।। ४ ।।

विलास ने कहा—हे मेरे उत्तम जीवन रूपी वृक्ष के फल ! हे मेरे हृदय में सदा सर्वदा रहने वाले अमृत के सागर ! और हे इस जगत् के महाबन्धो ! हे भास ! आप का स्वागत हो ।। ५ ।।

हे साधो ! मुझ से अलग होकर तुमने इतने दिन कहाँ व्यतीत किये ? यह बताओ ? क्या तुम्हारी तपश्चर्या सफल हुई ? ।। ६ ।।

क्या तुम्हारी बुद्धि संसारानल से जनित संताप से रहित हो गई ? क्या तुमने तत्त्वज्ञान से आत्मा प्राप्त कर क्या तुम्हारी विद्या सफल हो गई ? कहो—तुम कुशल तो हो न ? ।। ७ ।।

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—

उस प्रकार प्रश्न पूछने वाले तथा संसार से उद्विग्न अपने मित्र विलास के प्रति, जिसको कि श्रेष्ठ आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था, वह मित्र भास अत्यन्त आदरपूर्वक स्पष्ट कहने लगा ।। ८ ।।

भास ने कहा—

हे मानदाता ! उत्तम भाग्यवश मुझको तुम्हारा दर्शन होने से मेरा आज आगमन सफल हुआ पर इस दुःखमय संसार में चक्कर काट रहे हम लोगों की कुशलता कैसे हो सकती है ? ।। ९ ।।

ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान न होने तक मन में उत्पन्न होने वाले काम, संकल्प आदि नष्ट न होने तक और इस संसार के पार नहीं लगने तक मैं कुशल कैसे हो सकता हूँ ? ।। १० ।।

जबतक चित्त में उत्पन्न हुई आशाएँ पूर्णरूप से वैसे ही काटी नहीं जातीं जैसे लताओं के बन्धन सरौते आदि से काटे जाते हैं, तब तक हमें कुशलता कहाँ ? ।। ११ ।।

जब तक आत्मज्ञान (शोधित 'त्वम्' और 'तत्' पदार्थ का परिज्ञान) प्राप्त नहीं हो जाता, जबतक समभाव का उदय नहीं हो जाता और जबतक अखण्ड-

आत्मलाभं विना साधो ! विना ज्ञानमहौषधम् ।
उदेति पुनरेवेयं दुःसंसृतिविषूचिका ॥ १३ ॥
शैशवाङ्कुरितोज्जृम्भान्नवयौवनपल्लवः ।
जराकुसुमितोऽभ्येति पुनः संसारदुर्द्रुमः ॥ १४ ॥
कायजीर्णतरोरस्माद् बान्धवाक्रन्दषट्पदा ।
जराकुसुमितोदेति पुनर्मरणमञ्जरी ॥ १५ ॥
भुक्तकर्मर्तुविरसा पुराणदिवसोम्भिता ।
नीयते नीरसप्राया पुनः संवत्सरावली ॥ १६ ॥
महादरीषु देहाद्रेस्तृष्णाकण्टकितास्वपि ।
फलव्यालासु च पुनः क्रियासु परिलुठ्यते ॥ १७ ॥
दुःखैः सुखलवाकारैर्दीर्घादीर्घैः शुभाशुभैः ।
अपर्याप्तागमापायाः प्रयान्त्यायान्ति रात्रयः ॥ १८ ॥
अयथार्थक्रियारम्भैः कदाशावेशपल्लवैः ।
क्षीयते कर्मभिस्तुच्छैरायुराहतकर्मभिः ॥ १९ ॥

वाक्यार्थ-बोध नहीं हो जाता, तबतक हम लोगों की कुशलता कहाँ ? ॥ १२ ॥

हे साधो ! आत्मा की प्राप्ति और ज्ञान रूप महान् औषध के बिना यह संसार रूपी दुष्ट महामारी पुनः पुनः उत्पन्न होती ही रहती है ॥ १३ ॥

पहले अङ्कुरित होने पर शैशवरूप टहनीरूपी विकास के अनन्तर उसका अतिक्रमण कर यौवनरूपी पत्ते धारण करने वाला और इसके बाद जरा रूपी कुसुम से कुसुमित यह संसार रूपी दुष्ट वृक्ष पुनः पुनः प्राप्त होता रहता है ॥ १४ ॥

इस जीर्ण-शीर्ण शरीर रूपी वृक्ष से बान्धवों के आक्रन्दन रूपी भ्रमरों के गुंजार शब्दमय मरणरूपी मञ्जरी और वृद्धावस्थारूपी पुष्प लगते हैं, यह पुनः पुनः उत्पन्न होती रहती है ॥ १५ ॥

जिन में कर्म भोग सम्पन्न वसन्त आदि ऋतुओं से सारहीन, प्राचीन दिवसों से पूरित अतएव प्रायः नीरस यह संवत्सरों की परम्परा पुनः व्यर्थ ही बिताई जाती है। संस्कृत व्याख्या के अनुसार उसका आशय व्यक्त करते हुए अच्युतमाला का अनुवाद इस प्रकार हैं—भाव यह है कि यदि प्राणी का दुष्ट प्रारब्ध हुआ तो उसको मरण के बाद नरक, स्थावरभाव या पशु आदि निकृष्ट योनियों में जन्म प्राप्त हो जाता है और यदि अच्छा प्रारब्ध हुआ तो स्वर्ग प्राप्त होता है। मरण के अनन्तर यदि नरक आदि मिले, तो वहाँ पर वसन्त आदि ऋतुओं में—जिन में कि ठंडी, गर्मी, वायु, वर्षा, सर्प, मच्छर आदि दुःखदायी असंख्य प्रतिबन्धक भरे पड़े हैं—दुष्कृत कर्मों का उपभोग करना ही पड़ता है, अतएव इन ऋतुओं में सरसता कहाँ रही, इन्हीं के कारण वसन्त आदि छः ऋतुओं के मिलने पर हुआ वर्ष भी बिरस ही होगा और सुतरां वर्षपरम्परा भी, इस अभिप्राय से 'भुक्तकर्मर्तुविरसा' यह 'संवत्सरावली' का विशेषण है। अच्छे प्रारब्ध से मरण के बाद यदि स्वर्ग मिला, तो वहाँ पर गया हुआ प्राणी दूसरे पुण्य का साधन करने नहीं पाता, क्योंकि स्वर्ग में केवल भोग ही भोग होता है, पुण्य का संचय नहीं होता, जो पहले का संचित पुण्य होगा, उसका तो व्यय ही होगा। दूसरी बात यह है कि स्वर्ग में अपने अपने पुण्यों के अनुसार ऊँचे नीचे फलों का उपभोग कर रहे दूसरे जीवों को देखकर प्राणी को हर्ष, असूया आदि होते हैं, ऐसी स्थिति में हर्ष, अमर्ष, असूया, काम आदि दोषों की अधिकता से शम, दम आदि का अनुष्ठान न हो सकने के कारण आत्मज्ञान की प्राप्ति भी स्वर्ग में दुर्लभ है, अतः विषयानुरक्ति से जिन जिन विषयों का वहाँपर बैठकर प्रतिदिन उपभोग किया जाता है, उन सब का पहले अनेक बार उपभोग किया जा चुका है, नवीन विषय तो कोई है नहीं, अतः प्राचीनानुभूत विषयोपभोग से दिन भी प्राचीन प्राय हुए। वर्षात्मक काल दिवसों से पूर्ण है, अतः 'एवंविध प्राचीन दिनों से पूरित' एतदर्थक 'पुराणदिवसोम्भिता' यह दूसरा विशेषण 'संवत्सरावली' का है ॥ १६ ॥

विषयोपभोग रूपी फल ही इसमें भयङ्कर सर्प हैं, हजारों विषयोपभोगों की तृष्णाएँ उत्पन्न काँटे हैं, इस प्रकार की देहरूपी पर्वत की महान् भीषण गुफाओं के समान देहस्थ छिद्रों में अवस्थित इन्द्रियों की आसक्तियों में तथा ऐहिक एवं आमुष्मिक भोगों की साधन लौकिक और वैदिक क्रियाओं में ही जीव सदा सर्वदा लुढ़कता रहता है ॥ १७ ॥

सुख के लेशमात्र आकार युक्त चिरकाल और अल्पकाल तक भोग्य होने के कारण दीर्घ एवं अदीर्घ पुण्य-पापात्मक कर्मरूपी दुःखों से कभी समाप्त न होने वाले आगम और अपगम से युक्त रात्रियाँ समस्त जन्मों में आती जाती रहती हैं ॥ १८ ॥

कुत्सित आशाओं के आवेश से पल्लवित, मिथ्या फल वाले और तुच्छ कर्मों के द्वारा मिथ्या आचरण करनेवाले पुरुष अपनी आयु को इसी प्रकार नष्ट कर डालते हैं ॥१९ ॥

उन्मूलिताश्रयालानो मनोमत्तमतङ्गजः ।
तृष्णाकरेणुकोन्निद्रो दूरं विपरिधावति ॥ २० ॥
जिह्वाचपलतालग्नः कायद्रुममहालये ।
पतच्चिन्तामणौ वृद्धो गर्द्धगध्रो विवर्धते ॥ २१ ॥
नीरसा निःसुखा लघ्वी पतत्पेलवगात्रिका ।
जीर्णपर्णसवर्णेयं क्षीयते दिवसावली ॥ २२ ॥
अवमानरजोध्वस्तमस्तंगतवपुःश्रियम् ।
मुखं धूसरतामेति हिमैः पद्ममिवाऽऽहतम् ॥ २३ ॥
शुष्यतः कायसरसः प्रगलद्यौवनाम्भसः ।
राजहंसः क्षणादायुरनिर्वाति पलायते ॥ २४ ॥
कालानिलबलोद्धूताज्जर्जराज्जीवितद्रुमात् ।
भोगपुष्पाणि दिवसपर्णानि निपतन्त्यधः ॥ २५ ॥
भोगभोगिश्रितेष्वन्तर्दुःखदर्दुरधारिषु ।

परमात्मा में बन्धन के हेतु विवेक रूपी आलान को उखाड़ फेकने वाला है और तृष्णाविषय रूपी हथिनी में कामासक्त विगतनिद्रा वाला मनरूपी मदोन्मत्त हाथी दूर दूर चारों ओर दौड़ता रहता है ॥ २० ॥

परमपुरुषार्थ का साधन आयुरूप चिन्तामणि तथा विवेकरूप चिन्तामणि व्यर्थ समाप्त हो रहे शरीर वृक्ष के ऊपर अवस्थित हृदयरूपी बड़े घोंसले में रहने वाला जीभ की चपलता में संलग्न अत्यन्त प्राचीन स्वादु अन्न आदि की कामना में लगा हुआ वृद्ध गीध बढ़ता ही रहता है ॥ २१ ॥

जीर्ण-शीर्ण पत्ते के समान रसशून्य, सुख से वर्जित, दिवसों से परिच्छिन्न अवयव श्रम, दुर्बलता, रोग आदि से कार्य में असमर्थ यह तुच्छ शरीरलता नष्ट हो जाती है ॥ २२ ॥

वृद्धावस्था में पुत्र, भृत्य आदि के द्वारा जनित अपमानरूपी धूली से आहत, शारीरिक शोभा से वर्जित मुख वैसे ही धूसर हो जाता है जैसे कुहरे से आहत कमल मटमैला हो जाता है ॥ २३ ॥

यौवनरूपी जल के नष्ट होने पर सूख रहे शरीर रूपी सरोवर से आयु वैसे ही भाग जाती है, और पुनः कभी नहीं लौटती जैसे सूखते हुए सरोवर से राजहंस तत्क्षण भाग जाता है, फिर कभी नहीं लौटता ॥ २४ ॥

काल रूपी पवन के द्वारा बलपूर्वक कम्पित जर्जर जीवन रूपी वृक्ष से भोग रूपी फूल और दिवस रूपी पत्ते नीचे गिर जाते हैं ॥ २५ ॥

मनो मोहान्धकूपेषु पूरेषु विनिमज्जति ॥ २६ ॥
नानानुरञ्जनास्पृष्टा तृष्णातरलपेलवा ।
चैत्यमग्रपताकेव दूरं समधिरोहति ॥ २७ ॥
अस्य संसारतन्त्रस्य बृहत्कालबिलास्पदः ।
जीविताशामयं तन्तुमन्तकाखुर्निकृन्तति ॥ २८ ॥
यौवनोत्कटकल्लोला वहल्लोलासिफेनिला ।
परावर्तमहावर्ता याति जीवितदुर्नदी ॥ २९ ॥
कलाकुलजगत्कार्यकल्लोलाकुलसङ्कुला ।
क्रियासरिदपर्यन्ता वहत्याकुलकोटरा ॥ ३० ॥
अनन्ता बन्धुजनतानद्यो गम्भीरकोटरे ।
अजस्रं निपतन्त्येता वितते कालसागरे ॥ ३१ ॥
देहरत्नशलाकेयं नाशपङ्कार्णवोदरे ।
न ज्ञायते क्व मग्नेति तात ! जन्मनि जन्मनि ॥ ३२ ॥

भोग रूपी बड़े बड़े सर्पों से समन्वित और आन्तर दुःखात्मक मेढ़कों से परिपूर्ण मोहों के अन्धकूपों में स्थित जल-प्रवाहों में मन डूबता रहता है ॥ २६ ॥

अनेक तरह के अनुरागों में लगी हुई यह तरल तुच्छ तृष्णा, देव मन्दिरों के ऊपर लगी पताका की तरह ऊँची ही चढ़ी रहती है ॥ २७ ॥

महान् काल रूपी बिल में रहने वाला मृत्यु रूप चूहा इस संसार रूपी ताँतों के जीवन रूपी आशा से परिपूर्ण आयु रूपी तन्तु को सदा कतरता रहता है ॥ २८ ॥

यौवन ही बड़े-बड़े तरङ्गों वाली चंचल तलवार के सदृश काम, क्रोध, द्वेष, भय आदि फेन तथा लोभ तृष्णा आदि से यत्र तत्र होने वालों से समन्वित परिभ्रमण रूपी महान् आवर्त युक्त जीवित रूपी दुष्ट नदी व्यर्थ ही व्यतीत हो रही है ॥ २९ ॥

शिल्प, तर्क, नीतिशास्त्र आदि कौशलों से व्याप्त, जगत् के व्यवहार रूप तरङ्गों से परिपूर्ण क्षुब्धता रूपी कोटरों से युक्त असीम यह प्रवृत्तिरूपा नदी, इसी प्रकार प्रत्येक जन्म में निरर्थक बहती रहती है ॥ ३० ॥

ये बन्धुजनों की समूहात्मिका असंख्य नदियाँ गम्भीर कोटर वाले विशाल काल सागर में निरन्तर गिरती रहती हैं ॥ ३१ ॥

हे तात ! परम पुरुषार्थ की साधानभूता यह देह रूपी रत्नशलाका विनाश रूपी कीचड़ से पूर्ण सागर के पेट में किस जगह समा गई है यह अनेक जन्मों में भी नहीं जाना जाता है ॥ ३२ ॥

चिन्ताचक्रे चिरं बद्धं कुक्रियाचारचञ्चुरम् ।
चेतो भ्रमति सामुद्रे गर्तावर्ते तृणं यथा ॥ ३३ ॥
उह्यमानमनन्तेषु चेतः कार्यमहोर्मिषु ।
क्षणमेति न विश्रान्तिं चिन्ताताण्डविताशयम् ॥ ३४ ॥
इदं कृतं करोमीदं करिष्यामीदमित्यलम् ।
कलनाजालवलिता मूर्च्छिता मतिपक्षिणी ॥ ३५ ॥
अयं सुहृदयं शत्रुरिति द्वन्द्वमहाद्विपः ।
विनिकृन्तति मर्माणि यथा नीलोत्पलानि मे ॥ ३६ ॥
चिन्तानद्या महावर्ते वीचिकानिचये चिरम् ।
क्षणादुच्छूनतामेति मनोमीनः क्षणाद्गतिः ॥ ३७ ॥
अनात्मीयानि दुःखानि बहून्येवंविधान्ययम् ।
आत्मबुद्ध्या विचिन्वानो जनो गच्छति दीनताम् ॥३८॥
बहुविधसुखदुःखमध्यपाती
वितततजरामरणप्रवातभग्नः ।
जगदुदयगिरौ लुठञ्जनोऽयं
गतरसपर्णवदेति जर्जरत्वम् ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे अनित्यताप्रतिपादनं नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

चिन्ता रूपी चक्र में चिरकाल से बद्ध तथा दुष्ट क्रियाओं के अनुष्ठान में निरत यह चित्त, समुद्र के छिद्र वाले बड़े आवर्त में घूम रहे तृण की तरह घूमता रहता है ॥ ३३ ॥

असंख्य काय रूपी तरङ्गों में बहने वाला तथा चिन्ता रूपी ताण्डव-नृत्य से युक्त चित्त क्षणभर भी विश्रान्ति नहीं पाता है ॥ ३४ ॥

मैंने यह किया, यह करता हूँ और यह करूँगा, इस प्रकार की कल्पनाओं के जाल में फँसकर बुद्धि रूपी पक्षी अत्यन्त मोहित हो जाती है ॥ ३५ ॥

यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु है, इस प्रकार के द्वन्द्व रूपी मदोन्मत्त हाथी मेरे मर्म-स्थानों का वैसे ही भेदन कर रहा है जैसे मत्त हाथी नील कमलों का उच्छेदन कर देता है ॥ ३६ ॥

चिर कालिक तरङ्गों के समूहों से परिव्याप्त चिन्ता नदी के महान् आवर्त में, अत्यन्त चपल मन रूपी मत्स्य क्षण भर में बहुत बढ़ जाता है ॥ ३७ ॥

आत्मा के स्पर्श रहित अनात्मभूत देह आदि में आत्मबुद्धि के कारण ही शरण लेने वाले असंख्य दुःखों को देहात्मबुद्धि से अवगत करने वाला पुरुष दैन्य को प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥

विविध सुख और दुःखों के बीच में मग्न विशाल जरा-मरण रूपी आँधी से पुनः पुनः मर्दित तथा जगत्-रूपी उदयाचल पर लोट रहा यह प्राणी सूखे पत्ते की तरह जर्जरता को प्राप्त करता है ॥ ३९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में अनित्यताप्रतिपादन नामक कुसुमलता का छाछठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६६ ॥

६७

वसिष्ठ उवाच

एवं तौ कुशलप्रश्नं कृतवन्तौ परस्परम् ।
कालेनाऽऽसाद्य विमलं ज्ञानं मोक्षं ततो गतौ ॥ १ ॥
ततो वच्मि महाबाहो ! यथा ज्ञानेतरा गतिः ।
नाऽस्ति संसारतरणे पाशबन्धस्य चेतसः ॥ २ ॥
इदं भव्यमतेर्दुःखमनन्तमपि पेलवम् ।
कुखगस्याऽतरोऽम्भोधिः सर्पारेर्गोष्पदायते ॥ ३ ॥

६७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—उन दोनों ने इस प्रकार संसार की असारता के विचार से ओत-प्रोत कुशल प्रश्न आपास में किया। अनन्तर के दोनों समय से विशुद्ध ज्ञान पाकर मुक्त हो गये ॥ १ ॥

हे महाबाहो ! इसलिए मैं कहता हूँ कि जाल के समान बान्धन के साधन चित्त संसार पार करने के लिए यथार्थ आत्मज्ञान के सिवा और दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ २ ॥

पहले वर्णित असीम दुःखी विवेकीपुरुष के लिए वैसे ही अत्यन्त कोमल है जैसे साधारण तुच्छ पक्षी के लिए दुस्तर सागर गरुडजी के लिए गाय के खुर मात्र के समान है उसका उच्छेद अनायास किया जा सकता है ॥३ ॥

देहातीता महात्मानश्चिन्मात्रस्वात्मनि स्थिताः ।
दूराद्देहं समीक्षन्ते प्रेक्षको जनतामिव ॥ ४ ॥
देहे दुःखातिसंक्षुब्धे का नः क्षतिरुपस्थिता ।
रथे विधुरिते भग्ने सारथेः केव खण्डना ॥ ५ ॥
मनसि क्षुब्धतां याते चित्त्वस्याऽङ्ग किमागतम् ।
तरङ्गजलसन्ताने वैपरीत्यं किमम्बुधेः ॥ ६ ॥
केऽभवन् पयसां हंसाः पयसामुपलाश्च के ।
काः शिलाः किल दारूणां के भोगाः परमात्मनः ॥ ७ ॥
सम्बन्धः क इव श्रीमन् ! शैलापरसमुद्रयोः ।
अन्तरे गिरिसम्बाधे कश्च चित्तत्त्वबन्धयोः ॥ ८ ॥
अप्युत्सङ्गोह्यमानानि पद्मानि सरिदम्भसाम् ।
कानि नाम भवन्तीह शरीराणि तथाऽऽत्मनः ॥ ९ ॥
संघट्टात् काष्ठपयसोर्यथोत्तुङ्गाः कणादयः ।

देहाभिमान से रहित, चिन्मात्र स्वरूप अपनी आत्मा में निष्ठा रखने वाले महात्मा लोग वैसे ही दूर से ही देह को देखते रहते हैं जैसे तटस्थ दर्शक पुरुष दूर से ही जन-समूह को देखता है ॥ ४ ॥

देह के दुःखों से अत्यन्त क्षुब्ध होने पर भी हमें आत्मा में कौन सी क्षति पहुँचती है। रथ के धुरा रहित होने पर या टूट जाने पर सारथियों की कौन-सी क्षति पहुँचती है ॥ ५ ॥

चिर स्वभाव आत्मा के पूर्णत्व, स्वरूप से क्या वैसा ही होता है। मन के क्षुब्ध हो जाने पर क्या क्षति हुई ? क्या तरङ्गों के रूप में जल का विस्तार हो जाने पर पूर्ण स्वभाव समुद्र में क्या पूर्णता स्वरूप की हानि होती है ? ॥ ६ ॥

भला बतलाइये कि हंस और पाषाण जल के कौन होते हैं ?शिलाएँ काष्ठों की कौन होती हैं ? वैसे ही भोग परमात्मा के कौन होते हैं ? आशय यह है कि अचेतन और असङ्ग चिति में कभी-भी ममता नहीं हो सकती है ॥ ७ ॥

हे श्रीमन् ! परमात्मा और संसार में भी वैसे ही परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है जैसे बीच-बीच में अनेक पर्वतों से व्याप्त होने पर भी उत्तर पर्वत और दक्षिण समुद्र का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ ८ ॥

यहाँ आत्मा का शरीर भी वैसे ही कोई नहीं हैं जैसे अपनी गोद में धारण किये गये कमल जल के कौन होते हैं ? ॥ ९ ॥

देह और आत्मा के तादात्म्याध्यास से सुख, दुःख आदि

देहात्मनोः समायोगात् तथैताश्चित्तवृत्तयः ॥ १० ॥
सम्बन्धाद् दारुपयसां प्रतिबिम्बानि दारुणः ।
यथा पयसि लक्ष्यन्ते शरीराणि तथाऽऽत्मनि ॥ ११ ॥
यथा दर्पणवीच्यादौ प्रतिबिम्बानि वस्तुतः ।
नाऽसत्यानि च सत्यानि शरीराणि तथाऽऽत्मनः ॥१२॥
दारुवार्युपलास्फोटे दुःखिता न यथा क्वचित् ।
संयुक्तेषु वियुक्तेषु न तथा पञ्चसु क्षतिः ॥ १३ ॥
दारुसंश्लेषितात्तोयात् कम्पशब्दादयो यथा ।
प्रजायन्ते तथैवाऽस्माद्देहाच्चित्परिबोधितात् ॥ १४ ॥
न शुद्धजडयोरेताः संविदश्चिच्छरीरयोः ।
एता ह्यज्ञानमात्रस्य तस्मिन्नष्टे चिदेव नः ॥ १५ ॥
यथा न कस्यचिद् वारिदारुश्लेषेऽनुभूतयः ।
तथा न कस्यचिद् देहदेहिसङ्गेऽनुभूतयः ॥ १६ ॥

चित्त की अनेक वृत्तियाँ वैसे ही उत्पन्न होते हैं जैसे काठ और जल के अन्योन्य आघात से बड़े-बड़े उत्तुङ्ग कण आदि उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥

अध्यासिक सम्बन्ध से आत्मा में शरीर वैसे ही दिखाई देते हैं। जैसे जल और काष्ठ के केवल सान्निध्य से ही जल में काठ के प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं ॥११॥

आत्मा में प्रतीयमान शरीर भी वैसे ही न सत्य हैं और न असत्य हैं किन्तु अनिर्वचनीय हैं। जैसे दर्पण, तरङ्ग आदि में पड़े हुए प्रतिबिम्ब वास्तव में न सत्य हैं और न असत्य हैं, किन्तु अनिर्वचनीय हैं ॥ १२ ॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश रूपी पाँच भूत देह आदि के स्वरूप में परिणत चन्दन आदि से संयुक्त अथवा स्त्री, पुत्र आदि से वियुक्त होने पर वैसे ही कभी-भी दुःखित नहीं होते जैसे परस्पर आहत होने पर काठ, जल और पत्थर कभी दुःखित नहीं होते ? ॥ १३ ॥

सामीप्य संसर्ग से चैतन्य के द्वारा अधिष्ठित होकर चारों ओर से बोधित इस देह से वैसे ही कम्प शब्द आदि क्रियाएँ होती हैं जैसे काठ के साथ सम्बन्ध को प्राप्त जल से कम्प, शब्द आदि क्रियाओं की उत्पत्ति होती है ॥ १४ ॥

शुद्ध चैतन्य और जड़ देह को सुख, दुःख आदि के अनुभव नहीं होते हैं केवल अज्ञान को ही होते हैं, अज्ञान के नष्ट हो जाने पर हम लोगों की केवल शुद्ध चिति ही अवशिष्ट रह जाती है ॥ १५ ॥

देह और देहाभिमानी आत्मा का सम्बन्ध होने पर उनमें से किसी को भी वैसे ही सुख, दुःख आदि का

अज्ञस्याऽयं यथा दृष्टः संसारः सत्यतां गतः ।
न ज्ञस्याऽयं यथाभूतः संसारः सत्यतां गतः ॥ १७ ॥

अन्तःसङ्गविहीनास्तु यथा स्नेहा दृषज्जले ।
तथाऽसक्तमनोवृत्तौ बाह्यभोगानुभूतयः ॥ १८ ॥

अन्तःसङ्गेन रहितो यद्वत् सलिलकाष्ठयोः ।
सम्बन्धस्तद्वदेवाऽन्तरसङ्गो देहदेहिनोः ॥ १९ ॥

अन्तःसङ्गेन रहितः सम्बन्धो जलकाष्ठयोः ।
स देहदेहिनोश्चैवं प्रतिबिम्बाम्भसोस्तथा ॥ २० ॥

स्थिता सर्वत्र संवित्तिः शुद्धा संवेद्यवर्जिता ।
द्वित्वोपलाञ्छिता त्वन्या दुःसंवित्तिर्न विद्यते ॥ २१ ॥

अदुःखमेति दुःखित्वमन्तःसंवेदनात् स्फुटम् ।

अनुभव नहीं होता है जैसे काठ और जल का सम्पर्क होने पर उनमें से किसी को सुख और दुःख का अनुभव नहीं होता ॥ १६ ॥

जिस रूप से अज्ञानी पुरुष इस संसार को देखता है, उनको उस रूप से ही सत्य ही मान लेता है और जिस रूप से ज्ञानी पुरुष इस संसार को देखता है उसको उस रूप से सत्य नहीं मानता ॥ १७ ॥

ज्ञानी पुरुष को आसक्ति रहित मानसिक वृत्तियाँ के होने पर उत्पन्न बाह्य विषयों के अनुभव वैसे ही भीतरी अभिमान से रहित होते हैं जैसे पत्थर और जल के सम्बन्ध भीतर के अनुप्रवेश से रहित होते हैं, जल के भीतर न पत्थर का प्रवेश होता है और न पत्थर के भीतर जल का प्रवेश होता है ॥ १८ ॥

देह और देही आत्मा का सम्बन्ध भी वैसे ही परमार्थ सम्बन्ध से रहित होता हैं जैसे जल और काठ का सम्बन्ध भीतर के सम्बन्ध से रहित होता है ॥ १९ ॥

देह और देही का भी सम्बन्ध वैसे ही अन्तःसङ्ग से रहित अर्थात् तादात्म्यसम्बन्ध से शून्य ही होता है जैसे जल और काठ का तथा प्रतिबिम्ब और जल का सम्बन्ध अन्तःसङ्ग से रहित अर्थात् तादात्म्यसम्बन्ध से शून्य होता है । पूर्व श्लोक में जल और काठ का दृष्टान्त संसार्गाभाव के बोधन के लिए और यहाँ तादात्म्याभाव के बोधन के लिए दिया गया है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है ॥ २० ॥

ज्ञेय विषयों से शून्य शुद्ध संवेद ही सर्वत्र स्थित है, द्वैत से कलङ्कित दूसरी संवित्ति ही नहीं है क्योंकि द्वैत के विषय का निरूपण ही नहीं हो सकता है ॥ २१ ॥

स्फारो भवति वेतालो वेतालत्वेन भावितः ॥ २२ ॥

असम्बन्धोऽपि सम्बन्धो भवत्यन्तर्विनिश्चयात् ।
स्वप्नाङ्गनासुरतवत् स्थाणुवेतालसङ्गवत् ॥ २३ ॥

असत्प्रायो हि सम्बन्धो यथा सलिलकाष्ठयोः ।
तथैव मिथ्यासम्बन्धः शरीरपरमात्मनोः ॥ २४ ॥

अन्तःसङ्गं विना नाऽम्बु काष्ठपातैः प्रगृह्यते ।
आत्माऽङ्गसङ्गरहितो देहदुःखैर्न दह्यते ॥ २५ ॥

देहभावनयैवाऽऽत्मा देहदुःखवशे स्थितः ।
तत्त्यागेन ततो मुक्तो भवतीति विदुर्बुधाः ॥ २६ ॥

अन्तःसङ्गविहीनत्वाद्दुःखवन्त्यङ्ग नो यथा ।
पत्राम्बुमलदारूणि श्लिष्टान्यपि परस्परम् ॥ २७ ॥

दुःखशून्य चैतन्यरूप आत्मा भी अन्तःकरण में दुःख-भावना करने से वैसे ही स्पष्ट दुःखित्वरूप से प्रतीत होने लगती है जैसे वेतालरूप से भावना करने पर अवेताल वस्तु भी विशाल वेताल स्वरूप हो जाती है ॥ २२ ॥

आत्मा के साथ वास्तव देह आदि का सम्बन्ध न होने पर भी वैसे ही मन की भावना से उसके साथ देहादि का आध्यासिक सम्बन्ध हो जाता है जैसे वास्तव सम्बन्ध न होने पर भी स्वाप्निक अङ्गना के साथ क्रीडा आदि व्यापार में आध्यासिक सम्बन्ध हो जाता है जैसे वेताल रूप न होने पर भी ठूँठ अँधेरे में आध्यासिक सम्बन्ध से वेतालरूप हो जाता है ॥ २३ ॥

वैसे ही शरीर और परमात्मा का सम्बन्ध भी वैसे ही मिथ्या है जैसे जल और काठ का परस्पर सम्बन्ध मिथ्या रूप है ॥ २४ ॥

देह आदि के अध्यासों से शून्य आत्मा वैसे ही शारीरिक दुःखों से पीडित नहीं होता जैसे अहन्ता के अध्यास का अभाव होने के कारण काष्ठों के पतनों से जल पीडित नहीं होता है ॥ २५ ॥

देह में अहंभावना करने से ही आत्मा देह के दुःखों से दुःखित है, इसलिए देहभावना का परित्याग करने से ही पुरुष मुक्त हो जाता है ऐसा विद्वानों का स्थिर सिद्धान्त है ॥ २६ ॥

आत्मा, देह, इन्द्रिय और मन एक दूसरे से पर्याप्त रूप से सम्बद्ध होने पर भी अहन्ताध्यास का वास्तव में अभाव होने के कारण वे वैसे ही परमार्थतः दुःख से रहित ही सदा सर्वदा रहते हैं जैसे छोटे तालाब में गिरे हुए पत्ते, जल, मल और काष्ठ एक दूसरे से सम्बद्ध होने

अन्तःसङ्गेन रहिता यान्ति निर्दुःखतां पराम् ।
श्लिष्टान्यपि तथैवाऽऽत्मदेहेन्द्रियमनांस्यलम् ॥ २८ ॥
अन्तःसङ्गो हि संसारे सर्वेषां राम ! देहिनाम् ।
जरामरणमोहानां तरूणां बीजकारणम् ॥ २९ ॥
अन्तःसंसङ्गवान् जन्तुर्मग्नः संसारसागरे ।
अन्तःसंसक्तिमुक्तस्तु तीर्णः संसारसागरात् ॥ ३० ॥
अन्तःसंसङ्गवच्चित्तं शतशाखमिवोच्यते ।
अन्तःसंसङ्गरहितं विलीनं चित्तमुच्यते ॥ ३१ ॥
अभग्नस्फटिकवद्धिद्धि मनः सक्तमपावनम् ।
अभग्नस्फटिकाभासमसक्तं विद्धि मे मनः ॥ ३२ ॥
असक्तं निर्मलं चित्तं मुक्तं संसार्यपि स्फुटम् ।
सक्तं तु दीर्घतपसा युक्तमप्यतिबन्धवत् ॥ ३३ ॥
अन्तःसक्तं मनो बद्धं मुक्तं सक्तिविवर्जितम् ।
अन्तःसंसक्तिरेवैकं कारणं बन्धमोक्षयोः ॥ ३४ ॥
अन्तःसंसक्तिमुक्तस्य कुर्वतोऽपि न कर्तृता ।
गुणदोषवती तोये दारुवाहननौर्यथा ॥ ३५ ॥
अन्तःसंसक्तितो जन्तोरकर्तुरपि कर्तृता ।
सुखदुःखवति स्वप्ने संभ्रमोन्मुखता यथा ॥ ३६ ॥
चित्ते कर्तरि कर्तृत्वमदेहस्याऽपि विद्यते ।
स्वप्नादाविव विक्षुब्धसुखदुःखदृशोपमम् ॥ ३७ ॥
अकर्तरि मनस्यन्तरकर्तृत्वं स्फुटं भवेत् ।
शून्यचित्तो हि पुरुषः कुर्वन्नपि न चेतति ॥ ३८ ॥
चेतसा कृतमाप्नोषि चेतसा न कृतं तु न ।
न क्वचित्कारणं देहो न च चित्ते न कर्तृता ॥ ३९ ॥

पर भी अहन्ताध्यास से रहित होने के कारण दुःखी नहीं होते ॥ २७-२८ ॥

हे श्रीरामजी ! संसार में समस्त प्राणियों के जरा, मरण और मोह रूपी वृक्षों का उपादान कारण अहन्ताध्यास ही है अर्थात् यही संसार का मूल कारण है ॥२९॥

अहन्ताध्यास से युक्त जीव इस संसाररूपी सागर में डूबा हुआ है और अहन्ताध्यास से निर्मुक्त जीव संसाररूपी सागर से पार हो चुका है ॥ ३० ॥

अहन्ताध्यास से युक्त मन, काम आदि वृत्तियों के असंख्य स्वरूप होने से अनन्त शाखा-प्रशाखाओं से मुक्त वृक्ष के सदृश और अहन्ताध्यास से वर्जित मन विलीन चित्त कहा जाता है ॥ ३१ ॥

विषयासक्त हुआ यह मन वैसे ही अपवित्र हो जाता है जैसे भीतर से खण्डित हुए स्फटिक-निर्मित लिङ्ग आदि पूजा के अयोग्य हो जाते हैं और विषयों में आसक्ति से वर्जित यह मन वैसे ही सदा सर्वदा पवित्र ही रहता है जैसे खण्डित न हुए स्फटिक आदि से निर्मित लिङ्ग आदि पवित्र रहते हैं ॥ ३२ ॥

विषयों की आसक्ति और विक्षेप आदि मलों से रहित चित्त संसारी होते हुए भी निःसंशय मुक्त है और विषयों में आसक्त चित्त चिरकालिक तपश्चर्या से युक्त होते हुए भी बन्धन से अत्यन्त ग्रस्त ही है ॥ ३३ ॥

अहन्ता आदि अध्यास से युक्त मन संसाररूपी बन्धन से आबद्ध है और अहन्ता आदि अध्यास से रहित मन संसाररूपी बन्धन से मुक्त है, अहन्ता अध्यास ही बन्ध और मोक्ष में कारण है ॥ ३४ ॥

अहन्ता आदि अध्यास से निर्मुक्त पुरुष, शरीरयात्रार्थ सब कुछ करता हुआ भी वैसे ही कर्ता नहीं होता है जैसे बड़े-बड़े काष्ठभारों को पार उतारने वाली जलस्थित नौका स्वयं लकड़ी की होती हुई भी लकड़ी के छेदन, भेदन, दहन आदि गुण-दोषों से तथा जल के चलन, परिवर्तन, निर्मलपन, गन्देपन आदि गुण-दोषों से गुण-दोषवती नहीं होती ॥ ३५ ॥

वास्तव में कर्ता न होनेपर भी जीव अहन्ता आदि के अध्यासवश वैसे ही कर्ता हो जाता है जैसे स्वप्न में, जो सुख और दुःख दोनों से भरा है, वास्तव में कुछ न रहने पर भी स्वप्नावस्थायुक्त जीव को बाघ आदि से जनित भय, पलायन आदि में व्याकुलता हो जाती है ॥ ३६ ॥

पुत्र, भृत्य आदि को देख रहे जाग्रदवस्थायुक्त आत्मा में देह की चेष्टा न होनेपर भी स्पष्टरूप से चित्त की कर्तृता से वैसे ही कर्तृत्व विद्यमान है जैसे स्वप्नावस्था में देह की चेष्टा न होने पर भी चित्त की कर्तृता से आत्मा में कर्तृत्व विद्यमान है यह कर्तृत्व भी मुख्य कर्तृत्व के सदृश ही है इसीलिए चञ्चल चित्त को सुख-दुःख जाते हैं ॥ ३७ ॥

मन के अकर्तृत्व होनेपर आत्मा का अकर्तृत्व स्पष्टरूप से सिद्ध हो जाता है, शून्यचित्त पुरुष कर्ता होते हुए भी अभिमान रहित होता है ॥ ३८ ॥

जो चित्त से किया गया है, आप उसीका फल पाते हैं और जो चित्त से नहीं किया गया है, उसका फल नहीं पाते हैं। देह कर्म के प्रति कहीं कारण नहीं है, क्योंकि चित्त में कर्तृत्वशक्ति नहीं है, यह बात नहीं है, चित्त की कर्तृत्वशक्ति से ही सब कर्मों की स्थिति होती है अतः देह में कर्तृत्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ३९ ॥

असंसक्तमकर्त्रैव कुर्वदेव मनो विदुः ।
न कर्मफलभोक्तृत्वमसक्तं प्रतिपद्यते ।। ४० ।।
ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यामसंसक्तो न लिप्यते ।
दूरस्थकान्तासंलीनमनाः कार्यैरिवाऽग्रगैः ।। ४१ ।।
अन्तःसंसक्तिनिर्मुक्तो जीवो मधुरवृत्तिमान् ।
बहिः कुर्वन्नकुर्वन्वा कर्ता भोक्ता नहि क्वचित् ।। ४२ ।।
अन्तःसंसक्तिमुक्तं यन्मनः स्यात्तदकर्तृकम् ।
तद्विमुक्तं प्रशान्तं तत्तपुक्तं तदलेपकम् ।। ४३ ।।
तस्मात्सर्वपदार्थानां श्लिष्टानां निश्रितं बहिः ।
सर्वदुःखकरीं क्रूरामन्तःसक्तिं विवर्जयेत् ।। ४४ ।।
विरहितमलमन्तःसङ्गदोषेण चेतः
शममुपगतमाद्यं व्योमवन्निर्मलाभम् ।
सकलमलविमुक्तेनाऽऽत्मनैकत्वमेति
स्थिरमणिनिभमम्भोवारिणीवारिनीले ।। ४५ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
अन्तःसंसङ्गविचारो नाम सप्तषष्टितमः सर्गः ।। ६७ ।।

मन के ही कुछ करने पर भी यदि वह उसमें आसक्त नहीं हो तो वह अकर्ता के समान ही है। आसक्ति रहित मन कर्मों के फलों का भोक्ता नहीं होता है तत्वज्ञ महानुभाव यही कहते हैं ।। ४० ।।

दूर देश में अवस्थित कान्ता में आसक्त मनवाले पुरुष जैसे सामने के कार्यों से अर्थात् शीत, उष्ण आदि के अनुभवरूप कार्यों से लिप्त नहीं होता है वैसे ही आसक्ति रहित पुरुष ब्रह्महत्या, अश्वमेध आदि के पुण्य-पापों से लिप्त नहीं होता है ।। ४१ ।।

अहन्ता आदि अनात्म अध्यासों से विनिर्मुक्त जीव विक्षेपों से शून्य सुखों का पूर्ण अनुभव करता है। वह बाहर से कुछ करे या न करे, पर वह सर्वथा कर्तृता और भोक्तृता से रहित ही है ।। ४२ ।।

अन्तः आसक्ति से रहित अन्तःकरण वाला पुरुष अकर्ता, विमुक्त, प्रशान्त, युक्त और अलिप्त ही होगा ।। ४३ ।।

इस प्रकार सबके भीतर में रहने वाली आत्मा से भिन्न बाहर से लगे हुए पाँच कोशों तथा भोग्यवर्गरूप बन्धन में डालने वाले समस्त पदार्थों का निरास करने का यही एक मुख्य उपाय निश्चित है कि अखिल दुःखों को देनेवाली क्रूर आसक्ति का परित्याग करना चाहिए आसक्ति परित्याग ही बन्धन के निरास में साधन है ।। ४४ ।।

आसक्ति दोष से रहित संसारदशा से प्राक्तन आकाश के समान निर्मलकान्ति वाले प्राप्त मन वैसे ही समस्त प्रपञ्चोपशमरूप मलों से शून्य परमात्मा के साथ एकरूप हो जाता है जैसे तीक्ष्ण धारवाले तलवार आदि शस्त्र के समान नीलाभ यमुनाजल में मिलित स्फटिक मणि की तरह अतिस्वच्छ गङ्गाजल उसके साथ एकरूप हो जाता है ।। ४५ ।।

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
अन्तःसंसङ्गविचार नामक कुसुमलता का सड़सठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। ६७ ।।

६८

श्रीराम उवाच

कीदृशो भगवन् ! सङ्गः कथं बन्धाय वा नृणाम् ।
कश्च मोक्षाय कथितः कथं वैष चिकित्स्यते ।। १ ।।

वसिष्ठ उवाच

देहदेहिविभागैकपरित्यागेन भावनात् ।
देहमात्रे तु विश्वासः सङ्गो बन्धार्ह उच्यते ।। २ ।।

६८

श्रीरामजी ने कहा—

हे भगवन् ! किस प्रकार सङ्ग होता है ? मनुष्यों को किस तरह का सङ्ग बन्धन में डालता है ? मोक्ष का कैसा सङ्ग कारण है ? और कैसे सङ्ग की निवृत्ति की जा सकती है ? ।। १ ।।

वसिष्ठजी ने कहा—

शरीर और क्षेत्रज्ञ आत्मा का विभाग अर्थात् शरीर जड़ और आत्मा चेतन है, यह जो उनकी विरुद्ध स्वभावता है, उसका सम्यक् पर्य्यालोचन न करने से ही एक दूसरे में एक दूसरे का तादात्म्य और एक दूसरे में एक दूसरे के धर्मों का अध्यास होता है। इस विनिमयभावना से शरीर में उत्पन्न आत्माभिमान ही सङ्ग कहलाता है और इसी सङ्ग से संसाररूपी बन्धन उत्पन्न होता है ।। २ ।।

अनन्तस्याऽऽत्मतत्त्वस्य सपर्यन्तत्वनिश्चये ।
यत्सुखार्थित्वमन्तः स सङ्गो बन्धार्ह उच्यते ॥ ३ ॥

सर्वमात्मेदमखिलं किं वाञ्छामि त्यजामि किम् ।
इत्यसङ्गस्थितिं विद्धि जीवन्मुक्ततनुस्थितिम् ॥ ४ ॥

नाऽहमस्मि न चाऽन्योऽस्ति मा भवन्तु भवन्तु वा ।
सुखान्यसक्त इत्यन्तः कथ्यते मुक्तिभाङ् नरः ॥ ५ ॥

नाऽभिनन्दति नैष्कर्म्यं न कर्मस्वनुषज्जते ।
सुसमो यः फलत्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ॥ ६ ॥

आत्मतत्त्वैकनिष्ठस्य हर्षामर्षवशं मनः ।
यस्य नाऽऽयात्यसक्तोऽसौ जीवन्मुक्तः स कथ्यते ॥ ७ ॥

सर्वकर्मफलादीनां मनसैव न कर्मणा ।
निपुणं यः परित्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ॥ ८ ॥

असंसङ्गेन सकलाश्चेष्टा नानाविजृम्भिताः ।
चिकित्सिता भवन्तीह श्रेयः संपादयन्ति च ॥ ९ ॥

संसक्तिवशतः सर्वे वितता दुःखराशयः ।
प्रयान्ति शतशाखत्वं श्वभ्रकण्टकवृक्षवत् ॥ १० ॥

रज्जुकृष्टघनघ्राणो यद्गत्या पथि गर्दभः ।
भारं वहति भीतात्मा तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ ११ ॥

शीतवातातपक्लेशमेकदेशनिषण्णया ।
तरुर्वहति यत्तन्वा तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १२ ॥

धराविवरनिर्मग्नो यत्कीटः पीडिताङ्गकः ।
क्षिणोति विकलः कालं तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १३ ॥

असीम स्वरूप आत्मा का काल से, देश से और वस्तु से किसी तरह परिच्छेद नहीं हो सकता है । अज्ञानवश उसमें इन त्रिविध परिच्छन्नता का निश्चय होने पर जीव को अपनी आत्मा की अपरिच्छिन्नसुखस्वभावता का विस्मरण हो जाता है, इस विस्मरण से तुच्छ विषयों से वह आभ्यन्तर सुख चाहने लगता है यह जो वैषयिक सुखाभिलाषा है वही बन्धनसाधना सङ्ग कहलाती है ॥३॥

समस्त दृश्यप्रपञ्च आत्म स्वरूप है, इसलिए मैं उसमें किसको चाहूँ और किसको छोड़ दूँ, इस प्रकार के परिपक्व विचार से उत्पन्न जीवन्मुक्त के शरीर की अवस्था को आप असङ्ग-स्थिति जानें ॥ ४ ॥

मैं अहङ्कार से परिच्छिन्न स्वल्प नहीं हूँ, मेरे सिवा दूसरा कोई नहीं है, इसलिए मिथ्याभूत शरीर में विषयों से जनित सुख हों या न हों, मैं तो देहादिक के साथ कभी सङ्गता को न प्राप्त होने वाले स्वभाव से युक्त है, इस प्रकार का भीतर से दृढ निश्चय वाला मनुष्य मुक्ति का अधिकारी कहलाता है ॥ ५ ॥

अपनी निष्कर्म भाव की बड़ाई नहीं करने वाला फल के उद्देश्य से कर्मों में अभिनिवेश नहीं करने वाला फल की सिद्धि और असिद्धि में सदा एक समान रहने वाला और ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म फलों का परित्याग करने वाला ही पुरुष असंसक्त कहलाता है ॥ ६ ॥

सदा सर्वदा आत्मस्वरूप में ही निष्ठा रखने वाले जिस महात्मा का अन्तःकरण हर्ष और क्रोध के वश में नहीं होता है वही लोक में असक्त और जीन्वमुक्त कहे जाते हैं ॥ ७ ॥

जो पुरुष अत्यन्त कुशलतापूर्वक सम्पूर्ण कर्म और उससे उत्पन्न फल आदि का केवल मन से ही त्याग करता है न कर्म से परित्याग नहीं करता है, वह असंसक्त कहा जाता है । अच्छे कर्मों में प्रवृत्त कराने के लिए बाहर से तो वह कर्म आदि का अनुष्ठान करता रहता है, पर भीतर से उनमें आसक्ति नहीं रहता है यह आशय है ॥ ८ ॥

आसक्ति के अभाव से अनेक तरह फलानुरागों द्वारा उत्पन्न निखिल दुष्ट चेष्टाएँ विनष्ट हो जाती हैं और श्रवण आदि शुभ चेष्टाएँ निर्विघ्नतापूर्वक कल्याण का सम्पादन करती रहती हैं ॥ ९ ॥

आसक्ति से विस्तार को प्राप्त समस्त दुःख राशियाँ गड्ढे में उत्पन्न काँटे वाले वृक्षों की तरह हजारों शाखा-प्रशाखाओं में फैल जाती हैं ॥ १० ॥

नाथ रूपी रस्सी से खींचा गया नाथी हुई नाक वाला गदहा भीत होकर अपनी गति से मार्ग में भार ढोता है, यह आसक्ति के फल का ही एक विस्तार है । 'गर्दभ' शब्द को बैल आदि भारवाहक सभी ग्राम्य पशुओं का उपलक्षण मानना चाहिए ॥ ११ ॥

एक स्थान में चुपचाप खड़ा होकर अपने स्थावर शरीर से वृक्ष ठंड, वायु और आतप के क्लेश को जो सहता रहता है, वह भी आसक्ति के फल का ही विस्तार है ॥ १२ ॥

अपने अङ्गों में पीडा का अनुभव कर रहा बेचैन कीट भूमि के बिल में पड़ा हुआ जो काल काट रहा है, वह भी आसक्ति फल का विस्तार है ॥ १३ ॥

क्षुत्क्षामकुक्षिः क्षपयत्यायुर्व्याघातभीरुधीः ।
पक्षी वृक्षशिखाशायी तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १४ ॥
दूर्वाङ्कुरतृणाहारः किरातशरपीडया ।
जहाति यन्मृगो देहं तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १५ ॥
कृमिकीटत्वमायान्ति जायमानाः पुनः पुनः ।
यदिमा जनता जीर्णास्तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १६ ॥
उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते तरङ्गिणि तरङ्गवत् ।
भूतानि यदनन्तानि यत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १७ ॥
वीरुत्तृणदशां याता म्रियन्ते यत्पुनः पुनः ।
नरा विगतसंचारास्तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १८ ॥
रसातलरसायोगात् तृणगुल्मलतादयः ।
जनयन्ति यदाकारं तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १९ ॥
स्वानर्थान्तरसंकाशपदार्थशतसंकुला ।
यत्संसारनदी मत्ता तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ २० ॥

वृक्ष की शाखाओं पर क्षुधा से कृश कांख तथा बाण पत्थर, मिट्टी के ढेले आदि के अभिघात से भयग्रस्तबुद्धि शयन कर रहा पक्षी जो अपनी आयु का यापन कर रहा है वह आसक्ति के फल का विस्तार है ॥ १४ ॥

भिल्लों के बाणों की पीड़ा से दूब, कोंपोलों और तिनकों का आहार करने वाले मृगों के द्वारा अपनी देह का भी आसक्ति के फल का विस्तार है ॥ १५ ॥

पुण्य और पाप के अधिकारी जनगण का ध्वस्त-विध्वस्त होकर पुनः पुनः जन्म धारण कर कृमि और कीट भाव की प्राप्ति भी संसृति के फल का विस्तार है ॥ १६ ॥

ये असङ्ख्यभूत (प्राणी) उत्पन्न हो होकर जलाशय में तरङ्गों की तरह जो विलीन हो जाते हैं, वह भी संसक्ति के फल का विस्तार है ॥ १७ ॥

चलने-फिरने की शक्ति से शून्य मनुष्य लता और तिनकों के समान शक्तिहीन दशा को प्राप्त कर पुनः पुनः जो मर जाते हैं, वह संसक्ति के फल का विस्तार है ॥ १८ ॥

भूमि के अन्दर स्थित जल को अपनी-अपनी जड़ों से पीकर तृण, गुल्म, लता आदि के द्वारा अपने-अपने विजातीय स्वरूप को उत्पन्न करता भी संसक्ति के फल का विस्तार है ॥ १९ ॥

वियोग, भ्रान्ति, पतन आदि हजारों विक्षेपों के हेतु असंख्य बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों से परिपूर्ण अपनी अनर्थ परम्पराओं के अनुरूप यह संसाररूपी नदी की वृद्धि भी संसक्ति के फल का विस्तार है ॥ २० ॥

संसक्तिर्द्विविधा प्रोक्ता वन्द्या वन्ध्या च राघव ! ।
वन्ध्या सर्वत्र मूढानां वन्द्या तत्त्वविदां निजा ॥ २१ ॥
आत्मतत्त्वावबोधेन हीना देहादिवस्तुजा ।
भूयः संसारसक्तिर्या दृढा वन्ध्येति कथ्यते ॥ २२ ॥
आत्मतत्त्वावबोधेन सत्यभूतविवेकजा ।
वन्द्या हि कथ्यते सक्तिर्भूयःसंसारवर्जिता ॥ २३ ॥
शङ्खचक्रगदाहस्तो देवो विविधयेहया ।
वन्द्यसंसक्तिवशतः परिपाति जगत्त्रयम् ॥ २४ ॥
अनारतं निरालम्बं व्योमवर्त्मनि पान्थताम् ।
वन्द्यसंसक्तिवशतः करोति रविरन्वहम् ॥ २५ ॥
महाकल्पसमाधानचिरकल्पितकल्पनम् ।
वन्द्यसंसक्तिवशतो ब्राह्मं स्फुरति वै वपुः ॥ २६ ॥
लीलया ललनालानलीनं भूतिविभूषितम् ।
वन्द्यसंसक्तिवशतः शरीरं शाङ्करं स्थितम् ॥ २७ ॥

हे श्रीराघव ! आसक्ति दो प्रकार की कही गई है—एक वन्द्या प्रशस्त और दूसरी वन्ध्या यानी पुरुषार्थ फल से रहित । इनमें पहली वन्द्या आसक्ति तत्त्वज्ञ महात्माओं की और दूसरी वन्ध्या सर्वत्र प्रसिद्ध समस्त अज्ञानियों की है ॥ २१ ॥

देह आदि असत्य वस्तुओं से जनित अत्यन्त दृढ़ चिर-काल से भावित आत्मतत्त्वज्ञान से शून्य पुनः पुनः संसार में आसक्ति वन्ध्या आसक्ति कही जाती है ॥ २२ ॥

अबाध्य आत्मतत्त्व का अवलम्बन करने वाली आत्मा के स्वरूपज्ञानरूप हेतु के द्वारा यथार्थ और अयथार्थ वस्तु के विवेक से उत्पन्न पुनः संसार से शून्य आसक्ति वन्द्या आसक्ति कही जाती है ॥ २३ ॥

शङ्ख, चक्र और गदा को हाथों में धारण किये हुए भगवान् विष्णु इसी वन्द्य संसक्ति के प्रभाव से विविध मत्स्य आदि अवतारों से की गई लीलाओं से तीनों लोकों का पालन करते हैं ॥ २४ ॥

भगवान् सूर्यनारायण आकाशमार्ग में वन्द्य संसक्ति की सामर्थ्य से किसी प्रकार का अवलम्ब के बिना ही प्रतिदिन निरन्तर संचरण किया करते हैं ॥ २५ ॥

प्राकृत प्रलय में विदेह-कैवल्यरूप परम शान्ति के लिए दो परार्ध वर्ष पर्यन्त सर्ग आदि की कल्पना करने वाला हिरण्यगर्भ को शरीर वन्द्य संसक्ति की ही सामर्थ्य से व्यवहार करता है ॥ २६ ॥

केवल लीला से गौरीरूपी बन्धन स्तम्भ में आसक्त तथा भस्म से अत्यन्त सुशोभित महादेवजी का शरीर इसी बन्द्या संसक्ति की सामर्थ्य से स्थित है ॥ २७ ॥

विज्ञानगतयः सिद्धा लोकपालास्तथेतरे ।
वन्ध्यसंसक्तिवशतस्तिष्ठन्ति जगतोऽङ्गणे ॥ २८ ॥
धत्ते शारीरयन्त्रौघमन्या भुवनसन्ततिः ।
वन्ध्यसंसक्तिवशतो जरामृतिविवर्जितम् ॥ २९ ॥
मनः पतति भोगेषु गृध्रो मांसलवेष्विव ।
वन्ध्यसंसक्तिवशतो व्यर्थया रम्यशङ्कया ॥ ३० ॥
संसक्तिवशतो वाति वायुर्भुवनकोटरे ।
पञ्चभूतानि तिष्ठन्ति वहतीयं जगत्स्थितिः ॥ ३१ ॥
दिवि देवा भुवि नराः पाताले भोगिनोऽसुराः ।
ब्रह्माण्डोदुम्बरफले स्फुरन्मशकवत्स्थिताः ॥ ३२ ॥
जायन्ते च म्रियन्ते च निपतन्त्युत्पतन्ति च ।
भूतानि यदनन्तानि तरङ्गिणि तरङ्गवत् ॥ ३३ ॥
उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते तत्संसक्तिविजृम्भितम् ।
भूतानि विरसं भूयो निर्झराम्बुकणा इव ॥ ३४ ॥

आत्मतत्त्व के विज्ञान में दृढ़ प्रतिष्ठित सिद्ध, लोकपाल तथा अन्यान्य देवताओं की इस जगत् के प्राङ्गण में स्थिति भी वन्ध्या संसक्ति की सामर्थ्य है ॥ २८ ॥

तीन लोकों से भिन्न अन्या भुवन महः, जनः, तपः आदि लोकों में रहने वाले तत्त्वज्ञ महात्माओं का मरण से रहित शरीर के यन्त्रों के समूहों का धारण भी वन्ध्या संसक्ति की सामर्थ्य है ॥ २९ ॥

माँस के टुकड़ों में गीध की तरह विषयों में झूठमूठ रम्यत्व की कल्पना कर मन का झपटना वन्ध्या संसक्ति की सामर्थ्य है ॥ ३० ॥

संसक्ति के प्रभाव से वायु समस्त भुवनों के कोटरों में बहता है. पाँच भूत अपने अपने स्वरूप में रहते हैं और यह जगत् की स्थिति चलती है ॥ ३१ ॥

देवता स्वर्ग में, मनुष्य पृथ्वी में, सर्प और असुर पाताल में संसक्ति के प्रभाव ब्रह्माण्ड रूपी गूलर के फल में मच्छरों की तरह अपने-अपने व्यवहार में तत्पर होकर अवस्थित हैं ॥ ३२ ॥

ने असङ्ख्य भूत समुद्र में तरङ्गों की तरह जो उत्पन्न होते हैं, मरते हैं, गिरते हैं, उठते हैं, यह भी संसक्ति का विलास है ॥ ३३ ॥

ये भूत झरनों के जल कणों के समान उड़ उड़ कर विरसतापूर्वक जो विलीन हो जाते हैं यह भी संसक्ति की ही लीला है ॥ ३४ ॥

मछली के सदृश तक दूसरे के अङ्गों को निगलते हुए जड़ता से जर्जर तथा भ्रमग्रस्त इन जन-समूहों का

परस्परनिगीर्णाङ्गा जनता जाड्यजर्जरा ।
संभ्रान्ता प्रभ्रमत्यङ्ग शीर्णपर्णमिवाऽम्बरे ॥ ३५ ॥
नक्षत्रचक्रं गगने द्रुमे मशकसन्ततिः ।
स्फुरत्यावर्तवृत्त्यैव पातालेऽङ्ग जलौघवत् ॥ ३६ ॥
पातोत्पातदशाजीर्णं कालबालककन्दुकम् ।
अद्याऽपि न जहातीन्दुर्जलमामलिनं वपुः ॥ ३७ ॥
नानापारयुगावर्तदुःखालोकनकर्कशम् ।
न लुनाति मनःखण्डं दुःखिगीर्वाणमण्डलम् ॥ ३८ ॥
वासनामात्रवशतः परे व्योमनि केनचित् ।
इदमारचितं चित्रं विचित्रं पश्य राघव ! ॥ ३९ ॥
मनःसङ्गैकरङ्गेण शून्ये व्योम्नि जगन्मयम् ।
यदिदं रचितं चित्रं तत्सत्यं न कदाचन ॥ ४० ॥
संसक्तमनसामस्मिन् संसारे व्यवहारिणाम् ।
अत्ति तृष्णा शरीराणि तृणान्यग्निशिखा यथा ॥ ४१ ॥

आकाश में शीर्ण शुष्क पत्ते के समान भ्रमण करना भी संसक्ति का खेल है ॥ ३५ ॥

वृक्ष के ऊपर मच्छरों की पंक्ति की तरह पाताल में जल-प्रवाह के समान आवर्त वृत्ति धारण कर आकाश में नक्षत्र चक्रों का घूमना भी संसक्ति का खेल है ॥ ३६ ॥

कभी उदय, कभी अस्त, कभी वृद्धि, कभी ह्रास, कभी उत्थान, कभी पतन, इन विविध दशाओं से सदा शिथिल; काल रूपी बालक के गेंद स्वरूप जड़ता युक्त; जलमय तथा अनेक विध कलङ्कों से म्लान चन्द्र का शरीर इन बहुविध दोषों के कारण परित्याग करने योग्य होने पर भी उसका आज तक छोड़ना संसक्ति का ही परिणाम है ॥ ३७ ॥

अनेक तरह के अपार युगावर्तों के दुःखानुभव से कठोर मनोरूपीछेदन योग्य व्रण विशेष के दुःख से दुःखी भी इन्द्र आदि देवगण का उच्छेदन द्वारा उसकी चिकित्स न करना भी संसक्ति का फल है ॥ ३८ ॥

हे राघव ! वासना के अर्थात् सर्वोत्कृष्ट चिदाकाश में किसी ने इस विचित्र जगत् रूपी चित्र की रचना की है, उसे आप देखें ॥ ३९ ॥

शून्य आकाश में केवल मन के आसङ्ग रूपी रंग से बनाया गया जगद्रूपी विचित्र चित्र कभी-भी सत्य नहीं हो सकता ॥ ४० ॥

तृष्णा इस संसार में आसक्त मन वाले व्यावहारी जीवों के शरीरों को वैसे ही खा जाती है जैसे अग्नि की ज्वाला तिनकों को खा जाती है ॥ ४१ ॥

परिसक्तमतेर्देहान् सिकताः पत्युरम्भसाम् ।
कः शक्तः परिसंख्यातुं त्रसरेणुगणं यथा ॥ ४२ ॥
मुक्तालतायां गङ्गाया मेरोरापादमस्तकम् ।
तरङ्गमुक्ता गण्यन्ते न देहाः सक्तचेतसाम् ॥ ४३ ॥
संसक्तमनसामेता रम्यान्तःपुरपङ्क्तयः ।
रचिता रौरवावीचिकालसूत्रादिनामिकाः ॥ ४४ ॥
सक्तचित्तं जनं दुःखशुष्कमिन्धनसंचयम् ।
ज्वलतां नरकाग्नीनां विद्धि तेन ज्वलन्ति ते ॥ ४५ ॥
दुःखजालमिदं नाम यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ।
संसक्तमनसामर्थे तत्सर्वं परिकल्पितम् ॥ ४६ ॥
संसक्तचित्तमायान्ति सर्वा दुःखपरम्पराः ।
जलकल्लोलवलिता महानद्य इवाऽम्बुधिम् ॥ ४७ ॥
मनःसंसर्गरूपिण्या भारभूतशरीरया ।
क्षयोदयदशार्थिन्या सर्वं ततमविद्यया ॥ ४८ ॥
असंसङ्गेन भोगानां सर्वा राम ! विभूतयः ।
परं विस्तारमायान्ति प्रावृषीव महापगाः ॥ ४९ ॥
अन्तःसंसङ्गमङ्गानामङ्गानां विद्धि राघव ! ।
अनन्तःसङ्गमङ्गानां विद्धि राम ! रसायनम् ॥५० ॥
संसङ्गेनाऽन्तरस्थेन दह्यते प्रकृतिः स्वयम् ।
स्वकलोत्थेनैरकाङ्क्षी पावकेन यथौषधिः ॥ ५१ ॥
सर्वत्राऽसक्तमाशान्तमनन्तमिव संस्थितम् ।
असत्कल्पं सदाभासं सुखायैव मनो भवेत् ॥ ५२ ॥
विद्यादृशि प्रोदयमागतेन
क्षयं त्वविद्याविषये गतेन ।
सर्वत्र संसक्तिविवर्जितेन
स्वचेतसा तिष्ठति यः स मुक्तः ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सङ्गविचारयोगोपदेशो नामाऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

चारों ओर से विषयों में आसक्त मतिवाले जीव के शरीरों का परिगणन करने के लिए वैसे ही कौन समर्थ हो सकता है ? जैसे समुद्र की बालु और त्रसरेणु की गणना करने में कौन पुरुष समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥

चोटी से लेकर मूल तक मेरु पर्वत का अवलम्बन करने वाली मोतियों की लतारूपी गङ्गा के तरङ्ग रूपी मोतियों की गणना कभी की भी जा सकती है, पर आसक्त चित्तवाले जीवों के शरीरों की गणना तो नहीं की जा सकती ॥ ४३ ॥

संसार में आसक्त चित्त जीवों के लिए ही ये रम्य अन्तःपुर की पंक्तियाँ रौरव, अवीचि, कालसूत्र आदि शिल्पी ने बनाई हैं ॥ ४४ ॥

आसक्त चित्त वाला दुःखों से सूखा हुआ पुरुष जल रही नरक रूपी अग्नियों के लिए एक तरह से इन्धन का संग्रह है, यह आप जाने (नरकरूपी अग्नियाँ उसी काष्ठ संचय से जलती हैं) ॥ ४५ ॥

इस जगती-तल में यह दुःखजाल सब आसक्तचित्त पुरुषों के लिए ही कल्पित है ॥ ४६ ॥

सम्पूर्ण दुःखों की परम्पराएँ आसक्त चित्त वाले पुरुष के प्रति वैसे ही जाती हैं जैसे जल से तरङ्गों से संवलित बड़ी-बड़ी नदियाँ समुद्र के प्रति जाती हैं ॥४७॥

चित्त की आसक्ति के स्वरूपवाली भारभूत शरीर को धारण करने वाली है लौर जीव के लिए जन्म और मरण की अवस्था चाहने वाली अविद्या ने ही इस समस्त प्रपञ्च का विस्तार किया है ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामजी ! विषयोपभोगों में आसक्ति न करने से सम्पूर्ण विभूतियाँ वैसे ही प्राप्त करती हैं जैसे वर्षाकाल में बड़ी-बड़ी नदियाँ अतिशय विस्तृत होती हैं ॥ ४९ ॥

हे राघव ! शरीरों के लिए भीतरी आसङ्ग अंगारे हैं और भीतरी आसङ्ग का परित्याग अङ्गों के लिए उत्तम रसायन है आप यह समझो ॥ ५० ॥

अन्दर में अवस्थित संसक्ति रूपी अग्नि से प्रकृतिभूत जीव भी वैसे ही दग्ध हो जाता है जैसे अवलम्बन के लिए तृणविशेषों को चाहने वाली लता अवलम्बित तृणों से जनित अग्नि से दग्ध हो जाती है। देह आदि प्रकृति के कार्य के साथ सम्बन्ध होने से जीव 'प्रकृति' कहा गया है ॥५१॥

आसक्तिरहित आकाश के समान निर्मल-स्वरूप से अवस्थित, चारों ओर से शान्त, असत् के सदृश, सत् के समान भासमान मन सर्वत्र सुख का ही साधन है ॥५२॥

विद्या के विषय में उत्तम उदय की प्राप्ति अर्थात् प्रबुद्ध अविद्या-विषय में अर्थात् प्रपञ्च में क्षय सम्पन्न अनुसन्धान से शून्य तथा सर्वत्र दृश्य वस्तुओं में आसक्ति से रहित अवने अन्तःकरण से पुरुष व सदा-सर्वदा अवस्थित रहने वाले पुरुष को जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ५३ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में सङ्गविचारयोगोपदेश नामक कुसुमलता का अड़सठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६८ ॥

६८

वसिष्ठ उवाच

सर्वदा सर्वसंस्थेन सर्वेण सह तिष्ठता ।
सर्वकर्मरतेनाऽपि मनः कार्यं विजानता ॥ १ ॥
न सक्तमिह चेष्टासु न चिन्तासु न वस्तुषु ।
नाऽऽकाशेनाऽप्यधो नाऽग्रे न दिक्षु न लतासु च ॥ २ ॥
न बहिर्विपुलाभोगे न चैवेन्द्रियवृत्तिषु ।
नाऽभ्यन्तरे न च प्राणे न मूर्धनि न तालुनि ॥ ३ ॥
न भ्रूमध्ये न नासान्ते न मुखे न च तारके ।
नाऽन्धकारे न चाऽऽभासे न चाऽस्मिन्हृदयाम्बरे ॥ ४॥
न जाग्रति न च स्वप्ने न सुषुप्ते न निर्मले ।
नाऽसिते न च वा पीतरक्तादौ शबले न च ॥ ५ ॥
न चले न स्थिरे नाऽऽदौ न मध्ये नेतरत्र च ।
न दूरे नान्तिके नाऽग्रे न पदार्थे न चाऽऽत्मनि ॥ ६ ॥
न शब्दस्पर्शरूपेषु न मोहानन्दवृत्तिषु ।
न गमागमचेष्टासु न कालकलनासु च ॥ ७ ॥
केवलं चिति विश्रम्य किञ्चिच्चेत्यावलम्बिनि ।
सर्वत्र नीरसमिव तिष्ठत्वात्मरसं मनः ॥ ८ ॥
तत्रस्थो विगतासङ्गो जीवोऽजीवत्वमागतः ।
व्यवहारमिमं सर्वं मा करोतु करोतु वा ॥ ९ ॥
अकुर्वन्नपि कुर्वाणो जीवः स्वात्मरतिः क्रियाः ।
क्रियाफलैर्न सम्बन्धमायाति खमिवाऽम्बुदैः ॥ १० ॥

६९

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—

विवेकी ज्ञानी पुरुष सदा समय के योग्य समस्त व्यवहारों में निरत, सभी प्रिय मित्र, पुत्र आदि के साथ अनिषिद्ध लौकिक एवं शास्त्रीय समस्त कार्यों में व्यापृत रहकर भी अपने मन को वैसा बनाते हैं कि एक काल, एक देश और एक सेवक आदि के सहभाव से कतिपय कर्मों में तत्परता-संपादक परिच्छिन्न संसक्ति का परित्याग करने के लिए पहले सम्पूर्ण देश, काल आदि समस्त उपकरण सामग्री से निखिल जगत् के व्यवहार रूप कर्मों में स्वयं निरत हो कर भी अपने मन को वैसा बनाते हैं जिनका वर्णन किया जा रहा है ॥ १ ॥

साध्य पदार्थों की चेष्टाओं में, अतीत काल की वस्तुओं की चिन्ताओं में, वर्तमानकालीन वस्तुओं में, व आकाश में, नीचे, मध्य में, दिशाओं में और लताओं में मन को आसक्त नहीं करना चाहिए ॥ २ ॥

आधिभौतिक भार्या, भृत्य आदि विषयों में उनके उपभोग की इन्द्रियवृत्तियों में, आध्यात्मिक वस्तुओं में और योगशास्त्र में वर्णित काम्यसिद्धि के अनुकूल धारणा के स्थान-स्वरूप प्राण, मूर्धा तथा तालु में—मन को कभी भी आसक्त नहीं करना चाहिए ॥ ३ ॥

भौंके बीच में, नासिका के मध्य में, मुख में, दक्षिण नेत्र की कनीनिका में, अन्धकार में, प्रकाश में और इस हृदयरूपी आकाश में मन को आसक्त नहीं करना चाहिए ॥ ४ ॥

जाग्रत् में, स्वप्न में, सुषुप्त में, शुद्ध सत्त्वगुण में, तमोगुण में, पीत, रक्त आदि रजोगुण में और गुणों के समाहार में मन को आसक्त नहीं करना चाहिए ॥ ५ ॥

कार्यवर्ग में, स्थिर कारण अव्यक्त में, सृष्टि के आदिकाल में, मध्यकाल में, अन्तकाल में, दूर में, न समीप में, सामने में, नामरूपात्मक पदार्थ में और जीव में मन को आसक्त नहीं करना चाहिए ॥ ६ ॥

न रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द में; न विषयाभिलाष की परवशता रूपी मोह में, न विषयोपभोगफल रूपी आनन्दवृत्तियों में; न खेचरी आदि सिद्धियों में और अतीत-अनागत वस्तुओं के परिज्ञान दीर्घजीवी होने आदि सिद्धियों में मन को आसक्त नहीं करना चाहिए ॥ ७ ॥

निश्चल बुद्धि की साक्षि-भूत चिति में केवल विश्रान्ति प्राप्त कर परिपूर्ण भूमानन्द से समन्वित युक्त अतएव सर्वत्र दृश्य पदार्थों में नीरस के समान होकर अवस्थित रहें। 'इव' शब्द से कि मन की इस प्रकार की स्थिति को भी मिथ्या कहा है ॥ ८ ॥

चिति में विश्रान्ति प्राप्त कर अवस्थित जीव समस्त सङ्गों से रहित होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। ब्रह्मभाव को प्राप्त यह जीव इन सभी व्यवहारों को करे या न करे, उससे उसका कुछ भी बिगड़ नहीं पाता है ॥ ९ ॥

अपने स्वरूप में निरत जीव, क्रियाओं का (विहित या निषिद्ध कर्मों का) अनुष्ठान करे या न करे, पर क्रियाजनित फलों के स्वर्ग, नरक आदि के साथ वैसे ही सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता है जैसे आकाश मेघों के साथ तनिक भी सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता ॥ १० ॥

अथवा तमपि त्यक्त्वा चेत्यांशं शान्तचिद्घनः ।
जीवस्तिष्ठतु संशान्तो ज्वलन्मणिरिवाऽऽत्मनि ॥ ११ ॥
निर्वाणमात्मनि गतः सततोदितात्मा
जीवोऽरुचिर्व्यवहरन्नपि रामभद्र ! ।
नो सङ्गमेति गतसङ्गतया फलेन
कर्मोद्भवेन सहतीव च देहभारम् ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे शान्तिसमायातयोगोपदेशो नामैकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

अथवा पूर्वोक्त बुद्धिसाक्षित्व का भी परित्याग कर निर्विकार चित्-स्वरूप जीव अपने ही स्वरूप में वैसे ही शान्त होकर अवस्थित रहे, जैसे प्रदीप्त हो रहा मणि अपने स्वरूप में शान्त होकर अवस्थित रहता है ॥ ११ ॥

जिसने अपने स्वरूप में परम विश्रान्ति प्राप्त कर ली है, जिसका अन्तःकरण आत्म–साक्षात्काररूप महान् उदय को प्राप्त कर लिया है एवं जिसकी व्यवहार और तन्निबन्धन फलों में कुछ भी इच्छा नहीं रह गई है, ऐसे जीव के द्वारा लोक-दृष्टि से व्यवहार करने पर वह कर्म-जनित फलों का स्वल्प भी सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता, क्योंकि वह सम्बन्ध की हेतु अविद्या, काम और कर्म की वासनाओं से शून्य है। हाँ, उस समय वह तबतक देह-भार को सहता रहता है, जतबक कि प्रारब्ध का क्षय नहीं होता। श्रुति भी कहती है—'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' ॥ १२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में शान्तिसमायातयोगोपदेश नामक कुसुमलता का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६९ ॥

७०

वसिष्ठ उवाच

असंसङ्गसुखाभ्याससंस्थितैर्विततात्मभिः ।
व्यवहारिभिरप्यन्तर्वीतशोकभयैः स्थितम् ॥ १ ॥
प्रक्षुब्धाक्षुब्धदेहस्याऽविसंवादेन संविदः ।
अन्तःपूर्णस्य वदने श्रीरिन्दोरिव लक्ष्यते ॥ २ ॥
चेत्यहीनं चिदालम्बं मनो यस्य गतज्वरम् ।
तेनाऽम्बु कतकेनेव जनता संप्रसीदति ॥ ३ ॥
नित्यमात्मदृशा लीनो ज्ञः स्वस्थश्चञ्चलोऽपि सन् ।
क्षुब्धो दृश्यत एवाऽसौ प्रतिबिम्बार्कवन्मुधा ॥ ४ ॥
आत्मारामा महात्मानः प्रबुद्धाः परमोदयाः ।
बहिः पिच्छाग्रतरला अन्तर्मेरुरिवाऽचलाः ॥ ५ ॥

७०

वसिष्ठजी से कहा—असंसङ्ग के द्वारा अर्थात् अनासक्ति के कारण उत्पन्न सुख के आस्वाद में निरन्तर संलग्न और अन्तःकरण की अत्यन्त विशाल के कारण जीवन्मुख सभी प्रकार के व्यवहारपरायण रह कर भी भय और शोक से रहित रहते हैं ॥ १ ॥

पुत्र और धन का विनाश तथा बन्धन, मान, अपमान आदि क्षोभ के हेतुओं से साधारण लोगों को शरीर क्षुब्ध के समान प्रतीत होता है, क्षुब्ध शरीर से शून्य जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञ महाविद्वान् की चित्तवृत्ति सदा-सर्वदा परमार्थ सुख में ही संलग्न रहने से उसका वह अन्दर से परिपूर्ण रहता है, तथा उसके मुख में पूर्ण-चन्द्र की तरह परम शोभा दीख पड़ती है। चन्द्रपक्ष में ज्योतिश्चक्र और रथादि की गति से क्षुब्धशरीर मालूम पड़ने पर भी अपने ही स्थान में स्थिर होने के कारण क्षुब्धशरीर से शून्य पूर्ण-चन्द्र पूर्णिमा की रात्रि में संमुख होने से सूर्य की विषमता न होने के कारण भीतर अमृत से परिपूर्ण रहता है। उसके वदनसदृश बिम्ब में उत्तम शोभा दीख पड़ती है। यही स्थिति सन्तापशून्य विवेकियों की रहती है ॥ २ ॥

इन्द्रियों की आसक्तियों से वर्जित, केवल चैतन्यमात्र का अवलम्ब करने वाला महात्मा का अन्तःकरण समस्त चिन्ताज्वरों से निर्मुक्त है, उस महात्मा से सभी लोग निर्मली से जल की तरह प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ३ ॥

सदा आत्मदृष्टि में लीन रहने वाला विवेकी बाहर से चञ्चल होते हुए भी अपने स्वरूप से सुदृढ़ रहता है, साधारण जनों के द्वारा यह जो क्षुब्ध-सा दीखने पर भी उसकी क्षुब्धता दर्शन के समान मिथ्या ही है ॥ ४ ॥

आत्माराम तथा परम मोक्षरूपी उदय से सम्पन्न तत्त्ववित् महात्मा साधारण लोगों को ऊपर से मोर के पंख की समान चपल प्रतीत पड़ते हैं, परन्तु भीतर से मेरु पर्वत की तरह अटल हैं ॥ ५ ॥

चित्तमात्मत्वमायातं सुखदुःखानुरञ्जनम् ।
नोपैति रङ्गसंयुक्तो मसृणः स्फटिको यथा ॥ ६ ॥

संसारदृष्टिरुदितं ज्ञातलोकपरावरम् ।
न रञ्जयति सच्चितं जललेखा यथाऽम्बुजम् ॥ ७ ॥

आत्मध्यानमयोऽध्याने प्रबोधं परमात्मनः ।
कलनामलनिर्मुक्तः स्वसक्त इति कथ्यते ॥ ८ ॥

आत्मारामतया जीवो यात्यसंसङ्गतामिह ।
आत्मज्ञानेन संसङ्गस्तनुतामेति नाऽन्यथा ॥ ९ ॥

जाग्रत्येव सुषुप्तस्थो जीवो भवति राघव! ।
अस्यां दृशि गतोऽद्वन्द्वो नित्यानस्तमयोदयः ॥ १० ॥

अत्र प्रौढिमुपायातः सूर्यतामेति पावनीम् ।
परिणामवशादिन्दुरमावास्यार्कतामिव ॥ ११ ॥

चित्ते चित्तदशाहीने या स्थितिः क्षीणचेतसाम् ।
सोच्यते शान्तकलना जाग्रत्येव सुषुप्तता ॥ १२ ॥

तां सुषुप्तदशामेत्य जीवन् व्यहरन्नरः ।
सुखदुःखवरत्राभिर्न कदाचन कृष्यते ॥ १३ ॥

जाग्रत्येव सुषुप्तस्थो यः करोति जगत्क्रियाम् ।
तं यन्त्रपुत्रकमिव नाऽऽयाति सुखदुःखदृक् ॥ १४ ॥

चित्तस्य बाधिका शक्तिर्भावाभावोपतापदा ।
आत्मतामागते चित्ते तस्य किं बाधते कथम् ॥ १५ ॥

सुषुप्तबुद्धिः कर्माणि पूर्वमेवाऽवहेलया ।
कुर्वन्न बद्धचते जीवो जीवन्मुक्ततया स्थितः ॥ १६ ॥

आत्मस्वरूप को प्राप्त तत्त्ववेत्ता का अन्तःकरण सुख-दुःखरूपी उपाधियों के रङ्ग से युक्त वैसे ही नहीं होता है जैसे रञ्जक जपाकुसुम आदि उपाधियों से चिकना स्फटिक-मणि वास्तव में रङ्ग से युक्त नहीं होता ॥ ६ ॥

जिसने जीव और ईश्वर के स्वरूप को भली-भाँति जान लिया है निरतिशयानन्दरूप परम अभ्युदय को प्राप्त तत्त्ववित् के चित्त को सांसारिक दृष्टि वैसे ही नहीं कर सकती जैसे जलरेखा कमल को रञ्जित नहीं कर सकती ॥ ७ ॥

जब परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर समस्त कल्पनाओं के हेतुभूत मलों से वर्जित यह जीव ध्यानाभाव-दशा में भी आत्मध्यान की तरह निरतिशय सुख में निमग्न 'स्वसक्त' कहा जाता है। तत्त्ववित् को स्वभावतः निरतिशयानन्द आत्मा का प्रकाश होने के कारण वह निर्विकल्पक समाधि की तरह सदा आत्मध्यान में ही लगा रहता है, बाह्य ध्यान-व्यापारों के न रहनेपर भी स्फुरण की सामर्थ्य से निरतिशयानन्द सुख समुद्र में अवगाहन करनेवाला 'स्वसक्त' शब्द से व्यवहृत किया जाता है ॥ ८ ॥

केवल आत्मा में ही विश्रान्ति होने सम्पन्न जीव संसार में असंसङ्गभाव को प्राप्त कर केवल आत्मा में ज्ञान से ही विषयासङ्ग क्षीणता को प्राप्त करता है, किसी प्रकार से नहीं ॥ ९ ॥

हे राघव ! असंसक्त दृष्टि में परिणत, प्रियाप्रिय आदि द्वन्द्वों से रहित तथा नित्य कभी अस्त और उदय से शून्य जीव जाग्रत् अवस्था में ही सुषुप्ति में अवस्थित रहता है ॥ १० ॥

जैसे अपनी कला के क्रमशः क्षय से जलमय मण्डल में संलीन सूर्यप्रतिबिम्बस्वरूप चन्द्रमा अमावास्या में सूर्य-रूपता को प्राप्त करता है वैसे ही स्वसंसक्तिरूप दृष्टि में अभ्यासक्रम से परम प्रौढता को प्राप्त हुआ जीव पवित्र सूर्यभाव को अर्थात् परम पावन स्वप्रकाश आत्मस्वरूपता प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

विषयसंबन्धिनी वृत्तियों से शून्य हो जानेपर क्षीण वृत्तिवाले अन्तःकरणों की वासनाओं से निर्मुक्त प्रशान्त स्थिति ही जाग्रत्-में सपुप्तता कही जाती है ॥ १२ ॥

सुषुप्त-दशा को प्राप्त कर जीवित तथा व्यवहार कर रहा पुरुष सुखदुःखरूपी रस्सी से कभी-भी आकृष्ट नहीं होता है ॥ १३ ॥

पुरुष के द्वारा जाग्रत् में ही सुषुप्त होकर जगत् के व्यवहाररूपी कार्यों को करनेपर अहङ्कारशून्य के समान होने से नर्तकप्रतिमा के तुल्य अर्थात् कठपुतली के समान शरीर वाले उस पुरुष को सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता है ॥ १४ ॥

अहंकाररूपा ही शक्ति चित्त में पीडा पहुँचाने वाली है, क्योंकि वही इष्ट के वियोग अनिष्ट के संयोग से संताप देती है। चित्त के आत्मरूप हो जाने पर चित्त में क्या और कैसे चोट पहुँच सकती है ॥ १५ ॥

पूर्व से ही अर्थात् साधन अवस्था से ही अभिनिवेश का परित्याग कर कर्मों का अनुष्ठान करने वाला निर्विकार बुद्धि वाला जीव जीवन्मुक्त-स्वरूप से अवस्थित रहता है और कर्मों के करने पर भी उन कर्मों के फलों से बद्ध नहीं होता है ॥ १६ ॥

सौषुप्तीं वृत्तिमाश्रित्य कुरु मा कुरु वाऽनघ ! ।
कर्म प्रकृतिजं पाकवशादुपगतं स्थितम् ॥ १७ ॥
नाऽऽदानं न परित्यागः कर्मणो ज्ञाय रोचते ।
तिष्ठन्त्यवगतात्मानो यथाप्राप्तानुवर्तिनः ॥ १८ ॥
कुर्वन्नपि न कर्ताऽसि सुषुप्त्यैकस्थया धिया ।
अकर्ताऽपि च कर्ताऽसि यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १९ ॥
यथा न किञ्चित्कलयन् मञ्चके स्पन्दते शिशुः ।
तथा फलान्यकलयन् कुरु कर्माणि राघव ! ॥ २० ॥
अचेत्यचित्पदस्वस्थो जाग्रत्यपि सुषुप्तधीः ।
यद्यत्करोति लब्धात्मा तस्मिंस्तस्य न कर्तृता ॥ २१ ॥
दशामासाद्य सौषुप्तीं स्वचित्ते च विवासनः ।
अन्तः शीतलतामेति ज्ञो रसेन यथा शशी ॥ २२ ॥

हे निष्पाप ! सुषुप्ति की विकारशून्य वृत्ति का अवलम्बन कर आप वर्णाश्रम-स्वभाव के अनुसार प्रारब्ध-परिपाक से प्राप्त लौकिक या शास्त्रीय कर्मों का अनुष्ठान करें या न करे, उससे कुछ नहीं होने वाला है ॥ १७ ॥

ज्ञानी पुरुष को कर्म का अनुष्ठान या कर्म का परित्याग कुछ भी अच्छा नहीं लगता है किन्तु आत्मतत्त्व को जानने वाले महात्मा जिस समय जो प्राप्त हो जाता है, उसके अनुसार अनुवर्तन करते हुए अवस्थित रहते हैं ॥१८॥

आप सुषुप्ति अवस्था में रहने वाली निर्विकार बुद्धि से युक्त तत्त्वज्ञ होकर कुछ करते हैं, तो अकर्ता ही हैं और यदि उस बुद्धि से शून्य अतत्त्वज्ञ होकर आप कुछ नहीं करते हैं, तो भी कर्ता ही हैं, इस स्थिति में आप की जैसी इच्छा हो, वैसा कीजिये ॥ १९ ॥

हे राघव ! आप भी किसी प्रयोजन की अभिलाषा न करते हुए कर्मों का वैसे ही अनुष्ठान कीजिये जैसे किसी प्रयोजन की अभिलाषा न रखकर केवल लीलावश ही बालक पलङ्ग के ऊपर स्पन्दन क्रीडा करता है ॥ २० ॥

विषयसम्बन्ध से रहित चैतन्यरूप परम पद में प्रतिष्ठित बाह्य इन्द्रियों के व्यापाररूप जाग्रत्-दशा में भी सौषुप्त निर्विकार वृत्ति से सम्पन्न लब्धात्मा तत्त्वज्ञ के द्वारा किये गये कर्मानुष्ठानों में वस्तुतः उसकी कर्तृता नहीं रहती है ॥ २१ ॥

जैसे चन्द्रमा अमृत से अपने भीतर शीतलता प्राप्त करता है वैसे ही सुषुप्ति की विकारशून्य अवस्था को प्राप्त कर और अपने चित्त में समस्त वासनाओं से रहित होकर ज्ञानी भीतर से ऐसी शीतलता को प्राप्त करता है ॥२२॥

पूर्णचन्द्र के बिम्ब की तरह महान् तेजस्वी पूर्णात्मा

सुषुप्तस्थो महातेजाः पूर्णः पूर्णेन्दुबिम्बवत् ।
समः सर्वास्ववस्थासु भवत्यद्रिर्यथर्तुषु ॥ २३ ॥
सुषुप्तसंस्थो धीरात्मा बहिरायाति लोलताम् ।
क्रियासु नो भवन्कम्पः प्रस्पन्दित इवाऽचलः ॥ २४ ॥
सुषुप्तावस्थितो भूत्वा देहं विगतकल्मषः ।
पातयाऽऽश्वथ वा दीर्घं कालं धारय शैलवत् ॥ २५ ॥
एषैव राम ! सौषुप्ती स्थितिरभ्यासयोगतः ।
प्रौढा सती तुर्यमिति कथिता तत्त्वकोविदैः ॥ २६ ॥
आनन्दमय एवाऽन्तः प्रक्षीणसकलामयः ।
अत्यन्तास्तङ्गतमना भवति ज्ञो महोदयः ॥ २७ ॥
तत्रस्थो ज्ञः प्रमुदितः परमानन्दघूर्णितः ।
लीलामिवेमां रचनां सदा समनुपश्यति ॥ २८ ॥

निर्विकारावस्था में प्रतिष्ठित तत्त्वज्ञ समस्त आपत्तियों की अवस्थाओं में सदा-सर्वदा एक समान वैसे ही रहता है जैसे छहों ऋतुओं में अविकृत स्वभाव होने के कारण पर्वत एक समान रहता है ॥ २३ ॥

सुषुप्ति-दशा में अवस्थित धीरात्मा तत्त्वज्ञ लौकिक या वैदिक क्रियाओं के होने पर ऊपर से चञ्चलता को प्राप्त करने के समान प्रतीत होने पर भी वास्तव में उसके भीतर कुछ भी कम्पन (चाञ्चल्य) वैसे ही रहता है जैसे वायु से बाहर के वृक्ष, तृण अदि में कम्पन होने पर ऊपर से पर्वत के प्रकम्पित होने पर भी वास्तव में पर्वत का भीतरी प्रकम्पन नहीं होता है ॥ २४ ॥

सुषुप्त अवस्था में स्थित होकर समस्त चित्त विक्षेप आदि पापों से निर्मुक्त होकर इस शरीर को समाप्त करें या पर्वत के समान भीतर से निष्कम्प होकर दीर्घ काल तक उसको धारण करें ॥ २५ ॥

हे श्री राम जी ! इस सौषुप्ती-स्थिति की अभ्यास योग से दृढ़ता की प्राप्ति होने पर तत्त्वज्ञ महात्माओं के द्वारा तुर्य-स्थिति कही जाती है ॥ २६ ॥

इस निर्विकार सौषुप्ती स्थिति में तत्त्वज्ञ भीतर से निरतिशयानन्द से परिपूर्ण रहता है, उसके समस्त दोष प्रक्षीण रहते हैं, मन आत्यन्तिक विनाश को प्राप्त करता है और महान् जीवन्मुक्तता लक्षण उदय से परिपूर्ण रहता है ॥ २७ ॥

सौषुप्ती अवस्था में सदा स्थित ज्ञानी अत्यन्त प्रमोद से परिपूर्ण और निरतिशय आनन्द रूपी मद से मत्त होकर इस जगत् की रचना को सदा एक तरह की लीला ही देखता रहता है ॥ २८ ॥

वीतशोकभयायासो गतसंसारसंभ्रमः ।
तुर्यावस्थामुपारूढो भूयः पतति नाऽऽत्मवान् ॥ २९ ॥
प्राप्य स्वां पदवीं पुण्यां यथेदं भ्रमितं जगत् ।
शैलसंस्थ इवाऽधःस्थं हसन्पश्यति धीरधीः ॥ ३० ॥
अस्यां तु तुर्यावस्थायां स्थितिं प्राप्याऽविनाशिनीम् ।
आनन्दैकान्तलीनत्वादनानन्दपदं गतः ॥ ३१ ॥
अनानन्दमहानन्दकलातीतस्ततोऽपि हि ।
मुक्त इत्युच्यते योगी तुर्यातीतं पदं गतः ॥ ३२ ॥
परिगलितसमस्तजन्मपाशः
सकलविलीनतमोमयाभिमानः ।
परमरसमयीं प्रयाति सत्तां
जलगतसैन्धवखण्डवन्महात्मा ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे असंसङ्गविकल्पोपदेशो नाम सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

जिसके शोक, भय एवं अन्यान्य सांसारिक मिथ्या प्रयत्न सदा के लिए निवृत्त हो जानेपर संसाररूपी विभ्रम से वर्जित तुर्यावस्था में सदा आसीन आत्मज्ञानी फिर इस संसारचक्र में कभी-भी नहीं गिरता है ॥ २९ ॥

वह ज्ञानी अपनी पुण्यमयी तुर्य स्थिति को प्राप्त कर जैसा यह भ्रमित जगत् है, उसको दोषदृष्टि से देखकर वैसे ही हँसता है जैसे पर्वतपर चढ़ा धीरबुद्धि पुरुष पर्वत को हरा भरा यानी दूर से पर्वत को अत्यन्त सुन्दर समझने वाले भ्रमग्रस्त नीचे के प्रदेश में अवस्थित पुरुष को देखकर हँसता है ॥ ३० ॥

ज्ञानी इस तुर्यावस्था में सदा केवल आनन्द में ही नियतरूप से लीन होने के कारण विनाशशून्य स्थिति को अर्थात् महानन्दपद को प्राप्त कर अवस्थित रहता है ॥३१॥

अनानन्दपद की अर्थात् तीन अवस्थाओं की अपेक्षा महत् होने से तुर्यपद महानन्द कहलाता है, यह महानन्दपद जीवन्मुक्त पुरुष को सदा ही रहता है। विदेहमुक्ति में तत्त्वज्ञ को अनानन्दपद का स्मरण नहीं होता, अत: उसकी अपेक्षा महत् का भी आकलन न होने से अनानन्द और महानन्द दोनों से अतीत हो गया है, इससे भी मुक्त योगी को तुर्यातीत पद को प्राप्ति हुई है यह कहा जाता है ॥ ३२ ॥

जिसका सम्पूर्ण जन्म-हेतु काम और कर्मों की वासनारूपी फाँसी छिन्न-भिन्न हो गई है और अखिल अज्ञान निमित्तक देह, इन्द्रिय आदियों में अहमभिमान नष्ट हो गया है, ऐसा महात्मा योगी परमानन्दरूपी परमार्थ स्थिति को वैसे ही प्राप्त करता है जैसे जल में प्रक्षिप्त सैन्धव नमक का टुकड़ा जलमय हो जाता है ॥ ३३ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में असंसङ्गविकल्पोपदेश नामक कुसुमलता का सत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७० ॥

७१

वसिष्ठ उवाच

यावत्तुर्यपरामर्शस्तावत् केवलतापदम् ।
जीवन्मुक्तस्य विषयो वचसां च रघूद्वह ! ॥ १ ॥
अत ऊर्ध्वमदेहानां मुक्तानां वचसां तथा ।
विषयो न महाबाहो ! पुरुषाणामिवाऽम्बरम् ॥ २ ॥

७१

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—हे रघुश्रेष्ठ ! जितने अंश में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूपी तीन पादों का परामर्श कर अनन्तर जाग्रत् आदि अवस्थाओं के साक्षी चिन्मात्र में उनके प्रविलापन-क्रम से जो केवल चैतन्य-परिशेषात्मना अवस्थिति प्राप्त होती है, उस तुर्यावस्थ में साक्षात् अनुभव होता है, उतने ही अंश में कैवल्यपद (केवल चिन्मात्र में अवस्थित-स्वरूप कैवल्यपद) जीवन्मुक्त और वेदवचनों का विषय होता है। यानि जीवन्मुक्तों का अधिकृत तथा श्रुति-वाक्यों का प्रतिपाद्य विषय होता है, क्योंकि वाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्ति का उतने ही अंश में पर्यवसान है, यह भाव है ॥ १ ॥

हे महाबाहो ! इससे ऊपर का तुर्यातीतपद यद्यपि विदेह मुक्तों का प्राप्य है, तथापि जीवन्मुक्त और वेद वचनों का वैसे ही अधिकृत या प्रतिपाद्य विषय नहीं है, क्योंकि विषयता के सम्पादक मन का उस अवस्था में विनाश हो चुका है जैसे वायु-प्राप्य आकाश पुरुषों का प्राप्य विषय नहीं है ॥ २ ॥

सा हि विश्रान्तिपदवी दूरेभ्योऽपि दवीयसी ।
गम्या विदेहमुक्तानां खलेखेव नभस्वताम् ॥ ३ ॥
सुषुप्तावस्थया कञ्चित्कालं भुक्त्वा जगत्स्थितिम् ।
तुर्यतामेति तदनु परमानन्दघूर्णितः ॥ ४ ॥
तुर्यातीतदशां तज्ज्ञा यथाऽऽयान्त्यात्मकोविदाः ।
तथाऽधिगच्छ निर्द्वन्द्वं पदं रघुकुलोद्वह ! ॥ ५ ॥
सुषुप्तावस्थया राम ! भव संव्यवहारवान् ।
चित्रेन्दोरिव ते न स्तः क्षयोद्वेगावरिन्दम ! ॥ ६ ॥
शरीरसन्निवेशस्य क्षये स्थैर्ये च संविदः ।
मा गृहाण भ्रमो ह्येष शरीरमिति जृम्भते ॥ ७ ॥
देहनाशेन कोऽर्थस्ते कोऽर्थस्ते देहसंस्थया ।
भव त्वं प्रकृतारम्भस्तिष्ठत्वेष यथास्थितम् ॥ ८ ॥
ज्ञातवानसि सत्सत्यं बुद्धवानसि तत्पदम् ।

दूर से भी अतिशय दूर यानी अत्यन्त दुरधिगम्य विश्रान्तिस्थान तुर्यातीतपद विदेहमुक्त पुरुषों का वैसे ही प्राप्त है जैसे आकाश मार्ग वायुओं की प्राप्य है ॥ ३ ॥

निरतिशयानन्दरूपी मद से मत्त महाज्ञानी कुछ समय तक निर्विकारात्मक सुषुप्त अवस्था से जगत्स्थिति का अनुभव कर उसके बाद तुर्तावस्था को प्राप्त करता है ॥४॥

हे रघुकुल श्रेष्ठ ! आप भी सुख-दुःखादि द्वन्दों से विनिर्मुक्त होकर उस परम पद को वैसे ही प्राप्त कीजिए जिस प्रकार तुर्यातीत पद का परिज्ञान रखनेवाले आत्म-तत्त्वज्ञानी महात्मा तुर्यातीत पद को प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

हे शत्रुनाशक श्रीराम ! निर्विकार सौषुप्ती अवस्था को प्राप्त कर आप उसी से शास्त्रीय आदि व्यवहारों में निरत रहे इस प्रकार व्यवहार करने से आप का क्षय या तज्जनित उद्वेग वैसे ही नहीं होगा जैसे चित्र में विद्यमान चन्द्रमा का कलाक्षय या राहु के साथ सम्बन्ध नहीं होता ॥ ६ ॥

शरीररूपी घर का विनाश होता है या नहीं होता ? इस प्रकार के सन्देहचक्र में आप न पड़े, क्योंकि यह मेरा शरीर है, इत्यादि जृम्भण=अनुभव केवल भ्रम है ॥७॥

देह विनष्ट हो या वह विनष्ट न हो उससे आपको क्या प्रयोजन हैं ? आप तो केवल आत्मज्ञानकी स्थिरता में प्रयत्नशील हो जाये । यह देह जैसा है, वैसा ही बना रहे ॥ ८ ॥

आप जगत् के अधिष्ठानभूत सत्यतत्त्व को जान गये हैं, सुषुप्ति आदि तीन अवस्थाओं के अधिष्ठान को भी

प्राप्तवानसि रूपं स्वं विशोको भव भूतये ॥ ९ ॥
ईप्सितानीप्सितं त्यक्त्वा शीतलालोकशोभया ।
अन्धकारात्तथाऽम्भोदान्मुक्तं खमिव शोभसे ॥ १० ॥
मनस्तवाऽऽत्मसंपन्नं नाऽधः समनुधावति ।
योगमन्त्रतपःसिद्धः पुरुषः खादिवाऽवनिम् ॥ ११ ॥
इह शुद्धा चिदेवाऽस्ति पारावारविवर्जिता ।
अयं सोऽहमिदं तन्म इति ते माऽस्तु विभ्रमः ॥ १२ ॥
आत्मेति व्यवहारार्थमभिधा कल्पिता विभोः ।
नामरूपादिभेदस्तु दूरमस्मादलं गतः ॥ १३ ॥
जलमेव यथाम्भोधिर्न तरङ्गादिकं पृथक् ।
आत्मैवेदं तथा सर्वं न भूतोयादिकं पृथक् ॥ १४ ॥
यथा समस्ताज्जलधौ जलादन्यन्न लभ्यते ।
तथैव जगतः स्फारादात्मनोऽन्यन्न लभ्यते ॥ १५ ॥

जान गये हैं और अखण्ड वाक्यार्थ के स्वरूप को भी ज्ञात कर चुके हैं, इसलिए आप तुर्यातीतरूपी महान् उदय के लिए शोकशून्य हो जायें ॥ ९ ॥

जैसे अन्धकार और मेघमण्डल से विनिर्मुक्त शरत्-पूर्णिमा की रात्रि का आकाश मण्डल सुशोभित होता है वैसे ही अभीष्ट और अनभीष्ट विषयों को छोड़कर आप शीतल साक्षात्काररूपी आलोक की शोभा से सुशोभित हो रहे हैं ॥ १० ॥

आत्मज्ञान से सम्पन्न मन भी निम्नकोटी के विषय सुखों में वैसे ही अनुधावन नहीं करता जैसे योग, मन्त्र और तप की सामर्थ्य से आकाश गमन की सिद्धि को प्राप्त किये हुए योगी आकाश को छोड़कर पृथ्वी में अनुधावन नहीं करता ॥ ११ ॥

समस्त ब्रह्माण्ड में देश, काल और वस्तु के परिच्छेद शून्य विशुद्ध चैतन्य की ही सत्ता है, आपको 'यह, वह मैं, यह शरीर और वह पुत्र आदि मेरे हैं' इत्यादि विविध भ्रमों में नहीं पड़ना चाहिए ॥ १२ ॥

सर्वत्र व्यापक चैतन्य का 'आत्मा' यह नाम केवल व्यवहार के लिए ही कल्पित है, नाम, रूप आदि भेद तो इस चैतन्य से अत्यन्त दूर ही है ॥ १३ ॥

सब जगत् आत्मस्वरूप वैसे ही है उससे भिन्न पृथ्वी जल आदि कुछ भी नहीं हैं जैसे समुद्र जलस्वरूप ही है, उससे भिन्न तरङ्ग आदि कुछ भी नहीं हैं ॥ १४ ॥

जगद्रूप से विस्तृत आत्मा के सिवा दूसरा कुछ भी लब्ध वैसे ही नहीं होता है जैसे समुद्र में पूर्ण जल के सिवा दूसरा कुछ भी लब्ध नहीं होता ॥ १५ ॥

अयं सोऽहमिति प्राज्ञ ! क्व करोषि व्यवस्थितिम् ।
किं तत्त्वं किञ्च वा ते स्यात्किं तत्त्वं किञ्च वा न ते।१६।
न द्वित्वमस्ति नो देहाः सम्बन्धो न च तैः स्थितः ।
संभाव्यते कलङ्को वा भानोरिव तमःपटैः ॥ १७ ॥
द्वित्वमभ्युपगम्याऽपि कथयामि तवाऽरिहन् ।
देहादिभिः सद्भिरपि न सम्बन्धो विभोर्भवेत् ॥ १८ ॥
छायातपप्रसरयोः प्रकाशतमसोर्यथा ।
न संभवति सम्बन्धस्तथा वै देहदेहिनोः ॥ १९ ॥
यथा शीतोष्णयोर्नित्यं परस्परविरुद्धयोः ।
न संभवति सम्बन्धो राम ! देहात्मनोस्तथा ॥ २० ॥
अविनाभाविनोर्यस्तु सम्बन्धः कथमेतयोः ।
जडचेतनयोर्देहदेहिनोरनुभूयते ॥ २१ ॥
चिन्मात्रस्याऽऽत्मनो देहसम्बन्ध इति या कथा ।
सैषा दुरवबोधार्था दावाग्नौ जलधिर्यथा ॥ २२ ॥
सत्यावलोकनेनैषा मिथ्यादृष्टिर्विनश्यति ।
अवलोकनया साम्यमातपे जलधिर्यथा ॥ २३ ॥
चिदात्मा निर्मलो नित्यः स्वावभासो निरामयः ।
देहस्त्वनित्यो मलवांस्तेन सम्बन्ध्यते कथम् ॥ २४ ॥
स्पन्दमायाति वातेन भूतैर्वा पीवरीकृतः ।
देहस्तेन न सम्बन्धो मनागेव सहाऽऽत्मना ॥ २५ ॥
सिद्धे द्वित्वेऽपि देहस्य न सम्बन्धस्य संभवः ।
द्वित्वासिद्धौ तु सुमते कलनैवेदृशी कुतः ॥ २६ ॥

हे प्राज्ञ ! यह, वह और मैं आदि की व्यवस्था आप किसमें करते हैं ? देह आदि भावों में से जो आप हैं और जो आपके साथ सम्बन्ध रखते हैं, उनका स्वरूप क्या है ? और जिनमें आप हैं और जो आपके नहीं हैं, उनका स्वरूप क्या है ? अधिष्ठान-दृष्टि से किसी के साथ भवद्रूपता और भवत्सम्बन्धिता नहीं हो सकती । अध्यास दृष्टि से वैसा हो सकता है, पर वह तो तात्त्विक नहीं है ॥ १६ ॥

भेदाधीन कलङ्क की आत्मा में भी किसी प्रकार से सम्भावना वैसे ही नहीं हो सकता है जैसे भगवान् भास्कर में अन्धकारपट से किसी प्रकार के कलङ्क की सम्भावना नहीं हो सकती क्योंकि वास्तव में न तो भेद है, न देह है और न उनका सम्बन्ध ही आत्मा में है ॥ १७ ॥

हे शत्रुनिहन्ता ! द्वित्व अर्थात् भेद को स्वीकार करने पर भी और देह आदि को सत्य मान लेने पर भी व्यापक आत्मा का उनके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है, यह आपसे मैं कहता हूँ ॥ १८ ॥

शरीर और आत्मा का भी परस्पर सम्बन्ध वैसे ही नहीं होता जैसे छाया और आतपविस्तार का तथा प्रकाश और अन्धकार का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता है ॥ १९ ॥

चैतन्य और जाड्य धर्मों से परस्पर अत्यन्त विरुद्ध देह और आत्मा का भी एक दूसरे से कभी सम्बन्ध वैसे ही नहीं हो सकता है जैसे सदा-सर्वदा परस्पर विरुद्ध रहने वाले शीत और उष्ण का एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं होता है ॥ २० ॥

समवाय सम्बन्ध अयुतसिद्ध पदार्थों का होता है, वह इन जड़ देह और चेतन आत्मा का कैसे अनुभूत हो सकता है, आशय यह है कि उनका समवाय सम्बन्ध है, यह अनुभव नहीं हो सकता है ॥ २१ ॥

चिन्मात्रस्वरूप आत्मा का देह के साथ सम्बन्ध है, यह जो उक्ति है, वह भी वैसे ही असम्भवार्थक है जैसे दावाग्नि में समुद्र है; मह उक्ति दुरबोधार्थ है, आशय यह है कि देह को चैतन्य का आश्रय मानने पर त्रिषय न हो सकने के कारण उसका स्मरण ही नहीं हो सकेगा । यदि देह को आत्मा का विषय मानेंगे, तो आश्रय न हो सकने के कारण समवाय आदि प्रसिद्ध हो जायेंगे और विषयता सम्बन्ध तो मिथ्या वस्तु में भी रहता है, ऐसी स्थिति से उसमें सत्यता रह नहीं सकती है ॥ २२ ॥

अधिष्ठान आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से यह देह और आत्मा का परस्पर हुआ सम्बन्ध विभ्रम वैसे ही विनष्ट हो जाता है जैसे सूर्य की किरणों में प्रतीत हुआ समुद्र विभ्रम किरणों के यथार्थ साक्षात्कार से विनष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

चिदात्मा निर्मल अविनाशी स्वप्रकाश एवं निर्विकार है और देह विनाशी एवं मलवान् अतः विशुद्ध आत्मा अविशुद्ध शरीर के साथ कैसे सम्बद्ध हो सकता है ? ॥ २४ ॥

भूतों से बल प्राप्त कर ही शरीर स्पन्दन को प्राप्त करती हैं, इसलिए आत्मा के साथ देह का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ॥ २५ ॥

हे विमलबुद्धि ! द्वैत की सत्यता मानने पर भी आत्मा के साथ देहादि का सम्बन्ध सम्भव होने पर द्वैत की असत्यता में इस प्रकार की सम्बन्ध की कल्पना कैसे हो सकती है ? ॥ २६ ॥

इत्येतदेव तत्सत्त्वे तत्रैवाऽन्तःस्थितिं कुरु ।
न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति कदाचित्कस्यचित् क्वचित्२७
सर्वमात्ममयं शान्तमित्येवं प्रत्ययं स्फुटम् ।
स बाह्याभ्यन्तरं राम ! सर्वत्र दृढतां नय ॥ २८ ॥
सुखी दुःखी विमूढोऽस्मीत्येता दुर्दृष्टयः स्मृताः ।
आसु चेद्वस्तुबुद्धिस्ते तच्चिरं दुःखमिच्छसि ॥ २९ ॥
यः क्रमः शैलतृणयोः कौशेयोपलयोस्तथा ।
साम्यं प्रति स एवोक्तः परमात्मशरीरयोः ॥ ३० ॥
यथा तेजस्तिमिरयोर्न सम्बन्धो न तुल्यता ।
अत्यन्तभिन्नयो राम ! तथैवाऽऽत्मशरीरयोः ॥ ३१ ॥
यथा शीतोष्णयोरैक्यं कथास्वपि न दृश्यते ।

इसलिए द्वैतभ्रम का परित्याग कर अद्वितीय चिन्मात्र में ही आप निष्ठा दृढ़ हो जाय । उसमें न तो किसी का कभी बन्धन होता है और न किसी का कभी मोक्ष होता है ॥ २७ ॥

हे श्रीरामचन्द्र जी ! पूर्व से ही शान्त समस्त बाह्य और आभ्यान्तर जगत् आत्म स्वरूप ही है, इस प्रकार के स्पष्ट अनुभव को सभी अवस्थाओं में आप दृढ़ बनायें ॥२८॥

'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं मूर्ख हूँ' इत्यादि ज्ञानों का दुर्दृष्टि शब्द से व्यवहार किया गया है, यदि आप इन प्रत्ययों में वस्तु बुद्धि रखते हैं, तो अवश्य आप दीर्घकालीन दुःख की ही अभिलाषा रखते हैं ॥ २९ ॥

पर्वत और तिनके में रेशम और पत्थर में जो विशेष कहा जाता है, वही विशेष परमात्मा और शरीर की समानता के प्रति कहा जा सकता है । आशय यह है कि पर्वत बड़ा और स्थिर है, इसलिए उसमें अनायस दृष्टि सुकर हो जाती है । तिनका अति चञ्चल और तुच्छ है, अतः दूर से चक्षु के द्वारा तृण-दृष्टि दुष्कर हो जाती है । रेशम और पत्थर के बीच में भी मृदु और सुखस्पर्श होने के कारण त्वगिन्द्रिय से रेशम का स्पर्श ही उपादेय होता है, कठोर और दुःखद होने के कारण पाषाण का स्पर्श उपादेय नहीं होता, प्रत्युत हेय ही होता है, परमात्मा और देहादि अनात्मा के बीच में भी अपरिच्छिन्न, सदा-सर्वदा स्वप्रकाश और आनन्दरूप होने के कारण परात्म-दृष्टि उपादेव एवं सुकर है और तुच्छ, अस्थिर और मन आदि से सापेक्ष होने के कारण देहादि अनात्मदृष्टि हेय और दुष्कार है, यों आत्मा और अनात्मा की दृष्टि में महान् वैषम्य होने से साम्य नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

हे श्रीरामचन्द्र जी ! परस्पर अत्यन्त विरुद्ध आत्मा और शरीर का भी एक दूसरे से सम्बन्ध और सादृश्य वैसे ही नहीं हो सकता जैसे परस्पर अत्यन्त विरुद्ध तेज और तिमिर का एक दूसरे से सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

जडप्रकाशयोः श्लेषो न तथाऽऽत्मशरीरयोः ॥ ३२ ॥
देहश्चलति वातेन तेनैवाऽऽयाति गच्छति ।
शब्दं करोति वातेन देहनाडीविलासिना ॥ ३३ ॥
शब्दः कचटतप्रायः स्फुरत्यन्तः समीरणैः ।
यथा प्रजायते वंशाद्देहरन्ध्रात् तथैव हि ॥ ३४ ॥
कनीनिकापरिस्पन्दश्चक्षुःस्पन्दस्य मारुतात् ।
इन्द्रियस्फुरणात् सैव संवित्केवलमात्मनः ॥ ३५ ॥
आकाशोपलकुड्यादौ सर्वत्राऽऽत्मदशा स्थिता ।
प्रतिबिम्बमिवाऽऽदर्शे चित्त एवाऽत्र दृश्यते ॥ ३६ ॥
शरीरालयमुत्सृज्य यत्र चित्तविहङ्गमः ।
स्ववासनावशाद्याति तत्रैवाऽऽत्माऽनुभूयते ॥ ३७ ॥

जड़ स्वरूप देह और प्रकाश स्वरूप आत्मा का भी संयोग वैसे ही नहीं हो सकता है जैसे शीत और उष्ण का ऐक्य वाणी के विलास में भी कहीं नहीं पड़ता । आत्मा और अनात्मा का संयोग असम्भव होनेपर उनका ऐक्य तो हो ही नहीं सकता है ॥ ३२ ॥

यह देह प्राणवायु से ही चलती है, उसी से आती और जाती रहती है एवं देह की नाडियों में विलास करने वाले प्राणवात से ही शब्द करता है ॥ ३३ ॥

शरीर के कण्ठरूप छिद्र से उद्गत प्राणवायुओं से अर्थात् काण्ठ, तालु आदि स्थानों में जिह्वा आदि के द्वारा अभिघात से कवर्ग, चवर्ज, टवर्ग, तवर्ग आदि शब्द वैसे ही प्रकट होते हैं जैसे छिद्रयुक्त बाँसों से वायु के द्वारा शब्द उत्पन्न होते हैं ॥ ३४ ॥

विषय-प्रदेश में होने वाले चक्षुःस्पन्द में हेतुभूत कनीनिका का परिस्पन्द भी केवल प्राण-वायु से ही होता है, समस्त इन्द्रियों के स्फुरण से उत्पद्यमान स्फूर्तिरूपा संवित्ति ही केवल आत्मा से होती है ॥ ३५ ॥

आकाश, पत्थर, भीत आदि सर्वत्र स्थानों में आत्मा की सत्ता विद्यमान रहने पर भी दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह इस चित्त में ही वह दिखाई पड़ती है ॥ ३६ ॥

शरीररूपी आलय को छोड़कर जहाँ चित्तरूपी पक्षी अपनी वासना के अनुसार जाता है, वहीं पर आत्मा की अनुभूति होती है ॥ ३७ ॥

यत्र पुष्पं तत्र गन्धसंविदः संस्थिता यथा ।
यत्र चित्तं हि तत्राऽऽत्मसंविदः संस्थितास्तथा ॥ ३८ ॥
सर्वत्र स्थितमाकाशमादर्शे प्रतिबिम्बति ।
यथा तथाऽऽत्मा सर्वत्र स्थितश्चेतसि दृश्यते ॥ ३९ ॥
अपामवनतं स्थानमास्पदं भूतले यथा ।
अन्तःकरणमेवाऽऽत्मसंविदामास्पदं तथा ॥ ४० ॥
सत्यासत्यं जगद्रूपमन्तःकरणबिम्बिता ।
आत्मसंवित्तनोतीदमालोकमिव सूर्यभा ॥ ४१ ॥
अन्तःकरणमेवाऽतः कावणं भूतसंसृतौ ।
आत्मा सर्वातिगत्वात्तु कारणं सदकारणम् ॥ ४२ ॥
अविचारणमज्ञानं मौर्ख्यमाहुर्महाधियः ।
संसारसंसृतौ सारमन्तःकरणकारणम् ॥ ४३ ॥
असम्यक्प्रेक्षणान्मोहाच्चेतः सत्तां गृहीतवत् ।

जहाँ चित्त रहता है, वहीं पर आत्मा की संवित् वैसे ही रहती है जैसे जहाँ पुष्प रहता है, वहीं पर गन्ध की संवित् ज्ञान रहती है ॥ ३८ ॥

सर्वत्र अवस्थित आत्मा चित्त में वैसे ही दिखाई पड़ता है जैसे सर्वत्र अवस्थित आकाश दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है ॥ ३९ ॥

अन्तःकरण ही चैतन्य-प्रतिबिम्ब का वैसे ही आश्रय स्थान है जैसे पृथ्वी में नीचे का स्थान जल का आश्रय स्थान होता है ॥ ४० ॥

अन्तःकरण में प्रतिबिम्बत आत्मसंवित् व्यावहारिक और प्रतिभासिक जगत्-स्वरूप का वैसे ही विस्तार करती है जैसे सूर्य की प्रभा आलोक का विस्तार करती है ॥ ४१ ॥

अतः संसृति में अन्तःकरण ही अर्थात् समष्टचात्मा हिरण्यगर्भ ही भूतों की उत्पत्ति में कारण है, आत्मा समस्त पदार्थों से परे प्रतिबिम्ब द्वारा भूतोत्पत्ति में कारण होते हुए भी आत्मा स्वतः कारण नहीं है ॥ ४२ ॥

प्रखर बुद्धिवाले मनीषियों का कहना है कि संसार की सृष्टि में अविचार, अज्ञान और मूढ़ता ही सारभूत है और वही अन्तःकरण में हेतु है ॥ ४३ ॥

अन्यथाग्रहण के संस्कारों के सामर्थ्यरूप मोह से विभ्रमों की सत्ता का बीजकणिकाभूत अन्तःकरण ने ग्रहण किया है और सम्मोह से ही असंभावित जन्मादिपरम्परा आत्मा में वैसे ही दिखाई देती है जैसे मोह से असम्भावित अन्धकार सूर्य से दिखाई देता है। चित्तपरिणाम को

सम्मोहबीजकणिकां तमोऽर्कादिव दृश्यते ॥ ४४ ॥
यथाभूतात्मतत्त्वैकपरिज्ञानेन राघव ! ।
असत्तामेत्यलं चेतो दीपेनेव तमः क्षणात् ॥ ४५ ॥
संसारकारणमितः स्वयं चेतो विचारयेत् ।
जीवोऽन्तःकरणं चित्तं मनश्चेत्यादिनामकम् ॥ ४६ ॥

श्रीराम उवाच

एताः संज्ञाः प्रभो ! ब्रह्मंश्चेतसो रूढिमागताः ।
कथमित्येव कथय मयि मानद ! सिद्धये ॥ ४७ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वे भावा इमे नित्यमात्मतत्त्वैकरूपिणः ।
चित्तात्तरङ्गकगणा जलैककलिता यथा ॥ ४८ ॥
आत्मा स्पन्दैकरूपात्मा स्थितस्तेषु क्वचित् क्वचित् ।
तरङ्गेषु विलोलेषु पयोधेः सलिलं यथा ॥ ४९ ॥

ग्रहण करने वाला अज्ञान 'मैं अज्ञ हूँ' प्रत्यक्षरूप से आत्मा में सभी पुरुषों को वैसे ही दिखाई पड़ता है जैसे सूर्य से ही उसको ग्रसनेवाला राहुरूप तम दिखाई देता है ॥४४॥

हे राघव ! अबाधित आत्मा के केवल स्वरूप-ज्ञान से ही चित्त तत्क्षण वैसे ही समाप्त अर्थात् नष्ट हो ताता है जैसे दीप से अन्धकार तत्क्षण ही समाप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

इसी चित्त के कारण से संसार का कारण अज्ञान प्राप्त है, अतः अधिकारियों को स्वयं उसके विषय में विचार करना चाहिए अर्थात् इससे संसार के कारण भूत चित्त के विषय में विचार करना चाहिए जिसके कि जीव, अन्तःकरण, चित्त, मन आदि अनेक नाम हैं ॥ ४६ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे मान्यतम ! हे प्रभो ! चित्त के ये नाम किस व्युत्पत्ति से योग रूढ़ि को प्राप्त हैं, उसी को मुझ से कहिए जिससे आपके द्वारा प्रतिपादित विचारों की सिद्धि हो जाय ॥ ४७ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—ये समस्त पदार्थ, जो आत्म तत्त्व के साथ ऐक्याध्यास होने के कारण आत्मतत्त्व स्वरूप प्रतीत होते हैं केवल चित्त से समष्टि चित्त से वैसे ही सदा उत्पन्न होते हैं। जैसे तरङ्गों के समूह केवल जल से ही उत्पन्न होते हैं ॥ ४८ ॥

आत्मा चित्त से उत्पन्न उन पदार्थों में कहीं कहीं पर केवल स्पन्द रूपात्मा होकर वैसे ही अवस्थित रहता है। जैसे समुद्र का जल चञ्चल तरङ्गों में स्पन्दात्मा होकर अवस्थित रहता है ॥ ४९ ॥

क्वचिदस्पन्दरूपात्मा स्थितस्तेषु महेश्वरः ।
तरङ्गत्वमयातेषु जलभावो जलेष्विव ॥ ५० ॥

तत्रोपलादयो भावा अलोलाः स्वात्मनि स्थिताः ।
सुराफेनवदुत्स्पन्दा लोलास्तु पुरुषादयः ॥ ५१ ॥

तत्र तेषु शरीरेषु सर्वशक्तिस्तदात्मनः ।
कलिताज्ञानकलना तेनाऽज्ञानमसौ स्थितः ॥ ५२ ॥

तदज्ञानमनन्तात्मभूषितं जीव उच्यते ।
स संसारे महामोहमायापञ्जरकुञ्जरः ॥ ५३ ॥

उन पदार्थों में कहीं पर परमात्मा अस्पन्दन स्वरूपात्मा होकर वैसे ही अवस्थित रहता है। जैसे तरङ्ग भाव को अप्राप्त जलों में जल अस्पन्द स्वरूप होकर रहता है ॥ ५० ॥

उन भावों में स्थिर पत्थर आदि पदार्थ तो अपने स्वरूप में अवस्थित हैं और सुरा के फेन की तरह अत्यन्त उत्कट स्पन्द से युक्तपुरुष चञ्चल हैं अर्थात् वह अपने वह स्वरूप में अवस्थित नहीं हैं ॥ ५१ ॥

यहाँ उन शरीरमें सर्वशक्ति पदार्थ-स्वरूपापन्न आत्मा के द्वारा कल्पित अज्ञान की कलना प्रसिद्ध है, इसीलिए स्वयं आत्मा ही उक्त स्वकल्पित अज्ञान स्वरूप होकर सुषुप्ति और प्रलय में अवस्थित रहता है ॥ ५२ ॥

प्रतिविम्ब भाव को संप्राप्त अनन्त आत्मा के द्वारा भूषित होकर स्फुरित उक्त अज्ञान ही रूढि अंश को लेकर जीव कहा जाता है। वही इस संसार में महामोह रूपी माया के पिजड़े में फँसा हुआ हाथी है ॥ ५३ ॥

साभास अज्ञान ही प्राण-धारण करने से 'जीव' कहा गया है, सर्व प्रथम 'अहम्' (मैं हूँ) इस व्यवहार करने के कारण अहंभाव से निश्चय करने के कारण बुद्धिमान् से और सङ्कल्प करने के कारण मन-नाम से इसको कहा गया है ॥ ५४ ॥

जीव मन आदि की प्रकृति कारण होने से प्रकृति वृद्धि की प्राप्ति होने से देह, अज्ञान अंश की प्रधानता से जड़ और चैतन्य की प्रधानता से चेतन कहा जाता है ॥ ५५ ॥

अज्ञान और अज्ञान के साक्षी दोनों के बीच में वर्तमान साभास मन ही विभिन्नरूपों को प्राप्त कर जीव, बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार आदि अनेक नामों से व्यवहृत होता है ॥ ५६ ॥

हे अनघ ! उस प्रकार के जीव के स्वरूपों को बृहदारण्यक आदि अनेक वेदान्त ग्रन्थों में अनेक तरह से

जीवनाज्जीव इत्युक्तोऽहंभावः स्यात्त्वहन्तया ।
बुद्धिर्निश्चायकत्वेन संकल्पकलनान्मनः ॥ ५४ ॥

प्रकृतिः प्रकृतित्वेन देहो दिग्धतया स्थितः ।
जडः प्रकृतिभावेन चेतनः स्वात्मसत्तया ॥ ५५ ॥

जडाजडदृशोर्मध्यं यत्तत्त्वं पारमात्मिकम् ।
तदेतदेव नानात्वं नानासंज्ञाभिराततम् ॥ ५६ ॥

एवं स्वरूपं जीवस्य बृहदारण्यकादिषु ।
बहुधा बहुषु प्रोक्तं वेदान्तेषु किलाऽनघ ! ॥ ५७ ॥

निश्चत-रूप से कहा गया है अच्युतग्रन्थ माला के अनुवाद की टिप्पणी में इसका विश्लेषण संस्कृत के अनुसार इस प्रकार किया गया है 'स एष इह प्रविष्टः अनाखाग्रेभ्यः' (यह आत्मा ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक के देहों में नखाग्र पर्यन्त प्रविष्ट है यानी जल में सूर्य की नाईं प्रतिबिम्बत है), इसका उपक्रम कर 'प्राणन्नेव प्राणो भवति वदन्वाक् पश्यँश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामधेयानि' (प्राणन क्रिया को कर रहा आत्मा प्राण नामवाला, वदन क्रिया को कर रहा वाक् नामवाला, दर्शन क्रिया को कर रहा चक्षु नामवाला, श्रवणक्रिया को कर रहा श्रोत्र नामवाला मनन क्रिया को कर रहा मन नामवाला होता है, आत्मा के ये सब नाम कर्मकृत हैं); इसी प्रकार 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरित ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्योरूपाणि' (स्वप्रकाश आत्मा संनिहितत्वादि से बुद्धि के सदृश होकर अन्योन्यधर्मादि का अध्यास होनेपर प्राप्त और अप्राप्तव्य दोनों लोकों में संचरण करता है, बुद्धि का ध्यान व्यापार होने पर आत्मा मानो ध्यान करता हुआ-सा, प्राणादि वायुओं के चलने पर चलता हुआ-सा प्रतीत होता है। स्वप्नाकार में परिणत बुद्धिवृत्ति के अवभासकरूप से स्वप्नाकार होकर जाग्रत्-व्यवहाररूप इस लोक का अतिक्रमण-करता है यानी उसका अभिमान छोड़ देता है। अज्ञानरूपी मृत्यु के अहमभिमान आदि स्वरूपों का अतिक्रमण करता है), इसी प्रकार 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ।' 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।', 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् ॥' (सङ्कल्प आदि बुद्धि के गुणों से तथा जरा, मृत्यु आदि शरीर के गुणों से ज्ञानरूप व्यापक आत्मा आरे के अग्रभाग की नाईं दिखाई पड़ता है,' 'केश के अग्रभाग के सौबार किये गये भाग का पुनः

अज्ञैस्त्वेतासु संज्ञासु कुविकल्पकुतार्किकैः ।
मोहाय केवलं मूढैर्व्यर्थमास्था प्रकल्पिताः ॥ ५८ ॥

एवमेष महाबाहो ! जीवः संसारकारणम् ।
मूकेनाऽतिवराकेण देहकेनेह किं कृतम् ॥ ५९ ॥

आधाराधेययोरेकनाशे नाऽन्यस्य नष्टता ।
यथा तथा शरीरादिनाशे नाऽऽत्मनि नष्टता ॥ ६० ॥

एकपर्णरसे क्षीणे रसो नैति यथा क्षयम् ।
याति पर्णरसश्चाऽर्करश्मिजालान्तरे यथा ॥ ६१ ॥

शरीरसंक्षये देही न क्षयं याति कस्यचित् ।
निर्वासनश्चेत्तद्व्योम्नि तिष्ठत्यात्मपदे तथा ॥ ६२ ॥

सौबार किया गया जो विभाग है, उसके नाईं जीव को सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानना चाहिए, वह जीवस्वरूप से अनन्त हो जाता है, जगत् की सृष्टिकर उसी में आत्मा ने अनुप्रवेश किया, उसमें प्रवेशकर आत्मा पृथ्वी आदि मूर्त और आकाश आदि अमूर्त स्वरूप हो गया ।), 'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत.... ...तस्मादिदन्द्रो नाम । यदेतद्हृदयं मनश्चैतत्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानम्' (उस परमेश्वर ने मूर्धा के मध्यभागरूप सीमा प्रदेश में छिद्र कर उसी के द्वारा शरीर में प्रवेश किया,...इससे इन्द्र नाम हुआ, संकल्प आदि का साधनभूत मन और बुद्धि है, वह संज्ञान है, आज्ञप्ति, विज्ञान और प्रज्ञान है) तथा 'त्वमेकोऽसि बहूननुप्रविष्टः ।', एको देवो बहुधा विचारः', एक सन् बहुधा विचारः, (तुम एक अद्वितीय हो, अनेक में प्रविष्ट हो, एक आत्मदेव बहुत प्रकार से विचरण करता है) इत्यादि श्रुतियाँ इस तरह के आत्मा के अनेक विध नामों में प्रमाण हैं ॥ ५७ ॥

अज्ञानी मूढ कुत्सित कल्प विकल्पों की सिद्धि के लिए दुष्ट तर्क-वितर्क करने में निपुण हैं, इन जीवादि संज्ञाओं में केवल मोह के लिए व्यर्थ ही अभिनिवेशों की कल्पना कर रक्खी है ॥ ५८ ॥

हे महाबाहो ! इस प्रकार यह जीव ही संसार का कारण है, विचारी वाणी से शून्य जड़ देह ने इसमें क्या किया है अर्थात् जड़ शरीर से संसार-स्थिति नहीं हो सकती, यह भाव है ॥ ५९ ॥

शरीर आदि का नाश होने पर आत्मा वैसे ही नष्ट नहीं होता है जैसे आधार घट और आधेय जल इन दो में से किसी एक का विनाश होने पर दूसरा नष्ट नहीं होता है ॥ ६० ॥

देहनाशे विनष्टोऽस्मीत्येवं यस्याऽमतेर्भ्रमः ।
मातुः स्तनतटात्तस्य मन्ये वेताल उत्थितः ॥ ६३ ॥

यस्य ह्यात्यन्तिको नाशः स्यादसावुदितः स्मृतः ।
चित्तनाशो हि नाशः स्यात्स मोक्ष इति कथ्यते ॥ ६४ ॥

मृतो नष्ट इति प्रोक्तो मन्ये तच्च मृषा ह्यसत् ।
स देशकालान्तरितो भूत्वा भूत्वाऽनुभूयते ॥ ६५ ॥

इहोह्यन्ते जनैरेवं तरङ्गान्तस्तृणैरिव ।
मरणव्यपदेशासु देशकालतिरोहितैः ॥ ६६ ॥

वासनावस्थितो जीवो यात्युत्सृज्य शरीरकम् ।

देह का विनाश होने पर भी देहव्यापी आत्मा का विनाश वैसे ही नहीं होता जैसे एक पत्ते के रस का विनाश होने पर भी वृक्षव्यापी रस का विनाश नहीं होता है अन्य पत्ते में उसकी सत्ता रहती ही है किन्तु यदि वह वासनायुक्त है, तो शरीरनाशानन्तर वासना में स्थित रहता है यदि वासनाशून्य है, तो ब्रह्माकाशस्वभाव में वैसे ही स्थित रहता है जैसे क्षीण हुआ पत्ते का रस सूर्य की किरणों में चला जाता है ॥ ६१, ६२ ॥

शरीर के नष्ट होने पर मैं नष्ट हो गया, जिसको यह मतिभ्रम होता है तो उस मूर्ख के लिए माता के स्तन से उसके लिए वेताल का समुत्थान हो गया है ॥ ६३ ॥

वज्र की बेड़ी के समान अत्यन्त दृढ़ बन्धनभूत उस उपाधियों आत्यन्तिक नाश होने पर यह जीव अपनी ब्रह्मस्वरूपता का स्मरण कर निरतिशयानन्दरूपी अभ्युदय को प्राप्त करता है चित्त के नाश से जीव-विनाश की जो सम्भावना हैं, वह शास्त्रों में जीव के लिए मोक्ष कहा गया है ॥ ६४ ॥

'मैं नष्ट हो गया, मैं मर गया' इस प्रकार विनाशित्व आदि से विशिष्ट कथित जीव निश्चितरूप से मैं मिथ्या और असत् मानता हूँ, देश और काल से व्यवहित होकर अर्थात् शरीर-त्याग के बाद विभिन्न देश और काल में जाकर वह अन्य देह को ग्रहण कर पुनः पुनः अनुभूत होता है ॥ ६५ ॥

इस संसार में मरण नाम की नदियों में, तरङ्गों के भीतर तृण के समान प्रतीत होनेवाले जीवों के द्वारा देश और कालवश तिरोहितस्वरूपों से मर गया, नष्ट हो गया, उत्पन्न हुआ आदि पदार्थो की—भ्रान्तिवश से कल्पना की जाती है ॥ ६६ ॥

कपिर्वनतरुं त्यक्त्वा तर्वन्तरमिवाऽऽस्थितः ॥ ६७ ॥
पुनस्तदपि संत्यज्य गच्छत्यन्यदपि क्षणात् ।
अन्यस्मिन्वितते देशे कालेऽन्यस्मिंश्च राघव ! ॥ ६८ ॥
इतश्चेतश्च नीयन्ते जीवा वासनया स्वया ।
चिरं तदपि जीविन्या धूर्त्या धात्र्येव बालकाः ॥ ६९ ॥
वासनारज्जुवलिता जीर्णाः पर्वतकुक्षिषु ।
जरयन्त्यतिदुःखेन जीवितं जीवजीविकाः ॥ ७० ॥
जरठजरदुपोढदुःखभाराः
परिणतिजर्जरजीविताश्च सत्यः ।
हृदयजनितवासनानुवृत्त्या
नरकभरे जनताश्चिरं पतन्ति ॥ ७१ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायंतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ ७२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे संसारोपदेशो नामैकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

॥ त्रयोदशो दिवसः ॥

वासना में आरूढ़ जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर पर वैसे ही चला जाता है जैसे बन्दर वन के एक वृक्षों को छोड़ कर दूसरे वृक्ष पर चला जाता है ॥ ६७ ॥

हे राघव ! उस शरीर को भी छोड़कर दूसरे विस्तृत देश और दूसरे काल में दूसरे शरीर पर भी थोड़े ही समय में चला जाता है ॥ ६८ ॥

अपनी ही वंचक वासना, जीवों का यथार्थस्वरूप आवृत कर जीवन स्वभाव की बहुत काल तक इधर-उधर जीवों को वैसे ही ले जाती है जैसे आसक्त उपमाता बालकों को इधर-उधर ले जाती है ॥ ६९ ॥

अपने-अपने कार्यों की सिद्धियों में एक दूसरे का परस्पर उपयोग करने के कारण एक दूसरे के जीवन के उपायभूत वासनारूपी रज्जु से बँधे हुए जीव पहले से ही जीर्ण तो हैं, फिर भी पर्वततुल्य जड़ शरीर में अत्यन्त दुःखपूर्वक प्राणों को क्षीण कर रहे हैं ॥ ७० ॥

जीर्णों से भी अधिक जीर्ण होकर जिन्होंने दरिद्रता, रोग, वियोग आदि से जनित दुःखों के बोझों को ढोया है तथा अनेक योनियों में दुर्दशाग्रस्त परिणामों से जिनका जीवन जर्जर दुःखों से शिथिल है, ऐसे जीव हृदय में उत्पन्न वासनाओं की परम्परा से नरकों में दीर्घकाल तक निवास करते हैं ॥ ७१ ॥

श्रीवाल्मीकि जी ने कहा—मुनि वसिष्ठ महाराज के इस प्रकार कहने पर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल की ओर चले गये और सभा मुनिजी को नमस्कार कर सायंकालीन विधि के लिए चली गई और रात्रि बीतने पर सूर्य की किरणों के साथ फिर दूसरे दिन आ गई ॥ ७२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में संसारोपदेश नामक कुसुमलता का एकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७१ ॥

तेरहवाँ दिन

७२

वसिष्ठ उवाच

देहे जाते न जातोऽसि देहे नष्टे न नश्यसि ।
त्वमात्मन्यकलङ्कात्मा देहस्तव न कश्चन ॥ १ ॥
यः कुण्डबदरन्यायो या घटाकाशसंस्थितिः ।
तत्रैकस्मिन् क्षते क्षीणे द्वे इति व्यर्थकल्पना ॥ २ ॥

७२

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—आप देह के उत्पन्न होने पर न तो उत्पन्न होते हैं और न देह के विनष्ट होने पर नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि अपने स्वरूप में आप किसी तरह के कलङ्क से कलङ्कित नहीं हैं कारण स्व-स्वरूप से आप विशुद्ध हैं, अतः आपकी देह कोई चीज नहीं है ॥ १ ॥

हे श्रीराम जी, जो कुण्ड और बदर का (बेर के वृक्ष या फल का) न्याय है और जो घट और आकाश की मर्यादा है, वही यहाँ पर भी अवसर देह और आत्म-

विनाशिनि विनष्टेऽस्मिन् देहे स्वां स्थितिमागते ।
विनश्यामीति यः खेदी तं धिगस्त्वन्धचेतसम् ॥ ३ ॥
यादृशो रश्मिरथयोः स्नेहोद्वेगविवर्जिते ।
सम्बन्धस्तादृशो देहचित्तेन्द्रियमुखैश्चितेः ॥ ४ ॥
गतेतरेतरापेक्षः सरःपङ्कामलाम्भसाम् ।
यथा राघव ! सम्बन्धस्तथा देहेन्द्रियात्मनाम् ॥ ५ ॥
यादृशोऽध्वा गताध्वानां निरास्थापरिदेवनः ।
संयोगो विप्रयोगश्च तादृशो देहदेहिनोः ॥ ६ ॥
यथा कल्पितवेतालविकारभयभीतयः ।
मिथ्यैव कल्पिता एते तथा स्नेहसुखादयः ॥ ७ ॥
भूतपञ्चकसंपिण्डाद् रचिता जनताः पृथक् ।
एकस्मादेव विटपाद् विचित्रा इव पुत्रिकाः ॥ ८ ॥
काष्ठेतरत्काष्ठभारे किञ्चिदन्यन्न दृश्यते ।
भूतपिण्डेतरद्देहे किञ्चिदन्यन्न दृश्यते ॥ ९ ॥
भूतपञ्चकविक्षोभनाशोत्पादेषु हे जनाः ।
हर्षामर्षविषादानां किं भवन्तो वशं गताः ॥ १० ॥
को नामाऽतिशयः पुंसां स्त्रीनाम्न्यपरनाम्नि च ।
पेलवे भूतसङ्घाते प्रोद्भूतजनपातवत् ॥ ११ ॥
संनिवेशांशवैचित्र्यमज्ञानामेव तुष्टये ।
तज्ज्ञानां तु यथाभूतभूतपञ्चकदर्शनम् ॥ १२ ॥
मिथः शिलापुत्रकयोर्यथैकोपलपुत्रयोः ।
श्लिष्टयोरपि नो रागस्तथा चित्तशरीरयोः ॥ १३ ॥

स्थल में भी समझनी चाहिए । आशय यह है कि जैसे 'कुण्डे में बेर', 'घटाकाश' इत्यादि व्यवहारों में कुण्डे और बेर का तथा घट और आकाश का सम्बन्ध प्रतीत होता है, पर उनका तादात्म्य प्रतीत नहीं होता, वैसे ही 'मैं गोरा हूँ' इत्यादि व्यवहार से शरीर और आत्मा का तादात्म्य प्रतीत होता है, पर वास्तव में वह नहीं है । ऐसी स्थिति में एक कुण्ड या घट के नष्ट हो जाने पर कुण्ड और बदर तथा घट और आकाश दोनों भी नष्ट हो गये, इस प्रकार की व्यर्थ कल्पना है ।। २ ।।

नश्वर-स्वभाववाले इस देह के नष्ट हो जाने पर आत्मा अपनी सहज स्थिति को प्राप्त हो जाने पर 'देह का विनाश होने पर मैं नष्ट हो जाता हूँ' इस प्रकार की भावना से जो दुःखी होता है, उस अन्धबुद्धि को धिक्कार है ।। ३ ।।

चिति का भी देह, चित्त, इन्द्रिय आदि के साथ सम्बन्ध प्रीति और द्वेष की योग्यता से वैसे ही रहित है जैसे घोड़े आदि की लगाम और रथ का सम्बन्ध प्रीति और द्वेष की योग्यता से रहित है ।। ४ ।।

हे श्रीराघव ! देह, इन्द्रिय और आत्मा का भी सम्बन्ध किसी प्रकार के परस्पर के अनुराग से वैसे ही युक्त नहीं है जैसे सरोवर, तद्गत पङ्क और निर्मल जल का सम्बन्ध किसी प्रकार के परस्पर के अनुराग से युक्त नहीं है ।। ५ ।।

देह और देही का संयोग और वियोग अहन्ता-ममताभिमान एवं वियोग-जनित विलाप से वैसे ही वर्जित है जैसे मार्ग बटोहियों के संयोग और वियोग की अवस्था में अहन्ता और ममता के अभिमान एवं परिदेवन से अर्थात् उसके वियोग से जनित विलाप से वर्जित है ।। ६ ।।

ये कल्पित स्नेह, सुख आदि वैसे ही मिथ्या ही हैं जैसे कल्पित वेताल के कराल वदन आदि विकारों से जनित प्राथमिक भय के पुनः पुनः स्मरण से बालक को होने वाली भीतियाँ मिथ्या ही हैं ।। ७ ।।

पाँच भूतों के सङ्घात से विभिन्न-विभिन्न जन-समूह वैसे ही बनाये गये हैं जैसे एक ही वृक्ष से विलक्षण विलक्षण पुतलियाँ (मूर्तियाँ) बनाई जाती हैं ।। ८ ।।

पृथ्वी, जल, तेज आदि पाँच भूतों के शरीर में पाँच भूतों के पिण्ड के सिवा और कुछ भी वैसे ही नहीं दिखाई पड़ता जैसे लकड़ियों के बोझे में लकड़ियों के सिवा और कुछ नहीं दिखाई पड़ता ।। ९ ।।

हे मनुष्यो ! तुम लोग पाँच भूतों का क्षोभ, नाश और उत्पत्ति होने पर हर्ष, अमर्ष और विषाद के वश में क्यों हो जाते हो ? ।। १० ।।

जिसका स्त्रीनामक तुच्छ भूतों के समूह में अर्थात् स्त्री-शरीरात्मक पाँच भूतों के पिण्ड में पुरुषों को ऐसा कौन विशेष प्रतीत होता है, जिससे कि उनकी अग्नि में फतिङ्गे की तरह विषयाग्नि में व्यामोह और राग से दृश्यमान गिरने की चेष्टा युक्तिसङ्गत कही जाय ।।११।।

सुकुमार और सुन्दर अवयवों से संनिवेश अंश को लेकर वैलक्षण्य का उपपादन करना तो केवल अज्ञानियों के लिए ही सन्तोष का विषय हो सकता है, पर तत्वज्ञ को उसमें उपस्थित पाँच भूतों का ही दर्शन होता है ।। १२ ।।

चित्त और शरीर के आलिङ्गित होने पर भी वैसे ही राग नहीं होता है जैसे एक पत्थर से उत्पन्न हुई दो पाषाण-प्रतिमाओं के परस्पर आलिङ्गित होने पर भी राग नहीं होता ।। १३ ।।

मृत्पुंसां यादृशोऽन्योन्यमाशयः सङ्गमे भवेत् ।
बुद्धीन्द्रियात्ममनसां सङ्गमे तादृशोऽस्तु ते ॥ १४ ॥
नाऽन्योन्यस्नेहसम्बन्धभाजनं शैलपुत्रकाः ।
देहेन्द्रियात्मप्राणाश्च कस्याऽत्र परिदेवना ॥ १५ ॥
इतश्चेतश्च जातानि यथा संश्लेषयन्त्यलम् ।
तरङ्गास्तृणजालानि तथा भूतानि देहदृक् ॥ १६ ॥
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तृणान्यब्धिजले यथा ।
मुक्तान्तःकलनं देहे भूतान्यात्मनि वै तथा ॥ १७ ॥
आत्मा चित्ततया देहभूतान्याश्लेषयन् स्थितः ।
तृष्णान्यावृत्तवृत्तान्तकलनोत्सिक्तमब्धिवत् ॥ १८ ॥
प्रबोधाच्चेत्यतां त्यक्त्वा व्रजत्यात्माऽऽत्मतां स्वयम् ।
स्वस्पन्दवशतो वारि त्यक्त्वाऽच्छत्वमिवाऽच्छताम् ॥ १९ ॥

बुद्धि, इन्द्रिय, आत्मा और मन का समागम होने पर भी वैसे ही आप का ममता आदि से शून्य भाव हो जैसे मिट्टी से बनाई गई प्रतिमाओं का समागम होने पर भी उनका परस्पर ममता आदि से शून्य भाव होता है ॥ १४ ॥

देह, इन्द्रिय, आत्मा और प्राण भी परस्पर स्नेह-सम्बन्ध के भाजन नहीं हैं, वैसे ही जैसे पत्थर की बनाई गई प्रतिमाएँ परस्पर स्नेह-सम्बन्ध की भाजन नहीं हैं, अतः उनमें से किसके विषय में यहाँ शोक किया जाय ॥ १५ ॥

आत्मा भिन्न-भिन्न प्रदेश में उत्पन्न भूतों को वैसे ही एकत्र करता है जैसे यत्र तत्र भिन्न भिन्न प्रदेश में उत्पन्न हुए तिनकों को तरङ्गें पर्याप्त रूप से एकत्र करती हैं ॥ १६ ॥

रागाभिमान से विनिर्मुक्ततापूर्वक ही पुत्र, पशु आदि प्राणी अथवा पृथ्वी आदि भूत स्वनिर्मित देह में या स्वाधिष्ठान आत्मा में एक दूसरे से वैसे ही मिल जाते हैं और पृथक् हो जाते हैं जैसे समुद्र के जल में तृण एक दूसरे से मिल जाते हैं और पृथक् हो जाते हैं ॥ १७ ॥

आत्मा भी चित्ताकृति को प्राप्तकर देह, भूत आदि को वैसे ही बटोरता हुआ रहता है जैसे सागर आवर्ताकार की कल्पना से वृद्धिगत आकार को प्राप्तकर तृण, काठ आदि पदार्थों को बटोरता हुआ रहता है ॥ १८ ॥

आत्मा प्रबोध से विषयरूपता का परित्याग की स्वयं वैसे ही आत्मरूपता को प्राप्त करता है जैसे जल अपनी स्पन्दन क्रिया से ही मलिनता का परित्याग कर स्वयं ही स्वच्छता को प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

ततो विश्लिष्टभूतौघो देहं सम्प्रति पश्यति ।
वायुस्कन्धगतो जन्तुर्वसुधामण्डलं यथा ॥ २० ॥
पृथक् भूतगणं दृष्ट्वा देहातीतो भवत्यजः ।
परं प्रकाशमायाति सूर्यकान्तिरिवाऽह्नि ॥ २१ ॥
जानात्यथाऽऽत्मनाऽऽत्मानं मानमेयामयोज्झितम् ।
मुक्तक्षीबतयेवाऽन्तः स्वां संविदमनुस्मरन् ॥ २२ ॥
आत्मैव स्पन्दते विश्वं वस्तुजातैरिवोदितम् ।
तरङ्गकणकल्लोलैरनन्ताम्बवम्बुधाविव ॥ २३ ॥
एवंप्रायमहाबोधा वीतरागा गतैनसः ।
जीवन्मुक्ताश्चरन्तीह महासत्वपदं गताः ॥ २४ ॥
यथा चरन्ति विविधैर्मणिरत्नैर्महोर्मयः ।
निरस्तवासनाश्चित्तव्यवहारैस्तथोत्तमाः ॥ २५ ॥

तदनन्तर जैसे कि वायु के कन्धे पर चढ़े हुए देव आदि भूमण्डल को देखते हैं वैसे ही प्रबोध काल में ही मन के द्वारा सम्पादित भूताश्लेष से विनिर्मुक्त होकर अपने देह को देखता है, ॥ २० ॥

भूतसमूह को अपने से पृथक् देखकर अविनाशी आत्मा देहातीत हो जाता है वैसे ही वह परम प्रकाशित होता है जैसे सूर्यकान्ति दिवस में परम प्रकाशित होती है ॥ २१ ॥

अनन्तर आत्मा अपने ही से अपने प्रमाणप्रमेयरूपी विकारों से विनिर्मुक्त स्वरूप को वैसे ही जान लेता है जैसे मद्य के मद से मत्त हुआ पुरुष मद के निकल जाने पर भीतर अपने पूर्व विज्ञान का स्मरण करता है ॥ २२ ॥

उसी प्रकार मानो आत्मा ही समस्त वस्तुओं से उदित हुए विश्व के रूप से वैसे ही प्रस्पन्दित होता है जैसे समुद्र में तरङ्गरूपी कणों के कल्लोलों से असीम जल प्रस्पन्दित होता है ॥ २३ ॥

रागशून्य पापरहित परब्रह्मपद को प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुष विशिष्ट विज्ञान से युक्त होकर इस संसारमण्डल में विचरण करते हैं ॥ २४ ॥

वासनावर्जित उत्तम महात्मा लोग भी चित्त के व्यवहारों से सम्बन्ध होने पर भी उनमें अनासक्ति के कारण ऊपर से वैसे ही व्यवहार करते हैं जैसे समुद्र की ऊर्मियाँ विविध श्रेष्ठ रत्नों से सम्बन्ध होने पर भी उनमें अनासक्ति के कारण सिलियों के टुकड़ों की भाँति ही व्यवहार करती हैं ॥ २५ ॥

न कूलकाष्ठैर्जलधिर्न रजोभिर्नभस्तलम् ।
न म्लायति निजैर्लोकव्यवहारैरिहाऽऽत्मवान् ॥ २६ ॥
गतैरभ्यागतैः स्वच्छैश्चपलैर्मलिनैर्जडैः ।
न रागो नाऽम्बुधेर्द्वेषो भोगैश्चाऽधिगतात्मनः ॥ २७ ॥
यन्मनो मननं किञ्चित्समग्रं जगति स्थितम् ।
तच्चेत्योन्मुखचित्तत्त्वविलासोल्लसनं विदुः ॥ २८ ॥
यदहं यच्च भूतादि कालत्रितयभावि यत् ।
दृश्यदर्शनसम्बन्धविस्तारैस्तद्विजृम्भते ॥ २९ ॥
यद् दृश्यं तदसत्सद्वा दृष्टिमेकामुपाश्रितम् ।
अन्यत्त्वलेपकं तस्माद् हर्षशोकदृशौ कुतः ॥ ३० ॥

जिसने अपनी आत्मा को भली प्रकार पहचान लिया है, ऐसा आत्मज्ञानी पुरुष इस संसार में निजी लौकिक व्यवहारों से वैसे ही म्लान नहीं होता है जैसे तीर और काष्ठों से समुद्र म्लान नहीं होता तथा जैसे रजःकणों से आकाश म्लान नहीं होता ॥ २६ ॥

तत्त्वज्ञानी को गत, अभ्यागत, स्वच्छ, मलिन, जड़ एवं चञ्चल भोगों से राग और द्वेष वैसे ही नहीं होता है जैसे समुद्र को गत, आगत, स्वच्छ, चपल, मलिन एवं जड़ तरङ्गों से राग और द्वेष नहीं होता है ॥ २७ ॥

इस जगत् में विद्यमान मन, मनन सब विषयोन्मुखता को प्राप्त चित्तत्त्व के विलास का एक उल्लास है, इस प्रकार तत्त्वज्ञ पुरुष हैं, इसलिए उनको किसी से राग या द्वेष नहीं होता है ॥ २८ ॥

तीनों कालों में उत्पन्न होने वाली जो अहम्, भूत आदि तथा वस्तुएँ दृश्य और दर्शन के सम्बन्धों से दिखाई पड़ती हैं, वे सब केवल मन का ही विस्तार है, मन की कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है ॥ २९ ॥

दृष्टिस्वरूप साक्षीभूत आत्मा के द्वारा सिद्ध दृश्य पदार्थ असत् है या सत् है ? इस विषय का अभीतक निर्णय न हो सकने के कारण दृश्य हर्ष और शोक के लिए अयोग्य ही है और दूसरा स्वतःसिद्ध जो साक्षीरूप आत्मा है, वह तो असङ्ग है, इसलिए उत्पन्न हर्ष और शोक से वह सम्बद्ध नहीं होता, अतः दृक् और दृश्य दोनों को सत् या असत् मानने पर भी हर्ष-शोक की संभावना नहीं है ॥ ३० ॥

असत्य वस्तु तो असत्य ही है उसके लिये हर्ष शोक व्यर्थ है । जो सत्य वस्तु है, वह सत्य वस्तु सदा-सर्वदा प्राप्त ही है, इसलिए ऐसी वस्तु के विषय में लाभ-प्रयुक्त

असत्यमेवाऽसत्यं हि सत्यं सत्यं सदेव हि ।
सत्यासत्यमसद्विद्धि तदर्थं किं नु मुह्यसि ॥ ३१ ॥
असम्यग्दर्शनं त्यक्त्वा सम्यक् पश्य सुलोचन ! ।
न क्वचिन्मुह्यति प्रौढः सम्यग्दर्शनवानिह ॥ ३२ ॥
दृश्यदर्शनसम्बन्धविस्तारैस्तद्विजृम्भते ।
दृश्यदर्शनसम्बन्धे यत्सुखं पारमात्मिकम् ।
अनुभूतिमयं तस्मात् सारं ब्रह्मेति कथ्यते ॥ ३३ ॥
दृश्यदर्शनसम्बन्धे सुखसंविदनुत्तमा ।
ददात्यज्ञाय संसारं ज्ञाय मोक्षं सदोदयम् ॥ ३४ ॥
दृश्यदर्शनसम्बन्धसुखमात्मवपुर्विदुः ।
तद् दृश्यवलितं बन्धस्तन्मुक्तं मुक्तिरुच्यते ॥ ३५ ॥

हर्ष और हानि-प्रयुक्त शोक ये कैसे हो सकते हैं ? सत्यासत्य एक वस्तु हो ही नहीं सकती, कारण कि एक वस्तु में सत्यत्व और असत्यत्व ये दो विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते हैं । ऐसी स्थिति में जगत् में हर्ष-शोक-योग्य किसी वस्तु के न रहने से उसके लिए आपको शोक करना व्यर्थ ही है ॥ ३१ ॥

हे सुन्दर नेत्र वाले ! मिथ्या दर्शनरूपी भ्रम को छोड़कर आप यथार्थ वस्तु को प्राप्त करें । जब मनुष्य यथार्थ ज्ञान से युक्त होकर प्रौढ बन जाता है, तब इस संसार में कहीं पर भी उसे मोह प्राप्त नहीं होता है ॥३२॥

रम्य विषय और इन्द्रियजनित वृत्तियों का परस्पर सम्बन्ध होने पर अपनी आत्मा में उत्पन्न परमात्मास्वरूप सुख रम्य विषय और इन्द्रियों के परस्पर सम्बन्ध के विस्तार से प्रकाशित होता है । इसलिए अनुभूति-स्वरूप सुख ब्रह्म ही कहा जाता है ॥ ३३ ॥

विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध होनेपर सर्वोत्तम सुखानुभूति होती है और वही अज्ञानी पुरुष को संसार प्रदान करती है और वही तत्त्वज्ञज्ञानी पुरुष को सर्वोत्तम सदा उदयस्वरूप मोक्ष प्रदान करती है अर्थात् विषयाकार वृत्ति से आस्वादित सुख विषयों में राग-द्वेष आदि दोषों का उद्भावन कर संसार देता है और विषयों का विवेक कर अखण्ड अद्वितीय आत्मभाव से गृहीत सुख मोक्ष देता है ॥ ३४ ॥

रम्य विषयों का और इन्द्रियवृत्तियों का परस्पर सम्बन्ध होनेपर उत्पन्न होने वाला सुख आत्मस्वरूप ही है, ऐसा महात्मा का कहना है । वह सुख विषयसङ्ग से युक्त होनेपर संसार कहलाता है और विषयसङ्ग से विनिर्मुक्त होनेपर मुक्ति कहलाती है ॥ ३५ ॥

दृश्यदर्शनसम्बन्धसुखसंविदनामया ।
क्षयातिशयमुक्ता चेत्तन्मुक्तिः सोच्यते बुधैः ॥ ३६ ॥
दृश्यदर्शनसम्बन्धे याऽनुभूतिः स्वगोचरा ।
दृश्यदर्शननिर्मुक्ता तामालम्ब्य भवाभवः ॥ ३७ ॥
सौषुप्ती दृष्टीरेषा हि यात्येवं संप्रकाशते ।
एवं च याति तुर्यत्वमेवं मुक्तिरिति स्मृता ॥ ३८ ॥
दृश्यदर्शनमुक्तायां युक्तायां परया धिया ।
दृश्यदर्शनसम्बन्धसंविदस्यां तु राघव ! ॥ ३९ ॥
नाऽऽत्मा स्थूलो न चैवाऽणुर्न प्रत्यक्षो न चेतरः ।
न चेतनो न च जडो न चैवाऽऽसन्न सन्मयः ॥ ४० ॥
नाऽहं नाऽन्यो न चैवैको नाऽनेको नाऽप्यनेकवान् ।
नाऽभ्याशस्थो न दूरस्थो नैवाऽस्ति न च नाऽस्ति च॥४१

विद्वानों का कहना है कि दुःखरूपी बीमारी से वर्जित दृश्य और ऐन्द्रियक वृत्तियों के सम्बन्ध से जनित सुखानुभव, यदि क्षय और अतिशय से अर्थात् पुण्य के तारतम्य से उत्पन्न वृत्तिनाश और वृत्तिवैशद्य के उत्कर्ष होनेवाले क्षय और अतिशय से शून्य हो जाय, तो वह मुक्तिस्वरूप हो जता है ॥ ३६ ॥

दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध से होनेवाली अखण्डपूर्णानन्दस्फुरण-स्वरूप दृश्य और दर्शन से वर्जित सुखानुभूति अवलम्बन करने से संसार की अनुत्पत्ति होती है ॥ ३७ ॥

अखण्ड-पूर्णानन्द-स्फुरणात्मक सुखानुभूति का अवलम्बन करने पर आत्मस्वरूप को आवृत करने वाली सौषुप्ती दृष्टि का विच्छेद हो जाता है और आत्मस्वरूप-दृष्टि प्रकाशित रहती है। उसी दृष्टि का अवलम्बन करने पर तुर्यावस्था प्राप्त होती है और उसी के अवलम्बन से मुक्ति कही जाती है ॥ ३८ ॥

हे श्रीराघव ! दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध से निर्मुक्त और परम बुद्धि से युक्त यह स्वरूप दृष्टि होने पर दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध के असली तत्त्व को जानकर पुरुष तुर्यावस्था को प्राप्त होता है अर्थात् तुर्यत्वरूपा मुक्ति में आत्मा का जो स्वरूप रहता है ॥ ३९ ॥

तुर्यतारूप मुक्ति में आत्मा न तो स्थूल रहता है, न अणु रहता है, न प्रत्यक्षात्मक वृत्ति का विषय रहता है, न चैतन्ययुक्त रहता है, न जड़ रहता है, न असत् ही रहता है और न अस्तित्वरूप भावविकार से युक्त रहता है ॥ ४० ॥

उक्त अवस्था में आत्मा न अहंरूप रहता है, न अन्य-

न प्राप्यो नाऽस्ति चाऽप्राप्यो न वा सर्वो न सर्वगः ।
न पदार्थो नाऽपदार्थो न पञ्चात्मा न पञ्च च ॥ ४२ ॥
यदिदं दृश्यतां प्राप्तं मनःषष्ठेन्द्रियास्पदम् ।
तदतीतं पदं यत्स्यात्तन्न किञ्चिदिवेह तत् ॥ ४३ ॥
यथाभूतमिदं सम्यग्ज्ञस्य संपश्यतो जगत् ।
सर्वमात्ममयं विश्वं नाऽस्त्यनात्ममयं क्वचित् ॥ ४४ ॥
काठिन्यद्रवणस्पन्दखावकाशावलोकनैः ।
आत्मैव सर्वं सर्वेषु भूवार्यनिलखाग्निषु ॥ ४५ ॥
सत्तैवाऽस्ति न वस्तूनां या या राम ! चित्ता विना ।
व्यतिरिक्तं ततोऽस्मीति विद्धि प्रोन्मत्तजल्पितम् ॥४६॥
एको जगन्ति सकलानि समस्तकाल-
कल्पक्रमान्तरगतानि गतागतानि ।

स्वरूप रहता है, न एकत्व संख्या से युक्त रहता है, न अनेकत्व से युक्त रहता है, न समीप में रहता है, न दूर में रहता है, न सत्ताश्रय रहता है और न सत्ताश्रयत्वाभाव से युक्त रहता है ॥ ४१ ॥

तुर्यावस्था में आत्मा न तो प्राप्य है, न अप्राप्य है, न सर्वात्मक है, न व्यापक है, न पदों का वाच्य है, न तो पदों का अवाच्य है, न पाँच भूतों का है और न पाँच भूतों के स्वरूपभूत ही है ॥ ४२ ॥

मन के साथ चक्षु आदि छः इन्द्रियों का विषय इस दृश्य प्राप्त जगत् का अतिक्रमण करने वाला जो पद होगा, वह इस जगत् में विद्यमान किसी दृश्य पदार्थ के स्वरूप में नहीं हो सकता है, किन्तु स्वस्वरूप ही हो सकता है ॥ ४३ ॥

जिस प्रकार का यह जगत् है, उस प्रकार के इस जगत् को भली-भाँति जानने वाले पुरुष के लिए यह समस्त विश्व आत्मस्वरूप ही है, कहीं भी आत्मस्वरूप से रहित वस्तु नहीं है ॥ ४४ ॥

यह आत्मा ही अपने स्वरूप में काठिन्य, द्रवता, स्पन्द, आकाशरूपी अवकाश और प्रकाश के अवलोकनों से क्रमशः पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और तेजरूप जगत् भावों में विद्यमान है ॥ ४५ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! वस्तुओं की सत्ता आत्मा के प्रकाश के सिवा दूसरी वस्तु नहीं है, इसलिए मैं आत्मप्रकाश से व्यतिरिक्त हूँ, यह उसका कहना उन्मत्त की तरह जल्पनमात्र ही है, यह आप समझे ॥ ४६ ॥

हे महात्मन् ! समस्त काल और असीम कालक्रमों के बीच में प्रविष्ट अनेक जगत् तथा उन अनेक जगतों में

आत्मैव नेतरकलाकलनाऽस्ति काचि-
दित्थंमतिर्भव तयाऽतिगतो महात्मन् ! ॥४७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
मोक्षस्वरूपोपदेशो नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

जीव के नैकविध संसार—यह सब एक आत्मा ही है, इसको छोड़ और कोई दूसरी काल की गणना है ही नहीं, अतः आप पहले इस प्रकार की बुद्धि से युक्त होकर उक्त बुद्धि अर्थात् तत्त्वदर्शन से इस संसार से अपना छुटकारा पायें ॥ ४७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
मोक्षस्वरूपोपदेश नामक कुसुमलता का बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७२ ॥

७३

वसिष्ठ उवाच

एवंविचारया दृष्ट्या द्वैतत्यागेन राघव ! ।
स्वभावः प्राप्यते तज्ज्ञैस्तज्ज्ञैश्चिन्तामणिर्यथा ॥ १ ॥
अथेमामपरां दृष्टिं शृणु रामाऽनया यथा ।
दृश्यस्याऽऽत्मानमचलं भविष्यसि च दिव्यदृक् ॥ २ ॥
अहं खमहमादित्यो दिशोऽहमहमप्यधः ।
अहं दैत्या अहं देवा लोकाश्चाऽहमहं महः ॥ ३ ॥
अहं तमोऽहमभ्राणि भूः समुद्रादिकं त्वहम् ।
रजो वायुरथाऽग्निश्च जगत्सर्वमिदं त्वहम् ॥ ४ ॥
जगत्त्रयेऽहं सर्वत्र य आत्मैव किलाऽऽस्थितः ।
कोऽहं किमन्यद्देहादि द्वित्वमेकस्य कीदृशम् ॥ ५ ॥
इति निश्चयवानन्तर्भूतमात्मतया जगत् ।
पश्य हर्षविषादाभ्यां नाऽवशः परिभूयसे ॥ ६ ॥
तन्मयेऽस्मिन् किल जगत्यखिले संस्थितेऽनघ ! ।
किमात्मीयं परं किं स्यात् कमलेक्षण ! कथ्यताम् ॥७॥
किं तज्ज्ञव्यतिरेकेण विद्यते यदुपागतम् ।
हर्षमेतु विषादं वा विषादेऽज्ञो जगन्मयः ॥ ८ ॥

७३

श्री वसिष्ठजी ने कहा—पूर्वोक्त विचारात्मक दृष्टि से द्वैत का परित्याग कर आत्मा के स्वरूप को जानने वाले तत्त्ववित् महात्मा वैसे ही स्वस्वरूपावस्थितिरूप मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं जैसे चिन्तामणि के स्वरूप को जानने वाले देवता चिन्तामणि को प्राप्त कर लेते हैं ॥ १ ॥

हे श्रीराम जी ! अब आप इस द्वितीय दृष्टि का श्रवण करें, इसका श्रवण करने से आप अविचल अपने आतमा का साक्षात्कार कर दिव्य दृष्टि से सम्पन्न हो जायेंगे ॥ २ ॥

मैं आकाश हूँ, मैं आदित्य हूँ, मैं दिशाएँ हूँ, मैं अधः हूँ, मैं ऊर्ध्व हूँ, मैं दैत्य हूँ, मैं देव हूँ, मैं लोक हूँ और मैं चन्द्र आदि की प्रभा हूँ। मैं अन्धकार हूँ, मैं मेघ हूँ, मैं पृथ्वी हूँ, मैं समुद्र आदि हूँ तथा रेणु, वायु, अग्नि एवं यह समस्त जगत् मैं ही हूँ ॥ ३-४ ॥

तीनों लोकों में सब जगह स्वरूपभूत जो आत्मा अवस्थित है, वह मैं ही हूँ। सर्वात्मक स्वरूप से भिन्न परिच्छिन्न मैं कौन हूँ ? अर्थात् मैं कभी परिच्छिन्न नहीं हो सकता हूँ। देह आदि भी मुझसे भिन्न कौन हैं ? एक अद्वितीय वस्तु में द्वित्व अर्थात् स्वरूपगतभेद कैसे हो सकता है ? ॥ ५ ॥

इस प्रकार विचार कर आप निश्चयात्मक ज्ञान से युक्त हो जायें अनन्तर आत्मा के भीतर रहने वाले जगत् को स्वस्वरूपभूत में देखें। जगत् को स्वस्वरूपभूत देखने के अनन्तर आप हर्ष और विषाद से पराजित नहीं होंगे ॥ ६ ॥

हे कमलेक्षण ! हे पाप ! इस समस्त जगत् के आत्म-स्वरूप से अवस्थित हो जाने पर क्या अपना और क्या पराया रहेगा ? यह आप मुझसे कहें ॥ ७ ॥

तत्त्वज्ञ से भिन्न ऐसी कौन वस्तु है, जिसकी प्राप्ति के बाद वह तन्निबन्धन हर्ष और विषाद से ग्रस्त हो जाय। यदि उसको ऐसी वस्तु के आ जाने से विषाद दिखाई पड़े तो वह तत्त्वज्ञ ही नहीं है, क्योंकि ऐसा पुरुष जगन्मय ही होता है, चिन्मय नहीं ॥ ८ ॥

अहङ्कारदृशावेते सात्त्विके द्वेऽतिनिर्मले ।
तत्त्वज्ञानात् प्रवर्तेते मोक्षदे पारमार्थिके ॥ ९ ॥

परोऽणुः सकलातीतरूपोऽहं चेत्यहङ्कृतिः ।
प्रथमा सर्वमेवाऽहमित्यन्योक्ता रघूद्वह ! ॥ १० ॥

अहङ्कारदृगन्या तु तृतीया विद्यतेऽनघ ! ।
देहोऽहमिति तां विद्धि दुःखायैव न शान्तये ॥ ११ ॥

अथ चैतत्त्रयमपि त्यक्त्वा सकलसिद्धये ।
यच्छेषं तदुपालम्ब्य तिष्ठाऽवष्टब्धतत्परः ॥ १२ ॥

सर्वातीतस्वरूपोऽपि सर्वसत्तातिगोऽपि च ।
असत्तापूरितजगदस्त्येवाऽऽत्मा प्रकाशकः ॥ १३ ॥

स्वानुभूत्यैव पश्याऽऽशु स एवाऽसि सदोदितः ।
साशयं हृकयग्रन्थिं त्यज तत्त्वविदांवर ! ॥ १४ ॥

दो अहंकार की दृष्टियाँ सात्त्विक और अत्यन्त निर्मल हैं, उनकी तत्त्वज्ञान से प्रवृत्ति होती है, वे मोक्ष देने वाली तथा पारमार्थिक हैं ॥ ९ ॥

हे रघुकुलश्रेष्ठ ! पहली अहंकार-दृष्टि सबसे परे आकाश की तरह स्थूलस्वभाववर्जित, जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं से युक्त तथा दृश्यों से शून्य 'मैं हूँ' इस प्रकार की है और दूसरी 'सभी कुछ मैं हूँ' इस प्रकार की है ॥ १० ॥

हे पापशून्य एक तीसरी अहंकार दृष्टि स्वभावतः ही, न कि शास्त्रतः, चली आ रही है। उसका स्वरूप है—'देह मैं हूँ'। इस दृष्टि को आप केवल दुःखदायक ही जानें, न कि विश्रान्तिदायक ॥ ११ ॥

अब आप इन तीनों अहंकारों को भी छोड़कर अवशिष्ट रहने वाला अहंभावनाशून्य पूर्ण चित्स्वभाव का अवलम्बन कर उसी अवलम्बन योग्य वस्तु में निरत होकर अवस्थित रहे ॥ १२ ॥

आत्मा शोधन द्वारा अखिल प्रपञ्चस्वरूप से निर्मुक्त तथा बाध के द्वारा समस्त पदार्थों की सत्ता का अतिक्रमण करने वाला जगत् के बाधस्वरूप उपाय के द्वारा निखिल जगत् को पूर्ण करने वाला सबका प्रकाशक यह आत्मा है ॥ १३ ॥

हे तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ ! अपनी ही अनुभूति से शीघ्र देखें कि आप सदा-सर्वदा उदित-स्वभाव परब्रह्मस्वरूप ही हैं, अतः आप देह आदि की वासनाओं से युक्त अहंकारतादात्म्याध्यास का परित्याग करें ॥ १४ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! आत्मा न तो अनुमान से अभिव्यक्त होता है और न आप्तवचन आदि से स्फुट होता है, किन्तु वह सर्वदा सब प्रकार से केवल अनुभव से ही प्रत्यक्ष स्फुट होता है ॥ १५ ॥

नाऽऽत्माऽस्त्यनुमया राम ! न चाऽऽप्रवचनादिना ।
सर्वदा सर्वथा सर्वं स प्रत्यक्षोऽनुभूतितः ॥ १५ ॥

यदिदं स्पर्शनं स्पन्दं किञ्चिद्यत्संविदाद्यपि ।
तत्सर्वमात्मा भगवान् दृश्यदर्शनवर्जितः ॥ १६ ॥

न सन्नाऽसन्नसौ देवो नाऽऽणुर्नाऽपि महानसौ ।
नाऽप्येतयोर्दृशोर्मध्यं स एवेदं च सर्वतः ॥ १७ ॥

स एव चैवं वदति स च वक्तुं न युज्यते ।
न तदन्यदिदं तात ! पश्याऽऽत्मानमनामयम् ॥ १८ ॥

नाऽऽत्माऽयमयमप्यात्मा संज्ञाभेद इति स्वयम् ।
तेनैव सर्वगतया शक्त्या स्वात्मनि कल्पितः ॥ १९ ॥

संस्थितः स हि सर्वत्र त्रिषु कालेषु भास्वरः ।
सूक्ष्मत्वात् सुमहत्वाच्च केवलं न विभाव्यते ॥ २० ॥

बाह्य और आन्तर विषयों में अन्तःकरण की वृत्ति सम्बन्ध से अभिव्यक्त होनेवाला जो अर्थप्रकाशरूप साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान प्रसिद्ध है और जो अनुमिति, उपमिति और शाब्दज्ञान आदि भी प्रसिद्ध हैं, वह सब, विषय और अन्तःकरणवृत्तिरूप उपाधि के परित्याग से अपरोक्ष आत्मरूप से ही अवशिष्ट रहते है ॥ १६ ॥

यह प्रकाशात्मक आत्मदेव न तो सत् और न असत् है, न अणु है और न महान् है, न सत् और असत् की दृष्टि के मध्य में सत्यासत्य है, किन्तु वही प्रकाशात्मस्वरूप देव इस दृश्यमान समस्त जगत् का स्वरूपभूत है ॥ १७ ॥

आत्मा ही इस प्रकार बोलता है, परन्तु वह कहा नहीं जा सकता। ये वाक् आदि और उनसे व्यवहृत होनेवाले पदार्थ आत्मा से अतिरिक्त नहीं हैं, आप आत्मा को अविकारी ही देखें ॥ १८ ॥

यह आत्मा है और यह आत्मा नहीं है, इस प्रकार के आत्मा ने ही अपने में अपनी सर्गगत माया शक्ति से कल्पना की है ॥ १९ ॥

वह प्रकाशमान परमात्मा तीनों कालों में सब जगह अवस्थित है, वह सदा नित्य, स्वप्रकाश, पूर्ण एवं अपरोक्षस्वभाव होने पर भी सूक्ष्म और व्यापक होने के कारण स्थूल-विषयों में आसक्त बुद्धि वाले पुरुष उसका परिज्ञान नहीं कर सकते ॥ २० ॥

सत्स्वनन्तपदार्थेषु जीवत्वेनाऽभिबिम्बति ।
आत्मा पुर्यष्टकादर्शे स्वभाववशतः स्वतः ॥ २१ ॥
पुर्यष्टकोदयादेव स्वयमात्माऽनुभूयते ।
सर्वदा सर्वसंस्थः खे घनास्पन्दादिवाऽनिलः ॥ २२ ॥
चिदात्मा सर्वगो व्यापी न क्वचिन्नाम संस्थितः ।
यद्वत् सर्वपदार्थानां सत्ता तद्वन्महेश्वरः ॥ २३ ॥
सति पुर्यष्टके तस्मिञ्जीवः स्फुरति नोपले ।
सति वायाविव रजः सति दीप इवेक्षणम् ॥ २४ ॥
इयं पुर्यष्टके स्वेच्छा स्वात्मन्येवाऽऽत्मनि स्थिते ।
सति स्फुरत्यभ्युदिते भानाविव जनैषणा ॥ २५ ॥
यदि सूर्ये स्थिते व्योम्नि तादृशोचितसंस्थितिः ।
नश्यति व्यवहारोऽयं भास्करे तत्किमागतम् ॥ २६ ॥
यद्यात्मनि स्थिते देवे तत्सत्तालब्धसंस्थितिः ।

सर्ग के क्रम से उत्पन्न भोग्य और भोगायतन आदि अनेक पदार्थों में पुर्यष्टकरूपी दर्पण में अपनी मायावश स्वतः आत्मा ही जीवरूप से प्रतिबिम्बित होती है ॥२१॥

पुर्यष्टक के उदय से ही सर्वदा सर्वत्र स्थिति स्वयं आत्मा 'अहम्' इस रूप से वैसे ही अभिव्यक्त किया जाता है। जैसे पंखे आदि के संयोग से आकाश में सर्वदा सर्वत्र स्थित वायु अभिव्यक्त किया जाता है ॥ २२ ॥

महेश्वर चित्स्वरूप परमात्मा भी वैसे ही सर्वत्र विद्यमान है तथा व्यापी है, जैसे सब पदार्थों का अस्तित्व सर्वत्र विद्यमान है, वह कहीं एक जगह पर ही यानी किसी एक देह में ही नहीं रहता है ॥ २३ ॥

पुर्यष्टक के होने पर ही उसमें जीव वैसे ही प्रस्फुरित होता है, न कि पत्थर में प्रस्फुरित होता है, जैसे वायु होने पर रजःकण प्रस्फुरित होते हैं, अथवा जैसे दीपक होने पर दर्शन प्रस्फुरित होता है ॥ २४ ॥

पुर्यष्टक में परप्रेमास्पद् निरतिशयानन्दात्मक स्वात्मा के रहने पर ही यह स्वेच्छाप्रीति और विचित्र भोगों की इच्छा वैसे ही प्रस्फुरित होती है। जैसे आकाश में सूर्य के रहने पर ही सब मनुष्यों को तत्-तत् क्रिया से होने वाले फलों की अभिलाषा प्रस्फुरित होती है ॥ २५ ॥

आकाश में सूर्य के स्थिति होने पर तत्-तत् इच्छा फल में अनुरूप स्थिति रहने वाला यह व्यवहार यदि विनष्ट हो जाता है, तो उससे सूर्य में क्या आया ? ॥ २६ ॥

स्वप्रकाश स्वरूप आत्मा के अवस्थित होने पर

देहो नाशमुपायाति तत्किं नष्टमिहाऽऽत्मनि ॥ २७ ॥
न जायते न म्रियते नाऽऽदत्ते नाऽभिवाञ्छति ।
न मुक्तो न च बद्धोऽयमात्मा सर्वस्य सर्वदा ॥ २८ ॥
आत्माप्रबोधाभ्युदिता निरात्मन्यात्मतां गता ।
सर्परज्जुभ्रमाकारा भ्रान्तिर्दुःखाय केवलम् ॥ २९ ॥
अनादित्वान्न जातोऽयमजातत्वान्न नश्यति ।
आत्माऽऽत्मव्यतिरिक्तं तु नाऽभिवाञ्छत्यसंभवात् ॥३०॥
दिक्कालाद्यनवच्छेदान्न बद्धोऽयं कदाचन ।
बन्धाभावे क्व मुक्तिः स्यादमोक्षस्तेन संस्थितः ॥ ३१ ॥
एवंगुणविशिष्टोऽयमात्मा सर्वस्य राघव ! ।
अविचारवशान्मूढो लोकोऽयं परिरोदिति ॥ ३२ ॥
सम्यगालोकिताशेषपूर्वापरजगत्क्रमः ।
मा शोकं गच्छ सुमते ! मौर्ख्योपगतलोकवत् ॥ ३३ ॥

आत्मसत्ता से अपनी स्थिति को प्राप्त करने वाली देह यदि नष्ट हो जाती है, तो उससे आत्मा में क्या हुआ ? ॥२७॥

सबका यह आत्मा किसी समय न तो उत्पन्न होता है, न मरता है, न कुछ ग्रहण करता है, न कुछ चाहता है, न मुक्त होता है और न बद्ध होता है ॥ २८ ॥

आत्मा के अप्रबोध से उत्पन्न, आत्मशून्य वस्तु में आत्मभाव को प्राप्त हुई, रज्जु में सर्प-भ्रम के समान, भ्रान्ति केवल दुःख के लिए ही है ॥ २९ ॥

यह आत्मा न कभी भी उत्पन्न हुआ, क्योंकि इसका कोई आदि कारण नहीं है, और यह नष्ट भी नहीं होता है, अतः उसकी उत्पत्ति नहीं हुई है। वह आत्म-भिन्न वस्तु की कभी-भी अभिलाषा नहीं करता है, क्योंकि आत्मा से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं ॥ ३० ॥

यह आत्मा दिशा या काल से परिच्छिन्न नहीं है, अतः कभी-भी बद्ध नहीं होता है, बन्ध के होने पर मोक्ष कहाँ से होगा, इससे वास्तव में आत्मा का अमोक्ष ही स्थित है ॥ ३१ ॥

हे राघव ! मैंने पहले जो आत्मा के गुण बताये हैं, उन गुणों से युक्त ही यह आत्मा सब का है, इसलिए यह सब लोग अविचार से जनित मोह को प्राप्त होकर चारों ओर रो रहे हैं ॥ ३२ ॥

हे सुमते ! मेरे वचनों से आपने जगत् की पूर्वापर रचना का निःशेषरूप से भली-भाँति परिज्ञान कर लिया है, अतः मूर्खता को प्राप्त मनुष्यों की तरह आप शोक न करें ॥ ३३ ॥

द्वे एव कलने त्यक्त्वा मोक्षबन्धात्मिके यथा ।
विदुषा व्यवहर्तव्यं यन्त्रेणेवाऽऽत्ममौनिना ॥ ३४ ॥
न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले ।
मोक्षो हि चेतो विमलं सम्यग्ज्ञानविबोधितम् ॥ ३५ ॥
सकलाशास्वसंसक्त्या यत्स्वयं चेतसः क्षयः ।
स मोक्षनाम्ना कथितस्तत्त्वज्ञैरात्मदर्शिभिः ॥ ३६ ॥
यावत्प्रबोधो विमलो नोदितस्तावदेव सः ।
मौर्ख्याद्दीनतया राम ! भक्त्या मोक्षोऽभिवाञ्छ्यते॥ ३७॥
परं प्रबोधमासाद्य चित्ते चित्तत्त्वतां गते ।
दश मोक्षा न वाञ्छ्यन्ते किमुतैको हि मोक्षकः ॥३८॥
अयं मोक्षस्त्वयं बन्धः पेलवां कलनामिति ।
परित्यज्य महात्यागी स त्वमेव भवाऽभव ! ॥ ३९ ॥
परिगलितविकल्पनां प्रयातः
सगरसुतौघनिखामेखलाङ्कम् ।
अवनिवलयमन्तरस्तसङ्ग-
श्चिरमनुपालय सर्वदोदितश्रीः ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
स्वात्मविचारो नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

विद्वान् को मोक्ष और बन्ध रूपी दोनों ही कल्पनाओं का परित्याग कर तथा स्वतः समस्त व्यापारों से शून्य होकर देह आदि से वैसे ही व्यवहार करना चाहिए । जैसे गेहूँ आदि को पीसने के लिए विनिर्मित जल-चक्की आदि के यन्त्र द्वारा गेहूँ आदि का पेषणप्रवृत्त होने पर पुरुष केवल संनिधि मात्र से उक्त कार्य को करता हुआ-सा पर स्वतः तो काम आदि व्यापारों से शून्य होकर स्थित रहता है ॥ ३४ ॥

मोक्ष न तो आकाश की पीठ के ऊपर है, न तो पाताल में है और न भूमि के तल पर है, किन्तु सम्यक् ज्ञान से चिन्मात्र स्वरूपता को प्राप्त निर्मल चित्त ही मोक्ष है ॥ ३५ ॥

इच्छा करने योग्य विषयों में अनसक्ति करने से अन्तःकरण की बोधात्मक वृत्ति से स्वयं क्षय हो जाता है, वही आत्मतत्त्व को जानने वाले तत्त्वज्ञों द्वारा मोक्ष शब्द से कहा जाता है ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी ! निर्मल आत्मा का प्रबोध का उदय न होने तक मूर्खता युक्त कार्पण्य से पुरुष नित्य-प्राप्त आत्मा में अप्राप्ति की कल्पना कर मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करता है ॥ ३७ ॥

सर्वातिशायी नित्य आत्मा के ज्ञान को प्राप्त कर चित्त पारमार्थिक चिन्मात्र स्वरूप को प्राप्त करता है, चाहे दस मोक्ष रहें, तो भी यह उनकी इच्छा नहीं करता, फिर स्वल्प एक मोक्ष को चाहेगा ही कैसे ? ॥ ३८ ॥

हे अभव ! यह मोक्ष है और यह बन्ध है, इस प्रकार की तुच्छ कल्पना का परित्याग कर महात्मा होकर उस मोक्ष रूप आप ही हो जायें ॥ ३९ ॥

समस्त कल्पनाओं के उच्छिन्न हो जाने पर ऐसी अवस्था को प्राप्त कर आप सगर के पुत्रों द्वारा खोदी गई पृथिवी-मण्डल का दीर्घ काल तक पालन करें, अर्थात् आप समस्त आसक्तियों से परे हैं तथा आपकी आत्मज्योति उदित है, इसलिए राज्य आदि का पालन आपके लिए किसी तरह से दोष का हेतु नहीं हो सकता है ॥ ४० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
स्वात्मविचार नामक कुसुमलता का तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७३ ॥

७४

वसिष्ठ उवाच

लीलया पश्यति वपुः कालेनाऽऽत्मनि जायते ।
रम्यस्याऽपश्यतो वक्त्रं हृदि दौरूप्यधीरिव ॥ १ ॥

७४

वसिष्ठजी ने कहा—प्रलय और सुषुप्ति में अज्ञान से आवृत होने के कारण निरतिशयानन्दस्वरूप अतएव परम-प्रेमास्पद अपने स्वरूप को न देख रहे आत्मा में काम-कर्मों की वासना के परिपाकक्रम से सृष्टि और जागर-काल में चिद्विलास से सूक्ष्म, स्थूल, समष्टि और व्यष्टि शरीर वैसे ही उत्पन्न होते हैं जैसे रम्य रमणी, पुत्र, आदि के मुख को न देख रहे विरही पुरुष के हृदय में म्लानता, कृशता आदि विकृत स्वरूप को उत्पन्न करने वाली उदासीनता निरन्तर उत्पन्न होती है ॥ १ ॥

तद्वशादियमायाता महती मे दुरोदरा ।
माया मदमहाशक्तिः सुरास्वादलवादिव ॥ २ ॥
तयाऽनया विकारिण्या तदतद्भावभूतया ।
इदं संपन्नमखिलं तापादिव मरौ पयः ॥ ३ ॥
मनोबुद्धिरहङ्कारो वासनाश्चेन्द्रियाण्यपि ।
एवं कलितनामाङ्कैः स्फुरत्यात्माब्धिरम्बुभिः ॥ ४ ॥
चित्ताहङ्कारयोर्द्वित्वं वचस्यस्ति न वस्तुतः ।
यच्चित्तं स ह्यहङ्कारो योऽहङ्कारो मनो हि तत् ॥ ५ ॥
व्यतिरिक्तं हिमाच्छौक्ल्यमिति सङ्कल्प्यते यथा ।
मुधैव कल्प्यते भेदश्चित्ताहङ्कारयोस्तथा ॥ ६ ॥
मनोहङ्कारयोरन्तर्द्वयोरेकतरक्षये ।
क्षीणे द्वे एव हि यथा पटशौक्ल्ये पटक्षये ॥ ७ ॥

अहन्ताध्यास से जीव स्थूल और सूक्ष्म शरीर के अधीन हो जाता है और उससे यह निरतिशय निबिड स्नेह से भरी राग, लोभ, मोह आदि मद की महाशक्ति अनर्थरूपा मिथ्याभूत माया है, वैसे ही प्राप्त हुई है जैसे मदिरा के आस्वाद से मद की महाशक्ति प्राप्त होती है ॥ २ ॥

प्रवृत्ति, भोग, पुण्य, पाप, वासना आदि अनर्थपरम्परारूप विकारों से युक्त तथा जिसने परमात्मा के अन्यथाभाव से अपना अस्तित्व सम्पन्न यह समस्त जगत् वैसे ही प्रतीत हो रहा है जैसे मरुभूमि में सूर्य-किरणों के ताप से जल प्रतीत हो जाता है इस रागादि की शक्तिस्वरूपा महामाया से ॥ ३ ॥

मन, बुद्धि, अहंकार, वासना और इन्द्रिय—इस प्रकार के नाम और रूप की कल्पना करने वाले स्वस्वरूपरूपी जलों से आत्मारूपी समुद्र प्रस्फुरित होता है ॥ ४ ॥

चित्त और अहङ्कार दो प्रकार का व्यवहार केवल वाणी में ही है, वास्तव में नहीं है, जो चित्त है, वही अहंकार है और जो अहंकार है, वही चित्त है ॥ ५ ॥

चित्त और अहंकार की कल्पना वैसे ही व्यर्थ ही की जाती है, वास्तव में उनका परस्पर कोई भेद नहीं है जैसे बरफ से भिन्न शुक्लत्व की कल्पना की जाती है, पर वास्तव में बरफ और शुक्लत्व में परस्पर कोई पार्थक्य नहीं है ॥ ६ ॥

मन और अहंकार इन दोनों के बीच में से किसी एक का विनाश हो जाने पर मन एवं अहंकार दोनों का वैसे ही विनाश हो जाता है जैसे वस्त्र का विनाश होनेपर वस्त्र और शुक्लत्व दोनों का विनाश हो जाता है ॥ ७ ॥

तुच्छां मोक्षधियं त्यक्त्वा बन्धबुद्धिं तथैषणाम् ।
स्ववैराग्यविवेकाभ्यां केवलं क्षपयेन्मनः ॥ ८ ॥
मोक्षो मेऽस्त्विति चिन्ताऽन्तर्जाता चेदुत्थितं मनः ।
मननोत्के मनस्युच्चैर्वपुर्दोषाय केवलम् ॥ ९ ॥
आत्मन्यतीते सर्वस्मात् सर्वभूतेऽथवा तते ।
को बन्धः कश्च वा मोक्षो निर्मूलं मननं कुरु ॥ १० ॥
वायुः स्पन्दनधर्मत्वाद् यदा चलति देहके ।
तदा स्फुरति हस्ताङ्घ्रिरसनापल्लवावली ॥ ११ ॥
पादपे पल्लवश्रेणीं चालयत्यनिलो यथा ।
तथैवाऽङ्गावलीं वायुर्देहे सञ्चालयत्यलम् ॥ १२ ॥
चित् सर्वव्यापिनी सूक्ष्मा न चला नैव चाल्यते ।
न स्वतः स्पन्दमायाति देवाचल इवाऽनिलैः ॥ १३ ॥

'मुझे मोक्ष मिले' इस तुच्छ मोक्षेच्छा और सांसारिक बन्धबुद्धि तथा अन्यान्य इच्छाओं का परित्याग कर अपने वैराग्य और आत्मा-अनात्मा में विवेक से केवल मन को ही विनष्ट कर देना चाहिए ॥ ८ ॥

'मुझे मोक्ष मिले' इस प्रकार की यदि भीतर इच्छा उत्पन्न होनेपर मन सबल हो गया, यह जान लेना चाहिए। मनन की ओर मन के एकदम उत्कण्ठित हो जानेपर वही मन शरीर के आकार में परिणत हो जाता है और फिर बहिर्मुखता का सम्पादन कराकर केवल दोष को ही उत्पन्न करता है। अतः किसी पदार्थ की इच्छा करनी ही नहीं चाहिए। पदार्थ की इच्छा ही तुच्छ है ॥ ९ ॥

सम्पूर्ण परिच्छिन्न वस्तुओं से परे अथवा समस्त भूतगुणों में व्याप्त आत्मा में क्या बन्ध है और क्या मोक्ष है? इसलिए हे श्रीरामजी, आप परिच्छिन्नता-मनन का ही निर्मूलन कर दे ॥ १० ॥

वायु स्पन्दनरूप धर्म से युक्त इस तुच्छ देह में जब चलता है, तब हाथ, पैर और रसनारूपी पल्लवों की पंक्ति चलने लगती है ॥ ११

प्राणादि वायु देह में अङ्गों की पंक्तियों को पर्याप्तरूप से वैसे ही चलाता है जैसे वायु वृक्ष में पल्लवों की पंक्ति को चलता है ॥ १२ ॥

सब पदार्थों को व्याप्त कर लेने वाली अतिसूक्ष्म चित् न तो स्वतः चल है और न किसी से चलायमान होती है। यह चित्त भी प्राण आदि वायुओं से वैसे ही कम्पित नहीं होती जैसे अचल मेरुपर्वत वायुओं से कम्पित नहीं होती ॥ १३ ॥

प्रतिबिम्बतसर्वार्था केवलं स्वात्मनि स्थिता ।
प्रकाशयति बोधेन जगन्तीमानि दीपवत् ॥ १४ ॥
तत्र कोऽयं मुधा मोहो भवतामतिदुःखदः ।
अयं सोऽहं ममाऽङ्गानि ममेदं चेति दुर्धियाम् ॥ १५ ॥
इति कल्लोलहृतया दृशा नित्यमनित्यया ।
ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वक्रिया समुपलभ्यते ॥ १६ ॥
तत्राऽयमहमागन्ता भोक्ता कर्तेति जायते ।
मुधैवाऽज्ञाततापोत्था मृगतृष्णेव वासना ॥ १७ ॥
अज्ञतैषा मनोमत्तमृगं विषयतर्षुलम् ।
असत्यैव हि सत्येव मृगतृष्णेव कर्षति ॥ १८ ॥
विज्ञाता सत्यरूपाऽङ्ग नाशं याति पलायते ।
विप्रमध्यात् परिज्ञाता यथा चाण्डालकन्यका ॥ १९ ॥

आत्मा चल रहे पदार्थों की स्वरूपता को प्राप्त होता हुआ भी वैसे ही स्वयं अचल ही रहता है जैसे अपनी ज्योत्स्ना के द्वारा प्रदीप घट -आदि पदार्थों को प्रकाशित कर देता है वैसे ही बोध के द्वारा अपने स्वरूप में अवस्थित चिद्रूपी आत्मा, जिसमें समस्त अर्थ प्रतिबिम्बित हुए हैं, इन अखिल ब्रह्माण्डों को प्रकाशित कर देता है जैसे स्फटिक-शिला चल रहे अनेक पदार्थों के प्रतिबिम्बों की स्वरूपता को प्राप्त होती हुई भी स्वयं अचल रहती है ॥ १४ ॥

दुर्बुद्धियों को 'यह देह ही मैं हूँ' हाथ आदि अङ्ग मेरे हैं तथा स्त्री, पुत्र आदि मेरे हैं' इत्यादि अत्यन्त दुःखप्रद व्यर्थ मोह है ॥ १५ ॥

देह में ज्ञातृत्व और आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विरुद्ध धर्म अविद्या के कल्लोलरूपी रागादि के कारण अनित्य देह आदि के साथ नित्य आत्मा का तादात्म्य और संसर्गाध्यास से जनित होने के कारण अनित्य मिथ्या भ्रान्ति दृष्टि से ही सदा प्रतीत होते हैं ॥ १६ ॥

उसमें 'यह मैं आगन्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं कर्ता हूँ— इस प्रकार की वासना वैसे ही व्यर्थ उत्पन्न होती है, जैसे तूलाज्ञान से आवृत मरुभूमिस्थ आतप से मृगतृष्णा उत्पन्न होती है ॥ १७ ॥

यह अज्ञतारूपा वासना (अविद्या) मनरूपी मत्त मृग को, विषयों की तृषा से आक्रान्त कर वैसे ही खींचती है, जैसे जल की तृषा से आक्रान्त मृग को मृगतृष्णा खींचती है ॥ १८ ॥

जिसका तात्त्विक स्वरूप जान लिया हो, ऐसी अवि-द्यारूपी वासना वैसे ही भाग जाती है और नष्ट हो जाती है जैसे जिसका स्वरूप जान लिया गया हो, ऐसी चाण्डाल-कन्या ब्राह्मणों की पंक्ति में से भाग जाती है ॥ १९ ॥

अविद्या संपरिज्ञाता न चैनं परिकर्षति ।
मृगतृष्णा परिज्ञाता तर्षुलं नाऽवकर्षति ॥ २० ॥
परमार्थावबोधेन समूलं राम ! वासना ।
दीपेनेवाऽन्धकारश्रीर्गलत्यालोक एति च ॥ २१ ॥
नाऽस्त्यविद्येति संजाते निश्चये शास्त्रयुक्तितः ।
गलत्यविद्या तापेन तुषारकणिका यथा ॥ २२ ॥
देहस्याऽस्य जडस्याऽर्थे किं भोगैरिति निश्चयः ।
भिनत्त्याशामलं ज्ञाता पञ्जरं केसरी यथा ॥ २३ ॥
आशापरिकरे राम ! नूनं परिहृते हृदा ।
पुमानाऽऽगतसौन्दर्यो ह्लादमायाति चन्द्रवत् ॥ २४ ॥
परां शीतलतामेति वृष्टिधौत इवाऽचलः ।
निर्वृतिं परमां धत्ते प्राप्तराज्य इवाऽधमः ॥ २५ ॥

'यह अविद्या है' इस प्रकार तत्त्वतः जानी गई अविद्या मनरूपी मृग को वैसे ही नहीं खींचती जैसे 'यह मृगतृष्णा है' इस प्रकार तात्त्विक स्वरूप से जानी गई मृगतृष्णा तृषार्त मृग को अपनी ओर नहीं खींचती ॥ २० ॥

हे श्रीरामजी ! परमार्थरूप आत्मा के अवबोध से वासना वैसे ही समूल नष्ट हो जाती है और अपरिच्छिन्न आत्मप्रकाश आविर्भूत हो जाता है जैसे दीप से अन्धकार की श्री नष्ट हो जाती हैं और प्रकाश आ जाता है ॥२१॥

'अविद्या का अस्तित्व किसी तरह नहीं है', इस प्रकार शास्त्र और तदनुकूल युक्ति से दृढ़ निश्चय हो जाने पर अविद्या तत्क्षण वैसे ही नष्ट हो जाती है जैसे आतप से तुषारकणिका गल जाती है ॥ २२ ॥

इस जड़ देह के लिए भोगों से क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार के निश्चय से सम्पन्न तत्त्वज्ञ पुरुष इच्छाओं के हेतु-भूत अज्ञान को वैसे ही छिन्न-भिन्न कर देता है, जैसे सिंह पीजड़े को छिन्न-भिन्न कर देता है ॥ २३ ॥

हे श्रीरामजी ! अपने हृदय से इच्छाओं के समूह स्वरूप देहाभिमान आँदि का निश्चित रूप से परिहार हो जाने पर पुरुष चन्द्रमा की तरह सौन्दार्य से परिपूर्ण हो जाता है और अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है ॥ २४ ॥

वैसे ही उक्त देहाभिमान का विनाश हो जाने पर पुरुष बैसे ही निरतिशय शीतल हो जाता है। जैसे वृष्टि से धोया गया पर्वत हो जाता है। यह वैसे ही परम विश्रान्ति को धारण करता है। जैसे राज्य मिल जाने पर दरिद्र परम विश्रान्ति को धारण करता है ॥२५॥

शोभते परया लक्ष्म्या शरदीव नभस्तलम् ।
आत्मन्येव न मात्युच्चैः कल्पस्याऽन्त इवाऽर्णवः ॥२६॥
भवत्यपेतसंरम्भो वृष्टिमूक इवाऽम्बुदः ।
तिष्ठत्यात्मनि संवेत्ता प्रशान्त इव वारिधिः ॥ २७ ॥
परं धैर्यमुपादत्ते स्थैर्यं मेरुरिवाऽचलः ।
राजते स्वच्छया लक्ष्म्या शान्तेन्धन इवाऽनलः ॥ २८ ॥
भवत्यात्मनि निर्वाणः प्रशान्त इव दीपकः ।
तृप्तिमायाति परमां नरः पीतामृतो यथा ॥ २९ ॥
अन्तर्दीपो घट इव मध्यज्वाल इवाऽनलः ।
स्फुरद्दीप्तिर्मणिरिव प्रयात्यन्तः प्रकाशताम् ॥ ३० ॥
सर्वात्मकं सर्वगतं सर्वेशं सर्वनायकम् ।
सर्वाकारं निराकारं स्वमात्मानं प्रपश्यति ॥ ३१ ॥

यह तत्त्वज्ञान रूपी उत्तम शोभा से तत्त्वज्ञ वैसे ही सुशोभित होता है। जैसे शरत् काल में निर्मलत्व आदि शोभा से आकाशतल अत्यन्त सुशोभित होता है। यह वैसे ही अपने आत्मा में नहीं अमाता अर्थात् उस समय किसी से परिच्छिन्न नहीं होता जैसे कल्प के अन्त में समुद्र परिच्छिन्न रहता है ॥ २६ ॥

तत्त्ववेत्ता तत्त्वज्ञान के बाद समस्त अभिनिवेशों से वैसे ही शून्य हो जाता है। जैसे मेघ वर्षाकाल में बरस चुकने के कारण शरत् काल में गर्जन आदि से शून्य हो जाता है और वह अपने स्वरूप में वैसे ही अवस्थित रहता है जैसे प्रशान्त समुद्र अपने स्वरूप में स्थित रहता है ॥ २७ ॥

अचल तत्त्ववेत्ता स्थिरता और धीरता को ग्रहण करता है जैसे अचल मेरु स्थिरता और धीरता को ग्रहण करता है। वैसे ही इन्धनों के शान्त हो जाने पर अग्नि की तरह अति स्वच्छ कान्ति से विराजित होता है ॥ २८ ॥

जैसे वायु रहित प्रदेश में दीपक अपने स्वरूप में शान्त रहता है और परम तृप्ति को ऐसे प्राप्त करता है, जैसे अमृत पी जाने वाला पुरुष परम तृप्ति को प्राप्त करता है। वैसे ही तत्त्ववेत्ता मुनि अपने ही स्वरूप में ऐसे उत्तम शान्ति से समन्वित रहता है ॥ २९ ॥

तत्त्ववेत्ता पुरुष अपने भीतर परम प्रकाश स्वरूपता को वैसे ही प्राप्त करता है। जैसे मध्य दीप वाला घट, मध्य ज्वाला वाला अग्नि और प्रस्फुरित कान्ति वाला मणि अपने भीतर प्रकाश को प्राप्त करता है ॥ ३० ॥

तत्त्ववेत्ता सब भूतों के आत्मस्वरूप, सर्वत्र सत्ता वाले, सब के नियन्ता, सब के नायक, व्यवहार-दशा में

हसत्यलमतीताः स्वाः पेलवा दिवसावलीः ।
यासु स्मरशरश्रेणीचपलं चित्तमास्थितम् ॥ ३२ ॥
सङ्गरङ्गविनिष्क्रान्तः शान्तमानमनोज्वरः ।
अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः ॥ ३३ ॥
निर्मृष्टकामपङ्काङ्कश्छिन्नबन्धनिजभ्रमः ।
द्वन्द्वदोषभयोन्मुक्तस्तीर्णसंसारसागरः ॥ ३४ ॥
प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्लब्धालभ्यपरास्पदः ।
अनिवृत्तिपदं प्राप्तो मनसा कर्मणा गिरा ॥ ३५ ॥
सर्वाभिवाञ्छितारम्भो न किञ्चिदपि वाञ्छति ।
सर्वानुमोदितानन्दो न किञ्चिदनुमोदते ॥ ३६ ॥
न ददाति न चाऽऽत्ते न स्तौति न च निन्दति ।
नाऽस्तमेति न चोदेति न तुष्यति न शोचति ॥ ३७ ॥

सर्वाकार और परमार्थ-दशा में निराकार अपनी आत्मा को देखता है ॥ ३१ ॥

आत्मतत्त्व स्वरूप को पहचानने वाला पूर्व की उन तुच्छ दिवसों की पंक्तियों का स्मरण कर हँसता है, जिनमें काम-वाणों की परम्पराओं से चंचल चित्त विद्यमान था ॥ ३२ ॥

तत्त्ववेत्ता पुरुष विषयी पुरुषों के सङ्ग और विषयों के अनुरञ्जन से रहित, मान और मानसिक चिन्ताओं से शून्य, आत्म विषय में आसक्त परिपूर्ण और विशुद्ध अन्तःकरण से समन्वित होता है ॥ ३३ ॥

काम रूपी कीचड़ के लाञ्छन से रहित, बन्धन स्वरूप आत्मा भ्रम से शून्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से उन्मुक्त तथा संसार रूपी सागर से तरा हुआ आत्मज्ञानी रहता है ॥ ३४ ॥

सबसे उत्तम सार्वभौम शान्ति को, साधारण कोटी के जीवों के लिए अत्यन्त दुर्लभ परम पद को तथा संसारानल पुनः पुनः सम्पात-स्वरूप आवृत्ति से वर्जित यानी अनावृत्ति पद स्वरूप साम्राज्य को प्राप्त कर रहता है ॥ ३५ ॥

समस्त लोगों के द्वारा कर्म और वाणी से इस महा विद्वान् का सुन्दर परम पावन चरित्र सबसे अभिलषित रहता है, पर यह कुछ भी नहीं चाहता है। सभी मनुष्य इसके चरित्र फलों का अनुमोदन करते हैं, पर यह किसी का अनुमोदन नहीं करता वरन् उदासीन रहता है ॥३६॥

वह न तो कुछ देता है, न किसी का ग्रहण करता है, न किसी की स्तुति करता है, न किसी की निन्दा करता

सर्वारम्भपरित्यागी सर्वोपाधिविवर्जितः ।
सर्वाशासंपरित्यागी जीवन्मुक्त इति स्मृतः ॥ ३८ ॥
सर्वैषणाः परित्यज्य चेतसा भव मौनवान् ।
धारा निरवशेषेण यथा त्यक्त्वा पयोधरः ॥ ३९ ॥
न तथा सुखयत्यङ्ग संलग्ना वरवर्णिनी ।
यथा सुखयति स्वान्तमिन्दुशीता निराशता ॥ ४० ॥
न तथेन्दुः सुखयति कण्ठलग्नोऽपि राघव ! ।
नैराश्यं सुखयत्यन्तर्यथा सकलशीतलम् ॥ ४१ ॥
पुष्पपूर्णनवलतो न तथा राजते मधुः ।
यथोदारमतिर्मौनी नैराश्यसममानसः ॥ ४२ ॥
न हिमाद्रेर्न मुक्ताभ्यो न रम्भाभ्यो न चन्दनात् ।
न च चन्द्रमसः शैत्यं नैराश्याद्यदवाप्यते ॥ ४३ ॥

है, न अपने स्वरूप के तिरोधान करता है, न उदय प्राप्त करता है न सतुष्ट होता है और न शोक करता है ॥३७॥

लौकिक, वैदिक कर्मों का परित्याग करने वाला, समस्त उपाधियों से वर्जित तथा समस्त आशाओं को तिलाञ्जलि देने वाला पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ३८ ॥

आप भी समस्त अभिलाषाओं का परित्याग कर अन्तःकरण से वैसे ही मौन हो जाइये अर्थात् प्रशान्त हो जाइये जैसे जलधाराओं का निःशेषरूप से परित्याग कर मेघ परिपूर्णरूप से प्रशान्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

अङ्ग में आलिङ्गित अपने पति में अनन्यभाव रखनेवाली अति कमनीय कान्ता पुरुष की अन्तरात्मा को वैसी सुख-शान्ति नहीं पहुँचाती है जिस प्रकार इन्दु-बिम्ब की तरह अत्यन्त शीतल निराशा अपनी अन्तरात्मा को सुख-शान्ति पहुँचाती है ॥ ४० ॥

हे राघव ! कण्ठ में संलग्न चन्द्रमा अन्तरात्मा को वैसा सुख नहीं पहुँचाता है जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् को सुशीतल करने वाला नैराश्य अन्तरात्मा को सुख पहुँचाता है ॥ ४१ ॥

विकसित कुसुमों से परिपूर्ण एवं नूतन लताओं से विराजित कुसुमाकर वैसा सुशोभित नहीं होता है जिस प्रकार नैराश्य से समता प्राप्त अन्तःकरण से युक्त उदारमति मौनी तत्त्वज्ञ सुशोभित होता है ॥ ४२ ॥

हिमालय से, मोतियों से, कदलीकाण्डों से, चन्दन से और हिमांशु से वैसी शीतलता प्राप्त नहीं होती है जैसी नैराश्य से प्राप्त होती है ॥ ४३ ॥

अपि राज्यादपि स्वर्गादपीन्दोरपि माधवात् ।
अपि कान्तासमासङ्गान्नैराश्यं परमं सुखम् ॥ ४४ ॥
तृणवन्नोपकुर्वन्ति यत्र त्रिभुवनश्रियः ।
सा परा निर्वृतिः साधो ! नैराश्यादुपलभ्यते ॥ ४५ ॥
आपत्करञ्जपरशुं पराया निर्वृतेः पदम् ।
पुष्पगुच्छं शमतरोरालम्बस्व निराशताम् ॥ ४६ ॥
गोष्पदं पृथिवी मेरुः स्थाणुराशाः समुद्गिकाः ।
तृणं भुवनं राम ! नैराश्यालङ्कृताकृतेः ॥ ४७ ॥
दानादानसमाहारविहारविभवादिकाः ।
क्रिया जगति हस्यन्ते निराशैः पुरुषोत्तमैः ॥ ४८ ॥
पदं यस्य न बध्नाति कदाचित् कलना हृदि ।
तृणीकृतत्रिभुवनः केनाऽसावुपमीयते ॥ ४९ ॥

पुरुष को राज्य से, स्वर्ग से, चन्द्रमा से, वसन्त से और कान्ता के कमनीय संसर्ग से वैसा उत्तम सुख ही मिलता है, जैसा निराशा से उत्तम सुख मिलता है अर्थात् राज्य आदि की अपेक्षा निराशा ही सबसे बढ़ चढ़कर सुख है ॥ ४४ ॥

हे साधो ! जिस मोक्षनामक परम सुख के लिए तीनों लोकों की सम्पत्तियाँ तिनके की तरह कुछ भी उपकार नहीं करती है, वह मोक्षात्मक निरतिशय सुख नैराश्य ही प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

आपत्तिरूपी करञ्ज वृक्ष के लिए परशुस्वरूप, परम निरतिशय विश्रान्ति सुख के स्थानस्वरूप, शान्तिरूपी वृक्ष के फूलों के गुच्छस्वरूप नैराश्य का आप आश्रयण करें ॥ ४६ ॥

हे श्रीरामजी ! नैराश्य से अलङ्कृत आकृतिवाले महात्मा की दृष्टि में पृथ्वी गाय के खुर की तरह, सुमेरु स्थाणु की तरह दिशाएँ साधारण पिटारियों की तरह और सारा त्रिभुवन तृण की तरह प्रतीत होता है ॥ ४७ ॥

भद्र, इस जगत् में जो—लौकिक और शास्त्रीय दान, आदान अर्थात् धन आदि का स्वीकार, समाहार अर्थात् संग्रहवृत्ति से कोश आदि का बढ़ाना, विहार अर्थात् धनव्यय से पुत्र के साथ क्रीडन, विभव अर्थात् वस्त्र, अलङ्कार आदि सम्पत्ति—इत्यादि क्रियाएँ हैं, वे आशावर्जित महापुरुष के द्वारा हँसी जाती हैं ॥ ४८ ॥

जिसके हृदय में आशा अपना स्थान कभी नहीं जमा सकती, ऐसे सम्पूर्ण त्रिभुवन को तृण के सदृश समझने वाले महात्मा की उपमा किससे दी जा सकती है ? ॥४९॥

इदमेवाऽस्त्विदं माऽस्तु ममेति हृदि रञ्जना ।
न यस्याऽस्ति तमात्मेशं तोलयन्ति कथं जनाः ॥ ५० ॥
सर्वसङ्कटपर्यन्तमसङ्कटमलं सुखम् ।
सौभाग्यं परमं बुद्धेर्नैराश्यमवलम्ब्यताम् ॥ ५१ ॥
नाऽऽशास्ते न त्वमाशानां विद्धि मिथ्याभ्रमं जगत् ।
वहद्रथस्थदिक्चक्रपरावर्तवदुत्थितम् ॥ ५२ ॥
किं मुह्यसि महाबाहो ! मूर्खवद्बोधितोऽपि सन् ।
ममेदं तदयं सोऽहमित्युद्भ्रान्तेन चेतसा ॥ ५३ ॥
आत्मैवेदं जगत्सर्वं नानातेह न विद्यते ।
एकरूपं जगज्ज्ञात्वा धीरैर्नाम न खिद्यते ॥ ५४ ॥
यथाभूतपदार्थौघदर्शनादेव राघव ! ।
परमाश्वासनं बुद्धेर्नैराश्यमधिगच्छति ॥ ५५ ॥
भावाभावविसंवादमुक्तमाद्यन्तयोः स्थितम् ।
यद्रूपं तत्समालम्ब्य पदार्थानां स्थितिं कुरु ॥ ५६ ॥
वैराग्यवीरमनसो मायेयमतिमोहिनी ।
पलाय्य याति संसारी मृगी केसरिणो यथा ॥ ५७ ॥
कान्तामुद्दाममदनां लोलां वनलतामिव ।
जर्जरोपलपाञ्चालीसमां पश्यति धीरधीः ॥ ५८ ॥
भोगा नाऽऽनन्दयन्त्यन्तः खेदयन्ति न चाऽऽपदः ।
दृश्यश्रियो हरन्त्यङ्ग नतमद्रिमिवाऽनिलाः ॥ ५९ ॥

'मुझे यही होना चाहिए और यह नहीं होना चाहिए' इस प्रकार की इच्छा जिसके हृदय में नहीं होती है ऐसे चित्तवाले विद्वान् की मनुष्य किस प्रकार तुलना कर सकते हैं ॥ ५० ॥

समस्त सङ्कटों के मध्य सङ्कट और मल से वर्जित, सुखात्मक तथा बुद्धि की परम सार्थकतास्वरूप नैराश्य का आप अवलम्बन करें ॥ ५१ ॥

हे श्रीरामजी, असलियत में आप में (आत्मा में) न तो आशाओं का अस्तित्व है और न आपका (आत्मा का) आशाओं से किसी तरह का सम्बन्ध ही है। इस जगत् को अज्ञानवश से उत्थित मिथ्या भ्रममात्र उस प्रकार जाने, जिस प्रकार दौड़ रहे रथ के ऊपर अवस्थित पुरुष को दोनों ओर बगल की दिशाओं में विद्यमान तरु, गुल्म आदि में पहियों के परिभ्रमण से भ्रमवश परिभ्रमण होता दिखाई पड़ता है। अथवा हे श्रीरामजी, आप आशाओं का अवलम्ब न करे। आशाएँ एक तरह की चोर हैं, ये आत्मा और अनात्मा के विवेकविज्ञानरूपी धनसम्पत्ति का अपहरण कर वे पुरुषों को आत्मसुख से वंचित कर देती हैं। जगत् का वैषयिक सुख मूढ पुरुषों से ही सैकड़ों तरह की अभिलाषाओं के द्वारा इच्छा की जाती है। जैसे दौड़ रहे रथ में लगे हुए पहियों के ऊर्ध्व और नीचे प्रदेश में होनेवाला घुमाव नेमी का आश्रयण करने वाले पिपीलिका प्रभृति जीवों के पतन, पेषण आदि अनर्थ का कारण होता है, वैसे ही मिथ्या भ्रममात्र जगत् भी उसका आश्रयण करनेवाले अर्थात् भ्रान्तिरूप जगत् में सत्यत्वमति रखने वाले जीवों के जन्म, मरण आदि अनर्थों का कारण है अर्थात् अनर्थों के लिए ही जगत् समुत्थित है ॥ ५२ ॥

हे महाबाहो ! बोधित होने पर भी आप 'यह देह तथा देह-सम्बन्धी जरा आदि मेरे हैं, पूर्वोत्तरकाल में प्रसिद्ध और वर्तमान काल में प्रत्यक्ष देह मैं ही हूँ', इस रूप से मूर्खों की तरह क्यों भ्रम में पड़े हुए हैं ॥ ५३ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् आत्मस्वरूप ही है, यहाँ अनेकरूपता है ही नहीं। जगत् को अद्वितीय परमात्मास्वरूप जानकर धीर महात्मा खिन्न नहीं होते हैं ॥ ५४ ॥

हे राघव ! इन पदार्थों के समूहों का जो यथार्थ आत्मभूत स्वरूप है, उसको जानने से ही पुरुष बुद्धि के परम विश्रान्तिस्वरूप नैराश्य की प्राप्ति होती है ॥ ५५ ॥

उत्पत्ति, विनाश और विकल्पों से विनिर्मुक्त, आदि और अन्त में स्थित स्वरूप ही पदार्थों का स्वरूप है, ऐसी भावना कर आप अपने में स्थित करें ॥ ५६ ॥

समस्त विकल्पों के परित्यागरूपी महावैराग्य से वीरता को प्राप्त हुए अन्तःकरण से युक्त लता और वनिता में एक-सी दृष्टि रखने वाले विद्वान् तथा पर्वत की तरह विकारशून्य निष्कम्प आकार वाले इन तुच्छ विषयोपभोगों में वैसे ही रमण नहीं करता जैसे वीर केसरी के पास से मृगी पलायन कर भाग जाती है ॥ ५७ ॥

धीर बुद्धि सम्पन्न महात्मा वनलता की तरह अतिचपल उन्मत्त कामातुर कान्ता को जर्जर प्रस्तर की मूर्ति के तुल्य देखता है ॥ ५८ ॥

हे अङ्ग, तत्त्ववित् पुरुष को वैसे ही विषयोपभोग न तो आनन्द पहुँचा सकते हैं, न तो आपत्तियाँ भीतर खेद पहुँचा सकती हैं और न दृश्य सम्पत्तियाँ धैर्य से च्युत कर सकती हैं। जैसे वायु पर्वत को न आनन्द दे सकता है, न खिन्न कर सकता है और न धैर्य से प्रच्युत कर सकता है ॥ ५९ ॥

रक्तबालाङ्गनस्याऽपि ज्ञस्योदारधिया मुनेः ।
कणशः पांसुतां यान्ति मनसः स्मरसायकाः ॥ ६० ॥
रागद्वेषैः स्वरूपज्ञो नाऽवशः परिकृष्यते ।
स्पन्द एवाऽस्य नैताभ्यां किमुताऽऽक्रमणं भवेत् ॥ ६१ ॥
समदृष्टलतालोलवनितोऽद्रिशिलाकृतिः ।
रमते नैष भोगेषु पान्थो मरुमहीष्विव ॥ ६२ ॥
अयत्नोपनतं सर्वं लीलयाऽसक्तमानसः ।
भुङ्क्ते भोगभरं प्राज्ञस्त्वालोकमिव लोचनम् ॥ ६३ ॥
काकतालीयवत् प्राप्ता भोगाली ललनादिका ।
स्वादिताऽप्यङ्ग धीरस्य न दुःखाय न तुष्टये ॥ ६४ ॥
सम्यग्दृष्टपथं तज्ज्ञं सुखदुःखमती मनाक् ।
द्वे वीच्याविव शैलेन्द्रं क्षोभं नेतुं न शक्नुतः ॥ ६५ ॥
हेलयाऽऽलोकयन् भोगान्मृदुर्दान्तो गतज्वरः ।

बाल अङ्गनाओं के अनुरक्त होने पर भी तत्त्वज्ञ मुनि के अन्तःकरण में उदार बुद्धि के कारण कामदेव के बाण छोटे-छोटे टुकड़े होकर धूलीसात् हो जाते हैं ॥ ६० ॥

आत्मा के तत्त्व का विद्वान् को राग और द्वेष अपनी ओर आकृष्ट नहीं करते । श्रीरामजी ! इस प्रकार महा-विद्वान् में उनके द्वारा जब स्पन्दन भी नहीं हो सकता, तब उनके द्वारा आक्रमण की कथा ही कैसे हो सकती है ॥ ६१ ॥

विद्वान्, जो लता और वनिता में एक-सी दृष्टि रखने वाले विद्वान् पर्वत की तरह विकार शून्य निष्कम्प आकार वाले इन तुच्छ विषयोपभोगों में वैसे ही रमण नहीं करता जैसे बटोही मरु-भूमि में रमण या विश्राम नहीं करता ॥ ६२ ॥

जिसका अन्तःकरण किन्हीं भोग्यपदार्थों में आसक्त नहीं है, ऐसा तत्त्वज्ञ मुनि अयत्न से प्राप्त अनिषिद्ध अन्न, पान आदि सब भोग्य जात का केवल देहमात्र के धारण के अनुकूल व्यापार से उपयोग करता है जैसे लोचन आसक्त न होकर आलोक का उपयोग करता है ॥ ६३ ॥

काकतालीय की तरह प्राप्त ललना आदि भोगपंक्तियाँ आस्वादित होने पर भी तत्त्वज्ञ धीर पुरुष को दुःख तथा तुष्टि के लिए नहीं होती हैं ॥ ६४ ॥

जिसने प्रत्यक्-दृष्टि मार्ग का भली प्रकार परिज्ञान कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुष को सुख-बुद्धि और दुःख-बुद्धि दोनों वैसे ही तनिक भी क्षोभ नहीं पहुँचा सकतीं जैसे दो वीचियाँ शैलेन्द्र मन्दराचल को क्षोभ नहीं पहुँचा सकतीं ॥ ६५ ॥

स्वमेव पदमालम्ब्य सर्वभूतान्तरस्थितम् ॥ ६६ ॥
ज्ञस्तिष्ठति गतव्यग्रो व्यग्रेणाऽपि समन्वितः ।
जगन्ति जनयन्नेव ब्रह्मेवाऽऽत्मपरायणः ॥ ६७ ॥
आपतत्सु यथाकालं यथादेशं यथाक्रमम् ।
सुखदुःखेषु न क्षोभमेति भूभृदृतुष्विव ॥ ६८ ॥
मज्जतोऽपि बहुज्ञस्य राम ! कर्मेन्द्रियभ्रमैः ।
असक्तमनसो नित्यं न किञ्चिदपि मज्जति ॥ ६९ ॥
कलङ्क्यन्तःकलङ्केन प्रोच्यते हेम नाऽन्यथा ।
भावासक्त्या समासक्त उक्तो जन्तुर्हि नाऽन्यथा ॥ ७० ॥
शरीराद्व्यतिरिक्तं ज्ञं पश्यतः प्रविवेकिनः ।
विकर्तिताङ्गकस्याऽपि न किञ्चित्प्रविकर्तितम् ॥ ७१ ॥
सकृत्प्रभातं विमलं यज्ज्ञातं ज्ञातमेव तत् ।
न हि बन्धुः परिज्ञातं पुनरज्ञाततां व्रजेत् ॥ ७२ ॥

असत्यत्व बुद्धि से विषयों को देखने वाले मृदु, दमन-शील तथा समस्त चिन्ता आदि ज्वरों से विनिर्मुक्त तत्त्व-वित् सब भूतों में अन्तरात्म-स्वरूप से स्थित आत्मपद का ही अवलम्बन कर स्थित रहता है ॥ ६६ ॥

अनेक भुवनों को उत्पन्न करने वाली अपनी आत्मा में परम विश्रान्ति लेने वाले हिरण्यगर्भ की ही तरह तत्-तत्-कालोचित क्रियाओं में व्यापृत होने पर भी देहादियुक्त तत्त्ववेत्ता विक्षेपशून्य ही रहता है ॥ ६७ ॥

कालानुसार, देशानुसार एवं क्रमानुसार आपत्तियों के तथा सुख-दुःखों के आने पर भी तत्त्ववित् वैसे ही क्षोभ को प्राप्त नहीं होता जैसे वसन्त आदि ऋतुओं के आने पर पर्वत किसी प्रकार का क्षोभ प्राप्त नहीं करता ॥ ६८ ॥

हे श्रीरामजी वाक् आदि कर्मेन्द्रियों के व्यापारों के विषयों में निमग्न आत्मज्ञ विद्वान् के, सदा-सर्वदा अनासक्त मन से युक्त रहने पर कुछ भी विनष्ट नहीं होता है ॥ ६९ ॥

प्राणी भावासक्ति से अर्थात् भीतरी आसक्ति वैसे ही समासक्त कहा जाता है, ऊपरी बनावटी आसक्ति से आसक्त नहीं कहा जाता है जैसे सुवर्ण भीतर के कलङ्क से ही कलङ्कित कहा जाता है, ऊपरी पङ्क आदि के लेपन-रूपी कलङ्क से कलङ्कित नहीं कहा जाता ॥ ७० ॥

शरीर से भिन्न आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार कर रहे नित्या-नित्य-विवेक विज्ञान से सम्पन्न ज्ञानी के अङ्ग कतरने पर भी तथापि उसका कुछ भी कर्तित नहीं होता ॥ ७१ ॥

विमल प्रकाश स्वरूप आत्मा का एक बार यदि ज्ञान होने पर वैसे ही वह सदा ज्ञात ही रहता है, फिर उसका

सर्पभ्रान्तौ निवृत्तायां न रज्ज्वां सर्पभावना ।
पुनरेति यथा प्रावृण्नदी गिरितटाच्च्युता ॥ ७३ ॥
न हेम तापशुद्धाङ्गं स्वभावमलमागतम् ।
कर्दमे मग्नमपि सत्समादत्ते मलं पुनः ॥ ७४ ॥
क्षीणे स्वहृदयग्रन्थौ न बन्धोऽस्ति पुनर्गुणैः ।
यत्नेनाऽपि पुनर्बद्धं केन वृन्ते च्युतं फलम् ॥ ७५ ॥
अवच्छेदविचाराभ्यामभितः खण्डशो गतम् ।
पाषाणं च मणिं चैव सन्धातुं कस्य शक्तता ॥ ७६ ॥
विज्ञातायामविद्यायां कः पुनः परिमज्जति ।
परिज्ञाय श्वपाकानां यात्रां कः प्रेक्षते द्विजः ॥ ७७ ॥
शुद्धाम्भसि यथा क्षीरधीर्विचारान्निवर्तते ।
संसारवासना तद्वद्धीविचारान्निवर्तते ॥ ७८ ॥
मध्वम्बुशङ्कया तावद्विप्रवर्यैः प्रपीयते ।
यावन्नाऽत्र परिज्ञातं परिज्ञातं प्रहीयते ॥ ७९ ॥
रूपलावण्ययुक्ताऽपि चित्रकान्तेव कामिनी ।
द्रव्यमात्रसमारम्भात् तत्त्वविद्भिर्विलोक्यते ॥ ८० ॥
यथा मषीकुसुम्भादि स्त्रियाश्चित्रे तथैव हि ।
जीवत्या अपि केशोष्ठं कस्तां परि किल ग्रहः ॥ ८१ ॥
अनुभूतो गुडः स्वादुरपि दाहविकर्तनैः ।
न शक्यतेऽन्यथाकर्तुं तत्त्वालोकस्तथाऽऽत्मनः ॥ ८२ ॥
परव्यसनिनी नारी व्यग्राऽपि गृहकर्मणि ।
तदेवाऽऽस्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥ ८३ ॥

विस्मरण नहीं होता जैसे एक बार प्रिय बन्धु का परिज्ञान हो जाने के अनन्तर फिर वह अज्ञात नहीं होता ॥ ७२ ॥

सर्पभ्रान्ति की निवृत्ति हो जाने पर रज्जु में फिर सर्पभावना वैसे नहीं होती जैसे पर्वत के तट से चू रही वर्षाकालीन नदी वर्षा की निवृत्ति हो जाने पर फिर नहीं चूती। ७३ ॥

अग्नि के ताप से जिसके अङ्ग विशुद्ध हो चुके हैं तथा जो निःशेष रूप से अपने स्वभाव को केवल सुवर्ण-स्वरूपता को प्राप्त हुआ है, ऐसा कीचड़ में निमग्न हो रहा भी सुवर्ण जैसे फिर मल को ग्रहण नहीं करता, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए ॥ ७४ ॥

अपने हृदय की ग्रन्थि का उच्छेद हो जाने पर फिर देहादि के गुणों से आत्मा का बन्धन नहीं होता है क्या वृक्षस्थ डंठी से टूट गये फल को कोई भी पुरुष पुनः कितना भी प्रयास कर डंठल के साथ पूर्ववत् जोड़ सकता है ? ॥ ७५ ॥

पत्थर का छेदन और मणि के तात्त्विक स्वरूप का विचार—इन दोनों की सहायता से मणि का जो अंश नहीं है, उस अंश को काटकर पत्थर से मणि की प्राप्ति की जाती है। प्राप्त हुई मणि का पुनः पाषाण के साथ सन्धान करने के लिए किस पुरुष की शक्ति है ? ॥ ७६ ॥

अविद्या का असली स्वरूप जान लेने के बाद कौन बुद्धिमान् पुरुष फिर उसमें डूबता है ? चाण्डालों के उत्सव विशेष का परिज्ञान हो जाने के बाद कौन द्विजन्मा उस उत्सव में सम्मिलित होने की प्रतीक्षा करेगा ॥ ७७ ॥

सांसारिक वासना बुद्धिस्थ आत्मा के स्वरूप का विचार करने के अनन्तर वैसे ही विनिवृत्त हो जाती है जैसे विशुद्ध सलिल में हुई दुग्धभ्रान्ति दुग्धस्वरूप का विचार करने के अनन्तर विनिवृत्त हो जाती है ॥ ७८ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मण लोग तबतक जलबुद्धि से मद्य पी लेते हैं, जबतक उसका असली स्वरूप नहीं जान लेते। असली स्वरूप को जान लेने पर उसका परित्याग कर देते हैं ॥ ७९ ॥

रूपलावण्ययुक्त कामिनी को चित में लिखित कान्ता की प्रतिमा की तरह ही तत्त्ववेत्ता पुरुष देखते हैं, क्योंकि वह द्रव्यमात्रसमारम्भ है ॥ ८० ॥

हे श्रीरामजी ! रूप और लावण्य से युक्त जीवित कामिनी के भी केश, ओष्ठ आदि पाँच भूतों के स्वरूप से अतिरिक्त वैसे ही दूसरा कुछ भी नहीं है जैसे चित्र में चित्रित कामिनी के केश, ओष्ठ आदि अवयव मषी, कुंकुम आदि रङ्गस्वरूप पाँच भूतों को छोड़कर और कुछ भी नहीं हैं इसलिए कान्ता-प्रतिमा और जीवित कान्ता में तत्त्वतः समानता होने के कारण जीवित-कान्ता की क्या उपादेयता हो सकती है ? ॥ ८१ ॥

आत्मा के तात्त्विक आनन्दानुभव को भी वैसे ही अन्यथा नहीं कर सकते जैसे गुड़ के अनुभूत स्वादु मधुर रस को—अनुभूत गुड़, अनुभव-करण जिह्वा तथा अनुभव करने वाले देवदत्त आदि के दाह, कर्तन आदि सैकड़ों प्रयत्नों से भी 'यह माधुर्य का अनुभव नहीं है, किन्तु तिक्त आदि का अनुभव है, इस प्रकार अन्यथा नहीं कर सकते ॥ ८२ ॥

परपुरुष में आसक्ति रखनेवाली नारी, घर के कार्य में व्यग्र रहने पर भी, उसी परपुरुषसम्बन्ध रूपी रसायन का अपने अन्दर आस्वाद लेती है ॥ ८३ ॥

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः ।
न शक्यते चालयितुं देवैरपि सवासवैः ॥ ८४ ॥
परव्यसनिनी नारी केन भर्त्रा बलीयसा ।
विस्मारिता स्वसङ्कल्पकान्तसङ्गमहोत्सवम् ॥ ८५ ॥
जगत्समरसानन्दचिदालोकावलम्बनम् ।
केन विस्मार्यते बुद्धिस्तत्त्वज्ञस्य महात्मनः ॥ ८६ ॥
समग्रसुखदुःखाढ्यं व्यवहारमखण्डितम् ।
कुर्वन् कुलजनायत्तो भर्तृश्वशुरखेदितः ॥ ८७ ॥
यथा सङ्कल्पकान्तेन भवत्यानन्दमन्थरः ।
वधूलोको व्यसनवान् दुःखवृन्दैर्न बाध्यते ॥ ८८ ॥
तथा विगलिताविद्यो व्यवहारपरोऽप्यलम् ।
सम्यग्दृष्टिः सदाचारो मुदमेत्यन्तरात्मना ॥ ८९ ॥
छिद्यते न निकृत्ताङ्गो गलदश्रुर्न रोदिति ।
दह्यते न प्रदग्धोऽपि नष्टोऽपि न विनश्यति ॥ ९० ॥
व्यपगतसुखदुःखसन्निपातो
विधिविधुरेष्वपि सङ्कटेष्वचित्तः ।
विलसतु सदने पुरोत्तमे वा
विततगिरौ विपिने तपोवने वा ॥ ९१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
वैराग्योपदेशो नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः॥ ७४ ॥

इस प्रकार विशुद्ध परब्रह्मतत्त्व में उत्तम विश्रान्ति को प्राप्त कर धीरतत्त्वज्ञ पुरुष इन्द्र के साथ हजारों देवताओं से भी विचलित नहीं किया जा सकता ॥ ८४ ॥

परपुरुष के सङ्ग में व्यसन रखनेवाली अपनी पत्नी को उसके संकल्प में अवस्थित परकान्तसङ्गमरूपी महोत्सव का विस्मरण कराया हो ऐसा कौन बलवान् स्वामी है ॥ ८५ ॥

हे राघव ! सांसारिक विभिन्न विषयानन्दरूपी जो अनेक पुण्यरस हैं, वे सब जिसमें शहद के छत्ते की तरह एकरस हो जाते हैं, ऐसे स्वात्मानन्दचिदालोक के निरन्तर आस्वादनधारा को प्राप्त तत्त्वज्ञ महात्मा की बुद्धि का विस्मरण कौन करा सकता है ? एकबार अर्थात् जिसने ज्ञानामृतरूपी रस का आस्वाद न प्राप्तकर मन समस्त व्यापारों को छोड़कर उसी में अनुधावन करता है ॥ ८६ ॥

समग्र सुख और दुःख से युक्त व्यवहारों को अर्थात् घर के कामों को विधिपूर्वक कर रही पति, सास और ससुर के द्वारा पीड़ित भी कुलजनों के आश्रित वधू, पर-सङ्ग में आसक्ति रखने पर जिस प्रकार सङ्कल्प-कान्त से आनन्दनिभोर होती है, और दुःखों से पीड़ित नहीं होती है ॥ ८७-८८ ॥

उसी प्रकार जिस महात्मा की अविद्या निवृत्त हो गई है, जिसकी भली प्रकार की तत्त्वबुद्धि है तथा जो सुन्दर आचरणों से युक्त है, ऐसा महात्मा पर्याप्तरूप से व्यवहार में निरत होनेपर भी अपने अन्तरात्मा से प्रसन्नता को प्राप्त करता रहता है ॥ ८९ ॥

सप्तम भूमिका में समारूढ़ योगी छिन्नाङ्ग हो कर भी छेदित नहीं होता है । गिर रहे अश्रुओं से युक्त होता हुआ भी रोता नहीं है, दग्ध होता हुआ भी दग्ध नहीं होता है, विनष्ट देह होता हुआ भी नष्ट नहीं होता है ॥ ९० ॥

मन के विनाशपर्यन्त भूमिका में सुप्रतिष्ठित पुरुष धौरेय तत्त्वज्ञ पूर्वकालिक प्रारब्धफलरूपी कर्म से विधुर भोगशून्य दरिद्र-अवस्था में या माण्डव्य की तरह शूलाधिरोहणरूपी संकटावस्थाओं में या उत्तमनगरस्थ सदन में या भयङ्कर अटवी में या तपोवन में भले ही रहे, तथापि वह सदा-सर्वदा सुखदुःख के संनिपात से दूर ही रहता है, तनिक भी सांसारिक हर्ष, शोक के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता है ॥ ९१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में
उद्दालकविचारविलास नामक कुसुमलता का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

७५

वसिष्ठ उवाच

जनकः संस्थितो राज्ये व्यवहारपरोऽपि सन् ।
विगतज्वर एवाऽन्तरनाकुलमतिः सदा ॥ १ ॥

७५

महाराज वसिष्ठ ने कहा—अपने राज्य में समयोचित व्यवहार में तत्पर राजा जनक अखिल मानसिक चिन्तारूपी ज्वर से रहित तथा भीतर आकुलमति से शून्य होकर ही सदा अवस्थित थे ॥ १ ॥

पितामहो दिलीपस्ते सर्वारम्भपरोऽप्यलम् ।
वीतरागतयैवाऽन्तर्बुभुजे मेदिनीं चिरम् ॥ २ ॥
निरञ्जनतया बुद्धो जनतां पालयंश्चिरम् ।
जीवन्मुक्ताकृतिर्नित्यं मनू राज्यमपालयत् ॥ ३ ॥
विचित्रबलयुद्धेषु व्यवहारेषु भूरिषु ।
मान्धाता सुचिरं तिष्ठन् प्राप्तवान् वै परं पदम् ॥ ४ ॥
बलिः पातालपीठस्थः कुर्वन् सदिव संस्थितिम् ।
सदा त्यागी सदाऽसक्तो जीवन्मुक्त इति स्थितः ॥ ५ ॥
नमुचिर्दानवाधीशो देवद्वन्द्वपरः सदा ।
नानाचारविचारेषु क्वचिन्नाऽन्तरतप्यत ॥ ६ ॥
वासवाजौ तनुत्यागी वृत्रो विततमानसः ।
अन्तःशान्तमना मानी चकार सुरसङ्गरम् ॥ ७ ॥
कुर्वन् दानवकार्याणि पातालतलपालकः ।

आप के पितामह महाराज दिलीप ने अनेक तरह के उचित सांसारिक कर्मों में सर्वदा निरत होने पर भी भीतर आसक्ति से वर्जित होकर ही दीर्घकाल तक पृथ्वी का उपभोग किया ॥ २ ॥

राग आदि की कालिमा से रहित आत्मज्ञान को प्राप्त महाराज मनु ने चिरकाल तक प्रजाओं का पालन करते हुए सर्वदा जीवन्मुक्तस्वरूप होकर राज्य का संरक्षण किया ॥ ३ ॥

विचित्र सैन्य तथा बाहुबल का उपयोग होने वाले युद्धों में तथा अनेक व्यवहारों में दीर्घकाल तक स्थित रहे महाराज मान्धाता ने आखिर परम पद को प्राप्त किया ॥ ४ ॥

पाताल की पीठ पर आसीन होकर बलिराज यथार्थ व्यवहार को करते हुए भी सदा त्यागी, सदा असक्त और जीवन्मुक्तरूप से स्थित रहे। 'दिवसस्थितिम्' यदि पाठ हो तो 'पाताल में निवास करने के लिए भगवान् के द्वारा नियमित दिवसों का परिपालन करते हुए महाराज बलि जीवन्मुक्त होकर अवस्थित हैं' यह अर्थ है ॥ ५ ॥

दानवों का अधिपति नमुचि सदा देवताओं के साथ युद्ध या मर्यादाव्यतिक्रम में तथा अनेकविध देव और दानवों के आचरण एवं विचार-विमर्शों में तत्पर हो कर भी भीतर से सन्तप्त (खिन्न) नहीं होता था ॥ ६ ॥

इन्द्र के युद्ध में अपने शरीर का परित्याग करनेवाले अभिमानी वृत्रासुर ने, अत्यन्त उदार अन्तःकरण वाला भीतर प्रशान्तमन होकर ही देवताओं के साथ युद्ध किया ॥ ७ ॥

अनपायं निराक्रोशं प्रह्लादो ह्लादमागतः ॥ ८ ॥
शम्बरैकपरोऽप्यन्तःशम्बरैकतयोदितः ।
संसारशम्बरं राम ! शम्बरस्त्यक्तवानिदम् ॥ ९ ॥
असक्तबुद्धिर्हरिणा कुर्वन् दानवसङ्गरम् ।
परां संविदमासाद्य कुशलस्त्यक्तवानिदम् ॥ १० ॥
सर्वामरमुखो वह्निः क्रियाजालपरो ह्यपि ।
यज्ञलक्ष्मीश्चिरं भुङ्क्ते मुक्त एवेह तिष्ठति ॥ ११ ॥
पीयमानः सुरैः सर्वैः सोमः समरसाशयः ।
क्वचिदेति न संसङ्गमाक्रान्तावम्बरं यथा ॥ १२ ॥
बृहस्पतिर्देवगुरुर्दारार्थं चन्द्रयोध्यपि ।
आचरन् दिवि चित्रेहां मुक्त एव ह्यवस्थितः ॥ १३ ॥
शुक्रोऽम्बरतलद्योती बुधः सर्वार्थपालकः ।
निर्विकारमतिः कालं नयत्यसुरदेशिकः ॥ १४ ॥

पातालतल का परिपालन करनेवाले दानवोचित कर्मों का अनुष्ठान करते हुए भक्तप्रवर प्रह्लाद ने अविनाशी, वाणी के अगोचर परम सुख को किया था ॥ ८ ॥

हे श्रीरामजी ! केवल काया में ही निरत हृदयस्थ चिदाकाश की एकरूपता से आविर्भूत शम्बरासुर ने इस संसाररूपी माया का परित्याग कर दिया था ॥ ९ ॥

दानवों की कार्यसिद्धि के लिए भगवान् नारायण के साथ युद्ध में तत्पर कुशल शम्बरासुर ने या कुशल नाम के एक अन्य दानव ने परम तत्त्वज्ञान को प्राप्तकर इस संसार का परित्याग कर दिया ॥ १० ॥

समस्त देवताओं का मुखस्वरूप अग्नि क्रियायों में तत्पर होकर भी यज्ञीय लक्ष्मी का चिरकालतक उपभोग करता है, और मुक्त होकर ही इस त्रिभुवन में रहता है ॥ ११ ॥

समस्त देवताओं के द्वारा पीयमान सोम, जिसके भीतर ब्रह्मात्मक रसायन विद्यमान है, सुख, दुःख आदि के संसर्ग को वैसे ही प्राप्त नहीं करता है जैसे पैरों से आक्रमण करने पर आकाश सम्बन्ध को प्राप्त नहीं करता है ॥१२॥

पत्नी के लिए चन्द्रमा के साथ युद्ध करने वाले देवताओं के गुरु बृहस्पति स्वर्गलोक में देवताओं के पौरोहित्याधिकार की विचित्र चेष्टाओं को करते हुए भी मुक्त होकर यहाँ अवस्थित है ॥ १३ ॥

आकाशतल में देदीप्यमान विद्वान् तथा नीतिशास्त्र की रचना के द्वारा समस्त अभिमत अर्थों का परिपालन करने वाले असुरदेशिक शुक्राचार्य निर्विकारबुद्धि होकर ही काल व्यतीत करते हैं ॥ १४ ॥

जगद्भूतगणाङ्गानि चिरं सञ्चारयन्नपि ।
सर्वदा सर्वसञ्चारी मुक्त एव समीरणः ॥ १५ ॥
लोकाजवंजवीभावप्रोद्वेगज्ञोऽप्यखिन्नधीः ।
ब्रह्मा सममना राम ! क्षिपयत्यायुराततम् ॥ १६ ॥
जरामरणयुद्धादिद्वन्द्वसङ्गरलीलया ।
चरतीह चिरं कालं मुक्तोऽपि भगवान्हरिः ॥ १७ ॥
मुक्तेनाऽपि त्रिनेत्रेण सौन्दर्यतरुमञ्जरी ।
देहार्धे धार्यते गौरी कामुकेनेव कामिनी ॥ १८ ॥
मुक्तयाऽपि गले बद्धो गौर्या गौरस्त्रिलोचनः ।
संशुद्ध इव मुक्तानां हारः शशिकलामलः ॥ १९ ॥
गुहो गहनकीर्वीरस्तारकादिरणक्रियाम् ।
मुक्तोऽपि कृतवान् सर्वज्ञानरत्नैकसागरः ॥ २० ॥

ऊपर के लोकों का और प्राणि-समूहों के अङ्गों का चिरकाल से संचरण करा रहा वायु, सदा-सर्वदा सर्वत्र संचरण करने वाला होकर भी मुक्त ही स्थित है ॥१५॥

हे श्रीरामजी ! अनेक प्राणियों के समूह के अत्यन्त वेगपूर्वक ऊपर, नीचे और मध्य लोक की गतियों से होने वाले निरन्तर आवर्तन एवं उनसे जनित उद्वेगों के स्वरूप का परिज्ञान रखने वाले ब्रह्मा अखिन्न बुद्धि तथा सममन होकर अपने दो परार्ध वर्ष पर्यन्त अतिविस्तृत आयुष्य का क्षपण करते हैं ॥ १६ ॥

भगवान् श्रीहरि नित्यमुक्त होते हुए भी जरा, मरण, युद्ध आदि द्वन्द्वों की युद्ध-लीला से इस संसार-मण्डल में बहुत काल संचरण करते हैं ॥ १७ ॥

नित्यमुक्त, भगवान् त्रिनेत्र शङ्कर जी सौन्दर्य तरु की मञ्जरी रूपा भगवती गौरी को वैसे ही अपने देहार्ध में परिधारण करते हैं जैसे कोई कामुक कामिनी को धारण करे, इस श्लोक में 'इव' शब्द से भगवान् त्रिनेत्र न तो कामुक हैं और न भगवती गौरी कामिनी ही हैं, किन्तु एक ब्रह्म और दूसरी ब्रह्मविद्या है, यह व्यक्त किया है ॥ १८ ॥

मुक्त भगवती गौरी ने त्रिनेत्र धूर्जटि को चन्द्रमा की कला की तरह अति स्वच्छ अत्यन्त धवलवर्ण मोतियों के हार के समान अपने गले में लगाया है ॥ १९ ॥

साधारण बुद्धि वाले लोग जिन पदार्थों को समझ नहीं सकते उन पदार्थों को शीघ्र समझ लेने की तीव्रातितीव्र बुद्धि जिसमें थी और जो वीर था, ऐसे ज्ञानरूपी रत्न के एकमात्र समुद्र स्वामी कार्तिकेय ने मुक्त होते हुए भी तारकासुर आदियों से रणक्रीडा की ॥ २० ॥

हे श्रीरामजी ! ध्यानरूपी सलिल से धोई गई, धीर मुक्त

भृङ्गीशो रक्तमांसं स्वं स्वमात्रे प्रवितीर्णवान् ।
मुक्तयैव धिया राम ! धीरया ध्यानधौतया ॥ २१ ॥
मुनिर्मुक्तस्वभावोऽपि जगज्जङ्गलखण्डकम् ।
नारदो विजहारेमं शीतया कार्यशीलया ॥ २२ ॥
जीवन्मुक्तमना मान्यो विश्वामित्रोऽप्ययं प्रभुः ।
वेदोक्तां मखनिर्माणक्रियां समधितिष्ठति ॥ २३ ॥
धारयत्यवनीं शेषः करोत्यर्को दिनावलीम् ।
यमो यमत्वं कुरुते जीवन्मुक्ततयैव हि ॥ २४ ॥
अन्येऽप्यस्मिंस्त्रिभुवने यक्षासुरनराः सुराः ।
शतशो मुक्ततां याताः सन्तस्तिष्ठन्ति संसृतौ ॥ २५ ॥
संस्थिता व्यवहारेषु विचित्राचारधारिषु ।
अन्तराशीतलाः केचित् केचिन्मूढाः शिलासमाः ॥ २६ ॥

बुद्धि से ही भृङ्गीश ने अपनी माता को अपने रुधिर और मांस को दिया था। (पुराणों में उल्लेख है कि भृङ्गीश गण भगवती देवी का अनादर कर केवल शिवजी की आराधना में तत्पर हो कुपित देवी ने माता और पिता के भागस्वरूप रुधिर और मांसरूप देह में से अपने मातृभाग को लौटाने की याचना की, इस याचना के अनुसार उसने शिवजी के प्रति एकनिष्ठ भक्ति के प्रकाशनार्थ अनायास माला के द्वारा अपने देह में आये हुए रक्त, मांस आदि को नोचकर उनका प्रदान कर दिया) ॥ २१ ॥

महामुनि नारदजी मुक्तस्वभाव होते हुए भी इस जगद्रूपी जङ्गल के खण्ड में कलहकौतुक को प्रवृत्त करने वाली शान्त बुद्धि से यत्र तत्र विचरण करते हैं ॥ २२ ॥

भुवनों में अत्यन्त मान्य, समर्थ यह विश्वामित्र महर्षि जीवन्मुक्तमानस होते हुए भी वेदशास्त्र में विहित यज्ञादि क्रियाओं का अनुष्ठान किया करते हैं ॥ २३ ॥

जीवन्मुक्त होकर ही सहस्रमुक्त, नागराज शेष पृथ्वी को धारण करते हैं, सूर्य भगवान् दिवसों की परम्पराओं का निर्माण करते हैं, यमराज धर्माधर्मविचारपूर्वक लोगों का नियमन करते हैं ॥ २४ ॥

दूसरे भी सैकड़ों महात्मा यक्ष, राक्षस, मनुष्य और देवता इस त्रिभुवन में विमुक्तस्वरूप होकर संसार में अनासक्तस्वरूप से अवस्थित हैं ॥ २५ ॥

विचित्र शोक, मोह आदि अनर्थों के उत्पादक तथा पुत्र, स्त्री, धन-सम्पत्ति आदि का संग्रह कर युद्ध, वध बन्धन आदि आचारों से युक्त भी इन सांसारिक राज्यादि व्यवहारों में स्थित कुछ पुरुष भीतर शान्ति से समन्वित अर्थात् मुक्त रहते हैं, और कुछ मूढ तो शिला के समान रहते हैं, अर्थात् अज्ञान में फँसे रहते हैं ॥ २६ ॥

परमं बोधमासाद्य केचित्काननमागताः ।
यथा भृगुभरद्वाजविश्वामित्रशुकादयः ॥ २७ ॥
केचिद्राज्येषु तिष्ठन्ति छत्रचामरपालिताः ।
यथा जनकशर्यातिमान्धातृसगरादयः ॥ २८ ॥
केचिद्व्योमनि तिष्ठन्ति धिष्ण्यचक्रान्तरस्थिताः ।
यथा बृहस्पत्युशनश्चन्द्रसूर्यमुनीश्वराः ॥ २९ ॥
केचित्सुरपदे याता विमानावलिमास्थिताः ।
यथाऽग्निवायुवरुणयमतुम्बुरुनारदाः ॥ ३० ॥
केचित्पातालकुहरे जीवन्मुक्ता व्यवस्थिताः ।
यथा बलिसुहोत्रान्धप्रह्लादा ह्लादपूर्वकाः ॥ ३१ ॥
तिर्यग्योनिष्वपि सदा विद्यन्ते कृतबुद्धयः ।
देवयोनिष्वपि प्राज्ञा विद्यन्ते मूर्खबुद्धयः ॥ ३२ ॥
सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वथा सर्वदैव हि ।
सम्भवत्येव सर्वात्मन्यात्मन्याततरूपिणि ॥ ३३ ॥
विधेर्विचित्रा नियतिरनन्तारम्भमन्थरा ।
सन्निवेशांशवैचित्र्यात् सर्वं सर्वत्र दृश्यते ॥ ३४ ॥
विधिर्देवं विधिर्धाता सर्वेशः शिव ईश्वरः ।
इति नामभिरात्मा नः प्रत्यक् चेतन उच्यते ॥ ३५ ॥
अस्त्यवस्तुनि वस्त्वन्तः काञ्चनं सिकतास्विव ।
अस्ति वस्तुन्यवस्त्वन्तर्मलं हेमकणेष्विव ॥ ३६ ॥
अयुक्ते युक्तता युक्त्या प्रेक्ष्यमाणा प्रदृश्यते ।
पापस्य हि भयाल्लोको राम ! धर्मे प्रवर्तते ॥ ३७ ॥
असत्ये सत्यता साधो ! शाश्वती परिलक्ष्यते ।
शून्येन ध्यानयोगेन शाश्वतं पदमाप्यते ॥ ३८ ॥
यन्नाऽस्ति तदुदेत्याशु देशकालविलासतः ।
शशकाः शृङ्गवन्तो हि दृश्यन्ते शम्बरस्थितौ ॥ ३९ ॥
ये वज्रसाराः सुदृढा दृश्यन्ते ते क्षयं गताः ।
कल्पस्याऽन्ते यथेन्द्वर्कधराब्धिविबुधादयः ॥ ४० ॥
इति पश्यन् महाबाहो ! भावाभावभवक्रमम् ।
हर्षामर्षविषादेहाः संत्यज्य समतां व्रज ॥ ४१ ॥

जैसे—भृगु, भरद्वाज, विश्वामित्र, शुक आदि कुछ महानुभावों ने उत्कृष्ट आत्मज्ञान का सम्पादन कर चित्त विक्षेप की निवृत्ति के लिए तपोवन का आश्रयण किया है ॥ २७ ॥

जैसे—जनक, शर्याति, मान्धाता, सगर आदि कुछ तत्त्वज्ञ महात्मा आत्मज्ञान प्राप्त कर राज्यकर्म में ही छत्र चामर आदि से रक्षित होकर रहते हैं ॥ २८ ॥

जैसे—बृहस्पति, शुक्राचार्य, चन्द्र, सूर्य, सप्तर्षि आदि कुछ तत्त्वज्ञ आकाश में ग्रह, नक्षत्र आदि के आधारभूत ज्योतिश्चक्र के मध्य में अवस्थित हैं ॥ २९ ॥

जैसे—अग्नि, वायु, वरुण, यम, तुम्बरु, नारद आदि कुछ तो देवताओं के पद को प्राप्त होकर विमानों की पंक्तियों के ऊपर आरूढ़ होकर स्थित हैं ॥ ३० ॥

जैसे—बलि, सुहोत्र, अन्ध, प्रह्लाद तथा ह्लाद आदि कुछ महानुभाव पाताल की कन्दरा में जीवन्मुक्त होकर सुस्थित हैं ॥ ३१ ॥

गरुड़, हनुमान्, जाम्बवान् आदि तिर्यक् योनियों में भी सदा कृतबुद्धि महात्मा रहते हैं और देवयोनियों में भी मूर्खबुद्धि वाले बहुत से महामूढ विद्यमान हैं ॥ ३२ ॥

अत्यन्त व्यापक स्वरूप सर्वस्वरूप आत्मा में सब कुछ सर्वभाव से सर्वत्र सब प्रकार से सदा ही सम्भावित हो सकता है ॥ ३३ ॥

अनन्त कार्यों के आरम्भ में निरत विचित्र विधि की नियति है, अतः संनिवेशांश के वैचित्र्य से सब कुछ सब जगह दिखाई पड़ता है ॥ ३४ ॥

ब्रह्मा, दैव, विष्णु, हिरण्यगर्भ, शिव, ईश्वर आदि परमात्मा के नामों से हम सब लोगों का प्रत्यक् चेतनरूप आत्मा ही कहा जाता है ॥ ३५ ॥

अवस्तु में भी भीतर वस्तु रहती है, जैसे—बालू में सुवर्ण तथा वस्तु में भी अवस्तु रहती है, जैसे—सुवर्ण के कणों के भीतर मालिन्य ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी ! अभी युक्त-युक्ति से विमर्श करने पर युक्तता दिखाई पड़ती है, क्योंकि युक्ति से विचार करने पर फलतः भीषण होने से अत्यन्त अयुक्त पाप में भी पुरुष को धर्म में प्रवृत्त कराने का महान् गुण दिखाई पड़ता है ॥ ३७ ॥

हे साधो ! असत्य में भी फलतः शाश्वती सत्यता दिखाई पड़ती है, क्योंकि शून्यात्मक ध्यान-योग से शाश्वत पद की प्राप्ति होती है ॥ ३८ ॥

वस्तुतः जो नहीं है, उसका भी देश और काल के विलास से शीघ्र प्रादुर्भाव हो जाता है, जैसे ऐन्द्रजालिक सृष्टि में सींगवाले खरगोश भी दिखाई पड़ते हैं ॥ ३९

कभी-भी विनाश न होने वाले सुदृढ़ पदार्थ कल्प अन्त में क्षय को प्राप्त दिखाई पड़ते हैं। जैसे—चन्द्र, : पृथ्वी, समुद्र, देवता आदि ॥ ४० ॥

हे महाबहो ! इस प्रकार के भाव-अभावात्मक संस् क्रम को देख रहे आप हर्ष, अमर्ष, विषाद और अभि लाषाओं का परित्याग कर समभाव को प्राप्त करें ॥४१॥

असत्सदेव भातीह सदसच्चाऽपि दृश्यते ।
आस्थानास्थे परित्यज्य तेनाऽऽशु समतां व्रज ॥ ४२ ॥
मुक्तौ राघव ! लोकेऽस्मिन्न प्राप्तिः संभवत्यलम् ।
अप्रवृत्तौ विवेकस्य मग्ना हि जनकोटयः ॥ ४३ ॥
मुक्तौ राघव ! लोकेऽस्मिन् प्राप्तिरस्ति सदैव हि ।
प्रवृत्त्या हि विवेकस्य विमुक्ता भूतकोटयः ॥ ४४ ॥
प्रविवेकाविवेकाभ्यां सुलभाऽलभ्यतां गता ।
मुक्तिर्मनःक्षयप्राप्त्या विवेकं तेन दीपय ॥ ४५ ॥
आत्मावलोकने यत्नः कर्तव्यो भूतिमिच्छता ।
सर्वदुःखशिरश्छेद आत्मालोकेन जायते ॥ ४६ ॥
नीरागा निरुपासङ्गा जीवन्मुक्ता महाधियः ।
सम्भवन्तीह बहुशः सुहोत्रजनका इव ॥ ४७ ॥
तस्मात्त्वमपि वैराग्यविवेकोदितधीरधीः ।

इस संसार में जो असत् है, वह सत् भी प्रतीत होता हैं और जो सत् है, वह असत्-रूप में भी प्रतीत होता है, इसलिए आस्था और अनास्था का परित्याग कर आप शीघ्र समता प्राप्त कीजिए ॥ ४२ ॥

हे राघव ! मुक्ति हो जाने पर फिर इस संसार में किसी प्रकार जीव की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि करोड़ों मनुष्य असंसारी आत्मा के विवेक की तत्त्वज्ञान की अप्रवृत्ति में ही अज्ञान-दशा में अत्यन्त असंभावित अनर्थों की संभावना रूपी भ्रम में—निमग्न रहते हैं, मुक्ति में नहीं, संसार निमज्जन के हेतु अज्ञान का विनाश हो चुका है ॥ ४३ ॥

हे राघव ! इस संसार में आत्मस्वरूप मुक्ति की सदा ही प्राप्त है, इसलिए आत्मानात्मा के विवेक-विज्ञान की उपलब्धि होने पर करोड़ों मनुष्य विमुक्त हो चुके हैं ॥ ४४ ॥

विवेक से मुक्ति सुलभ और अविवेक से मुक्ति असुलभ हो जाती है, इसलिए आप मनोविनाश कर विवेक का प्रदीपन करें ॥ ४५ ॥

मुक्ति की अभिलाषा करने वाले व्यक्ति को आत्मा के अवलोकन में यत्न करना चाहिए। समस्त दुःखों का शिरच्छेद आत्मा के अवलोकन से ही होता है ॥ ४६ ॥

राग से रहित अभिनिवेशों से शून्य तथा मेधा से सम्पन्न सुहोत्र, जनक आदि के समान इस वर्तमान काल में भी अनेक जीवन्मुक्त विद्यमान हैं ॥ ४७ ॥

आप भी वैराग्य और विवेक से उदित धीर बुद्धि से युक्त मिट्टी के ढेले, पत्थर और काञ्चन में समदृष्टि तथा

जीवन्मुक्तो विहर भो समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ४८ ॥
द्विविधा मुक्तता लोके विद्यते देहधारिणाम् ।
सदेहैका विदेहाऽन्या विभागोऽयं तयोः शृणु ॥ ४९ ॥
असंसङ्गात् पदार्थानां मनःशान्तिर्विमुक्तता ।
सत्यसत्यपि देहे सा सम्भवत्यनघाकृते ॥ ५० ॥
स्नेहसंक्षयमेवाऽङ्ग विदुः कैवल्यमुत्तमम् ।
तत्सम्भवति देहस्य भावे चाऽभाव एव च ॥ ५१ ॥
यो जीवति गतस्नेहः स जीवन्मुक्त उच्यते ।
सस्नेहजीवितो बद्धो मुक्त एव तृतीयकः ॥ ५२ ॥
यत्नो यत्नेन कर्तव्यो मोक्षार्थं युक्तिपूर्वकम् ।
यत्नयुक्तिविहीनस्य गोष्पदं दुस्तरं भवेत् ॥ ५३ ॥
न त्वनध्यवसायस्य दुःखाय विपुलात्मने ।
आत्मा परवशः कार्यो मोहमाश्रित्य केवलम् ॥ ५४ ॥

जीवन्मुक्त होकर विहार करें ॥ ४८ ॥

इस लोक में देहधारी जीवों की दो प्रकार की मुक्ति है—एक तो सदेह मुक्ति और दूसरी विदेह-मुक्ति। अब आप उनका विभाग सुनें ॥ ४९ ॥

हे पाप शून्य आकृति वाले ! विषयों के असंसर्ग से मन की शान्ति होती है, वही विमुक्तता है। वह विमुक्तता देह के अस्तित्व और नास्तित्व दोनों अवस्थाओं में होती है ॥ ५० ॥

उसमें स्नेह-बन्धन का विनाश अर्थात् देहादि में आत्मस्वरूपत्व के विभ्रम से हुई प्रीति का विनाश ही उत्तम मुक्ति है, वह कैवल्य देह की सत्ता रहे चाहे न रहे, दोनों अवस्थाओं में होता है ॥ ५१ ॥

जो विद्वान् विषय-स्नेह से रहित होकर जीवित हैं, यह जीवन्मुक्त है, जो विषय-स्नेह से समन्वित होकर जीवित है, वह बद्ध है और इन दोनों से जो परे है, वह तीसरा मुक्त कहलाता है ॥ ५२ ॥

मोक्ष के लिए शम, दम आदि चार साधनों के लिए यत्न के द्वारा पूर्व-पूर्व की सिद्धि हो जाने पर उत्तरोत्तर विजय पाने के लिए युक्तिपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। जो युक्तिपूर्वक प्रयत्न से वर्जित है, ऐसे पुरुष के लिए गाय का खुरमात्र प्रदेश भी अलङ्घ्य हो जाता है ॥ ५३ ॥

केवल मोह का अवलम्बन कर अध्यवसाय के होने पर प्रयत्न के अनादर से असीम स्वरूपवाले दुःख के लिए आत्मा को परवश नहीं करना चाहिए ॥ ५४ ॥

सुमहद्धैर्यमालम्ब्य मनसा व्यवसायिना ।
विचारयाऽऽत्मनाऽऽत्मानमात्मनश्चिरसिद्धये ।
विततांध्यवसायस्य जगद्भवति गोष्पदम् ॥ ५५ ॥

यदुपगतः सुगतः पदं प्रधानं
यदपगतोऽध्रुवतां नृपश्च कश्चित् ।
यदुपगताः पदमुत्तमं महान्तः
प्रयतनकल्पतरोर्महाफलं तत् ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
मुक्तामुक्तविचारो नाम पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

हे रामजी, बड़े धैर्य का आलम्बन कर फल की प्राप्ति तक अनुष्ठित सतत प्रयत्न से जनित दृढ़ निश्चय से युक्त मन से चिरकालिक सिद्धि के लिए अनेक जन्मों से होने वाली मोक्षात्मक सिद्धि के उद्देश्य से अपने द्वारा ही अपना विचार करना चाहिए। जो निरन्तर अध्यवसाय करने वाला पुरुष है, उसके लिए जगत् गाय का खुरमात्र हो जाता है ॥ ५५ ॥

सुगत यानी बुद्धि और प्रकृतिपुरुषभिन्नत्वरूप शोभन विवेक को प्राप्त महामुनि कपिल इन दोनों ने खूब विचार करके भी अध्यवसाय न होने के कारण आत्मतत्त्व से विच्युत होकर क्षणिक विज्ञानों के सन्तान रूप प्रधान पद को प्राप्त किया एवं वेद का निन्दक होने के कारण जिसका नाम लेना समुचित नहीं है ऐसे अर्हद नाम के क्षत्रिय राजा ने भी असली ब्रह्मतत्त्व से विच्युत होकर आत्मा को चित्स्वभाव मान कर भी देह के तुल्य परिमाण वाला मानने से हाथी, मच्छर आदियों के शरीरों प्रवेश करने में अवयवों का उपचय प्राप्त होने के कारण अध्रुव ही माना है, इसलिए ये तीनों अनुत्तम मिथ्यापद में ही निमग्न हैं और वेद के रहस्य में निष्णात महानुभावों ने तो उत्तम सत्यादि स्वरूप परमपद को यथार्थ रूप से प्राप्त किया है, वह वेदोक्त मार्ग से प्राप्त किया गया पद प्रयत्नलक्षण कल्पतरु का महान् फल है ॥ ५६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के उपशमप्रकरण में
मुक्तामुक्तविचार नामक कुसुमलता का पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७५ ॥

७६

वसिष्ठ उवाच

ब्रह्मणः समुपायान्ति जगन्तीमानि राघव ! ।
स्थैर्यं यान्त्यविवेकेन शाम्यन्त्येव विवेकतः ॥ १ ॥
जगज्जालजलावर्तवृत्तयो ब्रह्मवारिधौ ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते भासां च त्रसरेणवः ॥ २ ॥
असम्यक्प्रेक्षणं विद्धि कारणं जगतः स्थितौ ।
संसारशान्तये कान्त कारणं सम्यगीक्षणम् ॥ ३ ॥

अयं हि परदुष्पारो घोरः संसारसागरः ।
विना युक्तिप्रयत्नाभ्यामस्माद्राम ! न तीर्यते ॥ ४ ॥
यस्यायं सागरः पूर्णो मोहाम्बुभरपूरितः ।
अगाधमरणावर्तकल्लोलाकुलकोटरः ॥ ५ ॥
प्रभ्रमत्पुण्यडिण्डीरो ज्वलन्नरकवाडवः ।
तृष्णाविलोललहरिर्मनोजलमतङ्गजः ॥ ६ ।

७६

महाराज वसिष्ठ ने कहा—हे राघव ! समस्त जगत् अविज्ञात ब्रह्म से ही आविर्भूत होते हैं और आत्मा और अनात्मा के अविवेक से ये स्थिरता को प्राप्त होते हैं और विवेक से विनष्ट हो जाते हैं ॥ १ ॥

ब्रह्मरूपी समुद्र में जगत्-समूह रूपी जल के तरङ्गों का परिगणन कौन कर सकता है? क्या कोई जाले के भीतर आई हुई सूर्य-किरणों से सम्बन्ध रखने वाले त्रसरेणुओं का परिगणन कर सकता है ? ॥ २ ॥

आत्मा का यथार्थज्ञान न होना ही जगत् की स्थिति में कारण है और आत्मा का यथार्थ ज्ञान ही संसार के विनाश में कारण है, यह आप अवगत करें ॥ ३ ॥

इस घोर संसार-सागर से पार हो जाना अत दुष्कर है, युक्ति और प्रयत्न के सिवा इसको पार किया जा सकता ॥ ४ ॥

जिसके मोहरूपी जलों से भरा गया, पूर्ण य रूपी सागर जो कि—मरण रूपी अगाध आवर्त बड़े-बड़े तरङ्गों से व्याप्त कोटरों से युक्त है ॥ ५ ।

जिसमें चक्कर काट रहे पुण्यरूपी फेन हैं, हुआ नरक रूपी वडवानल है और तृष्णारूप लहरियाँ हैं तथा जल में उत्पन्न हुआ मनरूपी जर है ॥ ६ ॥

आलीनजीवितसरित् भोगरत्नसमुद्गकः ।
क्षुब्धरोगोरगाकीर्ण इन्द्रियग्राहघर्घरः ॥ ७ ॥
पश्याऽस्मिन् प्रसृता राम ! वीचयश्चारुचञ्चलाः ।
इमा मुग्धाङ्गनानाम्न्यः शिखराकर्षणक्षमाः ॥ ८ ॥
छदश्रीपद्मरागाढ्या नेत्रनीलोत्पलाकुलाः ।
दन्तपुष्पफलाकीर्णाः स्मितफेनोपशोभिताः ॥ ९ ॥
केशेन्द्रनीलवलया भ्रूविलासतरङ्गिताः ।
नितम्बपुलिनस्फीताः कण्ठकम्बुविभूषिताः ॥ १० ॥
ललाटमणिपट्टाढ्या विलासग्राहसङ्कुलाः ।
कटाक्षलोलगहना वर्णकाञ्चनवालुकाः ॥ ११ ॥
एवं विलोललहरिभीमात् संसारसागरात् ।
उत्तीर्यते चेन्मग्नेन तत्परं पौरुषं भवेत् ॥ १२ ॥
सत्यां प्रज्ञामहानावि विवेके सति नाविके ।
संसारसागरादस्माद्यो न तीर्णो धिगस्तु तम् ॥ १३ ॥

जिसमें जीवित रूपीं नदियाँ लीन हो जाती हैं एवं जो विषयोपभोग रूपी रत्नों की पिटारी है, क्षुब्ध रोग रूपी सर्पों से आक्रान्त है, जिसमें इन्द्रियरूपी मगरों की घर-घर ध्वनि होती है ॥ ७ ॥

श्रीरामजी देखिये इसमें अत्यन्त चपल, बड़े-बड़े शिखरों की तरह धीर महानुभावों का आकर्षण करने की क्षमता रखने वाली मुग्ध अङ्गनारूपी विस्तृत वीचियाँ हैं, ये वीचियाँ दन्तच्छदों की शोभा से पद्मराग मणियों से समन्वित- नेत्ररूपी नील कमल से व्याप्त, दाँतरूपी मुकुलों से युक्त, स्मितरूपी फेन से सुशोभित, केशरूपी इन्दुनील मणि से वेष्टित, भौंके विलासरूपी तरङ्गों से तरङ्गित, नितम्बरूपी पुलिन से स्फीत, कण्ठरूपी शङ्खों से विभूषित, ललाटरूपी मणिपट्टों से (रत्नफलकों से) आढ्य विलासरूपी मगरों से युक्त, कटाक्षों की चपलता के कारण अतिगहन, देहकान्तिरूपी सुवर्ण बालुका से युक्त हैं ॥ ८-११ ॥

इस प्रकार की अतिचंचल लहरियों के कारण जो अत्यन्त भयंकर है—उसमें निमग्न हुआ पुरुष यदि पार हो जाय, तो वह परम पुरुषार्थ ही होगा ॥ १२ ॥

प्रज्ञारूपी बड़ी नौका और विवेकरूपी नाविक के रहने पर यदि इस संसाररूपी सागर से पार होने पर तो उस पुरुष को धिक्कार है ॥ १३ ॥

असीम संसार-समुद्र का आत्मतत्त्व के दर्शन से नाश कर उसको चारों ओर से प्रमेय ब्रह्मस्वरूप बनाकर प्रत्यग् आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है, वही पुरुष कहा जाता है ॥ १४ ॥

अपारावारमाक्रम्य प्रमेयीकृत्य सर्वतः ।
संसाराब्धिं गाहते यः स एव पुरुषः स्मृतः ॥ १४ ॥
विचार्याऽऽर्यैः सहाऽऽलोक्य धिया संसारसागरम् ।
एतस्मिंस्तदनुक्रीडा शोभते राम ! नाऽन्यथा ॥ १५ ॥
इह धन्यो भवान् साधो ! विचारपरया धिया ।
त्वयाऽधुनैव तेनाऽयं संसारः प्रविचार्यते ॥ १६ ॥
भवानिव विचार्याऽऽदौ संसारमतिकान्तया ।
मत्या यो गाहते लोको नेहाऽसौ परिमज्जति ॥ १७ ॥
पूर्वं धिया विचार्यैते भोगा भोगिभयप्रदाः ।
भोक्तव्याश्चरमं राम ! गरुडेनेव पन्नगाः ॥ १८ ॥
विचार्य तत्त्वमालोक्य सेव्यन्ते या विभूतयः ।
ता उदर्कोदया जन्तोः शेषा दुःखाय केवलम् ॥ १९ ॥
बलं बुद्धिश्च तेजश्च दृष्टतत्त्वस्य वर्धते ।
सवसन्तस्य वृक्षस्य सौन्दर्याद्या गुणा इव ॥ २० ॥

हे श्रीरामजी ! बड़े-बड़े तत्त्वज्ञों के साथ ब्रह्म का विचार कर तथा वैसी बुद्धि से संसार-सागर का अवलोकन कर, तत्त्वज्ञान के अनन्तर ब्रह्मरूपता को प्राप्त जगत् में क्रीडा शोभित होती है, अन्यथा नहीं ॥ १५ ॥

हे साधो ! इस संसार में आप धन्य हैं, क्योंकि विचारप्रवीण बुद्धि से आप इसी बाल अवस्था में धन्यता के कारण ही इस संसार के विषय में विचार करते हैं ॥१६॥

आपकी तरह संसार का विचार प्रवीण अति उत्तम बुद्धि से पहले विचार कर जो अधिकारी पुरुष ब्रह्म में अवगाहन करता है, वह कभी संसार में नहीं फँसता है ॥ १७ ॥

हे श्रीरामजी ! सबसे पहले सर्प के समान भय देने-वाले भोगों के स्वरूप का बुद्धि से विचार कर उनकी वैसे ही उपेक्षा करनी चाहिए और फिर उनका उपभोग करना चाहिए जैसे गरुड़जी के द्वारा अमृत लाने के पहले सर्पों की उपेक्षा की गई थी, फिर माता के शापविमोचन के अनन्तर उनका निःशेष उपभोग किया जाता है ॥१८॥

विचारपूर्वक तत्त्व को प्रत्यक्षकर जिन राज-विभूतियों का उपभोग किया जाता है, वे जन्तु को महान् मोक्षात्मक उदय देनेवाली होती हैं और शेष केवल दुःख के लिए हैं ॥ १९ ॥

तत्त्वज्ञ पुरुष के बल, बुद्धि और तेज वैसे ही बढ़ते हैं, जैसे वसन्त ऋतु से युक्त वृक्ष के सौन्दर्य आदि गुण बढ़ते हैं ॥ २० ॥

घनरसायनपूर्णसुशीतया
विमलया समया सततं श्रिया ।
शिशिररश्मिरिवाऽतिविराजसे
विदितवेद्य सुखं रघुनन्दन ! ।। २१ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
संसारसागरसाम्यप्रतिपादनं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ।। ७६ ।।

हे विदित-वेद्य श्रीरघुनन्दन ! वेद्य वस्तु को जान लेने के कारण इस समय घनीभूत आनान्दामृत रसायन से आप परिपूर्ण, सुशीतल त्रिविध तापों से शून्य, निर्मल, सम और विस्तृत श्री से पूर्णचन्द्र की तरह अत्यन्त शोभायमान हो रहे हैं ।। २१ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामयण के उपशमप्रकरण में
संसारसागर साम्यप्रतिपादन नामक कुसुमलता का छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। ७६ ।।

७७

श्रीराम उवाच

समासेन मुने ! भूयो दृष्टतत्त्वचमत्कृतेः ।
कथयोदारवृत्तान्तं कस्ते वचसि तृष्यति ।। १ ।।

वसिष्ठ उवाच

जीवन्मुक्तस्य बहुधा कथितं लक्षणं मया ।
भूयोऽपि त्वं महाबाहो ! कथ्यमानमिदं शृणु ।। २ ।।
सुषुप्तवदिदं नित्यं पश्यत्यपगतैषणः ।
असद्रूपमिवाऽसक्तं सर्वत्राऽखिलमात्मवान् ।। ३ ।।
कैवल्यमिव संप्राप्तः परिसुप्तमना इव ।
घूर्णमान इवाऽऽनन्दी तिष्ठत्यधिगतात्मदृक् ।। ४ ।।
नाऽऽदत्तमप्युपादत्ते गृहीतमपि पाणिना ।
अन्तर्मुखतयोदात्तरूपया समया धिया ।। ५ ।।
यन्त्रपुत्रकसञ्चार इतीमं जनताक्रमम् ।
अन्तःसंलीनया दृष्ट्या पश्यन् हसति शान्तधीः ।। ६ ।।
नाऽपेक्षते भविष्यं च वर्तमाने न तिष्ठति ।
न संस्मरत्यतीतं च सर्वमेव करोति च ।। ७ ।।
सुप्तः प्रबुद्धो भवति प्रबुद्धोऽपि च सुप्तवान् ।
सर्वं कर्म करोत्यन्तर्न करोति च किञ्चन ।। ८ ।।

७७

श्रीराम ने कहा—हे मुने ! ब्रह्मतत्त्वरूप चमत्कार का अपरोक्ष साक्षात्कार कर लेने पर तत्त्वज्ञ विद्वान् का उदार चरित्र आप हमसे समासतः कहिए, क्योंकि आपके वचन से किसको तृप्ति हो सकती है ? ।। १ ।।

महाराज वसिष्ठ ने कहा—हे महाबाहो ! बहुधा मैंने आपसे जीवन्मुक्त के लक्षण कहे हैं, फिर भी मैं आपसे पुनः कह रहा हूँ, उसे सुनें ।। २ ।।

जिसकी विषयाभिलाषाएँ समाप्त हैं, ऐसा तत्त्ववित् पुरुष इस दृश्यमान अखिल जगत् को सर्वत्र सुषुप्त की तरह व्यवहार दृष्टि से सुषुप्त के समान तमःस्वरूपमात्र सदा देखता है और परमार्थ दृष्टि से बाधित की केवल अनुवृत्ति होने के कारण असत् की तरह अनासक्तिपूर्वक देखता है ।। ३ ।।

आत्मज्ञान प्राप्त करने वाला आत्मज्ञानी पुरुष कैवल्य को प्राप्त के समान चारों ओर प्रसुप्त मन से युक्त-सा तथा घूर्णमान आनन्दवान्-सा अवस्थित रहता है ।। ४ ।।

तत्त्वज्ञ पुरुष पहले चक्षु आदि से देखे गये और पीछे हाथ आदि से परिगृहीत हुए भी अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओं का बुद्धि से, अन्तर्मुख होने के कारण अत्यन्त उदार और समस्वरूप का ग्रहण नहीं सकता ।। ५ ।।

शान्त बुद्धि से सम्पन्न विद्वान् अन्तरात्मा में लीन दृष्टि से यह जनता का व्यवहार असङ्ग, उदासीन आत्मा की केवल सन्निधि से प्रवृत्त होने के कारण काष्ठनिर्मित जड़ प्रतिमा के संचारण के समान जानकर हँसता रहता है ।। ६ ।।

तत्त्ववित् भविष्य की न अपेक्षा करता है, न वर्तमान में समासक्ति करता है, न भूतकालीन वस्तु का स्मरण करता है और सब कुछ करता भी है ।। ७ ।।

व्यावहारिक वस्तुओं के विषय में सुप्तप्राय होता हुआ अपनी आत्मा में जाग्रत रहता है । अर्थात् 'या निशा सर्व-भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' अज्ञ जीवों के प्रति सर्वथा अज्ञात होने के कारण उनके लिए निशास्वरूप जो आत्मा है, उसमें ज्ञानी पुरुष जागता रहता है । सब कुछ कर्म करता है, तथापि भीतर से कुछ नहीं करता है ।। ८ ।।

अन्तःसर्वपरित्यागी नित्यमन्तरनेषणः ।
कुर्वन्नपि बहिः कार्यं सममेवाऽवतिष्ठते ॥ ९ ॥
बहिः प्रकृतसर्वेहो यथाप्राप्तक्रियोन्मुखः ।
स्वकर्मक्रमसंप्राप्तबन्धुकार्यानुवृत्तिमान् ॥ १० ॥
समग्रसुखभोगात्मा सर्वाशास्विव संस्थितः ।
करोत्यखिलकर्माणि त्यक्तकर्तृत्वविभ्रमः ॥ ११ ॥
उदासीनवदासीनः प्रकृतः क्रमकर्मसु ।
नाऽभिवाञ्छति न द्वेष्टि न शोचति न हृष्यति ॥ १२ ॥
अनुबन्धपरे जन्तावसंसक्तेन चेतसा ।
भक्ते भक्तसमाचारः शठे शठ इव स्थितः ॥ १३ ॥
बालो बालेषु वृद्धेषु वृद्धो धीरेषु धैर्यवान् ।
युवा यौवनवृत्तेषु दुःखितेष्वनु दुःखितः ॥ १४ ॥

अपने भीतर सम्पूर्ण वस्तुओं का परित्याग करनेवाला तथा सदा भीतर इच्छाओं से रहित तत्त्ववित् ऊपर-ऊपर से उन्मना होकर कार्यों को करता हुआ भी एक-रूप से ही स्थित रहता हैं ॥ ९ ॥

जिसने बाहर से समस्त वस्तुओं की इच्छा की है, जो समयानुसार प्राप्त हुए देह, वर्ण और आश्रमों के उपयोगी कर्मों में तथा पिता, पितामह आदि क्रमपरम्परा से प्राप्त हुए राज्य आदि काम, बन्धुओं के कार्य तथा दान, मान आदि कर्मों में केवल अनुवृत्ति रखने वाला होता है ॥ १० ॥

समस्त सुखभोगों को आत्मस्वरूप समझने वाला अथवा समस्त सुखभोगों का स्वयं ही आत्मस्वरूप है, इसीलिए अज्ञानियों की दृष्टि में भोगकाल में समस्त विषयाभिलाषाओं में अवस्थित तत्त्ववित् समस्त कर्मों को करता है, परन्तु उसने कर्तृत्वाभिमान का परित्याग करके सम्पन्न करता है ॥ ११ ॥

प्रकृत तत्त्वज्ञ उदासीन पुरुष की तरह अवस्थित रहता है। परम्पराक्रम से सम्प्राप्त कर्मों में प्राप्त इष्ट और अनिष्ट फलों को न चाहता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न प्रसन्न होता है ॥ १२ ॥

तत्त्वज्ञ अनुकूल और प्रतिकूल आचरण में तत्पर प्राणी के ऊपर अनासक्त चित्त से, भक्त के विषय में भक्त के आचरण से और शठ के विषय में शठ के सदृश स्थित है ॥ १३ ॥

बालकों में बालक, वृद्धों में वृद्ध, धीरों में धैर्यवान्, यौवनवृत्तिवालों में युवा और दुःखितों में दुःखी-सा रहता है ॥ १४ ॥

प्रवृत्तवाक्पुण्यकथो दैन्याद्व्यपगताशयः ।
धीरधीरुदितानन्दः पेशलः पुण्यकीर्तनः ॥ १५ ॥
प्राज्ञः प्रसन्नमधुरः पूर्णः स्वप्रतिभोदये ।
निरस्तखेददौर्गत्यः सर्वस्मिन् स्निग्धबान्धवः ॥ १६ ॥
उदारचरिताकारः समः सौम्यसुखोदधिः ।
सुस्निग्धः शीतलस्पर्शः पूर्णचन्द्र इवोदितः ॥ १७ ॥
न तस्य सुकृतेनाऽर्थो न भोगैर्न च कर्मभिः ।
न दुष्कृतैर्न भोगानां संत्यागेन न बन्धुभिः ॥ १८ ॥
न कार्यकारणारम्भैर्न निष्कृततया तथा ।
न बन्धेन न मोक्षेण न पातालेन नो दिवा ॥ १९ ॥
यथावस्तु यथादृष्टं जगदेकमयात्मकम् ।
तदा बन्धविमोक्षाणां न क्वचित्कृपणं मनः ॥ २० ॥

तत्त्वज्ञ मुनि अपने मुख से पवित्र कथाओं को ही कहता है, बालक आदि की तरह व्यर्थ भाषण नहीं करता है। उसका अन्तःकरण दीनता से वर्जित रहता है। वह धीर बुद्धिवाला, उदित आनन्द से युक्त तथा दक्ष रहता है और लोक में उसके पुण्य चरित्रों का वर्णन होता है ॥ १५ ॥

प्राज्ञ प्रसन्न और मधुर अपनी प्रतिभा के उदय में पूर्ण, खेदरूपी दुर्गति से रहित तथा समस्त मनुष्यों में स्निग्ध बन्धुभाव रखनेवाला होता है ॥ १६ ॥

तत्त्वज्ञ उदार चरित और उदार आकार से युक्त, सम, सौम्य सुख का समुद्र सुस्निग्ध है, उसका स्पर्श सर्वविध संताप का अपहरण करनेवाला है और वह पूर्णचन्द्र की तरह पूर्ण उदय से समन्वित है ॥ १७ ॥

तत्त्वज्ञ महात्मा को पुण्य कर्मों के अनुष्ठान से और न भोगों से एवं लौकिक कर्मों से कोई प्रयोजन नहीं है और न निषिद्ध कर्मों से, न भोगों के परित्याग से और न बन्धुओं से ही प्रयोजन है ॥ १८ ॥

उसका आवश्यक कार्यों के और ऐहिक और आमुष्मिक जल के हेतु कर्मों के आरम्भ से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है न कर्मों के अभाव से, बन्ध से नहीं मोक्ष से, पाताल से और स्वर्ग से उसको प्रयोजन नहीं है ॥१९॥

तत्त्वज्ञ महानुभाव के द्वारा समस्त जगत् की स्वरूपभूत अद्वितीय आत्म रूप यथार्थ वस्तु का भली प्रकार परिज्ञान कर लेने पर उसका मन सांसारिक सुख और दुःख एवं दुःखकारणों की निवृत्ति-स्वरूप मुक्ति—इन दोनों के बीच में कहीं भी कार्पण्य से युक्त नहीं होता है ॥ २० ॥

सम्यग्ज्ञानाग्निना यस्य दग्धाः सन्देहजालिकाः ।
निःशङ्कमलमुड्डीनः तस्य चित्तविहङ्गमः ॥ २१ ॥

यस्य भ्रान्तिविनिर्मुक्तं मनः समरसं स्थितम् ।
नाऽस्तमेति न चोदेति व्योमवत्सर्वदृष्टिषु ॥ २२ ॥

मञ्जूषायां निषण्णस्य यथा बालस्य चेष्टते ।
अङ्गावल्यनुसन्धानवर्जितं यस्य वै तथा ॥ २३ ॥

घूर्णन् क्षीब इवाऽऽनन्दी मन्दीभूतपुनर्भवः ।
अनुपादेयबुद्धया तु न स्मरत्यकृतं कृतम् ॥ २४ ॥

सर्वं सर्वप्रकारेण गृह्णाति च जहाति च ।
अनुपादेयसर्वार्थो बालवच्च विचेष्टते ॥ २५ ॥

स तिष्ठन्नपि कार्येषु देशकालक्रियाक्रमैः ।
न कार्यसुखदुःखाभ्यां मनागपि हि गृह्यते ॥ २६ ॥

बहिः प्रकृतसर्वार्थोऽप्यन्तः पुनरनीहया ।
न सत्तां योजयत्यर्थे न फलान्यनुधावति ॥ २७ ॥

नोपेक्षते दुःखदशां न सुखाशामपेक्षते ।
कार्योदये नैति मुदं कार्यनाशे न खिद्यते ॥ २८ ॥

अपि शीतरुचावर्के सुतप्तेऽपीन्दुमण्डले ।
अप्यधः प्रसरत्यग्नौ विस्मयोऽस्य न जायते ॥ २९ ॥

चिदात्मन इमा इत्थं प्रस्फुरन्तीह शक्तयः ।
इत्यस्याऽऽश्चर्यजालेषु नाऽभ्युदेति कुतूहलम् ॥ ३० ॥

न दयादैन्यमादत्ते न क्रौर्यमनुधावति ।
न लज्जामनुसन्धत्ते नाऽलज्जत्वं च गच्छति ॥ ३१ ॥

न कदाचन दीनात्मा नोद्धतात्मा कदाचन ।
न प्रमत्तो न खिन्नात्मा नोद्विग्नो न च हर्षवान् ॥ ३२ ॥

सम्यक्-ज्ञानरूपी अग्नि से जिसके सन्देहरूपी जाल के विनष्ट हो जाने पर उस महात्मा का चित्तरूपी पक्षी निःसंशय पर्याप्त रूप से उड़ जाता है, ऐसी स्थिति में तत्त्वज्ञ के मन में कार्पण्य की संभावना ही नहीं है ॥ २१ ॥

अन्तःकरण भ्रान्ति से विनिर्मुक्त होकर ब्रह्म स्वरूप हो जाने पर वह आकाश की तरह सभी दृष्टियों में वह अस्त को नहीं प्राप्त करता है और न उदय को प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

दोलारूपी सुखशय्या में उपविष्ट बालक का अन्तः-करण तत्त्वज्ञ का अन्तःकरण भी किसी प्रकार के बाह्यों के अनुसन्धान से वर्जित होकर वैसे ही चेष्टा करता है जैसे अङ्गों की आवली के अनुसन्धान से वर्जित होकर चेष्टा करता है ॥ २३ ॥

पुनर्जन्म मन्द हो जानेपर आनन्द-सागर में निमग्न तत्त्ववित्, घूर्णमान मद्यप की तरह अनुपादेय बुद्धि से किये गये कर्मों का और अकृत का स्मरण नहीं करता है, क्योंकि अनुपादेय बुद्धि से उसकी नियमतः कृता-कृत की स्मारक क्रियाफलोपादेयता-बुद्धि नष्ट हो गई है ॥ २४ ॥

समस्त अर्थ अनुपादेय हो जानेपर तत्त्ववित् सब प्रकार से समस्त वस्तुओं का ग्रहण भी करता है और परित्याग भी करता है, उसकी चेष्टा बालक के सदृश रहती है ॥ २५ ॥

देश और काल के अनुसार प्राप्त क्रिया-कलापों एवं तत्-तत् कार्यों में स्थित रह कर भी वह कर्मों से जनित सुख और दुःखों से तनिक भी अभिभूत नहीं होता है ॥ २६ ॥

तत्त्वज्ञ ऊपर-ऊपर से समस्त कार्यों को करता है, पर भीतर से किसी प्रकार की इच्छा न रहने के कारण बाह्य अर्थों में सत्यता-बुद्धि से किसी तरह की आस्था नहीं करता और न उससे जनित फलों की अभिलाषी ही करता है ॥ २७ ॥

सन्निहित दुःखावस्था की उपेक्षा भी नहीं करता और न सुखावस्था की अपेक्षा ही करता है। कार्यों के सफल होनेपर न हर्ष करता है और कार्यों के विनष्ट होनेपर खिन्न होता है ॥ २८ ॥

सूर्य शीतकान्ति हो जानेपर चन्द्रमा का मण्डल तपने पर अग्नि की ज्वाला नीचे की ओर होनेपर भी तत्त्वज्ञ को आश्चर्य-बुद्धि नहीं होती ॥ २९ ॥

तत्त्ववित् पुरुष यह जानता है कि परब्रह्म चिदात्मा की असीम ये मायाशक्तियाँ इस प्रकार प्रस्फुरित हो रही हैं, इसलिए सैकड़ों आश्चर्यजनक घटनाओं क होनेपर भी उसको आश्चर्य नहीं होता है ॥ ३० ॥

तत्त्वज्ञ मुनि दया और दीनता का परिग्रह नहीं करता, न क्रूरता का अनुधावन करता है, न लज्जा का और न निर्लज्जता का अनुभव करता है ॥ ३१ ॥

वह कभी-भी दीनतायुक्त स्वरूप वाला और कभी उद्धत स्वरूप वाला नहीं होता। वह कभी प्रमत्त, खिन्ना-त्मा उद्विग्न और हर्षयुक्त नहीं होता है ॥ ३२ ॥

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः ।
न शक्यते चालयितुं देवैरपि सवासवैः ॥ ८४ ॥
परव्यसनिनी नारी केन भर्त्रा बलीयसा ।
विस्मारिता स्वसङ्कल्पकान्तसङ्गमहोत्सवम् ॥ ८५ ॥
जगत्समरसानन्दचिदालोकावलम्बनम् ।
केन विस्मार्यते बुद्धिस्तत्त्वज्ञस्य महात्मनः ॥ ८६ ॥
समग्रसुखदुःखाढ्यं व्यवहारमखण्डितम् ।
कुर्वन् कुलजनायत्तो भर्तृश्वशुरखेदितः ॥ ८७ ॥
यथा सङ्कल्पकान्तेन भवत्यानन्दमन्थरः ।
वधूलोको व्यसनवान् दुःखवृन्दैर्न बाध्यते ॥ ८८ ॥
तथा विगलिताविद्यो व्यवहारपरोऽप्यलम् ।
सम्यग्दृष्टिः सदाचारो मुदमेत्यन्तरात्मना ॥ ८९ ॥
छिद्यते न निकृत्ताङ्गो गलदश्रुर्न रोदिति ।
दह्यते न प्रदग्धोऽपि नष्टोऽपि न विनश्यति ॥ ९० ॥
व्यपगतसुखदुःखसन्निपातो
विधिविधुरेष्वपि सङ्कटेष्वचित्तः ।
विलसतु सदने पुरोत्तमे वा
विततगिरौ विपिने तपोवने वा ॥ ९१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे वैराग्योपदेशो नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः॥ ७४ ॥

इस प्रकार विशुद्ध परब्रह्मतत्त्व में उत्तम विश्रान्ति को प्राप्त कर धीरतत्त्वज्ञ पुरुष इन्द्र के साथ हजारों देवताओं से भी विचलित नहीं किया जा सकता ॥ ८४ ॥

परपुरुष के सङ्ग में व्यसन रखनेवाली अपनी पत्नी को उसके संकल्प में अवस्थित परकान्तसङ्गमरूपी महोत्सव का विस्मरण कराया हो ऐसा कौन बलवान् स्वामी है ॥ ८५ ॥

हे राघव ! सांसारिक विभिन्न विषयानन्दरूपी जो अनेक पुण्यरस हैं, वे सब जिसमें शहद के छत्ते की तरह एकरस हो जाते हैं, ऐसे स्वात्मानन्दचिदालोक के निरन्तर आस्वादनधारा को प्राप्त तत्त्वज्ञ महात्मा की बुद्धि का विस्मरण कौन करा सकता है ? एकबार अर्थात् जिसने ज्ञानामृतरूपी रस का आस्वाद न प्राप्तकर मन समस्त व्यापारों को छोड़कर उसी में अनुधावन करता है ॥ ८६ ॥

समग्र सुख और दुःख से युक्त व्यवहारों को अर्थात् घर के कामों को विधिपूर्वक कर रही पति, सास और ससुर के द्वारा पीड़ित भी कुलजनों के आश्रित वधू, परसङ्ग में आसक्ति रखने पर जिस प्रकार सङ्कल्प-कान्त से आनन्दनिभोर होती है, और दुःखों से पीड़ित नहीं होती है ॥ ८७-८८ ॥

उसी प्रकार जिस महात्मा की अविद्या निवृत्त हो गई है, जिसकी भली प्रकार की तत्त्वबुद्धि है तथा जो सुन्दर आचरणों से युक्त है, ऐसा महात्मा पर्याप्तरूप से व्यवहार में निरत होनेपर भी अपने अन्तरात्मा से प्रसन्नता को प्राप्त करता रहता है ॥ ८९ ॥

सप्तम भूमिका में समारूढ़ योगी छिन्नाङ्ग हो कर भी छेदित नहीं होता है । गिर रहे अश्रुओं से युक्त होता हुआ भी रोता नहीं है, दग्ध होता हुआ भी दग्ध नहीं होता है, विनष्ट देह होता हुआ भी नष्ट नहीं होता है ॥ ९० ॥

मन के विनाशपर्यन्त भूमिका में सुप्रतिष्ठित पुरुष धौरेय तत्त्वज्ञ पूर्वकालिक प्रारब्धफलरूपी कर्म से विधुर भोगशून्य दरिद्र-अवस्था में या माण्डव्य की तरह शूलाधिरोहणरूपी संकटावस्थाओं में या उत्तमनगरस्थ सदन में या भयङ्कर अटवी में या तपोवन में भले ही रहे, तथापि वह सदा-सर्वदा सुखदुःख के संनिपात से दूर ही रहता है, तनिक भी सांसारिक हर्ष, शोक के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता है ॥ ९१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में उद्दालकविचारविलास नामक कुसुमलता का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

७५

वसिष्ठ उवाच

जनकः संस्थितो राज्ये व्यवहारपरोऽपि सन् । विगतज्वर एवान्तरनाकुलमतिः सदा ॥ १ ॥

७५

महाराज वसिष्ठ ने कहा—अपने राज्य में समयोचित व्यवहार में तत्पर राजा जनक अखिल मानसिक चिन्तारूपी ज्वर से रहित तथा भीतर आकुलमति से शून्य होकर ही सदा अवस्थित थे ॥ १ ॥

पितामहो दिलीपस्ते सर्वारम्भपरोऽप्यलम् ।
वीतरागतयैवाऽन्तर्बुभुजे मेदिनीं चिरम् ॥ २ ॥
निरञ्जनतया बुद्धो जनतां पालयंश्चिरम् ।
जीवन्मुक्ताकृतिर्नित्यं मनू राज्यमपालयत् ॥ ३ ॥
विचित्रबलयुद्धेषु व्यवहारेषु भूरिषु ।
मान्धाता सुचिरं तिष्ठन् प्राप्तवान् वै परं पदम् ॥ ४ ॥
बलिः पातालपीठस्थः कुर्वन् सदिव संस्थितिम् ।
सदा त्यागी सदाऽसक्तो जीवन्मुक्त इति स्थितः ॥ ५ ॥
नमुचिर्दानवाधीशो देवद्वन्द्वपरः सदा ।
नानाचारविचारेषु क्वचिन्नाऽन्तरतप्यत ॥ ६ ॥
वासवाजौ तनुत्यागी वृत्रो विततमानसः ।
अन्तःशान्तमना मानी चकार सुरसङ्गरम् ॥ ७ ॥
कुर्वन् दानवकार्याणि पातालतलपालकः ।

आप के पितामह महाराज दिलीप ने अनेक तरह के उचित सांसारिक कर्मों में सर्वदा निरत होने पर भी भीतर आसक्ति से वर्जित होकर ही दीर्घकाल तक पृथ्वी का उपभोग किया ॥ २ ॥

राग आदि की कालिमा से रहित आत्मज्ञान को प्राप्त महाराज मनु ने चिरकाल तक प्रजाओं का पालन करते हुए सर्वदा जीवन्मुक्तस्वरूप होकर राज्य का संरक्षण किया ॥ ३ ॥

विचित्र सैन्य तथा बाहुबल का उपयोग होने वाले युद्धों में तथा अनेक व्यवहारों में दीर्घकाल तक स्थित रहे महाराज मान्धाता ने आखिर परम पद को प्राप्त किया ॥ ४ ॥

पाताल की पीठ पर आसीन होकर बलिराज यथार्थ व्यवहार को करते हुए भी सदा त्यागी, सदा असक्त और जीवन्मुक्तरूप से स्थित रहे। 'दिवसस्थितिम्' यदि पाठ हो तो 'पाताल में निवास करने के लिए भगवान् के द्वारा नियमित दिवसों का परिपालन करते हुए महाराज बलि जीवन्मुक्त होकर अवस्थित हैं' यह अर्थ है ॥ ५ ॥

दानवों का अधिपति नमुचि सदा देवताओं के साथ युद्ध या मर्यादाव्यतिक्रम में तथा अनेकविध देव और दानवों के आचरण एवं विचार-विमर्शों में तत्पर हो कर भी भीतर से सन्तप्त (खिन्न) नहीं होता था ॥ ६ ॥

इन्द्र के युद्ध में अपने शरीर का परित्याग करनेवाले अभिमानी वृत्रासुर ने, अत्यन्त उदार अन्तःकरण वाला भीतर प्रशान्तमन होकर ही देवताओं के साथ युद्ध किया ॥ ७ ॥

अनपायं निराक्रोशं प्रह्लादो ह्लादमागतः ॥ ८ ॥
शम्बरैकपरोऽप्यन्तःशम्बरैकतयोदितः ।
संसारशम्बरं राम ! शम्बरस्त्यक्तवानिदम् ॥ ९ ॥
असक्तबुद्धिर्हरिणा कुर्वन् दानवसङ्गरम् ।
परां संविदमासाद्य कुशलस्त्यक्तवानिदम् ॥ १० ॥
सर्वामरमुखो वह्निः क्रियाजालपरो ह्यपि ।
यज्ञलक्ष्मीश्चिरं भुङ्क्ते मुक्त एवेह तिष्ठति ॥ ११ ॥
पीयमानः सुरैः सर्वैः सोमः समरसाशयः ।
क्वचिदेति न संसङ्गमाक्रान्तावम्बरं यथा ॥ १२ ॥
बृहस्पतिर्देवगुरुर्दारार्थं चन्द्रयोध्यपि ।
आचरन् दिवि चित्रेहां मुक्त एव ह्यवस्थितः ॥ १३ ॥
शुक्रोऽम्बरतलद्योती बुधः सर्वार्थपालकः ।
निर्विकारमतिः कालं नयत्यसुरदेशिकः ॥ १४ ॥

पातालतल का परिपालन करनेवाले दानवोचित कर्मों का अनुष्ठान करते हुए भक्तप्रवर प्रह्लाद ने अविनाशी, वाणी के अगोचर परम सुख को किया था ॥ ८ ॥

हे श्रीरामजी ! केवल काया में ही निरत हृदयस्थ चिदाकाश की एकरूपता से आविर्भूत शम्बरासुर ने इस संसाररूपी माया का परित्याग कर दिया था ॥ ९ ॥

दानवों की कार्यसिद्धि के लिए भगवान् नारायण के साथ युद्ध में तत्पर कुशल शम्बरासुर ने या कुशल नाम के एक अन्य दानव ने परम तत्त्वज्ञान को प्राप्तकर इस संसार का परित्याग कर दिया ॥ १० ॥

समस्त देवताओं का मुखस्वरूप अग्नि क्रियायों में तत्पर होकर भी यज्ञीय लक्ष्मी का चिरकालतक उपभोग करता है, और मुक्त होकर ही इस त्रिभुवन में रहता है ॥ ११ ॥

समस्त देवताओं के द्वारा पीयमान सोम, जिसके भीतर ब्रह्मात्मक रसायन विद्यमान है, सुख, दुःख आदि के संसर्ग को वैसे ही प्राप्त नहीं करता है जैसे पैरों से आक्रमण करने पर आकाश सम्बन्ध को प्राप्त नहीं करता है ॥१२॥

पत्नी के लिए चन्द्रमा के साथ युद्ध करने वाले देवताओं के गुरु बृहस्पति स्वर्गलोक में देवताओं के पौरोहित्याधिकार की विचित्र चेष्टाओं को करते हुए भी मुक्त होकर यहाँ अवस्थित है ॥ १३ ॥

आकाशतल में देदीप्यमान विद्वान् तथा नीतिशास्त्र की रचना के द्वारा समस्त अभिमत अर्थों का परिपालन करने वाले असुरदेशिक शुक्राचार्य निर्विकारबुद्धि होकर ही काल व्यतीत करते हैं ॥ १४ ॥

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ! ।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

कदा कीदृक्कया युक्त्या प्राणापाननिबन्धया ।
योगनाम्न्या मनः शान्तिमेत्यनन्तसुखप्रदाम् ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

देहेऽस्मिन् देहनाडीषु वातः स्फुरति योऽभितः ।
स्पन्देष्विव भुवो वारि स प्राण इति कीर्तितः ॥ १० ॥
तस्य स्पन्दवशादन्तः क्रियावैचित्र्यमीयुषः ।
अपानादीनि नामानि कल्पितानि कृतात्मभिः ॥ ११ ॥

उभय निवृत्ति से ही चित्त प्रस्पन्दित नहीं होता, मन का अस्तित्व रहते उसमें से स्पन्द का निवारण नहीं किया जा सकता, यह भी सिद्ध होता है। इस श्लोक में 'गुणो गुणी' ऐसा पाठ युक्त है ॥ ७ ॥

हे राघव ! चित्त के विनाश के लिए कहे एक योग और दूसरा ज्ञान कहा गया है। चित्तवृत्ति का निरोध योग है और आत्मा का सम्यक् अपरोक्ष साक्षात्कार ज्ञान है ॥८॥

श्री रामजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! किस समय और कैसी प्राण और अपान के निरोधरूप योगनाम की युक्ति से मन असीम सुख को देने वाली शान्ति को प्राप्त करता है ॥९॥

इस सर्ग की समाप्तिपर्यन्त इसी प्रश्न के उत्तर का वर्णन करने वाले महाराज वसिष्ठ चित्तस्पन्द, प्राण-स्पन्दन के अधीन है, यह बतलाने के लिए पहले प्राण के स्वरूप को कहते हैं—'देहेऽस्मिन्' इत्यादि से।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी, जैसे जलस्पन्द-मार्गभूत पृथ्वी के विवरों में जल चारों ओर व्याप्त होकर प्रस्फुरित होता है, वैसे ही इस देह में विद्यमान हजारों नाडियों में चारों ओर जो वायु प्रस्फुरित होता है, वह प्राणवायु है ॥ १० ॥

यदि शङ्का हो कि प्राणवायु तो बाहर ही जाता है, हृदय में तो अन्य अपान आदि वायु संचरण करते हैं ? तो इस पर कहते हैं—'तस्य' इत्यादि से।

हे श्रीरामजी, स्पन्दनवश भीतर क्रिया के वैचित्र्य को प्राप्त हुए उसी प्राणवायु के अपान आदि नामों की विद्वानों ने कल्पना की है, अतः अपान आदि प्राण के ही वृत्तिभेद हैं, उससे अन्य नहीं हैं, यह भाव है ॥ ११ ॥

जैसे आमोद का (सौगन्ध्य का) पुष्प तथा जैसे शुक्लत्व का हिम आश्रय है, वैसे ही चित्त का यह प्राण, जो चित्त के साथ अभिन्नता को प्राप्त हुआ है, आशय है

आमोदस्य यथा पुष्पं शौक्ल्यस्य तुहिनं यथा ।
तथैष रस आधारश्चित्तस्याऽभिन्नतां गतः ॥ १२ ॥
अन्तःप्राणपरिस्पन्दात् सङ्कल्पकलनोन्मुखी ।
संवित् सञ्जायते यैषा तच्चित्तं विद्धि राघव ! ॥ १३ ॥
प्राणस्पन्दाच्चितः स्पन्दस्तत्स्पन्दादेव संविदः ।
चक्रावर्तविधायिन्यो जलस्पन्दादिवोर्मयः ॥ १४ ॥
चित्तं प्राणपरिस्पन्दमाहुरागमभूषणाः ।
तस्मिन् संरोधिते नूनमुपशान्तं भवेन्मनः ॥ १५ ॥
मनःस्पन्दोपशान्त्याऽयं संसारः प्रविलीयते ।
सूर्यालोकपरिस्पन्दशान्तौ व्यवहृतिर्यथा ॥ १६ ॥

[वारिदृष्टान्त की उपपत्ति के लिए 'रस' यह विशेषण दिया गया है। श्रुति भी कहती है—'आपोमयः प्राणः', -एत-मेवाङ्गिरसं मन्यते प्राणो वा अङ्गानां रसः' (प्राण जलमय है और प्राण को ही अङ्गिरस मानते हैं, क्योंकि वह [प्राण] अङ्गों का रस है)। कोश की नाईं चारों ओर संश्लिष्ट होने से चित्त के साथ मानो अभिन्नता को प्राप्त हुआ प्राण चित्त का आश्रय होता है। श्रुति भी कहती है—'प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः' (हे सौम्य, मन प्राण के अधीन है) ॥ १२ ॥

इसीलिए प्राणस्पन्द चित्तस्पन्द का हेतु है, ऐसा कहते हैं—'अन्तः' इत्यादि से।

हे श्रीरामजी, भीतर प्राण के परिस्पन्दन से सङ्कल्प के (वृत्तिमात्र के) आकलन में उन्मुख जो संवित् उत्पन्न होती है, वही चित्त कहलाती है, यह आप जानिये ॥१३॥

प्राण के स्पन्दन से चित्त का स्पन्दन होता है यानी चिदाभास से व्याप्त वृत्ति-विशेष उत्पन्न होता है और चित्त के स्पन्दन से ही संवित् यानी तत्-तत् विषयाकरप्रथन उस प्रकार उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार जल के स्पन्दन से चक्र की तरह वर्तुल आकार की रचना करने वाली ऊर्मियाँ उत्पन्न होती हैं ॥ १४ ॥

चित्त का परिस्पन्द प्राणपरिस्पन्द के अधीन है, यह बात बड़े-बड़े महर्षि, जो 'प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः' इत्यादि वेदों का रहस्य जानते हैं, कहते हैं। अतः प्राण का निरोध करने पर मन अवश्य उपशान्त यानी निरुद्ध हो जाता है ॥ १५ ॥

भले ही ऐसा हो, उससे प्रकृत में क्या हुआ, इसपर कहते हैं—'मनः०' इत्यादि से।

मन के स्पन्दन की विश्रान्ति हो जाने पर यह संसार उस प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य के

श्रीराम उवाच

अनिशं चरतां देहगेहे गगनगामिनाम् ।
प्राणादीनां परिस्पन्दो वायूनां रोध्यते कथम् ॥ १७ ॥

वसिष्ठ उवाच

शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासयोगतः ।
अनास्थायां कृतास्थायां पूर्वसंसारवृत्तिषु ॥ १८ ॥
यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात् ।
एकतत्त्वघनाभ्यासात् प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥ १९ ॥
पूरकादिनिजायामाद् दृढाभ्यासादखेदजात् ।
एकान्तध्यानसंयोगात् प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥ २० ॥
ओंकारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात् ।
सुषुप्ते संविदो जाते प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥ २१ ॥
रेचके नूनमभ्यस्ते प्राणे स्फारे खमागते ।
न स्पृशत्यङ्गरन्ध्राणि प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥ २२ ॥
पूरके नूनमभ्यस्ते पूराद्गिरिघनस्थिते ।
प्राणे प्रशान्तसञ्चारे प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥ २३ ॥

प्रकाशरूप स्पन्दन की विश्रान्ति हो जाने पर व्यवहार विलीन हो जाता है ॥ १६ ॥

श्रीरामजी ने कहा—महाराज, देहरूपी अपने घर में स्थित हृदयादि स्थानों में विद्यमान ७२ हजार नाड़ी रूपी छिद्रों में निरन्तर संचरण कर रहे तथा मुख, नासिका आदि छिद्ररूपी बाह्य आकाशों में निरन्तर गमनशील प्राण आदि वायुओं का परिस्पन्दन कैसे रोका जा सकता है ? ॥ १७ ॥

प्राणवायु की चंचलता के निरोध में निरालम्बन और सालम्बन आदि राजयोग रूपी उपायों का उपदेश देने के लिए महाराज वसिष्ठ उपक्रम करते हैं—'शास्त्र' इत्यादि से ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—भद्र श्रीरामजी अध्यात्म-शास्त्र का उपदेश, ब्रह्मवित् पुरुषों का संसर्ग, विषयों में अनास्थारूपी वैराग्य तथा समाधि के प्रयोजक यम, नियम आदि नियमों के अभ्यास—इन उपायों से हृदय में पूर्वाभ्यस्त सांसारिक व्यवहारों में अत्यन्त अनादररूपी अनास्था के दृढ़ हो जाने पर [निम्न श्लोकोक्त मार्ग से प्राण का परिस्पन्द निरुद्ध हो जाता है] ॥ १८ ॥

सबसे पहले स्थूल शिखर में, चन्द्रबिम्ब में, मणि, देवता की मूर्ति आदि स्थलों में अथवा जहाँ कहीं भी मन रमण करता हो, वहींपर चित्त का निरोध करने के लिए अभ्यास करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'यथाभि०' इत्यादि से ।

चिरकालपर्यन्त एकाग्ररूप से (एक-प्रकार-स्वरूप से) उत्पन्न यानी एकाग्र रूप परिणाम को प्राप्तकर उदित हुए अभिवाञ्छित ध्यान से (जहाँ कहीं भी सरसवाहिनी इच्छा हुई, उसी पदार्थ के ध्यान से) जो एक वस्तु के स्वरूप का निरन्तर पुनः-पुनः अनुसन्धान होता है, उसी अनुसन्धान से प्राण का स्पन्दन (प्राणवायु का चाञ्चल्य) निरुद्ध हो जाता है ॥ १९ ॥

अथवा पूरक, कुम्भक और रेचक के क्रम से प्राण-वायु का निरोध करके दुर्दान्त मन का निरोध करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'पूरकादि०' इत्यादि से ।

दृढ़तापूर्वक पुनः-पुनः परिशीलनरूप अभ्यासलक्षण हेतु से प्रयास के बिना अनायास उत्पन्न हुए कुम्भक की सिद्धि-पर्यन्त पूरक आदि के द्वारा किये गये अपने प्राण के नियमन से होने वाले एकान्त ध्यान योग से (नित्यानित्य वस्तु का यथार्थ रूप से विवेक कर नित्य अद्वितीय वस्तु में प्रवर्तित ध्यानयोग से) प्राणवायु की समग्र चंचलता निरुद्ध हो जाती है ॥ २० ॥

उच्चस्वर से प्रणव का उच्चारण होने पर प्रान्त में (अन्त में) जो शेष तुर्यमात्रारूप शब्दतत्त्व अनुभूत होता है, उसका अनुसन्धान करने से बाह्य विषयों के विज्ञान का (बहिर्मुख चित्तवृत्ति का) जब आत्यन्तिक उपराम हो जाता है, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है ॥ २१ ॥

अब रेचक और पूरक—इन दो में से किसी एक के द्वारा श्वास और प्रश्वास का जब शिथिलीकरण हो जाता है तब दीर्घकाल तक तथा अभिवर्धनसहित ध्यान का अभ्यास होता है, इससे भी प्राणस्पन्दन का निरोध होता है, यह कहते हैं—'रेचके' इत्यादि दो श्लोकों से ।

रेचक का दृढ़ अभ्यास करने पर विच्छिन्न मेघों की आकाश रूपता की नाईं, विपुलीभूत प्राणवायु की शून्य-रूपता हो जाती है और उससे जब नासिका के छिद्रों की प्राणवायु का स्पर्श नहीं होता, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है ॥ २२ ॥

पूरक का दृढ़ अभ्यास होने पर, पर्वत पर मेघों की तरह शरीर के अभ्यन्तर विद्यमान हजारों नाडियों के भीतर प्राणवायु धीरे-धीरे बढ़ता जाता है, और वह सर्वत्र व्याप्त होकर निश्चल होने तक प्राण संचरण शान्त हो जाने पर प्राणस्पन्दन रुक जाता हैं ॥ २३ ॥

कुम्भके कुम्भवत्कालमनन्तं परितिष्ठति ।
अभ्यासात् स्तम्भिते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥२४॥

पूर्ति के अनन्तर पूर्ण कुम्भ की तरह कुम्भ के अनन्त काल तक स्थित होने पर और अभ्यास से प्राण का निश्चल स्तम्भ न हो जाने पर प्राणवायु के स्पन्दन का निरोध हो जाता है। इस विषय में अच्युत माला के अनुवाद से योगसूत्र के अनुसार इस प्रकार कहा गया है रेचक पूरक और कुम्भक—इन त्रिविध प्राणायामों के विषय में पतञ्जलिनिर्मित योगशास्त्र में विस्तार से वर्णन किया गया है—'तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:' (आसन के ऊपर विजय पा जाने पर श्वास-बाह्य वायु का आयमन—भीतर प्रवेश—,प्रश्वास-कौष्ठच वायु का नि:सारण—इन दोनों की गति का विच्छेद ही प्राणायाम है, यानी श्वास और प्रश्वास दोनों का अभाव ही प्राणायाम है, उसे करना चाहिए)। इस प्राणायाम के अवान्तर भेद भी हैं—'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभि: परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म:'। जहाँ प्रश्वासपूर्वक गतिनिरोध होता है, वह बाह्य है यानी बाह्यवृत्ति रेचक है। जहाँ श्वासपूर्वक गतिनिरोध होता है, वह आभ्यान्तर है यानि आभ्यान्तरवृत्ति पूरक है। जहाँ पर श्वास और प्रश्वास दोनों का अभ्यासनिरपेक्ष एकबार के प्रयत्न से गतिनिरोध होता है, वह स्तम्भवृत्ति है यानी कुम्भक है। इस कुम्भक में जैसे तप्त पत्थर के ऊपर प्रक्षिप्त जल चारों ओर से संकुचित हो जाता है, वैसे ही श्वास, प्रश्वास दोनों की भी गति एकसाथ निरुद्ध होकर स्तम्भित हो जाती है। ये तीनों प्राणायाम देशपरिदृष्ट हैं यानी इनका बाहर तूललव के स्पन्दन आदि से और आभ्यन्तर नाभि आदि के स्पन्दन आदि से इतना देश विषय होता है, ऐसा निर्धारण किया गया है। काल से परिदृष्ट हैं—यानी क्षणों की इयत्ता के अवधारण से परिच्छिन्न हैं। संख्याओं से परिदृष्टि है यानी इतनी संख्या वाले श्वास-प्रश्वास कालों तक पहला प्राणायाम, दूसरा प्राणायाम और तीसरा प्राणायाम, यों उद्‌बोधित है। इसी प्रकार मृदु, इसी प्रकार मध्य और इसी प्रकार तीव्र हैं। यह प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म है यानी दीर्घता और सूक्ष्मता युक्त प्राणों से दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है। 'अभ्यासात् स्तम्भिते प्राणे' इस वाक्य से यह सूचित किया कि रेचकादि तीन प्रकारों से पृथक् चतुर्थ भी एक प्राणायाम का प्रकार है। यह चतुर्थ प्रकार महर्षि पतञ्जलि ने यों बतलाया है—'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थ:'। पूर्वोक्त रेचक, पूरक के ऊपर विजय पा जाने से उनका आक्षेप करने वाला यानी उन दोनों का अतिक्रमण कर स्वयं ही वर्तमान प्राणगत्यभावरूप चतुर्थ प्राणायाम है। प्राणायाम की प्रतिष्ठा का फल भी कहा गया है—'तत: क्षीयते प्रकाशावरणम्', 'धारणासु च योग्यता मनस:' (प्राणायाम के अभ्यास से योगियों का विवेकज्ञान को आवृत करने वाला कर्म क्षीण हो जाता है, प्राणायाम के अभ्यास से धारणा में मन की योग्यता होती है)। इन सूत्रों के भाष्य में लिखा है–'तपो न परमं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य' (प्राणायाम से बढ़कर तप नहीं है, प्राणायाम से मल शुद्ध हो जाते हैं और ज्ञान की दीप्ति होती है) ॥ २४ ॥

तालुमूलगतां यत्नात् जिह्वयाऽऽक्रम्य घण्टिकाम् ।
ऊर्ध्वरन्ध्रगते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ २५ ॥

अच्युतमाला के अनुवाद के अनुसार इसकी व्याख्या इस प्रकार है— जिह्वामूल के ऊपरी हिस्में में विद्यमान मुखान्तर्गत दो भागों के तालु कहते हैं। उन दो तालुओं के मध्य भाग में रहने वाली घंटिका को (मुख बाने पर जिह्वा के मूल भाग में स्तन की तरह लटकती हुई दृश्यमान इन्द्र योनि को) प्रयत्न विशेष के द्वारा वर्धनाभ्यास आदि यत्नों से भीतर प्राण के संचारण मार्गभूत मूर्धरन्ध्र प्रवेशित जिह्वा से नीचे की ओर करने से जब प्राण ऊर्ध्वरन्ध्र में (ब्रह्मरन्ध्र में अर्थात् कपाल कुहर में जो सुषुम्ना के ऊपरी भाग का द्वार कहा जाता है) प्रविष्ट हो जाता है, तब प्राणवायु की चंचलता निरुद्ध हो जाती है। इस श्लोक से लम्बिका योग समुच्चित नभोधारणा का सूचन किया गया है। इसका प्रकार विशेष भगवान् स्कन्द ने इन शब्दों से प्रकाशत किया है—'रसना' तालु विवरे निधायोर्ध्वमुखोऽमृतम्। धयन्निर्जरतां' गच्छेदाषणमासान्न संशय: ॥', ऊर्ध्वजिह्व: स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति य:। मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥' आकाशं च मरीचिवारिसदृशं यद्‌ब्रह्मरन्ध्रस्थितं यन्नाथेन सदाशिवेन सहितं शान्तं हकराक्षरम्। प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेदेषा मोक्षकवाटपाटनपटु: प्रोक्ता नभोधारणा ॥' (तालुछिद्र में जिह्वा को धारण कर ऊर्ध्व मुख योगी अमृत पी रहा छ: महीने के भीतर युवा बन जाता है। जिह्वा को ऊँची करके स्थिर होकर जो सोमपान करता है, वह आधे ही मास में मृत्यु के

समस्तकलनोन्मुक्ते न किञ्चिन्नाम सूक्ष्मखे ।
ध्यानात् संविदि लीनायां प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥२६॥
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलाम्बरे ।
संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥२७॥
अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण तालूर्ध्वं द्वादशान्तगे ।
प्राणे गलितसंवृत्ते प्राणस्पन्दो निरुद्धचते ॥ २८ ॥
भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते ।
चेतने केतने बुद्धे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ २९ ॥
झटित्येव यदुद्भूतं ज्ञानं तस्मिन् दृढाश्रिते ।
असंश्लिष्टविकल्पांशे प्राणस्पन्दो निरुद्धचते ॥ ३० ॥
चिरं कालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने ! ।
अवासनान्मनोध्यानात् प्राणस्पन्दो निरुद्धचते ॥ ३१ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन् ! जगति भूतानां हृदयं तत्किमुच्यते ।
इदं सर्वं महादर्शे यस्मिंस्तत्प्रतिबिम्बति ॥ ३२ ॥

वसिष्ठ उवाच

साधो ! जगति भूतानां हृदयं द्विविधं स्मृतम् ।
उपादेयं च हेयं च विभागोऽयं तयोः शृणु ॥ ३३ ॥

ऊपर विजय पा जाता है, इसमें संशय नहीं करना चाहिए। मरीचिवारि के सदृश, ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित, शान्त, हकार अक्षर वाला स्वामी रुदाशिव से समन्वित जो आकाश है, उसमें पाँच घटीपर्यन्त प्राण का विलय कर चित्त को धारण करे, तो वह मोक्ष द्वार को खोलने में समर्थ नाभोधारणा कही जाती है।) मुख को फैलाने पर गले के अन्दर लटक रही माँस का टुकड़ा रूप जो घण्टी है, उसे इन्द्र योनि कहते हैं, इसमें श्रुति प्रमाण है—'अन्तरेण तालु के य एष स्तन इवालम्बते सेन्द्रयोनिः' (तालुओं के बीच में जो स्तन की नाई लटकती है, वह इन्द्रयोनि है) इसी से लम्बिका योग की भी सूचना होती है—जो खेचरी' शब्द से भी कही जाती है। कहा भी है—'कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा। भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥' (तालु के बीच में कपालकुहर नाम की एक गुफा है, उसी में जीभ को विपरीत भाव से पहुँचा कर भ्रूयुगल के मध्य में अवलोकन करने से खेचरी मुद्रा होती है) इत्यादि योगशास्त्र में सविस्तर निरूपित है, यह लघुयोगवासिष्ठ की टीका के कर्ता का मत है॥ २५॥

समस्त विकारों से रहित किसी भी नाम से शून्य हृदयाकाश में बाह्य और आन्तर संवेदनवृत्ति मात्र के निर्विकल्पक समाधि से विलीन हो जाने पर प्राणवायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है॥ २६॥

नासिका के अग्रभाग में बारह अंगुल तक = नासिका के अग्रभाग से लेकर बारह अंगुल परिमित निर्मल आकाश भाग में नेत्रों की लक्ष्यभूत वृत्तिज्ञान के विलीन हो जाने पर प्राण का स्पन्दन विरुद्ध हो जाता है॥ २७॥

अभ्यास से = योगशास्त्रों में प्रदर्शित पवननिरोध के अभ्यास से ऊर्ध्वरन्ध्र के द्वारा (सुषुम्नामार्ग से) तालु ऊपर जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसमें स्थित प्राणवायु जब गलितप्राय हो जाता है, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है 'तालूर्ध्वद्वादशान्तगे' इस प्रकार के लघुयोगवासिष्ठकार के पाठ के अनुसार उक्त रीत्या प्राणवायु के तालु (विशुद्ध नाम का षोडशार चक्र)—इसमें से किसी भी एक में चले जाने पर जब बहिर्मुख संवित् गलित हो जाती है, प्राणवायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है, यह अर्थ है]॥ २८॥

चिरकाल तक निरोध करने पर चक्षु की कनीनिकाओं के आलोक का चक्षुरिन्द्रिय का उपराम हो जाने से तथा कपालकुहर में प्रवेश करने से जिह्वा के अग्र भाग के और प्राण के द्वादशान्त में प्राप्त हो जाने पर जब संकेतात्मक भ्रूमध्य अविमुक्त स्थानात्मक चिन्मात्र स्वरूप परमेश्वर का आत्म-स्वरूप से ज्ञान हो जाता है तब प्राण का स्पन्दन रुक जाता है॥ २९॥

विशेष अनुग्रह से झटिति उत्पन्न आत्मज्ञान के दृढ़ीभूत तथा समस्त विकल्पांशों से विनिर्मुक्त हो जाने पर प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है॥ ३०॥

हे मननतत्पर! हृदय में चिरकाल पर्यन्त दहराकाश की नियत भावना से जनित विषयवासनावर्जित चित्त से होने वाले ध्यान से प्राण का स्पन्दन विरुद्ध हो जाता है॥ ३१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन्! इस जगत् में प्राणियों का वह हृदय क्या है? महादर्श स्वरूप जिसमें यह सब, दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह स्फुरित होता है। हृदय शब्द का तीन जगह प्रयोग होता है—एक तो पुण्डरीकाकार मांसखण्ड में, दूसरा मन में और तीसरा परमात्मा में। इन विभिन्न स्थानों में प्रयोग होने के कारण सन्देह के कारण आत्मा का प्रश्न उचित ही है॥ ३२॥

वासिष्ठ जी ने कहा—हे साधो! इस जगत् में प्राणियों के दो प्रकार के हृदय हैं—एक उपादेय और दूसरा हेय। अब आप इनका विभाग सुनें। मांसखण्ड

इयत्तया परिच्छिन्ने देहे यद्वक्षसोऽन्तरम् ।
हेयं तद्हृदयं विद्धि तनावेकतटे स्थितम् ॥ ३४ ॥
संविन्मात्रं तु हृदयमुपादेयं स्थितं स्मृतम् ।
तदन्तरे च बाह्ये च न च बाह्ये न चाऽऽन्तरे ॥ ३५ ॥
तत्तु प्रधानं हृदयं तत्रेदं समवस्थितम् ।
तदादर्शः पदार्थानां तत्कोशः सर्वसम्पदाम् ॥ ३६ ॥
सर्वेषामेव जन्तूनां संविद्धृदयमुच्यते ।
न देहावयवैकांशो जडजीर्णोपलोपमः ॥ ३७ ॥
तस्मात् संविन्मये शुद्धे हृदये हृतवासनः ।
बलान्नियोजिते चित्ते प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३८ ॥
एभिः क्रमैस्तथाऽन्यैश्च नानासङ्कल्पकल्पितैः ।

रूप हृदय और मनरूप हृदय परिच्छिन्न होने के कारण उन दोनों को एक मानकर दो विभाग यहाँ बतलाए हैं ॥ ३३ ॥

इयत्तारूप से परिच्छिन्न इस शरीर में वक्षःस्थल के भीतर शरीर के एकदेश में अवस्थित हृदय का आप हेय हृदय जाने ॥ ३४ ॥

संवित्-मात्रस्वरूप से अब स्थित हृदय तो उपादेय कहा गया है। वह आत्मा सबके भीतर और बाह्य है और भीतर एवं बाह्य नहीं भी है ॥ ३५ ॥

वह उपादेय हृदय प्रधान हृदय है, उसीमें यह समस्त जगत् विद्यमान है, वही समस्त पदार्थों का आदर्श है और वही सम्पूर्ण संपत्तियों का कोष है ॥ ३६ ॥

संवित् ही सभी प्राणियों का हृदय है, जड़ और जीर्ण पत्थर के सदृश देह के अवयव का एक अंश हृदय नहीं कहा जाता है ॥ ३७ ॥

अतः संवित्-स्वरूप विशुद्ध हृदय में वासनाओं से रहित होकर बलपूर्वक चित्त को लगाने से प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ॥ ३८ ॥

इन उपायों से तथा सम्प्रदायक्रम से चले आ रहे अन्या आचार्यों के मुख से उपदिष्ट नाना सङ्कल्पों से कल्पित उपायों से प्राणस्पन्द निरुद्ध हो जाता है ॥ ३९ ॥

अभ्यास के द्वारा ही भव्यमति के लिए संसार का उच्छेदन करने में वे योगयुक्तियाँ निराबाध उपाय हो सकती हैं, हठात् निरोध करने पर तो रोग आदि की संभावना है ॥ ४० ॥

वैराग्य रूपी लाञ्छन से चतुर्दिक लाञ्छित अर्थात् संसारासक्ति से रहित तथा अभ्यास से दृढ़ता को प्राप्त

नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३९ ॥
अभ्यासेन निराबाधमेतास्ता योगयुक्तयः ।
उपायतामुपायान्ति भव्यस्य भवभेदने ॥ ४० ॥
अभ्यासाद् दृढतां यातो वैराग्य परिलाञ्छितः ।
यथावासनमायामः प्राणानां सफलः स्मृतः ॥ ४१ ॥
भ्रूनासातालुसंस्थासु द्वादशाङ्गुलिकोटिषु ।
अभ्यासाच्छाम्यति प्राणो दूरे गिरिनदी यथा ॥ ४२ ॥
भूयो भूयश्चिराभ्यासाज्जिह्वाप्रान्तेन तालुनि ।
घण्टिका स्पृश्यते प्राणो येनोच्चैर्निवहत्यलम् ॥ ४३ ॥
विकल्पबहुलास्त्वेते स्वाभ्यासेन समाधयः ।
परमोपशमायाऽऽशु संप्रयान्त्यविकल्पताम् ॥ ४४ ॥

प्राणायाम वासना के अनुसार सफल होता है। जिस समय जैसी वासनाएँ होती हैं, उस समय उन वासनाओं का निरोध कर सफल होता है या मुमुक्षा की वासना होने पर मोक्ष रूप फल से और भोग की वासना होने पर तत्-तत् विचित्र फल भोग सिद्धि रूप फल से सफल होता है ॥ ४१ ॥

भ्रू, नासिका, तालु संस्थान तथा कण्ठाग्र प्रदेश से लेकर बारह अंगुलि परिमित प्रदेश में अभ्यासवश से वैसे ही प्राण लीन हो जाता है जैसे पर्वत का झरना दूर जाकर वहीं पर लीन हो जाता है, पतञ्जलि ने कहा भी है—'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्', कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः' 'कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्, 'मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्' (नाभिचक्र में प्राण का संयम करने से कायव्यूह का—कायस्थ वातादि पदार्थ का—परिज्ञान होता है, कण्ठ के नीचे कूपप्रदेश में प्राण के संयमन से क्षुधा और पिपासा की निवृत्ति हो जाती है, कूप के नीचे वक्षःस्थल में कूर्माकार नाडी होती है, उस कूर्मनाडी में प्राण का संयम करने से स्थिर पद प्राप्त हो जाता है, कपालमध्य प्रभास्वर मूर्धज्योति में संयम करने से स्वर्ग और पृथ्वी के अन्तरालवर्ती सिद्धों का दर्शन होता है) ॥ ४२ ॥

पुनः-पुनः चिरकाल के अभ्यास से जिह्वाप्रान्त के द्वारा घण्टिका आक्रान्त हो जानेपर उससे प्राण अधिक गति नहीं कर सकता है ॥ ४३ ॥

इन समाधियों का विकल्प प्रचुर हैं, तथापि निष्काम पुरुष के प्रति अपने अभ्यास के कारण परम विश्रान्ति के लिए झटिति विकल्पाभावरूप को प्राप्त हो जाती हैं ॥ ४४ ॥

आत्मारामो वीतशोको भवत्यन्तःसुखः पुमान् ।
अभ्यासादेव नाऽन्यस्मात्तस्मादभ्यासवान् भव ॥ ४५ ॥
अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते ।
मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥ ४६ ॥
वासनावलितं जन्म मोक्षं निर्वासनं मनः ।
प्राणं च राम ! गृह्णाति यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ४७ ॥
प्राणस्पन्दो मनोरूपं तस्मात्संसृतिविभ्रमः ।
तस्मिन्नेव शमं याते दीयते संसृतिज्वरः ॥ ४८ ॥
विकल्पांशक्षयाज्जन्तोः पदं तदवशिष्यते ।
यतो वाचो निवर्तन्ते समस्तकलनान्विताः ॥ ४९ ॥
यत्र सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
यत्र नेदं यतो नेदं यन्नेदं नेदृशं जगत् ॥ ५० ॥
विनाशित्वाद्विकल्पत्वाद्गुणित्वान्निर्गुणात्मनः ।
यस्य नो सदृशो दृष्टो दृष्टान्तः कश्चिदेव हि ॥ ५१ ॥
स्वादनो सर्वशालीनां दीपिका सर्वतेजसाम् ।
कलना सर्वकामानामन्तश्चिच्चन्द्रिकोदिता ॥ ५२ ॥
यस्मात्कल्पतरोर्बह्व्यः संसारफलपङ्क्तयः ।
अनारतं बहुरसा जायन्ते च पतन्ति च ॥ ५३ ॥
तत्पदं सर्वसीमान्तमवलम्ब्य महामति ।
यः स्थितः स्थिरधीस्तज्ज्ञः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५४॥
विगतसर्वसमीहितकौतुकः
समुपशान्तहिताहितकल्पनः ।
सकलसंव्यवहारसमाशयो
भवति मुक्तमनाः पुरुषोत्तमः ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
योगवर्णनं नाम अष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

अभ्यास से ही पुरुष आत्मा मे रमण करने वाला, वीतशोक, भीतरी सुख से पूर्ण हो सकता है, अन्य उपाय से नहीं, इसलिए आप अभ्यास सम्पन्न हों ॥ ४५ ॥

अभ्यास के द्वारा प्राणवायुओं का चाञ्चल्य विनष्ट हो जाने पर मन विश्रान्ति को प्राप्त करता है और निर्वाण ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ ४६ ॥

हे श्रीरामजी ! वासना से संवलित मन शरीर को ग्रहण करता है, अनन्तर उस में अभिमान से प्राण को ग्रहण करता है और वासना से रहित मन मोक्ष-ग्रहण करता है, इसलिए आप की जैसी इच्छा हो, वैसा करें ॥४७॥

प्राणवायु का स्पन्दन मन का स्वरूप है और उससे संसाररूपी भ्रम उत्पन्न होता है, इसलिए अभ्यास से प्राणस्पन्दन का ही विनाश हो जाने पर संसाररूप ज्वर खण्डित हो जाता है ॥ ४८ ॥

प्राणियों का विकल्पांश विनष्ट हो जानेपर केवल ब्रह्मपद अवशिष्ट रह जाता है, जिस पद से अनेक विध कल्पनाओं से समन्वित शब्द निवृत्त हो जाते हैं ॥ ४९ ॥

उसमें यह समस्त जगत् विद्यमान है, उससे यह सब उत्पन्न हुआ है, वह समस्त जगत् का स्वरूपभूत है और वह इस जगत् के चारों ओर विद्यमान है। परमार्थ दशा में उसमें न तो यह दृश्यमान समस्त जगत् विद्यमान है, न तो उससे उत्पन्न हुआ है ही न उसके स्वरूपभूत ही जगत् है। वास्तव में दृश्यमान इस प्रकार का जगत् है ही नहीं। (इस श्लोक में 'इदं दृश्यं यत्र न' इस वाक्य से आधेयता रूप से, 'यतो न' इससे उपादेयतारूप से 'यन्न' इससे तादात्म्यसम्बन्ध से जगत् में सच्चिदानन्दात्मसम्बन्ध का निषेध करने से किसी अंश से भी जगत् और ब्रह्म का सादृश्य नहीं है) ॥ ५० ॥

यह जगत् विनाशी, विकल्पस्वरूप अतः अनेक विध गुणों से युक्त है, समस्त गुणों से शून्य उस आत्मा का इस जगत् में कोई भी सदृश दृष्टान्त नहीं है ॥ ५१ ॥

नित्य उदित स्वरूप यह चितिरूपी चन्द्रिका समस्त अन्नों का आस्वाद देनेवाली, सूर्यादि समस्त तेजों की प्रकाशिका और आभ्यन्तर समस्त कामों को कल्पनात्मिका है ॥ ५२ ॥

कल्पवृक्षस्वरूप उसी आत्मा से अनेक प्रकार के रसों से परिपूर्ण अनेक संसार फलों की पंक्तियाँ, निरन्तर उत्पन्न और विनष्ट होती हैं ॥ ५३ ॥

निखिल सीमाओं के अन्तस्वरूप उस पद का अवलम्बन कर जो महामति स्थित रहता है, वह निश्चलबुद्धि, तत्त्वज्ञ और जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ५४ ॥

समस्त कामोपभोग की इच्छाएँ निवृत्त हो जाने पर कामोपभोग की उत्कण्ठाओं के अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थों में हिताहित वासनाओं के निवृत्त हो जाने हर तथा जिसका अन्तःकरण समस्त हिताहित व्यवहारों के होने पर भी हर्ष और विषाद से बाधित होने पर वह मुक्तान्तः-करण महात्मा सब पुरुषों में श्रेष्ठ और साक्षात् नारायण हो जाता है ॥ ५५ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
योगवर्णन नामक कुसुमलता का अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७८ ॥

७९

श्रीराम उवाच
योगयुक्तस्य चित्तस्य शम एव निरूपितः ।
सम्यग्ज्ञानमिदानीं मे कथयाऽनुग्रहात् प्रभो ! ॥ १ ॥
वसिष्ठ उवाच
अनाद्यन्तावभासात्मा परमात्मेह विद्यते ।
इत्येको निश्चयः स्फारः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥
इमा घटपटाकाराः पदार्थशतपङ्क्तयः ।
आत्मैव नाऽन्यदस्तीति निश्चयः सम्यगीक्षणम् ॥ ३ ॥
असम्यग्वेदनाज्जन्म मोक्षः सम्यगवेक्षणात् ।
असम्यग्वेदनाद्रज्जुः सर्पो नो सम्यगीक्षणात् ॥ ४ ॥
सङ्कल्पांशविनिर्मुक्ता संवित्संवेद्यवर्जिता ।
संवित्त्याऽभिसमाख्याता मुक्तावस्तीह नेतरत् ॥ ५ ॥
सा शुद्धरूपा विज्ञाता परमात्मेति कथ्यते ।
शुद्धा त्वशुद्धरूपान्तरविद्येत्युच्यते बुधैः ॥ ६ ॥
संवित्तिरेव संवेद्यं नाऽनयोर्द्वित्वकल्पना ।
चिनोत्यात्मानमात्मैव रामैवं नाऽन्यदस्ति हि ॥ ७ ॥
यथाभूतात्मदर्शित्वमेतावद्भुवनत्रये ।
यदात्मैव जगत्सर्वमिति निश्चित्य पूर्णता ॥ ८ ॥
सर्वमात्मैव कौ दिष्टौ भावाभावौ क्व च स्थितौ ।
क्व बन्धमोक्षकलने किमन्यद्राम ! शोच्यते ॥ ९ ॥
न चेत्यमन्यन्नो चित्तं ब्रह्मैवेदं विजृम्भते ।
सर्वमेकं परं व्योम को मोक्षः कस्य बन्धता ॥ १० ॥
ब्रह्मेदं बृंहिताकारं बृहद्बृहदवस्थितम् ।
ज्ञानादस्तमितद्वित्वं भवाऽऽत्मैव त्वमात्मना ॥ ११ ॥

७९

श्री रामजी ने कहा—हे प्रभो ! दो उपायों में से आपने योग युक्त पुरुष के चित्त का विनाश-प्रकार एक ही निरूपित किया है। अब आप अनुग्रह कर मुझसे सम्यक् ज्ञान को कहें ॥ १ ॥

श्री वसिष्ठजी ने कहा—इस जगत् में आदि और अन्त से रहित अवभास स्वरूप परमात्मा का ही अस्तित्व केवल विद्यमान है, इस प्रकार का असाधारण एवं अपरिच्छिन्न आकार के निश्चय को सम्यक् ज्ञान कहा जाता है ॥२॥

ये घट, पट आदि आकारों से युक्त पदार्थों की सैकड़ों पंक्तियाँ आत्मस्वरूप ही हैं, उससे भिन्न अन्य कुछ नहीं है, इस प्रकार का निश्चय सम्यक् ज्ञान है ॥ ३ ॥

आत्मा का सम्यक् ज्ञान न होने से जन्म होता है और आत्मा के सम्यग् ज्ञान से मोक्ष होता है। रज्जु का यथार्थ ज्ञान न होने से रज्जु सर्परूप हो जाती है और उसका यथार्थ ज्ञान होने से रज्जु सर्परूप नहीं होती है ॥ ४ ॥

संकल्पांशों से विनिर्मुक्त, समस्त विषयों से शून्य तथा केवल स्वप्रकाश स्वभाव से ही चारों ओर प्रकाशमान केवल चिति ही मुक्ति में बच जाती है, उससे अन्य कुछ भी नहीं शेष रहता है ॥ ५ ॥

समस्त मलों से विनिर्मुक्त वह संवित् जब विज्ञात हो ती है, तब परमात्मा कही जाती है और स्वतः निखिल ं से वर्जित होने पर भी जब अध्यासवश भीतर से द्ध रूप होती है, तब अविद्या कही जाती है ॥ ६ ॥

हे श्रीरामजी ! ज्ञान ही विषय है, वास्तव में इन दोनों में कुछ भी भेद-कल्पना नहीं है, आत्मा ही आत्मा का चयन करता है आत्मा ही अज्ञान से आत्मा को नाना रूप बना देता है और ज्ञान से आत्मा की एकरूपता का परिचय कर लेता है, आत्मा से पृथक् कुछ भी नहीं है ॥ ७ ॥

यथार्थ आत्मदर्शिता इन तीनों लोकों में इतनी ही है कि यह सब जगत् आत्मस्वरूप ही है, ऐसा निश्चय करके पुरुष पूर्णता को प्राप्त करता है ॥ ८ ॥

यह सब आत्मस्वरूप ही है, कौन भाव और अभाव अलग कर निरूपित हो सकते हैं ? वे जहाँ रह सकते हैं ? बन्ध और मोक्ष की कल्पना कहाँ हो सकती है ? आत्मा को छोड़कर ऐसी कौन वस्तु है ? जिसके विषय में मूढ लोग शोक करते हैं ॥ ९ ॥

आत्मा से भिन्न न तो चेत्य है और न चित्त है, दृश्य रूप यह सब ब्रह्म ही विजृम्भित हो रहा है, समस्त ब्रह्माण्ड अद्वितीय चिदाकाश स्वरूप ही है, अतः किसको मोक्ष और किसको बन्ध है ? ॥ १० ॥

जितने बड़े-से-बड़े पदार्थ हैं, उन सबसे ब्रह्म बड़ा है। माया से नट की तरह अपनी आत्मा में ही बढ़े हुए आकार से युक्त यह जगत्-रूप दृश्य के स्वरूप में अवस्थित है। आत्मा के ज्ञान से जागतिक द्वित्व सद्यः विलीन हो जाता है, अतः आप अपने से ही आत्मस्वरूप हो जाइए ॥ ११ ॥

सम्यगालोकिते रूपे काष्ठपाषाणवाससाम् ।
मनागपि न भेदोऽस्ति क्वाऽसि सङ्कल्पनोन्मुखः ॥ १२॥

आदावन्ते च संशान्तं स्वरूपमविनाशि यत् ।
वस्तु नामाऽऽत्मनश्चैव तन्मयो भव राघव ! ॥ १३ ॥

परं व्योमेदमखिलं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सुखदुःखक्रमः कुत्र विज्वरो भव राघव ! ॥ १४ ॥

द्वैताद्वैतसमुद्भूतैर्जरामरणविभ्रमैः ।
स्फुरत्यात्मभिरात्मैव चित्रैरम्भिवव वीचिभिः ॥ १५ ॥

शुद्धमात्मानमालिङ्ग्य नित्यमन्तःस्थया धिया ।
यः स्थितस्तं क आत्मेहं भोगा बन्धयितुं क्षमाः ॥१६॥

कृतस्फारविचारस्य मनोभोगादयोऽरयः ।
मनागपि न भिन्दन्ति शैलं मन्दानिला इव ॥ १७ ॥

अविचारिणमज्ञानं मूढमाशापरायणम् ।
निगिरन्तीह दुःखानि बका मत्स्यमिवाऽजलम् ॥ १८ ॥

जगदात्मैव सकलमविद्या नाऽस्ति कुत्रचित् ।
इति दृष्टिमवष्टभ्य सम्यग्रूपः स्थिरो भव ॥ १९ ॥

नानात्वमस्ति कलनासु न वस्तुतोऽन्त-
र्नानाविधासु सरसीषु जलादि नाऽन्यत् ।
इत्येकनिश्चयमयः पुरुषो विमुक्त
इत्युच्यते समवलोकितसम्यगर्थः ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सम्यग्ज्ञानलक्षणनिरूपणं नामैकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥

अधिष्ठानभूत सन्मात्र स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर तनिक भी भेद वैसे ही नहीं रह जाता जैसे काष्ठ, पाषण और वस्त्रों के तात्त्विक स्वरूप का भली-भाँति परिज्ञान हो जाने पर उनमें तनिक भी भेद नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में आप संकल्प और विकल्प से उन्मुख कहाँ हैं ? ॥ १२ ॥

हे राघव ! आदि और अन्त में अविनाशी, पूर्ण शान्त स्वरूप वही प्रसिद्ध आत्मरूप वस्तु है, आत्मा का वैसा स्वरूप है, इसलिए आप उसी स्वरूप हो जाएँ ॥ १३ ॥

हे राघव ! यह निखिल स्थावर और जङ्गमात्मक जगत् निरतिशयानन्दात्मक चिदाकाश स्वरूप ही है, अतः सुख और दुःख की प्रसक्ति कहाँ होगी, इसलिए आप समस्त चिन्ता-ज्वरों से निर्मुक्त हो जाएँ ॥ १४ ॥

द्वैत और अद्वैत विकल्पों से समुद्भूत जन्म, मरण और विभ्रम स्वरूप आत्माओं से आत्मा ही अज्ञानियों के लिए वैसे ही प्रस्फुरित होता है जैसे जल विचित्र तरङ्गों से प्रस्फुरित होता है ॥ १५ ॥

शुद्ध आत्मा का आलिङ्गन कर अन्तःस्थबुद्धि से सदा-सर्वदा जो अवस्थित रहता है, उस तत्त्वज्ञ आत्माभिलाषी को कौन भोग बाँधने के लिए समर्थ हो सकते हैं ? ॥ १६ ॥

जिस विद्वान् ने प्रकाशमान आत्मा का पूर्ण रूप से विचार कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञ के अन्तःकरण का काम प्रभृति छः शत्रु तनिक भी वैसे ही भेदन नहीं कर सकते जैसे मन्द पवन पर्वत का भेदन नहीं कर सकते ॥ १७ ॥

इस संसार में आशाओं में निरत, मूढ, अज्ञानी और अविचारी पुरुष को वैसे ही दुःख निगल जाते हैं जैसे जल से निर्गत अथवा स्वल्प जल में स्थित मत्स्य को बगुले निगल जाते हैं ॥ १८ ॥

समस्त जगत् आत्मस्वरूप है, कहीं भी अविद्या नाम की कोई वस्तु नहीं है, इस प्रकार की दृष्टि का अवलम्बन कर आप सम्यक् स्वरूपवाले होकर स्थित हो जाएँ ॥१९॥

केवल कल्पनाओं में अर्थात् विकल्पात्मक बुद्धि में ही वैसे ही नानात्व है, वास्तव में नानात्व नहीं है, जैसे अनेकविध सरोवरों में जल, फेन आदि से जल पृथक् नहीं हैं, इस प्रकार विवेकपूर्वक भली प्रकार अर्थ को जा लेने वाला उक्त एकविध निश्चय प्रधान पुरुष आत्यन्ति चित्तविनाश के कारण विमुक्त है, ऐसा कहा ज है ॥ २० ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में सम्यग्ज्ञानलक्षणनिरूपण नामक कुसुमलता का उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७९ ॥

८०

वसिष्ठ उवाच

**इदमन्तः कलयतो भोगान्प्रति विवेकिनः ।
पुरस्थितानपि सदा स्पृहैवाऽङ्ग न जायते ॥ १ ॥
चक्षुरालोकनायैव जीवस्तु सुखदुःखयोः ।
भारायैव वलीवर्दो भोक्ता द्रव्यस्य नायकः ॥ २ ॥
नयने रूपनिर्मग्ने क्षोभः क इव देहिनः ।
गर्दभे पल्वले मग्ने कैव सेनापतेः क्षतिः ॥ ३ ॥
रूपकर्दममेतन्मा नयनाऽऽस्वादयाऽधम ! ।
नश्यत्येतन्निमेषेण भवन्तमपि हिंसति ॥ ४ ॥
येनैव संख्या क्रियते येनैवाऽस्वाऽनुगम्यते ।
तदीयैः कर्मभिः क्षिप्रं प्राज्ञः क्रूरो निबध्यते ॥ ५ ॥
उत्पन्नध्वंसि चाऽऽपातमात्रहृद्यमसन्मयम् ।
रूपमाश्रय मा नेत्र विनाशायाऽविनाशिने ॥ ६ ॥
साक्षिवत्त्वं स्थितं नेत्र रूपमात्मनि तिष्ठति ।
आलोकं कालवशतस्त्वमेकं किं प्रतप्यसे ॥ ७ ॥
सलिलस्पन्दवद्दृष्टिः पिच्छिकेवाऽम्बरोत्थिता ।
सुजातिबन्धा स्फुरति तव चित्त किमागतम् ॥ ८ ॥
कल्पाम्भसीव शफरी चित्ते स्फुरणधर्मिणि ।
स्वयं स्फुरत्यहङ्कारस्त्वमयं प्रोत्थितः कुतः ॥ ९ ॥
आलोकरूपयोर्नित्यं जडयोः स्फुरतोर्मिथः ।
आधाराधेययोश्चित्तं व्यर्थमाकुलता तव ॥ १० ॥**

८०

श्री वसिष्ठ ने कहा—अपने हृदय में विचार कर रहे विवेकी महात्मा को सर्वदा संमुख स्थित भी दिव्य भोगों में अभिरुचि उत्पन्न नहीं होती है ॥ १ ॥

जैसे बैल बोझा ढोने के लिए ही है, उस ढोये हुए द्रव्य का उपयोग करने वाला तो द्रव्य का स्वामी है। वैसे ही नेत्र केवल रूप देखने में ही निमित्त हैं और चक्षु का केवल स्वामी जीव तो चक्षु में अहन्ता के अभिनिवेशन से सुख दुःख का भोक्ता होता है ॥ २ ॥

नेत्र अनिष्ट रूप में निमग्न होने पर जीव को क्षोभ क्या है ? सेना के अन्तर्गत धोबी का गदहा अल्पजलाशय में छोटे तालाब में डूबा, तो उससे सेनापति की क्या हानि है ॥ ३ ॥

हे मूढ़तम ! नेत्र, स्त्री, पुत्र आदि के सौन्दर्यस्वरूप रूपात्मक कीचड़ का तुम आस्वाद मत करो, यह रूप क्षण में ही नष्ट हो जायगा और तुम्हें भी नष्ट कर डालेगा ॥ ४ ॥

प्राज्ञ पुरुष भीतर निवास कर रहे जिस चिदात्मा से बाह्य और आभ्यन्तर विषयों का सम्बन्ध प्रकाशित होता है, तथा जिस चिदात्मा से अनात्मभूत पाँच कोशों की परम्परा का आत्मा के तादात्म्यारोप से अनुभव होता है, उस चिदात्मा के उदासीनतया यथाप्राप्त पदार्थों के प्रकाशन रूप चरित्रों से—अभ्यासवश सम्बद्ध होता है, मूर्खों की तरह सौन्दर्यरूपी रूपकर्दम के आस्वादनरूप कर्मो से सम्बद्ध नहीं होता है ॥ ५ ॥

हे नेत्र ! उत्पन्न होकर विनष्ट होने वाला और जो केवल ऊपर-ऊपर से ही रमणीय प्रतीत होने वाला असत्-स्वरूप सौन्दर्य का अवश्यम्भावी मृत्यु के मुख में प्रवेश करने के लिए आश्रयण मत करो ॥ ६ ॥

हे नेत्र, जब किसी की अपेक्षा किये बिना समस्त अर्थों के प्रकाशन में सदा समर्थ परमात्मा रूप आदि विषयों में उदासीनस्वरूप से स्थित है, तब किसी समय दीप आदि के आलोक को पाकर प्रकाशन कर रहे तुम अकेले ही क्यों सन्तप्त होते हो ? ॥ ७ ॥

हे चित्त ! नदी आदि के जल में दृश्यमान विभिन्न प्रकार के विचित्र अनियत तरङ्गों की तरह अनियत, आकाश में सूर्य के संमुख साश्रुनेत्र पुरुष को दिखाई पड़नेवाली मोर के पंख की तरह मिथ्याभूत एवं 'यह घोड़ा है', 'यह गाय है', 'यह स्त्री है' इस तरह की अनेक अच्छी-बुरी जातियों के विकल्पों से जनित यह नाना प्रकार की सौन्दर्यानुभूति चक्षु को स्फुरित होती है, ऐसी परिस्थिति में तुम्हें क्या मिला, तुम उसमें अनुरक्त होते हो और वृथा सन्तप्त होते ही ? ॥ ८ ॥

हे चित्त ! प्रलयकालीन जल में मछली की तरह स्फुरणधर्म वाले चित्त में स्वयं रूपादिविषयाकार का यदि स्फुरण होता है, तो वह भले ही हो, परन्तु अहमाकाररूप से तुम किस निमित्त को लेकर उत्थित हुए हो ? ॥ ९ ॥

हे चित्त ! आधाराधेयभूत तथा जड़स्वरूप आलोक और रूप के परस्पर स्फुरित होने पर तुम निरर्थक ही व्याकुल हो रहे हो ॥ १० ॥

रूपालोकमनस्काराः परस्परमसङ्गिनः ।
संपन्ना इव लक्ष्यन्ते वदनादर्शबिम्बवत् ॥ ११ ॥
अज्ञानजतुना ह्येते श्लिष्टा जाता निरन्तराः ।
अज्ञाने ज्ञानगलिते पृथक्तिष्ठन्त्यसन्मयाः ॥ १२ ॥
मनःकल्पनया ह्येते सुसम्बद्धाः परस्परम् ।
रूपालोकमनस्कारा दारुणी जतुना यथा ॥ १३ ॥
स्वमनोमननं तन्तुर्मनोभ्यासेन यत्नतः ।
विचाराच्छेदमायाति छिन्नैवाऽज्ञानभावना ॥ १४ ॥
अज्ञानसंक्षयात् क्षीणे मनसीमे पुनर्मिथः ।
रूपालोकमनस्काराः संघट्टन्ते न केचन ॥ १५ ॥
सर्वेषां चित्तमेवाऽन्तरिन्द्रियाणां प्रबोधकम् ।
तदेव तस्मादुच्छेद्यं पिशाच इव मन्दिरात् ॥ १६ ॥

वास्तव में परस्पर एक दूसरे से असम्बद्ध रूप, अलोक और मन एक दूसरे से वैसे ही सम्बद्ध प्रतीत होते हैं जैसे वास्तव में परस्पर एक दूसरे से असंबद्ध मुख, दर्पण और प्रतिबिम्ब परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, आशय यह है कि चक्षु के द्वारा बाहर रूप का अवलोकन होता है और मन के द्वारा भीतर संकल्पादि मनस्कार ज्ञात होते हैं, यों भिन्नदेशता होने के कारण वास्तव में उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

हे चित्त ! ये पूर्वोक्त रूपादि अज्ञानरूपी लाख के द्वारा ही निरन्तर एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध हुए हैं, जब अज्ञानरूपी लाह के ज्ञान के ताप से पिघल जाता है, तब वे एक दूसरे से असम्बद्ध और बाधित होकर अधिष्ठान सन्मात्ररूप में अवस्थित रहते हैं ॥ १२ ॥

ये रूप, आलोक और संकल्प आदि मनस्कार परस्पर चित्त की कल्पना से एक दूसरे से वैसे ही संश्लिष्ट हो जाते हैं जैसे दो काठ लाख से एक दूसरे से श्लिष्ट हो जाते हैं ॥ १३ ॥

मकड़ी के जाले के समान अपने ही बन्धन में हेतुभूत अपने चित्त के संकल्प-विकल्पात्मक तन्तु मन्द और मध्यम अधिकारी के लिए वैराग्य, शम, दम, निरोध आदिरूप मनोभ्यास से यत्नपूर्वक किये गये विचार से विनष्ट हो जाते हैं और उत्तम अधिकारी के लिए सहसा उत्पन्न नित्यानित्यविज्ञान से उस तन्तु के विच्छिन्न ही जानेपर स्वभावतः ही अज्ञानभावना प्रवृत्त नहीं होती है ॥ १४ ॥

अज्ञान के विनाश से क्षीण हुए मन में फिर ये रूप, आलोक और मनस्कार परस्पर एक दूसरे से कोई भी संघटित नहीं होते हैं ॥ १५ ॥

चित्त वल्गसि मिथ्यैव दृष्टोऽन्तो भवतो मया ।
आद्यन्तयोः सुतुच्छं त्वं वर्तमाने विनश्यसि ॥ १७ ॥
मुधा पञ्चभिराकारैः किमन्तः परिवल्गसि ।
यस्त्वां स्वमिति जानाति तस्यैव परिवल्गसि ॥ १८ ॥
त्वद्वल्गनं मे कुमनो न मनागपि तुष्टये ।
मायामनःस्पन्द इव व्यर्थं वृत्तिषु दह्यसे ॥ १९ ॥
तिष्ठ वा गच्छ वा चित्त नाऽसि मे न च जीवसि ।
प्रकृत्याऽसि मृतं नित्यं विचारात् सुमृतं स्मृतम् ॥ २० ॥
निस्तत्त्वं त्वं जडं भ्रान्तं शठं नित्यमृताकृते ।
मूढ एव त्वयाऽज्ञेन बाध्यो न प्रविचारवान् ॥ २१ ॥
वयमज्ञातवन्तस्त्वां मौर्ख्येणाऽऽशु मृतं भवत् ।
मृतमस्माकमद्याऽसि दीपानां तिमिरं यथा ॥ २२ ॥

चित्त ही सभी इन्द्रियों की भीतर से प्रेरणा करता है, इसलिए चित्त का उच्छेद वैसे ही कर देना चाहिए जैसे मन्दिर से पिशाच का उच्छेद कर देते हैं ॥ १६ ॥

हे चित्त ! तुम मिथ्या ही प्रलाप करते हो, मैं तुम्हारे उच्छेद के लिए उपाय जानता हूँ । तुम आदि और अन्त दोनों में नितान्त तुच्छ हो, इसलिए वर्तमान काल में भी असत् ही हो ॥ १७ ॥

हे चित्त ! तुम इन्द्रियों से सम्बद्ध शब्द आदि पाँच आकारों के द्वारा अपने भीतर क्या प्रलाप कर रहे हो, तुम्हारा अभिमान करने वाला प्रमाता तुम्हें 'यह मेरा है' इस रूप से जानता है, उसी के विषय में तुम उपकरण रूप से प्रलाप कर सकते हो, परन्तु असङ्ग, उदासीन, चिदेक-रस मेरे विषय में तुम प्रलापक नहीं सकते हो ॥ १८ ॥

हे दुष्टमन ! तुम्हारा चिल्लाना मेरे लिए तनिक भी हर्ष और विषाद के लिए नहीं है, ऐन्द्रजालिक माया से जनित मन के अनेक तरह की विषय दर्शनाकार चेष्टाओं की तरह तुम अनेक विध विषयाकारवृत्तियों में क्यों निरर्थक जल रहे हो ॥ १९ ॥

हे चित्त ! तुम रहो चाहे जाओ, तुम न तो मेरे हो और न तुम जीवित हो । अपने मिथ्या स्वभाव से तुम सदा मृतक ही हो और विचार से उस प्रकार स्मृत तुम अत्यन्त असत् हो ॥ २० ॥

हे चित्त ! तुम तत्त्वरहित जड़ भ्रान्त और शठ हो, तुम्हारा आकार अत्यन्त असत् है, अज्ञान स्वरूप तुम्हारे द्वारा अज्ञानी पुरुष को ही बाधा पहुँच सकती है, विचार-वान् ज्ञानी पुरुष को बाधा नहीं पहुँच सकती है ॥ २१॥

हे चित्त ! तुम शठ के द्वारा दीर्घकाल तक उपरुद्ध

शठेन भवता दीर्घकालं देहगृहं मम ।
उपरुद्धमभूत् सर्वं साधुसंसर्गवर्जितम् ॥ २३ ॥
जडे प्रेतसमाकारे गते त्वयि मनःशठे ।
सर्वसज्जनसंसेव्यमिदं देहगृहं मम ॥ २४ ॥
पूर्वमेवाऽसि नाऽसीस्त्वं संप्रत्येव शठं जगत् ।
न भविष्यसि चेदानीं वेताल किं न लज्जसे ॥ २५ ॥
सह तृष्णापिशाचीभिः सह कोपादिगुह्यकैः ।
निर्गच्छ चित्तवेताल शरीरसदनान्मम ॥ २६ ॥
दिष्टचा विवेकमात्रेण निर्गतो देहमन्दिरात् ।
प्रमत्तश्चित्तवेतालः कुवृकः कन्दरादिव ॥ २७ ॥
अहो नु चित्रं सुमहज्जडेन क्षणभङ्गिना ।
मनःशठेन सर्वोऽयं नीतो विवशतां जनः ॥ २८ ॥
कस्ते पराक्रमः किं ते बलं कस्ते समाश्रयः ।
यदि वल्गसि मामेकं जनानां बाधसे मृतम् ॥ २९ ॥

मेरा सम्पूर्ण देहरूपी घर शम, दम, विचार, प्रबोध आदि साधुओं के संसर्ग से वर्जित हुआ था ॥ २३ ॥

हे चित्त ! प्रेत के सदृश आकार वाले जड़ तुम्हारे मन रूपी शठ के चले जाने पर मेरा देहरूपी यह शम, दम आदि समस्त साधुओं के द्वारा सेवा करने के योग्य हो गया ॥ २४ ॥

हे जगत् रूपी चित्तवेताल ! शठ रूप तुम पहले ही नहीं थे, वर्तमान काल में भी नहीं हो और आगे भी नहीं रहोगे, इस प्रकार तीनों कालों में निषिद्ध किये गये भी तुम इस समय अपनी स्थिति बना ली है । उसके लिए तुम्हें क्या लज्जा नहीं आती है ॥ २५ ॥

हे चित्त रूपी वेताल ! तृष्णा रूपी पिशाचिनियों के तथा क्रोध आदि गुह्यकों के साथ तुम मेरे शरीर रूपी घर से बाहर निकल जाओ ॥ २६ ॥

हे चित्त ! भाग्यबल केवल आत्मा और अनात्मा के विवेकमात्र से तुम प्रमत्त चित्तरूपी वेताल मेरे देहरूपी मन्दिर वैसे ही निकल गये हो जैसे गुफा से दुष्ट क्रूर भेड़िया ॥ २७ ॥

बड़े आश्चर्य कि बात है कि महान् जड़ एवं एकक्षण मात्र में विनष्ट हो जानेवाले शठ मन के द्वारा यह समस्त जनसमूह विवशता को प्राप्त किया है ॥ २८ ॥

हे चित्त ! मनुष्यों के बीच में मरनेवाले देह में आत्मबुद्धि रखनेवाले स्वतः मृत मनुष्य के प्रति तुम गर्जन करते हो तुम्हारा क्या पराक्रम है, क्या बल है और क्या समाश्रय है ? यदि एक अद्वितीय आत्मतत्त्व-

सर्वथैवाऽसि न मया दीनचित्तक ! मार्यसे ।
मृतमित्यवबुद्धं त्वमद्य केवलमज्ञ ! हे ॥ ३० ॥
एतावन्तमहं कालं त्वां ज्ञात्वा जीवदास्थिति ।
श्लिष्टः प्रभूतसङ्गासु चिरं संसृतिरात्रिषु ॥ ३१ ॥
चित्तं मृतं हि नाऽस्तीदमित्यद्याऽधिगतं मया ।
तेन त्वदाशां संत्यज्य तिष्ठाम्यात्मनि केवलम् ॥ ३२ ॥
दिष्टचा चित्तं मृतमिति ज्ञातमद्य मया स्वयम् ।
न शठेन समं नेयं समग्रं जीवितं निजम् ॥ ३३ ॥
उत्सार्य देहसदनान्मनःशठमहं क्षणात् ।
अहं स्वस्थः स्थितोऽस्म्यन्तर्वेतालपरिवर्जितः ॥ ३४ ॥
चित्तवेताललब्धेन चिरं कालं मयाऽऽत्मना ।
कृता विकारा विविधाः स्वयं स्मृत्वा हसाम्यहम् ॥३५॥
चिरान्निपातितो दिष्टचा विचारासिपरार्दितः ।
हृद्गेहाच्चित्तवेतालस्तालोत्तालसमुन्नतिः ॥ ३६ ॥

स्वरूप को समझनेवाले मेरे प्रति आकर तुम गर्जना करो तो मैं तुम्हारा पराक्रम, बल और शक्ति समझूँ ॥ २९ ॥

हे अज्ञानी गरीब चित्त ! मैं आज तुम्हारा वध नहीं करता हूँ क्योंकि तुम पहले से ही मर चुके हो, यह मैंने जान लिया है ॥ ३० ॥

हे चित्त ! इतने कालतक तुम्हारा स्वरूपता जीवित की तरह था, यह जानकर प्रभूतसङ्ग वाली संसाररात्रियों में तुम्हारे साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त हुआ था ॥ ३१ ॥

चित्त निस्तत्त्व है, उसका अस्तित्व हो ही नहीं सकता है—यह मैंने आज भली-भाँति जान लिया है, तुम्हारी आशा का परित्याग कर केवल अपने स्वरूपभूत आत्मा में स्थित रहता हूँ ॥ ३२ ॥

भाग्यवश चित्त निस्तत्त्व है, यह मैंने आज स्वयं जान लिया है, बोध के अनन्तर जीवन्मुक्तों को चित्तशून्य होकर ही अवशिष्ट आयु का क्षपण करना उचित है, यह कहते हैं । अतः शठ मन के साथ अपने समस्त जीवन को व्यतीत नहीं करना चाहिए ॥ ३३ ॥

काम, क्रोध, लोभ आदि शठों के उत्सवभूत मन को देहरूपी घर से क्षणभर में निकालकर मैं वेताल से शून्य होकर भीतर से स्वस्थ होकर अवस्थित रहता हूँ ॥३४॥

चिरकाल तक चित्तरूपी वेताल के द्वारा ठगे गये उसके स्वरूपभूत मैंने अनेक तरह के विकारों को उत्पन्न किया है, अब मैं स्वयं परमार्थभूत होकर उन विकारों का स्मरण कर हँसता हूँ ॥ ३५ ॥

भाग्यवश बहुतकाल के बाद अब विचाररूपी तलवार

प्रशान्ते चित्तवेताले पवित्रां पदवीं गते ।
दिष्ट्या शरीरनगरे सुखं तिष्ठामि केवलम् ॥ ३७ ॥
मृतं मनो मृता चिन्ता मृतोऽहङ्काररराक्षसः ।
विचारमन्त्रेण समः स्वस्थस्तिष्ठामि केवलम् ॥ ३८ ॥
किं मनो मे ममाऽऽशा का को मेऽहङ्कारको भवेत् ।
दिष्ट्या व्यर्थं कलत्रं मे नष्टमेतदशेषतः ॥ ३९ ॥
एकस्मै कृतकृत्याय नित्याय विमलात्मने ।
निर्विकल्पचिदाख्याय मह्यमेव नमो नमः ॥ ४० ॥
न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न चैवाऽहमहं स्वयम् ।
न च नाऽहं न चाऽन्योऽहं मह्यमेव नमो नमः ॥ ४१ ॥
न ममाऽऽशा न कर्माणि न संसारो न कर्तृता ।
न भोक्तृता न देहो मे मह्यमेव नमो नमः ॥ ४२ ॥
नाऽहमात्मा न वा कोऽन्यो नाऽहमस्मि न चेतरः ।

से कदर्थित चित्तरूपी वेताल को तालवृक्ष के समान उत्तुङ्ग ऊँचाई से युक्त हृदयमन्दिर से तुमको हटा दिया है ॥ ३६ ॥

चित्तरूपी वेताल के शान्त हो जाने पर पवित्र पदवी को प्राप्त करने पर अब उत्तम भाग्य से शरीररूपी नगर में केवल मैं अर्थात् शुद्ध अहं सुखपूर्वक अवस्थित हूँ ॥३७॥

विवेक अर्थात् मननरूपी मन्त्र से मन मर गया, चिन्ता समाप्त हो गई और अहंकाररूपी राक्षस भी मर गया, अब समस्त विषमताओं से शून्य तथा स्वस्थ होकर केवल मैं ही स्थित हूँ ॥ ३८ ॥

कौन मेरा मन है ? कौन मेरी आशा है और कौन मेरा तुच्छ अहङ्कार है। भाग्य से मेरा निरर्थक यह पोष्यवर्ग संस्काररूप से भी विनष्ट हो गया है ॥ ३९ ॥

एक, कृतकृत्य, अविनाशी, विमलस्वरूप तथा निर्विकल्प चैतन्यनामधारी अहंरूपी आत्मा को बार-बार नमस्कार है ॥ ४० ॥

मुझे न तो शोक है और न मोह है। न मैं अहमभिमानप्रधान जड-अंशस्वरूप हो स्वयं आत्मा हूँ। मैं अहंकार प्रत्यक् चिदात्मास्वरूप नहीं हूँ, वरन् प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप हूँ। मैं भेद का आश्रय नहीं हूँ अर्थात् अद्वितीय हूँ। अहंरूप आत्मा को बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ ४१ ॥

न मुझे इच्छा है, न मेरे कर्म हैं, न मेरा संसार है, न मुझ में कर्तृता है, न मुझ में भोक्तृता है और न मेरी देह है। अहंरूप ही आत्मा को नमस्कार है ॥ ४२ ॥

मैं आत्मशब्दजन्य प्रतीति का विषय नहीं हूँ, मैं

सर्वमेवाऽहमेतस्मै मह्यमेव नमो नमः ॥ ४३ ॥
अहमादिरहं धाता चिदहं भुवनान्यहम् ।
मम नाऽस्ति व्यवच्छेदो मह्यमेव नमो नमः ॥ ४४ ॥
निर्विकाराय नित्याय निरंशाय महात्मने ।
सर्वस्मै सर्वकालाय मह्यमेव नमो नमः ॥ ४५ ॥
नीरूपाय निराख्याय प्रकाशाय महात्मने ।
स्वयमात्मैकसंस्थाय मह्यमेव नमो नमः ॥ ४६ ॥
समां सर्वगतां सूक्ष्मां जगदेकप्रकाशिनीम् ।
सत्तामुपगतोऽस्म्यन्तर्मह्यमेव नमो नमः ॥ ४७ ॥
साद्रचब्ध्युर्वीनदी सेयं नाऽहमेवाऽहमेव वा ।
जगत्सर्वं पदार्थाढ्यं मह्यमेव नमो नमः ॥ ४८ ॥
व्यपगतमननं समाभिरामं
प्रकटितविश्वमविश्वमप्यनन्तम् ।

अनात्मा भी नहीं हूँ, तत्त्वदृष्टि से अतिरिक्त ऐसे किस पदार्थ की संभावना की जा सकती है, जो मेरे स्वरूप में हो सके, इसी प्रकार अहं शब्दजन्य प्रतीति का विषय और उससे भिन्न मैं नहीं हूँ, ऐसी स्थिति में अपने से पृथक् अप्रसिद्धि होने से स्वयं ही मैं सर्वस्वरूप और सर्वात्मक हूँ, ऐसे मद्रूप ही आत्मा को नमस्कार है ॥ ४३ ॥

मैं ही भुवनों का कारण हूँ, मैं ही धारण करने वाला हूँ, मैं चित्स्वरूप हूँ, मैं भुवन स्वरूप हूँ, मेरा त्रिविध परिच्छेद नहीं हो सकता, उस मद्रूप आत्मा को ही बार-बार नमस्कार है ॥ ४४ ॥

निर्विकार नित्य, अंशशून्य, विशालतम, सर्वस्वरूप तथा सर्वकालात्मक सनातन मद्रूप आत्मा को ही बार-बार नमस्कार है ॥ ४५ ॥

नाम रूप रहित, प्रकाश रूप, महदाकृति तथा स्वयं एक आत्ममात्र में स्थिति रखने वाले मद्रूप आत्मा को ही बार-बार नमस्कार है ॥ ४६ ॥

मैं सर्वत्र समरूप, सर्वत्र व्यापक, सूक्ष्म और जगत् को एकमात्र प्रकाशित करने वाली सत्ता को अन्तः से प्राप्त हूँ, ऐसे मद्रूप प्रत्यगात्मा को ही नमस्कार है ॥४७॥

पर्वत, समुद्र, पृथ्वी नदी—इनसे युक्त प्रसिद्ध यह वर्तमान दृश्य श्री मद्रूप नहीं है, इसी अतीत, अनागत पदार्थों से परिपूर्ण यह जगत् भी मद्रूप नहीं है। अथवा सभी मद्रूप ही हैं, ऐसे मद्रूप प्रत्यगात्मा को बार-बार नमस्कार है ॥ ४८ ॥

मन के समस्त विकल्प विनष्ट हैं, इसलिए सम और

स्वयमजमजरं गुणादतीतं वपुरहमच्युतमीश्वरं नमामि ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे दृश्यदर्शनसम्बन्धो नामाऽशीतितमः सर्गः ॥ ८० ॥

अत्यन्त अभिराम विश्व का आविर्भाव करने वाले, स्वतः विश्ववर्जित, अनन्त, स्वस्वरूप, अजन्मा, जरारहित, समस्त गुणों से शून्य तथा अविनाशी ईश्वर के स्वरूप को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में दृश्यदर्शनसम्बन्ध नामक कुसुमलता का अस्सीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८० ॥

८१

वसिष्ठ उवाच

एवं विचाय बुद्ध्वाऽन्तः पुनरित्थं विचार्यते ।
तत्त्वविद्भिर्महाबाहो ! ज्ञेय आत्मा महात्मभिः ॥ १ ॥
आत्मैवेदं जगदिति सत्यं चित्तेन मार्जितम् ।
उत्थितं स्यात्कुतश्चित्तमहो चित्तमवस्तु यत् ॥ २ ॥
अविद्यत्वादचित्तत्वान्मायात्वाच्चाऽसदेव हि ।
ध्रुवं नाऽस्त्येव वा चित्तं भ्रमादन्यत्खवृक्षवत् ॥ ३ ॥
सिद्धः स्थाणुपरिस्पन्दो नौगतस्य यथा शिशोः ।
अबुद्धस्य न बुद्धस्य तथा चित्तमसन्मयम् ॥ ४ ॥
मौर्ख्यमोहभ्रमे शान्ते चित्तं नोपलभामहे ।
चक्रारोहभ्रमस्याऽन्ते पर्वतस्पन्दनं यथा ॥ ५ ॥
एवं हि चित्तं नाऽस्त्येव ब्रह्मैवास्ति तथात्मकम् ।
पदार्थभावनाश्चित्तात्तेनाऽसत्या मयोज्झिताः ॥ ६ ॥
जातोऽस्मि शान्तसन्देहः स्थितोऽस्मि विगतज्वरः ।
यथा तिष्ठामि तष्ठामि तथैव विगतैषणः ॥ ७ ॥
चित्ताभावे परिक्षीणा बाल्यतृष्णादयो गुणाः ।
आलोकोपरमे चित्रा वर्णाख्या इव संविदः ॥ ८ ॥

८१

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—हे माहाबाहो ! इस प्रकार विचार के द्वारा भीतर से तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर 'आत्मा ही एकमात्र अवश्य ज्ञातव्य है' इसलिए विचारतत्त्व को जानने वाले महात्मा लोग फिर चित्त के विषय में इस प्रकार विचार करते हैं ॥ १ ॥

'यह समस्त जगत् आत्म स्वरूप ही है' इस प्रकार अपरोक्ष साक्षात्कार चित्त से होने पर जगत् परिमार्जित किया गया है, वह चित्त कहाँ से उत्पन्न हुआ ? यह अत्यन्त आश्चर्य है, क्यों कि जगत् के अवास्तविक होने पर उसके अन्तर्गत चित्त भी स्वयं अवस्तु स्वरूप ही है ॥ २ ॥

चित्त, जड़, चित्तान्तर से शून्य और माया का कार्य होने से निश्चय रूप से वैसे ही असत् ही है, वह केवल विशुद्ध आत्मस्वरूप ही है जैसे आकाश वृक्ष भ्रमवश अन्य रूप से प्रतीत होता है, वास्तव में वह विशुद्ध आकाश स्वरूप ही है, उससे पृथक् आकाश वृक्ष नहीं है यानी असत् है ॥ ३ ॥

यद्यपि अज्ञानी को चित्त दिखाई पड़ता है तो भी आत्मज्ञानी तत्त्व की दृष्टि में वह वैसे ही नहीं, किन्तु असन्मय ही है जैसे नौका में अवस्थित अज्ञानी बालक को तटवर्ती स्थाणु में प्रतीत होनेवाला गति आदि परिस्पन्द केवल भ्रान्ति से ही दिखाई पड़ता है ॥ ४ ॥

तेल या ऊख को पेरने के यन्त्र के ऊपर आरोहण करने से उत्पन्न परिभ्रमण के बाद आरोही को पर्वत में परिभ्रमण का अनुभव नहीं होता है । मूर्खताप्रयुक्त मोह-रूपी विभ्रम के शान्त होने पर हम लोगों को चित्त का अनुभव नहीं होता ॥ ५ ॥

चित्त का अस्तित्व ही नहीं है चित्तात्मक केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व है, बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों की भावनाएँ असदात्मक चित्त से ही विस्तार को प्राप्त करती हैं, इसलिए असत्स्वरूप उनका मैंने परित्याग कर दिया है ॥ ६ ॥

मेरे समस्त सन्देह शान्त हैं, समस्त चिन्ताज्वरों से शून्य होकर मैं अवस्थित हूँ, जिस पारमार्थिक स्वभाव से मैं स्थित रहता हूँ, उसी पारमार्थिक स्वभाव से इस समय स्वानुभव से भी इच्छाओं से निर्मुक्त होकर स्थित हूँ ॥ ७ ॥

चित्त का उपराम हो जाने पर चंचल तृष्णा आदि दुर्गुण वैसे ही विनष्ट हो गये जैसे आलोक का उपराम हो जाने पर विभिन्न-विभिन्न रूपों का प्रकाशन करने वाली चक्षुरादि से जनित संवित्तियाँ विनष्ट हो जाती हैं ॥ ८ ॥

मृतं चित्तं गता तृष्णा प्रक्षीणो मोहपञ्जरः ।
निरहङ्कारता जाता जाग्रत्यस्मिन्प्रबुद्धवान् ॥ ९ ॥
एकमेव जगच्छान्तं नानात्वं न सदित्यपि ।
किमन्यद्विमृशाम्यन्तः कथयैवाऽलमेतया ॥ १० ॥
निराभासमनाद्यन्तं पदं पावनमागतः ।
सौम्यः सर्वगतः सूक्ष्मः स्थित आत्माऽस्मि शाश्वतः ॥११॥
यदस्ति यच्च नाऽस्तीह चित्ताद्यात्माद्यवस्तु च ।
तत्खादच्छतरं शान्तमनन्ताग्राह्यमाततम् ॥ १२ ॥
चित्तं भवतु मा वाऽन्तर्म्रियतां स्थितिमेतु वा ।
को विचारणयाऽर्थो मे चिरं साम्योदितात्मनः ॥ १३ ॥
विचाराकारको मौर्ख्यादिहमासं मितस्थितिः ।
विचारेणाऽमिताकारः क्व नामाऽहं विचारकः ॥ १४ ॥
मृतेऽपि मनसीयं मे विकल्पश्रीर्निरर्थिका ।
मनोवेतालवृत्त्यर्थं किमर्थमुपजायते ॥ १५ ॥
तामिमां प्रजहाम्यन्तः सङ्कल्पकलनामिति ।
निर्णीयोमिति शान्तात्मा तिष्ठाम्यात्मनि मौनवत् ॥१६॥
अश्नन् गच्छन्स्वपंस्तिष्ठन्निति राघव ! चेतसा ।
सर्वत्र प्रज्ञया तज्ज्ञः प्रत्यहं प्रविचारयेत् ॥ १७ ॥
प्रविचार्य स्वसंस्थेन स्वस्थेन स्वेन चेतसा ।
तिष्ठन्ति विगतोद्वेगं सन्तः प्रकृतकर्मसु ॥ १८ ॥
विगतमानमदा मुदिताशयाः
शरदुपोढशशाङ्कसमत्विषः ।
प्रकृतसंव्यवहारविहारिण-
स्त्विह सुखं विहरन्ति महाधियः ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
चित्तासत्ताप्रतिपादनं नामैकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

चित्त मर गया, तृष्णाएं चली गयीं, मोहरूपी पंजर सर्वथा क्षीण हो गया, अहंभावना विशीर्ण हो गयी और इस अहंरूप आत्मा के अज्ञानरूपी निद्रा से वर्जित होनेपर मैंने अपने स्वाभाविक स्वरूप को जान लिया ॥ ९ ॥

जगत् शान्त होकर अद्वितीय परब्रह्मस्वरूप हो गया और भेद वस्तुसत् नहीं है, इसलिए मैं दूसरे किस विषय का विचार करूँ ? इन असत्पदार्थों की कथा से कोई लाभ नहीं है ॥ १० ॥

चिदाभासस्वरूप, जीवस्वरूप से शून्य आदि और अन्त से रहित परमपावन पद को मैं प्राप्त हूँ। मैं सौम्य, सर्वत्र व्यापक, अतिसूक्ष्म, सनातन आत्मस्वरूप से स्थित हूँ ॥ ११ ॥

इस लोक में व्यवहार दृष्टि से और वेद की दृष्टि से और क्रमशः चित्त आदि एवं आत्मा आदि अस्तित्वरूप से प्रसिद्ध वस्तुरूप पदार्थ हैं तथा रज्जु, सर्प आदि एवं बन्ध्यापुत्र आदि नास्तित्वरूप से प्रसिद्ध अवस्तुरूप पदार्थ हैं, सभी आकाश से भी अत्यन्त निर्मल, स्वप्रकाश, शान्त असीम, व्यापकस्वरूप ब्रह्मात्मक ही हैं, क्योंकि उसी में सत्-असद्रूप विकल्पों का आरोप होता है ॥ १२ ॥

चित्त रहे या न रहे, वह भीतर से मर जाय या जीवित रहे, उसके विषय में विचार करने से मुझे क्या लाभ है ? मैं तो चिरकाल से समरूप से उदित आत्मस्वरूप हूँ ॥ १३ ॥

इतने समय तक मूर्खतावश नित्यानित्य वस्तु के विषय में किसी प्रकार का विचार न कर केवल परिच्छिन्न देहादि के स्वभाव से युक्त हो स्थित था। सम्प्रति विचार से अपरिच्छिन्न आत्मस्वभाव होकर विचार करने वाला मैं कहाँ चला गया, इसका निरूपण करने में असमर्थ हूँ ॥ १४ ॥

मन के मर जाने पर 'विचार करने वाला है या नहीं' इस प्रकार का निरर्थक विकल्पश्री भी मनरूपी वेताल के पुनर्जीवन के लिए क्यों उत्पन्न होती है, इसलिए उस विकल्पश्री का मैं परित्याग करता हूँ ॥ १५ ॥

इस भीतरी संकल्प-कलना का परित्याग कर इस प्रकार का निश्चय कर ॐकार के लक्ष्यभूत तुरीय आत्मा में मौन की तरह शान्तात्म होकर स्थिर रहता हूँ ॥ १६ ॥ हे श्रीराघव ! खाते, जाते, सोते और स्थित रहते सदा-सर्वदा सर्वत्र उस प्रकार की प्रज्ञा से युक्त चित्त से तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रतिदिन अच्छी विचार करे ॥ १७ ॥

आत्मस्वरूप में अवस्थित, स्वस्थ अपने चित्त से अच्छी तरह विचार करके सत्पुरुष अपने-अपने वर्ण और आश्रमों के अनुसार प्राप्त हुए कर्मों में किसी प्रकार का उद्वेग किये बिना ही स्थित रहते हैं ॥ १८ ॥

मान और मद विगलित होने पर अन्तःकरण प्रमुदित हो जाता है, शरदृतु से समन्वित चन्द्रमा की तरह चिक्कन प्रसन्न मुखकान्ति को प्राप्त शास्त्रानुमोदित व्यवहारों में विहार करने वाले असीम बुद्धि वाले महापुरुष इस संसार में सुखपूर्वक विचरण करते हैं ॥ १९ ॥

इस प्रकार ऋषी-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमाहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
चित्तासत्ताप्रतिपादन नामक कुसुमलता का इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८१ ॥

८२

वसिष्ठ उवाच

विचार एवं विदुषा संवर्तेन कृतः पुरा ।
कथितो मम विन्ध्याद्रौ तेनैव विदितात्मना ॥ १ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य विचारपरया धिया ।
संसारसागरादस्मात् तारतम्येन संतर ॥ २ ॥
अथेमामपरां राम ! शृणु दृष्टिं पदप्रदाम् ।
मुनिना वीतहव्येन यया स्थितमशङ्कितम् ॥ ३ ॥
वीतहव्यो महातेजा विबभ्राम वने पुरा ।
विन्ध्यशैलदरीर्दीर्घा रविर्मेरुदरीरिव ॥ ४ ॥
अस्मात्क्रियाक्रमाद्घोरात् संसारभ्रमदायिनः ।
आधिव्याधिमयाकारात् कालेनोद्वेगमाययौ ॥ ५ ॥
निर्विकल्पसमाध्यंशलभ्योदारपरेच्छया ।
स जहार जगज्जीर्णां स्वव्यापारपरम्पराम् ॥ ६ ॥
विवेश रम्भारचितं निजं पर्णोटजान्तरम् ।
कृतगौरं सुसौगन्ध्यमलिर्नीलमिवोत्पलम् ॥ ७ ॥
तत्राऽऽसने समे शुद्धे स्वास्तीर्णहरिणाजिने ।
विशश्रामाऽचले शान्ते वीतवर्ष इवाऽम्बुदः ॥ ८ ॥
बद्धपद्मासनस्तस्थौ पार्ष्ण्योरधिकराङ्गुलिः ।
शृङ्गवच्छान्तचलनमतिष्ठत् स्पष्टकन्धरम् ॥ ९ ॥
स जहाराऽलमालोकाद्दिग्विकीर्णं मनः शनैः ।
विशन्मेरुदरीं सायं भानुर्भास इवोत्करम् ॥ १० ॥
बाह्यानाभ्यन्तरांश्चैव स्पर्शान्परिजहत् क्रमात् ।
इदमाकलयामास मनसा विगतैनसा ॥ ११ ॥
अहो नु चञ्चलमिदं प्रत्याहृतमपि क्षणात् ।
न मनःस्थैर्यमायाति तरङ्गप्रौढपर्णवत् ॥ १२ ॥

८२

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—इस प्रदर्शित विचार को पहले विद्वान् संवर्त ने बृहस्पति के छोटे भाई ने किया था। विन्ध्याचल पर्वत के ऊपर उसी आत्मतत्त्वज्ञ संवर्त ने उक्त विचार को मुझ से कहा था ॥ १ ॥

विचार प्रचुर बुद्धि से इसी दृष्टि का अवलम्बन कर आप इस संसारसागर के उत्तरोत्तर चित्त की विश्रान्ति के प्रकर्ष-परिपाक से भूमिकारोहणक्रम से पार हो जायें ॥२॥

हे श्रीरामजी ! अब आप इस दूसरी इन्द्रिय और मन की प्रबोधरूपिणी दृष्टि जो परमपद को प्रदान करने वाली है, श्रवण करें, इसी से महामुनि वीतहव्य ने निःशङ्क परमपद को प्राप्त किया था ॥ ३ ॥

पहले महान् तेजस्वी वीतहव्य मुनि अरण्य में समाधि के लिए अनुकूल विन्ध्यपर्वत की विस्तृत गुफा को खोजते हुए वैसे ही परिभ्रमण कर रहे थे, जैसे सहस्रांशु (सूर्य) मेरु-पर्वत की गुफाओं को खोजते हुए परिभ्रमण करते हो ॥४॥

संसाररूपी भ्रम को देने वाले तथा घोर, आधि और व्याधिमय आकारवाले इस सांसारिक क्रियाकलापों से महामुनि वीतहव्य उद्विग्न हो गये ॥ ५ ॥

केवल निर्विकल्पक समाधि से प्राप्त होने वाले उदार परब्रह्म को जानने की इच्छा से ही महामुनि ने जगत्-रूपी जीर्ण-शीर्ण अपने व्यापारों की परम्परा का उपसंहार कर उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया ॥ ६ ॥

महामुनि वीतहव्य ने कदली-पत्रों से विनिर्मित अपनी पर्णकुटी में, जिसमें कदली द्वारा श्वेत कर्पूर की रचना की गयी थी जो सुगन्ध से पूर्ण थी उसमें वैसे ही प्रवेश किया जैसे भ्रमर नीलकमल में प्रवेश करता है, ॥ ७ ॥

जैसे बरस चुका मेघ तापशून्य पर्वत के ऊपर विश्रान्ति लेता है वैसे ही महामुनि वीतहव्य ने उस पर्णकुटी में अपने द्वारा बिछाये गये, सम और शुद्ध मृगचर्म के आसन के के ऊपर विश्रान्ति ली ॥ ८ ॥

पद्मासन बाँधकर, पैर के तलवों के मूल के ऊपरी भाग पर हाथ की अंगुलियों को रख कर तथा अपनी ग्रीवा को ऊँची तानकर वैसे ही निश्चल होकर बैठे, जैसे निश्चल शृङ्ग (शिखर) स्थित होता है ॥ ९ ॥

महामुनि वीतहव्य ने इन्द्रियालोकरूपी कारण से दिशाओं में बिखरे हुए मन को उसके निग्रह के उपायों से धीरे-धीरे प्रबोधनाक्रम से अपने हृदय में वैसे ही उपसंहार कर लिया जैसे सायंकाल के समय में मेरुपर्वत की कन्दरा में प्रवेश करता हुआ रवि अपनी दीप्तिकिरणों का अपने में उपसंहार कर लेता है ॥ १० ॥

अनन्तर बाह्य और आन्तर स्पर्शों का अर्थात् बाह्य इन्द्रियों के तथा भीतरी मन के विषयरूपी स्पर्शों का परि-त्याग कर उस महामुनि ने पापशून्य मन से क्रमशः यह विचार किया ॥ ११ ॥

यह मन इतना चंचल है—क्षणमात्र के लिए किसी एक निश्चित विषय में लगाया हुआ भी उसी प्रकार स्थिरता को प्राप्त नहीं होता जैसे तरङ्गों के द्वारा बहाया गया पत्ता स्थिरता को प्राप्त नहीं करता है ॥ १२ ॥

चक्षुरादिभिरुद्दामै रूपैराहितसम्भ्रमैः ।
अजस्रमुत्पतत्येव वीटेव तलताडिता ॥ १३ ॥
त्यजदेवाऽनुगृह्णाति वृत्तीरिन्द्रियवर्धिताः ।
यस्मान्निवार्यते तस्मिन्प्रोन्मत्त इव धावति ॥ १४ ॥
घटात्पटमुपायाति पटाच्छकटमुत्कटम् ।
चित्तमर्थेषु चरति पादपेष्विव मर्कटः ॥ १५ ॥
पञ्चद्वाराणि मनसश्चक्षुरादीन्यमून्यलम् ।
दग्धेन्द्रियाभिधानानि तावदालोकयाम्यहम् ॥ १६ ॥
हे हे हतेन्द्रियगणाः किं मे बोधाय नेह वः ।
वेला विलुलिताम्बूनामब्धीनामिव चञ्चलाः ॥ १७ ॥
मा कुरुध्वमनर्थाय चापलं चपलाशयाः ।
स्मरताऽतीतवृत्तीनि दुःखजालानि भूरिशः ॥ १८ ॥
रूपाणि मनसो यूयं जडा एव किलाऽधमाः ।
जडे तृप्तिसक्तता व्यर्थं मृगतृष्णेव वल्गति ॥ १९ ॥
असारात्मस्वरूपाणामनालोकवती सदा ।
अन्धानामुद्धतिर्येयं सादृश्यायैव जायते ॥ २० ॥
चिदात्मा भगवान् सर्वं साक्षित्वेन करोम्यहम् ।
हतेन्द्रियगणा यूयं किं निरर्थकमाकुलाः ॥ २१ ॥
मिथ्यैव मे विवल्गन्ति नीरूपा नयनादयः ।
अलातचक्रप्रतिमाः सर्परज्जुभ्रमोपमाः ॥ २२ ॥
तेनाऽऽत्मना बहुज्ञेन निर्ज्ञाताश्चक्षुरादयः ।
मनागपि न सम्बन्धो द्युपातालतलाद्रिवत् ॥ २३ ॥
भीतः पान्थ इवाऽहिभ्यः पुक्कसेभ्य इव द्विजः ।
दूरे तिष्ठति चिन्मात्रमिन्द्रियेभ्यस्त्वनामयम् ॥ २४ ॥
चित्सत्तामात्रकेणाऽलं संक्षोभो भवतां मिथः ।
तिष्ठति स्वैरमादित्ये दिनकार्यवतामिव ॥ २५ ॥

जैसे करतल से विताडित गेंद नृत्य करता है वैसे ही निरङ्कुश चक्षु आदि इन्द्रियों से सम्बद्ध संभ्रमरूप अनेकविध विषयस्वरूपों को लेकर मन निरन्तर नृत्य करता है ॥ १३ ॥

इन्द्रियों के द्वारा वर्धित मन पूर्व-पूर्व वृत्तियों का त्याग कर उत्तरोत्तर तदनुसारिणी वृत्तियों को ग्रहण कर लेता है और जिस विषय से उसको हटाने का प्रयास होता है, उसी विषय में अत्यन्त उन्मत्त की तरह दौड़ता है ॥ १४ ॥

मन घट से पट के ऊपर और पट से उत्कट शकट पर दौड़ जाता है इस तरह यह चित्त अर्थों पर वैसे ही दौड़ता है, जैसे वृक्षों पर बन्दर दौड़ता है ॥ १५ ॥

अतिनिन्दित इन्द्रिय स्वरूप ये चक्षु आदि मन के पाँच द्वार हैं, उनके विषय में अच्छी तरह विचार करता हूँ ॥ १६ ॥

सागर के विलुलित जलों के तरङ्गों की तरह अति चंचल हे हतभाग्य इन्द्रियाँ ! इस जन्म में समाधि के द्वारा आत्मदर्शन के लिए अभी तक तुम्हें अवसर प्राप्त नहीं हुआ है क्या ? ॥ १७ ॥

हे चंचल-स्वभाव वाले इन्द्रियगण ! अब तुम लोग अनर्थ के लिए चपलता मत करो, अपने दुःखदायक भूतकालीन कर्मों का तुम पुनः पुनः स्मरण कर लो ॥ १८ ॥

हे इन्द्रियगण ! तुम लोग मन ही के अलग-अलग द्वार के रूपों में कल्पित हो, अतएव निश्चित अधम और जड़ हो, हम जानते हैं कि जड़ में प्रवृत्ति और जल में तरङ्ग रूपी प्रवृत्ति का अश्रयत्व मृगतृष्णिका की तरह मिथ्या है ॥ १९ ॥

अनृत स्वरूप दुर्विनय से आत्मज्ञानशून्य कुमार्ग में जो आप लोगों की प्रवृत्ति है, वह अन्धों की ही उपमा के लिए हो सकती है अर्थात् अमार्ग में दौड़ रहे अन्धों के कूप पतन की उपमा दी जा सकती है ॥ २० ॥

चिदात्मा भगवत्-स्वरूप मैं साक्षीरूप से सब कुछ करता हूँ । हे जघन्य इन्द्रियगण ! तुम क्यों निरर्थक व्याकुल हो रहे हो ॥ २१ ॥

हे चक्षुरादि इन्द्रियगण ! शून्य तुम लोग मेरे प्रति मिथ्या प्रलाप कर रहे हो, तुम लोग अलातचक्र के समान और रज्जु में सर्प-भ्रम के सदृश मान मिथ्यारूप ही हो ॥ २२ ॥

जैसे स्वर्ग और पातालतल में विद्यमान पर्वतों का परस्पर सम्बन्ध नहीं है अथवा पातालाद्रियों के साथ स्वर्ग का सम्बन्ध नहीं है वैसे ही जिस सर्वावभासक साक्षीस्वरूप प्रत्यागात्मा ने चक्षु आदि इन्द्रियों के स्वरूप का अच्छी तरह परिज्ञान कर लिया है, उस प्रत्यगात्मा के साथ उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ॥ २३ ॥

चिदेकरसस्वरूप दोषशून्य प्रत्यगात्मा इन्द्रियों से वैसे ही दूर रहता है जैसे सर्पों से डरा हुआ पथिक उनसे दूर रहता है और चाण्डालों से डरा हुआ ब्राह्मण चाण्डालों से दूर रहता है ॥ २४ ॥

हे इन्द्रियगण ! जैसे आदित्य के रहने पर श्राद्ध और कृषि आदि कर्म करने वाले पुरुषों के इच्छानुसार तत्-तत्

चित्तचारणचार्वाकचतुर्दिक्कुक्षिभिक्षुक ! ।
श्वेव व्यर्थमनर्थाय मैवं विहर हे जगत् ॥ २६ ॥
अहं चिद्वदिति व्यर्थमसत्या तव वासना ।
अत्यन्तभिन्नयोरैक्यं नाऽस्ति चिन्मनसोः शठ ! ॥२७॥
जीवाम्येवाऽहमित्येषा तवाऽहङ्कारदुर्मतिः ।
मिथ्यैव जाता दुःखाय न सत्यासत्यवर्जिता ॥ २८ ॥
अहङ्कारोदये सोऽस्मीत्येतां संरब्धतां त्यज ।
न किञ्चिदपि मूर्ख ! त्वं किं व्यर्थं तरलायसे ॥ २९ ॥
संविच्चित्त्वमनाद्यन्तं संविदोऽन्यन्न विद्यते ।
देहेऽस्मिंस्तन्महामूर्ख ! किं त्वं स्याश्चित्तनामकम् ॥३०॥
विषपर्यवसानेयं रसायनवदुत्थिता ।
भोक्तृताकर्तृताशङ्का बत चित्त मुधैव हि ॥ ३१ ॥
मोपहासपदं गच्छ मूर्खेन्द्रियगणाश्रयम् ।
न कर्ता त्वं न भोक्ता त्वं जडोऽस्यन्येन बोध्यसे ॥३२॥
कस्त्वं भवसि भोगानां के वा भोगा भवन्ति ते ।
जडस्याऽऽत्मैव ते नाऽस्ति बन्धुमित्रादि तत्कुतः ॥३३॥
यज्जडं तद्धि नाऽस्त्येव सदेवाऽसत्तयाऽन्वितम् ।
ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वमन्यत्वानामसंभवात् ॥ ३४ ॥
प्रत्यक्चेतनरूपश्चेत्त्वं तदात्मैव ते वपुः ।
भावाभावमयी चित्त ! सत्ता ते केव दुःखदा ॥ ३५ ॥
यथा कर्तृत्वभोक्तृत्वे मिथ्यैवाऽधिगते त्वया ।
मया ते हि प्रमार्ज्येते श्रृणु युक्त्या कथं शनैः ॥ ३६ ॥

कर्म रहते हैं वैसे ही केवल चैतन्य-सत्ता की सन्निधि से ही तुम लोगों की परस्पर चेष्टा उस प्रकार पूर्ण रूप से रहती है ॥ २५ ॥

हे चित्त रूपी चारण ! (इन्द्रियों की बहिर्मुखता के प्रचार में हेतुभूत), हे चार्वाक ! (देह में आत्माभिमान करने वाले), हे चारों दिशाओं में उदरभरण के लिए भिक्षा माँगनेवाले ! तुम इस जगत् में कुत्ते की तरह निरर्थक अनर्थ के लिए इस प्रकार विचरण मत करो ॥ २६ ॥

हे शठ ! 'मैं चेतनधर्मा हूँ' इस प्रकार की तुम्हारी वासनारूपी भ्रान्ति मिथ्या और निरर्थक है, क्योंकि परस्पर एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न धर्मवाले चित् और मन की एकता नहीं हो सकती है ॥ २७ ॥

हे चित्त ! 'मैं ही जीता हूँ' इस प्रकार की यह तुम्हारी अहंकाररूपी दुर्बुद्धि दुःख के लिए मिथ्या ही उत्पन्न हुई है । वह सत्य नहीं है, क्योंकि वह परमात्मस्वरूप से वर्जित है । आशय यह है कि अहंकार के अधीन होकर जीवन सत्यभूत नहीं हो सकता, क्योंकि उस अहंकार के न रहने पर भी सुषुप्ति में जीवन रहता है । अहंबुद्धि मिथ्यास्वरूप है, क्योंकि सत्यभूत परमात्मा का उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ॥ २८ ॥

हे चित्त ! अहंकार अभिमानरूप तुम्हारे परिणाम का आविर्भाव होने पर कार्य-कारण संघातरूप मैं ही हूँ' इस प्रकार जो तुम अभिमान करते हो, उसे छोड़ दो । हे मूर्ख ! तुम कुछ भी नहीं हो, इसलिए क्यों व्यर्थ चंचल हो रहे हो ॥ २९ ॥

संविद्रूपी चैतन्य अनादि और अनन्त है, संविद् से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इसलिए हे महामूर्ख ! इस शरीर में चित्तनामवाले तुम कौन हो ? ॥ ३० ॥

हे चित्त ! भोग के बाद क्षण में विष में पर्यवसित होनेवाली और भोगकाल में अमृत के समान उदय यह तुम्हारा कर्तृत्व, भोक्तृत्व का अभिमान व्यर्थ ही है ॥ ३१ ॥

हे मूर्ख चित्त ! चक्षु आदि इन्द्रिय-गणों का आश्रयण कर तुम उपहास के पात्र मत बनो । तुम न कर्ता हो और न भोक्ता हो, जड़ हो । तुम दूसरे साक्षी के द्वारा बोधित हो ज्ञानी बनते हो ॥ ३२ ॥

हे चित्त ! तुम भोगों के कौन हो या भोग तुम्हारा कौन हैं ? जड़स्वरूप तुम्हारा अस्तित्व ही नहीं है, ऐसी स्थिति में बन्धु, मित्र आदि तुम्हारे कैसे हो सकते हैं ॥३३॥

जड़स्वरूप का अस्तित्व ही नहीं है जैसे जपाकुसुम की लालिमा से स्फटिक में ललिमा दिखाई पड़ती हैं, वैसे ही परमात्मा के अस्तित्व से जड़ में अस्तित्व दिखाई पड़ता है । स्वयं तो असत्ता से समन्वित है । ज्ञातृत्व, कतृत्व, भोक्तृत्व और पूर्वापर अनुसन्धानस्वरूप कर्तृत्व— ये चैतन्य के बिना नहीं हो सकते ॥ ३४ ॥

हे चित्त ! 'प्रत्यक् चेतनास्वरूप ही मैं हूँ' इस प्रकार तुम्हारे द्वारा अपने को प्रत्यक् चेतनरूप मानने पर तुम्हारा स्वरूप आत्मा ही हुआ, तब दुःखप्रद भावाभावमयी तुम्हारी सत्ता कैसी ? निखिल विकल्पों का त्याग हो जाने पर तुम्हारी चित्तस्वरूपता हो ही नहीं सकती ॥ ३५ ॥

हे चित्त ! तुमने जिस तरह जिन मिथ्या कर्तृत्व और भोतृत्व दोनों का ज्ञानकर लिया है, उसका मैं युक्ति से किस प्रकार परिमार्जन कर देता हूँ, उसे धैर्यपूर्वक सुनो ॥ ३६ ॥

स्वयं तावद्भवानेष जडो नाऽस्त्यत्र संशयः ।
जडस्य कीदृक्कर्तृत्वं नृत्यन्तीह कथं शिलाः ॥ ३७ ॥
उपजीव चिरं तस्माच्छुद्धं तद्भागमैश्वरम् ।
जीवसीच्छसि हंसि त्वं वृथा यासि विवल्गसि ॥ ३८ ॥
क्रियते यत्तु यच्छक्त्या तत्तेनैव कृतं भवेत् ।
लुनाति दात्रं पुंशक्त्या लावकः प्रोच्यते पुमान् ॥ ३९ ॥
हन्यते यस्तु यच्छक्त्या स तेनैव हतो भवेत् ।
निहन्ति खड्गः पुंशक्त्या हन्तैव प्रोच्यते पुमान् ॥ ४० ॥
पीयते यस्तु यच्छक्त्या पीतं तेनैव तद्भवेत् ।
पात्रेण पीयते पानं पाता यस्तूच्यते नरः ॥ ४१ ॥
प्रकृत्यैवाऽसि सुजडः समस्तज्ञेन बोध्यसे ।
तेनाऽऽत्मैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं चिनोतीदं हि नो भवत् ॥४२॥
अनारतं बोधयति त्वामात्मा परमेश्वरः ।

हे चित्त ! तुम स्वयं ही जड़स्वरूप हो, इसमें सन्देह नहीं है। जड़ में कैसे कर्तृत्व रह सकता है। क्या पत्थर की मूर्तियाँ भी यहाँ किसी तरह नाच सकती हैं ॥ ३७ ॥

हे चित्त ! उस ईश्वर के चिदाभासरूपी अंश से दीर्घ काल तक अपना जीवन-निर्वाह करो, स्वतः तुम अपना जीवन निर्वाह नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में प्रतिमा के नर्तनरूपी फल का उपभोक्ता जैसे चेतन ही है, प्रतिभा नहीं है, वैसे ही तुम्हारे द्वारा किये गये जीवन आदि फलों का उपभोक्ता चिदात्मा ही है, अतः तुम जीवन, अभिलाष, हनन, गमन और गर्जन के लिए वृथा ही दौड़-धूप करते हो ॥ ३८ ॥

जिसकी शक्ति से जो किया जाता है, वह उसी के द्वारा किया हुआ होता है। पुरुष की शक्ति से हँसुआ काटता है, पर काटने वाला तो पुरुष ही कहा जाता है ॥ ३९ ॥

जिस की शक्ति से जिसका हनन होता है, वह उसी के द्वारा मारा गया कहा जायगा, पुरुष की शक्ति से तलवार हनन करती है, पर हनन करने वाला पुरुष ही कहा जाता है ॥ ४० ॥

जिस की शक्ति से जो पिया जाता है, वह उसी के द्वारा पिया गया कहा जाता है, पात्र के द्वारा जल आदि पिये जाते हैं, पर मनुष्य पीने वाला कहा जाता है, पात्र नहीं ॥ ४१ ॥

तुम स्वभाव से ही जड़ हो, पर उसी सर्वज्ञ साक्षी के द्वारा ज्ञान सम्पन्न होते हो, क्योंकि आत्मा ही स्वयं अपने से भोक्ता, भोग्य, करण, उपकरण आदि जगत् के रूप से स्वप्न की तरह सृष्टि करता है ॥ ४२ ॥

बोधनीया बुधैर्मूढाः किलाऽऽवृत्तिशतैरपि ॥ ४३ ॥
आत्मसत्तैव बोधैकरूपिणी स्फुरतीह हि ।
तयैव चित्तशब्दार्थावङ्गीकृत्य त्वया स्थितम् ॥ ४४ ॥
एवं चित्त त्वमज्ञानादात्मशक्तेरुपागतम् ।
ज्ञाने त्वया विगलितं तीव्रे हिममिवाऽऽतपे ॥ ४५ ॥
तस्मान्मृतं त्वं मूढं त्वं नाऽसि त्वं परमार्थतः ।
तदेवाऽहमिति व्यर्थमतो माऽस्त्वसुखाय ते ॥ ४६ ॥
असत्या चित्तकलना इन्द्रजाललता इव ।
विज्ञानमात्रमेवेह ब्राह्ममङ्गं विजृम्भितम् ॥ ४७ ॥
नरामरजगद्रूपैर्ब्राह्मी शक्तिरुदेत्यलम् ।
सामुद्रकणकल्लोलजालैर्वेलेव वल्गति ॥ ४८ ॥
चिन्मयश्चेद्भवेर्मूढ ! तत्तस्मात् परमात्पदात् ।
नित्यमव्यतिरिक्तं त्वं किमन्यत्परिशोचसि ॥ ४९ ॥

आत्मारूपी परमात्मा ही निरन्तर तुम्हें चिदाभास-व्याप्ति से ज्ञान प्रदान करते हैं, क्योंकि सैकड़ों बार आवृत्ति करते हुए भी पण्डित लोगों के द्वारा मूर्खों को बोध देना ही चाहिए ॥ ४३ ॥

इस ब्रह्माण्ड में केवल बोधमात्रस्वरूप आत्मसत्ता से तुमने नाम और अर्थ की प्राप्त कर अपना अस्तित्व स्थिर किया है ॥ ४४ ॥

हे चित्त ! इस प्रकार तुम अज्ञानरूपी आत्मशक्ति से ही ज्ञान प्राप्त होने पर तुम वैसे ही विगलित हो जाते हो, जैसे तीव्र आतप में हिम ॥ ४५ ॥

इससे तुम तत्त्वरहित हो, मूढ हो और परमार्थदशा में तुम्हारा अस्तित्व भी नहीं है। इसलिए 'मैं तत्स्वरूप हीं हूँ' ऐसा निरर्थक तादात्म्याध्यास, जन्म आदि दुःख के लिए तुम नहीं हो ॥ ४६ ॥

ऐन्द्रजालिक लता की तरह चित्त की कल्पना मिथ्या है। इस ब्रह्माण्ड में विज्ञानमात्रस्वभाव ब्रह्म का ही स्वरूप सर्वोपरि विराजमान है ॥ ४७ ॥

ब्राह्मीशक्ति से युक्त माया ही मनुष्य, देवता और समस्त जगत् के रूपों से आविर्भूत है। तत्-तत् रूपों से वह वैसे ती गरजती है, जैसे समुद्र के तरङ्गों के कल्लोलों से संवलित तट गरजता हो ॥ ४८ ॥

हे मूढ ! यदि तुम आत्मतत्त्व के परिज्ञान से चिन्मय हो जाने पर चिद्भेद के सम्पादक कारण के न रहने से तुम उस परम पद से निरन्तर अव्यतिरिक्त-स्वरूप वाले ही हो जाओगे। फिर किस के विषय में तुम शोक करते हो ॥ ४९ ॥

सर्वगं सर्वभावस्थं सर्वरूपं हि तत्पदम् ।
तत्प्राप्तौ सर्वमेवाऽज्ञ ! प्राप्तं भवति सर्वदा ॥ ५० ॥
न त्वमस्ति न देहोऽस्ति ब्रह्माऽस्तीह महत् स्फुरत् ।
अहं त्वमिति निस्पन्दे स्फुरत्यार्तिर्हि कस्य का ॥ ५१ ॥
आत्मा चेत्त्वं तदात्मैव सर्वगोऽस्तीह नेतरः ।
आत्मनोऽन्यज्जडत्वं चेत्तत्त्वं नाऽस्त्यस्ति तद्वपुः ॥५२॥
आत्मैव सर्वं त्रिजगत्तदन्यत्तु न किञ्चन ।
तत्त्वं किञ्चित्त्वमात्माऽन्यद्यदि तत्त्वं न किञ्चन ॥ ५३॥
अहं त्विदमहं तन्म इति व्यर्थं किमीहसे ।
असद्वपुः किं स्फुरति शशशृङ्गेण को हतः ॥ ५४ ॥
तृतीया कलना नाऽस्ति चिज्जडांशेतरा शठ ! ।
छायातपनयोर्मध्ये तृतीयेवाऽनुरञ्जना ॥ ५५ ॥

हे अज्ञानी ! वह परमपद सर्वत्र जाने वाला, अतीत एवं अनागत सब पदार्थों में स्थित कालकृत परिच्छेद से शून्य और सब का स्वरूपभूत है, उसकी प्राप्ति हो जाने पर सर्वदा सभी कुछ प्राप्त हो जाता है ॥ ५० ॥

उस समय ब्रह्म से न तो तुम अलग हो और न देह ही अलग है, व्यापक एवं प्रकाशस्वभाव ब्रह्मरूप ही सब कुछ है। यहाँ 'अहम्, त्वम्' इस प्रकार का व्यवहार क्रिया रहित ब्रह्म में स्फुरित होता है, इसलिए किस को क्या दुःख होगा ॥ ५१ ॥

तुम आत्मस्वरूप हो जाने पर तत्स्वरूप ही रहोगे, क्योंकि इस संसार में सर्वत्र व्यापक केवल आत्मा का ही अस्तित्व है, उससे अतिरिक्त दूसरे किसी का अस्तित्व नहीं है। यदि कहो कि जड़ का अस्तित्व है ? तो वह पृथक् तत्त्व ही नहीं है, परन्तु ब्रह्मरूप ही है ॥ ५२ ॥

समस्त तीनों जगत् आत्मस्वरूप ही हैं, आत्मा से भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं है। इसलिए यदि तुम आत्मा से पृथक् किसी वस्तु के रूप में अपने को मानोगे, तो तुम कुछ भी नहीं हो तुम परमार्थरूप हो ही नहीं ॥ ५३ ॥

मैं बालशरीर हूँ, मैं वृद्धशरीर हूँ, बालशरीर के सम्बन्धी क्रीडा के उपकरण आदि और वृद्धशरीर के सम्बन्धी पुत्र-पौत्र आदि मेरे हैं—इस प्रकार निरर्थक इच्छा क्यों करते हो, क्योंकि आत्मस्वरूप हो जाने वाले की दृष्टि में देह पारमार्थिक नहीं रहती, क्या असत्-शरीर कहीं प्रस्फुरित होता है ? यदि कहो कि हां, तो बतलाओ कि कौन शशशृङ्ग के द्वारा मारा गया ॥ ५४ ॥

हे शठ ! चित् और जड़ इन दो अंश-कलनाओं को छोड़ कर भिन्न तीसरी कोई कलना वैसे ही नहीं रहती जैसे इस जगत् में छाया और आतप इन दो के बीच में से किसी एक का ही अनुरञ्जन (सम्बध) सब पदार्थों में रहता है, तीसरे किसी का अनुरञ्जन नहीं रहता है ॥ ५५ ॥

सत्यावलोकनाज्जाते चित्तजाड्यदृशोः क्षये ।
संपद्यते यत्तु तज्जं स्वसंवेदनमात्रकम् ॥ ५६ ॥
तेन मूढ ! न कर्तृत्वं न भोक्तृत्वं तवाऽपि हि ।
तदेवाऽसि परं ब्रह्म त्यज मौर्ख्यं भवाऽऽत्मवान् ॥ ५७ ॥
केवलं ज्ञत्वविषयमुपदेशार्थसिद्धये ।
त्वया कारणभूतेन करोत्यात्मेति कथ्यते ॥ ५८ ॥
असत्स्वरूपं करणं जडं निरवलम्बनम् ।
निःस्पन्दनं न स्पन्देत कर्तृसम्बोधनं विना ॥ ५९ ॥
अकर्तुः करणस्याऽस्य शक्तिः काचिन्न विद्यते ।
दात्रस्य लावकाभावे कर्तुं किमिव शक्तता ॥ ६० ॥
खड्गप्रहारविच्छेदक्रियायां पुंसि शक्तता ।
न खड्गे सुजडे ! चित्त सर्वाङ्गेष्वपि शक्तता ॥ ६१ ॥

त्रिकाल में अबाधित आत्मा के साक्षात्कार से चित्त और उसकी जड़ता का क्षय हो जानेपर चरम यथार्थ साक्षात्कार से आविर्भूत स्वसंवेदन मात्र स्वरूप ही चित्त का तात्त्विक स्वरूप है ॥ ५६ ॥

हे मूढ ! इस कारण तुम में न तो कर्तृत्व है और न भोक्तृत्व भी है। तुम परब्रह्मस्वरूप ही हो, मूर्खता का परित्याग करो और आत्मवान् हो जाओ ॥ ५७ ॥

अज्ञान-दशा में ही आत्मशास्त्र और आचार्य के द्वारा किये गये उपदेशों की सिद्धि के लिए करणरूप से कल्पित तुम्हारे द्वारा आत्मा शुद्धस्वरूप अपने तत्त्व को अन्तिम साक्षात्कार का विषय करता है यह कहा जाता है। जैसे अपने मुख के स्वरूप को देखने की इच्छा करने वाला पुरुष दर्पणरूप उपाधि के द्वारा अपने मुखरूप ही करण से मुख को देखता है ॥ ५८ ॥

स्वतः स्पन्दन-शक्ति से रहित, असत्-स्वरूप वाला तथा अवलम्बन वर्जित जड़रूप करण चैतन्य के द्वारा सम्पादित कर्तव्यार्थ-प्रकाश के बिना स्पन्दन नहीं कर सकता है ॥ ५९ ॥

कर्ता के द्वारा अधिष्ठित हुए विना इस करण में किसी प्रकार की शक्ति नहीं रहती है। काटने वाले के न रहने पर क्या हँसुए में कुछ करने की शक्ति रह सकती है ॥ ६० ॥

हे चित्त ! खड्गप्रहार और छेदन क्रिया के लिए पुरुष ही समर्थ है। अत्यन्त जड़ तलवार में मूल से लेकर

तस्मान्नाऽसि सखे ! कर्तृ मा व्यर्थं दुःखभाग्भव ।
परार्थं क्लेशिता मूर्ख ! प्राकृतेषु न शोभते ॥ ६२ ॥
ईश्वरो नेदृशः शोच्यो यस्त्वया सदृशो भवेत् ।
न च तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ॥ ६३ ॥
गर्वात्तूपकरोम्येनमिति केवलमल्पधीः ।
विलश्यते वसतां त्वर्थो न किञ्चिदुपयुज्यते ॥ ६४ ॥
कर्तुर्भोगेश्वरस्यैवमर्थे चेदनुवर्तसे ।
तदस्य काचिन्नेच्छेह तृप्तत्वात् सर्वदैव हि ॥ ६५ ॥
अकृत्रिमावभासेन सर्वगेन चिदात्मना ।
एकेनैवेदमापूर्णं कल्पनैवाऽस्ति नेतरा ॥ ६६ ॥
एकानेकावभासेन समस्तेन तदात्मना ।

समस्त अवयवरूप उपकरणों के रहने पर भी उसमें छेदन की शक्ति नहीं रह सकती है ॥ ६१ ॥

हे सखे ! तुम कर्ता नहीं हो, अतः निरर्थक दुःखभागी मत बनो। हे मूर्ख ! साधारण पुरुष सदृश प्रकृति के कार्यों में दूसरे के लिए क्लेश सहना शोभा नहीं देता है ॥ ६२ ॥

तुम्हारे सदृश के लिए तुम्हें शोक करना चाहिए, ईश्वर तुम्हारे सदृश नहीं है अतः उसके लिए क्या शोक करते हो। क्योंकि उसका न तो कोई कृत कर्म से ही यहाँ प्रयोजन है और न कोई अकृत अकर्म से ही प्रयोजन है ॥ ६३ ॥

हे चित्त ! 'इस आत्मा का कार्यकारणसंघात के अभिमान से मैं उपकार करता हूँ' इस भ्रम से तुम परिच्छिन्न बुद्धि को पीडित कर रहे हो। संघात में रहने वाले पाँच प्राण, मन, बुद्धि और दस इन्द्रिय सभी अचेतन हैं, उनका भोगों से प्रयोजन नहीं है, इसलिए किसी का किसी के लिए कुछ भी उपयोग नहीं है ॥ ६४ ॥

भोग के स्वामी कर्ता परमात्मा के लिए मेरी इस प्रकार की अर्थों में प्रवृत्ति है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि भोग के स्वामी परमात्मा की कुछ भी इच्छा नहीं है, क्योंकि वह सदा ही तृप्त है ॥ ६५ ॥

स्वभावतः प्रकाशस्वभाव, व्यापक, अद्वितीय चैतन्यात्मा ने ही इस समस्त ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर रक्खा है, दूसरी कोई कल्पना ही नहीं है ॥ ६६ ॥

एक और अनेक के प्रकाशक, समस्त स्वरूप आत्मा ने स्वयं आत्मा के अन्दर जगत् का निर्माण किया है, अतः सब कुछ प्राप्त होने से अन्तरात्मा किस की इच्छा करेगा ॥ ६७ ॥

आत्मन्येवाऽन्तरात्माऽन्तः क्रियते किं किमिष्यते ॥६७॥
त्वादृशस्य तु दृष्ट्यैव क्षुब्धता जायते मुधा ।
आलोक्य राजमहिषीं यूनो मदमयी तथा ॥ ६८ ॥
आत्मना सह सम्बद्धं चेतः कर्त्रासि सुन्दर ! ।
किन्तु नाऽस्याऽसि सम्बन्धि कुसुमस्य यथा फलम् ।६९।
द्वितीयेन समं यैषा तत्तावद्भुवनैकता ।
सा सम्बन्धगतिः प्रोक्ता प्राग्द्वित्वादघुनैकता ॥ ७० ॥
नानाप्रकाररचना नानारूपक्रियोन्मुखी ।
सुखदुःखदशाऽहेतुर्भवान्नैकविधा स्मृता ॥ ७१ ॥
सम्बन्धः समयोर्दृष्टस्तथाऽर्धसमयोरपि ।
न विलक्षणयोश्चाऽन्यस्तस्मिन् सति जगत्त्रये ॥ ७२ ॥

जिस प्रकार राजा की स्त्री को देखकर मूर्ख युवा को वैसे ही मदमयी अवस्था उत्पन्न होती है। जैसे मूर्खों की दृष्टि से ही इस जगत् में व्यर्थ क्षोभ उस प्रकार उत्पन्न होता है ॥ ६८ ॥

हे सुन्दर चित्त, तुम आत्मा के साथ अपना सम्बन्ध करने की इच्छा रखते हो, किन्तु तुम उसके सम्बन्ध के योग्य वैसे ही नहीं हो सकते, जैसे कुसुम के सम्बन्ध के योग्य फल नहीं हो सकता। आशय यह है कि पुष्प से उत्पन्न फल पुष्प से बहिर्मुख होने के कारण पुष्प में रहने वाले सुगन्ध आदि के उपभोग हेतु सम्बन्ध के योग्य नहीं होता, क्योंकि फल की अभिवृद्धि होने पर पुरुष का तिरोभाव हो जाता है ॥ ६९ ॥

एक पदार्थ की क्रिया से या उभय पदार्थों की क्रियाओं से एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में मिल जाने से एक का दूसरे में जो अन्तर्भाव होता है या उस अन्तर्भाव से जो तादात्म्य होता है, वही सम्बन्ध का लक्षण है, इस प्रकार सम्बन्ध का लक्षण विद्वानों के द्वारा कहा गया है। यह सम्बन्ध द्वैतावस्था में ही हो सकता है, द्वैत के न रहने पर अद्वैत अवस्था में सम्बन्ध कैसे रह सकता है ॥ ७० ॥

तुम स्वतः एक प्रकार के नहीं हो, तुम्हारे कार्य भी अनेक प्रकार के हैं और नाना प्रकार की विहित और निषिद्ध क्रियाओं की ओर झुकी हुई तुम्हारी सुख-दुःख दशाएँ भी चारों ओर से प्रसिद्ध हैं ॥ ७१ ॥

जो सम हैं, उनका अर्थात् क्षीर और क्षीर का, जो अर्धसम हैं, उनका अर्थात् क्षीर-नीर का भी परस्पर सम्बन्ध देखा गया है। परन्तु जो विलक्षण हैं अर्थात् अग्नि और जल की तरह अत्यन्त विरुद्ध उनका सम्बन्ध नहीं

द्रव्यान्तरगुणा द्रव्याण्याश्रयन्ति बहून्यलम् ।
संविदश्च्यवनं दुःखं संविदो मा च्युतो भव ॥ ७३ ॥
एतावतैकध्यानेन नित्यध्यानोऽथवाऽऽत्मदृक् ।
अभावे दुःखदस्याऽन्तर्दृशा दृश्यस्य वस्तुनः ॥ ७४ ॥
सङ्कल्पोन्मुखतां विद्धि दुःखदां संविदश्च्युतिम् ।
जडेष्पलभूतेषु मनोदेहेन्द्रियादिषु ॥ ७५ ॥
कीदृशी कर्तृता चित्त ! पुष्पं व्योम्नि कथं भवेत् ।
निरस्तकलनापङ्के मननध्वंसरूपिणि ॥ ७६ ॥
न चैवाऽऽत्मनि कर्तृत्वं संभवत्यम्बराङ्गवत् ।
अयं केवलमात्मैव नानानानातयाऽऽत्मनि ॥ ७७ ॥

हो सकता, क्योंकि विरोधियों का समूह होने पर एक का विनाश ही देखा जाता, सम्बन्ध का अवस्थान नहीं देखा गया है ॥ ७२ ॥

संस्कृत व्याख्या के अनुसार शब्द, स्पर्श आदि विरुद्ध गुणवान् पदार्थों में परस्पर विरुद्धता नहीं है, क्योंकि दूसरे द्रव्यों के गुण भी परस्पर मेलन में पञ्चीकृत द्रव्यों का आश्रयण करते हैं ।

'शब्दैकगुणमाकाशं शब्दस्पर्शगुणो मरुत् ।
शब्दस्पर्शरूपगुणैस्त्रिगुणं तेज उच्यते ॥
शब्दस्पर्शरूपरसगुणैरापश्चतुर्गुणाः ।
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः पञ्चगुणा मही ॥'

(आकाश केवल शब्द गुणवाला है, वायु शब्द और स्पर्श गुणवाला है, तेज शब्द स्पर्श और रूप—इन तीन गुणों से तीन गुण वाला कहा जाता है, जल शब्द, स्पर्श रूप और रस–इन चार गुणों से युक्त है और पृथ्वी शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध—इन पाँच गुणों से युक्त हैं) । संवित् और जड़ता का विरोध होने से जड़रूप तुम्हारे द्वारा यदि संवित् च्युत हो जायगी तो साधक के अभाव से जड़ अंश की सिद्धि ही नहीं होगी, तुम्हारी ही असिद्धि का प्रसङ्ग रूप दुःख प्राप्त हो जायगा । यदि संवित् के द्वारा च्युत हो जाओगे तो तुमने अपने ही विनाश के लिए आत्मसम्बन्ध की इच्छा की, यह होगा । इसलिए आत्मा के साथ सम्बन्ध चाहने वाले तुम को उभयथा संवित् से च्युत न होना चाहिए ।। ७३ ।।

अथवा आत्मज्ञान से तुम्हारे जैसे दुःखप्रद दृश्यों का उच्छेद हो जाने पर दुःखशून्य निरतिशयानन्दात्ममात्र का ही शेष रह जाता है । यदि इतने से तुम सन्तुष्ट रह सकते हो, तो एकाग्र ध्यान से दीर्घ काल तक अविच्छिन्न समाधि से युक्त होकर आत्मदर्शी हो जाना चाहिए ।।७४।।

स्फुरत्यब्धिरिवाऽम्भोभिः फेनबुद्बुदवीचिभिः ।
आभासमात्रे सर्वस्मिन् स्फुरत्यस्मिश्चिदात्मनि ॥ ७८॥

द्वितीया नाऽस्ति कलना तप्ताङ्गार इवाऽम्बुधौ ।
कलनारहिते देवे देहे मनसि वा जडे ॥ ७९ ॥

संवित्संवेद्यनिर्मुक्ता सारं सुन्दर नेतरत् ।
इदमन्यदिदं नाऽन्यच्छुभं वाऽशुभमेव च ॥ ८० ॥

इत्यसत्कल्पना नाऽस्ति यथा नभसि काननम् ।
संवेद्यरहितं संविन्मात्रमेवेदमाततम् ।
तत्राऽयमहमन्योऽयमित्यसत्कलना कथम् ॥ ८१ ॥

पाषण के समान जड़ मन, देह, इन्द्रिय आदि में सङ्कल्पोन्मुखता को तुम दुःखप्रद संवित् का अभाव समझो ॥ ७५ ॥

हे चित्त ! कल्पनारूपी पङ्क से रहित सङ्कल्पादि मनन के ध्वंसरूप आत्मा में कर्तृता कैसे रह सकती है क्या आकाश में पुष्प किसी तरह उत्पन्न हो सकता है ? ।। ७६ ।।

आत्मा में कर्तृत्व वैसे ही नहीं हो सकता जैसे आकाश में हाथ, पैर आदि अङ्ग हो ही नहीं सकते । हे चित्त, तुम्हारे ही द्वारा कल्पित अनेकरूपता और एकरूपता से यह आत्मा अपने में केवल स्फुरित दीखता है, कल्पना नहीं करता ।। ७७ ।।

आभासमात्र स्वरूप सर्वात्मक इस चिदात्मा में जगत् वैसे ही स्फुरित होता है जैसे समुद्र अपने अन्दर जलस्वरूप फेन, बुद्बुद और तरङ्गों से स्फुरित होता है ॥ ७८ ॥

आत्मा में दूसरी कोई कल्पना वैसे ही नहीं रह सकती जैसे समुद्र में तप्त अङ्गार नहीं रह सकता, इस प्रकार जब आत्मदेव में कल्पना का अभाव है तथा मन एवं देह जड़ हैं, तब विवेकदृष्टि से 'यह अन्य है, यह अन्य नहीं है, यह शुभ है, यह अशुभ है' इत्यादि असत् कल्पनाएँ कल्पक के अभाव से ही नहीं रह सकती । अतः हे सुन्दर चित्त ! संवेद्य से निर्मुक्त संवित् ही सारभूत वस्तु है, अन्य नहीं ।। ७९, ८० ।।

हे चित्त ! पूर्वोक्त असत् अल्पनाएँ आत्मा में वैसे ही नहीं है जैसे आकाश में अरण्य नहीं है । संवेद्य से रहित केवल संवित् ही इस जगत् के रूप में विस्तृत है, इसलिए उसमें 'यह मैं हूँ यह अन्य है' इस प्रकार की असत् कल्पनाओं का अवसर ही कैसे आ सकता है ? ॥ ८१ ॥

अनादिमति नीरूपे सर्वगे विततात्मनि ।
आरोपयेत् कः कलनामृग्वेदं व्योम्नि को लिखेत् ॥८२॥
नित्योदिते सकलवस्तुपदार्थसारे
संवित्स्थिते भरितनिर्भरभूरिदिक्कम् ।
आत्मन्यसत्यमिव साधुगतेऽमलत्वात्
क्षीणौ सुखासुखलवौ मम वै स मोहः ॥ ८३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे इन्द्रियानुशासनयोगोपदेशो नाम द्व्यशीतितमः सर्गः ॥ ८२ ॥

अनादि, रूप रहित सर्वगामी और व्यापक आत्मा में कल्पनाओं का कौन आरोप कर सकता है ? क्या आकाश में ऋग्वेद आदि लेख्यमात्र को कोई लिपिबद्ध कर सकता है ? ॥ ८२ ॥

अपने स्वच्छ स्वभाव से तुमने जब असंदिग्ध और प्रत्यक्ष रूप से यह अवगत कर लिया कि वस्तुरूप से प्रसिद्ध तथा पद और अर्थों में सारभूत केवल संवित्स्वभाव आत्मा ही समस्त दिशाओं को पूर्ण कर अवस्थित है, तब मेरे सुख-दुःखों के लेश उसी प्रकार क्षीण हो गये, जैसे मृगतृष्णा में प्रतीत उदक, रज्जु में प्रतीत सर्प और शुक्ति में प्रतीत वजत सत्यज्ञान से क्षीण हो जाते हैं, क्योंकि निश्चय ही पूर्वोक्त सुख-दुःखप्रत्यय भ्रान्तिरूप हैं ॥ ८३ ॥

इस प्रकार ऋषी-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में इन्द्रियानुशासनयोगोपदेश नामक कुसुमलता का बयासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८२ ॥

८३

वसिष्ठ उवाच

भूयो मुनिवरो धीरो धिया धवलमेधया ।
स्वमिन्द्रियगणं गुप्तो बोधयामास साध्विदम् ॥ १ ॥
तच्चेन्द्रियगणस्यार्ऽथे शृणु वक्ष्यामि ते स्फुटम् ।
श्रुत्वा तद्भावनामेत्य परां निर्दुःखतां व्रज ॥ २ ॥
भवतामात्मसत्तैषा दुःखायैवाऽन्तदायिनी ।
असत्यामात्मनः सत्तां तद्भवन्तस्त्यजन्त्विति ॥ ३ ॥
मदीयेनोपदेशेन सत्तैषा भवतां क्षयम् ।
गतैवेति स्फुटं मन्ये यूयं ह्यज्ञानसम्भवाः ॥ ४ ॥
स्वसत्ता स्फुटतां याति दुःखाय तव चित्तक ! ।
तप्तकाञ्चनरुल्लासो दाहायैव स्वपार्श्वयोः ॥ ५ ॥
पश्य त्वयि सति भ्रान्तजलकल्लोलसङ्कुलाः ।
विशन्ति कालजलधिं संसारसरितां गणाः ॥ ६ ॥

८३

वसिष्ठजीने कहा—मुनियों में श्रेष्ठ धीर उस वीतहव्य मुनि ने विशुद्ध धारणा से समन्वित ज्ञान से एकान्त में स्थित हो पुनः अपने इन्द्रियों को भलीभाँति यह ज्ञात कराया ॥ १ ॥

इन्द्रियों के लिए मुनि वीतहव्य ने एकान्त में स्थित हो किये गये बोध को मैं आप से स्पष्ट कहता हूँ, उसे श्रवण करें। श्रवण करने से आप भावना को प्राप्त होकर मुक्त हो जायेंगे ॥ २ ॥

हे इन्द्रियवृन्द ! आप लोगों की यह अविचारदृष्टि से प्रसिद्ध आत्मसत्ता अपना अस्तित्व है। जीवनकाल में अनर्थ रूप दुःख का साधन है और उसके बाद मृत्यु, नरक आदि को देने वाला है, इसलिए सद्विचार से आप अपनी मिथ्याभूत सत्ता का परित्याग कर दें ॥ ३ ॥

मेरे आत्मतत्त्व के उपदेश से आप लोगों की यह मिथ्याभूत सत्ता विनष्ट हो गई, ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि आप अज्ञान से उत्पन्न हैं, अतः उपदेश से अज्ञान का विनाश हो जाने पर सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकेंगे ॥ ४ ॥

हे तुच्छ चित्त, तुम्हारी सत्ता केवल तुम्हारे दुःख के लिए ही स्पष्टरूप को वैसे ही प्राप्त होती है, जैसे जलते समय तप्त कांचन की तरह प्रज्वलित होकर शब्द करने वाली अग्नि में की क्रीड़ा बालक और पक्षियों के पार्श्वभाग के दाह के लिए होती है ॥ ५ ॥

चित्त और इन्द्रियसमुदाय की सत्ता से हुई अनर्थ-परम्परा को दिखलाते हैं—'पश्य' इत्यादि से ।

तुम देखो तुम्हारा अस्तित्व होने पर भ्रमणशील मूर्खों के राग, द्वेष आदि तरङ्गों से व्याप्त संसाररूपी नदियों का समूह कालरूपी विशाल समुद्र में प्रविष्ट हो रहा है ॥ ६ ॥

पतन्त्यहमहमिकाविहिताऽन्योन्यचिन्तिताः ।
कुतोऽपि दुःखावलयो धारा आसारगा इव ॥ ७ ॥
परिस्फुरत्यपर्यन्ता हृदयोन्मूलनोद्यता ।
आक्रन्दकारिणी क्रूरा भावाभावविषूचिका ॥ ८ ॥
कासश्वासरणद्भृङ्गा कलेवरजरद्द्रुमे ।
विकसत्यमलोद्योता जरामरणमञ्जरी ॥ ९ ॥
कल्लोलव्यालवलिते शरीरश्वभ्रकोटरे ।
घननीहारखे स्वान्तश्चिन्ताचपलमर्कटी ॥ १० ॥
लोभनाटचारटत्पक्षी तीक्ष्णया द्वन्द्वतुण्डया ।
कायजीर्णद्रुमादस्माद्गुणखण्डं निकृन्तति ॥ ११ ॥
हृदयावकरं कीर्णमितश्चेतश्च कर्कशः ।
अपवित्रो दुराचारः कुरुते कामकुक्कुटः ॥ १२ ॥
महत्यां मोहयामिन्यामुल्बणोऽज्ञानकौशिकः ।
श्मशान इव वेतालः परिवल्गति हृद्द्रुमे ॥ १३ ॥

परस्पर एक दूसरों के अहंकारों से होनेवाले एक दूसरों के वध, पराजय, उत्पीड़न आदि की चिन्ताओं से युक्त दुःख की पंक्तियाँ कहीं से वैसे ही गिर रही है, जैसे महावृष्टि की धाराएँ गिर रही हों ॥ ७ ॥

असीम, हृदय का उन्मूलन करने के लिए उद्यत, भीषण क्रन्दन कराने वाली क्रूर संपत्ति-विपत्तिरूपी महामारी चारों ओर से व्याप्त हो रही है ॥ ८ ॥

इस शरीर रूपी जर्जर वृक्ष के ऊपर निर्मल तथा प्रकाशमान जरा-मरणरूपी विकसित मञ्जरी पर कासश्वासरूपी गुँजायमान भ्रमर विद्यमान हैं ॥ ९ ॥

मनोरथों के तरङ्ग रूपी सर्पों से वेष्टित, निहाररूपी निबिड जड़ता रूपी इन्द्रियों के छिद्र रूपी द्वारों से समन्वित शरीर के हृदय में जाल-निर्माण में व्यग्र, चपल चिन्ता रूपी मकरी अपने भीतर घूम रही है ॥ १० ॥

लोभरूपी विशालों से शब्दायमान चित्त रूपी पक्षी सुख-दुःख रूप तीक्ष्ण चञ्चु से शम, दम, धर्म आदि फलों के पुष्प रूपी गुण समूहों को काट रहा है ॥ ११ ॥

अपवित्र, दुष्ट आचरण करने वाला काम रूपी कर्कश मुरगा राग आदि वासनाओं से व्याप्त मनरूपी कूड़े के ढेर को इधर-उधर विस्तृत कर बार-बार अपने पैरों से फैला रहा है ॥ १२ ॥

मोह रूपी महारात्रि में भयावह अज्ञान रूपी उल्लू हृदय रूपी वृक्ष के ऊपर श्मशान में वेताल की तरह चारों ओर से गरज रहा है ॥ १३ ॥

एताश्चाऽन्याश्च बह्व्योऽपि त्वयीन्द्रियगणे सति ।
पिशाच्य इव शर्वर्यां प्रवल्गन्त्यशुभश्रियः ॥ १४ ॥
त्वयि त्वसति हे साधो ! सर्वा एव शुभश्रियः ।
प्रभात इव पद्मिन्यः सालोकं विलसन्त्यलम् ॥ १५ ॥
प्रशान्तमोहमिहिकं राजते हृदयाम्बरम् ।
निर्मलालोकवलितं नीरजस्कतरान्तरम् ॥ १६ ॥
अशङ्कितनभःकोशपतिताकुलपूरवत् ।
नाऽऽपतन्ति विकल्पौघाश्चिरं वैकल्यकारिणः ॥ १७ ॥
सर्वस्याऽऽह्लादनी शान्ता मैत्री परमपावनी ।
अभ्युदेति हृदो हृद्या सुतरोरिव मञ्जरी ॥ १८ ॥
अन्तश्छिद्रवती जाडचयुक्तायुक्तगुणा स्वयम् ।
चिन्ता शोषमुपायाति हिमदग्धेव पद्मिनी ॥ १९ ॥
आलोकः स्फुटतामन्तरायात्यज्ञानसंक्षये ।
प्रशाम्यत्यम्बुदे व्योम्नि शरदीवाऽर्कमण्डलम् ॥ २० ॥

आप लोगों की विद्यमानता की स्थिति में और इनसे दूसरी भी बहुत सी अशुभ वैभव रात्रि में पिशाचिनियों की तरह गरजती रहती हैं ॥ १४ ॥

हे साधो ! तुम्हारे विद्यमान न रहने पर सम्पूर्ण गुण लक्ष्मी समूह विवेक रूपी आलोक से समन्वित वैसे ही पूर्ण रूप से विकसित होती हैं, जैसे प्रातःकाल में कमलिनियाँ ॥ १५ ॥

मोह रूपी तुषार से रहित निर्मल विवेकालोक से समन्वित तथा मनरूपी रजो गुण से शून्य अब हृदयाकाश रूप ब्रह्म सुशोभित हो रहा है ॥ १६ ॥

किसी प्रकार की आशङ्का से रहित आकाश-मण्डल में पतित और वायु आदि से आकुलित वृष्टि धाराओं की तरह विक्षेपों के कारण विकल्प-समूह अब नहीं गिरते हैं ॥ १७ ॥

सबको आनन्द देने वाली, शान्त, परम पवित्र सब भूतों में मैत्री, हृदय में इस प्रकार उत्पन्न होती है, जैसे तरुवर में मनोहर मञ्जरी उत्पन्न होती है ॥ १८ ॥

भीतर से छिद्र वाली अपूर्णता से युक्त तथा जड़ता से भरे मूर्खों में विद्या, कौशल आदि गुणों का सम्बन्ध कराने वाली चिन्ता उसी प्रकार सूख रही है, जैसे हिमदग्ध कमलिनी ॥ १९ ॥

जैसे शरत्काल में मेघों के शान्त हो जानेपर आकाश में सूर्यमण्डल प्रकट रूपता को प्राप्त होता है वैसे ही अज्ञान का विनाश होने पर हृदय में अपने ज्ञान का प्रकाश प्रकटरूपता को प्राप्त होता है ॥ २० ॥

प्रसन्नं स्फारगाम्भीर्यमक्षुब्धमपराहतम् ।
हृदयं समतामेति शान्तवात इवाऽर्णवः ॥ २१ ॥
अमृतापूरपूर्णेन नित्यानन्दमयेन च ।
स्थीयते पुरुषेणाऽन्तः शीतेन शशिना यथा ॥ २२ ॥
संविदः स्फुटतामन्तरायान्त्यज्ञानसंक्षये ।
संविदंशैकविश्रान्तं समग्रं सचराचरम् ॥ २३ ॥
भाव्यते भरिताकारं वपुरानन्दमन्थरम् ।
न भवत्यसुसङ्गानामाशापाशविधायिनाम् ॥ २४ ॥
दग्धानामिव पर्णानां रसानां पुनरागतिः ।
पुंसां क्षपितसंसारजराजन्ममहाध्वनाम् ॥ २५ ॥
अपुनर्भ्रमणायाऽऽत्मद्रुमे विश्रम्यते चिरम् ।
एवंप्रायास्तथाऽन्याश्च भवन्ति गुणसम्पदः ॥ २६ ॥

जैसे वायु के शान्त होने पर समुद्र समता को प्राप्त करता है, वैसे ही प्रसन्न, विशाल गाम्भीर्य से समन्वित क्षोभशून्य तथा विषमता के सम्पादक हेतुओं से पराजित मन समता को प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

आत्मारामरूपी अमृत-प्रवाह से पूर्ण तथा अविनाशी आनन्दमय पुरुष शीतलता से समन्वित हो भीतर वैसे ही स्थित रहता है, जैसे शीतल चन्द्रमा स्थित रहता है ॥ २२ ॥

अज्ञान का विनाश हो जाने पर आत्माकार वृत्तियाँ भीतर से पूर्णता के सम्पादक विकास को प्राप्त करती हैं और उससे समग्र चराचरयुक्त जगत् बाधित होकर केवल संविदंशमात्र में विश्रान्त हो जाता है ॥ २३ ॥

केवल संविन्मात्र में विश्रान्ति होने पर आत्मस्वरूप निरतिशयानन्द से व्याप्त हो जाता है यह पूर्णरूप से अनुभव होता है, परन्तु यह अनुभव आशारूपी फाँसी को उत्पन्न करने वाले प्राण-सम्बद्ध देह आदि की विद्यमानता दशा में नहीं होता है या संविदेक-विश्रान्ति हो जाने पर शरीर ब्रह्मानन्द के आविर्भाव से मन्थर होकर अमृत के प्राशन से पूर्णरूप अनुभूत होता है, परन्तु यह अनुभव अन्न, पान आदि आशारूपी पाशों का निर्माण करने वाले आसक्ति-प्रयोजक प्राण आदि पापों की'विद्यमानता-दशा में नहीं होता ॥ २४ ॥

जैसे दावाग्नि से जिन वृक्षों के पत्ते और रस दग्ध हो गये हैं, उन वृक्षों में वर्षा होने पर पुनः पल्लव और रसों का आविर्भाव हो जाता है, वैसे ही ज्ञान रूपी महामार्ग नष्ट हो गया है, उन तत्त्वज्ञों में भी आरोग्य, हो जाता है ॥ २५ ॥

असति त्वयि सर्वाशिन् ! सर्वाशाक्षयसंक्षये ।
पक्षयोरेतयोश्चित्त सत्तासत्तास्वरूपयोः ।
येनैव पश्यसि श्रेयस्तमेवाऽङ्गीकुरु क्षणम् ॥ २७ ॥
स्वात्मभावस्तव सुखं मन्ये मानवतां वर ! ।
तमेव भावयाऽभावं सुखत्यागो हि मूढता ॥ २८ ॥
यदि त्वस्ति भवेत्सत्यमन्तर्भावितचेतनम् ।
जीवतस्तत्तवाऽत्यन्तमभावं क इवेच्छति ॥ २९ ॥
किन्तु नाऽस्त्यसि सत्येन वदामि तव सुन्दर ! ।
तेन मिथ्यैव जीवामीत्याशया मा सुखी भव ॥ ३० ॥
पूर्वमेवाऽसि नाऽस्त्येव यावद्भ्रान्त्या त्वदस्तिता ।
सैवेदानीं विचारेण भृशं क्षयमुपागता ॥ ३१ ॥

हे चित्त ! तुम्हारे विनाश से तत्त्वज्ञ पुरुष अपना फिर जन्म न हो, इसलिए आत्मारूपी वृक्ष पर चिरकाल तक विश्रान्ति लाभ करता है। इस तरह की एवं अन्य तरह की अनेक शुभ गुणों की सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥ २६ ॥

हे सर्वभक्षक चित्त ! समस्त आशारूपी क्षयरोग को आश्रय स्वरूप तुम्हारे अस्तित्व के समाप्त हो जाने पर हे चित्त ! आत्यन्तिक आत्मभाव से स्थिति और आत्यन्तिक निरात्मत्व का स्वीकार—इन दो पक्षों से तुम जिस पत्र से अपना कल्याण देखो, उसी का क्षण भर में आश्रयण कर लो ॥ २७ ॥

हे मानियों में श्रेष्ठ चित्त ! आत्यन्तिक आत्मभाव से स्थिति की प्राप्ति ही तुम्हारे लिए सुखप्रद है। अतः हे चित्त ! तुम उसी अभाव की भावना करो, क्योंकि सुख का त्याग करना महामूर्खता है ॥ २८ ॥

तुम्हारा अन्तर्भावविवतचेतनस्वरूप प्रसिद्ध है, वह यदि सत्य होता, तो उस रूप से जी रहे तुम्हारा अभाव कौन चाहता है ॥ २९ ॥

हे सुन्दर ! परन्तु तुम उस रूप से नहीं हो, वरन् असत् हो, यह मैं शास्त्र आदि के अनुभव से विचार कर तुम से सत्य कहता हूँ, ऊपर ऊपर से नहीं कहता हूँ; हे चित्त ! इससे 'मैं जीता हूँ' इस प्रकार की मिथ्या आशा से तुम फूलो मत ॥ ३० ॥

जब तुम पहले से ही कल्पित हो, तुम्हारी सत्ता है ही नहीं, तब तुम्हारा अस्तित्व भ्रममूलक ही सिद्ध होता है। हे चित्त ! अब वही भ्रान्ति विचार से आत्यन्तिक विनष्ट हो गई ॥ ३१ ॥

एतावदेव ते रूपं साधो ! यदविचारणम् ।
विचारे विहिते सम्यक्समरूपं समं स्थितम् ॥ ३२ ॥
अविचारात् प्रजातं त्वममालोकात्तमो यथा ।
विचारेणोपशान्तं त्वमालोकेन तमो यथा ॥ ३३ ॥
एतावन्तं सखे ! कालं बभूवाऽल्पविवेकिता ।
तवाऽनेनाऽभिपीनत्वमभूद् दुःखैककारणम् ॥ ३४ ॥
मोहसङ्कल्पमात्रेण बालवेतालवद् भवेत् ।
द्वन्द्वं चाऽद्यन्तसङ्कल्पक्षीणं क्षयि भवे स्थितम् ॥ ३५ ॥
इदानीमुदितं नित्यं स्वप्राग्रूपे क्षयं गते ।
विवेकस्य प्रसादेन विवेकाय नमो नमः ॥ ३६ ॥
बहुधाऽपि प्रबुद्धस्त्वं चित्तकाऽप्यनुबोधितः ।
चित्ततायां प्रनष्टायां स्थितस्त्वं परमेश्वरः ॥ ३७ ॥
प्राक्स्वरूपविलासस्ते श्रेयसे स्थितिमागतः ।

हे साधो ! तुम्हारा स्वरूप इतना ही है कि आत्म-स्वरूप का विचार न करना। आत्म और अनात्मा का भली प्रकार विचार करने पर तुम्हारे स्वरूप की सन्मात्र रूप तथा विक्षेपात्मक विषमता से शून्य स्थिति हो जाती है ॥ ३२ ॥

हे चित्त ! विचार न करने पर तुम वैसे ही उत्पन्न होते हो, जैसे प्रकाश के न रहने पर अन्धकार वैसे ही शान्त हो जाता है, जैसे आलोक से अन्धकार का स्वरूप ॥ ३३ ॥

हे सखे ! इतने समय तक तुम्हारे स्वरूप के विषय में बहुत कम विवेक रहा, इसलिए तुम्हारे स्वरूप का अल्प विवेक होने के कारण ही दुःख की हेतु तुम्हारी मोटाई उस प्रकार उत्पन्न हुई ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार मोहजनित सङ्कल्पमात्र से बालक के शरीर में वेताल उत्पन्न होता है, तुम्हारे मोटेपन से सुख-दुःख आदि द्वन्द्व, जो ब्रह्माजी के द्वारा किये गये पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश के सङ्कल्प-समय में ही नश्य सिद्ध हो जाने के कारण विनाशी हैं, संसार में अवस्थित हैं ॥३५ ॥

जिस विवेक के प्रसाद से ज्ञानोदयक्षण में अविद्या-जनित प्राक्तन अपने स्वरूप का विनाश होने पर नित्य यानि आदि और अन्त से शून्य आत्मा के स्वरूप का आविर्भाव हुआ, उस विवेक को बार-बार नमस्कार है ॥ ३६ ॥

हे तुच्छ चित्त ! बहुधा तुम स्वयं भी अब प्रबुद्ध हो चुके हो और शास्त्र से भी बोधित हो, चित्तता के विनष्ट होने पर तुम परमेश्वरस्वरूप हो ॥ ३७ ॥

पूर्व में भी परमेश्वर स्वरूप ही थे, वर्तमान काल में

समस्तवासनोन्मुक्तः संप्रत्यसि महेश्वरः ॥ ३८ ॥
यस्याऽविवेकादुत्पत्तिः स विवेकाद्विनश्यति ।
प्रकाशेन प्रयात्यन्तमनालोके भवेत्तमः ॥ ३९ ॥
अनिच्छतोऽपि ते साधो ! विचारे स्थितिमागते ।
सर्वतोऽयमुपायातो विनाशः सुखसिद्धये ॥ ४० ॥
तस्मान्नाऽस्त्यसि निर्णीतमिति सिद्धान्तयुक्तिभिः ।
चित्तेन्द्रियेश्वर ! स्वस्ति भव तेऽस्त्वन्तमागतः ॥ ४१ ॥
नित्यं पूर्वमभूताय नाऽस्तिरूपाय सम्प्रति ।
भविष्यते च नोदर्के स्वमनः स्वस्ति तेऽस्त्विति ॥ ४२ ॥
परिनिर्वामि शान्तोऽस्मि दिष्ट्याऽस्मि विगतज्वरः ।
स्वात्मन्येवाऽवतिष्ठेऽहं तुर्यरूपपदे स्थितः ॥ ४३ ॥
अतो नाऽस्त्येव नाऽस्त्येव संसारे चित्तमस्थिति ।
आत्मा त्वस्त्येव चाऽस्त्येव यस्मादन्यन्न विद्यते ॥ ४४ ॥

भी कल्याण के लिए प्रबोध से तुम्हें अपना वास्तविक स्व-रूप विलास (परमेश्वर स्वरूपत्व) प्राप्त हुआ है, इसलिए समस्त वासनाओं से मुक्त तुम साक्षात् महेश्वर ही हो ॥३८॥

अविवेक से जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विवेक से विनाश हो जाता है। अन्धकार प्रकाश से विनष्ट होता है और प्रकाश का अभाव होने पर अन्धकार हो जाता है ॥ ३९ ॥

हे साधो ! तुम्हारी इच्छा न रहने पर भी विचार के दृढ़ होने पर सुख की सिद्धि के लिए तुम्हारा चारों ओर से यह विनाश हुआ है ॥ ४० ॥

इसलिए सिद्धान्त युक्तियों से यह निर्णय हुआ कि तुम असत् ही हो। हे इन्द्रियों के प्रभु चित्त तुम संसार से पार हो जाओ, तुम्हारा कल्याण हो। चित्तेन्द्रिय के स्थान में यदि 'वित्त्वेन्द्रिय' पाठ मानने पर सिद्धान्तभूत युक्तियों से अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर संसार से पार हो जाओ, यह अर्थ होगा ॥ ४१ ॥

पहले जो कभी भी नहीं था, वर्तमान में भी जो असत् है, उत्तर काल में भी जिसकी होने की सम्भावना नहीं है, इस प्रकार तो हे स्वकीय मन ! तुम्हारा कल्याण हो ॥ ४२ ॥

सौभाग्यवश मैं समस्त चिन्ता-ज्वरों से निर्मुक्त हूँ, शान्त हूँ, और चारों ओर से तृप्त हूँ, तुरीयपद में स्थित मैं अपनी आत्मा में अवस्थित हूँ ॥ ४३ ॥

इसलिए इस संसार में जिसकी स्थिति नहीं हो सकती, वह चित्त नहीं है, नहीं। आत्मा तो अवश्य ही है, आत्मा को छोड़ कर और कुछ भी उससे भिन्न नहीं है ॥ ४४ ॥

अयमात्माऽहमेवाऽसौ नाऽस्त्यन्यन्मदृते क्वचित् ।
स्फुरच्चिदेव बोधात्मा सर्वत्राऽहं स्थितः सदा ॥ ४५ ॥
अयमात्मेति कलना मन्ये नो निर्मलान्तरे ।
प्रतियोगिव्यवच्छेदकलनैकस्य वै कुतः ॥ ४६ ॥
अहं तेनाऽयमात्मेति कलनामनुदाहरन् ।
मौनी स्वात्मनि तिष्ठामि तरङ्ग इव वारिणि ॥ ४७ ॥
संशान्तवासनमनाश्रितचेतनांश-
मप्राणसञ्चरणमस्तमितांशदोषम् ।
संवेद्यवर्जितमुपेत्य सुसंविदंशं
शाम्यामि मौनमहमेव निरीहमन्तः ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
चित्तासत्ताविचारयोगोपदेशो नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

यह आत्मा है, मैं आत्मा स्वरूप ही हूँ, मुझ से अन्य दूसरा कुछ भी कहीं नहीं है। प्रकाशमान चित्स्वरूप बोधात्मा मैं ही सदा सर्वत्र रहता हूँ ॥ ४५ ॥

सर्व-विध मलों से रहित आत्मा के अन्दर 'यह आत्मा है' इस प्रकार की कल्पना ही नहीं हो सकती है यह मैं मानता हूँ, क्योंकि एक अद्वितीय आत्मा में प्रतियोगी के भेद होने वाली अन्य वस्तु की सत्ता से होने वाली कल्पना कैसे हो सकती है ? ॥ ४६ ॥

उसी कारण से या अद्वितीय वस्तु में कोई कल्पना नहीं हो सकती, इस कारण से 'मैं यह आत्मा हूँ' इस प्रकार कल्पना के अभिव्यञ्जक शब्दों का उच्चारण न करता हुआ मैं मौनी होकर वैसे ही अपने स्वरूप में स्थित रहता हूँ, जैसे जल में तरङ्ग स्थित रहता है ॥ ४७ ॥

मैं जड़ अंश से शून्य, जडांश की हेतु अविद्या का भी बाध हो जाने के कारण वासना से रहित, चिदाभास के भी पृथक् न रहने से चेतनांशता के आश्रय से रहित, उसके अधीन क्रियाशक्ति का भी उपराम होने के कारण प्राण-संचरण से शून्य, भेदक का अभाव होने के कारण भेदांश से शून्य, एकरस, चिन्मात्र स्वरूप, जगत् के बाध के आश्रय रूप से परिशिष्ट संविदंश को—प्राप्त कर मन की चेष्टा और वाणी के व्यापार से शून्य होकर विश्रान्त प्राप्त करता हूँ ॥ ४८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के उपशमप्रकरण में
चित्तासत्ताविचारयोगोपदेश नामक कुसुमलता का तिरासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८३ ॥

८४

वसिष्ठ उवाच

इति निर्णीय स मुनिर्वीतहव्यो विवासनः ।
आसीत् समाधावचलो विन्ध्यकन्दरकोटरे ॥ १ ॥
अपरिस्पन्दिताशेषसंविदानन्दसुन्दरः ।
बभावस्तङ्गतमनाः स्तिमिताम्भोधिशोभनः ॥ २ ॥
अन्तरेव शशामाऽस्य क्रमेण प्राणसन्ततिः ।
ज्वालाजालपरिस्पन्दो दग्धेन्धन इवाऽनलः ॥ ३ ॥
अनन्तर्निष्ठतां याते बाह्यार्थे चाऽप्यसंस्थिते ।
शेषेऽन्तर्लब्धसंस्थाने तस्याऽस्फुरितपक्ष्मणी ॥ ४ ॥

८४

वसिष्ठजी ने कहा—यह निर्णय कर वह मुनि वीतहव्य समस्त वासनाओं को छोड़कर विन्ध्याद्रि के गह्वर कोटर में समाधि लगाकर उसमें स्थिर रहे ॥ १ ॥

उस समय महामुनि वीतहव्य किसी प्रकार के क्षोभ से रहित परिपूर्ण संवित्-प्रकाश रूप आनन्द से युक्त होने के कारण अत्यन्त सुन्दर मालूम पड़ते थे, उनका मन अत्यन्त विलीन हो गया था, अतः वे वैसे ही भले लगते थे, जैसे प्रशान्त समुद्र भला लगता है ॥ २ ॥

इस महामुनि का क्रमशः प्राण-संचार भीतर हृदय में ही वैसे ही शान्त हो गया, जैसे इन्धनों के जल जाने पर अग्नि में ज्वालाओं के समूह का संचरण शान्त हो जाता है ॥ ३ ॥

महामुनि वीतहव्य के चंचलता रहित दो नेत्र अत्यन्त अन्तर्निष्ठ—निमीलित—नहीं थे मानो आधे मूँदे हुए थे। इससे उनके नेत्र बाह्य विषयों में लगे होंगे, यह भी नहीं बाह्य विषयों में भी लगे नहीं थे, शेष अर्थात् उन्मीलित अंश से अतिरिक्त अंशों से उनके नेत्रों ने भीतर स्थिति प्राप्त की थी अर्थात् अन्तर्मुख-स्थिति प्राप्त की थी ॥ ४ ॥

प्राणप्रान्तगताल्पाल्पसमालोके इवेक्षणे ।
अर्धकुड्मलितैः पद्मैः श्रियमाययतुः समाम् ॥ ५ ॥
समकायशिरोग्रीवस्थानकः स महामतिः ।
आसीच्छैलादिवोत्कीर्णश्चित्रार्पित इवाऽथवा ॥ ६ ॥
तथाऽभितिष्ठतस्तस्य संवत्सरशतत्रयम् ।
कोटरे विन्ध्यकच्छस्य ययावर्धमुहूर्तवत् ॥ ७ ॥
एतावन्तमसौ कालं नाऽबुध्यत किलाऽऽत्मवान् ।
जीवन्मुक्ततया ध्यानी न च तत्याज तां तनुम् ॥ ८ ॥
तावत्कालं स सुभगो न प्राबुध्यत योगवित् ।
उदारैरम्बुदारावैरासारभरघर्घरैः ॥ ९ ॥
पर्यन्तमण्डलाधीशमृगयागतबृंहितैः ।
पक्षिवानरनिर्ह्रादैर्मातङ्गस्फोटनिःस्वनैः ॥ १० ॥
सिंहसंरम्भरटितैर्निर्झरारावसीत्कृतैः ।
विषमाशनिसंपातैर्जनकोलाहलैर्घनैः ॥ ११ ॥

महामुनि वीतहव्य के दोनों नेत्र ऐसे लक्षित होते थे मानो उनका स्वल्प से भी स्वल्प प्रकाश नासिका के अग्र-भाग में दोनों ओर बराबर फैला हुआ है। इससे वे आधे विकसित पद्मों के समान शोभा प्राप्त कर रहे थे ॥ ५ ॥

महाबुद्धि वीतहव्य ने अपने आसनबन्ध में शरीर, शिर और ग्रीवा को समानरूप से रक्खा था, इसलिए वे वैसे मालूम पड़ते थे, जैसे पर्वत से खोदी गई अथवा चित्र में लिखी गई मूर्ति हो ॥ ६ ॥

विन्ध्यपर्वत के किसी झरने के समीप प्रदेश के कोटर में उस प्रकार समाधि का अनुष्ठान कर रहे महामुनि के तीन सौ संवत्सर आधे मुहूर्त की तरह व्यतीत हो गये ॥ ७ ॥

आत्मवान् ध्याननिमग्न उस मुनि ने जीवन्मुक्तता के कारण इतने समय को कुछ भी नहीं समझा और अपने उस शरीर का त्याग भी नहीं किया ॥ ८ ॥

योग के रहस्य के ज्ञाता सौभाग्यशाली वह मुनि—महान् मेघों के चारों ओर फैलने वाले शब्दों से भी; वृष्टि की धाराओं के सम्पात से उत्पन्न घर्घर शब्दों से शिकार खेलने के समय आये हुए समीपस्थ प्रदेशों में रहने वाले सामन्तों के मतवाले हाथियों के गर्जनों से पक्षी और वानरों की किलकिलाहटों से जङ्गल के मातङ्गों के परस्पर सङ्घट्टन से जनित अव्यक्त शब्दों से सिंहों के क्रोधपूर्वक गर्जनों से झरनों की दिग्व्यापी घर्घराहट की आवाज भयङ्कर वज्रपातों से मनुष्यों के घन कोलाहलों से प्रमत्त गेंडों के भयङ्कर शब्दों से भूकम्प के द्वारा छिन्न-भिन्न हुए

प्रमत्तशरभास्फोटैर्भूकम्पतटघट्टनैः ।
वनदाहधमध्वानैर्जलौघाहतिवल्गनैः ॥ १२ ॥
महोपलतटाघातैर्धरणीतलमृज्जलैः ।
जलौघान्दोलनायातैस्तापैरनलकर्कशैः ॥ १३ ॥
केवलं वहति स्वैरं काले गलितकारणम् ।
परियान्तीषु वर्षासु लहरीष्विव वारिणि ॥ १४ ॥
स्वल्पेनैव हि कालेन तस्मिन्पर्वतकन्दरे ।
प्रावृडोघविनुन्नेन पङ्केनोर्वीतले कृतः ॥ १५ ॥
तत्राऽसाववसद्भूमौ कोटरे सङ्कटोदरे ।
पङ्कसंपीडितस्कन्धः पर्वतेषु शिला यथा ॥ १६ ॥
शतत्रये स वर्षाणामथ याते स्वयंप्रभुः ।
व्यबुध्यताऽऽत्मरूपात्मा धराकोटरपीडितः ॥ १७ ॥
संविदेवाऽस्य तं देहं जग्राहोर्वीनिपीडितम् ।
तनुः प्राणमयस्पन्दः प्राणसंसरणं विना ॥ १८ ॥

पर्वत-तटों के आस्फालनों से वनदाहों के समय अग्नि के संयोग और उससे उत्पन्न शब्दों से जल-प्रवाहों से आहत पशु आदि के आस्फालनों एवं गर्जनों से बड़े-बड़े पर्वततटों के आघातों से जलप्रवाहों के आन्दोलनों से प्राप्त धरणी-तल से फिसले हुए मिट्टी से मिले जल के शैत्य से तथा अग्नि की तरह कर्कश ग्रीष्म आदि के तापों से भी—उतने समय तक समाधि से जागे नहीं ॥ ९–१३ ॥

प्रयोजन के बिना केवल अपनी इच्छा के अनुसार समय के बीतने पर और जल में तरङ्गों की तरह एक-के पीछे एक अनेक बार वर्षाओं के बरसने पर थोड़े ही समय में पर्वत की कन्दरा में वर्षा के समूह प्राप्त कीचड़ ने इस महामुनि को पृथ्वी के भीतर भूगर्भ में प्रविष्ट कर दिया वर्षा से जनित कीचड़ इनके शरीर के चारों ओर ऐसा घना थम गया जिससे कि वे बाहर से दिखाई नहीं पड़ते थे, पृथ्वी के भीतर प्रविष्ट हो गये थे ॥ १४, १५ ॥

अनेक सङ्कटों से परिपूर्ण कोटर की भूमि में यह मुनि कीचड़ से संश्लिष्ट कन्धे से युक्त वैसे ही रहते थे, जैसे पर्वत के अन्दर शिला ॥ १६ ॥

अनन्तर तीन सौ वर्षों के बीत जाने पर पृथ्वी के कोटर में संश्लिष्ट वे स्वयं ही निग्रहानुग्रहसमर्थ तथा आत्मस्वरूपता को प्राप्त महामुनि समाधि से जगा गये ॥ १७ ॥

महामुनि वीतहव्य की पृथ्वी से दबी हुई देह को जीवनादृष्ट से प्राप्त लिङ्ग शरीर में प्रतिबिम्बित संविद् ने ही ग्रहण कर पालन किया, प्राण-वृत्ति के स्पन्दन ने पालन

उत्पत्तिप्रौढिमासाद्य कलना हृदयान्तरे ।
स्वमनोरूपिणी तस्य हृद्येवाऽनुबभूव सा ॥ १९ ॥
कैलासकानने कान्ते कदम्बस्य तरोस्तले ।
मुनित्वं शतमब्दानां जीवन्मुक्तात्मनिर्मलम् ॥ २० ॥
विद्याधरत्वं वर्षाणां शतमाधिविवर्जितम् ।
युगपञ्चकमिन्द्रत्वं प्रणतं सुरचारणैः ॥ २१ ॥

श्रीराम उवाच

शक्रत्वादिषु तेष्वस्य प्रतिभासेषु भो मुने ! ।
नियमोऽनियमश्चैव दिक्कालनियतेः कथम् ॥ २२ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वात्मिकैषा चिच्छक्तिर्यत्रोदेति यथा यथा ।
तथा तत्राऽऽशु भवति तथाऽऽत्मैकस्वभावतः ॥ २३ ॥
यथा यत्र यदा बुद्धौ नियमः स तदा स्थितः ।
देशकालादिनियमक्रमाणां तन्मयात्मता ॥ २४ ॥

नहीं किया, क्योंकि वह सूक्ष्म था, इसलिए प्राण-संसरण नहीं हो सकता था ॥ १८ ॥

तीन सौ वर्षों की समाधि के बाद उसकी जीवरूपा संवित् ने अवशिष्ट प्रारब्ध के भोग के लिए हृदय के भीतर उन्मेष-क्रम से स्थूलता को प्राप्त कर अपने मन की स्वरूपभूत होकर समस्त विषयों की कल्पना के द्वारा हृदय में ही अनुभूति किया ॥ १९ ॥

कमनीय कैलास पर्वत के वन में एक कदम्बवृक्ष के नीचे सौ वर्षों तक उन्होंने अपने हृदय में जीवन्मुक्त आत्मा के कारण विमल मुनित्व का अनुभव किया ॥२०॥

सौ वर्षों तक उन्होंने मानसी व्याधि से रहित विद्याधरत्व का अनुभव किया और पाँच युगों तक देवताओं एवं चारणों से वन्दित देवराजत्व का अनुभव किया ॥ २१ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे मुने ! उन इन्द्रत्व आदि के अनुभवों में देश और काल का नियम और अनियम कैसे हुआ, 'कैलासकानने' इत्यादि से देश का नियम, 'युगपञ्चकम्' इत्यादि से काल का नियम तथा थोड़े ही समय में और हृदय-प्रदेश में ही उक्त अनुभव होने से देशकाल का अनियम—यह कैसे हो सकता है, क्योंकि देश और काल के नियम का उल्लङ्घन कोई नहीं कर सकता ॥ २२ ॥

महाराज वसिष्ठ ने कहा—यह सर्वात्मक चितिशक्ति जहाँ पर जिस प्रकार से उदित होती है, वहाँ पर उस प्रकार की ही शीघ्र हो जाती है, क्योंकि सर्वात्मकत्व का अनुभव करने वाले अनुभविता की चिति का उस तरह बन जाना स्वभाव ही है ॥ २३ ॥

तेन नानाविधान्येष जगन्ति परिदृष्टवान् ।
हृदि संवेदनाकाशे वीतहव्यो विवासनः ॥ २५ ॥
सम्यग्बोधवतामेषा वासनैव न वासना ।
ज्ञानाग्निदग्धादग्धस्य क्वैव बीजस्य बीजता ॥ २६ ॥
कल्पमेकं गणत्वं स चन्द्रमौलेश्चकार ह ।
समस्तविद्यानिपुणं त्रिकालामलदर्शनम् ॥ २७ ॥
यो यादृग्दृढसंस्कारः स तं पश्यति तादृशम् ।
जीवन्मुक्ततयैवैतद्वीतहव्योऽनुभूतवान् ॥ २८ ॥

श्रीराम उवाच

एवं स्थिते मुनिश्रेष्ठ ! जीवन्मुक्तमतेरपि ।
बन्धमोक्षदृशः सन्ति वीतहव्यात्मनो यथा ॥ २९ ॥

वसिष्ठ उवाच

यथास्थितमिदं विश्वं शान्तमाकाशनिर्मलम् ।
ब्रह्मैव जीवन्मुक्तानां बन्धमोक्षदृशः कुतः ॥ ३० ॥

जहाँ पर जिस समय बुद्धि में जिस प्रकार का अनुभव होता है, वहाँ पर उस समय वैसा नियम रहता है, क्योंकि देश, काल आदि के नियमों के क्रम बुद्धिमय आत्मा में अध्यस्त हैं ॥ २४ ॥

दो हेतुओं से सभी वासनाओं से रहित इस महामुनि वीतहव्य ने हृदयस्थ संविदाकाश में अनेक तरह के लोगों का अनुभव किया ॥ २५ ॥

सम्यक् ज्ञानवान् पुरुषों की यह वासना हेतु वासना ही नहीं है, क्योंकि ज्ञान रूप अग्नि से अपनी शक्ति खो देने के कारण दग्ध और दिखाई पड़ने के कारण अदग्ध—भर्जित—हुए बीज की बीजता ही कैसी होगी ? ॥ २६ ॥

महामुनि वीतहव्य ने एक कल्प तक चन्द्रमौलि अशेष विद्याओं में निपुण और तीनों कालों में ज्ञानपूर्ण शिवजी के गणों की स्वामिता की ॥ २७ ॥

जो जिस विषय के दृढ़ संस्कार से युक्त होता है, वह उस विषय को उसी प्रकार देखता है, क्योंकि उस प्रकार के दृढ़ संस्कार से ही जीवन्मुक्त होकर मुनि वीतहव्य ने उन वस्तुओं का अनुभव किया था ॥ २८ ॥

श्रीराम जी ने कहा:—हे मुनिश्रेष्ठ ! ऐसा होने पर तो जीवन्मुक्त पुरुष के अन्तःकरण में भी बन्ध और मोक्ष की दृष्टियाँ होती हैं, यह मानना पड़ेगा, जैसे कि मुनि वीतहव्य के अन्तःकरण में हुई ॥ २९ ॥

महाराज वसिष्ठ ने कहा—जीवन्मुक्तों की दृष्टि में जिस प्रकार का यह जगत् विद्यमान है, वह प्रशान्त, आकाश की तरह अत्यन्त निर्मल ब्रह्मस्वरूप ही है, पुनः

एतत्संविन्नभो भाति यत्र यत्र यथा यथा ।
तत्र तत्र तथा तावत्तावत्तद्विन्दते ततम् ॥ ३१ ॥
तेनाऽनुभूतानि बहून्यनुभूयन्त एव च ।
जगन्ति सर्वात्मतया ब्रह्मरूपेण राघव ! ॥ ३२ ॥
धराकोटरनिर्मग्नवीतहव्यचिदात्मसु ।
जगत्सु तेष्वसंख्येषु नीरूपेषु महात्मसु ॥ ३३ ॥
यः शक्रोऽनवबुद्धात्मा सोऽद्य दीनेषु पार्थिवः ।
कर्तुं प्रवृत्तो मृगयां क्षणेऽस्मिन्नपि कानने ॥ ३४ ॥
यो हंसोऽनवबुद्धात्मा पाद्मे पैतामहेऽभवत् ।
स्थितः स एव दाशेन्द्रः कैलासवनकुञ्जके ॥ ३५ ॥
यो राजाऽनवबुद्धात्मा भूमेः सौराष्ट्रमण्डले ।
स एषोऽद्य स्थितोऽऽन्ध्राणां ग्रामे बहुलपादपे ॥ ३६ ॥

श्रीराम उवाच

मानसः किल सर्गोऽसौ वीतहव्यस्य तत्र ये ।
देहिनो भ्रान्तिमात्रं चेत्तद्देहाकारिणः कथम् ॥ ३७ ॥

वसिष्ठ उवाच

यदि भ्रान्त्येकमात्रात्म वीतहव्यस्य तज्जगत् ।
तदिदं नाम ते राम ! किं भूयः परिभासते ॥ ३८ ॥

इदमप्यङ्ग चिन्मात्रं मनोमात्रभ्रमोपमम् ।
तदपि व्योम चिन्मात्रं मनोमात्रं भ्रमोपमम् ॥ ३९ ॥

वस्तुतस्तु न तद्राम ! जगन्नैवं न चेतरत् ।
तवाऽपि न जगत्सत्ता ब्रह्मेदं भाति केवलम् ॥ ४० ॥

भावि भूतं भविष्यच्च यथेदं च तथेतरत् ।
जगत्सर्वमिदं दृश्यं संविन्मात्रमनोमयम् ॥ ४१ ॥

एवंरूपमिदं यावन्न परिज्ञातमीदृशम् ।
वज्रसारदृढं तावज्ज्ञातं सत्परमाम्बरम् ॥ ४२ ॥

उनको बन्ध और मोक्ष की दृष्टियाँ कैसे हो सकती है ? ॥ ३० ॥

जिस स्थल में जिस प्रकार से संविद्रूपी आकाश भासमान होता है, उस स्थल में उस प्रकार से उतने रूपों में व्याप्त होकर वह प्राप्त के समान हो जाता है ॥ ३१ ॥

हे राघव ! महामुनि वीतहव्य ने भूतों में आत्मभाव होने के कारण अनेक लोकों का ब्रह्मरूप से अनुभव किया और वर्तमान समय में भी कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

ब्रह्माण्ड के एक कोने में स्थित महामुनि वीतहव्य की आत्मरूपता को प्राप्त वास्तविक स्वरूपसत्ता से रहित और भ्रान्तिवश अत्यन्त विशालस्वरूप दीखाई पड़ने वाले उन असंख्य भुवनों में, आत्मा के तत्त्वज्ञान से वञ्चित अज्ञानी इन्द्र हुआ था, वही आज 'दीन' नाम के देशों में राजा होकर इस समय भी जंगल में शिकार खेलने में प्रवृत्त है ॥ ३३—३४ ॥

पितामह के पाद्मकल्प के समय, मुनि वीतहव्य शिव जी के गणों के अधिपति थे, उनकी क्रीडा के लिए आत्मबोध से शून्य जो हंस था, वही इस समय निषादों का राजा होकर स्थित है ॥ ३५ ॥

उस समय पृथ्वी के सौराष्ट्र प्रदेश में जो आत्मज्ञान से रहित राजा था, वही आज आन्ध्र देश के एक गाँव में, जहाँ अनेकविध वृक्ष हैं, अवस्थित है ॥ ३६ ॥

श्रीरामजी ने कहा—मुनि वीतहव्य की यह सृष्टि तो मानस सृष्टि हैं, उस सृष्टि में विद्यमान देही यदि भ्रान्तिस्वरूप है, तो वे इन्द्र, हंस आदि देहों के आकार वाले चेतनयुक्त कैसे हुए ? ॥ ३७ ॥

महाराज वसिष्ठ ने कहा—हे श्रीरामजी ! वीतहव्य का वह जगत् यदि केवल भ्रान्तिस्वरूप ही आपको मालूम पड़ता है, तो फिर आपका यह प्रसिद्ध जगत् किस प्रकार यथार्थरूप से भासमान हो सकता है ? (सम्पूर्ण जगत् मन ही का कार्य और केवल भ्रान्तिस्वरूप ही है, यह तत्-तत् स्थल में अनेक बार कहा गया है, इसलिए यह आपका प्रसिद्ध जगत् वीतहव्य की मानसी सृष्टि के सदृश भ्रान्तिमात्रस्वरूप ही है, ऐसी स्थिति में आपका भी यह जगत् चेतनों से भरा कैसे प्रतीत हो रहा है ? ॥ ३८ ॥

आपका यह जगत् भी मनोमय भ्रमतुल्य एवं परमार्थ-दशा में जैसे चिन्मात्रस्वरूप है, वैसे ही महामुनि वीतहव्य का भी वह जगत् मनोमय, भ्रमतुल्य एवं परमार्थ-दशा में व्योमरूपी चिन्मात्रस्वरूप है ॥ ३९ ॥

हे श्रीरामजी ! वास्तव में तो मुनि वीतहव्य का जगत् न तो आपके इस जगत् से विलक्षण ही है, क्योंकि वस्तु की समानता और असमानता वस्तु की सिद्धि के बिना नहीं हो सकती, आपके भी जगत् की सत्ता नहीं है, केवल ब्रह्म ही जगत् के रूप में भासमान है ॥ ४० ॥

दूसरा भी जगत् वैसे ही है जैसे यह भूत, भविष्यत् और वर्तमान जगत् है । समस्त दृश्यभूत संविन्मात्ररूप से अवशिष्ट मन है, तत्स्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है ॥ ४१ ॥

इस प्रकार के जगत् को संविन्मात्रस्वरूप जाने विना वह वज्रसार की तरह अत्यन्त दृढ़ रहता है । और

अज्ञानान्मन एवेदमित्थं संप्रविजृम्भते ।
प्रत्युल्लासविलासाभ्यां जलमम्बुनिधाविव ॥ ४३ ॥
यथास्थितेनैव चिदम्बरेण
स्वचित्तमेवैति मनोऽभिधानम् ।
स्फारं कृतं तेन जगच्च दृश्य-
मेवं ततं नैव ततं च किञ्चित् ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
वीतहव्यमनोजगद्वर्णनं नाम चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

ज्ञात होने पर त्रिकालाबाधित परम चिदाकाश-स्वरूप हो जाता है ॥ ४२ ॥

अज्ञान से यह मन ही उत्पत्ति और वृद्धि आदि परिणामों से जगत् रूप में वैसे ही विकसित होता है, जैसे समुद्र में जल ॥ ४३ ॥

अविकृत चिदाकाशस्वभाव से अवस्थित ब्रह्म माया से 'मैं किसी को मानो चेतन करने वाला हूँ' यह अपनी कल्पना कर चित्तरूप हो जाता है, अनन्तर उसीका पुनः पुनः मनन करने से मन नाम वाला हो जाता है। उसीसे यह विशाल जगत् प्राप्त है, इसीलिए इस प्रकार यह दृश्य जगत् विस्तृत है। वास्तव में कुछ भी विस्तृत नहीं है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामयण के उपशमप्रकरण में
वीतहव्यमनोजगद्वर्णन नामक कुसुमलता का चौरासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८४ ॥

८५

श्रीराम उवाच

अथ किं वीतहव्यः स्वं स्थितं तस्मिन् धरोदरे ।
अथमुद्धृतवान् देहं स संपन्नश्च किं कथम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

अनन्तरमनन्तात्म वीतहव्याभिधं मनः ।
स्वमेवाऽऽत्मचमत्कारमात्रं समवबुद्धवान् ॥ २ ॥
शार्वस्याऽस्य गणस्याऽभूत् प्राग्ज्योतिःस्मरणे स्वयम् ।
इच्छा कदाचित्सकलप्राग्जन्मालोकनोन्मुखी ॥ ३ ॥
अशेषान् स ददर्शाऽथ नष्टानष्टान् स्वदेहकान् ।
अनष्टानां ततो मध्यात् तत्तत्कोटरसंस्थितम् ।
यदृच्छयैव प्रोद्धर्तुं देहं तस्याऽभवन्मतिः ॥ ४ ॥
अपश्यत्तत्तथा तत्र पङ्के कीटमिव स्थितम् ।
शरीरं वीतहव्याख्यं धराकोटरपीडितम् ॥ ५ ॥
प्रावृडोघोपनीतं तत् पृष्ठस्थं पङ्कमण्डलम् ।
तृणजालावकीर्णत्वग्देहपृष्ठमृदं तथा ॥ ६ ॥

८५

श्रीरामजी ने कहा—महामुनि वीतहव्य ने उस भूगर्भ में स्थित अपनी देह का कैसे उद्धार किया? उसका प्रकार क्या था? उसके बाद उनकी दिनचर्या क्या रही और वेदहमुक्ति में अवशिष्ट उनका स्वरूप कैसा था? ॥ १ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर समाधि में मुनि ने अपने वीतहव्य नामक मन को आत्मा का एक चमत्कारमात्र और अपरिच्छिन्न ब्रह्मस्वरूप समझ लिया ॥ २ ॥

महादेवजी के गण रहने के समय चिदात्मा का ध्यान करते समय उनकी यह इच्छा हुई कि मैं पहले के अपने समस्त जन्मों का अवलोकन करूँ ॥ ३ ॥

अनन्तर उन्होंने कुछ नष्ट और कुछ अनष्ट समस्त देहों को प्रत्यक्ष देखा। देखने के बाद जो देह नष्ट नहीं हुई थी उनके मध्य में कोटर में अवस्थित अनष्ट देहों के हृदयकोटर में जीवट के उपाख्यान में कही जाने वाली रीति के अनुसार अपनी कल्पना से ही अवस्थित वीतहव्य शरीर का उद्धार करने के लिए अकस्मात् ही उनकी इच्छा हुई ॥ ४ ॥

वहाँ पर पृथ्वी के उदर-कोटर में पीड़ित उस वीतहव्यनामक शरीर को कीचड़ में स्थित कोड़े की तरह देखा ॥ ५ ॥

वह वर्षा के प्रवाह से कुछ दूर बहाया गया था, उसके पृष्ठ भाग पर कीचड़ का स्तर जम गया था और उनके त्वचा, हाथ आदि अवयव तथा पीठस्थ मिट्टी—ये सब काश आदि घासों के समूहों से व्याप्त हो गये थे ॥६॥

एतद्दृष्ट्वा महातेजा धराविवरयन्त्रितम् ।
भूयोऽपि चिन्तयामास धिया परमबोधया ॥ ७ ॥
सर्वसंपीडिताङ्गत्वात् कायो मे प्राणवायुभिः ।
मुक्तश्चलितुमाकर्तुं शक्नोति न मनागपि ॥ ८ ॥
तज्ज्ञात्वा प्रविशाम्याशु देहमेवं विवस्वतः ।
तदीयः पिङ्गलो देहमुद्धरिष्यति मे ततः ॥ ९ ॥
अथवा किं ममैतेन शाम्याम्यहमविघ्नतः ।
निर्वाणि स्वं पदं यामि कोऽर्थो मे देहलीलया ॥ १० ॥
इति संचिन्त्य मनसा वीतहव्यो महामते ! ।
तूष्णीं स्थित्वा क्षणं भूयश्चिन्तयामास भूतले ॥ ११ ॥
उपादेयो हि देहस्य न मे त्यागो न संश्रयः ।
यादृशो देहसंत्यागस्तादृशो देहसंश्रयः ॥ १२ ॥
तद्यावदस्ति देहोऽयं न यावदणुतां गतः ।
तावदेनमुपारुह्य किञ्चित्प्रविहराम्यहम् ॥ १३ ॥

महान् तेजस्वी वीतहव्य ने इस प्रकार धरा के विवर में पीडित अपनी देह को देखकर उत्तम बोध से समन्वित बुद्धि से पुन: विचार किया ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण अवयवों में पीड़ा होने के कारण प्राण-संचारों से रहित मेरी देह चलने-फिरने में तथा कुछ करने में तनिक भी समर्थ नहीं है ॥ ८ ॥

इसलिए उद्धार के उपाय को जानकर मैं परकीय शरीर में प्रवेश के लिए योगशास्त्र में उपदिष्ट मार्ग से सूर्य के शरीर में प्रवेश करता हूँ । उसमें प्रवेश करने से सूर्य का सेवक पिङ्गल नाम का गण उनकी आज्ञा से मेरे शरीर का उद्धार कर देगा ॥ ९ ॥

अथवा इस प्रपञ्च से मेरा क्या लाभ है ? मैं इस शरीर से निर्विघ्न विदेहमुक्ति के द्वारा शान्त हो जाता हूँ । मैं निर्वाण को प्राप्त कर लेता हूँ, अपने पद को जाता हूँ । देहलीला से मेरा क्या लाभ है ? ॥ १० ॥

हे महामते ! इस प्रकार मन से विचार कर महामुनि वीतहव्य क्षणभर भूतल में चुपचाप बैठकर फिर विचार करने लगे ॥ ११ ॥

मुझे न देह का त्याग और न देह का आश्रयण ही उपादेय है, क्योंकि जैसा देह का परित्याग है, वैसे ही देह का समाश्रय है, दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है ॥ १२ ॥

इसलिए इस शरीर के रहने तक वह अणु-परमाणु रूप नहीं बन जाता, तब तक मैं इसका आश्रयण कर कुछ विहार कर लूँ ॥ १३ ॥

पिङ्गलेन शरीरं स्वमुद्धर्तुं तापनं वपुः ।
प्रविशामि नभःसंस्थं मुकुरं प्रतिबिम्बवत् ॥ १४ ॥
इत्यसौ मुनिरादित्यं विवेशाऽनिलरूपधृक् ।
पुर्यष्टकवपुर्भूत्वा भस्त्राखमिव चाऽनिलः ॥ १५ ॥
भगवान्मुनिरप्येनं हृद्गतं मुनिनायकम् ।
दृष्ट्वाऽसौ चिन्तयन्कार्यं पौर्वापर्यमुदारधीः ॥ १६ ॥
विन्ध्यभूधरभूकोशमन्तर्मुनिकलेवरम् ।
तृणोपलपरिच्छन्नं ददर्श गतसंविदम् ॥ १७ ॥
ऋषेश्चिकीर्षितं ज्ञात्वा भानुर्गगनमध्यगः ।
धरातो मुनिमुद्धर्तुमादिदेशाऽग्रगं गणम् ॥ १८ ॥
वीतहव्यमुनेः संवित्सा पुर्यष्टकरूपिणी ।
रविं वातमयी पूज्यं प्रणनामाऽऽशु चेतसा ॥ १९ ॥
भानुनाऽप्यभ्यनुज्ञातो मानपूर्वकमग्रगम् ।
विवेश पिङ्गलाकारं विन्ध्यकन्दरगामिनम् ॥ २० ॥

सूर्य-सेवक पिङ्गलनामक गण के द्वारा अपने शरीर का उद्धार करने के लिए आकाश में स्थित सूर्य के शरीर में मैं वैसे ही प्रवेश करता हूँ, जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब ॥ १४ ॥

इस प्रकार विचारकर सूक्ष्मस्वरूप मुनि वीतहव्य ने पूर्व में व्याख्यात पुर्यष्टक शरीर होकर सूर्य में वैसे ही प्रवेश किया, जैसे भस्त्राकाश में चमड़े की धौंकनी के अन्तर्गत आकाश में वायु प्रवेश करे ॥ १५ ॥

उदारबुद्धिसम्पन्न भगवान् मननशील सूर्य ने हृदय में प्रविष्ट उक्त मुनिनायक को देखा और उनके कार्य को तथा पूर्वापर शरीरों को देखा ॥ १६ ॥

तदनन्तर विन्ध्यपर्वत के भूगर्भ के अन्तर्गत तृण और पत्थर से चारों ओर ढके हुए तथा मृतप्राय मुनि वीतहव्य के शरीर को देखा ॥ १७ ॥

आकाश के मध्य में संचरणशील सूर्य भगवान् ने मुनि वीतहव्य की अभिलाषा को जानकर पृथ्वी से मुनि शरीर का उद्धार करने के लिए अपने अग्रगामी पिङ्गलनाम के गण को आदेश दिया ॥ १८ ॥

मुनि वीतहव्य की पुर्यष्टकरूपी वायुमय संवित् ने पूजनीय भगवान् भास्कर को अन्तःकरण से शीघ्र ही प्रणाम किया ॥ १९ ॥

सूर्य के द्वारा अत्यन्त मानपूर्वक आज्ञा को प्राप्त वीतहव्य मुनि ने विन्ध्याद्रि की गुफा की ओर जा रहे अग्रगामी पिङ्गलनामक गण के शरीर में प्रवेश किया ॥२०॥

पिङ्गलोऽसौ नभस्त्यक्त्वा कुञ्जकुञ्जरसुन्दरम् ।
प्राप विन्ध्यवनं प्रावृण्मत्ताभ्राम्बरभासुरम् ।। २१ ।।
उद्धार धराकोशान्नखनिष्कृष्टभूतलः ।
कलेवरं मुनेः पङ्कान्मृणालमिव सारसः ।। २२ ।।
मौनं पुर्यष्टकमथ स्वं विवेश कलेवरम् ।
नभस्तलपरिभ्रान्तो विहङ्गम इवाऽऽलयम् ।। २३ ।।
प्रणेमतुर्मिथो मूर्तवीतहव्यनभश्चरौ ।
बभूवतुः स्वकार्यैकतत्परौ तेजसां निधी ।। २४ ।।
जगाम पिङ्गलो व्योम मुनिश्च विमलं सरः ।
तारकाकारकुमुदं सूर्यांशुकवदाकृति ।। २५ ।।
वीतहव्यो ममज्जाऽऽशु सरस्युद्भिन्नपङ्कजे ।
पङ्कपल्वललीलान्ते वने कलभको यथा ।। २६ ।।
तत्र स्नात्वा जपं कृत्वा पूजयित्वा दिवाकरम् ।
मनोभूषितया तन्वा पूर्ववत्पुनराबभौ ।। २७ ।।
मैत्र्या तया समतया परया च शान्त्या
सत्प्रज्ञया मुदितया कृपया श्रिया च ।
युक्तो मुनिः सकलसङ्गविमुक्तचेता
विन्ध्ये सरित्तटगतो दिनमेव रेमे ।। २८ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे वीतहव्यसमाधियोगोपदेशो नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ।। ८५ ।।

सूर्य भगवान् के गण पिङ्गल ने आकाश का परित्याग कर लतागृह और कुंजर से सुन्दर तथा वर्षा काल में मत्त मेघों से युक्त आकाश की तरह देदीप्यमान विन्ध्याचल के वन में किया ।। २१ ।।

अपने नखों से भूतल को खोदने वाले पिङ्गल ने भूगर्भ से मुनि वीतहव्य के कलेवर को वैसे ही उद्धृत किया, जैसे सारस पक्षी कीचड़ से मृणाल को उद्धृत करता है ।। २२ ।।

मुनि वीतहव्य-सम्बन्धी पुर्यष्टक शरीर पिङ्गल के शरीर से निकल कर अपने शरीर में वैसे ही प्रविष्ट हुआ, जैसे आकाशतल में चारों ओर परिभ्रमण करने वाला पक्षी अपने घोंसले में प्रवेश करता है ।। २३ ।।

प्राप्तमूर्ति वीतहव्य तथा आकाशगामी पिङ्गल दोनों ने परस्पर प्रणाम किया । तेज के निधि वे दोनों अपने-अपने कार्यों में ही तत्पर हो गये ।। २४ ।।

पिङ्गल आकाश की ओर चले गये और मुनि वीतहव्य कुमद रूपी ताराओं से युक्त तथा बालसूर्य के राग से रञ्जित उदक से युक्त निर्मल सरोवर की ओर, स्नानार्थ चले गये ।। २५ ।।

विकसित कमलों से युक्त उस सरोवर में मुनि वीतहव्य ने शीघ्र ही वैसे ही स्नान किया, जैसे कीचड़ से भरे तालाब में क्रीड़ा के बाद हाथी का बच्चा वन में मज्जन करता हो ।। २६ ।।

उसमें स्नानकर जपकर और उसके बाद सूर्य की पूजा कर मनन आदि व्यबहारों से युक्त शरीर से पुनः पूर्ववत् सुशोभित हो गये ।। २७ ।।

समानशीलों में मैत्री, एकरूप सर्वातिशायी शान्ति; सुन्दर प्रज्ञा, मुदित कृपा तथा उत्तम श्री से मुनि वीतहव्य ने, सकल सङ्गों से निर्मुक्त चित्त विन्ध्याचल में नदी के तट पर केवल एक ही दिन रमण किया ।। २८ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में वीतहव्यसमाधियोगोपदेश नामक कुसुमलता का पच्चासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। ८५ ।।

८६

वसिष्ठ उवाच

दिनान्ते स समाधातुं पुनरेव मनो मुनिः ।
विवेश काञ्चिद्विततां विज्ञातां विन्ध्यकन्दराम् ।। १ ।।
तदेवाऽऽत्मानुसन्धानमत्यजन्सममिन्द्रियैः ।
चेतसा कलयामास दृष्टलोकपरावरः ।। २ ।।

८६

महाराज वसिष्ठ ने कहा—दिन की समाप्ति के बाद मुनि ने पुनः मन की एकाग्रता रूप समाधि के लिए किसी अतिविस्तृत पूर्वपरिचित विन्ध्याद्रि की गुफा में प्रवेश किया ।। १ ।।

लोक में क्या सार है और क्या असार है, इसका भली प्रकार परिज्ञान रखने वाले महामुनि वीतहव्य उसी आत्मा के अनुसन्धान का परित्याग न कर इन्द्रियों के साथ अन्तःकरण से विचार ने लगे ।। २ ।।

पूर्वमेवेन्द्रियगणो मया परिहृतः स्फुटम् ।
इदानीं चिन्तया नाऽर्थः पुनर्विततया मम ॥ ३ ॥
अस्ति नास्तीति कलनां भङ्क्त्वा मृद्वीं लतामिव ।
शेषं तु बद्धसंस्थानस्तिष्ठाम्यचलश्रृङ्गवत् ॥ ४ ॥
उदितोऽस्तङ्गत इव स्वस्तङ्गत इवोदितः ।
समः समरसाभासस्तिष्ठामि स्वच्छतां गतः ॥ ५ ॥
प्रबुद्धोऽपि सुषुप्तस्थः सुषुप्तस्थः प्रबुद्धवत् ।
तुर्यमालम्ब्य कायान्तस्तिष्ठामि स्तम्भितस्थितिः ॥ ६ ॥
स्थितः स्थाणुरिवैकान्ते स्वान्तान्ते सर्वतः स्थिते ।
सत्त्वसामान्यसाम्ये हि तिष्ठाम्यपगतामयः ॥ ७ ॥
इति संचिन्त्य स ध्याने पुनस्तस्थौ दिनानि षट् ।
ततः प्रबोधमापन्नः क्षणसुप्त इवाऽध्वगः ॥ ८ ॥

मैंने पहले से ही इन्द्रियों का भलीप्रकार परित्याग कर दिया है, इस समय उनके विषय में अधिक चिन्ता करने से मेरा कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होने वाला है ॥ ३ ॥

अस्ति और नास्ति—कल्पनाओं का, कोमल लता की तरह विनाश कर उन दो कल्पनाओं के साक्षी रूप से अवशिष्ट चैतन्यमात्र का अवलम्बन कर शरीर, शिर और ग्रीवा को समानरूप से रखकर दृढासन होकर मैं वैसे ही अचल बैठता हूँ, जैसे पर्वत का शिखर ॥ ४ ॥

मैं सदा प्रकाशस्वभाव होने से अज्ञदृष्टि से अन्धकार को प्राप्त हुआ-सा हूँ, एवं सदा जीवित-स्वभाव जैसे अज्ञ-दृष्टि से मृत-सा हूँ । तत्त्वदृष्टि से तो उससे विपरीत निर्मल स्वभाव को प्राप्त एकरस चिन्मात्रस्वरूप होकर अवस्थित हूँ ॥ ५ ॥

मैं प्रबुद्ध यानी उत्तम ज्ञान से सम्पन्न जाग्रत् अवस्था से युक्त होने पर भी सुषुप्ति में ही स्थित रहता हूँ, क्योंकि घट आदि द्वैत पदार्थों को अब मैं नहीं देख रहा हूँ । इसी प्रकार मैं सुषुप्ति में स्थित रहता हुआ भी जाग्रत् अवस्था से युक्त ही हूँ, क्योंकि मुझे अपने स्वरूप का सदा स्पष्ट रूप से अनुभव हो रहा है । स्थूल, सूक्ष्म और कारण से निर्मुक्त तुर्य पद का अवलम्बन कर अचल स्थिति वाला हो कर शरीर के भीतर रहता हूँ ॥ ६ ॥

मन के अविषय, चारों ओर अवस्थित, पूर्ण सत्ता-सामान्यरूप परम साम्यभूत परमात्मा में विकारमुक्त हो कर स्थाणु की तरह मैं स्थित हूँ ॥ ७ ॥

इस प्रकार सोच कर छः दिन तक वह ध्यान में फिर बैठ गये । अनन्तर वैसे ही प्रबुद्ध हुए जैसे क्षणभर सोया हुआ पथिक प्रबुद्ध होता है ॥ ८ ॥

ततः सिद्धः स भगवान् वीतहव्यो महातपाः ।
विजहार चिरं कालं जीवन्मुक्ततया तदा ॥ ९ ॥
वस्तु नाऽभिननन्दाऽसौ निनिन्द न कदाचन ।
न जगाम तथोद्वेगं न च हर्षमवाप सः ॥ १० ॥
गच्छतस्तिष्ठतश्चैव तस्यैवमभवद्धृदि ।
विनोदाय विचित्तस्य कथा स्वमनसा सह ॥ ११ ॥
अव्ययेन्द्रियवर्गेश ! मनः शमवता त्वया ।
पश्याऽऽनन्दसुखं कीदृग्विधमासादितं ततम् ॥ १२ ॥
एषैवाऽविरतं तस्मान्नीरागैव दशा त्वया ।
अवलम्ब्य परित्याज्यं चापलं चलतां वर ! ॥ १३ ॥
भो भो इन्द्रियचौरा हे हृताशा ! हृतनामकाः ।
युष्माकं नाऽयमात्माऽस्ति न भवन्तस्थाऽऽत्मनः ॥ १४ ॥

तदनन्तर उस समय व्युत्थान-दशा में भी समाहित स्थितिवाले सिद्ध, महान् तपस्वी, भगवान् वीतहव्य ने जीवन्मुक्त स्वरूप में चिरकाल तक यत्र-तत्र विचरण किया ॥ ९ ॥

महामुनि वीतहव्य गुणदृष्टि से किसी वस्तु की स्तुति और दोषदृष्टि से किसी की निन्दा भी कभी नहीं करते थे । वे न तो कभी उद्विग्न होते थे और न कभी हर्षित होते थे ॥ १० ॥

चलते-फिरते उठते-बैठते चित्त शून्य उस वीतहव्य मुनि के हृदय में बाधित-अनुवृत्त मन के साथ विनोद के लिए इस प्रकार की विचारात्मक कथा हुई ॥ ११ ॥

विषयों के उपभोग से सामर्थ्य के व्यय से शून्य इन्द्रियों के स्वामी हे मन, शम से समन्वित तुमने किस प्रकार समस्त जगत् को आनन्द देने वाले व्यापक सुख को अथवा निरतिशयानन्दरूपी सुन्दर ब्रह्मरूप आकाश को प्राप्त किया है ॥ १२ ॥

हे चंचल पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ मन, तुमको आगे भी इस रागशून्य दशा का ही अवलम्बन करना चाहिए और अपनी चंचल वृत्ति का परित्याग कर देना चाहिए ॥ १३ ॥

हे इन्द्रिय नाम को धारण करने वाले चोर ! और हे नष्ट आशावृन्द मेरे द्वारा अनुभूयमान यह आत्मा तुम्हारा नहीं है और आत्मा के तुम लोग भी नहीं हो ॥ १४ ॥

व्रजतां वो विनाशांशमाशा वो विफलीकृताः ।
न समर्थाः समाक्रान्तौ भवन्तो भङ्गुराश्रयाः ॥ १५ ॥
वयमात्मेति यैषा वो बभूव किल वासना ।
तत्त्वविस्मृतिजाता हि दृष्टरज्जुभुजङ्गवत् ॥ १६ ॥
अनात्मन्यात्मता सैषा सैषा वस्तुन्यवस्तुता ।
अविचारेण वै जाता विचारेण क्षयं गता ॥ १७ ॥
भवन्तोऽन्ये वयं चाऽन्ये ब्रह्माऽन्यत्कर्तृता परा ।
अन्यो भोक्ताऽन्य आदत्ते को दोषः कस्य कीदृशः ॥१८।
वनेभ्यो दारु संजातं रज्जवो वेणुचर्मणः ।
वासी चाऽयःफलान्येव तक्षा ग्रासार्थमुद्यतः ॥ १९ ॥
इत्थं यथेह सामग्र्या स्वशक्तिस्थपदार्थया ।
संपन्नाः काकतालीया दृढा वरगृहाकृतिः ॥ २० ॥

आत्मा के साथ सम्बन्ध न होने के कारण अब तुम इन्द्रियगण अवशिष्ट अपने असत्त्व स्वरूप को ही प्राप्त करो। तुम्हारी समग्र अभिलाषाएँ निष्फल कर दी गई हैं। अब विनष्ट आश्रयवाले तुम लोग मेरे ऊपर आक्रमण करने में समर्थ नहीं हो ॥ १५ ॥

'हम आत्मा हैं' इस प्रकार की जो यह तुम लोगों की वासना थी, वह आत्मतत्त्व की विस्मृति से वैसे ही उत्पन्न हुई, जैसे रज्जु की विस्मृति से रज्जु में सर्प की वासना उत्पन्न होती है ॥ १६ ॥

यह वासना अनात्मा में आत्मस्वरूपा भ्रान्ति और वस्तु में अवस्तुत्वरूपा भ्रान्ति थी। आत्मा के अविचार से यह उत्पन्न हुई थी और आत्मा के विचार से विनष्ट हो गई ॥ १७ ॥

हे इन्द्रियगण, करणस्वरूप आप लोग दूसरे हैं, अभिमान करने वाले हम लोग दूसरे हैं, अद्वितीय ब्रह्म दूसरा है, प्राणहेतुक क्रियाकारणता दूसरी है, चिदाभास रूपी भोक्ता दूसरा है और ग्रहण करने वाला मन दूसरा है, ऐसी स्थिति में किस का किस प्रकार कौन-सा दोष हो सकता है ॥ १८ ॥

अरण्य से लकड़ी उत्पन्न हुई, बासों की त्वचा से लकड़ी के बोझ को बांधने की रस्सी हुई, वसुला, कुठार आदि लोहे से उत्पन्न हुए और बढ़ई अपने उदर की पूर्ति के लिए ही प्रवृत्त हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार इस लोक में अपने-अपने भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के लिए क्रिया-कारकरूप पदार्थों की सामग्री से अर्थतः उत्पद्यमान दृढ़ गृहाकृति जैसे काकतालीय ही है यानी काकतालीय न्याय से ही सिद्ध होती है ॥ २० ॥

संपन्नाः काकतालीयात् स्वशक्तिनियतेन्द्रियाः ।
तथैव कलिका लोलं केव कस्याऽत्र खण्डना ॥ २१ ॥
विस्मृतिर्विस्मृता दूरं स्मृतिः स्फुटमनुस्मृता ।
सत्सज्जातमसच्चाऽसत् क्षतं क्षीणं स्थितं स्थितम्॥२२।
एवंविधेन भगवान् विचारेण महातपाः ।
सोऽतिष्ठन् मुनिशार्दूलो बहून्वर्षगणानिह ॥ २३ ॥
अपुनर्भवनायैव यत्र चिन्ताऽन्तमागता ।
मूढता च सुदूरस्था तत्राऽसाववसत् सदा ॥ २४ ॥
यथाभूतपदार्थौघदर्शनोत्थमनर्थकम् ।
ध्यानाश्वासनमालम्ब्य सोऽवसत्सुखगः सदा ॥ २५ ॥
हेयादेयसमासङ्गत्यागादानदृशोः क्षये ।
वीतहव्यमुनेरासीदिच्छानिच्छातिगं मनः ॥ २६ ॥

इसी प्रकार प्रकृत कार्यकरणसंघात स्थल में भी काकतालीय न्याय से ही दर्शन, श्रवण, आदान आदि अपनी-अपनी शक्तियों से नियत ज्ञान-कर्मेन्द्रियों से समन्वित उस प्रकार की व्यवहाररूप कार्यकलिका चंचलतापूर्वक उत्पन्न हुई हैं, उसमें किसकी क्या क्षति है ॥ २१ ॥

अविद्या दूर से ही विस्मृत हो गई है, आत्मविद्या विस्पष्टरूप से अनुभूत हो गई है, जो सत् था वही सत् रहा, असत् असत् ही रहा, विघ्न क्षीण हो गया और जो स्थिति के योग्य था, वही स्थित रह गया है ॥ २२ ॥

इस प्रकार के विचार से समन्वित उन महान् तपस्वी मुनिश्रेष्ठ भगवान् वीतहव्य अनेक बरसों तक इस लोक में रहें ॥ २३ ॥

जिस पद के प्राप्त होने पर पुनर्जन्म के लिए चिन्ता विनष्ट हो जाती है और मूढ़ता कोसों दूर भाग जाती है, उस परम पूर्णानन्द स्वप्रकाशरूप पद में सदा मुनि अवस्थित थे ॥ २४ ॥

भ्रान्ति से चित्र-विचित्र पदार्थों के समूह के दर्शन से प्राप्त यथास्थित आत्मभूत वस्तु में अविश्वास का निवारण के लिए बार-बार ध्यान में विश्वास का अवलम्बन कर वह सुखानुभव को प्राप्त कर सदा स्थित रहते थे ॥ २५ ॥

त्यागनेयोग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थों की प्राप्ति हो जाने पर भी त्याग और ग्रहण की बुद्धि का क्षय हो जाने के कारण महामुनि वीतहव्य का अन्तःकरण इच्छा और अनिच्छा का अतिक्रमण कर गया था ॥ २६ ॥

विदेहकेवलीभावे सीमान्ते जन्मकर्मणाम् ।
संसारसङ्गसंत्यागरसासवनवेच्छया ।
विवेश स तथैवाऽन्ते सह्याद्रौ हेमकन्दरम् ॥ २७ ॥
अपुनःसङ्गमायाऽऽशु जगज्जालमवेक्ष्य सः ।
बद्धपद्मासनः स्थित्वा तत्रोवाचाऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥ २८ ॥
राग नीरागतां गच्छ द्वेष निर्द्वेषतां व्रज ।
भवद्भ्यां सुचिरं कालमिह प्रक्रीडितं मया ॥ २९ ॥
भोगा नमोऽस्तु युष्मभ्यं जन्मकोटिशतान्यहम् ।
भवद्भिर्लालितो लोके लालकैरिव बालकः ॥ ३० ॥
इमामपि परां पुण्यां निर्वाणपदवीमहम् ।
येन विस्मारितस्तस्मै सुखायाऽस्तु नमो नमः ॥ ३१ ॥
त्वदुत्तप्तेन हे दुःख ! मयाऽऽत्माऽन्विष्ट आदरात् ।
तस्मात्त्वदुपदिष्टोऽयं मार्गो मम नमोऽस्तु ते ॥ ३२ ॥

देहापगमदशा में एक अद्वितीयरूप से स्थित, जन्म एवं कर्मों की अवधि के अवसानरूप तथा प्रतिभासमात्र से भी अवस्थित देह आदि संसार के सङ्ग का त्याग हो जाने पर परिशेष में रहने वाले ब्रह्मरसरूपी मकरन्द में उनकी उत्कण्ठा हुई और उसके बाद उन्होंने उसी इच्छा के साथ सह्य पर्वत की सुवर्णकन्दरा में प्रवेश किया ॥ २७ ॥

देह आदि के साथ पुनः सङ्गति न हो, इसलिए शीघ्र जगत्रूप जाल का भली-भाँति अवलोकन कर महामुनि पद्मासन लगाकर बैठ गये और अनन्तर वहाँ अपने आप ही अपने अन्दर कहने लगे ॥ २८ ॥

हे राग ! अब तुम नीरागस्वरूप हो जाओ। हे द्वेष ! तुम द्वेषाभावरूप हो जाओ। आप दोनों ने इस लोक में मेरे साथ दीर्घकाल तक क्रीडा की है ॥ २९ ॥

हे भोग ! मैं आप लोगों को प्रणाम करता हूँ, आप लोगों ने मेरा इस लोक में सौ करोड़ वर्ष तक वैसे ही लालन-पालन किया है, जैसे प्यार करने वाले पिता आदि ने बालक का लालन-पालन किया हो ॥ ३० ॥

सबसे पुण्यतम इस मोक्षपद का भी मुझको विस्मरण कराने वाले उस अंशरूप विषय सुख को मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ ॥ ३१ ॥

हे दुःख ! तुम्हारे द्वारा सन्तप्त मैंने अत्यन्त आदर से आत्मा का अन्वेषण किया है, इसलिए इस मोक्षमार्ग का तुमने ही मुझको उपदेश दिया। अतः मेरा तुम्हें प्रणाम हो ॥ ३२ ॥

त्वत्प्रसादेन लब्धेयं शीतला पदवी मया ।
दुःखनाम्ने दुःखतत्त्व सुखदाऽऽत्मन्नमोऽस्तु ते ॥ ३३ ॥
कल्याणमस्तु ते मित्र ! संसारासारजीवित ।
देहस्थितिरियं यामो वयमात्मीयमास्पदम् ॥ ३४ ॥
प्रयोजनानां जन्तूनामहो नु विषमा गतिः ।
देहेनाऽपि वियुज्येऽहं भूत्वा जन्मशतान्यपि ॥ ३५ ॥
मित्रकाय मया यत्त्वं त्यज्यसे चिरबान्धवः ।
त्वयैवाऽऽत्मन्युपानीता सात्मज्ञानवशात् क्षतिः ॥ ३६ ॥
अधिगम्याऽऽत्मविज्ञानमात्मनाशः कृतस्त्वया ।
देह नाऽन्येन भग्नोऽसि त्वयैवैतदुपासितम् ॥ ३७ ॥
एकाकिन्याऽपि शुष्यन्त्या प्रशान्ते मयि दीनया ।
त्वया दुःखं न कर्तव्यं मातस्तृष्णे ! व्रजाम्यहम् ॥३८॥

हे दुःख के तत्त्वभूत सुखद आत्मन् ! तुम्हारी ही अनुकम्पा से मैंने यह निरतिशयसुखरूप मोक्षपदवी प्राप्त की है, अतः दुःख नामवाले तुम्हें मेरा प्रणाम हो ॥३३॥

संसार में सारहीन जीवनवाले हे मित्र देह ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारी ही कृपा से हम अपने स्थान को जा रहे हैं। हे देह ! यह अपने लोगों की वियोग की अवस्था आज की नहीं है, किन्तु अनादि नियति का यही स्वभाव है, कारण जो संयोग होता है, उसका अन्त में वियोग में ही पर्यवसान होता है ॥ ३४ ॥

आश्चर्य है कि प्राणियों के स्वार्थों की अत्यन्त विषम गति है, क्योंकि वस्तु की प्राप्ति के लिए घनिष्ठ मित्र आदि स्वजनों को भी छोड़कर पुरुष दूर-दूर दौड़ जाते हैं। सैकड़ों जन्म तक साथी रहकर मैं भी आज अपने प्यारे मित्र शरीर से अलग हो रहा हूँ ॥ ३५ ॥

हे मित्र देह ! चिरकाल से बन्धुरूप तुम मेरे द्वारा जो त्यागे जा रहे हो वह एक स्वार्थ की ही लीला है। हे देह ! तुमने ही अपने लिए आत्मज्ञानवश उस प्रकार की क्षति उठा ली है अर्थात् तुमने अपना नाश करने के लिए मेरा उपकार किया है—मेरा अपराध नहीं है ॥३६॥

तुमने आत्मा के विज्ञान की प्राप्ति से अपना ही विनाश किया है, अतः हे देह ! तुम्हारे द्वारा ही यह तुम्हारा विनाश किया गया है, दूसरे के द्वारा विनाश नहीं किया गया है ॥ ३७ ॥

हे मातृरूप तृष्णे ! मैं अब जा रहा हूँ। मेरे जानेपर तुम अकेली, शुष्क और दीन हो जाओगी, पर दुःख मत करना ॥ ३८ ॥

क्षन्तव्याः काम भगवन्विपरीतापराधजाः ।
दोषा उपशमैकान्तं व्रजाम्यादिश मङ्गलम् ॥ ३९ ॥
चिराच्चिराय चेदानीमम्ब तृष्णे ! किलाऽऽवयोः ।
वियोगो योगदोषेण प्रणामोऽयं स पश्चिमः ॥ ४० ॥
नमः सुकृतदेवाय भवतेऽस्तु त्वया पुरा ।
नरकेभ्यः समुत्तार्य स्वर्गेऽहमभियोजितः ॥ ४१ ॥
कुकार्यक्षेत्ररूढाय नरकस्कन्धवाहिने ।
शासनापुष्पभाराय नमो दुष्कृतशाखिने ॥ ४२ ॥
येन सार्धं चिरं बह्वचो भुक्ताः प्राकृतयोनयः ।
अद्यप्रभृत्यदृश्याय तस्मै मोहात्मने नमः ॥ ४३ ॥
प्रध्वनद्वंशमधुरवचसे पत्रवाससे ।
नमो गुहातपस्विन्यै वयस्यायै समाधिषु ॥ ४४ ॥
संसाराध्वनि खिन्नस्य त्वं ममाऽऽश्वासकारणम् ।

हे काम भगवन् ! तुम्हारे ऊपर विजय पाने के लिए मैंने तुम्हारे विरोधी वैराग्य-सेवन आदि दोष किये थे, उन दोषों के लिए मुझे क्षमा-प्रदान करें अब मैं उत्तम विश्रान्ति की ओर जा रहा हूँ। मेरी मङ्गलकामना करिए ॥ ३९ ॥

हे मातृरूप तृष्णे ! अब से लेकर अपने दोषों का संयोग के दोष से ही सदा के लिए वियोग हो रहा है। इसलिए मैं तुम्हें यह आखिरी प्रणाम कर रहा हूँ ॥ ४० ॥

हे पुण्यदेव ! आपको मैं प्रणाम करता हूँ, आप ही ने पहले मेरा नरकों से उद्धार कर स्वर्ग के साथ सम्बन्ध करवाया था ॥ ४१ ॥

निषिद्ध आचरणरूपी खेत में उत्पन्न हुए, नरकरूपी बड़ी-बड़ी शाखाओं को धारण करने वाले और यातना-रूपी पुष्प-समूह से युक्त पापरूपी वृक्ष को मेरा नमस्कार है ॥ ४२ ॥

जिसके साथ मैंने दीर्घकाल तक प्राकृत योनियों का उपभोग किया था, आज तक प्रत्यक्ष नहीं हुए उस मोह-स्वरूप को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४३ ॥

शब्द कर रहे बाँस जिसके मधुर शब्द हैं और शीर्ण पत्ते ही जिसके पहनने के लिए वस्त्र हैं, समाधि में प्रेयसी स्त्री के समान व्यवहार करने वाली उस गुहारूपी तप-स्विनी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४४ ॥

संसाररूपी महामार्ग में खिन्न हुए मेरे लिए तुम ही अकेली आश्वासन देने में समर्थ, अत्यन्त स्नेह से समन्वित, पूर्ण आत्मा में विश्रान्ति-प्रदान द्वारा समस्त लोभों को नाश करनेवाली मित्र हुई ॥ ४५ ॥

आसीर्वयस्या सुस्निग्धा सर्वलोभापहारिणी ॥ ४५ ॥
सर्वसङ्कटखिन्नेन दोषेभ्यो द्रवता मया ।
त्वमेका शोकनाशार्थमाश्रिता परमा सखी ॥ ४६ ॥
सङ्कटावटकुञ्जेषु हस्तालम्बनदायिने ।
वार्धकैकान्तसुहृदे दण्डकाष्ठाय ते नमः ॥ ४७ ॥
अस्थिपञ्जरमात्मीयं तथा रक्तान्त्रतन्तुकम् ।
एतावन्मात्रसारैकं गृहीत्वा गच्छ देहक ॥ ४८ ॥
पयःक्षोभप्रकारेभ्यः स्नानेभ्योऽपि नमोऽस्तु ते ।
नमोऽस्तु व्यवहारेभ्यः संसृतिभ्यो नमोऽस्तु ते ॥ ४९ ॥
एते भवन्तः सहजाः प्राक्तनाः सुहृदो मया ।
क्रमेणाऽद्योत्कृताः प्राणाः स्वस्ति वोऽस्तु व्रजाम्यहम् ॥५०॥
भवद्भिः सह चित्रासु मया बह्वीषु योनिषु ।
विश्रान्तं गिरिकुञ्जेषु श्रान्तं लोकान्तरेषु च ॥ ५१ ॥

अनेक दुःखों से खिन्न तथा समाधि के विघ्नों से द्रवीभूत हुए मैंने शोक का विनाश करने के लिए उत्तम सखीभूत तुम अकेली का ही आश्रयण किया ॥ ४६ ॥

कुत्ते, सर्प आदि से होनेवाले भयों में, विषमप्रदेशों में तथा गड्ढे और कुञ्जों में हाथ को अवलम्बन देनेवाले, वृद्धावस्था के एकमात्र मित्र दण्डरूप काष्ठ तुम्हें मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४७ ॥

एक अस्थिपञ्जर और दूसरा रक्त तथा आँतरूपी सूत्र—बस इन्हीं दो तत्त्वों से समन्वित तुम्हारा असाधारण विभाग है, इस अपने विभाग को लेकर तुम अपनी प्रकृति की ओर चले जाओ ॥ ४८ ॥

हे शरीर ! तुम्हारे मल, दौर्गन्ध्य, स्वेद आदि के द्वारा दूषित हो जाने के कारण हुए जो जल के अपराध हैं, उनके-विशेष-स्वरूप तुम्हारी विशुद्धि का सम्पादन करने वाले स्नानरूप उपायों को भी मैं प्रणाम करता हूँ तथा तुम्हारे भोजन, शयन, अलंकरण आदि व्यवहारों को एवं भोजनादि सामग्री के सम्पादन के लिए इतस्ततः दौड़धूप करने की प्रवृत्तियों को मैं प्रणाम करता हूँ ॥४९॥

हे पुराने सहज मित्ररूप प्राण ! आज मैंने मित्रों की नमस्कार-परम्परा में आप लोगों को भी ऊँचा बना दिया है, आप लोगों को भी नमस्कार किया है, आप का कल्याण हो, मैं जा रहा हूँ ॥ ५० ॥

हे प्राणवृन्द ! आप लोगों के साथ मैंने विचित्र अनेक योनियों में विश्रान्ति-लाभ किया और पर्वत के कुञ्जों में तथा लोकान्तरों में भी विश्रान्ति का लाभ किया था ॥ ५१ ॥

क्रीडितं पुरपीठान्तरुषितं पर्वतेषु च ।
स्थितं कार्यविलासेषु प्रस्थितं विविधाध्वसु ॥ ५२ ॥
न तदस्ति जगत्कोशे भवद्भिः सह यन्मया ।
न कृतं न हृतं यातं न दत्तं नाऽवलम्बितम् ॥ ५३ ॥
इदानीं स्वां दिशं यान्तु भवन्तो याम्यहं प्रियाः ।
सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ॥ ५४ ॥
संयोगा विप्रयोगान्ताः सर्वे संसारवर्त्मनि ।
अयं चाक्षुष आलोको विशत्वादित्यमण्डलम् ॥ ५५ ॥
विशन्तु वनपुष्पाणि सौगन्ध्यानन्दसंविदः ।
प्राणानिलस्तथा स्पन्दं विशत्वद्य प्रभञ्जनम् ॥ ५६ ॥
विशन्त्वाकाशकुहरं शब्दश्रवणशक्तयः ।
इन्दुमण्डलमायान्तु रसनारसशक्तयः ॥ ५७ ॥
निर्मन्दर इवाऽम्भोधिर्गतार्क इव वासरः ।
शरदीव घनः स्वैरं प्राप्तः कल्पान्तसर्गवत् ॥ ५८ ॥
ओंकारान्ते स्वमननं प्रशाम्याम्यात्मनाऽऽत्मनि ।
दग्धेन्धन इवार्चिष्मान्निःस्नेह इव दीपकः ॥ ५९ ॥
व्यपगताखिलकार्यपरम्परः
सकलदृश्यदशातिगतस्थितिः ।
प्रणवशान्त्यनुसंसृतिशान्तधी-
विगतमोहमलोऽयमहं स्थितः ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
इन्द्रियवर्गनिराकरणोपदेशो नाम षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

आप लोगों के साथ ही मैंने नगरों में और सिद्धों के क्षेत्रों में क्रीडा की, पर्वतों में निवास किया, कार्यों के विलासों में स्थिति की और विविध प्रकार के मार्गों में प्रस्थान किया ॥ ५२ ॥

संसार के कोश में ऐसा कोई भी नहीं है, जिसको प्राणवृन्दों के साथ मैंने अपने हाथों से न किया हो, न अपहृत किया हो, न दिया हो, और पैरों से न गत हुआ हो और मन से अवलम्बित न हुआ हो ॥ ५३ ॥

हे प्रियप्राणवृन्द ! आप अपनी प्रकृति में जायें और मैं ब्रह्म में जाता हूँ, [आप लोग यह शङ्का न करें कि हम लोगों का प्रकृति में प्रविलाप क्यों कराते हैं ? कार्यकरणसंघातरूप से ही स्थित हो कर भोग्यसमुदाय को ही पहले के समान क्यों न प्राप्त हो जायँ,] क्योंकि जितने भोग्यसमूह हैं, वे अन्त में क्षयी हैं और जितने उन्नत हैं, वे अन्त में पतनशील हैं ॥ ५४ ॥

संसार-मार्ग में जितने संयोग हैं, वे सब अन्त में वियोग को ही प्राप्त होते हैं। द्वारा यह चक्षु का आलोक आदित्यमण्डल में प्रवेश करे ॥ ५५ ॥

सौगन्ध्यहेतुक आनन्दज्ञानी करण घ्राणेन्द्रिय गन्ध की आश्रय पृथ्वी में प्रविष्ट हो जाय, प्राणवायु तथा उनकी चेष्टा प्रभञ्जननामक वायुतत्त्व में आज प्रविष्ट हो जाय ॥ ५६ ॥

शब्दों की श्रवणशक्ति श्रोत्रेन्द्रिय आकाशकुक्षि में प्रविष्ट हो जाय और रसना की रसग्रहणशक्ति रसनेन्द्रिय चन्द्रमण्डलरूपी जल में प्रविष्ट हो जाय ॥ ५७ ॥

मन्दराचल के अभाव में समुद्र की तरह सूर्य के अभाव में दिन की तरह शरत्काल में अपने उपादान कारण में विलय को प्राप्त हुए मेघ की तरह, इन्धनों के दग्ध होने पर अग्नि की तरह तथा स्नेह के अभाव में दीपक की तरह ओंकार की अन्तिम अर्धमात्रा से लक्षित परब्रह्म स्वरूप अपने में अपने आप से ही मैं आत्यन्तिक मनः-शान्तिपूर्वक विश्रान्ति लेता हूँ ॥ ५८–५९ ॥

सम्पूर्ण कार्यों की परम्परा से शून्य, समस्त दृश्यों की अवस्था को अतिक्रमण कर स्थिति रखने वाला, दीर्घ उच्चारित प्रणव की ब्रह्मरन्ध्र में विश्रान्ति का अनुसरण कर ब्रह्माकारता की प्राप्ति से उपरतबुद्धि तथा प्रारब्ध से प्रतिबद्ध अवशिष्ट अविद्यारूपी मल से रहित यह मैं पूर्ण रूप से अवस्थित हूँ ॥ ६० ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
इन्द्रियवर्गनिराकरणोपदेश नामक कुसुमलता का छियासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८६ ॥

८७

वसिष्ठ उवाच

एवं कलितवानन्तः प्रशान्तमननैषणः ।
शनैरुच्चारयंस्तारं प्रणवं प्राप्तभूमिकः ॥ १ ॥
मात्रादिपादभेदेन प्रणवं संस्मरन् यतिः ।
अध्यारोपापवादेन स्वरूपं शुद्धमव्ययम् ॥ २ ॥
स बाह्याभ्यन्तरान् भागान् स्थूलान्सूक्ष्मतरानपि ।
त्रलोक्यसंभवांस्त्यक्त्वा सङ्कल्पाकल्पकल्पितान् ॥ ३ ॥
तिष्ठन्नक्षुभिताकारश्चिन्तामणिरिवाऽऽत्मनि ।
सम्पूर्ण इव शीतांशुर्विश्रान्त इव मन्दरः ॥ ४ ॥
कुम्भकारगृहे चक्रं संरोधित इव भ्रमात् ।
अम्भोधिरिव सम्पूर्णस्तिमितस्फारनिर्मलः ॥ ५ ॥
शान्ततेजस्तमःपुञ्जं विगतार्केन्दुतारकम् ।
अधूमाभ्ररजः स्वच्छमनन्तं शरदीव खम् ॥ ६ ॥
सह प्रणवपर्यन्तदीर्घनिःस्वनतन्तुना ।
जहाविन्द्रियतन्मात्रजालं गन्धमिवाऽनिलः ॥ ७ ॥
ततो जहौ तमोमात्रं प्रतिभातमिवाऽम्बरे ।
उत्तिष्ठत्प्रस्फुरद्रूपं प्राज्ञः कोपलवं यथा ॥ ८ ॥
प्रतिभातं ततस्तेजो निमेषार्धं विचार्य सः ।
जहौ बभूव च तदा न तमो न प्रकाशकम् ॥ ९ ॥
तामवस्थामथाऽऽसाद्य मनसा तन्मनस्तृणम् ।
मनागपि प्रस्फुरितं निमिषार्धादशातयत् ॥ १० ॥
ततोऽङ्ग संविदं स्वस्थां प्रतिभासमुपागताम् ।
सद्योजातशिशुज्ञानसमानकलनामलम् ॥ ११ ॥

८७

वसिष्ठजी ने कहा—अत्यन्त उच्च स्वर से प्रणव का धीरे-धीरे दीर्घता के सम्पादन द्वारा उच्चारण कर रहे महामुनि वीतहव्य ने मनन सङ्कल्प और एषणाओं से क्रमशः रहित होकर छठी या सप्तम भूमिका को प्राप्त कर अपने हृदय में ब्रह्म की प्राप्ति की ॥ १ ॥

आकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा से कल्पित स्थूल, सूक्ष्म, अव्याकृत और तुरीयरूप पदों के भेद से ॐकार का स्मरण कर रहे महामुनि संन्यासी वीतहव्य पञ्चीकरण-प्रक्रिया में बतलाये गये विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृतरूप पादों का पहले तुर्य में अध्यारोप और अपवाद कर तीन लोकों की रचना के लिए किये गये ब्रह्माजी के सङ्कल्प से कल्पपर्यन्त बाह्य और आभ्यन्तर विभाग से युक्त स्थूल, सूक्ष्म और कारणस्वरूप पदार्थों का भी परित्याग कर अविनाशी विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार कर इन्द्रिय और तन्मात्राओं का परित्याग कर दिया ॥ २–३ ॥

जैसे क्षोभशून्य चिन्तामणि अपने स्वरूप में रहता है, वैसे ही क्षोभशून्य आकार वाले महामुनि वीतहव्य अपने स्वरूप में ही स्थित थे, वे पूर्णचन्द्र की तरह परिपूर्ण थे तथा मन्थनरहित मन्दराचल की तरह स्थित विश्रान्ति से युक्त थे ॥ ४ ॥

भ्रमण से रोकने पर कुम्भकार के घर में चक्र जैसे अक्षुब्ध आकार वाला रहता है, वैसे ही ये मुनि अक्षुब्ध आकारवाले थे और प्रशान्त अत्यन्त निर्मल समुद्र की तरह परिपूर्ण थे ॥ ५ ॥

तेज और तम दोनों के समूह से रहित; सूर्य, चन्द्र और ताराओं से शून्य; धूम, अभ्र और धूली से वर्जित; शरत्कालीन आकाश के समान अत्यन्त स्वच्छ; असीम ब्रह्मात्मा का साक्षात्कार कर प्रणव के अग्रभाग के दीर्घनादरूपी सूत्र के साथ ही इन्द्रिय और शब्दादि तन्मात्राओं के जाल को वैसे ही त्याग दिया, जैसे वायु ने गन्ध को त्याग दिया हो ॥ ६-७ ॥

अनन्तर आकाश-मण्डल में नेत्र के द्वारा दिखाई पड़ने वाले अन्धकारांश की तरह चिदाकाश में साक्षी के द्वारा सिद्ध तथा प्रकाशित हो रहे अविद्या के तामसवृत्ति-विशेष को वैसे ही त्याग दिया, जैसे बुद्धिमान् क्रोधांश को त्याग देता है ॥ ८ ॥

अनन्तर आधे क्षण विचार कर उक्त मुनि ने प्रकाशित हो रहे अविद्या के सात्त्विकवृत्तिविशेष का भी परित्याग कर दिया। तप और तेज दोनों का परित्याग करने से वे मुनि न तम और न प्रकाशरूप थे अर्थात् तम और प्रकाश दोनों से शून्य अवस्था को प्राप्त थे ॥ ९ ॥

अनन्तर तम और प्रकाश से शून्य अवस्था को प्राप्त कर मुनि वीतहव्य ने कल्पना के कारण किञ्चित् प्रकाशित मनरूपी तृण को, आधे निमेष में मन से ही काट दिया ॥ १० ॥

हे अङ्ग ! अनन्तर वातशून्य प्रदेश में स्थित प्रदीप की तरह विस्पष्ट प्रकाश को प्राप्त अपने स्वरूप में स्थित तत्क्षण उत्पन्न हुए बालक के ज्ञान के सदृश वासनादि से वर्जित संवित् का अवलम्बन कर चिति की चेत्यदशारूप

निमेषार्धार्धभागेन कालेन कलनां प्रभुः ।
जहौ चितश्चेत्यदशां स्पन्दशक्तिमिवाऽनिलः ॥ १२ ॥
पश्यन्तीपदमासाद्य सत्तामात्रात्मकं ततः ।
प्रसुप्तपदमालम्ब्य तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ॥ १३ ॥
ततः सुषुप्तसंस्थानं स्थित्वा स्थित्वा विभुर्मनाक् ।
सुषुप्ते स्थैर्यमासाद्य तुर्यरूपमुपाययौ ॥ १४ ॥
निरानन्दोऽपि सानन्दः सच्चाऽसच्चाऽपि तत्र सः ।
आसीन्न किञ्चित्किञ्चित्तप्रकाशस्तिमिरं यथा ॥ १५ ॥
अचिन्मयं चिन्मयं च नेति नेति यदुच्यते ।
ततस्तत्संबभूवाऽसौ यद्गिरामप्यगोचरः ॥ १६ ॥

कल्पना को उसकी उत्पत्ति के पहले ही समर्थ मुनि वीतहव्य ने निमेष के चतुर्थ भागात्मक काल में ही वैसे ही परित्याग कर दिया, जैसे वायु स्पन्दन शक्ति का परित्याग कर देता है ॥ ११, १२ ॥

अनन्तर साक्षिमात्र के परिशेषस्वरूप 'पश्यन्ती' पद को प्राप्तकर अनन्तर 'पश्यन्ती' पद ही आकाश आदि के बाधाश्रयरूप से अवशिष्ट सत्तामात्रस्वरूप कारणतत्त्व होने के कारण तद्भाव में स्थितिरूप सुषुप्त स्थान को प्राप्त कर मुनि वीतहव्य पर्वत की तरह अचल होकर स्थित हो गये ॥ १३ ॥

अनन्तर समर्थ मुनि वीतहव्य पहले सुषुप्त स्थान में किञ्चित् स्थित होकर अनन्तर उसमें स्थिरता को प्राप्तकर तुर्यरूप में लीन हो गये। ('तुर्यरूपमुपाययौ' इस वाक्य से पहले सदेहावस्थ छठी और सप्तम भूमिका को बतलाकर साक्षी की सदेकरसता सिद्ध हो जानेपर निरतिशय अखण्ड आनन्द के आविर्भाव से अवशिष्ट प्रारब्ध के साथ जगत्-प्रतिभास का आत्यान्तिक विनाश और तदनन्तर विदेह-कैवल्य की प्राप्ति बतलाई गई है) ॥ १४ ॥

उस तुर्य अवस्था में वे मुनि विषयप्रयुक्त आनन्द से वर्जित होते हुए भी स्वरूपभूत आनन्द से वैसे ही युक्त थे, जैसे रात्रि में देखने वाले उलूक आदि को अन्धकार ही प्रकाशरूप होता है, स्वभिन्न सत्ता से शून्य होते हुए भी स्वरूपः सत्तारूप थे, स्वभिन्न वस्तुस्वरूप से अकिञ्चिद्रूप होते हुए भी स्वतः किञ्चिद्रूप थे ॥ १५ ॥

वे चेत्य का अभाव होने से अचिन्मय और स्वतः चित्स्वरूप थे। अनन्तर 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों से बोधित वाणी का भी अगोचर अद्वैततत्त्व को प्राप्त हो गये ॥ १६ ॥

अनन्तर मुनि समस्त पदार्थों में अवस्थित, समस्त

तदसौ सुसमं स्फारं पदं परमपावनम् ।
सर्वभावान्तरगतमभूत्सर्वविवर्जितम् ॥ १७ ॥
यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां वरम् ।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम् ॥ १८ ॥
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम् ।
शिवः शशिकलाङ्कानां कालः कालैकवादिनाम् ॥ १९ ॥
आत्माऽऽत्मनस्तद्विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम् ।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम् ॥ २० ॥
यत्सर्वशास्त्रसिद्धान्तो यत्सर्वहृदयानुगम् ।
यत्सर्वं सर्वगं सार्वं यत्तत्तसदसौ स्थितः ॥ २१ ॥

भावों से वर्जित, निरतिशय समता से पूर्ण प्रकाशमान परम पवित्र पदस्वरूप हो गये ॥ १७ ॥

शून्यवादी बौद्धों का शून्यरूप प्राप्य पद ब्रह्मज्ञानियों का ब्रह्मरूप श्रेष्ठ प्राप्य पद विज्ञानवादी बौद्धों का विज्ञानरूप निर्मल प्राप्य पदरूप होकर ही ये मुनि वीतहव्य स्थित थे ॥ १८ ॥

कपिलमुनि-निर्मित सांख्यशास्त्र में प्रतिपादित पुरुषरूप, पतञ्जलिनिर्मित योगशास्त्र में प्रतिपादित क्लेश आदि से वर्जित पुरुषविशेषात्मक ईश्वररूप, चन्द्रचिह्नवाले महादेवजी के अनुयायी पाशुपत मत में प्रदर्शित शिवरूप और काल ही एक तत्त्व है, इस प्रकार प्रतिपादन करने वाले कालवादियों के मत में प्रदर्शित कालरूप तत्त्वरूप होकर ये महामुनि वीतहव्य अवस्थित थे ॥ १९ ॥

आत्मा के स्वरूप को भलीप्रकार जानने वाले आत्मवादियों के मत में आत्मतत्त्व सौत्रान्तिक और वैभाषिक मत में प्रतिपादित स्थायित्व से अभासमान क्षणिकविज्ञानरूपी नैरात्म्यतत्त्व चित् और अचित् के बीच में शून्यात्मक तत्त्व का अङ्गीकार करने वाले माध्यमिकों के मत में शून्यात्मक तत्त्व जीवन्मुक्त महापुरुषों के मत में परिपूर्ण ब्रह्मात्मक तत्त्वरूप होकर ही ये महामुनि अवस्थित थे। संस्कृत टीका में कहा है—शून्यवादियों से उपक्रम कर सर्ववादियों से उपसंहार इसलिए किया गया है कि उनकी परिच्छिन्नता और अपरिच्छिन्नता-वाद में परम अवधि है और अन्यान्य मध्यपतित मतों में उभय का संमिश्रण है तथा तारतम्य से उनका उत्थान हुआ है, यह द्योतन हो ॥ २० ॥

समस्त शास्त्र का सिद्धान्तभूत हैं, सबके हृदय में अनुगत सर्वात्मक और सबके स्वरूपभूत होकर ये मुनि अवस्थित थे ॥ २१ ॥

यदनुत्तमनिःस्पन्दं दीप्यते तेजसामपि ।
स्वानुभूत्येकमात्रं यद्यत्तत्तत्सदसौ स्थितः ॥ २२ ॥
यदेकं चाऽप्यनेकं च साञ्जनं च निरञ्जनम् ।
यत्सर्वं चाऽप्यसर्वं च यत्तत्तत्सदसौ स्थितः ॥ २३ ॥
अजमजरमनाद्यनेकमेकं
पदममलं सकलं च निष्फलं च ।
स्थित इति स तदा नभःस्वरूपा-
दपि विमलस्थितिरीश्वरः क्षणेन ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
वीतहव्यनिर्वाणो नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥

सर्वथा स्पन्दनक्रिया से रहित समस्त प्रकाशमान सूर्य आदि तेजों का भी भासक बनकर प्रकाशित केवल अपने अनुभव के स्वरूपभूत होकर ये मुनि विराजमान थे ॥ २२ ॥

वास्तव में अद्वितीय होने के कारण एक और माया-वश अनेक आचार्य-वाक्य से गम्य होने के कारण व्यवहार में अविद्या से युक्त तथा परमार्थ-दशा में स्वतः प्रकाश होने के कारण अविद्या से रहित सर्वात्मक होने से सर्व-स्वरूप तथा प्रपञ्चातीत होने से असर्वात्मक स्वरूप होकर ये मुनि अवस्थित थे ॥ २३ ॥

वह वीतहव्य मुनि मुक्त लोगों की दृष्टि में आकाश के स्वरूप की अपेक्षा निर्मल स्थितिवाले होकर उत्पत्ति-शून्य, जरारहित, कारणवर्जित, अद्वितीय, मल से रहित एवं अवयवरहित पदस्वरूप होकर अवस्थित थे और बद्ध लोगों की दृष्टि में क्षण में ईश्वर होकर अपने कार्यों के भेद से अनेक और अवयवयुक्त होकर अवस्थित थे ॥२४॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
वीतहव्यनिर्वाण नामक कुसुमलता का सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८७ ॥

८८

वसिष्ठ उवाच

प्राप्य संसृतिसीमान्तं दुःखाब्धेः पारमागतः ।
वीतहव्यः शशामैवमपुनर्मनने मुनिः ॥ १ ॥
तस्मिंस्तथोपशान्ते हि परां निर्वृतिमागते ।
पयःकण इवाऽम्भोधौ स्वे पदे परिणामिनि ॥ २ ॥
तथैव तिष्ठन्निःस्पन्दः स कायो म्लानिमाययौ ।
अन्तर्विरसतां प्राप्य मार्गशीर्षान्तिपद्मवत् ॥ ३ ॥
तस्य देहद्रुमान्तःस्थं त्यक्त्वा हृन्नीडमाययुः ।
प्रोड्डीय विहगायन्तो यन्त्रोन्मुक्ता इवाऽसवः ॥ ४ ॥
भूतेष्वेव प्रतिष्ठानि भूतानि सकलान्यलम् ।
मांसास्थियन्त्रदेहस्तु वनावनितलेऽवसत् ॥ ५ ॥

८८

वसिष्ठजी ने कहा—संसार की अवधि के अन्तिम स्थानभूत परब्रह्म को प्राप्त दुःखसागर के पार को प्राप्त महामुनि वीतहव्य आत्यन्तिक मनोनाश होने पर परम विश्रान्त हो गये ॥ १ ॥

महामुनि वीतहव्य के उस प्रकार विश्रान्त होनेपर निरतिशयसुखात्मक मोक्ष की प्राप्ति हो जाने पर तथा समुद्र में जलकण की तरह अपने पद में प्रतिष्ठित हो जाने-पर उसी प्रकार अवस्थित हो रहा क्रियाशून्य वह देह भीतरी विरसता को प्राप्त कर वैसे ही म्लान हो गया, जैसे हेमन्त-ऋतु में कमल म्लान हो जाता है ॥ २, ३ ॥

देहरूपी वृक्ष के भीतर अवस्थित, पक्षी की तरह आचरण करने वाले उसके प्राण नाड़ी स्थान का परित्याग कर हृदय रूपी घोंसले की ओर उस प्रकार आ गये, जिस प्रकार यन्त्रों से उन्मुक्त शिलाएँ। संस्कृत व्याख्या में कहा है—'यहाँ देहरूपी वृक्ष के अन्दर अवस्थित हृदय रूपी नीड का परित्याग कर प्राण बाहर आ गये' ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (तत्त्वज्ञ के वाक् आदि प्राण जाते नहीं है, यहीं लीन हो जाते हैं, वह जीवित दशा में ही ब्रह्म रूप होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है) इत्यादि श्रुति के साथ विरोध होगा और समस्त कर्म और तज्जनित वासनाओं का क्षय हो जाने के कारण उस प्रकार के उत्क्रमण में कोई बीज या प्रयोजन नहीं है ॥ ४ ॥

प्राण से लेकर नामपर्यन्त सोलह कलाओं से युक्त भूत पदार्थ महाभूतों में ही लीन हो गये और जो पिता और माता के मल से उत्पन्न स्थूल अंश स्वरूप मांस, अस्थि और आंत-रूपी देह था, वह अरण्य में पृथ्वीतल में मिल गया ॥ ५ ॥

चिदर्णवप्रतिष्ठा चिद्धातवो धातुषु स्थिताः ।
स्वे स्वरूपे स्थितं सर्वं मुनावुपशमं गते ॥ ६ ॥
एषा ते कथिता राम ! विचारशतशालिनी ।
विश्रान्तिर्वीतहव्यस्य प्रज्ञयैनां विवेचय ॥ ७ ॥
एवंप्रकारया चार्व्या स्वविचारणयेद्धया ।
तत्त्वमालोक्य तत्सारमातिष्ठोत्तिष्ठ राघव ! ॥ ८ ॥
यदेतदखिलं राम ! भवते वर्णितं मया ।
यदिदं वर्णयाम्यद्य वर्णयिष्यामि यच्च वा ॥ ९ ॥
त्रिकालदर्शिना नित्यं चिरं च किल जीवता ।
विचारितं च दृष्टं च मया तदखिलं स्वयम् ॥ १० ॥
तदेताममलां दृष्टिमवलम्ब्य महामते ! ।
ज्ञानमासादय परं ज्ञानान्मुक्तिर्हि लभ्यते ॥ ११ ॥
ज्ञानान्निर्दुःखतामेति ज्ञानादज्ञानसंक्षयः ।
ज्ञानादेव परा सिद्धिर्नाऽन्यस्माद्राम ! वस्तुतः ॥ १२ ॥
ज्ञानेन सकलामाशां विनिकृत्य समन्ततः ।
शातिताशेषचित्ताद्रिर्वीतहव्यो मुनीश्वरः ॥ १३ ॥
वीतहव्यात्मिका संवित् सङ्कल्पजगतीति सा ।
अनुभूतवती दृश्यमिदमेव च तज्जगत् ॥ १४ ॥
वीतहव्यो मनोमात्रं मनोऽहन्त्वमिवेन्द्रियः ।
मनो जगदिदं कृत्स्नमन्यताऽनन्यते तु के ॥ १५ ॥
अधिगतपरमार्थः क्षीणरागादिदोषः
सकलमलविकारोपाधिसङ्गाद्यपेतः ।
चिरमनुसृतमन्तः स्वं स्वभावं विवेकी
पदममलमनन्तं प्राप्तवान् शान्तशोकः ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे वीतहव्यविश्रान्तिर्नामाष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

लिङ्ग शरीर में प्रतिबिम्बित जीवभूता चित् स्वबिम्बभूत चैतन्य-समुद्र में मिल गया। त्वचा, असृक्, मांस आदि धातु अपने उपादानभूत धातु में मिल गये। महामुनि के विश्रान्ति हो जाने पर सब अपने-अपने उपादानों में ही अवस्थित हो गये ॥ ६ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! महामुनि वीतहव्य की यह सैकड़ों विचारों से समन्वित विश्रान्ति-कथा आप से मैंने कही, अब आप अपनी प्रज्ञा से इसका विवेचन करें ॥ ७ ॥

हे राघव ! इस प्रकार की रमणीय अपनी उत्कृष्ट विचारधारा से तत्त्व का अवलोकन कर उक्त सार का ग्रहण करने को तत्पर हो जाइए ॥ ८ ॥

हे श्रीरामजी ! जिसका आपके समाने मैने वर्णन किया, जिसका वर्णन कर रहा हूँ और जिसका वर्णन करूँगा, त्रिकाल को प्रत्यक्ष रूप से देख रहे तथा चिरकाल तक जीने वाले हम लोगों ने उसके विषय में विचार किया है और पूर्ण रूप से उसको स्वयं देखा भी है ॥ ९–१० ॥

हे महामते ! इस निर्मल दृष्टि का अवलम्बन कर उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करें, क्योंकि ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त की जाती है ॥ ११ ॥

ज्ञान से ही मनुष्य दुःख से रहित होता है, ज्ञान से अज्ञान का विनाश हो जाता है, ज्ञान से ही परम सिद्धि मिलती है, वास्तव में वह दूसरे किसी से नहीं मिलती ॥ १२ ॥

ज्ञान से समस्त आशाओं का चारों ओर से खण्डन कर महामुनि वीतहव्य अपने चित्त रूपी पर्वत को निःशेष रूप से खण्डन कर अवस्थित थे ॥ १३ ॥

उस वीतहव्यात्मिका संवित् ने अपने हृदय से उपलक्षित ब्रह्म में हम लोगों के साधारण दृश्य को ही अपने संकल्पमय जगत् के रूप में अनुभव किया इसी जगत् का अनुभव किया, दूसरे अपूर्व जगत् का अनुभव नहीं किया ॥१४॥

हम लोगों के चक्षु आदि से दिखाई पड़ रहे मुनि वीतहव्य हम लोगों के मानोमात्र स्वरूप ही हैं, क्योंकि हम लोगों का मन ही 'अहम्' और 'त्वम्' के रूप में भासमान है, मन ही समस्त जगत् है, अतः उसमें अन्यत्व और अनन्यत्व क्या होगा ॥ १५ ॥

जिन्होंने परम प्रयोजनस्वरूप आत्मतत्त्व का ज्ञान कर क्षीण, राग आदि दोष समस्त अविद्या, काम, कर्म आदि मलों से, तत्प्रयुक्त इन्द्रिय-विकारों से, देहत्रयरूप उपाधियों से तथा इन उपाधियों से होने वाले प्रियादि-सङ्गों से रहित वह विवेकी वीतहव्य मुनि चिरकाल तक चित्तशुद्धि के शोकशून्य उपायों के अनुष्ठानों से श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप साक्षात्कारप्रयोजक समाधिभूमिका के अभ्यासों से अपने हृदय में अनुसरण द्वारा साक्षात्कृत अपने स्वभावभूत, निर्मल असीम मोक्षपद को प्राप्त किया ॥ १६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में वीतहव्यविश्रान्ति नामक कुसुमलता का अठ्ठासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८८ ॥

८८

वसिष्ठ उवाच

वीतहव्यवदात्मानं नीत्वा विदितवेद्यताम् ।
वीतरागभयोद्वेगस्तिष्ठ राघव ! सर्वदा ॥ १ ॥
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि विजहार यथासुखम् ।
वीतहव्यो वीतशोकस्तथा विहर राघव ! ॥ २ ॥
अन्ये च राजन् मुनयो ज्ञातज्ञेया महाधियः ।
यथाऽवसन्स्वराष्ट्रे त्वं तथैवाऽऽस्व महामते ! ॥ ३ ॥
सुखदुःखक्रमैरात्मा न कदाचन गृह्यते ।
सर्वगोऽपि महाबाहो ! किं मुधा परिशोचसि ॥ ४ ॥
बहवो विदितात्मानो विहरन्तीह भूतले ।
न केचन वशं यान्ति दुःखस्याऽङ्ग भवानिव ॥ ५ ॥
स्वस्थो भव भवोदारः समो भव सुखी भव ।
सर्वगस्त्वं त्वमात्मैव तव नाऽस्ति पुनर्भवः ॥ ६ ॥
हर्षामर्षविकाराणां जीवन्मुक्ता भवादृशाः ।
न केचन वशं यान्ति मृगेन्द्राः शिखिनामिव ॥ ७ ॥

श्रीराम उवाच

अनेनैव प्रसङ्गेन संशयोऽयं ममोदितः ।
शरत्काल इवाऽम्भोदं तं मे त्वं तनुतां नय ॥ ८ ॥
जीवन्मुक्तशरीराणां कथमात्मविदां वर ।
शक्तयो नेह दृश्यन्ते आकाशगमनादिकाः ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

आकाशगमनादीनि यान्येतानि रघूद्वह ! ।
प्रमाणिताः पदार्थानां सहजाः खलु शक्तयः ॥ १० ॥
यद्विचित्रं क्रियाजालं दृश्यते गम्यते पुनः ।
राम ! वस्तुस्वभावोऽसौ न तदात्मविदां मतम् ॥ ११ ॥
अनात्मविदमुक्तोऽपि नभोविहरणादिकम् ।
द्रव्यकर्मक्रियाकालशक्त्या प्राप्नोति राघव ! ॥ १२ ॥

८९

वसिष्ठजी ने कहा—हे राघव ! महामुनि वीतहव्य की तरह अपने को ज्ञाततत्त्व बनाकर आप राग, भय और उद्वेग से रहित होकर सदा स्थित रहे ॥ १ ॥

हे राघव ! इस ब्रह्माण्ड में तीस हजार वर्षों तक महामुनि वीतहव्य ने शोकरहित होकर सुखपूर्वक विहार किया था, आप भी उसी प्रकार शोकशून्य होकर सुखपूर्वक विहार करें ॥ २ ॥

हे दीप्तिसम्पन्न महामते ! महामति विदितवेद्य मननशील महात्माओं के निवास के समान आप भी अपने राष्ट्र में निवास करें ॥ ३ ॥

हे महाबाहो ! सर्वत्र व्यापक आत्मा सुख-दुःखों की परम्परा से कभी भी वह पराभूत नहीं होता, अतः आप निरर्थक क्यों शोक कर रहे हैं ? ॥ ४ ॥

हे प्रिय ! आत्मस्वरूप को जान लेनेवाले बहुत से महात्मा इस लोक में विचरण कर रहे हैं, परन्तु उनमें से कोई भी आपकी तरह दुःख के अधीन नहीं होते ॥ ५ ॥

आप अपने ही स्वरूप में स्थित हो जाँए, भीतर से सम्पूर्ण वस्तुओं का त्याग करने वाले हो जाँए, सर्वत्र समबुद्धि हो जाँए और सुखी हो जाँए । आप सर्वत्र व्यापक हैं, आप आत्मस्वरूप हैं, आपका पुनः जन्म नहीं है ॥ ६ ॥

आपके सदृश जीवन्मुक्त कोई भी महानुभाव हर्ष, अमर्ष आदि विकारों के वश में वैसे ही नहीं हो जाते जैसे मयूरों के वश में सिंह नहीं हो जाते ॥ ७ ॥

श्रीरामजी ने कहा—इसी प्रसङ्ग से मुझको यह एक संशय हुआ है, उसको आप मेघ को शरत्काल की तरह नष्ट कर दें ॥ ८ ॥

हे आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ ! जीवन्मुक्त शरीर वाले महात्माओं की आकाशगमन आदि शक्तियाँ यहाँ क्यों नहीं दीखलाई पड़ती हैं ? ॥ ९ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे रघुकुल श्रेष्ठ ! प्रमाणों से उपलब्ध देवताओं की आकाशसमन आदि सिद्धियाँ अग्नि में ऊर्ध्वज्वलन की तरह स्वभावतः सिद्ध हैं ॥ १० ॥

हे श्रीरामजी ! जो विचित्र दिखाई पड़ने वाला आकाशगमन आदि क्रियाकलाप प्रमाण से उपलब्ध यह तत्-तत् योनियों में उत्पन्न देह का स्वभाव है, क्योंकि मच्छर आदियों में भी आकाशगमन-शक्ति दिखाई पड़ती है, इसलिए वह आत्मतत्त्वज्ञों को वाञ्छित नहीं है ॥११॥

हे राघव ! आत्मतत्त्वज्ञान से शून्य प्राकृत अमुक्त जी—मणि, औषध आदि द्रव्यों की शक्ति से, योगाभ्यास आदि क्रियाओं की शक्ति से, उसके परिपाकप्रयोजक काल की शक्ति से—आकाशगमन आदि किसी समय भी प्राप्त कर सकता है । जैसे चींटी को ग्रीष्म की समाप्ति में काल शक्ति के प्रभाव से पंख-प्रादुर्भाव द्वारा आकाशगमन करती है । (कालशब्द दृष्टान्तार्थकधर्म है) ॥ १२ ॥

नाऽऽत्मज्ञस्यैष विषय आत्मज्ञो ह्यात्मवान् स्वयम् ।
आत्मनाऽऽत्मनि संतृप्तो नाऽविद्यामनुधावति ॥ १३ ॥
ये केचन जगद्भावास्तानविद्यामयान् विदुः ।
कथं तेषु किलाऽऽत्मज्ञस्त्यक्ताविद्यो निमज्जति ॥ १४ ॥
अविद्यामपि ये युक्त्या साधयन्ति सुखात्मिकाम् ।
ते ह्यविद्यामया एव न त्वात्मज्ञास्तथाक्रमाः ॥ १५ ॥
तत्त्वज्ञो वाऽप्यतत्त्वज्ञो यः कालद्रव्यकर्मभिः ।
यथाक्रमं प्रयतते तस्योर्ध्वत्वादि सिद्ध्यति ॥ १६ ॥
आत्मवानिह सर्वस्मादतीतो विगतैषणः ।
आत्मन्येव हि सन्तुष्टो न करोति न चेहते ॥ १७ ॥
न तस्याऽर्थो नभोगत्या न सिद्ध्या न च भोगकैः ।
न प्रभावेण नो मानैर्नाऽऽशामरणजीवितैः ॥ १८ ॥
नित्यतृप्तः प्रशान्तात्मा वीतरागो विवासनः ।

तुच्छ होने के कारण आकाशगमन आदि सिद्धियाँ आत्मज्ञ विद्वान् के अभिलाषा की विषय नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मस्वरूपज्ञानी स्वयं आत्मा को प्राप्त कर चुका है, इसलिए वह अपनी आत्मा में ही तृप्त रहता है, अतः आविद्यक तुच्छ फल वाले पदार्थों की ओर नहीं दौड़ता ॥ १३ ॥

संसार में जो पदार्थ हैं, उन सबको आत्मज्ञ अविद्यामय ही मानते हैं, इसलिए अविद्या से वर्जित तत्त्वज्ञ उनमें कैसे डूब सकता है ॥ १४ ॥

योगाभ्यास आदि सैकड़ों परिश्रमों से अविद्या को भी आकाशगमन आदि सिद्धियों के द्वारा सुखसाधन बनाने वाले आत्मतत्त्वज्ञ हैं ही नहीं, क्योंकि आकाशगमन आदि सिद्धियाँ अविद्यामय ही हैं ॥ १५ ॥

तत्त्वज्ञ हो चाहे अतत्त्वज्ञ हो, कोई भी चिरकालिक प्रयत्नपूर्वक द्रव्यकर्मों से शास्त्रोक्त उपाय का अनुष्ठान कर नभोगमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है ॥ १६ ॥

यहाँ धन आदि की अभिलाषाओं से रहित आत्मस्वरूपज्ञ पुरुष सबसे अतीत हो जाता है, वह अपने ही स्वरूप में सदा सन्तुष्ट रहता है, इसलिए न कुछ चाहता है, और न कुछ करता है ॥ १७ ॥

आत्मज्ञ पुरुष को न तो कोई आकाशगमन से, न ऋद्धि से, न तुच्छ भोगों से, न निग्रहानुग्रहसामर्थ्य से, न अपने उत्कर्ष के ख्यापक अभिमानों से और न आशा मरण या जीवन से ही प्रयोजन है ॥ १८ ॥

सदा सन्तुष्ट, प्रशान्तस्वरूप, रागरहित, वासनाशून्य तथा आकाश के समान निर्मल आकार वाला तत्त्वज्ञ

आकाशसदृशाकारस्तज्ज्ञ आत्मनि तिष्ठति ॥ १९ ॥
अशङ्कितोपयातेन दुःखेन च सुखेन च ।
तृप्यत्यपगतासङ्गो जीवेन मरणे च ॥ २० ॥
समुद्रः सरितेवाऽन्तः क्रमसंप्राप्तवस्तुना ।
समेन विषमेणाऽपि तिष्ठत्यात्मानमर्चयन् ॥ २१ ॥
नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
न चाऽस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ २२ ॥
यस्तु वाऽभावितात्माऽपि सिद्धिजालानि वाञ्छति ।
स सिद्धिसाधकैर्द्रव्यैस्तानि साधयति क्रमात् ॥ २३ ॥
सिद्ध्यतीत्थमिदं युक्त्यैवेत्ययं नियतेः क्रमः ।
त्र्यक्षादिभिः सुरवरैर्व्यर्थीकर्तुं न शक्यते ॥ २४ ॥
स्वभाव एष वस्तूनां स्वतःसिद्धिर्हि नाऽन्यतः ।
नियतिं न जहात्येव शशाङ्क इव शीतताम् ॥ २५ ॥

विद्वान् अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है ॥ १९ ॥

अपने जीवन और मरण की आसक्ति से रहित तत्त्वज्ञ पुरुष आकस्मिक प्राप्त सुख और दुःख से अपनी स्वाभाविक तृप्ति का परित्याग नहीं करता ॥ २० ॥

तत्त्वज्ञ प्रारब्ध क्रम के अनुसार प्राप्त अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुओं से भी किसी प्रकार की विकृति प्राप्त न कर अपने आत्मा की अखण्डाकारवृत्तिरूपी पुष्पों से पूजा करता हुआ ही अपने स्वरूप में वैसे ही अपने स्वरूप में वैसे ही स्थित रहता है जैसे समुद्र नदी-प्रवाह और नदी-प्रवाह से प्राप्त तृण, काष्ठ आदि के अपने भीतर प्रवेश से उपचयापचयरूप विकृति प्राप्त नहीं करता ॥ २१ ॥

तत्त्वज्ञ को यहाँ न तो विध्युक्तानुष्ठान से ही पुण्य है और न विहिताकरण से ही प्रत्यवाय-प्राप्ति है, क्योंकि विद्वान् को ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सब भूतों में कोई भी पदार्थ प्रयोजन के लिए आश्रयणीय नहीं है ॥ २२ ॥

आत्मज्ञान से शून्य भी आकाशगमन आदि सिद्धियों की अभिलाषा करता है और वह सिद्धियों के साधक द्रव्यों से क्रमशः उन्हें सिद्ध करता है ॥ २३ ॥

मणि, मन्त्र आदि युक्तियों से ही इस प्रकार की आकाशगमन आदि सिद्धि हो सकती हैं। शास्त्रों में प्रसिद्ध नियति के क्रम को नियति का विधान करने वाले त्रिनेत्र आदि श्रेष्ठ देवता भी व्यर्थ नहीं कर सकते ॥ २४ ॥

देवता आदि में आकाशगमन आदि सिद्धियाँ वस्तु स्वभाव ही है। दूसरे किसी से वे नहीं आती। नियति का परित्याग कोई वैसे ही नहीं कर सकता जैसे चन्द्रमा शीतता का परित्याग नहीं करता ॥ २५ ॥

सर्वज्ञोऽपि बहुज्ञोऽपि माधवोऽपि हरोऽपि च ।
अन्यथा नियतिं कर्तुं न शक्तः कश्चिदेव हि ॥ २६ ॥
द्रव्यकालक्रियामन्त्रप्रयोगाणां स्वभावजाः ।
एतास्ताः शक्तयो राम ! यद्व्योमगमनादिकम् ॥ २७ ॥
यथा विषाणि निघ्नन्ति मदयन्ति मधूनि च ।
वमयन्ति च शुक्तानि मदनानि फलानि च ॥ २८ ॥
तथा स्वभाववशतो द्रव्यकालक्रियाक्रमाः ।
नियतं साधयन्त्याशु प्रयोगं युक्तियोजिताः ॥ २९ ॥
एतस्मात् समतीतस्य त्यक्ताविद्यस्य राघव ! ।
आत्मज्ञानस्य नाऽस्त्यत्र कर्तृताऽकर्तृताऽनघ ॥ ३० ॥
द्रव्यदेशक्रियाकालयुक्तयः साधुसंविदः ।
परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काश्चन ॥ ३१ ॥
यस्येच्छा विद्यते काचित्स सिद्धिं साधयत्यलम् ।
आत्मज्ञस्य तु पूर्णस्य नेच्छा संभवति क्वचित् ॥ ३२ ॥

सर्वज्ञ हो या बहुज्ञ हो, भगवान् लक्ष्मीपति हों, या उमापति हों, कोई भी नियति को अन्यथा करने में समर्थ नहीं है ॥ २६ ॥

हे श्रीरामजी ! मणि आदि द्रव्य, काल, योगाभ्यास आदि क्रिया और मन्त्रप्रयोगों में उक्त शक्तियाँ, जो आकाशगमन आदि शब्दों से कही जाती है वह स्वभावतः सिद्ध हैं ॥ २७ ॥

योगादि उपायों में कुशल पुरुषों द्वारा प्रयुक्त मण्यादि द्रव्य, काल, क्रिया आदि उपाय स्वभाववश से ही सिद्धियों को वैसे ही अवश्य उत्पन्न करते हैं जैसे विषघ्न मणि, मन्त्र आदि द्रव्य की शक्तियाँ विष का विनाश कर देती हैं, जैसे मदिरा मत्त कर देती है, जैसे माक्षिक मधु अथवा मदनफल खाने पर वमन करा देता है २८, २९ ॥

हे निष्पाप राघव ! द्रव्य-काल-कियाक्रमस्वरूप आविद्यिक विषयों से परे तथा अज्ञान को बाधित कर देनेवाले आत्मज्ञान में आकाशगमन आदि सिद्धियों के प्रति कारणता और विरोधिता नहीं है ॥ ३० ॥

आत्मतत्त्वज्ञान के फलभूत परमात्मा के पद के लाभ में मोक्ष द्रव्य, देश, क्रिया, काल आदि युक्तियाँ कोई भी उपकार नहीं कर सकती ॥ ३१ ॥

आकाशगमन आदि की किसी पुरुष को इच्छा होने पर वह उसकी सिद्धि का साधन पूर्णरूप से करता है। आत्मज्ञानी पूर्ण है, अतः उसको कहीं इच्छा नहीं होती ॥ ३२ ॥

हे निष्पाप श्रीरामजी ! आत्मा की प्राप्ति सब

सर्वेच्छाजालसंशान्तावात्मलाभोदयो हि यः ।
तद्विरुद्धा कथं कस्मादिच्छा सञ्जायतेऽनघ ! ॥ ३३ ॥
यथोदेति च यस्येच्छा स तया यतते तथा ।
यथाकालं तदाप्नोति ज्ञो वाऽप्यज्ञतरोऽपि वा ॥ ३४ ॥
वीतहव्येन यतितं नो ज्ञानेच्छेन किञ्चन ।
ज्ञानेच्छेनाऽऽशु यतितं प्रोत्थितोऽसौ यथा वने ॥ ३५ ॥
एवं कालक्रियाकर्मद्रव्ययुक्तिस्वभावजाः ।
यथेच्छमेव सिद्ध्यन्ति सिद्धयः स्वाः क्रमार्जिताः ॥३६॥
याः फलावलयो येन संप्राप्ताः सिद्धिनामिकाः ।
तास्तेनाऽधिगता राम ! निजात्प्रयतनद्रुमात् ॥ ३७ ॥
महतां नित्यतृप्तानां तज्ज्ञानां भावितात्मनाम् ।
ईहितं सम्प्रयातानां नोपकुर्वन्ति सिद्धयः ॥ ३८ ॥

श्रीराम उवाच

अयं मे संशयो ब्रह्मन्वीतहव्यस्य सा तनु ।
क्रव्यादैर्न कथं भुक्ता कथं क्लिन्ना न भूतले ॥ ३९ ॥

इच्छाओं की शान्ति होने पर ही होती है, अतः आत्मज्ञ को आत्मज्ञ की विरोधिनी इच्छा कैसे और किससे हो सकती है ? ॥ ३३ ॥

तत्त्वज्ञ हो या अतत्त्वज्ञ हो, जिसकी जिस प्रकार इच्छा होगी, वह वैसे ही उसी इच्छा से उसके लिए यत्न करता है और समय आने पर वह उस सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

आत्मज्ञान की इच्छावाले वीतहव्य ने सिधियों की इच्छा से किसी प्रकार का यत्न नहीं किया और ज्ञान की इच्छा से तो उसने शीघ्र यत्न किया था। जैसे इसने अरण्य में ज्ञानाभ्यास के लिए उद्योग किया था ॥ ३५ ॥

इन प्रकार क्रिया, कर्म और द्रव्यरूपी युक्तियों के स्वभाव से उत्पन्न होने वाली क्रमप्राप्त सिद्धियाँ अपनी इच्छा के अनुसार सिद्ध हो जाती हैं ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी ! आकाशगमन आदि सिद्धिनामक फलों की पंक्तियाँ जिस पुरुष के द्वारा प्राप्त की गई हैं, वे उस पुरुष के द्वारा अपने प्रयत्नरूपी वृक्ष से ही प्राप्त की गई हैं ॥ ३७ ॥

पवित्र अन्तःकरण सम्पन्न आत्मतत्त्व-ज्ञान से सम्पन्न सदा सन्तुष्ट सब के द्वारा अभिलषित परमप्रेमास्पद आत्म-सुख को प्राप्त महात्माओं के लिए सिद्धियाँ कुछ भी उपकार नहीं करतीं ॥ ३८ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! मुझे यह संशय हो रहा है कि महामुनि वीतहव्य की वह देह हिंसक बाघ

तदैव वीतहव्योऽसौ कथं वनगतः प्रभो ।
विदेहमुक्ततां शीघ्रं यथावदिति मे वद ॥ ४० ॥

वसिष्ठ उवाच

या संविद्वलिता साधो ! वासनामलतन्तुना ।
सुखदुःखदशादारभागिनी भवतीह सा ॥ ४१ ॥
निर्मुक्तवासना शुद्धसंविन्मात्रमयी तु सा ।
तनुस्तिष्ठति तच्छेदे शक्ता नेह हि केचन ॥ ४२ ॥
शृणु युक्त्या कया योगी तनुच्छेदादिविभ्रमैः ।
नाऽऽक्रम्यते महाबाहो ! बहुवर्षशतैरपि ॥ ४३ ॥
चेतः पदार्थे पतति यस्मिन् यस्मिन् यदा यदा ।
तन्मयं तद्भवत्याशु तस्मिंस्तस्मिंस्तदा तदा ॥ ४४ ॥
तथा दृष्टारि हि मनो विकारमुपगच्छति ।
दृष्टमित्रं सुहृद्यत्वं स्वयमित्यनुभूयते ॥ ४५ ॥

आदि द्वारा भक्षित क्यों नहीं हुई और पृथ्वी में कीचड़ आदि के क्लेश से विशीर्ण क्यों नहीं हुई ॥ ३९ ॥

अरण्य-स्थित ये वीतहव्य मुनि जब पृथ्वी में ढ़ँक गये थे, उसी समय विदेहमुक्त क्यों नहीं हुए ? इन दो प्रश्नों का यथार्थ उत्तर मुझ से कहें ॥ ४० ॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे साधो ! अज्ञानी की संवित् राग आदि मलों से दूषित वासनारूपी ('देह मैं ही हूँ' देह में अहंभाव की वासनारूपी) तन्तु से बँधी हुई रहती है, वही देह के छेदन-भेदन से जनित सुख-दुःख-दशारूपी दाह की आश्रय होती है ॥ ४१ ॥

देहाभिमान-वासना से विमुक्त जीवन्मुक्त महात्मा की देह बाधित होने से अधिष्ठानभूत विशुद्ध संवित्-स्वरूप रहती है, अतः उसके छेदन ये कोई भी हिंसक प्राणी समर्थ नहीं होते ॥ ४२ ॥

हे महाबाहो ! सुनिये किस युक्ति से योगी हजारों बरसों तक भी शरीरच्छेदन आदि विभ्रमों के द्वारा आक्रान्त नहीं होता है ॥ ४३ ॥

चित्त जिस पदार्थ में जब गिरता है आसक्त होता है, तब उस उस पदार्थ में आसक्त होकर वह तत्काल ही ही तद्रूप हो जाता है ॥ ४४ ॥

जैसे—जब मन शत्रु को देख लेता है, तब वह शत्रु के द्वेष के प्रतिबिम्ब से युक्त होकर द्वेष आदि विकार को प्राप्त कर लेता है और जब मित्र को देख लेता है, तब वह उसके हृदय के प्रेम के प्रतिबिम्ब से युक्त होकर उत्तम प्रीति प्राप्त कर लेता है, यह विषय सब लोगों को प्रत्यक्ष रूप से अनुभूत है ॥ ४५ ॥

रागद्वेषविहीने तु पथिके पादपे गिरौ ।
भवत्यरागद्वेषं च स्वयमित्यनुभूयते ॥ ४६ ॥
मृष्टे लौल्यमुपादत्ते दुर्भोज्ये याति निःस्पृहम् ।
वैरस्यं याति कटुनि स्वयमित्यनुभूयते ॥ ४७ ॥
समसंविद्विलासाढ्ये यद्यदा यतिदेहके ।
हिंस्रचेतः पतत्याशु समतामेति तत्तदा ॥ ४८ ॥
समसङ्गविमुक्तत्वाच्छेदादौ न प्रवर्तते ।
पान्थो व्यर्थं पथि ग्रामे यथा ग्रामीणकर्मणि ॥ ४९ ॥
योगिदेहसमीपात्तु गत्वा प्राप्नोति हिंस्रताम् ।
यद्यद्भवति तत्राऽऽशु तथारूपं न संशयः ॥ ५० ॥
इति हिंस्रैर्मृगव्याघ्रसिंहकीटसरीसृपैः ।
न च्छिन्ना वीतहव्यस्य तनुर्भूतलशालिनी ॥ ५१ ॥

राग और द्वेष से शून्य बटोही उदासीन पुरुष का वृक्ष और पर्वत के विषय में तो मन राग और द्वेष से रहित होता है, यह स्वयं अनुभूत है ॥ ४६ ॥

सरस स्वादु पदार्थ के विषय में यह मन लालची बन जाता है, नीरस अस्वादु पदार्थ के विषय में स्पृहारहित हो जाता है और कटु पदार्थ के विषय में विरस हो जाता है, यह स्वयं सब लोग अनुभव करते हैं ॥ ४७ ॥

हिंसक जन्तुओं का मन जब—राग, द्वेष एवं विषमता से रहित संवित् के (चैतन्य के) विलास से नितान्त समन्वित योगी की देह में गिरता है, तब वह तत्काल ही योगी के चैतन्य की समता का प्रतिबिम्ब पड़ने से समता प्राप्त कर लेता है, इसलिए उनके द्वारा हिंसा नहीं हो सकती ॥ ४८ ॥

हिंसक प्राणी समदर्शी यति के संसर्ग से द्वेष आदि से मुक्त हो जाता है, इसलिए वह किसी की भी हिंसा करने में वैसे ही प्रवृत्त नहीं होता है जैसे बटोही गाँव के समीपस्थ वन में उत्पन्न लता आदि के छेदन में प्रवृत्त नहीं होता है ॥ ४९ ॥

योगी के शरीर के समीप से हिंसक प्राणी जब अन्यत्र चला जाता है, तब वहाँ जाकर द्वेष आदि से भरा जैसा जन्तु समूह मिलता है, वैसा तदनुरूप वह हिंसक भाव को प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

इन्हीं दो कारणों से हिंसक मृग, बाघ, सिंह, कीट और सर्पों ने भूगर्भ में प्रकाशित हो रही महामुनि वीतहव्य की देह को क्षत-विक्षत नहीं किया ॥ ५१ ॥

**सर्वत्र विद्यते संवित्काष्ठलोष्टोपलादिके ।
सत्तासामान्यरूपेण संस्थिता मूकबालवत् ॥ ५२ ॥
पोप्लूयमाना तरला केवलं परिदृश्यते ।
तन्वी पुर्यष्टकेष्वेव प्रतिबिम्बजलेष्विव ॥ ५३ ॥
तेन भूजलवाय्वग्निसंवित्त्या समरूपया ।
निर्विकारं तनुर्नीता वीतहव्यस्य राघव ! ॥ ५४ ॥
अन्यच्च श्रृणु मे राम ! स्पन्दो नाशस्य कारणम् ।
विकारः स च चित्तत्थो वातजो वा जगत्स्थितौ ॥५५॥
प्राणानां प्राणनं स्पन्दस्तच्छान्तौ ते दृषत्समाः ।
यतः स्थिता धारणया तेनाऽनष्टाऽस्य सा तनुः ॥ ५६ ॥
सबाह्याभ्यन्तरे स्पन्दश्चित्तजो वातजोऽथवा ।
न यस्य विद्यते तस्य दूरस्थौ प्रकृतिक्षयौ ॥ ५७ ॥
सबाह्याभ्यन्तरे शान्ते स्पन्दे तत्त्वविदां वर ! ।**

काष्ठ, लोष्ट, मिट्टी का ढेला, पत्थर आदि सर्वत्र मूक बालक के समान सामान्यरूप से संवित्-सत्ता अवस्थित रहती है ॥ ५२ ॥

असमाहित चित्त से संयुक्त पुरुषों को वह संवित्-सत्ता केवल पुर्यष्टकों में ही हजारों विषम परिणामों वाली, परिच्छिन्न तथा तैर रहे पदार्थ की तरह वैसे ही चपल दिखाई पड़ती है जैसे जल में सूर्यादि का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है ॥ ५३ ॥

हे राघव ! उस वीतहव्य-सम्बन्धी पुर्यष्टक ने तत्त्व-ज्ञान और तदनुकूल समाधि से अविषम स्वभाव को प्राप्त पृथ्वी, जल, वायु और तेज की संवित्ति के द्वारा उक्त मुनि-शरीर को समस्त विकारों से शून्य ब्रह्मभाव प्राप्त कराया था, इसलिए वह विकृत नहीं हुआ ॥ ५४ ॥

हे श्रीरामजी ! इस विषय में मुझसे आप दूसरी भी युक्ति सुनें । स्पन्दन ही नाश में कारण है और यह स्पन्द चित्त से जनित अथवा वात से जनित एक प्रकार का विकार है, यह बात लौकिक व्यवहार में प्रसिद्ध है ॥५५॥

प्राणन-वृत्ति ही प्राण-वायुओं का स्पन्द है । वीतहव्य की देह में धारणा द्वारा उक्त प्राणन-वृत्ति के शान्त हो जाने पर वे प्राण पत्थर की तरह दृढ़ होकर स्थित थे, इसलिए मुनि की वह देह नष्ट नहीं हुई ॥ ५६ ॥

जिस महामति के हाथ, पैर तथा प्राण आदि से युक्त शरीर में चित्त जनित अथवा वातजनित स्पन्दन नहीं रहता, उसके शरीर में वृद्धि आदि तथा क्षय आदि विकार उत्पन्न नहीं होते हैं ॥ ५७ ॥

हे तत्त्वज्ञश्रेष्ठ ! हाथ आदि बाह्य और प्राण आदि

**धावतः संस्थितिं देहे न त्यजन्ति कदाचन ॥ ५८ ॥
संशान्ते देहप्रस्पन्दे चित्तवातमये तथा ।
धावतो मैरवं स्थैर्यं यान्ति संस्तम्भितात्मकाः ॥ ५९ ॥
तथा च दृश्यते लोके स्पन्दशान्तौ दृढा स्थितिः ।
दारूणामिव धीराणां शवाङ्गानामचोपता ॥ ६० ॥
इति वर्षसहस्राणि देहा जगति योगिनाम् ।
न क्लिद्यन्ते न भिद्यन्ते मग्नवज्जलदा इव ॥ ६१ ॥
तदैव वीतहव्योऽसौ श्रृणु किं नोपशान्तवान् ।
देहमुत्सृज्य तत्त्वज्ञो ज्ञातज्ञेयवतां वरः ॥ ६२ ॥
ये हि विज्ञातविज्ञेया वीतरागा महाधियः ।
विच्छिन्नग्रन्थयः सर्वे ते स्वतन्त्रास्तनौ स्थिताः ॥ ६३ ॥
दैवं वाऽपि च कर्माणि प्राक्तनान्यैहिकानि च ।
वासना वा न तेषां तच्चेतो नियमयन्त्यलम् ॥ ६४ ॥**

आन्तर अवयवों से समन्वित शरीर में स्पन्दन-वृत्ति के शान्त हो जाने पर त्वचा आदि धातुएँ अपनी पूर्वावस्था कभी-भी परित्याग नहीं करतीं ॥ ५८ ॥

चित्तजनित और वातजनित देह-स्पन्द के शान्त हो जाने पर त्वचा आदि धातुएँ अपने चंचल स्वरूप से भली भाँति स्तम्भित होकर मेरु पर्वत के समान दृढ़ स्थिरता धारण करती हैं ॥ ५९ ॥

इसीलिए प्राणस्पन्द के शान्त हो जाने पर काष्ठ के समान योगियों के शरीरों में दृढ़ स्थिति और शव में कम्पन-शून्यता लोक में देखी जाती है ॥ ६० ॥

इस प्रकार हजारों बरसों तक योगियों के शरीर इस लोक में मेघों की तरह न तो गीले होते हैं और न भूगर्भस्थित शिला की तरह विशीर्ण होते हैं ॥ ६१ ॥

अब यह सुनिये जिस उपायों से ब्रह्म ज्ञात होता है, उन उपायों से समन्वित बड़े-बड़े महात्माओं में सर्वश्रेष्ठ यह महामुनि वीतहव्य उसी समय अपनी देह का उत्सर्जन कर मुक्त क्यों नहीं हो गये ॥ ६२ ॥

विषयाभिलाषाओं से वर्जित, अज्ञान ग्रन्थि से निर्मुक्त तथा विदितवेद्य महामति महात्मा सब अपनी देह के विषय में स्वतन्त्र होकर स्थित रहते हैं देह को रखना या छोड़ना उनको इच्छा की बात है ॥ ६३ ॥

पूर्व के अनुष्ठित कर्मों का फल देनेवाला दैवकर्मों की प्रधानतावाद में प्रतिपादित प्राक्तन या वर्तमान कर्म और वासना उन योगियों के चित्त को, जो अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों का उपभोग करने के लिए प्रवृत्त है, अन्यथारूप से प्रवृत्त करने में समर्थ नहीं हैं ॥ ६४ ॥

तेन तत्त्वविदां तात ! काकतालीयवन्मनः ।
यद्यद् भावयति क्षिप्रं तत्तदाशु करोत्यलम् ॥ ६५ ॥
काकतालीययोगेन वीतहव्यस्य संविदा ।
साम्प्रतं जीवितं बुद्धं तदेवाऽऽशु स्थिरीकृतम् ॥ ६६ ॥
यदा तु यस्य प्रतिभा विदेहोन्मुक्ततां गता ।
तदा विदेहमुक्तोऽभूदसौ स्वातन्त्र्यसंस्थितिः ॥ ६७ ॥
विगतवासनमाशु विपाशता-
मुपगतं मन आत्मतयोदितम् ।
यदभिवाञ्छति तद् भवति क्षणात्
सकलशक्तिमयो हि परमेश्वरः ॥ ६८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सद्विलासविचारयोगोपदेशो नामैकोननवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

हे तात ! तत्त्वज्ञों का अन्तःकरण काकतालीय की तरह अकस्मात् जिस क्षण में जिस किसी की प्रारब्ध प्राप्त जीवन या मरण की भावना करता है, उसी क्षण में उसको ठीक रूप से कर लेता है ॥ ६५ ॥

काकतालीय न्याय से वीतहव्य की संवित् ने उस समय जीने की भावना की और उसी को तत्काल स्थिर कर डाला ॥ ६६ ॥

प्रारब्ध समाप्ति होने पर वीतहव्य की प्रतिभा विदेह-मुक्तता की ओर गई उसने विदेहमुक्ति की भावना की, वह विदेहमुक्त हो गये, क्योंकि यह मुनि अपने जीवन आदि में स्वतन्त्र थे ॥ ६७ ॥

समस्त वासनाओं से विनिर्मुक्त तथा अज्ञानरूपी बन्धन से रहित होने के कारण तत्काल ही अन्तःकरणोपाधिक वीतहव्य का जीव पारमार्थिक आत्मस्वभाव से उदित हुआ; क्योंकि वह सभी शक्तियों के विधि महेश्वर ही थे, अतः जो चाहते थे, उसी समय वह हो जाते थे। संस्कृत व्याख्या में उद्धृत हैं—

'तुषेण बद्धो व्रीहिः स्यात् तुषाभावे तु तण्डुलः ।
पाशबद्धः सदा जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ॥'

जैसे छिलकों से युक्त चावल धान कहा जाता है और छिलको के अभाव में यानी शुद्ध तण्डुल कहा जाता है वैसे ही अज्ञानरूपी पाश से युक्त चेतन सदा जीव कहा जाता है और अज्ञानपाश से वर्जित चेतन शुद्ध सदाशिव कहा जाता है ॥ ६८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में सद्विलासविचारोपयोग नामक कुसुमलता का नवासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८९ ॥

९०

वसिष्ठ उवाच

यदा ह्यस्तङ्गतप्रायं जातं चित्तं विचारतः ।
तदा हि वीतहव्यस्य जाता मैत्र्यादयो गुणाः ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

विचाराभ्युदयाच्चित्तस्वरूपेऽन्तर्हिते मुनेः ।
मैत्र्यादयो गुणा जाता इत्युक्तं किं त्वया प्रभो ! ॥ २ ॥
ब्रह्मण्यस्तङ्गते चित्ते कस्य मैत्र्यादयो गुणाः ।
क्व वा परिस्फुरन्तीति वद मे वदतां वर ! ॥ ३ ॥

९०

वसिष्ठ जी ने कहा—वीतहव्य का चित्त जब विचार से, भुँजे बीज की तरह अङ्कुरशक्ति से रहित हो गया था और प्रतिभास से रहित नहीं हुआ था, तब उसमें मैत्री आदि गुणों का आविर्भाव हो गया ॥ १ ॥

श्रीराम जी ने कहा—हे प्रभो ! आत्मा और अनात्मा के विचार की अभ्युन्नति से महामुनि वीतहव्य के बाधित हुए अन्तःकरण-स्वरूप में मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए, आपके इस कथन का क्या अभिप्राय है ? ॥ २ ॥

हे वाग्मियों में श्रेष्ठ ! चित्त का ब्रह्म में बाध हो जाने पर किसमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न होंगे और कहाँ वे प्रस्फुरित होंगे, यह आप मुझसे कहें । क्या जिसका बाध हुआ है, उसमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए ? या क्या जिस अधिष्ठान में बाध हुआ, उसमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए एवं उक्त गुण क्या चिदाभास में प्रस्फुरित होते हैं अथवा बिम्बभूत चैतन्य में ? इनमें से किसी भी पक्ष की उपपत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि बाधित मृग-तृष्णानदी में या उसके अधिष्ठान मरुभूमि में शैत्य आदि गुण उत्पन्न होते नहीं देख जाते । इसी प्रकार वहाँ उनका भासक कोई पदार्थ भी उपलब्ध नहीं होता है ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च ।
जीवन्मुक्तः सरूपः स्यादरूपोऽदेहमुक्तिजः ॥ ४ ॥
चित्तसत्तेह दुःखाय चित्तनाशः सुखाय तु ।
चित्तसत्तां क्षयं नीत्वा चित्तं नाशमुपानयेत् ॥ ५ ॥
तामसैर्वासनाजालैर्व्याप्तं यज्जन्मकारणम् ।
विद्यमानं मनो विद्धि तद् दुःखायैव केवलम् ॥ ६ ॥
प्राक्तनं गुणसम्भारं ममेति बहु मन्यते ।
यत्तु चित्तमतत्त्वज्ञं दुःखितं जीव उच्यते ॥ ७ ॥
विद्यमानं मनो यावत्तावद् दुःखक्षयः कुतः ।
मनस्यस्तङ्गते जन्तोः संसारोऽस्तमुपागतः ॥ ८ ॥
दुःखमूलमवष्टब्धमस्मिन्नेव विनिश्चलम् ।

वसिष्ठ ने कहा—चित्त का विनाश दो प्रकार का होता है—एक सरूप विनाश और दूसरा अरूप विनाश, पहला सरूप विनाश तो जीवन्मुक्ति होने से हो जाता है और दूसरा अरूप विनाश विदेहमुक्ति से हो जाता है स्फटिक आदि स्वच्छ पदार्थों में पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब में जिस प्रकार पुरुषान्तरत्वभ्रम का आभास होता है, उस प्रकार चित्त में पड़े हुए चित्प्रतिबिम्ब में चिदन्तरत्व आभास होता है, उस भासमानरूप से युक्त एक चित्त विनाश होता है और दूसरा तादृश रूप से शून्य चित्त विनाश होता है ॥ ४ ॥

इस संसार में चित्त का अस्तित्व अर्थात् चित्तदर्शन-पूर्वक आत्मा का अदर्शन दुःख का कारण है और चित्त का विनाश अर्थात् चित्तादर्शनपूर्वक आत्मदर्शन सुख का कारण है। अतः पहले चित्त की अस्तिता का विनाश कर अनन्तर चित्त का विनाश कर देना चाहिए ॥ ५ ॥

बाध न होने पर उस अज्ञान से उत्पन्न हुई वासनाओं से व्याप्त जन्म का कारण मन है, वही विद्यमान मन है, यह आप जानें। वह विद्यमान मन केवल दुःख का ही कारण है ॥ ६ ॥

प्राक्तन अनादि अध्यास से सिद्ध देह, इन्द्रिय, विषय आदि के धर्मों से आत्मा के संसर्गाध्यास से ममता होती है और उससे 'वे मेरे हैं, जीव दृढ़ अभिमान कर लेता है। इसी एकमात्र अभिमान से आत्मतत्त्व को न पहचानने वाला दुःखग्रस्त अज्ञानी चित्त ही जीव कहा जाता है ॥ ७ ॥

मन का अस्तित्व रहने तक दुःख का विनाश कैसे ? जब मन अस्त हो जाता है, तब प्राणी का संसार भी

विद्यमानं मनो विद्धि दुःखवृक्षवनाङ्कुरम् ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

नष्टं कस्य मनो ब्रह्मन्नष्टं वा कीदृशं भवेत् ।
कीदृशश्चाऽस्य नाशः स्यात्सत्ता नाशस्य कीदृशी ॥१०॥

वसिष्ठ उवाच

चेतसः कथिता सत्ता मया रघुकुलोद्वह ! ।
अस्य नाशमिदानीं त्वं शृणु प्रश्नविदांवर ! ॥ ११ ॥
सुखदुःखदशा धीरं साम्यान्न प्रोद्धरन्ति यम् ।
निःश्वासा इव शैलेन्द्रं चित्तं तस्य मृतं विदुः ॥ १२ ॥
अयं सोऽहमयं नाऽहमिति चिन्ता नरोत्तमम् ।
खर्वीकरोति यं नाऽन्तर्नष्टं तस्य मनो विदुः ॥ १३ ॥
आपत्कार्पण्यमुत्साहो मदो मान्द्यं महोत्सवः ।
यं नयन्ति न वैरूप्यं तस्य नष्टं विदुर्मनः ॥ १४ ॥

अस्त हो जाता है ॥ ८ ॥

इस अज्ञानी जीव में ही वासनारूपी अङ्कुरों के समूहों से दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित विद्यमान मन ही दुःखरूपी वृक्ष का मूल है, यह आप समझें। दुःखरूपी वृक्षों के जङ्गल के अङ्कुर उसी मन से उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! किस का मन विनष्ट हुआ था ? विनष्ट मन का स्वरूप किस प्रकार का होगा ? चित्त का नाश कैसा है ? और नाश को प्राप्त मन की व्यवहारक्षमता का लक्षण क्या है ? ॥ १० ॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे प्रश्नवेत्ताओं में श्रेष्ठ रघुकुल-वाहक ! मैंने 'तामसैर्वासनाजालैः' इत्यादि पूर्व वाक्य से चित्त की सत्ता का स्वरूप कहा है। अब आप इसके विनाश का स्वरूप सुनें ॥ ११ ॥

बाह्य और आभ्यान्तर सुख-दुःख-दशाएँ जिस धीर पुरुष को सम-स्वभाव तथा पूर्णानन्दैकरस स्वात्मनिष्ठा से वैसे ही विचलित नहीं करती जैसे निःश्वासवायु पर्वतराज को अपने स्वरूप से विचलित नहीं करती। उस महात्मा के चित्त को नष्ट चित्त कहते हैं ॥ १२ ॥

'यह शरीर ही मैं हूँ, 'यह उससे अतिरिक्त घट आदि मैं नहीं हूँ', इस प्रकार की तुच्छ भावना जिस पुरुषश्रेष्ठ को भीतर से संकुचित नहीं करती, उस पुरुष के चित्त को नष्ट चित्त कहते हैं ॥ १३ ॥

आपत्ति, कार्पण्य, द्ररिद्रता, उत्साह पुत्रादि प्राप्ति-प्रयुक्त हर्ष, मन्दता और महोत्सव जिस पुरुष को विरूपता की अर्थात् विकार की ओर नहीं ले जाते, विद्वान् उसके चित्त को नष्ट चित्त कहते हैं ॥ १४ ॥

एष साधो ! मनोनाशो नष्टं चेह मनो भवेत् ।
चित्तनाशदशा चैषा जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥ १५ ॥
मनस्तां मूढतां विद्धि यदा नश्यति साऽनघ ! ।
चित्तनाशाभिधानं हि तदा सत्त्वमुदेत्यलम् ॥ १६ ॥
तस्य सत्त्वविलासस्य चित्तनाशस्य राघव ! ।
जीवन्मुक्तस्वभावस्य कैश्चिच्चित्ताभिधा कृता ॥ १७ ॥
मैत्र्यादिभिर्गुणैर्युक्तं भवत्युत्तमवासनम् ।
भूयो जन्मविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तमनोऽनघ ! ॥ १८ ॥
व्याप्तं वासनया यत्स्याद् भूयोजननमुक्तया ।
जीवन्मुक्तमनःसत्ता राम ! तत्सत्त्वमुच्यते ॥ १९ ॥
सम्प्रत्येवाऽनुभूतत्वात् सत्त्वाप्त्या तन्वसंयुतः ।
सरूपोऽसौ मनोनाशो जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥ २० ॥
मैत्र्यादयोऽथ मुदिताः शशाङ्क इव दीप्तयः ।

हे साधो ! इस लोक में यही चित्त का विनाश है और इसी को नष्ट चित्त भी कहते हैं। जीवन्मुक्त यही चित्तनाश-दशा है ॥ १५ ॥

हे निष्पाप ! परमार्थरूपता की भ्रान्ति से घटादि दृश्य पदार्थों का मनन करना ही मूढता है और जब उसका विनाश हो जाता है, तब चित्तविनाशनामक शुद्धसत्त्वभावता का भली-भाँति उदय हो जाता है ॥ १६ ॥

हे राघव ! उस विशुद्ध सत्त्वभावत्व रूप जीवन्मुक्त-स्वभावात्मक चित्तविनाश का, तादृश-व्यवहार रूपी आभास की दृष्टि रखने वाले कतिपय लोगों ने चित्तनाम रक्खा है ॥ १७ ॥

हे निष्पाप ! जीवन्मुक्त मन मैत्री आदि शुभ गुणों से सम्पन्न, उत्तम वासनाओं से युक्त तथा पुनर्जन्म से शून्य होता है ॥ १८ ॥

हे श्रीरामजी ! ब्रह्माकार वासना से ओतप्रोत, पुनर्जनन से निर्मुक्त जीवन्मुक्त मन की सत्ता है वही सत्त्वनाम से व्यवहृत होता है ॥ १९ ॥

व्युत्थानकाल में ही प्रतिभासतः अनुभूत होने से साकार स्वरूप को प्राप्त तथा सन्मात्रस्वभाव की प्राप्ति होने के कारण देह आदि-परिच्छेद के संस्पर्श से शून्य ही जीवन्मुक्त का स्वरूप है, इस मननीय विषय के न रहने से उसका सरूप मनोनाश है। इससे 'सत्ता नाशस्य कीदृशी' इस प्रश्नांश का समाधान हुआ ॥ २० ॥

अनन्तर जीवन्मुक्त मनोविनाश में प्रसन्न मैत्री आदि

जीवन्मुक्तमनोनाशे सर्वदा सर्वथा स्थिताः ॥ २१ ॥
जीवन्मुक्तमनोनाशे सत्त्वनाम्नि हिमालये ।
वसन्त इव मञ्जर्यः स्फुरन्ति गुणसम्पदः ॥ २२ ॥
अरूपस्तु मनोनाशो यो मयोक्तो रघूद्वह ! ।
विदेहमुक्त एवाऽसौ विद्यते निष्कलात्मकः ॥ २३ ॥
समग्राग्र्यगुणाधारमपि सत्त्वं प्रलीयते ।
विदेहमुक्ते विमले पदे परमपावने ॥ २४ ॥
विदेहमुक्तविषये तस्मिन्सत्त्वक्षयात्मके ।
चित्तनाशे विरूपाख्ये न किञ्चिदपि विद्यते ॥ २५ ॥
न गुणा नाऽगुणास्तत्र न श्रीर्नाऽश्रीर्न लोलता ।
न चोदयो नाऽस्तमयो न हर्षामर्षसंविदः ॥ २६ ॥
न तेजो न तमः किञ्चिन्न सन्ध्या दिनरात्रयः ।
न दिशो न च वाऽऽकाशो नाऽधो नाऽनर्थरूपता ॥ २७ ॥

गुण वैसे ही सदा सब तरह से रहते हैं जैसे चन्द्रमा में प्रसन्न ज्योत्स्नाएँ रहती हैं ॥ २१ ॥

संतोषरूपी शीतलता के आश्रय, सत्त्व नामक जीवन्मुक्त स्वरूप मनोनाश-दशा में गुणरूपी सम्पत्तियाँ वैसे ही प्रस्फुरित होती हैं, जैसे हिमालय में बसन्तऋतु में मञ्जरियाँ प्रस्फुरित होती हैं ॥ २२ ॥

हे रघूद्वह ! मैंने जो पहले अरूप मनोनाश कहा है वह विदेहमुक्त का ही विषय है तथा अवयवादि विकारों से शून्य है ॥ २३ ॥

परम पवित्र विदेहमुक्तिरूपी निर्मल पद में समस्त श्रेष्ठ गुणों का आश्रय प्रातिभासिक मन भी विलीन हो जाता है ॥ २४ ॥

विदेहमुक्त अवस्था में सत्त्वविनाशरूप अरूप चित्त-नाशदशा में किसी भी दृश्य पदार्थ का अस्तित्व नहीं रहता है ॥ २५ ॥

अरूपचित्तविनाशदशा में मैत्री आदि गुण हैं, न गुणा-भाव मनोदोष हैं, न गुणसमृद्धि है, न श्री का अभाव दोष समृद्धि है, न चपलता है, न उदय है, न अस्त है, न हर्ष है, न अमर्ष है और न पृथक् तदीय परिज्ञान है यह भूमा अवस्था है 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यद्विजानाति नान्य-च्छृनोति नान्यद्विजानाति समूल की दशा है ॥ २६ ॥

न तेज मायिक सत्त्ववृत्ति है, न कुछ तम मायिक तमोवृत्ति है, न सन्ध्या है, न दिन या रात है, न दिशाएँ हैं, न आकाश है, न नीचा प्रदेश है और न अनर्थरूपता है ॥ २७ ॥

न वासना न रचना नेहानीहे न रञ्जना ।
न सत्ता नाऽपि वाऽसत्ता न च साध्यं हि तत्पदम् ॥ २८॥
अतमस्तेजसा व्योम्ना वितारेन्द्वर्कवायुना ।
तत्समं शरदच्छेन निःसन्ध्येनाऽरजस्त्विषा ॥ २९ ॥
ये हि पारं गता बुद्धेः संसाराचरणस्य च ।
तेषां तदास्पदं स्फारं पवनानामिवाऽम्बरम् ॥ ३० ॥
संशान्तदुःखमजडात्मकमेव सुप्त-
मानन्दमन्थरमपेतरजस्तमो यत् ।
आकाशकोशतनवोऽतनवो महान्त-
स्तस्मिन्पदे गलितचित्तलवा वसन्ति ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे चित्तोपदेशविचारयोगोपदेशो नाम नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

न कोई वासना है, न किसी प्रकार की रचना है, न इच्छा है, न अनिच्छा है, न राग है, न भाव है, न अभाव है और न यह पद साध्य है ॥ २८ ॥

तम और तेज से शून्य; तारे, चन्द्र, सूर्य और वायु से वर्जित; सन्ध्या, रजःकण और सूर्य-कान्ति से रहित शरत्कालीन स्वच्छ आकाश के सदृश यह परम पद अत्यन्त निर्मल है ॥ २९ ॥

जो लोग संसार के कारण चित्त और तज्जनित निरन्तर भ्रमण से परे हो गये हैं उन लोगों के लिए वह विशाल पद उन लोगों का वैसे ही प्रतिष्ठास्थान है जैसे वायु का विशाल आकाश प्रतिष्ठास्थान है ॥ ३० ॥

त्रिविध दुःख से निर्मुक्त, स्वयं चैतन्यरूप सुप्त पुरुष की तरह उन्मेष आदि क्रियाओं से शून्य, ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण तथा रज और तम से रहित उस पद में वे अपुनरावृत्ति से स्थिरतापूर्वक रहते हैं, वहाँ पर वे प्रातिभासिक चित्तांश से भी शून्य, विदेहमुक्त (स्थल, सूक्ष्म और कारण शरीरों से रहित) एवं आकाशकोश के सदृश सूक्ष्म (इन्द्रिय से अगम्य) हो गये हैं ॥ ३१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में चित्तोपदेशविचारयोगोपदेश नामक कुसुमलता का नब्बेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९० ॥

९१

श्रीराम उवाच

परमाकोशाद्रिरूढलोकान्तरद्रुमम् ।
तारकापुष्पशबलं देवासुरविहङ्गमम् ॥ १ ॥
विद्युन्मञ्जरितोपान्तनीलनीरदपल्लवम् ।
सर्वर्तुरम्यचन्द्रार्कगणरम्यकदन्तुरम् ॥ २ ॥
सप्ताब्धिवापीवलितं सरिच्छतमनोहरम् ।
चतुर्दशविधानन्तभूतजातोपजीवितम् ॥ ३ ॥
जगत्काननमाक्रम्य स्थितायाः कृतजालकम् ।
ब्रह्मन् ! संसृतिमृद्वीकालतया विततकृतेः ॥ ४ ॥
जरामरणपर्वायाः सुखदुःखफलावलेः ।
मायाप्ररूढमूलाया मोहसेकजलाञ्जलेः ॥ ५ ॥

९१

श्रीरामजी ने कहा—यह जगत् एक विशाल वन है, वहाँ पर निर्विशेष परब्रह्म का साक्षात्कार करने में पर्वत की तरह प्रतिबन्धक होने से पर्वततुल्य आव्याकृत में उत्पन्न चित्रविचित्र पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्ड ही वृक्ष हैं, उन वृक्षों पर तारागण ही फूल हैं, देवता और असुर पक्षी हैं। विद्युत्-रूपी मञ्जरियों से समन्वित दिशारूपी शाखाओं के अग्रभागों में नील आदि वर्णवाले मेघ ही पल्लव हैं। सभी ऋतुओं में सुन्दर चन्द्रमा और सूर्यरूपी विकास-रमणीय पुष्पों से उन्नत दाँत से युक्त होकर हँसता हुआ स्थित है, सात समुद्ररूपी बावडियों से परिवेष्टित है, सैंकड़ों नदियों से मनोहर है, लोकभेद से चौदह प्रकार के और व्यक्तिशः भूतगणों से उपजीवित है यही उनके जीवन का साधन है ॥ १—३ ॥

हे ब्रह्मन् ! इस जगत्-रूपी महारण्य का आक्रमण कर अर्थात् आसना-प्रतानों से चारों ओर संवेष्टन कर जालरचनापूर्वक स्थित विस्मृत आकार, जीवसृष्टिरूपी द्राक्षालता का जरा और मरण रूपी पर्व—काण्ड-ग्रन्थियाँ हैं, जिसपर सुख-दुःखरूपी फलों की पंक्तियाँ हैं, माया ही दृढमूल है, मोह ही सिंचन-साधन जलों की अञ्जलियाँ हैं ॥ ४–५ ॥

किं बीजमथ बीजस्य तस्य किं बीजमुच्यते ।
अथ तस्याऽऽपि किं बीजं बीजं तस्याऽपि किं भवेत् ॥६॥
सर्वमेतत् समासेन पुनर्बोधविवृद्धये ।
सिद्धये ज्ञानसारस्य वद मे वदतां वर ! ॥ ७ ॥

वसिष्ठ उवाच

अन्तर्लीनघनारम्भशुभाशुभमहाङ्कुरम् ।
संसृतिव्रततेर्बीजं शरीरं विद्धि राघव ! ॥ ८ ॥
शाखाप्रतानगहना फलपल्लवशालिनी ।
तेनेयं भवति स्फीता शरदीव वसुन्धरा ॥ ९ ॥
भावाभावदशाकोशं दुःखरत्नसमुद्गकम् ।
बीजमस्य शरीरस्य चित्तमाशावशानुगम् ॥ १० ॥
चित्तादिदमुदेत्युच्चैः सदसच्चाऽङ्गजालकम् ।
तथा चैतत्स्वयं स्वप्नसम्भ्रमेष्वनुभूयते ॥ ११ ॥
यथा गन्धर्वसङ्कल्पात् पुरमेवं हि चेतसः ।
सवातायनमाकारभासुरं जायते वपुः ॥ १२ ॥

बीज क्या है ? उस बीज का भी बीज क्या है, उस बीज के बीज का बीज क्या है और तृतीय बीज का भी बीज क्या है ? ॥ ६ ॥

हे वक्ताओं में श्रेष्ठ ! इन चार प्रश्नों का मुझ को उत्तर संक्षेप से दीजिए, जिससे मुझ में ज्ञान की अभिवृद्धि और ज्ञानरूप तत्त्वांश की सिद्धि हो ॥ ७ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे राघव ! लिङ्गदेह में छिपे हुए चित्रविचित्र अनन्त कार्यों के उत्पादक शुभाशुभ कर्म रूपी बड़े-बड़े अङ्कुर वाला शरीर ही जीव-सृष्टिरूपी लता का बीज है, वह आप जानें ॥ ८ ॥

यह जीव-संसृतिलता उस शरीर से वैसे ही अत्यन्त बढ़ जाती है जैसे शरत्-काल में शाखाओं के प्रतानों से गहन तथा फल और पल्लवों में शोभित होकर पृथ्वी सस्य-सम्पत्ति से बढ़ जाती है ॥ ९ ॥

वैभव की वृद्धि और क्षति—इन दो दशाओं के निधिभूति तथा अनेक दुःखरूपी रत्नों की पिटारीस्वरूप आशाओं का वश में रहने वाला एक तरह से अनुचरभूत चित्त शरीर का बीज है ॥ १० ॥

एकमात्र तत्रोक्त सर्वोपरि चित्त से ही यह वर्तमान, त और भविष्यत् के शरीरसमूह उत्पन्न हुए हैं। यह प्न के भ्रमों में सब को स्वयं अनुभूत होती है ॥ ११ ॥

तत्-तत् शरीरसङ्कल्प से युक्त चित्त से ही तत्-तत् ोर उत्पन्न होते हैं जैसे मुमूर्षु आसन्नमरण पुरुष के नातदर्शनसङ्कल्प से युक्त चित से ही झरोखे आदि से समन्वित तथा सुन्दर आकार वाला गन्धर्व-नगर उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥

यदिदं किञ्चिदाभोगि जागतं दृश्यतां गतम् ।
रूपं तच्चेतसः स्फारं घटादित्वं मृदो यथा ॥ १३ ॥
द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिणः ।
एकं प्राणपरिस्पन्दो द्वितीयं दृढभावना ॥ १४ ॥
यदा प्रस्पन्दते प्राणो नाडीसंस्पर्शनोद्यतः ।
तदा संवेदनमयं चित्तमाशु प्रजायते ॥ १५ ॥
यदा न स्पन्दते प्राणः शिरासरणिकोटरे ।
असंवित्तिवशात्तेन चित्तमन्तर्न जायते ॥ १६ ॥
प्राणस्पन्दनमेवेदं चित्तद्वारेण दृश्यते ।
जगन्नामाऽऽगतं व्योम्नि नीलत्वादिवदीदृशम् ॥ १७ ॥
प्राणस्पन्दनसुप्ता च तच्छान्तिः शान्तिरुच्यते ।
प्राणसंस्पन्दनात्संविद्याति वीटेव चोदिता ॥ १८ ॥
संवित्स्फुरति देहेषु प्राणस्पन्दप्रबोधिता ।
चक्रावर्तैरङ्गणेषु वीटेव करताडिता ॥ १९ ॥

सम्पूर्ण उपचारों से परिपूर्ण यह मिथ्या जगत् दृश्यात्मक स्वरूप चित्त से वैसे ही उत्पन्न होता है, जैसे मृत्तिका से घट आदि स्वरूप उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

एक प्राणपरिस्पन्द और दूसरा दृढ़ वासना अनेक तरह की वृत्तियाँ धारण करने वाले चित्तरूपी वृक्ष के दो बीज हैं ॥ १४ ॥

हृदय की मनोवहार्थों नाडियों में संचरण के लिए उद्यत प्राणवायु जब अपना व्यापार करने लगता है, तब चेतनविकार-प्राय चित्त तत्काल ही उत्पन्न होता है ॥१५॥

जब बाह्य पदार्थों के अनुभव से जनित संस्कारों का उद्बोध न होने के कारण बहत्तर हजार नाडीमार्गों के छिद्रों में प्राण अपना व्यापार छोड़ देता है, तब उससे चित्त अन्दर उत्पन्न नहीं होता ॥ १६ ॥

यह प्राण-प्रस्पन्दन-स्वरूप ही इस प्रकार का जगत्-नामधारी पदार्थ चित्त के द्वारा वैसे ही लक्षित होता है, जैसे आकाश में नीलत्व आदि लक्षित होते हैं ॥ १७ ॥

प्राणस्पन्दन के विषय में उपरत उस चिति की निष्क्रियता ही शान्ति जगत् प्रलय या मोक्ष है, प्राण के स्पन्दन से संवित्, करतल से विताडित गेंद की तरह ऊपर नीचे होती रहती है ॥ १८ ॥

जैसे करतल से विताडित गेंद आँगनों में चक्राकार आवर्तों से प्रस्फुरित होता है वैसे ही प्राण-स्पन्दन से बोध

सती सर्वगता संवित्प्राणस्पन्देन बोध्यते ।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतराकारा गन्धलेखेव वायुना ॥ २० ॥
संवित्संरोधने श्रेयः परमं विद्धि राघव ! ।
कारणाक्रमणं यत्र क्षोभस्तत्र न विद्यते ॥ २१ ॥
संवित्समुदितैवाऽऽशु याति संवेद्यमादरात् ।
संवेदनादनन्तानि ततो दुःखानि चेतसः ॥ २२ ॥
संसुप्तान्तरबोधाय संवित् संतिष्ठते यदा ।
लब्धं भवति लब्धव्यं तदा तदमलं पदम् ॥ २३ ॥
तस्मात् प्राणपरिस्पन्दैर्वासनाचोदनैस्तथा ।
नो चेत्संविदमुच्छूनां करोषि तदजो भवान् ॥ २४ ॥
संविदुच्छूनतां चित्तं विद्धि तेनेदमाततम् ।
अनर्थजालमालूनविशीर्णजनजीवकम् ॥ २५ ॥

को प्राप्त संवित् देहों में चक्राकार आवर्तों से प्रस्फुरित होता है ॥ १९ ॥

सूक्ष्म से सूक्ष्मतर आकारवाली सत्स्वरूपिणी सर्वगता संवित् प्राणप्रस्पन्दन से वैसे ही बोधित होती है जैसे सूक्ष्म से सूक्ष्म-स्वरूपवाली गन्धलेखा वायु से बोधित होती है ॥ २० ॥

हे राघव ! संवित् की विक्षिप्तता न होनेपर मोक्षरूप परमश्रेष्ठ कल्याण प्राप्त होता है, यह आप जानें। क्षोभ-हेतु प्राणस्पन्दन का प्राणायाम के अभ्यास से विनाश हो जाने पर क्षोभ होता ही नहीं है ॥ २१ ॥

भली प्रकार उदित हुई संवित् के तत्काल बाह्य विषयों की ओर रागवश चले जाने पर उनके उपभोग के संवेदन से चित्त को अनन्त दुःख उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

संवित् के बाह्य विषयों में संसुप्त उदासीन होकर आत्मबोध के लिए उद्यत होनेपर प्राप्त करने योग्य वह निर्मल मोक्षरूप पद प्राप्त हो जाता है ॥ २३ ॥

इसलिए जैसे मूढ़ पुरुष प्राण-परिस्पन्दों से तथा रागातिशय के द्वारा वासनाओं के उत्पादनों से संवित् को विस्तृत यानी विस्तृततत्वप्रयुक्त मनस्त्व की संपत्ति से युक्त करते हैं, आप संवित् को विस्तृत कर जन्म आदि समस्त विकारों से शून्य होकर संवित् मुक्त ही हो जायँगे ॥२४॥

संवित् की उच्छूनता को = विस्तार का आप चित्त जाने संवित् के उच्छूनतारूपी उसी चित्त ने इस मनुष्य जीवों को खण्डित और जर्जरशील अनर्थजाल का विस्तार किया है ॥ २५ ॥

योगी लोग चित्त की शान्ति के लिए योगशास्त्र में

योगिनश्चित्तशान्त्यर्थं कुर्वन्ति प्राणरोधनम् ।
प्राणायामैस्तथा ध्यानैः प्रयोगैर्युक्तिकल्पितैः ॥ २६ ॥
चित्तोपशान्तिफलदं परमं साम्यकारणम् ।
सुभगं संविदः स्वास्थ्यं प्राणसंरोधनं विदुः ॥ २७ ॥
ज्ञानवद्भिः प्रकटितामनुभूतां च राघव ! ।
चित्तस्योत्पत्तिमपरां वासनाजीवितां शृणु ॥ २८ ॥
दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् ।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥ २९ ॥
भावितस्तीव्रसंवेगादात्मना यत्तदेव सः ।
भवत्याशु महाबाहो ! विगतेतरसंस्मृतिः ॥ ३० ॥
तादृग्रूपः स पुरुषो वासनाविवशीकृतः ।
यत्पश्यति तदेवैतत्सद्वस्त्विति विमुह्यति ॥ ३१ ॥

बताये गये प्राणायाम, ध्यान तथा सद्गुरु के सम्प्रदाय आदि से सिद्ध युक्ति-कल्पित शान्तिकारक उपायों के अभ्यास से प्राण का निरोध करते हैं ॥ २६ ॥

प्राण-निरोध को ही चित्-शान्तिरूप फल का दाता, उत्तम समता का हेतु, छः प्रकार के ऐश्वर्यों से उपेत तथा संवित् की स्वस्थता कहते हैं ॥ २७ ॥

हे राघव ! ज्ञानियों के द्वारा भली प्रकार उपदिष्ट तथा स्वयं अनुभूत वासनाओं से जीवन पर्यन्त उज्जीवित इस चित्त की दूसरे प्रकार से उत्पत्ति सुनें ॥ २८ ॥

पहले जन्मों की दृढ़ भावना से देह आदि जड़ पदार्थों का 'अहम्' 'मम' इत्यादि संस्करण रूप से आदान (ग्रहण) होता है, किन्तु यदि यह पूर्वापर विचार से शून्य हो जाता है तो वह वासना शब्द से व्यवहृत होता है। ('वासयति भावयति इति वासना' इस व्युत्पत्ति से आत्मा को देह आदि भावों में भावित करने वाला संस्कार वासना कहा जाता है। पूर्वापर के विचारों से युक्त जीवन्मुक्त महात्माओं का देह आदि संस्कार वासना नहीं है, क्योंकि विरोधी पूर्वापर विचारों से समन्वित होने के कारण उनको यह संस्कार देहादि भावों में भावित नहीं कर सकता) ॥ २९ ॥

हे महाबाहो ! तीव्र संवेग से जिस पदार्थ की भावना आत्मा के द्वारा आत्मा के द्वारा की जाती है, तत्काल ही वह आत्मा अन्य संस्मरणों को छोड़कर तद्रूप ही हो जाता है ॥ ३० ॥

वासना के द्वारा अत्यन्त वशीकृत उस भावना से भावित वह पुरुष जिस को देख लेता है, उस को वह यह सत्-वस्तु है, इस प्रकार मोहित कर लेता है ॥ ३१ ॥

वासनावेगवैवश्यात् स्वरूपं प्रजहाति तत् ।
भ्रान्तं पश्यति दुर्दृष्टिः सर्वं मदवशादिव ॥ ३२ ॥
असम्यग्ज्ञानवानेव भवत्याधिपरिप्लुतः ।
अन्तःस्थया वासनया विषेणेव वशीकृतः ॥ ३३ ॥
असम्यग्दर्शनं यस्मादनात्मन्यात्मभावनम् ।
यदवस्तुनि वस्तुत्वं तच्चित्तं विद्धि राघव ! ॥ ३४ ॥
दृढाभ्यासपदार्थैकवासनादतिचञ्चलम् ।
चित्तं संजायते जन्मजरामरणकारणम् ॥ ३५ ॥
यदा न वास्यते किञ्चिद्धेयोपादेयरूपि यत् ।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥ ३६ ॥
अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः ।
अमनस्ता तदोदेति परमोपशमप्रदा ॥ ३७ ॥
यदा किंचिन्न संवित्तौ स्फुरत्यभ्रमिवाऽम्बरे ।
तदा पद्म इवाऽऽकाशे चित्तमन्तर्न जायते ॥ ३८ ॥

वासना के वेग से पुरुष अपने रूप को छोड़ देता है और वासना से दुष्टदृष्टि होकर वासना के द्वारा उपस्थापित समस्त भ्रान्त जगत् के रूप को वैसे ही देखता है जैसे मदिरा के मद से दुष्टदृष्टि पुरुष को सब कुछ भ्रमणशील दीख पड़ता है ॥ ३२ ॥

आत्ममिथ्याज्ञान से युक्त ही पुरुष भीतरी वासनाओं से वशीकृत विष से वशीकृत पुरुष की तरह अनेक मानसी आपत्तियों से विकल रहता है ॥ ३३ ॥

हे श्रीराघव ! आनात्म-वस्तु में आत्मत्वबुद्धिरूप अयथार्थ ज्ञान और अवस्तु में वस्तुत्व-रूप अयथार्थ ज्ञान के उत्पादक को आप चित्त जानें ॥ ३४ ॥

दृढ़ अभ्यास के कारण देह आदि पदार्थों में 'अहम्, मम' आदि आत्माध्यास रूप वासना से ही जन्म, जरा और मरण में हेतुभूत अति चपल चित्त की उत्पत्ति होती है ॥ ३५ ॥

हेयस्वरूप और उपादेयस्वरूप सभी वस्तुएँ जब अस्तित्व प्राप्त नहीं करती और सब का परित्याग कर अवस्थित रहती है, तब चित्त उत्पन्न नहीं होता है ॥ ३६ ॥

जब निरन्तर वासना का अभाव होने से मन मनन नहीं करता, तब निरतिशय मोक्षस्वरूप शान्तिस्वरूप अमनस्ता का उदय होता है ॥ ३७ ॥

आकाश में मेघ की तरह संविदाकाश में कुछ भी स्फुरित नहीं होने पर आकाश में कमल की तरह चिदाकाश में चित्त उत्पन्न नहीं होता है ॥ ३८ ॥

यदा न भाव्यते भावः क्वचिज्जगति वस्तुनि ।
तदा हृदम्बरे शून्ये कथं चित्तं प्रजायते ॥ ३९ ॥
एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव ! ।
यद्भावनं वस्तुनोऽन्तर्वस्तुत्वेन रसेन च ॥ ४० ॥
न किञ्चित्कल्पनायोग्यं दृश्यं भावयतस्ततः ।
आकाशकोशस्वच्छस्य कुतश्चित्तोदयो भवेत् ॥ ४१ ॥
यदभावनमास्थाय यदभावस्य भावनम् ।
यद्यथावस्तुदर्शित्वं तदचित्तत्वमुच्यते ॥ ४२ ॥
सर्वमन्तः परित्यज्य शीतलाशयवर्ति यत् ।
वृत्तिस्थमपि तच्चित्तमसद्रूपमुदाहृतम् ॥ ४३ ॥
वासनाया रसाध्यानाद्रागो यस्य न विद्यते ।
तस्य चित्तमचित्तत्वं गतं सत्त्वं तदुच्यते ॥ ४४ ॥
घना न वासना यस्य पुनर्जननकारिणी ।
जीवन्मुक्तः स सत्त्वस्थश्चक्रभ्रमवदास्थितः ॥ ४५ ॥

जगद्रूप वस्तु में किसी पदार्थ की भावना नहीं होने पर शून्य हृदयाकाश में चित्त कैसे उत्पन्न हो ? ॥ ३९ ॥

हे श्रीराघव ! बस राग से जगत्-रूपी वस्तु के अन्दर आत्मरूप वस्तुत्व से भावना करना इतना ही चित्त का स्वरूप मैं मानता हूँ ॥ ४० ॥

इस कारण युक्तियों से समर्थन करने योग्य कोई भी दृश्य नहीं है, इस प्रकार की भावना से समन्वित तथा आकाशकोश की तरह अति स्वच्छ आत्मपदार्थ में चित्त का उदय कैसे होगा ? ॥ ४१ ॥

बाह्य वस्तुओं के अस्मरण रूप निरोध योग का अवलम्बन करने से समस्त दृश्यों के परिमार्जन-स्वरूप अभाव का सम्पादक पारमार्थिक आत्मदर्शन से आविर्भूत होने वाला स्वरूप अचित्त कहा जाता है ॥ ४२ ॥

भीतर से सब का परित्याग कर सुशीतल ब्रह्मरूपी आशय में लगा हुआ चित्त कदाचित् वृत्ति से युक्त होने पर भी वह असत् स्वरूप ही है । ॥ ४३ ॥

जिस संस्कार से जनित विषयरसास्वाद के संस्मरण से विषयानुरक्ति उत्पन्न नहीं होती है उस महामति पुरुष का चित्त अचित्तरूपता को तथा विशुद्ध सत्त्व को पट-भस्म की तरह अवशिष्ट अधिष्ठानभूत सत्ता को प्राप्त है, ऐसा कहा जाता है ॥ ४४ ॥

जिस महापुरुष में पुनर्जन्म की उत्पादक वासना नहीं है वह चक्र की भ्रमि के सदृश जगत् के व्यवहार में निरत रह कर भी जीवन्मुक्त और सत्त्वस्थ है । अर्थात् जैसे कुम्भकार के व्यापार के अभाव में भी चक्र का भ्रमण तब-

भ्रष्टबीजोपमा येषां पुनर्जननवर्जिता ।
वासना रसनिर्हीना जीवन्मुक्ता हि ते स्थिताः ॥ ४६ ॥
सत्त्वरूपपरिप्राप्तचित्तास्ते ज्ञानपारगाः ।
अचित्ता इति कथ्यन्ते देहान्ते व्योमरूपिणः ॥ ४७ ॥
द्वे बीजे राम ! चित्तस्य प्राणस्पन्दनवासने ।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ॥ ४८ ॥
मिथः कारणमेते हि बीजे जन्मनि चेतसः ।
जलाङ्गीकरणे राम ! जलाशयघटाविव ॥ ४९ ॥
घना न वासनाऽस्य पुनर्जननकारिणी ।
बीजाङ्कुरवदेते हि संस्थिते तिलतैलवत् ।
अविनाभाविनो नित्यं कालाकाङ्क्षिक्रमे तथा ॥ ५० ॥
सर्वमुत्पादयत्येतच्चित्तकः संविदात्मकः ।
यथा प्राणेन्द्रियानन्दमानन्दपवनावुभौ ॥ ५१ ॥

तक होता रहता है, जबतक कि उसमें संस्कार रहता है, वैसे ही अविद्या के क्षीण होने पर भी संस्कार के अवशिष्ट रहने से जीवन्मुक्तशरीर और उसका व्यवहार—दोनों प्रारब्धभोगपर्यन्त विद्यमान रहते हैं ॥ ४५ ॥

जिन की वासना भुंजे बीज के समान पुनर्जन्म से शून्य और रस से वर्जित अर्थात् विषयानुरक्ति से रहित है, वे जीवन्मुक्त होकर स्थित रहते हैं ॥ ४६ ॥

जिनका चित्त सत्त्वरूपता प्राप्त है, ऐसे ज्ञान के पारङ्गत महात्मा 'अचित्त' शब्द से व्यवहृत होते हैं। प्रारब्ध का क्षय हो जाने पर वे चिदाकाशस्वरूप हो जाते हैं ॥ ४७ ॥

हे श्रीराम जी ! चित्त के कारण हैं—एक प्राणस्पन्दन और दूसरा वासना । उन दो कारणों में से किसी एक का विनाश हो जाने पर शीघ्र ही दोनों भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामजी ! चित्त की उत्पत्ति में ये दोनों परस्पर मिल कर वैसे ही कारण होते हैं, एक कारण नहीं होता है । जैसे घटाकाश के द्वारा जल का स्वीकार करने में घट और जलशय दोनों मिलकर कारण होते हैं ॥४९॥

केवल एकमात्र घनीभूत वासना ही बलपूर्वक पुनर्जन्म उत्पन्न नहीं करती । ये प्राणस्पन्दन और वासना दोनों, तिलों में तेल की तरह, एक दूसरे के भीतर स्थित हैं और बीजाङ्कुर न्याय से काल की अपेक्षा रखने वाले क्रम से युक्त होकर एक दूसरे के कारण हैं ॥ ५० ॥

संवित्-स्वरूप यह चित्त सब को यथाक्रम से पहले प्राण को, अनन्तर इन्द्रियों को और तत्-प्रयुक्त आनन्द को

चित्तस्योत्पादिके सार्धं यदैते वासने तदा ।
आमोदपुष्पवत्तैलतिलवच्च व्यवस्थिते ॥ ५२ ॥
वासनावशतः प्राणस्पन्दस्ते च वासना ।
जायते चित्तबीजस्य तेन बीजाङ्कुरक्रमः ॥ ५३ ॥
वासनोत्प्लवमानत्वात् संवित्प्रक्षोभकर्मणा ।
प्राणस्पन्दं बोधयति तेन चित्तं प्रजायते ॥ ५४ ॥
प्राणः स्पन्दनधर्मित्वात् स्पन्दते स्पृष्टहृद्गुणः ।
संविदं बोधयंस्तेन चित्तबालः प्रजायते ॥ ५५ ॥
एवं हि वासनाप्राणस्पन्दौ द्वौ तस्य कारणम् ।
तयोरेकक्षये नाशो द्वयोश्चित्तस्य राघव ! ॥ ५६ ॥
सुखदुःखमनःस्पन्दं शारीरकबृहत्फलम् ।
कार्यपल्लविताकारं कृतिव्रततिवेष्टितम् ॥ ५७ ॥

उत्पन्न करता है, इसी प्रकार पूर्व में उपभुक्त विषयानन्द और तात्कालिक जीवन स्वरूप पवन स्पन्द में वासना रूप से भी चित्त की उत्पादकता है ॥ ५१ ॥

जब आनन्द और पवन दोनों वासना स्वरूप हो गये, तब उन्होंने सब मिल कर ही चित्त का उत्पादन किया । वे पुष्प में आमोद तथा तिल में तेल के समान व्यवस्थित हैं, इसलिए एक दूसरे का दूसरा आश्रय और एक दूसरे का दूसरा हेतु हो सकता है, अनवस्था दोष का प्रसङ्ग नहीं हो सकता ॥ ५२ ॥

चित्तरूप बीज में वासना से ही प्राणस्पन्दन होता है प्राण-स्पन्दन से वासना होती है और उससे बीज का अङ्कुरक्रम उत्पन्न होता है ॥ ५३ ॥

वासना का ऊर्ध्वगतिस्वभाव है, अतः वह संवित् के क्षोभकारक कर्म से प्राण-प्रस्पन्दन का उद्बोधन करती है और उससे चित्त उत्पन्न होता है ॥ ५४ ॥

स्पन्दनधर्मवान् पद हृदयगत राग आदि गुणों की प्रेरणा करने वाला प्राण संवित् का उद्बोधन करता है और क्रम से चित्तरूपी बालक उत्पन्न होता है ॥ ५५ ॥

हे श्रीराघव ! इस तरह वासना और प्राणस्पन्द दोनों चित्त के कारण हैं, उनमें से किसी एक का क्षय हो जाने पर दोनों का और उनके कार्य चित्त का विनाश हो जाता है ॥ ५६ ॥

सुख और दुःख के मननात्मक स्पन्दन से युक्त, शरीररूपी महान् फल से समन्वित, कार्यरूपी पल्लवों से पूर्ण आकार को धारण करने वाला, तृष्णारूपी काले साँपों से वेष्टित, राग तथा रोग रूपी बगुलों का आश्रय, अज्ञान-

तृष्णाकृष्णाहिवलितं रागरोगबकालयम् ।
अज्ञानमूलं सुदृढं लीनेन्द्रियविहङ्गमम् ॥ ५८ ॥
वासना क्षयमानीता चित्तवृक्षं क्षणेन हि ।
प्रपातयति वातौघः कालपक्वफलं यथा ॥ ५९ ॥
पाण्डुरीकृतसर्वाशं स्थगिताखिलदर्शनम् ।
विलोलजलदाकारमज्ञानावकरोत्थितम् ॥ ६० ॥
तृष्णातृणलवव्याप्तं स्तम्भाकृति शरीरकम् ।
स्फुरत्तनुतनुक्षुब्धं सुखमुत्प्लवनं प्रति ॥ ६१ ॥
अन्तःस्थितमहालोकमपश्यत् प्रविलीयते ।
पवनस्पन्दरोधाच्च राम ! चित्तरजः क्षणात् ॥ ६२ ॥
वासनाप्राणपवनस्पन्दयोरनयोर्द्वयोः ।
संवेद्यं बीजमित्युक्तं स्फुरतस्तौ यतस्ततः ॥ ६३ ॥
हृदि संवेद्यमाप्यैव प्राणस्पन्दोऽथ वासना ।
उदेति तस्मात्संवेद्यं कथितं बीजमेतयोः ॥ ६४ ॥

रूपी दृढ़ मूल से संयुक्त, इन्द्रियरूपी पक्षियों से आक्रान्त चित्तरूपी वृक्ष को क्षीणता-प्रापित वासना वैसे ही गिरा देती है, जैसे काल से परिपक्व फल को वायुप्रवाह गिरा देता है ॥ ५७—५९ ॥

हे श्रीरामजी ! समस्त दिशाओं को पाण्डुर म्लान करनेवाली, पूर्ण चैतन्यरूपी (पक्ष में सर्वजननेत्ररूपी) अखिल दर्शन को ढक देनेवाली, चंचल मेघ के सदृश आकार वाली, अज्ञानरूपी उत्कर से उत्थित, तृष्णारूपी तृणखण्डों से व्याप्त, स्तम्भ के सदृश आकारवाली देह से (पक्ष में वात्यासंस्थान से यानी धूलिस्तम्भ से) युक्त, प्रस्फुरित हो रहे स्वल्प स्वल्प वृत्तियों से (पक्ष में विभिन्न दिशाओं से आने वाले वायुओं के झुण्डों से) क्षुब्ध, सब दिशाओं से उत्प्लवन के प्रति अनायास दक्ष और भीतर में स्थित ब्रह्म के (पक्ष में सूर्य के आलोक के) प्रत्यक्षीकरण में असमर्थ पवन से उड़ाई गई चित्तरूपी धूलि प्राणस्पन्दन के निरोध से अनायास क्षण भर में विलीन हो जाता है ॥ ६०—६२ ॥

वासना और प्राणस्पन्दन—इन दोनों का संवेद्य प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषय बीज हैं, क्योंकि उन्हीं से वे दोनों प्रस्फुरित होते हैं ॥ ६३ ॥

प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयों का हृदय में संवेदन अर्थात् स्मरण करके ही प्राणस्पन्द और वासना दोनों आविर्भूत होते हैं, इसलिए संवेद्य ही उन दोनों का बीज है ॥ ६४ ॥

संवेद्य का प्रियाप्रिय विषय का परित्याग करने से

संवेद्यसम्परित्यागात् प्राणस्पन्दनवासने ।
समूलं नश्यतः क्षिप्रं मूलच्छेदादिव द्रुमः ॥ ६५ ॥
संविदं विद्धि संवेद्यं बीजं धीरतया विना ।
न सम्भवति संवेद्यं तैलहीनस्तिलो यथा ॥ ६६ ॥
न बहिर्नाऽऽन्तरे किञ्चित्संवेद्यं विद्यते पृथक् ।
संवित्स्फुरन्ती सङ्कल्पात् संवेद्यं पश्यति स्वतः ॥ ६७ ॥
स्वप्ने यथाऽऽत्ममरणं तथा देशान्तरस्थितिः ।
स्वचमत्कारयोगेन संवेद्यं संविदस्तथा ॥ ६८ ॥
स्ववेदनं स्वसङ्कल्पात् संविदो यत्र वर्तते ।
जगज्जालमतो भाति तदिदं रघुनन्दन ! ॥ ६९ ॥
यथा बालस्य वेतालः स्वसङ्कल्पोद्भवाद्भवेत् ।
पुरुषत्वं यथा स्थाणोः संवेद्यं संविदस्तथा ॥ ७० ॥
यथा चन्द्रार्करश्मीनां दण्डता रेणुता तथा ।
यथा नौस्थाचलस्पन्दः संवेद्यं संविदस्तथा ॥ ७१ ॥

प्राणस्पन्दन और वासना दोनों ही तत्काल वैसे ही समूल नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार मूल के उच्छेद से वृक्ष तत्काल नष्ट हो जाता है ॥ ६५ ॥

संवित् ही अपनी धीरता के बिना संवेद्यस्वरूप होकर चित्त की बीजरूप हो जाती है, यह आप जानें । वैसे ही संवित् से रहित कोई भी संवेद्य पदार्थ प्रसिद्ध नहीं हैं जैसे तिल तेल से रहित नहीं है ॥ ६६ ॥

न बाहर और न भीतर कोई भी संवेद्य संवित् से अलग रहता है, अपने सङ्कल्प से संवित् ही प्रस्फुरित होती हुई स्वयं संवेद्य को देखती है ॥ ६७ ॥

जाग्रत्कालीन संवेद्य भी संवित् के चमत्कारमात्र से वैसे ही होते हैं जैसे स्वप्न में अपना मरण और भिन्न देश में स्थिति दोनों अपने चमत्कार के योग से होते हैं ॥ ६८ ॥

हे रघुनन्दन ! जिस अवस्था में अपने पारमार्थिक स्वरूप का अनुभव होता है, वह स्वस्वरूपानुभव भी अपने सङ्कल्प से जनित स्वप्न के समान ही है, क्योंकि अद्वय परमात्मा में स्वस्वरूपानुभव और विवेक आदि पारमार्थिक नहीं हो सकते हैं ॥ ६९ ॥

सङ्कल्पजनित भ्रम से ही संवित् की संवेद्यरूपता वैसे ही होती है जैसे बालक को अपने सङ्कल्प से जनित भ्रम से ही बेताल का उद्भव होता है अथवा जैसे स्थाणु में पुरुषरूपता होती है ॥ ७० ॥

संवित् से संवेद्य वैसे ही प्रतीत होता है जैसे खिड़की आदि छिद्रों में से प्रविष्ट चन्द्र या सूर्य की किरणों की

एतन्मिथ्या हि दुर्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानाद्विलीयते ।
रज्ज्वामिव भुजङ्गत्वं द्वीन्दुत्वं स्वीक्षितादिव ॥ ७२ ॥
शुद्धैव संवित्त्रिजगत्संवेद्यं नाऽन्यदस्त्यलम् ।
इत्यन्तर्निश्चयो रूढः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥ ७३ ॥
पूर्वं दृष्टमदृष्टं वा यदस्याः प्रतिभासते ।
संविदस्तत्प्रयत्नेन मार्जनीयं विजानता ॥ ७४ ॥
तदमार्जनमात्रं हि महासंसारसङ्गतम् ।
तत्प्रमार्जनमात्रं तु मोक्ष इत्यनुभूयते ॥ ७५ ॥
संवेदनमनन्ताय दुःखाय जननात्मने ।
असंवित्तिरजाड्यस्था सुखायाऽजननात्मने ॥ ७६ ॥
अजडो गलितानन्दस्त्यक्तसंवेदनो भव ।
असंवेद्यप्रबुद्धात्मा यस्तु स त्वं रघूद्वह ! ॥ ७७ ॥

दण्डाकारता और उसके भीतर घूम रहे त्रसरेणुओं की आकाररूपता प्रतीत होती है अथवा जैसे नौका में अवस्थित पुरुष को पर्वत आदि अचल पदार्थों में स्पन्दन दिखाई पड़ता है ॥ ७१ ॥

जैसे रज्जु और चन्द्र के निर्दोष दर्शन से रज्जु में सर्पभ्रान्ति और एक चन्द्र में दो चन्द्ररूपता की भ्रान्ति का विलय हो जाता है वैसे ही उसका यथार्थ आत्मज्ञान से विलय हो जाता है क्योंकि यह भ्रान्तिज्ञान मिथ्यारूप है ॥ ७२ ॥

ये तीन लोक विशुद्ध संवित्-स्वरूप ही हैं, उससे अन्य नहीं हैं, इस प्रकार का दृढ़ ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है, यह पण्डितों का कहना है ॥ ७३ ॥

पहले देखा गया या नहीं देखा गया पदार्थ संवित् से प्रतिभासमान होता है, विद्वान् को उसका इस यथार्थ ज्ञान से परिमार्जन कर देना चाहिए ॥ ७४ ॥

प्रतिभास का मार्जन न करना ही विशाल संसार के साथ आत्मा का संसर्ग है और उसका परिमार्जन करना ही मोक्ष है, यह अनुभवसिद्ध है ॥ ७५ ॥

प्रिय-अप्रिय शब्द आदि विषयों का अनुभव जन्मरूप अनन्त दुःख का साधन है और चिदेकरसस्वभाव में प्रतिष्ठित विषयों का अदर्शन पुनर्जन्म से वर्जित नित्य आत्मस्वरूप सुख का साधन है ॥ ७६ ॥

हे रघूद्वह ! शब्द आदि प्रिय-अप्रिय विषयों के दर्शन से आप विमुख हो जड़ता रहित, एकरसस्वरूप तथा पूर्णानन्दात्मक हो जाए । जो असंवेद्य भी स्वतः प्रबुद्ध आत्मा स्वरूप ही आप हो जायँगे, अन्यरूप नहीं हो जायँगे ॥७७॥

श्रीराम उवाच

अजडश्चाऽप्यसंवित्तिः कीदृशो भवति प्रभो ! ।
असंवित्तौ च जाड्यं तत्कथं विनिवर्तते ॥ ७८ ॥

वसिष्ठ उवाच

यः सर्वत्राऽनवस्थास्थो विश्रान्तास्थो न कुत्रचित् ।
जीवो न विन्दते किञ्चिदसंविदजडो हि सः ॥ ७९ ॥
संविद्वस्तुदृशालम्बः स यस्येह न विद्यते ।
सोऽसंविदजडः प्रोक्तः कुर्वन्कार्यशतान्यपि ॥ ८० ॥
संवेद्येन हृदाकाशो मनागपि न लिप्यते ।
यस्याऽसावजडा संविज्जीवन्मुक्तश्च कथ्यते ॥ ८१ ॥
यदा न भाव्यते किञ्चिन्निर्वासनतयाऽऽत्मनि ।
बालमूकादिविज्ञानमिव च स्थीयते स्थिरम् ॥ ८२ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे प्रभो ! एक ही पदार्थ अजड़ भी और असंवित्तिरूप भी कैसे हो सकता है । असंवित्तिरूप होने पर वह जड़ता कैसे निवृत्त होगी ? जड़ता का परित्याग होने पर संवेदन का शेष अवश्य रहेगा और संवेदन का परित्याग होने पर जड़ता का शेष अवश्य रहेगा, ऐसी स्थिति में एक ही पदार्थ अजड़ और असंवित्ति रूप विरुद्ध स्वभाव वाला कैसे हो सकता है ? ॥ ७८ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—जीवन्मुक्त महात्मा समस्त वर्तमान विषयों में आस्था नहीं रखता एवं वासना का क्षय हो जाने के कारण भूत और भविष्यत् की वस्तुओं में भी कहीं आस्था नहीं रखता, इसलिए किसी भी वेद्य को सत्यरूप से न जानने के कारण उतने अंश को लेकर काष्ठ-लोष्ट की नाईं असंवित्-रूप और स्वतः तो स्वप्रकाश चिदेकरस से पूर्ण होने के कारण अजड़ रूप कहा जाता है ॥ ७९ ॥

संवित् जिस महापुरुष को नहीं रहती, वह असंवित् अजड़ कहा जाता है, फिर वह सैंकड़ों कार्यों में व्यापृत ही क्यों न हो ? सत्यत्वबुद्धि से चिति का बाह्य अर्थों का अवलम्बन करना ही संवित् कहा जाता है ॥ ८० ॥

जिस महात्मा की बुद्धि प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयों से तनिक भी आसक्त नहीं होती, वही अजड़ संवित् और जीवमुन्क्त कहा जाता है ॥ ८१ ॥

वासनारहित होने पर अपनी आत्मा में जब किसी पदार्थ की भावना नहीं की जाती और बालक एवं मूक के विज्ञान के सदृश स्थिर होकर ऐसी स्थिति स्थिर रहता है ॥ ८२ ॥

तदा जाड्यविनिर्मुक्तमच्छवेदनमाततम् ।
आश्रितं भवति प्राज्ञो यस्माद् भूयो न लिप्यते ॥ ८३ ॥
समस्तवासनात्यागो निर्विकल्पसमाधितः ।
नीलत्वमिव खात्स्फार आनन्दः सम्प्रवर्तते ॥ ८४ ॥
योगिनस्तत्र तिष्ठन्ति संवेदनमसंविदः ।
तन्मयत्वादनाद्यन्तं तदप्यन्तर्विलीयते ॥ ८५ ॥
गच्छंस्तिष्ठन्स्पृशञ्जिघ्रन्नपि तेन स उच्यते ।
अजडोऽगलितानन्दस्त्यक्तसंवेदनः सुखी ॥ ८६ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य कष्टया यत्नचेष्टया ।
तर दुःखाम्बुधेः पारमपारगुणसागर ! ॥ ८७ ॥
यथा बीजाद् बृहद्वृक्षो व्योम व्याप्नोति कालतः ।
तथैवेदं स्वसङ्कल्पात् संवेद्यमसदुत्थितम् ॥ ८८ ॥
यदा सङ्कल्प्य सङ्कल्प्य संवित्संविन्दते वपुः ।
तदाऽस्य जन्मजालस्य सैव गच्छति बीजताम् ॥ ८९ ॥

जड़ता से विनिर्मुक्त, विशाल एवं स्वच्छ विज्ञान का अवलम्बन कर प्राज्ञ पुनः लिप्त नहीं होता ॥ ८३ ॥

समस्त वासनाओं का त्याग कर निर्विकल्पात्मक समाधि से असीम आनन्द प्रतीत होता है, जैसे आकाश से असीम नीलापन प्रतीत होता है ॥ ८४ ॥

योगी लोग उसी असीम आनन्द में स्थित रहते हैं। आनन्दमय ध्येयरूप होने से अपरिच्छिन्न ब्रह्माकार वह संवेदन भी अपने द्वारा प्रदीप्त ब्रह्मरूपज्योति से बाधित होकर उसी के अन्दर लीन हो जाता है ॥ ८५ ॥

वृत्तियों का त्याग करने वाला योगी चलते, बैठते, स्पर्श करते और सूँघते इन सब अवस्थाओं में भी अजड़, आनन्द से पूर्ण और सुखी कहा जाता है ॥ ८६ ॥

हे असीम गुणों के सागर ! कष्टसाध्य यत्नपूर्वक चेष्टा से इस जाड्यरहित संविद्रूपी दृष्टि का अवलम्बन कर आप दुःख-सागर के पार तैर जाइए ॥ ८७ ॥

यह अपने सङ्कल्प से ही उत्पन्न हुआ असत् विषय-समूह काल पाकर चिदाकाश को वैसे ही व्याप्त कर लेता है जैसे काल पाकर बीज से महान् वृक्ष होकर आकाश को व्याप्त कर लेता है ॥ ८८ ॥

पुनः पुनः सङ्कल्प करके संवित् के अपना सङ्कल्पमय स्वरूप प्राप्त कर लेने पर वही इस जन्मजाल की बीजता को प्राप्त हो जाती है ॥ ८९ ॥

हे राघव ! अपने आप से अपना उत्पादन कर और अपने आप से ही अपने को पुनः पुनः मोहित कर हृदयस्थ आत्मतत्त्व को जान रही संवित् स्वयं अपने को मोक्ष की ओर ले जाती है, प्रसिद्ध है ॥ ९० ॥

जनयित्वाऽऽत्मनाऽऽत्मानं मोहयित्वा पुनः पुनः ।
स्वयं मोक्षं नयत्यन्तः संवित्स्वं विद्धि राघव ! ॥ ९० ॥
यदेव भावयत्येषा तदेव भवति क्षणात् ।
न भवद्भूमिकामुक्ता समायाति चिराद्वपुः ॥ ९१ ॥
देवो नाऽसौ सुरो रक्षो यक्षः किं किन्नरो जनः ।
आत्मैवाऽऽद्यविलासिन्या जगन्नाट्यं प्रनृत्यति ॥ ९२ ॥
बध्वाऽऽत्मानं रुदित्वा च कोशकारकृमिर्यथा ।
चिरात् केवलतामेति स्वयं संवित्स्वभावतः ॥ ९३ ॥
जगज्जलधिजालानां संविज्जलमलं गता ।
एषैवाऽपूर्वदिक्चक्रं स्फुरत्यद्ध्यद्रादितां गता ॥ ९४ ॥
द्यौः क्षमावायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
इत्यस्या वीचयः प्रोक्ताः संवित्सलिलसन्तते ॥ ९५ ॥
संविन्मात्रं जगत्सर्वं द्वितीया नाऽस्ति कल्पना ।
इत्येव सम्यग्ज्ञानेन संविद्गच्छति नाऽन्यताम् ॥ ९६ ॥

यह संवित् जिस की भावना करती है, उसी समय तद्रूप हो जाती है। राग आदि की भूमिकाओं से मुक्त नहीं हुई संवित् दीर्घ-काल में भी अपना स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकती ॥ ९१ ॥

न यह देव है, न सुर है, न राक्षस है, न यक्ष है, न किन्नर है और न तो मनुष्य ही है, किन्तु मायावी नट की तरह आदिसिद्ध विलासिनी अपनी माया से आत्मा जगत् रूपी नाटक खेलता है ॥ ९२ ॥

संवित् भी अपने आप को संसार में बाँध कर और दुःखभोग कर अनेक समय के बाद स्वभाववश से स्वयं ही वैसे ही बन्धन आदि से निर्मुक्त होकर केवलता प्राप्त करती है जैसे कोवे का निर्माण करने वाला रेशम का कीट अपने आप को स्वभाववश से बाँध कर और दुःखभोग कर दीर्घकाल के अनन्तर केवलता प्राप्त करता है ॥ ९३ ॥

जगत्रूपी सागर संवित् ही पर्याप्त जल है, यही अपूर्व दिङ्मण्डल है और यही पर्वत आदि भावों को प्राप्त होकर प्रस्फुरित होती है ॥ ९४ ॥

द्युलोक, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, दिशाएँ—ये सब संवित्-रूपी जलसंतति के तरङ्ग हैं ॥ ९५ ॥

केवल संविन्मात्रस्वरूप ही जगत् है, उससे अलग दूसरी कोई कल्पना नहीं है, इस ज्ञान से ही संवित् अद्वय-रूप होती है ॥ ९६ ॥

यदा न विन्दते किञ्चित्स्पन्दते न न वेपते ।
स्वात्मन्येव स्थितिं याति संविन्नो लिप्यते तदा ॥ ९७॥
अथाऽस्याः संविदो राम सन्मात्रं बीजमुच्यते ।
संविन्मात्रादुदेत्येषा प्राकाश्यमिव तेजसः ॥ ९८ ॥
द्वे रूपे तत्र सत्ताया एकं नानाकृति स्थितम् ।
द्वितीयमेकरूपं तु विभागोऽयं तयोः शृणु ॥ ९९ ॥
घटता पटता चैव त्वत्ता मत्तेति कथ्यते ।
सत्तारूपविभागेन यत्तन्नानाकृति स्थितम् ॥१००॥
विभागं तु परित्यज्य सत्तैकात्मतया ततम् ।
सामान्येनैव सत्ताया रूपमेकमुदाहृतम् ॥१०१॥
विशेषं सम्परित्यज्य सन्मात्रं यदलेपकम् ।
एकरूपं महारूपं सत्तायास्तत्पदं विदुः ॥१०२॥
रूपं नानाकृतित्वेन सत्ताया न कदाचन ।
असंवेद्यं सम्भवति तस्मादेतदवस्तुकम् ॥१०३॥
एकरूपं तु यद्रूपं सत्ताया विमलात्मकम् ।
न कदाचन तद्याति नाशं नाऽपि च विस्मृतिम् ॥१०४॥
कालसत्ता कलासत्ता वस्तुसत्तेयमित्यपि ।
विभागकलनां त्यक्त्वा सन्मात्रैकपरो भव ॥१०५॥
कालसत्ता स्वसत्ता च प्रोन्मुक्तकलना सती ।
यद्यप्युत्तमसद्रूपा तथाऽप्येषा न वास्तवी ॥१०६॥
विभागकलना यत्र विभिन्नपददायिनी ।
नानाताकारणं दृष्टा तत्कथं पावनं भवेत् ॥१०७॥

जब संवित् कुछ विषय प्राप्त नहीं करती, जब असाधारण कम्पन नहीं करती एवं जब अपने स्वरूप में अवस्थान करती है, तब वह लिप्त नहीं होती ।। ९७ ॥

हे श्रीरामजी ! इस संवित् का सन्मात्रस्वरूप ब्रह्म ही बीज कहा जाता है । यह प्रतिबिम्बभूत संवित् बिम्बभूत संविन्मात्रस्वरूप ब्रह्म से वैसे ही उदित होती है जैसे जिस प्रकार सूर्य आदि तेज से प्रभा उदित होती है ॥ ९८ ॥

सत्ता के दो रूप हैं—एक अनेक आकार वाला होकर स्थित है और दूसरा एकरूप होकर स्थित है । अब उनका विभाग सुनें ॥ ९९ ॥

घटादि विभागों से घटत्व, पटत्व, त्वत्त्व, मत्त्व आदि उपाधिभूत सत्ता कही जाती है, वह अनेकाकृति सत्ता स्वरूप है ॥ १०० ॥

विभाग का परित्याग कर सत्तारूप से व्याप्त समस्त जगत् के अधिष्ठानस्वरूप साधारण स्वभाव से सत्ता का विद्यमान रूप एक रूप कहा जाता है ॥ १०१ ॥

विशेषांश का परित्याग कर सन्मात्रस्वरूप लिप्त न करने वाला सत्ता का एक रूप है, वही व्यापक रूप और वस्तु तत्व हैं, ऐसा मनीषियों का कथन है ॥ १०२ ॥

नाना आकार के रूप में सत्ता कभी नहीं है, तद्घटत्व आदि रूप कपला, चूर्ण, धूलि आदि अवस्थाओं में असंवेद्य होकर अनुवर्तमान के रूप से दिखाई नहीं पड़ता है, अत: वह सत्यरूप नहीं हो सकता अर्थात् ये सब अवस्तु हैं ॥ १०३ ॥

विमलात्मा सत्ता का स्वरूप है, वह कभी भी नष्ट नहीं होता है और न कभी विस्मृत होता है, अर्थात् सदा प्रकाशमान-रूप होने से वह नित्य चैतन्यैकरसस्वरू है ॥ १०४ ॥

यह कालसत्ता है, यह कलासत्ता है और यह वस्तु-सत्ता है, इस प्रकार की भी विभागकल्पना का परित्याग कर आप एकमात्र सत्स्वरूप से ही अवस्थित हो जाइए । संस्कृत व्याख्या के अनुसार यह कहा जा सकता है कि कुछ लोग कहते हैं कि अतीत और अनागत वस्तुओं में 'अस्ति' इस प्रकार का व्यवहार न होने के कारण वर्तमान काल ही सब वस्तुओं की सत्ता है, सब पदार्थों की सत्ता वर्तमानकाल-सत्ता है । कुछ लोग कहते हैं कि समूह बन कर अवयव ही अवयवी के रूप में स्फुरित होते हैं अत: कला ही—परमाणुरूप अवयव ही—जगत् की सत्ता है, और कुछ लोग यह कहते हैं कि अवयवी पदार्थों में भी अनुगत सत्ता जाति है, इसी प्रकार अन्यान्य लोग भ अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अन्यान्य सत्ताओं क कल्पना करते हैं, हे श्रीरामजी ! इस तरह की तत्-तत् मत में कल्पित विभाग कल्पना का त्याग कर आप सन्मात्र-स्वरूप एकमात्र ब्रह्म का ही अवलम्बन करें इसी से आपके मनोरथों की सिद्धि हो जायगी ॥ १०५ ॥

अध्यस्त भेदकल्पना का परित्याग करने पर यद्यपि कालादि सत्ता भी वैसे ही उत्तम सत्तास्वरूप ही हो जाती है जैसे अध्यस्त भेद का परित्याग करने पर अधिष्ठान सन्मात्र के परिशेष से समस्त जगत् उत्तम सत्तास्वरूप है तथापि वह विभक्तरूप से बाध योग्य होने के कारण पारमार्थिक नहीं है ॥ १०६ ॥

जहाँ विभिन्न-विभिन्न पदों को देनेवाली विभाग कल्पना नानारूप का कारण होने से वह पावन पद कैसे हो सकती है ॥ १०७ ॥

सत्तासामान्यमेवैकं भावयत्सकलं वपुः ।
परिपूर्णपरानन्दी तिष्ठाऽऽभरितदिग्भरः ॥१०८॥
सत्ता सामान्यमात्रस्य या कोटिः कोविदेश्वर ! ।
सैवाऽस्य बीजतां याता तत एव प्रवर्तते ॥१०९॥
सत्ता सामान्यपर्यन्ते यत्तत्कलनयोज्झितम् ।
पदमाद्यमनाद्यन्तं तस्य बीजं न विद्यते ॥११०॥
सत्ता लयं याति यत्र निर्विकारं च तिष्ठति ।
भूयो नाऽऽवर्तते दुःखे तत्र लब्धपदः पुमान् ॥१११॥
तद्धेतुः सर्वहेतूनां तस्य हेतुर्न विद्यते ।
संसारः सर्वसारणां तस्मात्सारं न विद्यते ॥११२॥
तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः ।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥११३॥
सर्वे भावा इमे तत्र स्वदन्ते स्वादुवारिधेः ।
षड्रसा इव जिह्वायाः प्रकटत्वं प्रयान्ति च ॥११४॥

एकमात्र सामान्य सत्तात्मक ही समस्त जगत् है, इस प्रकार की भावना कर आप परिपूर्ण आनन्द से युक्त तथा सब दिशाओं और उनमें स्थित पदार्थों को व्याप्त करने वाले हो जाएँ ॥ १०८ ॥

हे विज्ञजनों में श्रेष्ठ ! सामान्य सत्तामात्र की परम अवधिभूत सत्ता ही इस जगत् की और प्रतिबिम्ब चित् की बीजरूप है और उसी से यह समस्त जगत् प्रवृत्त है ॥ १०९ ॥

समस्त सत्ताओं की चरम अवधि कल्पनाओं से निर्मुक्त पद ही पद आदि (उत्पत्ति) और विनाश से शून्य हैं, उसका कोई बीज नहीं है ॥ ११० ॥

सद्धर्मता भी जिस पद में लीन हो जाती है और जो निर्विकाररूप से अवस्थित है, उस पद में अपना दृढ़ स्थान कर लेनेवाला पुरुष कभी इस दुःखमय संसार में नहीं आता है और वही वस्तुतः पुरुष है ॥ १११ ॥

वही पद समस्त साधनों का हेतु है, उसका कोई अन्य हेतु नहीं है, वही सम्पूर्ण सारों में सारभूत है, उससे बढ़कर दूसरी सारभूत वस्तु नहीं है ॥ ११२ ॥

उस प्रत्यग्रूप असीम ब्रह्मात्मक दर्पण में ये सब वस्तु दृष्टियाँ वैसे ही प्रतिबिम्बित होती हैं जैसे तालाब में तटस्थ वृक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं ॥ ११३ ॥

उसी प्रत्यग्रूप ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण ये सब पदार्थ इन्द्रियप्रीति उत्पन्न करते हैं। आनन्द के सागर उसी ब्रह्म से सभी प्रकार के आनन्द स्फूर्ति या सत्ता वैसे ही प्राप्त करते हैं जैसे जीभ से छः रस स्फूर्ति या सत्ता प्राप्त करते हैं ॥ ११४ ॥

तस्मादच्छतरस्याऽपि चिदाकाशस्य वै पदम् ।
सर्वेषां स्वादुजातीनामलमास्वादनं च तत् ॥११५॥
जायते वर्तते चैव वर्धते स्पृश्यतेऽथ वा ।
तिष्ठन्ति च गलन्तीह तत्राऽङ्ग जगतां गणाः ॥११६॥
तत्तद्गुरु गरिष्ठानां तत्तल्लघु लघीयसाम् ।
तत्तत्स्थूलं स्थविष्ठानामणीयस्तदणीयसाम् ॥११७॥
दवीयसां दविष्ठं तदन्तिकानां तदन्तिकम् ।
कनीयसां कनीयस्तत्तज्ज्येष्ठं ज्यायसामपि ॥११८॥
तेजसामपि तत्तेजस्तमसामपि तत्तमः ।
वस्तूनामपि तद्वस्तु दिशामप्यङ्ग दिक्परा ॥११९॥
तन्न किञ्चिच्च किञ्चिच्च तत्तदस्तीव नाऽस्ति च ।
तत्तद्दृश्यमदृश्यं च तत्तदस्मि न चाऽस्मि च ॥१२०॥
राम ! सर्वप्रयत्नेन तस्मिन्परमपावने ।
पदे स्थितिमुपायासि यथा कुरु तथाऽनघ ! ॥१२१॥

अस्वादु भी पदार्थ आनन्दसमुद्र ब्रह्म के संसर्ग से इन्द्रिय-प्रीति को उत्पन्न करते हैं, इसलिए वह चिदाकाश का पद यानी स्वरूप स्वादु और प्रिय पदार्थों के बीच में सबसे श्रेष्ठ आनन्दरूप और प्रियतम है ॥ ११५ ॥

हे तात ! उसी असीम आनन्द ब्रह्म में सब जगत् समूह उत्पन्न स्थित और वृद्धिगत हैं, और विपरिणाम से युक्त होते हैं, अपक्षयोन्मुख रहते हैं और लीन हो जाते हैं ॥ ११६ ॥

वह ब्रह्म भारी पदार्थों में अत्यन्त भारी, हलके पदार्थों में अत्यन्त हलका, स्थूलों में अत्यन्त स्थूल और सूक्ष्मों में अत्यन्त सूक्ष्म है ॥ ११७ ॥

दूरवर्त्तियों में अत्यन्त दूरतम, समीपवर्तियों में अत्यन्त समीपतम, छोटों में अत्यन्त छोटा, और बड़ों में अत्यन्त बड़ा भी वही है ॥ ११८ ॥

हे तात ! सूर्य आदि तेजों का भी तेज, अन्धकारों का भी अन्धकार, वस्तुओं का भी वस्तु और दिशाओं का भी पर दिशारूप वही है ॥ ११९ ॥

वह ब्रह्मात्मक पद लोक में प्रसिद्ध कोई वस्तुरूप नहीं है और स्वल्प से भी स्वल्पतर प्रसिद्ध वस्तुरूप भी है, वह सत्ताश्रय भावात्मक और असत्ताश्रय अभावात्मक भी है, वह दृश्यरूप और अदृश्यरूप भी है, वह अहंरूप और अहंरूप नहीं भी है ॥ १२० ॥

हे निष्पाप ! सभी प्रयत्नों से उस परम पावन पद में जैसे आप स्थित हों, वैसा यत्न करें ॥ १२१ ॥

तदमलमजरं तदात्मतत्त्वं
तदवगतावुपशान्तिमेति चेतः ।
अवगतविततैकतत्स्वरूपो
भवभयमुक्तपदोऽसि तच्चिराय ॥१२२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे संसृतिबीजवीचारयोगोपदेशो नामैकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

सत्तासामान्य कोटि में स्थित वह पद निर्मल और विकारशून्य है, वही आत्मा का पारमर्थिक स्वरूप है, उसका साक्षात्कार करने पर चित्त बाधित हो जाता है। इसलिए आप एकमात्र व्यापक उक्त स्वरूप अवगत करे उसके अवगत करने पर चिरकालिक अपुनरावृत्ति के लिए संसाररूप भय से निर्मुक्त परमपदस्वरूप ही हो जायँगे ॥ १२२ ॥

इस प्रकार ऋषी-प्रणीत वालमीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में संसृतिबीजविचारयोग उपदेश नामक कुसुमलता का इक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥९१॥

९२

श्रीराम उवाच

एतानि तानि प्रोक्तानि त्वया बीजानि मानद ! ।
कतमस्य प्रयोगेण शीघ्रं तत्प्राप्यते पदम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

एतेषां दुःखबीजानां प्रोक्तं यद्यन्मयोत्तरम् ।
तस्य तस्य प्रयोगेण शीघ्रमासाद्यते पदम् ॥ २ ॥
सत्तासामान्यकोटिस्थे द्रागित्येव पदे यदि ।
पौरुषेण प्रयत्नेन बलात्सन्त्यज्य वासनाम् ॥ ३ ॥
स्थितिं बध्नासि तत्त्वज्ञ ! क्षणमप्यक्षयात्मिकाम् ।
क्षणेऽस्मिन्नेव तत्साधु पदमासादयस्यलम् ॥ ४ ॥
सत्तासामान्यरूपे वा करोषि स्थितिमङ्ग चेत् ।
तत्किञ्चिदधिकेनेह यत्नेनाऽऽप्नोषि तत्पदम् ॥ ५ ॥
संवित्तत्त्वे कृतध्यानो यदि तिष्ठसि चाऽनघ ! ।
तद्यत्नेनाऽधिकेनोच्चैरासादयसि तत्पदम् ॥ ६ ॥
संवेद्ये केवले ध्यानं न सम्भवति राघव ! ।
सर्वत्र सम्भवादस्याः संवित्तेरेव सर्वदा ॥ ७ ॥

८३

श्रीरामजी ने कहा—हे मान देने योग्य आपने ये जो जीव सृष्टि-लता के बीज कहा है, उनमें से किस बीज की निवृत्ति करने परमपद प्राप्त किया जा सकता है, यह तो एक अर्थ हुआ। दूसरा अर्थ इस प्रकार है—हे भगवन्, आपने ये जो अभी मोक्ष के 'अथाऽस्या: संविदो राम' इत्यादि से भूमिका विशेषरूप बीज बतलाये, उनमें से किस बीज का अवलम्बन करने से परमपद प्राप्त किया जा सकता है, यह कृपाकर मुझसे कहें ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—मैंने आप से इन दुःखों के बीजों के विषय में जो उत्तर दिया है उसकी निवृत्ति करने पर तत्काल ही पुरुष परमपद को प्राप्त करता है ॥ २ ॥

शोधित तत्पदार्थरूप सत्तासामान्य की पराकाष्ठा में स्थित पद में यानी चैतन्यरूप शोधित त्वंपदार्थ का अभेद होने के कारण अखण्ड एकरसरूप पद में आप बलपूर्वक वासना का परित्याग करें ॥ ३ ॥

हे तत्त्वज्ञ ! पुरुष-प्रयत्न से क्षणभर के लिए मी स्थिति—चित्त की निश्चलता करें तो आप उसी क्षण में उक्त उत्तम पद को पूर्णरूप से प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

हे प्रिय ! अथवा यदि सत्तासामान्यरूप शोधित जगत्कारणात्मक तत्त्व में चित्त की निश्चलता करते हैं, तो कुछ अधिक प्रयत्न से यहाँ आत्मपद प्राप्त कर लेंगे। अखण्ड ऐक्य के बोध में यत्न की कुछ अधिक आवश्यकता होती है ॥ ५ ॥

हे निष्पाप ! शोधित त्वंपदार्थरूप संवित्-तत्त्व में ध्यानसम्पन्न होकर यदि स्थित रहते हैं तो और कुछ ऊँचे अधिक प्रयत्न से उक्त पद को प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

हे राघव ! केवल विषय में ध्यान ही नहीं हो सकता, विषयों से पहले प्रस्फुरित हो रही संवित्ति का तिरोधान अशक्य है और उसका यदि तिरोधन हो जायगा, तो विषय की स्फूर्ति न होने से उसका ध्यान ही नहीं हो सकेगा ॥ ७ ॥

यच्चिन्तयसि यद्यासि यत्तिष्ठसि करोषि च ।
तत्र तत्र स्थिता संवित्संविदेव तदेव सा ॥ ८ ॥
वासनासम्परित्यागे यदि यत्नं करोषि च ।
तत्ते शिथिलतां यान्ति सर्वाधिव्याधयः क्षणात् ॥ ९ ॥
पूर्वेभ्यस्तु प्रयत्नेभ्यो विषमोऽयं हि संस्मृतः ।
दुःसाध्यो वासनात्यागः सुमेरून्मूलनादपि ॥ १० ॥
यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः ।
न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति ॥ ११ ॥
यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः ।
यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् ॥ १२ ॥
यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः ।
यावन्न तत्त्वसम्प्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः ॥ १३ ॥
तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः ॥१४॥

चिन्तन करते हैं, जाते हैं, स्थित रहते हैं और करते हैं, वहाँ स्थित संवित् ही वह सब कुछ करती है, अतः चिन्तन, चिन्तनीय आदि सभी संवित्स्वरूप हैं, क्योंकि सभी का तत्त्व संवित् ही है ॥ ८ ॥

यदि वासना के परित्याग में आप प्रयत्न करते हैं, तो आपकी सम्पूर्ण आधि व्याधियाँ क्षण भर में विनष्ट हो जायँगी ॥ ९ ॥

पूर्व में प्रदर्शित प्रयत्नों की अपेक्षा यह प्रयत्न अत्यन्त कठिन है, क्योंकि वासना का परित्याग सुमेरु पर्वत के उन्मूलन से भी अधिक दुष्कर है ॥ १० ॥

मन के नष्ट होने पर वासना का विनाश नहीं होता और वासना के विनष्ट होने पर चित्त की शान्ति नहीं होती ॥ ११ ॥

तत्त्वज्ञान होने पर चित्त की शान्ति कहाँ ? और चित्त की शान्ति होने पर तत्त्वज्ञान नहीं होता ॥ १२ ॥

जब तक वासना का नाश नहीं होता, तब तक तत्त्वज्ञान कहाँ से होगा ? और जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तब तक वासना का क्षय नहीं होगा ॥ १३ ॥

तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय—ये तीनों ही क दूसरे के प्रति साधन स्वरूप होकर अवस्थित हैं, अतः यन्त दुःसाध्य हैं ॥ १४ ॥

विवेक से समन्वित पौरुष प्रयत्न से भोगेच्छा का से ही परित्याग कर इन तीनों का आश्रयण करना हिए ॥ १५ ॥

तस्माद्राघव ! यत्नेन पौरुषेण विवेकिना ।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत्समाश्रयेत् ॥ १५ ॥
सर्वथा ते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः ।
तावन्न पदसम्प्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः ॥ १६ ॥
वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते ! ।
समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मुने ! ॥ १७ ॥
एकैकशो निषेव्यन्ते यद्येते चिरमप्यलम् ।
तन्न सिद्धिं प्रयच्छन्ति मन्त्राः संकीलिता इव ॥ १८ ॥
चिरकालोपरचिता अप्येते सुधियाऽपि च ।
एकशः परमभ्येतुं न शक्ताः सैनिका इव ॥ १९ ॥
सममुद्योगमानीताः सन्त एते हि धीमता ।
संसाराब्धिं निकृन्तन्ति जलान्यद्रितटानिव ॥ २० ॥
वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशाः प्रयत्नतः ।
समं सेव्यास्तव चिरं तेन तात ! न लिप्यसे ॥ २१ ॥

उन तीन उपायों का साथ में भली प्रकार बार-बार अभ्यास न करने पर सैकड़ों बरसों तक भी परम पद की प्राप्ति नहीं हो सकती है ॥ १६ ॥

हे महामते ! हे मुने ! वासनाक्षय, आत्मविज्ञान और मनोनाश—इन तीनों का एक साथ दीर्घकाल तक अभ्यास करने पर वे मननशील महात्मा के लिए फलप्रद होते हैं ॥ १७ ॥

उन तीनों में से एक का चिरकाल तक अभ्यास यद्यपि किया जाय, तो भी वे वैसे ही फलप्रद नहीं हो सकते जैसे मन्त्रशास्त्रोक्त मूर्च्छा, मरण आदि प्रतिबन्धकों से प्रतिबद्ध मन्त्र फलप्रद नहीं होते ॥ १८ ॥

बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा दीर्घ कालतक सेवा आदि से स्वाधीन कर तत्-तत् कार्यों में योजित भी ये वासनाक्षय आदि एक एक करके अपने स्वामी परमात्मा के पास जाने में वैसे ही समर्थ नहीं होते जैसे पारितोषिक आदि से स्वाधीन बनाकर दीर्घकाल तक तत्-तत् कार्य में प्रेरित भी सेना के वीरयोद्धा लोग एक-एक करके अपने स्वामी राजा के अभिमुख जाने में समर्थ नहीं होते ॥ १९ ॥

जैसे वारिप्रवाह पर्वततट को विशीर्ण कर देते हैं वैसे ही बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा एक साथ तत्-तत् कार्यों में योजित वासनाक्षय आदि संसाररूपी सागर को विशीर्ण कर देते हैं ॥ २० ॥

हे प्रिय ! वासनाक्षय, आत्मविज्ञान और मनोनाश—इन तीनों का एक साथ प्रयत्नपूर्वक सेवन आपको करना चाहिए, आप उस सेवन से लिप्त नहीं होंगे ॥ २१ ॥

त्रिभिरेतैश्चिराभ्यस्तैर्हृदयग्रन्थयो दृढाः ।
निःशेषमेव त्रुटचन्ति बिसच्छेदाद्गुणा इव ॥ २२ ॥
जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम ! संसारसंस्थितिः ।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥ २३ ॥
गच्छन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रंस्तिष्ठन् जाग्रत्स्वपंस्तथा ।
श्रेयसे परमायाऽस्य त्रयस्याऽभ्यासवान् भव ॥ २४ ॥
वासनासम्परित्यागसमं प्राणनिरोधनम् ।
विदुस्तत्त्वविदस्तस्मात् तदप्येवं समाहरेत् ॥ २५ ॥
वासनासम्परित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम् ।
प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २६ ॥
प्राणायामचिराभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया ।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥ २७ ॥
यथाभूतार्थदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ।
आदावन्ते च वस्तूनामविसंवादि यत्स्थितम् ।

भलीप्रकार उन तीनों का चिरकाल तक अभ्यास करने से अत्यन्त दृढ़ हृदय-ग्रन्थियाँ (अन्तःकरण एवं उसके धर्म आदि के अध्यास) निःशेषरूप से वैसे ही टूट जाती हैं जैसे कमलनाल के उच्छेदन से बिसतन्तु टूट जाते हैं ॥ २२ ॥

हे श्रीरामजी ! सैकड़ों जन्मान्तरों से मनुष्यों के द्वारा संसार की स्थिति अभ्यस्त है, अतः उन उपायों का चिरकाल अभ्यास किये बिना कहीं पर भी वह नष्ट नहीं हो सकती ॥ २३ ॥

श्रवण, स्पर्श, सूंघते, स्थित, जागते, सोते सभी अवस्थाओं में उत्तम मोक्षरूपी कल्याण के लिए इन तीन उपायों के अभ्यास में ही आप निरत हो जाएँ ॥ २४ ॥

वासनाओं के परित्याग के सदृश प्राणायाम भी उपाय है। इसलिए वासनापरित्याग के साथ-साथ प्राणनिरोध का अभ्यास करना आवश्यक है ॥ २५ ॥

भलीप्रकार वासनाओं का परित्याग करने से चित्त अचित्तरूप हो जाता है और चित्त प्राणवृत्तियों का परित्याग करने से भी अचित्तरूप हो जाता है, इसलिए आप जैसा चाहें वैसा करें ॥ २६ ॥

चिरकाल तक प्राणायाम के अभ्यासों से, योगाभ्यास में कुशल गुरुजी के द्वारा उपदिष्ट युक्ति से तथा स्वस्तिक आदि आसनों के जय और हित, मित एवं मेध्य पदार्थों के अशन से प्राण-स्पन्दन रुक जाता है ॥ २७ ॥

त्रिकाल में बाधित न होनेवाले अर्थ के साक्षात्कार से वासना अपने कार्य के लिए प्रवृत्त नहीं होती। आदि,

रूपं तद्दर्शनं ज्ञानं क्षीयते तेन वासना ॥ २८ ॥
निःसङ्गव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात् ।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥ २९ ॥
वासनाविभवे नष्टे न चित्तं सम्प्रवर्तते ।
संशान्ते पवनस्पन्दे यथा पांसुर्नभस्तले ॥ ३० ॥
यः प्राणपवनस्पन्दः चित्तस्पन्दः स एव हि ।
तस्माज्जगति जायन्ते पांसवोऽवकरादिव ॥ ३१ ॥
प्राणस्पन्दजये यत्नः कर्तव्यो धीमतोच्चकैः ।
उपविश्योपविश्यैकचित्तकेन मुहुर्मुहुः ॥ ३२ ॥
अथवैनं क्रमं त्यक्त्वा चित्ताक्रमणमेव चेत् ।
रोचते तत्तदाप्नोषि कालेन बहुना पदम् ॥ ३३ ॥
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ।
अङ्कुशेन विना मत्तं यथा दुष्टं मतङ्गजम् ॥ ३४ ॥

मध्य और अन्त में कभी-भी पृथक् न होनेवाला सत्तामात्रस्वरूप पदार्थ सर्वत्र स्थित रहता है, वही सत्यभूत अर्थ है, उसको भली-भाँति जान लेना ज्ञान है। यही ज्ञान वासना का विनाश कर देता है ॥ २८ ॥

केवल बाह्य विषयों में आसक्ति रखने वाले मनुष्यों का संसर्ग छोड़कर या सङ्कल्प छोड़कर समयानुसार प्राप्त व्यवहारों के अनुष्ठान से सांसारिक मनोरथों के वर्जन से तथा शरीर में विनाशित्वबुद्धि से वासना प्रवृत्त नहीं होती है ॥ २९ ॥

वासनारूपी धनसम्पत्ति का विनाश हो जानेपर लज्जावश चित्त वैसे ही यत्र तत्र उड़ता नहीं है जैसे पवन-स्पन्दन के शान्त हो जानेपर आकाश-तल में धूलि नहीं उड़ती ॥ ३० ॥

प्राणवायु का व्यापार ही चित्तस्पन्दन है, उसी से समस्त जगत् वैसे ही उत्पन्न होते हैं, जैसे धूलि आदि के ढेर से रज उत्पन्न होती है ॥ ३१ ॥

बुद्धिमान् पुरुष को एकाग्र चित्त से एकान्त में बैठ बैठकर प्राणवायु के स्पन्दन पर विजय पाने के लिए पुनः पुनः यत्न करना चाहिए ॥ ३२ ॥

इस उपाय को छोड़कर अन्य उपाय से यदि आप चित्त के ऊपर आक्रमण करना चाहते हैं, तो बहुत समय के बाद उस पद को प्राप्त करेंगे ॥ ३३ ॥

अध्यात्मविद्या और साधुसङ्गति—इन दो उपायों से प्रदर्शित दो प्रकार के योगों को छोड़कर अन्य किसी उपाय से दुर्दान्त मन का जय वैसे ही नहीं कर सकते,

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च ।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ॥ ३५ ॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ।
याभिस्तज्जीयते क्षिप्रं धाराभिरिव भूरजः ॥ ३६ ॥
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये ।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥ ३७ ॥
विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम् ।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभिः ॥ ३८ ॥
चित्तं चित्तस्य वाऽदूरं संस्थितं स्वशरीरकम् ।
साधयन्ति समुत्सृज्य युक्तिं ये तान् हठान् विदुः ॥ ३९॥
भयाद्भयमुपायान्ति क्लेशात्क्लेशं व्रजन्ति ते ।
निर्वृतिं नाऽधिगच्छन्ति दुर्भगा इव जन्तवः ॥ ४० ॥
भ्रमन्ति गिरिकूटेषु फलपल्लवभोजनाः ।
मुग्धमुग्धधियो भीता वराका हरिणा इव ॥ ४१ ॥
मतिरालूनशीर्णाङ्गी तदीया पेलवाङ्गिका ।
न क्वचिद्याति विश्वासं मृगी ग्रामगता यथा ॥ ४२ ॥
कल्लोलकलितं चेतस्तेषां जल इवाऽहिते ।
प्रोह्यते प्रपतद्दूरं तृणं गिरिनदीष्विव ॥ ४३ ॥
कालं यज्ञतपोदानतीर्थदेवार्चनभ्रमैः ।
चिरमाधिशतोपेताः क्षपयन्ति मृगा इव ॥ ४४ ॥
आत्मतत्त्वं विधिवशात् कदाचित्केचिदेव ते ।
दुःखदोषशतादग्धा विदन्ति न विदन्ति वा ॥ ४५ ॥
आगमापायिनोऽनित्या नरकस्वर्गमानुषैः ।
पातोत्पातकराकाराः क्षीयन्ते कन्दुका इव ॥ ४६ ॥
इतो गच्छन्ति नरकं ततः स्वर्गमिहैव च ।
आवृत्तिभिर्निवर्तन्ते सरसीव तरङ्गकाः ॥ ४७ ॥

जैसे मदमत्त दुष्ट हाथी का अंकुश के बिना दूसरे उपाय से जय नहीं कर सकते ॥ ३४ ॥

अध्यात्मविद्या की प्राप्ति, साधुसङ्गति, वासना का परित्याग और प्राणस्पन्दन का निरोध—ये ही युक्तियाँ चित्त के ऊपर विजय पाने के निश्चितरूप से पुष्ट उपाय हैं। इनसे तत्काल चित्त वैसे ही विजित हो जाता है, जैसे जलधाराओं से भूमि की धूलि विजित हो जाती है ॥ ३५, ३६ ॥

इन सुन्दर युक्तियों के रहते जो पुरुष हठयोग से चित्त को वशीभूत करना चाहते हैं, वे प्रदीप का परित्याग कर अञ्जनों से अन्धकार का निवारण करना चाहते हैं ॥ ३७ ॥

जो मूढ पुरुष हठयोग से चित्त का जय करने के लिए उद्यत रहते हैं, वे उन्मत्त नागेन्द्र को मानो कमल तन्तुओं से बाँधने के लिये उद्यत हैं ॥ ३८ ॥

इन चार युक्तियों का त्यागकर जो पुरुष चित्त या चित्त के निकटवर्ती अपने शरीर को स्थिर करने के लिए दूसरा यत्न करते हैं, उन पुरुषों को साम्प्रदायिक लोग वृथा परिश्रमी कहते हैं ॥ ३९ ॥

एक भय से दूसरा भय, एक दुःख से दूसरा दुःख प्राप्त करते हैं। भाग्यहीन पापी जन्तुओं की तरह वे कहीं भी उत्तम धैर्यरूपी विश्रान्ति प्राप्त नहीं करते ॥ ४० ॥

पर्वत-प्रान्तों में फल और पत्तों का भक्षण कर रहे वे अत्यन्त मुग्धबुद्धि एवं भीरु होकर बिचारे हरिणों की तरह इतस्ततः परिभ्रमण किया करते हैं ॥ ४१ ॥

उन पुरुषों की चारों ओर से छिन्न, शीर्ण तथा तुच्छ अङ्गवाली बुद्धि किसी पदार्थ में वैसे ही विश्वास नहीं करती जैसे गाँव में आई हुई मृगी किसी का विश्वास नहीं करती ॥ ४२ ॥

उनका तरङ्गसदृश अतिचपल मन, जल में तरङ्गों की तरह भयस्थानों में ही उत्तरोत्तर जाता रहता है उनका विषयानुपातिस्वभाव चित्त राग आदि से बलपूर्वक अतिदूर वैसे ही खिंच जाता है जैसे पर्वत की चोटी से गिर रही प्रबल प्रवाह से युक्त नदियों में निपतित तृण जिस प्रकार अतिदूर बह जाता है ॥ ४३ ॥

यज्ञ, तप, दान, तीर्थ, देवार्चन आदि भ्रमों के कारण असंख्य मानस पीड़ाओं से युक्त होकर मनुष्य वैसे ही वृथा कालक्षेप करते हैं जैसे मृग कालक्षेप करते हैं ॥ ४४ ॥

राग आदि सैकड़ों दोषों से झुलसे हुए वे आत्मस्वरूप नहीं जान पाते और उनमें से कोई ही कभी दैववश आत्मस्वरूप जान पाते हैं ॥ ४५ ॥

उत्पत्ति एवं विनाशशील, एकत्र स्थिर न रहने वाले तथा स्वर्ग, नरक और मनुष्य के भोगविशेषों के कारण, गेंद की तरह निपतन और उत्पतन कारक शरीर वाले होकर वे मरण आदि से पीड़ित हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

वे इस मृत्युलोक से नरक की ओर वैसे ही जाते हैं जैसे तालाब में तरङ्गें आती जाती रहती हैं। तदनन्तर वहाँ से स्वर्ग की ओर आते हैं और फिर यहीं मृत्युलोक में आते हैं, यों सैकड़ों आवर्तनों से घूमते रहते हैं ॥ ४७ ॥

तस्माच्चैतां परित्यज्य दुर्दृष्टिं रघुनन्दन ! ।
शुद्धां संविदमाश्रित्य वीतरागः स्थिरो भव ॥ ४८ ॥
ज्ञानवानेव सुखवान् ज्ञानवानेव जीवति ।
ज्ञानवानेव बलवांस्तस्माज्ज्ञानमयो भव ॥ ४९ ॥
संवेद्यवर्जितमनुत्तममाद्यमेकं
संवित्पदं विकलनं कलयन्महात्मन् ! ।
हृद्येव तिष्ठ कलनारहितः क्रियां तु
कुर्वन्नकर्तृपदमेत्य शमोदितश्रीः ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे संसृतिनिराकरणक्रमयोगोपदेशो नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

हे रघुनन्दन ! आप वर्णित हठादिरूप दुष्टबुद्धि का परित्याग कर शुद्ध संवित्ति का परिज्ञान कर रागशून्य होकर सुस्थिर हो जाएँ ॥ ४८ ॥

इस संसार में ज्ञानी ही सुखी हैं, ज्ञानी ही जीवित हैं और ज्ञानी ही बलवान् हैं, इसलिए आप ज्ञानी ही बलवान् हैं, इसलिए आप ज्ञानप्रचुर बन जाएँ ॥ ४९ ॥

हे महात्मन् ! विषयों से शून्य, अति-उत्तम, समस्त पदार्थों के हेतु तथा विकल्पों से रहित अद्वितीय संवित्-पद की भावना करते हुए तथा चित्त के संकल्प-विकल्पों से विमुख चित्त की बहिर्मुखता से शून्य होकर आप ब्रह्म-स्वरूप में स्थित हो जाएँ और व्युत्थानकाल में तो विहित कर्मों का अनुष्ठान करते हुए भी असङ्ग एवं शम से प्राप्त जीवन्मुक्त-गुण-सम्पत्ति से विराजमान होकर अकर्तृ पद की प्राप्ति कर स्थित हो जाइए ॥ ५० ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में संसृतिनिराकरणक्रमयोग उपदेश नामक कुसुमलता का बानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९२ ॥

९३

वसिष्ठ उवाच

मनागपि विचारेण चेतसः स्वस्य निग्रहः ।
मनागपि कृतो येन तेनाऽऽप्तं जन्मनः फलम् ॥ १ ॥
विचारकरिणका यैषा हृदि स्फुरति पेलवा ।
एषैवाऽभ्यासयोगेन प्रयाति शतशाखताम् ॥ २ ॥
किञ्चित्प्रौढविचारं तु नरं वैराग्यपूर्वकम् ।
संश्रयन्ति गुणाः शुद्धाः सरः पूर्णमिवाऽण्डजाः ॥ ३ ॥
सम्यग्विचारिणं प्राज्ञं यथाभूतावलोकिनम् ।
आसादयन्त्यपि स्फारा नाऽविद्याविभवा भृशम् ॥ ४ ॥
किं कुर्वन्तीह विषया मानस्यो वृत्तयस्तथा ।
आधयो व्याधयो वाऽपि सम्यग्दर्शनसन्मतेः ॥ ५ ॥
क्व भ्रमत्पवनापूरास्तडित्पटलपाटलाः ।
पुष्करावर्तजलदा गृहीता बालमुष्टिभिः ॥ ६ ॥
क्व नभोमध्यसंस्थेन्दुर्मुग्धैर्मणिसमुद्गकैः ।
मुग्धयाऽङ्गनया बद्धो मुग्धेन्दीवरशङ्कया ॥ ७ ॥

९३

श्री वसिष्ठजी ने कहा—थोड़े विचार से भी जिसने अपने चित्त का कुछ भी निग्रह कर लिया, उसने जन्म का फल पा लिया । अर्थात् आत्म-विचार ही मनुष्य जन्म का फल है ॥ १ ॥

हृदय में इस विचाररूपी कल्पवृक्ष का कोमल अङ्कुर प्रस्फुरित हो जाय, तो वही अङ्कुर अभ्यासयोग से सैकड़ों शाखाओं में फैल जाता है ॥ २ ॥

जिसने वैराग्यपूर्वक कुछ प्रौढ़-विचार करने वाले नररत्न का तो शम, दम आदि शुद्ध गुण वैसे ही आश्रयण करते हैं, जैसे जल से परिपूर्ण सरोवर का पक्षी और मत्स्य आश्रयण करते हैं ॥ ३ ॥

श्रीरामजी, आत्म-विचार से समन्वित तथा अच्छी तरह पारमार्थिक परब्रह्म साक्षात्कारसम्पन्न मेधावी विद्वान् प्रचय और प्रकर्ष से अविद्याकार्यरूप वैभव प्रसिद्ध हिरण्य-गर्भपद आदि लुब्ध नहीं करते ॥ ४ ॥

आत्मा के यथार्थ ज्ञान से परिष्कृत बुद्धि महात्मा को यहाँ का विषय, मानसिक वृत्तियाँ, आधि और व्याधि—ये सब क्या कर सकते हैं अर्थात् निर्विकार आत्म-स्वरूप होने से कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकते ॥ ५ ॥

खूब चल रहे पवनों से व्याप्त तथा विद्युत्-समूह से श्वेतरक्त प्रलयकाल का पुष्करावर्तनामक मेघ बालकों की मुष्टियों से कहीं निगृहीत होता है ? ॥ ६ ॥

मुग्ध अङ्गनाओं ने सुन्दर मणिमय पिटारियों से कमल-विकास में हेतुभूत गगन-मध्यगत चन्द्रमा कहीं बद्ध किया ? ॥ ७ ॥

क्व कटप्रोच्चलद्भृङ्गमण्डलोत्पलशेखराः ।
मुग्धस्त्रीश्वासमधुरैर्मशकैर्मथिता गजाः ॥ ८ ॥
क्वेभमुक्ताफलोल्लासलसत्सन्नखपञ्जराः ।
सिंहाः समरसंरब्धा हरिणैः प्रविमर्दिताः ॥ ९ ॥
क्व विषोल्लासनिर्यासदग्धोन्नतवनद्रुमाः ।
क्षुधिताजगराः क्षुब्धैर्निगीर्णा बालदर्दुरैः ॥ १० ॥
क्व प्राप्तभूमिको धीरो ज्ञातज्ञेयो विवेकवान् ।
आक्रान्तः किल विक्रान्तो विषयेन्द्रियदस्युभिः ॥ ११ ॥
विचारधियमप्रौढां हरन्ति विषयारयः ।
प्रचण्डपवना मृद्वीं कृत्तवृन्तां लतामिव ॥ १२ ॥
न विवेकलवं प्रौढं भङ्क्तुं शक्ता दुराशयाः ।
कल्पक्षोभमहाधीरं शैलं मन्दानिला इव ॥ १३ ॥
अगृहीतमहापीठं विचारकुसुमद्रुमम् ।

गण्डस्थलों से चलायमान भ्रमरमण्डलरूपी नील कमल जिनके मस्तकों में हैं, ऐसे हाथियों का मुग्ध अङ्गनाओं के श्वासों के द्वारा गजवध के लिए प्रेरित होने के कारण उत्साहरम्य मच्छरों ने कहाँ मन्थन किया ? ॥ ८ ॥

मत्त गजों के मुक्ताफलों की कान्तियों से सुशोभित नखपञ्जर वाले युद्ध में निपुण सिंह हरिणों के द्वारा कहीं मर्दित हुए हैं ? ॥ ९ ॥

विष की अधिकता के कारण स्वयं निकलने वाले रस के समान निःसृत बड़े-बड़े विष-बिन्दुओं से अरण्यवृक्ष को दग्ध करने वाले क्षुधित अजगरों को कहीं क्षुद्र मेढ़कों ने निगल लिया है ॥ १० ॥

चतुर्थ, पञ्चम आदि भूमिका प्राप्त करने वाले हैं और ज्ञेयतत्त्व के ज्ञाता विवेकी वीर विद्वान्, आगे की भूमिकाओं के ऊपर विजय पाने के लिए प्रयत्नशील विषय तथा इन्द्रियरूपी चोरों के द्वारा कहीं पर अभिभूत हो सकता है ? ॥ ११ ॥

जैसे प्रचण्ड पवन छिन्नवृन्त (छिन्नाश्रय) लता का अपहरण कर डालते हैं वैसे ही विषयरूपी शत्रु अप्रौढ विचारबुद्धि का अपहरण कर डालते हैं ॥ १२ ॥

प्रौढता प्राप्त विवेक के लवमात्र का भी विनाश करने में दुष्ट राग आदि वृत्तियाँ वैसे ही समर्थ नहीं होती जैसे अवान्तर कल्पों के क्षोभों में महान् धीर होकर रहने वाले मेरु आदि पर्वतों का उच्चाटन करने में मन्द पवन समर्थ नहीं होते हैं ॥ १३ ॥

जिसने दृढ़मूल ग्रहण नहीं किया है, ऐसे विचार

चिन्तावात्या विधुन्वन्ति नाऽऽस्थिरस्थितिसुस्थितम् ॥ १४ ॥
गच्छतस्तिष्ठतो वाऽपि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
न विचारमयं चेतो यस्याऽसौ मृत उच्यते ॥ १५ ॥
किमिदं स्याज्जगत् किं स्याद्देहमित्यनिशं शनैः ।
विचारयाऽध्यात्मदृशा स्वयं वा सज्जनैः सह ॥ १६ ॥
अन्धकारहरेणाऽऽशु विचारेण परं पदम् ।
दृश्यते विमलं वस्तु प्रदीपेनेव भास्वता ॥ १७ ॥
ज्ञानेन सर्वदुःखानां विनाश उपजायते ।
कृतालोकविलासेन तमसामिव भानुना ॥ १८ ॥
ज्ञाने प्रकटतां याते ज्ञेयं स्वयमुदेत्यलम् ।
रवावभ्युदिते भूमावालोक इव निर्मलः ॥ १९ ॥
येन शास्त्रविचारेण ब्रह्मतत्त्वं प्रबुद्ध्यते ।
तज्ज्ञानमुच्यते ज्ञेयादभिन्नमिव संस्थितम् ॥ २० ॥

रूपी पुष्प वृक्ष को चिन्तारूपी झंझावात कँपा देते हैं, परन्तु चारों ओर की सुदृढ़ स्थिति से भली प्रकार सुस्थित हुए विचाररूपी पुष्पवृक्ष को नहीं कँपाते ॥ १४ ॥

जाते या बैठते, जागते या सोते—इन सभी अवस्थाओं में जिस पुरुष का अन्तःकरण आत्मविचार से ओतप्रोत नहीं रहता, वह मृत कहा जाता है ॥ १५ ॥

यह जगत् क्या होगा ? यह देह क्या होगा, इस प्रकार निरन्तर धीरे-धीरे एकान्त में आप स्वयं अकेले या गुरु, सतीर्थ्य आदि के साथ अध्यात्मदृष्टि से विचार करें ॥ १६ ॥

जैसे प्रकाशमान दीपक के घटादि वस्तु दिखाई पड़ती है वैसे ही प्रमादरूपी अन्धकार का अपहरण करनेवाले आत्मविचार से तत्काल सर्वातिशायी निर्मल ब्रह्मरूप पद दिखाई पड़ता है ॥ १७ ॥

जैसे आलोक के द्वारा मनोरञ्जन करने वाले सूर्य से तमोभाग का विनाश हो जाता है वैसे आत्मस्वरूप के विज्ञान से समस्त दुःखों का विनाश हो जाता है ॥ १८ ॥

ज्ञानी अपनी प्रकाशरूपता प्राप्त कर लेने पर ज्ञेय ब्रह्म का पूर्णरूप से उदय वैसे ही स्वतः हो जाता है, जैसे सूर्य का अभ्युदय हो जानेपर भूभाग पर विमल प्रकाश का उदय स्वतः हो जाता है ॥ १९ ॥

शास्त्रीय भाषा में वही ज्ञान कहा जाता है जिस शास्त्रसम्बन्धी विचार से ब्रह्मस्वरूप अवगत हो जाता है, ज्ञेय ब्रह्म का आकार रूप और भेद का बाधरूप होने के कारण ज्ञेय ब्रह्म से अभिन्न ही बनकर वह दृढ़ प्रतिष्ठित रहता है ॥ २० ॥

विचारोत्थात्मविज्ञानं ज्ञानमङ्ग विदुर्बुधाः ।
ज्ञेयं तस्याऽन्तरेवाऽस्ति माधुर्यं पयसो यथा ॥ २१ ॥
सम्यग्ज्ञानसमालोकः पुमान् ज्ञेयमयः स्वयम् ।
भवत्यापीतमैरेयः सदा मदमयो यथा ॥ २२ ॥
समं स्वरूपममलं ज्ञेयं ब्रह्म परं विदुः ।
ज्ञानाभिगममात्रेण तत्स्वयं सम्प्रसीदति ॥ २३ ॥
ज्ञानवानुदितानन्दो न क्वचित्परिमज्जति ।
जीवन्मुक्तो गतासङ्गः सम्राडात्मेव तिष्ठति ॥ २४ ॥
ज्ञानवान्हृद्यशब्देषु वीणावंशरवादिषु ।
कामिन्याः कान्तगीतेषु सम्भोगमलिनेषु च ॥ २५ ॥
वसन्तमदमत्तानां षट्पदानां स्वनेषु च ।
प्रावृट्सरपुष्पेषु जलदस्तनितेषु च ॥ २६ ॥
उत्ताण्डवशिखण्डेषु केकाकलरवेषु च ।
रणिताम्भोदखण्डेषु सारसक्वणितेषु च ॥ २७ ॥
कर्तर्यादिकरान्तेषु गम्भीरमुरजेषु च ।
ततावनद्धसुषिरचित्रवाद्यस्वनेषु च ॥ २८ ॥
केषुचिन्न निबध्नाति रूक्षेषु मधुरेषु च ।
रणितेषु रतिं राम ! पद्मेष्विव निशाकरः ॥ २९ ॥
ज्ञानवान् बालकदलीस्तम्भपल्लवपालिषु ।
सुरगन्धर्वकन्याङ्गलतानन्दनकेलिषु ॥ ३० ॥
केषु क्वचिन्न बध्नाति स्वायत्तेष्वप्यसक्तधीः ।
राम ! स्पर्शरतिं धीरो हंसो मरुमहीष्विव ॥ ३१ ॥
ज्ञानवान्पिण्डखर्जूरकदम्बपनसादिषु ।
मृद्वीकौर्वारुकाक्षोटबिम्बजम्बीरजातिषु ॥ ३२ ॥
मदिरामधुमैरेयमाध्वीकासवभूमिषु ।
दधिक्षीरघृतामिक्षानवनीतौदनादिषु ॥ ३३ ॥

हे अङ्ग ! पण्डित लोग आत्मविचार से उत्पन्न आत्मविज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं । जैसे दूध के अन्दर माधुर्य प्रच्छन्न रहता है वैसे ही उस ज्ञान के अन्दर ज्ञेय प्रच्छन्न रहता है ॥ २१ ॥

सम्यक् ज्ञान रूपी सुन्दर प्रकाश से युक्त पुरुष स्वयं अनुभूयमान ब्रह्मानन्द से वैसे ही प्रचुर रहता है जैसे मैरेय मदिराविशेष पी लेने वाला पुरुष सदा मदप्रचुर रहता है ॥ २२ ॥

सैन्धवघन की तरह एकरस स्वरूप रहने वाला निर्मल परब्रह्म ही ज्ञेय कहा जाता है । वह ज्ञेयरूप ब्रह्मज्ञान के आविर्भावमात्र से स्वयं समस्त अविद्या और उसके कार्य रूपी मलों से निर्मुक्त हो जाता है ॥ २३ ॥

ज्ञान तथा आनन्दप्राप्त विद्वान् किसी भी विषय से लिप्त नहीं होता । समस्त सङ्गों से निर्मुक्त एवं जीवन्मुक्त वह ज्ञानी, राजाधिराज सम्राट् की आत्मा की तरह परिपूर्णमनोरथ होकर स्थित रहता है ॥ २४ ॥

जो ज्ञानी पुरुष है, वह—वीणा, वंशी की मधुर ध्वनि आदि मनोहर शब्दों में, कामिनियों के शृङ्गाररसमिश्रित कमनीय गीतों में; वसन्त काल में मदमत्त हुए भ्रमरों की गुंजार ध्वनियों में, वर्षा के विस्तार से जनित पुष्पों में, मेघों के गर्जनों में; मयूरों के ताण्डव नृत्यों तथा उनकी मधुर कूकध्वनियों में, शब्द किये हुए मेघों के खण्डों में, सरोवरस्थ सारस पक्षियों के श्रवणप्रिय शब्दों में; करताल आदि वाद्यविशेषों में, चमड़े से मढ़े गये गम्भीर मृदङ्ग आदि वाद्यों में, तन्त्री से निर्मित वीणा आदि, भीतर के छिद्र से युक्त वंशी आदि तथा चित्र-विचित्र कांस्यताल आदि वाद्यों की ध्वनियों में; कहीं पर भी ज्ञानी पुरुषों का चित्त नहीं लगता है ॥ २५-२८ ॥

हे श्रीराम ! ध्वनि रूक्ष हो चाहे मधुर, कहीं भी यह वैसा प्रेम नहीं करता जैसा कमलों में चन्द्रमा प्रेम नहीं करता ॥ २९ ॥

कोमल कदली के स्तम्भों की पल्लवपङ्क्तियों से युक्त तथा देवता एवं गन्धर्वों की कन्याओं के अङ्गों के सदृश अतिकोमल अवयव वाली लताओं से युक्त नन्दनवन की क्रीडाओं में कहीं आसक्तिवर्जित ज्ञानी पुरुष का किसी समय भी चित्त नहीं लगता ॥ ३० ॥

हे श्रीरामजी ! स्वाधीन विषयों में भी आसक्ति नहीं रखने वाला धीर तत्त्वज्ञ किसी भी विषय में वैसे ही भोग की इच्छा नहीं करता जैसे हंस मरुभूमि में भोग की इच्छा नहीं करता ॥ ३१ ॥

पिण्डखजूर, कदम्ब, कटहर, द्राक्षा, खरबूजा, अखरोट, बिम्ब तथा नारङ्गी आदि जाति के फलों में; मद्य, मधु, मैरेय, माध्वीक, आसव आदि मद्यविशेषों में; दहीं, दूध, घी, आमिक्षा, मक्खन, ओदन आदि भोज्य पदार्थों में; लेह्य, पेय आदि विलास-पूर्ण चित्र-विचित्र छः प्रकार के रसों में; अन्य फल, कन्दमूल शाक एवं मांस आदि पदार्थों में ज्ञानी पुरुष कहीं पर चित्त नहीं लगाता । वह तृप्तस्वरूप एवं असक्तमति है, जिस प्रकार आस्वादन में प्रेम रखने वाला वह ब्राह्मण अपने शरीर के टुकड़ों में प्रवृत्त

षड्रसेषु विचित्रेषु लेह्यपेयविलासिषु ।
फलेष्वन्येषु मूलेषु शाकेष्वप्यामिषेषु च ॥ ३४ ॥
केषुचिन्नाऽनुबध्नाति तृप्तमूर्त्तिरसक्तधीः ।
आस्वादनरतिर्विप्रः स्वशरीरलवेष्विव ॥ ३५ ॥
ज्ञानवान्यमचन्द्रेन्द्ररुद्रार्कानिलसद्मसु ।
मेरुमन्दरकैलाससह्यदर्दुरसानुषु ॥ ३६ ॥
कौशेयदलजालेषु चन्द्रबिम्बकलादिषु ।
कल्पपादपकुञ्जेषु देहशोभाविलासिषु ॥ ३७ ॥
रत्नकाञ्चनकुडचेषु मुक्तामणिमयेषु च ।
तिलोत्तमोर्वशीरम्भामेनकाङ्गलतासु च ॥ ३८ ॥
केषुचिद्दर्शनं श्रीमान्नाऽभिवाञ्छत्यसक्तधीः ।
परिपूर्णमना मानी मौनी शत्रुषु चाऽचलः ॥ ३९ ॥
ज्ञानवान् कुन्दमन्दारकह्लारकमलादिषु ।
कुमुदोत्पलपुन्नागकेतक्यगुरुजातिषु ॥ ४० ॥
कदम्बचूतजम्ब्वाम्रकिंशुकाशोकशाखिषु ।
जपातिमुक्तसौवीरबिम्बपाटलजातिषु ॥ ४१ ॥

नहीं होता है वैसे ही भोग्य पदार्थों में प्रवृत्त नहीं होता है ॥ ३२-३४ ॥

यमराज, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, सूर्य और वायु के स्थानों में; मेरु, मन्दराचल, कैलास, सह्याद्रि तथा दर्दुर पर्वत के कौशेयसदृश मृदु एवं चिक्कन पल्लवसमूहों से युक्त शिखरों में; चन्द्रबिम्ब की कला आदि में, दिव्य शरीर सम्पत्ति से क्रियमाण क्रीडाओं से युक्त कल्पवृक्षों के निकुञ्जों में; रत्नयुक्त सुवर्णभित्ति से निर्मित्त मोती और मणिप्रचुर सुन्दर घरों में; तिलोत्तमा, ऊर्वशी, रम्भा मेनका आदि की अङ्गलताओं में ज्ञानी श्रीमान् महात्मा कहीं पर भी असक्त होने के कारण दृष्टिपात नहीं चाहता वह परिपूर्ण, अमानी, मौनी एवं शत्रुओं के विषय में अचल है अतः द्वेष से कम्पित नहीं होता है ॥३५—३९॥

कनेर, मन्दार, कल्हार, कमल आदि में; कई, नील-कमल, चंपा, केतकी, अगर, जाति (मालती) आदि पुष्पों में; कदम्ब, आम्र, जामुन, पलाश एवं अशोक वृक्षों में; जपा, माधवी, बेर, बिम्ब, पाटल तथा चमेली आदि में; चन्दन, अगुरु, कपूर, लाह एवं कस्तुरी में; केसर, लवङ्ग, एला, कङ्कोल शीतल चीनी के वृक्ष का भेद तगर आदि अङ्गारागों में से किसी की सुगन्ध में समबुद्धि, प्रिय, अप्रिय सब स्थानों में समदृष्टि रखने वाला तथा अप्रिय में क्षोभशून्य ज्ञानवान् पुरुष वैसे ही प्रेम नहीं करता,

चन्दनागुरुकर्पूरलाक्षामृगमदेषु च ।
काश्मीरजलवङ्गैलाकङ्कोलतगरादिषु ॥ ४२ ॥
केषुचिन्न निबध्नाति सौगन्ध्यरतिमेकधीः ।
समबुद्धिरविक्षोभो मद्यामोदेष्विव द्विजः ॥ ४३ ॥
अब्धौ गुडगुडारावे प्रतिश्रुत्खस्वने गिरौ ।
निनादे च मृगेन्द्राणां न क्षुभ्यति मनागपि ॥ ४४ ॥
द्विषद्भेरीनिनादेन पटहारणितेन च ।
कटुकोदण्डघोषेण न बिभेति मनागपि ॥ ४५ ॥
मत्तवारणबृंहासु वेतालकलनासु च ।
पिशाचरक्षःक्ष्वेडासु मनागपि न कम्पते ॥ ४६ ॥
अशनिस्वनघोषेण नगस्फोटरवेण च ।
ऐरावणनिनादेन सम्यग्ध्यानी न कम्पते ॥ ४७ ॥
वहत्क्रकचकाषेण सितासिदलनेन च ।
शराशनिनिपातेन कम्पते न स्वरूपतः ॥ ४८ ॥
नाऽऽनन्दमेत्युपवने न खेदमुपगच्छति ।
न खेदमेति मरुषु नाऽऽनन्दमुपगच्छति ॥ ४९ ॥

जैसे मदिरा की गन्ध में श्रोत्रिय द्विज प्रेम नहीं करता ॥ ४०-४३ ॥

ज्ञानवान् पुरुष गड़गड़ाहट ध्वनि से युक्त सागर के, प्रतिध्वनिरूप आकाशजनित शब्द के, पर्वत में सिंहों के गर्जनों के होनेपर भी तनिक क्षुब्ध नहीं होता है ॥ ४४ ॥

ज्ञानवान् पुरुष शत्रुओं के नगारे आदि के शब्दों से, डमरू के कर्णकटु धनुष के टङ्कार से तनिक भी भीत नहीं होता है ॥ ४५ ॥

ज्ञानवान् पुरुष मदोन्मत्त हाथियों के चिंघाड़ने के शब्द, बेतालों की कलह आदि ध्वनि तथा पिशाच एवं राक्षसों का सिंहनाद होनेपर भी कम्पित नहीं होता ॥४६॥

व्रज के भयावह शब्द से, पर्वत के विस्फोट से एवं ऐरावत के चिंघाड़ने से परब्रह्म में ध्यान लगने वाला विद्वान् कम्पित नहीं होता है ॥ ४७ ॥

चल रहे आरे के घर्षण से, चमचमाती हुई तलवार के विदलन से, बाण एवं वज्र के सम्पात से अपनी स्वरूप-स्थितिरूप समाधि से ज्ञानवान् पुरुष विचलित नहीं होता है ॥ ४८ ॥

ज्ञानी पुरुष वाटिका में न आनन्द प्राप्त करता है और न खेद एवं मरुभूमि में न खेद प्राप्त करता है और न आनन्द ॥ ४९ ॥

पूताङ्गारसमाकल्पसैकतेष्वपि धन्वसु ।
पुष्पप्रसरसञ्छन्नमृदुशाद्वलभूमिषु ॥ ५० ॥

क्षुरधारासु तीक्ष्णासु शय्यासु च नवोत्पलैः ।
उन्नताचलदेशेषु कूपकोशतलेषु च ॥ ५१ ॥

शिलास्वर्कांशुरूक्षासु मृद्वीषु ललनासु च ।
सम्पत्स्वापत्सु चोग्रासु रमणेषूत्सवेषु च ॥ ५२ ॥

विहरन्नपि नोद्वेगी नाऽऽनन्दमुपगच्छति ।
अन्तर्मुक्तमना नित्यं कर्मकर्तेव तिष्ठति ॥ ५३ ॥

अयःसङ्कुचिताङ्गासु नरकारण्यभूमिषु ।
परस्परेरितानन्तकुन्ततोमरवृष्टिषु ॥ ५४ ॥

न बिभेति न वाऽऽदत्ते वैवश्यं न च दीनताम् ।
समः स्वस्थमना मौनी धीरस्तिष्ठति शैलवत् ॥ ५५ ॥

अपवित्रमपथ्यं च विषसिक्तं मलाद्यपि ।
भुक्त्वा जरयति क्षिप्रं क्लिन्नं नष्टं च मृष्टवत् ॥ ५६ ॥

बिम्बप्रतिविषाकल्कक्षीरेक्षुसलिलान्धसाम् ।
असक्तबुद्धिस्तत्त्वज्ञो भवत्यास्वादने समः ॥ ५७ ॥

मैरेयमदिराक्षीररक्तमेदोरसासवैः ।
रूक्षास्थितृणकेशान्तैर्न हृष्यति न कुप्यति ॥ ५८ ॥

जीवितस्याऽपि हर्तारं दातारं चैकरूपया ।
दृशा प्रसादमाधुर्यशालिन्या परिपश्यति ॥ ५९ ॥

स्थिरास्थिरशरीरेषु रम्यारम्येषु वस्तुषु ।
न हृष्यति ग्लायति वा सदा समतयेद्धया ॥ ६० ॥

मुक्तास्थत्वादनास्थेयरूपत्वाज्जगतः स्थितौ ।
नूनं विदितवेद्यत्वान्नीरागत्वात्स्वचेतसः ॥ ६१ ॥

न कस्यचिन्नो कदाचिदक्षस्य विषयस्थितौ ।
ददाति प्रसरं साधुराधिप्रोज्झितया धिया ॥ ६२ ॥

अतत्त्वज्ञमविश्रान्तमलब्धात्मानमस्थितम् ।
निगिरन्तीन्द्रियाण्याशु हरिणा इव पल्लवम् ॥ ६३ ॥

ज्ञानवान् पुरुष भस्म से रहित उज्ज्वल अङ्गारों के सदृश असह्य बालू से युक्त मरुप्रदेशों में, पुष्पों के समूहों से आच्छादित मृदु घासमय भूमियों में, तीक्ष्ण छुरे की धारों में, नवीन कमलों से निर्मित शय्याओं में, उन्नत पर्वत के प्रदेशों में, कुओं के अन्दर की निम्न भूमियों में, सूर्य-किरणों से प्रतप्त शिलाओं में, लोमल ललनाओं में, संपत्तियों में, उग्र विपत्तियों में क्रीड़ाओं में तथा उत्सवों विहार कर रहा न उद्वेग प्राप्त करता है और न तो आनन्द प्राप्त करता है। वह भीतर से सदा मुक्त और बाहर से कर्मकर्ता की तरह स्थित रहता है ॥ ५०–५३ ॥

ज्ञानी पुरुष महर्षि माण्डव्य की तरह प्रारब्ध कर्मों से प्राप्त अङ्गों को संकुचित करने वाली नरक की अरण्य भूमियों में, जहाँ पर एक दूसरों के द्वारा अनेक बर्छी तोमर आदि शस्त्र विशेषों की वृष्टि हो रही है, न भीत होता है, न व्याकुल होता है और न तो दीन होता है, परन्तु वह सम, स्वस्थमन, मौनी और धीर होकर पर्वत की तरह अटल रहता है ॥ ५४–५५ ॥

वैसे ही ज्ञानी पुरुष अपवित्र, अपथ्य, विषयुक्त, गोमय आदि मल, आर्द्र तथा रसवर्जित पदार्थों को खाकर भी तत्क्षण उस प्रकार पचा देता है, जैसे साधारण मनुष्य परिष्कृत अन्न को खाकर पचा देता है ॥ ५६ ॥

किसी प्रकार की विषया-सक्ति रहने पर तत्त्वज्ञ तत्क्षण बुद्धि का विनाश करने वाला बिम्ब का फल (कुन्दरू का फल), विषप्राय सब ओर से कषाय लगने वाला फल, क्षीर, इक्षुरस, जल, ओदन—इन सब विषयों के आस्वादन में तुल्यचित्त रहता है ॥ ५७ ॥

ज्ञानवान् पुरुष मैरेय मद्यविशेष, मदिरा, क्षीर, रक्त, चरबी, आसव, रूक्ष हड्डी, तृण और केश—इन सब से न प्रसन्न होता है और न कुपित ही होता है ॥ ५८ ॥

ज्ञानी पुरुष जीवन का विनाश करने वाला तथा जीवन का दान देने वाला—इन दोनों पुरुषों को प्रसन्नता एवं मधुरता से शोभित समदृष्टि से देखता है ॥ ५९ ॥

समभावना सदा प्रदीप्त रहने पर ज्ञानवान् चिरस्थायी देव शरीर तथा कुछ काल तक स्थायी मर्त्य शरीर एवं उनके भोग्य रमणीय तथा अरमणीय वस्तु—इन सब के विषय में न हर्ष करता है और न ग्लानि करता है ॥६०॥

अपने चित्त में आसक्ति का अभाव तथा विषयस्वरूप का भली-भाँति ज्ञान हो जाने पर जगत् की स्थिति में ज्ञानी आस्था नहीं रखता है। ज्ञानी साधु पुरुष आस्था के आयोग्यरूप होने से किसी भी समय किसी इन्द्रिय को विषय प्रवृत्ति के लिए अवसर नहीं देता, क्योंकि उसकी बुद्धि समस्त मानस पीडाओं से निर्मुक्त हो चुकी है ॥ ६१–६२ ॥

इन्द्रियाँ तत्त्वज्ञान से शून्य, विश्रान्ति से वर्जित, अप्राप्त-आत्मा तथा स्थितिशून्य मनुष्य को वैसे ही तत्काल निगल जाती हैं जैसे हरिण पल्लव निगल जाते हैं ॥ ६३ ॥

उह्यमानं भवाम्भोधौ वासनावीचिवेल्लितम् ।
निगिरन्तीन्द्रियग्राहा महाक्रन्दपरायणम् ॥ ६४ ॥
विचारिणं भव्यपदं विश्रान्तधियमात्मनि ।
न हरन्ति विकल्पौघा जलौघा इव पर्वतम् ॥ ६५ ॥
सर्वसङ्कल्पसीमान्ते विश्रान्ता ये परे पदे ।
तेषां लब्धस्वरूपाणां मेरुरेव तृणायते ॥ ६६ ॥
जगज्जरत्तृणलवो विषं चाऽमृतमेव च ।
क्षणः कल्पसहस्रं च सममाततचेतसाम् ॥ ६७ ॥
संविन्मात्रं जगदिति मत्वा मुदितबुद्धयः ।
संविन्मयत्वादन्तःस्थजगत्का विहरन्त्यमी ॥ ६८ ॥
संविन्मात्रपरिस्पन्दे जागते वस्तुपञ्जरे ।
किं हेयं किमुपादेयमिह तत्त्वविदां मतम् ॥ ६९ ॥

निरन्तर महान् क्रन्दन करने में तत्पर अज्ञानी को संसार-समुद्र में बह रहे, वासनारूपी वीचियों से वेष्टित इन्द्रियरूपी मगर निगल जाते हैं ॥ ६४ ॥

विचारवान्, एकमात्र ब्रह्मरूप पद में समासीन तथा आत्मा में बुद्धि की विश्रान्ति लेने वाला महामति लोभ आदि विकल्पसमूहों से वैसे ही बहाया नहीं जा सकता जैसे जलप्रवाहों से पर्वत बहाया नहीं जा सकता है ॥ ६५ ॥

समस्त संकल्पों की सीमा के अन्तभूत परम पद में विश्रान्ति सम्पन्न प्राप्तस्वरूप महात्माओं की दृष्टि में मेरु-पर्वत भी तृण के सदृश है ॥ ६६ ॥

परिपूर्ण आत्माकार के प्रतिफलन से विशाल चित्त महात्माओं की दृष्टि में जगत्, जीर्ण तिनके का टुकड़ा, विष, अमृत, क्षण और हजारों कल्प सभी समान रूप हैं ॥ ६७ ॥

जगत् को चिन्मात्र रूप जानकर प्रमुदिततमति तथा समस्त जगत् में आन्तर प्रत्यगात्मरूपता के अवलोकन से अन्तःस्थ जगत् वाले महात्मा संविन्मय होकर सर्वत्र विहार करते हैं ॥ ६८ ॥

तत्त्वज्ञों का मत है कि संविन्मात्र के परिस्पन्दनस्वरूप जगत् के पिंजड़े में क्या हेय और क्या उपादेय हो सकता है ? अर्थात् न कुछ हेय है और न कुछ उपादेय है ॥६९॥

हे निष्पाप राम ! समस्त जगत् संविदात्मक होने से आप अन्यता-भ्रान्ति का परित्याग कर दें, प्रकाशात्मक चित्प्रचुर स्वरूप वाला तत्त्व क्या त्यागेगा और क्या ग्रहण करेगा ? ॥ ७० ॥

संविदेवेदमखिलं भ्रान्तिमन्यां त्यजाऽनघ ! ।
संविन्मयवपुः स्फारं किं जहाति किमीहते ॥ ७० ॥
यदेतज्जायते भूमेर्भविष्यत्पल्लवाङ्कुरम् ।
तत्संविदेव प्रथते तथा तत्त्वाङ्कुरस्थितम् ॥ ७१ ॥
आदावन्ते च यन्नाऽस्ति वर्तमानेऽपि तस्य च ।
कञ्चित्काललवं दृष्टा सत्ताऽसौ संविदो भ्रमः ॥ ७२ ॥
इति मत्वा धियं त्यक्त्वा भावाभावानुपातिनीम् ।
निःसङ्गसंविद्रूपो भव भावान्तमागतः ॥ ७३ ॥
कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
कर्म कुर्वन्न कुर्वन्वा निःसङ्गः सन्न लिप्यते ॥ ७४ ॥
गतसङ्गेन मनसा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।
सुखदुःखैर्महाबाहो ! मनोरथदशास्विव ॥ ७५ ॥

भूतकालीन पदार्थों में किसी की इच्छा नहीं होती, अतः अज्ञानीरूपी हरिणों के द्वारा वर्तमानकालीन जो कुछ भूमि से पल्लवाङ्कुरप्राय पदार्थ उत्पन्न होते हैं और भविष्यत्कालीन जो कुछ भूमि से पल्लवाङ्कुररूप पदार्थ उत्पन्न होने वाले हैं, ये ही स्पृहणीय हैं, जैसे तत्त्वज्ञ की दृष्टि से उन सब का संविद्रूप से प्रथन होता है, वैसे ही आकाशादि तत्त्वों के अङ्कुर की तरह स्थित शब्द, स्पर्श आदि अन्य विषयों का भी तत्त्वज्ञ की दृष्टि से संविद्रूप से ही प्रथन होता है ॥ ७१ ॥

आदि और अन्त में अस्तित्वहीन यदि वर्तमान काल में कुछ-काल तक सत्ता देखी जाय, तो वह संवित् का एक भ्रम ही है ॥ ७२ ॥

युक्तिपूर्वक मनन से इस विषय को दृढकर तथा 'यह भावरूप है और यह अभावरूप है' इस प्रकार विकल्पयुक्त मति का त्यागकर भाव के बाध स्वरूप ब्रह्म में प्राप्त आप सङ्गशून्य प्रकाशमान संविद्रूप हो जाएँ ॥ ७३ ॥

शरीर, मन, बुद्धि तथा आसक्तिदोष से रहित इन्द्रियों से व्युत्थानकाल में कर्म करे या समाधिकाल में न करे, ज्ञानी असङ्ग होने के कारण कर्म या अकर्म किसी से लिप्त नहीं होता ॥ ७४ ॥

हे महाबाहो ! ज्ञानी पुरुष सङ्ग रहित मन से कर्मा-नुष्ठान करे, चाहे न करे, तज्जनित सुखदुःखों से वैसे ही लिप्त नहीं होता जैसे मनोराज्य की संपत्तियों के नष्ट होने या न होने पर, तज्जनित सुख-दुःखों से कोई भी लिप्त नहीं होता ॥ ७५ ॥

गतसङ्गां मतिं कुर्वन् कुर्वन्नप्यङ्गयष्टिभिः ।
न लिप्यते सुखैर्दुःखैर्मनोरथदशास्विव ॥ ७६ ॥
गतसङ्गमना दृष्ट्या पश्यन्नपि न पश्यति ।
एतदन्यस्थचित्तत्वाद् बालेनाऽप्यनुभूयते ॥ ७७ ॥
गतसङ्गमना जन्तुः पश्यन्नेव न पश्यति ।
न शृणोत्यपि शृण्वंश्च न स्पृशत्यपि च स्पृशन् ॥ ७८ ॥
न जिघ्रत्यपि संजिघ्रन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
पदार्थे च पतत्येव बलात्पतति नाऽप्ययम् ॥ ७९ ॥
देशान्तरस्थचेतोभिरेतदात्मगृहस्थितैः ।
अप्रौढमतिभिः साधु मूर्खैरप्यनुभूयते ॥ ८० ॥
सङ्गः कारणमर्थानां सङ्गः संसारकारणम् ।
सङ्गः कारणमाशानां सङ्गः कारणमापदाम् ॥ ८१ ॥
सङ्गत्यागं विदुर्मोक्षं सङ्गत्यागादजन्मता ।
सङ्गं त्यज त्वं भावानां जीवन्मुक्तो भवाऽनघ ! ॥८२॥

आत्मा में अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व का अनुभव हो जाने पर बुद्धि को वीतसङ्ग शरीर आदि उपकरणों से व्यवहार निरत भी ज्ञानी सुखदु:खात्मक अनुकूल प्रतिकूल भावों से वैसे ही लिप्त नहीं होता है जैसे मनोराज्य के वैभवों के आगमापायों से अज्ञानी लिप्त नहीं होता ॥ ७६॥

विषयों के साथ संसर्ग से शून्य अन्त:करण वाला महात्मा चक्षु से विषयों को देख कर भी उन्हें नहीं देखता क्योंकि उसका चित्त अन्यत्र परब्रह्म में लगा हुआ है। अन्यत्र चित्त रहने पर वह विषय नहीं देखता, यह बात बालक को भी अनुभूत है ॥ ७७ ॥

विषयसङ्ग से शून्य मनवाला प्राणी सुनता हुआ भी नहीं सुनता है, स्पर्श करता हुआ भी स्पर्श नहीं करता ॥ ७८ ॥

यह अन्यत्रमना योगी भली प्रकार सूँघ कर भी नहीं सूँघता, नेत्र उन्मीलित कर भी उन्मीलित नहीं करता, अपने अपने विषयों में संस्कारवश कर्मेन्द्रियों के संसृष्ट होने पर भी यह संसृष्ट नहीं होता ॥ ७९ ॥

जिन का मन अन्यत्र चला गया है, ऐसे अपने घर में रहने वाले मूर्ख एवं अप्रौढ़मति बालक, पशु आदि विषयों को देख कर भी नहीं देखता आदि अर्थ का अनुभव करते हैं, इस विषय में उनको किसी प्रकार का विवाद नहीं है ॥ ८० ॥

आसक्ति ही संसार की कारण है, आसक्ति ही समस्त पदार्थों की हेतु है, आसक्ति ही रम्य विषयों की अभिलाषाओं की जनक है और आसक्ति ही समस्त विपत्तियों

श्रीराम उवाच
सर्वसंशयनीहारशरन्मारुत हे मुने ! ।
सङ्गः किमुच्यते ब्रूहि समासेन मम प्रभो ! ॥ ८३ ॥
वसिष्ठ उवाच
भावाभावे पदार्थानां हर्षामर्षविकारदा ।
मलिना वासना यैषा सा सङ्ग इति कथ्यते ॥ ८४ ॥
जीवन्मुक्तशरीराणामपुनर्जन्मकारिणी ।
मुक्ता हर्षविषादाभ्यां शुद्धा भवति वासना ॥ ८५ ॥
तामसङ्गाभिधां विद्धि यावद्देहं च भाविनी ।
तया यत्क्रियते कर्म न तद् बन्धाय वै पुनः ॥ ८६ ॥
अजीवन्मुक्तरूपाणां दीनानां मूढचेतसाम् ।
युक्ता हर्षविषादाभ्यां बन्धनी वासना भवेत् ॥ ८७ ॥
सैवोक्ता सङ्गशब्देन पुनर्जननकारिणी ।
तया यत्क्रियते कर्म तद् बन्धायैव केवलम् ॥ ८८ ॥

की उत्पादिका है ॥ ८१ ॥

हे निष्पाप रामजी ! सङ्गपरित्याग मोक्ष वर्तमान देह आदि से सम्बन्ध की निवृत्ति है, यह महर्षियों का मत हैं। सङ्गत्याग से जन्म (भावी देहादिबन्धन) छूट जाता है, अत: आप पदार्थों का संसर्ग छोड़ दें और जीवन्मुक्त हो जाएँ ॥ ८२ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे महामुने ! अखिल संशयरूपी कुहरे के लिए शरत्काल के वायुरूप सङ्ग किसे कहते हैं ? हे प्रभो ! यह मुझ से कहें ॥ ८३ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—मुनियों के मत में इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति तथा अप्राप्ति होने पर हर्ष और विषादरूप विकार उत्पन्न करने वाली मलिन रागादि वासना ही सङ्ग है ॥ ८४ ॥

जीवन्मुक्त शरीर तत्त्ववेत्ताओं को पुनर्जन्म न देने वाली हर्ष एवं विषाद दोनों से निर्मुक्त शुद्ध वासना होती है ॥ ८५ ॥

उस शुद्ध वासना का नाम असङ्ग है, इसे आप जानें। उसके रहने तक किन्तु अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों का विनाश नहीं होता है। उस वासना से जो कुछ किया जाता है, वह पुन: संसार का कारण नहीं होता है ॥ ८६ ॥

जीवन्मुक्त स्वरूप से असम्पन्न दीन एवं मूढमति वासना हर्ष तथा विषाद—इन दोनों से मिली हुई रहती है, यह वासना बन्ध संसार देनेवाली होती है ॥ ८७ ॥

बन्धकारक इस वासना का नाम सङ्ग है, यह पुनर्जन्म प्रदान करती है, इस वासना से किया गया केवल बन्धन का ही हेतु होता है ॥ ८८ ॥

एवंरूपं परित्यज्य सङ्गं स्वात्मविकारदम् ।
यदि तिष्ठसि निर्व्यग्रः कुर्वन्नपि न लिप्यसे ॥ ८९ ॥

हर्षामर्षविषादाभ्यां यदि गच्छसि नाऽन्यताम् ।
वीतरागभयक्रोधस्तदसङ्गोऽसि राघव ! ॥ ९० ॥

दुःखैर्न ग्लानिमायासि यदि हृष्यसि नो सुखैः ।
आशावैवश्यमुत्सृज्य तदसङ्गोऽसि राघव ! ॥ ९१ ॥

विहरन्व्यवहारेषु सुखदुःखदशासु च ।
न विमुञ्चसि सत्साम्यं तदसङ्गोऽसि राघव ! ॥ ९२ ॥

संवेद्यो यदि चैवाऽऽत्मा वेदिते लक्ष्यते समः ।
यथाप्राप्तानुवर्ती च तदसङ्गोऽसि राघव ! ॥ ९३ ॥

असङ्गतामनायासाज्जीवन्मुक्तस्थितिं स्थिराम् ।
अवलम्ब्य समः स्वस्थो वीतरागो भवाऽनघ ! ॥ ९४ ॥

जीवन्मुक्तमतिर्मौनी निगृहीतेन्द्रियग्रहः ।
अमानमदमात्सर्यमार्यस्तिष्ठति विज्वरम् ॥ ९५ ॥

अपनी आत्मा में विकार पैदा करने वाले इस स्वरूप के सङ्ग का त्याग कर यदि आप स्वस्थ होकर स्थित रहें, तो व्यवहार निरत होते हुए भी आप उससे लिप्त नहीं होंगे ॥ ८९ ॥

हे राघव यह निश्चित है कि हर्ष, अमर्ष एवं विषाद से अन्य रूपता प्राप्त न करने पर आप राग, भय और क्रोध से रहित होकर असङ्ग रूप हो जायें, यह निश्चित है ॥ ९० ॥

हे राघव ! दुःखों से ग्लानि न होनेपर सुखों से प्रसन्नता न होने पर आशाओं की परवशता का परित्याग कर असङ्ग हो जायेंगे ॥ ९१ ॥

आप व्यवहारों एवं सुख-दुःख की अवस्थाओं में विचरण करते हुए भी यदि ब्रह्मैकरसता परित्याग करें, तो आप असङ्ग ही हैं ॥ ९२ ॥

हे राघव ! संवेद्य पदार्थ चित्तस्वभाव है, ज्ञान होने पर वह आपको एकरूप लक्षित होता है और आप जैसा व्यवहार प्राप्त है, तदनुसार व्यवहार करते हैं, तो आप असङ्ग हैं ॥ ९३ ॥

हे निष्पाप ! बिना परिश्रम से सिद्ध असङ्गता ही सुदृढ जीवन्मुक्त की अवस्था है, उसका अवलम्बन कर आप एकरूप, स्वस्थ और वीतराग हो जाएँ ॥ ९४ ॥

जीवन्मुक्त ज्ञानी मौनी और इन्द्रियरूपी पाशों को वश में रखनेवाला ज्ञानवान् आर्य पुरुष मान, मद और मात्सर्य से शून्य तथा चिन्ताज्वर से रहित होकर स्थित रहता है ॥ ९५ ॥

सदा समग्रेऽपि हि वस्तुजाले
समाशयोऽप्यन्तरदीनसत्वः ।
व्यापारमात्रात्सहजात्क्रमस्था-
न्न किञ्चिदप्यन्यदसौ करोति ॥ ९६ ॥

यदेव किञ्चित्प्रकृतं क्रमस्थं
कर्तव्यमात्मीयमसौ तदेव ।
संसर्गसम्बन्धविहीनयैव
कुर्वन्नखेदं रमते धियाऽन्तः ॥ ९७ ॥

अथाऽऽपदं प्राप्य सुसम्पदं वा
महामतिः स्वप्रकृतं स्वभावम् ।
जहाति नो मन्दरवेल्लितोऽपि
शौक्ल्यं यथा क्षीरमयाम्बुराशिः ॥ ९८ ॥

सम्प्राप्य साम्राज्यमथाऽऽपदं वा
सरीसृपत्वं सुरनाथतां वा ।
तिष्ठत्यखेदोदयमस्तहर्षं
क्षयोदयेष्विन्दुरिवैकरूपः ॥ ९९ ॥

भोग, विक्षेप आदि के साधन प्रचुर पदार्थों के रहते हुए भी सबमें समान भाव रखने वाला तथा बाहर एवं भीतर इच्छा एवं याञ्चा आदि दीनता से रहित अन्तः-करण वाला महात्मा एकमात्र अपने वर्णाश्रमोचित स्वा-भाविक क्रम-प्राप्त व्यापार से पृथक् दूसरा कुछ भी व्यापार नहीं करता है ॥ ९६ ॥

ज्ञानी वर्णाश्रमानुसार परम्परा-प्राप्त कर्तव्य क्रिया-भिनिवेश और फलाभिलाषा से रहित बुद्धि से खेद छोड़कर अनुष्ठान कर अपनी आत्मा में रमण करता है ॥ ९७ ॥

आपत्ति पाकर अथवा उत्तम सम्पत्ति पाकर महामति तत्त्वज्ञ अपना पूर्वसिद्ध शम, दम, प्रसन्नता, समदर्शन आदि स्वभाव वैसे ही नहीं छोड़ता है जैसे मन्दराचल पर्वत से मथित क्षीरप्रचुर वारिसमुद्र अपना स्वाभाविक शुक्लपन नहीं छोड़ता ॥ ९८ ॥

ज्ञानी साम्राज्य और दरिद्रता आदि आपत्ति तथा सर्पादियोनि अथवा देवताओं की स्वामिता प्राप्तकर खेद-शून्य तथा हर्षशून्य होकर वैसे ही एक रूप से स्थित रहता है ॥ ९९ ॥

निरस्तसंरम्भमपास्तभेदं
प्रशान्तनानाफलवल्गुवेषम् ।
विचारयाऽऽत्मानमदीनसत्वो
यथा भवस्युत्तमकार्यनिष्ठः ॥१००॥

तयोदितप्रसरविलासशुद्धया
गतज्वरं पदमवलम्बयाऽलम् ।
धियेद्धया पुनरिह जन्मबन्धनै-
र्न बध्यसे समधिगतात्मदृश्यया ॥१०१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
समदर्शनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

उपशमप्रकरणं सम्पूर्णम् ।

दीनता का परित्याग कर आत्मा और अनात्मा के भेद के तथा नानाफलक तुच्छस्वरूप कर्मों का त्याग कर आत्मा का विचार करे। इस विचार से उत्तम कार्यनिष्ठ हो अवश्य सम्पादन करने योग्य अन्तिम पुरुषार्थ में स्थित हो जायँ ॥ १०० ॥

आत्म-विचार से प्राप्त समाधि के विलास से समस्त वासनाओं का विनाश होने से अतिशय निर्मल समाधिगत आत्मतत्त्वरूप अवश्यद्रष्टव्य पदार्थ से समन्वित तथा अविद्या और अविद्याकार्य के विनाश में समर्थ होने के कारण दीप्त बुद्धि से दुःखवर्जित निरतिशयात्मक सुख-स्वरूप परमपद का अवलम्बन कर स्थित हो जायँ। आप फिर इस संसार में जन्मों के बन्धनों से बद्ध न होंगे। आत्मा का साक्षात्कार ही अविद्या और उसके कार्य तथा अविद्या के संस्कार का शमन करता है ॥ १०१ ॥

इस प्रकार ऋषी-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमाहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
समदर्शन नामक कुसुमलता का तिरानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९३ ॥

उपशमप्रकरण समाप्त हुआ ॥

निर्वाणप्रकरणपूर्वार्द्ध

संस्कृत साहित्य में देह, मनः, प्राण, बुद्धि, जीव (Individual) ब्रह्म (The universal soul) आदि अनेक अर्थों में आत्मा का प्रयोग होता है—"अहं" या मैं के रूप में आत्मा का प्रत्यक्ष करते हैं।

अद्वैतवेदान्त के अनुसार आत्मा निर्गुण निर्विशेष है। निर्विशेष ब्रह्म का ईश्वर, जीव और जगत् आदि पदार्थों को अविद्या-कल्पित एवं मिथ्या मानते हैं। जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है। 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि वैदिक महावाक्यों के द्वारा जीव और ब्रह्म के अभेद की स्पष्ट सूचना मिलती है। हजारों आवरणों से माया ब्रह्म का आवरण कर जीव के ब्रह्म स्वरूप को आवृत करने की चेष्टा करती है। सद्‌गुरु के प्रसाद से ज्ञान और वैराग्य के परिपक्व होने पर जीव की विज्ञान दृष्टि परिस्फुटित होती है, जीव अपने ब्रह्मभाव का प्रत्यक्षकर "चिदानन्दस्वरूपः शिवोऽहम्" इस प्रकार शिवरूप में अपनी महिमा को प्रतिष्ठित करता है। यही योगवासिष्ठ का सारतत्त्व है। इसी के द्वारा निर्वाण मार्ग पर आरूढ हो मोक्ष प्राप्त करता है। सांख्य दर्शन में भी निर्गुण आत्मवाद की ही प्रतिष्ठा उपलब्ध है। यह सत्य है कि सांख्य के अनुसार आत्मा सभी जीवों में एक और अभिन्न नहीं है, प्रतिजीव भिन्न निर्गुण चैतन्यस्वरूप है। चैतन्य आत्मा का गुण या धर्म नहीं है "निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मी" (सांख्यसूत्र १।१४६) विज्ञानभिक्षु ने निर्गुण चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही समर्थन किया है। किन्तु योगवासिष्ठ में निर्गुण चैतन्य आत्मवाद के साथ जगत् का मिथ्यात्व भी सिद्ध किया है।

योगवासिष्ठ में ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय इन तीनों में एकमात्र ज्ञान को ही सत्य माना है। विषय और ज्ञातृ अंश अध्यस्त भ्रान्त या मिथ्या है। विषयपरिच्छिन्न चैतन्य ज्ञेय है और अन्तःकरण परिच्छिन्न चैतन्य ज्ञाता हैं, इस प्रकार खण्ड चैतन्य ज्ञेय विषय एवं अन्तःकरण या मन के साथ चैतन्य का अभेद या तादात्म्याध्यास के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। विषय या अन्तःकरण चैतन्य की उपाधि (Limitation) है। इन उपाधियों के फलस्वरूप असीम अखण्ड चैतन्य ससीम और सखण्ड प्रतिभान होता है, अतः मिथ्या है। ज्ञान के इन दो मिथ्या अंशों को हटाने पर निरुपाधि अखण्ड चैतन्य ही अवशिष्ट रहता है वही सत्य और सदा अपरोक्ष है। उस अपरोक्ष चैतन्य में अध्यस्त जड़ वस्तुसमूह ज्ञान के साथ अभिन्न होकर प्रत्यक्षगम्य होता है। घट आदि पदार्थों की प्रत्यक्ष परीक्षा करने पर एक अखण्ड सत् चित् का ही प्रत्यक्ष होता है। 'घट है' यह कहने पर अस्तित्व एवं घट आदि उपाधि निबन्धन उस अस्तित्व का एक विशेष रूप घट का अस्तित्व या घटगत अस्तित्व है—यह अवगत होता है। इसी प्रकार अन्य वस्तु के अस्तित्व से घट के अस्तित्व का भेद भी प्रतिभान होता है। एक क्षणमात्र ही प्रत्यक्ष अवस्थित होता है। क्षणस्थायी प्रत्यक्ष ज्ञान की सहायता से दृश्य वस्तु का केवल अस्तित्व या सत्ता ही प्रत्यक्षगोचर हो सकता है। घट आदि उपाधि निबन्ध सत्ता के भेद का किसी भी मत में प्रत्यक्षगम्य नहीं हो सकता है। भेद समझने पर यहाँ इस वस्तु से भिन्न है "अयमस्माद् भिन्नः"—यही अवगत होता है। जिस वस्तु का भेद होता है और जिससे भेद होता है, उन दो वस्तुओं का प्रतियोगी और अनुयोगी का ज्ञान न होने पर भेद बुद्धि नहीं हो सकती है। अतः क्षणस्थायी प्रत्यक्ष से भेद को जाना भी नहीं जा सकता है। भेद न तो वस्तु का स्वरूप है और न वस्तु का धर्म है, अतः वस्तु के स्वरूप से वह भेद रूप धर्म भी अवश्य ही मानना पड़ेगा, भेद का पुनः भेद मानने पर अनवस्था होगी। जाति-गुण संवलित विशेष-विशेष धर्म संवलित वस्तु का ज्ञान होने पर उस वस्तु के साथ अन्य वस्तु का भेद समझने पर ही उस वस्तु का जाति-गुण आदि ज्ञान का उदय सम्भव है। इस प्रकार "अन्योऽन्याश्रय" दोष भी अपरिहार्य है, अतः यह मानना होगा कि प्रत्यक्षादि के फलस्वरूप भेद ज्ञान का उदय मिथ्या है। इसलिए भेदव्यवहार भ्रान्तिमूलक है। प्रत्यक्ष वस्तु की सत्ता की ही अभिव्यक्ति होती है, दृश्य वस्तु के विशेषरूप का प्रकाशन नहीं करता है—"सन्मात्रस्यैव प्रकाशकं प्रत्यक्षम्।" घटोऽस्ति, गौरस्ति, घटोऽनुभूयते,पटोऽनुभूयते इन ज्ञानों का विश्लेषण करने पर यह व्यक्त होता है कि ज्ञानमात्र का विषय अंश निश्चित परिवर्तनशील है, इस परिवर्तनशील जड़ विषय के अधिष्ठानरूप में विराजमान सत्ता या ज्ञान परिवर्तनशील नहीं है वरन् अपरिवर्तनशील है। 'घट है' यह कहने पर घट भिन्न पट आदि अन्य वस्तु का स्वभाव

अवगत होता है। इसी प्रकार पट है—यह कहने पर भी घट भिन्न पट आदि अन्य वस्तु का अभाव वहाँ अवगत होता है। इस प्रकार पट है—यह कहने पर भी घट आदि का अभाव अवगत होता है। इस प्रकार विचार करने पर सभी जड़ पदार्थों का स्थान विशेष अभाव या बाध सिद्ध होता है। अत:, नियत परिवर्तनशील जड़ पदार्थ मिथ्या, सदा अपरिवर्तनीय निरुपाधि सत्ता या चैतन्य ही वस्तुत: सत्य है यही प्रमाणित होता है।

सत्ता एवं अनुभूति भिन्न नहीं अभिन्न ही वस्तु है—"तस्मात् सत् अनुभूतिरेव"। सत्ता अनुभूति से अभिन्न होने से अनुभूति के समान सत्ता भी स्वत: सिद्ध तत्त्व है। सत्ता अनुभूति से भिन्न होने पर एवं अनुभूति का विषय होने पर सत्ता भी ज्ञेय घट आदि के समान अननुभूति अर्थात् अनुभूति से पृथक् होने पर मिथ्या जड़ वस्तु ही हो जायेगा। दो प्रकार के पदार्थों का परिचय मिलता है, उनमें अनुभूति ही स्वत: प्रकाश और स्वत: प्रमाण है। अनुभूति से अतिरिक्त सभी पदार्थ अनुभूति प्रकाश्य ज्ञेय जड़ वस्तु है। अनुभूति के स्व-प्रकाश एवं स्वत: प्रमाण न मानने पर वह किसी अन्य प्रमाण से गम्य या स्वत: प्रमाण होती ऐसी स्थिति में अनुभूति भी जड़ वस्तु एवं अननुभूति हो जायेगी, इसलिए अनुभूति को स्वत: सिद्ध ही मानना होगा, ज्ञान के प्रकाश में सभी वस्तु उद्भासित होती है, ज्ञान को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती है—अत: ज्ञान स्वत: प्रकाश है। यह स्वयंसिद्ध अनुभूति नित्य एक और अखण्ड है। स्वत: सिद्ध अनुभूति का प्रागभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि स्वत: सिद्ध अनुभूति का प्रागभाव स्वत: या परत: किसी भी प्रागभाव नहीं जाना जा सकता है। अनुभूति के विद्यमान रहने पर घट रहने पर जैसे घट का अभाव नहीं रह सकता है, वैसे ही अनुभूति के रहने पर अनुभूति का अभाव नहीं रह सकता है। दूसरी बात यह है कि अनुभूति के न रहने पर अनुभूति के अभाव की अवगति कौन करायेगा, अनुभूति के अभाव के साधक प्रमाण के न होने से अनुभूति को नित्य ही मानना होगा।

यह अनुभूति एक और अखण्ड है। अनुत्पन्न वस्तु को अनेक प्रकार की विचित्र नहीं देखा गया है। उत्पन्न घट वस्तु ही अनेक प्रकार के होते हैं, अत:, उत्पत्ति के रहने पर ही अनेकत्व हो सकता है—यह मानना पड़ेगा। उत्पत्ति व्यापक धर्म है और नानात्व उसका व्याप्य धर्म है। व्यापक के रहने पर ही व्याप्य धर्म रह सकता है। व्यापक धर्म उत्पत्ति के अभाव में व्याप्य धर्म नानात्व नहीं रह सकता है। अत:, अनुभूति अनेक नहीं हो सकती है। भेद क्लेश रहित अनुभूति नित्य अखण्ड और एक है। विशुद्ध संविद् को छोड़कर ज्ञान का ज्ञाता आत्मा कोई पदार्थ नहीं है। अहंकार के साथ चित् के अध्यास के फलस्वरूप ही आत्मा में कल्पित ज्ञातृत्व की मायावश सृष्टि होती है। स्वयं ज्योति: संविद् अनुभाव्य एवं जड़ नहीं है। अनुभूति से अतिरिक्त मायिक सभी पदार्थ अनुभूति प्रकाश्य एवं जड़ वस्तु है। जड़ वस्तु धर्म सम-व्याप्त (Co-extensive) धर्म अर्थात् जड़ वस्तुमात्र अनात्मा है। अनुभूति अनात्मा या जड़ वस्तु नहीं हो सकती है।

योगवासिष्ठ में ब्रह्म सभी प्रकार के धर्मों से रहित निर्विशेषतत्त्व है। किसी विशेष धर्म या गुण के द्वारा ही ब्रह्म का परिचय देने से ही कार्य नहीं चल सकता है, जो इस रूप में परिचय देना चाहते हैं, वे वस्तुत: ब्रह्मज्ञ नहीं है "अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्" (केन उ० २।३) इन श्रुतियों से स्पष्ट अवगत हो रहा है। "नेति नेति" ब्रह्म यह नहीं है, ब्रह्म वह नहीं है यही अद्वैतवेदान्त का ब्रह्म के विषय में मनन वा तर्क की रीति है। इसी रीति का अनुसरण कर "अस्थूलमनणु अह्रस्वमदीर्घम्" (बृ० उ० ३।८।८) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा स्थूल नहीं है, अणु भी नहीं है, ह्रस्व भी नहीं है, दीर्घ भी नहीं है, इस प्रकार योगवासिष्ठ के उपशमप्रकरण में सभी प्रकार के विशेष भाव या धर्म का निषेध करके ही ब्रह्म का स्वरूप अवगत कराया है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", (तैत्तिरीय २।१।१) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृहदा० ३।९।२८) आदि उपनिषद् में भी उस नेति नेति पथ में ही ब्रह्म का लक्षण निरूपण की चेष्टा की गई है। लक्षण की सहायता से ब्रह्म का परिचय देने पर अन्य पदार्थों से ब्रह्म का पृथक् स्वरूप दिखाना आवश्यक है। श्रुति में कथित सत्यम्, ज्ञानम् एवं अनन्तम् इन तीन पदों से ब्रह्म से

अतिरिक्त जड़ घट आदि पदार्थों से ब्रह्म का पार्थक्य अतिशय स्पष्ट भाषा में कहा गया है। विश्व एवं सभी वस्तु ही असत्य, जड़ एवं परिच्छिन्न है। ब्रह्म असत्य या मिथ्या वस्तु नहीं है, जड़ नहीं है एवं ससीम या परिच्छिन्न भी नहीं है। इसी दृष्टि से योगवासिष्ठ में निर्विशेष ब्रह्म का स्वरूप विचार किया गया है। उक्त श्रुति में सत्य पद से ब्रह्म पर प्रकाश जड़ वर्गों से पृथक् एवं अनन्त पद से ब्रह्म देश, काल आदि सभी प्रकार के परिच्छेद से परे हैं यह अवगत होगा है। ब्रह्म इस प्रकार है इस रूप में विधिमुख से (Positively) ब्रह्म को जानना सम्भव नहीं है। योगवासिष्ठ की भाषा में ब्रह्म अवाङ्मनसगोचर है, निषेध मुख से ही (Negatively) ब्रह्म को जाना जाता है। विधिमुख से सच्चिदानन्द आदि रूप में ब्रह्म की जिस प्रकार का वर्णन वेद, उपनिषद् आदि में देखा जाता है निषेध मुख से ही योगवासिष्ठ में व्याख्या कर ब्रह्म स्वरूप की अवगति कराई है।

यह विचारणीय है कि सत्य, ज्ञान एवं अनन्तपद से ब्रह्म में अन्य पदार्थों का भेद जो सूचित होता है, वह भेद भी तो ब्रह्म के धर्म के रूप में ही प्रकाशित होगा, ब्रह्म सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप अनन्त आनन्द स्वरूप इस रूप में न कहकर ब्रह्म जड़ नहीं जड़ वस्तु से पृथक् मिथ्या नहीं, मिथ्या अवस्तु से विभिन्न इस प्रकार निषेध मुख से कहने पर भी जड़ का भेद, मिथ्या का भेद आदि धर्म ब्रह्म में प्रतिभात होगा, ऐसी स्थिति में ब्रह्म सविशेष ही होगा, निर्विशेष नहीं रहेगा, साथ ही सत्य आदि शब्दों का सत्यत्वविशिष्ट रूप अर्थ ग्रहण न कर मिथ्या नहीं— इस प्रकार का अर्थ ग्रहण करने पर "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस श्रुति में कथित तीन पदों में लक्षणा माननी पड़ेगी। इसके समाधान में अद्वैतियों का कहना है कि जड़ नहीं, मिथ्या नहीं, (जड़ व्यावृत्ति और मिथ्या व्यावृत्ति) ब्रह्म का स्वरूप ही है, शुद्ध ब्रह्म स्वरूप से अतिरिक्त नहीं है। "नेदं रजतम्" (यह रजत नहीं है) शुक्ति खण्ड है, इन स्थलों में रजत का बाध या निषेध (व्यावृत्ति) अवगत होता है, वह शुक्तिखण्ड छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं है, इसी प्रकार जड़ का निषेध, मिथ्या का निषेध आदि भी शुद्ध ब्रह्म स्वरूप ही है। एक ही ब्रह्म से पृथक् रूप में सत्य, ज्ञान और अनन्त शब्द बोधित करता है। इस प्रकार एकार्थत्व और सामानाधिकरण्य रहता है।

अद्वैत वेदान्ती के मन में ब्रह्म में कोई धर्म नहीं है, ब्रह्म सभी धर्मों से रहित सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। ब्रह्म में पारमार्थिक दृष्टि से धर्मधर्मिभाव न रहने पर भी अज्ञान के कारण परब्रह्म में भी धर्मधर्मिभाव कल्पित होता है, इस कल्पित धर्म के कारण सत्यता आदि के ब्रह्म का लक्षण कहा गया है। इसका समर्थन करते हुए कहा गया है कि "आनन्दविषयानुभव और नित्यत्व" चैतन्य का धर्म है, वे चैतन्य से पृथक् न होते हुए भी पृथक् के समान प्रतीत होते हैं। वस्तुतः ये कल्पित धर्म ब्रह्म के स्वरूप और ब्रह्म से अभिन्न हैं।

आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वञ्चेति धर्माः।
अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्ते ॥
(पञ्चपादिका पृ० ४)

सत्य, ज्ञान, आनन्द आदि के अभेद को लक्ष्य कर सर्वज्ञात्मभुवि संक्षेपशारीरक में कहा है, सत्य में भी ज्ञान है, ज्ञान में भी सत्यता है, आनन्दमें भी ज्ञान है, ज्ञान में भी आनन्द है, सत्यता में भी आनन्द है, सत्य ज्ञान और आनन्द इनमें तनिक भी भेद नहीं है—ये वस्तुतः अभिन्न तत्त्व हैं। सत्य पाद ज्ञान से भिन्न होता तब स्पष्ट ही जाना जाता कि सत्य ज्ञान नहीं है, अपितु ज्ञान का विषय ज्ञेय है, जो ज्ञान का विषय या ज्ञेय होता है—वह कभी भी सत्य नहीं होता है, ज्ञेय विश्वप्रपञ्च सत्य नहीं मिथ्या है। सत्य यदि ज्ञान स्वरूप न होकर ज्ञान का विषय होता तो वह सत्य न होकर मिथ्या ही होता, सत्य कभी भी मिथ्या नहीं हो सकता है, अतः सत्य ज्ञान से भिन्न नहीं अभिन्न है, ज्ञान यदि सत्य से भिन्न होता तो ज्ञान भी असत्य या मिथ्या होता और उसके मिथ्या होने विश्व का अलोक कैसे हो सकता है? इसलिए ज्ञान भी सत्य से भिन्न नहीं है। आनन्द ज्ञान से भिन्न होता तो अवश्य ही ज्ञेय होता, ज्ञेय होने

पर आनन्द मिथ्या होता। मिथ्या आनन्द के लिए किसी की भी अभिलाषा नहीं होती और सभी आनन्द के लिए सचेष्ट हैं, अतः आनन्द ज्ञान से भिन्न एवं मिथ्या नहीं है। ज्ञान भी आनन्द है, ज्ञान में आनन्द न रहने पर ज्ञान के लिए मानव अनेक दुःखों का वरण कर ज्ञान के अन्वेषण में व्याकुल नहीं होता, अतः ज्ञान और आनन्द अभिन्न वस्तु है, यह सत्य ज्ञान और आनन्द ही जगत् का अधिष्ठान या आश्रय है—इसीलिए जागतिक वस्तु में समय-समय पर खण्ड सत्य, खण्ड ज्ञान और खण्ड आनन्द उपलब्ध होता है।

"सत्येऽप्यस्ति ज्ञानता ज्ञानतायां सत्यत्वञ्च स्पष्टमस्त्येव तद्वत् ।
सत्येऽप्येवं नातिरेकावकाशः पूर्णे तत्त्वे ज्ञानसत्योपपत्तेः ॥
आनन्दत्वे ज्ञानता ज्ञानतायामानन्दत्वं विद्यते निर्विशङ्कम् ।
सत्येऽप्येवं नातिरेकावकाशः पूर्णे तत्त्वे ज्ञानसौख्योपपत्तेः ॥
आनन्दत्वे सत्यता सत्यतायामानन्दत्वं निर्विवादं प्रसिद्धम् ।
सत्येऽप्येवं नातिरेकावकाशः पूर्णे तत्त्वे सत्यसौख्योपपत्तेः ॥

(संक्षेपशारीरक १ अ० १८६–१८८

इन्हीं विषयों का रसास्वादन इस प्रकरण में सुधीजन अनुभव करें :—

१

श्रीवाल्मीकिरुवाच

उपशमप्रकरणादनन्तरमिदं शृणु ।
त्वं निर्वाणप्रकरणं ज्ञातं निर्वाणदायि यत् ॥ १ ॥
कथयत्येवमुद्दामवचने मुनिनायके ।
श्रवणैकरसे मौनस्थिते राजकुमारके ॥ २ ॥
मुनिवागर्थनिक्षिप्तमनस्यस्ततपःक्रिये ।
राजलोके गतस्पन्दे चित्रार्पित इव स्थिते ॥ ३ ॥
वसिष्ठवचसामर्थं विचारयति सादरम् ।
लसदङ्गुलिभङ्गेन मुनिसार्थे स्फुरद्भ्रुवि ॥ ४ ॥
विस्मयालोकनोल्लासप्रोत्फुल्लनयनालिनि ।
पुरन्ध्रिवर्गे गम्भीरतरुमञ्जरितां गते ॥ ५ ॥
खे वासरचतुर्भागदेशे दिनकरे स्थिते ।
किञ्चिज्ज्ञानोदयात्सौम्ये किञ्चिच्छममुपेयुषि ॥ ६ ॥
श्रवणायेव संशान्ते वितानस्पन्दमालिते ।
मौनं मरुति मन्दारमधुरामोददायिनि ॥ ७ ॥

१

महर्षि वाल्मीकिजी ने कहा—उपशम-प्रकरण के श्रवण के बाद जिसका ज्ञान हो जाने पर मोक्षरूप फल होता है उस निर्वाण-प्रकार का श्रवण कीजिए ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठ के उस प्रकार के गम्भीर अर्थ के प्रतिपादक वचन के एकमात्र श्रवण के आनन्द में विभोर राजकुमार मौन होकर अवस्थित थे ॥ २ ॥

महामुनि वसिष्ठजी की वाणी और उससे प्रतिपादित अर्थों का मन में धारण कर राजे लोग, जिन्होंने मानस बाह्यार्थालोचन और शारीरिक चेष्टा का परित्याग कर दिया था, निश्चेष्ट होकर चित्रार्पित की तरह अवस्थित थे ॥ ३ ॥

महामुनि वसिष्ठजी द्वारा उपदिष्ट वाक्यों का बड़े आदर के साथ ऊपर उठाई गई तर्जनी के विलक्षण अभिनय तथा भ्रूभङ्गपूर्वक श्रोता मुनिगण विचार कर रहे थे ॥ ४ ॥

परम आश्चर्यमय प्रत्यगात्मा के अवलोकन में अतिहर्ष के कारण विकसित नेत्र मलिन्द वाला पुरन्ध्रि समूह ने पुष्परसास्वादन में आसक्त भ्रमरों से युक्त कम्पन और शब्द से शून्य तरुमञ्जरीस्वरूपता प्राप्त कर लिया था ॥ ५ ॥

आकाश में जिस प्रदेश में दिवस का अवशिष्ट चतुर्थ भाग मात्र लक्षित हो रहा था, उस प्रदेश में मानो वसिष्ठोपदेश का श्रवण करने के लिए सूर्य भगवान् अवस्थित थे; मानो वे कुछ ज्ञानोदय से सौम्य दृष्टिप्रिय और मानो कुछ ताप का उपशम प्राप्त किये हुए प्रतीत हो रहे थे ॥ ६ ॥

मुनि के द्वारा एकत्रित श्रवण के हेतु कुसुमवितानों के संस्पन्दन से माला युक्त मन्दार की मधुर सुगन्ध देने वाले पवन मौन होकर बह रहा था ॥ ७ ॥

पुष्पदामसुषुप्तासु महाभ्रमरपङ्क्तिषु ।
ज्ञातज्ञेयतया नूनं सम्यग्ध्यानवतीष्विव ॥ ८ ॥
मुक्ताजालकलापान्तर्गतास्वन्तरभूमिषु ।
कचत्यपगतस्पन्दं तोये श्रोतुमिवाऽऽस्थिते ॥ ९ ॥
गृहान्तरं प्रविष्टेषु गवाक्षे दूरमंशुषु ।
विश्रामार्थमिवाऽऽदीर्घं नभःपान्थेषु शीतलम् ॥ १० ॥
मुक्ताजालप्रभाजालभस्मनोद्धूलितात्मनि ।
शंसतीव शमं शाम्यद्दिनदेहे दिवातपे ॥ ११ ॥
करे लीलासरोजेषु शेखरेषु च भूभृताम् ।
श्रुत्वा सुरसमामोदादवृत्तिषु मनःस्विव ॥ १२ ॥
बालकेष्वज्ञलोकेषु लीलापक्षिषु सादरम् ।
भोजनार्थं वधूलोकमुपरुन्धत्स्वनारतम् ॥ १३ ॥
भ्रमद्भ्रमरपक्षोत्थवातधूतरजस्यलम् ।
कौमुदे परिविश्रान्ते चामरेष्वक्षिपक्ष्मसु ॥ १४ ॥

तत्त्वज्ञान अर्थात् ज्ञातव्यज्ञान हो जाने के कारण निश्चय ही मानो उत्तम ध्यान कर रही बड़े-बड़े भ्रमरों की पंक्तियाँ पुष्प पंक्तियों के ऊपर सो रही थीं ॥ ८ ॥

मुक्तामय जालाकर वापी वेष्टनों के मध्य में भूमि प्रदेश में जल श्रवण के लिए मानो उत्कण्ठा से स्पन्द रहित होकर मुक्ता आदि की प्रभा से प्रकाशित हो रहा था ॥ ९ ॥

देशत: और कालत: अपरिच्छिन्न आकाशमार्ग की चिरकालिक दीर्घ प्रवास से श्रान्त सूर्यरश्मियाँ जब शीतल घर के अन्दर श्रवणशाला में विश्राम के लिए गवाक्ष मार्ग में प्रविष्ट हो रही थीं ॥ १० ॥

शान्त हो रहे मोतियों के समूहों के प्रभाजालमय भस्म से धूलित स्वरूप श्रवणशाला के अन्दर प्रविष्ट तपस्वी दिवस के शरीरभूत दिवातप अपने भीतर मानो शान्ति गुण सूचित कर रहा था ॥ ११ ॥

राजाओं के हाथों में तथा सिर के ऊपर लगाये गये लीला-कमल उत्तम रस से परिपूर्ण वसिष्ठ जी के उपदेश को सुनकर आनन्द के आविर्भाव से श्रोताओं के मनों की तरह मानो निमीलनोन्मुख हो रहे थे ॥ १२ ॥

अज्ञानी बालकों को तथा पिजड़े में स्थित शुक आदि पक्षियों को आदरपूर्वक भोजन देने के लिए वधूजन त्वरित हो रहा था ॥ १३ ॥

चक्कर काट रहे भ्रमरों के पंखों से उत्थित वायु से उड़ाई गई थोड़े विकास युक्त कुमुद सम्बन्धी धूलि चामर और आँख की बरौनी पर भली प्रकार चारों ओर विश्रान्त हो चुकी थी ॥ १४ ॥

रश्मिष्वगगुहोन्मुक्तच्छायाजालभयादिव ।
गवाक्षादिष्विवोड्डीय प्रविष्टेषु गृहान्तरम् ॥ १५ ॥
आसीद्दिनचतुर्भागसत्तावेदनतत्परः ।
भेरीपटहशङ्खानां दिङ्मुखापूरको ध्वनिः ॥ १६ ॥
तेन तत्तारमप्याशु वचोऽन्तर्धानमाययौ ।
मौनं जलदनादेन मायूर इव निःस्वनः ॥ १७ ॥
आक्षुब्धा क्षुब्धपक्षालिः पञ्जरस्था खगावली ।
भूकम्पे तरसा तालीपल्लवेव वनावली ॥ १८ ॥
आययुर्भयवित्रस्ता बाला धात्रीकुचान्तरम् ।
सारवं प्रावृषीवाऽब्दाः प्रोन्नतं शृङ्गकोटरम् ॥ १९ ॥
उत्तस्थुरवतंसेभ्यो भूभृतां भ्रमरस्रजः ।
ईषत्करालवाहाभ्यः सरिद्भ्योऽम्बुकणा इव ॥ २० ॥
एवं प्रक्षुभिते तस्मिन्गृहे दाशरथे तदा ।
प्राप्ते वासरवृद्धत्वे शान्तशङ्खस्वने शनैः ॥ २१ ॥

पर्वत की गुफाओं से निकले हुए छाया समूह रूपी अन्धकार के भय से मानो उड़ कर गवाक्ष द्वारों में आश्रय के लिए सूर्यरश्मियाँ घर के भीतर प्रविष्ट हो रही थीं ॥ १५ ॥

उस समय दिन के चतुर्थ भाग का सूचन करने में तत्पर दिशाओं के मुखों को पूर्ण कर देने वाली भेरी और शंख की ध्वनि हुई ॥ १६ ॥

उस ध्वनि से मुनि वसिष्ठजी का उन्नत भी स्वर वैसे ही तिरोहित हो गया जैसे मेघों के नाद से मयूरों का शब्द हो जाता है ॥ १७ ॥

वैसे ही उस ध्वनि से पिजड़े में स्थित पक्षी क्षुब्ध पंखों से युक्त होकर चारों ओर से क्षुब्ध हो गये जैसे भूकम्प होने पर वेगपूर्वक तालपल्लवों से युक्त वन-पंक्तियाँ चारों ओर से क्षुब्ध हो जाती हैं ॥ १८ ॥

उस समय भय से त्रस्त्र बालक धात्रियों के स्तनमध्य में रोते हुए वैसे ही लिपट गये, जैसे वर्षाकालीन मेघ उन्नत शिखर के कोटर में लिपट जाते हैं ॥ १९ ॥

जैसे क्षुब्ध हुए प्रवाह से युक्त नदियों से जलकण उड़ते हैं, वैसे ही उस ध्वनि से राजाओं के शिरोभूषणों से पुष्पधूलि से गौरवर्ण भ्रमरों की परम्पराएँ उड़ने लगीं ॥ २० ॥

महाराज दशरथ के घर के उस प्रकार प्रक्षुब्ध होने पर, चतुर्थ वय में दिवस के प्राप्त होने पर तथा धीरे-धीरे शङ्खध्वनि के शान्त होने पर प्रस्तुत विषय का उपसंहार

संहरन्प्रस्तुतं वस्तु वचो मधुरवृत्तिमत् ।
उवाच मुनिशार्दूलः सभामध्ये रघूद्वहम् ॥ २२ ॥
राघवाऽनघ वाग्जालं मयैतत्प्रविसारितम् ।
तेन चित्तखगं बध्वा क्रोडीकृत्याऽऽत्मतां नय ॥ २३ ॥
कच्चिद् गृहीतो भवता मग्दिरामर्थ ईदृशः ।
त्यक्त्वा दुर्बोधमक्षीणो हंसेनेवाऽम्भसः पयः ॥ २४ ॥
विचार्यैतदशेषेण स्वधियैवं पुनः पुनः ।
अनेनैव पथा साधो ! गन्तव्यं भवताऽधुना ॥ २५ ॥
अनयैव धिया राम ! विहरन्नैव बध्यसे ।
अन्यथाऽधः पतस्याशु विन्ध्यखाते यथा गजः ॥ २६ ॥
सुगृहीतं धिया राम ! मद्वचो न करोषि चेत् ।
तत्पतस्यवटे त्यक्तदीपो वाऽन्धो निशास्विव ॥ २७ ॥
असङ्गेन यथाप्राप्तो व्यवहारोऽस्य सिद्धये ।
इत्येव शास्त्रसिद्धान्तमादायोदारवान् भव ॥ २८ ॥
हे सभ्या ! हे महाराज ! रामलक्ष्मणभूमिपाः ! ।

करते हुए मुनियों में सिंहरूप महाराज श्रीवसिष्ठ जी सभा के बीच में रघुकुल श्रेष्ठ मधुरवृत्ति वाली वाणी कहने लगे ॥ २१, २२ ॥

हे निष्पाप राघव ! मेरे द्वारा कहे गये इस तत्त्वोपदेश के रूप में कथित वचनों उनसे चित्तरूपी पक्षी को बाँधकर तथा हृदय में रोक कर आत्मरूपता प्राप्त की ॥ २३ ॥

जैसे हंस दूध से मिश्रित जल में से जल का परित्याग कर दूध का ग्रहण करता है वैसे ही मेरी वाणी के अविनाशी अर्थ का आपने क्या ग्रहण किया है ॥ २४ ॥

हे साधो ! अपनी बुद्धि से इसका आद्योपान्त बारबार विचार कर पहले उपदिष्ट वासनाक्षय, मनोनाश, प्राण-निरोध तथा ज्ञानाभ्यासरूपी मार्ग से ही अब आपको बढ़ना चाहिए ॥ २५ ॥

हे श्रीरामजी ! इस बुद्धि से विहार कर रहे आप कभी-भी बद्ध नहीं होंगे । इस वृत्ति का परित्याग कर आप अन्य मार्ग से व्यवहार करने पर जैसे विन्ध्याद्रि के गर्त में हाथी का अधःपतन होता है वैसे ही आप का अधः-पतन हो जायेगा ॥ २६ ॥

हे श्रीरामभद्र ! बुद्धि से गृहीत मेरे अर्थ के अनुसार कार्य नहीं करते तो अवश्य ही आप वैसे ही नीचे गर्त में गिर जायँगे । जैसे अगृहीतदीप तथा अन्ध पुरुष रात्रि में गर्त में गिर जाता है ॥ २७ ॥

मेरे द्वारा कथित अर्थ की सिद्धि के आप असङ्ग होकर समयानुसार प्राप्त व्यवहार का परिपालन करें

सर्व एव भवन्तोऽद्य तावद्व्यापारमाह्निकम् ॥ २९ ॥
कुर्वन्त्वयं हि दिवसः प्रायः परिणताकृतिः ।
शेषं विचारयिष्यामो विचार्यं प्रातरागताः ॥ ३० ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्ता मुनिना तेन सा सर्वैव तदा सभा ।
प्रोत्तस्थौ पद्मवदना सविकासेव पद्मिनी ॥ ३१ ॥
राजानः स्तुतराजानः कृतराघववन्दनाः ।
परिष्टुते वसिष्ठे ते जग्मुरात्मनिवेशनम् ॥ ३२ ॥
विश्वामित्रेण सहितो वसिष्ठो गन्तुमाश्रमम् ।
उत्तस्थावासनाच्छ्रीमान्नमस्कृतनभश्चरः ॥ ३३ ॥
दशरथप्रभृतयो राजानो मुनयस्तथा ।
यथानुरूपं वक्तारमनुगम्य मुनिं चिरम् ॥ ३४ ॥
आपृच्छ्य केचिद्गगनं ययुः केचिद्वनान्तरम् ।
केचिद्राजगृहं सन्तो भृङ्गाः पद्मोत्थिता इव ॥ ३५ ॥

समस्त शास्त्रों के परम तात्पर्य विषय सिद्धान्त का मन में दृढ़ी कर आप अपरिच्छिन्न आत्मबोध से सम्पन्न हों ॥२८॥

हे सभ्यगण ! हे महाराज ! हे रामजी, लक्ष्मण तथा अन्य नृपवर्ग ! आप सभी आज अपने-अपने आह्निक कर्मों का अनुष्ठान करें ॥ २९ ॥

प्रायः आज का दिन समाप्त हो रहा है, जो अविशिष्ट विचार है—उसका, प्रातःकाल सभा में आप लोगों के आने पर हम लोग विचार करेंगे ॥ ३० ॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—महर्षि वसिष्ठजी द्वारा इस प्रकार कहने पर वह पद्ममुख वाली सभा उठ खड़ी हुई, अतएव वह विकास युक्त कमलिनी के समान भली मालूम पड़ती थी ॥ ३१ ॥

अन्यान्य राजाओं ने महाराज दशरथ की स्तुति की, श्रीरामचन्द्रजी को नमस्कार किया तथा महर्षि वसिष्ठ की खूब स्तुति की और वे अपने-अपने आश्रम में चले गये ॥ ३२ ॥

आकाशचारी देवताओं को वन्दना कर महाराज वसिष्ठजी विश्वामित्र महर्षि के साथ आश्रम जाने के लिए आसन से उठे ॥ ३३ ॥

दशरथ आदि राजगण तथा मुनि लोग अपने अनुरूप उपदेष्टा मुनि वसिष्ठजी के पीछे-पीछे आश्रम पर्यन्त गये ॥ ३४ ॥

उनकी आज्ञा लेकर कोई आकाश की ओर, कोई अरण्य की ओर, कोई राजमन्दिर की ओर कमल से उठे हुए भ्रमरों की तरह चले गये ॥ ३५ ॥

वसिष्ठपादयोस्त्यक्त्वा पुष्पाञ्जलिमनाविलम् ।
दारैरनुगतो राजा प्रविवेश गृहान्तरम् ॥ ३६ ॥
रामलक्ष्मणशत्रुघ्नाः प्राप्तस्य स्वाश्रमं गुरोः ।
अभ्यर्च्य चरणौ भक्त्या त्वाजग्मुर्नृपमन्दिरम् ॥ ३७ ॥
सदनानि समासाद्य श्रोतारः सर्व एव ते ।
सस्नुरानर्चुरभ्येयुर्देवान्विप्रान्पितॄंस्तथा ॥ ३८ ॥
यथाक्रमं स्वभृत्यान्तैर्विप्राद्यैश्च परिच्छदैः ।
समं बुभुजिरे भोज्यं वर्णधर्मक्रमोदितम् ॥ ३९ ॥
अस्तं गते दिनकरे समं दिवसकर्मभिः ।
अभ्यागते रात्रिकरे समं रजनिकर्मभिः ॥ ४० ॥
स्थित्वा तल्पेषु कौशेयशयनेष्वासनेषु च ।
भूचरा मुनिराजानो राजपुत्रा महर्षयः ॥ ४१ ॥
संसारोत्तरणोपायं वसिष्ठवदनेरितम् ।
यथावदेकाग्रधियश्चिन्तयामासुरादृताः ॥ ४२ ॥
ततः प्रहरमात्रेण निद्रामामुद्रितानना: ।
उत्स्वप्नसुन्दरीमीयुः पद्मा इव दिनार्थिनः ॥ ४३ ॥
रामलक्ष्मणशत्रुघ्नाः प्रहरत्रयमेव तत् ।
वासिष्ठमुपदेशं ते चिन्तयामासुरक्षतम् ॥ ४४ ॥
प्रहरस्यार्धमात्रं ते तत आमुद्रितेक्षणाः ।
उत्स्वप्नमाययुर्निद्रां क्षणाद्विद्रावितश्रमाम् ॥ ४५ ॥
इति शुभमनसां विवेकभाजा-
मधिगतसारतयोदिताशयानाम् ।
अभजत विरतिं तदा त्रियामा
मलिननिशाकरवक्त्रतां जगाम ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
दिवसव्यवहारवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

महर्षि वसिष्ठजी के चरणों में निर्मल पुष्पों की अंजलि समर्पित कर भार्याओं से अनुगत महाराज दशरथ जी, अपने राजमहल के भीतर प्रवष्टि हुए ॥ ३६ ॥

श्रीराम लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न अपने आश्रम में उठाए हुए गुरुजी के चरणों की भक्तिपूर्वक पूजा कर दशरथ के मन्दिर की ओर आ गये ॥ ३७ ॥

अपने स्थान में आकर उन श्रोताओं ने स्नान किया, देवता और पितरों की पूजा की तथा विप्र और अतिथियों के अभिमुख हो—अभिगमन आदि से पूजन के लिए उनका स्वागत किया ॥ ३८ ॥

इन क्रियाओं से निवृत्त श्रोताओं ने ब्राह्मण आदि से लेकर नौकर तक अपने-अपने परिवारों के साथ वर्ण-धर्म के क्रमानुसार भोज्य पदार्थों का भोजन किया ॥ ३९ ॥

दैनिक क्रियाओं के साथ सूर्य भगवान् के अस्ताचल की ओर प्रस्थान कर तथा रात्रिक्रियाओं के साथ निशाकर के उदित होने पर कौशेय आस्तरणों से युक्त शय्याओं पर तथा आसानों पर बैठ कर भूमि पर बिहार करने वाले मुनि, राजागण, राजपुत्र तथा महर्षि लोग अतिशय आदर-पूर्वक वसिष्ठ महर्षि के वदन कमल से निर्गत संसार तरण के उपाय का यथावत् एकाग्र चित्त से विचार करने लगे ॥ ४०–४२ ॥

इसके बाद प्रहर मात्र में रात्रि के निर्गमन की अभिलाषाओं के कारण दिनार्थी कमल के सदृश वे सुन्दर स्वप्न से युक्त सो गये ॥ ४३ ॥

श्रीराम, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न इन तीनों भ्राताओं ने तीन प्रहर तक महर्षि के उपदेश का अनवरत विचार किया ॥ ४४ ॥

उन्होंने केवल आधे प्रहर दो घड़ी तक ही नयनों को मूँदकर उत्तम स्वप्न से युक्त तथा क्षणभर में श्रम का निवारण कर देने वाली निद्रा प्राप्त की। यहाँ पर सुन्दर स्वप्न युक्त निद्रा प्राप्त हुई—इस कथन का तात्पर्य भावी शुभ फल का सूचन करने में हैं ॥ ४५ ॥

इस प्रकार पवित्र मन वाले, विवेकी तथा आत्मतत्त्व प्रबोध के कारण विकास युक्त आशय वाले रामचन्द्र आदि की रात्रि के समस्त होने पर सूर्य किरणों के सम्बन्ध से मलिन निशाकर को ही अपना मुख बना लिया ॥ ४६ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
दिवसव्यवहारवर्णन नामक कुसुमलता का पहला सर्ग समाप्त हुआ ॥ १ ॥

२

श्रीवाल्मीकिरुवाच

ततः क्लिन्नेन्दुवदना पर्याकुलतमःपदा ।
क्षीयमाणा बभौ श्यामा विवेक इव वासना ॥ १ ॥
पूर्वे ध्वस्ततयाऽऽलोकं दृश्यमाने परेऽचले ।
शयालीकावतंसाभं तापको निकरो दधौ ॥ २ ॥
अवश्यायकणाकर्षी परामृष्टेन्दुमण्डलः ।
ज्योत्स्नाकवलनालोको बभौ प्राभातिकोऽनिलः ॥ ३ ॥
रामलक्ष्मणशत्रुघ्ना उत्थायाऽनुचरैः सह ।
ययुर्वन्दितसन्ध्यास्ते पुण्यं वासिष्ठमाश्रमम् ॥ ४ ॥
तत्र वन्दितसन्ध्यस्य निर्गतस्याऽपि सद्मतः ।
मुनेर्ववन्दिरे पादौ पदोर्दत्वाऽर्घ्यसन्ततिम् ॥ ५ ॥
क्षणात्तत्सदनं मौनं मुनिब्राह्मणराजभिः ।
हस्त्यश्वरथयानैश्च शनैर्नीरन्ध्रतां ययौ ॥ ६ ॥
अथाऽसौ मुनिशार्दूलस्तयैव सह सेनया ।
गृहं दाशरथं काले रामाद्यनुगतो ययौ ॥ ७ ॥
तत्रैनं पूर्वसम्बन्धः कृतसन्ध्यो महीपतिः ।
दूरमार्गं विनिर्गत्य पूजयामास सादरम् ॥ ८ ॥
पुष्पमुक्तामणिव्रातैर्भूयोऽत्यधिकभूषिताम् ।
सभां प्रविश्य ते सर्वे विविशुर्विष्टरालिषु ॥ ९ ॥
अथ तस्मिन्नवसरे ह्यस्तनाः सर्व एव ते ।
श्रोतारः समुपाजग्मुर्नभश्चरमहीचराः ॥ १० ॥
विवेश सा सभा सौम्या कृतान्योन्याभिवन्दना ।
बभौ राजसमाभोगा शान्तवातेव पद्मिनी ॥ ११ ॥
यथाप्रदेशमेवाऽऽशु निविष्टेषु यथासुखम् ।
तेषु तद्देशयोगेषु विप्रर्षिमुनिराजसु ॥ १२ ॥

२

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—अनन्तर जैसे विवेक का उदय होने पर चन्द्ररूपी मुख से तथा व्याकुल अन्धकार रूपी वासना मरणोन्मुखी हो जाती है वैसे ही पैरों से युक्त रात्रि मरणोन्मुखी हुई ॥ १ ॥

अनन्तर पूर्वाभिमुख मनुष्यों के द्वारा दिखाई पड़ने वाले पूर्वदिशास्थ पर्वतों के ऊपर शिखरों से प्रतिबद्ध होने के कारण उन शिखरों के भीतरी भागों से दण्डायमान प्रकाश निकल रहा था, वहाँ पर उन अन्तराल भागों से निकल रहे किरणों वाले सूर्य ने फैलाये गये हाथों के समान प्रकाश धारण किया है मानो पश्चिम दिशास्थ पर्वत पर, सूर्य ने मिथ्या कल्पित शिरोभूषण की तरह मानो आलोक धारण किया है ॥ २ ॥

अनन्तर बरफ के कणों का आकर्षण करने वाला, चन्द्र-मण्डल को आकृष्ट करने वाला तथा सूर्य रूपी अपनी चक्षु से निकले हुए आलोक से चन्द्रज्योत्स्नाओं को ग्रसित करने वाला प्रातःकालीन मन्द पवन सुशोभित हुआ ॥३॥

श्रीराम, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न अपने-अपने अनुचरों के साथ उठकर स्नान, सन्ध्या आदि कर्मों का अनुष्ठान कर महामुनि श्रीवसिष्ठजी के आश्रम पर चले गये ॥ ४ ॥

वहाँ सन्ध्या कर आश्रम से बाहर निकलने वाले महर्षि वसिष्ठजी के चरणों में उन्होंने अर्घ्यसन्तति प्रदान कर प्रमाण किया ॥ ५ ॥

क्षणभर में महर्षि वसिष्ठजी का आश्रम मुनियों, ब्राह्मणों और राजाओं से तथा हाथी, अश्व, रथ आदि अन्य यानों से इतना भर गया कि वहाँ तनिक भी स्थान नहीं रहा ॥ ६ ॥

अनन्तर राम आदि से अनुगत मुनियों में सिंहरूप महाराज वसिष्ठजी उस सेना के साथ ही यथासमय दशरथ जी के घर पर आ पहुँचे ॥ ७॥

वहाँ पर शीघ्रता से मिलने के उत्साह से सन्ध्या सम्पन्न कर महाराज दशरथ ने आदरपूर्वक दूर मार्ग में ही जाकर महर्षि का पूजन किया ॥ ८ ॥

पुष्पों, मोतियों तथा मणियों के समूहों से पहले की अपेक्षा पुनः अधिक सुसज्जित सभा में प्रविष्ट होकर वे श्रोतागण आसनों की पंक्तियों पर आ गये ॥ ९ ॥

अनन्तर उसी समय पहले दिन के वे आकाशचर, भूचर आदि श्रोता सब-के-सब आ गये ॥ १० ॥

परस्पर अभिवादन कर सभा बैठ गई, उस समय राजाओं के अनुरूप आकार-प्रकार वाली सौम्य वह सभा जिस प्रकार वायु के शान्त हो जाने पर कमलिनी सुशोभित होती है उस प्रकार सुशोभित हुई ॥ ११ ॥

जब सभामण्डप में ब्राह्मण आदि श्रोतागण के प्रविष्ट होने पर प्रत्येक दिन के लिए निश्चित अपने-अपने आसन के अनुसार बैठ गये ॥ १२ ॥

मृदुनि स्वागतरवे शनैः शममुपागते ।
सभाकोणोपविष्टेषु शान्तशब्देषु बन्दिषु ॥ १३ ॥
तरसैवोदितेष्वाशु श्रोतुमभ्यागतेष्विव ।
गवाक्षादिव जालेषु प्रविष्टेष्वर्करश्मिषु ॥ १४ ॥
सत्वरप्रविशच्छ्रोतृहस्तस्पर्शघटोद्भवे ।
मुक्ताजालझणत्कारे निद्रायामिव शाम्यति ॥ १५ ॥
कुमारः शङ्करस्येव कचो देवगुरोरिव ।
प्रह्लाद इव शुक्रस्य सुपर्ण इव शार्ङ्गिणः ॥ १६ ॥
वसिष्ठस्याऽऽनने रामः शनैर्दृष्टिं न्यवेशयत् ।
भ्रमन्तीमम्बरोपान्ते फुल्लपद्म इवाऽलिनीम् ॥ १७ ॥
मुनिस्त्वनुज्झितेनाऽथ तेनैव रघुनन्दनम् ।
क्रमेणोवाच वाक्यज्ञो वाक्यं वाक्यार्थकोविदम् ॥ १८ ॥

वसिष्ठ उवाच

कच्चित्स्मरसि यत्प्रोक्तं ह्यो मया रघुनन्दन ! ।

उनके परस्पर कोमल स्वागत शब्द शान्त हो गये, सभा के कोनों में स्थित बन्दिजनों के शब्द भी शान्त हो गये ॥ १३ ॥

मानो उदित सूर्यरश्मियाँ अतित्वरा से सुनने के लिए अभ्यागतों में गवाक्षों के द्वारा प्राप्त होकर प्रविष्ट हो गईं ॥ १४ ॥

जल्दी-जल्दी सभा में प्रवेश कर रहे श्रोताओं के अङ्गों के आघात से उत्पन्न मोतियों के समूह से युक्त भूषणों का झणत्कार निद्रा की तरह स्पन्दनशून्य हो गया ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने महाराज वसिष्ठ के आनन में, विकसित कमल में आकाश प्रान्त में विहरण करने वाली भ्रमरी की तरह दृष्टि वैसे ही धीरे लगाई जैसे शंकर के आनन में कुमारी की तरह देवगुरु के आनन में कच की तरह शुक्राचार्य के आनन में प्रह्लाद की तरह और भगवान् विष्णु के आनन में गरुड़ की तरह लगाई थी ॥१६-१७॥

अनन्तर वाक्यार्थ के विज्ञाता श्रीरघुनन्दन को वाक्य रचना में पटु महामुनि वसिष्ठजी, पहले से चले आ रहे क्रम से ही कहने लगे ॥ १८ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे रघुनन्दन ! सुन्दर पद्धति से अत्यन्त गहन सम्पन्न तथा परमार्थ के अवबोधक मेरे द्वारा कथित वाक्य का क्या आप स्मरण करते हैं ? ॥ १९ ॥

शत्रुनाशक श्रीरामभद्र, अब मोक्ष रूप नित्य फल की

वाक्यमत्यन्तगुर्वर्थं परमार्थावबोधनम् ॥ १९ ॥
इदानीमवबोधार्थमन्यच्च रिपुमर्दन ! ।
उच्यमानं मयेदं च शृणु शाश्वतसिद्धये ॥ २० ॥
वैराग्याभ्यासवशतस्तथा तत्त्वावबोधनात् ।
संसारस्तीर्यते तेन तेष्वेवाऽभ्यासमाहर ॥ २१ ॥
सम्यक्तत्त्वावबोधेन दुर्बोधे क्षयमागते ।
गलिते वासनावेशे विशोकं प्राप्यते पदम् ॥ २२ ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमदृष्टोभयकोटिकम् ।
एकं ब्रह्मैव हि जगत्स्थितं द्वित्वमुपागतम् ॥ २३ ॥
सर्वभावानवच्छिन्नं यत्र ब्रह्मैव विद्यते ।
शान्तं समसमाभासं तत्राऽन्यत्वं कथं भवेत् ॥ २४ ॥
इति मत्वाऽहमित्यन्तर्मुक्त्वा मुक्तवपुर्महान् ।
एकरूपः प्रशान्तात्मा साक्षात्स्वात्मसुखो भव ॥ २५ ॥
नाऽस्ति चित्तं न चाऽविद्या न मनो न च जीवकः ।
एताः स्वकलना राम ! कृता ब्रह्मण एव ताः ॥ २६ ॥

सिद्धि देने वाले मेरे द्वारा कहे जा रहे इस अन्य ज्ञान हेतु अर्थ का श्रवण करें ॥ २० ॥

वैराग्य के अभ्यास से तथा आत्मतत्त्व के विज्ञान से संसार को पार किया जाता है, अतः आप उन्हीं का अभ्यास करने में लग जाएँ ॥ २१ ॥

सम्यक् तत्त्व के अवबोध से अज्ञान का क्षय हो जाने तथा वासना-संस्थान का विनाश हो जाने पर शोकशून्य मोक्षपद प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

देशतः, कालतः और वस्तुतः इन त्रिविधि परिच्छेद से शून्य तथा देश और काल-निबन्धन पूर्व और अपर दोनों सीमाओं अर्थात् द्वैत के दर्शन से निर्मुक्त अद्वितीय परब्रह्म ही जगद्रूप से स्थित है, द्वित्व तो अज्ञानवश प्रतीत होता है ॥ २३ ॥

समस्त भावों से अनवच्छिन्न, शान्त तथा गोत्वादि धर्मों में भी अनुगत एक रूप में भासमान ब्रह्म का अस्तित्व सर्वोपरि विराजमान रहने पर उस अवस्था में द्वैत कैसे रह सकता है ॥ २४ ॥

उस ब्रह्मस्वरूप का निश्चय कर और 'अहम्' अभिमान का परित्याग कर आप मुक्त शरीर, महान्, एक रूप, प्रशान्तात्मा तथा साक्षात् उत्तम आत्मस्वरूप हो जाएँ ॥ २५ ॥

हे रामजी ! चित्त नहीं है, अज्ञान नहीं है, मन नहीं है और जीव भी नहीं है, ये ब्रह्म की ही अपनी कल्पनाएँ हैं ॥ २६ ॥

याः सम्पदो याश्च दृशो याश्रितो यास्तदेषणाः ।
ब्रह्मैव तदनाद्यन्तमब्धिवत्प्रविजृम्भते ।। २७ ।।
पाताले भूतले स्वर्गे तृणे प्राण्यम्बरेऽपि च ।
दृश्यते तत्परं ब्रह्म चिद्रूपं नाऽन्यदस्ति हि ।। २८ ।।
उपेक्ष्यहेयोपादेयबन्धवो विभवा वपुः ।
ब्रह्मैव विगताद्यन्तमब्धिवत्प्रविजृम्भते ।। २९ ।।
यावदज्ञानकलना यावदब्रह्मभावना ।
यावदास्था जगज्जाले तावच्चित्तादिकल्पना ।। ३० ।।
देहे यावदहम्भावो दृश्येऽस्मिन्यावदात्मता ।
यावन्ममेदमित्यास्था तावच्चित्तादिविभ्रमः ।। ३१ ।।
यावन्नोदितमुच्चैस्त्वं सज्जनासङ्गसङ्गतः ।
यावन्मौर्ख्यं न संक्षीणं तावच्चितादिनिम्नता ।। ३२ ।।
यावच्छिथिलतां यातं नेदं भुवनभावनम् ।
सम्यग्दर्शनशक्त्याऽन्तस्तावच्चित्तादयः स्फुटाः ।। ३३।।

जो भोग रूप पदार्थ हैं, जो भोगार्थ व्यापार हैं, जो उनमें प्रमिबिम्बित चिदाभास हैं और जो उन भोगों की इच्छाएँ हैं—इन सब के रूप में आदि और अन्त से शून्य ब्रह्म ही समुद्र की तरह विजृम्भित होता है ।।२७।।

पाताल आदि देश में, स्वर्ग में, तृण आदि वस्तु में भूत, वर्तमान आदि काल में, प्राणी एवं आकाश में—सर्वत्र वह निरतिशय चिद्रूप ब्रह्म ही दिखाई पड़ता है क्योंकि दूसरा कुछ नहीं है ।। २८ ।।

उपेक्ष्य, हेय उपादेय, बन्धु, वैभव शरीर सभी रूपों में आदि और अन्त से शून्य परब्रह्म ही समुद्र की तरह विजृम्भित होता है ।। २९ ।।

अज्ञान की कल्पना रहने तक अब्रह्म की भावना है, चित्त आदि की कल्पना रहने तक ही जगज्जाल में आस्था रहती है ।। ३० ।।

तबतक कि चित्त आदि भ्रम रहता है जबतक देह में अहंभावना रहती है, जबतक इस दृश्य में आत्मरूपता रहती है, जब तक यह मेरा है, इस प्रकार की आस्था रहती है ।। ३१ ।।

जबतक पूर्णता का उदय नहीं होता है और जबतक सज्जनों के संसर्ग से मूर्खता का विनाश नहीं होता है चित्त आदि निम्न भाग की ओर तबतक जाते रहते हैं ।। ३२ ।।

तबतक विनष्ट रूप से चित्त आदि रहते हैं जबतक सम्यक् आत्मदर्शन के प्रभाव से यह जगत् की वासना शिथिल नहीं हो जाती ।। ३३ ।।

यावदज्ञत्वमन्धत्वं वैवश्यं विषयाशया ।
मौर्ख्यान्मोहसमुच्छ्रायस्तावच्चित्तादिकल्पना ।। ३४ ।।
यावदाशाविषामोदः परिस्फुरति हृद्वने ।
प्रविचारचकोरोऽन्तर्न तावत्प्रविशत्यलम् ।। ३५ ।।
भोगेष्वनास्थमनसा शीतलामलनिर्वृतेः ।
छिन्नाशापाशजालस्य क्षीयते चित्तविभ्रमः ।। ३६ ।।
तृष्णामोहपरित्यागान्नित्यशीतलसंविदः ।
पुंसः प्रशान्तचित्तस्य प्रबुद्धा त्यक्तचित्तभूः ।। ३७ ।।
अंसस्तुतमिवाऽनास्थमवस्तु परिपश्यतः ।
दूरस्थमिव देहं स्वमसन्तं चित्तभूः कुतः ।। ३८ ।।
भावितानन्तचित्तत्वरूपरूपान्तरात्मनः ।
स्वान्तावलीनजगतः शान्तो जीवादिविभ्रमः ।। ३९ ।।
असम्यग्दर्शने शान्ते मिथ्याभ्रमकरात्मनि ।
उदिते परमादित्ये परमार्थैकदर्शने ।। ४० ।।

तबतक चित्त आदि की कल्पना रहती है जबतक अन्धता और मूर्खता रहती है जबतक विषयाभिलाषा से विवशता रहती है एवं जबतक मूर्खतावश मोह का ढेर बना रहता है ।। ३४ ।।

तबतक उत्तम आत्म विचार रूपी चकोर भीतर घुसने नहीं पाता जबतक हृदय रूपी अरण्य में आशा रूपी विषगन्ध चारों ओर प्रसरणशील रहता है ।। ३५ ।।

उसका चित्तविभ्रम नष्ट हो जाता है जिसका अन्तः-करण भोगों में आस्था नहीं रखता, जिसको सुशीतल निर्मल पद प्राप्त हुआ है एवं जिसकी आशापाशसन्तति छिन्न-भिन्न हुई है ।। ३६ ।।

तृष्णारूपी मोह के परित्याग से अविनाशी सुशीतल आत्मज्ञान सम्पन्न तथा प्रशान्तचित्त पुरुष की आस्था से परित्यक्त चित्तभूमि प्रबोधरूपी फल से समन्वित रहती है ।। ३७ ।।

उपयोग से शून्य दूरवर्ती भ्रमात्मक पुरुषाकृति की तरह अवस्तुरूप अपनी देह की आस्था छोड़कर देख रहे पुरुष की चित्तोत्पत्ति कैसे होगी ? ।। ३८ ।।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा तन्मूलक आत्म-साक्षात्कार से परिष्कृत चिन्मात्रस्वरूप संसार प्रसिद्ध स्वरूप से आत्मस्वरूप बन जाने पर एवं अपने चित्त में ही जगत् में विलीन होने पर उसके जीव आदि निखिल भ्रम शान्त हो जाते हैं ।। ३९ ।।

मिथ्या भ्रम को उत्पन्न करनेवाले आत्म-अन्धकार का विनाश तथा परमार्थभूत आत्मज्ञानरूप उत्तम सूर्य का

अपुनर्दर्शनायैव दग्धसंशुष्कपर्णवत् ।
चित्तं विगलितं विद्धि वह्नौ घृतलवं यथा ॥ ४१ ॥
जीवन्मुक्ता महात्मानो ये परावरदर्शिनः ।
तेषां या चित्तपदवी सा सत्त्वमिति कथ्यते ॥ ४२ ॥
जीवन्मुक्तशरीरेषु वासना व्यवहारिणी ।
न चित्तनाम्नी भवति सा हि सत्त्वपदं गता ॥ ४३ ॥
निश्चेतसो हि तत्त्वज्ञा नित्यं समपदे स्थिताः ।
लीलया प्रभ्रमन्तीह सत्त्वसंस्थितिहेलया ॥ ४४ ॥
शान्ता व्यवहरन्तोऽपि सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः ।
नित्यं पश्यन्ति तज्ज्योतिर्न द्वैतैक्ये न वासना ॥ ४५ ॥
अन्तर्मुखतया सर्वं चिद्वह्नौ त्रिजगत्तृणम् ।
जुह्वतोऽन्तर्निवर्तन्ते मुनेश्चित्तादिविभ्रमाः ॥ ४६ ॥

उदय होने पर जैसे अग्नि में सूखा पत्ता या घी का अंश गिरने पर पुनः दर्शन नहीं देता वैसे ही चित्त विगलित होकर पुनः दर्शन नहीं देता है ॥ ४०-४१ ॥

सत्य एवं असत्य वस्तु का साक्षात्कार सम्पन्न जीवन्मुक्त महात्मा जल के सूख जाने पर बालू में जल रेखा की तरह चित्त प्रचार रेखा को ही सत्त्व कहा जाता है ॥ ४२ ॥

जीवन्मुक्तों के शरीरों में व्यवहार करनेवाली वासना अब चित्तनाम की नहीं है, क्योंकि वह सत्त्वरूपता प्राप्त कर चुकी है ॥ ४३ ॥

चित्तवर्जित, सर्वदा परब्रह्मपद में अवस्थित, तत्त्वज्ञानी महात्मा सत्त्व में स्थिति हो जाने के कारण प्राप्त अनास्था से ही लीलावश व्यवहार करते हैं ॥ ४४ ॥

सत्त्ववृत्ति में अवस्थित तथा निगृहीतेन्द्रिय शान्त महात्मा लोग अद्वय ब्रह्मरूप ज्योति का सदा साक्षात्कार करते हैं, अतः उन्हें द्वैतता, एकता या वासना नहीं हो सकती है, क्योंकि ब्रह्मप्रकाश के साक्षात् अवलोकन से उनका बाध हो चुका है ॥ ४५ ॥

'मैं सर्वात्मक हूँ' इस अन्तर्मुखी आत्मभावना से समस्त त्रिजगत्-रूपी उपेक्षणीय तृण का चिदात्मक अग्नि में हवन करनेवाले महामुनि के चित्त आदि विभ्रम अतिक्रान्त हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

विवेक से विशुद्ध चित्त सत्त्व है, जैसे दग्ध हुआ बीज अङ्कुर नहीं देता वैसे ही विवेक निर्मल चित्त फिर मोहरूपी फल नहीं देता ॥ ४७ ॥

विमूढ मनुष्यों के भीतर वासना का चित्तशब्द से

विवेकविशदं चेतः सत्वमित्यभिधीयते ।
भूयः फलति नो मोहं दग्धबीजमिवाऽङ्कुरम् ॥ ४७ ॥
यावत्सत्वं विमूढान्तः पुनर्जननधर्मिणी ।
चित्तशब्दाभिधानोक्ता विपर्यस्यति बोधतः ॥ ४८ ॥
प्राप्तप्राप्यो भवान्नाम सत्वभावमुपागतम् ।
चित्तं ज्ञानाग्निना दग्धं न भूयः परिरोहति ॥ ४९ ॥
संरोहतीषणाविद्धं यथा परशुनाऽग्निना ।
न तु ज्ञानाग्निनिर्दग्धं प्रबोधविशदं मनः ॥ ५० ॥
ब्रह्मबृंहैव हि जगज्जगच्च ब्रह्मबृंहणम् ।
विद्यते नाऽनयोर्भेदश्चिद्घनब्रह्मणोरिव ॥ ५१ ॥
चिदन्तरस्ति त्रिजगन्मरिचे तीक्ष्णता यथा ।
नाऽतश्चेज्जगती भिन्ने तस्मात्सदसती मुधा ॥ ५२ ॥

व्यवहार होने तक पुनर्जन्म की हेतु होती है, तत्त्वज्ञान हो जाने पर तो वह सत्त्वरूप होकर उलटी हो जाती है अर्थात् जन्मनिवृत्तिरूप विपरीत कार्य करती है ॥ ४८ ॥

प्राप्तव्य वस्तु को प्राप्त कर आपका अन्तःकरण सत्त्वरूपता को प्राप्त है और ज्ञानरूप अग्नि से दग्ध हो हो गया है, अतः फिर वह अंकुरित नहीं हो सकता है ॥ ४९ ॥

पुत्र, वित्त और लोक की ईषणारूपी बीजशक्ति से युक्त अन्तःकरण पुनः जनन आदि के प्रति वैसे ही हेतु हो सकता है जैसे परशु से छिन्न अथवा अग्नि से दग्ध हुए भी तृण आदि यदि भीतर से बीज शक्ति से युक्त रहे तो उससे पुनः अंकुर आदि की उत्पत्ति होती है, परन्तु ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध हुआ एषणादि बीजशक्ति से शून्य तथा प्रबोध से निर्मल अन्तःकरण पुनः जनन का हेतु नहीं होता है ॥ ५० ॥

अज्ञानवश आरोपित रूप से ब्रह्म की ही अभिवृद्धि रूप जगत् है, ज्ञान से वास्तव ब्रह्म स्वरूप अभिवृद्धि वाला जगत् भी है तथा ब्रह्म और जगत् का केवल अज्ञानमात्रकृत भेद चिद्घन और ब्रह्म के भेद की तरह अज्ञान के नाश से नष्ट हो जाता है, इसलिए तत्त्वज्ञान होने पर अन्तःकरण प्रस्फुरित नहीं होता है ॥ ५१ ॥

चित् के अन्दर तीनों जगद् भी चिद्रूप से वैसे ही रहते हैं जैसे एकमात्र तीक्ष्णतारस से युक्त मिर्च के अन्दर तीक्ष्णता मरिचरूप से विद्यमान है, इसलिए तत्त्वदृष्टि से चित् और जगत् एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं, यही कारण है कि सदसदात्मक वस्तुप्ररोह और उसका प्रलय माया प्रयुक्त निरर्थक भ्रान्ति ही है ॥ ५२ ॥

शब्द शब्दार्थसंकेतवासनेह न संविदा ।
चिद्व्योमत्वादुभे भातस्त्यजाऽतः सदसन्मती ॥ ५३ ॥
अचिन्मयत्वान्नाऽसि त्वं स्वात्मा किमिव रोदिषि ।
अचिन्मयत्वे जगतामभावे कल्पनं कुतः ॥ ५४ ॥
चिन्मयं चेत्सदा सर्वं तच्चित्त्वं प्रविचारय ।
शुद्धं सत्वमनाद्यन्तं तत्राऽङ्ग कल्पना कुतः ॥ ५५ ॥
चिदात्माऽसि निरंशोऽसि पारावारविवर्जितः ।
रूपं स्मर निजं स्फारं माऽस्मृत्या संमितो भव ॥ ५६॥
तां स्वसत्तां गतः सर्वमसर्वं भावयोदयी ।
तादृग्रूपोऽसि शान्तोऽसि चिदसि ब्रह्मरूप्यसि ॥ ५७ ॥
चिच्छिलोदरमेवाऽसि नाऽसि नानाऽस्यथाऽप्यसि ।
योऽसि सोऽसि न सोऽसीव सदस्यसदसि स्वभाः ॥५८॥
यः पदार्थविशेषोऽन्तर्न त्वं न ह्येव सोऽस्ति ते ।
तदस्यतदसि स्वस्थश्चिद्घनाऽऽत्मन्नमोऽस्तु ते ॥ ५९ ॥
आद्यन्तवर्जितविशालशिलान्तराल-
संपीडचिद्घनवपुर्गगनामलस्त्वम् ।
स्वस्थो भवाऽऽजठरपल्लवकोशलेखा-
लीलास्थिताखिलजगज्जय ते नमस्ते ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे विश्रान्तिसुदृढीकरणं नाम द्वितीय सर्गः ॥ २ ॥

श्रौत और लौकिक व्यवहार में एक दूसरे से भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में ही अपना सङ्केत रखते हैं, इसलिए वक्ता और श्रोता की वासना ही भेद के आकार में भासमान होती है। 'सदसद्' शब्द उत्पन्न संवित् प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि असत्यरूप व्यावृत्ति शब्दार्थ नहीं हो सकती है और व्यावृत्ति पदार्थ का निरास होनेपर 'सदसद्' शब्द के वाच्यभूत दोनों अर्थ अव्यावृत्तानुगत चिदाकाशस्वरूप से ही परमार्थरूपतः भासित होते हैं, वही परमार्थ वस्तु शब्दार्थ है ॥ ५३ ॥

'त्वम्' शब्द से व्यवहृत होनेवाला सदसद्स्वभाव रामनामक स्वतः आत्मा नहीं है, क्योंकि शरीर चिन्मय नहीं है। समस्त जगत् का अचिन्मयत्व और अभाव निश्चित हो जाने पर आपको देह आदि की कल्पना ही कैसे हो सकती है ? ॥ ५४ ॥

चित्-व्यावृत्तिरूप केवल जाड्य अंश का परित्याग कर समस्त जगत् को सदा चिन्मय मानने पर तो आप चित्स्वरूप का भली प्रकार विचार करें। यदि आप उसके विषय में भली प्रकार विचार करने पर विशुद्ध, त्रिविध (कालकृत, देशकृत और वस्तुकृत) परिच्छेदों से शून्य तथा चिदेकरसस्वरूप ही हस्तगत होता है, ऐसी स्थिति में देह आदि अनर्थों की कल्पना ही कैसे हो सकती है ? ॥ ५५ ॥

अपने विशाल स्वरूप का आप स्मरण करें, चित्स्वरूप का विस्मरण कर आप परिच्छिन्न न हो जाएँ। आप अंशशून्य निरवयव तथा पारावार से वर्जित चिदात्मस्वरूप ही हैं ॥ ५६ ॥

उस परिपूर्ण चित्स्वभावस्थिति को प्राप्त कर आप सर्वातिशायी उत्तम आनन्द के लाभ आदि से महान् अभ्युदयवाले होकर परिच्छिन्न जगत् अपरिच्छिन्न पूर्ण स्वभाव है ऐसी भावना करें। आप वही परिपूर्णरूप शान्त चैतन्यरूप और ब्रह्मरूप हैं ॥ ५७ ॥

चित्-शिला के उदरस्वरूप ही आप हैं, नानाभावों के रूप में अवस्थित होने वाले आप नहीं हैं, अनेक भावों के बाध की अवधिरूप से अवशिष्ट रहनेवाले भी आप हैं, समस्त वाणी और मन की प्रवृत्ति के हेतु की जहाँ समाप्ति हो जाती है, वह भी आप ही हैं, तत्स्वरूप आप परोक्ष-से नहीं हैं, क्योंकि आप सदा स्वप्रकाशस्वरूप हैं ॥ ५८ ॥

सम्पूर्ण पदार्थों का व्यावृत्तिस्वरूप भीतर का परिच्छेद ही असत् होने के कारण असत्-पदार्थ है, असत्पदार्थरूप नहीं आप सत्स्वरूप हैं, 'सत्' शब्दार्थ ही असत्-व्यावृत्त सद्धर्मरूप से व्यावहारिक पुरुषों के द्वारा कल्प्यमान होने के कारण सत्ता कहा जाता है, वह आप में नहीं है, अतः असत्-स्वरूप है, यह कहा है। हे स्वस्वरूप में स्थित रहनेवाले चिद्घन ! आपको प्रणाम है ॥ ५९ ॥

आदि और अन्त से शून्य विशाल स्फटिकशिला के अन्तराल की तरह निबिड़ चिद्घन के सदृश स्वभाववाले आप दुःख आदि विक्रिया से रहित हैं, यह निश्चय कर स्वस्थ हो जाएँ। चारों ओर के विस्तार से युक्त आप के चित्-शिलारूपी जठर में प्रतिबिम्बित पल्लवकोश की तरह कल्पित माया की रेखा के समान वासना विशेषों में भन की कल्पना से स्थित अखिल जगत् वाले हे श्रीराम जी, आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ६० ॥

इस प्रकार ऋषी-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के निर्वाणप्रकरण में विश्रान्तिसुदृढीकरण नामक कुसुमलता का दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥ २ ॥

३

वसिष्ठ उवाच

भाविभूरितरङ्गाणां पयोवृन्दमिवाऽम्बुधौ ।
या चिद्वहत्यनन्तानि जगन्त्यनघ ! सो भवान् ॥ १ ॥
भव भावनया मुक्तो भावाभावविवर्जितः ।
चिदात्मन्संस्थिताः क्वेव वद ते वासनादयः ॥ २ ॥
जीवोऽयं वासनादीदमिति चित्कचति स्वतः ।
इतरोक्त्यर्थयोरत्र कः प्रसङ्गोऽङ्ग कथ्यताम् ॥ ३ ॥
महातरङ्गगम्भीरभासुरात्मचिदर्णवः ।
रामाभिधोर्मिस्तिमितः समः सौम्योऽसि व्योमवत् ॥४॥
यथा न भिन्नमनलादौष्ण्यं सौगन्ध्यमम्बुजात् ।
कार्ष्ण्यं कज्जलतः शौक्ल्यं हिमान्माधुर्यमिक्षुतः ॥ ५ ॥
आलोकश्च प्रकाशाङ्गादनुभूतिस्तथा चितेः ।
जलाद्वीचिर्यथाऽभिन्ना चित्स्वभावात्तथा जगत् ॥ ६ ॥
चितो न भिन्नोऽनुभवो भिन्नो नाऽनुभवादहम् ।
न मत्तो भिद्यते जीवो न जीवाद्भिद्यते मनः ॥ ७ ॥
मनसो नेन्द्रियं भिन्नं पृथग्देहश्च नेन्द्रियात् ।
न शरीराज्जगद्भिन्नं जगतो नाऽन्यदस्ति हि ॥ ८ ॥
एवं प्रवर्तितमिदं महच्चक्रमिदं चिरम् ।
न च प्रवर्तितं किञ्चिन्न च शीघ्रं च नो चिरम् ॥ ९ ॥
स्ववेदनमनन्तं च सर्वमेवमखण्डितम् ।
विद्यते व्योमनि व्योम न कस्मिंश्चिन्न किञ्चन ॥ १० ॥
शून्ये शून्ये समुच्छूनं ब्रह्म ब्रह्मणि बृंहितम् ।
सत्यं विजृम्भते सत्ये पूर्णे पूर्णमिव स्थितम् ॥ ११ ॥
रूपालोकमनस्कारान्कुर्वन्नपि न किञ्चन ।
ज्ञः करोत्यनुपादेयान्न ज्ञस्यैव हि कर्तृता ॥ १२ ॥

३

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे निष्पाप ! असंख्य भुवन वहन चैतन्यात्मक चित् वही आप वैसे ही हैं जैसे समुद्र में होने वाले असंख्य तरङ्गों का हेतु सामान्य जल का स्वरूप है ॥ १ ॥

भाव है और अभाव से रहित है इस प्रकार की कल्पना से शून्य होकर द्वैत भावना से निर्मुक्त हो जाएँ। हे चित्स्वरूप ! आप में वासना आदि कहाँ निवास करते हैं ? ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्रजी, यह जीव है, यह वासना है, इस प्रकार की प्रसिद्धि स्वतः चित् की ही होती है, अतः असत् शब्द और असत् अर्थ—इन दोनों की आपत्ति ही चिद्रूप वस्तु में कैसे हो सकती है ? यह कहें ? ॥ ३ ॥

राम नामक ऊर्मियों से प्रसन्न, एकरूप, आकाश की तरह सौम्य, बड़ी-बड़ी सृष्टि रूपी जललताओं से सघन तथा प्रकाशमय आत्म चैतन्य रूप समुद्र आप ही हैं। 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्नित्यानन्दे चिदात्मनि । इति रामपदेनाऽसौ परं ब्रह्माऽभिधीयते ॥' जिस नित्यानन्द चिदात्मा में योगी लोग निरन्तर रमण करते हैं, वह परब्रह्म राम पद से कहा जाता है ऐसी व्युत्पत्तिवाले अन्वर्थ राम आप ही हैं ॥ ४ ॥

चित्स्वभाव ब्रह्म से जगत् वैसे ही भिन्न नहीं है जैसे अग्नि से उष्णत्व भिन्न नहीं है, कमल से सौगन्ध्य भिन्न नहीं है, कज्जल से श्यामरूप भिन्न नहीं हैं, बरफ से शुक्ल रूप भिन्न नहीं है, इक्षु से माधुर्य भिन्न नहीं है, तेज से प्रकाश भिन्न नहीं है, चिति से वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य भिन्न नहीं है, जल से तरङ्ग भिन्न नहीं है ॥ ५-६ ॥

चिति से अर्थात् मूलाधिष्ठान ब्रह्म से अनुभव भिन्न नहीं है, अनुभव से मायावृत्ति में आरूढ़ चिदात्मा 'अहम्' से व्यष्टि-समष्टिरूप अहंकार से भिन्न नहीं है, 'अहम्' से जीव भिन्न नहीं है, जीव से मन भिन्न नहीं है, मन से इन्द्रिय भिन्न नहीं है, इन्द्रियों से देह भिन्न नहीं है, शरीर से=व्यष्टि देह से जगत् भिन्न नहीं है, जगत् से भिन्न अन्य पदार्थ नहीं है ॥ ७-८ ॥

यह दृश्यमान जगत्-रूपी चक्र चिति ने ही स्वरूप-भ्रम से अध्यास परम्परा से प्रवृत्त किया है, परमार्थ दृष्टि से कुछ भी स्वल्प या दीर्घ काल से प्रवृत्त नहीं किया है ॥ ९ ॥

यथार्थ में यह सब कुछ अनन्त विभागवर्जित स्व-चैतन्यरूप आकाश ही अपने में विद्यमान है और कुछ भी दूसरा नहीं है ॥ १० ॥

शून्य में शून्य बढ़ा है, ब्रह्म में ब्रह्म बढ़ा है, सत्य में सत्य का ही प्रकाशन हो रहा है और पूर्ण में पूर्ण की तरह अवस्थित है ॥ ११ ॥

अनुपादेय बुद्धि से बाह्य इन्द्रियों और मन के व्यापारों को कर रहा भी ज्ञानी कुछ भी नहीं करता है इसलिए वस्तुतः उसमें कर्तृता नहीं है ॥ १२ ॥

यदुपादेयबुद्ध्या च तद् दुःखाय सुखाय ते ।
भावाभावेन नाऽऽदेयमकर्तृ सुखदुःखयोः ॥ १३ ॥

यथा नानाऽप्यनानैव खं खे खानीति वाग्गणः ।
सार्थकोऽप्यतिशून्यात्मा तथाऽऽत्मजगतोः क्रमः ॥ १४ ॥

अन्तर्व्योमामलो बाह्ये सम्यगाचारचञ्चुरः ।
हर्षामर्षविकारेषु काष्ठलोष्टसमस्थितिः ॥ १५ ॥

य एवाऽतितरां शत्रुः सत्वरं मारणोद्यतः ।
तमेवाऽकृत्रिमं मित्रं यः पश्यति स पश्यति ॥ १६ ॥

समूलकाषं कषति नदीतट इव द्रुमम् ।
यः सौहृदं मत्सरं च स हर्षामर्षदोषहा ॥ १७ ॥

विषयों का उपादेयबुद्धि से ग्रहण करने पर वे ही आपके दुःख एवं सुख के लिए होंगे, उपादेयबुद्धि न होने पर कुछ भी ग्रहण करने योग्य नहीं रहता है। अगृहीत सुख या दुःख का उत्पादक नहीं होता है यह प्रसिद्ध है, इसलिए ज्ञानी पुरुष को सुख या दुःख की प्राप्ति नहीं हो सकती है ॥ १३ ॥

आत्मा और जगत् के क्रम के विषय में वैसे ही समझना चाहिए जैसे घट, पट, मठ आदि उपाधियों से अनेकरूप आकाश वास्तव में एकरूप ही है, नानारूप नहीं है, एवं आकाश में अनेक आकाश हैं, इस प्रकार के शब्द प्रयोग अत्यन्त शून्यार्थक होते हुए भी घट आदि उपाधियों के कारण सार्थक होते हैं ॥ १४ ॥

भीतर से आकाश की तरह आप निर्मल, बाहर से अपने वर्णाश्रमानुकूल सुन्दर आचरणों में निरत एवं हर्ष और अमर्ष के सम्पादक विकारों की सन्निधि में काष्ठ और लोष्ट के सदृश स्थितिवाले हो जाएँ ॥ १५ ॥

तत्क्षण मारने के लिए उद्यत अत्यन्त ही कठोर शत्रु को स्वाभाविक प्रियतम मित्र के रूप में जो देखता है, वही यथार्थ में देखनेवाला आत्मज्ञानी है ॥ १६ ॥

महात्मा सौहार्द और मात्सर्य को वेग से समूल उखाड़ फेंकने वाला हर्ष और अमर्ष रूपी दोषों का वैसे ही विनाश कर सकता है, जैसे तटवर्ती वृक्ष को नदी वेग से मूलोच्छेदनपूर्वक उखाड़ कर फेंक देती है ॥ १७ ॥

राग-द्वेष और उनके कार्यभूत विकारों के तत्त्व का विचार नहीं किया जाय, तो राग-द्वेष शून्य रूप से महात्मा भी राग-द्वेष युक्त ही है—ऐसा समझना चाहिए, क्यों कि

रागद्वेषविकाराणां स्वरूपं चेन्न भाव्यते ।
ततः सन्तोऽप्यसद्रूपाः सेविता अप्यसेविताः ॥ १८ ॥

यस्य नाऽहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १९ ॥

यन्नास्ति तस्य सद्भावप्रतिपत्तिरुदाहृता ।
मायेति सा परिज्ञानादेव नश्यत्यसंशयम् ॥ २० ॥

निःस्नेहदीपवच्छान्तो यस्याऽन्तर्वासनाभरः ।
तेन चित्रकृतेनेव जितं ज्ञेनाऽविकारिणा ॥ २१ ॥

यस्याऽनुपादेयमिदं समस्तं
पदार्थजातं सदसद्दशासु ।

राग-द्वेष का तत्त्व जाने बिना उनके मूल का उच्छेद न हो सकने के कारण उनको फिर राग-द्वेष की प्रसक्ति हो सकती है, उसका निवारण नहीं किया जा सकता, अतः ऐसे महात्माओं की सेवा करना भी असेवा ही है ॥१८॥

देह आदि अनात्म पदार्थों में अहंभावना जिस महात्मा को नहीं होती, और जिसकी बुद्धि राग-द्वेष आदि से युक्त नहीं रहती है वह महात्मा इन लोकों का विनाश भले ही करें तथापि वह न विनाशकर्ता है और न विनाश-जन्य दोष से आक्रान्त ही होता है ॥ १९ ॥

जिसका त्रिकाल में अस्तित्व शून्य की व्यावहारिकता का ज्ञान कराने के लिए 'माया' शब्द का प्रयोग किया गया है। वह माया एकमात्र आत्मज्ञान से ही निश्चित रूप से विनष्ट हो जाती है ॥ २० ॥

जिसका तैल आदि स्नेह से शून्य दीपक की तरह अनन्त वासना समूह विनष्ट हो जाने पर सब रागादि के के ऊपर विजय पाने वाला समझना चाहिए। यथार्थ में जय-विजय भी कल्पनिक हैं, अविकारी ज्ञान भी वैसे ही विजय पाता है जैसे चित्र में लिखित शत्रु के सिर का छेदन कर रहा चित्रित राजा अपने शत्रु पर विजय पाता है ॥ २१ ॥

ये समस्त भोग्य पदार्थ सत्-असत् अवस्थाओं में जिस महापुरुष को आविर्भाव-तिरोभाव की आवस्थाओं में, वैभव-द्रारिद्रय-अवस्थाओं में या आध्यारोप-अपवाद दशाओं में—मिथ्या अथवा तत्त्वतः आत्मरूप होने के कारण सदा प्राप्त होने से अनुपादेय होकर—उनकी प्राप्ति

न दुःखदाहाय सुखाय नैव विमुक्त एवेह स जीव एव ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मैक्यप्रतिपादनं नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

और अप्राप्ति-प्रयुक्त दुःख-दाह एवं सुख के हेतु नहीं होते, वह जीवित रहकर भी वास्तव में मुक्त ही है ॥ २२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में ब्रह्मैक्यप्रतिपादन नामक कुसुमलता का तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

४

वसिष्ठ उवाच

मनो बुद्धिरहङ्कार इन्द्रियादि तथाऽनघ ! ।
अचेत्यचिन्मयं सर्वं क्व ते जीवादयः स्थिताः ॥ १ ॥
एकेनैवाऽऽत्मना दत्ता नानातेयं महात्मना ।
यथैकेनैव चन्द्रेण तिमिराप्पात्रदर्पणैः ॥ २ ॥
भोगतृष्णाविषावेशो यदैवोपशमं गतः ।
तदैवमस्तमज्ञानमान्ध्यं ध्वान्तक्षयादिव ॥ ३ ॥
अध्यात्मशास्त्रमन्त्रेण तृष्णाविषविषूचिका ।
क्षीयते भावितेनाऽन्तः शरदा मिहिका यथा ॥ ४ ॥
मौर्ख्ये क्षीणे क्षतं विद्धि चित्तं राम ! सबान्धवम् ।
विलीनाम्बुधरे व्योम्नि जाड्यं शाम्यत्यविघ्नतः ॥ ५ ॥
अचित्तत्वं गते चित्ते क्षीयते वासनाभ्रमः ।
हारमुक्तासमावेशश्छिन्ने ! तन्ताविवाऽनघाँ ॥ ६ ॥
रघुनाथ ! विघाताय शास्त्रार्थं भावयन्ति ये ।
कृमिकीटत्वयोग्याय चेतसा संमिलन्ति ते ॥ ७ ॥
नवतामरसाकारकान्तलोचनलोलता ।
शान्ते मौर्ख्येऽक्षता वाते चलता सरसो यथा ॥ ८ ॥
स्थिरतामुपयातोऽसि भावाभावविवर्जितः ।
पदे परमविस्तारे नभसीव प्रभञ्जनः ॥ ९ ॥

४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे निष्पाप ! मन, बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रिय आदि सब कुछ विषयशून्य चित्स्वरूप होने से आपके जीव आदि कहाँ रहेंगे ? ॥ १ ॥

श्रीरामजी, एकमात्र महात्मा आत्मा ने ही अपनी सत्ता के संसर्गाध्यास से यह नाना रूपता वैसे ही प्राप्त कराई है, जैसे अकेला चन्द्रमा तिमिर नेत्र का रोग विशेष जलमात्र और दर्पणों के साथ सम्बन्ध विशेष से नाना रूपता की प्राप्त करता है ॥ २ ॥

प्रत्यगात्मा के साक्षात्कार से भोग-तृष्णा रूपी विष का आवेश विनष्ट हो जाने पर अज्ञान वैसे ही नष्ट हो जाता है, जैसे अन्धकार के नष्ट हो जाने पर चक्षु की अन्धता=विषयप्रकाशन में असमर्थता नष्ट हो जाती है ॥ ३ ॥

जैसे शरत् काल से पाला क्षीण हो जाता है वैसे ही भली प्रकार विचारित अध्यात्मशास्त्र रूपी विचार से तृष्णा विष रूपी महामारी क्षीण हो जाता है ॥ ४ ॥

मूर्खता का=अज्ञान का विनाश हो जाने पर सपरिवार चित्त अनायास नष्ट हो जाता है। जैसे आकाश में मेघ के शान्त हो जाने पर शैत्य अनायास नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

हे पापरहित ! चित् के अचित्तरूप हो जानेपर वासनाभ्रम वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे सूत्र के टूट जानेपर हार के मोतियों का सन्निवेश नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

हे श्रीरघुनाथ ! मेरे द्वारा कथित उपर्युक्त शास्त्रीय रहस्य की उपेक्षा कर उसके विनाश के लिए विपरीतरूप से भावना करनेवाला पुरुष वे कृमि, कीट आदि रूपता के हेतुभूत पाप के लिए राग आदि दोषों की उत्पादक बुद्धि के साथ अपना सम्बन्ध करते हैं ॥ ७ ॥

अज्ञान के नष्ट हो जाने पर स्त्री आदि के शरीर में दुर्बुद्धि से कल्पित नवीन कमल के सदृश मनोहर लोचनों की चंचलता वैसे ही नष्ट हो जाती है जैसे वायु के शान्त हो जानेपर तालाब की चंचलता नष्ट हो जाती है ॥ ८ ॥

आप भावाभाव की कल्पनाओं से निर्मुक्त होकर अत्यन्त विस्तृत परम पद में वैसे ही स्थिरता प्राप्त किये हुए हैं जैसे विस्तृत आकाश में प्रभञ्जन वायु स्थिरता प्राप्त किये रहता है ॥ ९ ॥

मन्ये मद्वचनैर्बोधमागतोऽसि रघूद्वह ! ।
विगताज्ञाननिद्रोऽन्तर्नृपतिः पटहैरिव ॥ १० ॥
सामान्ये च लगन्त्येव जने कुलगुरोर्गिरः ।
अत्युदारमतौ राम ! न लगन्ति कथं त्वयि ॥ ११ ॥
यत्रोपादेयवाक्यत्वं भावितं स्वेन चेतसा ।
मद्वचोऽन्तर्विशत्युच्चैस्तप्ते क्षेत्रे यथा पयः ॥ १२ ॥
वयमिह हि महानुभाव नित्यं
कुलगुरवो भवतां रघूद्वहानाम् ।
मदुदितमिदमाशु धार्यमार्य
शुभवचनं हृदि हारवत्त्वयेति ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे चित्ताभावप्रतिपादनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

हे रघूद्वह ! अब मैं यह मानता हूँ कि जैसे राजा बन्दिजनों के वाद्यविशेषों से निद्रामुक्त होकर जाग्रत् दशा प्राप्त करता है वैसे ही मेरे वचनों से आप अज्ञाननिद्रा का त्याग कर आत्मज्ञानरूपी प्रबोध प्राप्त किये हुए हैं ॥१०॥

जनसाधारण मनुष्यों में भी अपने कुलगुरु के वचन ज्ञान पैदा कर देते हैं, तब आपके सदृश विशाल बुद्धि वाले मनुष्यों में उनसे प्रतिपादित अर्थ का ज्ञान क्यों न हो जायेगा ? ॥ ११ ॥

अपनी बुद्धि से मुझमें उपादेयवाक्यता और आप्ततमता का निश्चय आपने कर लिया है, अतः जैसे तप्त क्षेत्र में जल प्रविष्ट हो जाता है वैसे ही मेरे वचन आपके हृदय के अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं ॥ १२ ॥

हे महानुभव ! मैं रघुकुल का उद्वहन करनेवाले आप लोगों का नित्य कुलगुरु हूँ, इसलिए आपको मेरे द्वारा कथित शुभ वचनों को बारबार दृढ़ निश्चय कर हृदय में, हार की तरह धारण करना चाहिए ॥ १३ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में चित्ताभावप्रतिपादन नामक कुसुमलता का चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

५

श्रीराम उवाच

अहो अहं गतश्चिरत्वं भवद्वाक्यार्थभावनात् ।
शान्तं जगज्जालमिदमग्रस्थमपि नाथ ! मे ॥ १ ॥
परामन्तः प्रयातोऽस्मि परमात्मनि निर्वृतिम् ।
दीर्घावग्रहसन्तप्तं वृष्ट्येव वसुधातलम् ॥ २ ॥
शाम्यामि शीतलाकारः सुखं तिष्ठामि केवलम् ।
प्रसादमनुयातोऽहं सरो निर्वारणं यथा ॥ ३ ॥
सम्यक्प्रसन्नमखिलं दिङ्मण्डलमिदं मुने ! ।
यथाभूतं प्रपश्यामि निर्नीहारमिवाऽधुना ॥ ४ ॥
जातोऽस्मि गतसन्देहः शान्ताशामृगतृष्णिकः ।
रागनीरागनिर्मुक्तो मृष्टजङ्गलशीतलः ॥ ५ ॥
आत्मनैवाऽन्तराऽऽनन्दं तत्प्राप्तोऽस्म्यन्तवर्जितम् ।
रसायनरसास्वादो यत्र नाथ ! तृणायते ॥ ६ ॥

५

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे नाथ ! आपके उपदेशों के अनुसन्धान से मैंने चिदेकरसपूर्ण आत्मरूपता प्राप्त कर ली, यह जगत्-रूपी जाल सामने रहते हुए भी विलीन हो गया है ॥ १ ॥

मैं आपके द्वारा की गई उपदेश-वृष्टि से वैसे ही भीतर से अत्यन्त शान्त हो गया हूँ जैसे चिरकाल से चले आ रहे वर्षाप्रतिबन्ध से ग्रीष्मादि से सन्तप्त पृथिवी तल वृष्टि से शान्त हो जाता है ॥ २ ॥

मैं एकमात्र उत्तम शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ और शान्त आनन्दित होकर सुखपूर्वक स्थित हूँ । मैं वैसे ही प्रसन्नता प्राप्त कर रहा हूँ जैसे विक्षुब्ध करनेवाले हाथियों से रहित सरोवर प्रसन्न रहता है ॥ ३ ॥

हे मुने ! अब कुहरे से शून्य दिङ्मण्डल की तरह भली प्रकार प्रसन्न यह समस्त जगत् यथार्थभूत सन्मात्र स्वरूप में प्रतीत हो रहा है ॥ ४ ॥

मैं सन्देहरहित हो गया हूँ, मेरी आशारूप मृगतृष्णा विलीन हो गई है, विषयसंसर्ग और उसके विरोधी वैराग्य-वृत्तियों से रहित हो गया हूँ तथा कुहरे और धूलि से शून्य शरत्कालीन जङ्गल की तरह स्वच्छ हो गया हूँ ॥५॥

हे नाथ ! मैं अपने आपसे ही अविनाशी उस आनन्द को प्राप्त हूँ, जहाँ पर अमृत का रसास्वाद भी तृण के समान नीरस होकर उपेक्षणीय हो जाता है ॥ ६ ॥

अद्याऽहं प्रकृतिस्थोऽस्मि
स्वस्थोऽस्मि मुदितोऽस्मि च ।
लोकारामोऽस्मि रामोऽस्मि
नमो मह्यं नमोऽस्तु ते ॥ ७ ॥
ते संशयास्ताः कलनाः सर्वमस्तं गतं मम ।
रात्रिवेतालसंसारः प्रभात इव भास्करे ॥ ८ ॥
निर्मले हृदि विस्तीर्णे सम्पन्ने हिमशीतले ।
मनो निर्वृतिमायातं सरसी शरदीव मे ॥ ९ ॥
कलङ्क आत्मनः कस्मात्कथं चेत्यादिसंशयः ।
नूनं निर्मूलतां यातो मृगाङ्काग्रे यथा तमः ॥ १० ॥
सर्वमात्मैव सर्वत्र सर्वदा भाविताकृतिः ।
इदमन्यदिदं चाऽन्यदित्यसत्कलना कुतः ॥ ११ ॥
कोऽभवं प्रागहं तादृक् तृष्णानिगडयन्त्रितः ।
अन्तराऽऽत्मानमेवेति विहसामि विकासवान् ॥ १२ ॥
आ इदानीं स्मृतं सम्यग्यथैष सकलोऽस्म्यसौ ।
यस्त्वद्वागमृतापूरस्नातेनाऽयमहं स्थितः ॥ १३ ॥
अहो नु विततां भूमिमधिरूढोऽस्मि पावनीम् ।
इहस्थ एव यत्राऽर्को न पातालमिव स्थितः ॥ १४ ॥
मह्यं सत्तामुपेताय भावाभावभवार्णवात् ।
नमो नित्यं नमस्याय जयाम्याऽऽत्मात्मनाऽऽत्मनि॥१५॥
अनुभववशतो हृदब्जकोशे
स्फुटमलितां समुपागतेन नाथ ! ।
तव वरवचसेह वीतशोकां
चिरमुदितां च दशामुपागतोऽस्मि ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे राघवविश्रान्तिवर्णनं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

आज मैं अपने पारमार्थिक स्वभाव में स्थित हूँ, स्वस्थ हूँ, प्रसन्न हूँ, लोक जहाँ विश्रान्ति करते हैं, उस सुख का स्वरूपभूत मैं हूँ, मैं अन्वर्थ राम हूँ, अन्वर्थ रामस्वरूप को तथा उसके दर्शक आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ७ ॥

जैसे रात्रि में बालक की भ्रान्ति से कल्पित वेताल का संचरण प्रभात का उदय होनेपर शान्त हो जाता है वैसे ही मेरे वे संशय, वे सब कल्पनाएँ अस्तंगत हो गई हैं ॥ ८ ॥

हृदय के निर्मल, विस्तीर्ण और हिम की तरह शीतल हो जानेपर, शरत् काल में महान् सरोवर के सदृश मेरे अन्तःकरण ने विक्षेपरहित सुख को प्राप्त किया है ॥ ९ ॥

चिदेकरस आत्मा में अज्ञान आदि कलङ्क किस निमित्त से कैसे आये, वे स्वप्रकाश आत्मा में किस तरह रह सकते हैं ? वे असङ्ग अपरिच्छिन्न आत्मा को कैसे आवृत कर सकते हैं ? कूटस्थ आत्मा को सांसारिक विकारों का अनुभव कैसे होता है ? इत्यादि संशय उसके हेतु अज्ञान के विनाश से निश्चितरूप से विनष्ट हो गये हैं ॥ १० ॥

सदा स्फुरणाकार आत्मा ही सर्वत्र विद्यमान है, सब कुछ इस प्रकार के आत्मा का ही स्वरूपभूत है, यह दूसरा है, यह उसकी अपेक्षा दूसरा है इत्यादि असत् कल्पनाएँ कहाँ से आई ? ॥ ११ ॥

ज्ञानी होकर मैं अनुभूयमान सर्वधर्मातीत आत्मा को ही छोड़कर दूसरा मैं पहले उस प्रकार की तृष्णारूपी बेड़ियों से नियन्त्रित कौन था इस प्रकार स्मरण कर हँसता हूँ ॥ १२ ॥

अहो ! आपके अमृतप्रवाहों से स्नात यह मैं परमार्थरूप से जैसा था, वह सब मैं ही हूँ। इस प्रकार स्मरण करता हूँ ॥ १३ ॥

अहो ! मैं यहीं रहकर किसी अपरिच्छिन्न ब्रह्मलोक की भूमिपर अधिरूढ हूँ, जहाँ पर सूर्य पाताल में स्थित की तरह अत्यन्त अधःस्थित की तरह नहीं रहता, कार्य ब्रह्मलोक से सूर्य अधःस्थित होता है, न कि परब्रह्मलोक से ॥ १४ ॥

मैंने भावाभावरूप संसार-समुद्र पाकर उसके पारभूत सर्वाधिष्ठान सन्मात्ररूप ब्रह्म को प्राप्त कर लिया है। मैं अपने आपसे अपनी महिमा में सबसे बढ़चढ़कर विद्यमान हूँ, अतः सदा सबके नमस्कार योग्य अहंस्वरूप आत्मा को नमस्कार है ॥ १५ ॥

हे नाथ ! अपने हृदयकमल के कोश में भ्रमर के समान सुस्थिर आपके सुन्दर विस्पष्ट वचनामृतों से मैंने इसी देश और काल में स्वकीय अनुभववश शोकशून्य, चिरकाल से सदा उदित और मुदित जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त कर लिया है ॥ १६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय के निर्वाणप्रकरण में राघवविश्रान्तिवर्णन नामक कुसुमलता का पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

६

वसिष्ठ उवाच

भूय एव महाबाहो ! शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
भेदमभ्युपगम्याऽपि शृणु बुद्धिविवृद्धये ।
भवेदल्पप्रबुद्धानामपि नो दुःखिता यथा ॥ २ ॥
यस्याऽज्ञानात्मनोऽज्ञस्य देह एवाऽऽत्मभावना ।
उदितेति रुषैवाऽक्षरिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥ ३ ॥
यस्य ज्ञानात्मनो ज्ञस्य सत्येवाऽऽत्मनि संस्थितिः ।
सन्तुष्टचैवाऽक्षसुहृदो न घ्नन्ति तमनिन्दितम् ॥ ४ ॥
पदार्थे स्फुरतो यस्य न स्तुतिर्निन्दनादृते ।
स देहं देहदुःखार्थमादत्ते केन हेतुना ॥ ५ ॥
नाऽऽत्मा शरीरसम्बन्धी शरीरमपि नाऽऽत्मनि ।
मिथो विलक्षणावेतौ प्रकाशतमसी यथा ॥ ६ ॥
सर्वैर्भावविकारैस्तु नित्योन्मुक्तस्त्वलेपकः ।
नाऽऽत्माऽऽस्तमेति भगवन्न चोदेति सदोदितः ॥ ७ ॥
जडस्याऽज्ञस्य तुच्छस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः ।
शरीरकोपलस्याऽस्य यद्भवत्यस्तु तत्तथा ॥ ८ ॥
आदत्ते तत्कथं नित्यं चिन्मयत्वं सदोदितम् ।
ययोरेकपरिज्ञाने जडतैवाऽपरस्थिता ॥ ९ ॥

६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे महाबाहो ! अब पुनः आप मेरे उत्तम वचनों का श्रवण करें, जिन्हें मैं उपदेश के तात्पर्य विषय निरतिशयानन्द रूप आत्मा के अनुभव रूपी प्रीति-भाजन आप से सब जनों के हित के लिए कहता हूँ ॥ १ ॥

भेद को स्वीकार कर बोध की अभिवृद्धि के लिए आप श्रवण में प्रवृत्ति करें। अल्पज्ञान वालों की भी इससे संसारिता की प्राप्ति नहीं होगी—अर्थात् आपके ज्ञान की वृद्धि और अल्प प्रबुद्धों का उद्धार श्रवण का फल है ॥ २ ॥

अज्ञानवश देह में ही जिस अज्ञानी पुरुष की आत्मा में ही स्थिति रहती है, उस अनिन्दित पुरुष को आत्म-भावना उत्पन्न हो जाती है, उस पुरुष को देहात्मभावना के अपराध से उत्पन्न अत्यन्त क्रोध से इन्द्रियाँ शत्रु होकर पराजित कर देती हैं ॥ ३ ॥

'यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥'

जो अज्ञानी पुरुष अवशीभूत मन से युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ उस प्रकार वश में नहीं रहती, जिस प्रकार दुष्ट घोड़े सारथि के वश में नहीं रहते। जो ज्ञानी पुरुष सदा वशीभूत मन से युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ उस प्रकार वश में रहती हैं, जिस प्रकार उत्तम घोड़े सारथि के वश में रहते हैं।

ज्ञानवश त्रिकाल में अबाधित एकमात्र जिस ज्ञानी पुरुष की आत्मा में ही स्थिति रहती है, उस अनिन्दित पुरुष को आत्मदर्शनोपकार-जनित सन्तोष से इन्द्रियाँ मित्र बनकर विनष्ट नहीं करती, किन्तु ज्ञान की अभिवृद्धि के अनुकूल आचरण से उसकी रक्षा ही करती हैं ॥ ४ ॥

व्यवहार जिस ज्ञानी पुरुष को दोष दर्शन के कारण भोग्य पदार्थों में सर्वदा कुत्सा के सिवा बुद्धि उत्पन्न होती ही नहीं, वह पुरुष देह प्रयुक्त दुःख के लिए आत्मरूप से देह का किसलिए ग्रहण करेगा ॥ ५ ॥

शरीर और आत्मा एक दूसरे से वैसे ही अत्यन्त विलक्षण हैं, जैसे प्रकाश और अन्धकार एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण हैं, इसी से आत्मा न शरीर का सम्बन्धी है और न शरीर ही आत्मा में रहता है—(जड़ता और चेतनता के कारण अत्यन्त विरुद्ध देह और आत्मा का जब आधार-आधेयभाव आदि सम्बन्ध ही दुर्लभ है, तब तादात्म्य सम्बन्ध की तो कथा ही क्या ?) ॥ ६ ॥

समस्त भावविकारों से नित्यमुक्त एवं निर्लिप्त सभी प्रकार के ऐश्वर्य सम्पन्न आत्मा न अस्त होता है और न कभी उदय ही होता है, क्योंकि वह सर्वदा उदित स्वभाव ही है ॥ ७ ॥

जड़ अज्ञानी, तुच्छ आत्मा से अपनी प्रसिद्धि पाकर उसी को दुःखभागी बनाने के कारण कृतघ्न तथा विनाश स्वभाव इस तुच्छ शरीर रूपी पत्थर का जो कुछ भी होने वाला हो वह भले ही हो, इससे आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ॥ ८ ॥

यह शरीर उस सदा उदितस्वभाव अविनाशी चैतन्य-रूपत्व का परिग्रह कैसे कर सकता है ? क्योंकि चित् और जड़ इनमें से किसी एक का परिज्ञान करने में भी एक जगह तो अर्थात् शरीर में ही अवश्य ही जड़ता आ

तयोः कीदृग्विधा भूता समानसुखदुःखता ।
यौ समौ समधर्माणौ न कदाचन तौ कथम् ॥ १० ॥
यावप्यसक्तावन्योन्यं मिथः सन्नमितौ कथम् ।
कथं स्थूलोऽणुरूपः स्यादणुः स्थूलः कथं भवेत् ॥ ११ ॥
एकोदये द्वितीयस्य न सत्ता दिनरात्रयोः ।
ज्ञानं नाऽज्ञानतामेति च्छाया नाऽऽयाति तापताम् ॥१२॥
सद्ब्रह्म नाऽसद्भवति विचित्रास्वपि दृष्टिषु ।
मनागपि न संश्लेषः सर्वगस्याऽपि देहिनः ॥ १३ ॥
देहेन देहगस्याऽपि कमलस्येव वारिणा ।
मनागपि न संश्लेषो ब्रह्मणो देहसत्तया ॥ १४ ॥
तद्गतस्याऽप्यतद्वृत्तेरम्बरस्येव वायुतः ।
जरामरणमापच्च सुखदुःखे भवाभवौ ।
मनागपि न सन्तीह तस्मात्त्वं निर्वृतो भव ॥ १५ ॥
स्थितो देहतयाऽप्युच्चैः पातोत्पातमयो भ्रमः ।
दृश्यते केवलं ब्रह्मण्यप्सु वीचिचयो यथा ॥ १६ ॥
आत्मसत्तोपजीवित्वादात्माऽनुभवतीह हि ।
देहयन्त्रं पयःसत्तामात्रादूर्मिमिव स्थितम् ॥ १७ ॥
आधारस्पन्दनेनाऽङ्ग यथा क्षोभो न वा भवः ।
सूर्यादेः प्रतिबिम्बस्य तथा देहेन देहिनः ॥ १८ ॥
सम्यग्दृष्टे यथाभूते वस्तुन्येवाऽभिजायते ।
स्थितिर्देहमयोऽज्ञानविभ्रमो लयमेति च ॥ १९ ॥

जायगी । तात्पर्य यह है कि देह चिन्मय है, ऐसा परिज्ञान तभी हो सकता है, जब जड़भिन्न चेतनरूपता को भली प्रकार जान लिया जाय, उसका ठीक-ठीक परिचय होनेपर तो देह में ही जड़ता सिद्ध हो जाती है, ऐसी स्थिति में देह अपने स्वभावविरुद्ध चिद्रूपता का ग्रहण कैसे करेंगे ? ॥ ९ ॥

आत्मा और देह अग्नि और लोहपिण्ड की तरह अविविक्त प्रतीत होने के कारण अतएव एक दूसरे के धर्मों का एक दूसरे में संक्रमण होने के कारण समानधर्म वाले प्रतीत होते हैं तथा विविक्त होनेपर तो उस प्रकार के नहीं प्रतीत होते, अतः उनकी समानसुखदुःखरूपता वास्तव में सत्य किस प्रकार कही जा सकती है ? ॥ १० ॥

एक दूसरे से अत्यन्त विविक्त अर्थात् सर्वथा विलक्षण पदार्थ एक दूसरे से तादात्म्यरूप से या धर्मसंक्रमण द्वारा कैसे मिल सकते हैं, क्योंकि मेरु आदि स्थूलपदार्थ परमाणु-स्वरूप कैसे हो सकते हैं या परमाणु आदि अणुभूत पदार्थ मेरु आदि स्थूलपदार्थ-स्वरूप कैसे हो सकते हैं ? ॥ ११ ॥

एक दूसरे की अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण दिन एवं रात दोनों में से किसी एक की सत्त्वदशा में दूसरे का जब अस्तित्व रह ही नहीं सकता, तब अन्योन्यरूपता की कथा ही क्या ? इसी प्रकार ज्ञान न अज्ञानरूप हो सकता है और अन्धकार न आतपरूप हो सकता है, दोनों एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं, अतः एक की सत्ता में दूसरे की सत्ता नहीं हो सकती ॥ १२ ॥

विचित्र विभिन्न दृष्टियों से सद्रूप ब्रह्म कभी असद्रूप देहादिरूप नहीं हो सकता है और आत्मा में अध्यस्त असत् देहादि के साथ सर्वव्यापक सद्रूप देहाधिष्ठान प्रत्यगात्मा का तनिक सम्बन्ध भी नहीं हो सकता है ॥ १३ ॥

देहाधिष्ठान आत्मरूपी ब्रह्म का भी देहसत्ता के साथ स्वल्पमात्र भी सम्बन्ध वैसे ही नहीं हो सकता जैसे जल से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता । भगवान् भाष्यकार ने कहा भी है—'यत्र हि यदध्यासस्तत्कृतेन गुणेन दोषेण वा अणुमात्रेणाऽपि स न संबध्यते' । जिस अधिष्ठान में जिस पदार्थ का अध्यास होता है, वह अध्यस्त पदार्थ के गुण या दोष से तनिक भी सम्बद्ध नहीं होता ॥ १४ ॥

निर्लिप्तस्वभाव होने के कारण लेपक पदार्थ से विलक्षण स्वभाववाले वायु आदि लेपक पदार्थों में प्रविष्ट भी आकाश का वायु से शोष, कम्प, धूलिसम्बन्ध आदि दोषों का सम्बन्ध नहीं होता है ॥ १५ ॥

देह आदि से इस आत्मा में जरा, मरण, आपत्तियाँ, सुख, दुःख, संसार, संसारविनाश आदि कुछ भी नहीं होता, अतः आप सुखी हो जाइए । देह में आत्मदृष्टि से जन्म, मरण आदि भ्रम उत्पन्न होते हैं, जल में तरङ्गों की तरह वे केवल ब्रह्ममात्रस्वरूप हैं अतिरिक्त नहीं, आत्मा की सत्ता से उपजीवी होने के कारण, अपने में स्थित देहयन्त्र का स्वयं आत्मा ही, एकमात्र अपने में स्थित ऊर्मि का जल की तरह अनुभव करता है ॥ १६-१७ ॥

देहादि से चिदाभास के क्षुब्ध होनेपर भी उसके साक्षी बिम्बभूत चैतन्य का वैसे ही तनिक भी क्षोभ नहीं होता जैसे प्रतिबिम्ब के आश्रय दर्पण आदि के हिलाने पर बिम्बभूत सूर्य आदि का तनिक भी क्षोभ नहीं होता ॥ १८ ॥

आत्मा का सम्यक् साक्षात्कार हो जाने पर परमार्थ सत्यरूप आत्मा में ही स्थिति हो जाती है और अज्ञान प्रयुक्त भ्रम नष्ट हो जाता है ॥ १९ ॥

देहदेहवतोर्ज्ञानाद्यथाभूतार्थयोः स्थितिः ।
सत्तासत्तात्मिकोदेति दीपाद्दीपपदार्थयोः ॥ २० ॥
असम्यग्दर्शिनो देहस्याऽऽवर्तपरिवर्तनैः ।
अन्तःशून्याः स्फुरन्तीह ते मोहार्जुनपादपाः ॥ २१ ॥
अपर्यालोचितात्मार्था अपरामृष्टसंविदः ।
स्पन्दन्ते चेतितोन्मुक्तास्तृणवन्मूढबुद्धयः ॥ २२ ॥
अनास्वादितचित्तत्वाज्जडाः सर्वे खवायुभिः ।
यत्र तत्रोदिताक्रान्ता रटन्ति प्रस्फुरन्ति च ॥ २३ ॥
तृणकाष्ठादिकं सर्वमाहरन्ति त्यजन्ति च ।
सशब्दस्पर्शरूपाढ्यास्तरङ्गतरलाङ्गकाः ॥ २४ ॥
जडाः सन्तः स्फुरद्रूपा भृशं स्फाररसासवाः ।
सविहारागमापाया महौघा इव दुर्धियः ॥ २५ ॥
सर्वेषामेव चैतेषां स्थितैवैषा चिदव्यया ।

अन्धकार और प्रदीप पदार्थ की तरह परस्पर उत्थान स्वभाववाले देह और देहाधिष्ठान आत्मा इन दो निकृष्ट और परमार्थरूप पदार्थों का वास्तव स्वरूप जान लेनेपर देह की असत्तात्मिका और उसके साक्षी आत्मा की सत्तात्मिका स्थिति प्रकट हो जाती है ॥ २० ॥

आत्मा का साक्षात्कार जिस पुरुष को नहीं हुआ है, उस पुरुष को देह के आविर्भाव और तिरोभाव के द्वारा असंख्य वे मोहरूपी अर्जुनवृक्ष प्रस्फुरित होते ही रहते हैं ॥ २१ ॥

सम्यक् आत्मा के अर्थ का पर्यालोचन रहित विज्ञान स्पर्श से शून्य मूढ़बुद्धि लोग चैतन्य से निर्मुक्त तृण की तरह स्फुरित होते हैं, अर्थात् अचेतन देह को ही चेतन मानकर जीवन व्यवहार चलाते हैं ॥ २२ ॥

चिद्रूप का आस्वादन न करने से देह आदि सब जड़ पदार्थ को ही चेतन मानकर वे जड़ होने पर भी मुख, नासिका आदि छिद्रों तथा उन छिद्रों में संचरणशील वायु के द्वारा जिस प्रदेश में, कीचकवत् उत्पन्न हुए नोदन से आक्रान्त होते हैं, उस प्रदेश में स्फुरण और संचरण करते रहते हैं ॥ २३ ॥

तृण, काष्ठ आदि लाते हैं, और परित्याग भी करते हैं, इस प्रकार वे तरङ्गों के समान अतिचपल अवयवों से युक्त तथा शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों की प्राप्ति से अपने आपको कृतार्थ समझते हैं ॥ २४ ॥

देह आदि स्वयं जड़ होते हुए भी चेतन के समान होकर भगाभिनिवेशरूपी मदिरारूपी उन्मादक रस से घूर्णित रहते हैं, वे दुर्बुद्धि से भरे और नदियों की तरह

किन्त्वबोधवशादस्याः परां कृपणतां गता ॥ २६ ॥
श्वाससन्ततयो ह्यज्ञाल्लोहकारदृतेर्यथा ।
स्पन्दमात्रार्थमेवाऽऽशु दृश्यन्ते नाऽर्थकारिणः ॥ २७ ॥
तर्जनं गर्जनं मूढाद्धनुर्दण्डगुणादिव ।
श्रूयते मरणायैव चिद्बोधपरिवर्जितम् ॥ २८ ॥
फलभोगोऽपि यो मूढात्तदरण्यतरोरिव ।
तस्मिन्विश्रमणं यत्तच्छिलाफलहके यथा ॥ २९ ॥
तेन यत्सङ्गमः स स्यात्स्थाणुना भुवि जङ्गले ।
तदर्थं यत्कृतं किञ्चित्तद्व्योम लकुटैर्हतम् ॥ ३० ॥
तस्मिन्यदधमे दत्तं तत्त्यक्तं किं न कर्दमे ।
तेन सार्धं कथा यत्तत्कौलेयाह्वानमम्बरे ॥ ३१ ॥
अज्ञानमापदां निष्ठा का हि नाऽऽपदजानतः ।
इयं संसारसरणिर्वहत्यज्ञप्रमादतः ॥ ३२ ॥

विहार, आगम और अपाय आदि चेष्टाओं से समन्वित हैं ॥ २५ ॥

इनमें अविनाशी यह व्यापक चैतन्य रहता ही है, किन्तु इनका परिचय न होने के कारण इसने कृपणता प्राप्त कर ली है ॥ २६ ॥

उन मूढों से एकमात्र मूर्खतावश श्वाससन्तति निकलतीं लोहार की भाती से वायु सन्तति के समान ही वे श्वाससन्ततियाँ केवल जठराग्नि के स्पन्दन के लिए ही है और किसी अर्थ के लिए नहीं है, मूर्खता अनर्थ को करनेवाली है ॥ २७ ॥

धनुष के दण्ड में लगी हुई डोरी के सदृश मूढ़तावश उत्पन्न होनेवाला चैतन्यज्ञान से शून्य तर्जन और गर्जन केवल मरण के ही हेतु होते हैं ॥ २८ ॥

जंगल के वृक्ष की तरह ही मूढ़ से होनेवाला फल-लाभ है और तप्त पाषाण-शिला के ऊपर विश्रान्ति के सदृश उसमें विश्रान्ति है ॥ २९ ॥

जैसे अरण्य भूमि में स्थाणु के (छिन्न वृक्षमूल के) साथ की जाने वाली सङ्गति होती है। वैसे ही मूर्ख के साथ की जाने वाली संगति होती है और उसके लिए किया गया उपकार भी आकाश को दण्डे से मारने के तुल्य ही होता हैं ॥ ३० ॥

इस अधम मूर्ख को जो दिया गया वह कीचड़ में फेंका गया ही समझना चाहिए और उसके साथ की गई कथा आकाश में कुत्ते का आह्वान (भूकना) ही है ॥ ३१ ॥

अज्ञान आपत्तियों का आश्रय स्थान है। अज्ञानी को कौन-सी आपत्तियाँ प्राप्त नहीं होती है। इस संसार रूप

अज्ञस्योग्राणि दुःखानि सुखान्यपि दृढानि च ।
पुनः पुनर्निवर्तन्ते युगं प्रत्यचला इव ॥ ३३ ॥
शरीरधनदारादावास्थां समनुबध्नतः ।
इदं दुर्दुःखमज्ञस्य न कदाचन शाम्यति ॥ ३४ ॥
अनात्मनि शठे देहे आत्मभावमुपेयुषि ।
असद्बोधमयी माया कथं नामाऽपि नश्यति ॥ ३५ ॥
दुर्भावस्वञ्चितधियो वस्तुन्यन्धस्य दुर्मतेः ।
अवस्तुनि सनेत्रस्य लुठतश्च पदे पदे ॥ ३६ ॥
विषमुत्पद्यते चन्द्रादामोदः कुसुमादिव ।
कण्टकश्चैति पयसो दूर्वाङ्कुर इव स्थलात् ॥ ३७ ॥
देहशाल्मलिभोगिन्यो मनोमातङ्गशृङ्खलाः ।
अज्ञस्याऽऽशाः प्रसूयन्ते सुकृष्टादिव शालयः ॥ ३८ ॥
नरकश्रीरिहाऽज्ञानं दुष्कृतव्यालवेष्टितम् ।

सरणि का प्रवाह एकमात्र अज्ञानी के प्रमाद से ही चल रहा है ॥ ३२ ॥

उग्र दुःख और संसारिक क्षणिक सुख भी अज्ञानी को बार-बार आते और जाते रहते हैं, उनका वैसे ही उल्लंघन नहीं कर सकते, जैसे हल या रथ पर्वत का उल्लंघन नहीं कर सकते ॥ ३३ ॥

देह, धन, स्त्री आदि में आसक्त अज्ञानी का यह दुष्ट दुःख कभी-भी शान्त नहीं होता है ॥ ३४ ॥

अनात्मभूत, शठ देह में आत्मभाव को प्राप्त करने वाले पुरुष में असत्य बोधमयी माया का किसी प्रकार भी नाश नहीं हो सकता है अर्थात् उसका माया का किसी प्रकार भी नाश किया जा सकता है ? ॥ ३५ ॥

दुष्ट भावों से व्याप्त बुद्धि से युक्त, आत्मरूप वस्तु के विषय में अन्ध तथा अनात्मभूत असदर्थों में दृष्टियुक्त पद-पदपर पतनशील वैसे ही दुर्मति पुरुष के लिए चन्द्र से भी विष उत्पन्न होता है जैसे कुसुम से आमोद उत्पन्न होता है तथा वैसे ही क्षीर से कण्टक उत्पन्न होता है, जैसे स्थूल से दूब का अङ्कुर उत्पन्न होता है ॥ ३६, ३७ ॥

जैसे उत्तम रीति से जोते गये खेत से कृषीवल धान उत्पन्न करते हैं वैसे ही मनरूपी हाथी की शृङ्खलाभूत देहरूप सेमल के वृक्ष-कोटर में रहने वाली सर्पिणीरूपी आशाएँ अज्ञानी पुरुषों में राग आदि सांपों को उत्पन्न करती हैं, अथवा मनोरूपी मातङ्ग की शृङ्खलाभूत आशाएँ दुःख उत्पन्न करती हैं, इस प्रकार आन्तर और बाह्य विषयों के भेद की कल्पना कर दो रूपकों की योजना भी की जा सकती है ॥ ३८ ॥

परिपालयति प्रीता मयूरी वारिदं यथा ॥ ३९ ॥
नेत्रलोलालिनीलोला स्फुरिताधरपल्लवा ।
मूर्खार्थमेव विकसत्यङ्गना विषवल्लरी ॥ ४० ॥
अज्ञस्य हृदि सद्भूमावेव पेलवपल्लवः ।
विद्यते पतगच्छायो रागविद्रुमदुर्द्रुमः ॥ ४१ ॥
तरुच्छदलसद्धूमः शस्त्रजालरदोल्मुकः ।
ज्वलति द्वेषदावाग्निर्हृन्मरौ कायतापदः ॥ ४२ ॥
अज्ञमात्सर्यमनसि परापवदनच्छदा ।
ईर्षाकमलिनी चिन्ताषट्पदा विलसत्यलम् ॥ ४३ ॥
प्रतिजन्मप्रमृष्टोग्रदुःखकल्लोलविभ्रमम् ।
जडमेव समभ्येति पुनर्मरणवाडवः ॥ ४४ ॥
जन्म बाल्यं व्रजत्येतद्यौवनं युवता जराम् ।
जरा मरणमभ्येति मूढस्यैव पुनः पुनः ॥ ४५ ॥

जैसे मयूरी मेघ की प्रतीक्षा करती है वैसे ही पाप-रूपी सर्पों से वेष्टित अज्ञानी पुरुष की नरकरूपी लक्ष्मी यहाँ प्रतीक्षा करती है ॥ ३९ ॥

केवल मूढ जनों के लिए ही चपल नेत्ररूपी भ्रमरियों से युक्त, प्रस्फुरित अधररूपी पल्लवों वाली अङ्गनारूपी विषलता विकसित होती है ॥ ४० ॥

अज्ञानी पुरुष के हृदयरूपी उर्वर भूमि में ही कोमल पल्लवों से युक्त, अनर्थ हेतु पापादिरूप पक्षियों के लिए छायाभूत रागरूपी दुष्ट वृक्ष उत्पन्न होता रहता है ॥४१॥

अज्ञानी के मनरूपी जलशून्य अरण्य में कम्पित हो रहे ओष्ठरूपी तरुपल्लवों पर प्रकाशमान निःश्वासरूपी धूओं से समन्वित तथा शस्त्रसमूह की तरह कटकटायमान दाँतरूपी लुआठी से युक्त, शरीर को संताप देने वाला मानो द्वेषरूप दावानल भस्मीभूत होता रहता है ॥ ४२ ॥

दूसरे की निन्दारूपी पल्लवों से युक्त, चिन्तारूपी भ्रमरों से शोभित ईर्ष्यारूपी कमलिनी अज्ञानी के मात्सर्य-रूप जल से परिपूर्ण मन में भली प्रकार विलास करती है ॥ ४३ ॥

प्रतिजन्म में अनेक तरह के प्रतीकारोपायरूप तट के आश्रयण से उग्र दुःखरूपी तरङ्गविभ्रमों का परिमार्जन युक्त मरणरूपी वडवाग्नि अज्ञानीपुरुष के प्रति ही बार-बार, समुद्र की तरह प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

अज्ञ पुरुष ही पुनः पुनः जन्म, बालपन, बार-बार यौवन, बार बार वार्धक्य और बार बार मरण प्राप्त करता रहता है ॥ ४५ ॥

जगज्जीर्णारघट्टेऽस्मिन् रज्ज्वा संसृतिरूपया ।
मज्जनोन्मज्जनैरज्ञो यन्त्रे कलशतां गतः ॥ ४६ ॥
यदेव गोष्पदापूरं ज्ञधियः पेलवं जगत् ।
तदेवाऽपारपर्यन्तमगाधममहात्मनः ॥ ४७ ॥
धियोऽदृश इवाऽज्ञस्य दीर्घं जठरकोटरात् ।
न प्रयान्त्यपरं पारं विहङ्गयः पञ्जरादिव ॥ ४८ ॥
भावमात्रपरावृत्तवासनाभारनाभयः ।
स्पष्टीकर्तुं न शक्यन्ते जन्मचक्रस्य नेमयः ॥ ४९ ॥
अज्ञेनेन्द्रियगृध्रार्थं रागान्मृगयुणा तनुः ।
संसारारण्य आस्तीर्णा दूरादामिषपिण्डवत् ॥ ५० ॥
भूतशैलमयो दृष्टिर्मृन्मांसलवमात्रिका ।
मोहात् संलक्ष्यते चित्रपदार्थानन्तरञ्जनः ॥ ५१ ॥
जयत्यनल्पसङ्कल्पकल्पनाकल्पपादपः ।
अज्ञानात् प्रसृता यस्माज्जगत्पर्णपरम्पराः ॥ ५२ ॥

जगत्रूपी जीर्ण घटीयन्त्र में संसाररूपी रज्जु से आबद्ध मज्जन और उन्मज्जन द्वारा कलशरूपता को अज्ञानी पुरुष ही प्राप्त करता रहता है ॥ ४६ ॥

ज्ञानी महात्मा की बुद्धि से तुच्छ और गाय के खुर-मात्र स्वरूप प्रतीत यह जगत् अर्थात् स्वल्प जलाशयरूप ही अज्ञानी की बुद्धि से अगाध और असीम प्रतीत होता है ॥ ४७ ॥

जैसे पक्षियाँ पिंजड़े से बाहर नहीं निकल पाती है वैसे ही उदरभरण में अतिशय आसक्तिरूपी बन्धन स बँधे अन्धपुरुष की तरह अज्ञ पुरुष की बुद्धियाँ दीर्घसंसाररूपी समुद्र के पार नहीं जा सकती है ॥ ४८ ॥

एकमात्र बाह्य विषयों में लगी हुई वासनाओं के भार से आक्रान्त हृदयरूपी नाभि से युक्त विषयरूपी कीचड़ मे फँसी जन्मचक्र की इन्द्रियरूप नेमियों का अज्ञानी द्वारा उद्धार कर शोधन नहीं किया जा सकता ॥ ४९ ॥

अज्ञानी व्याध ने इन्द्रिय रूपी गीधों के लिए रागवश अपनी देह परम्परा को संसार रूपी अरण्य में दूर तक आमिष पिण्ड की तरह फैलाया है ॥ ५० ॥

वास्तव में मांस के लवमात्र और मृत्तिका के लवमात्र रूप मनुष्य, पशु, मृग आदि प्राणियों से तथा हिमालय, विन्ध्याचल, मलय आदि पर्वतों से प्रचुर दृष्टियाँ तत्त्व के अज्ञान से जनित कल्पना से लक्षित होती हैं ॥ ५१ ॥

असीम सङ्कल्प कल्पनारूपी कल्पवृक्ष सबसे बढ़कर है, क्योंकि अत्यन्त असत् पदार्थों से भी सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति की आशा कल्पवृक्ष के समान रखता है, अज्ञानवश

यस्मिंस्तिष्ठन्ति राजन्ते विशन्ति विलसन्ति च ।
विचित्ररचनोपेता भूरिभोगिविहङ्गमाः ॥ ५३ ॥
यत्र जन्मानि पर्णानि कर्मजालं च कोरकम् ।
फलानि पुण्यपापानि मञ्जर्यो विभवश्रियः ॥ ५४ ॥
अज्ञानेन्दूदयेनैता योषिदोषधयः स्फुटम् ।
संसारवनखण्डेऽस्मिन् परां शोभामुपागताः ॥ ५५ ॥
जन्मजालकलापूर्णस्तमःकालकृतोदयः ।
शून्योदितात्मा दोषेशो जयत्यज्ञानचन्द्रमाः ॥ ५६ ॥
अज्ञानेन्दोः प्रसादेन वासनामृतशालिना ।
तर्पिताशाचकोरेण चित्तरत्नरसैषिणा ॥ ५७ ॥
राजहंसविलासिन्यः प्रालेयशिशिराङ्गिकाः ।
भान्ति कान्ताकुमुद्वत्यो लोललोचनषट्पदाः ॥ ५८ ॥
धम्मिल्लतिमिरोल्लासा लसत्पाण्डुपयोधराः ।
रामारजन्यो राजन्ते तन्मौर्ख्येण विजृम्भितम् ॥ ५९ ॥

उसी से जगत्-रूपी पत्तों की परम्परा विस्तृत हुई है ॥ ५२ ॥

चित्र-विचित्र रचनाओं से युक्त उस कल्पवृक्ष पर भोगों में अत्यन्त आसक्त विहङ्गम रहते, प्रकाशित होते हैं, प्रविष्ट होते और विलास करते हैं ॥ ५३ ॥

उस कल्पवृक्ष पर जन्म पल्लव हैं, कर्मों का समूह कलिका है, पुण्य-पाप ही फल हैं और विभव सम्पत्तियाँ मञ्जरियाँ हैं ॥ ५४ ॥

लताएँ अज्ञान रूपी चन्द्रमा के उदय से ही इस संसार रूपी अरण्य के भाग में स्त्री रूपी विस्पष्ट रूप से उत्तम शोभा प्राप्त कर रहीं हैं ॥ ५५ ॥

विवेक रूपी सूर्य के अस्त समय में उदित होने वाला, जन्म समूह रूपी कलाओं से परिपूर्ण, निष्प्रपञ्च ब्रह्म में प्रकाशित हो रहा दोषों का स्वामी अज्ञान रूपी चन्द्रमा ही संसार का सबसे उत्कृष्ट पदार्थ है ॥ ५६ ॥

वासना रूपी अमृत से समन्वित आशा रूपी चकोर पक्षियाँ का पोषण करने वाले चित्त रूपी आकाशमणि के सूर्य के रस को अमृत को चाहने वाले अज्ञान रूपी चन्द्रमा के प्रसाद से ही राजहंस की तरह विलास युक्त हिमालय की तरह शीतल अङ्गों से युक्त तथा चपल नेत्र रूपी भ्रमरों से समन्वित कान्ता रूपी कुमुदिनी प्रकाशित होती हैं ॥ ५७–५८ ॥

सुन्दर केशर रचना रूपी तिमिर के उल्लास से युक्त तथा सुशोभित श्वेत पयोधरों से युक्त शोभायमान रमणी रूपी रात्रियाँ द्रष्टाओं के मौर्ख्य से ही विजृम्भित है ।

आपातमात्रमधुरत्वमनर्थसत्त्व-
माद्यन्तवत्त्वमखिलस्थितिभङ्गुरत्वम् ।
अज्ञानशाखिन इति प्रसृतानि राम !
नानाकृतीनि विपुलानि फलानि तानि ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
मोहमाहात्म्यं नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

मूर्खता से रमणीयाता से सम्पन्न होती है, वास्तव में वहाँ कुछ भी शोभन पदार्थ नहीं है ॥ ५९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! प्रसिद्ध विषयों में केवल ऊपर से दिखाई पड़ने वाली मधुरता अनर्थ पर्यवसायिता, आद्यन्तवत्ता, देशत: परिच्छिन्नता और समस्त अवस्थाओं में नश्वरता अज्ञान रूपी वृक्ष के ही फल हैं, उस प्रकार के विभिन्न आकृति वाली अनेकविध फल बीजाङ्कुर परम्परा से अज्ञान-वृक्ष से जगदाकार रूप फैले हुए हैं, उसका मूलभूत अज्ञान है अत: उसीका उच्छेद कर देना उचित है ॥ ६० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में मोहमाहात्म्य नामक कुसुमलता का छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

७

वसिष्ठ उवाच

यन्मुक्तावलिता रत्नभूषिता भान्ति योषितः ।
मन्देन्दावुदिते क्षुब्धकामक्षीरार्णवोर्मयः ॥ १ ॥
सौवर्णाम्भोजकोशस्थलोलालिपटलश्रियम् ।
धारयन्ति दृशः स्त्रीणां कपोलतलदोलिताः ॥ २ ॥
उद्यानवनखण्डेषु भूमौ कृतमदा मधौ ।
हृद्याः सुमनसो भान्ति दासा इव मनोभुवः ॥ ३ ॥
क्रव्यादगृध्रगोमायुकौलेयकवलाङ्गिकाः ।
स्त्रियः समुपमीयन्ते चन्द्रचन्दनपङ्कजैः ॥ ४ ॥
सौवर्णकलशाम्भोजकलिकामातुलुङ्गवत् ।
दृश्यते स्त्रीस्तनश्रेणी रक्तपूतिसुगन्धिका ॥ ५ ॥
रसायनेन्दुनिस्यन्दमधुबिम्बासवद्रवैः ।
ओष्ठाभिधो मांसलवो लालाक्त उपमीयते ॥ ६ ॥
अल्पाल्पाष्ठीवदाकारा भुजाक्रूरास्थिशङ्कवः ।
महाबाहुलताशब्दैर्वर्ण्यन्ते कविभिः शुभैः ॥ ७ ॥
कदलीस्तम्भसम्भारसुन्दरीभिस्तथा भृता ।
कुचशोभोचितानन्दा तोरणालिर्विराजते ॥ ८ ॥

७

अज्ञानवश ही मदरूपी चन्द्र के उदय होनेपर मोतियों से वेष्टित तथा रत्नों से सुशोभित स्त्रियाँ क्षुब्ध कामक्षीरार्णव की तरह जो दिखाई पड़ती हैं ॥ १ ॥

अज्ञान के कारण ही कपोल-तलरूप दोला से दोलित कामिनी की दृष्टियाँ कनक कमल के कोश में अवस्थित चपल भ्रमरों के पटल की शोभा धारण करती हैं ॥ २ ॥

वसन्त काल में, वनखण्डों में, वृक्षों में और भूमि में कामदेव के अनुचर की तरह कामियों को मद उत्पन्न करने वाले दृष्टिगोचर सुन्दर पुष्प भी अज्ञान का विलास है ॥ ३ ॥

कच्चे मांस का भक्षण करने वाले गीध, गीदड़, कुत्ता आदि के कवल के योग्य अङ्गों वाली कामनियों का चन्द्र, चन्दन और कमल से सादृश्य दिया जाना भी अज्ञान का ही विलास है ॥ ४ ॥

वास्तव में रक्त या पीप का दुर्गन्धरूपी सुगन्ध वाली स्त्रियों की स्तन-श्रेणी लोक में सुवर्ण कलश, कमल-कुड्मल एवं बिजौरा नीबू के समान दिखाई पड़ना केवल अज्ञान की ही विभूति है ॥ ५ ॥

लार से आर्द्र ओष्ठनामक मांस का टुकड़ा जो रसायन अमृत, मधु, बिम्ब और मद्य के साथ उपमित होना भी अज्ञान का ही विलास है ॥ ६ ॥

प्रत्येक का विभाग कर देखनेपर छोटे-छोटे पोर के सदृश आकार वाले भुजात्मक क्रूर हड्डीरूपी बर्छियाँ ही हैं, उनका सुन्दर भुजलता आदि का उत्तम शब्दों से कवियों के द्वारा वर्णन भी अज्ञान की विभूति है ॥ ७ ॥

कदली के स्तम्भयुगलरूपी जङ्घों की सामग्री से युक्त सुन्दर रमणियों के द्वारा धारण की गई तथा स्तनरूप कलशों की शोभा से द्रष्टाओं के नेत्रों को आनन्द देने वाली काम-मन्दिर की तोरणमालारूप करधनी सुशोभित हो रही है, इत्यादि रूप से कवि लोग करधनी का जो वर्णन करते हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥ ८ ॥

आपातमन्दमधुरा मध्ये द्वन्द्वानुबन्धिनी ।
शीघ्रावसानविरला लक्ष्मीरप्यभिवाञ्छ्यते ॥ ९ ॥
समुपैति मतिर्दुःखं सुखं च शतशाखताम् ।
दुःखशाखास्तु जायन्ते नानाकर्मफलाः श्रियः ॥ १० ॥
बद्धजालघनाकाराः कारार्थमिव रज्जवः ।
दच्छदःसदृशा वाचः प्रतानगहने स्थिताः ॥ ११ ॥
सन्तता मोहमिहिका कार्यासारविसारिणी ।
यमुना प्रावृषीवैति तिमिरश्यामला चिरम् ॥ १२ ॥
कटूकृतान्तःकरणो नानासुखविशारदः ।
वर्धते हि गतस्नेहं जन्मप्रतिविषारसः ॥ १३ ॥

वह भी आरम्भ में मन्द लोगों को अत्यन्त मधुर लगने वाली अथवा ऊपर से थोड़ी मोटी, व्ययकाल में राग-द्वेष आदि द्वन्दों में पर्यवसित होने वाली तथा शीघ्र क्षयस्वभाव होने या कुछ लोगों में ही दिखाई पड़ने के कारण विरलरूपता को धारण करने वाली लक्ष्मी की भी जो अभिलाषा की जाती है अज्ञान के प्रभाव से ॥९॥

हजारों शाखाओं के रूप में विभक्त जो बुद्धि दुःख सुख प्राप्त करती है तथा दुःखरूपी शाखाओं से विस्तृत जो अनेक कर्मफलरूपी श्रियाँ, जो कि उत्पन्न होती हैं, वह भी अज्ञान का ही प्रभाव है ॥ १० ॥

कर्मकाण्ड की वाणी भी अज्ञान की विभूति ही है। कर्मकाण्ड की वाणी काम्य कर्मों के विस्ताररूपी जङ्गल में रहती है, जिस प्रकार लता आतान-प्रतान से घनाकृति रहती है, उस प्रकार यह भी अनेक फलाभिलाषाओं के आतान-प्रतानों से अनाकृति (निबिडाकार) रहती है। अतएव वे देवता आदि के ऋणों से आक्रान्त कर्मप्रधान जीवों के कारागृह के रक्षार्थ एक प्रकार की रज्जुस्वरूप हैं एवं राग और चपलता से आक्रान्त ओठ के सदृश हैं ॥ ११ ॥

प्रवृत्तिरूपी धारासंपात वर्षणों से विस्तृत हुआ मोह-रूपी कुहरा चिरकाल से वैसे ही स्वयं ही बह रहा है जैसे स्वतः श्यामल, वर्षाकाल में रज से कलुष और उसमें भी रात्रि में अन्धकार से अत्यन्त श्यामरूपता को प्राप्त कालिन्दी स्वतः बहती है। पुरुष को अन्ध बनाकर विषयों में हठात् प्रवृत्त कराता है ॥ १२ ॥

आपाततः अनेकविध सांसारिक सुखों में निपुण; परिणाम में दुःख में पर्यवसायी; द्वेष, मात्सर्य, आदि चिन्ता का उत्पादक होने के कारण स्नेहशून्यतापूर्वक

व्याधूतजर्जराकीर्णजनतापर्णराजयः ।
स्वकर्मपवना वान्ति नानाऽवकररेणवः ॥ १४ ॥
कालः कवलितानन्तजगत्पक्वफलोऽप्ययम् ।
घस्मराचारजठरः कल्पैरपि न तृप्यति ॥ १५ ॥
मोहमारुतमापीय त्वचा विषमचारिणः ।
स्फुरन्तीहाऽह्यश्चित्राः शीतलाचलदीप्तयः ॥ १६ ॥
चिन्तापिशाचोपहता विवेकेन्दूदयं विना ।
तमसेव निरालोका याति यौवनयामिनी ॥ १७ ॥
जिह्वा जर्जरतामेति प्राकृतानुनयज्वरैः ।
पद्मकोटरकोणस्थमपि सूत्रं हिमैरिव ॥ १८ ॥

अन्तःकरण में कटुता पैदा करनेवाला और जन्मरूपी विषलता के पल्लवों का, रस की तरह उपचय करनेवाला राग बढ़ता रहता है ॥ १३ ॥

व्याधि आदि से जर्जर पुत्र आदि कुटुम्बी जनसमूह-रूपी पत्तों की पंक्तियों को गिराने वाला और गरदे के कणों की तरह विवेक दृष्टियों का अपहरण करनेवाले विक्षेपविशेष विद्यमान सम्पन्न दुष्कर्मपरिपाकरूपी पवन का कहना भी अज्ञान का विलास ही है ॥ १४ ॥

अनन्त जगत्‌रूपी पके फलों को कवलित करनेवाला और सदा खाने की चेष्टा कर रहे उदर से युक्त कल्पों तक तृप्त न होनेवाला यह काल भी अज्ञान का विलास है ॥ १५ ॥

त्रिविध तापों से शून्य अचल ब्रह्म के प्रकाशरूपता प्राप्त जीव इस संसार में मोहरूपी वायु का अपने अन्दर पूरण कर, स्थित तथा फिर-फिर पृथक् हो जानेवाली नानादेहरूपी त्वचाओं से उपलक्षित कुटिलगति से चलने-फिरनेवाले एक तरह के सर्प ही है, यह भी अज्ञान का विलास है ॥ १६ ॥

चिन्तारूपी पिशाचों से उपहत, विवेकरूपी चन्द्रमा उदय से शून्य, अतएव अन्धकार की तरह प्रकाश-रहित उनकी यौवनरूपा रात्रि जो व्यतीत हो जाती है, वह अज्ञान का ही विलास है ॥ १७ ॥

स्त्री, पुत्र आदि पामर जनों का क्षोभ निराकरण करने के लिए किये गये अनेक संतापों से जीभ एवं अन्यान्य चक्षु आदि इन्द्रियाँ वैसे ही जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं जैसे कमलकोटर के कोने में अवस्थित कमलसूत्र से दृढ़ अवलम्बित भी भीतरी दल हिमप्रपातों से जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥ १८ ॥

दुःखशोकमहाग्रीलः कष्टकण्टकसङ्कटः ।
सहस्रशाखतां याति दारिद्र्यदृढशाल्मलिः ॥ १९ ॥
अन्तःशून्योन्नतिध्वस्तचित्तचैत्यकृतालयः ।
मायाबहुलयामिन्यां लोभोलूको विवल्गति ॥ २० ॥
पूर्वं गृहीत्वा कर्णाभ्यां स्फुरन्ती परिनिश्चयम् ।
जराजर्जरमार्जारी यौवनाखुं निकृन्तति ॥ २१ ॥
निःसारा क्रमशः क्रान्तधराधरसमुन्नतिः ।
डिण्डीरपिण्डिकेवेयं सृष्टिरायाति पुष्टताम् ॥ २२ ॥
आभासपुष्पधवला जगत्पल्लवशालिनी ।
सत्तालता विकसिता धर्मार्थफलधारिणी ॥ २३ ॥
सुराचलमहास्थूणं चन्द्रसूर्यगवाक्षकम् ।
गगनाच्छादनं चारु ध्रियते त्रिजगद्गृहम् ॥ २४ ॥
संसारसरसि स्फारे चरन्ति प्राणषट्पदाः ।

दुःख और शोक रूपी महान् ग्रन्थियों से युक्त, कष्ट-रूपी कण्टकों से आकीर्ण दरिद्रतारूपी हजारों शाखा-प्रशाखारूपता को प्राप्त दृढ शालमली वृक्ष भी अज्ञान का विलास है ॥ १९ ॥

सत्य वस्तु का अवलम्बन न होने के कारण सारहीन कोटर युक्त, अपनी उन्नति के भार से विदीर्ण चित्तरूपी चैत्यवृक्ष में निवास करने वाला अज्ञानरूपी कृष्ण-पक्ष की रात्रि में विशेष रूप से गर्जन करने वाला लोभरूपी उल्लू भी अज्ञान का विलास है ॥ २० ॥

आरंभ काल में पहले कानों के संनिहित कपोल प्रदेश का ग्रहण कर चारों ओर से निश्चयपूर्वक स्फुरणशील जार्जर मार्जारी यौवनरूपी चूहों का भक्षण करनेवाली भी अज्ञान का विलास है ॥ २१ ॥

सारभूत वस्तु से सदा शून्य, रचना करने के लिए उपक्रान्त, पर्वतों की तरह समुन्नत फेन की पिण्डिका के सदृश दृढ जगत् दृष्टि वह भी अज्ञान का विलास है ॥ २२ ॥

चिदाभास प्रकाश रूपी पुष्पों से उज्ज्वल, जगत्रूपी पल्लव वाली और धर्म, अर्थ रूपी फल धारण करने वाली एवं विकसित व्यावहारिक सत्यतारूपीलता यह भी अज्ञान का विलास है ॥ २३ ॥

जिसमें बड़े-बड़े पर्वत रूपी स्तम्भ मुक्त सूर्य, चन्द्र रूपीगवाक्ष वाली गगनरूपी अच्छादान युक्त जगत्-त्रयरूपी घर की स्थिति भी अज्ञान का विलास है ॥ २४ ॥

अत्यन्त विस्तीर्ण संसाररूपी सरोवर में उत्पन्न शरीर-

शरीरपुष्करेष्वन्तश्चिद्रूपरसपायिनः ॥ २५ ॥
नभोमार्गमहानीलकुट्टिमैकान्तशालिनी ।
भुवनौदरस्यान्तः स्फुरत्यादित्यदीपिका ॥ २६ ॥
आशातन्तुनिबद्धाङ्गी जागती जीर्णपक्षिणी ।
स्ववासनाशलाकेऽन्तर्निबद्धेन्द्रियपञ्जरे ॥ २७ ॥
अनारतपतज्जालभूतपर्णपरम्परा ।
स्पन्दते मरुताऽऽमृष्टा संसृतिव्रततिश्चिरम् ॥ २८ ॥
सृष्टेः कतिपयं कालं प्रहृष्टाः कुलशालिनः ।
अधःकृतोग्रनरकपङ्काः शङ्कोज्झिताः क्षणम् ॥ २९ ॥
भुक्तेन्दुखण्डकणिका नीलनीरदशैवले ।
स्वर्गमार्गसरस्यन्तः स्फुरन्ति सुरसारसाः ॥ ३० ॥
नानाफलालिमलिना वासनाजालमालिता ।
स्पन्दामोदमयी स्फीता क्रियाविकसिताऽब्जिनी ॥ ३१ ॥

रूपी पुष्करों में (कमलों में) अन्तःस्थ चिद्रूप रस का पान करने वाले प्राणरूपी भ्रमण कर रहे हैं, भ्रमरभी अज्ञान का विलास है ॥ २५ ॥

आकाश मार्गरूपी नीलमणि से निर्मित महान् कृत्रिम भूभागरूपी निरन्तर शोभायमान भुवनोदर में दिव्याति-दिव्य जलती हुई सूर्य दीपिका भी अज्ञान का विलास है ॥ २६ ॥

आशारूपी सूत से बँधी हुई जगत् के अन्तर्गत अपनी वासनाशलाकारूप शरीर में निबद्ध जीवसमूहरूपी पक्षिणी भी अज्ञान का विलास है ॥ २७ ॥

निरन्तर पतनों से युक्त पृथ्वी आदि भूतरूपी पत्र-परम्परावाली प्राण-वायु से कम्पित भी अज्ञान का विलास है ॥ २८ ॥

अध्यास से रक्त, मांस, मल, मूत्र आदि देहरूप उग्र नारकीय कीचड़ का तिरस्कार करने वाली शङ्का से निर्मुक्त होकर 'हम कुलीन हैं' इस प्रकार अभिमान से काल तक फूलकर स्थित भी अज्ञान का विलास है ॥२९॥

नील मेघरूपी सेवार से युक्त, आकाशमार्ग में स्थित स्वर्गरूपी सरोवर में चन्द्रखण्ड की कणिका का उपभोग करने वाले देवतारूपी प्रस्फुरित होने वाले सारसपक्षी भी अज्ञान का विलास है॥ ३० ॥

विविध काम्य कर्मों के फलरूपी भ्रमरों से मलिन, वासनाओं के जालों से वेष्टित तथा स्पन्दनरूपी सुगन्ध से प्रचुर विकसित क्रियारूपी कमलिनी भी अज्ञान का विलास है ॥ ३१ ॥

वराकी सृष्टिशफरी स्फुरन्ती भवपल्वले ।
कृतान्तवृद्धगृध्रेण शठेन विनिगृह्यते ॥ ३२ ॥
तरङ्गफेनमालेव सैवाऽन्येव च भङ्गुरा ।
श्वःश्वोऽपरेन्दुलेखेव समुदेति विचित्रता ॥ ३३ ॥
भूरिभूतशरावाणि क्षणभङ्गानि कुर्वता ।
इदं कालकुलालेन चक्रं संपरिवर्त्यते ॥ ३४ ॥
असङ्ख्यातानि कल्पानि सञ्जातान्यचले पदे ।
जगज्जङ्गलजालानि दग्धानि युगवह्निना ॥ ३५ ॥
भावाभावैरपर्यन्तैः सुखदुःखदशाशतैः ।
वैपरीत्यं प्रयात्येवमजस्रं जागती स्थितिः ॥ ३६ ॥
क्षुब्धैर्युगपरावर्तैर्वासनाशृङ्खलोम्भिता ।
महाशनिनिपातैश्च न भग्नाऽबुद्धधीरता ॥ ३७ ॥

संसाररूपी स्वल्प जलाशय में प्रस्फुरित सृष्टिरूपी विचारी क्षुद्र शठ कृतान्तरूपी वृक्ष गीध से पकड़ी जाने वाली सौरी नामक मछली भी अज्ञान का विलास है ॥ ३२ ॥

जलतरङ्गों के फेनों की माला की तरह भङ्गुर तथा एकमात्र तत्स्वरूप भी अन्य के सदृश प्रतीयमान प्रतिदिन पृथक् परिमाण वाली चन्द्रलेखा के सदृश उदित सृष्टि-वैचित्र्य भी अज्ञान का विलास है ॥ ३३ ॥

क्षणभर में विनष्ट हो जाने वाले अनेक भूतरूपी सकोरों का निर्माण करने वाला संसारचक्र का परिवर्तन करने में तत्पर कालरूपी कुम्भकार भी अविद्या का विलास है ॥ ३४ ॥

अचल ब्रह्मरूपी पद में उत्पन्न सम्पूर्ण व्यवहारों में समर्थ ससंख्य जगत्स्वरूप युगान्तरूपी अग्नि से दग्ध जङ्गलों के जाल भी अविद्या का प्रभाव है ॥ ३५ ॥

निरन्तर उत्पत्ति और विनाश से, दुःख और सुख की सैकड़ों दशाओं से विपरिणाम को पुनः पुनः प्राप्त करने वाली जगत्स्थिति भी अज्ञान का विलास है ॥ ३६ ॥

वासनारूपी जंजीरों से बंधी अज्ञानियों की दृढ़ मूर्ख-तारूपी धीरता क्षुभित युगों के आवागमन तथा कठोर वज्रों के आघातों से भी विदीर्ण नहीं होती है। इसीलिए अज्ञानियों को वैराग्य नहीं होता है ॥ ३७ ॥

अपने पराक्रमों से सैकड़ों पराजित भी शत्रुओं का फिर युद्ध की अभिलाषा से पालन करनेवाली दानवपुत्रों के द्वारा भी सब प्रकारों से प्रशंसित पुनर्जन्म आदि विषय में नष्ट वेग वाली जिसका वासना अधिकारपर्यन्त= मन्वन्तर तक रहने वाली इन्द्रदेव भी अज्ञात का विलास

शतशो विद्रुतारिघ्नैर्दनुपुत्रैरभिष्टुताम् ।
भवभग्नतयामैन्द्रीं तनुं वहति वासना ॥ ३८ ॥
विशत्यविरतं भूतसर्गपांसुपरम्परा ।
नित्यं नियतिवात्येयं कालव्यालगलान्तरम् ॥ ३९ ॥
पदार्थाम्भांसि सर्वाणि फलफेनानि सर्वतः ।
पतन्त्यविरतापातमभाववडवामुखे ॥ ४० ॥
स्फुरन्त्याकस्मिकोद्भूता विचित्रद्रव्यशक्तयः ।
स्वभावमात्रसम्पन्नाः स्पन्दश्रिय इवाऽम्भसः ॥ ४१ ॥
भूतमौक्तिकसम्पूर्णान् बृहतः सुबहूनपि ।
जगत्कलभकानत्ति कृतान्तोद्रिक्तकेसरी ॥ ४२ ॥
कुलशैलफला मेघपक्षपुञ्जाः फलामृजः ।
जायन्ते च म्रियन्ते च ध्रियन्ते च जगत्खगाः ॥ ४३ ॥

है ॥ ३८ ॥

प्राणियों की सृष्टिरूपी धूलि की पंक्ति से युक्त नियतिरूपी आँधी कालरूपी सर्प के गले के भीतर सर्वदा प्रवाहरूप से प्रविष्ट भी अविद्या का नृत्य है ॥ ३९ ॥

विनाशरूपी वडवाग्नि के मुख में चारों ओर से सुख-दुःखात्मक फेनों से युक्त समस्त पदार्थरूपी जल अविरत-पात से गिरने वाले भी अविद्या-नटी का नृत्य है ॥ ४० ॥

एकमात्र अधिष्ठान ब्रह्म की सत्ता से अपने स्वरूप का लाभ करने वाली तथा अतर्कित बासना के वैचित्र्य से प्रकम्पित चित्र-विचित्र द्रव्यों की शक्तियों को करने वाली प्रस्फुरित भी माया का विलास है ॥ ४१ ॥

प्राणिरूपी गजमुक्ताओं से शोभित, अनन्त जगत्रूपी बड़े-बड़े उन्मत्त गजों का कृतान्तरूपी प्रचण्ड सिंह भक्षण भी अविद्या का प्रभाव है ॥ ४२ ॥

उपभोग्य और महान् होने के कारण जिनके लिए महेन्द्र, मलय आदि कुलपर्वत ही फलस्थानीय हैं; नभोगति और आकृति के सादृश्य से मेघ ही जिनके पर हैं, ऐसे चारों ओर से फलों को बटोरने वाले जगत्रूपी पक्षी अर्थात् उत्तरायण और दक्षिणायन मार्ग से निरन्तर परि-भ्रमण कर रहे जगदात्मक जीवरूपी पक्षी जो उत्पन्न होते, मृत होते और धृत मरण तक जीवित रहते हैं, वह भी अज्ञान का प्रताप है। प्रकृत में मूल, मध्य और ऊर्ध्व भाग में क्रमशः नाग, मर्त्य और देवताओं के द्वारा महेन्द्र आदि कुलपर्वत उपभोग्य होने के कारण फलरूप से उत्प्रे-क्षित किये गये हैं। दक्षिणायन मार्ग में धूमरूप से और अभ्रमेघरूप आदि से ऊर्ध्वगति के निर्वाहक होने के कारण मेघ परों के रूप में उत्प्रेक्षित किये गये हैं ॥ ४३ ॥

चिद्भित्तौ स्पन्दशुभ्रायां रङ्गैः पञ्चभिरिन्द्रियैः ।
उन्मीलयति संसारचित्राणि विधिचित्रकृत् ॥ ४४ ॥
अजस्रगत्वरीं सर्वपरिवर्तविधायिनीम् ।
निमेषशतभागाङ्गीमसद्दुःसाधिताङ्कुराम् ॥ ४५ ॥
सूक्ष्मां कालस्य कलनां स्वसमुत्थानकारिणीम् ।
ध्यानेनैवाऽन्ववेक्ष्यैताः स्थिताः स्थावरजातयः ॥ ४६ ॥
रागद्वेषसमुत्थेन भावाभावमयेन च ।
जरामरणरोगेण जीर्णा जङ्गमजातयः ॥ ४७ ॥
सुदुष्कृतोत्तमध्यानचारिण्यो धरणीतले ।
नियत्या नियतं कालं पीडयन्ते कीटपङ्क्तयः ॥ ४८ ॥
क्षणेनाऽदृश्य एवेदं निगिरत्यखिलं सुखी ।
सुदुर्लक्ष्यबिलः कालव्यालो विपुलभोगवान् ॥ ४९ ॥

चक्षु आदि इन्द्रियों की वृत्तियों के सम्बन्ध से अति धवल चैतन्यभित्ति में पाँच बाह्य इन्द्रियों के रङ्गों से विधातारूपी दृष्टिमात्र से सृष्टि करने वाला द्रष्टारूपी चित्रकार संसाररूपी चित्र खींचा करता है ॥ ४४ ॥

निरन्तर विनाशशील, समस्त पदार्थों का परिवर्तन कर देने वाली, निमेष के शतांशभागरूपी अङ्ग से युक्त, दुःखपूर्वक साधित असत्पदार्थरूप अङ्कुर से समन्वित तथा आत्मा का जगदाकाररूप से विवर्त करने वाली सूक्ष्मातिसूक्ष्म काल की कलना का एकमात्र भीतरी ध्यान से ही अर्थात् बाहर के विस्पष्ट व्यवहार में असमर्थ ये स्थावर जातियाँ अनुभव से—प्रत्यक्ष कर अवस्थित रहती हैं ॥ ४५, ४६ ॥

राग-द्वेष से उत्थित सुखदुःखात्मक जरामरणरूपी रोग से समस्त जङ्गमजाति जीर्ण-शीर्ण हो गई है ॥४७॥

भयङ्कर बड़े-बड़े पापों के कारण एकमात्र उनके फलों के ही उपभोग के अनुकूल ध्यानात्मक स्वभाव युक्त कीटों की पंक्तियाँ इस जगतीतल में नियति के द्वारा पीड़ित होती रहती हैं ॥ ४८ ॥

कभी भी ध्यान में न आने वाले बिल में रहने वाला, अदृश्य, महान् फणाधारी या प्रचुरभोग करने वाला काल-रूपी सर्प निर्भय होकर इस समस्त जगत् को क्षणभर में ही निगल जाता है ॥ ४९ ॥

जिनके शरीर का मूलभाग पृथ्वी के छिद्र में प्रविष्ट है, ऐसे वृक्ष आदि स्थावर पदार्थ—भोगजनक किसी स्वकीय या परकीय अदृष्ट को निमित्त बनाकर मनुष्य, पक्षी आदि के द्वारा अपने शरीर में पीड़ित, वसन्त आदि

कालेन किञ्चिदालक्ष्य स्वशरीराकुलीकृता ।
शीतवातातपप्रौढाः प्रोल्लसत्पुष्पदीप्रयः ।
फलप्रदाश्चरन्तीह शीलिनः श्वभ्रविग्रहाः ॥ ५० ॥
पयःपटलविश्रान्तत्रैलोक्याम्भोजकोटरे ।
करोति घुंघुमं भूरि भूतभ्रमरपेटिका ॥ ५१ ॥
ब्रह्माण्डभैक्ष्यभाण्डेयं काली भगवती क्रिया ।
स्वयं दत्वैव दत्वैव भूतभिक्षां जिघृक्षति ॥ ५२ ॥
तिमिरालीककबरी इन्द्वर्कचपलेक्षणा ।
ब्रह्मोपेन्द्रमहेन्द्रादिधरागिरिवरादिका ॥ ५३ ॥
ब्रह्मतत्त्वैकपिटकालम्बमानपयोधरा ।
चिच्छक्तिमातृका स्थूला तरला घनचापला ॥ ५४ ॥
तारकाजालदशना सन्ध्यारुणतराधरा ।
समस्तपद्मिनीहस्ता शतक्रतुपुराननना ॥ ५५ ॥

ऋतु विशेषों में विकसित कुसुमशोभा से सुशोभित यथा फलप्रद, शीत, वायु और आतप को सहने के कारण प्रौढ़तम, शम, दम, तितिक्षा, औदार्य आदि उत्तम स्वभावों से सुसम्पन्न तपस्वी की तरह काल का अतिक्रमण किया करते हैं ॥ ५० ॥

जलपटल में अवस्थित त्रिलोकीरूपी कमल के कोटरे बार-बार गुञ्जाध्वनि करने वाला प्राणीरूपी भ्रमरों का समूह वह भी अविद्या का विलास है। एकमात्र पृथ्वी ही कमल के पत्ते की तरह जल में स्थित है, अन्तरिक्ष या स्वर्ग लोक नहीं तथापि अन्तरिक्ष एवं द्युलोक, त्रिवृत्कृत जल के कार्य होने के कारण, जलभाग में प्रतिष्ठित हैं यह सूचन करने के लिए 'पटल' शब्द का प्रयोग किया गया है ॥ ५१ ॥

करकमल में ब्रह्माण्डरूपी भिक्षारूपी पात्र युक्त भग-वती कालपत्नी काली पूर्वगृहीत भूतरूपी भिक्षा का अपने पति काल को पुनः पुनः समर्पण कर दूसरी भूतभिक्षा ग्रहण करने की इच्छा करती है ॥ ५२ ॥

स्वरूपाच्छादक तुच्छ अन्धकार ही उसके केशपाश हैं, चन्द्र और सूर्य ये दो उसके चपल नेत्र हैं, ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर—ये तीनों उसके अन्तर चेतनात्मक स्वभाव हैं, पृथ्वी, हिमालय आदि श्रेष्ठ पर्वत उनका बाह्य स्थूल देहस्थानीय जड़ात्मक स्वभाव है। एकमात्र ब्रह्मतत्त्व ही हृदय में फोड़े के सदृश बन्धनों से आवृत्त होकर स्थित हुआ नित्य गोपनीय उसका स्तन मण्डल है, चिदाभास-रूपा चितिशक्ति ही पोषण करने वाली उसकी यात्री है, अतएव वह मोटी-ताजी तरल है, मेघ ही उसका चापल्य

सप्ताब्धिमुक्तालतिका नीलाम्बरपरीवृता ।
जम्बूद्वीपमहानाभिर्वनश्रीरोमराजिका ॥ ५६ ॥
भूत्वा भूत्वा विनश्यन्ती त्रिलोकी वृद्धकामिनी ।
असकृज्जायते नष्टा भूरिविभ्रमकारिणी ॥ ५७ ॥
मग्नमग्नैरथोन्मग्नं भीमे कालमहार्णवे ।
प्रतिकल्पक्षणं क्षीणैर्ब्रह्माण्डस्फुटबुद्बुदैः ॥ ५८ ॥
कालेऽगाधरसस्यन्दे स्थित्वा स्थित्वा पुनः पुनः ।
कल्पमात्रनिमेषेणोड्डीनाः कारणसारसाः ॥ ५९ ॥
उत्पत्त्योत्पत्त्यनाशिन्यः सन्तप्ताः सृष्टिविद्युतः ।
कालमेघे स्फुरन्त्येताश्चित्प्रकाशवनोद्यमाः ॥ ६० ॥
प्रपतद्भूतविहगाः पतन्त्यविरतभ्रमाः ।
कालतालातिकिलोत्तालाद् ब्रह्माण्डफलपालयः ॥ ६१ ॥
उन्मेषकृतवैरिञ्चसृष्टयो देवनायकाः ।
निमेषकृतसंहाराः सन्ति केचन कुत्रचित् ॥ ६२ ॥
निमेषोन्मेषसंक्षीणकल्पजालाः सहस्रशः ।
रुद्राः केचन विद्यन्ते तस्मिंश्चित्परमे पुनः ॥ ६३ ॥
तेऽपि यस्य निमेषेण भवन्ति न भवन्ति च ।
तादृशोऽप्यस्ति देवेशो ह्यनन्तेयं क्रियास्थितिः ॥ ६४ ॥
अनन्तसङ्कल्पमये शून्ये च ब्रह्मणः पदे ।
न सम्भवन्ति का नाम शक्तयश्चित्रपूरकाः ॥ ६५ ॥
एवमक्षीणसङ्कल्पलब्धार्थभरभासुरा ।
जागती कल्पना येयं तदज्ञानविजृम्भितम् ॥ ६६ ॥
याः सम्पदो यदुत सन्ततमापदश्च
यद्बाल्ययौवनजरामरणोपतापाः ।
यन्मज्जनं च सुखदुःखपरम्पराभि-
रज्ञानतीव्रतिमिरस्य विभूतयस्ताः ॥ ६७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
अज्ञानमाहात्म्यं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

है। तारे ही उसके दाँत हैं, सन्ध्या ही उसके अरुणतर ओष्ठ हैं, समस्त विसलताएँ ही उसके हाथ हैं, इन्द्रनगरी अमरावती उसका मुख है। सात समुद्र उसकी मुक्ता-मालाएँ हैं, नील आकाशरूपी उत्तरीय वस्त्र से वह आवृत है, जम्बूद्वीप उसकी महानाभि है, वन शोभा उसकी रोमपंक्ति है। इस प्रकार की त्रिलोकी-रूपी महान् विभ्रम-कारक वृद्ध कामिनी बार-बार उत्पन्न हो-होकर जो नष्ट हो जाती है और नष्ट होकर बार-बार जो उत्पन्न होती रहती है, ऐसी त्रिलोकी स्वरूप वृद्ध कामिनी भी अज्ञान का विलास है ॥ ५३–५७ ॥

प्रत्येक कल्परूप क्षण में क्षीण हो जाने वाले उत्पन्न और विनष्ट ब्रह्माण्डरूप प्रस्फुट बुद्बुद भयङ्कर कालरूपी महासमुद्र भी अविद्या का विलास है ॥ ५८ ॥

जिसमें सैकड़ों भ्रम और तृष्णारूपी अगाध जल-प्रवाह बह रहा है, इस प्रकार के काल-रूप महानद में बार-बार स्थित हो-होकर कल्परूपी निमेषमात्र में जो कारणभूत हरिण्यगर्भरूपी सारस पक्षी उड़ जाते हैं, वह भी अविद्या का विलास है ॥ ५९ ॥

उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने वाली प्रतप्त मृष्टिरूपी ये विजलियाँ, जो चित्प्रकाश के आश्रयण से प्रकाशशक्ति प्राप्त कर प्रस्फुरित होती हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥६०॥

जिनके प्राणीरूपी कौए उड़ते और निरन्तर चक्कर काटते रहते हैं, ऐसी अति उन्नत कालरूपी तालवृक्ष से ब्रह्माण्डरूपी फल की पंक्तियाँ गिर रही हैं, वह भी अविद्या-प्रभाव है ॥ ६१ ॥

देवाधिपति क्षणमात्र में उसका संहार करने वाले देवताओं के नियामक ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वररूपी इसी ब्रह्म चैतन्य में निमेषमात्र में ब्राह्मीसृष्टि पैदा करनेवाले तथा जो हैं, वह भी अज्ञान का प्रताप है ॥ ६२ ॥

हजारों बार निमेष के उन्मेषमात्र काल में जिन्होंने कल्पों के समूह नष्ट-भ्रष्ट कर दिये हैं, ऐसे कुछ रुद्र जो उस परम चित् में हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥ ६३ ॥

वे देवनायक भी जिसके निमेष से उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं, ऐसा भी कोई देवाधिदेव है, क्योंकि यह रुद्रपर्यन्त क्रियाओं की स्थिति कर्म, उपासना और फल भाव की स्थिति अनन्त है, यह भी अविद्या का बिलास है ॥ ६४ ॥

अनन्त सङ्कल्पप्रचुर, समस्त विकल्पों से शून्य ब्रह्मरूप पद में सैकड़ों आश्चर्यों की पूर्ति करने वाली ऐसी कौन-सी शक्तियाँ नहीं हैं ? ॥ ६५ ॥

सुदृढ़ सङ्कल्पों से प्राप्त अर्थ समूह से देदीप्यमान जगत् की यह कल्पना भी अज्ञान का विलास है ॥ ६६ ॥

जो सम्पत्तियाँ हैं, जो निरन्तर चलनेवाली आपत्तियाँ हैं, जो वाल्य, यौवन, जरा, मरणरूपी महान् सन्ताप हैं, जो सुख-दुःख की परम्पराओं में मज्जन होता है, वह सब अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकार की विभूतियाँ हैं ॥ ६७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
अज्ञानमाहात्म्य नामक कुसुमलता का सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

८

वसिष्ठ उवाच

संसारवनखण्डेऽस्मिश्चित्पर्वततटे स्थिता ।
कीदृशी सृष्ट्यविद्याख्या लता विकसिता कदा ॥ १ ॥
बृहत्पर्वतपर्वाढ्या ब्रह्माण्डत्वक्समावृता ।
देहयष्टिरियं यस्यास्त्रिलोकी लोककासिनी ॥ २ ॥
सुखं दुःखं भवो भावो ज्ञानमज्ञानमेव च ।
अत्रैतान्युरुवृत्तानि मूलानि च फलानि च ॥ ३ ॥
सुखादविद्योदेत्युच्चैस्तदेवाऽन्ते प्रयच्छति ।
दुःखादविद्योदेत्युच्चैस्तदेवैषा फलत्यलम् ॥ ४ ॥
भवादविद्योदेत्येषा तमेव फलति स्फुटम् ।
भवात्सत्तामवाप्नोति तमेव फलति क्षणम् ॥ ५ ॥
अज्ञानाद् वृद्धिमायाति तदेव स्यात्फलं स्फुटम् ।
ज्ञानेनाऽऽयाति संवित्तिस्तामेवाऽन्ते प्रयच्छति ॥ ६ ॥
नानाविधोल्लासवती वासनामोदशालिनी ।
घनप्रवालतरला तनुरस्या विजृम्भते ॥ ७ ॥
दिवसव्यूहकुसुमा यामिनीलोलषट्पदा ।
अजस्रं स्पन्दमानैषा प्रपतद्भूतपल्लवा ॥ ८ ॥
आगत्याऽऽगत्य पतति विवेककरिणीं क्वचित् ।
विधूयते धूतरजाः प्रसक्ति पुनरेति च ॥ ९ ॥
जायमानप्रवालाढ्या सञ्जाताङ्कुरदन्तुरा ।
सर्वर्तुकुसुमोपेता समग्ररसशालिनी ॥ १० ॥
जन्मपर्वाहिनीरन्ध्रा विनाशच्छिद्रचञ्चुरा ।
भोगाभोगरसापूर्णा विचारैकघुणक्षता ॥ ११ ॥

८

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा :—इस संसाररूपी अरण्य के एकदेश में विद्यमान कूटस्थ चिद्रूप पर्वत के तट में स्थित सृष्टि स्वरूप अर्थात् जन्म अविद्यारूपी लता कब और किस प्रकार विकसित हुई, इसका मैं वर्णन करता हूँ, आप सुनें ॥ १ ॥

यह अविद्या-लता बड़े-बड़े मेरु आदि पर्वतरूप पर्वों से युक्त, चिदावारक ब्रह्माण्डरूपी त्वचा से आवृत और जन रूपी पत्र, अङ्कुर आदि विकासों से युक्त है, ये तीनों लोक इसकी देहयष्टि हैं ॥ २ ॥

इस अविद्यारूपी लता में प्रतिदिन वृद्धि प्राप्त करने वाले सुख, दुःख, जन्म, स्थिति, ज्ञान एवं अज्ञान ये मूल और फल हैं ॥ ३ ॥

सुखों से 'आगे भी मुझे इससे अधिक सम्पत्ति प्राप्त हो ऐसी रागस्वरूप अविद्या उत्पन्न होती है और वह अविद्या यज्ञ, दान आदि धर्मों के द्वारा अन्त में सुखरूप फल प्रदान करती है। दुःखों से धन की तृष्णा आदिरूप अविद्या उत्पन्न होती है और वह पापवासना से दुष्प्रतिग्रह, चौर्य आदि अधर्मों में प्रवृत्ति अधिक दुःख-रूप फल प्रदान करती ही है ॥ ४ ॥

जन्म से भी अविद्या का उदय होता है और वह बाद में जन्मान्तररूप फल प्रदान करती है। जन्म से वह सत्ता प्राप्त करती है और बाद में स्थितिरूप फल प्रदान करती ही है ॥ ५ ॥

वह अविद्या अज्ञान से वृद्धि प्राप्त करती है और बाद में अज्ञानरूप फल को प्रदान करती है। ज्ञान से उत्तरोत्तर भूमिका की प्राप्तिस्वरूप ज्ञानवृद्धि प्राप्त करती है और अन्त में सप्तमभूमिका में तत्त्वज्ञानरूप फल देती है ॥६॥

विविध उल्लासों से युक्त वासनारूप सौगन्ध्य से शोभित, घनीभूत पल्लवों से चञ्चल इस सृष्टिरूप लता का शरीर प्रकाशमान हो रहा है ॥ ७ ॥

यह लता दिवससमूहरूप पुष्पों वाली रात्रिरूप चञ्चल भ्रमरों से समन्वित, रागादि दोषों के कारण दौड़ रहे यानी हिल रहे प्राणीरूप पल्लवों से विभूषित और निरन्तर कम्पनशील है ॥ ८ ॥

कर्मरूप वायु के द्वारा पुनः-पुनः भ्रमित होकर यह सृष्टिलता कहीं पर स्थित विवेकरूप हस्तिनी के ऊपर गिर जाती है। अनन्तर उस हस्तिनी द्वारा कभी विचार-रूपी सूँड़ के अग्रभाग से वह लता अपने आश्रयभूत विषयरूप वृक्ष से अलगकर कंपाई जाती है। दुर्वासनारूप धूलि के नष्ट हो जानेपर भी सूँड़ से वह छूट जाती है, तो पुनः उसी विषयरूपी वृक्ष से लिपट जाती है ॥ ९ ॥

उत्पन्न होनेवाले मित्र, पशु आदि पल्लवों से पूर्ण; उत्पन्न हुए पुत्र, पौत्र आदि अङ्कुरों से दन्तुर सब ऋतु-रूप पुष्पों से शोभित तथा सम्पूर्ण प्रकारों के रसों से युक्त है ॥ १० ॥

जन्मरूपी पर्वों में दुःख, रोग आदि रूप सर्पों से छिद्र रहित मरण रूप शाखाओं के सन्धिभूत छिद्रों में हठात् विदीर्यमाण होने से व्याकुल, विषयानुभव से उत्पन्न राग आदि मकरन्दों से युक्त यह लता केवल विचार रूप घुन से नष्ट हो जाती है ॥ ११ ॥

विकसन्त्यः प्रतिदिनं चन्द्रर्कावलयोऽभितः ।
व्योम्नि वातविलोलानि पुष्पाण्यस्याः किल ग्रहाः ॥१२॥
अस्याः प्रस्फुरिताकाराः कोरकत्वमुपागताः ।
पूरिताकाशकोशायास्तारका रघुनन्दन ! ॥ १३ ॥
चन्द्रार्कदहनालोका यस्यास्तत्कौसुमं रजः ।
अनेनेयं हि गौराङ्गी स्त्रीव चेतांसि कर्षति ॥ १४ ॥
मनोमातङ्गविधुता सङ्कल्पकलकोकिला ।
इन्द्रियव्यालसम्बाधा तृष्णात्वगुपरञ्जिता ॥ १५ ॥
नीलाकाशतमालाङ्गसंश्रयेणोन्नतिं गता ।
रोदसीजानुसुस्तम्भा भुवनोद्यानभूषिता ॥ १६ ॥
अधोब्रह्माण्डखण्डेषु स्वालवालेन जालिता ।
विधूताशेषजलधिजलक्षीरादिसेचना ॥ १७ ॥
त्रयीविलोलभ्रमरा रमणीपुष्पपुञ्जिका ।

आकाश में चारों ओर से प्रतिदिन विकसित हो रही चन्द्र, सूर्य आदि के साथ नवग्रह रूप ज्योतियों की पंक्तियाँ हीं इस सृष्टि रूपी लता के वायु से चञ्चल हुए पुष्प हैं ॥ १२ ॥

हे रघुकुल को आनन्द देने वाले ! आकाश मण्डल को व्याप्त कर स्थित इस लता के ऊपर प्रस्फुरित आकार वाले नक्षत्र ही कलि स्वरूप हैं ॥ १३ ॥

इस लता के चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि के प्रकाश पुष्प सम्बन्धी पराग हैं। इसी पराग से यह शुभ्राङ्गी स्त्री के समान, लोगों के मन का आकर्षण करती है ॥ १४ ॥

यह लता चित्त रूप हाथी से प्रकम्पित, सङ्कल्प रूप मधुर कलनाद करने वाली कोकिल से युक्त, इन्द्रिय रूपी साँपों से वेष्टित और तृष्णारूपी चमड़े से आच्छादित है ॥ १५ ॥

नील आकाश रूपी तमालवृक्ष के अवयवों के आश्रयण से अत्यन्त विस्तृत आकाश और पृथिवी रूप चारों ओर को जानुतुल्य सङ्कुचित मूल स्तम्भों से युक्त, चतुर्दश भुवन रूपी वाटिकाओं से शोभित है ॥ १६ ॥

सात समुद्रों की खाई रूपी सुन्दर आलवाल से आवृत एवं सम्पूर्ण समुद्रों के जल, क्षीर आदि से सिञ्चित होकर ब्रह्माण्ड खण्डों के अधोभाग में विस्तृत जड़ों से बद्ध है ॥ १७ ॥

काम्य कर्मों के बोधक तीनों वेदों से चञ्चल कामी-रूप भ्रमरों से युक्त, अतएव उन कामी जनों के भोग्यभूत स्त्री रूप पुष्प समूहों से शोभित, मन के स्पन्द रूप वायु से कम्पित, स्वाभाविक प्रवृत्ति वाले विपुल जन

चित्स्पन्दवातचलिता क्रियाविमलपुत्तिका ॥ १८ ॥
कुकर्माजगरव्याप्ता स्वर्गश्रीपुष्पमण्डपा ।
जीवजीवननीरन्ध्रा नानामोदमदप्रदा ॥ १९ ॥
नानोपशमवैचित्र्यनानाकुसुमभासिनी ।
नानाफलावलीव्याप्ता नानावर्षविकासिनी ॥ २० ॥
नानालवालवलया नानाविहगधारिणी ।
नानापरागपरुषा नानाभूधरजालिका ॥ २१ ॥
नानाकलाकुड्मलिनी नानावनगणोत्थिता ।
नानागिरितटारूढा नानादलनिरन्तरा ॥ २२ ॥
जाता च जायमाना च म्रियमाणा तथा मृता ।
अर्धच्छिन्ना तथाऽऽच्छिन्ना नित्यमच्छेदिनी तथा ॥२३॥
अतीता वर्तमाना च सत्यैवाऽसत्यवत्सदा ।
नित्यमत्यन्ततरुणी नित्यं शोषमुपेयुषी ॥ २४ ॥

समूह रूपी मूल, पत्र, काण्ड आदियों मे भ्रमण कर रहे सूक्ष्म कीटों से युक्त है ॥ १८ ॥

शास्त्र निषिद्ध कर्म रूपी अजगर से व्याप्त, स्वर्ग की श्री रूपी पुष्प-मण्डप से शोभित तथा जीवों के जीवनोपायों से पूण है। अनेक प्रकार के विषय-वासना रूप गन्धों से अज्ञों को मत्त करने वाली है ॥ १९ ॥

विवेकियों के लिए तो अनेक प्रकार के उपशम-वैचित्र्य रूपी अनेक पुष्पों से प्रकाशमान, अनेक प्रकार के फलों की पक्तियों स व्याप्त, अनेक प्रकार के पुष्प एवं फलों के रस तथा पराग से विकसित है ॥ २० ॥

विभिन्न-विभिन्न आलवालों स (खाईयों से) वेष्टित तरह-तरह के पक्षियों से युक्त, अनेक तरह की धूलियों से युक्त होन के कारण रूखी, नाना प्रकार के पर्वत रूप जालों से बद्ध है ॥ २१ ॥

अनेक कलारूप कलियों से युक्त, अनेक वन-समूहों से ऊपर को उठी हुई, अनेक पर्वतों क तटों पर आरूढ हुई तथा सदा अनेक प्रकार के दलों से शोभित है ॥ २२ ॥

अविद्यारूपी लता अनेक बार उत्पन्न हो चुकी है और उत्पन्न होनेवाली है; अनेक बार मर चुकी है और मरने-वाली भी है। वह आधी कटी हुई है, और पूर्णरूप से भी कटी हुई है तथा प्रवाह रूप से न कटी हुई भी है ॥२३॥

वह अतीत काल में थी और वर्तमान काल में भी है, वह सर्वदा असत्पदार्थ के मान होती हुई भी सत्य पदार्थ के समान पुनः-पुनः अत्यन्त पल्लवित होती है तथा नित्य शोष को प्राप्त होती है ॥ २४ ॥

महाविषलतैषा हि संसारविषमूर्च्छनाम् ।
ददाति रभसाश्लिष्टा परामृष्टा विनश्यति ॥ २५ ॥
स्फीतेऽन्तर्गलिता तस्य अज्ञेऽन्तः संस्थितान्विता ।
इतो जलमितः शैला इतो नागाः सुरा इतः ॥ २६ ॥
इतः पृथ्वीत्वमायाता तथेतो द्युतया स्थिता ।
इतश्चन्द्रार्कतां प्राप्ता तथेतस्तारकाकृतिः ॥ २७ ॥
इतस्तम इतस्तेज इतः खमित उर्वरा ।
इतः शास्त्रमितो वेदा इतो द्वयविवर्जिता ॥ २८ ॥
क्वचित् खगतयोड्डीना क्वचिद्देवतयोत्थिता ।
क्वचित् स्थाणुतया रूढा क्वचित् पवनतां गता ॥२९॥
क्वचिन्नरकसंलीना क्वचित् स्वर्गविलासिनी ।
क्वचित् सुरपदं प्राप्ता क्वचित् कृमितया स्थिता ॥३०॥
क्वचिद्विष्णुः क्वचिद् ब्रह्मा क्वचिद्रुद्रः क्वचिद्रविः ।
क्वचिदग्निः क्वचिद्वायुः क्वचिच्चन्द्रः क्वचिद्यमः ॥३१॥
यत्किञ्चनाऽङ्ग भुवनेषु महामहिम्ना
व्याप्तं जरत्तृणलवत्वमुपागतं वा ।
दृश्यं स्फुरन्ननु हराद्यपि तामविद्यां
विद्धि क्षयाय तदतीततयाऽऽत्मलाभः ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अविद्यालताविलासोपदेशोनाम अष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

यह अविद्या निश्चय ही विशाल विषलता है, क्योंकि अविचार से इसका सम्बन्ध होनेपर यह तत्क्षण संसाररूपी विष से जनित मूर्च्छा उत्पन्न कर देती है और पूर्वापर विचारित होनेपर तत्क्षण नष्ट हो जाती है ॥ २५ ॥

अविद्या के स्वरूप का विचार करनेवाले तत्त्ववित् के प्रकाशमान आत्मा में वह अन्तः विलीन अर्थात् बाधित हो जाती है और अज्ञानी पुरुष में तो भीतर चारों ओर से अनुवृत्त होकर अवस्थित रहती है। कहीं तो यह सृष्टिरूपा लता जल से समन्वित है, कहीं पर्वतों से अन्वित है, कहीं तो नागों से युक्त है और कहीं देवताओं से सुशोभित है ॥ २६ ॥

कहीं तो वह पृथिवीरूपता को प्राप्त है और कहीं द्युलोकरूप से अवस्थित है। उन्होंने कहीं चन्द्र और सूर्यरूपता प्राप्त किया है और कहीं तो तारों के आकार को धारण किया है ॥ २७ ॥

यह सृष्टिरूपी लता कहीं तमरूप है, कहीं तेजोरूप है, कहीं आकाशरूप है, कहीं सस्यश्यामला है, कहीं पृथिवीरूप है, कहीं शास्त्ररूप है, कहीं वेदरूप है कहीं प्रलय और सुषुप्ति से विवर्जित है ॥ २८ ॥

कहीं पक्षिरूप होकर उड़ती है, कहीं देवरूप होकर उठती है, कहीं स्थाणुरूप होकर स्थित है और कहीं पवनभाव को प्राप्त है ॥ २९ ॥

कहींपर नरकरूप होकर पातालकुहर में विलीन रहती है, कहीं स्वर्ग में विलास करती है। कहीं देवपद को प्राप्त करती है, कहीं कृमिरूप होकर स्थित है ॥ ३० ॥

कहीं विष्णु है, कहीं ब्रह्मारूप है, कहीं रुद्र है, कहीं सूर्य है, कहीं अग्नि है, कहीं वायु है, कहीं चन्द्र है, कहीं यम है ॥ ३१ ॥

इन समस्त भुवनों में उत्कृष्ट प्रभाव से चारों ओर व्याप्त समस्त पदार्थों का संहार करनेवाले महादेव से लेकर अव्याकृतपर्यन्त अथवा अल्प प्रभाव के कारण जर्जर तृणरूप को प्राप्त प्रस्फुरित यह दृश्य तत्त्वज्ञान के द्वारा बाध करने योग्य अविद्यास्वरूप ही समझो, उसका बाध हो जानेपर आत्मा का लाभ अर्थात् मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में अविद्यालताविलासोपदेश नामक कुसुमलता का आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

९

श्रीराम उवाच

आकारजातमुदितं शुद्धं हरिहराद्यपि ।
अविद्यैवेत्यहं श्रुत्वा ब्रह्मन् ! भ्रममिवाऽऽगतः ॥ १ ॥

९

श्रीरामजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आकारमात्र से आविर्भूत अत्यन्त शुद्धस्वरूप शिव, विष्णु आदि भी अविद्यास्वरूप हैं, इस प्रकार आपकी उक्ति का श्रवण कर मैं मिथ्या भ्रान्ति को प्राप्त हूँ, कृपापूर्वक आप उसका निवारण करें ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

संवेद्येनाऽपरामृष्टं शान्तं सर्वात्मकं च यत् ।
तत्सच्चिदाभासमयमस्तीह कलनोज्झितम् ॥ २ ॥
समुदेति स्वतस्तस्मात् कला कलनरूपिणी ।
जलादावर्तलेखेव स्फुरज्जलतयोदिता ॥ ३ ॥
सूक्ष्मा मध्या तथा स्थूला चेति सा कल्प्यते त्रिधा ।
पश्चान्मनस्तया तेन ज्ञातैव वपुषा पुनः ॥ ४ ॥
तिष्ठत्येतास्ववस्थासु भेदतः कल्प्यते त्रिधा ।
सत्त्वं रजस्तम इति एषैव प्रकृतिः स्मृता ॥ ५ ॥
अविद्यां प्रकृतिं विद्धि गुणत्रितयधर्मिणीम् ।
एषैव संसृतिर्जन्तोरस्याः पारं परं पदम् ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—संवेद्य से जगदाकार से परामृष्ट, सर्वविध उपद्रवों से शून्य समस्त जगत् के संस्कार से संयुक्त माया से शबल होने के कारण सर्वात्मक सच्चित्प्रकाश से प्रचुर, कल्पनाओं से निर्मुक्त एकमात्र सत्स्वरूप ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति के पहले था। आशय यह है कि निर्विकार शुद्धचित् का घृत की तरह स्वतः घनीभाव या मूर्ताकार हो नहीं सकता, इसलिए वे दोनों मायाधीन विवर्त युक्त ही हैं, यह मानना पड़ेगा। परन्तु श्रुतिप्रतिपाद्य निर्विकार परब्रह्मस्वरूप के साथ विरोध न हो, इसलिए विवर्तत्व-प्रयोजक माया का अंश स्वच्छ, सूक्ष्मतम स्वरूप का अनावारक कहा जाता है, उसी को शुद्धसत्त्व कहते हैं, शुद्धसत्त्व अत्यन्त स्वच्छ, चित्प्रतिबिम्ब का ग्राहक, सर्वविद्या का उद्दीपक, स्वरूप का अनावारक है, इसलिए प्रकृत में सर्वाधिपतित्व का विरोध नहीं हो सकता। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत् केन कं पश्येत्', 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यादि श्रुतियों से हम लोगों के तत्त्वज्ञान से बाध्य होने के कारण उक्त अंश में अविद्यारूपता है, इसलिए यहाँ पर कोई असंभावना है ही नहीं, इस आशय से उत्तर देने की इच्छावाले श्रीवसिष्ठजी उक्त कल्पनाक्रम का उपक्रम करने के पहले सर्वप्रथम अधिष्ठान का दिग्दर्शन कराते हैं ॥ २ ॥

सृष्टि के आरम्भ में अपनी सत्ता से स्थित जगत्-संस्कार के उद्बोधस्वरूप कला, जल आदि में आवर्तलेखा के समान कुछ पृथक् स्वरूप की तरह गुण और गुणी के भेदव्यवहार की योग्यतारूप से आविर्भूत होती है ॥ ३ ॥

जैसे प्रौढ़ आतप, मन्द आतप और छाया में सूर्य से विभिन्न तेज के अपकर्ष की कल्पना की जाती है, वैसे ही कला की सूक्ष्म, मध्य तथा स्थूल यों तीन प्रकार से

अत्र ते ये त्रयः प्रोक्ता गुणास्तेऽपि त्रिधा स्मृताः ।
सत्त्वं रजस्तम इति प्रत्येकं भिद्यते गुणः ॥ ७ ॥
नवधैवं विभक्तेयमविद्या गुणभेदतः ।
यावत्किञ्चिदिदं दृश्यमनयैव तदाश्रितम् ॥ ८ ॥
ऋषयो मुनयः सिद्धा नागा विद्याधराः सुराः ।
इति भागमविद्यायाः सात्त्विकं विद्धि राघव ! ॥ ९ ॥
सात्त्विकस्याऽस्य भागस्य नागविद्याधरास्तमः ।
रजस्तु मुनयः सिद्धाः सत्त्वं देवा हरादयः ॥ १० ॥
सत्त्वजातौ देवयोनावविद्याप्राकृतैर्गुणैः ।
निर्मलं पदमायाताः सत्त्वं हरिहरादयः ॥ ११ ॥

कल्पना की जाती है, सूक्ष्म कल्पना के पीछे उसकी कल्पना करनेवाले के द्वारा हिरण्यगर्भ के रूप से मध्य कला, फिर उसके बाद स्थूल विराट् के आकार से स्थूल कला के रूप में ज्ञात होकर वह उसी प्रकार स्थित रहती है। यह अव्याकृतोपाधिरूपा सत्त्व, रज और तमोरूपा प्रकृति त्रिधा अवस्थित हैं, इसलिए इन सूक्ष्म आदि अवस्थाओं में भी तीन तरह से कल्पित होती है ॥ ४-५ ॥

सत्त्व आदि तीन गुणधर्मों से युक्त प्रकृति ही अविद्या है, यही प्राणियों का संसार है, इससे (प्रकृति से) पार पाना ही परम पद मोक्ष कहलाता है ॥ ६ ॥

इस प्रकृति रूपी अविद्या में बतलाये गये तीन गुण भी तीन प्रकार के हैं अर्थात् सत्त्व, रज और तम इनमें से प्रत्येक गुण का तीन-तीन प्रकार से भेद होता है ॥ ७ ॥

इस प्रकार यह अविद्या गुण भेदों से नव प्रकार से विभक्त है। सूक्ष्म, मध्य और स्थूल अविद्या का प्रत्येकशः तीन-तीन भेद होकर नव तरह की हो जाती है, दिखने वाला यह दृश्य प्रपञ्च इसी अविद्या में आश्रित है ॥ ८ ॥

हे राघव ! ऋषि, मुनि, सिद्ध, नाग, विद्याधर, देवता—ये अविद्या के सात्त्विक अंश स्वरूप हैं, यह आप समझें ॥ ९ ॥

इस सात्त्विक विभाग के नाग, विद्याधर ये तामसिक अंश स्वरूप हैं, मुनि, सिद्ध ये रजोगुण के अंश स्वरूप हैं और शिव, विष्णु आदि देवता सात्त्विक अंशरूप हैं ॥ १० ॥

सत्त्वजाति रूप देवयोनि में शिव, विष्णु आदि अविद्या के प्राकृत गुणों से कभी भी अविद्या रूप आवरण को प्राप्त न कर स्वाभाविक ही विद्या से स्वरूप पद को

सात्त्विकः प्राकृतो भागो राम ! तज्ज्ञो हि यो भवेत् ।
न समुत्पद्यते भूयस्तेनाऽसौ मुक्त उच्यते ॥ १२ ॥
तेन रुद्रादयो ह्येते सत्त्वभागा महामते ।
तिष्ठन्ति मुक्ताः पुरुषा यावद्देहं जगत्स्थितौ ॥ १३ ॥
यावद्देहं महात्मानो जीवन्मुक्ता व्यवस्थिताः ।
विदेहमुक्ता देहान्ते स्थास्यन्ति परमेश्वरे ॥ १४ ॥
भाग एष त्वविद्याया एवं विद्यात्वमागतः ।
बीजं फलत्वमायाति फलमायाति बीजताम् ॥ १५ ॥
उदेत्यविद्या विद्यायाः सलिलादिव बुद्बुदः ।
विद्यायां लीयतेऽविद्या पयसीव हि बुद्बुदः ॥ १६ ॥
पयस्तरङ्गयोर्द्वित्वभावनादेव भिन्नता ।
विद्याविद्यादृशोर्भेदभावनादेव भिन्नता ।

सदा ही प्राप्त हुए वे शुद्ध सत्त्व स्वरूप हैं। इससे ब्रह्मा और शिव में राजस एवं तामसरूपता की मूर्ख मनुष्यों में व्यर्थ प्रसिद्धि है ॥ ११ ॥

सात्त्विक शिवादि मूर्त्तित्रयात्मक प्राकृत अंश की उपासना से मानव पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता है, इसलिए वह मुक्त कहलाता है ॥ १२ ॥

हे महामते ! इसलिए ये शुद्ध सत्त्वगुण के अंशभूत रुद्र आदि पुरुष (देवता) जगत्स्थितिकाल में, जब तक देह धारण करते हैं तब तक मुक्त होकर स्थित रहते हैं ॥१३॥

ये महात्मा देहस्थितिपर्यन्त जीवन्मुक्त होकर स्थित हैं और देह का अन्त हो जाने पर विदेहमुक्त होकर शुद्ध ब्रह्मस्वभाव में स्थित हैं ॥ १४ ॥

इस प्रकार विद्यारूपता को प्राप्त यह अविद्या का सात्त्विकस्वरूप बीज भाग है, कार्याविद्यारूपता को उसका प्रलय होने पर बीजरूपता अर्थात् कारणाविद्यारूपता को प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

कारणाविद्या के अन्तर्गत शुद्ध सत्त्व-अंश विद्या है, उस विद्या से कार्याविद्यारूप सृष्टि वैसे ही उदित होती है जैसे जल से बुद्बुद उत्पन्न होते हैं और जैसे बुद्बुद जल में लीन हो जाते है, वैसे ही उस विद्या में ही कार्याविद्यात्मक सृष्टि विलीन हो जाती है ॥ १६ ॥

जैसे जल और तरङ्ग की द्वित्वभावना से ही भिन्नता है, वैसे ही विद्या और अविद्या की दृष्टि में भेदभावना से ही भिन्नता है, वस्तुतः भिन्नता नहीं है जैसे परमार्थ दृष्टि से जल और तरङ्ग एकरूप ही है, उसी प्रकार अविद्या और विद्या भी एकरूप ही हैं, पृथक् कुछ भी नहीं

पयस्तरङ्गयोरैक्यं यथैव परमार्थतः ॥ १७ ॥
नाऽविद्यात्वं न विद्यात्वमिह किञ्चन विद्यते ।
विद्याविद्यादृशौ त्यक्त्वा यदस्तीह तदस्ति हि ॥ १८ ॥
प्रतियोगिव्यवच्छेदवशादेतद्रघूद्वह ! ।
विद्याविद्यादृशौ न स्तः शेषे बद्धपदो भव ॥ १९ ॥

नाऽविद्याऽस्ति न विद्याऽस्ति कृतं कल्पनयाऽनया ।
किञ्चिदस्ति न किञ्चिद्यच्चितसंविदिति तत्स्थितम् ॥२०॥

तदेवाऽविदिताभासं सदविद्येत्युदाहृतम् ।
विदितं सत्तदेवेदमविद्याक्षयसंज्ञितम् ॥ २१ ॥
विद्याभावादविद्याख्या मिथ्यैवोदेति कल्पना ।
मिथः स्वान्ते तयोरन्तश्छायातपनयोरिव ॥ २२ ॥

है ॥ १७ ॥

परमार्थदृष्टि से सदधिष्ठान में विद्या और अविद्या नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, विद्या और अविद्या-दृष्टि का विरोध आदि दृष्टि का परित्याग कर यहाँ जो कुछ अवशिष्ट रहता है, वही वास्तव में विद्यमान है, दूसरा नहीं ॥ १८ ॥

हे रघूद्वह ! बाध के द्वारा अविद्या का अस्तित्व मिट जाने पर अविद्यानिष्ठ बाध्यता का आश्रयण कर आने वाली बाधकता की सिद्धि ही नहीं हो सकती और भिद्यमान प्रतियोगी के अधीन होने से भेद की भी प्रसिद्धि नहीं हो सकती है, अतः विद्या और अविद्या-दृष्टि का अस्तित्व ही नहीं है अतः आप अवशिष्ट ब्रह्मरूप पदपर सुस्थिर हो जाएँ ॥ १९ ॥

न अविद्या नामका पदार्थ है और न विद्यानाम का पदार्थ है, यह व्यर्थ कल्पना है। तब से वास्तव में आत्मा से अतिरिक्त अवशिष्ट कुछ भी नहीं है, यदि कुछ है, तो वह एकमात्र चित्-वस्तु ही संवित् रूप से अवस्थित है ॥ २० ॥

अवशिष्ट चित्-वस्तु ही जब अज्ञातस्वरूप रहती है, तब अविद्या कही जाती है और जब विदित हो जाती है, तब वही सत्-स्वरूप एवं अविद्याक्षय के नाम से कही जाती है ॥ २१ ॥

छाया और आतप की तरह परस्पर विरुद्ध विद्या और अविद्या दोनों में से विद्या का अभाव होनेपर अपने मनोऽवच्छिन्न चैतन्य में अविद्या नामक मिथ्या कल्पना का उदय होता है ॥ २२ ॥

अविद्यायां विलीनायां क्षीणे द्वे एव कल्पने ।
एते राघव ! लीयेते अवाप्यं परिशिष्यते ॥ २३ ॥
अविद्यासंक्षयात्क्षीणो विद्यापक्षोऽपि राघव ! ।
यच्छिष्टं तन्न किञ्चिद्वा किञ्चिद्वाऽपीदमाततम् ॥ २४ ॥
तत्रैवं दृश्यते सर्वं न किञ्चन च दृश्यते ।
वटश्च वटधानायामिव पुष्पफलादिमान् ॥ २५ ॥
सर्वशक्तिर्हि किञ्चित्त्वं सर्वशक्तिसमुद्गकम् ।
नभसोऽप्यधिकं शून्यं न च शून्यं चिदात्मकम् ॥ २६ ॥
सूर्यकान्ते यथा वह्निर्यथा क्षीरे घृतं तथा ।
तत्रेदं संस्थितं सर्वं देशकालक्रमोदये ॥ २७ ॥
यथा स्फुलिङ्गा अनलाद्यथा भासो दिवाकरात् ।
तस्मात्तथेमा निर्यान्ति स्फुरन्त्याः संविदश्चितः ॥ २८ ॥
यथाऽम्भोधिस्तरङ्गाणां यथाऽमलमणिस्त्विषाम् ।
कोशो नित्यमनन्तानां तथा तत्संविदां त्विषाम् ॥ २९॥
सबाह्याभ्यन्तरे सर्वं वस्तुन्यस्त्येव वस्तु सत् ।
सर्वदैवाऽविनाशात्म कुम्भानां गगनं यथा ॥ ३० ॥
यथा मणेरयःस्पन्दे अयस्कान्तस्य कर्तृता ।
अकर्तुरेव हि तथा कर्तृता तस्य कथ्यते ॥ ३१ ॥
मणिसन्निधिमात्रेण यथाऽयः स्पन्दते जडम् ।
तत्सत्तया तथैवाऽयं देहश्चेतत्यचिद्वपुः ॥ ३२ ॥
तत्र स्थितं जगदिदं जगदेकबीजे
चिन्नाम्नि संविदितकल्पितकल्पनेन ।
लोलोर्मिजालमिव वारिणि चित्ररूपं
खादप्यरूपवति यत्र न किञ्चिदस्ति ॥ ३३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे विद्यानिराकरणं नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

श्रीराघव ! परस्पर विरुद्ध विद्या और अविद्या में अविद्या के बाध से चैतन्य में विलय हो जाने पर दोनों कल्पनाएँ क्षीण हो जाती हैं और उनका चैतन्य में अवस्थान हो जाता है, फिर परिपूर्णानन्दात्मक प्राप्तव्य चैतन्य परब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है ॥ २३ ॥

हे राघव ! अविद्या के विनाश से विद्या कल्पना भी वैसे ही क्षीण हो जाती है, जैसे लकड़ी के विनाश से अग्नि । अवशिष्ट सर्वबाधात्मक होने से कुछ भी नहीं है और परमार्थतः सद्-रूप होने से कुछ है भी तो सब उसी से व्याप्त है ॥ २४ ॥

तात्त्विक रूप से परम चिति में सब कुछ वैसे ही दिखाई देता है, जैसे वटबीज में फल-पुष्पादि से युक्त वटवृक्ष दिखाई पड़ता है और मायिकस्वरूप से कुछ भी नहीं दिखाई देता है ॥ २५ ॥

सर्वविध शक्तियों का आश्रय वस्तुरूपता है, वही समस्त पराक्रमों की पिटारी है। वह आकाश से भी महान् शून्यस्वरूप है और चिदात्मक होने से शून्यस्वरूप नहीं है ॥ २६ ॥

उस चिदात्मक शून्य में ये सब वैसे ही अवस्थित हैं जैसे सूर्यकान्तमणि में अग्नि है अथवा जैसे दूध में घृत है ॥ २७ ॥

जैसे अग्नि से विस्फुलिङ्ग बाहर निकलते हैं अथवा जैसे सूर्य से रश्मियाँ बाहर निकलती हैं, वैसे ही देश, काल और क्रम के उदय काल में ये प्रसिद्ध सब जीवसंवित्तियाँ ब्रह्मचैतन्य से प्रस्फुरित होती हैं ॥ २८ ॥

अनन्त जीवसंवित्तिरूपी भ्रमस्थानीय रश्मियों का वह अविनाशी कोश वैसे ही है जैसे समुद्र तरङ्गों का और निर्मल मणि रश्मियों का कोश है ॥ २९ ॥

घटों में आकाश की तरह समस्त वस्तुओं में बाहर और भीतर में सत्-स्वरूप अविनाशी चैतन्य वस्तु सदा सभी समय विद्यमान रहती है ॥ ३० ॥

स्वतः क्रियाशून्य भी आत्म-चैतन्य में कर्तृता वैसे ही कही जाती है जैसे लोहे में स्पन्दन होने पर स्वतः क्रियाशून्य भी अयस्कान्तमणि में कर्तृता कही जाती है ॥ ३१ ॥

एकमात्र चैतन्य सत्ता की सन्निधि से ही अचैतन्यरूप देह वैसे ही स्पन्दित होता है जैसे मणि की एकमात्र सन्निधि से ही जड़ लोह स्पन्दित होता है ॥ ३२ ॥

जैसे चित्रविचित्र चंचल तरङ्ग समूह जल में स्थित रहता है, वैसे ही जगत् के एकमात्र उपादान स्वरूप उस चिद्रूप अज्ञात ब्रह्म में पूर्व-पूर्वानुभूत जगत्कल्पित वासना से जनित उत्तरोत्तर कल्पना से यह जगत् अवस्थित रहता है आकाश की अपेक्षा भी मूर्तामूर्तरूप शून्य उस परब्रह्म के ज्ञात होने पर कुछ भी भिन्न पदार्थ ज्ञातव्यरूप से शेष नहीं रहता ॥ ३३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामयण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में विद्यानिराकरण नामक कुसुमलता का नवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

१०

वसिष्ठ उवाच

तस्मान्न किञ्चिदेवेदं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
न किञ्चिद् भूततां प्राप्तं यत्किञ्चिदिति विद्धि हे ! ॥ १ ॥
यत्र काचिन्न कलना भावाभावमयात्मिका ।
तदिदं राम ! जीवादि सर्वं व्यर्थं किमीहसे ॥ २ ॥
सम्बन्धोऽयमसावन्तर्हृदि यो व्यपदिश्यते ।
न तं लभामहे सर्पं रज्जुसर्पभ्रमादिव ॥ ३ ॥
अपरिज्ञात आत्मैव भ्रमतां समुपागतः ।
ज्ञात आत्मत्वमायाति सीमान्तः सर्वसंविदाम् ॥ ४ ॥
अविद्येत्युच्यते लोके चिच्चेत्यमलमाश्रिता ।
चेत्यातीतात्मतामेति सर्वोपाधिविवर्जिता ॥ ५ ॥
चित्तमात्रं हि पुरुषस्तस्मिन्नष्टे च नश्यति ।
स्थिते तिष्ठति चाऽऽत्माऽयं घटे सति घटाम्बरम् ॥ ६ ॥
गच्छन्पश्यति गच्छन्तं स्थितं तिष्ठञ्छिशुर्यथा ।
भ्रान्तमेवमिदं चेतः पश्यत्यात्मानमाकुलम् ॥ ७ ॥
कोशकारवदात्मानं वासनातनुतन्तुभिः ।
वेष्टयच्चैव चेतोऽन्तर्बालत्वान्नाऽवबुध्यते ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

मौर्ख्यमत्यन्तघनतामागतं समवस्थितम् ।
स्थावरादितनुप्राप्तं कीदृशं भवति प्रभो ! ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

अमनस्त्वमसम्प्राप्तं मनस्त्वादपि च च्युतम् ।
तटस्थं रूपमाश्रित्य स्थितैषा स्थावरेषु चित् ! ॥ १० ॥
तत्र दूरस्थिता मुक्तिर्मन्ये वेद्यविदां वर ! ।
सुप्तपुर्यष्टका यत्र चित्स्थिता दुःखदायिनी ।
मूकान्धजडवत्तत्र सत्तामात्रेण तिष्ठति ॥ ११ ॥

१०

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर जो कुछ भी यह सब स्थावर जङ्गमरूप जगत् प्रतीत होता है, यथार्थ में वह कुछ भी नहीं है, कुछ भी पदार्थ भूतरूपता को प्राप्त नहीं है, यह आप जानें ॥ १ ॥

हे श्रीराम ! परमब्रह्म में भावाभावमयात्मक उत्पत्ति-विनाशात्मक कुछ भी कल्पना नहीं हो सकती है । उसी परब्रह्म के स्वरूपभूत जीव आदि सब कुछ प्रतीयमान पदार्थ हैं, आप निरर्थक मिथ्या पदार्थों की अभिलाषा करते हैं ? ॥ २ ॥

हृदय के भीतर जो यह देह में अहन्ता और बाह्य विषयों में ममतारूपी सम्बन्ध वैसे ही व्यपदिष्ट होता है, जैसे विमर्श करने पर रज्जु में हुए सर्पविभ्रम से किसी भी सर्प की उपलब्धि नहीं होती, विचार करने पर उसकी किसी तरह उपलब्धि नहीं होती ॥ ३ ॥

भली प्रकार न जाना हुआ आत्मा जगद्भ्रान्ति को प्राप्त है और भली प्रकार परिज्ञात होने पर वह जीवादि-संविद् की सीमा की अन्तभूत आत्मरूपता को प्राप्त है ॥ ४ ॥

चेत्य के बीजभूत मल का अपनी सत्ता के आरोप से आश्रयण सम्पन्न चित् ही जगत् में अविद्या नाम से कही जाती है और वही चेत्य के बीजभूत मल का अतिक्रमण करती हुई सम्पूर्ण उपाधियों से मुक्त होकर विद्या से आत्मरूपता को प्राप्त करती है ॥ ५ ॥

चित्त का तादात्म्याध्यास होने से यह पुरुष चित्त-स्वरूप है, चित्त के नष्ट होने पर वह पुरुष नष्ट हो जाता है । चित्त के स्थित होनेपर यह आत्मा भी वैसे ही रहता है जैसे घट के रहने पर घटाकाश रहता है ॥ ६ ॥

अज्ञानी बालक की तरह यह अज्ञानोपहित आत्मा चित्त के चलने पर अपने-आपको चलता हुआ देखता है, चित्त के स्थिर होने पर अपने को स्थिर देखता है, यह आत्मा भ्रान्त इस चित्त को ही उपद्रवयुत आत्मस्वरूप से देखता है ॥ ७ ॥

यह चित्त बाल विवेकशून्य है, इसलिए वह चित्तप्राय पुरुष मकरी की तरह अपने को चित्तगत वासनारूप दीर्घ-तन्तुओं से भीतर बाँधता हुआ भी नहीं जानता है ॥ ८ ॥

श्रीरामजी ने कहा—'हे प्रभो ! अत्यन्त घनीभाव को प्राप्त अविवेक=भ्रम स्थावर आदि शरीर को प्राप्त किस प्रकार अवस्थित रहता है' यह कृपा कर कहें ॥ ९ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—सुषुप्ति की तरह सुख-दुःख संवेदन की अयोग्यता के सम्पादक मन के लय को प्राप्त न होने पर तथा पूर्वापर के विचार में समर्थ मननयोग्यता-रूप मनस्त्व से च्युत मनस्त्व-अमनस्त्व के मध्यवर्ति मुग्धता रूप का आश्रयण कर यह जीवचित् स्थावरों में रहती है ॥ १० ॥

हे ज्ञातव्य के जानने वालों में सर्वश्रेष्ठ ! चिदचित् का विवेक करने में असमर्थ बाह्य एवं आन्तर इन्द्रियों से युक्त दुःख का प्रतीकार करने में अक्षम होने के कारण अत्यन्त दुःख देने वाली चित् जहाँ स्थित रहती है, उन स्थावर

श्रीराम उवाच

सत्ताद्वैततया यत्र संस्थिता स्थावरेषु चित् ।
तत्राऽदूरस्थिता मुक्तिर्मन्ये वेद्यविदां वर ! ॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

बुद्धिपूर्वं विचार्येदं यथाऽवस्त्ववलोकनात् ।
सत्तासामान्यबोधो यः स मोक्षश्चेदनन्तकः ॥ १३ ॥
परिज्ञाय परित्यागो वासनानां य उत्तमः ।
सत्तासामान्यरूपत्वं तत्कैवल्यपदं विदुः ॥ १४ ॥
विचार्याऽऽर्यैः सहाऽऽलोक्य शास्त्राण्यध्यात्मभावनात् ।
सत्तासामान्यनिष्ठत्वं यत्तद्ब्रह्म परं विदुः ॥ १५ ॥
अन्तः सुप्ता स्थिता मन्दा यत्र बीज इवाऽङ्कुरः ।
वासना तत्सुषुप्तत्वं विद्धि जन्मप्रदं पुनः ॥ १६ ॥
अन्तः संलीनमननं परितः सुप्तवासनम् ।
सुषुप्तं जडधर्माऽपि जन्म दुःखशतप्रदम् ॥ १७ ॥

शरीर में मोक्ष अत्यन्त दूर रहता है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ११ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे ज्ञातव्य के जानने वालों में श्रेष्ठ ! जिन स्थावर शरीर में चित् एकमात्र सत्तारूप से स्थित है, वहाँ मुक्ति तो अदूर ही है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ १२ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—शास्त्रों का बुद्धिपूर्वक विचार कर, आत्मा के साक्षात्कार से जो सत्तासामान्य का बोध होता है, वही अविनाशी मोक्षपद कहलाता है ॥ १३ ॥

आत्मतत्त्व को जानकर वासनाओं का अशेष परित्याग ही सत्तासामान्यरूप मोक्षपद कहा गया है ॥ १४ ॥

गुरु, सतीर्थ्य आदि के साथ शास्त्रों का विचार कर अध्यात्मभावना से अर्थात् मनन से, निदिध्यासन से तत्त्व का साक्षात्कार कर सत्तासामान्य में निष्ठा को मुनि लोग परब्रह्मपद कहते हैं ॥ १५ ॥

भीतर बीज में अङ्कुर की तरह अव्यक्त, सुप्त-सी वासना है, उसे ही आप पुनर्जन्म को देने वाली सुषुप्ति की तरह जानें ॥ १६ ॥

जिसके भीतर मानस व्यापाररूप मनन भली प्रकार लीन है तथा चारों ओर से जिसमें वासनाएँ तिरोहित हैं, वह पाषाणादि की तरह वृत्तिशून्य भी सुषुप्ति सैकड़ों जन्मरूपी दुःखों को देती है ॥ १७ ॥

पत्थर की तरह व्यापारशून्य सभी स्थावर आदि पदार्थ 'सुषुप्त' नाम को प्राप्त होने के कारण पुनः-पुनः जन्म के भागी होते हैं ॥ १८ ॥

स्थावरादय एते हि समस्ता जडधर्मिणः ।
सुषुप्तपदमारूढा जन्मयोग्याः पुनः पुनः ॥ १८ ॥
यथा बीजेषु पुष्पादि मृदो राशौ घटो यथा ।
तथाऽन्तः संस्थिता साधो ! स्थावरेषु स्ववासना ॥१९॥
यत्राऽस्ति वासनाबीजं तत्सुषुप्तं न सिद्धये ।
निर्बीजा वासना यत्र तत्तुर्यं सिद्धिदं स्मृतम् ॥ २० ॥
वासनायास्तथा वह्नेर्ऋणव्याधिद्विषामपि ।
स्नेहवैरविषाणां यः शेषः स्वल्पोऽपि बाधते ॥ २१ ॥
निर्दग्धवासनाबीजसत्तासामान्यरूपवान् ।
सदेहो वा विदेहो वा न भूयो दुःखभाग् भवेत् ॥ २२ ॥
चिच्छक्तिर्वासनाबीजरूपिणी स्वापधर्मिणी ।
स्थिता रसतया नित्यं स्थावरादिषु वस्तुषु ॥ २३ ॥
बीजेषूल्लासरूपेण जाड्येन जडरूपिषु ।
द्रव्येषु द्रव्यभावेन काठिन्येनेतरेषु च ॥ २४ ॥

हे साधो ! स्थावरों के भीतर अपनी वासना भी वैसे ही स्थित है जैसे बीजों में अङ्कुर से लेकर पुष्प तक पदार्थ स्थित हैं एवं जैसे मिट्टी के ढेर में घट स्थित है ॥१९॥

जहाँ वासना का बीज है, वह सुषुप्त जन्म के लिए है, सिद्धि के लिए नहीं है, और जिसमें ज्ञानाग्नि से भर्जित बीजशक्ति वाली वासना है, वह तुर्यपद मोक्षरूप सिद्धि को देने वाला है ॥ २० ॥

वासना का तथा अग्नि, ऋण, व्याधि और शत्रु का, स्नेह, विरोध एवं विष का जो शेष है, वह स्वल्प होनेपर भी हानि पहुँचाता है। आशय यह है कि स्वल्प भी वासना के अवशिष्ट रहने पर अग्नि आदि के शेष की तरह क्रमशः वह बढ़कर महान् अनर्थ की जनक होती है, अतः उसका निःशेष क्षय करना चाहिए ॥ २१ ॥

ज्ञानाग्नि से निःशेष भर्जित वासना बीज से सत्ता-सामान्यरूपता को प्राप्त तत्त्ववित् चाहे सदेह हो या विदेह हो, पुनः कभी दुःख का भागी नहीं होता है ॥ २२ ॥

स्थावरादि समस्त पदार्थों में चित् को आवृत करने वाली चित्-शक्तिरूपा बीजस्वरूप वासना धान्यादि बीजों में भर्जन से नष्ट होने वाले अङ्कुरशक्तिजननस्वरूप रस की तरह सदा अवस्थित है ॥ २३ ॥

वही चिच्छक्ति बीज में पृथ्वी और जल के संयोग से होने वाली प्रफुल्लता से अनुभूयमान अङ्कुरजननशक्ति से जड़धर्म वाले पदार्थों में जड़तारूप से धन, रत्न आदि द्रव्यों में स्पृहणीयता में कारणभूत भव्यतारूप से, शिला आदि अन्य पदार्थों में कठिनतारूप से स्थित है ॥ २४ ॥

भस्मन्यथाऽनित्यरूपा पांसुष्वप्यणुरूपिणी ।
असितेष्वसितस्थित्या सितधारतयाऽसिषु ॥ २५ ॥
आत्मा शक्तिः पदार्थेषु तथा घटपटादिषु ।
सर्वत्र सत्तासामान्यरूपमाश्रित्य तिष्ठति ॥ २६ ॥
इतीयमखिला दृश्यदशामापूर्य संस्थिता ।
यथा घटापटा प्रावृडम्बरालम्बिनी तथा ॥ २७ ॥
स्वरूपमस्याश्चैवैतत्कथितं प्रविचारितम् ।
असर्वं सर्वतो व्यापि सदिवाऽसन्मयात्मकम् ॥ २८ ॥
आत्मदृष्टिरदृष्टैषा संसारभ्रमदायिनी ।
दृष्टा सती समग्राणां दुःखानां क्षयकारिणी ॥ २९ ॥
अस्यास्त्वदर्शनं यत्तदविद्येत्युच्यते बुधैः ।
अविद्या हि जगद्धेतुस्ततः सर्वं प्रवर्तते ॥ ३० ॥
अविद्यारूपरहिता यावदेवाऽवलोक्यते ।

भस्म तथा धूलियों में प्राक्तन काष्ठ, पाषाण आदि के ध्वंसरूप तथा परमानुरूप से मलिनों में मालिन्यरूप स्थिति से एवं तलवार आदि में तीक्ष्णधारा के रूप से विद्यमान है ॥ २५ ॥

घट, घट आदि सभी पदार्थों में आत्मा ही सत्ता सामान्य रूप का ग्रहण कर जलाहरण, शीतनिवारण आदि ाना शक्ति होकर स्थित है ॥ २६ ॥

जिसका मेघजाल आच्छादक है, ऐसी वर्षा ऋतु यह खिल चिच्छक्ति सम्पूर्ण दृश्य दशा को व्याप्त कर वैसे स्थित है जैसे आकाश सर्वतः व्याप्त होकर स्थित ्ता है ॥ २७ ॥

इस अज्ञानावृत चिच्छक्ति का यह अत्यन्त विचार किया गया स्वरूप, असत्यभूत मायाविकार तादात्म्य-रूपता को प्राप्त कर भी सत् की तरह भासमान तथा असर्वात्मक होने पर भी सर्वतः व्याप्त के समान प्रतीयमान है, यह मैंने आपको बताया है ॥ २८ ॥

आत्मदर्शन के विरोधी अज्ञान से आवृत यह आत्म-दृष्टिरूपा चिच्छक्ति संसाररूप भ्रम को देती है और उसके विरोधी अज्ञान से अनावृत सम्पूर्ण दुःखों का क्षय कर देती है ॥ २९ ॥

इस आत्मदृष्टि का आत्मसाक्षात्कार विरोधी आवरण स्वरूप अदर्शन को विद्वान् लोग अविद्या कहते हैं, अविद्या जगत् की कारणभूत है, अतः उसीसे सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति होती है ॥ ३० ॥

आवरण आदि स्वरूप से शून्य अर्थात् निस्तत्त्व रूप से अविद्या का ज्यों ही साक्षात्कार किया जाता है, वैसे ही

तावदेव गलत्याशु तुहिनाणुर्यथाऽऽतपे ॥ ३१ ॥
यथा नरो गलन्निद्रो यावत्कलनया मनाक् ।
विमृशत्याशयं तावन्निद्रा तस्य विलीयते ॥ ३२ ॥
यथा कीदृगवस्त्वेतदिति यावद्विकल्प्यते ।
अविद्या क्षीयते तावदालोकेनाऽन्धता यथा ॥ ३३ ॥
दीपहस्तो यथाऽभ्येति तमोरूपदिदृक्षया ।
तथा विलीयते सर्वं तमस्तापैर्घृतं यथा ॥ ३४ ॥
न च संलक्ष्यते दीपे तमसो रूपनिश्चयः ।
उदेति केवलं ध्वान्तध्वंसोऽविमलमूर्तिमान् ॥ ३५ ॥
एवमालोक्यमानैषा क्वाऽपि याति पलायते ।
असद्रूपा ह्यवस्तुत्वाद् दृश्यते ह्यविचारणात् ॥ ३६ ॥
आलोक आगते यादृक्तमस्तद्दृश्यते तथा ।
याऽवस्तुत्वे त्वविद्यायास्त्ववस्तुत्वं प्रतीयते ॥ ३७ ॥

तुरन्त वह उसी प्रकार गल जाती है, जैसे घाम में तुषार का परमाणु गल जाता है ॥ ३१ ॥

अविद्या के किंचित् विचार मात्र से अविद्या वैसे ही नष्ट हो जाती है जैसे जिसकी नींद गलितावस्थ हो रही है, ऐसा पुरुष ज्यों ही बुद्धि से अपने चित्त के वृत्तान्त का तनिक विचार करता है, उसकी निद्रा नष्ट हो जाती है ॥ ३२ ॥

सर्पादि वस्तु का स्वरूप किस प्रकार का है—वास्तविक है या भ्रान्ति से केवल कल्पित है—यह विचार करते ही सर्पादि का भ्रम वैसे ही नष्ट हो जाता है, जैसे आकाश से अन्धकार द्वारा सम्पादित दर्शन शक्ति के प्रतिबन्ध का नाश होता है ॥ ३३ ॥

तम का स्वरूप देखने की इच्छा से हाथ में दीपक लेकर आने पर जैसे सम्पूर्ण तम नष्ट हो जाता है या जैसे ताप से घृत नष्ट हो जाता है, वैसे ही विचार से अविद्या सहित सम्पूर्ण जगत् नष्ट हो जाता है ॥ ३४ ॥

जैसे दीप लाने पर अन्धकार के स्वरूप का निश्चय नहीं होता, किन्तु विशुद्ध स्वरूप वाला ध्वान्तध्वंस यानी गाढ अन्धकार नाश ही केवल उदित होता है ॥ ३५ ॥

मन्द-विचार करने पर यह अविद्या मन्द हो जाती है और अच्छी तरह विचार करने पर न मालूम कहाँ भाग जाती है, यह अवस्तु असद्रूप है और विचार न करने से ही दीख पड़ती है ॥ ३६ ॥

आलोक के आने पर प्रसिद्ध तम जैसे असद्रूप दीख पड़ता है, वैसे ही विचार से अविद्या भी असत्-रूप ही दीख पड़ती है । तम को अवस्तु मानने में वैसी भले ही

यावन्नाऽऽलोक्यते तावन्न किञ्चिदपि दृश्यते ।
आलोकिते यथाऽविद्या तत्तथा प्रतिपद्यते ॥ ३८ ॥
रक्तमांसास्थियन्त्रेऽस्मिन्कः स्यामहमिति स्वयम् ।
यावद्विचार्यते तावत् सर्वमाशु विलीयते ॥ ३९ ॥
आद्यन्तयोरसद्रूपे नूनं परिहृते हृदा ।
सर्वस्मिन्नेव यः शेषस्तमविद्याक्षयं विदुः ॥ ४० ॥
तन्न किञ्चिच्च किञ्चिद्वा तत्सद्ब्रह्मैव शाश्वतम् ।
तद्वस्तु तदुपादेयं यदविद्या निवर्तते ॥ ४१ ॥
रूपं स्वनाम्ना एवाऽस्या ज्ञायते निःस्वभावकम् ।
न हि जिह्वागतस्वाद्यस्वादोऽन्यस्मात् प्रतीयते ॥ ४२ ॥
नाऽविद्या क्वचिदप्यस्ति ब्रह्मैवेदमखण्डितम् ।
सदसत्कलनास्फारमशेषं येन मण्डितम् ॥ ४३ ॥
एतावदेवाऽविद्याया नेदं ब्रह्मेति निश्चयः ।
एतदेव क्षयो यस्या ब्रह्मेदमिति निश्चयः ॥ ४४ ॥
घटपटशकटावभासजालं
न विभुरितीत्युदितेह सा त्वविद्या ।
घटपटशकटावभासजालं
विभुरिति चेद्गलितैव सा त्वविद्या ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अविद्याचिकित्सानाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

आपत्ति हो, परन्तु त्रैकालिक बाध का अनुभव होने से अविद्या में अवस्तुत्व ही प्रतीत होता है ॥ ३७ ॥

जब तक अविद्या के अधिष्ठान का अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो जब तक सद्रूप यथार्थ वस्तु का ज्ञान नहीं होता है तब तक अविद्या के आविधिक अर्थात् अज्ञान से कल्पित रजत या साँप का ज्ञान शुक्ति और रस्सी में चलता रहता है, विवेक के द्वारा यह सर्प नहीं रस्सी है, इस ज्ञान से सर्प की निवृत्ति होने पर वस्तु के साक्षात्कार के बिना अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति नहीं होती है अतः अपरोक्ष आत्मतत्त्व ज्ञान ही अविद्या का निवर्तक। है अच्युतग्रन्थमाला में इसका अर्थ इस प्रकार है—

शुक्ति और रज्जु आदि अथवा रजत एवं सर्प आदि कोई भी वस्तु जबतक विचार कर नहीं देखी जाती, तब तक यह यथार्थरूप से नहीं दीख पड़ती और विचारपूर्वक देखने पर जिस स्वरूप की अविद्या और जिस तरह वस्तु-तत्त्व रहता वह उसी तरह दीख पड़ता है ॥ ३८ ॥

रक्त, मांस तथा अस्थिमय इस देहयन्त्र में 'मैं स्वयं कौन हूँ ?' इस प्रकार का विचार होने पर ही सभी अविद्या और उसका कार्य शीघ्र विलीन हो जाता है अर्थात् शरीर इन्द्रिय से अतिरिक्त अहं का साक्षात्कार ही अविद्या और उसके कार्य का निवर्तक है ॥ ३९ ॥

आदि-अन्त में असद्रूप सम्पूर्ण दृश्यमात्र का उस प्रकार के विचार वाले मन से परिहार हो जाने पर शेष रूप से चिदात्मा शिष्ट रहता है, उसे ही विद्वान् अविद्या निवृत्ति कहते हैं, अध्यस्त पदार्थ का बाध अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता है ॥ ४० ॥

वह ब्रह्म अविद्या के द्वारा आवरणदशा वस्तुस्वरूप से प्रतीत नहीं होता है उसकी नाशदशा में ही वस्तु और उपादेय है, उसीसे अविद्या निवृत्ति हो जाती है अर्थात् असत्त्व को उत्पन्न करने वाली एवं अप्रतीति अर्थात् अज्ञान की उत्पादक अविद्या के दो आवरण हैं, असत्त्वापादक अर्थात् वस्तु की सत्ता के अभाव पादक आवरण शब्द से विवेक से निवृत्त होता है और अमानापादक आवरण अधिष्ठान के दर्शन से निवृत्त होता है ॥ ४१ ॥

जैसे जिह्वागत आस्वाद्य पदार्थों का रस और किसी दूसरे से प्रतीत नहीं होता है वैसे ही अविद्या इस अपने नाम से ही इसके स्वभावरहित रूप का ज्ञान हो जाता है ॥ ४२ ॥

कहीं भी अविद्यानाम की वस्तु नहीं है, यह सब जगत् अखण्ड ब्रह्मस्वरूप ही है, जिससे सत् एवं असत् विस्तारभूत इस सम्पूर्ण जगत् की प्रतीति कराई है ॥४३॥

अविद्या का स्वरूप यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप नही है' इत्याकारक निश्चय ही है और 'यह जगत् ब्रह्मरूप है' यह निश्चय ही उसका विनाश है ॥ ४४ ॥

घट, घट शकट आदि स्वरूप अवभासमान यह जगज्जाल 'अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप नहीं है, किन्तु उससे भिन्न है' इस आरोपित निश्चय होने से अविद्या उदित हुई और उसकी भूत घट, पट, शकट आदि रूप से भासमान यह अपवाद स्वरूप जगज्जाल 'अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्दा ब्रह्मरूप ही है, उससे भिन्न नहीं' यह अपरिच्छिन्न सन्मात्र दृष्टि के उदय होने पर अविद्या गलित अर्थात् उसका क्षय होता है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में अविद्याचिकित्सा नामक कुसुमलता का दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १० ॥

११

वसिष्ठ उवाच

पुनः पुनरिदं राम ! प्रबोधार्थं मयोच्यते ।
अभ्यासेन विना साधो ! नाऽभ्युदेत्यात्मभावना ॥ १ ॥
अज्ञानमेतद्बलवदविद्येतरनामकम् ।
जन्मान्तरसहस्रोत्थं घनं स्थितिमुपागतम् ॥ २ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं सर्वैरिन्द्रियैरनुभूयते ।
भावाभावेषु देहस्य तेनाऽतिघनतां गतम् ॥ ३ ॥
आत्मज्ञानं तु सर्वेषामिन्द्रियाणामगोचरम् ।
सत्तां केवलमायाति मनःषष्ठेन्द्रियक्षये ॥ ४ ॥
प्रोल्लङ्घ्येन्द्रियजां वृत्तिं यत्स्थितं तत्कथं किल ।
याति प्रत्यक्षतां जन्तोः प्रत्यक्षातीतवृत्तिमत् ॥ ५ ॥
त्वमविद्यालतामेतां प्ररूढां हृदयद्रुमे ।
ज्ञानाभ्यासविलासासिपातैश्छिन्धि स्वसिद्धये ॥ ६ ॥
यथा विहरति ज्ञानज्ञेयो जनकभूपतिः ।
आत्मज्ञानाभ्यासपरस्तथा विहर राघव ! ॥ ७ ॥
निश्चयोऽयमभूत्तस्य कार्याकार्ये विहारिणः ।
जाग्रतस्तिष्ठतो वाऽपि तज्ज्ञानं तेन सत्यता ॥ ८ ॥
निश्चयेन हरिर्येन विविधाचारकारिणा ।
योनिष्ववतरत्युर्व्यां तत्तज्ज्ञत्वमुदाहृतम् ॥ ९ ॥

११

पूर्व में उपदिष्ट ही विषय का पुनः पुनः जो विभिन्न प्रकारों से उपदेश दिया जाता है, वह उपदेश्य विषय के बोध की दृढ़ता के लिए है। जैसे दृष्ट फलक अवघात आदि फल की उत्पत्तिपर्यन्त किये जाते हैं, वैसे ही दृष्ट फलक श्रवण, मनन आदि भी फलोत्पत्तिपर्यन्त करने चाहिए। इसीलिए भगवान् बादरायण ने लिखा है—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (श्रवण आदिकी आत्मसाक्षात्कार-पर्यन्त बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि वैसा उपदेश है)। इस रहस्यभूत तत्त्व का आलस्य दोष के परिहार के साथ उत्साह उत्पन्न करने के लिए उद्घाटन कर रहे महाराज वसिष्ठजी अविद्याक्षय होने पर परिशिष्ट रूप से रहने वाली दृष्टि का श्रवण करने के लिए श्रीरामजी को सावधान करते हैं—'पुनः पुनः' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीराम ! आत्म स्वरूप के उत्तम प्रबोध के लिए मैं पुनः पुनः इस रहस्य का उद्घाटन आप से करता हूँ, क्योंकि—हे साधो ! अभ्यास के बिना आत्मभावना कभी नहीं उदित नहीं होती है ॥ १ ॥

यह अज्ञान अत्यन्त बली है, दूसरा नाम इसी का 'अविद्या' है, हजारों जन्मजन्मान्तर से यह आ रहा है, अतएव वह दृढ़ स्थिति को प्राप्त है। अर्थात् जन्मजन्मान्तर की द्वैतवासनाओं से उसका एकबार के उपदेश से भली प्रकार उच्छेद नहीं हो सकता ॥ २ ॥

सभी इन्द्रियों के द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर उस अज्ञान का सदा अनुभव होने के कारण अत्यन्त घनीभूत अर्थात् दृढ़ हो गया है। अर्थात् देह की सत्ता रहने पर जीवन जाग्रत आदि अवस्थाओं में या देह के अस्तित्व न रहने पर मरण प्रलय आदि अवस्थाओं में साक्षी से बाह्य आभ्यान्तर चक्षु आदि अत्यन्त प्रबल रूप से गृहीत होने से द्वैत से अभिन्नात्मक अज्ञान की प्रबलता है अतः, इस अनुभव का निवारण सहज नहीं है ॥ ३ ॥

सभी इन्द्रियों का अविषय आत्मज्ञान है यह आत्मज्ञान किसी भी इन्द्रिय से हो नहीं सकता है। मन सहित ६ इन्द्रियों का क्षय हो जाने पर भी केवल उसकी सत्ता प्राप्त होती है ॥ ४ ॥

इन्द्रियों से जनित वृत्ति का अतिक्रमण कर अवस्थित वह प्राणियों का प्रत्यक्षविषय कैसे हो सकता है, क्योंकि वह प्रत्यक्षवृत्ति का अर्थात् इन इन्द्रियों को अतिक्रमण कर ही स्थित है ? ॥ ५ ॥

इस प्रबल अविद्यारूपी लता को जो हृदयरूपी वृक्ष पर लिपटी हुई है उसे ज्ञानाभ्यासरूपी विलास की तलवार के प्रहारों से आत्मस्वरूप की सिद्धि के लिए आप काट दें ॥ ६ ॥

हे राघव ! आत्मज्ञान के अभ्यास में निरत होकर वैसे ही विहार कीजिए जैसे राजा जनक जी विदिततत्त्व होकर भूमण्डल में विहार करते हैं ॥ ७ ॥

बाहरी व्यवहाररूप कार्य तथा समाधिरूप अकार्य से विहारणशील उस राजा जनक का भी निश्चय मेरे इस अनुभव के अनुसार ही था। अभ्यास के फल आत्मज्ञान से अभिव्यक्त स्वरूप की ही वास्तव में सत्यता होती है, ऊपर के ज्ञान से अभिव्यक्त फल की सत्यता नहीं होती है ॥ ८ ॥

जिस आत्मज्ञान के निश्चय के कारण पृथ्वी पर योनि में 'यानी गर्भवास आदि कृच्छ्रों में अवतार लेकर भी दुःख आदि से सम्बद्ध न होते हुए भगवान् श्री हरि अपने

निश्चयो यस्त्रिनेत्रस्य कान्तया सह तिष्ठतः ।
ब्रह्मणो वाऽप्यरागस्य स ते भवतु राघव ! ॥ १० ॥
यो निश्चयः सुरगुरोर्वावपतेर्भार्गवस्य च ।
दिवाकरस्य शशिनः पवनस्याऽनलस्य च ॥ ११ ॥
नारदस्य पुलस्त्यस्य मम चाऽङ्गिरसस्तथा ।
प्रचेतसो भृगोश्चैव क्रतोरत्रेः शुकस्य च ॥ १२ ॥
अन्येषामेव विप्रेन्द्रराजर्षीणां च राघव ! ।
यो निश्चयो विमुक्तानां जीवतां ते भवत्वसौ ॥ १३ ॥

श्रीराम उवाच

येनैते भगवन् ! धीरा निश्चयेन महाधियः ।
विशोकाः संस्थितास्तन्मे ब्रह्मन्प्रब्रूहि तत्त्वतः ॥ १४ ॥

वसिष्ठ उवाच

राजपुत्र ! महाबाहो ! विदिताखिलवेद्य हे ! ।
स्फुटं शृणु यथा पृष्टमयमेषां हि निश्चयः ॥ १५ ॥
यदिदं किञ्चिदाभोगि जगज्जालं प्रदृश्यते ।
तत्सर्वममलं ब्रह्म भवत्येतद्व्यवस्थितम् ॥ १६ ॥

विभिन्न-विभिन्न प्रकार के लीलाचरण करते हैं वही निश्चय आत्मज्ञान का स्वरूप है ॥ ९ ॥

हे राघव ! जगदम्बा पार्वती के साथ रहने वाले त्रिनेत्र महादेवजी का या राग रहित ब्रह्मा का निश्चय ही आपको भी हो ॥ १० ॥

देवताओं के गुरु बृहस्पति, दानवों के गुरु शुक्राचार्य, भगवान् अंशुमाली सूर्य, चन्द्रमा, वायुदेवता, अग्नि, महामुनि नारद, महर्षि पुलस्त्य, मैं अङ्गिरस प्रचेता, भृगु क्रतु, अत्रि, शुक्र तथा इन्हीं के समान अन्य जीवन्मुक्त विप्रेन्द्रों और राजर्षियों का आत्मा के विषय में निश्चय ही निश्चय आपको हो अर्थात् जीवित ही रहकर मुक्त हो विचरण करें ॥ ११-१३ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! महाबुद्धिमान् धीर सुरगुरु आदि जिस निश्चय के कारण शोकनिर्मुक्त होकर स्थित हैं, उसका मुझसे तात्त्विकरूप से वर्णन करें ॥१४॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—हे महाबाहो ! हे राज पुत्र ! हे समस्त वेद्य पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले आपके द्वारा किये गये उत्तर स्पष्टरूप से आप सुनें उनका यही निश्चय है ॥ १५ ॥

यह भोग्य जगज्जाल जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, वह निर्मल ब्रह्मस्वरूप ही सब मायिक अव्यवस्थित स्वरूप का परित्याग कर परमार्थ स्वरूप में अवस्थित है ॥१६॥

ब्रह्म ही चित् है, ब्रह्म ही चौदह भुवन है, ब्रह्म ही

ब्रह्म चिद्ब्रह्म भुवनं ब्रह्म भूतपरम्पराः ।
ब्रह्माऽहं ब्रह्म मच्छत्रुर्ब्रह्म सन्मित्रबान्धवाः ।
ब्रह्म कालत्रयं तच्च ब्रह्मण्येव व्यवस्थितम् ॥ १७ ॥
तरङ्गमालयाऽम्भोधिर्यथाऽऽत्मनि विवर्धते ।
तथा पदार्थलक्ष्म्येत्थमिदं ब्रह्म विवर्धते ॥ १८ ॥
गृह्यते ब्रह्मणा ब्रह्म भुज्यते ब्रह्म ब्रह्मणा ।
ब्रह्म ब्रह्मणि बृंहाभिर्ब्रह्मशक्त्येव बृंहति ॥ १९ ॥
ब्रह्म मच्छत्रुरूपं मे ब्रह्मणोऽप्रियकृद्यदि ।
तद्ब्रह्मणि ब्रह्मनिष्ठं किमन्यत् कस्यचित्कृतम् ॥ २० ॥
रागादिनामवस्थानं कल्पितानां खवृक्षवत् ।
असङ्कल्पेन नष्टानां कः प्रसङ्गोऽत्र वर्धते ॥ २१ ॥
ब्रह्मण्येव हि सर्वस्मिश्चरणस्पन्दनादिकम् ।
स्फुरति ब्रह्म सकलं सुखितादुःखिते कुतः ॥ २२ ॥
ब्रह्म ब्रह्मणि संतृप्तं ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थितम् ।
स्फुरति ब्रह्मणि ब्रह्म नाऽहमस्मीतरात्मकः ॥ २३ ॥

जीव-परम्परा है; मैं भी ब्रह्मस्वरूप हूँ, मेरा शत्रु भी ब्रह्मस्वरूप है, सन्मित्र, बन्धु-बान्धव आदि भी ब्रह्मस्वरूप हैं, तीनों काल भी ब्रह्मस्वरूप है और वह ब्रह्म में ही अवस्थित है ॥ १७ ॥

विभिन्न पदार्थलक्ष्मियों से यह ब्रह्म इस प्रकार वैसे ही विजृम्भित होता है जैसे समुद्र तरङ्गों की परम्पराओं से अपने स्वरूप में विजृम्भित होता है ॥ १८ ॥

ब्रह्म का ही ब्रह्म से ग्रहण होता है, ब्रह्म का ही ब्रह्म के द्वारा उपभोग किया जाता है, ब्रह्म ही ब्रह्म में विवर्तों से ब्रह्मशक्ति अर्थात् माया के द्वारा मानो बढ़ता है ॥१९॥

मेरे शत्रु का स्वरूप यदि ब्रह्म ही ब्रह्मस्वरूप मेरे अनिष्ट करने वाले है, तो ब्रह्म निष्ठ के प्रति किसी के द्वारा ब्रह्म में किया हुआ ब्रह्म को छोड़ और क्या हो सकता है ? ॥२०॥

इस परिपूर्ण ब्रह्म में आकाश वृक्ष की तरह असंकल्प से नष्ट हो जानेवाले कल्पित राग आदि दोषों का, अवस्थान-प्रसङ्ग ही जब नहीं हो सकता है तब उनका बढ़ना ही क्या ? ॥ २१ ॥

परिपूर्ण स्वरूप इस परब्रह्म में ही चरण गमन आदि सब कुछ है, चूँकि परिपूर्णात्मक ब्रह्म ही सुखैकरसरूप से स्फुरित होता है, अतः उसमें दुःख और सुख कैसें ? ॥२२॥

ब्रह्म में भली प्रकार तृप्त ब्रह्म ही है, ब्रह्म में ब्रह्म ही भली प्रकार अवस्थित है, ब्रह्म में ब्रह्म ही स्फुरित होता है, अतः मैं ब्रह्म से अतिरिक्त स्वरूपवाला नहीं हूँ ॥२३॥

घटो ब्रह्म पटो ब्रह्म ब्रह्माऽहमिदमाततम् ।
अतो रागविरागाणां मृषेव कलनेह का ॥ २४ ॥
मरणब्रह्मणि स्वैरं देहब्रह्मणि सङ्गते ।
दुःखितानाम कैव स्याद्रज्जुसर्पभ्रमोपमा ॥ २५ ॥
सम्भोगादौ सुखं ब्रह्मण्यास्थिते देहब्रह्मणि ।
सम्पन्नमेतन्म इति मुधा स्यात्कलना कुतः ॥ २६ ॥
वीच्यम्भसोः स्पन्दवतोर्न त्वन्यदम्बुनो यथा ।
त्वत्तामत्ते तथा न स्तो ब्रह्मणि स्पन्दरूपिणि ॥ २७ ॥
यथाऽऽवर्तमृते तोये न किञ्चिन्म्रियते क्वचित् ।
मृतिब्रह्मत्वमायाते देहब्राह्मणि वै तथा ॥ २८ ॥
यथा चलाचले तोये त्वत्तामत्ते न तिष्ठतः ।
तथा जडाजडे रूपे न स्थिते परमात्मनि ॥ २९ ॥
कटकत्वं यथा हेम्नो यथाऽऽवर्तो जलस्य च ।
तदत‌द्भावरूपेयं तथा प्रकृतिरात्मनः ॥ ३० ॥

श्रीरामजी, घट भी ब्रह्मरूप है, पट भी ब्रह्मरूप है, मैं भी ब्रह्मरूप हूँ, यह विस्तृत प्रपञ्च भी ब्रह्मरूप है, इसलिए मिथ्या राग, विराग आदि की यहाँ क्या कल्पना है ॥ २४ ॥

भद्र, देहरूप ब्रह्म में मरणात्मक ब्रह्म अपने-आप जब मिल गया, तब रज्जु में भुजङ्ग-भ्रम की तरह होनेवाली दुःखिता मिथ्या कल्पना के अतिरिक्त और हो ही क्या सकती है ? ॥ २५ ॥

'यह मुझे प्राप्त हुआ' संयोगात्मक ब्रह्म में देहरूप ब्रह्म ब्रह्म के सुखपूर्वक अवस्थित होने पर यह व्यर्थ इच्छा किस तरह होगी ? ॥ २६ ॥

स्पन्द स्वरूप ब्रह्म के होने पर भी त्वत्ता और मत्ता वैसे ही कुछ भी नहीं है, जैसे बीचि और जल के स्पन्द युक्त होनेपर भी जल से पृथक् कुछ भी नहीं है ॥ २७ ॥

देहात्मक ब्रह्म में मरणरूप ब्रह्म के प्राप्त होनेपर वैसे ही कुछ भी नहीं है जैसे आवर्त के नष्ट होने पर जल में कुछ भी नष्ट नहीं होता ॥ २८ ॥

परमात्मा में जड़रूपता तथा प्रतियोगी के अप्रसिद्धि होने से तटयावृत्तरूप अजड़ता भी वैसे ही नहीं रहती जैसे चंचल जल रूप में त्वत्ता और मत्ता नहीं रहतीं ॥ २९ ॥

जडाजडरूप होना यह ब्रह्म का भी एक वैसा ही मायिक स्वभाव है जैसे सुवर्ण में कटकरूपत्व और जल में आवर्तरूपत्व का होना सुवर्ण और जल का स्वभाव है ॥ ३० ॥

'यह जीवभूत आत्मा है, यह जडभूत पदार्थ है' इस

इदं हि जीवभूतात्म जडरूपमिदं भवेत् ।
इत्यज्ञानात्मनो मोहो न च ज्ञानात्मनः क्वचित् ॥३१॥
अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्याऽऽनन्दमयं जगत् ।
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सचक्षुषः ॥ ३२ ॥
जगदेकात्मकं ज्ञस्य मूर्खस्याऽतीव दुःखदम् ।
शिशोरिव स्फुरद्यक्षा निशा पुंसस्तु केवला ॥ ३३ ॥
अस्मिन्ब्रह्मघटे नित्यमेकस्मिन्सर्वतः स्थिते ।
न किञ्चिन्म्रियते नाम न च किञ्चिन जीवति ॥ ३४ ॥
यथोल्लासविलासेषु न नश्यति न जायते ।
तरङ्गादिमहाम्भोधौ भूतवृन्दं तथाऽऽत्मनि ॥ ३५ ॥
इदं नास्तीदमस्तीति भ्रान्तिर्नामाऽऽत्मनाऽऽत्मनि ।
शक्तिर्निर्हेतुकैवाऽन्तः स्फुरति स्फटिकांशुवत् ॥ ३६ ॥
जगच्छक्त्याऽऽत्मनाऽऽत्मैव ब्रह्म स्वात्मनि संस्थितम् ।
तरङ्गकणजालेन पयसीव पयो घनम् ॥ ३७ ॥

प्रकार का मोह अज्ञानी को ही होता है, ज्ञानत्मा को कभी नहीं होता है ॥ ३१ ॥

अज्ञानी को यह जगत् दुःख-समूह स्वरूप और ज्ञानी को आनन्द प्रचुर वैसे ही प्रतीत होता है जैसे अन्धे पुरुष को जगत् अन्धकाररूप और सुदृष्टिवाले को प्रकाश स्वरूप प्रतीत होता है ॥ ३२ ॥

ज्ञानी पुरुष को यह जगत् एकमात्र आनन्दमय ब्रह्म-स्वरूप वैसे ही अनुभूत होता है और अज्ञानी पुरुष को अत्यन्त दुःखद वैसे ही प्रतीत होता है जैसे बालक की दृष्टि में रात्रि स्वभ्रान्ति से परिकल्पित यक्षवाली और युवा, वृद्ध आदि पुरुषों की दृष्टि में विशुद्ध यक्षवर्जित प्रतीत होती है ॥ ३३ ॥

अमृतपूर्ण ब्रह्मरूपी घट में जो सदा-सर्वदा चारों ओर अवस्थित है उसमें न कोई मरता है और न कोई जीता है ॥ ३४ ॥

आत्मा में भूत-समूह वैसे ही हैं और न मरते हैं जैसे महान् सागर में उल्लास-विलास होनेपर भी तरङ्ग आदि न उत्पन्न होते हैं और न मरते हैं ॥ ३५ ॥

'यह नहीं है और यह है' इस प्रकार की भ्रान्तिरूपी माया किसी तरह के प्रयोजन के बिना आत्मा के द्वारा आत्मा में ही उस प्रकार भीतर जगद्रूप से और तत्-तत् पदार्थों की शक्तिरूप से स्फुरित होती है, जिस प्रकार स्फटिक को अनेक प्रतिबिम्बों का ग्रहण करने में योग्यता-सम्पादक स्वच्छता अनेक तरह के प्रतिबिम्ब और उसके गुण, क्रिया आदि वैचित्र्य के रूप से अन्दर प्रस्फुरित होती

शरीरनाशेन कथं ब्रह्मणो मृतधीर्भवेत् ॥ ३८ ॥
ब्रह्मणो व्यतिरिक्तं हि न शरीरादि विद्यते ।
पयसो व्यतिरेकेण तरङ्गादि महार्णवे ॥ ३९ ॥
यः कणो या च कणिका या वीचिर्यस्तरङ्गकः ।
यः फेनो या च लहरी तद्यथा वारि वारिणि ॥ ४० ॥
यो देहो या च कलना यद्दृश्यं यौ क्षयाक्षयौ ।
या भावरचना योऽर्थस्तया तद्ब्रह्म ब्रह्मणि ॥ ४१ ॥
संस्थानरचना चित्रा ब्रह्मणः कनकादिव ।
नान्यरूपा विमूढानां मृषैव द्वित्वभावना ॥ ४२ ॥
मनो बुद्धिरहङ्कारस्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च ।
ब्रह्मैव सर्वं नानात्म सुखं दुःखं न विद्यते ॥ ४३ ॥
अयं सोऽहमिदं चित्तमित्याद्यर्थोत्थया गिरा ।
शब्दप्रतिश्रवेणाऽद्राविवाऽऽत्माऽऽत्मनि जृम्भते ॥ ४४ ॥

है। अपने आप में जगत् की शक्ति के रूप से ब्रह्म वैसे ही अवस्थित है जैसे जल में में तरंगों के कण-समूहों से घन जल ही स्थित है ॥ ३६–३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजी, शरीर के विनाश से ब्रह्म में मृतबुद्धि कैसे हो सकती है ? वैसे ही शरीर आदि ब्रह्म से उस प्रकार पृथक् नहीं हैं जैसे महावर्ण में तरङ्गादि जल से अतिरिक्त नहीं हैं ॥ ३८–३९ ॥

ब्रह्म में कल्पित जो देह, जो इन्द्रिय-व्यापार है, जो भोग्य है, जो संपत्ति और विपत्ति है, जो हर्ष, विषाद आदि रचना है और जो पुरुषार्थ भोग है, सब वैसे ही ब्रह्मस्वरूप ही है जैसे जल में जो कण है, जो वीचि है, जो तरङ्ग है, जो फेन है, और जो लहरीं है वे, सब जल स्वरूप ही हैं ॥ ४०–४१ ॥

ब्रह्म से हुई चित्र-विचित्र देहादि संस्थानों की रचना भी ब्रह्म से वैसे ही विभिन्न नहीं हो सकती जैसे सुवर्ण से बनी विभिन्न-विभिन्न आकृति-रचनाएँ सुवर्ण से पृथक् नहीं होती हैं, अज्ञानियों को वृथा ही उसमें द्वित्वभावना होती है ॥ ४२ ॥

मन, बुद्धि, अहङ्कार, तन्मात्रा, इन्द्रियाँ आदि सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं, ब्रह्म से भिन्न नहीं है, इसलिए सुख और दुःख का अस्तित्व ही नहीं हो सकता है ॥ ४३ ॥

यह, वही मैं, यह चित्त, इत्यादि अर्थों को लेकर प्रवृत्त वाणी से आत्मा ही अपनी आत्मा में वैसे ही विजृम्भित होता है जैसे एक ही शब्द पर्वत की संनिधि प्रतिध्वनि के रूप में द्विरुक्त की तरह विजृम्भित होता है ॥ ४४ ॥

ब्रह्मैवाऽज्ञातमज्ञत्वमभ्यागतमिव स्थितम् ।
तथा हि दृश्यते स्वप्ने चेतसाऽऽत्माऽऽत्मनाऽऽत्मनः॥४५॥
अभावितं ब्रह्मतया ब्रह्माऽज्ञानमलं भवेत् ।
अभावितं हेमतया यथा हेम च मृद्भवेत् ॥ ४६ ॥
स्वयंप्रभुर्महात्मैव ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ।
अपरिज्ञातमज्ञानमज्ञानामिति कथ्यते ॥ ४७ ॥
ज्ञातं ब्रह्मतया ब्रह्म ब्रह्मैव भवति क्षणात् ।
ज्ञातं हेमतया हेम हेमैव भवति क्षणात् ॥ ४८ ॥
ब्रह्माऽऽत्मा सर्वशक्तिर्हि तद्यथा भावयत्यलम् ।
निर्हेतुकः स्वयं शक्त्या तत्तथाऽऽशु प्रपश्यति ॥ ४९ ॥
अकर्मकर्तृकरणमकारणमनामयम् ।
स्वयंप्रभुं महात्मानं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥ ५० ॥
अपरिज्ञातमज्ञानामज्ञानमिति कथ्यते ।
परिज्ञातं भवेज्ज्ञानमज्ञानपरिनाशनम् ॥ ५१ ॥

मानो अज्ञात ब्रह्म ही जीवरूपता और जगद्रूपता को प्राप्त होकर स्थित है, क्योंकि स्वप्न में अपने आत्मस्वरूप अन्तःकरण से आत्मा ही अनेक पदार्थों के रूप में दिखाई देता है ॥ ४५ ॥

जैसे सुवर्णरूप से न जाना हुआ सुवर्ण मृत्तिकारूप हो जाता है वैसे ही ब्रह्मस्वरूप से न पहचाना हुआ ब्रह्म अज्ञानरूप हो जाता है ॥ ४६ ॥

ब्रह्मवेत्ता महामुनियों का कहना है कि अज्ञात स्वयं समर्थ, महान् आत्मा ब्रह्म ही अज्ञानियों द्वारा अज्ञान शब्द से व्यवहृत होता है ॥ ४७ ॥

जैसे सुवर्णरूप से ज्ञात सुवर्ण तत्क्षण में ही सुवर्ण हो जाता है वैसे ही ब्रह्मस्वरूप के ज्ञात ब्रह्म, तत्क्षण ही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥ ४८ ॥

समस्त शक्तियों से परिपूर्ण आत्मा स्वयं ब्रह्म है, वह किसी तरह के प्रयोजन के बिना जीव और जगद्रूप से या तात्त्विक ब्रह्मरूप से जैसी-जैसी स्वयं भावना करता है, भावना के बलपर शीघ्र ही उस स्वरूप से अपने-आप को देखता है ॥ ४९ ॥

कर्म, कर्ता और करणों के बिना कारण से वर्जित सर्वविध विकारों से शून्य, स्वकीय ज्ञान से अपनी स्थिति में स्वयं समर्थ ब्रह्म ही महान् आत्मा है, यह ब्रह्मज्ञानियों का कहना है ॥ ५० ॥

अज्ञात ब्रह्म अज्ञानियों द्वारा अज्ञानशब्द से व्यवहृत होता है, और परिज्ञात ब्रह्म ही अज्ञान का विनाशक ज्ञान शब्द से कहा जाता है ॥ ५१ ॥

बन्धुरेवाऽपरिज्ञातो ह्यबन्धुरिति कथ्यते ।
परिज्ञातो भवेद्बन्धुरबन्धुभ्रमनाशनात् ॥ ५२ ॥
इदं त्वयुक्तमित्यन्तर्ज्ञाते सोदेति भावना ।
यस्मादयुक्ताद्वैरस्याद्यया किल विरज्यते ॥ ५३ ॥
द्वैतं त्वसत्यमित्यन्तर्ज्ञाते सोदेति भावना ।
तस्माद् द्वैताच्च वैरस्याद्यया किल विरज्यते ॥ ५४ ॥
अयं नाऽहमिति ज्ञाते स्फुटे सोदेति भावना ।
मिथ्याहङ्करता तस्माद्यया नूनं विरज्यते ॥ ५५ ॥
ब्रह्मैवाऽहमिति ज्ञाने सत्ये सोदेति भावना ।
तस्मिन् सत्ये निजे रूपे यथाऽन्तः परिलीयते ।
सति विस्तारजे तस्मिन् ब्रह्मेदमिति वेद्म्यहम् ॥ ५६॥
त्वमहंत्वादिबाधे तत्सदित्यादि जगद्गतम् ।

अपरिज्ञात बन्धु ही अबन्धु कहा जाता है, परिज्ञात वही बन्धु शब्द से व्यवहृत होता है, अबन्धुभ्रम के विनष्ट हो जाने पर वह बन्धु है प्रकृतस्थल में भी उसी तरह जानना चाहिए ॥ ५२ ॥

जब अपने अन्दर भली प्रकार 'यह समस्त जगत् विचार के लिए अयोग्य निश्चित हो जाता है, तभी वह ब्रह्मभावना उचित हो जाती है क्योंकि एकमात्र विचारणा के द्वारा अयोग्य शुक्ति-रजत में मिथ्यात्व की सिद्धि हो जाने से रजत की तरह पुरुष भोग्यवर्ग से विरक्त हो जाता है ॥ ५३ ॥

'द्वैत असत्य है, इस प्रकार अन्त में असत्यत्व की भावना हो जाने पर ब्रह्मभावना उदित होती है, और द्वैत की असत्यता सिद्ध हो जाने पर पुरुष द्वैतजाल से विरक्त हो जाता है ॥ ५४ ॥

'देह आदि यह कार्य-कारणसंघात मैं नहीं हूँ' इस प्रकार का भीतर से विचार उत्पन्न हो जाने पर ब्रह्म-भावना उत्पन्न होती है, इसी से अहंभाव में मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है और उससे पुरुष विरक्त होता है ॥५५॥

'मैं एकमात्र ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकार सत्यस्वरूप ज्ञान होनेपर ब्रह्मभावना उदित होती है; उस सत्य निज-रूप का परिज्ञान होनेपर जीव-जगद्भाव लीन हो जाता है। अखण्डाकार ब्रह्म का अवबोध होनेपर स्थित भी जगत् सदैकरस ब्रह्मस्वरूप ही है, दुःखस्वरूप नहीं है, उस अखण्ड वाक्यार्थ के अपरिच्छिन्न स्वभाव का आविर्भाव हो जानेपर यह सब एकमात्र ब्रह्मस्वरूप ही है—ऐसा समझता हूँ ॥ ५६ ॥

अपरिच्छिन्न स्वभाव से अखण्ड वाक्यार्थ से आविर्भाव

सत्यं सर्वप्रकाराढ्यं ब्रह्मेदमिति वेद्म्यहम् ॥ ५७ ॥
न मे दुःखं न कर्माणि न मे मोहो न वाञ्छितम् ।
समः स्वस्थो विशोकोऽस्मि ब्रह्माऽहमिति सत्यता॥५८॥
कलाकलङ्कमुक्तोऽस्मि सर्वमस्मि निरामयः ।
न त्यजामि न वाञ्छामि ब्रह्माऽहमिति सत्यता ॥ ५९॥
अहं रक्तमहं मांसमहमस्थीन्यहं वपुः ।
चिदहं चेतनं चाऽहं ब्रह्माऽहमिति सत्यता ॥ ६० ॥
द्यौरहं खमहं सार्कमहमाशा भुवोऽप्यहम् ।
अहं घटपटाकारो ब्रह्माऽहमिति सत्यता ॥ ६१ ॥
अहं तृणमहं चोर्वी गुल्मोऽहं काननाद्यहम् ।
शैलसागरसार्थोऽहं ब्रह्मैकत्वं किल स्थितम् ॥ ६२ ॥

से जब 'त्वम्' 'अहम्' और 'इदम्' स्वरूपता का बाध हो जाता है, तब प्रसिद्ध सत्, चित्, प्रिय, नाम और रूप में जो जगद्गत पंचरूप वस्तुजात हैं, उन्हें ब्रह्मरूप से जानता हूँ ॥ ५७ ॥

मुझे न दुःख है, न कर्म हैं, न मोह है, न कुछ अभि-लषित है। मैं सम, एकरूप, अपने स्वरूप में स्थित, शोकशून्य तथा ब्रह्मस्वरूप हूँ—यह सत्य है ॥ ५८ ॥

मैं कलारूपी कलङ्कों से निर्मुक्त अर्थात् तुम, 'मैं' आदि कल्पनाओं से शून्य हूँ, मैं सभी प्रकार के विकारों से शून्य और सर्वात्मक हूँ, मैं न किसी का परित्याग करता हूँ और न कुछ चाहता हूँ, मैं परब्रह्मस्वरूप हूँ, यही नितान्त सत्य है ॥ ५९ ॥

मैं ही रक्त हूँ, मैं ही माँस हूँ, मैं ही अस्थियाँ हूँ, मैं ही शरीर हूँ, मैं ही चितिशक्ति हूँ, मैं ही चेतन हूँ, मैं ही ब्रह्मस्वरूप हूँ, यह निश्चित सत्य है। आशय यह है कि आत्मा में परिच्छिन्नत्व और परोक्षत्व का एकमात्र निराकरण करने के लिए ही 'त्वम्' और 'तत्' पदार्थ का परिशोधन किया गया है, उसका परिच्छिन्नत्व एवं परोक्षत्व का निरास करने पर आत्मा में जब सर्वात्मैकत्व का लाभ होने पर रक्त, मांस आदि रूप देहप्रभृति भी आत्मस्वरूप ही सिद्ध है, अतः उनका निरास करना उपेक्षित नहीं है ॥ ६० ॥

मैं द्यौ हूँ, मैं सूर्यसमन्वित आकाश हूँ, मैं दिशारूप हूँ, मैं विविध पृथ्वीरूप भी हूँ, मैं घट एवं पट का आकार हूँ, मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ यह सत्य है ॥ ६१ ॥

मैं तृण हूँ, मैं पृथ्वी हूँ, मैं गुल्म स्कन्धरहित वृक्ष हूँ, अरण्य आदि भी मैं ही हूँ, पर्वत, सागर और प्राणियों

आदानदानसङ्कोचपूर्विका भूतशक्तयः ।
सर्वमेव चिदात्माऽस्मि ब्रह्मण्याततरूपधृक् ॥ ६३ ॥
लतागुल्माङ्कुरादीनामहं संभवनैषिणाम् ।
चिदात्माऽन्तर्गतं शान्तं परं ब्रह्मरसात्मकम् ॥ ६४ ॥
यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
यो मतः सर्व एकात्मा परं ब्रह्मेति निश्चयः ॥ ६५ ॥
चिदात्मा ब्रह्म सत्सत्यमृतं ज्ञ इति नामभिः ।
प्रोच्यते सर्वगं तत्त्वं चिन्मात्रं चेत्यवर्जितम् ॥ ६६ ॥
आभासमात्रममलं सर्वभूतात्मबोधकम् ।
सर्वत्राऽवस्थितं शान्तं चिद्ब्रह्मेत्यनुभूयते ॥ ६७ ॥
मनोबुद्धीन्द्रियव्रातसमस्तकलनान्वितम् ।
भेदं त्यक्त्वा स्वमाभासं चिद्ब्रह्माऽहमनामयम् ॥ ६८॥

का समूह भी मैं ही हूँ, निश्चय ही एकमात्र ब्रह्मैक्य सर्वत्र स्थित है ॥ ६२ ॥

ग्रहण, परित्याग, संकोच आदि जो प्राणियों के व्यापार हैं, सभी तथा ब्रह्म व्यापकरूप धारण करनेवाला चिदात्मा मैं ही हूँ ॥ ६३ ॥

अङ्कुर, टहनी, प्रतान, शाखा आदि का आविर्भाव चाहनेवाले लता, गुल्म, अङ्कुर आदि के भीतर स्थित रसात्मक शान्त परब्रह्मस्वरूप चिदात्मा मैं ही हूँ ॥६४॥

सब कुछ जिसमें स्थित है, यह सब जिसमें उत्पन्न हुआ है, सब कुछ जिसमें तिरोहित हो जाता है, व्यापकरूप से जो चारों ओर विद्यमान है। अद्वितीय आत्मस्वरूप से जो सम्मत है, वही परब्रह्म है, यह निश्चय है ॥ ६५ ॥

चिदात्मा, ब्रह्म, सत्, सत्य, ऋत, ज्ञ इत्यादि नामों से व्यापक, चेत्यशून्य, चैतन्यमात्रस्वरूप ब्रह्मतत्त्व ही सर्वत्र कहा जाता है ॥ ६६ ॥

ब्रह्मज्ञानी विषयसंसर्गशून्य चैतन्यमात्रस्वरूप, निर्मल, समस्त भूतों के स्वरूप का अवबोधक, सर्वत्र स्थित, शान्त चिद्ब्रह्म का अनुभव करते हैं ॥ ६७ ॥

मन, बुद्धि, इन्द्रियों के समूह तथा समस्त वृत्तियों में अनुगत, सर्वगत औपाधिक भेदों का परित्याग कर प्रत्यक्स्वरूपात्मप्रमा का स्वप्रकाशस्वरूप निर्विकार चैतन्य ब्रह्म मैं ही हूँ ॥ ६८ ॥

समस्त, शब्द स्पर्श आदि विषय; उनके आधारभूत आकाश, वायु आदि तथा इनके द्वारा की गई जगत्स्थिति इन सब की सत्ता का अस्तित्व प्रकाशस्वरूप स्वच्छ, चैतन्यरूप ब्रह्म मैं ही हूँ, मेरा कभी विनाश नहीं है ॥६९॥

अग्नि से निकलने वाले विस्फुलिङ्गों की धाराओं की

शब्दादीनामशेषाणां कारणानां जगत्स्थितेः ।
तत्त्वावकाशकं स्वच्छं चिद्ब्रह्माऽस्मि न मे क्षयः ॥६९॥
अनारतगलत्स्वच्छचिद्धारागहनात्मकम् ।
आलोकः सुमनोमौनं चिद्ब्रह्माऽस्म्यमृतं परम् ॥ ७० ॥
अनारतगलद्रूपं नित्यं चाऽनुभवामृतम् ।
अहंनिःशेषचक्राणि चिद्ब्रह्माऽहमलेपकम् ॥ ७१ ॥
सुषुप्तसदृशं शान्तमालोकविमलात्मकम् ।
संभोगोत्तममाभासं चिद्ब्रह्माऽस्म्यपवासनम् ॥ ७२ ॥
खण्डादिस्वादुसंवित्तिरीषन्मात्रा तु तिष्ठति ।
चित्तादिष्ववबुद्धेषु तद्धि ब्रह्माऽहमच्युतः ॥ ७३ ॥
कान्तासंसक्तचित्तस्य चन्द्रे समुदिते सति ।
चन्द्रप्रत्ययसत्त्वात्म चिद्ब्रह्माऽहमनामयम् ॥ ७४ ॥

तरह वृत्तिरूप उपाधिधाराओं से निरन्तर निकल रही चित्-धाराओं के आकरस्थानीय प्रत्यगात्मा के स्वरूपभूत, प्रकाशात्मक, योगियों के द्वारा अनुभूयमान होनेपर भी निर्वचन करने के लिए असमर्थ तथा परम अमृतमय सर्वातिशायी आनन्दरूप चैतन्य ब्रह्म मैं ही हूँ ॥ ७० ॥

अहंकाररूपी अशेष भोक्ताओं के प्रति भोग-वृत्तियों की धारारूपी उपाधियों से, मधुधारा की तरह निरन्तर बह रहे स्वरूप से युक्त, निरन्तर कूटस्थ के नित्यानुभावनन्दैकरसामृतसंभूत एकरसस्वरूप तथा निर्लेप परब्रह्मचैतन्यस्वरूप ही मैं हूँ ॥ ७१ ॥

सुषुप्ति के समान समस्त विकल्पों से रहित, उपद्रवों से शून्य निर्मल प्रकाशस्वरूप, मनुष्य से लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त होने वाले विषयसुखों से भी अत्युत्तम सुखस्वरूप चारों ओर प्रकाशमान तथा वासनाओं से शून्य चैतन्यात्मक ब्रह्मस्वरूप मैं हूँ ॥ ७२ ॥

जिह्वा आदि इन्द्रियों के द्वारा जायमान मिश्री का टुकड़ा, शर्करारस की जिह्वा से कण्ठप्रदेशप्राप्तिपर्यन्त स्वल्पतर देश और काल से परिच्छिन्न—होकर स्थित रहता है। स्वप्रकाश एवं आनन्दैकरसस्वरूप से अपनी परिच्छिन्नता के हेतुभूत चित्त, चेत्य और चेतयिता के ज्ञात हो जानेपर परिच्छिन्न उपाधि की विच्युतिदशा में भी च्युतिशून्य आत्मस्वरूप हो जाता है, वही च्युतिशून्य निरतिशयानन्दात्मक ब्रह्मस्वरूप मैं हूँ ॥ ७३ ॥

चूँकि रात्रि में चन्द्रमा का उदय होनेपर चन्द्रमा और कान्ता दोनों में दर्शन-समय में मध्यवर्ती प्रदेश में चिति का विच्छेद कान्ता से आसक्त चित्तवाले पुरुष को अनुभूत नहीं होता है अतः चन्द्रमा का ज्ञान रहने तक अविच्छिन्न-

भूमिष्ठनरदृष्टीनां लग्नानां खे निशाकरे ।
या खस्था ननु चिच्छक्तिस्तच्चिद्ब्रह्माऽस्ति निर्मलम्॥७५
सुखदुःखादिकलनाविकलो निर्मलस्तथा ।
सत्यानुभवरूपात्म चिद्ब्रह्मात्माऽस्मि शाश्वतः ॥ ७६ ॥
असंस्तुताध्वगालोके मनस्यन्यत्र संस्थिते ।
या प्रतीतिरनागस्का तच्चिद्ब्रह्माऽस्मि सर्वगः ॥ ७७॥
भूवार्यनिलबीजानां सम्बन्धेऽङ्कुरकर्मसु ।
शक्तिरुद्गमनीयान्तस्तच्चिद्ब्रह्माऽहमाततम् ॥ ७८ ॥
खर्जूरनिम्बबिम्बानां स्वयमात्मनि तिष्ठताम् ।
या स्वादसत्ता लीनान्तस्तद्ब्रह्म चिदहं समः ॥ ७९ ॥
खेदानन्दविमुक्तान्तःसंवित्तिर्मननोदया ।
लाभालाभविधौ तुल्या चिद्ब्रह्माऽस्मि निरामयम् ।८०।

सत्ता वाला निर्विषयक चैतन्यात्मक ज्ञानस्वरूप प्रसिद्ध ब्रह्मस्वरूप ही मैं हूँ ॥ ७४ ॥

आकाश में स्थित चन्द्रमा में लगे हुए भूमि में अवस्थित पुरुषों के नेत्रों की मध्यवर्ती आकाश-प्रदेश में स्थित चित्-शक्ति ही निर्मल चिद्ब्रह्म है ॥ ७५ ॥

मैं सुख, दुःख आदि कल्पनाओं से रहित एवं निर्मल तथा सुख-दुःखाकार वृत्ति के अभाव-दशा में उदासीन पुरुषों को प्रतीत होने वाला सत्य अनुभवरूप चैतन्य ब्रह्मस्वरूप ही अविनाशी मैं हूँ ॥ ७६ ॥

किसी एक देश में अवस्थित पुरुष का मन, जब अन्यत्र कहीं दूर देश में चला जाता है, तब वह मन अन्तरालमार्ग में पतित सामने के पदार्थों का विस्पष्ट ·काश नहीं कर पाता—उन पदार्थों का निर्विकल्प साक्षा-·ार होता है। मन की ऐसी स्थिति होने पर अन्तराल ·ा में विषयसंसर्ग से शून्य हो रही चैतन्यात्मक ब्रह्म-·वरूप प्रतीतिस्वरूप ही सर्वव्यापक मैं हूँ ॥ ७७ ॥

पृथ्वी, जल, वायु और बीजों का संमेलन होनेपर ·ङ्कुरादिरूप कार्यों में बाहर निर्गमन के अनुकूल भीतर ·द्यमान चितिशक्तिस्वरूप व्यापक ब्रह्म ही मैं हूँ ॥ ७८ ॥

स्वयं अपने जड़स्वभाव में अवस्थित खजूर, निम्ब ·र बिम्ब आदि फलों के रसविशेषों में भीतर विद्यमान ·सनावृत्ति से अभिव्यक्त प्रकाशस्वरूप स्वाद-सत्तास्वरूप ·ो चिदात्मक ब्रह्म है वही मैं हूँ ॥ ७९ ॥

मनन के उदय से विशोधित संवित्ति इष्टप्राप्ति और ·ष्ट की अप्राप्ति दोनों अवस्थाओं में खेद और आनन्द से ·र्मुक्त होकर एक स्वरूप हो जाय, तो वह चिदात्मक ·र्विकार ब्रह्मस्वरूप ही है, वही मैं हूँ ॥ ८० ॥

यावद्भूम्यर्कमेतावद्दृष्टिसूत्रं यदाततम् ।
तन्मध्यसदृशं शान्तं निर्मलं चिदहं ततम् ॥ ८१ ॥
जाग्रत्यपि सुषुप्तेऽपि तत्स्वप्नेऽपि तथोदितम् ।
तुर्यं रूपमनाद्यन्तं चिद्ब्रह्माऽहमनामयम् ॥ ८२ ॥
पुंसां क्षेत्रशतोत्थानामिक्षूणां स्वादुवत्स्थितम् ।
सर्वेषामेकरूपं तच्चिद्ब्रह्माऽस्मि समः स्थितः ॥ ८३ ॥
सर्वगा प्रकृता स्वच्छरूपा भानोरिव प्रभा ।
आलोककारिणी कान्ता चिद्ब्रह्मेदमहं ततम् ॥ ८४ ॥
संभोगानन्दलववदमृतास्वादशक्तिवत् ।
स्वानुभूत्येकमात्रं यच्चिद्ब्रह्माऽस्मि तदव्ययम् ॥ ८५॥
प्रोताङ्गमपि गुप्तास्यं देहे तन्तुर्बिसे यथा ।
छेदे भेदे स्फुरद्रूपं चिद्ब्रह्माऽहमनामयम् ॥ ८६ ॥

सूर्य का प्रत्यक्ष कर रहे, पृथ्वी में स्थित पुरुष का पृथ्वी से लेकर सूर्यपर्यन्त विस्तृत चक्षुरूपी सूत्र विषय-प्रकाशन में समर्थ है, उसके नेत्र और सूर्य दोनों से असम्बद्ध मध्यवर्ती भाग के सदृश विषयप्रकाशन से निर्मुक्त शान्त, निर्मल, व्यापक, परब्रह्मस्वरूप चित् ही मैं हूँ ॥ ८१ ॥

जाग्रत्, सुषुप्त तथा स्वप्न सभी अवस्थाओं में साक्षी-रूप से निरन्तर विद्यमान अवस्थाओं से शून्य आदि-अन्त से रहित तुर्यस्वरूप विकारवर्जित चिदात्मक ब्रह्म मैं ही हूँ ॥ ८२ ॥

सैकड़ों खेतों से उत्थित इक्षुदण्डों में अन्तःस्थित स्वादुरस के समान सैकड़ों पुरुषों के अन्दर एकरूप से अवस्थित चैतन्यात्मक ब्रह्मस्वरूप मैं हूँ ॥ ८३ ॥

सर्वत्र व्यापक, स्वाभाविक स्पच्छ स्वरूप सूर्य की प्रभा की तरह प्रकाश करने वाली कमनीय चिति ही ब्रह्म है, इन दृश्यमान पदार्थों के रूप से विस्तृत स्वरूप मैं हूँ ॥ ८४ ॥

संभोगानन्द रूपी अंक से समन्वित अमृत-स्वाद की शक्ति से युक्त अपने एकमात्र अनुभव के स्वरूपभूत अविनाशी ब्रह्म मैं हूँ ॥ ८५ ॥

सारे देह में व्याप्त होकर रहनेपर भी गुप्तमुख एवं शरीर के छेदन एवं भेदन होनेपर वैसे ही साक्षी होकर स्फुरितरूप होनेवाला, जैसे कमल के मृणाल में विद्यमान सूत्र कमल के सारे शरीर में व्याप्त होकर रहनेपर भी गुप्तमुख और छेदन एवं भेदन करनेपर प्रस्फुरित रूप होकर दीखता है, वैसे ही निर्विकार चिद्ब्रह्म मैं हूँ ॥ ८६ ॥

आक्रान्तभुवनाऽप्यभ्रमालेव स्पन्दशालिनी ।
दुर्लक्ष्याणुमयाकारा चिच्छक्तिरहमातता ॥ ८७ ॥
अनुभूतिमयान्तस्थस्नेहमात्रोपलक्षिता ।
क्षीराद्घृतस्य सत्तेव चिदहं क्षयवर्जिता ॥ ८८ ॥
कटकाङ्गदकेयूररचना तदतन्मयी ।
हेम्नीव संस्थिता देहे चिद्ब्रह्मात्माऽस्मि सर्वगः ॥८९॥
पदार्थौघस्य शैलादेर्बहिरन्तश्च सर्वदा ।
सत्तासामान्यरूपेण या चित्सोऽहमलेपकः ॥ ९० ॥
सर्वासामनुभूतीनामादर्शो यो ह्यकृत्रिमः ।
अगम्यो मललेखानां तच्चित्तत्त्वमहं महत् ॥ ९१ ॥
सर्वसङ्कल्पफलदं सर्वतेजःप्रकाशकम् ।
सर्वोपादेयसीमान्तं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ९२ ॥
सर्वावयवविश्रान्तं समस्तावयवातिगम् ।
अनारतकचद्रूपं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ९३ ॥
घटे पटे तटे कूपे स्पन्दमानं सदा तनौ ।
जाग्रत्यपि सुषुप्तस्थं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ९४ ॥
उष्णमग्नौ हिमे शीतं मृष्टमन्ने शितं क्षुरे ।
कृष्णं ध्वान्ते सितं चन्द्रे चिदात्मानमुपास्महे ॥ ९५ ॥
आलोकं बहिरन्तस्थं चितं च स्वात्मवस्तुनि ।
अदूरमपि दूरस्थं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ९६ ॥
माधुर्यादिषु माधुर्यं तीक्ष्णादिषु च तीक्ष्णताम् ।
गतं पदार्थजातेषु चिदात्मानमुपास्महे ॥ ९७ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु तुर्यातुर्यातिगे पदे ।
समं सदैव सर्वत्र चिदात्मानमुपास्महे ॥ ९८ ॥
प्रशान्तसर्वसङ्कल्पं विगताखिलकौतुकम् ।
विगताशेषसंरम्भं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ९९ ॥

समस्त जल को आक्रान्त करनेवाली वायु की गति से गतिशील और छोटे-छोटे जल कणों से कल्पित आकार ग्रहण करनेवाली विस्तृत मेघमाला के समान समस्त लोकों को आक्रान्त करनेवाली, वृत्तिरूप उपाधि के स्पन्दन से स्पन्दमान एवं सूक्ष्म जीवात्मक कल्पित आकारवाली विस्तृत चिच्छक्ति स्वरूप ही मैं हूँ ॥ ८७ ॥

अनुभाव मात्र से जिसका सार गम्य है, चिकनाहट और उत्कट प्रेम से जो उपलक्षित है तथा दूध में घी की सत्ता की तरह जो क्षयरहित चित्-सत्ता है, वही मैं हूँ ॥ ८८ ॥

इस देह में सर्वत्र व्यापक चिद्ब्रह्मात्मा की जो सत्ता वैसे ही स्थित है, जैसे कंकण, बाजूबन्द एवं केयूर की रचना सुवर्ण में सुवर्ण सत्ता की तरह ही स्थित है' वही मैं हूँ ॥ ८९ ॥

पर्वत आदि पदार्थ-समुदाय के बाहर एवं भीतर सर्वदा अनुगत रूप से सत्तावाली चित् ही मैं निर्लिप्त आत्मा हूँ ॥ ९० ॥

निखिल अनुभववृत्तियों के भेदों का स्वाभाविक दर्पण और जो अज्ञान पंक्तियों का अविषय वह महान् चित्तत्त्व मैं हूँ ॥ ९१ ॥

जगत्स्वामी होने से संपूर्ण इच्छाओं का फल देनेवाला अग्नि, सूर्य आदि तेजों का प्रकाशक और सभी ग्राह्य वस्तुओं के ग्रहण का प्रयोजन रूप होने के कारण संपूर्ण उपादेय पदार्थों की चरम सीमा स्वरूप चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥ ९२ ॥

संपूर्ण अवयवों में विश्रान्त एवं संपूर्ण अवयवों से परे तथा सदा-सर्वदा विकसित स्वरूप चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥ ९३ ॥

घट, पट, तीर, कुआँ आदि में सद्रूप से स्थित; जरायुज, अण्डज, स्वेदज एवं उद्भिज्ज—इन चतुर्विध शरीर में स्फुरणशील या इन चतुर्विध शरीरों की चेष्टाओं में निमित्तभूत तथा जाग्रत्-अवस्थाओं में भी सुषुप्ति की तरह परमार्थतः निर्विकल्पस्वरूप से स्थित चिदाकार आत्मा की हम अभेदरूप से उपासना करते हैं ॥ ९४ ॥

अग्नि में ऊष्णता, हिम में शीतता, अन्न में माधुर्य, छेदन हेतु तीक्ष्ण छुरे में तीक्ष्णता, अन्धकार में कृष्णता और चन्द्र में श्वेतता ऐसे आत्मा की हम अभेदरूप से उपासना करते हैं ॥ ९५ ॥

बाहर एवं भीतर सर्वत्र प्रकाशस्वरूप से विद्यमान, अपने आत्मपदार्थ में स्थित और प्रत्यगात्मरूप साक्षीरूप होने के कारण हृदय-प्रदेश में स्थित होनेपर भी अज्ञान से दूर-प्रदेश में स्थित चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥ ९६ ॥

मिश्री आदि समस्त मधुर पदार्थों में माधुर्य को, मिर्च आदि तीते पदार्थों में ताक्ष्णता को प्राप्त चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥ ९७ ॥

जाग्रत् एवं सुषुप्ति-अवस्था में एकरूप से स्थित, तुरीय और उससे भिन्न अन्य पदों का अतिक्रमण कर परमपद में अवस्थित, सभी स्थलों में सर्वदा समरूप से रहने वाले चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥ ९८ ॥

सभी मानस कर्म जिसके शान्त हो गये हैं, निखिल कामों से रहित सभी क्रोध से शून्य ऐसे चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥ ९९ ॥

निष्कौतुकं निरारम्भं निरीहं सर्वमेव च ।
निरंशं निरहङ्कारं चिदात्मानमुपास्महे ॥१००॥
सर्वस्याऽन्तःस्थितं सर्वमप्यपारैकरूपिणम् ।
अपर्यन्तचिदारम्भं चिदात्मानमुपागतः ॥१०१॥
त्रैलोक्यदेहमुक्तानां तन्तुमुन्नतमाततम् ।
प्रचारसङ्कोचकरं चिदात्मानमुपागतः ॥१०२॥
लीनमन्तर्बहिःस्वाप्तान् क्रोडीकृत्य जगत्खगान् ।
चित्रं बृहज्जालमिव चिदात्मानमुपागतः ॥१०३॥
सर्वं यत्रेदमस्त्येव नाऽस्त्येव च मनागपि ।
सदसद्रूपमेकं तं चिदात्मानमुपागतः ॥१०४॥
परमप्रत्ययं पूर्णमास्पदं सर्वसम्पदाम् ।
सर्वाकारविहारस्थं चिदात्मानमुपागतः ॥१०५॥

विषय-भोग की उत्कण्ठा से शून्य, प्रयत्न से रहित, चेष्टा से वर्जित, एकमात्र परिपूर्ण तथा अंश और अहंकार शून्य चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते ॥ १०० ॥

सब भूतों के भीतर अवस्थित सर्वात्मक होते हुए भी दुरधिगम्य एवं एकरूप तथा असंख्य प्रतिबिम्बभूत जीवों के आरम्भक चिदात्म-स्वरूप को मैं प्राप्त हूँ ॥ १०१ ॥

जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति को करने वाले, त्रैलोक्य में रहने वाले देहरूप मोतियों की माला में व्याप्त तन्तुरूप से स्थित चिदात्मरूपता को मैं प्राप्त हूँ ॥ १०२ ॥

बाहर और भीतर से अपने द्वारा व्याप्त जगद्रूपी पक्षियों को, विचित्र बड़े जाल की तरह अपने भीतर फँसा कर गुप्तरूप से स्थित चिदाकार आत्मरूपता को मैं प्राप्त हूँ ॥ १०३ ॥

यह सब जगत् एकमात्र जिसमें विद्यमान है और परमार्थतः जिसमें कुछ भी नहीं है, अद्वितीय, सृष्टिकाल में सबकी सत्ता का निर्वाहक होने से सद्रूप और प्रलय-काल में सबकी सत्ता का निर्वाहक न होने से असद्रूप उस चिदात्मस्वरूप को मैं प्राप्त हूँ ॥ १०४ ॥

अत्यन्त विश्वास के योग्य अथवा चिदेकरस, पूर्णरूप, संपूर्ण सुख-लेशों के प्रतिष्ठाभूत और सभी प्रकार के विहारों में स्थित उस चिदात्मरूप को मैं प्राप्त हूँ ॥१०५॥

तेल के आश्रयी तथा वर्षाकालीन वायुओं से उत्पन्न भँवरों से न बुतने वाले दीपक की तरह निरुपाधि प्रेमरूप स्नेह के आश्रयी, देह एवं प्राणवायु के अध्यास से जनित भ्रमों के द्वारा अनष्ट भ्रान्तदृष्टि से उन देह, प्राण आदि

स्नेहाधारमथोऽशान्तं जडवाताहतिभ्रमैः ।
युक्तं मुक्तं च चिद्दीपं बहिरन्तरुपास्महे ॥१०६॥
हृत्सरःपद्मिनीकन्दं तन्तुं सर्वाङ्गसुन्दरम् ।
जनताजीवनोपायं चिदात्मानमुपागतः ॥१०७॥
अक्षीरार्णवसम्भूतमशशाङ्कमुपास्महे ।
अहार्यममृतं सत्यं चिदात्मानमुपास्महे ॥१०८॥
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धैराभासमागतम् ।
तैरेव रहितं शान्तं चिदात्मानमुपागतः ॥१०९॥
आकाशकोशविशदं सर्वलोकस्य रञ्जनम् ।
न रञ्जनं न चाऽऽकाशं चिदात्मानमुपागतः ॥११०॥
महामहिम्ना सहितं रहितं सर्वभूतिभिः ।
कर्तृत्वे वाऽप्यकर्तारं चिदात्मानमुपागतः ॥१११॥

के अध्यासरूप भ्रमों से युक्त और तत्त्वदृष्टि से उनसे रहित चिद्रूप दीप की हम लोग बाहर एवं भीतर से उपासना करते हैं ॥ १०६ ॥

कमलिनी के जड़ की तरह हृदयरूपी सरोवरों में गुप्त अवस्थित; हाथ, पैर आदि अङ्ग-प्रत्यङ्गों के दृढ़ बन्धन में, सुन्दर रस्सी की तरह, हेतुभूत तन्तु; एवं जनसमुदाय के जीवन के उपायभूत चिदाकार आत्मस्वरूप को मैं प्राप्त हूँ ॥ १०७ ॥

क्षीरसमुद्र से उत्पन्न अमृत से विलक्षण चन्द्रमा में स्थित अमृत से भी विलक्षण सदा-सर्वदा प्राप्त और गरुड आदि से अपहृत नहीं किया जाने वाले, उस सत्य एवं अमृतरूप चिदात्मा की हम लोग उपासना करते हैं ॥ १०८ ॥

शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध—ये पाँच विषय जिसके द्वारा अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं जिस साक्षीरूप चैतन्य से इनका अनुभव होता है, परमार्थतः उन विषयों से रहित, शान्त उस चिदात्मस्वरूप को मैं प्राप्त हूँ ॥१०९

आकाश-मण्डल की तरह विस्तृतरूप वाला जो अपनी व्याप्ति के द्वारा संपूर्ण लोकों की अभिव्यक्ति करता है, वस्तुतः जो किसी की न अभिव्यक्ति करता है और न आकाश-मण्डल के सदृश ही है, ऐसे चिदाकार आत्मस्वरूप को मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥ ११० ॥

जो बड़ी-बड़ी विभूतियों से युक्त और अद्वैत-दृष्टि से समस्त विभूतियों एवं महिमाओं से रहित तथा जो माया-शबलित होकर जगत् का कर्ता होते हुए भी यथार्थ में अकर्ता चिदाकार आत्मस्वरूप को मैं प्राप्त हूँ ॥ १११ ॥

अखिलमिदमहं ममैव सर्वं त्वहमपि नाऽहमथेतरच्च नाऽहम् ।
इति विदिततवतो जगत्कृतं मे स्थिरमथवाऽस्तु गतज्वरो भवामि ॥११२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तनिश्चययोगोपदेशो नाम एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

तादात्म्य के अध्यारोप की दृष्टि से यह सब जगत् मैं ही हूँ, संसर्ग के अध्यारोप की दृष्टि से यह जगत् मेरा ही है, अपवाद की दृष्टि से तो अहंता के आरोप में निमित्तभूत अहंकार मैं नहीं हूँ तथा देह आदि इतररूप तो मैं नहीं ही हूँ, इस प्रकार अध्यारोप एवं अपवाद से आत्मतत्त्व को जान लेने वाले मेरे लिए यह जगत् कृत्रिम मायामय—रहे चाहे अकृत्रिम—आत्मरूप—ही रहे, दोनों दृष्टियों से भी मैं सन्तापरहित हूँ ॥ ११२ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में जीवन्मुक्तनिश्चययोगोपदेश नामक कुसुमलता का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

१२

वसिष्ठ उवाच

इति निश्चयवन्तस्ते महान्तो विगतैनसः ।
सत्याः सत्ये पदे शान्ते समे सुखमवस्थिताः ॥ १ ॥
इति पूर्णधियो धीराः समनीरागचेतसः ।
न निन्दन्ति न नन्दन्ति जीवितं मरणं तथा ॥ २ ॥
इत्यलक्ष्यचमत्कारा नारायणभुजा इव ।
ऋजवः स्खलिताकारा अपरा इव मेरवः ॥ ३ ॥
रेमिरे वनखण्डेषु द्वीपेषु नगरेषु च ।
देवोपवनमालासु स्वर्गेषु च सुरा इव ॥ ४ ॥
भ्रेमुः कुसुमपूर्णासु दोलान्दोलचलासु च ।
विचित्रवनलेखासु मेरुशृङ्गशिखासु च ॥ ५ ॥
चक्रुर्विजितशत्रूणि चामरच्छत्रवन्ति च ।
विचित्रार्थानि राज्यानि चित्राचारमयानि च ॥ ६ ॥
अनुजग्मुरिमान् सर्वान्नानाचारविचेष्टितान् ।
श्रुतिस्मृत्युदितारम्भामितिकर्तव्यतामिति ॥ ७ ॥
ईदृशीरमणीयेषु ललनाहास्यहारिषु ।
विहाराहाररम्येषु भोगाभोगेषु भूषिताः ॥ ८ ॥

१२

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार के निश्चय वाले पापरहित, सद्रूप ब्रह्म में निष्ठासम्पन्न जीवन्मुक्त महात्मा जनक आदि एकरूप, निर्विकार, सत्य पद में अर्थात् शोधिततत्पदार्थरूप भीतरी परमपद में सुखपूर्वक अवस्थित हुए ॥ १ ॥

जिनकी बाहर से बुद्धि पूर्ण है अर्थात् जिन्होंने त्वंपदार्थ का शोधन कर लिया है, बाहर एवं भीतर से सम और रागशून्य चित्तवाले तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त अपने जीवन एवं मरण की न स्तुति और न निन्दा ही करते हैं ॥ २ ॥

इस प्रकार जीवन्मुक्त महात्मा, नारायण की भुजाओं के समान सूक्ष्मतम लक्ष्य का भी अर्थात् ब्रह्मरूप लक्ष्य का बेधन करने में पटुतारूपी चमत्कार रखते हैं और सरल एवं नम्र-स्वभाव होते हुए भी मेरुपर्वत के समान अटल होकर स्थित रहते हैं ॥ ३ ॥

ये जीवन्मुक्त महात्मा लोग वन-खण्डों, द्वीपों, नगरों तथा देवताओं के उपवनों में अर्थात् उद्यानमालाओं में वैसे ही रमण करते थे जैसे देवता लोग स्वर्ग में रमण करते हैं, अर्थात् समदृष्टि होकर वे सर्वत्र समानभाव से विहार करते थे ॥ ४ ॥

वे फूलों से पूर्ण, झूले के आन्दोलनों से चंचल चित्र-विचित्र वनों की पंक्तियों में एवं मेरुपर्वत की चोटियों के ऊपर विहार करते थे ॥ ५ ॥

शत्रुओं पर विजयी छत्र एवं चामर से युक्त धर्म, एवं कामरूप त्रिविध पुरुषार्थों की देनेवाले त्रिविध वर्णाश्रय-धर्म तदनुसारी आचारों से युक्त राज्यों को भी वे जीवन्मुक्त महात्मा राज्य करते थे ॥ ६ ॥

वे अनेक प्रकार के शिष्टाचारों से अनुष्ठित इन सभी धर्मों का स्वयं अपने कर्तव्य से अनुगमन करते थे। श्रुति एवं स्मृति से कथित कर्तव्यतावाले साङ्गयज्ञ आदि का भी अनुष्ठान करते थे ॥ ७ ॥

वे दृष्ट-अदृष्ट साधनसम्पत्तियों से रमणीय, स्त्रियों की हँसी के सदृश मन का अपहरण करनेवाले और विहार एवं आहार में सुन्दर भोगों के समूहों से भूषित थे ॥ ८ ॥

विविशुश्चारुचूतासु मन्दारवलितासु च ।
अप्सरोगीतपूर्णासु नन्दनोद्यानभूमिषु ॥ ९ ॥
सचराचरभूतेषु विश्रान्ताखिलजन्तुषु ।
यज्ञक्रियाकलापेषु गार्हस्थ्येषु यथाक्रमम् ॥ १० ॥
तेरुर्हतगजेन्द्रासु भ्रान्तभूरिशिवासु च ।
भेरीभाङ्कारभीमासु संग्रामार्णववीथिषु ॥ ११ ॥
तस्थुः परुषचित्तासु हृतवित्तोद्धतासु च ।
संरम्भक्षोभरौद्रीषु सर्वासु द्वन्द्वरीतिषु ॥ १२ ॥
मनस्तेषां तु नीरागमनुपाधि गतभ्रमम् ।
असक्तं मुक्तमाशान्तं परं सत्त्वपदं गतम् ॥ १३ ॥
न ममज्जुः क्वचिदपि सङ्कटेषु महत्स्वपि ।
महदप्युपयातेषु कुलशैलाः सरस्स्विव ॥ १४ ॥
नोल्ललास विलासिन्या श्रिया परमकान्तया ।

वे जीवन्मुक्त कमनीय आम्रवृक्षों से युक्त, मन्दार की मालाओं से परिवेष्टित, अप्सराओं के मनोहर गीतों से परिपूर्ण नन्दनवन की उद्यानभूमियों में प्रवेश कर उपभोग करते थे ॥ ९ ॥

वे तत्त्ववित् चराचर भूतों से युक्त समस्त भुवनों में, निखिल प्राणियों के सुखों के साधन यज्ञादि क्रियाकलापों में एवं गृहकर्मों में यथाक्रम प्रविष्ट होते थे ॥ १० ॥

वे जीवन्मुक्त महात्मा, जिनमें अनेक बड़े-बड़े हाथी मारे गये हैं, अनेक शृगाल और शृगाली जिनमें परिभ्रमण कर रहे हैं और जो नगारों के भांकारध्वनियों से भयंकर हैं, ऐसे संग्रामरूपी समुद्रों के मार्गों को भी पार कर चुके थे ॥ ११ ॥

जिनमें चित्त को क्लेश सहना पड़ता है, जो धन का अपहरण किये हुए शत्रुओं से पराभूत हैं तथा क्रोध, क्षोभ आदि से भयंकर हैं, ऐसी सभी शीतोष्णादि विपत्तियों में दृढ़तापूर्वक स्थित रहते थे ॥ १२ ॥

उन जीवन्मुक्तों का मन राग से शून्य, उपाधि रहित, अभ्रान्त, आसक्ति से शून्य, मुक्त, चारों ओर से शान्त एवं उत्तम सत्त्वरूपता को प्राप्त हुआ था ॥ १३ ॥

बड़े-बड़े संकट भी उनके पास पहुँचे या सर्वातिशायी ऐश्वर्य को वे प्राप्त करें, किसी भी दशा में वे—सरोवरों में हिमालय आदि कुल पर्वतों की तरह व्यग्र नहीं होते थे ॥ १४ ॥

हे रघूद्वह ! इन तत्त्ववित् पुरुषों का मन अत्यन्त कमनीय लक्ष्मी और कामिनी से उल्लास को वैसे ही प्राप्त नहीं होता था जैसे पूर्णचन्द्र की कान्ति से समुद्र

परिपूर्णेन्दुलक्ष्म्येव जलराशौ रघूद्वह ! ॥ १५ ॥
न मम्लौ दुःखशोकेन ग्रीष्मेणेव वनस्थलम् ।
जहर्ष च न भोगौघैरवश्यायैरिवौषधिः ॥ १६ ॥
ते हि केवलमव्यग्राः कुर्वन्तः काममञ्जरीः ।
इष्टानिष्टफलं राम ! नाऽभिलेषुर्न तत्यजुः ॥ १७ ॥
नोदगुः कार्यसंपत्तावाक्राता नाऽस्तमाययुः ।
जहृषुर्न सुखप्राप्तौ मम्लुर्नैव च सङ्कटे ॥ १८ ॥
मुमुहुर्न विमोहेषु न ममज्जुर्विपत्क्रमैः ।
न जहृषुः शुभैः शोकै रुरुदुर्न भवानिव ॥ १९ ॥
प्राकृताचारसंप्राप्ते कुर्वन्तः कर्म केवलम् ।
स्थिता विगतसंरम्भमपरा इव मेरवः ॥ २० ॥
तां त्वं दृष्टिमवष्टभ्य राघवाऽघविनाशिनीम् ।
अनहंकृत्यहङ्कारो विहरस्व यथाक्रमम् ॥ २१ ॥

उल्लास को प्राप्त होता है यहाँ समुद्र व्यतिरेकि दृष्टान्त है अर्थात् विरुद्ध रूप से वर्णित है ॥ १५ ॥

तत्त्ववित् का मन दुःख एवं शोक से, ग्रीष्मकाल में वनस्थल की तरह मलिनता को प्राप्त हुआ और न भोगों के समूहों से, ओस से औषधि की तरह प्रसन्नता को ही प्राप्त हुआ ? ॥ १६ ॥

हे श्रीरामजी ! कर्तृत्वाभिमान से रहित भोगरूपी मंजरियों का अनुभव करते हुए भी वे तत्त्ववित् महात्मा इष्ट एवं अनिष्ट फल की न अभिलाषा करते थे और न उन्हें छोड़ ही देते थे, यह आप निश्चयपूर्वक जानिए ॥१७॥

वे शत्रुजय आदिरूप संपत्ति की प्राप्ति होनेपर न उत्कर्ष को प्राप्त करते थे और न शत्रुओं से आक्रान्त होने पर आपकर्ष को ही प्राप्त करते थे । वे सुख पाने पर न हर्षित होते थे और न दुःख पाने पर खिन्न ही होते थे ॥ १८ ॥

मोह के कारणभूत दुःखों की प्राप्ति होनेपर न मोहित होते थे और न विपत्तियों के आक्रमणों से विचलित होते थे । वे महात्मा अच्छे कार्यों से न प्रसन्न होते थे और न शोकों से आपकी तरह रोते ही थे ॥ १९ ॥

अपने-अपने वर्णाश्रमों के अनुकूल सदाचारों से प्राप्त कर्मों के करते हुए क्रोधरहित दूसरे मेरु पर्वत की तरह स्थित रहते थे ॥ २० ॥

हे राघव ! पापों का नाश करनेवाली तत्त्ववित् जीवन्मुक्तों की उस दृष्टि का अवलम्बन कर आप अहंकार रूप दोष से पृथक् शुद्ध चिन्मात्र में आत्मबुद्धि यथाप्राप्त व्यवहार के अनुसार विहार करें ॥ २१ ॥

यथाभूतामिमामेव पश्यन्सर्गपरम्पराम् ।
मेरुस्थितोऽब्धिगम्भीरः सममास्स्व गतभ्रमः ॥ २२ ॥

चिन्मात्रं सर्वमेवेदमित्थमाभासतां गतम् ।
नेह सत्यमसत्यं वा क्वचिदस्ति न किञ्चन ॥ २३ ॥

महत्तामलमालम्ब्य त्यक्त्वेदमवहेलया ।
असक्तबुद्धिः सर्वत्र भव भव्य भवक्षयी ॥ २४ ॥

किं रोदिषि घनोद्वेगं मूढवच्चाऽनुशोचसि ।
भ्रमस्युद्भ्रान्तचित्तश्च सौम्यावर्ते तृणं यथा ॥ २५ ॥

श्रीराम उवाच

अहो नु भगवन्नूनं सम्यग्जातमलक्षयः ।
त्वत्प्रसादात्प्रबुद्धोऽस्मि सूर्यसङ्गाद्दिवाऽम्बुजम् ॥ २६ ॥
भ्रान्तिरस्तं गता नूनं मिहिका शरदीव मे ।
संशान्ताखिलसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ २७ ॥
व्यपगतमदमोहो मानमात्सर्यमुक्त-
श्चिरतरमुदितात्मा शान्तशोकश्चिरेण ।
पुनरसुखमगच्छन्स्वच्छयैकान्तबुद्ध्या
यदिह वदसि साधो ! तत्करिष्येऽविशङ्कम् ॥२८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तसंशयनिरूपणं नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस सृष्टि की परम्परा को यथास्थित दृष्टि से देखते हुए मेरु पर्वत की तरह स्थिर, समुद्र की तरह गंभीर एवं भ्रम शून्य होकर आप समतापूर्वक स्थिर रहिए ॥ २२ ॥

प्रतीयमान यह सम्पूर्ण जगत् केवल चिन्मात्र स्वरूप ही है, यहाँ सत्य या असत्य कहीं कुछ भी पदार्थ नहीं है और न किसी का अस्तित्व ही है ॥ २३ ॥

ब्रह्म स्वरूपता का अवलम्बन कर और संसार का अनादरपूर्वक त्यागकर सर्वत्र अनासक्तबुद्धि हो आप संसार का नाश करने वाले हो जाएँ ॥ २४ ॥

अत्यन्त उद्विग्नतापूर्वक आप क्यों रो रहे हैं, मूढ की तरह शोक क्यों कर रहे हैं और जल-भौंरों में तृण की तरह भ्रान्त-चित्त होकर क्यों चलायमान हो रहे हैं ? ॥ २५ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! आपकी कृपा से मेरे अज्ञानरूपी मल का भली प्रकार क्षय हो गया है और मैं सूर्य के सम्बन्ध से कमल की तरह प्रबुद्ध हूँ ॥ २६ ॥

शरत्काल में कुहरे की तरह मेरी भ्रान्ति नष्ट हो गयी है। अब संपूर्ण सन्देहों से शान्त मैं आपके वचनों का पालन करूँगा ॥ २७ ॥

हे साधो ! मेरा मद और मोह समाप्त है, मैं मान एवं मात्सर्य रहित हूँ। चिरकाल के बाद मेरी आत्मा आनन्दयुक्त और दीर्घकाल में मेरा शोक-शान्त हुआ। अब फिर मैं आत्मबन्धनरूप भ्रम को प्राप्त नहीं करूँगा, अतः निश्चित बुद्धि से इस उपदिष्टार्थ से विषय में जिस किसी दृढ़ता के साधन का या अन्य किसी राज्यपालनादि कर्तव्य-विशेष का आप उपदेश देंगे, शङ्कारहित होकर मैं उसका अनुष्ठान करूँगा ॥ २८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय के निर्वाणप्रकरण में जीवन्मुक्तसंशयनिरूपण नामक कुसुमलता का बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

१३

श्रीराम उवाच

सम्यग्ज्ञानविलासेन वासनाविलयोदये ।
जीवन्मुक्तपदे ब्रह्मन्नूनं विश्रान्तवानहम् ॥ १ ॥
प्राणस्पन्दनिरोधेन वासनाविलयोदये ।
जीवन्मुक्तपदे ब्रह्मन्वद विश्रम्यते कथम् ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते ।
तां विद्धि द्विप्रकारां त्वं चित्तोपशमधर्मिणीम् ॥ ३ ॥

१३

श्रीरामजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! तत्त्वज्ञान की महिमा से वासना का विनाश हो जानेपर जीवन्मुक्त पद में मैंने विश्रान्ति प्राप्त कर ली है ॥ १ ॥

हे ब्रह्मन्, अब कृपाकर मुझ से यह बताये कि प्राण वायु की गति के अवरोध से वासना का विनाश हो जाने पर जीवन्मुक्त पद में विश्रान्ति कैसे पायी जाती ? ॥ २ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—संसार सागर से पार उतरने के उपाय 'योग' शब्द से कहा जाता है, चित्त का विलय करने वाला वह उपाय दो प्रकार का है, यह आप जानें ॥ ३ ॥

आत्मज्ञानं प्रकारोऽस्या एकः प्रकटितो भुवि ।
द्वितीयः प्राणसंरोधः शृणु योऽयं मयोच्यते ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

सुलभत्वाददुःखत्वात् कतरः शोभनोऽनयोः ।
येनाऽवगतमात्रेण भूयः क्षोभो न बाधते ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

प्रकारौ द्वावपि प्रोक्तौ योगशब्देन यद्यपि ।
तथापि रूढिमायातः प्राणयुक्तावसौ भृशम् ॥ ६ ॥

एको योगस्तथा ज्ञानं संसारोत्तरणक्रमे ।
समावुपायौ द्वावेव प्रोक्तावेकफलप्रदौ ॥ ७ ॥

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ।

इसका प्रथम प्रकार संसार में प्रसिद्ध आत्मज्ञान है, और द्वितीय प्रकार प्राणनिरोध को मैं कहता हूँ, सुनें ॥४॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—दो प्रकारों में कौन प्रकार सरल और कष्टरहित होने से उत्तम है; जिसके अवगत होने पर विक्षेप पुन: बाधा नहीं पहुँचाती है कृपाकर उसे बताइये ॥ ५ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—शास्त्रों में 'योग' शब्द से आत्मज्ञान और प्राण-संरोध दोनों ही प्रकार कहे गये हैं, किन्तु यह योग शब्द प्राण-निरोध में ही अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है ॥ ६ ॥

संसार सागर से पार उतारने की पद्धति में एक योग प्राण निरोध और दूसरा ज्ञान—ये दोनों एक फल देनेवाले समान उपाय हैं ॥ ७ ॥

हे साधो ! किसी के लिए अर्थात् प्राणि-निरोध जन्य दु:खों के सहने में असमर्थ सुकुमारचेता, पुरुष के लिए योग—हठयोग—असाध्य है और किसी के लिए अर्थात् विचार में अकुशल कठोरचेता पुरुष के लिए ज्ञाननिश्चय-रूप दूसरा योग असाध्य है। परन्तु शुद्धिचित्त और विचार में कुशल मुझे ज्ञान निश्चय रूप दूसरा योग ही सुसाध्य है, ऐसा अभिमत है ॥ ८ ॥

अज्ञान स्वप्न में भी अज्ञात नहीं रह सकता और ज्ञान भी सभी अवस्थाओं में सदा ही स्वयं प्रकाशमान रहता है। आशय यह है कि अज्ञान सदा ही साक्षी द्वारा भासित होता है, ज्ञान स्वयं प्रकाश होने से स्वत: ही प्रकाशमान रहता है और इन दोनों का वैधर्म्य अनुभव से ही प्रस्फुरित है, इसलिए ज्ञान-अज्ञान का विवेक हो जाने

मम त्वभिमतः साधो ! सुसाध्यो ज्ञाननिश्चयः ॥ ८ ॥

अज्ञानं पुनरज्ञात स्वप्नेष्वपि न तद्भवेत् ।
ज्ञानं सर्वास्ववस्थासु नित्यमेव प्रवर्तते ॥ ९ ॥

धरणासनदेशादिसाध्यत्वेन सुसाध्यताम् ।
नाऽऽयाति योगो ह्यथवा विकल्पो नैव शोभनः ॥ १० ॥

द्वावेव किल शास्त्रोक्तौ ज्ञानयोगौ रघूद्वह ! ।
तत्रोक्तं भवते ज्ञानमन्तस्थं ज्ञेयनिर्मलम् ॥ ११ ॥

प्राणापानतया रूढो दृढदेहगुहाशयः ।
अनन्तसिद्धिः साधो ! योगोऽयं बुद्धिदः शृणु ॥ १२ ॥

मुखानिलस्फुरणनिरोधसंभव-
स्थितिं गतो नृपसुत ! चेतसाऽक्षये ।

से आत्मज्ञानरूप योग सरल है, प्राणनिरोधरूप योग वैसा न होने से दुष्कर है ॥ ९ ॥

चूँकि, प्राणसंरोधरूप योग धरणादेश (बाह्य पर्वत-शिखर, चन्द्र, तारा आदि देश और आन्तर हृदय, कण्ठ, तालुमूल, भ्रूमध्य आदि देश), आसन-देश (सम; पवित्र; कंकड़, अग्नि और बालुका से वर्जित; कलकल ध्वनि, जलाश्रय आदि से शून्य; मनोहर; चक्षुमें पीडा न पहुँचाने वाला आदि विशेषणों से श्रुतिस्मृति में वर्णित आसनदेश) आदि से साध्य है, अत: सुख-साध्य नहीं हो सकता। अथवा आपके लिए सुखसाध्यत्व और कष्टसाध्यत्व का विचार करना उचित नहीं है ॥ १० ॥

कुलश्रेष्ठ ! ज्ञान और योग—ये दोनों ही उपाय शास्त्रों में कहे गये हैं। उन दोनों में से आत्मपदार्थरूप ज्ञेय को निर्मल करनेवाला सब ज्ञानों से परे स्थिति आत्म-ज्ञान आपको बतलाया गया ॥ ११ ॥

हे साधो ! अब आप प्राण और अपान की समतारूप से प्रसिद्ध यह योग जो दृढ़ देहरूपी गुहा का आश्रयण करने वाला है, सिद्धि की इच्छा करने वालों को खेचरत्व आदि अनन्त सिद्धियों को देनेव-ला है और ज्ञान की इच्छा करने वालों को आत्मसाक्षात्कार करानेवाला है सुनें ॥ १२ ॥

हे राघव ! प्रयत्नशील चित्त से प्राण-गति के निरोध से होनेवाली निष्ठा को प्राप्त कर आप चित्तवृत्ति-निरोध के
से होने वाली निष्ठा को प्राप्त कर आप चित्तवृत्ति-निरोध के
अभ्यास से प्रत्यगूरूप, अक्षय, परम पद में भली प्रकार

समाहितस्थितिरिह योगयुक्तितः परे पदे प्रगलितगीर्निवत्स्यसि ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
ज्ञानविचारयोगोपदेशो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

स्थिरता प्राप्त करने पर वाणी और मन के अगोचर, निरतिशय-आनन्दस्वरूप होकर आप स्थित रहेंगे ॥ १३ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
ज्ञानविचारयोगोपदेश नामक कुसुमलता का तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

१४

वसिष्ठ उवाच

अस्ति तावदनन्तस्य तस्य क्वचिदयं किल ।
जगद्रूपः परिस्पन्दो मृगतृष्णा मराविव ॥ १ ॥
तत्र कारणतां यातो ब्रह्मा कमलसंभवः ।
स्थितः पितामहत्वेन सृष्टभूतभरभ्रमः ॥ २ ॥
तस्याऽहं मानसः पुत्रो वसिष्ठः श्रेष्ठचेष्टितः ।
ऋक्षचक्रे ध्रुवधृते निवसामि युगं प्रति ॥ ३ ॥
सोऽहं कदाचिदास्थाने स्वर्गे तिष्ठञ्छतक्रतोः ।
श्रुतवान्नारदादिभ्यः कथां सुचिरजीविनाम् ॥ ४ ॥
कथाप्रसङ्गे कस्मिंश्चिदथ तत्राऽभ्युवाच ह ।
शातातपो नाम मुनिर्मौनी मानी महामतिः ॥ ५ ॥
मेरोरीशानकोणस्थे पद्मरागमये दिवि ।
अस्ति कल्पतरुः श्रीमाञ्छृङ्गे चूत इति श्रुतः ॥ ६ ॥
तस्य कल्पतरोर्मूर्ध्नि दक्षिणस्कन्धकोटरे ।
कलधौतलताप्रोते विद्यते विहगालयः ॥ ७ ॥
तस्मिन्निवसति श्रीमान्भुशुण्डो नाम वायसः ।
वीतरागो बृहत्कोशे ब्रह्मेव निजपङ्कजे ॥ ८ ॥
स यथा जगतां कोशे जीवतीह सुराश्चिरम् ।
चिरञ्जीवी तथा स्वर्गे न भूतो न भविष्यति ॥ ९ ॥
स दीर्घायुः स नीरागः स श्रीमान् स महामतिः ।
स विश्रान्तमतिः शान्तः स कान्तः कालकोविदः ॥१०॥

१४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—उस निःसीम परम पद के किसी अविद्या से आवृत प्रदेश में मरुभूमि मृगतृष्णा की तरह ब्रह्माण्डाकार यह विवर्त प्रसिद्ध है ॥ १ ॥

उस ब्रह्माण्ड में मनु, प्रजापति आदि की उत्पत्ति में कारण तथा प्राणियों के समूहरूप भ्रम को उत्पन्न करने वाले कमलयोनि ब्रह्मा पितामहरूप से स्थित हैं ॥ २ ॥

मैं सदाचार-सम्पन्न वसिष्ठ नाम का उस पितामह ब्रह्मदेव का मानस पुत्र हूँ और ध्रुवजी द्वारा धारण किये गये सप्तर्षि लोक में वैवस्वत मन्वन्तर तक निवास करता हूँ ॥ ३ ॥

किसी समय महाराज इन्द्रदेव की सभा में मैं बैठा था तब मैंने किसी समय स्वर्गलोक में महर्षि नारदजी से अधिक दीर्घकाल तक जी रहे प्राणियों की कथा सुनी ॥ ४ ॥

चिरजीवियों की कथाओं में किसी एक कथा के प्रसंग में मितभाषी, संमानार्ह तथा निखिल शास्त्रों में पारङ्गत विशाल बुद्धि महामुनि शातातप ने कहा ॥ ५ ॥

मेरु पर्वत के ईशान कोण में पद्मराग मणि के सदृश चमकीले शिखर पर गगनचुम्बी एक शोभायमान 'चूत' नामक प्रसिद्ध कल्पतरु वृक्ष है ॥ ६ ॥

उस कल्पतरु के ऊपर सुवर्ण और रजतमय कल्पलताओं से घने दाहिने तने के खोड़रे में एक घोसला है ॥ ७ ॥

उस घोसले में ऐश्वर्यशाली वीतराग भुशुण्ड नामक कौवा जैसे विशाल कोश वाले अपने कमल में ब्रह्मा जी निवास करते हैं वैसे ही निवास करता है ॥ ८ ॥

हे देवगण ! जगत् के इस कोश में वह वायसराज भुशुण्ड जैसे चिरकाल से जी रहा है, वैसे चिरकाल से जी रहा कोई भी इस स्वर्गलोक में न हुआ और न होगा ही ॥ ९ ॥

वह भुशुण्ड दीर्घायु है, वह राग रहित है, वह ऐश्वर्य युक्त है, वह विशाल-बुद्धि है, वह स्थिर-बुद्धि है और शान्त है एवं कमनीय और समय गति जानने वाला है ॥ १० ॥

स यथा जीवति खगस्तथेह यदि जीव्यते ।
तद्भवेज्जीवितं पुण्यं दीर्घं चोदयमेव च ॥ ११ ॥

इति तेन भुशुण्डोऽसौ भूयः पृष्टेन वर्णितः ।
यथावदेव देवानां सभायां सत्यमुक्तवान् ॥ १२ ॥

कथावसरसंशान्तावथ याते सुरव्रजे ।
भुशुण्डं विहगं द्रष्टुमहं यातः कुतूहलात् ॥ १३ ॥

भुशुण्डः संस्थितो यत्र मेरोः शृङ्गं तदुत्तमम् ।
संप्राप्तवान् क्षणेनाऽहं पद्मरागमयं बृहत् ॥ १४ ॥

रत्नगैरिककान्तेन तेजसा वह्निवर्चसा ।
मध्वासवरसेनेव रञ्जयत्ककुभां गणम् ॥ १५ ॥

कल्पान्तज्वलनज्वालापिण्डाद्रिमिव संचितम् ।
इन्द्रनीलशिखाधूममालोकारुणिताम्बरम् ॥ १६ ॥

वह पक्षी (भुशुण्ड) जैसे दीर्घ काल से जी रहा है, वैसे यदि कोई प्राणी यहाँ अपना दीर्घ जीवन व्यतीत करे, तो उसका वह दीर्घ जीवन साधन दशा में पुण्यमय और फल दशा में परम पुरुषार्थ रूप अभ्युदय सम्पन्न-ही होगा ॥ ११ ॥

कुछ समय के बाद मैंने भुशुण्ड के विषय में फिर भी शातातप मुनि से पूछा था, उन मुनिराज ने उसी प्रकार से इस भुशुण्ड का वर्णन किया। इससे मालूम पड़ा कि भुशुण्ड के विषय में जो कुछ उन्होंने वेवसभा में कहा था, वह सत्य ही कहा था ॥ १२ ॥

कथा का अवसर समाप्त हुआ और देवतागण अपने-अपने वासस्थान पर चले गये। अनन्तर मैं अत्यन्त उत्कण्ठा से भुशुण्ड पक्षी को देखने के लिए चला ॥१३॥

उस मेरु पर्वत के पद्मरागमणि की तरह चमकीले सुन्दर एवं विस्तृत शिखर पर जहाँ भुशुण्ड पक्षी की स्थिति थी, मैं क्षण भर में ही पहुँच गया ॥ १४ ॥

अग्नि के सदृश वर्चस्व रखने वाले पद्मराग आदि रत्न एवं गेरु मिश्रित सुवर्ण धातुओं के कमनीय तेज से वह शिखर मधुर आसव से जनित मद की तरह दिशा रूपी रमणियों को रक्तिम बना रहा था ॥ १५ ॥

उसकी शोभा प्रलयकालीन अग्नि की पिण्डीभूत ज्वालाओं के पर्वत के समान प्रतीत होती थी, शिखा के सदृश ऊपर को उठी हुई इन्द्रनीलमणि की प्रभा ही उसका धूम था, उसके लाल प्रकाश से समस्त आकाश-मण्डल अरुणिमा हो रहा था ॥ १६ ॥

सर्वेषामेव रागाणां राशिमद्राविव स्थितम् ।
सर्वसन्ध्याभ्रजालानां घनमेकमिवाऽऽकरम् ॥ १७ ॥

उत्क्रान्तिं कुर्वतो मेरोर्ब्रह्मनाड्येव निर्गतम् ।
मूर्धानमागतं कान्तं वाडवं जठरानलम् ॥ १८ ॥

सुमेरुवनदेव्येव नवालक्तकरञ्जितम् ।
लीलयाऽऽदातुमिन्दुं खे नीतं हस्तशिखाङ्गुलिम् ॥ १९ ॥

ज्वालाभिरिव मालाभिररुणाभिः पयोमुखम् ।
खं गन्तुमिव सस्पन्दं शैलस्थमिव वाडवम् ॥ २० ॥

ताराः स्प्रष्टुमिवाऽऽकाशमङ्गुलीभिरिव त्रिभिः ।
कचदंशुनखाग्राभिः परिचुम्बदिवोन्नतम् ॥ २१ ॥

गर्जज्जीमूतमुरजं भूभृतानां तु मण्डपम् ।
हसत्कुसुमगुच्छाढ्यं ध्वनत्षट्पदपेटकम् ॥ २२ ॥

मेरु पर्वत के ऊपर समस्त लालिमाओं का एक ढेर-सा होकर वह अवस्थित था या सभी प्राणियों की दर्शनाभिलाषाओं का एक पिण्ड बनकर वह स्थित था और निखिल सन्ध्याकालीन अभ्रजालों का घनीभूत एक आकर-सा प्रतीत होता था ॥ १७ ॥

उत्क्रान्ति नामक योग-साधन के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर निकलने की इच्छा कर रहे मेरु पर्वत के उदर से निकला हुआ शिरःप्रदेश में प्राप्त बडवाग्नि के सदृश जठराग्नि ही स्थित था ॥ १८ ॥

ऐसा प्रतीत होता था कि वह लीला से आकाश में स्थित चन्द्रमा को पकड़ने के लिए लाक्षारस से रंजित शिखा के सदृश मिली हुई—सुमेरु पर्वत की वनदेवी के द्वारा प्रसारित करांगुलियाँ ही थीं ॥ १९ ॥

वह जड़ी गयी सोपान-पंक्तियों के समान अरुण ज्वालाओं के द्वारा आकाश में जाने के लिए प्रवृत्त पर्वत पर चढ़ा हुआ दुग्धाहुति संपन्न मुख वाला ब्राह्मण-सम्बन्धी अध्वराग्नि की तरह दीख रहा था ॥ २० ॥

वह रत्नों किरणों से चमक रहे नखाग्रों से युक्त तीन शिखराग्र भाग रूपी अंगुलियों से आश्विनी आदि नक्षत्र मण्डल को स्पर्श कर गिनने के लिए आकाश को व्याप्त कर उन्नत होकर स्थित था ॥ २१ ॥

वहाँ मेघ रूप मृदंग आदि वाद्य बज रहे थे, मानों वह वनभूमि से पुष्ट हुई वनलक्ष्मियों का एक तरह से नृत्य-मण्डप था, खिले हुए पुष्प गुच्छों से परिपूर्ण था और भ्रमर-समूहों से गुंजित था ॥ २२ ॥

दन्ततालदलावल्ल्या परिहासादिव स्फुरत् ।
दोलालोलाप्सरोवृन्दमुदारमदमन्मथम् ।
शिलाविश्रान्तविबुधमिथुनाश्रितकन्दरम् ॥ २३ ॥
वराम्बराजिनं शुभ्रगङ्गायज्ञोपवीति च ।
तापसं पिङ्गलमिव वेणुदण्डधरं स्थितम् ॥ २४ ॥
गङ्गानिर्झरनिर्ह्लादि लतागृहगतामरम् ।
गन्धर्वगीतसुभगमामोदमधुरानिलम् ॥ २५ ॥
फुल्लहेमाम्बुजोत्तंसं तारारत्नविभूषितम् ।
व्योम्नः पारमिव प्राप्तं पिङ्गलं भैरवं शिरः ॥ २६ ॥
सितहरितपीतपाटल-
धवलैर्वनकुसुमराशिनवरङ्गैः ।
दिवि विहितामलचित्रं
लीलाचलममरयुवतिवर्गस्य ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने मेरुशिखरवर्णनं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

वह परिहास से विकसित हो रही दन्तपंक्तियों के समान विकसित तालपत्रों की पंक्तियों से अत्यन्त रमणीय लगता था। वहाँ झूलों पर झूल रहीं चंचल अप्सराएँ थी और सभी प्राणियों का उन्माद और अभिलाषाएँ नवीन रूपता धारण किये हुई थीं, वहाँ की शिलाओं पर देवता विश्रान्ति ले रहे थे, उसकी गुफाओं का देवताओं के युगल ने आश्रयण किया था ॥ २३ ॥

उसने सुन्दर आकाश रूपी मृगचर्म धारण किया था, शुभ्र गंगा रूप यज्ञोपवीत से वह अलंकृत था। वह बाँस रूपी दण्ड धारण करने के कारण पिशंग वर्ण तपस्वी की तरह स्थित प्रतीत होता था ॥ २४ ॥

वहाँ पर गंगा जी के झरनों की कल-कल ध्वनि हो रही थी, उसके लताकुंजों में देवता विराजित थे, वह गन्धर्वों के गीतों से रमणीय लगता था और वहाँ मधुर मनोहर सुगन्धित समीर बह रहा था ॥ २५ ॥

आकाश में ऊँचाई की परम सीमास्वरूप उस प्रकार के पिशाङ्गवर्ण तारारूपी रत्नों से विभूषित और विकसित स्वर्ण कमल रूपी कर्णपूर से रमणीय उस मेरु पर्वत के सिर पर, मैं पहुँचा ॥ २६ ॥

वह प्रतिदिन श्वेत, हरित, पीत, रक्त एवं धवल वर्ण कानन के कुसुम-समूह रूपी नवीन रंगों से आकाश में निर्दुष्ट चित्र खींचा करता था और देवाङ्गनाओं का वह क्रीडा पर्वत था ॥ २७ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में भुशुण्डोपाख्यान में मेरुशिखरवर्णन नामक कुसुमलता का चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

१५

वसिष्ठ उवाच

कुसुमापूर्णकल्पाभ्रकुन्तले तस्य मूर्धनि ।
कल्पाङ्गमहमद्राक्षं शाखाचक्रमिव स्थितम् ॥ १ ॥
पुष्परेण्वभ्रवलितं रत्नस्तबकदन्तुरम् ।
उत्सेधनिर्जिताकाशं शृङ्गे शृङ्गमिवार्पितम् ॥ २ ॥
ताराद्विगुणपुष्पौघं मेघद्विगुणपल्लवम् ।
रश्मिद्विगुणरेण्वभ्रं तडिद्द्विगुणमञ्जरीम् ॥ ३ ॥

१५

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—प्रलयकालीन मेघरूपी कुसुमों से व्याप्त केशों वाले उस शिखर के सिर पर प्राणियों के अभिलषित अर्थ की पूर्ति के लिए उत्पन्न शाखा आदि अवयवों से युक्त उस चूतनामक वृक्ष को मैंने चारों ओर समरूप से फैली हुई शाखाओं के कारण शाखा चक्र-सा देखा ॥ १ ॥

चारों ओर से वह वृक्ष फूलों के परागों से धूसरित था, वह रत्न सदृश पुष्प-गुच्छों से दन्तुर था, उसने अपनी ऊँचाई से आकाश को मात कर दिया था, वह पूर्व वर्णित मेरु शिखर के ऊपर रखे हुए दूसरे शिखर के सदृश प्रतीत होता था ॥ २ ॥

उसने ताराओं को मिलाकर द्विगुणित पुष्प धारण किये थे, मेघरूप पल्लवों को मिलाकर द्विगुणित पल्लव धारण किये थे, किरणों को मिलाकर द्विगुणित पुष्प रेणुरूप मेघ धारण किये था, बिजली को मिलाकर द्विगुणित मंजरियाँ धारण की थीं ॥ ३ ॥

स्कन्धेषु किन्नरीगीतद्विगुणभ्रमरस्वनम् ।
दोलालोलाप्सरोलोकद्विगुणीकृतपल्लवम् ॥ ४ ॥
सिद्धगन्धर्वसङ्घातद्विगुणोत्थविहङ्गमम् ।
रत्नकान्त्यच्छनीहारद्विगुणत्वग्वृतांशुकम् ॥ ५ ॥
चन्द्रबिम्बसमाश्लेषद्विगुणाङ्गबृहत्फलम् ।
मूलसंलीनकल्पाभ्रद्विगुणीकृतपर्वकम् ॥ ६ ॥
सुरसंवलितस्कन्धं पत्रविश्रान्तकिन्नरम् ।
निकुञ्जकुञ्जजीमूतं कच्छसुप्तसुरादिकम् ॥ ७ ॥
स्वाकारविपुलं भृङ्गानुत्सार्य वलयस्वनैः ।
अप्सरोभ्रमरीभिश्च गृहीतकुसुमान्तरम् ॥ ८ ॥
सुरकिन्नरगन्धर्वविद्याधरवरान्वितम् ।
जगज्जालमिवाऽनन्तं दशाशाकाशपूरकम् ॥ ९ ॥
नीरन्ध्रकलिकाजालं नीरन्ध्रमृदुपल्लवम् ।
नीरन्ध्रविकसत्पुष्पं नीरन्ध्रवनमालितम् ॥ १० ॥
नीरन्ध्रमञ्जरीपुञ्जं नीरन्ध्रमणिगुच्छकम् ।
नीरन्ध्रांशुकरत्नाढ्यं लताविलसनाकुलम् ॥ ११ ॥
सर्वत्र कुसुमापूरैः सर्वत्र फलपल्लवैः ।
सर्वामोदरजः पुञ्जैः परं वैचित्र्यमागतम् ॥ १२ ॥
तस्य कक्षेषु कुञ्जेषु लतापत्रेषु पर्वसु ।
पुष्पेष्वालयसंलीनान् विहगान् दृष्टवानहम् ॥ १३ ॥
निशानाथकलाखण्डमृणालशकलैर्धितान् ।
अर्जुनाम्भोजिनीकन्दकवलान् ब्रह्मसारसान् ॥ १४ ॥
विरञ्चेरथ हंसानां पोतकान् सामगायिनः ।
ॐकारवेदसुहृदो ब्रह्मविद्यानुशासनान् ॥ १५॥
उद्गीर्णमन्त्रनिचयान् स्वाहाकारनिभस्वनान् ।
अस्थिनैकतडित्पुञ्जनीलमेघसमोपमान् ॥ १६ ॥

वहाँ शाखा-प्रदेश में किन्नर युवतियों के गीतों को लेकर द्विगुणित भ्रमरों की गुंजाध्वनि हो रही थी, उसने झूलोंपर आरूढ़ चंचल अप्सराओं के होठ, हाथ एवं पद-रूप पल्लवों को लेकर दूने पल्लव धारण किये थे ॥ ४ ॥

अभिलषित रूपों को धारण करने की शक्ति से संपन्न होने के कारण स्वच्छन्द विहार करने के लिए कल्पित विहंगमवेषवाले सिद्धों एवं गन्धर्वों के समूहों को मिलाकर द्विगुण विहंगम उसपर विद्यमान थे, उसने रत्नकान्ति के समान स्वच्छ हिमकणों को लेकर द्विगुणित त्वचारूपी वस्त्र पहने थे ॥ ५ ॥

अधिक ऊँचाई के कारण चन्द्रबिम्ब के सम्बन्ध से अमृत-रस की पूर्ति होनेके कारण द्विगुणित अंगोंवाले बड़े-बड़े फल उसमें लगे थे, तनों के मूल भागों में संलग्न कल्पाभ्रों से द्विगुणित हुए उसके पोर थे ॥ ६ ॥

उसके तनों पर देवताओं ने आश्रयण किया था, पत्रों पर किन्नर विश्रान्ति ले रहे थे, उसके लताकुंजों में मेघ समूह प्रविष्टि हुए थे, जलप्राय कोटर-प्रदेश में देवता आदि सोये हुए थे ॥ ७ ॥

उसका अपना निजी स्वरूप अत्यन्त विस्तृत था, उसके फूलों का भीतरी रस अपने कंकणों के क्वणितों से बाह्य भ्रमरों को हटाकर अप्सरा रूपी भ्रमरियों ने चूस लिया था ॥ ८ ॥

श्रेष्ठ देव, किन्नर, गन्धर्व एवं विद्याधरों से वह समन्वित था, ब्रह्माण्ड की तरह विस्तृत और असीम दस दिशाओं तथा आकाश को व्याप्त किये था ॥ ९ ॥

कलियों के समूहों से वह भरा हुआ था, मृदु पल्लवों से भरा हुआ था, खिले हुए पुष्पों से परिपूर्ण था और वनमालाओं से भी वेष्टित था ॥ १० ॥

उसके ऊपर घनीभूत मंजरीयाँ थीं, घनीभूत मणिरूप गुच्छे थे, घनीभूत रत्नरूपी परिधानीय दिव्य वस्त्रों से परिपूर्ण था अर्थात् अर्थियों की इच्छा पूर्ति करने वाला था, लताओं के नृत्य से परिव्याप्त था ॥ ११ ॥

सभी ओर फूलों की बड़ी बाढ़ से, सर्वत्र फल और पल्लवों से तथा सभी का दिल बहलाव करने वाले पुष्प-रागों के समूहों से अत्यन्त विचित्रित उस चूतनामक कल्पतरु को मैंने देखा ॥ १२ ॥

अनन्तर उस वृक्ष के तने, शाखा आदि की सन्धियों में, लता से आवृत शाखाग्रभागों में, लतापत्रों में, पोरों या ग्रन्थियों में और पुष्पों में घोसले बनाकर उसमें स्थित पक्षियों को मैंने देखा ॥ १३ ॥

मृणाल के टुकड़ों की तरह सुधाकर की कला के खण्डों से वर्धित और शुभ्र कमलिनीकन्दों को खाने वाले ब्रह्मदेव के वाहनभूत हंसपक्षी को मैंने देखें ॥ १४ ॥

बाद में रहस्यभूत अर्थों के प्रर्यालोचन में सहायक होने के कारण प्रणव और वेद के मित्रभूत ब्रह्मदेव के वाहन सामवेद का गान कर रहे थे एवं पर-अपर ब्रह्म-विद्या का गुरुमुख से विधिवत् अध्ययन किये हुए हंसों के अर्भक मैंने देखें ॥ १५ ॥

अनन्तर मैंने अग्निदेव के वाहन शुक देखें; वे मन्त्र-समूह पढ़ रहे थे; उनके शब्द स्वाहाकार के समान थे। उनकी उपमा शंख, बिजलियों के अनेक समूह और नील

देवैर्निरीक्षितान् नित्यं यज्ञवेदिलतादलान् ।
शुकान्कार्शानवाञ्छयामाञ्छिशूञ्छिखिशिखाशिखान्॥१७
गौरीरक्षितबर्हौघान् कौमारान् वरबर्हिणः ।
स्कन्दोपन्यस्तनिःशेषशैवविज्ञानकोविदान् ॥ १८ ॥
व्योम्नैव जातनष्टानां महतां व्योमपक्षिणाम् ।
बन्धूनाबद्धनिलयाञ्छरदभ्रसमाकृतीन् ॥ १९ ॥
विरञ्चिहंसजानन्यानन्यानग्निशुकोद्भवान् ।
कौमारबर्हिजानन्यानन्यानम्बरपक्षिजान् ॥ २० ॥
द्वितुण्डांश्च भरद्वाजान् हेमचूडान्विहङ्गमान् ।
कलविङ्कबलान् गृध्रान्कोकिलान् क्रौञ्चकुक्कुटान् ॥२१॥
भासचाषबलाकादीन् बहूनन्यांश्च राघव ! ।
भूतौघं जगतीवाऽहं दृष्टवांस्तत्र पक्षिणः ॥ २२ ॥
दक्षिणस्कन्धशाखायां स्थितायां वै दवीयसि ।
अथाऽहं दृष्टवान् पुष्टपत्रायामम्बरस्थितः ॥ २३ ॥

मेघों के वर्णों से थी; देवता नित्य उनका दर्शन करते थे । यज्ञवेदियों में बिछाये गये हरित कुश-लताओं के दलों की तरह वे हरे थे । अनन्तर मैंने अग्नि की शिखा की तरह देदीप्यमान शिखा वाले जगज्जननी पार्वती से जूड़े में पहनने के लिए रक्षित उनके परों के समूह वाले स्वामी कार्तिकेय द्वारा विस्तारित अशेष शिवसम्बन्धी विज्ञान में पण्डित मयूरों के अर्भक को देखें ॥ १६–१८ ॥

आकाश में ही उत्पन्न होकर वहीं पर नष्ट हो जाने वाले अर्थात् मरणपर्यन्त भूमिपर न उतरने वाले और अधिक बलवान् होने से महान् नित्य-क्रीड़ा में सहायक होने से बन्धु अपने-अपने घोसले बना कर स्थित एवं शरत्कालीन मेघों के समान शुभ्र आकृतिवाले व्योमपक्षी नाम से प्रसिद्ध पक्षियों को मैंने देखा ॥ १९ ॥

ब्रह्मदेव के वाहन हंस से उत्पन्न और भी दूसरे हंसों को, अग्नि के वाहन शुक से उत्पन्न अन्य शुकों को, कुमार कार्तिकेय के वाहन मयूर से उत्पन्न और दूसरे मयूरों को तथा इनसे भिन्न भी अन्य आकाशपक्षियों से उत्पन्न पक्षियों को [मैंने देखा] ॥ २० ॥

श्रीरामजी, वहाँ दो चोंच वाले भरद्वाजनामक पक्षियों को सुवर्ण की शिखा वाले पक्षियों को, तथा गौरैया, कौआ, गीध, कोयल, क्रौंच (कराँकुल) और मुर्गा—इन पक्षियों को [मैंने देखा] ॥ २१ ॥

हे राघव ! उस कल्पतरुपर शकुन्तपक्षी, नीलकण्ठ-पक्षी, बलकापक्षी आदि और भी अनेक पक्षियों को, जगत् में विविध प्राणियों की तरह मैंने देखा ॥ २२ ॥

काले काकोलवलयं मञ्जरीजालमालितम् ।
लोकालोकाचलेऽरण्ये कल्पाभ्रौघमिव स्थितम् ॥ २४ ॥
तत्र पश्याम्यहं यावदेकान्ते स्कन्धकोटरे ।
विचित्रकुसुमास्तीर्णे विविधामोदशालिनि ॥ २५ ॥
पुण्यकृद्योषितां स्वर्गे प्रियस्तबकवासिताः ।
अपरिक्षुभिताकाराः सभायां वायसा स्थिताः ॥ २६ ॥
विभेद्य मेघा वातेन समेनेवाऽपसारिताः ।
तेषां मध्ये स्थितः श्रीमान् भुशुण्डः प्रोन्नताकृतिः ॥२७॥
मध्ये च काचखण्डानामिन्द्रनील इवोन्नतः ।
परिपूर्णमना मानी समः सर्वाङ्गसुन्दरः ॥ २८ ॥
प्राणस्पन्दावधानेन नित्यमन्तर्मुखः सुखी ।
चिरञ्जीवीति विख्यातश्चिरजीवितया तया ॥ २९ ॥
जगद्विदितदीर्घायुर्भुशुण्ड इति विश्रुतः ।
युगागमापायदशादर्शनप्रौढमानसः ॥ ३० ॥

इसके बाद मैंने आकाश में स्थित अत्यन्त दूर-प्रदेशस्थ घने पत्तों वाली उस कल्पवृक्ष के दाहिने तने की शाखा पर, लोकालोक पर्वत के अरण्य में प्रलयकालीन मेघ-समूह की तरह स्थित, मंजरी-समूह से वेष्टित द्रोण=कौओं का मण्डल मैंने देखा ॥ २३, २४ ॥

वहाँ दृष्टिपात करने पर एकान्त में स्थित दाहिने तने के उस कोटर पर—जिसमें चित्र-विचित्र फूल बिछे हुए थे, अनेक प्रकार के सुगन्धों से सुगन्धित तथा पुण्यात्माओं द्वारा उपभोग्य अप्सराओं के उपभोगों के योग्य स्वर्गस्वरूप सभा में शान्ति आदि गुणों से संपन्न होने के कारण अक्षुब्ध आकृतिवाले, पवन के द्वारा समभाग से छेदन कर कोटर में प्रवेशित किये गये मेघों की तरह मनोहर कुसुमगुच्छों से वासित कौए स्थित हैं और उनके बीच ऐश्वर्यशाली एवं अत्यन्त उन्नत शरीर वाला वायस-राज भुशुण्ड बैठा है ॥ २५-२७ ॥

जैसे कांच के टुकड़ों के बीच उन्नतरूप से इन्द्रनील-मणि स्थित हो वैसे ही वह भुशुण्ड सभा में उन्नतरूप से स्थित था, वह आत्मज्ञान से परिपूर्ण मन वाला, मान्य, समदर्शी एवं सर्वांगसुन्दर था ॥ २८ ॥

वह प्राणक्रिया के निरोध से नित्य अन्तर्मुखवृत्तिवाला, सुखी और प्रसिद्धतम चिरजीवी होने से 'चिरंजीवी' नाम से प्रसिद्ध था ॥ २९ ॥

जगत् में विदित दीर्घायुवाला भुशुण्ड नाम से प्रसिद्ध वह वायसराज युगों उत्पत्ति और विनाश की दशा के दर्शन से प्रौढ़मान था ॥ ३० ॥

प्रतिकल्पं च गणयन् खिन्नश्चक्रपरम्पराम् ।
जन्मनां लोकपालानां शर्वशक्रमरुत्वताम् ॥ ३१ ॥
संस्मर्ता समतीतानां सुरासुरमहीभृताम् ।
प्रसन्नगम्भीरमनाः पेशलः स्निग्धमुग्धवाक् ॥ ३२ ॥
अव्यक्तवक्ता विज्ञाता निर्ममो निरहंकृतिः ।
सुहृद्बन्धुस्तथा मित्रं मृत्युपुत्रो गुरुप्रभुः ।
सर्वदा सर्वथा सत्यं सर्वं सर्वस्य संस्तवे ॥ ३३ ॥
सौम्यः प्रसन्नमधुरो रसवान्महात्मा
हृद्यः सरोवरे इवाऽन्तरखण्डशैत्यः ।
हृत्पुण्डरीककुहरं व्यवहारवेत्ता
गाम्भीर्यमच्छमजहात् प्रकटाशयश्रीः ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
भुशुण्डोपाख्याने भुशुण्डदर्शनं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

वह प्रत्येक कल्प में ईशान, इन्द्र और अग्नि आदि लोकपालों के जन्मों की चक्र-परम्परा को गिनता हुआ खिन्न होकर अवस्थित था ।। ३१ ।।

वह सुदूर भूतकालीन सुर, असुर एवं राजाओं का स्मरण करने वाला, प्रसन्न और गंभीर मन से समन्वित चतुर तथा स्निग्ध एवं मुग्ध वाणीवाला था ।। ३२ ।।

वह विज्ञाता होने के कारण सूक्ष्मतम अर्थों को विस्पष्ट कर अर्थात् अव्यक्त कर कहने वाला, ममता तथा अहंकार से रहित, मृत्यु को पुत्र की तरह परमप्रिय, बुद्धि में बृहस्पति से भी श्रेष्ठ, प्राणिमात्र का सुहृत्, बन्धु एवं मित्र था। सब प्रकार से सर्वदा सर्वात्मक सत्यस्वरूप ही परिगणित होता था । वह सर्वात्मक और सत्यस्वरूप ही सर्वसंमत था, अतः वह सुहृद् आदिरूप में था ।। ३३ ।।

सौम्य, प्रसन्न, मधुर, ब्रह्मरस से युक्त, मनोहर, भीतरी अखण्ड शान्ति से युक्त, दहराकाशरूप, सब व्यवहारों को जानने वाला यह महात्मा भुशुण्ड भी गांभीर्य को न छोड़ता हुआ अन्तःकरण की शोभा-महत्ता को वैसे ही प्रकटित कर अवस्थित था जैसे सरोवर सौम्य, स्वच्छ, मधुर जल से युक्त, मनोहर और भीतर से अखण्ड शीतल, मध्य में कमल के आधारभूत कुहर से युक्त, पक्षियों के विश्रान्ति को जानने वाला एवं निर्मलतम होने से प्रकटित भीतरी शोभावाला रहता है ।। ३४ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में भुशुण्डोपाख्यान में भुशुण्डदर्शन नामक कुसुमलता का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। १५ ।।

१६

वसिष्ठ उवाच

अथ तस्याऽहमपतं दीप्यमानवपुः पुरः ।
किञ्चिद्विक्षोभितसभः खान्नक्षत्रमिवाऽचले ॥ १ ॥
चुक्षोभ वायसास्थानं नीलोत्पलसरःसमम् ।
मत्पातमन्दवातेन भूकम्पेनेव सागरः ॥ २ ॥
अशङ्कितमपि प्राप्तं दर्शनान्मामनन्तरम् ।
भुशुण्डस्तु वसिष्ठोऽयं प्राप्त इत्यवबुद्धवान् ॥ ३ ॥
पत्रपुञ्जात् समुत्तस्थौ मेघशाव इवाऽचलात् ।
हे मुने ! स्वागतमिति प्रोवाच मधुराक्षरम् ॥ ४ ॥
सङ्कल्पमात्रजाताभ्यां कराभ्यां कुसुमाञ्जलिम् ।
मह्यमाशु तदैवाऽदान्मेघो हैममिवोत्करम् ॥ ५ ॥

१६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर पर्वत पर आकाश से नक्षत्र गिरता हो वैसे ही मैं उस भुशुण्ड के सामने उतरा जैसे मेरा शरीर अत्यन्त कान्तियुक्त था, गिरने पर मैंने सभा में कुछ हलचल भी पैदा कर दी ।। १ ।।

मेरे पतन से जनित मन्द पवन से नील कमलों के तालाब के सदृश कौओं की सभा, वैसे ही विक्षुब्ध हो गई जैसे भूकम्प से सागर विक्षुब्ध हो जाता है ।। २ ।।

अनन्तर अशंकितरूप में मेरे वहाँ पर उपस्थित होनेपर मुझको त्रिकालदर्शी होने के कारण उस भुशुण्ड ने देखते ही—'यह वसिष्ठ आये हुए हैं', यह जाना ।। ३ ।।

अनन्तर वह पत्तों के ढेर से वैसे ही उठ खड़ा हुआ जैसे पर्वत से छोटा मेघ उठे, और हे मुनिराज, आपका स्वागत हो, इस प्रकार मधुर वाणी बोला ।। ४ ।।

वैसे ही स्वागत वचनों के साथ ही साथ उसने दोनों हाथों से अपने सङ्कल्पमात्रसे उत्पादित पुष्पाञ्जलि भरकर मेरे ऊपर उस प्रकार बरसाई, जैसे मेघ हिम की महावृष्टि करता हो ।। ५ ।।

इदमासनमित्युक्त्वा नवं कल्पतरुच्छदम् ।
उपानीतवति त्यक्तभृत्ये वायसनायके ॥ ६ ॥
भुशुण्ड उत्थिते स्वीयकलापक्षेषु पक्षिषु ।
उपविष्टं मुनिं दृष्ट्वा स्वासनोन्मुखदृष्टिषु ॥ ७ ॥
समन्तात् खगवृन्देन भुशुण्डेन समं ततः ।
तस्मिन्कल्पलतापुञ्जे ह्युपविष्टोऽहमासने ॥ ८ ॥
अर्घ्यपाद्यादि सम्पाद्य भुशुण्डस्तुष्टमानसः ।
मामुवाच महातेजाः सौहृदान्मधुराक्षरम् ॥ ९ ॥

भुशुण्ड उवाच

अहो भगवताऽस्माकं प्रसादो दर्शितश्चिरात् ।
दर्शनामृतसेकेन यत्सिक्ताः सद्द्रुमा वयम् ॥ १० ॥
मत्पुण्यचिरसंभारप्रेरितेन त्वयाऽधुना ।
मुने ! मान्यैकमान्येन कुतश्चाऽऽगमनं कृतम् ॥ ११ ॥
कच्चिदस्मिन्महामोहे चिरं विहरतस्तव ।
अखण्डितैव समता स्थिता चेतसि पावने ॥ १२ ॥

अनन्तर आपके विराजने के लिए यह आसन है, यह कह कर वह कौओं का अधिपति भुशुण्ड आसन लाने के लिए भृत्यवर्ग का परित्याग कर स्वयं खड़ा हुआ और कल्पवृक्ष का नवीन पत्ररूप आसन लाया। तदनन्तर मैं भुशुण्ड के साथ उस कल्पवृक्ष की लताओं से बने हुए आसन पर बैठ गया। भुशुण्ड के चारों ओर पक्षियों का समूह था, मननशील मुझे उस आसन पर आसीन देख कर अपने कान्तिमण्डल से प्रसरणशील परोंवाले उक्त सभा के कौए अपने-अपने आसनों की ओर दृष्टि डालने लगे। भुशुण्ड ने अर्घ्य, पाद्य आदि सम्पादन कर मेरा सत्कार किया। महान् तेजस्वी वह भुशुण्ड अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर सुन्दर, सौहार्द से मधुर वचन मुझसे कहने लगा ॥ ६–९ ॥

भुशुण्ड ने कहा—बड़े सौभाग्य का विषय है कि दीर्घकाल के अनन्तर आज हम लोगों के ऊपर आपने महान् अनुग्रह किया, क्योंकि आपके दर्शनामृतरूपी सिंचन से सिञ्चित हम लोग आज, पुष्पवृक्ष के सदृश, अत्यन्त पवित्र बन गये ॥ १० ॥

हे मुने ! दीर्घकाल के मेरे पुण्य की राशि से प्रेरित तथा मान्यों में एकमात्र मान्यतम आपका इस समय किस प्रदेश से शुभागमन हुआ ? ॥ ११ ॥

मूलभूत माया से बने इस जगत् में दीर्घकाल से विचरण कर रहे आपके पावनतम चित्त में निरवच्छिन्न एकरूपता विराजती तो है न ? ॥ १२ ॥

किमर्थमद्याऽऽगमनक्लेशेनाऽऽत्मा कदर्थितः ।
वचनश्रवणोत्कानामाज्ञां नो वक्तुमर्हसि ॥ १३ ॥
त्वत्पाददर्शनादेव सर्वं ज्ञातं मया मुने ! ।
त्वदागमनपुण्येन वयमायोजितास्त्वया ॥ १४ ॥
चिरञ्जीवितचर्चाभिर्वयं वः स्मृतिमागताः ।
तेनेदमास्पदं पादैस्त्वं पवित्रितवानयम् ॥ १५ ॥
ज्ञातत्वदागमोऽप्येवं त्वां पृच्छामीह यन्मुने ! ।
भवद्वाक्यामृतास्वादवाञ्छितं प्रविजृम्भते ॥ १६ ॥
इत्युक्तवानसौ पक्षी भुशुण्डश्चिरजीवितः ।
त्रिकालामलसंवेदी तत्र प्रोक्तमिदं मया ॥ १७ ॥

वसिष्ठ उवाच

विहङ्गम महाराज ! सत्यमेतत्त्वयोच्यते ।
द्रष्टुमभ्यागतोऽस्म्यद्य त्वामेव चिरजीवितम् ॥ १८ ॥
आशीतलान्तःकरणो दिष्ट्या कुशलवानसि ।
पतितोऽसि न बुद्धात्मा भीषणां भववागुराम् ॥ १९ ॥

आज आने का कष्ट उठाकर आपने अपनी आत्मा को क्यों दुःख पहुँचाया ? आज्ञादायी वचनों के श्रवण में उत्कण्ठा रखनेवाले हम लोगों को आज्ञा देने के लिए आप सर्वथा योग्य हैं ॥ १३ ॥

हे मुने, आपके चरणों के दर्शन से ही मैंने सब कुछ जान लिया, आपने अपने आगमन के पुण्यों से हम लोगों को दबा दिया है ॥ १४ ॥

इन्द्रसभा में चिरजीवियों के विषयों में हुई विचारणाओं के कारण ही आपके स्मृति में हम आये और उसी से यह स्थान आपके चरणों का आश्रय हुआ, सचमुच आपने इस प्राणी को पवित्र बना दिया ॥ १५ ॥

हे मुने ! यद्यपि यहाँ आपके आने का प्रयोजन मैंने पहले से ही जान लिया है, तथापि यतः आपके वाक्यामृत-रसास्वाद की अभिलाषा बढ़ रही है, अतः आपसे मैं पूछता हूँ ॥ १६ ॥

तीनों कालों का निर्मल ज्ञान रखनेवाला चिरजीवी इस भुशुण्ड के इस प्रकार कहने पर वहाँ मैंने यह कहा ॥ १७ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे पक्षियों के स्वामिन् ! जो कुछ यह कह रहे हो, यह सब यथार्थ में सत्य ही है, चिरजीवी केवल तुम्हें ही आज मैं देखने के लिये आया हूँ ॥ १८ ॥

महान् भाग्य से तुम्हारे अन्तःकरण में चारों ओर से शान्ति का राज्य है, तुम कुशल हो, ज्ञाततत्त्व होने के

तदेतं संशयं छिन्धि भगवन्मम सत्यतः ।
कस्मिन्कुले भवाञ्जातो ज्ञातज्ञेयः कथं भवान् ॥ २० ॥
कियदायुश्च ते साधो ! वृत्तं स्मरसि किञ्च वा ।
केनाऽयं वा निवासस्ते निर्दिष्टो दीर्घदर्शिनः ॥ २१ ॥

भुशुण्ड उवाच

यत्पृच्छसि मुने ! सर्वं तदिदं वर्णयाम्यहम् ।
अनुद्वेगितया यत्नात्कथा श्राव्या महात्मना ॥ २२ ॥
युष्मद्विधास्त्रिभुवनप्रभुपूज्यरूपा
आकर्णयन्ति यमुदारधियो महान्तः ।
तेनाऽशुभं प्रकथितेन विनाशमेति
मेघास्पदेन विभवेन यथाऽर्कतापः ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
भुशुण्डोपाख्याने वसिष्ठभुशुण्डसमायोगो नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

कारण तुम इस भयंकर जगज्जाल में प्रविष्ट नहीं हुए हो ॥ १९ ॥

प्राणियों की उत्पत्ति, विनाश, गति, आगति, विद्या एवं अविद्या को जानने वाले तुम मेरे इस संशय का सत्य रूप से छेदन कर दो कि किस कुल में तुम उत्पन्न हुए हो और किस प्रकार तुमने तत्त्व पहचान लिया ॥ २० ॥

हे साधो ! तुम्हारी कितनी आयु है, तुम अपना कौन-सा इतिवृत्त जानते हो और किस महानुभाव ने दीर्घदर्शी तुम्हारे लिए निवासस्थान रूप से इस वृक्ष को निश्चित किया है ? ॥ २१ ॥

भुशुण्ड ने कहा—हे मुने ! आप जो मुझ से पूछ रहे हैं, उन सबका मैं वर्णन (उत्तर) कर रहा हूँ। आप महानुभाव उद्विग्न न होकर प्रयत्नपूर्वक कथा का श्रवण करें ॥ २२ ॥

तीनों लोगों के नियन्ता और परम पूज्य आपके सदृश उदार-बुद्धि महात्मा जिस वृत्तान्त का श्रवण करते हैं, उस वृत्तान्त को कहने से वक्ता और श्रोता दोनों का पाप वैसे ही विनष्ट हो जाता है, जैसे मेघावलम्बित वृष्टि, छाया, अरण्य आदि वैभवों से सूर्य का आतप विनष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामयण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में भुशुण्डोपाख्यान में वसिष्ठभुशुण्डसमायोग नामक कुसुमलता का सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

१७

वसिष्ठ उवाच

अथ राम ! भुशुण्डोऽसौ न प्रहृष्टो न वक्रधीः ।
सर्वाङ्गसुन्दरः श्यामः प्रावृषीव पयोधरः ॥ १ ॥
स्निग्धगम्भीरवचनः स्मितपूर्वाभिभाषणः ।
करस्थबिल्वफलवत्प्रतोलितजगत्त्रयः ॥ २ ॥
तृणवद्दृष्टसकलः प्रमेयीकृतसंसृतिः ।
लोकाजवं जवीभावे दृष्टज्ञानपरावरः ॥ ३ ॥
धीरस्थिरमहाकारो विश्रान्ति गतमन्दरः ।
परिपूर्णमनाः शुद्धः क्षीरार्णव इवाऽऽगतः ॥ ४ ॥
परिविश्रान्तधीः शान्तः परमानन्दघूर्णितः ।
आविर्भावतिरोभावतज्ज्ञः संसारजन्मनाम् ॥ ५ ॥

१७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! अनन्तर यह पक्षिराज भुशुण्ड ने वह न तो अभीष्ट लाभ से प्रसन्न होने वाला था और न क्रूरमति था। वह सभी अङ्गों से सुन्दर और वर्षाकालीन मेघों के सदृश श्यामवर्ण का था ॥ १ ॥

उनके वचन स्नेहपूर्ण और गम्भीर थे वह कुछ ाभिभाषण करना हँसता हुआ था । हाथ में बेल की तरह ोनों जगत् की इयत्ता उसे निश्चित रूप से ज्ञात थी ॥२॥

समस्त भोगों को उसने तृण की तरह तुच्छ समझना ा, एकमात्र संसार ही इच्छित विषयों की ओर लोगों की दौड़-धूप का फल है—यह रहस्य उसने भली प्रकार जान लिया था, वह परंब्रह्म का ज्ञाता था ॥ ३ ॥

महान् आकार उसका धीर और स्थिर था। क्षीर समुद्र के समान उसने विश्रान्ति धारण की थी, मन्थन के अनन्तर मन्दराचल के चले जाने के बाद उसका मन मनोरथों से परिपूर्ण और विशुद्ध था ॥ ४ ॥

उसकी चारों ओर से ज्ञान में विश्रान्ति थी और वह शान्त था, अन्दर से वह परमानन्द से परिपूर्ण था, उसे संसार में जन्मधारी जीवों के आविर्भाव और तिरोभाव में हेतुभूत मायातत्त्व और आत्मतत्त्व का सम्यग् ज्ञान था ॥ ५ ॥

सरभसवदनाभिरामरूपः
प्रियमधुरोचितगानहृद्यवाक्यः ।
स्वयमिव नवमाश्रितः शरीरं
सकलभयापहरं प्रहर्षयुक्तः ॥ ६ ॥

इदममलगिरा स माऽऽह शुद्ध-
ममृतमनुज्झितसंभ्रमक्रमेण ।
कथयितुमखिलं निजं स्वरूपं
मधुपमिव स्तनितेन मुग्धमेघः ॥ ७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने भुशुण्डस्वरूपवर्णनं नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

प्रिय और मधुर सुनने योग्य वीणा के गान की तरह उसके वाक्य मनोहर थे । दर्शनमात्र से ऐसा प्रतीत होता था, संपूर्ण भयों का अपहरण करनेवाले स्वयं ब्रह्म ने ही मानो अपना यह नवीन भुशुण्डशरीर धारण किया हो, अतएव वह स्वाभाविक आनन्द से युक्त और प्रश्नों का उत्तर देने के लिए किये गये उद्योगयुक्त मुख के कारण अत्यन्त सुन्दर लगता था ॥ ६ ॥

भुशुण्ड शुद्ध, अमृतमय, परिपूर्ण अपने स्वरूप का क्रमशः बोध कराने के लिए—विनय, उपचार एवं उत्साह आदि शिष्ट-पद्धति का परित्याग न कर निर्मल वाणी से मेरे प्रति आगे का वैसे ही वृतान्त कहने लगा, जैसे सुन्दर मेघ अपने गर्जितरव से पुष्परस के पान में रसिक भ्रमर के प्रति वृतान्त कहता हो । आशय यह है कि पहले से ही प्रबुद्ध और ब्रह्मानन्द में रसिक मेरे प्रति भुशुण्ड की उक्ति अनुवादमात्र थी, न कि उपदेश ॥ ७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में भुशुण्डोपाख्यान में भुशुण्डस्वरूपवर्णन नामक कुसुमलता का सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

१८

भुशुण्ड उवाच

अस्त्यस्मिञ्जगति श्रेष्ठः सर्वनाकनिवासिनाम् ।
देवदेवो हरो नाम देवदेवाभिवन्दितः ॥ १ ॥
षट्पदश्रेणिनयना यस्योच्चस्तबकस्तनी ।
विलासिनी शरीरार्धे लता चूततरोरिव ॥ २ ॥
हिमहारसिता यस्य लहरीस्तबकोम्भिता ।
आवेष्टितजटाजूटा गङ्गाकुसुममालिका ॥ ३ ॥
क्षीरसागरसंभूतः प्रसृतामृतनिर्झरः ।
प्रतिबिम्बकरः श्रीमान्यस्य चूडामणिः शशी ॥ ४ ॥
अनारतशिरश्चन्द्रप्रस्रवेणाऽमृतीकृतः ।
यस्येन्द्रनीलवत्कालकूटः कण्ठे विभूषणम् ॥ ५ ॥
धूलिलेखामहावर्तं स्वच्छपावकसम्भवम् ।
परमाणुमयं भस्म यस्य ज्ञानजलं सितम् ॥ ६ ॥

१८

भुशुण्ड ने कहा—इस जगत् में समस्त स्वर्गवासी देवताओं में श्रेष्ठ ! देवताओं के भी पूजनीय एवं उपासनीय, देवाधिदेव महादेवजी हैं, जो बड़े-बड़े देवों के भी द्वारा अभिवन्दित और चारों ओर से पूजित हैं [इस श्लोक से ब्रह्मविद्या के आरम्भ में मङ्गल भी पक्षिराज भुशुण्ड ने कर दिया है] ॥ १ ॥

उनसे देहार्ध में आम्रवृक्ष की तरह भ्रमर-पंक्तियों के सदृश नेत्रों वाली तथा उन्नत पुष्प-गुच्छों के सदृश स्तन-धारिणी लता शोभित है ॥ २ ॥

हिम और हार की तरह अत्यन्त धवल लहरीरूपी स्तबकों से गुम्फित और जटाजूट को वेष्टित करने वाली उनके एक गङ्गारूपी कुसुम-मालिका है ॥ ३ ॥

क्षीर-सागर से उत्पन्न और अमृत का झरना बहाने वाला अत्यन्त कान्तियुक्त चन्द्रमा उनका दर्पणस्वरू शिरोभूषणमणि है ॥ ४ ॥

सदा मस्तक में स्थित चन्द्रमा के अमृतप्रवाह से जिसकी विषशक्ति निकल गई है और जिसमें संजीवन शक्ति प्राप्त है, ऐसा इन्द्रनील मणि की तरह कालकूट महाविष उनके कण्ठ का भूषण है ॥ ५ ॥

जगत् के प्रलय में हेतुभूत अपने चक्षुरूपी निर्मल अग्नि से उत्पन्न धूलियों की पंक्ति बड़े-बड़े प्रलयकालीन झंझावातों की उत्पादक, परमाणुमय अतिशुभ्र एवं उसके साक्षी चैतन्यमात्रस्वरूप जल से प्लावित होने के कारण ज्ञानजलात्मक मायारूप भस्म उन मायाशबल महादेवजी का भूषण है ॥ ६ ॥

निर्मलानि जितेन्दूनि मृष्टानि घटितानि च ।
यस्याऽस्थीन्येव रत्नानि देहकान्तमयानि च ॥ ७ ॥
सुधाकरसुधाधौतं नीलनीरदपल्लवम् ।
तारकाबिन्दुशबलं यस्य चाऽम्बरमम्बरम् ॥ ८ ॥
भ्रमच्छिवाङ्गनापक्वमहामांसौदनाकुलम् ।
बहिर्भूतं गृहं यस्य श्मशानं हिमपाण्डुरम् ॥ ९ ॥
कपालमालाभरणाः पीतरक्तवसासवाः ।
आन्त्रस्रग्दामवलिता बन्धवो यस्य मातरः ॥ १० ॥
प्रस्फुरन्मूर्धमणयश्चरन्तो मसृणाङ्गकाः ।
भुजगा वलया यस्य प्रकचत्कनकत्विषः ॥ ११ ॥
दृक्पातदग्धशैलेन्द्रं जगत्कवललालसम् ।

अत्यन्त निर्मल, तेजस्वी चन्द्रमा का भी तिरस्कार कर देनेवाली, मणियों के समान यानपर चढ़ाकर विशोधित माला आदि के आकार में ग्रथित संपूर्ण शरीरों में मनोरम ब्रह्मा आदि के शरीरों की विकारभूत हड्डियाँ ही उनके शोभाकारक रत्न हैं ॥ ७ ॥

सुधाकर की सुधाधारा से प्रक्षालित, नीलमेघरूपी पल्लवों से समन्वित तथा तारारूपी बिन्दुओं से सुशोभित आकाश ही उनके वस्त्र हैं ॥ ८ ॥

चक्कर काट रही शृगालियों, परिपक्व नर-मांसों और बलि के ओदनों से व्याप्त; गाँव और नगरों से दूर, हिम के सदृश धवल श्मशान ही उनका घर है। [संस्कृत व्याख्या क अनुसार प्रकृत श्लोक में 'भ्रमच्छिवाङ्गना०' और 'बहिर्भूतम्' ये दो पद श्लिष्ट होने से कल्याणकारी वेष-भूषा को धारण कर इधर-उधर घूम रही रमणियों द्वारा पकाये गये प्रशस्ततम मांस, भात आदि भोज्य पदार्थों से व्याप्त तथा सब प्रकार के दोषों से रहित—इस अर्थ की भी कल्पना की गई है] ॥ ९ ॥

कपालमाला ओंसे रक्त और चर्बी का आसव (मद्य के पान करने वाली आलङ्कृत है एवं आँतरूपी मालासूत्र से वेष्टि ऐसा मातृकागण उनके नृत्यादि में सदा सहायक बन्धुवर्ग है ॥ १० ॥

अङ्गों के भूषण के लिए संचरणशील, सवाँग से चिकने, प्रस्फुरित हो रही मस्तकमणियों से शोभित तथा सुवर्ण के सदृश दीप्तिसम्पन्न कान्तिवाले सर्प उनके भुजा के कङ्कण हैं ॥ ११ ॥

उनका चरित्र दृष्टिपातमात्र से शैलेन्द्र हिमराज को दग्ध कर देनेवाला, जगत् का ग्रास करने में लालायित तथा क्रीडामात्र से असुरों को त्रस्त कर देनेवाला भयंकर है ॥ १२ ॥

भैरवाचरितं यस्य लीलासन्त्रासितासुरम् ॥ १२ ॥
स्वस्थीकृतजगज्जातस्वव्यापारस्थचेतसः ।
यदृच्छया करस्पन्दो यस्याऽसुरपुरक्षयः ॥ १३ ॥
एकाग्रमूर्तयः स्नेहरागद्वेषविवर्जिताः ।
स्वशना यस्य ते शैलाः सरसा अपि नीरसाः ॥ १४ ॥
शिरःखुराः खुरकराः करदन्तमुखोदराः ।
ऋक्षोष्ट्राजाहिवक्त्राश्च प्रमथा यस्य लालकाः ॥ १५ ॥
तस्य नेत्रत्रयोद्भासिवदनस्याऽमलप्रभाः ।
यथा गणास्तथैवाऽन्याः परिवारो हि मातरः ॥ १६ ॥
नृत्यन्ति मातरस्तस्य पुरो भूतगणानताः ।
चतुर्दशविधानन्तभूतजातैकभोजनाः ॥ १७ ॥

सत्य-सङ्कल्प होनेके कारण उनका अन्तःकरण एकमात्र कल्याण की भावना से ही जगत् को अपनी प्रकृति में रखने के लिए समाधि में स्थित है। कदाचित् समाधि का आकस्मिक भङ्ग हो जाने पर उत्पन्न हुआ उनके हाथ का स्पन्दन असुरों के साथ उनके बड़े-बड़े नगरों को विनष्ट कर डालता है ॥ १३ ॥

उनकी एकाग्रभूत ध्यान की मूर्तियाँ स्नेह, राग, द्वेष आदि सर्वविध दोषों से शून्य, सरस अर्थात् पृथ्वी और जल से युक्त होते हुए भी नीरस, उत्तम भोजन करने के कारण भली-प्रकार तृप्त लोगों के समान अशन, पान आदि तृष्णाओं से शून्य प्रसिद्ध मेरु, हिमालय आदि पर्वत ही हैं ॥ १४ ॥

मस्तक खुर की शक्तियों से युक्त अर्थात् दौड़ने-कूदने की शक्तियाँ रखते हैं, खुर हाथों की शक्तियों वाले अर्थात् चित्र-विचित्र शिल्पादि-निर्माण-शक्तियाँ रखने वाले हाथ दाँत, मुख और उदर की शक्तियों समन्वित अर्थात् चवर्ण, भक्षण आदि शक्तियों को रखने वाले तथा जिनके भालू, ऊँट, बकरी और सर्प के सदृश मुख वाले प्रमथों का गण उन महादेवजी के क्रीडन में सहायक हैं ॥ १५ ॥

तीन नेत्रों के कारण देदीप्यमान मुखवाले महादेवजी के जैसे सर्वाङ्गों में सर्वविध शक्तियों से समन्वित प्रमथगण क्रीडा सहायक परिवार हैं, वैसे ही सर्वाङ्गों में सर्वशक्ति-समन्वित निर्मल कान्ति वाली दूसरी-दूसरी नाना प्रकार की आकृति और मुख वाली माताएँ भी क्रीडा में सहायक परिवार हैं ॥ १६ ॥

भूतगणों के ऊपर आधिपत्य रखने के कारण उनसे (भूतगणों से) नमस्कृत तथा चतुर्दश भुवनों में उत्पद्यमान असंख्य प्राणियों का ही भोजन करने वाली मातृकाएँ उस देवाधिदेव के सामने नृत्य करती हैं ॥ १७ ॥

खरोष्ट्राकारवदना रक्तमेदोवसासवाः ।
दिगन्तरविहारिण्यः शरीरावयवस्रजः ॥ १८ ॥
वसन्ति गिरिकूटेषु व्योम्नि लोकान्तरेषु च ।
अवटेषु श्मशानेषु शरीरेषु च देहिनाम् ॥ १९ ॥
जया च विजया चैव जयन्ती चाऽपराजिता ।
सिद्धा रक्ताऽलम्बुसा च उत्पला चेति देवताः ॥ २० ॥
सर्वासामेव मातृणामष्टावेतास्तु नायिकाः ।
आसामनुगतास्त्वन्यास्तासामनुगताः पराः ॥ २१ ॥
तासां मध्ये महार्हाणां मातृणां मुनिनायक ! ।
अलम्बुसेति विख्याता माता मानद ! विद्यते ॥ २२ ॥
वज्रास्थितुण्डश्चण्डाख्य इन्द्रनीलाचलोपमः ।
तस्यास्तु वाहनं काको वैष्णव्या गरुडो यथा ॥ २३ ॥
इत्यष्टैश्वर्ययुक्तास्ता मातरो रौद्रचेष्टिताः ।
कदाचिन्मिलिता व्योम्नि सर्वाः केनाऽपि हेतुना ॥२४॥

उन मातृकाओं के मुखों की गदहे और ऊँटों के मुखों के सदृश आकृतियाँ हैं, रक्त, मेद और चर्बी उनका आसव के सदृश सर्वदा पेयपदार्थ है। चारों दिशाओं में वे विहार करती हैं और शव के हाथ, पैर आदि की मालाएँ पहनती हैं ॥ १८ ॥

ये मातृकाएँ पहाड़ों की चोटियों पर, आकाश में, अन्य लोकों में, गर्तों में भी प्राणियों के शरीरों में निवास करती हैं ॥ १९ ॥

जया, विजया, जयन्ती, अपराजिता, सिद्धा, रक्ता, अलम्बुसा और उत्पला—ये आठ मातृदेवियाँ सभी माताओं में मुख्य हैं। अन्य माताएँ इन्हीं आठों का अनुगमन करती हैं और उनका अनुगमन करने वाली अन्य मातृदेवियों का और दूसरी माताएँ अनुगमन करती हैं ॥ २०, २१ ॥

हे मानद मुनिनायक, महामहिमशाली उस मातृगण से बीच में 'अलम्बुना' नामक सप्तम माता अत्यन्त विख्यात है ॥ २२ ॥

वैष्णवी-शक्ति के वाहन गरुड़ की तरह उस 'अलम्बुसा-शक्ति' का वाहन कौआ है, यह इन्द्रनील पर्वत के सदृश नीला है, इसका मुख वज्रतुल्य हड्डी से बना है तथा नाम है—चण्ड ॥ २३ ॥

किसी समय विहारवश भयंकर चेष्टाकारिणी, अष्टसिद्धियों से संपन्न वे सब माताएँ आकाश में इकट्ठी हुईं ॥ २४ ॥

वाममार्ग में प्रतिपादित परशक्ति के आराधन-प्रकार

उत्सवं परमं चक्रुः परमार्थप्रकाशकम् ।
वामस्रोतोगता एतास्तुम्बुरुं रुद्रमाश्रिताः ॥ २५ ॥
पूजयित्वा जगत्पूज्यौ देवौ तुम्बुरुभैरवौ ।
विचित्रार्थाः कथाश्चक्रुर्मदिरामदतोषिताः ॥ २६ ॥
अथेयमाययौ तासां कथावसरतः कथा ।
अस्मानुमापतिर्देवः किं पश्यत्यवहेलया ॥ २७ ॥
प्रभावं दर्शयामोऽस्य पुनर्नाऽस्मांस्त्वसौ यथा ।
दृष्टमात्रमहाशक्तिः करिष्यत्यवधीरणम् ॥ २८ ॥
इति निश्चत्य ता देव्यो विवर्णवदनाङ्गिकाम् ।
उमामेव वशीकृत्य प्रोक्षयामासुरादृताः ॥ २९ ॥
माययाऽपहृतां भर्तुरङ्गाद्रङ्गमुपागताम् ।
तामालोलकचां देव्यः शेपुरोदनतां गताम् ॥ ३० ॥
पार्वतीप्रोक्षणदिने तस्मिंस्तत्र महोत्सवः ।
बभूव तासां सर्वासां नृत्यगेयमनोहरः ॥ ३१ ॥

में निष्ठा रखने वाली इन आठ मातृदेवियों ने तुम्बुरुनामक रुद्रमूर्ति का आराध्यरूप से आश्रयण कर एकाग्रचित्त से समाधि में परमार्थभूत स्व-स्वरूप का प्रकाशन करने वाला उत्तम पानोत्सव मनाया ॥ २५ ॥

वे माताएँ, समस्त जगत् के पूज्य तुम्बुरु और भैरव-नामक देवताओं का पूजन-अर्चनकर मदिरामद से सन्तुष्ट होती हुई आपस में चित्र-विचित्र अर्थों से पूर्ण वार्तालाप करने लगीं ॥ २६ ॥

तदनन्तर उनकी कथाओं के प्रसङ्ग से यह एक बात उठी की भगवान् उमापति हम लोगों को क्यों तिरस्कार-पूर्वक देखा करते हैं ? ॥ २७ ॥

इसलिए महादेव जी को हम लोग अपना वह प्रभाव दिखलाएँ, जिससे कि हम लोगों की महाशक्ति देखकर वे हमारी पुनः अवहेलना न करेंगे ॥ २८ ॥

इस प्रकार निश्चय कर परस्पर अभिनन्दित उन देवियों ने रूपान्तर में परिणत मुख आदि अङ्गोंवाली रुद्रशक्ति उमा को अपने अधीन बनाकर, यज्ञ में पशु की तरह समन्त्रक जल से प्रोक्षित किया ॥ २९ ॥

अनन्तर उन देवियों ने महादेवजी के अङ्ग से माया द्वारा चुराई गई तथा मातृदेवियों के बीच में प्राप्त चञ्चल केशवाली उमा को ओदनरूप बनानेके लिए मानो अभिशाप दिया ॥ ३० ॥

जिस दिन पार्वतीजी का प्रोक्षण किया, उस दिन वहाँ उन सब देवियों ने नृत्य, गेय आदि से मनोहर महान् उत्सव मनाया ॥ ३१ ॥

अत्यानन्दमनुद्दामरवमेवाऽम्बरं बभौ ।
दीर्घावयवविक्षेपविकासिजघनोदराः ॥ ३२ ॥
अन्या जहसुरुद्दामतालक्ष्वेडाघनारवम् ।
लसदङ्गविकारं च ध्वनत्सगिरिकाननाः ॥ ३३ ॥
अन्या जगुर्ध्वनच्छैलगृहमापानतोषिताः ।
वारीव रववद्रञ्जज्जगन्मण्डलकोटरे॥ ३४ ॥
अन्याः पानं वपुः पुष्टचर्चिताङ्गशिरःखुरम् ।
लीलाघुरघुरारावरणदाकाशकोटरे ॥ ३५ ॥
पपुरुदगुरथोच्चैः सत्वरा जग्मुरूचु-
र्जहसुरपुरहौषुः पेतुरुच्चैर्ववल्गुः ।
ननृतुरनिशमादुः स्वादु मांसं च देव्य-
स्त्रिभुवनमपवृत्तं चक्रुरुन्मत्तवृत्ताः ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने मातृव्यवहारवर्णनं नामाऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

अत्यन्त आनन्द और उन्नत घोष से युक्त आकाश-मण्डल उस समय जगमगाने लगा तथा उन देवियों की जंघा और उदर दीर्घ अङ्गों के उच्चावच प्रक्षेप से विकसित होने लगे ॥ ३२ ॥

पर्वत और अरण्यों को शब्दित कर रही कुछ अन्य देवियाँ करताल और सिंहनाद के कारण उद्दाम घनीभूत शब्द के उच्चारण तथा कान्तियुक्त अङ्गों के विकारपूर्वक हँसने लगीं ॥ ३३ ॥

जगत्-मण्डल की गुहा में मद्यपान से अतितृप्त कुछ मातृकाएँ पर्वत एवं घरों को ध्वनि युक्त बनाती हुई, चन्द्र के उदयराग से रञ्चित शब्दयुक्त समुद्र-जल के सदृश, गर्जना करने लगीं ॥ ३४ ॥

लीला-जनित घुरर्घुर शब्दों से आकाश के कोने में कुछ देवियाँ मस्तक से लेकर खुरपर्यन्त अङ्गों को रक्त, चर्बी, आसव आदि से पुष्ट करने के लिए मद्यपान कर रही थीं ॥ ३५ ॥

कुछ देवियाँ पेय पदार्थ पीने लगीं, कुछ तो उच्च स्वर से गर्जन करने लगीं, कुछ जलदी से जाने लगीं, कुछ हँसने लगीं, कुछ परस्पर रक्षा करने लगीं, कुछ एक दूसरे के मुख में या अग्नि में होमने लगीं, कुछ गिरने लगीं, कुछ ऊँचे से बड़बड़ाने लगीं, कुछ निरन्तर नाचने लगीं, कुछ स्वादु मांस खाने लगीं, इसप्रकार उन्होंने उन्मत्ताचरण होकर त्रिभुवन को अपने व्यापार से सद्वर्तन से रहित कर दिया ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ऋषी-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमाहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में भुशुण्डोपाख्यान में मातृव्यवहारवर्णन नामक कुसुमलता का अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

१९

भुशुण्ड उवाच

इत्युत्सवे वर्तमाने तासां वाहास्त उत्तमाः ।
तथैव मत्ता जहसुर्ननृतुः पपुरप्यसृक् ॥ १ ॥
तत्रैकत्राऽऽसवोन्मत्ताः काश्चिन्ननृतुरम्बरे ।
रथहंस्यः स्थिता ब्राह्मयः काकश्चाऽलम्बुसारथः ॥ २ ॥
नृत्यन्तीनां च हंसीनां पिबन्तीनामथाऽऽसवम् ।
तले चाऽब्धितटानां तु रतिः सम्यगजायत ॥ ३ ॥
सञ्जातरतयो मत्ताः सर्वा हंस्यः क्रमेण ताः ।
रेमिरे सह काकेनाऽप्यथ मत्तास्तदा किल ॥ ४ ॥

१९

भुशुण्डने कहा—उन मातृकाओं का उत्सव के समय उनके उत्तम वाहन रूप चण्ड आदि भी उसी प्रकार उन्मत्त होकर हँसते थे, नाचते थे और रुधिर का पान भी करते थे ॥ १ ॥

उस उत्सव में मद्यपान से उन्मत्त कुछ ब्राह्मीशक्ति के रथ में जुतने वाली हँसियाँ और 'अलम्बुसा' देवी का वाहन चण्ड नामक कौआ—आकाश-प्रदेश में इकट्ठे होकर होकर नाचने लगे ॥ २ ॥

समुद्रतट की समतल भूमि सम्यक् नृत्य और मद्यपान कर रही उन हँसियों को पुरुष विषयक अनुराग उत्पन्न हुआ ॥ ३ ॥

अनन्तर उस समय उत्पन्न-रति वे सभी हँसियाँ मन्मत्त होकर क्रमशः निकृष्टजातीय भी कौए के साथ रमण करने लगीं, क्योंकि वे मत्त ही तो थीं। [ऊँची जाति की हँसियों की रति अपने से निकृष्ट जाति कौए के साथ यद्यपि अनुचित है, तथापि उसके होने में एकमात्र कारण उन्माद ही है, यह सूचन करने के लिए इस श्लोक में 'अपि' शब्द का प्रयोग किया है ।] ॥ ४ ॥

सप्तानां कुलहंसीनां दयितो वायसस्त्वसौ ।
क्रमेणाऽरमतैकत्र यावदन्योन्यमीप्सितम् ॥ ५ ॥
अथ ता गर्भधारिण्यो बभूवू रतितोषिताः ।
देव्यश्च कृतनृत्यास्ताः सुप्रशान्तमथाऽऽययुः ॥ ६ ॥
ददुरोदनतां यातामीश्वराय प्रियामुमाम् ।
भोजनाय महामायां देव्यस्ताः शूलपाणये ॥ ७ ॥
प्रिया मे भोजने दत्तेत्येवं च शशिशेखरः ।
बुध्वा बभूव रुषितो यदा मातृगणं प्रति ॥ ८ ॥
तदा तास्तां समुत्पाद्य स्वाङ्गदानेन वै पुनः ।
ददुर्भूयो विवाहेन पार्वतीमिन्दुमौलये ॥ ९ ॥
ततो देव्यो हरश्चैव परिवारस्तथैतयोः ।
सर्वे सन्तुष्टमनसः स्वां स्वामुपययुर्दिशम् ॥ १० ॥
अन्तर्वत्न्यो बभूवुस्ता ब्राह्म्यो हंस्यो मुनीश्वर ! ।
वृत्तान्तं कथयामासुर्ब्राह्म्या देव्या यथास्थितम् ॥ ११॥

सात कुलहँसियों के बल्लभ इस चण्डनामक कौए ने क्रम से एक-एक हँसी के साथ जबतक कि एक दूसरे की इच्छा पर्याप्तरूप से शान्त नहीं हुई तबतक रमण किया ॥ ५ ॥

रति से तृप्त उन हँसियों ने गर्भधारण किया और वे देवियाँ उत्सवकार्य सम्पादित हो जाने के बाद अपनी ही माया का विलास समझकर क्रोध न करनेवाले महादेवजी के पास पहुँचीं ॥ ६ ॥

उन देवियों ने भोजन के लिए शूलपाणि महादेवजी को ओदनरूपता को प्राप्त प्रिय उमा को समर्पित किया ॥ ७ ॥

भोजन में मेरी प्रिया ही दी गई है, यह जानकर जब महादेवजी मातृकाओं के प्रति रुष्ट हुए, तब उन्होंने अपने-अपने अङ्गों से सिर आदि एक-एक अवयव की कल्पना द्वारा पार्वती का पुनः उत्पादन कर महादेवजी को फिर पाणिग्रहण-विधि से उसे समर्पित किया ॥ ८-९ ॥

अनन्तर देवियाँ, महादेवजी और उनका परिवार— ये सब सन्तुष्टमन होकर अपनी-अपनी दिशा की ओर चल दिये ॥ १० ॥

हे मुनीश्वर ! वे ब्राह्मीशक्ति के रथ की हँसियाँ गर्भवती हुई थीं, उन्होंने ब्राह्मीदेवी के समीप में अपना यथास्थित वृत्तान्त कह दिया ॥ ११ ॥

ब्राह्मीशक्ति ने कहा—पुत्रियो ! इस समय गर्भवती

ब्राह्म्युवाच

हे वत्स्यः ! साम्प्रतं वत्सवत्यो मे रथकर्मणि ।
न समर्था भवन्त्यो हि स्वैरं चरत साम्प्रतम् ॥ १२ ॥
इति गर्भालसा हंसीरुक्त्वा देवी दयापरा ।
निर्विकल्पसमाधाने ब्राह्मी तस्थौ यथासुखम् ॥ १३ ॥
अजनाभिसरोजान्तवैरिञ्चकमलाकरे ।
गर्भालसा विचेरुस्ता राजहंस्यो मुनीश्वर ! ॥ १४ ॥
एवं विपक्वगर्भास्ता नाभीकमलपल्लवे ।
सुवते स्म मृदून्यण्डान्यथ वल्लय इवाऽङ्कुरान् ॥ १५॥
तानि कालं समासाद्य ततोऽण्डान्येकविंशतिः ।
गर्भाक्रान्त्या द्विधा जग्मुर्ब्रह्माण्डानीव सारवत् ॥ १६ ॥
अण्डेभ्यस्तेभ्य एवं हि जाता वयमिमे मुने ! ।
भ्रातरश्चण्डतनया वायसा एकविंशतिः ॥ १७ ॥
ते सञ्जाता गता वृद्धिं तस्मिन् कमलपल्लवे ।
सञ्जातपक्षाः सम्पन्ना गगनोड्डयने क्षमाः ॥ १८ ॥

तुम सब मेरे रथ कार्य के लिए असमर्थ हो, इसलिए अब यथेष्ट विचरण करो ॥ १२ ॥

गर्भ से अलसाई उन हँसियों को वैसा कहकर दयालु ब्राह्मी देवी—उनके ऊपर अनुग्रहार्थ विहार छोड़कर— निर्विकल्प समाधि में सुखपूर्वक स्थित हुई ॥ १३ ॥

हे मुनीश्वर ! गर्भधारण से अलसाई वे राजहँसियाँ भगवान् विष्णु के नाभि कमल के मूल में ब्रह्मा के कमल की उत्पत्ति-स्थान में विचरण करने लगीं ॥ १४ ॥

अनन्तर उस प्रकार विचरण करती हुई उन राज-हँसियों का गर्भ परिपक्व हो गया। उन्होंने नाभिकमल के किसलयप्रदेश में वैसे ही मुलायम अण्डे दिये, जैसे वल्लियाँ अङ्कुर देती हैं ॥ १५ ॥

अनन्तर समय पाकर उन्होंने इक्कीस अण्डे दिये और यथासमय भीतरी गर्भ पक जाने पर हँसियों के पग के प्रहार द्वारा वे वैसे ही द्विधा विभक्त हो गये, जैसे सार-युक्त ब्रह्माण्ड सुवर्ण और चाँदी के खप्परों द्वारा द्विधा हो जाता है ॥ १६ ॥

हे मुने ! उन अण्डों के द्वारा उस प्रकार ये हम चण्ड के पुत्र इक्कीस भाई कौए की जाति से उत्पन्न हुए ॥ १७ ॥

उस कमल के पल्लव के ऊपर हम सब क्रमशः बड़े हुए, हम लोगों को पर आए और आकाश से उड़ने में समर्थ भी हुए ॥ १८ ॥

मातृभिः सह हंसीभिर्ब्राह्मी भगवती ततः ।
चिरमाराधिता सम्यक्समाधिविरता सती ॥ १९ ॥
प्रसादपरया काले भगवत्या ततः स्वयम् ।
तथाऽङ्गऽनुगृहीताः स्मो येन मुक्ता वयं स्थिताः ॥२०॥
संशान्तमनसः शान्ता एकान्ते ध्यानसंस्थितौ ।
तिष्ठाम इति निश्चित्य पितुः पार्श्वे वयं गताः ॥ २१ ॥
आलिङ्गितास्ततः पित्रा पूजितालम्बुना वयम् ।
तया दृष्टाः प्रसादेन संस्थितास्तत्र संयताः ॥ २२ ॥

चण्ड उवाच

पुत्राः कच्चिदपर्यन्तवासनातन्तुगुण्ठितात् ।
भवन्तो निर्गता नूनमस्मात् संसारजालकात् ॥ २३ ॥
नो चेद्वयं भगवतीं तदिमां भृत्यवत्सलाम् ।
प्रार्थयामो यथा यूयं भवथ ज्ञानपारगाः ॥ २४ ॥

काका ऊचुः

तात ! ज्ञातमलं ज्ञेयं ब्राह्म्या देव्याः प्रसादतः ।

हम लोगों ने अपनी माता हँसियों के साथ दीर्घकाल तक समाधि से विरत भगवती ब्राह्मीदेवी की भली प्रकार आराधना की ॥ १९ ॥

अनन्तर उपयुक्त समय आने पर प्रसाद करने में तत्पर भगवती ब्राह्मी ने स्वयं ही हम लोगों के ऊपर तत्त्वसाक्षात्काररूप फल के द्वारा वैसा अनुग्रह किया, जिससे हम लोग जीवन्मुक्त होकर स्थित हैं ॥ २० ॥

हम लोगों का मन विलीन हो गया, इसलिए 'एकान्त प्रदेश में उपद्रवशून्य होकर समाधि में ही स्थित रहें' ऐसा निश्चय कर हम लोग अपने पिताजी के पास विन्ध्य-प्रदेश में गये ॥ २१ ॥

वहाँ पिताजी ने हम लोगों का आलिंगन किया और हम सबने भगवती अलम्बुसा की पूजा की। प्रसन्नतापूर्वक उस देवी के द्वारा देखे गये हम लोग विनय आदि सद्गुणों से नियन्त्रित होकर वहां रहने लगे ॥ २२ ॥

पिता चण्ड ने कहा—हे पुत्रो ! क्या तुम लोग इस असीम वासनारूपी तन्तुओं से ग्रथित संसाररूपी जाल से मुक्त हो चुके हो ? यदि नहीं, तो उससे छुटकारा पाने के लिए भृत्यवत्सल इस भगवती अलम्बुसा की हम प्रार्थना करें, जिससे तुम सब ज्ञान में पारंगत हो जाओगे ॥ २३-२४ ॥

कौओं ने कहा—हे तात ! ब्राह्मीदेवी के प्रसाद से हम लोगों ने ज्ञातव्य विषय का भली-भाँति ज्ञान कर लिया है, किन्तु एकान्त से वास करने योग्य उत्तम स्थान

किन्त्वेकान्तस्थितेः स्थानमभिवाञ्छाम उत्तमम् ॥२५॥

चण्ड उवाच

सर्वरत्नगणाधारः समस्तसुरसंश्रयः ।
अस्ति ह्येव महोत्सेधो मेरुर्नाम महीधरः ॥ २६ ॥
लसच्चन्द्रार्कदीपस्य भूतवृन्दकलत्रिणः ।
ब्रह्माण्डमण्डपस्याऽन्तस्तम्भः कनकनिर्मितः ॥ २७ ॥
सौवर्णचन्द्रपीठाढ्यो रत्नाढ्यशिखराङ्गुलिः ।
ध्वनद्द्वीपाब्धिवलयो भुवेवोन्नमितो भुजः ॥ २८ ॥
वृतः कुलाद्रिसामन्तैर्जम्बूद्वीपासने स्थितः ।
राजा चन्द्रार्कनयने भ्रमयञ्छैलसंसदि ॥ २९ ॥
तारौघमालतीमाल्यो दिग्दशैकाम्बराम्बरः ।
नागजातिद्वयस्थात्मा नाकनायकभूषणः ॥ ३० ॥
दिगङ्गनाभिरभितो रम्याभिः पुरभूषणैः ।
एष निस्यन्दिभिः शीतैर्वीजितो घनचामरैः ॥ ३१ ॥

की हम लोगों को अभिलाषा है ॥ २५ ॥

पिता चण्ड ने कहा—भाँति-भाँति के अनेक रत्नों का आधार एक मेरुनाम का अत्यन्त ऊँचा पर्वत है, संपूर्ण देवता उसका आश्रयण करते हैं ॥ २६ ॥

प्रकाशमान चन्द्र और सूर्यरूपी दीपक से युक्त तथा अनेक विध प्राणियों के कारण विस्तृत कुटुम्ब से परिवेष्टित ब्रह्माण्डरूपी घर का वह सुवर्णनिर्मित मध्य-स्तंभ है ॥ २७ ॥

मानो वह पृथ्वी के द्वारा ऊपर को उठाया गया एक हाथ है। उस हाथ में किंपुरुष आदि देश ही चन्द्राकृति सुवर्णनिर्मित केयूर हैं, रत्नरूप अँगूठियों से सुशोभित शिखर ही अंगुलियाँ हैं और शब्द कर रहे द्वीप और समुद्र ही कंकण हैं ॥ २८ ॥

वह पर्वतों का राजा है, उसके चारों ओर हिमालय आदि सात कुलपर्वत सामन्तरूप से विराजित हैं; वह जम्बूद्वीपरूपी सिंहासन के ऊपर विराजमान है और पर्वतों की सभा में चन्द्र एवं सूर्यरूपी नेत्रों से दृष्टिपात करता है ॥ २९ ॥

तारावली (तारकाओं की पंक्ति) ही उसकी मालती-माला है, दिशारूपी पल्लों से सुशोभित आकाश ही उसका एकमात्र वस्त्र है, वह सर्प और हाथी—इन दोनों का आश्रय-स्थान है, इन्द्र, उपेन्द्र आदि देवराज ही उसके आभूषण हैं ॥ ३० ॥

कमनीय दिशारूपी कामिनियाँ उसके चारों ओर

षोडशाऽस्य सहस्राणि योजनानामधः क्षितौ ।
स्थिताः पादाः प्रपूज्यन्ते नागासुरमहोरगैः ॥ ३२ ॥
आशीतिश्च सहस्राणि देहोऽस्यार्केन्दुलोचनः ।
पूज्यते नाकसदने सुरगन्धर्वकिन्नरैः ॥ ३३ ॥
चतुर्दशविधान्येनं गृहस्थमिव बान्धवाः ।
उपजीवन्ति भूतानि मिथोऽदृष्टपुरास्पदम् ॥ ३४ ॥
अस्य त्वीशानदिग्भागे पद्मरागमयं बृहत् ।
विद्यते श्रृङ्गमपरो दिवाकर इवोदितः ॥ ३५ ॥
अस्याऽस्ति पृष्ठे भूतौघवृतः कल्पतरुर्महान् ।
जगतः शिखरादर्शे प्रतिबिम्बमिव स्थितः ॥ ३६ ॥
तस्याऽस्ति दक्षिणस्कन्धे शाखा कनकपल्लवा ।
रत्नस्तबकनीरन्ध्रा चन्द्रबिम्बोल्लसत्फला ॥ ३७ ॥
तत्र पूर्वं मया नीडं कृतमासीत् स्फुरन्मणि ।

जलस्यन्दी शीतल अङ्गभूषण मेघरूप नील, श्वेत आदि चामर डुलाती हैं ॥ ३१ ॥

सोलह हजार योजन नीचे पृथ्वी में इसके पैर अवस्थित हैं, जिनकी नाग, असुर और बड़े-बड़े सर्प पूजा करते हैं ॥ ३२ ॥

सूर्य और चन्द्ररूप लोचनों से युक्त तथा अस्सी हजार योजन ऊँचा स्वर्ग-स्थान तक पहुँचा इसका शरीर है, वहाँ देवता, गन्धर्व एवं किन्नर उसकी पूजा करते हैं ॥ ३३ ॥

इस पर्वतराज का आश्रयण कर ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि, देव, पितर, गन्धर्व, किन्नर, अप्सराएँ, विद्याधर, यक्ष, राक्षस, प्रथम, गुह्यक और नाग—ये चौदह प्रकार के प्राणी वैसे ही जीवन-निर्वाह करते हैं जैसे प्रधान गृहपति का आश्रयण कर इतर बन्धुगण जीवन-निर्वाह करते हैं। यह इतना विस्तृत है कि वे एकत्र रहनेपर भी एक-दूसरे का नगर या स्थान नहीं देख पाते ॥ ३४ ॥

इसके ईशानकोण में माणिक्य का बना हुआ एक विशाल शिखर है; जो देखने दूसरा उदित हुआ सूर्य प्रतीत होता है ॥ ३५ ॥

इसके पृष्ठभाग में शिखररूपी विद्रुम-दर्पण जगत् के प्रतिबिम्ब की तरह प्रतीत अनेकविध प्राणियों से परिवृत एक महान् कल्पवृक्ष है ॥ ३६ ॥

उसके दक्षिण तने पर एक शाखा है, जिसमें कनक के सदृश पीत पल्लव हैं, रत्नों के सदृश चमकीले पुष्प-गुच्छों के कारण तनिक भी अवकाश नहीं है और चन्द्रबिम्ब के सदृश प्रकाशमान फल भरे पड़े हैं ॥ ३७ ॥

देव्यां ध्याननिषण्णायां यस्मिन्किल रमे सुताः ॥ ३८ ॥
रत्नपुष्पदलच्छन्नं रसायनफलान्वितम् ।
चिन्तामणिशलाकाभिर्विहितालिन्दसंस्थिति ॥ ३९ ॥
बुद्धिपूर्वसमाचारैः सम्पूर्णं काकपुत्रकैः ।
शीतलाभ्यन्तरं हृद्यं पूरितं कुसुमोत्करैः ॥ ४० ॥
तद्गच्छत सुता नीडं दुर्गं नाकवतामपि ।
भोगं मोक्षं च तत्रस्था निर्विघ्नमलमाप्स्यथ ॥ ४१ ॥
इत्युक्त्वाऽस्मान्पिता तत्र चुचुम्बाऽभ्यालिलिङ्ग च ।
ददौ देव्या यदानीतमस्मभ्यं च तदामिषम् ॥ ४२ ॥
तद्भुक्त्वा चरणौ देव्याः पितुश्चैवाऽभिवाद्य च ।
विन्ध्यकच्छाद्वयं तस्मात्स्थानादालम्बुसात्प्लुताः ॥४३॥
क्रमेणाऽऽकाशमुल्लङ्घ्य निर्गत्याऽम्बुदकोटरैः ।
पवनस्कन्धमासाद्य वन्दितव्योमचारिणः ॥ ४४ ॥

हे पुत्रो! पहले जिस समय भगवती अलम्बुसादेवी ध्यान में आसीन थीं, उस समय मैंने चमकीली मणियो से जटित हुआ उस शाखा के ऊपर एक घोंसला बनाया और उसमें विलास किया था ॥ ३८ ॥

वह घोंसला रत्नसदृश चमकीले पुष्पों की पँखुड़ियों से ढँका हुआ है, अमृत के समान स्वादु फलों से परिपूर्ण है और चिन्तामणि का शलाकाओं से उसके बाहरी दरवाजों की रचना की गई ॥ ३९ ॥

वह घोंसला विचारपूर्ण व्यवहार करने वाले कौओं के पुत्रों से व्याप्त है तथा भीतर से अत्यन्त शीतल, मनोहारी और भाँति-भाँति के पुष्पों से परिपूर्ण है ॥४०॥

हे बच्चो! देवताओं से भी दुर्गम उस सुन्दर घोंसले पर तुम लोग जाओ, वहाँ निवास करते हुए तुम लोग निर्विघ्न एवं पर्याप्तरूप से भोग और मोक्ष दोनों को प्राप्त करोगे ॥ ४१ ॥

इस प्रकार कह कर हमारे पिता ने हम लोगों का चुम्बन और आलिंगन किया तथा भगवती के पास से लाया गया मांस हमें दिया ॥ ४२ ॥

उसको खाकर भगवती और पिताजी के चरणों में अभिवन्दन कर अलम्बुसा के वासस्थान उस विन्ध्यप्रदेश से हम उड़ गये ॥ ४३ ॥

क्रमशः आकाश का उल्लंघन कर, मेघों के कोटरों से निकल कर, पवन-लोक प्राप्त कर हम लोगों ने व्योमचारी देवताओं को प्रणाम किया ॥ ४४ ॥

परिहृत्य दिनाधीशं लोकान्तरपुरं गताः ।
स्वर्गमुल्लङ्घ्य याताः स्मो ब्रह्मलोकं मुनीश्वर ! ॥४५॥
प्रणामपूर्वं तत्रैतद्यथावत्तत्पितुर्वचः ।
मात्रे च भगवत्यै च ब्राह्म्यै चाऽऽशु निवेदितम् ॥४६॥
ताभ्यां सस्नेहमालिङ्ग्य गच्छतेत्याज्ञयैधिताः ।
वयं कृतनमस्कारा ब्रह्मलोकाद्विनिर्गताः ॥ ४७ ॥
उल्लङ्घ्य लोकपालानां पुरीस्तपनभास्वराः ।
आकाशगामिनो लोलाः पवनस्कन्धचारिणः ॥ ४८ ॥
इमं कल्पतरुं प्राप्य निजं नीडं प्रविश्य च ।
दूरस्थबाधास्तिष्ठामो मुने ! मौनमवस्थिताः ॥ ४९ ॥
जाता यथा वयमिमे स्थितिमागताश्च
संप्राप्य बोधमुपशान्तधियो यथावत् ।
एतत्तदुक्तमविखण्डमलं मया ते
शेषेण मां समनुशाधि महानुभाव ! ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने आलयलाभो नाम एकोनविंशतितमः सर्गः ॥ १९ ॥

हे मुनीश्वर ! हम लोग सूर्य-मण्डल का अतिक्रमण कर स्वर्ग के अमरावती नगर में पहुँचे । स्वर्ग का अतिक्रमण कर ब्रह्मलोक में पहुँचे ॥ ४५ ॥

वहाँ पहुँच कर हम लोगों ने उसी समय माता और भगवती ब्राह्मीदेवी को प्रणामपूर्वक पिता द्वारा कथित अशेष वृत्तान्त अक्षरशः कह सुनाया ॥ ४६ ॥

उन्होंने स्नेहपूर्वक हम लोगों का आलिंगन किया और 'जाओ', इस प्रकार आज्ञा तथा आशीर्वाद देकर उत्साहित किया । अनन्तर उन्हें प्रणाम कर हम लोग ब्रह्मलोक से चल दिये ॥ ४७ ॥

आकाश-विहार में निपुण, अतिचपल हम लोग वायुलोक में गमन करते हुए सूर्य के सदृश देदीप्यमान लोकपालों की नगरियों का अतिक्रमण कर इस कल्पतरु पर आकर अपने घोंसले में प्रविष्ट हुए । हे मुने ! यहाँ पर हम लोगों से समस्त बाधाएँ दूर रहती हैं और हम सदा समाधि में ही अवस्थित रहते हैं ॥ ४८, ४९ ॥

हे महानुभाव ! 'तुम किस कुल में उत्पन्न हुए ?' 'किस तरह ज्ञातज्ञेय हुए ?' और 'तुम्हें यह निवास कैसे प्राप्त हुआ ?'—ये जो तीन प्रश्न आपने पहले किये थे, उसके उत्तर में जिस प्रकार हम उत्पन्न हुए, जिस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर हम लोग शान्त-बुद्धि होकर स्थित हुए एवं इस नीड में जिस रीति से हम लोग आये, यह सब वृत्तान्त आपको अविकलरूप में भली प्रकार कह सुनाया, इसके बाद 'तुम्हारी कितनी आयु है ?' और 'क्या अतीत जानते हो ?'—इन दो प्रश्नों के उत्तररूप से यदि आप कहने के लिए हमें आज्ञा देंगे, तो उसे भी मैं आप से कहूँगा ॥ ५० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में भुशुण्डोपाख्यान में आलयलाभ नामक कुसुमलता का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

२०

भुशुण्ड उवाच

आसीत्किञ्चित् पुरा कल्पे जगद्यच्चिरमास्थितम् ।
सन्निवेशेन चैतद्वदद्यापि च न दूरगम् ॥ १ ॥
तदेतद्वृत्तमभ्यासाद्वर्तमानेन वर्णितम् ।
मया मुनीन्द्र ! बोधाय प्राग्जन्मसाम्यदर्शिना ॥ २ ॥
अद्य मे फलितं पुण्यैश्चिरकालोपसंभृतैः ।
निर्विघ्नमेव पश्यामि यद्भवन्तं मुने ! ततः ॥ ३ ॥

२०

भुशुण्ड ने कहा—हम लोगों के जन्म के कल्प में चिरकाल तक जो पदार्थ समूहात्मक जगत् स्थित था, वे सब अवयवसंस्थान आदि आकुति-विशेषों से इस कल्प के पदार्थों के सदृश ही थे, इसलिए बुद्धिपूर्वक ही 'इमं कल्पतरुम्' इत्यादि निर्देश किया गया है ॥ १ ॥

हे मुनीन्द्र ! यह वृत्तान्त भूतकालीन है, किन्तु 'जगत् भ्रान्तिमात्र है' अभ्यास होने के कारण पूर्वजन्म की समता देखने वाले मैंने बोध के लिए वर्तमान् जगत् के साथ एकता मानकर उसका ही वर्णन किया है ॥ २ ॥

हे मुने ! दीर्घकाल से संचित मेरे पुण्य आज सफल हो गये, इसीलिए निर्विघ्न आपका मैं दर्शन कर रहा हूँ ॥३॥

इदं नीडमिमां शाखामहं चाऽयमयं द्रुमः ।
अद्य पावनतां प्राप्तान्येतानि तव दर्शनात् ॥ ४ ॥
इदमर्घ्यमिदं पाद्यं गृहीत्वा विहगार्पितम् ।
नूनं पावनतां नीत्वा शेषेणाऽऽदिश चाऽऽशु भोः ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

इदमर्घ्यं च पाद्यं च भूयो दत्तवति स्वयम् ।
भुशुण्डविहगे तस्मिन्निदं रामाऽहमुक्तवान् ॥ ६ ॥
भ्रातरस्ते विहङ्गेश ! तादृक्सत्वा महाधियः ।
इह कस्मान्न दृश्यन्ते त्वमेवैको हि दृश्यसे ॥ ७ ॥

भुशुण्ड उवाच

तिष्ठतामिह न कालो महानतिगतो मुने ! ।
युगानां पङ्क्तयः क्षीणा दिवसानामिवाऽनघ ! ॥ ८ ॥
एतावताऽथ कालेन सर्व एव ममाऽनुजाः ।
तनूस्तृणमिव त्यक्त्वा शिवे परिणताः पदे ॥ ९ ॥
दीर्घायुषो महान्तोऽपि सन्तोऽपि बलिनोऽपि च ।
सर्व एव निगीर्यन्ते कालेनाऽऽकलितात्मना ॥ १० ॥

यह नीड़, यह शाखा, यह मैं यह कल्पवृक्ष—ये सब आज आपके दर्शन से अत्यन्त पवित्र हो गये ॥ ४ ॥

हे मुनिवर ! विहगों द्वारा समर्पित इस अर्घ्य और पाद्य को स्वीकार कर एवं हम लोगों को पूत बनाकर आप अवशिष्ट सेवा के निमित्त कुछ और प्रश्न कहने के लिए आज्ञा दें ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्री राम ! दूसरी बार स्वयं उस भुशुण्ड पक्षी के द्वारा अर्घ्य, पाद्य देने पर मैंने यह कहा ॥ ६ ॥

हे पक्षिराज ! तुम अकेले ही क्यों दिखाई देते हो ? बली और महाबुद्धिमान् तुम्हारे वे भाई यहाँ क्यों नहीं दिखाई देते हैं ॥ ७ ॥

भुशुण्ड ने कहा—हे मुने ! हम लोगों को यहाँ रहते महान् काल बीत गया । हे अनघ ! दिवस-पंक्तियों की तरह युगों की पंक्तियाँ क्षीण हो गई है ॥ ८ ॥

इतना लम्बा काल होने के कारण सभी मेरे भाई, तृण के समान शरीर का परित्याग कर शिवपद में परिणत हो गये ॥ ९ ॥

दीर्घायु हों, महान् हों, बलवान् हों, सभी को यह अलक्षित स्वरूप वाला काल अपने उदर में ले लेता है ॥ १० ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—प्रिय पक्षिराज माला की तरह अपने कन्धेपर बारह सूर्य और चन्द्रमा को ढोने

वसिष्ठ उवाच

स्कन्धव्यूढार्कशशिषु वहत्स्वविरतं जवात् ।
वातस्कन्धातिवातेषु कच्चित्तात ! न खिद्यसे ॥ ११ ॥
दग्धोदयास्तशैलेन्द्रवनव्यूहै रवेः करैः ।
चिरमत्यन्तमासन्नैः कच्चित्तात ! न खिद्यसे ॥ १२ ॥
इन्दोरथ करैः शीतैः पाषाणीकृतवारिभिः ।
आसन्नकरकापातैः कच्चित्तात ! न खिद्यसे ॥ १३ ॥
अजस्रमिह विश्रान्तैः कल्पजीमूतमण्डलैः ।
परशुच्छेदनीहारैः कच्चित्तात ! न खिद्यसे ॥ १४ ॥
विषमैर्जागतैः क्षोभैरुच्चैस्तरपदस्थितः ।
कथं न क्षोभमायाति कल्पवृक्षोऽयमुन्नतः ॥ १५ ॥

भुशुण्ड उवाच

निरालम्बास्पदा ब्रह्मन् ! सर्वलोकावहेलिता ।
तुच्छेयं सर्वभूतानां मध्ये विहगजीविका ॥ १६ ।
ईदृशेषु च भूतेषु निर्जनेषु वनेषु च ।
कल्पितास्थास्थितिर्धात्रा शून्ये वा व्योमवर्त्मनि ॥ १७॥

वाले तथा प्रवह आदि वातस्कन्धों का अतिक्रमण करने वाले प्रलय-वायुओं के अविरत बहने पर क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? ॥ ११ ॥

हे प्रिय भुशुण्डजी ! चिरकाल से अत्यन्त आसन्न, उदयाचल और अस्ताचल के अरण्यों को दग्ध कर देनेवाले सूर्य-किरणों से क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? ॥ १२ ॥

हे प्रिय वायसराज ! जल को पाषण के सदृश कठोर बना देनेवाले शीतल चन्द्र-किरणों से और निकट-प्रलय के लिए हो रहे वर्षा के कारकापातों से क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? ॥ १३ ॥

हे प्रियवर ! मेरु-शिखर पर विश्रान्त प्रलयकालीन मेघ-मण्डलों से तथा परशु की धारा को भी क्षत कर देनेवाले शिलासदृश घनीभूत कुहरे से क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? ॥ १४ ॥

अत्यन्त ऊँचे स्थानपर स्थित यह उन्नत कल्पवृक्ष जगत् के विषम क्षोभों से क्यों क्षुब्ध नहीं होता ? ॥१५॥

भुशुण्डने कहा—हे ब्रह्मन् ! आकाश में आश्रित और सभी लोगों से तिरस्कृत यह पक्षियों में अत्यन्त निन्दित है ॥ १६ ॥

ऐसी तुच्छ योनियों के लिए भी धाता ने झरनों, वनों और शून्य सदृश आकाश में प्रीतिपूर्वक जीविका की कल्पना की है, यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है ॥ १७ ॥

कथमस्यां प्रभो ! जातौ जातस्य चिरजीविनः ।
आशापाशनिबद्धस्य विहगस्य विशोकिता ॥ १८ ॥
वयं तु भगवन्नित्यमात्मसन्तोषमास्थिताः ।
न कदाचन नीरूपे मुह्यामो जातविभ्रमैः ॥ १९ ॥
स्वभावमात्रसन्तुष्टाः कष्टैर्मुक्ता विचेष्टितैः ।
क्षिपामः केवलं कालमस्मिन् ब्रह्मन्निजालये ॥ २० ॥
न जीविताान्न मरणात् कर्मदेहस्य रोधनम् ।
यथास्थितेन तिष्ठामस्तथैवाऽस्तंगतेहिताः ॥ २१ ॥
आलोकिता लोकदशा दृष्टा दृष्टान्तदृष्टयः ।
नूनं संत्यक्तमस्माकं मनसा चञ्चलं वपुः ॥ २२ ॥
अनारतनिजालोके नित्यं चाऽपरितापिनी ।
कल्पागस्योपरि सदा वेद्मि कालकलागतिम् ॥ २३ ॥
रत्नगुच्छप्रकाशाढ्ये ब्रह्मन् ! कल्पलतागृहे ।
प्राणापानप्रवाहेण वेद्मि कल्पमखण्डितम् ॥ २४ ॥

हे प्रभो ! इस तुच्छ जाति में उत्पन्न, चिरकाल से जीवन बीता रहा और आशारूपी पाशों से निरन्तर बद्ध एक पक्षी किस तरह शोकवर्जित हो सकता है ? ॥१८॥

हे भगवन् ! हम अपनी आत्मा में ही सदा सन्तोष मानकर अवस्थित हैं, इसलिए उत्पन्न हुए विभ्रमों से कभी भी परमार्थ सत्ता से रहित इस जगत् में मुग्ध नहीं होते ॥ १९ ॥

हे ब्रह्मन् ! हम लोग अपने सत्ता स्वभाव में ही सन्तुष्ट रहते हैं, कष्ट पहुँचाने वाले परपीडन-व्यापारों से निर्मुक्त होकर अपने वासस्थान इस घोंसले में रहते हुए केवल कालयापन करते हैं ॥ २० ॥

हम लोग अपने जीवन से न देह की ऐहिक या आमुष्मिक फल के लिए कोई क्रिया चाहते हैं और न मरण से देह का विनाश ही चाहते हैं। जिस तरह वर्तमान में नित्यसिद्ध निरतिशयात्म रूप से पूर्णकाम होकर स्थित रहते हैं, उसी तरह आगे भी स्थित रहेंगे ॥ २१ ॥

हमने जन्म, मरण आदि अनर्थ-दशाएँ देख लीं और मिथ्यात्व-निर्णायक स्वप्न आदि दृष्टान्त-दृष्टियाँ भी देख लीं। हमारे मनने अपना चञ्चल स्वरूप भी सदा के लिए भली प्रकार त्याग दिया है ॥ २२ ॥

निरन्तर शान्ति देनेवाले अविनाशी आत्म-स्वरूप प्रकाश में स्थित मैं इस कल्पवृक्ष के ऊपर सदा काल की कलन-गति जानता रहता हूँ ॥ २३ ॥

चमकीले रत्नों के प्रकाश से आढ्य कल्पलता-गृह में उपस्थित होकर मैं प्राणायाम के प्रवाह से अखण्डित कल्प जान लेता हूँ ॥ २४ ॥

अविज्ञातदिवारात्रौ ह्यस्मिन्नुच्चैः शिलोच्चये ।
जानामि निजया बुद्धया लोककालक्रमस्थितिम् ॥ २५॥
सारासारपरिच्छेदि बोधाद्विश्रान्तिमागतम् ।
निरस्तचापलं शान्तं सुस्थिरं मे मुने ! मनः ॥ २६ ॥
संसारव्यवहारोत्थैराशापाशैरसन्मयैः ।
उद्गारैरिव भूकाको न वैवश्यं व्रजाम्यहम् ॥ २७ ॥
परोपशमधर्मिण्या वयमालोकशीलया ।
पश्यन्तो जागतीं मायां धिया धैर्यमुपागताः ॥ २८ ॥
भीमास्वपि महाबुद्धे ! दशास्वचलबुद्धयः ।
विनिर्मलोपलाकाराः संप्राप्तासु यथाक्रमम् ॥ २९ ॥
इयमारम्भसुभगा तरला जागती स्थितिः ।
भूयो भूयः परामृष्टा न च किञ्चन बाधते ॥ ३० ॥
सर्वाण्येव प्रयान्त्येव समायान्ति च वा नवा ।
भगवन् ! भूतजालानि भयमस्माकमत्र किम् ॥ ३१ ॥

दिन और रात जाने बिना ही इस उन्नत शिखर पर अपनी बुद्धि से ही लोकों के कालक्रम की स्थिति जानता रहता हूँ ॥ २५ ॥

हे मुने ! यह सारभूत वस्तु है और यह असारभूत वस्तु है, इस प्रकार के विवेकयुक्त बोध से उत्तम शान्ति को प्राप्त मेरा मन चञ्चलता शून्य, शान्त और भली-भाँति स्थिर है ॥ २६ ॥

मैं भयग्रस्त वैसे ही नहीं होता जैसे सांसारिक व्यवहारों से जनित असद्रूप आशारूपी पाशों से अल्प ध्वनियों से प्राकृत काक भयग्रस्त हो जाता है ॥ २७ ॥

निरतिशय शान्ति पहुँचानेवाली और आत्म-प्रकाश से शीतल बुद्धि से जगत् की माया देख रहे हम लोग धीरता प्राप्त करती हैं ॥ २८ ॥

हे महाबुद्धे ! दशाक्रम के अनुसार भयङ्कर दशाएँ प्राप्त हो स्थिर बुद्धिवाले हम, निश्चल पत्थर के सदृश, स्थिराकृति होकर अवस्थित रहते हैं ॥ २९ ॥

प्रारम्भ में रमणीय दीख पड़नेवाली, तरल इस संसार-स्थिति का बार-बार परामर्श किया जा चुका है, अतः वह हमें कुछ भी बाधा नहीं पहुँचाती ॥ ३० ॥

हे भगवन् ! सभी प्राणी व्यवहार दृष्टि से आते हैं, परमार्थ दृष्टि से न आते हैं और न जाते हैं, इसलिए हम लोगों को यहाँ भय ही कैसा ॥ ३१ ॥

भूतजालतरङ्गिण्या विशन्त्याः कालसागरे ।
वयं संसारसरितस्तटस्था अप्यनादृताः ॥ ३२ ॥
नोज्झामो न च गृह्णीमस्तिष्ठामो नेह च स्थिताः ।
मृदुपादा दृशा क्रूरा वयमस्मिन् द्रुमे स्थिताः ॥ ३३ ॥
वीतशोकभयायासैस्त्वादृशैः पुरुषोत्तमैः ।
तुष्टैरनुगृहीताः स्मः संस्थिता विगतामयाः ॥ ३४ ॥
ततस्ततश्च पर्यस्तं लुठितं न च वृत्तिषु ।
नाऽपरामृष्टतत्त्वार्थमस्माकं भगवन् ! मनः ॥ ३५ ॥
निर्विकारे गतक्षोभे चाऽऽत्मन्युपशमं गते ।
चित्तरङ्गाः प्रबुद्धाः स्मः पर्वणीव महाब्धयः ॥ ३६ ॥
भवदागमनाद्ब्रह्मन्निदानीं मुदिताशयाः ।
मन्दरोद्धूतसर्वाङ्गः क्षीरोदो येन तन्यते ॥ ३७ ॥
नाऽतः परतरं किञ्चिन्मन्ये कुशलमात्मनः ।
सन्तो यदनुगम्यन्ते सन्त्यक्तसकलैषणाः ॥ ३८ ॥
आपातमात्ररम्येभ्यो भोगेभ्यः किमवाप्यते ।
सत्सङ्गचिन्तामणितः सर्वसारमवाप्यते ॥ ३९ ॥
स्निग्धगम्भीरमसृणमधुरोदारधीरवाक् ।
त्रैलोक्यपद्मकोशेऽस्मिंस्त्वमेकः षट्पदायसे ॥ ४० ॥
अधिगतपरमात्मनोऽपि मन्ये
भवदवलोकनशान्तदुष्कृतस्य ।
मम सफलमिहाऽद्य जन्म साधो !
सकलभयापहरो हि साधुसङ्गः ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने भुशुण्डस्वरूपनिरूपणं नाम विंशः सर्गः ॥ २० ॥

काल सागर में प्रवेश कर रही, प्राणि-समूहरूप तरङ्गों से युक्त संसार-सरिता के तट पर अवस्थित हम लोग उसमें आदर नहीं करते ॥ ३२ ॥

इस वृक्ष पर उपस्थित हम लोग प्राप्त वस्तुओं का न परित्याग करते हैं न अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की चेष्टा ही करते हैं; व्यवहार दृष्टि से स्थिति हैं एवं परमार्थ दृष्टि से स्थिति नहीं भी हैं। हम लोग एकमात्र व्यवहार की सिद्धि के लिए, कण्टकाकीर्ण भूमि की तरह सावधानी से चलने चलने के कारण कोमल पगवाले हैं और तत्त्व दृष्टि से संसार का उच्छेदन कर देने के कारण क्रूर भी हैं ॥ ३३ ॥

शोक, भय और आयास से रहित आपके समान सन्तुष्ट उत्तम पुरुष हम लोगों पर सदा अनुग्रह करते हैं, इसलिए भी हम लोगों पर सदा अनुग्रह करते हैं, इसलिए भी हम लोग सदा दुःखों से निर्मुक्त होकर अवस्थित हैं ॥ ३४ ॥

हे भगवान् ! व्यवहार चलने के लिए इधर-उधर प्रेरित हम लोगों का मन राग आदि वृत्तियों में निमग्न और तत्त्व-विचार से शून्य कभी-भी नहीं रहता ॥ ३५ ॥

अपनी आत्मा के निर्विकार, क्षोभशून्य और शान्त हो जाने के कारण चारों ओर से ब्रह्माकारवृत्तिरूप चन्द्रमा का उदय होने पर उत्कट हुए बोधस्वरूप तरङ्ग वाले हम लोग, पूर्णिमा आदि पर्वकाल में समुद्र की तर प्रबुद्ध हो गये हैं ॥ ३६ ॥

जिस अमृत की प्राप्ति के लिए मन्दराचल से सर्वाङ्गों से क्षुब्ध क्षीरसागर का मथन किया जाता है, उसी अमृतरूप आपके आगमन से हम लोग अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो गये हैं ॥ ३७ ॥

समस्त एषणाओं की तिलाञ्जलि देनेवाले सन्त, महात्मा अपने आगमन आदि से हमपर अनुग्रह करते हैं, मैं अपनी आत्मा का इससे अधिक दूसरा कुशल नहीं मानता ॥ ३८ ॥

ऊपर से रमणीय दिखाई पड़नेवाले विषय-भोगों से क्या प्राप्त होता है ? सत्सङ्गरूपी चिन्तामणि से तो समस्त सारभूत ज्ञानवस्तु प्राप्त होती है ॥ ३९ ॥

स्नेहपूर्ण, गम्भीर; कोमल, मधुर, उदार और धीर वाणीवाले एकमात्र आप ही इस त्रिभुवनरूपी कमल की कली में भ्रमर के समान हैं ॥ ४० ॥

हे साधो ! मैंने परमात्मा को जान लिया है और आपके दर्शन से मेरे समस्त पाप नष्ट हो चुके, महात्माओं का समागम समस्त भयों का अपहरण करनेवाला है इसलिए, यहाँ आज मेरा जन्म सफल हुआ ॥ ४१ ॥

इस प्रकार ऋषी-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के निर्वाणप्रकरण में भुशुण्डोपाख्यान में भुशुण्डस्वरूपनिरूपण नामक कुसुमलता का बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २० ॥

२१

भुशुण्ड उवाच

युगक्षोभेषु घोरेषु वात्यासु विषमासु च ।
सुस्थिरः कल्पवृक्षोऽयं न कदाचन कम्पते ॥ १ ॥
अगम्योऽयं समग्राणां लोकान्तरविहारिणाम् ।
भूतानां तेन तिष्ठाम इह साधो ! सुखेन वै ॥ २ ॥
हिरण्याक्षो धरापीठं द्वीपसप्तकवेष्टितम् ।
यदा जहार तरसा नाऽकम्पत तदा तरुः ॥ ३ ॥
यदा लोलायितवपुर्बभूवाऽमरपर्वतः ।
सर्वतो दत्तसाम्याद्रिस्तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥ ४ ॥
भुजावष्टम्भविनमन्मेरुर्नारायणो यदा ।
मन्दरं प्रोद्धाराऽद्रिं तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥ ५ ॥
यदा सुरासुरक्षोभपतच्चन्द्रार्कमण्डलम् ।
आसीज्जगदतिक्षुब्धं तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥ ६ ॥
उन्मूलिताद्रीन्द्रशिला यदोत्पातानिला ववुः ।
आधूतमेरुतरवस्तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥ ७ ॥
यदा क्षीरोदलोलाद्रिकन्दरानिलकम्पिताः ।
कल्पाभ्रपङ्क्तयश्चेरुस्तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥ ८ ॥
यदा समन्ततो मेरुः कालनेमिभुजान्तरे ।
किञ्चिदुन्मूलितो तिष्ठत्तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥ ९ ॥
पक्षीशपक्षपवना अमृताक्रान्तिसङ्गरे ।
यदा ववुः पतत्सिद्धास्तदाऽयं नाऽपतद्द्रुमः ॥ १० ॥
यदा शेषाकृतिं रुद्रो न समाप्तैकचेष्टिताम् ।
ययौ गरुत्मान् ब्रह्माण्डं तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥ ११ ॥
यदा कल्पानलशिखाः शैलाब्धिसकलोल्बणाः ।
शेषः फणाभिस्तत्याज तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥ १२ ॥

२१

भुशुण्ड ने कहा—युग-समाप्ति के महान् उपद्रवों में और भयंकर महापवनों में भी यह कल्पवृक्ष अत्यन्त स्थिर ही रहता है, कभी भी कम्पित नहीं होता है ॥ १ ॥

हे साधो ! अन्य लोकों में विहार करनेवाले सभी प्राणियों का यह अत्यन्त अगम्य स्थान है, अतः यहाँ हम लोग अत्यन्त सुखपूर्वक रहते हैं ॥ २ ॥

हिरण्याक्ष ने सात द्वीपों से वेष्टित इस पृथ्वी का वेगपूर्वक जब अपहरण किया था, उस समय पृथ्वीपर स्थित होने के कारण इसके भी हरण, कम्पन आदि की संभावना अवश्य थी, किन्तु दिव्यप्रभाव की सामर्थ्य से इस कल्पवृक्ष में तनिक भी कम्पन नहीं हुआ ॥ ३ ॥

वराहभगवान् द्वारा किये गये पृथ्वी के उद्धार के समय खम्भे को उपष्टम्भक शिला की तरह चारों ओर से समता के लिए उपष्टम्भकरूप से दिये गये पर्वतों से युक्त मेरुपर्वत कम्पित-शरीर होने पर भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥ ४ ॥

दो भुजाओं के अवष्टम्भ से मेरु को दबाकर जब चतुर्भुज भगवान् नारायण ने अन्य दो हाथों द्वारा समुद्र से मन्दराचल का उद्धार किया, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥ ५ ॥

जब देवासुर-संग्राम के कारण चन्द्र-मण्डल और सूर्य-मण्डल गिर गया था तथा जगत् में अत्यन्त क्षोभ पैदा हो गया था, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥ ६ ॥

जब पर्वतराज की शिलाओं का उन्मूलन कर देने वाले और मेरुपर्वत के अन्य वृक्षों को कम्पित कर देनेवाले प्रलय-कालीन वायु बह रही थी तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥ ७ ॥

क्षीर-सागर में चंचल मन्दराचल की गुहाओं की वायुओं से कम्पित हुई कल्पान्त की मेघ-पंक्तियाँ जब संचरण कर रही थीं, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥ ८ ॥

तारकासुर-युद्ध में कालनेमि के भुजाओं में मेरुपर्वत के चारों ओर से उन्मूलित होकर अवस्थित होने के समय भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ था ॥ ९ ॥

बड़े-बड़े सिद्धों को गिराने वाले पक्षिराज गरुड के पँखों के पवन जब अमृत-हरण के युद्ध में बह रहे थे, तब भी यह वृक्ष नहीं गिरा ॥ १० ॥

पृथ्वीधारणरूप चेष्टा आज भी जिसकी समाप्त नहीं हुई है, ऐसी शेषाकृति को संकर्षण रुद्र जब प्राप्त हुए, तब और जब गरुडजी पृथ्वी से उड़कर ब्रह्माण्ड को गये, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ । आशय यह है कि उत्पन्नमात्र गरुड को देखकर सब लोक कम्पित हुए, भूमि और सातों द्वीप काँपने लगे । इन उत्पातों से, जल में नाव की तरह डूब रही पृथ्वी का संकर्षण शरीर महादेवजी ने हजारों मस्तकों से धारण किया ॥ ११ ॥

जब शेष ने फणाओं से—शैल, सागर एवं समस्त प्राणियों से सही न जाने वाली प्रलयाग्नि की शिखाएँ बाहर निकालीं, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ अन्त में प्रलय संकर्षण की मुखाग्नि से ही नाश होता है यह प्रसिद्ध है ॥ १२ ॥

एवंरूपे द्रुमवरे निष्ठतामापदः कुतः ।
अस्माकं मुनिशार्दूल ! दौःस्थित्येन किलाऽऽपदः ॥१३॥

वसिष्ठ उवाच

कल्पान्तेषु महाबुद्धे ! वहत्सूत्पातवायुषु ।
प्रपतत्स्विन्दुभार्केषु कथं तिष्ठसि विज्वरः ॥ १४ ॥

भुशुण्ड उवाच

यदा पपात कल्पान्ते व्यवहारो जगत्स्थितौ ।
कृतघ्न इव सन्मित्रं तदा नीडं त्यजाम्यहम् ॥ १५ ॥
आकाश एव तिष्ठामि विगताखिलकल्पनः ।
स्तब्धप्रकृतिसर्वाङ्गो मनो निर्वासनं यथा ॥ १६ ॥
प्रतपन्ति यदाऽऽदित्याः शकलीकृतभूधराः ।
वारुणीं धारणां बद्ध्वा तदा तिष्ठामि धीरधीः ॥ १७ ॥

हे मुनियों में सिंह स्वरूप महाराज वसिष्ठ जी ! इस प्रकार के उत्तम वृक्ष पर निवास करने वाले हम लोगों को आपत्तियाँ कहाँ से हो सकती हैं, वे आपत्तियाँ दुष्ट स्थान में निवास के कारण ही आती हैं ॥ १३ ॥

महाराज वसिष्ठ जी ने कहा—हे महाबुद्धे ! चन्द्रमा, नक्षत्र और सूर्य को भी गिरा देने वाली कल्पान्त हेतु उत्पात वायु के बहने पर तुम चिन्तानिर्मुक्त होकर कैसे रहते हो ? उस समय प्रलय में भूलोकपर्यन्त सबका दाह होने से मेरु, कल्पवृक्ष आदि से कभी भी परित्राण नहीं हो सकता ॥ १४ ॥

भुशुण्ड ने कहा—सहस्र महायुगों के अन्त में जगत् की अवस्था में व्यवहार गिर जाने पर सन्मित्र का परित्याग कर देने वाले कृतघ्न की तरह मैं इस घोंसले का परित्याग कर देता हूँ ॥ १५ ॥

उस समय समस्त कल्पनाओं का परित्याग कर और निश्चल स्वभाव वाले अङ्गों से युक्त होकर एकमात्र आकाश में ही मैं वासनाशून्य मन की तरह स्थित रहता हूँ ॥ १६ ॥

प्रलय के समय में जब पर्वतों को खण्डशः कर देने वाले बारह आदित्य तपते हैं, तब मैं वरुण सम्बन्धी धारणा बाँध कर निश्चित बुद्धि होकर स्थित रहता हूँ, जिस प्रकार जल के बीच रहने वाले वरुण बाहर के आतप से जनित संताप का अनुभव नहीं करते, उसी प्रकार भुशुण्ड भी 'अत्यन्त शीतल समस्त दिग्-मण्डल में व्यापी अपरिच्छिन्न जल स्वरूप वरुण ही मैं हूँ' इस प्रकार चित्त में निरन्तर वरुण-भावना के द्वारा वरुण रूप होकर बाहर के सूर्यादि-आतपजनित संताप का अनुभव नहीं

यदा शकलिताद्रीन्द्रा वान्ति प्रलयवायवः ।
पार्वतीं धारणां बद्ध्वा खे तिष्ठाम्यचलं यदा ॥ १८ ॥
जगद्गलितमेर्वादि यात्येकार्णवतां यदा ।
वायवीं धारणां बद्ध्वा संप्लवे चलधीस्तदा ॥ १९ ॥
ब्रह्माण्डपारमासाद्य तत्त्वान्ते विमले पदे ।
सुषुप्तावस्थया तावत्तिष्ठाम्यचलरूपया ॥ २० ॥
यावत्पुनः कमलजः सृष्टिकर्मणि तिष्ठति ।
तत्र प्रविश्य ब्रह्माण्डं तिष्ठामि विहगालये ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

यथा तिष्ठसि पक्षीन्द्र ! धारणाभिरखण्डितः ।
कल्पान्तेषु तथा कस्मान्नाऽन्ये तिष्ठन्ति योगिनः ॥ २२ ॥

करते थे ॥ १७ ॥

जब प्रलय काल में बड़े-बड़े पर्वतराजों को मर्दित कर देने वाले प्रलयकालीन वायु बहते हैं, तब मैं पर्वत सम्बन्धिनी धारणा बाँध कर आकाश-मण्डल में अचल होकर स्थित रहता हूँ प्रलय काल में पृथ्वी पर स्थित पर्वतों के विनाश होने के कारण उन्हीं पर प्रलयकालीन वायुओं का आघात होता है, इसलिए प्रलयकालीन वायुओं से होने वाले आघात के अविषय ब्रह्माण्ड के बहिर्भूत आकाश में साधारण वायु से भी क्षोभ न होने के लिए पर्वत सम्बन्धिनी धारणा बाँधकर मैं स्थित रहता हूँ ॥ १८ ॥

जब प्रलय काल में मेरु आदि पर्वत के गल जाने से जगत् एक समुद्र स्वरूप हो जाता है, तब वायु सम्बन्धिनी धारणा बाँध कर एकमात्र वायु में ही तादात्म्य भाव से निश्चित-बुद्धि होकर ऊपर तैरता रहता हूँ ॥ १९ ॥

ब्रह्माण्ड के स्थूल, सूक्ष्म और समष्टिरूप ब्रह्माण्ड के स्वरूप को परम अवधि स्वरूप अव्याकृत प्राप्तकर समस्त पदार्थों के अन्तभूत एवं निर्मल आत्मपद में निश्चलात्मक सुषुप्ति के सदृश एकरस निर्विकल्प समाधि-अवस्था से मैं स्थित रहता हूँ ॥ २० ॥

कमलोद्भव ब्रह्मदेव पुनः अपने सृष्टिकर्म में प्रवृत्त होते ही पुनः सृष्टिरूप व्यापार के होने पर ब्रह्माण्ड में प्रवेशकर इस कल्पवृक्ष के स्थानापन्न मैं अपने आलय में फिर स्थित हो जाता हूँ ॥ २१ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—हे पक्षीन्द्र ! जैसे प्रलय काल में तत्-तत् धारणाओं के द्वारा अखण्डित होकर तुम स्थित रहते हो, वैसे ही दूसरे योगी क्यों स्थित नहीं रहते, क्यों वे शरीर त्यागकर मुक्ति प्राप्त करते हैं ? ॥ २२ ॥

भुशुण्ड उवाच

ब्रह्मन्नियतिरेषा हि दुर्लङ्घ्या पारमेश्वरी ।
मयेदृशेन वै भाव्यं भाव्यमन्यैस्तु तादृशैः ॥ २३ ॥
न शक्यते तोलयितुमवश्यं भवितव्यता ।
यद्यथा तत्तथैतद्धि स्वभावस्यैष निश्चयः ॥ २४ ॥
मत्सङ्कल्पवशेनैव कल्पे कल्पे पुनः पुनः ।
अस्मिन्नेव गिरेः शृङ्गे तरुरित्थं भवत्ययम् ॥ २५ ॥

वसिष्ठ उवाच

अत्यन्तमोक्षदीर्घायुर्भवान्निर्देशनायकः ।
ज्ञानविज्ञानवान् धीरो योगयोग्यमनोगतिः ॥ २६ ॥
दृष्टानेकविधानल्पसर्गसङ्गमागमः ।
किं किं स्मरसि कल्याण चित्रमस्मिञ्जगत्क्रमे ॥ २७ ॥

भुशुण्ड उवाच

बृहत्तराऽशिलावृक्षामजाततृणवीरुधम् ।
अशैलवनवृक्षौघां स्मरामीमां धरामधः ॥ २८ ॥
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
भस्मसारभरापूर्णां संस्मरामि धरामधः ॥ २९ ॥
अनुत्पन्नदिवाधीशामज्ञातशशिमण्डलाम् ।
अविभक्तदिवालोकां संस्मरामि धरामधः ॥ ३० ॥
मेरुरत्नतलोद्योतैरर्धप्रकटकोटरम् ।
लोकालोकमिवाऽऽढ्याद्रिभुवनं संस्मराम्यहम् ॥ ३१ ॥
प्रवृद्धासुरसंग्रामे क्षीयमाणान्तरामिह ।
पलायमानामभितः संस्मरामि धरामिमाम् ॥ ३२ ॥
चतुर्युगानि चाऽऽक्रान्तामसुरैर्मत्तकाशिभिः ।
दैत्यान्तःपुरतां प्राप्तां संस्मरामि धरामिमाम् ॥ ३३ ॥
अत्यन्तान्तरितान्तान्तसमस्तापरमण्डलाम् ।
अजदेवत्रयीशेषां संस्मरामि जगत्कुटीम् ॥ ३४ ॥

भुशुण्ड ने कहा—हे ब्रह्मन् ! इस परमेश्वरीय नियामिका शक्ति दुर्लङ्घ्य है। इसलिए हम इस प्रकार कल्पान्तों में स्थित रहते हैं और दूसरे योगी शरीर का त्यागकर मुक्त हो जाते हैं ॥ २३ ॥

अवश्य भवितव्यता बुद्धि से 'इदम्-इत्थमेव' इस प्रकार अवधारण नहीं कर सकते। जिस तरह के प्रारब्ध से जो जैसा प्राप्त होता है, वह वैसा ही रहता है—यह नियति रूप स्वभाव का निश्चय है ॥ २४ ॥

कल्प-कल्प में बार-बार एकमात्र मेरे संकल्प से ही मेरु पर्वत के इसी शिखर पर इस तरह का यह कल्पवृक्ष उत्पन्न होता है ॥ २५ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—तुम्हारी आयु मोक्ष के सदृश अत्यन्त अपरिच्छिन्न है, तुम सुदूर भूतकालीन पदार्थों का निदर्शन करने में सबसे बढ़-चढ़कर हो। तुम मोक्ष हेतु तत्त्व-ज्ञान और लौकिक समस्त शास्त्रादि विज्ञानों से परिपूर्ण हो, धीर हो और तुम्हारे मनोव्यापार आत्मयोग में पर्याप्तरूप से योग्य हो चुके हैं ॥ २६ ॥

तुमने तरह-तरह की असंख्य सृष्टियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय देखे हैं, इसीलिए मैं तुम से पूछता हूँ कि तुम्हारे द्वारा देखे गये जगत्-मण्डल में आश्चर्यकारी किस-किस जगत्-क्रम का तुम स्मरण करते हो ॥ २७ ॥

भुशुण्ड ने कहा—मुझे स्मरण है कि एक समय इस पृथिवी पर शिला और वृक्ष कुछ नहीं थे; तृण, लता आदि कुछ भी उत्पन्न नहीं हुए थे; पर्वत अरण्य और वृक्ष-समूह कुछ भी नहीं थे तथा यह पृथ्वी मेरु के नीचे स्थित थी ॥ २८ ॥

मेरुपर्वत के नीचे यह पृथ्वी दस हजार दस सौ वर्षों तक भस्म-सार के भार से व्याप्त थी, यह मुझे भलीभाँति स्मरण है ॥ २९ ॥

पहले मेरुपर्वत के नीचे पृथ्वी पर न सूर्य उत्पन्न हुआ था, न इसमें चन्द्र-मण्डल का भान ही होता था और न तो दिवस का हेतुभूत प्रकाश सुमेरुपर्वत के प्रकाश से अलग था—इसका भी मुझे भली प्रकार से स्मरण है ॥ ३० ॥

सुमेरुपर्वत के रत्नों के तल प्रकाशों से इस पृथ्वी का आधा कोटर प्रकाशित होता था। इस पर कहीं-कहीं प्रकाश युक्त पर्वत भी विद्यमान थे, इसलिए यह लोकालोक पर्वत के समान प्रतीत होती थी—इसका भी ठीक-ठीक स्मरण है ॥ ३१ ॥

यहाँ बल, ऐश्वर्य आदि से परिपुष्ट असुरों का संग्राम होने पर जब इस पृथ्वी को भीतरी भाग के क्षीण हो जाने पर यह पलायमान जनों से व्याप्त हो गई थी—इसका भी मुझे अच्छी तरह स्मरण है ॥ ३२ ॥

चार युगों तक मद-मत्त ऐश्वर्यशाली असुरों के द्वारा आक्रान्त यह पृथ्वी असुरों के अन्तःपुर को प्राप्त हो गई थी—इसका भी स्मरण करता हूँ ॥ ३३ ॥

एक समय इस जगत्-रूपी कुटिया में मेरु को छोड़कर दूसरे सब देश समुद्र ने आच्छादित कर दिये थे और उस समय इस मेरु पर्वतपर अविनाशी ब्रह्मा, विष्णु और शिव, ये तीन देव विराज रहे थे—इसका भी मुझे ठीक स्मरण है ॥ ३४ ॥

चतुर्युगार्धमपरं नीरन्ध्रां वनपादपैः ।
अदृष्टेतरनिर्माणां संस्मरामि धरामिमाम् ॥ ३५ ॥
एवं चतुर्युगं साग्रं नीरन्ध्रैरचलैर्वृताम् ।
अप्रवृत्तजनाचारां संस्मरामि धरामिमाम् ॥ ३६ ॥
दशवर्षसहस्राणि मृतदैत्यास्थिपर्वतैः ।
आकीर्णां परितः पूर्णां संस्मरामि धरामिमाम् ॥ ३७ ॥
भयादन्तर्हिताशेषवैमानिकनभश्चराम् ।
द्यां च निर्वृक्षनिःशेषां संस्मरामि तमोमयीम् ॥ ३८ ॥
अनगस्त्यामगस्त्याशामेकपर्वततां गताम् ।
मत्ते विन्ध्यमहाशैले संस्मरामि जगत्कुटीम् ॥ ३९ ॥
एतांश्चाऽन्यांश्च वृत्तान्तान् संस्मरामि बहूनपि ।
किं तेन बहुनोक्तेन सारं संक्षेपतः शृणु ॥ ४० ॥
असंख्यातान् मनून् ब्रह्मन्स्मरामि शतशो गतान् ।

दो युगों तक तो यह पृथ्वी जंगली वृक्षों से निबिड़ थी और इसमें वृक्षों को छोड़ दूसरे किसी का निर्माण ही नहीं हुआ था—इसे भी स्मरण करता हूँ ॥ ३५ ॥

एक समय यह पृथ्वी चार युगों से अधिक काल तक निबिड़ पर्वतों से व्याप्त थी; उसमें मनुष्यों का संचरण भी नहीं होता था—इसका भी मुझे स्मरण है ॥ ३६ ॥

दस हजार वर्षों तक तो यह मृत दैत्यों के आस्थि-पर्वतों से चारों ओर से व्याप्त एवं परिपूर्ण थी—इसका भी मैं भलीभाँति स्मरण करता हूँ ॥ ३७ ॥

एक समय अन्तरिक्ष आदि लोकों में भय के कारण समस्त विमानगामी देवता आदि तिरोहित हो गये थे और यह पृथ्वी सब वृक्षों से रहित होकर अन्धकार से व्याप्त हो गई थी—इसका भी मुझे स्मरण है ॥ ३८ ॥

एक समय मेरु-स्पर्धा से विन्ध्य महाशैल के अभिवृद्ध होनेपर दक्षिण दिशा से अगस्त्य महामुनि चले गये और यह जगत्-रूपी कुटिया मलय, दर्दुर, सह्यादि आदि विभाजक पर्वतों के अभाव से एक पर्वत रूपता को प्राप्त हो गई थी—इसका भी मुझे स्मरण है ॥ ३९ ॥

ये और इनसे पृथक् दूसरे भी बहुत से वृत्तान्त हैं, जिनका मुझे संस्मरण है, परन्तु उनके विषय में अधिक कहने से क्या फल ? केवल सारभूत वस्तु का संक्षेप से श्रवण करें ॥ ४० ॥

हे ब्रह्मन् ! सैकड़ों असंख्य मनु बीत गये, ये सब प्रभाव के आधिक्य से परिपूर्ण थे एवं सैकड़ों चतुर्युग भी बीत गये—इसका भी मुझे स्मरण है ॥ ४१ ॥

एक समय ब्रह्माण्डशरीर विराट् उत्पन्न होकर अपने

सर्वान् संरम्भबहुलांश्चतुर्युगशतानि च ॥ ४१ ॥
एकमेव स्वयं शुद्धं पुरुषासुरवर्जितम् ।
आलोकनिचयं चैकं कश्चित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥ ४२ ॥
सुरापं ब्राह्मणं मत्तं निषिद्धसुरशूद्रकम् ।
बहुनाथसतीकं च कश्चित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥ ४३ ॥
वृक्षनीरन्ध्रभूपीठमकल्पितमहार्णवम् ।
स्वयं संजातपुरुषं कश्चित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥ ४४ ॥
अपर्वतमभूमिं च व्योमस्थामरमानवम् ।
अचन्द्रार्कप्रकाशाढ्यं कश्चित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥ ४५ ॥
अनिन्द्रममहीपालममध्यस्थाधमोत्तमम् ।
सममन्धककुप्चक्रं कश्चित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥ ४६ ॥
सर्गप्रारम्भकलना विभागो भुवनत्रये ।
कुलपर्वतसंस्थानं जम्बूद्वीपं पृथक् स्थितम् ॥ ४७ ॥

स्वरूप का आलोचन करने के लिए कुछ कालतक समाहितचित्त हुए थे, उस समय पुरुष एवं असुरों से रहित स्वतःशुद्ध, प्रकाशस्वभाव तैजस पदार्थों की समष्टिरूप एक ही ब्रह्माण्ड था—इसका मुझे स्मरण है ॥ ४२ ॥

एक समय ऐसी उन्मत्त सृष्टि थी कि जिसमें ब्राह्मण लोग मद्य पीते थे, देवताओं की निन्दा करने वाले असत्-शूद्र रहते थे, स्त्रियों के अनेक पति होते थे—इसका मुझे स्मरण है ॥ ४३ ॥

मुझे किसी एक ऐसी सृष्टि का स्मरण है कि जिसमें यह भूपीठ वृक्षों से घनीभूत था, महार्णव की कल्पना भी नहीं की गई थी और स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के बिना अपने भृगु आदि मानस पुरुष उत्पन्न हुए थे [समुद्र की सृष्टि को करने वाले प्रियव्रत की उत्पत्ति के पहले यह मानस-सृष्टि हुई थी] ॥ ४४ ॥

एक समय ऐसी सृष्टि थी—जिसमें पर्वत और पृथिवी का नामशेष ही नहीं था, देवता और योगसिद्ध पुरुष आकाश में ही रहते थे तथा चन्द्र एवं सूर्य के अभाव में भी परिपूर्ण प्रकाश था—इसका मुझे स्मरण है ॥४५॥

एक समय की सृष्टि में न इन्द्र था, न कोई राजा था, न उत्तम, मध्यम एवं अधम का भेद था, सब एकरूप था तथा समस्त दिक्-चक्र अन्धकार से व्याप्त था—इसका मुझे स्मरण है ॥ ४६ ॥

पहले सृष्टि के उत्पादन के लिए सृष्टि का संकल्प हुआ। उसके बाद तीन लोकों में द्वीप आदि अवान्तर प्रदेशों का विभाग हुआ। उसके बाद सात कुलपर्वतों के लिये योग्य स्थान की कल्पना हुई। उसके बाद पृथक् स्थित हुए जम्बूद्वीप में प्रवेश किया ॥ ४७ ॥

वर्णधर्मधियां सृष्टिविभागो मण्डलावनेः ।
ऋक्षचक्रकसंस्थानं ध्रुवनिर्माणमेव च ॥ ४८ ॥
जन्मेन्दुभास्करादीनामिन्द्रोपेन्द्रव्यवस्थितिम् ।
हिरण्याक्षापहरणं वराहोद्धरणं क्षितेः ॥ ४९ ॥
कल्पनं पार्थिवानां च वेदानयनमेव च ।
मन्दरोन्मूलनं चाऽब्धेरमृतार्थं च मन्थनम् ॥ ५० ॥
अजातपक्षो गरुडः सागराणां च संभवः ।
इत्यादिका याः स्मृतयः स्वल्पातीतजगत्क्रमाः ।
बालैरपि हि तास्तात ! स्मर्यन्ते तासु को ग्रहः ॥ ५१ ॥
गरुडवाहनं विहगवाहनं
विहगवाहनं वृषभवाहनम् ।
वृषभवाहनं गरुडवाहनं
कलितवानहं कलितजीवितः ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने चिरजीवितवृत्तान्तकथनं नाम एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

स्रष्टा ने ब्राह्मण आदि वर्ण, उनके धर्म एवं उन-उनके लिए योग्य विद्याविशेषों की सृष्टि की। उसके बाद मण्डलरूप में पृथ्वी का विभाग किया, अनन्तर नक्षत्र-चक्र के उपयोगी संस्थान एवं ध्रुव-मण्डल का निर्माण किया [—मेरी अपेक्षा अत्यन्त स्वल्प आयु वाले आपके सदृश इस कल्प के मनुष्य भी इन सब का स्मरण कर सकते हैं] ४८ ॥

चन्द्रमा और सूर्य का निर्माण हुआ। अनन्तर इन्द्र एवं उपेन्द्र की व्यवस्था हुई। अनन्तर हिरण्याक्ष ने पृथ्वी का अपहरण किया। बाद उसका वराहरूपधारी भगवान् ने उद्धार किया ॥ ४९ ॥

अनन्तर देव, दानव, मनुष्य आदि प्रत्येक में राजाओं की कल्पना की गई। पश्चात् मत्स्यरूप ग्रहण कर भगवान् वेद लाये। मन्दराचल का उन्मूलन किया गया। अमृत के लिए क्षीर-सागर का मथन हुआ ॥ ५० ॥

अजातपक्ष गरुड़ और समुद्रों की उत्पत्ति हुई—इत्यादि स्वल्प अतीत जगत्क्रम की स्मृतियों का मेरी अपेक्षा अल्प-आयुवाले वर्तमानकाल में उत्पन्न आपके सदृश प्राणी भी स्मरण करते हैं इसलिए उनमें आदर ही क्या ॥ ५१ ॥

दीर्घजीवी मैंने किसी समय यह रहस्य देखा—इस कल्प में प्रसिद्ध गरुडवाहन श्रीविष्णु हंसवाहन चतुर्मुख ब्रह्मा बनकर देव, दैत्य आदि की सृष्टिरूप कार्य का सम्पादन करते थे, हंसवाहन ब्रह्माजी वृषभवाहन रुद्र बनकर संहार करते थे तथा वृषभवाहन महादेवजी विष्णु शरीर बनकर सृष्टि का पालन करते थे ॥ ५२ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में भुशुण्डोपाख्यान में चिरजीवितवृत्तान्त कथन नामक कुसुमलता का एक्कीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

२२

भुशुण्ड उवाच

ततो जगति जातेषु भगवन् ! युष्मदादिषु ।
भरद्वाजपुलस्त्यात्रिनारदेन्द्रमरीचिषु ॥ १ ॥
पुलहोद्दालकाद्येषु क्रतुभृग्वङ्गिरस्सु च ।
सनत्कुमारभृङ्गीशस्कन्देभवदनादिषु ॥ २ ॥
गौरीसरस्वतीलक्ष्मीगायत्र्याद्यासु भूरिषु ।
मेरुमन्दरकैलासहिमवद्दर्दुरादिषु ॥ ३ ॥
हयग्रीवहिरण्याक्षकालनेमिबलादिषु ।
हिरण्यकशिपुक्राथबलिप्रह्लादकादिषु ॥ ४ ॥

२२

भुशुण्ड ने कहा—हे भगवन् ! उत्पन्न हुए आपको लेकर भरद्वाज, पुलस्त्य, अत्रि, नारद, इन्द्र और मरीचि इनके विषय में स्मरण की तो गणना ही क्या ? ॥ १ ॥

पुलह, उद्दालक प्रभृति तथा क्रतु, भृगु, अङ्गिरा आदि सिद्ध-ऋषि, सनत्कुमार आदि ब्रह्मर्षि एवं भृङ्गीश, स्कन्द, गजवदन आदि शिवजी के पार्षदों के विषय में तो स्मरण की गणना ही क्या ? ॥ २ ॥

गौरी, सरस्वती, लक्ष्मी, गायत्री आदि अनेक उनकी शक्तियों तथा सुमेरु, मन्दर, कैलास, हिमालय, दर्दुर आदि पर्वतों के विषय में स्मरण की तो गणना ही क्या ? ॥३॥

हयग्रीव आदि दानवों; हिरण्याक्ष, कालनेमि, बल, हिरण्यकशिपु, क्राथ, बलि, प्रह्लाद आदि दैत्यों के विषय में स्मरण की तो गणना ही क्या ? ॥ ४ ॥

शिबिन्यङ्कुपृथूलाख्यवैन्यनाभागकेलिषु ।
नलमान्धातृसगरदिलीपनहुषादिषु ॥ ५ ॥
आत्रेयव्यासवाल्मीकिशुकवात्स्यायनादिषु ।
उपमन्युमणीमङ्किभगीरथशुकादिषु ॥ ६ ॥
अल्पकातीतकालेषु किञ्चिद्दूरेषु केषुचित् ।
तथाऽद्यतनसर्गेषु स्मरणे गणनैव का ॥ ७ ॥
मुने ! ते ब्रह्मपुत्रस्य जन्माष्टकमिदं किल ।
संस्मराम्यष्टमे सर्गे तस्मिंस्त्वं मम सङ्गतः ॥ ८ ॥
कदाचिज्जायसे व्योम्नः कदाचिज्जायसे जलात् ।
कदाचिद्वायुतः शैलात् कदाचिज्जायसेऽनलात् ॥ ९ ॥
यादृशो यादृशाचारो यादृक्संस्थानदिग्गणः ।
सर्गोऽयं तादृशानेव त्रीन्सर्गान् संस्मराम्यहम् ॥ १० ॥
एकरूपाखिलाचारसन्निवेशधरामरान् ।

शिबि, न्यङ्कु, पृथु, उलाख्य, वैन्य, नाभाग, केलि, नल, मान्धाता, सगर, दिलीप, नहुष आदि राजाओं के विषय में स्मरण की तो कथा ही क्या ? ॥ ५ ॥

आत्रेय, व्यास, वाल्मीकि, शुक, वात्स्यायन आदि तथा उपमन्यु, मणीमङ्कि, भगीरथ, शुक आदि के विषय में स्मरण की तो गणना ही क्या ? ॥ ६ ॥

स्वल्पतर भूतकाल में उत्पन्न हैं, कोई कुछ दूर के हैं तथा आज के कल्प में उत्पन्न हैं, उनके विषय में स्मरण की गणना ही क्या ? ॥ ७ ॥

हे मुने ! ब्रह्माजी के पुत्र आपका यह अष्टम जन्म है। उस आठवें जन्म में आपकी और मेरी सङ्गति हुई— इसका इसका मैं पहले से ही स्मरण करता हूँ ॥ ८ ॥

हे मुने ! आप किसी समय आकाश से उत्पन्न होते हैं, किसी समय जल से उत्पन्न होते हैं, किसी समय वायु से उत्पन्न होते हैं, किसी समय पर्वत और अग्नि से उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

यह सर्ग जैसा है, इसका जिस प्रकार आचरण है, इसके जिस प्रकार के अवयव-संस्थान तथा दिशागण हैं, ठीक इसी तरह के तीन सर्ग पहले हो चुके हैं—इसका मुणे स्मरण है ॥ १० ॥

मुझे ऐसे दस सर्गों का स्मरण है—जिनमें देवताओं के निखिल आचरण तथा अवयव-गठन एकरूप थे, उनकी आयु समान थी एवं अपने नियत तत्-तत् अधिकारपदों में उनकी स्थिति असुरों द्वारा चालित नहीं हुई थी ॥ ११ ॥

समकालान् स्थिरस्थैर्यान् दशसर्गान् स्मराम्यहम् ॥११॥
अन्तर्धानं गता धात्री वारपञ्चकमुद्धृता ।
मुने ! पञ्चसु सर्गेषु कूर्मेणैव पयोनिधेः ॥ १२ ॥
मन्दराकर्षणावेगपर्याकुलसुरासुरम् ।
स्मरामि द्वादशं चेदममृताम्भोधिमन्थनम् ॥ १३ ॥
सर्वौषधिरसोपेतां बलिग्राहस्तदा दिवः ।
वारत्रयं हिरण्याक्षो नीतवान् वसुधामधः ॥ १४ ॥
रेणुकात्मजतां गत्वा षष्ठवारमिमं हरिः ।
बहुसर्गान्तरेणाऽपि चकार क्षत्रियक्षयम् ॥ १५ ॥
शतं कलियुगानां च हरेर्बुद्धदशाशतम् ।
शौकराजतयैवाऽऽप्तं स्मरामि मुनिनायक ! ॥ १६ ॥
त्रिंशत्त्रिपुरविक्षोभान् द्वौ दक्षाध्वरसंक्षयौ ।
दशशक्रविघातांश्च चन्द्रमौलेः स्मराम्यहम् ॥ १७ ॥

हे मुने ! जल में डूबकर तिरोहित हुई पृथ्वी का समुद्र से भगवान् कूर्म ने ही, न कि वराह ने, पाँच सर्गों में पाँच बार उद्धार किया ॥ १२ ॥

मन्दराचल के आकर्षण के लिए किये गये अनेक प्रयत्न के कारण व्याकुल हुए देवता एवं दानवों से युक्त यह अमृतार्थ समुद्र-मन्थन बारहवाँ हुआ—ऐसा मुझे स्मरण है ॥ १३ ॥

पहले स्वर्गस्थ समस्त देवताओं से कर लेने वाला, हिरण्याक्ष तीन बार समस्त औषधियों तथा रसोंसे परिपूर्ण इस पृथ्वी को पाताल में ले गया ॥ १४ ॥

रेणुका के उदर से जन्म लेकर भगवान् नारायण ने, परशुराम-अवतार से शून्य अनेक सर्गों के व्यवधान से भी, यह छठी बार क्षत्रियों का विनाश किया ॥ १५ ॥

हे मुनि राघव ! सौ कलियुग हुए और कीकट देश के राजारूप से महाराज शुद्धोदन के पुत्र रूप से भगवान् नारायण ने सौ सौ बार बुद्धदशा प्राप्त की—इसका मुझे स्मरण है ॥ १६ ॥

महाराज, चन्द्रमौलि महादेवजी ने तीस कल्पों में तीस बार त्रिपुरों का विनाश किया, प्रत्येक कल्प में स्वायंभुव और चाक्षुष मन्वन्तर में दो दक्षप्रजापति के यज्ञों का विध्वंस किया तथा अपराधी दस इन्द्रों को दण्ड दिया। उनके पदों से उन्हें च्युतकर पर्वत की गुफाओं में बन्दी बनाया अथवा वज्रसहित उनके हाथों का स्तम्भन किया इसका मुझे स्मरण है ॥ १७ ॥

बाणार्थमष्टौ संग्रामान् ज्वरप्रथममन्त्रकान् ।
विक्षोभितसुरानीकान् स्मरामि हरिशर्वयोः ॥ १८ ॥

युगं प्रति धियां पुंसां न्यूनाधिकतया मुने ! ।
क्रियाङ्गपाठवैचित्र्ययुक्तान् वेदान् स्मराम्यहम् ॥ १९ ॥

एकार्थानि समग्राणि बहुपाठानि मेऽनघ ! ।
पुराणानि प्रवर्तन्ते प्रसृतानि युगं प्रति ॥ २० ॥

पुनस्तानेव तानेवमन्यानपि युगे युगे ।
वेदादिवित्प्ररचितानितिहासान् स्मराम्यहम् ॥ २१ ॥

इतिहासं महाश्चर्यमन्यं रामायणाभिधम् ।
ग्रन्थलक्षप्रमाणं च ज्ञानशास्त्रं स्मराम्यहम् ॥ २२ ॥

रामवद्व्यवहर्तव्यं न रावणविलासवत् ।
इति यत्र धियां ज्ञानं हस्ते फलमिवार्पितम् ॥ २३ ॥

बाणासुर के लिए माहेश्वर एवं वैष्णव नामक ज्वरों और प्रमथगणों को शौर्य में उत्साह बढ़ाकर प्रवृत्त करने वाले तथा देवताओं की सेनाओं को प्रचुरमात्रा में क्षुब्ध करने वाले हरि और हर के आठ संग्राम हुए—इसका मुझे स्मरण है ॥ १८ ॥

हे मुने ! मैं युग-युग में अध्येता पुरुषों की बुद्धियों के न्यूनाधिक भाव के कारण ब्रह्मचर्य, गुरु-सेवा, भूमिशयन आदि क्रियाओं की शिक्षा कल्प आदि अङ्गों की एवं अवधानपूर्वक स्वर, वर्ण आदि के उच्चारणरूप पाठों की न्यूनाधिकप्रयुक्त विचित्रता से युक्त वेदों का भी स्मरण करता हूँ ॥ १९ ॥

हे पापशून्य ! युग-युग में प्रत्येक द्वापार के अन्त में निर्माताओं के भेद से अनेक पाठ वाले, एकार्थक तथा अत्यन्त विस्तार युक्त पुराण प्रवृत्त होते हैं—इसका मुझे स्मरण है ॥ २० ॥

युग-युग में वेद आदि शास्त्रों के विद्वान्, व्यास, वाल्मीकि आदि महर्षियों द्वारा विरचित उन्हीं भारत, रामायण आदि इतिहासों एवं दूसरे इतिहासों का भी मैं स्मरण करता हूँ ॥ २१ ॥

मैं आश्चर्यजनक महती घटनाओं से परिपूर्ण प्रसिद्ध रामायण से भिन्न दूसरे ब्रह्मदेव द्वारा वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि की उपदिष्ट रामायण नामक लक्षश्लोकात्मक ज्ञानशास्त्र का स्मरण करता हूँ ॥ २२ ॥

उस ज्ञानशास्त्र में मनोयोग देनेवाले महानुभावों के अन्तःकरण में हाथ में फल के सदृश, 'श्रीरामजी की तरह व्यवहार करना चाहिए और रावण के विलास की तरह विलास नहीं करना चाहिए' यह ज्ञान समर्पित किया गया है ॥ २३ ॥

कृतं वाल्मीकिना चैतदधुना यत्करिष्यति ।
अन्यच्च प्रकटं लोके स्थितं ज्ञास्यसि कालतः ॥ २४ ॥

वाल्मीकिनाम्ना जीवेन तेनैवाऽन्येन वा कृतम् ।
एतच्च द्वादशं वारं क्रियते विस्मृतिं गतम् ॥ २५ ॥

द्वितीयमेतस्य समं भारतं नाम नामतः ।
स्मरामि प्राक्तनव्यासकृतं जगति विस्मृतम् ॥ २६ ॥

व्यासाभिधेन जीवेन तेनैवाऽन्येन वा कृतम् ।
एतत्तु सप्तमं वारं क्रियते विस्मृतिं गतम् ॥ २७ ॥

आख्यानकानि शास्त्राणि निवृत्तानि युगं प्रति ।
विचित्रसन्निवेशानि संस्मरामि मुनीश्वर ! ॥ २८ ॥

भूयस्तान्येव तान्येव तथाऽन्यानि युगे युगे ।
साधो ! पदार्थजालानि प्रपश्यामि स्मरामि वै ॥ २९ ॥

उक्त ज्ञानशास्त्र के निर्माता महर्षि वाल्मीकि हैं और अब उनके द्वारा वसिष्ठ-राम-संवादरूप दूसरे बत्तीस हजार श्लोकात्मक रचित महारामायण रूप ज्ञानशास्त्र भी दिव्यज्ञान की सामर्थ्य से मैं स्मरण करता हूँ, आप भी समय आनेपर उसे जान जायँगे ।। २४ ॥

इस भावी वसिष्ठ-राम-संवादरूप ज्ञानशास्त्र की पूर्वकल्प के या दूसरे किसी और वाल्मीकि नामक जीव के द्वारा पहले ही रचना की गई थी, कल्प के अन्त में व्यवहारकर्ताओं की परम्पराओं के उठ जाने से वह उच्छिन्न हो गया था, अतः वर्तमान में उसकी पुनः बारहवीं बार रचना की जायगी ॥ २५ ॥

इसी ज्ञानशास्त्र के समान दूसरा ज्ञानशास्त्र 'महाभारत' इस नाम से प्रसिद्ध एवं प्राक्तन व्यासजी के द्वारा रचित और जो इस समय जगत् में विस्मृत हो चुका है—मैं उसका स्मरण करता हूँ ॥ २६ ॥

पूर्वकल्प के अथवा दूसरे किसी और व्यास नामक जीव के द्वारा किये गये तथा कल्पान्त में विस्मृत उस महाभारत की सातवीं बार रचना की जायगी ॥ २७ ॥

हे मुनीश्वर ! युग-युग में प्रवृत्त चित्र-विचित्र घटना सन्निवेशों से परिपूर्ण अनेक आख्यान को एवं शास्त्रों का मैं स्मरण करता हूँ ॥ २८ ॥

हे साधो ! युग-युग में पुनः-पुनः उन्हीं-उन्हीं पदार्थों को तथा दूसरे-दूसरे पदार्थों को मैं देखता हूँ—इसका भी मुझे स्मरण है ॥ २९ ॥

राक्षसक्षतये विष्णोर्महीमवतरिष्यतः ।
अधुनैकादशं जन्म रामनाम्नो भविष्यति ॥ ३० ॥
नारसिंहेन वपुषा हिरण्यकशिपुं हरिः ।
जघान वारत्रितयं मृगेन्द्र इव वारणम् ॥ ३१ ॥
वसुदेवगृहे विष्णोर्भुवो भारनिवृत्तये ।
अधुना षोडशं जन्म भविष्यति मुनीश्वर ! ॥ ३२ ॥
जगन्मयी भ्रान्तिरियं न कदाचन विद्यते ।
विद्यते तु कदाचिच्च जलबुद्बुदवत्स्थिता ॥ ३३ ॥
दृश्यभ्रान्तिरनित्येयमन्तःस्था संविदात्मनि ।
जायते लीयते चाऽऽशु लोला वीचिरिवाऽम्भसि ॥३४॥
समैकसन्निवेशानि बहूनि विषमाणि च ।
तथाऽर्धसमरूपाणि त्रिजगन्ति स्मराम्यहम् ॥ ३५ ॥
तान्येव तादृक्कर्माणि तथाऽन्याचरणानि च ।

भगवन्, राक्षसों का विनाश करने के लिए पृथ्वी में अवतार ग्रहण करनेवाले महिमशाली विष्णु का निकटवर्ती त्रेतायुग में ग्यारहवीं बार 'राम' इस नाम से जन्म होगा ॥ ३० ॥

नृसिंहस्वरूप शरीर से भगवान् ने हिरण्यकशिपु का, हाथी का मृगेन्द्र (सिंह) की तरह तीन बार वध किया ॥ ३१ ॥

हे मुनीश्वर ! पृथ्वी के भार को दूर करने के लिए भगवान् विष्णु का द्वापर के अन्त में सोलहवीं बार वसुदेवजी के घर में जन्म होगा ॥ ३२ ॥

महाराज, जगद्रूपा इस भ्रान्ति का कभी भी अस्तित्व नहीं है, जल में बुद्बुदों की तरह स्थित यह किसी समय ही अज्ञानवश अस्तित्व रखती हुई प्रतीत होती है ॥ ३३ ॥

जल में तरङ्गों की तरह अति चपल, आत्मा के अन्दर रहनेवाली यह अनित्य दृश्य पदार्थों की भ्रान्ति संवित्-स्वरूप आत्मा में ही उत्पन्न और तत्क्षण लीन हो जाती है ॥ ३४ ॥

ये तीनों जगत् किसी कल्प में समान अवयव-सन्निवेशवाले थे, किसी कल्प में अत्यन्त विषम थे तथा किसी समय आधे समानरूप थे—इसका मुझे स्मरण है ॥ ३५ ॥

किसी एक कल्प में जो प्राणी जिस रूप के एवं जैसा आचार-व्यवहार करते थे, ठीक उसी रूप के वे ही प्राणी तत्परवर्ती कल्प में भी वैसा ही आचार-व्यवहार करते

तत्कर्माणि तथाऽन्यानि भूतानीह स्मराम्यहम् ॥ ३६ ॥
प्रतिमन्वन्तरं ब्रह्मन्विपर्यस्ते जगत्क्रमे ।
सन्निवेशेऽन्यथा जाते प्रयाते संश्रुते जने ॥ ३७ ॥
ममाऽन्यान्येव मित्राणि अन्य एव च बन्धवः ।
अन्य एव नवा भृत्या अन्य एव समाश्रयाः ॥ ३८ ॥
कदाचिदहमेकान्ते विन्ध्यकच्छकृतालयः ।
कदाचित् सह्यनिलयः कदाचिद्दर्दुरालयः ॥ ३९ ॥
कदाचिद्धिमवद्वासी कदाचिन्मलयाचलः ।
कदाचित् प्राक्तनेनैव सन्निवेशेन भूधरम् ।
चूतवृक्षे च शाखायां प्राप्य नीडं करोम्यहम् ॥ ४० ॥
अनाद्यन्तेषु यातेषु युगेषु मुनिनायक ! ।
प्राक्तनेनैव जातोऽयं सन्निवेशेन पादपः ॥ ४१ ॥
देहं त्यक्त्वा सुखं साधो ! नाऽतः परिणतिं गतः ।
तदीयेनैव जातोऽयं सन्निवेशेन पादपः ॥ ४२ ॥

देखे गये, उस कल्प के वे ही प्राणी दूसरे कल्प में दूसरे आचार-व्यवहार करते देखे गये तथा दूसरे प्राणी उन्हीं के आचार-व्यवहार करते देखे गये—इसका मुझे वर्तमान स्मरण है ॥३६ ॥

हे ब्रह्मन् ! प्रत्येक मन्वन्तर में जगत्-क्रम का विपर्यास हो जाने पर, अवयवसन्निवेश का परिवर्तन हो जाने पर और प्रख्यात जनों का प्रलय हो जाने पर मेरे दूसरे ही बान्धव, दूसरे नवीन ही सेवक और दूसरे ही निवासस्थान हो जाते हैं ॥ ३७, ३८ ॥

किसी समय मैं एकान्त में विन्ध्य-प्रदेश में अपना स्थान बनाता हूँ, किसी समय सह्याद्रि में अपना स्थान बनाता हूँ, किसी समय दर्दुर-पर्वत पर निवास करता हूँ ॥ ३९ ॥

किसी समय हिमालय-पर्वत पर वास करता हूँ, किसी समय मलय-पर्वत पर स्थिर होता हूँ, किसी समय प्राक्तन अवयव-सन्निवेश से ही पर्वत पर आकर इस कल्पवृक्ष की शाखा में घोंसला बनाता हूँ ॥ ४० ॥

हे मुनिनायक ! असंख्य युगों के बीत जाने पर भी इस समय प्राक्तन अवयवों के सन्निवेश से ही यह कल्पवृक्ष उत्पन्न हुआ है ॥ ४१ ॥

हे साधो ! अपने प्राक्तन शरीर का सुखपूर्वक त्यागकर यह वृक्ष पूर्वतन अवयवसन्निवेश की अपेक्षा दूसरे अवयव-सन्निवेशरूप को प्राप्त नहीं हुआ है, उसी सन्निवेश से यह उत्पन्न हुआ है ॥ ४२ ॥

ताते जीवति यैवाऽभूच्छोभाऽस्य सुतरोस्तथा ।
कृतप्रावसन्निवेशोऽयमहं स्थितिमिहाऽऽगतः ॥ ४३ ॥
नेहाऽभूदुत्तरा पूर्वं ककुब्नाऽयं च भूधरः ।
दिगुत्तराऽभूदन्येयं पूर्वमेव महीधरः ॥ ४४ ॥
एकैकदेहसंस्थानवीतब्रह्मनिशागमः ।
ध्यानान्ते तत्त्व एवैनं सर्गमालोक्य वेद्म्यहम् ॥ ४५ ॥
अर्कादेर्ऋक्षसञ्चारान् मेर्वादिस्थानका दिशः ।
संस्थानमन्यथा तस्मिन् स्थिते यान्ति दिशोऽन्यथा।४६।
न सन्नाऽसज्जगन्मन्ये भ्रमयन्केवलं धियः ।
आत्मस्पन्दचमत्कारविभवोऽयं विजृम्भते ॥ ४७ ॥
पुत्रः पितृत्वमायाति मित्रं यात्यरितां तथा ।
स्त्रीत्वं च शतशो यातान् पुंसश्चैव स्मराम्यहम् ॥ ४८॥
कलौ कृतयुगाचारान् कृते कलियुगस्थितिम् ।
त्रेतायां द्वापरे चैव संस्मरामि मुनीश्वर ! ॥ ४९ ॥
अदृष्टवेदवेदार्थान् स्वसङ्केतविहारिणः ।
सर्गान्निरर्गलाचारान् क्वचित्कांश्चित् स्मराम्यहम् ।५०।
ध्यातरि ब्रह्मणो ब्रह्मन् ! ससुरासुरमानुषम् ।
चतुर्युगसहस्रान्ते जगच्छून्यं स्मराम्यहम् ॥ ५१ ॥
मनोमननिर्माणान् पार्थिवाकारवर्जितान् ।
व्याप्तान् वायुमयैर्भूतैर्दश सर्गान् स्मराम्यहम् ॥ ५२ ॥
विचित्रसंस्थानविशेषदेशान्
विचित्रकार्याकुलभूतकोशान् ।

महाराज, मेरे पिता चण्ड के जीवन काल में इस कल्पतरु की जो शोभा थी, ठीक वही शोभा इस समय भी है तथा जो उस समय इसके प्राक्तन अवयव-विन्यास थे। उनके समान दूसरे नवीन अवयव-विन्यास इसके विहित हैं मैंने यहाँ इस समय स्थिति प्राप्त की है ॥ ४३ ॥

महाराज अतीत कल्प के इस प्रदेश में न यह उत्तर दिशा थी और न तो यह पर्वत ही था, किन्तु पहले यह दूसरी ही उत्तर दिशा थी और यह दूसरा ही पर्वत था ॥ ४४ ॥

मैं एक ही रहा और एक ही अवयव-सन्निवेश से मैंने ब्रह्माजी की निशा का अतिक्रमण किया, कल्प के अन्त में पूर्वोक्त धारणाओं से स्थिर की गई निर्विकल्पक समाधि के अवसान में पुन: उत्पन्न इस सर्ग को देखकर मैं 'वही यह मेरुपर्वत है', 'वही यह कल्पतरुवृक्ष है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञायमान पदार्थ के रूप में ही इस सृष्टि को जानता हूँ ॥ ४५ ॥

सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रहों से एवं नक्षत्रों के उदय, अस्तमय आदि नियत संचरणों से नियत उत्तर दिशा में अवस्थित मेरु आदि स्थान को लेकर ही पूर्व आदि दिशाएँ व्यवहृत होती हैं। दूसरे सर्ग में तो दिशाएँ—उस मेरु-पर्वत के ही दूसरे प्रकार से स्थित हो जाने पर, चित्रपट के परिवर्तन से उसमें चित्रित मेरुपर्वत आदि के अधीन पूर्व आदि दिशाओं के परिवर्तन की तरह व्यत्यस्त-स्थिति प्राप्त करती हैं ॥ ४६ ॥

यह जगत् न सत् है और न असत् ही है—यही मैं मानता हूँ। आत्मा की मायिक विक्षेपशक्ति से उत्पन्न बुद्धि को भ्रमित कर रहा यह प्रपञ्च केवल मिथ्या ही विजृम्भित हो रहा है ॥ ४७ ॥

किसी कल्प में पुत्र पितृत्व को प्राप्त होता है, मित्र शत्रुत्व को प्राप्त होता है तथा सैकड़ों पुरुष स्त्रीत्व को प्राप्त हो जाते हैं—इसका मुझे स्मरण है ॥ ४८ ॥

मुनिमहाराज, किसी कल्प में कलियुग सत्ययुग के आचार, सत्ययुग में कलियुग की अवस्था तथा त्रेता और द्वापर में सत्ययुग के आचार और कलियुग की स्थिति हो जाती है—इसका मुझे स्मरण है ॥ ४९ ॥

किसी कल्प मे सत्ययुग में भी वेद और वेदार्थों का दर्शन तक न करने वाले कुछ ऐसे मनुष्यों का मुझे स्मरण है जो अपने संकेतमात्र से ही व्यवहार करते थे, उनका आचरण अत्यन्त उच्छृंखल था। [सत्ययुग में भी नल के भाई पुष्कर ने महाराज नल के ऊपर द्यूत से विजय प्राप्त कर बिना अपराध पत्नी के साथ एक वस्त्र से निर्वासित किया था] ॥ ५० ॥

हे ब्रह्मन् ! हजार चतुर्युगों की समाप्ति में ब्रह्मा जी जब जगद्रूप के संहारक्रम से जल में शयनकर योगनिद्रा के व्याज से परमात्मा का ध्यान कर रहे थे, तब यह देवता, दानव एवं मनुष्य से युक्त जगत् शून्य असत्-स्वरूप की तरह हो गया था—इसका मुझे स्मरण है ॥ ५१ ॥

चन्द्रमासम्बन्धी मन के मनन से स्थूल पार्थिवाकार से वर्जित तथा वायु प्राय भूतों से व्याप्त निर्मित हुए पूर्वोक्त दस सर्गों का, मैं स्मरण करता हूँ ॥ ५२ ॥

ब्रह्माजी के दिवसरूपी कल्पों में चित्र-विचित्र विशेष संस्थानों वाले देशों से युक्त; चित्र-विचित्र अनेक कार्यों में व्याकुल प्राणियों के कोशभूत तथा चित्र-विचित्र विन्यास,

विचित्रविन्यासविलासवेषान् स्मराम्यहं ब्रह्मदिनेष्वशेषान् ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने चिरंजीवितवर्णनं नाम द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

विलास एवं वेषों से युक्त समस्त सर्गों का मैं स्मरण करता हूँ ॥ ५३ ॥

इस प्रकार ऋषी-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमाहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में भुशुण्डोपाख्यान में चिजीविरंतवर्णन नामक कुसुमलता का बाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २२ ॥

२३

वसिष्ठ उवाच

अथाऽसौ वायसश्रेष्ठो जिज्ञासार्थमिदं मया ।
भूयः पृष्टो महाबाहो ! कल्पवृक्षलताग्रके ॥ १ ॥
चरतां जगतः कोशे व्यवहारवतामपि ।
कथं विहगराजेन्द्र ! देहं मृत्युर्न बाधते ॥ २ ॥

भुशुण्ड उवाच

जानन्नपि हि सर्वज्ञ ! ब्रह्मञ्जिज्ञासयेव माम् ।
पृच्छसि प्रभवो नित्यं भृत्यं वाचालयन्ति हि ॥ ३ ॥
तथापि यत्पृच्छसि मां तत्ते प्रकथयाम्यहम् ।
आज्ञाचरणमेवाऽऽहुर्मुख्यमाराधनं सताम् ॥ ४ ॥
दोषमुक्ताफलप्रोता वासनातन्तुसन्ततिः ।
हृदि न ग्रथिता यस्य मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ ५ ॥
निःश्वासवृक्षक्रकचाः सर्वदेहलताघुणाः ।
आधयो यं न भिन्दन्ति मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ ६ ॥
शरीरतरुसर्पौघाश्चिन्तार्पितशिरःफणाः ।
आशा यं न दहन्त्यन्तर्मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ ७ ॥
रागद्वेषविषापूरः स्वमनोबिलमन्दिरः ।
लोभव्यालो न भुङ्क्ते यं मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ ८ ॥
पीताशेषविवेकाम्बुः शरीराम्भोधिवाडवः ।
न निर्दहति यं कोपस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ ९ ॥
यन्त्रं तिलानां कठिनं राशिमुग्रमिवाऽऽकुलम् ।
यं पीडयति नाऽनङ्गस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ १० ॥

२३

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—हे महाबाहो ! अनन्तर कल्पलता के अग्रभाग में आसीन इस वायसराज भुशुण्ड को मैंने जिज्ञासा के लिए यह बात फिर पूछी ॥ १ ॥

हे पक्षियों के राजेन्द्र ! जगत्-कोश में विचरण कर रहे और व्यवहार कर रहे भी प्राणियों की देह को मृत्यु कैसे दोषों का त्याग एवं कैसे गुणों का उपार्जन करने से बाधा नहीं पहुँचाती ॥ २ ॥

भुशुण्ड ने कहा—हे सर्वज्ञ ब्रह्मन् ! आप सब कुछ जानते हुए भी मुझसे, जिज्ञासा की तरह पूछते हैं, वह ठीक ही है, क्योंकि जो समर्थ होते हैं, वे प्रश्नों द्वारा अपने सेवकों की वाक्पटुता की प्रसिद्धि कराते हैं ॥ ३ ॥

तथापि आप जो मुझसे पूछते हैं, उसका आपको मैं उत्तर देता हूँ, क्योंकि मुनि लोग कहते हैं आज्ञा का परिपालन करना ही सज्जनों की सबसे बड़ी सेवा है ॥४॥

रागादि दोषरूपी मोती जिसमें पिरोये गये हैं, ऐसी वासनारूपी तन्तुसन्तति जिसके हृदय-कमल में ग्रथित नहीं रहती, मृत्यु उसे मारने की इच्छा नहीं करती—अर्थात् जैसे हार आदि आभारणों का परित्याग करने वाले पुरुषों को चोर मारने की इच्छा नहीं करते, वैसे ही समझना चाहिए ॥ ५ ॥

देह-वृक्ष का उच्छेद कर देने वाले निःश्वासरूपी करवत जिनसे उत्पन्न होते हैं तथा समस्त देह-वृक्ष के शाखाभूत हाथ, पैर आदि के लिए जो घुनस्वरूप हैं, वे मानसिक-व्यथाएँ जिसका भेदन नहीं करती, उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥ ६ ॥

शरीररूपी वृक्ष के कोटर में रहने वाले सर्पों के समूह तथा चिन्तारूपी फणाओं के सिर में धारण करने वाली आशाएँ जिसको भीतर से दाह नहीं पहुँचती, उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती है ॥ ७ ॥

राग-द्वेषरूपी विष से परिपूर्ण अपने मनरूपी बिल में रहनेवाला लोभरूपी सर्प जिसे दंश न नहीं करता है उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती है ॥ ८ ॥

शरीररूपी समुद्र का वडवाग्निस्वरूप समस्त विवेक रूपी जल को पीजानेवाला क्रोध जिसे दग्ध नहीं करता है उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥ ९ ॥

तिलों की बड़ी राशि को व्यग्र कर देने वाले कठिन कोल्हू यन्त्र की तरह कामदेव उग्रतापूर्वक जिसे पीड़ा नहीं पहुँचता, उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥ १० ॥

एकस्मिन्निर्मले येन पदे परमपावने ।
संश्रिता चित्तविश्रान्तिस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ ११ ॥
वपुःखण्डाभिपतितं शाखामृगमिवोदितम् ।
न चञ्चलं मनो यस्य तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ १२ ॥
एते ब्रह्मन् ! महादोषाः संसारव्याधिहेतवः ।
मनागपि न लुम्पन्ति चित्तमेकं समाहितम् ॥ १३ ॥
आधिव्याधिसमुत्थानि चलितानि महाभ्रमैः ।
न विलुम्पन्ति दुःखानि चित्तमेकं समाहितम् ॥ १४ ॥
नाऽस्तमेति न चोदेति न संस्मृतिर्न विस्मृतिः ।
न सुप्तं न च जाग्रत्स्याच्चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १५ ॥
अन्धीकृतहृदाकाशाः कामकोपविकारजाः ।
चिन्ता न परिहिंसन्ति चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १६ ॥
न ददाति न चाऽऽदत्ते न जहाति न याचते ।
कुर्वदेव च कार्याणि चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १७ ॥

जिसने एक निर्मल परम पवित्र ब्रह्मरूप पद में चित्त को स्थित कर लिया है उसको मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥ ११ ॥

जिसका शरीर रूपी पुष्पित अरण्य-प्रदेशमें प्रवेश कर दौड़-धूप मचाने वाला बलवान् मन, वानर की तरह चंचल नहीं है, उसको मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥ १२ ॥

हे ब्रह्मन् ! पूर्व में बतलाये गये ये महान् दोष संसार रूपी व्याधि के कारणभूत हैं, वे दोष समाहित चित्त को तनिक भी विच्छिन्न नहीं करते ॥ १३ ॥

शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओं से जनित तथा महान् विभ्रमों से अर्थात् पुत्र, कलत्र आदि विषय-व्यामोहों से विचलित हुए दुःख एकमात्र समाहित चित्त को ही छिन्न-भिन्न नहीं कर पाते ॥ १४ ॥

समाहित चित्त महापुरुष का चित्त न अस्त होता है, न उदित होता है, न उसमें स्मृति होती है, न विस्मृति होती है, न सुषुप्ती होती है, न जागृति ही होती है ॥१५॥

समाहित चित्त महात्मा की काम-क्रोध आदि विकारों से उत्पन्न तथा हृदयाकाश को आवृत कर देने-वाली चिन्ता किसी तरह हिंसा नहीं करती है ॥ १६ ॥

समाहित चित्त शास्त्रानुसारी व्यवहारों को चलाता हुआ भी वह परमार्थतः न कुछ देता है, न ग्रहण करता है, न कुछ त्यगता है और न कुछ माँगता ही है ॥ १७ ॥

समाहित चित्त पुरुष को उपार्जन करने योग्य अनेक दुष्ट धनादि अर्थ; कृषि, गृह आदि दुष्ट आरंभ; राग, द्वेष आदि दुष्ट गुण; मर्म प्रकाशक दुष्ट, उक्तियाँ; दुष्ट नीतियाँ—ये सब अपने दुष्परिणाम द्वारा खेद नहीं

ये दुरर्था दुरारम्भा दुर्गुणा दुरुदाहृताः ।
दुष्क्रमास्ते न कृन्तन्ति चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १८ ॥
आभान्ति विपुलार्थानि महान्ति गुणवन्ति च ।
सर्वाण्येवाऽनुधावन्ति चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १९ ॥
यदुदर्कहितं सत्यमनपायि गतभ्रमम् ।
दुरीहितदृशोन्मुक्तं तत्परं कारयेन्मनः ॥ २० ॥
यददृष्टमशुद्धेन चित्तवैधुर्यदायिना ।
अनेकत्वपिशाचेन तत्परं कारयेन्मनः ॥ २१ ॥
आदौ मध्ये तथाऽन्ते च चिराय परमोचितम् ।
यच्चारु मधुरं पथ्यं तत्परं कारयेन्मनः ॥ २२ ॥
यदनन्तं मनःपथ्यं तथ्यमाद्यन्तमध्यगम् ।
समस्तसाधुभिर्जुष्टं तत्परं कारयेन्मनः ॥ २३ ॥
यद्बुद्धेः परमालोकमाद्यं यदमृतं परम् ।
यदनुत्तमसौभाग्यं तत्परं कारयेन्मनः ॥ २४ ॥

पहुँचाती है ॥ १८ ॥

समाहित चित्त की ओर अनेकविध अर्थों से उपबृंहित एवं विविध गुणों से परिपूर्ण, निरतिशय प्रकाशमान सभी सुख अनुधावन करते हैं ॥ १९ ॥

चूंकि समाहित चित्त को किसी प्रकार के गुण-दोष अस्त-व्यस्त नहीं कर पाते, इसलिए जो तत्त्व उत्तर-कालिकसुख का हेतु, अबाध्य अविनाशी, अविद्या शून्य एवं विषयाभिलाषारूपी दृष्टि से वर्जित आत्म-लाभस्वरूप है, उसी एक तत्त्व में मन को स्थिर करना चाहिए ॥२०॥

पुरुषार्थशून्य बनानेवाले चित्त को अपवित्र, अनेक दर्शनरूप पिशाच के द्वारा जो तत्त्व कभी भी आक्रान्त नहीं होता, उसी एक आत्म-लाभरूप तत्त्व में मन को स्थिर करना चाहिए ॥ २१ ॥

अनादिकाल से चिरकाल तक जिसका औचित्य सिद्ध हो चुका है, तथा जो आरम्भ में सुन्दर, मध्य में मधुर और अन्त में समस्त दुःखों का निवर्तक है, उस आत्म-लाभरूप ज्ञानतत्त्व में मन को स्थिर करना चाहिए ॥ २२ ॥

अविनाशी मन के लिए सदा हितकर अबाधित स्वरूप आदि मध्य एवं अन्त—इन सभी अवस्थाओं में अनुस्यूत तथा जिसकी समस्त सन्त लोग प्रीतिपूर्वक उपासना करते हैं, उस आत्मलाभरूप तत्त्व में मन को स्थिर करना चाहिए ॥ २३ ॥

बुद्धि से परे प्रकाश स्वरूप सब का आदि कारण निरितिशय अमृत स्वरूप तथा जिसकी अपेक्षा दूसरा उत्तम सौभाग्य (नित्य निरतिशय आनन्दरूप सौभाग्य) नहीं है, उस परम मन को स्थिर करना चाहिए ॥ २४ ॥

सामरासुरगन्धर्वे सविद्याधरकिन्नरे ।
ससुरस्त्रीगणे स्वर्गे न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥ २५ ॥
सतरौ सनराधीशे सपर्वतपुरव्रजे ।
साम्बुधौ भूतले तात ! न किञ्चिच्छोभनं स्थिरम् ॥२६॥
सनागे सासुरव्यूहे सासुरस्त्रीगणे तथा ।
समस्त एव पाताले न किञ्चिच्छोभनं स्थिरम् ॥ २७ ॥
सस्वर्गे ससुरालोके सपाताले सदिक्तटे ।
जगत्यस्मिंस्तु सर्वस्मिन्न किञ्चिच्छोभनं स्थिरम् ॥२८॥
आधिव्याधिविलोलासु दुःखौघवलितासु च ।
क्रियासु नित्यतुच्छासु न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥२९॥
तरलीकृतचित्तासु हृदयानन्दिनीषु च ।
चिन्तासु धीविकारासु न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥ ३०॥
हृत्क्षीरोदकसंस्पन्दमन्दरेषु चलेष्वपि ।
स्वसङ्कल्पविकल्पेषु न किञ्चित्सुस्थिरं शिवम् ॥ ३१ ॥

देवताओं में, असुरों एवं गन्धर्वों से व्याप्त; विद्याधरों और किन्नरों से युक्त तथा देवता-रमणियों से सुशोभित स्वर्ग में कुछ भी सुस्थिर एवं उत्तम तत्त्व विद्यमान नहीं है ॥ २५ ॥

हे तात ! वृक्षों से सुशोभित राजा-महाराजाओं से युक्त; पर्वत, नगर एवं ब्रजभूमि से शोभायमान तथा जल समुद्र से युक्त भूतल में कुछ भी स्थायी और शोभन तत्त्व नहीं है ॥ २६ ॥

नागों का निवास असुरों के समूह तथा असुरों की स्त्रियों के समुदाय से परिव्याप्त समस्त उस पाताल लोक में भी कुछ स्थिर एवं सुखरूप पदार्थ नहीं है ॥ २७ ॥

स्वर्ग, देवलोक, पाताल एवं दसों दिशाओं से युक्त ऐसे इस सम्पूर्ण जगत् में कुछ भी स्थिर सुखरूप तात्त्विक पदार्थ नहीं है ॥ २८ ॥

आधि=मानसिकव्यथा एवं व्याधि से अत्यन्त चपल तथा दुःखसमूह से परिवेष्टित सर्वदा तुच्छ क्रियाजन्य फलों में कुछ भी स्थिर और कल्याणकारक नहीं है ॥२९॥

चित्त को तरल करने वाले तथा मन में आनन्द देने वाले ऐसे बुद्धि के विकारभूत मानसक्रियाजन्य फलों में कुछ भी स्थिर कल्याण नहीं है ॥ ३० ॥

मनरूपी क्षीर-सागर के मथन में मन्दराचल का आचरण करने वाले अपने सङ्कल्प, विकल्प आदि मानसिक व्यापारों में भी कुछ स्थायी कल्याण नहीं है ॥३१॥

निरन्तर उत्पन्न एवं विनष्ट होने वाली, अत्यन्त

अनारतागमापायपरास्वसिशिरास्वपि ।
चित्राकारासु चेष्टासु न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥ ३२ ॥
न वरमेकमहीतलराजता
न च वरं विबुधामररूपता ।
न च वरं धरणीतलनागता
स्थितिमुपैति हि यत्र सतां मनः ॥ ३३ ॥
न वरमाकुलशास्त्रविचारणं
न च वरं परकार्यविवेचनम् ।
न वरमग्र्यकथाक्रमवर्णनं
स्थितिमुपैति हि यत्र सतां मनः ॥ ३४ ॥
न वरमाधिमयं चिरजीवितं
न च वरं मरणं दृढमूढता ।
न च वरं नरको न च विष्टपं
स्थितिमुपैति हि न क्वचिदाशयः ॥ ३५ ॥

अद्भुत, तलवार की धार के समान इन्द्रिय आदि की चेष्टाओं में भी कुछ स्थिर सुख नहीं है ॥ ३२ ॥

सम्पूर्ण भू-मण्डल का एकच्छत्र सार्वभौम राजा होना श्रेष्ठ नहीं है; सबसे बड़े अभिज्ञ इन्द्र, बृहस्पति आदि देवता होना श्रेष्ठ नहीं है तथा पाताल में सम्पूर्ण पृथ्वी के धारण में समर्थ शेषनागरूप होना पाताल का अधिपति होना भी श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि जहाँ विवेकी पुरुषों का मन पूर्णकाम होकर विश्रान्ति पाता है, वैसा वहाँ कुछ भी तात्त्विक सुख नहीं है ॥ ३३ ॥

दुरूह और विस्तृत होने के कारण मन को व्यग्र बनाने वाली चौदह प्रकार की विद्याओं का विचार अर्थात् निष्कर्ष निकालने में समर्थतारूप पाण्डित्य भी श्रेष्ठ नहीं है, दूसरों के कार्यों का बुद्धिसौष्ठव से विचार कर विवेचन करने की सामर्थ्य भी श्रेष्ठ नहीं है तथा सर्वश्रेष्ठ महाभारत आदि के कथा-क्रमों का भली प्रकार वर्णन करने की सामर्थ्य भी श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि जहाँ विवेकी पुरुषों का मन पूर्ण काम होकर विश्रान्ति पाता है, वैसा वहाँ कुछ भी तात्त्विकरूप वस्तु नहीं है ॥ ३४ ॥

आधि-व्याधियों से प्रचुर चिरजीविता भी श्रेष्ठ नहीं है; समस्त व्याधियों का विनाशरूप मरण, अखिल दुःखों की निदान दृढ अज्ञात भी श्रेष्ठ नहीं है। नरक का परिणाम पुनः पाप-योनि में जन्म ही है, अतः नरक भी श्रेष्ठ नहीं है तथा सर्वभुवन का आधिपत्य भी श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि जहाँ विवेकी पुरुषों का मन पूर्णकाम होता है, वैसा वहाँ कुछ भी नहीं है ॥ ३५ ॥

इति विविधजगत्क्रमाः समस्ताः
खलु मतिमूढतया नरस्य रम्याः ।
चलतरकलनाहिते पदार्थे
कथमुपयान्ति चिरस्थितिं महान्तः ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने समाधानसङ्कल्पनिराकरणं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

उस प्रकार सम्पूर्ण विविध सृष्टियों के क्रम मनुष्य को बुद्धि में मूढता के कारण ही रम्य प्रतीत होते हैं। अर्थात् विवेकी पुरुषों के लिए इस प्रकार विचारित हुए ये सभी विविध सृष्टियों के क्रम तनिक भी रम्य प्रतीत नहीं होते इसलिए जो विचारपटु बड़े-बड़े सन्त हैं, वे अनित्यत्वबुद्धि से गृहीत पदार्थों में आत्यन्तिक विश्रान्ति को किस तरह प्राप्त होंगे ? ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में भुशुण्डोपाख्यान में समाधानसंकल्पनिराकरण नामक कुसुमलता का तेईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

२४

भुशुण्ड उवाच

एकैव केवला दृष्टिर्निरापाया गतभ्रमा ।
विद्यते सर्ववित्त्वेषु सर्वश्रेष्ठा समुन्नता ॥ १ ॥
आत्मचिन्ता समस्तानां दुःखानामन्तकारिणी ।
चिरसंभृतदुःस्वप्नसंसारभ्रमहारिणी ॥ २ ॥
निष्कलङ्कमनोमार्गविपुलाङ्गणचारिणी ।
तथा समस्तदुःखानां चिन्तानर्थविनाशिनी ॥ ३ ॥
ज्योत्स्नयेवाऽन्धकाराणामलमन्तः प्रजायते ।
सा स्वात्मचिन्ता भगवन्! सर्वसङ्कल्पवर्जिता ॥ ४ ॥
युष्मदादिषु सुप्रापा दुष्प्रापैवाऽस्मदादिषु ।
समस्तकलनातीतं परां कोटिमुपागतम् ।
पदमासादयन्त्येतत्कथं सामान्यबुद्धयः ॥ ५ ॥
आत्मचिन्ताविलासिन्यास्तस्याः सख्यो महामुने ! ।
किञ्चित्साम्यमुपायाता विज्ञानशशिशीतलाः ॥ ६ ॥
आत्मचिन्तासमानानां विविधानां मुनीश्वर ! ।
आत्मचिन्तावयस्यानां मध्यादेकतमा मया ॥ ७ ॥
सर्वदुःखक्षयकरी सर्वसौभाग्यवर्धिनी ।
कारणं जीवितस्येह प्राणचिन्ता समाश्रिता ॥ ८ ॥

२४

भुशुण्ड ने कहा—कभी नष्ट न होने वाली विभ्रमों से रहित एकमात्र आत्मदृष्टि ही समस्त ज्ञानों में सब अंशों में श्रेष्ठ और सबसे उन्नत है ॥ १ ॥

साक्षात्कारपर्यन्त आत्मा का विचार समस्त दुःखों का अन्त कर देने वाला तथा अनादिकाल से लेकर आज तक चले आ रहे काम कर्मजनित वासनाओं से परिपूर्ण, दुःस्वप्न के समान संसाररूपी भ्रम का विनाश करने वाला है ॥ २ ॥

आत्मविचार एकमात्र निर्मल मनोरूप मार्ग से प्राप्त होने वाले निरतिशय भूमानन्दरूपी प्राङ्गण में विहार करता है तथा उपस्थित अनेक दुःखों का एवं भावी दुःखों के संस्मरणों से जनित चिन्ता आदि अनर्थों का विनाश कर देता है ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! चन्द्रिका के समान आत्मचिन्ता से अज्ञानरूपी अन्धकार का, उसके संस्कार का उसके कार्यों के साथ, भली प्रकार विनाश हो जाता है वह सुन्दर आत्मचिन्ता समस्त सङ्कल्पों से रहित है ॥ ४ ॥

समस्त कल्पनाओं से परे और परम चरम सीमा को सामान्यबुद्धि यानी अविशुद्ध प्राकृत बुद्धिवाले प्राणी इस पद को, जो कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? अर्थात् आपके जैसे उत्तम पुरुषों में वह आत्मदृष्टि सुलभ है और हम लोगों के सदृश पामरों में वह दुर्लभ ही है ॥ ५ ॥

हे महामुने ! उस आत्मचिन्तारूपी विलासिनी की, कुछ समानता रखने वाली तथा विज्ञानरूपी चन्द्रमा से शीतल अनेक सखियाँ हैं ॥ ६ ॥

हे मुनीश्वर ! आत्म चिन्ता समान विविध आत्म चिन्ता की सखियों के बीच एक प्राण चिन्ता नामक समस्त दुःखों का विनाश करने वाली तथा समस्त सौभाग्यों को बढ़ाने वाली सखी का, मैंने आश्रयण लिया है; वही यहाँ मेरे जीवन की हेतु भी है ॥ ७–८ ॥ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्तवन्तं विहगं भुशुण्डं पुनरप्यहम् ।
जानन्नपीदमव्यग्रः पृष्टवान् क्रीडया मुनिम् ॥ ९ ॥
सर्वसंशयविच्छेदिन्नत्यन्तचिरजीवित ।
यथार्थं ब्रूहि मे साधो ! प्राणचिन्ता किमुच्यते ॥ १० ॥

भुशण्ड उवाच

सर्ववेदान्तवेत्ताऽसि सर्वसंशयनाशकः ।
मामेतत्परिहासार्थं मुने ! पृच्छसि वायसम् ॥ ११ ॥
अथवा भवतामेव भगवन् ! परिशिक्षितम् ।
पुनः प्रत्युत्तराणीदं का मे क्षतिरुपस्थिता ॥ १२ ॥
भुशुण्डजीवितकरं भुशुण्डस्वात्मलाभदम् ।
शृणु प्राणसमाधानं वक्ष्यमाणमिदं मया ॥ १३ ॥
पश्येदं भगवन् ! सर्वं देहगेहं मनोरमम् ।

महाराज वसिष्ठ ने कहा—इस प्रकार कहते हुए मननशील भुशुण्ड पक्षी से जानते हुए भी मैंने व्यग्र न होकर फिर कौतुकवश पूछा ॥ ९ ॥

हे समस्त संशयों को काटने वाले अत्यन्त दीर्घजीवी साधो ! तुम मुझ से यथार्थ रूप में कहो कि प्राण-चिन्ता किसे कहते हैं ? ॥ १० ॥

भुशुण्डने कहा—हे मुने ! आप समस्त वेदान्तों को जानते हैं, समस्त संशयों का विनाश भी करते हैं, तथापि केवल मेरे परिहास के लिए ही मुझ जैसे कौए से इस विषय का प्रश्न कर रहे हैं ॥ ११ ॥

अथवा हे भगवन् ! आपके सदृश पूज्यतम लोगों की सन्निधि में इसी प्राणदर्शन की विशेषरूप से शिक्षा ग्रहण करने के लिए यदि मैं आपके प्रश्न का फिर उत्तर दूँ, तो मेरी क्षति ही कौन-सी उपस्थित होगी ॥ १२ ॥

महाराज भुशुण्ड को चिरजीवी बनाने वाली तथा भुशुण्ड को स्वकीय आत्मा की प्राप्ति कराने वाली प्राण समाधि जो मेरे द्वारा देहरूपी घर के वर्णन-क्रम से आगे कही जायगी, आप श्रवण करें ॥ १३ ॥

हे भगवन् ! इस समस्त देहरूपी मनोहर घर को देखे इसमें वात, पित्त और कफ—ये त्रिविध दोष बड़े-बड़े विधारक खंभे लगे हुए हैं और यह नव द्वारों से भली भाँति आवृत है ॥ १४ ॥

यह पुर्यष्टकरूपी कलत्र से पुर्यष्टक-मात्रारूपी बन्धु-वर्गों से एवं अहङ्कार रूपी गृहस्थ से रहित है ॥ १५ ॥

उसमें सुन्दर दो कर्ण-विवरणरूपी दो चन्द्रशालाएँ

त्रिप्रकारमहास्थूणं नवद्वारसमावृतम् ॥ १४ ॥
पुर्यष्टककलत्रेण तन्मात्रस्वजनेन च ।
अहङ्कारगृहस्थेन सर्वतः परिपालितम् ॥ १५ ॥
अन्तः पश्यसि सत्कर्णशष्कुलीचन्द्रशालिकम् ।
शिरोरुहाच्छादनवद्विपुलाक्षिगवाक्षकम् ॥ १६ ॥
आस्यप्रधानसुद्वारं भुजपार्श्वोपमन्दिरम् ।
दन्तालिकेसरस्रग्भिर्भूषितद्वारकोटरम् ॥ १७ ॥
अनारतं रूपरसस्पर्शनद्वारपालवत् ।
सङ्कुलालोकवलितं तारालिन्दकृतस्थिति ॥ १८ ॥
रक्तमांसवसादिग्धं स्नायुसन्ततिवेष्टितम् ।
स्थूलास्थिकाष्ठसम्बद्धं सुकुड्यं सुसमाहितम् ॥ १९ ॥
इडा च पिङ्गला चाऽस्य देहस्य मुनिनायक ! ।
सुस्थिते कोमले मध्ये पार्श्वकोष्ठे निमीलिते ॥ २० ॥

शिरोगृह सबके ऊपर स्थित छोटे बँगले हैं, केश-समूह उसका आच्छादन है और दो चक्षु ही उसमें बड़े झरोखें हैं ॥ १६ ॥

उस देहरूपी घर का मुख ही सुन्दर प्रधान-द्वार है, दोनों हाथ एवं पार्श्वभाग उसके उप-मन्दिर हैं। उस घर के अगल-बगल में सम्बद्ध अंश और दाँतों की पंक्तिरूप बकुल-मालाओं से उसके प्रधान दरवाजे का विवर निरन्तर सुशोभित है ॥ १७ ॥

समस्त बाह्य विषयों का भीतर ज्ञान करानेवाली ज्ञानेन्द्रियाँ ही उसमें निरन्तर द्वारपाल का कार्य करती हैं। लिङ्ग देह के सम्बन्ध द्वारा सर्वत्र प्रसृत आत्मप्रकाश से वह व्याप्त है और वही आत्म-प्रकाश देह-गृह के कनीनिकारूपी आँखों की पुतलियाँरूपी दो ऊर्ध्वतम द्वार के समीप की कोठरियों में गृहपति के रूप में स्थित करता है ॥ १८ ॥

रक्त, मांस और वसारूपी जल, मृत्तिका एवं गोबर से वह उपलिप्त है, शिरारूपी रज्जु-समूह से वह बाँधा गया है, स्थूल हड्डियाँरूपी धरनें उसमें लगाई गई हैं और उसकी भित्तियाँ मजबूत हैं, वह अत्यन्त सुस्थिर है ॥ १९ ॥

इडा और पिङ्गला नाम की दो अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियाँ इस देहरूपी घर के बीच दाहिने और बायें भाग में अवस्थित कोष्ठ में रहती हैं। उनका किसी से भान नहीं होता है, केवल नासापुट में प्राणसञ्चार द्वारा अनुमान होता है ॥ २० ॥

पद्मयुग्मत्रयं यन्त्रमस्थिमांसमयं मृदु ।
ऊर्ध्वाधोनालमन्योन्यमिलत्कोमलसद्दलम् ॥ २१ ॥
सेकेन विकसत्पत्रं सकलाकाशचारिणा ।
चलन्ति तस्य पत्राणि मृदु व्याप्तानि वायुना ॥ २२ ॥
चलत्सु तेषु पत्रेषु स मरुत् परिवर्धते ।
वाताहते लतापत्रजाले बहिरिवाऽभितः ॥ २३ ॥
वृद्धिं नीतः स नाडीषु कृत्वा स्थानमनेकधा ।
ऊर्ध्वाधोवर्तमानासु देहेऽस्मिन् प्रसरत्यथ ॥ २४ ॥
प्राणापानसमानाद्यैस्ततः स हृदयानिलः ।
सङ्केतैः प्रोच्यते तज्ज्ञैर्विचित्राचारचेष्टितैः ॥ २५ ॥
हृत्पद्मयन्त्रत्रितये समस्ताः प्राणशक्तयः ।

उसमें यन्त्र के सदृश तीन कमल के जोड़े हैं, जो ग्स्थिमांसमय एवं अत्यन्त मृदु हैं। उनमें ऊपर और नीचे नों ओर से नाल-दण्ड हैं और वे संपुटित होकर एक रे से मिले हुए कोमल सुन्दर दलों से सुशोभित ॥ २१ ॥

नासिका के अग्रभाग से लेकर पैरतक समस्त शरीरा-काश में संचरण कर रहे चन्द्रनामक अपान-वायुरूप अमृत के सिंचन से उसके पत्ते विकसित होते हैं और प्राण-वायु के संचार से कुछ संकुचित भी होते हैं। इसलिए प्राण और अपान-वायु से व्याप्त उस हृदय-कमलयन्त्र के पत्ते प्रत्येक उच्छ्वास-निःश्वास में संकुचित एवं विकसित हुआ करते हैं ॥ २२ ॥

वायुओं से हृदय-कमल के पत्ते को संकुचित एवं विकसित होने पर चारों ओर के प्रसार से पुरीतत् में सम्बद्ध सभी नाडियों के छिद्रों में प्रविष्ट होकर वायु वैसे ही बढ़ता है, जैसे अरण्य में लता, पत्र आदि के वायु द्वारा आहत होने पर वह चारों ओर से बढ़ती है ॥ २३ ॥

वृद्धि को प्राप्त वह वायु हृदय, वायु, नाभि, कण्ठ एवं समस्त अङ्गों को अनेक तरह से अपना आश्रय बना-कर प्राण आदि पाँच संज्ञावाला होता हुआ ऊपर-नीचे विद्यमान बहत्तर नाडियों की प्रतिशाखा एक सौ एक नाडियों में प्रवेश कर इस शरीर में संचरण करता है ॥ २४ ॥

चित्र-विचित्र संचरण और चेष्टाओं के कारण उसी हृदय-वायु का उसके पण्डित लोग प्राण, अपान, समान आदि नामों से व्यवहार करते हैं ॥ २५ ॥

ऊर्ध्वाधः प्रसृता देहे चन्द्रबिम्बादिवांऽशवः ॥ २६ ॥
यान्त्यायान्ति विकर्षन्ति हरन्ति विहरन्ति च ।
उत्पतन्ति पतन्त्याशु ता एताः प्राणशक्तयः ॥ २७ ॥
स एष हृत्पद्मगतः प्राण इत्युच्यते बुधैः ।
अस्य काचिन्मुने ! शक्तिः प्रस्पन्दयति लोचने ॥ २८ ॥
काचित्स्पर्शमुपादत्ते काचिद्वहति नासया ।
काचिदन्नं जरयति काचिद्वक्ति वचांसि च ॥ २९ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन सर्वमेव शरीरके ।
करोति भगवान् वायुर्यन्त्रेहामिव यान्त्रिकः ॥ ३० ॥
तत्रोर्ध्वाधो द्विसङ्केतौ प्रसृतावनिलौ मुने ! ।
प्राणापानाविति ख्यातौ प्रकटौ द्वौ वरानिलौ ॥ ३१ ॥

जैसे चन्द्र-बिम्ब से किरण फैली है वैसे ही देहगत उन तीन हृदय-कमलयन्त्रों में प्राण की समस्त शक्तियाँ ऊपर और नीचे की ओर फैली हुई हैं ॥ २६ ॥

वे प्राणशक्तियाँ ही शीघ्र गति, आगति, विकर्षण, हरण, विहरण, उत्पतन एवं निपतन करती है। शरीर और अंशों में सर्वत्र अन्न-रस आदि की गति आदि का निर्वाह करती हैं ॥ २७ ॥

हे मुने ! हृदय कमल में स्थित यही वायु पण्डितों द्वारा प्राण कहा जाता है, इसकी कोई एक शक्ति नेत्रों को स्पन्दित करती है अर्थात् नेत्रों में निमेष-उन्मेष करती है। आशय यह है कि हृदय ही कमल उनका मुख्य स्थान है और प्राण ही उनमें मुख्य है, अपान आदि प्राण की ही विशेष वृत्तियाँ हैं, अतः प्राण ही विभिन्न शक्तियों से वृत्तियों द्वारा समस्त शरीर, इन्द्रिय आदि का व्यापार करता है ॥ २८ ॥

उसी की कोई एक शक्ति स्पर्श का ग्रहण करती है, कोई शक्ति नासिका द्वारा श्वासोच्छ्वास का निर्वहन करती है, कोई शक्ति अन्न का परिपाक करती है, कोई शक्ति वाक्यों का उच्चारण करती है ॥ २९ ॥

महाराज, इस विषय में अधिक कहने से क्या फल ? शरीर में जो कुछ यह क्रिया या व्यापार होता है, जैसे यन्त्रचालक प्रतिमादि यन्त्रों की नृत्यादि चेष्टा कराता है वैसे ही वह सब शक्तिसम्पन्न वायु ही कराता है ॥ ३० ॥

हे मुने ! उसमें ऊर्ध्वगमन और अधोगमन—दो प्रकार के सङ्केत वाले दो वायु प्रसृत हैं, दोनों वायु प्राण एवं अपान नाम से प्रसिद्ध, श्रेष्ठ एवं व्यक्त हैं ॥ ३१ ॥

तयोरनुसरन्नित्यं मुने ! गतिमहं स्थितः ।
शीतोष्णवपुषोर्नित्यं नित्यमम्बरपान्थयोः ॥ ३२ ॥
कलेवरमहायन्त्रवाह्योः श्रमहीनयोः ।
हृदाकाशार्कशशिनोस्त्वग्नीषोमस्वरूपयोः ॥ ३३ ॥
शरीरपुरपालस्य मनसो रथचक्रयोः ।
अहङ्कारनृपस्याऽस्य प्रशस्येष्टतुरङ्गयोः ॥ ३४ ॥
तयोर्ममाऽनुसरतः प्राणापानाभिधानयोः ।
गतिं शरीरमरुतोराशरीरमरुद्धयोः ॥ ३५ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु सदैव समरूपयोः ।
सुषुप्तसंस्थितस्येव ब्रह्मन् ! गच्छन्ति वासराः ॥ ३६ ॥
सहस्रविनिकृत्ताङ्गाद्बिसतन्तुलवादपि ।
दुर्लक्ष्या विद्यमानाऽपि गतिः सूक्ष्मतराऽनयोः ॥ ३७ ॥
अविरतगतयोर्गतिं विदित्वा
हृदि मरुतोरनुसृत्य चोदितां ताम् ।
न पुनरिह हि जायते महात्मन् !
मुदितमनाः पुरुषः प्रणष्टपाशः ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने प्राणविचारणं नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

हे मुने ! मैं उनकी गति का सदा अनुसरण करता हुआ स्थित रहता हूँ । उनका स्वरूप सदा शीतल और उष्ण है एवं वे दोनों निरन्तर आकाशमार्ग के पथिक हैं । संस्कृत व्याख्या का आशय व्यक्त करते हुए अच्युतग्रन्थ माला की टिप्पणी में कहा गया है कि आध्यात्मिक परिच्छिन्नता का परित्याग कर आधिदैविक सूत्रात्मस्वरूप ही मैं हूँ, इस प्रकार की भावना द्वारा आसङ्ग पाप से दूषित समस्त इन्द्रिय-व्रतों का परित्याग कर एकमात्र प्राणव्रत का आचरण करना ही प्राण और अपान की गति का अनुसरण है । वाक् आदि इन्द्रियों की जो वचन आदि अपने-अपने विषयों में व्यसनिता है, वही उनका व्रत है, ये आसङ्गरूपी पाप से दूषित हैं, अतः मृत्युरूप श्रम ने उन्हें नष्ट कर दिया । प्राण का व्रत मुख, नासिका आदि स्थानों में संचरण करना है, वह विषयासङ्ग दोष से दूषित न होने के कारण मृत्युरूपी श्रम से नष्ट नहीं होता । अकेला प्राण ही व्रत भङ्गशून्य और मृत्यु के आक्रमण से रहित है, इसलिए प्राणरूपता की भावना और उसके व्रतानुष्ठानरूप प्राण-चिन्तन से मैंने मृत्यु पर विजय पाई है, यह तात्पर्य है ॥ ३२ ॥

प्राण और अपान दोनों शरीररूपी महायन्त्र के दो घोड़े हैं, ये मृत्यु से रहित हैं, हृदयाकाश के सूर्य एवं चन्द्रमा हैं और उनका स्वरूप अग्नि एवं सोम के समान है ॥ ३३ ॥

शरीररूपी नगर के रक्षक मन के रथ के दोनों पहिये हैं और अहङ्कारूपी इस राजा के सुन्दर एवं इष्ट दोनों घोड़े हैं ॥ ३४ ॥

हे ब्रह्मन् ! जीवनपर्यन्त अविच्छिन्न उपासित तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में सदा समानरूप, अधिक अभ्यास के कारण बाहर और भीतर बारह या सोलह अङ्गुलप्रदेशमात्र परिमित संचरणवाले उन प्राण और अपान नामक शरीर-वायुओं की गति का अनुसरण कर रहे मेरे दिन, सुषुप्ति अवस्था में अवस्थित की नाईं, व्यतीत हो रहे हैं ॥ ३५-३६ ॥

एक हजार अंशों में विभक्त बिसतन्तु के लवमात्र की अपेक्षा भी अत्यन्त दुर्लक्ष्य ये नाडियाँ हैं, अतः उनमें विद्यमान भी इन प्राण और अपान दोनों वायुओं की गति दुर्बोध है ॥ ३७ ॥

हे महात्मन् ! हृदय आदि स्थानों में निरन्तर संचरण शील प्राण और अपान वायुओं की—अनेक श्रुतियों में तत्-तत् प्राणोपासना-प्रकरण में अनेक तरह से विहित निर्दोषत्व, श्रमरहित्व, अभग्नव्रतत्व, संवर्ग आदि अनेक गुणविशिष्ट गति का—अनुसरण कर पुरुष मृत्युरूपी फन्दों से छुटकारा पाता हुआ तत्त्वज्ञान से जीवन्मुक्त होकर पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता । 'हि' शब्द से निष्काम बुद्धि से अनुष्ठित प्राण आदि की उपासना भी ज्ञान द्वारा मुक्ति की हेतु है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में भुशुण्डोपाख्यान में प्राणविचारण नामक कुसुमलता का चौबीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २४ ॥

२५

वसिष्ठ उवाच

इत्थं स कथयन् पक्षी पृष्टस्तत्र पुनर्मया ।
कीदृशी प्राणवातस्य गतिरित्येव राघव ! ॥ १ ॥

भुशुण्ड उवाच

जानन्नपि मुने ! सर्वं किं मां पृच्छसि लीलया ।
यथापृष्टमहं वच्मि श्रृणु तत्राऽपि मद्वचः ॥ २ ॥
प्राणोऽयमनिशं ब्रह्मन् ! स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे प्राणोऽयमुपरि स्थितः ॥ ३ ॥
अपानोऽप्यनिशं ब्रह्मन् ! स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे त्वपानोऽयमवाक्स्थितः ॥ ४ ॥
जाग्रतः स्वपतश्चैव प्राणायामोऽयमुत्तमः ।
प्रवर्तते यतस्तज्ज्ञ तत्तावच्छ्रेयसे श्रृणु ॥ ५ ॥
बाह्योन्मुखत्वं प्राणानां यद्धृदम्बुजकोटरात् ।
स्वरसेनाऽस्तयत्नानां तं धीरा रेचकं विदुः ॥ ६ ॥
द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं बाह्यमाक्रमतामधः ।
प्राणानामङ्गसंस्पर्शो यः स पूरक उच्यते ॥ ७ ॥
बाह्यात् परापतत्यन्तरपाने यत्नवर्जितः ।
योऽयं प्रपूरणः स्पर्शो विदुस्तमपि पूरकम् ॥ ८ ॥
अपानेऽस्तं गते प्राणो यावन्नाऽभ्युदितो हृदि ।
तावत् सा कुम्भकावस्था योगिभिर्याऽनुभूयते ॥ ९ ॥
रेचकः कुम्भकश्चैव पूरकश्च त्रिधा स्थितः ।
अपानस्योदयस्थाने द्वादशान्तादधो बहिः ॥ १० ॥
स्वभावाः सर्वकालस्थाः सम्यग्यत्नविवर्जिताः ।
ये प्रोक्ताः स्फारमतिभिस्तांञ्छृणु त्वं महामते ! ॥११॥

२५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे राघव ! इस प्रकार पक्षी कह ही रहा था कि उस विषय में मैंने उससे फिर यह प्रश्न किया—हे पक्षीन्द्र ! प्राणवायु की गति का स्वरूप क्या है ॥ १ ॥

भुशुण्ड ने कहा—हे मुने ! सब कुछ जानते हुए भी आप मुझ से लीलावश पूछते हैं, यह मैं अनुमान करता हूँ। अच्छा, अपने जिस तरह प्रश्न किया है, उसका उत्तर मैं वैसे ही देता हूँ, उस विषय में भी मेरे वचनों का श्रवण करें ॥ २ ॥

हे ब्रह्मन् ! इस प्राण में स्पन्दन-शक्ति तथा निरन्तर गतिक्रिया रहती है। इस प्रकार स्पन्द-शक्ति और सदागति यह प्राण बाह्य एवं अनन्तर सर्वाङ्गों से परिपूर्ण देह में ऊपर के स्थान में निरन्तर स्थित रहता है ॥ ३ ॥

हे ब्रह्मन् ! इस अपानवायु में भी निरन्तर स्पन्दशक्ति तथा सततगति रहती है। यह अपानवायु भी बाह्य एवं आन्तर समस्त अङ्गों से परिपूर्ण शरीर में नीचे के स्थान में निरन्तर अवस्थित रहता ॥ ४ ॥

हे प्राणायाम के तत्त्वज्ञ ! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से युक्त पुरुषों को यह कल्याण के लिए उत्तम साधनभूत प्राणायाम विना आयास के प्रवृत्त होता रहता है, अतः उसे आप सुनें ॥ ५ ॥

विद्वान् लोग किसी प्रकार के परिश्रम बिना प्राणों के हृदय कमल के कोश से होनेवाली स्वभावतः बहिर्मुखता को रेचक कहते हैं ॥ ६ ॥

बारह अङ्गुलपर्यन्त बाह्य प्रदेश की ओर नीचे जा रहे प्राणवृत्तियों के शरीर के अङ्गों के साथ स्पर्श को पूरक कहते हैं ॥ ७ ॥

बाह्य प्रदेश से शरीर के भीतर की ओर अपान के प्रवेश करने पर यत्न के बिना शरीर की पूर्ति करनेवाला इस नासिका से लेकर मूर्धा तक और मूर्धा से लेकर हृदय तक होनेवाले दोनों प्रकार के भी स्पर्शों को विद्वान् लोग पूरक अन्तःपूरक कहते हैं ॥ ८ ॥

महाराज, अपान वायु के प्रशान्त हो जाने पर जब तक हृदय में प्राण वायु का अभ्युदय नहीं होने तक वायु की कुम्भकावस्था = निश्चलस्थिति रहती है, इसका योगी लोग अनुभव करते हैं, इस अवस्था में शरीर के भीतर वायु कुम्भित रहता है ॥ ९ ॥

नासिका के अग्रभाग से लेकर बारह अङ्गुलपर्यन्त नीचे अपानवायु की उत्पत्ति-स्थल में रेचक, कुम्भक और पूरक—यों तीन प्रकार का प्राणायाम होता है ॥ १० ॥

हे महामते ! जाग्रत् आदि सभी समयों में स्थित रहने वाले तथा किसी प्रकार के यत्न के बिना स्वतः होने वाले विशालबुद्धि विद्वानों के द्वारा कथित रेचक आदि को उन्हें आप सुनें ॥ ११ ॥

द्वादशाङ्गुलपर्यन्ताद्बाह्यादभ्युदितः प्रभो ! ।
यो वातस्तस्य तत्रैव स्वभावात् पूरकादयः ॥ १२ ॥
मृदन्तरस्थानिष्पन्नघटवद्या स्थितिर्बहिः ।
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रसमसम्मुखे ।
व्योम्नि नित्यमपानस्य तं विदुः कुम्भकं बुधाः ॥ १३ ॥
बाह्योन्मुखस्य वायोर्या नासिकाग्रावधिर्गतिः ।
तं बाह्यपूरकं त्वाद्यं विदुर्योगविदो जनाः ॥ १४ ॥
नासाग्रादपि निर्गत्य द्वादशान्तावधिर्गतिः ।
या वायोस्तं विदुर्धीरा अपरं बाह्यपूरकम् ॥ १५ ॥
बहिरस्तं गते प्राणे यावन्नाऽपान उद्गतः ।
तावत् पूर्णं समावस्थं बहिष्ठं कुम्भकं विदुः ॥ १६ ॥
यत्तदन्तर्मुखत्वं स्यादपानस्योदयं विना ।
तं बाह्यरेचकं विद्याच्चिन्त्यमानं विमुक्तिदम् ॥ १७ ॥
द्वादशान्ताद्यदुत्थाय रूपपीवरता परा ।

हे प्रभो ! नासिका के अग्रभाग से बाहर के प्रदेशों में अङ्गुल तक अभिमुख होकर स्थित वायु की बाह्य प्रदेशों में बाह्य पूरक आदि के रूप में स्वभावतः भावना करनी चाहिए ॥ १२ ॥

मृत्तिका के अन्दर असिद्ध घट की स्थिति के समान बाहर नासिका के अग्रभाग से लेकर बराबर सामने बारह अङ्गुलपर्यन्त आकाश में अपानवायु की निरन्तर स्थिति को पण्डित लोग कुम्भक कहते हैं ॥ १३ ॥

बाह्योन्मुख वायु की नासिकाग्रपर्यन्त गति पहला बाह्यपूरक है, इस प्रकार योगशास्त्र के ज्ञाता लोग कहते हैं ॥ १४ ॥

नासिका के अग्रभाग से भी निकलकर बारह अङ्गुल-पर्यन्त प्राण-वायु की गति दूसरा बाह्यपूरक है, इस प्रकार योगशास्त्र के विद्वान् कहते हैं ॥ १५ ॥

बाहर प्राण-वायु के अस्तंगत होने पर अपान-वायु का उद्गम नहीं होने तक एकरूप से अवस्थित पूर्ण बाह्य कुम्भक रहता है, यह विद्वानों का कथन है ॥ १६ ॥

अपान-वायु के प्रस्पन्द के बिना वायु की प्रस्पन्दोन्मुखता बाह्य रेचक है, यह जानना चाहिए। उपासित वह उपासक को मुक्ति प्रदान करता है ॥ १७ ॥

बाहर के बारह अङ्गुल के अन्तिम भाग से नासिका के अग्रभाग तक अपान-वायु की संचार द्वारा स्वरूपाभिव्यक्ति से प्राप्त विशाल स्थूलता दूसरा बाह्यपूरक है इस प्रकार विद्वान् लोग कहते हैं ॥ १८ ॥

प्राण और अपानवायु के स्वभावभूत बाह्य और

अपानस्य बहिष्ठं तमपरं पूरकं विदुः ॥ १८ ॥
बाह्यानाभ्यन्तरांश्चैतान् कुम्भकादीननारतम् ।
प्राणापानस्वभावांस्तान् बुद्ध्वा भूयो न जायते॥ १९ ॥
अष्टावेते महाबुद्धे ! रात्रिंदिवमनुस्मृताः ।
स्वभावा देहवायूनां कथिता मुक्तिदा मया ॥ २० ॥
गच्छतस्तिष्ठतो वाऽपि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
एते निरोधमायान्ति प्रकृत्याऽतिचलानिलाः ॥ २१ ॥
यत्करोति यदश्नाति बुद्ध्यैवाऽलमनुस्मरन् ।
कुम्भकादीन्नरः स्वान्तस्तत्र कर्ता न किञ्चन ॥ २२ ॥
अव्यग्रमस्मिन् व्यापारे बाह्यं परिजहन्मनः ।
दिनैः कतिपयैरेव पदमाप्नोति केवलम् ॥ २३ ॥
एतदभ्यसतः पुंसो बाह्ये विषयवृत्तिषु ।
न बध्नाति रतिं चेतः श्वदृतौ ब्राह्मणो यथा ॥ २४ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य ये स्थिताः कृतबुद्धयः ।
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं तैरखिन्नास्त एव हि ॥ २५ ॥

आभ्यन्तर कुम्भकादि प्राणायाम का निरन्तर भली प्रकार उपासना करने वाला अर्थात् ज्ञान करने वाला पुरुष पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता है ॥ १९ ॥

हे महाबुद्धे ! देहवायु के स्वभावभूत बाह्य एवं आन्तर रेचक आदि के भेद से आठ प्रकार के प्राणायाम हैं, उनका रात-दिन निरन्तर अनुध्यान करने से पुरुष की अवश्य मुक्ति हो जाती है ॥ २० ॥

जाते या स्थित रहते, जागते या सोते—सभी अवस्थाओं में अभ्यास करने पर स्वभावतः अतिचपल ये वायु समय आने पर निरुद्ध भी हो जाते हैं ॥ २१ ॥

मनुष्य अपने भीतर बुद्धि से पर्याप्तरूप में इन कुम्भक आदि प्राणायामों का ध्यान कर यदि कुछ करता है या खाता है, तो उनमें वह कर्तृत्व आदि के अभिमान से तनिक भी कर्तृत्व को प्राप्त नहीं करता है ॥ २२ ॥

इस प्राणचिन्तनरूप व्यापार में संलग्न हो बाह्य अर्थों का परित्याग कर मन कुछ ही दिनों में अद्वितीय परम पद को प्राप्त कर लेता है ॥ २३ ॥

जैसे ब्राह्मण कुत्ते के चमड़े की भाथी में स्थित क्षीर आदि में प्रेम नहीं करता, वैसे ही इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यासशील पुरुष का मन विषयाकारवृत्तियों के होने पर भी बाह्य विषयों में प्रेम नहीं करता ॥ २४ ॥

इस प्राण-दृष्टि का अवलम्बन कर कृतबुद्धि महात्मा स्थित हैं, वे समस्त प्राप्तव्य वस्तुओं को प्राप्त कर लेते हैं और वे ही समस्त खेदों से विनिर्मुक्त हैं ॥ २५ ॥

तिष्ठता गच्छता नित्यं स्वपता जाग्रता तथा ।
एषा चेत्प्रेक्ष्यते दृष्टिस्तन्न बन्धनमाप्यते ॥ २६ ॥

प्राणापानानुसरणप्राप्तबोधवतामलम् ।
संशान्तमलमोहेन स्वस्थेनाऽन्तरिहोष्यते ॥ २७ ॥

सर्वारम्भान्सदा स्वच्छः कुर्वन्वाऽपि बुधो जनः ।
प्राणापानगतिं प्राप्य सुस्वस्थः सुखमेधते ॥ २८ ॥

प्राणस्याऽभ्युदयो ब्रह्मन् ! पद्मपत्राद्धृदि स्थितात् ।
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते प्राणोऽस्तं यात्ययं बहिः ॥ २९ ॥

अपानस्योदयो बाह्याद् द्वादशान्तान् महामुने ! ।
अस्तं गतिरथाऽम्भोजमध्ये हृदयसंस्थिते ॥ ३० ॥

प्राणो यत्र समायाति द्वादशान्ते नभःपदे ।
पदात्तस्मादपानोऽयं खादेति समनन्तरम् ॥ ३१ ॥

बाह्याकाशोन्मुखः प्राणो वहत्यग्निशिखा यथा ।
हृदाकाशोन्मुखोऽपानो निम्ने वहति वारिवत् ॥ ३२ ॥

स्थित रहते, गमन करते, सोते और जागते—सदा-सर्वदा पुरुष यदि इसी दृष्टि की उपासना करें, तो वे कभी बन्धन को प्राप्त नहीं करते हैं ।। २६ ।।

प्राण और अपान की उपासना द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञान से सम्पन्न पुरुषों का मन, मलरूप मोह से वर्जित एवं स्वस्थ रहता है, और इस भीतरी प्रत्यगात्मा में ही भली प्रकार लगा रहता है ।। २७ ।।

समस्त कर्मों का निरन्तर अनुष्ठान करने वाला स्वच्छ चित्त विज्ञ पुरुष प्राणापान की गति को प्राप्त कर, उत्तम स्वस्थ होकर सुख प्राप्त करता है ।। २८ ।।

हे ब्रह्मन् ! हृदय-प्रदेश में स्थिति पद्म-पत्र से प्राण का अभ्युदय होता है और बाहर द्वादशाङ्गुलपर्यन्त प्रदेश में इस प्राण का विनाश हो जाता है ।। २९ ।।

हे महामुने ! बाह्य बारह अङ्गुल की चरम सीमा से अपान का उदय होता है और हृदय-प्रवेश में संस्थित कमल में उसकी गति अस्त हो जाती है ।। ३० ।।

जिस बारह अङ्गुल की चरम सीमा के आकाश-प्रदेश में प्राण की समाप्ति हो जाती है, उसी आकाश-प्रदेश से यह अपान उसी के बाद उत्पन्न हो जाता है ।। ३१ ।।

यह प्राण-वायु अग्निशिखा के समान बाह्य आकाशोन्मुख होकर बहता है और अपान-वायु जल के सदृश हृदयाकाशोन्मुख होकर निम्न भाग में बहता है ।। ३२ ।।

अपानश्चन्द्रमा देहमाप्याययति बाह्यतः ।
प्राणः सूर्योऽग्निरथवा पचत्यन्तरिदं वपुः ॥ ३३ ॥

प्राणो हि हृदयाकाशं तापयित्वा प्रतिक्षणम् ।
मुखाग्रगगनं पश्चात्तापयत्युत्तमो रविः ॥ ३४ ॥

अपानेन्दुर्मुखाग्रं तु प्लावयित्वा हृदम्बरम् ।
पश्चादाप्याययत्येष निमेषसमनन्तरम् ॥ ३५ ॥

अपानशशिनोऽन्तःस्था कला प्राणविवस्वता ।
यत्र ग्रस्ता तदासाद्य पदं भूयो न शोच्यते ॥ ३६ ॥

प्राणार्कस्य तथाऽन्तःस्था यत्राऽपानसितांशुना ।
ग्रस्ता तत्पदमासाद्य न भूयो जन्मभाङ्नरः ॥ ३७ ॥

प्राण एवाऽर्कतां याति सबाह्यभ्यन्तरेऽम्बरे ।
आप्यायनकरीं पश्चाच्छशितामधितिष्ठति ॥ ३८ ॥

प्राण एवेन्दुतां त्यक्त्वा शरीराप्यायकारिणीम् ।
क्षणादायाति सूर्यत्वं संशोषणकरं पदम् ॥ ३९ ॥

चन्द्रमारूप अपान-वायु शरीर को बाहर से पुष्ट करता है और सूर्यरूप या अग्निरूप प्राण-वायु इस शरीर को भीतर से परिपक्व कर देता है ।। ३३ ।।

प्राण-वायु प्रतिक्षण हृदयाकाश को संतप्त कर पश्चात् मुखाग्रभाग के आकाश को तपाता है, यह उत्तम सूर्य ही है ।। ३४ ।।

अपान-वायु स्वरूप यह चन्द्रमा पहले मुख के अग्रभाग को पुष्टकर उसके क्षणभर पीछे हृदयाकाश का अपने अमृत-प्रवाह से पोषण करता है ।। ३५ ।।

अपान रूप चन्द्रमा के भीतर की एक कला का प्राण रूपी सूर्य के साथ जिस ब्रह्मरूप प्रदेश में सम्बन्ध हुआ है, उस ब्रह्म पद को प्राप्त कर पुरुष पुनः शोक को नहीं प्राप्त करता है ।। ३६ ।।

प्राणरूपी सूर्य की भीतरी एक कला का अपानरूपी चन्द्रमा के साथ जिस पद में सम्बन्ध होता है, उस पद को प्राप्त कर मनुष्य पुनः जन्म प्राप्त नहीं करता है ।। ३७ ।।

एकमात्र प्राण-वायु ही बाहर एवं भीतर से युक्त आकाश में पहले सूर्य स्वरूप को प्राप्त करता है और अनन्तर आनन्दकारिणी चन्द्रस्वरूपता को प्राप्त करता है ।। ३८ ।।

एकमात्र प्राण-वायु ही शरीर को आनन्द पहुँचानेवाली चन्द्रस्वरूपता का परित्याग कर क्षणभर में शोषण करने वाली सूर्यस्वरूपता को प्राप्त करता है ।। ३९ ।।

तिष्ठता गच्छता नित्यं स्वपता जाग्रता तथा ।
एषा चेत्प्रेक्ष्यते दृष्टिस्तन्न बन्धनमाप्यते ॥ २६ ॥

प्राणापानानुसरणप्राप्तबोधवतामलम् ।
संशान्तमलमोहेन स्वस्थेनाऽन्तरिहोष्यते ॥ २७ ॥

सर्वारम्भान्सदा स्वच्छः कुर्वन्वाऽपि बुधो जनः ।
प्राणापानगतिं प्राप्य सुस्वस्थः सुखमेधते ॥ २८ ॥

प्राणस्याऽभ्युदयो ब्रह्मन् ! पद्मपत्राद्धृदि स्थितात् ।
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते प्राणोऽस्तं यात्ययं बहिः ॥ २९ ॥

अपानस्योदयो बाह्याद् द्वादशान्तान् महामुने ! ।
अस्तं गतिरथाऽम्भोजमध्ये हृदयसंस्थिते ॥ ३० ॥

प्राणो यत्र समायाति द्वादशान्ते नभःपदे ।
पदात्तस्मादपानोऽयं खादेति समनन्तरम् ॥ ३१ ॥

बाह्याकाशोन्मुखः प्राणो वहत्यग्निशिखा यथा ।
हृदाकाशोन्मुखोऽपानो निम्ने वहति वारिवत् ॥ ३२ ॥

स्थित रहते, गमन करते, सोते और जागते—सदा-सर्वदा पुरुष यदि इसी दृष्टि की उपासना करें, तो वे कभी बन्धन को प्राप्त नहीं करते हैं ॥ २६ ॥

प्राण और अपान की उपासना द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञान से सम्पन्न पुरुषों का मन, मलरूप मोह से वर्जित एवं स्वस्थ रहता है, और इस भीतरी प्रत्यगात्मा में ही भली प्रकार लगा रहता है ॥ २७ ॥

समस्त कर्मों का निरन्तर अनुष्ठान करने वाला स्वच्छ चित्त विज्ञ पुरुष प्राणापान की गति को प्राप्त कर, उत्तम स्वस्थ होकर सुख प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

हे ब्रह्मन् ! हृदय-प्रदेश में स्थिति पद्म-पत्र से प्राण का अभ्युदय होता है और बाहर द्वादशाङ्गुलपर्यन्त प्रदेश में इस प्राण का विनाश हो जाता है ॥ २९ ॥

हे महामुने ! बाह्य बारह अङ्गुल की चरम सीमा से अपान का उदय होता है और हृदय-प्रवेश में संस्थित कमल में उसकी गति अस्त हो जाती है ॥ ३० ॥

जिस बारह अङ्गुल की चरम सीमा के आकाश-प्रदेश में प्राण की समाप्ति हो जाती है, उसी आकाश-प्रदेश से यह अपान उसी के बाद उत्पन्न हो जाता है ॥ ३१ ॥

यह प्राण-वायु अग्निशिखा के समान बाह्य आकाशोन्मुख होकर बहता है और अपान-वायु जल के सदृश हृदयाकाशोन्मुख होकर निम्न भाग में बहता है ॥ ३२ ॥

अपानश्चन्द्रमा देहमाप्याययति बाह्यतः ।
प्राणः सूर्योऽग्निरथवा पचत्यन्तरिदं वपुः ॥ ३३ ॥

प्राणो हि हृदयाकाशं तापयित्वा प्रतिक्षणम् ।
मुखाग्रगगनं पश्चात्तापयत्युत्तमो रविः ॥ ३४ ॥

अपानेन्दुर्मुखाग्रं तु प्लावयित्वा हृदम्बरम् ।
पश्चादाप्याययत्येष निमेषसमनन्तरम् ॥ ३५ ॥

अपानशशिनोऽन्तःस्था कला प्राणविवस्वता ।
यत्र ग्रस्ता तदासाद्य पदं भूयो न शोच्यते ॥ ३६ ॥

प्राणार्कस्य तथाऽन्तःस्था यत्राऽपानसितांशुना ।
ग्रस्ता तत्पदमासाद्य न भूयो जन्मभाङ्नरः ॥ ३७ ॥

प्राण एवाऽर्कतां याति सबाह्याभ्यन्तरेऽम्बरे ।
आप्यायनकरीं पश्चाच्छशितामधितिष्ठति ॥ ३८ ॥

प्राण एवेन्दुतां त्यक्त्वा शरीराप्यायकारिणीम् ।
क्षणादायाति सूर्यत्वं संशोषणकरं पदम् ॥ ३९ ॥

चन्द्रमारूप अपान-वायु शरीर को बाहर से पुष्ट करता है और सूर्यरूप या अग्निरूप प्राण-वायु इस शरीर को भीतर से परिपक्व कर देता है ॥ ३३ ॥

प्राण-वायु प्रतिक्षण हृदयाकाश को संतप्त कर पश्चात् मुखाग्रभाग के आकाश को तपाता है, यह उत्तम सूर्य ही है ॥ ३४ ॥

अपान-वायु स्वरूप यह चन्द्रमा पहले मुख के अग्रभाग को पुष्टकर उसके क्षणभर पीछे हृदयाकाश का अपने अमृत-प्रवाह से पोषण करता है ॥ ३५ ॥

अपान रूप चन्द्रमा के भीतर की एक कला का प्राण रूपी सूर्य के साथ जिस ब्रह्मरूप प्रदेश में सम्बन्ध हुआ है, उस ब्रह्म पद को प्राप्त कर पुरुष पुनः शोक को नहीं प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

प्राणरूपी सूर्य की भीतरी एक कला का अपानरूपी चन्द्रमा के साथ जिस पद में सम्बन्ध होता है, उस पद को प्राप्त कर मनुष्य पुनः जन्म प्राप्त नहीं करता है ॥ ३७ ॥

एकमात्र प्राण-वायु ही बाहर एवं भीतर से युक्त आकाश में पहले सूर्य स्वरूप को प्राप्त करता है और अनन्तर आनन्दकारिणी चन्द्रस्वरूपता को प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥

एकमात्र प्राण-वायु ही शरीर को आनन्द पहुँचानेवाली चन्द्रस्वरूपता का परित्याग कर क्षणभर में शोषण करने वाली सूर्यस्वरूपता को प्राप्त करता है ॥ ३९ ॥

अर्कतां संपरित्यज्य न यावच्चन्द्रतां गतः ।
प्राणस्तावद्विचार्यन्तेऽदेशकाले न शोच्यते ॥ ४० ॥
हृदि चन्द्रार्कयोर्ज्ञात्वा नित्यमस्तमयोदयम् ।
आत्मनो निजमाधारं न भूयो जायते मनः ॥ ४१ ॥
सोदयास्तमयं सेन्दुं सरश्मिं सगमागमम् ।
हृदये भास्करं देवं यः पश्यति स पश्यति ॥ ४२ ॥
न क्षीणं नाऽपरिक्षीणं बहिष्ठं सिद्धये तमः ।
हार्दं तु क्षपयेद्ध्वान्तं यत्क्षये सिद्धिरुत्तमा ॥ ४३ ॥

जबतक बाह्य-प्रदेश में बारह अङ्गुलपर्यन्त प्रसृत प्राण-वायु अर्कता अर्थात् उष्णता का परित्याग कर चन्द्रता=शीतलता को प्राप्त नहीं करता है, तबतक वह प्राण और अपान की सन्धि-अवस्था रहती है। उस अवस्था में देह के बाहर प्राण का विलय हो जाने से निर्देहत्व, निष्क्रियत्व, निर्मनस्त्व आदि आत्मा के वास्तव स्वभावों की संभावना हो सकती है, अत: उनका वहाँ पर योगी लोग विचार करते हैं। बाह्य कुम्भक में देहादि देश का परिच्छेद एवं चन्द्र-सूर्यात्मक प्राण-अपान-क्रियाप्रयुक्त आयुरूप काल का परिच्छेद न होने के कारण देश-काल-शून्य स्वात्मस्वरूप पद में प्रतिष्ठित हुआ द्रष्टा योगी कभी शोक नहीं करता इसी विषय की सूचना पतञ्जलि ने "तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" इस सूत्र के द्वारा दी है॥ ४० ॥

हृदय में प्राणरूप सूर्य एवं अपानरूप चन्द्र की तत्-तत् व्यान आदि वृत्ति-विशेषों का परिज्ञानकर तथा मन के अधिष्ठानभूत परमात्मा का ज्ञानकर मन फिर उत्पन्न नहीं होता अर्थात् अन्तःकुम्भक में भी हृदयगत प्राण और अपान की सन्धि में प्रतिष्ठित हुए मन में अपने अधिष्ठानाभूत परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार अवश्यंभावी होने से जन्म आदि की प्रसक्ति नहीं होती है ॥ ४१ ॥

उदय, अस्त, चन्द्रमा, रश्मियाँ, गमागम—इन सबसे युक्त हृदयाकाश में स्थित प्राणरूप सूर्यदेव का तात्त्विक रूप से दर्शन करनेवाला ही असली तत्त्व जानता है अर्थात् हृदयस्थ अपनी आत्मा ही प्राणात्मक सूर्य है, वही अपानात्मक चन्द्ररूप होकर उदय, अस्तमय और उनकी रश्मिभूत व्यानादि वृत्ति-विशेषों से विवृत होता है, इसलिए उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इस प्रकार की उपासना ही आत्म-साक्षात्कार में कारण है ॥ ४२ ॥

यद्यपि हृदयस्थित आत्म-साक्षात्काररूप प्रकाश मोक्ष की सिद्धि के लिए बाह्यतम का न विनाश करता है न उसकी रक्षा ही करता है, तथापि हृदयगत अज्ञानरूप अन्धकार का तो विनाश करता ही है, उसी का विनाश होने पर उत्तम मोक्षरूपा सिद्धि प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि बाह्य अन्धकार की कल्पना के भी हृदयगत अन्धकार से ही जनित होने के कारण उसके हेतुभूत हार्दान्धकार के विनाश से बाह्यान्धकार का विनाश अर्थतः सिद्ध हो जाता है। बाह्य अन्धकार से बाहर ही अपरिच्छिन्न आत्मा के आवृत होने के कारण बाह्यान्धकार के विनाश के लिए बाह्यज्योति की अन्वेषणा नहीं करनी चाहिए ॥ ४३ ॥

बाह्य प्रकाश के द्वारा हुआ बाह्य अन्धकार का विनाश एकमात्र रूप आदि के दर्शन में ही कारण है, बाहर आत्म-दर्शन में कारण नहीं, इस आशय से कहते हैं—'बाह्ये' इत्यादि से।

बाह्ये तमसि संक्षीणे लोकालोकः प्रजायते ।
हार्दे तु तमसि क्षीणे स्वालोको जायते मुने ! ॥ ४४ ॥
हार्दान्धकारक्षयदं परिज्ञातं विमुक्तिदम् ।
सोदयास्तमयं यत्नात् प्राणार्कमवलोकयेत् ॥ ४५ ॥
अपानेन्दुः प्रयात्यस्तं यत्र हृत्पद्मकोटरे ।
पदात्तस्मादुदेत्यन्तः प्राणार्को बहिरुन्मुखः ॥ ४६ ॥
अपानेऽस्तं गते प्राणः समुदेति हृदम्बुजात् ।
छायायां गलिताङ्गायां तत्रैवाऽऽशु यथाऽऽतपः ॥ ४७ ॥

हे मुने ! बाह्य अन्धकार के नष्ट हो जाने पर घटादिगत रूप आदि का प्रत्यक्ष होता है और हृदयगत अन्धकार के नष्ट हो जानेपर आत्मा का प्रत्यक्ष होता है ॥ ४४ ॥

प्राणरूपी सूर्य का प्रयत्नपूर्वक अवलोकन करना चाहिए, यही हृदयगत अज्ञानान्धकार का विनाश करता है, और परितः ज्ञात उत्तम मुक्ति प्रदान करता है और इसका उदय एवं अस्त भी होता है अर्थात् अज्ञानियों की दृष्टि में इसका अस्त है तथा ज्ञानियों की दृष्टि में उदय है ॥ ४५ ॥

हृदय-कमलरूपी कोटर में अपान-वायुरूप चन्द्रमा अस्त हो जानेपर उस हृदय-कमल रूप कोटर से बाह्योन्मुख प्राणरूपी सूर्य का अपने भीतर उदय होता है ॥ ४६ ॥

जैसे निशारूप छाया का विनाश हो जाने पर वहाँ सौरालोक का उदय होता है। वैसे ही अपान-वायु का अस्त हो जाने पर हृदय-कमल से प्राण का वहाँ शीघ्र उदय हो जाता है ॥ ४७ ॥

पुष्पस्याऽन्तरिवाऽऽमोदः प्राणस्याऽन्तरवस्थितम् ।
न सप्राणं न वाऽपानं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ६१ ॥
जलस्याऽन्तरिवाऽऽस्वादमपानस्याऽन्तरस्थितम् ।
न सप्राणं न वाऽप्राणं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ६२ ॥
प्राणक्षयस्योपान्तस्थमपानक्षयकोटिगम् ।
अपानप्राणयोर्मध्यं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ६३ ॥
प्राणस्य प्राणनं प्रोच्चैः परं जीवस्य जीवनम् ।
देहस्य धारणं धुर्यं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ६४ ॥
मनसो मननं सत्यं बुद्धेरेकावबोधनम् ।
अहङ्कृतेरहङ्कारं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ६५ ॥
यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
यच्च सर्वमयं नित्यं तच्चिवत्तत्त्वमुपास्महे ॥ ६६ ॥

का अवभासक प्रकाश है और इसी को प्राप्त कर मनुष्य शोकग्रस्त नहीं होता है ॥ ६० ॥

उस प्रकार तत्-तत् भिन्न-भिन्न क्रियाओं के भेद से भिन्न-भिन्न हुए प्राणोपासन के प्रकार को कहकर अब उसकी दृढता के अनन्तर प्राण, अपान आदि के अन्दर रहने वाले उनके अधिष्ठानभूत चैतन्यात्मा की उपासना करनी चाहिए, इस आशय से कहते हैं—'पुष्पस्या०' इत्यादि से ।

पुष्प के अन्दर जैसे सौगन्ध्य रहता है, वैसे ही प्राण के अन्दर रहने वाले सजीवस्वरूप निर्जीवस्वरूप से शून्य चिदात्मा की है हम लोग उपासना करते हैं ॥ ६१ ॥

जैसे जल के अन्दर माधुर्य रहता है, वैसे ही अपान के अन्दर रहने वाले सजीव और निर्जीव रूप शून्य चिदात्मा की हम लोग उपासना करते हैं ॥ ६२ ॥

प्राणविलय का अपानविनाश का समीप एवं अन्त में रह कर प्रकाशक तथा प्राण और अपान के अन्दर रहने वाले चिदात्मा की हम लोग उपासना करते हैं ॥ ६३ ॥

प्राण के प्राणनव्यापार में सबसे बढ़ कर निमित्तभूत जीव के जीवनादि व्यापार में सबसे बढ़ कर निमित्तभूत देह के धारणादि व्यापार में सर्वप्रथम हेतुभूत उस चिदात्मा की हम लोग उपासना करते हैं ॥ ६४ ॥

मन के मनन आदि व्यापार में हेतुभूत बुद्धि के बोधन व्यापार में निमित्तभूत एवं अहङ्कार के अहङ्करण व्यापार में निमित्तभूत उस चिदात्मा की हम लोग उपासना करते हैं ॥ ६५ ॥

यह समस्त पुरोवर्ती पदार्थ जिसमें विद्यमान हैं, समस्त जगत् जिससे उत्पन्न हुआ है, सर्वात्मक चारों ओर

आलोकालोकनं पुण्यं सर्वपावनपावनम् ।
न च भावनमन्नूनं तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ६७ ॥
[अपानोऽस्तं गतो यत्र प्राणो नाऽभ्युदितः क्षणम् ।
कलाकलङ्करहितं तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ १ ॥]
नाऽपानोऽभ्युदितो यत्र प्राणश्चाऽन्तमुपागतः ।
नासाग्रगगनावर्तं तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ६८ ॥
यत्र प्राणोऽस्तमायाति यत्राऽपानोऽस्तमेति च ।
यत्र द्वावप्यनुत्पन्नौ तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ६९ ॥
प्राणापानोद्भवस्थाने बाह्याभ्यन्तरमास्थिते ।
ये द्वे योगिपदाधारस्तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ७० ॥
प्राणापानरथारूढं प्राणापानमनातनम् ।
यच्छक्तिरूपं शक्तीनां तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ७१ ॥

स्थित और सर्वमय उस चैतन्यात्मक तत्त्व की हम लोग निरन्तर उपासना करते हैं ॥ ६६ ॥

सूर्य आदि समस्त अवभासक पदार्थों का भी अवभासक समस्त पावन पदार्थों में पावनतम पुण्यरूप मन, बुद्धि आदि विकारों से तनिक भी अपने वास्तव स्वभाव से च्युक्त नहीं होने वाले उस चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥ ६७ ॥

[अपानवायु जिसमें अस्तंगत हो जाता है और तनिक भी प्राण का जिसमें अभ्युदय नहीं होता, उस समस्त कल्पनाकलङ्कों से निर्मुक्त चित्तत्त्व की हम लोग उपासना करते हैं ॥ १ ॥]

अपान का अभ्युदय जिसमें नहीं होता और प्राणों का अन्त हो जाता है, तथा नासिका के अग्रभाग से उपलक्षित बारह अङ्गुलपरिमित जिसकी गगन सन्धि प्राणपानप्रवाहसन्धि है, उस चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥ ६८ ॥

प्राण जहाँ विलीन हो जाता है, अपान भी जहाँ अस्त हो जाता है और प्राण और अपान दोनों जहाँ उत्पन्न भी नहीं होते, हम लोग उस चित्तत्त्व की उपासना करते हैं ॥ ६९ ॥

बाह्य और आभ्यान्तर प्रदेश में स्थित, योगियों द्वारा अनुभूत होने वाले दो प्राण और अपान की उत्पत्ति के उन दोनों के अधिष्ठानभूत चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥ ७० ॥

प्राण और अपानरूप रथ के ऊपर आरूढ होकर परिच्छिन्न हो प्राण और अपान की शक्तिस्वरूप हो जाता है एवं अन्य चक्षु आदि करणों में स्थित शक्तियों का भी शक्तिस्वरूप चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥ ७१ ॥

हृत्प्राणकुम्भकं देवं बहिश्चाऽपानकुम्भकम् ।
पूरकांशविसृष्टं यत्तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ७२ ॥
प्राणापानपरामर्शं सत्ताबोधं विरूपकम् ।
यत्प्राप्यं प्राणमननात् तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ७३ ॥
यत्प्राणपवनस्पन्दो यत्स्पन्दानन्दकारकम् ।
कारणं कारणानां यत् तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ७४ ॥
यदखिलकलनाकलङ्कहीनं
परिवलितं च सदा कलागणेन ।
स्वनुभवविभवं पदं तदग्र्यं
सकलसुरप्रणतं परं प्रपद्ये ॥ ७५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने समाधिवर्णनं नाम पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

हृद्गत प्राण की कुम्भकावस्था का स्वरूपभूत बाहर अपान की कुम्भकावस्था का स्वरूपभूत और पूरकांश से विसृष्ट प्रकाशमान चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥ ७२ ॥

प्राण अपान के चैतन्य में हेतुभूत उभके अस्तित्व का ज्ञान कराने वाला स्वयं स्वरूपवर्जित एवं प्राणोपासना से प्राप्तव्य चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥ ७३ ॥

प्राणवायु के स्पन्दन में हेतुभूत इन्द्रियों के होने वाले विषयप्रदेश-पर्यन्त गमन में तथा उनके उपभोग में हेतुभूत तथा कारणों का भी कारण चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥ ७४ ॥

परामर्थ दृष्टि से समस्त कलनारूपी कलङ्कों से विनिर्मुक्त आपातदर्शी पुरुषों की दृष्टि से जीवोपाधिभूत प्राण आदि सोलह कलाओं से सदा परिवेष्टित प्रमात्मक अनुभवरूपी ऐश्वर्य से परिपूर्ण तथा समस्त देवताओं से वन्दित सर्वश्रेष्ठ परमात्मरूप परमपद की हम उपासना करते हैं ॥ ७५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय के निर्वाणप्रकरण में भुशुण्डोपाख्यान में समाधिवर्णन नामक कुसुमलता का पचीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २५ ॥

२६

भुशुण्ड उवाच

एषा हि चित्तविश्रान्तिर्मया प्राणसमाधिना ।
क्रमेणाऽनेन संप्राप्ता स्वयमात्मनि निर्मले ॥ १ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य संस्थितोऽस्मि महामुने ! ।
न चलामि निमेषांशमपि मेरुविचालतः ॥ २ ॥
गच्छतस्तिष्ठतो वाऽपि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
स्वप्नेऽपि न चलत्येष सुसमाधिर्ममाऽऽत्मनि ॥ ३ ॥
नित्यानित्यासु लोलासु जगत्स्थितिषु सुस्थितः ।
अन्तर्मुखोऽस्मि तिष्ठामि स्वकामेनाऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥४॥
अपि संरुद्धचते वायुरपि वा सलिलं गते ।
नैतस्मात् सुसमाधानाद्विरुद्धं संस्मराम्यहम् ॥ ५ ॥
प्राणापानानुसरणात् परमात्मावलोकनात् ।
अशोकमनुजातोऽस्मि पदमाद्यं महातपः ॥ ६ ॥

२६

भुशुण्ड ने कहा—उक्त क्रम से मैंने प्राणोपासना द्वारा क्रमशः निर्मल हुए आत्मा में यह चित्तविश्रान्ति स्वयं प्राप्त की है ॥ १ ॥

हे महामुने ! मैं इस प्राणदृष्टि का अवलम्बन कर दृढ़तापूर्वक अवस्थित हूँ । सुमेरु पर्वत के विचलन से भी निमेषांशमात्रकाल के लिए भी विचलित नहीं होता है ॥ २ ॥

जाते या बैठते, जागते या सोते तथा स्वप्नानुभव रते किसी भी अवस्था में मेरी आत्मा में यह उत्तम पाधि-विचलित नहीं होती है ॥ ३ ॥

सदा विनाशशील, चंचल, जागतिक अवस्था में किसी कार के बिना विलेप के ही दृढ़तापूर्वक स्थित रहता हूँ। एकमात्र अपने स्वरूप से अपनी आत्मा में ही स्वच्छन्द-वृत्ति से स्थित मेरी वृत्ति सदा अन्तर्मुख रहती है, यानी मैं कभी तुच्छ बाह्य विषयों की स्पृहा नहीं करता ॥ ४ ॥

किसी समय कारणवश नक्षत्रचक्र का आधारभूत प्रवहनामक वायु बन्द भी हो जा सकता है, बड़ी-बड़ी महानदियों के जल अपने स्वभाविक प्रवाह से विरत भी हो जा सकते हैं, परन्तु मुझे अपने इस प्राणचिन्तनरूप उपासना से विरत करा दे, ऐसा कोई भी पदार्थ इस संसार में नहीं है, इसका मैं स्मरण रखता हूँ ॥ ५ ॥

हे महान् तपस्विन् ! प्राण और अपान के अनुसरण से प्राप्त परम तत्त्व के साक्षात्कार से मैं समस्त शोकों से रहित आदि तत्त्व परम पद को प्राप्त हो गया हूँ ॥ ६ ॥

आमहाप्रलयाद् ब्रह्मन्नुन्मज्जननिमज्जनम् ।
अहमद्याऽपि भूतानां पश्यञ्जीवामि धीरधीः ॥ ७ ॥
न भूतं न भविष्यं च चिन्तयामि कदाचन ।
दृष्टिमालम्ब्य तिष्ठामि वर्तमानामिहाऽऽत्मना ॥ ८ ॥
यथा प्राप्तेषु कार्येषु परित्यक्तफलैषणः ।
सुषुप्तसमया बुद्ध्या परितिष्ठामि केवलम् ॥ ९ ॥
भावाभावमयीं चिन्तामीहितानीहितान्विताम् ।
विमृश्याऽऽत्मनि तिष्ठामि चिरञ्जीवाम्यनामयः ॥ १० ॥
प्राणापानसमायोगसमयं समनुस्मरन् ।
स्वयमात्मनि तुष्यामि चिरञ्जीवाम्यनामयः ॥ ११ ॥
इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्यामि सुन्दरम् ।
इति चिन्ता न मे तेन चिरञ्जीवाम्यनामयः ॥ १२ ॥
न स्तौमि न च निन्दामि क्वचित्किञ्चित्कदाचन ।
आत्मनोऽन्यस्य वा साधो ! तेनाऽहं शुभमागतः ॥१३॥

हे ब्रह्मन् ! मैं महाप्रलय से आज तक प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश का अनुभव कर धीर बुद्धि होकर आज भी जी रहा हूँ ॥ ७ ॥

एकमात्र नित्य वर्तमानस्वभाव साक्षिचैतन्यस्वरूप दृष्टि का अपने मन से अवलम्बन कर मैं कभी अतीत एवं अनागत विषयों का चिन्तन नहीं करता हुआ इस कल्पतरु वृक्ष पर अवस्थित रहता हूँ ॥ ८ ॥

व्यवहारवश यथा समय प्राप्त कर्तव्य का फलाभिलाषों को छोड़ कर निरभिमानबुद्धि से ही केवल अनुष्ठान करता रहता हूँ ॥ ९ ॥

इच्छा एवं अनिच्छा से सतत अन्वित इष्टानिष्ट पदार्थों की चिन्ता का विचार कर (वे सर्वथा हेय ही हैं) ऐसा निश्चय कर केवल अपने स्वरूप में ही स्थित रहता हूँ। इसलिए मैं शोकरहित होकर चिरकाल से दीर्घजीवी हूँ ॥ १० ॥

प्राण और अपान के सन्धि स्थान में प्रकाशित आत्मतत्त्व का निरन्तर ध्यान करता मैं अपनी आत्मा में स्वयं ही सन्तुष्ट रहकर शोकरहित होकर चिरकाल से जी रहा हूँ ॥ ११ ॥

आज मैंने यह प्राप्त किया और भविष्य में दूसरा सुन्दर प्राप्त करूँगा, इस प्रकार की मुझे कभी चिन्ता नहीं होती है, शोक रहित होकर चिरकाल से जी रहा हूँ ॥ १२ ॥

हे साधो ! किसी समय कहीं पर अपने या दूसरे किसी के कार्यों की न तो कुछ स्तुति करता हूँ और न कुछ निन्दा ही करता हूँ। अतः मैंने यह दीर्घ जीवन प्राप्त किया है ॥ १३ ॥

न तुष्यति शुभप्राप्तौ नाऽशुभेष्वपि खिद्यते ।
मनो मम समं नित्यं तेनाऽहं शुभमागतः ॥ १४ ॥
परमं त्यागमालम्ब्य सर्वमेव सदैव हि ।
जीवितादि मया त्यक्तं तेनाऽहं शुभमागतः ॥ १५ ॥
प्रशान्तचापलं वीतशोकं स्वस्थं समाहितम् ।
मनो मम मुने ! शान्तं तेन जीवाम्यनामयः ॥ १६ ॥
काष्ठं विलासिनीं शैलं तृणमग्निं हिमं नभः ।
समं सर्वत्र पश्यामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ १७ ॥
किमद्य मम संपन्नं प्रातर्वा भविता पुनः ।
इति चिन्ताज्वरो नाऽस्ति तेन जीवाम्यनामयः ॥ १८ ॥
जरामरणदुःखेषु राज्यलाभसुखेषु च ।
न बिभेमि न हृष्यामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ १९ ॥
अयं बन्धुः परश्चाऽयं ममाऽयमयमन्यतः ।
इति ब्रह्मन् ! न जानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ २० ॥

इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होने पर न मेरा मन सन्तुष्ट होता है और न तो अनिष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होने पर कभी खिन्न ही होता है। निरन्तर एकरूप ही रहता है; इसलिए मैंने इस दीर्घजीवन को प्राप्त किया है ॥ १४ ॥

समस्त द्वैतबाधरूप उत्तम त्याग का अवलम्बन कर सर्वदा ही जीवनाभिमान आदि सभी वस्तुओं का मैंने परित्याग कर दिया है, अतः इस दीर्घजीवन को प्राप्त किया है ॥ १५ ॥

हे मुने ! मेरे मन की चपलताविलीन शोक से रहित है, स्वस्थ समाहित एवं शान्त हो मैं विकारवर्जित होकर जी रहा हूँ ॥ १६ ॥

चूँकि मैं लकड़ी, विलासिनी रमणी, पर्वत, तिनक अग्नि, हिम, आकाश—इन सबमें एकरूप को ही देखत हुआ विकारवर्जित होकर जी रहा हूँ ॥ १७ ॥

आज मैंने क्या प्राप्त किया और कल प्रातः मुझे क्या प्राप्त होगा, इस प्रकार चिन्तारूपी ज्वर में निर्मुक्त मैं अनामय होकर जी रहा हूँ ॥ १८ ॥

जरा एवं मरण के सदृश कष्टों एवं राज्य प्राप्ति के सदृश सुखों के प्राप्त होने पर न तो मैं डरता हूँ और न प्रसन्न ही होता हूँ। इसलिए मैं अनामय होकर जीवित हूँ ॥ १९ ॥

हे ब्रह्मन् ! यह मेरा बन्धु है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा है एवं यह दूसरे का है, इस प्रकार की भिन्नता तो मैं जानता ही नहीं, इसलिए अनामय होकर जीवित हूँ ॥ २० ॥

सर्वं सर्वपदाभासमनाद्यन्तमनामयम् ।
अहं चिदिति जानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ २१ ॥
आहरन् विहरंस्तिष्ठन्नुत्तिष्ठन्नुच्छ्वसन् स्वपन् ।
देहोऽहमिति नो वेद्मि तेनाऽस्मि चिरजीवितः ॥ २२ ॥
इमं सांसारमारम्भं सुषुप्तपदवत् स्थितः ।
असन्तमिव जानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ २३ ॥
यथाकालमुपायातावर्थानर्थौ समौ मम ।
हस्ताविव शरीरस्थौ तेन जीवाम्यनामयः ॥ २४ ॥
अपरिचलया शक्त्या सुदृशा स्निग्धमुग्धया ।
ऋजु पश्यामि सर्वत्र तेन जीवाम्यनामयः ॥ २५ ॥
आपादमस्तकान्तेऽस्मिन्न देहे ममता मम ।
त्यक्ताहङ्कारपङ्कस्य तेन जीवाम्यनामयः ॥ २६ ॥

नाना वस्तु के रूप में प्रकाशित समस्त वस्तुओं के अधिष्ठानभूत आदि और अन्त से शून्यविकारवर्जित [प्र]भासक आत्म-पदार्थ को तथा भासित होने वाले इस [सम]स्त प्रपञ्च को एकमात्र चित्स्वरूप ही मैं जानता हूँ [इस]लिए मैं शोकरहित हो जीवित हूँ ॥ २१ ॥

ग्रहण कर रहा, विहार कर रहा, स्थिति कर रहा, [उ]त्थान कर रहा, श्वास ले रहा तथा निद्रा ले रहा शरीर [है], आत्मा नहीं, यह मैं जानता हूँ, इसलिए मैं चिरजीवी हूँ ॥ २२ ॥

विकारवर्जित अवस्था में स्थित मैं इस संसार में उत्पन्न घट आदि कार्यविशेषों को मिथ्या ही जानता हूँ, इसलिए विकाररहित होकर जी रहा हूँ ॥ २३ ॥

प्रारब्ध से प्रस्तुत उपभोग-समय में प्राप्त हुए इष्ट और अनिष्ट पदार्थ मेरी दृष्टि में, देहवर्ती हाथों को तरह समान ही हैं। इसलिए मैं विकारवर्जित होकर जी रहा हूँ ॥ २४ ॥

अपने स्वरूप से किसी समय च्युत न होनेवाली मानसिक स्थिरतारूपी शक्ति के द्वारा हुई स्निग्ध एवं मुग्ध सुन्दर दृष्टि से प्राणियों में एक ही आत्मा है, इस दृष्टि से सब स्थानों में ऋजुता = वक्रहीनता का ही मैं अनुभव करता हूँ, इसलिए अनामय होकर जी रहा हूँ ॥ २५ ॥

अहंकाररूपी कीचड़ का मैंने परित्याग कर दिया है। इसलिए पैर से लेकर मस्तक तक इस देह में मुझे ममता नहीं है, इसलिए मैं सब तरह से विकारों से रहित होकर जी रहा हूँ ॥ २६ ॥

जो व्यापार मैं करता हूँ, जो खाता पीता हूँ, वह सब

यत्करोमि यदश्नामि तत्त्यक्त्वा तद्गतोऽपि मे ।
मनो नैष्कर्म्यमादत्ते तेन जीवाम्यनामयः ॥ २७ ॥
यदा यदा मुने ! किञ्चिद्विजानामि तदा तदा ।
मतिरायाति नौद्धत्यं तेन जीवाम्यनामयः ॥ २८ ॥
करोमीशोऽपि नाऽऽक्रान्ति परितापेन खेदवान् ।
दरिद्रोऽपि न वाञ्छामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ २९ ॥
पश्यद्रूपे शरीरेऽस्मिन् भूतस्थात्मा चिदास्पदः ।
भूतवृन्दमहं साम्यात्तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३० ॥
आशापाशविनुन्नायाश्चित्तवृत्तेः समाहितः ।
संस्पर्शं न ददाम्यन्तस्तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३१ ॥
असत्तां जगतः सत्तामात्मनः करबिल्ववत् ।
सुप्तप्रबुद्धः पश्यामि तेनाऽस्मि चिरजीवितः ॥ ३२ ॥

अभिमान का परित्याग कर ही। इसलिए शरीर के कारण व्यापार युक्त होने पर भी मेरा मन कर्तृत्व-भोक्तृत्वशून्य नैष्कर्म्यरूप ही प्राप्त है। यही कारण है कि मैं अनामय होकर दीर्घजीवी हूँ ॥ २७ ॥

हे मुने ! जब-जब मैं कुछ जानता हूँ तब-तब मेरा मन अविनीत भाव को प्राप्त नहीं होता है इसलिए अनायम होकर जीवित रहता हूँ ॥ २८ ॥

दूसरों के ऊपर आक्रमण करने में समर्थ होते हुए भी मैं आक्रमण करता, दूसरों के द्वारा खेद पहुँचाये जाने पर सहन-शीलताके कारण खिन्न नहीं होता एवं दरिद्र होनेपर भी कुछ नहीं चाहता, इसलिए अनामय रूप से दीर्घजीवी हूँ ॥ २९ ॥

चेतनप्राय इस शरीर के भासमान होने पर भी मैं एकमात्र चैतन्यात्मतास्वरूप का ही अवलोकन करता हूँ। इसलिए सब भूतों में चिदात्मता की समता होने के कारण सर्वभूतों के अन्दर स्थित आत्मस्वरूप हो मैं उनको अपने शरीर के सदृश ही देखता हूँ। इसीलिए मैं अनामय होकर दीर्घजीवी हूँ ॥ ३० ॥

मैं निरन्तर समाधियुक्त अनेकविध आशारूपी पाशों से बद्ध चित्तवृत्ति को अपने हृदय के अन्दर तनिक भी स्थान नहीं देता, इसलिए निर्विकार होकर मैं चिरजीवी हूँ ॥ ३१ ॥

बाह्य पदार्थों के विषय में सुप्त मैं जगत् की असत्ता देखता हूँ और अपने भीतर प्रबुद्ध हो, हाथ में बेल की तरह आत्मा की सत्ता देखता हूँ, इसलिए चिरजीवी हूँ ॥ ३२ ॥

जीर्णं भिन्नं श्लथं क्षीणं क्षुब्धं क्षुण्णं क्षयं गतम् ।
पश्यामि नववत् सर्वं तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३३ ॥
सुखितोऽस्मि सुखापन्ने दुःखितो दुःखिते जने ।
सर्वस्य प्रियमित्रं च तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३४ ॥
आपद्यचलधीरोऽस्मि जगन्मित्रं च संपदि ।
भावाभावेषु नैवाऽस्मि तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३५ ॥
नाऽहमस्मि न चाऽन्यो मे नाऽहमन्यस्य कस्यचित् ।
इति मे भावितं चित्तं तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३६ ॥
अहं जगदहं व्योम देशकालक्रमावहम् ।
अहं क्रियेति मे बुद्धिस्तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३७ ॥
घटश्चिच्चित्पटश्चित्खं चिद्वनं शकटं च चित् ।
चित्सर्वमिति मे भावस्तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३८ ॥
इत्यहं मुनिशार्दूल ! त्रिलोककमलालिकः ।
भुशुण्डो नाम काकोलः कथितश्चिरजीवितः ॥ ३९ ॥
ब्रह्मार्णवे विलुलितं त्रिजगत्तरङ्ग-
मुत्पादनाद्यभिभवेन विभिन्नरूपम् ।
आलीनमुन्नमितमाकुलदृश्यदृश्य-
मालोकयन् प्रकलयंश्च चिरं स्थितोऽस्मि ॥४०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने चिरजीवितहेतुकथनं नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

जीर्ण, विदीर्ण, अवयवों से शिथिल, क्षीण, क्षुब्ध, चूर्णित एवं विनष्ट सब अतीत, अनागत और वर्तमान के पदार्थों को, विकारशून्य आत्मदृष्टि के कारण नवीन पदार्थों के सदृश देखता हूँ, इसलिए विकारशून्य दीर्घजीवी हूँ ॥ ३३ ॥

सुखी पुरुष को देखकर मैं सुखी होता हूँ, दुःखी जन को देख कर दुःखी होता हूँ, सभी के लिए मैं प्रिय मित्र हूँ, इसलिए विकारवर्जित चिरजीवी हूँ ॥ ३४ ॥

आपत्ति-काल में मैं पर्वत की तरह धीर रहता हूँ, सम्पत्ति-काल में समस्त जगत् के प्रति मैत्री रखता हूँ, सम्पत्ति की वृद्धि या विनाश-दशा में तनिक भी अभिनिवेश नहीं करता, इसलिए मैं चिरजीवी हूँ ॥ ३५ ॥

न मैं हूँ, न मेरे लिए कोई दूसरा है और न मैं किसी दूसरे के लिए हूँ; इस प्रकार की भावना से मेरा चित्त भावित है, इसलिए मैं अनामय होकर चिरजीवी हूँ ॥ ३६ ॥

मैं ही जगत् हूँ, मैं ही आकाश हूँ मैं ही देश और काल की परम्परा हूँ, मैं ही क्रियारूप हूँ, इस प्रकार की मेरी बुद्धि है। इसलिए मैं अनामय होकर चिरजीवी हूँ ॥ ३७ ॥

घट चित्स्वरूप है, पट चित्स्वरूप है, आकाश चित्स्वरूप है, अरण्य और शकट भी चित्स्वरूप हैं, चित् ही सब कुछ है, इस प्रकार मेरी भावना है, इसलिए अनामय होकर चिरजीवी हूँ ॥ ३८ ॥

हे मुनिशार्दूल ! मेरुरूपी कमल के छत्ते में रहने तथा श्यामरूप होने के कारण मैं लोकत्रयरूपी कमल का एक तरह से भ्रमर हूँ और विभिन्न भावनाओं के कारण लोगों के द्वारा भुशुण्ड नाम का चिरजीवी द्रोण कौआ व्यवहृत हुआ हूँ ॥ ३९ ॥

ब्रह्मरूपी समुद्र में चलायमान; उत्पत्ति, वृद्धि, विपरिणाम और अपक्षयरूप एक दूसरे की टक्करों से प्राप्त समन्वित चित्र-विचित्र रूपों से बार-बार आविर्भूत एवं विलीन तथा साक्षी द्वारा भासमान बुद्धि, मन एवं इन्द्रियों के विषयीभूत भ्रमणशील त्रिजगद्रूपी तरङ्गों को व्युत्थानकाल में देखता हुआ और समाधि-काल में विलापित करता हुआ मैं चिरकाल से स्थित हूँ ॥ ४० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में भुशुण्डोपाख्यान में चिरजीवितहेतुकथन नामक कुसुमलता का छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २६ ॥

२७

भुशुण्ड उवाच

एतत्ते कथितं ब्रह्मन् ! यथाऽस्मि यदिहाऽस्मि च ।
त्वदाज्ञामात्रसिद्ध्यर्थं धाष्ट्येन ज्ञानपारग ! ॥ १ ॥

२७

भुशुण्ड ने कहा—हे ज्ञान-पारंगत ब्रह्मन् ! आपकी आज्ञा का एकमात्र परिपालन करने के लिए ही धृष्टता का अवलम्बन कर जैसे मैं चिरजीवी हूँ और जैसे परमार्थरूप इस कार्यकरणसंघातरूप देह में मेरी स्थिति है, वह सब कुछ मैंने आपसे कह दिया ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

अहो नु चित्रं भगवन्! भवता भूषणं श्रुतेः ।
आत्मोदन्तः प्रकथितः परं विस्मयकारणम् ॥ २ ॥
धन्यास्ते ये महात्मानमत्यन्तचिरजीवनम् ।
भवन्तं परिपश्यन्ति द्वितीयमिव पद्मजम् ॥ ३ ॥
यावदद्य दृशो धन्याः स्वात्मोदन्तमखण्डितम् ।
यथावत्पावनं बुद्धेः सर्वं कथितवानसि ॥ ४ ॥
प्रभ्रान्तं दिक्षु सर्वासु दृष्टा विबुधभूतयः ।
भवानिव जगत्यस्मिन्न महानवलोकितः ॥ ५ ॥
कथञ्चित् प्राप्यते कश्चिद्भ्रान्त्वेह हि महाजनः ।
न भवानिव भव्यात्मा सुलभो जगति क्वचित् ॥ ६ ॥
वंशखण्डे हि कस्मिंश्चिज्जायते मौक्तिकं यथा ।
जगत्खण्डे हि कस्मिंश्चिद्दृश्यते त्वादृशस्तथा ॥ ७ ॥
मया तु सुमहत्कार्यमद्य सम्पादितं शुभम् ।
पुण्यदेहविमुक्तात्मा यद्भवानवलोकितः ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे ऐश्वर्यपूर्ण पक्षिराज, कितने हर्ष का विषय है कि आपने सुनने योग्य कहानियों में भूषणस्वरूप तथा अनेकविध विस्मयों के उत्पादन में परम कारणभूत अपने प्राण-चिन्तन एवं चिरजीवन की कहानी मुझसे कही ॥ २ ॥

दूसरे ब्रह्मदेव के समान स्थित अत्यन्त दीर्घजीवी आपके दर्शन करने वाले महात्मा धन्य हैं ॥ ३ ॥

तब से लेकर अबतक आप के दर्शन करते रहे ये मेरे नेत्र भी धन्य हैं। आपने बुद्धि को पवित्र करनेवाला अक्षरशः अपना सम्पूर्ण जीवनवृत्तान्त ज्यों का त्यों ठीक ही आपने कहा ॥ ४ ॥

मैंने सब दिशाओं में परिभ्रमण किया और देवताओं एवं बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओं की ज्ञान आदि सम्पत्तियाँ देखीं, परन्तु इस जगत् में आपके समान दूसरे किसी महान् ज्ञानी को नहीं देखा ॥ ५ ॥

प्रयत्न से दीर्घकाल तक परिभ्रमण कर कोई किसी महाव्यक्ति को किसी तरह प्राप्त कर सकता है, परन्तु आपके सदृश भव्यात्मा ज्ञानी इस जगत् में कहीं पर भी सुलभ नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

जैसे किसी एक बांस के वन में ही मोती उत्पन्न होता है, वैसे ही आपके सदृश ज्ञानी जगत् के किसी एक कोने में ही दिखलाई देता है ॥ ७ ॥

मैंने तो आज अत्यन्त कल्याणकर एक बहुत-बड़ा कार्य सम्पादन कर लिया जो पुण्य-देह एवं विमुक्तात्मा आपका यह अवलोकन किया है ॥ ८ ॥

तदस्तु तव कल्याणं प्रविशाऽऽत्मगुहां शुभाम् ।
मध्याह्नसमयो यन्मे व्रजामि सुरमन्दिरम् ॥ ९ ॥
इत्याकर्ण्य भुशुण्डोऽसौ जग्राहोत्थाय पादपात् ।
सङ्कल्पिताभ्यां हस्ताभ्यामुपात्तं हेमपल्लवम् ॥ १० ॥
कल्पवृक्षलतापुष्पकेसरेण हिमत्विषा ।
तत्पात्रं मौक्तिकार्घ्येण पूरयामास पूर्णधीः ॥ ११ ॥
तेनाऽर्घ्यपाद्यपुष्पेण त्रिनेत्रमिव मामसौ ।
आपादमस्तकं भक्त्या पूजयामास पूर्वजः ॥ १२ ॥
अनुव्रज्याकदर्थेन खगेन्द्राऽलमिति ब्रुवन् ।
विष्टरादहमुत्थाय ततः खगवदाप्लुतः ॥ १३ ॥
व्योम्नि योजनमात्रं तु मदनुव्रज्यया गतः ।
करं करेणाऽवष्टभ्य बलात् संरोधितः खगः ॥ १४ ॥
मयि याते क्षणेनैव गगनाध्वन्यदृश्यताम् ।
निवृत्तोऽसौ विहङ्गेन्द्रो दुस्त्यजा सङ्गतिः सताम् ॥ १५ ॥

मध्याह्न-कर्तव्य के लिए मेरा समय हो गया है, अतः मैं अपने घर सप्तर्षिलोक में जा रहा हूँ। तुम्हारा कल्याण हो, तुम अपनी शुभ गुहा में प्रवेश करो ॥ ९ ॥

इस भुशुण्ड ने यह सुनकर वृक्ष से उठकर सङ्कल्प-जनित हाथों से प्राप्त सुवर्णपल्लवमय पात्र का ग्रहण किया ॥ १० ॥

अनन्तर पूर्णप्रज्ञ उस वायसराज ने कल्पवृक्ष की लता के पुष्पकेसरों से युक्त, हिम के सदृश कान्तिवाले अर्घोपयोगी मोतीरूपी जल से उस पात्र को भर दिया ॥ ११ ॥

अर्घ्य, पाद्य और पुष्प से संसार में सबसे पहले उत्पन्न चिरन्तन इस भुशुण्ड ने तीन नेत्र वाले महादेवजी के समान पैर से लेकर मस्तकपर्यन्त अर्थात् आपाद-मस्तक भक्तिपूर्वक मेरी पूजा की ॥ १२ ॥

अनन्तर हे खगेन्द्र! आप मेरे सत्कारार्थ अनुव्रजन अर्थात् पीछे चलने के लिए अधिक श्रम न करें, इस प्रकार कहकर मैं आसन से उठकर पक्षी की तरह आकाश मार्ग से गया ॥ १३ ॥

मेरे पीछे-पीछे अनुगमन करता हुआ वह पक्षिराज आकाश में एक योजन तक चलता रहा। इसके बाद मैंने अपने हाथ से उसका हाथ पकड़कर बलपूर्वक उसे रोक दिया ॥ १४ ॥

क्षणभर में ही आकाशमार्ग में मेरे अदृश्य होने पर

अन्योन्यमपि कस्मिंश्चित्तरङ्गक इवाऽम्बुधौ ।
व्योमन्यदृश्यतां यातो खगस्मृत्या मुनीनहम् ।
सप्तर्षिमण्डलं प्राप्य जायया परिपूजितः ॥ १६ ॥
याते कृतयुगस्याऽऽदौ पुरा वर्षशतद्वये ।
संगतोऽहं भुशुण्डेन मेरोः शृङ्गद्रुमेऽभवम् ॥ १७ ॥
अद्य राम ! कृते क्षीणे त्रेता संप्रति वर्तते ।
मध्ये त्रेतायुगस्याऽस्य जातस्त्वं रिपुमर्दन ! ॥ १८ ॥
पुनरद्याऽष्टमे वर्षे तत्रैवोपरि भूभृतः ।
मिलितोऽभूद्भुशुण्डो मे तथैवाऽजररूपवान् ॥ १९ ॥
इति संकथितं चित्रं भुशुण्डोदन्तमुत्तमम् ।
श्रुत्वा विचार्य चैवाऽन्तर्यद्युक्तं तत्समाचर ॥ २० ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इति सुमतिभुशुण्डसत्कथां यो
विमलमतिः प्रविचारयिष्यतीह ।
भवभयबहुलाकुलास्थितां स
प्रसभमसत्सरितं तरिष्यतीति ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्यानसमाप्तिर्नाम सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

ही वह पक्षिराज अपने स्थान के लिए लौटा । सज्जनों की सङ्गति का बड़ी कठिनाई से त्याग होता है ॥ १५ ॥

आकाशमार्ग में कुछ दूर जाकर, समुद्र में तरङ्ग की तरह हम दोनों ही एक दूसरे के प्रति कहीं अदृश्य हो गये । भुशुण्ड का निरन्तर स्मरण करते हुए अरुन्धती से पूजित मैंने भी सप्तर्षि-मण्डल को प्राप्तकर मुनियों का दर्शन किया ॥ १६ ॥

श्रीराम जी ! सत्ययुग के प्रथम दो शतक जब व्यतीत हो चुके थे, तब मेरुपर्वत के कल्पवृक्ष पर भुशुण्ड के साथ मैंने पहले-पहल भेंट की थी ॥ १७ ॥

हे रिपुमर्दन ! हे श्रीराम जी ! आज वर्तमान समय में सत्ययुग के क्षीण होने पर त्रेतायुग चल रहा है और इस त्रेतायुग के बीच में आपने जन्म लिया है ॥ १८ ॥

आज आठ वर्ष पहले सुमेरुपर्वत के उसी शिखर के ऊपर वैसे वृद्धावस्था से रहित वह भुशुण्ड फिर मुझसे मिला था ॥ १९ ॥

मैंने इस प्रकार का विचित्र उत्तम भुशुण्ड-वृत्तान्त आप से कहा । उसका श्रवण और भीतर से मनन कर जो उचित हो वैसा अनुष्ठान करें ॥ २० ॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—इस प्रकार की बुद्धिमान् भुशुण्ड की उत्तम कथा का जो विशुद्धमति महात्मा सम्यक् विचार करेगा, वह ऐसी शरीर में जन्मादि के भयों से रहित व्याकुल जीवों के द्वारा व्याप्त निर्मल बुद्धि होकर इस माया-नदी को सहसा पार कर जायगा ॥ २१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामयण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में भुशुण्डोपाख्यानसमाप्ति नामक कुसुमलता का सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २७ ॥

२८

वसिष्ठ उवाच

एवं भुशुण्डवृत्तान्तः कथितस्ते मयाऽनघ ! ।
अनया प्रज्ञया तीर्णो भुशुण्डो मोहसङ्कटात् ॥ १ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य स्वप्राणाभ्यासपूर्विकाम् ।
भुशुण्डवन्महाबाहो ! भव तीर्णमहार्णवः ॥ २ ॥
यथा ज्ञानेन योगेन सन्तताभ्यासजन्मना ।
भुशुण्डः प्राप्तवान् प्राप्यं तथाऽऽसादय तत्पदम् ॥ ३ ॥
असक्तबुद्धयः सर्वे भुशुण्डवदवस्थितिम् ।
प्राप्नुवन्ति परे तत्त्वे प्राणापानावलोकिनः ॥ ४ ॥

२८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे निष्पाप ! इस प्रकार का भुशुण्ड वृत्तान्त मेरे द्वारा आपको कहा गया । आख्यायिका में वर्णित इसी तात्त्विक बुद्धि के कारण मोहसंकट से भुशुण्ड पार कर गया था ॥ १ ॥

हे महाबाहो ! अपने प्राण के निरोध या उपासन-पूर्वक इस दृष्टि का अवलम्बन कर आप भुशुण्ड की तरह भयङ्कर भव महासागर को पार करें ॥ २ ॥

जैसे निरन्तर प्राणोपासना से जनित ज्ञानात्मक योग से भुशुण्ड ने प्राप्तव्य ब्रह्म-पद प्राप्त किया, वैसा ही आप भी उस पद को प्राप्त कर कर लीजिए ॥ ३ ॥

उक्त प्राण और अपान की उपासना करने वाले सभी अनासक्तमति, भुशुण्ड की तरह परमपद की स्थिति प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

एता विचित्रा भवता श्रुता विज्ञानदृष्टयः ।
इदानीं धियमालम्ब्य यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन् ! भवता भूमिभास्वता ज्ञानरश्मिभिः ।
हार्दमुद्दामदौरात्म्यं प्रमृष्टमखिलं तमः ॥ ६ ॥
प्रबुद्धाः स्मः प्रहृष्टाः स्मः प्रविष्टाः स्मः स्वमास्पदम् ।
स्थिताः स्मो ज्ञातविज्ञेया भवन्तो ह्यपरा इव ॥ ७ ॥
अहो भुशुण्डचरितं परं विस्मयकारकम् ।
भगवन् ! भवता प्रोक्तमुत्तमार्थावबोधनम् ॥ ८ ॥
भुशुण्डचरिते ब्रह्मन्नेतस्मिन् कथिते त्वया ।
यच्छरीरगृहं प्रोक्तं मांसचर्मास्थिनिर्मितम् ॥ ९ ॥
तत्केन नाम रचितं कुतो वा तत्समुत्थितम् ।
कथं वा स्थितिमायातं को वा तत्राऽवतिष्ठते ॥ १० ॥

इन सब विचित्र विज्ञानोपासनाओं का अपने श्रवण किया। अब बुद्धि का अवलम्बन कर जैसा चाहें, वैसा करें अर्थात् अपनी आत्मनिष्ठा योगपूर्वक या उपासना-पूर्वक जैसी चाहें वैसी करें ॥ ५ ॥

श्री राम जी ने कहा—हे भगवन् ! पृथ्वी में अवतीर्ण हुए दूसरे सूर्य के सदृश आपने ज्ञान की किरणों से हृदयागत समस्त अनात्म पदार्थों में स्वात्मत्वबुद्धि तथा तज्जनित दुष्ट चेष्टा रूपी निरंकुश दौर्जन्य के सम्पादक अनात्म पदार्थों में विनाश कर डाला ॥ ६ ॥

आपके ही समान हम लोग प्रबुद्ध हो गये, प्रसन्न हो गये, प्राप्तव्य अपने आत्मपद में प्रविष्ट हो गये और ज्ञात-ज्ञातव्य होकर स्थित है ॥ ७ ॥

हे भगवन् ! उत्तम अर्थ का अवबोधक तथा आपके द्वारा कथित आश्चर्यजनक सर्वश्रेष्ठ भुशुण्ड के चरित्र से मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ ॥ ८ ॥

हे ब्रह्मन् ! आपके द्वारा कहे गये इस भुशुण्ड-चरित्र में मांस, चर्म और अस्थि से निर्मित शरीररूपी घर का उल्लेख किया गया है, उसकी किसने रचना की, वह कहाँ से उत्पन्न हुआ, किस तरह से स्थित है और उसमें कौन रहता है ॥ ९, १० ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे राघव ! परब्रह्मरूप परमार्थ तत्त्व को जानने के लिए तथा संसार हेतु अनेक दोषों के विनाश के लिए मेरे द्वारा तत्त्वतः कहे जाने वाले इस उपदेश को आप सुनें ॥ ११ ॥

हे श्रीरामजी ! इस शरीररूपी घर में हड्डियाँ ही खम्भे हैं, मुख आदि नव दरवाजे हैं और जो रक्त और

वसिष्ठ उवाच

परमार्थावबोधाय दोषापाकरणाय च ।
शृणु राघव ! तत्त्वेन वक्ष्यमाणमिदं मया ॥ ११ ॥
अस्थिस्थूणं नवद्वारं रक्तमांसावलेपनम् ।
शरीरसदनं राम ! न केनचिदिदं कृतम् ॥ १२ ॥
आभासमात्रमेवेदमित्थमेवाऽवभासते ।
द्विचन्द्रविभ्रमाकारं सदसच्च व्यवस्थितम् ॥ १३ ॥
द्विचन्द्रदर्शनविधौ चन्द्रद्वित्वं सदैव हि ।
वस्तुतश्चैक एवेन्दुः स्थितो देहस्तथैव हि ॥ १४ ॥
देहप्रत्ययकाले हि देहोऽयं समवस्थितः ।
असन्नेव च सत्तस्मात् प्रोक्तः सदसदात्मकः ॥ १५ ॥
स्वप्ने स्वप्नावबोधः संस्त्वन्यदा स मुधैव हि ।
बुद्बुदो बुद्बुदविधौ सत्यो मिथ्यैव चाऽन्यदा ॥ १६ ॥

माँस से लिया गया है—वास्तव में इसका किसी ने भी निर्माण नहीं किया है ॥ १२ ॥

यह शरीर केवल आभास रूप ही है, बिना निर्माता के ही अवभासित होता है, द्विचन्द्रविभ्रम के आकार के समान इसका स्वरूप मिथ्या है तथा प्रतीति काल में सद्रूप से और परमार्थ दशा में असद्रूप से स्थित रहता है अर्थात् जैसे जल में गिरा चन्द्रप्रतिबिम्ब एवं चक्षु पर अङ्गुलि रखने से हुआ द्वितीय चन्द्रमा का विभ्रम निर्माता की अपेक्षा नहीं रखता, वैसे ही आभासमात्र यह शरीर भी निर्माता की अपेक्षा नहीं रखता ॥ १३ ॥

आत्मा के देह वैशिष्टय-ज्ञानक्रिया के होनेपर ही देह वैसे ही प्रतीत होती है, जैसे चन्द्रमा की द्वैतता दो चन्द्रों के दर्शन की क्रिया के होनेपर ही अर्थात् चक्षु को अङ्गुलि से दबाने पर ही प्रतीत होती है, वास्तव में तो चन्द्रमा सदा एक ही है, वस्तुतः आत्मा निरन्तर एक ही है। प्रतीयमान चन्द्रद्वैतता के समान ही प्रतीयमान यह देह भी विभ्रम-मात्र ही है ॥ १४ ॥

वास्तव में देह के असत् होनेपर भी 'यह देह है', इस प्रकार देह प्रतीति के काल में अधिष्ठान-सत्ता को लेकर ही यह शरीर सत्-सा स्थित रहता है, इसलिए इसको सदसदात्मक कहा है ॥ १५ ॥

स्वप्न-दशामें ही प्रतीयमान स्वाप्निक पदार्थ सत्रूप से प्रतीत होते हैं और दूसरे समय में स्वाप्निक पदार्थ मिथ्या हैं। बुद्बुदों के साक्षात्कार के समय बुद्बुद सत्य के समान प्रतीत होते हैं; पर दूसरे समय में तो वे मिथ्या ही हैं ॥ १६ ॥

देहो देहविधौ सत्यो ह्यसत्य इतरद्विधौ ।
प्रतिभासविधौ तावज्जलं सदसदन्यदा ॥ १७ ॥
प्रतिभासविधौ देहः सन्नसंश्चाऽन्यदा स्मृतः ।
आभासमात्रमेवेदमित्थं सम्प्रति भासते ॥ १८ ॥
अयं नामाऽहमित्यन्तर्गृहीतमननं स्थितम् ।
मांसास्थिमयनिर्माणदेहोऽहमिति विभ्रमम् ।
त्यज सङ्कल्पनिर्माणदेहाः सन्ति सहस्रशः ॥ १९ ॥
सुखतल्पगतो येन स्वप्नदेहेन दिक्तटान् ।
परिभ्रमसि हे राम ! स देहस्ते क्व संस्थितः ॥ २० ॥
जागरायां मनोराज्ये येन स्वर्गपुरान्तरम् ।
परिभ्रमसि मेरुं वा स देहस्ते क्व संस्थितः ॥ २१ ॥
स्वप्नेष्वपि च यः स्वप्नस्तत्र येन महीतटान् ।
परिभ्रमसि हे राम ! स देहस्ते क्व संस्थितः ॥ २२ ॥
मनोराज्यं मनोराज्ये महद्विभवभूमिषु ।

देह की प्रतीति होने पर देह सत्य के समान है और आत्मा की प्रतीति होनेपर असत्य है। मृगतृष्णिका-जल भी मृगतृष्णिका का प्रतिभास होने पर सत् के समान रहता है अन्यकाल में असत् ही रहता है ॥ १७ ॥

देह की प्रतीति होनेपर ही शरीर सत्य के समान प्रतीति होती है, अन्य समय में असत् ही है, इसलिए यह शरीर आदि, केवल आभास रूप ही है, अज्ञान दशा में ही भासमान होते हैं ॥ १८ ॥

'यह शरीर ही मैं हूँ' यह अनुभव पूर्व में गृहीत देहाकार मनन ही है अर्थात् देहाकार मनन ही संस्कारों की दृढ़ता से बार-बार देह के आकार में स्थित रहता है; इसलिए मांस और अस्थि के विकारों से बना शरीर ही 'मैं हूँ' इस अभिमान का आप परित्याग कर दें। मिथ्या संकल्प से जनित ये देह हजारों की संख्या में विद्यमान हैं ॥ १९ ॥

हे श्रीरामजी ! सुखशय्या पर सोये हुए आप जिस स्वप्न देह से विविध दिग् मण्डल में परिभ्रमण करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित है ? ॥ २० ॥

जिस देह से स्वर्गीय नगरों के अन्दर या मेरु पर्वत पर जाग्रत्-दशा में भी मनोराज्य में आप परिभ्रमण करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित है ? ॥ २१ ॥

हे श्रीरामजी ! स्वप्नों में भी दूसरा स्वप्न आता है, उस स्वप्न में जिस देह से बड़े-बड़े पृथिवी-तटों पर आप परिभ्रमण करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित है ? ॥ २२ ॥

परिभ्रमसि येनेह स देहस्ते क्व संस्थितः ॥ २३ ॥
गतैर्देहैर्मनोराज्ये या विचित्रा जगत्क्रियाः ।
प्रकरोषि महाबाहो ! ते देहास्ते क्व संस्थिताः ॥ २४ ॥
विलासिन्याऽनुरागिण्या येन सङ्कल्पकान्तया ।
निर्वृतिं यासि देहेन स देहस्ते क्व संस्थितः ॥ २५ ॥
एते राम ! यथा देहा मनसः सदसन्मयाः ।
तथैव तादृशाचारो देहोऽयं मनसः स्मृतः ॥ २६ ॥
इदं धनमयं देहो देशोऽयमिति विभ्रमः ।
तत्सर्वं चित्तवीर्यस्य सङ्कल्पस्य विजृम्भितम् ॥ २७ ॥
दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम् ।
दीर्घं वाऽपि मनोराज्यं संसारं रघुनन्दन ! ॥ २८ ॥
प्रबोधमेष्यसि यदा परमात्मेच्छया स्वया ।
द्रक्ष्यसि त्वं तदा सम्यगिदमर्कोदये यथा ॥ २९ ॥

मनोराज्य के भीतर कल्पित दूसरे मनोराज्य में बड़ी-बड़ी विभवपूर्ण भूमियों में जिस देह से आप परिभ्रमण करते हैं, वह आपकी देह कहाँ है ? ॥ २३ ॥

हे महाबाहो ! कल्पना के विनाश के बाद विनष्ट हो जाने वाली जिन देहों से मनोराज्य में चित्र-विचित्र जागतिक व्यापारों का अनुष्ठान करते हैं, वे आपकी देह कहाँ स्थित रहती हैं ? ॥ २४ ॥

विलासनिपुण तथा अनुरक्त सङ्कल्पित कान्ता के साथ जिस देह से रति-सुख का अनुभव करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित है ? ॥ २५ ॥

हे श्रीरामजी वैसे मानसिक संकल्प से जनित ये शरीर सत् और असद्रूप हैं, वैसे ही यह प्रस्तुत शरीर भी मानसिक सङ्कल्प से जनित, सद्रूप, असद्रूप है और वैसा ही आचरण करने वाला है ॥ २६ ॥

यह मेरा धन है, यह मेरा शरीर है, यह मेरा देश है, इस प्रकार की प्रतीति भी विभ्रमात्मक ही है, क्योंकि धन आदि सभी कुछ चित्त-जनित सङ्कल्प का ही विलास है ॥ २७ ॥

हे रघुनन्दन ! इस संसार को आप एक तरह का दीर्घ चित्तविभ्रम या दीर्घ मनोराज्य ही समझें ॥ २८ ॥

आपने परमात्मा की इच्छा से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के बाद वैसे ही आप इस संसार को आत्ममात्र रूप देखेंगे, जैसे सूर्योदय होनेपर प्रबुद्ध हुआ पुरुष स्वाप्निक पदार्थों को आत्मरूप देखता है ॥ २९ ॥

स्वप्नसङ्कल्पजालेन यथाऽन्यैव जगत्स्थितिः ।
तथैवेयं हि सङ्कल्पकलना काचिदेव हि ॥ ३० ॥
यथा पूर्वं मयोत्पत्तिः प्रोक्ता कमलजन्मनः ।
मनसः स्वयमेवाऽन्तःसङ्कल्पकलनोद्भवा ॥ ३१ ॥
विचित्ररचनोपेतं मनस्तत्राऽऽत्तविभ्रमम् ।
सङ्कल्पकलनामात्रं तथेदमवभासनम् ॥ ३२ ॥
यथा कल्पित आभासो मनसोऽब्जजतां गतः ।
देहाद्विचिन्तितो देहः स्थितोऽन्यस्तद्वदेव हि ॥ ३३ ॥
प्राक्प्रवाहचिराभ्यस्तो वासनातिशयेन यः ।
तथैव दृश्यते देहस्तथाऽऽकृत्युदयेन सः ॥ ३४ ॥
पौरुषेण प्रयत्नेन सङ्कल्पो ह्ययमेव चित् ।
अन्यथा भाव्यते राम ! भूयते तदिहाऽन्यथा ॥ ३५ ॥
अयं सोऽयं ममाऽयं च संसार इति भाविते ।
सत्यो यो भाव्यते राम ! भावनादाढर्यसम्भवः ॥३६॥
भावितं तीव्रवेगेन यदेवाऽऽशु तदेव हि ।
सर्वत्र दृश्यते राम ! कान्तेवाऽत्यन्तवल्लभा ॥ ३७ ॥
अहर्व्यावृत्तिरभ्यस्ता यथा स्वप्नेषु दृश्यते ।
तथाऽयं भावनाभ्यस्तः संसारोऽप्यवलोक्यते ॥ ३८ ॥
यथा स्वप्नावनौ क्षिप्रमहर्यदवभासते ।
तथेदमल्पकालस्थमपि संलक्ष्यते स्थिरम् ॥ ३९ ॥
व्योमन्येव यथा तापतप्ते संदृश्यते सरित् ।
धराऽप्यविद्यमानाऽपि सङ्कल्पाद्दृश्यते तथा ॥ ४० ॥
दृश्यते दृष्टिवैरूप्याद्यथा व्योमनि पिच्छिका ।
तथैवेयं जगल्लक्ष्मीर्दुर्ज्ञानादवभासते ॥ ४१ ॥
दृश्यते समया दृष्ट्या न यथा व्योम्नि पिच्छिका ।
सम्यग्दृष्ट्या जगल्लक्ष्मीस्तथेयं नाऽवभासते ॥ ४२ ॥
भीरुरभ्येति न यथा स्वसङ्कल्पेषु संभ्रमम् ।
स्वसङ्कल्पे हि संसारे न तथैति भयं सुधीः ॥ ४३ ॥

यह व्यावहारिक जगत् की स्थिति भी एक प्रकार से सङ्कल्पजनित एवं विलक्षण अनिर्वचनीय ही है। जैसे स्वप्न और सङ्कल्पों से मनोराज्यों से एक विलक्षण ही जगत् की स्थिति प्रतीति होती है ॥ ३० ॥

यह जगत् की उत्पत्ति भी स्वयं मन के भीतर सङ्कल्प कलन से वैसे ही हुई है जैसे मैंने पहले कमलोद्भव ब्रह्मदेव की उत्पत्ति मन से कही है ॥ ३१ ॥

यह जगदवभास में भी एकमात्र सङ्कल्पकलन रूप मन वैसे ही कारण है जैसे चित्र-विचित्र रचनाओं से युक्त तथा अनेक प्रकार के विभ्रमों से ग्रस्त मन ही ब्रह्मा की उत्पत्ति में कारण है ॥ ३२ ॥

जैसे ब्रह्माजी के मन से सङ्कल्पित चिदाभास ब्रह्माजी की स्वरूपता को प्राप्त है, वैसे ही पूर्व देह के उत्क्रमण के समय में सङ्कल्पित जो शरीर होता है, उसी के सदृश दूसरा शरीर आगे के लिए स्थित रहता है ॥ ३३ ॥

सुदृढ़ वासना के द्वारा पहले के शरीर प्रवाह में दीर्घ काल तक अभ्यस्त जिन अवयवों से सम्पन्न जैसी देह रहती है, उन्हीं अवयव-संस्थानों से सम्पन्न उसी प्रकार की देह पुनः दिखलाई पड़ती है ॥ ३४ ॥

हे श्री राम जी ! पुरुष के उत्तम प्रयत्न से मन को अन्तर्मुख बना कर आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर यह जगदाकार सङ्कल्प चिद्रूप ही हो जाता है और यदि उसकी विपरीत रूप से भावना की जाय, तो विपरीत ही हो जाता है ॥ ३५ ॥

हे श्री राम जी ! 'यह वह है', 'यह मेरा है' और 'यह मेरा संसार है' इस प्रकार की भावना होने पर देहादि जगद्रूप सङ्कल्प सत्य-सा प्रतीत होता है, वह केवल सुदृढ़ भावना से ही होता है ॥ ३६ ॥

हे श्री राम जी ! अत्यन्त प्रिय कान्ता की तरह तीव्र वेग से जिसकी जिस रूप से भावना की जाती है, वह तद्रूप सर्वत्र तत्काल ही दिखलाई पड़ता है ॥ ३७ ॥

यह संसार भी भावना से वैसी ही अभ्यस्त ही दिखलाई देता है जैसे दिन में अभ्यस्त व्यापार ही स्वप्न में दिखलाई पड़ते हैं ॥ ३८ ॥

यह संसार स्वल्पकालस्थायी होने पर भी वैसे ही स्थिर लक्षित होता है जैसे शीघ्र विनाशी क्षण आदि काल स्वप्नभूमि में तीस घड़ी के दिन रूप में दीर्घ प्रतीत होता है ॥ ३९ ॥

यह अविद्यमान भी पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं त्रिलोकी सभी सङ्कल्पों से वैसे ही दिखाई देते हैं जैसे सूर्यताप से सन्तप्त मरुभूमि के आकाश में मृगतृष्णा-नदी दिखाई देती है ॥ ४० ॥

भ्रम से यह जगत् की शोभा वैसे ही प्रतीत होती है जैसे दृष्टि के वैषम्य से आकाश में मोरपंखों का एक मुट्ठा-सा दिखाई देता है ॥ ४१ ॥

आत्मतत्त्व-साक्षात्काररूप विशुद्ध दृष्टि से वैसे ही दिखलाई नहीं पड़ती जैसे विशुद्ध दृष्टि से आकाश में उक्त मोरपंखों का मुट्ठा दिखलाई नहीं पड़ता ॥ ४२ ॥

तत्त्वज्ञ पुरुष अपने मानसिक सङ्कल्पों से जनित इस संसार के रहते वैसे ही भय को प्राप्त नहीं करता

स्व एव हि स्वभावोऽयमित्थं सम्प्रति भासते ।
संसारसरणिस्थित्यां कस्मात्कोऽत्र बिभेति किम् ॥४४॥
स एव किञ्चित्संशोध्यः शुद्धया विमलतां गते ।
तस्मिन्न दृश्यते राम ! मोहोऽयं जगतः स्थितः ॥ ४५ ॥
सम्यगालोकमात्रेण स्वभावः शुद्धिमृच्छति ।
न गृह्णाति मलं भूयस्ताम्रतामिव काञ्चनम् ॥ ४६ ॥
आभासमात्रमेवेदं न सन्नाऽसज्जगत्त्रयम् ।
इत्यन्यकलनात्यागः सम्यगालोकनं विदुः ॥ ४७ ॥
मरणं जीवितं स्वर्गो ज्ञानमज्ञानमेव च ।
चिदाभासादृते नास्तीत्येकता सम्यगीक्षणम् ॥ ४८ ॥
त्वमहन्तादिसंसार इति मे न दिशो दश ।
सर्वं स्वाभासमेवेति सम्यगालोकनं विदुः ॥ ४९ ॥
सदसन्मयसंसारे यथाभूतार्थदर्शनात् ।
नाऽस्तमेति न चोदेति सम्यगालोकनान्मनः ॥ ५० ॥
निर्णीय सर्वभावानामसत्त्वं सत्त्वमेव च ।
निष्कामं शान्तिमभ्येति सम्यगालोकनान्मनः ॥ ५१ ॥
न निन्दति न च स्तौति न हृष्यति न शोचति ।
शीतलां सत्यतामेति सम्यगालोकनान्मनः ॥ ५२ ॥
अवश्यमेव मर्तव्यं सर्वैरेव हि बन्धुभिः ।
इति बन्धुवियोगेषु किं वृथा परितप्यसे ॥ ५३ ॥
अवश्यमेव च मया मर्तव्यमिति निश्चयः ।
इत्यात्ममरणप्राप्तौ किं मुधा परितप्यसे ॥ ५४ ॥
अवश्यमेव जातेन किञ्चित्सुविभवादिकम् ।
प्राप्तव्यं पुरुषेणेति हर्षस्याऽवसरो हि कः ॥ ५५ ॥
सर्वस्यैव हि संसारे नरस्य व्यवहारिणः ।
अर्थायाता भवत्यापच्छोकस्याऽवसरो हि कः ॥ ५६ ॥

जैसे भीरु होने पर भी पुरुष अपने मनोराज्य में कल्पित हाथी, बाघ आदि के रहते भय को प्राप्त नहीं करता ॥ ४३ ॥

बहिर्मुखतादशा में यह अपनी आत्मा ही इस प्रकार जगद्रूप में भासती है, इसलिए कौन विद्वान् इस संसार-रूपी मार्ग की स्थिति में किससे क्यों कर डरेगा ? ॥४४॥

हे श्रीराम जी ! भयभीत की कुछ शुद्धि करनी चाहिए, शुद्धि से विमल जगत् के लिए स्थित अद्वय आत्मा में यह मोह दिखलाई नहीं पड़ता ॥ ४५ ॥

सम्यक् तत्त्वज्ञानरूपी एकमात्र आलोक से ही आत्मा शुद्ध हो जाती है, इस प्रकार शुद्ध हुई आत्मा फिर मोह आदि मल का उस प्रकार ग्रहण नहीं करती, जिस प्रकार भ्रान्ति के कारण ताम्ररूप से गृहीत हुआ सुवर्ण अग्नि से विशुद्ध होने पर पुनः ताम्ररूपता का ग्रहण नहीं करता ॥ ४६ ॥

ये तीनों जगत् एकमात्र आभासस्वरूप ही हैं। वे न तो सद्रूप हैं और न असद्रूप ही हैं, इसलिए तत्त्वज्ञान ही आत्मातिरिक्त कल्पित पदार्थों की निवृत्ति है ॥ ४७ ॥

मरण, जीवन, स्वर्ग, ज्ञान और अज्ञान कुछ भी चैतन्य पदार्थ को छोड़कर दूसरा पदार्थ नहीं है, इसलिए चिन्मात्र-परिशेष ही तत्त्वज्ञान है ॥ ४८ ॥

त्वम्=अपने से भिन्न दूसरा चेतन, अहम्=अपनी देह के सदृश परिच्छिन्न चेतन आदि स्वरूप संसार और उनकी आधारभूत दसों दिशाएँ ये सब दृश्य मुझसे पृथक् दूसरे नहीं हैं, किन्तु स्वप्रकाश आत्मस्वरूपभूत ही हैं और दूसरा तो एकमात्र आभास ही है, इस प्रकार के ज्ञान को विद्वान् लोग सम्यग् ज्ञान कहते हैं ॥ ४९ ॥

सत् और असद्रूप संसार में अर्थात् ब्रह्म और माया दोनों से जनित विषय-कलापों में यथाभूत आत्मतत्त्व-दर्शनरूप सम्यग्ज्ञान से मन न उदित होता है और न अस्त ही होता है ॥ ५० ॥

सम्यक् तत्त्वज्ञान के कारण घटादि समस्त पदार्थों की सत्ता और असत्ता का निर्णय करने के बाद विषय-कामना से शून्य हुआ मन तत्त्वज्ञान के प्रभाव से शान्त हो जाता है ॥ ५१ ॥

सम्यग् ज्ञान के प्रभाव से मन सत्य और शीतल हो जाता है। वह न तो किसी की निन्दा करता है और न किसी की स्तुति। वह न प्रसन्न होता है और न शोक ही करता है ॥ ५२ ॥

सभी बन्धुजनों को तो अवश्य ही मरना है, इसलिए उन बन्धुजनों का वियोग होने पर आप निरर्थक क्यों सन्तप्त होते हैं ॥ ५३ ॥

हमें भी अवश्य ही मरना है, यह अटल सत्य है, इस लिए अपने मरण का समय उपस्थित होनेपर क्यों व्यर्थ खिन्न होते हैं ॥ ५४ ॥

उत्पन्न पुरुष कुछ न कुछ उत्तम वैभव आदि अवश्य ही प्राप्त करेगा, इसलिए हर्ष का अवसर ही कैसा ?॥५५॥

इस संसार में व्यवहार कर रहे सभी मनुष्यों को दरिद्रता आदि आपदाएँ आनुषङ्गिकरूप से प्राप्त हुआ ही करती हैं, फिर शोक का अवसर कैसा ? ॥ ५६ ॥

बृंहत्युदेति स्फुरति बुद्बुदौघ इवाऽर्णवे ।
इदं हि जगतां जालं किमत्र परिदेवना ॥ ५७ ॥

सत्सदेव सदैवैतदसदेवाऽसदेव हि ।
क्रियावैचित्र्यमात्रे तु किमन्यत् परिदेव्यते ॥ ५८ ॥

नाऽहमस्मि न चाऽभूवं भविष्यामि न सोऽधुना ।
देहोऽयं चित्रदोषस्थः किमन्यत्परिदेव्यते ॥ ५९ ॥

देहाच्चेदन्य एवाऽहं चिदाभासस्तदङ्ग हे ! ।
कौ तौ मे सदसद्भावौ यन्निष्ठं परितप्यते ॥ ६० ॥

इति निश्चयवत्स्वान्तं सम्यग्ज्ञानात्मनो मुनेः ।
नाऽस्तमेति न चोदेति न चाऽन्तं परितप्यते ॥ ६१ ॥

परतामेव नाशान्तामनुत्तमपदे स्थितः ।
आदत्ते तित्तिरी मृद्वीं तृणकोटिमिवाऽमलाम् ॥ ६२ ॥

जैसे समुद्र में बुद्बुदों का समूह; वैसे ही यह जगत्-समूह उत्पन्न होता है, बढ़ता है और विकसित होता है, फिर इस विषय में शोक ही कैसा ? ॥ ५७ ॥

त्रिकालाबाधित सत्यरूप वस्तु सदा ही सत्यस्वरूप है और असत्यरूप वस्तु सदा ही असत्स्वरूप है, वह कभी भी सद्रूपता को प्राप्त नहीं होती, इसलिए मायारूप विकृति के वैचित्र्य से प्रतीयमान इस प्रपञ्च में ऐसी दूसरी कौन वस्तु है, जिसके विषय में शोक किया जाय ? ॥ ५८ ॥

मैं न वर्तमान में हूँ, न मैं भूतकाल में था और न भविष्यत् में रहूँगा ही। यह शरीर केवल काम, कर्म, वासना एवं अविद्यारूपी दोष से उत्पन्न प्रतीत होता है, इसलिए किसी दूसरे के विषय में शोक किया जाय ? ॥ ५९ ॥

हे भद्र ! यदि 'अहम्' पदार्थ शरीर से पृथक् ही है, तो वह अविद्या-दोष से जनित चिदाभास ही है। वे सदसदात्मक देह और चिदाभास, मेरे कौन होते हैं, जिनके विषय में शोक किया जाय ? ॥ ६० ॥

सम्यग्ज्ञान से युक्त पूर्वोक्त निश्चयवाला मुनि का अन्त:करण न कभी अस्त होता है, न उदित होता है और और न अन्त में दु:खित ही होता है ॥ ६१ ॥

उसी प्रकार सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मपद में स्थित तत्त्वज्ञानी द्वैतबाध से परिशिष्ट ब्रह्मरूपता का वैसे ही अवलम्बन करता है, प्रतीतिकालीन जड़-स्वरूपता का नहीं जैसे तित्तिरी घोंसला बनाने के लिए तिनकों के निम्न भाग के मोटे अंशों को छोड़कर ऊपर के कोमल भागों का ही ग्रहण करती है ॥ ६२ ॥

एतदर्थमसत्येऽस्मिन्नाऽऽस्था कार्या मनागपि ।
सुरज्ज्वेव बलीवर्दो बध्यते जन्तुरास्थया ॥ ६३ ॥

अतस्त्वया दृढमिदमिति निर्णीय बुद्धितः ।
आस्थारहितया बुद्ध्या विहर्तव्यमिहाऽनघ ! ॥ ६४ ॥

कर्तव्यमेव कर्तव्यमकर्तव्यमुपेक्ष्यते ।
आस्थानास्थे परित्यज्य लीलयैव महाधिया ॥ ६५ ॥

आभासमात्रमेवेदं यस्य च प्रतिभासते ।
सोऽन्तः शीतलतामेति दिनान्ते भुवनं यथा ॥ ६६ ॥

प्रतिभासं परित्यज्य पदार्थपटलव्रजे ।
आभासमात्रसामान्यमिदमालोकयाऽनघ ! ॥ ६७ ॥

आभासमात्रकं राम ! चित्तमर्शकलङ्कितम् ।
ततस्तदपि संत्यज्य निराभासो भवोत्तम ! ॥ ६८ ॥

संसार का परित्याग करने के लिए असत्यभूत इस संसार में तनिक भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिए, क्योंकि आसक्ति से ही, दृढ़ रज्जु से बैल की तरह प्राणी बद्ध हो जाता है ॥ ६३ ॥

हे निष्पाप ! इसलिए 'यह सब ब्रह्मरूप ही है' इस प्रकार युक्तियों से सुदृढ़ निश्चय कर आप आसक्ति-शून्य बुद्धि से इस संसार में विहरण करें ॥ ६४ ॥

आसक्ति और अनासक्ति का परित्याग कर अनायास लीला मात्र से शास्त्रविहित कर्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिए, शास्त्र-अविहित कर्मों का नहीं अर्थात् उनकी उपेक्षा ही कर देनी चाहिए ॥ ६५ ॥

यह दृश्यमान प्रपञ्च केवल आभासमात्र ही है, इस प्रकार जिस महामति को भली-भाँति अवगत हो जाता है, जैसे सूर्य-आतप के शान्त हो जानेपर भूमण्डल शीतल हो जाता है वैसे ही वह अपने भीतर शीतल हो जाता है ॥ ६६ ॥

हे पापशून्य ! विशेषाकारता का परित्याग कर पाँच भूतों समूहात्म घट, पट आदि पदार्थों में सामान्यत: आभास-मात्रस्वरूपता का ही आप अवलोकन कीजिए ॥ ६७ ॥

हे श्रीरामजी ! सन्मात्ररूप आभास भी चित्त की विशेषकल्पना के कारण कलङ्कित ही रहता है, इसलिए उसका सन्मात्रस्वरूप आभास का भी परित्याग कर अर्थात् स्व-स्वरूप-भिन्न बुद्धि से छोड़कर निराभास से युक्त ज्ञाता, ज्ञात, ज्ञेय इस त्रिपुटी से शून्य हो जाइए ॥ ६८ ॥

चिदाकाशमयो नित्यं सर्वगः सर्ववर्जितः ।
आभासस्य परित्यागे भवस्येकान्तनिर्मलः ॥ ६९ ॥
नाऽहमस्मि न मे भोगाः सत्या इत्यभिभाविते ।
नेदमाडम्बरं व्यर्थमनर्थायाऽवभासते ॥ ७० ॥
अहमेव हि वा सर्वं चिदित्येवं विभाविते ।
नेदमाडम्बरं व्यर्थमनर्थायाऽवभासते ॥ ७१ ॥
दर्शनद्वयमप्येतत् सत्यमत्यन्तसिद्धिदम् ।
यदेकमेतयोर्वेत्सि रम्यं तद्राम ! संश्रय ॥ ७२ ॥
द्वाभ्यामेवाऽथवैताभ्यां दर्शनाभ्यामिहाऽनघ ! ।
विहरन् कुरु कल्याण ! रागद्वेषपरिक्षयम् ॥ ७३ ॥
यत्किञ्चिदुदितं लोके यन्नभस्यथ वा दिवि ।
तत्सर्वं प्राप्यते राम ! रागद्वेषपरिक्षयात् ॥ ७४ ॥
रागादिहतया बुद्धया यादृग्राम विचेष्टितम् ।
तत्तदेव प्रयात्याशु मूढानां विपरीतताम् ॥ ७५ ॥

आभासमात्ररूपता का परित्याग कर देने पर चैतन्याकाशरूप, अविनाशी, परिपूर्ण, अशेष विकारों से वर्जित तथा नितान्त निर्मलस्वरूप आप हो जायेंगे ॥६९॥

न मैं सत्य हूँ और न तो मेरे भोग विषय ही सत्य हैं, इस प्रकार अच्छी तरह भावना करने पर यह निरर्थक जगत्-रूपी आडम्बर अनर्थ के लिए ही प्रतीत नहीं होता है ॥ ७० ॥

अथवा 'मैं और यह सब प्रपञ्च चैतन्यात्मक परब्रह्म-स्वरूप ही है' इस प्रकार चिन्तन करने पर यह निरर्थक जगद्रूपी आडम्बर अनर्थ के लिए प्रतीत नहीं होता है ॥ ७१ ॥

हे श्रीराम जी ! ये दोनों ही दर्शन सत्यरूप और आत्यन्तिक-सिद्धि (मुक्तिरूप सिद्धि) देनेवाले हैं, इसलिए इन दोनों में से आप किसी एक को जिसको अपने लिए रम्य समझें, उसका अनुष्ठान करें ॥ ७२ ॥

हे कल्याणरूप ! हे पापरहित ! अथवा इन्हीं दो भावनाओं का आश्रयण कर इस संसार में विहार करते हुए आप राग, द्वेष आदि का विनाश करे (राग आदि दोषों से रहित पुरुष में ही दोनों चिन्तन सफल होते हैं, यह 'कुरु' इत्यादि कहा गया है ।) ॥ ७३ ॥

हे श्रीरामजी ! इस संसार में और आकाश में या स्वर्ग में जो उत्तम वस्तु है, एकमात्र राग, द्वेष आदि के विनाश से ही उन सबकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ७४ ॥

हे श्रीरामजी ! रागादि दोषों से आक्रान्त बुद्धि के द्वारा जो किया जाता है, वह सब मूढों के लिए तत्काल ही दुःखरूप हो जाता है ॥ ७५ ॥

द्वेषदोषोर्मिरुद्धासु न गुणाश्चित्तवृत्तिषु ।
पदं कुर्वन्ति दग्धासु स्थलीषु हरिणा इव ॥ ७६ ॥
रागो द्वेषश्च सर्पौ द्वौ न विलीनौ मनोबिले ।
यस्य कल्पतरोस्तस्मात् किं नामाऽङ्ग न लभ्यते ॥७७॥
ये हि प्राज्ञाः स्वनियता विदग्धाः शास्त्रशालिनः ।
रागद्वेषमयास्ते वै जम्बुकास्ते धिगस्तु तान् ॥ ७८ ॥
मद्धनं भुक्तमन्येन धनं त्यक्तं मयाऽन्यतः ।
इति संव्यवहारेहाः के रागद्वेषयोः क्रमाः ॥ ७९ ॥
धनानि बन्धवो मित्रं पुनरायान्ति यान्ति च ।
किमेतेषु नरः प्राज्ञो रज्यते वा विरज्यते ॥ ८० ॥
भावाभावभवाभोगा मायेयं पारमेश्वरी ।
संसाररचना सर्वा संसक्तं पातयत्यलम् ॥ ८१ ॥
न धनं न जनो नाऽऽत्मा सत्यं राघव ! वस्तुतः ।
मिथ्यैव मिथ्यावसितमितीदं परिलक्ष्यते ॥ ८२ ॥

द्वेष-दोषरूपी ऊर्मियों से आक्रान्त चित्तवृत्तियों में उत्तम गुण वैसा ही अपना स्थान नहीं बनाते । जैसे दग्ध हुई वनस्थलियों में मृग अपना स्थान नहीं बनाते ॥ ७६ ॥

हे प्रिय ! जिस पुरुष के चित्तरूपी बिल में राग और द्वेषरूपी दो सर्प तिरोहित नहीं होनेपर उस पुरुष को कल्पवृक्ष से भी क्या दुःखरूप फल प्राप्त नहीं होते ? ॥ ७७ ॥

जो पुरुष शास्त्रों में निष्णात, चतुर, कर्मनिरत एवं प्राज्ञ होकर भी राग, द्वेष आदि से परिपूर्ण पुरुष निश्चय ही अरण्य में प्रसिद्ध सियार हैं । उन्हें धिक्कार है ॥ ७८ ॥

मेरा धन दूसरे ने उपयोग किया है, दूसरे से अवश्य लेने योग्य धन मैंने प्रमाद से छोड़ दिया—इस प्रकार प्राप्त एवं विनष्ट धन आदि के विषयों में अभिनिवेश से उनके ग्रहण के लिए वध, बन्धन आदि दण्ड देने की इच्छारूप राग-द्वेषों के क्रम क्या हैं ॥ ७९ ॥

धन, बन्धुवर्ग, मित्र बार बार आते और जाते रहते हैं, इसलिए उनमें बुद्धिमान् पुरुष क्या अनुराग और विराग ही करेगा ? ॥ ८० ॥

जिसमें प्रिय विषयों के अस्तित्व और अप्रिय विषयों के अभाव से ही संसार की परिपूर्णरूपता बनी है । समस्त संसार की रचना स्वरूप यह परमेश्वर सम्बन्धिनी माया आसक्त पुरुषों को ही भली-भाँति अनर्थ-गर्तों में ढ़केल देती है ॥ ८१ ॥

हे राघव ! न धन, न जन और न मन ही वास्तव में

आद्यन्तयोः सर्वमसन्मध्येऽप्यस्थिरमाधिमत् ।
क्व बध्नाति रतिं प्राज्ञो ह्यन्यकल्पितखद्रुमे ॥ ८३ ॥

एकेन कल्पिता खे स्त्री भुङ्क्ते तां दूरगोऽपरः ।
इतीयमङ्ग संसाररचना तेन मा भ्रम ॥ ८४ ॥

भूताजवंजवीभावमिममाततमाकुलम् ।
गन्धर्वपुरनिर्माणविलासेन समं विदुः ॥ ८५ ॥

स्वप्नसङ्कल्पपुरवदसदेवेदमुत्थितम् ।
सर्वत्र संस्थमेवेदं सुषुप्तमिव विच्युतम् ॥ ८६ ॥

परिपश्यसि संसारदीर्घस्वप्नपुरद्रुमम् ।
अज्ञाननिद्रालुठनस्वभावात्मकमच्युतम् ।
संसारस्वप्नसंभ्रान्तो भवानयमिह स्थितः ॥ ८७ ॥

तदेनां विततां निद्रां घनाज्ञानमयात्मिकाम् ।
त्यजाऽलक्ष्मीमिवाऽवाप्तनिधानः पुरुषोत्तमः ॥ ८८ ॥

प्रबोधमेहि पश्य स्वमात्मानमुदितं सदा ।
निर्विकल्पं चिदाभासं प्रातः पद्मं रविं यथा ॥ ८९ ॥

प्रबुद्धयस्व प्रबुद्धयस्व पुनः पुनरयं मया ।
प्रबोद्धयसे महाबाहो ! पश्याऽऽत्मार्कमनामयम् ॥९०॥

मयैतेनाऽभिवृष्टेन शीतेन ज्ञानवारिणा ।
सुशब्दशालिना राम ! ह्यनेनैवाऽसि बोधितः ॥ ९१ ॥

बोधमासादय परं प्रबोधोऽद्यैव राघव ! ।
सत्य मालोकयाऽलीकं त्यक्त्वेमं जागतं भ्रमम् ॥ ९२ ॥

न ते जन्म न ते दुःखं न दोषास्ते न ते भ्रमाः ।
सर्वं सङ्कल्पमुत्सृज्य तिष्ठाऽऽत्मनि सुसंस्थितः ॥ ९३ ॥

परिगलितविकल्पदोषजाल-
स्त्वमसि सुसारसुषुप्तसौम्यदृष्टिः ।

सत्य स्वरूप है, किन्तु मिथ्यारूप से निश्चित हुआ सब यह प्रपञ्च मिथ्या ही दीख पड़ता है ॥ ८२ ॥

आदि और अन्त में=पूर्व और उत्तरकाल में सभी पदार्थ असत् हैं और बीच में भी उत्तरोत्तर भाव-विकारों से ग्रस्त एवं दुःखप्रद हैं, इसलिए बुद्धिमान् पुरुष दूसरे के कल्पित आकाश-वृक्ष के सदृश तुच्छ इस संसार में कहाँ प्रेम करेगा ? ॥ ८३ ॥

किसी ने आकाश में स्त्री की कल्पना की और दूरवर्ती दूसरा उसका भोग करता है ऐसा कभी हो सकता है ? यह संसार-रचना स्त्री की है अर्थात् इस संसार की कोई एक कल्पना करता है और दूसरा उपयोग करने की चेष्टा करता है, इसलिए आप ऐसे असंगत भ्रम में न पड़ें ॥ ८४ ॥

यह संसार प्राणियों के वेगपूर्वक गमनागमन से पूर्ण, विस्तृत एवं उपद्रवों से समन्वित भरा है, इसलिए विद्वान् लोग उसे गन्धर्व नगर की रचना-विलास के सदृश तुच्छ कहते हैं ॥ ८५ ॥

स्वप्न और संकल्प के नगरों की तरह यह स्वयं असत् होकर भी उत्पन्न के समान प्रतीत होता है, सभी स्थानों में कल्पना का संभव और अधिष्ठान चैतन्य का अस्तित्व होने से सभी जगह अवस्थित है और सुषुप्त की तरह स्वप्नभावापन्न है ॥ ८६ ॥

यह संसार दीर्घकालीन स्वप्न-नगर एवं स्वप्न-वृक्ष के समान है । अज्ञानरूपी निद्रा का लाभ लेकर आत्मस्वभाव का अपहरण करने वाला एवं निरन्तर वर्तमान है, इसलिए आप संसाररूपी स्वप्न में भ्रमणशील होकर यहाँ अवस्थित हैं ॥ ८७ ॥

जैसे निधि प्राप्त करने वाला भाग्यवान् पुरुष दरिद्रता का परित्याग कर देते हैं वैसे ही आप उस घन अज्ञानरूपी विस्तृत इस निद्रा का परित्याग कर दीजिए ॥ ८८ ॥

आप प्रबुद्ध हो जाएँ और सदा उदित-स्वभाव, अशेषविकल्पों से वर्जित, चैतन्य-प्रकाशस्वरूप अपनी आत्मा को वैसे ही देखें जैसे प्रातःकाल में कमल सूर्य को देखता है ॥ ८९ ॥

हे महाबाहो ! मैं आपको बार-बार संबोधित करता हूँ कि आप जाग जाए, जाग जाइए और अपने निर्मल आत्मरूपी सूर्य को देखिए ॥ ९० ॥

हे श्रीरामजी ! मधुर गर्जन के समान उपदेश के शब्दों से सम्पन्न, मेघस्थानीय इस मेरे द्वारा बरसाये गये शीतल ज्ञानरूपी जल से आप जगाये गये हैं ॥ ९१ ॥

हे राघव ! आप आज ही प्रबुद्ध होकर आत्मज्ञान को प्राप्त करें और इस तुच्छ जागतिक भ्रम का परित्याग कर त्रिकालबाधित आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करें ॥ ९२ ॥

न आपका जन्म है, न आपको दुःख है, न आपके दोष हैं और न आपके भ्रम ही हैं, [अतः] समस्त संकल्पात्मक इस संसार का उत्सर्ग कर अपने आत्म-स्वरूप में दृढ़ आसन बांध कर स्थित हो जाइए ॥ ९३ ॥

हे महात्मन् ! आपके समस्त संकल्पात्मक दोषों का समूह नष्ट हो चुका है, उत्तम सारभूत सुषुप्तिसदृश विक्षेप-रहित दृष्टि भी आपने प्राप्त कर ली है, आप नित्य अप-रोक्षस्वभाव व्यापक परब्रह्मस्वरूप ही हैं । अतः उत्तम

अतिविततमिदं सुशुद्धये त्वं समुपशमात्मनि तिष्ठ हे महात्मन् ! ॥ ९४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे परमार्थयोगोपदेशो नामाऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

शुद्धि के लिए आप अपने आत्मस्वरूप में ही समाहित होकर स्थित हो जाइए ॥ ९४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में परमार्थयोगोपदेश नामक कुसुमलता का अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २८ ॥

२९

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्याकर्णयति स्वस्थसमचेतसि राघवे ।
विश्रान्ते स्वात्मनि स्वैरं परमानन्दमागते ॥ १ ॥
तत्रस्थेषु च सर्वेषु तेषूपशमशालिषु ।
राघवस्याऽऽत्मविश्रान्तेः स्थित्यर्थं वचनामृतम् ।
विरराम मुनेर्वारि सस्येष्वम्बुधरादिव ॥ २ ॥
अथ याते मुहूर्तार्धे राघवे प्रतिबोधिते ।
पुनराह तमेवाऽर्थं वसिष्ठो वदतां वरः ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

राम ! सम्यक्प्रबुद्धोऽसि स्वात्मानमसि लब्धवान् ।
एवमेवाऽवलम्ब्याऽर्थं तिष्ठ नेह पदं कृथाः ॥ ४ ॥
इदं संसारचक्रं हि नाभौ सङ्कल्पमात्रके ।
संरोधितायां वहनाद्रघुनन्दन ! रुद्ध्यते ॥ ५ ॥
क्षोभितायां मनोनाभ्यामिदं संसारचक्रकम् ।
प्रयत्नाद्रोधितमपि प्रवहत्येव वेगतः ॥ ६ ॥
परं पौरुषमास्थाय बलं प्रज्ञां च युक्तितः ।
नाभिं संसारचक्रस्य चित्तमेव निरोधयेत् ॥ ७ ॥
प्रज्ञासौजन्ययुक्तेन शास्त्रसंवलितेन च ।
पौरुषेण न यत्प्राप्तं न तत्क्वचन लभ्यते ॥ ८ ॥
दैवैकपरतां त्यक्त्वा बालबोधोपकल्पिताम् ।
निजं प्रयत्नमाश्रित्य चित्तमादौ निरोधयेत् ॥ ९ ॥

२९

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—हे राघव ! जिस समय अपने स्वरूप में आप विश्रान्ति एवं परमानन्द को प्राप्त हुए स्वस्थ और समचित्त श्रीरामभद्र उस प्रकार श्रवण कर रहे थे तथा उस सभा में स्थित शान्तचित्त सभी श्रोतागण अपनी आत्मा में परम विश्रान्ति का अनुभव कर रहे थे ॥ १ ॥

इसी समय श्रीरामभद्र की चित्तविश्रान्ति की सुदृढ़ स्थिति के लिए बरस रहा महाराज वसिष्ठजी की वचनामृत एकाएक वैसे ही बन्द हो गया, जैसे वृष्टितर्पित सस्यों में मेघमण्डल से जल का बरसना एकाएक बन्द हो जाय ॥ २ ॥

अनन्तर जब आधा मुहूर्त व्यतीत हो गया और श्रीरामभद्र समाधि से उत्थित हो गये, उसी अर्थ की पुष्टि के लिए वक्ताओं श्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी उनसे पुनः कहने लगे ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! आप सम्यक् तत्त्वज्ञानी हो चुके हैं, अपनी आत्मा को प्राप्त कर लिया है, अतः इसी रीति से इस-परमार्थ तत्त्व का अवलम्बन कर विश्राम करें, इस तुच्छ संसार में आस्था न करें ॥४॥

हे रघुनन्दन ! एकमात्र संकल्परूपी पहिये के मध्य भाग का भली प्रकार अवरोधकरने पर यह संसाररूपी चक्र भ्रमण से रुक जाता है, ॥ ५ ॥

संकल्पात्मक मनोरूप नाभि को पहिये के मध्य भाग को रागद्वेष आदि से भ्रमित अर्थात् नचाये जाने पर यह संसाररूपी चक्र, प्रयत्न से रोके जाने पर भी, वेगपूर्वक नाचता ही रहता है ॥ ६ ॥

इसलिए ज्ञानाभ्यास एवं वैराग्य भी दृढ़ता का अवलम्बन कर शास्त्रानुसारी युक्तियों से विवेक ज्ञानरूपी बल प्राप्तकर चित्तरूपी संसार-चक्र की नाभि का अवरोध करना ही चाहिए ॥ ७ ॥

कहीं पर ऐसी कोई वस्तु उपलब्ध नहीं है जो उत्तम बुद्धिसौजन्य से परिपूर्ण शास्त्र सम्मत पुरुषार्थ से प्राप्त न की जाय ॥ ८ ॥

इसलिए वलबुद्धि से कल्पित एकमात्र दैवपराधीनता का परित्याग कर और असली प्रयत्न का आश्रयण कर सबसे पहले पुरुष को अपने चित्त का निरोध करना चाहिए ॥ ९ ॥

आविरिञ्चात् प्रवृत्तेन भ्रमेणाऽज्ञानरूपिणा ।
असदेव सदाभासमिदमालक्ष्यतेऽनघ ! ॥ १० ॥
अज्ञानभ्रमविस्तारमात्रकाकृतयोऽनघ ! ।
इमे देहा भ्रमन्तीह सर्वधर्मात् समुत्थिताः ॥ ११ ॥
सङ्कल्पः पुनरस्त्येव देहस्याऽर्थे कदाचन ।
सुखदुःखविचारित्वं न कार्यं राम ! धीमता ॥ १२ ॥
दुःखम्लानमुखः क्लेदी प्रसन्नात् क्लेदवर्जितात् ।
अपि चित्रनराद् देहनरस्तुच्छतरः स्मृतः ॥ १३ ॥
आधिव्याधिपरिम्लाने स्वयं क्लेदिनि नाशिनि ।
न तथा स्थिरता देहे चित्रपुंसो यथा किल ॥ १४ ॥
विनाशितो हि चित्रस्थो देहो नश्यति नाऽन्यथा ।
अवश्यनाशो मांसात्मा स्वयं देहो विनश्यति ॥ १५ ॥
पालितः सुस्थिरां शोभामादत्ते चित्रमानवः ।

हे निष्पाप ! ब्रह्माजी से लेकर चले आ रहे इस अज्ञानरूपी विभ्रम से यह असद्रूप ही प्रपञ्च सत् के समान प्रतीत हो रहा है ॥ १० ॥

हे पापशून्य राघव ! एकमात्र अज्ञानरूपी भ्रम से विस्तार को प्राप्त दृश्य जगत् के आकारभूत सङ्कल्प से उत्पन्न शरीर यहाँ यत्र-तत्र घूम रहे हैं ॥ ११ ॥

हे श्रीरामजी ! एकमात्र देह के विनाश से इष्टसिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि देह के नष्ट हो जाने पर भी देहपरम्परा का उत्पादक सङ्कल्प के विद्यमान रहने से ही संसार चलता रहेगा । इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को देह के लिए सुख-दुख की चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिए, किन्तु सङ्कल्पोच्छद के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए ॥ १२ ॥

दुःख से सदा मलिनमुख तथा अश्रु आदि से निरन्तर आर्द्र रहने वाला यह देहधारी नर चित्रलिखित नर की अपेक्षा भी अत्यन्त तुच्छ है, चित्रलिखित नर तो सुख-दुःख की चिन्ता से निर्मुक्त होने के कारण सदा प्रसन्न और क्लेदशून्य रहता है ॥ १३ ॥

जैसी चित्रलिखित पुरुष में स्थिरता रहती है वैसी आधि और व्याधि से निरन्तर दुःखित, अश्रु आदि से क्लिन्न तथा स्वयं विनाशशील इस शरीर में स्थिरता नहीं रहती है ॥ १४ ॥

किसी कारण विशेष से उसका विनाश करने पर अन्यथा नहीं । यह अवश्यविनाशी मांस-स्वरूप देह तो किसी कारण विशेष के बिना स्वयं ही नष्ट हो जाती है ॥ १५ ॥

यदि चित्रित मनुष्य की भली-भाँति रक्षा की जाय,

देहस्तु पालितोऽप्युच्चैर्नश्यत्येव न वर्धते ॥ १६ ॥
तेन श्रेष्ठश्चित्रदेहो नाऽयं सङ्कल्पदेहकः ।
ये गुणाश्चित्रदेहे हि न ते सङ्कल्पदेहके ॥ १७ ॥
चित्रदेहादपि जडाद्योऽयं तुच्छतरः किल ।
तस्मिन् मांसमये देहे कैवाऽऽस्था भवतोऽनघ ! ॥ १८ ॥
दीर्घसङ्कल्पदेहोऽयं तस्मिन्नाऽऽस्था महामते ! ।
स्वप्नसङ्कल्पजाद्देहादपि तुच्छतरो ह्ययम् ॥ १९ ॥
अल्पसङ्कल्पजो दीर्घैः सुखदुःखैर्न गृह्यते ।
दीर्घसङ्कल्पजश्चाऽयं दीर्घदुःखेन दुःखितः ॥ २० ॥
देहो हि सङ्कल्पमयो नाऽयमस्ति न वाऽस्ति नः ।
किं व्यर्थमेतदर्थं हि मूढोऽयं क्लेशभाजनम् ॥ २१ ॥
यथा चित्रमये पुंसि क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ।
तथा सङ्कल्पपुरुषे क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ॥ २२ ॥

तो वह दीर्घकाल तक स्थिर शोभा धारण करता है और यह प्रत्यक्ष शरीर तो अनेक यत्नों से रहित होने पर भी नष्ट ही हो जाता है ॥ १६ ॥

इसलिए संकल्पजनित यह तुच्छ देह से चित्रित देह ही श्रेष्ठ है, क्योंकि चित्रदेह में विद्यमान गुण सङ्कल्पजनित देह में नहीं हैं ॥ १७ ॥

हे निष्पाप श्रीरामजी ! अत्यन्त जड़ चित्रित शरीर की अपेक्षा यह संकल्पजनित तुच्छातितुच्छ देह है, उस मांसरूप देह में आपकी क्या आसक्ति है ? ॥ १८ ॥

हे महामते ! यह सङ्कल्पजनित शरीर कुछ कालतक ही टिकने वाला है । उसमें तनिक भी आसक्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह शरीर स्वप्न या मनोराज्य से जनित शरीर से भी अत्यन्त तुच्छ है ॥ १९ ॥

स्वाप्न आदि शरीर स्वल्पकालीन संकल्प से जनित होने के कारण दीर्घ-कालीन सुख-दुःखों से आक्रान्त नहीं होता है । यह प्रत्यक्ष शरीर तो दीर्घकालीन संकल्प से जनित होने के कारण दीर्घकाल के दुःखों से आक्रान्त रहता है ॥ २० ॥

सङ्कल्पमय यह शरीर न तो स्वयं है और न हम लोगों का सम्बन्धी ही है, अतः इस शरीर के निमित्त यह अज्ञानी जीव निरर्थक क्लेश का भाजन क्यों बनता है ? ॥ २१ ॥

सङ्कल्प से जनित पुरुष के क्षत या क्षीण हो जाने पर आत्मा की कुछ भी क्षति वैसे ही नहीं होती है जैसे चित्र में लिखित पुरुष के क्षत या क्षीण हो जाने पर आत्मा की क्षति नहीं होती ॥ २२ ॥

यथा मनोराज्यमये क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ।
यथा द्वितीये शशिनि क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ॥ २३ ॥
यथा स्वप्नसमारम्भे क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ।
यथा नद्यातपजले क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ॥ २४ ॥
सङ्कल्पमात्ररचिते प्रकृत्यैव च नाशिनि ।
तथा शरीरयन्त्रेऽस्मिन् क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ॥ २५ ॥
दीर्घस्वप्नमये ह्यस्मिंश्चित्तसङ्कल्पकल्पिते ।
भूषिते दूषिते देहे न हि किञ्चिच्चितः क्षतम् ॥ २६ ॥
न चिदन्तमुपायाति नाऽऽत्मा चलति राघव ! ।
न ब्रह्म विकृतिं याति किंवा देहक्षये क्षतम् ॥ २७ ॥
भ्रमच्चक्रोपरिष्ठो हि पूर्वचक्रोपचक्रवत् ।
यथा पश्यति दिक्चक्रं भ्रमदत्यन्तमोहितः ॥ २८ ॥
अकस्मादेव रूढेन मिथ्याज्ञानेन वल्गता ।

जिस प्रकार मनोराज्य में उत्पन्न अनेक शरीर आदि पदार्थों के क्षत या क्षीण हो जानेपर आत्मा की कुछ भी क्षति नहीं होती, अथवा जिस प्रकार दूसरे चन्द्रमा के क्षत या क्षीण हो जानेपर असली चन्द्रमा की या आत्मा की कुछ भी क्षति नहीं होती है ॥ २३ ॥

जिस प्रकार स्वप्न में उत्पन्न पदार्थों के क्षत या विनष्ट हो जानेपर आत्मा की क्षति नहीं होती अथवा जिस प्रकार मृगतृष्णिका-नदी के घामरूप जल के क्षत या क्षीण हो जानेपर आत्मा की कुछ भी क्षति नहीं होती ॥ २४ ॥

एकमात्र संकल्प से उत्पन्न, स्वभावतः विनाशशील इस शरीररूपी यन्त्र के क्षत या विनष्ट हो जानेपर आत्मा की कुछ भी क्षति नहीं होती । अतः शरीर के लिए शोक करना निरर्थक ही है ॥ २५ ॥

चित्त के संकल्प से कल्पित तथा दीर्घकालीन स्वप्न-रूप इस देह के अलङ्कारों से भूषित या दोषों से दूषित हो जानेपर चैतन्यरूप आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ता है ॥ २६ ॥

आत्म-चैतन्यरूप ब्रह्म न तो विनष्ट न चलित और न विकृत ही होती है, इसलिए देह का नाश होनेपर चैतन्य का आत्मा का या ब्रह्म का क्या बिगड़ गया ?॥२७

घूम रहे चाक के ऊपर स्थित अत्यन्त मोहित पुरुष जैसे दिशाचक्र को—स्वयं जिस चक्रपर चढ़ा हुआ रहता है, उस चक्र के सदृश या चारों ओर पास में स्थित बड़े चक्र के सदृश विपरीतरूप से घूमता हुआ—देखता है, वैसे ही अकस्मात् उत्पन्न हुए गर्जनशील मिथ्या अज्ञान के

तत्रस्थेन तथैवेदं दृश्यते देहचक्रकम् ॥ २९ ॥
भ्रमिदं च भ्रमद्रूपं पतद्रूपं प्रपातितम् ।
हतं च हन्यमानं च दृश्यते देहचक्रकम् ॥ ३० ॥
धीरतामलमालम्ब्य घनभ्रममिमं त्यजेत् ॥ ३१ ॥
सङ्कल्पेन कृतो देहो मिथ्याज्ञानेन सन्नसन् ।
असत्येन कृतं यस्मान्न तत्सत्यं कदाचन ॥ ३२ ॥
असदभ्युत्थितो देहो रज्ज्वामिव भुजङ्गधीः ।
असत्यामेव सत्यां च करोत्यपि जगत्क्रियाम् ॥ ३३ ॥
जडेन राम ! क्रियते यन्न तत्कृतमुच्यते ।
कुर्वन्नपि तदा देहो न कर्ता क्वचिदेव हि ॥ ३४ ॥
निरीहो हि जडो देहो नाऽऽत्मनोऽस्याऽभिवाञ्छितम् ।
कर्ता न कश्चिदेवाऽतो द्रष्टा केवलमस्य सः ॥ ३५ ॥

कारण मिथ्या अज्ञानरूप चक्र के ऊपर स्थित जीवात्मा देहपरम्परारूपी चक्र को देखता रहता है ॥ २८, २९ ॥

अज्ञानरूपी चक्र के ऊपर स्थित जीवात्मा जिस देह-परम्परारूपी चक्र को देखता है, वह उत्तरोत्तर अधिक भ्रान्ति को देने लाला, स्वयं भ्रान्तिरूप, पतनोन्मुख स्वरूप से ग्रस्त, भली प्रकार अनर्थ-गर्तों में गिराया गया, हत एवं हन्यमान रहता है ॥ ३० ॥

उत्तम धैर्य का सम्यक् अवलम्बन कर इस अनादि दृढ़ीभूत भ्रम का परित्याग कर देना चाहिए ॥ ३१ ॥

मिथ्या अज्ञान के द्वारा एकमात्र सङ्कल्प से उत्पन्न यह शरीर प्रातीतिक रूप से सत्य के समान प्रतीत होनेपर भी वास्तव में असत्य ही है, क्योंकि अज्ञान आदि उत्पन्न वस्तु किसी समय भी सत्य नहीं हो सकती है ॥ ३२ ॥

रज्जु में सर्पबुद्धि के सदृश असत्स्वरूप अज्ञान से उत्पन्न हुई देह असत्स्वरूप ही जगत्-क्रिया को सत् के समान बना देती है ॥ ३३ ॥

श्रीराम ! जड़ता से भरे पदार्थों द्वारा जो कुछ किया जाता है, वह उनके द्वारा किया गया नहीं माना जाता है अर्थात् शरीर के द्वारा किये गये कार्यों से अपराध आदि दोषों का उनमें चेतन के समान आरोप नहीं किया जाता है, व्यापार कर रहा भी जड़ता से भरा हुआ यह शरीर किसी समय भी कर्ता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इच्छा-धीन ही कर्तृत्व रहता है ॥ ३४ ॥

जड देह तो इच्छा से रहित है और इस निर्विकार आत्मा में इच्छा रहती नहीं, इसलिए कोई कर्ता नहीं है, केवल आत्मा शरीर का द्रष्टा है ॥ ३५ ॥

यथा दीपो निवातस्थः स्वात्मन्येवाऽवतिष्ठते ।
साक्षिवत्सर्वभावेषु तथा तिष्ठेज्जगत्स्थितौ ॥ ३६ ॥
यथा दिवसकर्माणि भास्करः खस्थ एव सन् ।
करोत्येवमिमां राम ! कुरु पार्थिवसंस्थितिम् ॥ ३७ ॥
अस्मिन्नसन्मये देहगृहे शून्ये समुत्थिते ।
सत्तामुपगते मिथ्याबालकल्पितयक्षवत् ॥ ३८ ॥
कुतोऽप्यागत्य निःसारः सर्वसज्जनवर्जितः ।
अहङ्कारः कुवेतालः प्रविष्टश्चित्तनामकः ॥ ३९ ॥
अस्य मा भृत्यतां गच्छ त्वमहङ्कारदुर्मतेः ।
अस्य भृत्यतया राम ! निरयः प्राप्यते फलम् ॥ ४० ॥
स्वसङ्कल्पविलासेन देहगेहे दुराकृतिः ।
उन्मत्तचित्तवेतालः परिवल्गति लीलया ॥ ४१ ॥
शून्यं देहगृहं प्राप्य चित्तयक्षेण तत्कृतम् ।
भीता येन महान्तोऽपि समाधिनियताः स्थिताः ॥ ४२ ॥
चित्तवेतालमुद्रास्य स्वशरीरकमन्दिरात् ।

इस जगत्स्थिति में एवं समस्त भूतों में साक्षी के सदृश तटस्थ होकर अपने स्वरूप में वैसे ही स्थित रहना चाहिए जैसे वायुशून्य प्रदेश में रहने वाला दीपक अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी ! आप भी दूर रहकर भी वैसे ही यह राज्य-व्यवस्था कीजिए जैसे दूरातिदूर आकाश में स्थित रहकर ही सूर्यदेव दैनिक कार्य करते हैं ॥ ३७ ॥

इस असद्रूप सङ्कल्पजनित देहरूप शून्य घर का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर उसमें अज्ञानी बालक द्वारा कल्पित असत्य यज्ञ के सदृश, चित्त नामक अहङ्काररूप निस्तत्त्व एवं समस्त सज्जनों की सङ्गति से वर्जित दुष्ट वेताल है, कहीं से भी आकर, प्रविष्ट हो जाता है ॥ ३८, ३९ ॥

हे रामभद्र ! आप इस दुष्टबुद्धि अहङ्कार की दासता प्राप्त करें क्योंकि इसकी दासता से नरकरूप फल की प्राप्ति होती है ॥ ४० ॥

देहरूपी घर में अपने नानाविधि सङ्कल्प के विलास से बीभत्स आकृतिवाला मदोन्मत्त चित्तरूपी वेताल लीला से चारों ओर मिथ्या गर्जन करता रहता है ॥ ४१ ॥

शून्य देहरूपी घर प्राप्तकर चित्तरूपी यक्ष ने वह काम किया है, जिससे बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता भी भय खाकर समाधि में तत्पर होकर स्थित हैं ॥ ४२ ॥

अपने तुच्छ शरीर रूपी मन्दिर से चित्त रूपी वेताल को हटा देने से इस संसार रूपी शून्य नगर में पुरुष कभी भी नहीं डरता ॥ ४३ ॥

संसारशून्यनगरे न बिभेति कदाचन ॥ ४३ ॥
चित्तभूताभिभूतेऽस्मिन् ये शरीरगृहे रताः ।
चित्रमद्यापि ते कस्माद् घटिता आत्मवत्स्थिताः ॥४४॥
ग्रस्ते चित्तपिशाचेन देहसद्मनि ये मृताः ।
पिशाचस्येव या बुद्धिर्नाऽपिशाचस्य राघव ! ॥ ४५ ॥
अहङ्कारबृहद्यक्षगृहे दग्धशरीरके ।
विहरन्नाऽऽस्थया साधो ! न तु वै तत्किल स्थिरम् ॥४६॥
अहङ्कारानुचरतां त्यक्त्वा विततया धिया ।
अहङ्कारास्मृतिं प्राप्य स्वात्मैवाऽऽश्ववलम्ब्यताम् ॥४७॥
अहङ्कारपिशाचेन ग्रस्ता ये निरयैषिणः ।
तेषां मोहमदान्धानां न मित्राणि न बान्धवाः ॥ ४८ ॥
अहङ्कारोपहतया बुद्ध्या या क्रियते क्रिया ।
विषवल्ल्या इव फलं तस्याः स्यान्मरणात्मकम् ॥४९॥
विवेकधैर्यहीनेन स्वाहङ्कारमहोत्सवः ।
मूर्खेणाऽऽलम्बितो येन नष्टमेवाऽऽशु विद्धि तम् ॥ ५० ॥

चित्त रूपी पिशाच से अभिभूत इस शरीर रूपी घर में आसक्त अनन्त कोटि शरीरों के विनष्ट हो जाने पर भी अब तक देह में आत्मरूपता बुद्धि से समन्वित होकर क्यों स्थित हैं—बड़ा आश्चर्य है ॥ ४४ ॥

हे राघव ! चित्त रूपी पिशाच से ग्रस्त देह रूपी घर में जो मर चुके हैं, उनकी जो बुद्धि है, वह पिशाच के समान है, अपिशाच के समान नहीं ॥ ४५ ॥

हे साधो, अहङ्कार रूपी बड़े यक्ष के घर रूपी तापत्रय रूप अग्नि से दग्ध हुए शरीर में आसक्ति से विहार कर रहा पुरुष पिशाच ही है, क्योंकि वह शरीर स्थिर नहीं है ॥ ४६ ॥

पहले विशद बुद्धि से अहङ्कार की दासता छोड़कर अनन्तर योगभूमिका के अभ्यास से अहङ्कार का आत्यन्तिक विस्मरण कर शीघ्रातिशीघ्र अपनी आत्मा का ही अवलम्बन करना चाहिए ॥ ४७ ॥

नरक की चाह रखने वाले जीव अहङ्कार रूपी पिशाच से आक्रान्त हैं, मोह रूपी मद से अन्धे उन जीवों के न कोई मित्र बनते हैं और न कोई बन्धु ही ॥ ४८ ॥

अहङ्कार से परिपूर्ण बुद्धि से की जाने वाली क्रिया का विषवल्ली के फल के सदृश उसका फल, कलह एवं जन शत्रुता के कारण, मरण रूप ही प्राप्त होता है ॥४९॥

जिस मूर्ख ने विवेक एवं धैर्य से हीन अपने अहङ्कार-रूपी महोत्सव का अवलम्बन किया, उसे आप तत्काल विनष्ट ही जानिए ॥ ५० ॥

अहङ्कारपिशाचेन वराका ये वशीकृताः ।
त एते नारकाग्नीनां राघवेन्धनतां गताः ॥ ५१ ॥
अहङ्कारोरगो यस्य परिस्फूर्जति कोटरे ।
स्वदेहपादपोऽधीरैरचिरेण निपात्यते ॥ ५२ ॥
अहङ्कारपिशाचोऽस्मिन् देहे तिष्ठतु यातु वा ।
त्वमेनमालोकय मा मनसा महतां वर ! ॥ ५३ ॥
अवधूतो ह्यवज्ञातश्चेतसैव तिरस्कृतः ।
अहङ्कारपिशाचस्ते नेह किञ्चित् करिष्यति ॥ ५४ ॥
देहालये स्फुरत्यस्मिन् राम ! चित्तपिशाचके ।
अस्याऽनन्तविलासस्य किमिवाऽऽगतमात्मनः ॥ ५५ ॥
चित्तयक्षाभिभूतानां याः पुंसां विततापदः ।
शक्यन्ते परिसंख्यातुं न ता वर्षशतैरपि ॥ ५६ ॥
हा हा मृतोऽस्मि दग्धोऽस्मीत्येता वै दुःखवृत्तयः ।
अहङ्कारपिशाचस्य शक्तयोऽन्यस्य नाऽनघ ! ॥ ५७ ॥

हे राघव ! अहङ्काररूपी पिशाच ने जिनको अपने अधीन बना लिया, वे सब नरकरूपी अग्नियों के इन्धन ही बन गये हैं ॥ ५१ ॥

जिस अपनी देहरूपी वृक्ष के हृदय में (कोटर में) अहङ्काररूपी सर्प चारों ओर विस्फूर्जित होता रहता है, वह स्वदेहरूपी वृक्ष को अधीर पुरुष तत्काल ही काटकर गिरा देते हैं ॥ ५२ ॥

हे महान् व्यक्तियों में श्रेष्ठ ! इस देह में अहङ्काररूपी पिशाच रहे या चला जाय, परन्तु आप उसकी ओर मन से तनिक भी दृष्टपात न कीजिए ॥ ५३ ॥

चित्त से ही बुरी तरह फटकारा गया, अपमानित तथा तिरस्कृत हुआ यह अहङ्काररूपी पिशाच यहाँ तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है ॥ ५४ ॥

अहङ्कार का अनुसरण करने से ही आत्मा के लिए अनर्थ प्राप्त होता है, उसकी उपेक्षा करने पर तो विद्यमान रहता हुआ भी वह कुछ नहीं कर सकता है ।

हे श्रीरामजी, इस देहरूपी घर में चित्तरूपी पिशाच के स्फुरित होनेपर भी असीम विलासों से सम्पन्न इस आत्मा में क्या हुआ ? अर्थात् ॥ ५५ ॥

चित्तरूपी यक्ष से पराजित पुरुषों के लिए बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं, उनकी सैकड़ों वर्षों में भी गिनती नहीं की जा सकती ॥ ५६ ॥

हे पापशून्य ! 'हा ! हा ! मैं मर गया हूँ' 'मैं जल गया हूँ' इत्यादि दुःखवृत्तियाँ अहङ्काररूपी पिशाच की ही शक्तियाँ हैं, दूसरे की नहीं ॥ ५७ ॥

सर्वगाऽपि यथाऽऽकाशः सम्बन्धो नेह केनचित् ।
सर्वगोऽपि तथैवाऽऽत्मा नाऽहङ्कारेण सङ्गतः ॥ ५८ ॥
यत्करोति यदादत्ते देहयन्त्रमिदं चलम् ।
वातरज्जुयुतं राम ! तदहङ्कारचेष्टितम् ॥ ५९ ॥
वृक्षोत्पत्तौ यथा हेतुरकर्त्रपि किलाऽम्बरम् ।
आत्मसंस्थस्तथेहाऽऽत्मा चित्तचेष्टासु कारणम् ॥ ६० ॥
आत्मसन्निधिमात्रेण स्फुरत्यात्तवपुर्मनः ।
दीपसन्निधिमात्रेण कुड्यरूपमिवाऽमलम् ॥ ६१ ॥
अपि विश्लिष्टयो राम ! नित्यमेवाऽऽत्मचित्तयोः ।
द्यावापृथिव्योरिव कः सम्बन्धः प्रकटान्धयोः ॥ ६२ ॥
चपलस्पन्दनेराभिरात्मशक्तिभिरावृतम् ।
चित्तमात्मेति मौर्ख्येण दृश्यते रघुनन्दन ! ॥ ६३ ॥
आत्मा प्रकाशरूपो हि नित्यः सर्वगतो विभुः ।
चित्तं शठमहङ्कारं विद्धि हार्दं बृहत्तमः ॥ ६४ ॥

सर्वत्र व्यापक आत्मा भी अहङ्कार से वैसे ही संश्लिष्ट नहीं होता है जैसे सर्वत्र व्यापक आकाश यहाँ किसी से संश्लिष्ट नहीं होता ॥ ५८ ॥

हे श्रीरामजी ! सूत्रात्मा प्राण से संयुक्त यह चंचल देहरूपी यन्त्र जो कुछ करता एवं जो कुछ लेता है, वह सब अहङ्कार का ही कृत्य है ॥ ५९ ॥

जब समस्त चेष्टाओं का निमित्त अहङ्कार है, आत्मा नहीं; जैसे कर्तृत्व से शून्य भी आकाश वृक्ष की उत्पत्ति में कारण है, वैसे ही अपने स्वरूप से स्थित आत्मा भी इन चित्त की चेष्टाओं के कारण है ।। ६० ॥

जैसे एकमात्र दीप की सन्निधि से निर्मल भीत का रूप प्रकाशित होता है वैसे ही एकमात्र आत्मा की सन्निध से ही सत्ता प्राप्त करने वाला या स्थूल देह की कल्पना करने वाला मन स्फुरित होता है ॥ ६१ ॥

हे श्रीरामजी ! निरन्तर दूर रहने वाले चैतन्यरूप और जड़रूप आत्मा एवं चित्त का, पृथिवी और आकाश की तरह कौन-सा सम्बन्ध हो सकता है ? ॥ ६२ ॥

हे रघुनन्दन ! अत्यन्त चंचल स्पन्दनों की प्रेरणा करने वाली प्राणशक्तियों से वशीकृत चित्त अभेदाध्यासरूप अज्ञान से ही 'चित्त आत्मा है' इस प्रकार प्रतीत होता है ॥ ६३ ॥

आत्मा प्रकाशस्वरूप, चैतन्यरूप, अविनाशी, सर्वत्र विद्यमान और व्यापक है तथा अहङ्काररूप चित्त वंचक और हृदयवर्ती सबसे बड़ा अन्धकार है, यह आप समझें ॥ ६४ ॥

आत्माऽसि वस्तुतस्त्वं हि सर्वज्ञो न मनो भृशम् ।
दूरे कुरु मनोमोहं किमेतेनाऽभिसङ्गतः ॥ ६५ ॥
पिशाचोऽपि मनो राम ! शून्यदेहगृहे स्थितः ।
भावयत्येष दुष्टात्मा मौनमुत्तम ! संस्पृशन् ॥ ६६ ॥
भवप्रदमकल्याणं धैर्यसर्वस्वहारिणम् ।
मनःपिशाचमुत्सृज्य योऽसि स त्वं स्थिरो भव ॥ ६७ ॥
चित्तयक्षदृढाक्रान्तं न शास्त्राणि न बान्धवाः ।
शक्नुवन्ति परित्रातुं गुरवो न च मानवम् ॥ ६८ ॥
संशान्तचित्तवेतालं गुरुशास्त्रार्थबान्धवाः ।
शक्नुवन्ति समुद्धर्तुं स्वल्पपङ्कान्मृगं यथा ॥ ६९ ॥
अस्मिञ्जगच्छून्यपुरे सर्वमेव प्रदूषितम् ।
देहगेहं प्रमत्तेन चित्तयक्षेण वल्गता ॥ ७० ॥
चित्तवेतालवलिता समस्ता देहखण्डजा ।
इयं जगदरण्यानी शून्या कस्य न भीतये ॥ ७१ ॥

श्रीरामजी, वस्तुतः आप सर्वज्ञ आत्मस्वरूप हैं, मनोरूप नहीं इसलिए मनोरूप मोह को तत्काल ही अत्यन्त दूर कर दीजिए, क्योंकि आपने उसके साथ निरर्थक ही सङ्गति कर रक्खी है ॥ ६५ ॥

हे श्रेष्ठ श्रीरामजी ! शून्यदेहरूपी घर में स्थित यह मनरूपी दुष्टात्मा पिशाच, वास्तव में आत्मा का स्पर्श न कर भी 'मैं आत्मा का स्पर्श करता हूँ'—इस प्रकार चुपचाप भावना करता रहता है ॥ ६६ ॥

संसार को देने तथा धैर्यरूपी सर्वस्व को चुरा लेने वाले अभद्र, मनरूपी पिशाच का परित्याग कर विशुद्ध चैतन्य स्वरूप वाले आप उसी स्वरूप से स्थिर हो जाइए ॥ ६७ ॥

चित्तरूपी यक्ष से दृढ़तापूर्वक दबाये गये मनुष्य की न शास्त्र, न बन्ध और न गुरु ही भलीभाँति रक्षा कर सकते हैं ॥ ६८ ॥

जिस पुरुष का चित्तरूपी वेताल अपने दुष्ट व्यापारों से विरत है शुद्ध चित्त पुरुष का—गुरु, शास्त्र, धन और बन्धु वैसे ही उद्धार कर सकते हैं, जैसे अल्प कीचड़ से बछड़े का ॥ ६९ ॥

इस जगत्-रूपी शून्य-नगर में सभी देहरूपी घर मदोन्मत्त तथा व्यर्थ की सम्यक् गर्जना करनेवाले चित्तरूपी यज्ञ ने दूषित कर दिये हैं ॥ ७० ॥

चित्तरूपी वेताल से वेष्टित तथा देहरूपी छोटे भाग में उत्पन्न शून्य यह समस्त जगद्रूपी बड़ी वन-भूमि में किसे भयभीत नहीं करती ? ॥ ७१ ॥

जगन्नगर्यामस्यां तु शान्तचित्तपिशाचकम् ।
देहगेहं कतिपयैः सेव्यते सद्भिरेव यत् ॥ ७२ ॥
इह संश्रूयते या या दिक्सैव रघुनन्दन ! ।
प्रमत्तमोहवेतालैः पूर्णा देहश्मशानकैः ॥ ७३ ॥
अस्यां जगदरण्यान्यां मुह्यन्तं मुग्धबालवत् ।
स्वयमाराध्य धैर्यांशमात्मनाऽऽत्मानमुद्धरेत् ॥ ७४ ॥
जगज्जरदरण्येऽस्मिश्चरद्भूतमृगव्रजे ।
धृतिं तृणरसै राम ! मा गच्छ मृगपोतवत् ॥ ७५ ॥
अस्मिन् महीतलारण्ये चरन्ति मृगपोतकाः ।
त्वमज्ञानगजं भुक्त्वा सैंहीं वृत्तिमुपाश्रय ॥ ७६ ॥
अन्ये नरमृगा मुग्धा जम्बूद्वीपे स्वजङ्गले ।
विहरन्ति यथा राम ! तथा मा विहराऽनघ ! ॥ ७७ ॥
अत्यल्पकालशिशिरे कर्दमालेपदायिनि ।
न मङ्क्तव्यं बन्धुरूपे महिषेणेव पल्वले ॥ ७८ ॥

क्योंकि इस जगत्-रूपी नगरी में जिसमें से चित्तरूपी पिशाच प्रशान्त हो गया है ऐसे—देहरूपी घर की कुछ इने-गिने सज्जन ही सेवा करते हैं ॥ ७२ ॥

हे रघुनन्दन ! इस संसार में जो दिशाएँ सुनाई देती हैं, वे देहरूपी श्मशान-भूमि में मङ्गल मनानेवाले मदोन्मत्त मोहरूपी वेतालों से पूर्ण हैं ॥ ७३ ॥

इस जगत्-रूपी महान् अरण्य में, अज्ञानी बालक की तरह मोहित हो रही अपनी आत्मा का स्वयं दृढ़ता से धैर्य का धारण कर, स्वयं ही उद्धार कर लेना चाहिए ॥ ७४ ॥

हे श्रीरामजी ! इस संसार रूपी अरण्य में संचारण कर रहे प्राणिरूपी मृगों से व्याप्त हिरन के बच्चे की तरह तृणों के सदृश निःसार विषय-रसों से आप अपने को कृतकृत्य मत मानिए ॥ ७५ ॥

श्रीरामभद्र, इस पृथ्वीतल के अरण्य में दूसरे अज्ञानी, जीव, हिरन के बच्चों की तरह यदि विषयरूपी कोमल तिनके चर जाते हैं, तो उन्हें भले ही चर जाने दीजिए, परन्तु आप तो अज्ञानरूपी हाथी का शिकार कर सिंह की वृत्ति धारण कीजिए ॥ ७६ ॥

श्रीरामजी हे अनघ ! रामभद्र, आप वैसे ही विहार मत कीजिए। जैसे दूसरे मनुष्य मृग मुग्ध होकर अपने अरण्य रूप जम्बूद्वीप में विषयरूपी घास चरकर विहार करते हैं ॥ ७७ ॥

बन्धुवर्गरूपी एक तरह से अत्यन्त थोड़े समय के लिए ठण्डक पहुँचाने वाले तथा आसक्तिरूप कीचड़ से चारों

भोगाभोगा बहिष्कार्या आर्यस्याऽनुसरेत् पदम् ।
प्रविचार्य महार्थं स्वसेकमात्मानमाश्रयेत् ॥ ७९ ॥
अपवित्रस्य तुच्छस्य दुर्भगस्य दुराकृतेः ।
देहस्याऽर्थे न मङ्क्तव्यं चिन्ताचण्डी सुदारुणा ॥ ८० ॥
अन्येन रचितो देहो यक्षेणाऽन्येन संश्रितः ।
दुःखमन्यस्य भोक्ताऽन्यश्चित्रेयं मौर्ख्यचक्रिका ॥ ८१ ॥
यथैकरूपा घनता दृषदोऽस्त्यात्मनस्तथा ।
सत्तामात्रैकसामान्यादितरस्याऽप्यसम्भवात् ॥ ८२ ॥
यथोपलस्य घनता मानसादि तथाऽऽत्मनः ।
सत्तामात्रादभिन्नत्वादभावादस्य संस्थितेः ॥ ८३ ॥
यथोपलस्योपलता घटस्य घटता यथा ।
सत्तामात्रादभिन्नैव मानसादि तथाऽऽत्मनः ॥ ८४ ॥

ओर लिप देनेवाले छोटे जलाशय में आपको, भैंस की तरह डूबना नहीं चाहिए ॥ ७८ ॥

आपको विषय रूपी सर्पों का बहिष्कार कर देना चाहिए, आर्यों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए और 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ का भली प्रकार विचार कर अपनी अद्वितीय आत्मा का ही आश्रयण करना चाहिए ॥ ७९ ॥

अपवित्र, तुच्छ, भाग्य रहित तथा दुष्टरूपवाले शरीर के लिए आसक्तिरूपी कीचड़ में कभी फँसना नहीं चाहिए, उसमें फँसे हुए पुरुषों को चिन्तारूप क्रूर राक्षसी खा लेती है ॥ ८० ॥

इस देह की रचना कर्म ने की हैं, उसका आश्रयण दूसरे अहङ्काररूपी यक्ष ने किया है, दुःख किसी तीसरे को मिलता है और भोक्ता कोई चौथा ही जीव है, इस प्रकार की यह अज्ञान की चल रही परम्परा आश्चर्यरूप ही है ॥८१॥

आत्मा की घनता भी एकमात्र सामान्यात्मक सत्ता-स्वरूप से वैसे ही पृथक् नहीं है किन्तु अभिन्नरूप ही है, जैसे पत्थर की घनता सत्तासामान्य से पृथक् रूप नहीं है किन्तु एकरूप ही है, क्योंकि सद्रूप से पृथक् दूसरा रूप ही नहीं है सद्भिन्न है—उसकी असत्, अलीक आदि पदों से ही प्रसिद्धि है ॥ ८२ ॥

समष्टि-व्यष्ट्यात्मक मनःसमूह और तत्-तत् मन के कार्यभूत स्थूल प्रपञ्च भी आत्मा से वैसे ही पृथक् अस्तित्व नहीं रखता जैसे पत्थर का काठिन्य पत्थर से पृथक् अस्तित्व नहीं रखता, क्योंकि सत्तामात्रस्वभाव आत्मा से अभिन्न होने के कारण इन मन आदि की पृथक् अवस्थिति

अत्रेमामपरां दृष्टिं महामोहविनाशिनीम् ।
शृणु या कथिता पूर्वं मम कैलासकन्दरे ।
संसारदुःखशान्त्यर्थं देवेनाऽर्धेन्दुमौलिना ॥ ८५ ॥
अस्तीन्दुकरसंभारभासुरः पारगो दिवः ।
कैलासो नाम शैलेन्द्रो गौरीरमणमन्दिरम् ॥ ८६ ॥
तत्राऽऽस्ते भगवान् देवो हरश्चन्द्रकलाधरः ।
तं पूजयन्महादेवं तस्मिन्नेव गिरौ पुरा ॥ ८७ ॥
कदाचिदवसं गङ्गातटे विरचिताश्रमः ।
तपोर्थं तापसाचारे चिराय रचितस्थितिः ॥ ८८ ॥
सिद्धसङ्घातवलित कृतशास्त्रार्थसंग्रहः ।
पुष्पार्थं स्यूतपुटिकः पुस्तकव्यूहसंग्रही ॥ ८९ ॥
एवंगुणविशिष्टस्य कैलासवनकुञ्जके ।
तपः प्रचरतो राम ! मम कालोऽत्यवर्तत ॥ ९० ॥

ही नहीं रह सकती ॥ ८३ ॥

समष्टि-व्याष्टि मन आदि आत्मा से वैसे ही अभिन्न ही हैं जैसे पत्थर का पत्थरपन अथवा जैसे घट का घटपन सत्तास्वरूप सामान्य से अभिन्न ही है ॥ ८४ ॥

उस मानस-शिवपूजा रूप इस दूसरी दृष्टि का आप श्रवण कीजिए, जो पूर्व में चन्द्रमौलि भगवान् शङ्कर ने कैलास पर्वत की कन्दरा में संसार-दुःख की शान्ति के लिए मेरे समक्ष कही थी ॥ ८५ ॥

चन्द्रमा के किरण समूहों की तरह भास्वर कैलास-नायक एक पर्वतों का राजा है। वह अपनी ऊँचाई से आकाश को भी पार कर गया है और वह—गौरीरमण भगवान् श्रीशङ्कर का एक मन्दिर है ॥ ८६ ॥

वहाँ पर चन्द्रकला धारण किये हुए स्वयं प्रकाशमान भगवान् महादेवजी रहते हैं ॥ ८७ ॥

पहले किसी समय उसी पर्वत पर उन देवाधिदेव की पूजा कर रहा मैं गङ्गाजी के किनारे आश्रम बनाकर रहता था। तप के लिए वहाँपर मैंने दीर्घकाल तक तपस्वियों द्वारा अनुष्ठीयमान कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि में नियमपूर्वक निष्ठा की ॥ ८८ ॥

वहाँ पर मेरे चारों ओर सिद्धों के समूह रहते थे। मैं उनसे विचार-विनिमय कर शास्त्रीय दुरूह तत्त्वों का संग्रह करता था। मैंने फूल चुनने के लिए एक डलिया रक्खी थी और अनेक शास्त्रीय पुस्तकों का संग्रह भी किया था ॥ ८९ ॥

हे श्रीरामजी ! इस प्रकार के गुणों से सम्पन्न कैलास वन के कुञ्जों में तपश्चर्या करते हुए मेरा बहुत समय व्यतीत हो गया ॥ ९० ॥

अथैकदा कदाचित्तु बहुलस्याऽष्टमे दिने ।
गते श्रावणपक्षस्य रात्र्यग्रे क्षयमागते ॥ ९१ ॥
दिक्षु संशान्तरूपासु काष्ठमौनस्थितास्विव ।
खड्गच्छेद्यान्धकारेषु कुञ्जेषु गहनेषु च ॥ ९२ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र यामार्धे प्रथमे गते ।
समाधिं तनुतां नीत्वा स्थितोऽहं बाह्यमग्नदृक् ॥ ९३ ॥
अपश्यं कानने तेजो झटित्येव समुत्थितम् ।
शुभ्राभ्रशतसंकाशं चन्द्रबिम्बगणोपमम् ॥ ९४ ॥
प्रकटीकृतदिक्कुञ्जं तदालोक्य मया स्मयात् ।
अन्तःप्रकाशशालिन्या बहिर्दृष्ट्याऽवलोकितम् ॥ ९५ ॥
यावत्पश्यामि तं सानुं प्राप्तश्चन्द्रकलाधरः ।
गौरीकरार्पितकरो नन्दिप्रोत्सारिताग्रगः ॥ ९६ ॥
शिष्यान्सम्बोध्य तत्रस्थान् गृहीत्वाऽर्घ्यं सुसंयतः ।

अनन्तर किसी समय श्रावण के कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि को रात्रि के प्रथम भाग यानी प्रदोषसमय पूजा, जप, ध्यान आदि से मेरा समय व्यतीत हो चुका था ॥ ९१ ॥

प्राणियों संचरण आदि व्यापारों का उपशम हो जाने से शान्तस्वरूप दिशाएँ उस समय काठ की तरह मौन-व्रत में अवस्थित थीं । गहन कुञ्जों में अन्धकार इतना घना था कि वह तलवार से काटने योग्य बन गया था ॥ ९२ ॥

इसी बीच प्रथम यामार्ध के यहाँ व्यतीत हो जानेपर मैंने अपनी समाधि को कुछ बहिर्मुख बना कर बाह्य पदार्थों की ओर दृष्टि दौड़ाई ॥ ९३ ॥

उस समय उस अरण्य में तत्काल ही उत्पन्न शुभ्रातिशुभ्र सैकड़ों अभ्रों के तुल्य धवल एवं असंख्य चन्द्रबिम्बों के सदृश चमकीला एक बड़ा तेज, मैंने देखा ॥ ९४ ॥

उस तेज की चकाचौंध से दिशाओं के समस्त कुञ्ज प्रकाशमय हो उठे । मैंने बड़े विस्मय के साथ उसे देखा और देखकर भीतर की प्रकाशमान दिव्य-दृष्टि से उसके विषय में विचार किया और अनन्तर फिर बाह्यदृष्टि से विशेष-अवयवों का अनुसन्धानपूर्वक उसका अवलोकन किया ॥ ९५ ॥

विचार कर जैसे ही मैं सामने का शिखर-प्रदेश को देखता हूँ, वैसे ही चन्द्रकलाधर महादेव जी उपस्थित हो गये । उन्होंने अपना एक हाथ भगवती गौरी के हाथ में रक्खा था और उनके गण नन्दी आगे चलने वालों को हटा रहे थे ॥ ९६ ॥

अगमं सुमनास्तस्य दृष्टिपूतमहं पुरः ॥ ९७ ॥
तत्र पुष्पाञ्जलिं दत्वा दूरादेव त्रिलोचनः ।
दत्तार्घ्येण मया देवः संप्रणम्याऽभिवन्दितः ॥ ९८ ॥
ततश्चन्द्रप्रभासख्या ऋज्व्या शीतलया तया ।
दृशा सर्वार्तिहारिण्या चिरमस्म्यास्पदीकृतः ॥ ९९ ॥
पुष्पसानूपविष्टाय तस्मै त्रैलोक्यसाक्षिणे ।
अर्घ्यं पुष्पं तथा पाद्यमभ्युपेत्यार्पितं मया ॥१००॥
मन्दारपुष्पाञ्जलयो विकीर्णा बहवः पुरः ।
नानाविधैर्नमस्कारैः स्तोत्रैश्चाऽभ्यर्चितः शिवः ॥१०१॥
ततो भगवती गौरी तादृश्यैव सपर्यया ।
संपूजिता सखीयुक्ता गणमण्डलिका तथा ॥१०२ ॥
पूजान्ते पूर्णशीतांशुरश्मिशीतलया गिरा ।
तत्रोपविष्टं प्रोवाच मामर्धेन्दुकलाधरः ॥१०३॥

वहाँ उपस्थित समस्त शिष्यों को सम्बोधित कर तथा अर्घ्यपात्र लेकर सावधान एवं प्रसन्न-मन मैं उन गौरीपति के दृष्टिपूत पुरःप्रदेश में गया उनकी पवित्र सन्निधि में पहुँचा ॥ ९७ ॥

वहाँ जाकर दूरे से ही मैंने पुष्पाञ्जलि समर्पित की और अर्घ्य प्रदान किया । अनन्तर तीन नेत्र वाले महादेव को साष्टाङ्ग प्रणाम कर उनका अभिवन्दन किया ॥९८॥

अनन्तर चन्द्रज्योत्स्ना की सखीभूत कोमल, शीतल तथा समस्त सन्तापों का अपहरण करने वाली उस महादेवजी की स्वानुभूत अलौकिक निरतिशयानन्द के आविर्भावभूत चमत्कार से परिपूर्ण दृष्टि का मैं दीर्घकालतक भाजन बना रहा ॥ ९९ ॥

पुष्पों के शिखर पर उपविष्ट तीनों लोकों के साक्षी उस देवाधिदेव को मैंने समीप जाकर अर्घ्य, पुष्प तथा पाद्य का समर्पण किया ॥ १०० ॥

उनके सामने मैंने अनेक मन्दार-पुष्पों की अञ्जलियाँ बिखेर दी और नानाविध नमस्कार एवं स्तोत्रों से शिवजी का अभ्यर्चन किया ॥ १०१ ॥

अनन्तर मैंने शिवजी की पूजा के सदृश ही पूजा से सखियों से युक्त तथा गणमण्डल से परिवेष्टित भगवती गौरी का उत्तम रीति से पूजन किया ॥ १०२ ॥

पूजा की समाप्ति होनेपर उनकी आज्ञा से पुष्पमय शिखर पर बैठे हुए मुझसे अर्धचन्द्र की कला धारण करने वाले भगवान् उमापति परिपूर्ण हिमांशु-किरण के सदृश शीतल वाणी से कहने लगे ॥ १०३ ॥

ब्रह्मन् ! प्रशमशालिन्यः प्राप्तविश्रान्तयः परे ।
कच्चित् कल्याणकारिण्यः संविदस्ते स्थिताः पदे ।१०४।
कच्चित्तपस्ते निर्विघ्नं कल्याणमनुवर्तते ।
कच्चित् प्राप्यमनुप्राप्तं कच्चिच्छाम्यन्ति भीतयः ।१०५।
एवं वादिनि देवेशे सर्वलोकैककारिणि ।
गिराऽनुनयशालिन्या मयोक्तं रघुनन्दन ! ॥१०६॥
त्र्यक्षानुस्मृतिकल्याणवतामिह महेश्वर ! ।
न किञ्चिदपि दुष्प्रापं न च काञ्चन भीतयः ॥१०७॥
त्वदनुस्मरणानन्दपरिघूर्णितचेतसाम् ।
न ते सन्ति जगत्कोशे प्रणमन्ति न ये पुनः ॥१०८॥
ते देशास्ते जनपदास्ता दिशस्ते च पर्वताः ।
त्वदनुस्मरणैकान्तधियो यत्र स्थिता जनाः ॥१०९॥
फलं भूतस्य पुण्यस्य वर्तमानस्य सेचनम् ।
तनोति चैष्यतो बीजं त्वदनुस्मरणं प्रभो ॥११०॥

हे ब्रह्मन्, सर्वविध सांसारिक उपद्रवों के उपशम से विराजित, परमात्मरूप पर-वस्तु में विश्रान्ति ले रही तथा मोक्षरूप उत्तम कल्याण देने वाली तुम्हारी चित्तवृत्तियाँ अपने स्वरूप में अवस्थित तो हैं ? ॥ १०४ ॥

तुम्हारा कल्याणकारी तप निर्विघ्नरूप से बराबर चल रहा है न ? प्राप्तव्य वस्तु प्राप्त कर ली है न ? और सांसारिक भीतियाँ शान्त हो रही हैं न ? ॥ १०५ ॥

हे रघुनन्दन ! समस्त लोकों के एकमात्र हेतु देवाधिदेव महादेवजी के इस प्रकार कहने के बाद मैंने विनययुक्त वाणी से उनसे निवेदन किया ॥ १०६ ॥

हे महेश्वर ! देवाधिदेव त्रिनेत्र की निरन्तर स्मृति से प्राप्त उत्तम कल्याण से सम्पन्न पुरुषों के लिए इस संसार में कोई भी वस्तु न तो दुष्प्राप्य है और न किसी तरह की भीतियाँ ही हैं ॥ १०७ ॥

आपके निरन्तर स्मरण-जनित आनन्द से चारों ओर से घूर्णित चित्त पुरुषों के लिए इस जगत्कोश में वे प्राणी ही नहीं हैं, जो उन्हें प्रणाम नहीं करते हैं ॥ १०८ ॥

एकमात्र आपके अनुस्मरण में निरन्तर जिनका मन लगा रहता है, ऐसे पुरुष जहाँ स्थित रहते हैं, वे ही देश, वे ही जनपद, वे ही दिशाएँ और वे पर्वत श्रेष्ठ हैं ॥१०९।

हे प्रभो, आपका अनुस्मरण पूर्व संचित पुण्य-वृक्ष के फल को बढ़ा देता है, वर्तमान देह से उत्पादित पुण्य-वृक्ष का अमृत सिञ्चन द्वारा अभिवर्धन करता है और करिष्यमाण पुण्य की अभिवृद्धि के लिए बीज का

ज्ञानामृतैककलशो धृतिज्योत्स्नानिशाकरः ।
अपवर्गपुरद्वारं त्वदनुस्मरणं प्रभो ! ॥१११॥
त्वदनुस्मरणोदारचिन्तामणिमता मया ।
सर्वासामापदां मूर्ध्नि दत्तं भूतपते पदम् ॥ ११२॥
इत्युक्त्वा सुप्रसन्नं तं भगवन्तं महेश्वरम् ।
अवोचं प्रणतो भूत्वा यद्राम ! तदिदं शृणु ॥११३॥
भगवंस्त्वत्प्रसादेन पूर्णा मे सकला दिशः ।
किन्तु पृच्छामि देवेश ! सन्देहे तत्र निर्णयम् ॥११४॥
ब्रूहि प्रसन्नया बुद्धया त्यक्तोद्वेगमनामयम् ।
सर्वपापक्षयकरं सर्वकल्याणवर्धनम् ॥११५॥
देवार्चनविधानं तत्कीदृशं भवति प्रभो ! ॥११६॥

ईश्वर उवाच

शृणु ब्रह्मविदां श्रेष्ठ ! देवार्चनमनुत्तमम् ।
वदामि मुच्यते येन कृतेन सकृदेव हि ॥११७॥

विस्तार करता है ॥ ११० ॥

हे प्रभो ! आपका अनुसरण ज्ञानरूपी अमृत का एक मात्र आधारभूत कलश है, धृति रूपी ज्योत्सना के लिए चन्द्रमा है और मोक्ष रूपी नगर का द्वार है ॥ १११ ॥

हे समस्त भूतों के अधिपते ! आपके निरन्तर चिन्तन रूपी उदार चिन्तामणि से शोभित मैंने समस्त वर्तमान और भविष्यत् कालीन आपत्तियों के सिर अपना पैर रख दिया है ॥ ११२ ॥

हे श्रीराम जी ! सुप्रसन्न भगवान् शङ्कर जी से इस प्रकार नतमस्तक होकर मैंने जो कहा था उसे आप सुनिए ॥ ११३ ॥

हे भगवन् ! आपकी अनुकम्पा से मेरे लिए समस्त दिशाएँ अभीष्ट पदार्थों से परिपूर्ण हैं; हे देवेश ! मुझे एक सन्देह है, उसके विषय में आपसे निर्णय पूछता हूँ ॥११४॥

हे प्रभो ! वह देवार्चन-विधान किस तरह का है ? जो समस्त चित्त-विक्षेप के हेतुओं से रहित विकारशून्य, समस्त पापों का विनाशकारी तथा समस्त कल्याणों का अभिवर्धक होता है, उसे प्रसन्न-मति से आप मुझसे कहिए ॥ ११५, ११६ ॥

ईश्वर ने कहा—हे ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ ! तुमसे मैं सर्वश्रेष्ठ देवार्चन का विधान कहता हूँ, जिसका अनुष्ठान करने से तत्काल ही मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥ ११७ ॥

कच्चिद्वेत्सि महाबाहो ! देवः कः स्यादिति द्विज ! ।
न देवः पुण्डरीकाक्षो न च देवस्त्रिलोचनः ॥११८॥
न देवः कमलोद्भूतो न देवस्त्रिदशेश्वरः ।
न देवः पवनो नाऽर्को नाऽनलो न निशाकरः ॥११९॥
न ब्राह्मणो नाऽवनिपो नाऽहं न त्वं द्विजोत्तम ! ।
न देवो देहरूपो हि न देवश्चित्तरूपधृक् ॥१२०॥

हे महाबाहो ! द्विजश्रेष्ठ, क्या तुम्हें यह अवगत है कि देवता कौन है ! न तो पुण्डरीकाक्ष ही देव है और न त्रिलोचन महादेव जी ही ॥ ११८ ॥

यहाँ पर 'महाबाहु' शब्द का अर्थ है—निरन्तर देवार्चन से सफलीकृतबाहु । इससे यह सूचित हुआ कि बाहुसापेक्ष बाहर की केवल पूजा में ही शूरता बतलाने के लिए सम्बोधन किया गया है । यदि शङ्का हो कि पुण्डरीकाक्ष और त्रिलोचन आदि देवता तो प्रसिद्ध ही हैं, फिर भगवान् इस साधारण विषय में मुझे अनभिज्ञ क्यों मानते हैं ? इस प्रकार के अभिप्राय वाले वसिष्ठजी की परिच्छिन्न पदार्थों में श्रद्धारूपी जड़ता का प्रथम अपाकरण करने के लिए यहाँ पर 'न देवाः' इत्यादि ग्रन्थ है, यह समझना चाहिए ।

न तो कमलोद्भव ब्रह्माजी देवता हैं और न सर्वदेवताओं के अधिपति इन्द्र ही देवता हैं । न पवन, न सूर्य, न अग्नि और न निशाकर ही वास्तव में देवता हैं । निशाकरशब्द चन्द्रकला के अधीन शरीर वाले तैंतीस करोड़ देव-शरीरों का उपलक्षण है ॥ ११९ ॥

हे द्विजोत्तम ! वास्तव में न ब्राह्मण न राजा और न मैं ही न तुम देवतारूप हो, न आध्यात्मिकभाव से आपन्न देह आदि पदार्थ ही देवतारूप हैं और न चित्तरूपधारी व्यक्ति विशेष ही देवता रूप है ॥ १२० ॥

देह की शोभा भी देवरूप नहीं है और मति भी देवरूप नहीं है; किन्तु क्रियासाध्य वस्तु से विलक्षण, आदि और अन्त से शून्य, निरतिशय आनन्दात्मक चित्प्रकाश ही देवस्वरूप है, यही तत्त्वज्ञों द्वारा कहा जाता है ॥ १२१ ॥

'नाहं न त्वम्' यह निषेध—रुद्र और वसिष्ठ में 'तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्राः' (उत्क्रमणकाल में सम्बन्धियों को रुलाते हैं, अतः प्राण रुद्रनामवाले हैं); 'यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि' (जो मैं वाक् वसिष्ठत्व गुण से युक्त हूँ, उस गुण से तुम—प्राण—वसिष्ठ हो) इत्यादि श्रुतियों में मुख्य समष्टि प्राणरूपता की प्रसिद्धि से तथा

न देवः कमलारूपी नाऽपि देवो भवेन्मतिः ।
अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं देव उच्यते ॥१२१॥
आकारादिपरिच्छिन्ने मिते वस्तुनि तत्कुतः ।
अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं चिच्छिवं विदुः ॥१२२॥
तदेव देवशब्देन कथ्यते तत्प्रपूजयेत् ।
तदेवाऽस्ति यतः सर्वं सत्तासत्तात्मरूपधृक् ॥१२३॥

'कतम एको देव इति प्राणः' इत्यादि प्राण की ही सर्वदेवस्वरूपताप्रतिपादक श्रुति से प्राणभाव से प्राप्त हुए देवस्वरूपत्व का निवारण करने के लिए—किया गया है ।

'नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्' इत्यादि श्रुतियों में आध्यात्मिक चक्षु आदि के लिए देवशब्द के प्रयोग से तथा 'त्वचे स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा' इत्यादि मन्त्रलिङ्ग से देह आदि आध्यात्मिक भावों में प्राप्त हुई देवस्वरूपता का निवारण करते हैं—'देहरूपः' से ।

आध्यात्मिक पदार्थों का उपक्रम होने के कारण कमल शब्द से यहाँ देहादि की शोभा ही ली गई है । मतिशब्द समस्त आध्यात्मिक पदार्थों का उपलक्षण है । इसी न्याय से समस्त आधिभौतिक पदार्थों में भी देवरूपता नहीं है, यह जान लेना चाहिए ।

इसलिए आदि और अन्त से शून्य, स्वाभाविक प्रकाशस्वरूप चित् को मुनि लोग शिव और देव कहते हैं । देश और वस्तु के परिच्छिन्न तथा काल से परिच्छिन्न वस्तु में वह प्रकाश ही कहाँ रहता है ? संस्कृत व्याख्या के अनुसार अच्युत ग्रन्थमाला के अनुवाद में लिखा है तात्पर्य यह है—'दिवु क्रीड़ा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु' यों दस अर्थों में प्रसिद्ध दिवधातु से 'पचाद्यच्' इस सूत्र से अच्प्रत्यय करने पर सिद्ध हुए देवशब्द के संकोच में प्रमाण न होने से वह मायिक निरङ्कुश ऐश्वर्य, स्वच्छन्द क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, स्तुति तथा आविद्यक मद, स्वप्न, इच्छा और गति का निर्वाहक है, अतः उक्त दशविध अर्थों में कौन मुख्य अर्थ है; इसका विचार करने पर द्युति और मोद ही मुख्य अर्थ प्रतीत होते हैं और वे नित्य, निरतिशयानन्दस्वरूप, स्वप्रकाश परब्रह्मरूप ही उपपन्न हो सकते हैं, परिच्छिन्न जड़ों में नहीं ॥ १२२ ॥

वही देवशब्द से व्यवहृत होती है, इसलिए उसकी पूजा करनी चाहिए यतः जगत्, जीव और उसका संसार—ये सब उसकी सत्ता से ही अस्तित्वरूप अपना स्वरूप धारण करते हैं, इसलिए एकमात्र वह चिति ही विद्यमान वस्तु है, दूसरी नहीं ॥ १२३ ॥

अज्ञातशिवतत्त्वानामाकाराद्यर्चनं कृतम् ।
योजनाध्वन्यशक्तस्य क्रोशाध्वा परिकल्प्यते ॥१२४॥
इयत्तादिपरिच्छिन्नं रुद्रादेः प्राप्यते फलम् ।
अकृत्रिममनाद्यन्तं फलमानन्द आत्मनः ॥ १२५॥
अकृत्रिमफलं त्यक्त्वा यः कृत्रिमफलं व्रजेत् ।
त्यक्त्वा स मन्दारवनं कारञ्जं याति काननम् ॥१२६॥
बोधः साम्यं शम इति पुष्पाण्यग्र्याणि तत्र च ।
शिवं चिन्मात्रममलं पूज्यं पूज्यविदो विदुः ॥१२७॥
शमबोधादिभिः पुष्पैर्देव आत्मा यदर्च्यते ।
तत्तु देवार्चनं विद्धि नाऽऽकारार्चनमर्चनम् ॥१२८॥
आत्मसंवित्तिरूपं तु त्यक्त्वा देवार्चनं जनाः ।
कृत्रिमार्चासु ये सक्ताश्चिरं क्लेशं भजन्ति ते ॥१२९॥

परम शिवतत्त्व से अपरिचित के लिए पुण्डरीकाक्ष आदि मूर्तियों का पूजन विहित है। योजनपरिमित मार्ग में अशक्त पुरुष के लिए क्रोश-परिमित मार्ग की कल्पना की जाती है ॥ १२४ ॥

पूजन आदि से प्रसन्न रुद्र आदि देवताओं से इयत्ता आदि से परिच्छिन्न ही फल प्राप्त होता है और तत्त्वतः साक्षात्कारपर्यन्त पूजन से प्रसन्न आत्मा से स्वाभाविक तथा आदि एवं अन्त से रहित अर्थात् आसीम अनन्त होता है ॥ १२५ ॥

स्वाभाविक निरतिशयानन्द रूप फल छोड़कर कृत्रिम फल की ओर प्रवृत्ति करने वाले पुरुष के विषय में यही कहना चाहिए कि वह देवतरु मन्दार का वन छोड़ कर करञ्ज वन की ओर प्रवृत्ति करता है ॥ १२६ ॥

एक मात्र चित्स्वरूप निर्मल शिव ही पूज्य है और उसकी पूजन-सामग्री में विवेक-ज्ञान, सर्वभूतों में आत्म-बुद्धि और शम ये सबसे श्रेष्ठ पुष्प हैं कौन पूज्य है इस विषय का तात्त्विक ज्ञान रखने वाले विद्वान् का यही कहना है ॥ १२७ ॥

हे महर्षे, प्रकाशमान आत्मदेव की शम, बोध आदि पुष्पों से पूजा को आप देवार्चन जानिए, मूर्ति-पूजा को देवार्चन मत जानिए ॥ १२८ ॥

जो मनुष्य आत्मज्ञान रूप देवार्चन छोड़ कर कृत्रिम पूजनों में ही आसक्त रहते हैं, वे बहुत दिनों तक क्लेश ही पाते हैं ॥ १२९ ॥

हे ब्रह्मन् ! जो विदित तत्त्व सन्त-महात्मा किसी समय आत्म-समाधि से व्युत्थित होकर साकार देव-पूजन

ज्ञातज्ञेया हि ये सन्तो बालक्रीडोपमं च ते ।
आत्मध्यानादृते ब्रह्मन् ! कुर्वन्तो देवपूजनम् ॥१३०॥
आत्मैव देवो भगवाञ्छिवः परमकारणम् ।
ज्ञानार्चनेनाऽविरतं पूजनीयः स सर्वदा ॥१३१॥
त्वमेतच्चेतनाकाशमात्मानं जीवमव्ययम् ।
स्वभावं विद्धि न त्वन्यः पूज्यः पूजाऽऽत्मपूजनम्॥१३२॥

वसिष्ठ उवाच

चेतनाकाशमात्रात्म यथा जगदिदं प्रभो ! ।
यथा तच्चेतनस्यैव जीवादित्वं तदुच्यताम् ॥१३३॥

ईश्वर उवाच

चिद्व्योमैव किलाऽस्तीह पारावारविवर्जितम् ।
सर्वत्राऽसम्भवच्चेत्यं यत्कल्पान्तेऽवशिष्यते ॥१३४॥

करते हुए पाये जाते हैं, वे बाल क्रीड़ा के सदृश आनन्दार्थ ही साकार पूजन करते हैं, कृत्रिम भोगों की अभि-लाषा से नहीं ॥ १३० ॥

आत्मा ही प्रकाश मान देव, छः प्रकार के ऐश्वर्य से परिपूर्ण शिव और परम कारण स्वरूप है। ज्ञान रूप पूजन-सामग्री से उसी की सर्वदा अविच्छिन्न रूप से निरन्तर पूजा करनी चाहिए ॥ १३१ ॥

आप जीव को अपरोक्ष चेतनाकाश स्वरूप अविनाशी अकृत्रिम ब्रह्म स्वरूप जानिए वही एकमात्र पूज्य है; दूसरा कोई आत्मातिरिक्त पूज्य नहीं है। अतः आत्मपूजा ही पूजा है—

'देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देव सदाशिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥

देह ही देव-मन्दिर है और उसमें विराजमान जीव ही सदा शिव रूप देवता है। उस पर से अज्ञान रूपी निर्माल्य हटा देना चाहिए और 'सोऽहं' इस रूप से उसकी पूजा करनी चाहिए ॥ १३२ ॥

महाराज वसिष्ठ जी ने कहा—प्रभो ! यह जगत् जिस उपपत्ति से चैतन्य प्रकाश मात्र स्वरूप होता है तथा जिस उपपत्ति से उसी चेतन में जीवादि स्वरूपता प्राप्त होती है, उसे कहिए ॥ १३३ ॥

ईश्वर ने कहा—चूँकि यहाँ सर्वत्र सीमा रहित अर्थात् असीम रहित—सर्वविध परिच्छेदों से शून्य—चेत्यनिर्मुक्त चिदाकाश ही विद्यमान है, इसलिए कल्पान्त में भी वह अवशिष्ट रहता है ॥ १३४ ॥

यद्यत्स्वयं प्रकचति तस्य स्वकचनस्य तु ।
स्वयं यत्स्पन्दितं नाम तेनेदं जगदित्यलम् ॥ १३५॥
इत्येवं स्वप्नपुरवज्जगद्भाति चिदात्मकम् ।
एवं चिद्व्योममात्रात्म जगदच्छं न भित्तिमत् ॥१३६॥
अत्यन्तासम्भवच्चेत्यं दृश्यं चिद्व्योममात्रकम् ।
चित्त्वात्कचति सर्गादौ यत्तज्जगदिति स्मृतम् ॥१३७॥
तस्मात् स्वप्नपुराकारं यदिदं भासते जगत् ।
तत्र चिद्व्योममात्रात्मन्यन्यता नाम का कुतः ॥१३८॥
चिन्मात्रमेव गिरयश्चिन्मात्रं जगदम्बरम् ।
चिन्मात्रात्मा जीवश्च चिन्मात्रं भूतसन्ततिः ॥१३९॥

सूर्य, चन्द्र, प्रदीप, इन्द्रिय, मन आदि स्वयं प्रचुर प्रकाशवाले पदार्थ हैं, उनके अपने प्रकाश का—इसी प्रकार चिद्व्योम के अपरिच्छिन्न होने से मायारूप आवरण के भीतर न समा सकने का कारण उसका मायिक वासना आदि मार्ग से जो एक तरह का स्यन्दन-सा प्रसिद्ध है, उसी से यह स्वाप्निक नगर के समान जगत् दिखाई पड़ता है ॥ १३५ ॥

इस प्रकार एकमात्र चिदात्मस्वरूप ही सिद्ध विचित्र रूप यह जगत् स्वप्न नगर के सदृश भ्रान्ति से प्रतीत होता है। परमार्थ बुद्धि से विचार करने पर तो जगत् की कोई भित्ति ही सिद्ध नहीं होती, वास्तव में वह अमूर्त एवं स्वच्छ चिदाकाश मात्र स्वरूप ही है ॥१३६॥

अपरिणामी और अद्वय होने से चैतन्य का परिणाम चेत्य हो ही नहीं सकता, अतः अत्यन्त असम्भव चेत्य भी आवृत चित्-स्वभाव से पृथक् सृष्टि के आदि में चिदाकाश मात्र स्वरूप से भासमान है, वही दृश्य-जगत् है, ऐसा मुनियों का स्मरण है ॥ १३७ ॥

इसलिए स्वप्न-नगर के सदृश जो यह जगत् भासमान है, उस चिदाकाश मात्र स्वरूप जगत् में भिन्नता का अवकाश ही कहाँ है ? ॥ १३८ ॥

चिन्मात्र स्वरूप ही पर्वत हैं, चिन्मात्र ही जगत् और आकाश है, चिन्मात्र स्वरूप आत्मा एवं जीव है तथा भूतों की परम्परा भी चिन्मात्रस्वरूप ही है ॥१३९॥

चिद्व्योममात्रादितरत् सर्गादौ सर्ववेदने ।
भिन्नं स्वर्गे पुरे वाऽपि किं सम्भवति कथ्यताम् ॥१४०॥
आकाशं परमाकाशं ब्रह्माकाशं जगच्चितिः ।
इति पर्यायनामानि तत्र पादपवृक्षवत् ॥१४१॥
एवं द्वौ स्वप्नसङ्कल्पमायाभिः स्वनुभूयते ।
तदा किल चिदाकाशमेव भाति जगत्तया ॥१४२॥
यथैतत्संविदाकाशं स्वप्ने भाति जगद्वपुः ।
तथेदं जाग्रदाख्येऽपि स्वप्ने भाति तदेव नः ॥१४३॥
यथा स्वप्नपुरे चित्खं वर्जयित्वेतरत्क्वचित् ।
न किञ्चित्सम्भवत्येवं जाग्रत्येवं महाचितः ॥१४४॥

महर्षे, सृष्टि के आरम्भ में ऊर्ध्व-लोक, अपना नगर तथा पाताल—इनमें कहीं पर भी चिदाकाश मात्र स्वरूप आत्मा से भिन्न ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सबके अनुभव में आती हो, उसे आप बतलाइए ? चिद्भिन्न की स्वतः सत्ता स्फूर्ति मानने पर अचित्त्व का व्याघात, सत्ता स्फूर्ति के अभाव में अलीकरूपता, अलीक का चित् से भी उज्जीवन अनुभूत न होने से, असंग होने के कारण चित् का अचित् के साथ सम्बन्ध न होने से और साध्यकान्तर की अप्रसिद्धि होने से चिद्भिन्न पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १४० ॥

आकाश, परमाकाश, ब्रह्माकाश*, जगत् और चित्त—ये सब उस प्रकार ब्रह्मरूप अर्थ के पर्यायशब्द हैं, जिस प्रकार पादप और वृक्ष शब्द पर्याय हैं ॥ १४१ ॥

इस प्रकार तत्त्वविद् के द्वारा स्वप्न, सङ्कल्प और माया के सदृश अनुभूत मिथ्या द्वैत चिदाकाश ही जगद्रूप से प्रतीत होता है ॥ १४२ ॥

जाग्रत्-नामक स्वप्न में वही चिदाकाश जगत्-रूप हम लोगों को वैसे ही भासित है जैसे स्वप्न में चिदाकाश ही जगद्रूप से भासमान है ॥ १४३ ॥

जाग्रत्-काल में भी महाचैतन्याकाश को छोड़ कर और कुछ भी दूसरा पदार्थ वैसे ही कहीं नहीं रहता है जैसे स्वप्न-नगर में चिदाकाश को छोड़कर दूसरा कुछ भी पदार्थ कहीं नहीं रहता ॥ १४४ ॥

* भूताकाश, अव्याकृत आकाश आदि तीन अर्थों का ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त हुए तीनों भी आकाशशब्द 'काश्टृ-दीप्तौ' इस धातु से बनाये गये हैं। इसलिए उनका जिस प्रकार चैतन्यरूप अर्थ हो सकता है, उसी प्रकार 'जो गमनार्थक धातु होते हैं, वे ज्ञानार्थक भी हैं' इस व्याकरणनियम के आधार पर 'गम्' धातु से 'वर्तमाने पृशद०' इत्यादि सूत्र से क्विप्प्रत्यय होने पर निष्पादित जगत् शब्द भी चैतन्यार्थक हो सकता है। अतः उपर्युक्त शब्द एक दूसरे के पर्याय कहे गये हैं।

यतो न संभवत्यन्यच्चेत्यं किञ्चित्ततोऽखिलम् ।
चित्तं संचेत्यमप्येतदचेत्यं सज्जगत्स्थितम् ॥१४५॥
परमाकाशकलनं त्रिजगत्स्वयमुत्थितम् ।
स्वप्नवद्विद्धि चिद्व्योम्नि न त्वेतद्द्वैतवत्स्थितम् ॥१४६॥
यथा चिद्व्योममात्रात्म स्वप्ने घटपटादिकम् ।
सर्गादावेव सर्गोऽयं तथा चिद्व्योममात्रकम् ॥१४७॥
शुद्धसंवित्तिमात्रत्वादृतेऽन्यत् स्वप्नपत्तने ।
यथा न विद्यते किञ्चित्तथाऽस्मिन् भुवनत्रये ॥१४८॥
याः काश्चन दृशो ये ये भावाभावास्त्रिकालगाः ।
सदेशकालचित्तास्तत्सर्वं चिद्व्योममात्रकम् ॥१४९॥
स एष देवः कथितो यः परः परमार्थतः ।
यस्त्वं सोऽहमशेषं वा जगदेव च योऽखिलः ॥१५०॥
सर्वस्य वस्तुजातस्य जगतोऽन्यस्य ते मम ।
देहो हि चेतनाकाशं परमात्मैव नेतरत् ॥१५१॥
सङ्कल्पने स्वप्नपुरे शरीरं
चिद्व्योमतोऽन्यन्न यथाऽस्ति किञ्चित् ।
तथेह सर्गे प्रथमैकसर्गान्
मुने ! प्रभृत्यस्ति न रूपमन्यत् ॥१५२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे जगतः परमात्ममयत्ववर्णनं नाम एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

चित् से भिन्न दूसरा कुछ भी चेत्यपदार्थ नहीं होने से चित्त और चेत्यात्मक समस्त जगत् भी अचेत्यात्मक एकमात्र चिन्मात्रस्वरूप ही स्थित है ॥ १४५ ॥

परमाकाशस्वरूप ब्रह्म का सङ्कल्प ही तीनों जगत्-रूप होकर चिदाकाश में स्वप्न के सदृश स्वयं ही उत्पन्न है, वास्तव में द्वैतवादी द्वारा स्वीकृत सत्यवस्तु के सदृश यह सत्य नहीं है, ऐसा समझिए ॥ १४६ ॥

इस सामान्य-सृष्टि के आरम्भ में विशेषपदार्थ घट, पट आदि भी वैसे ही चैतन्याकाशमात्रस्वरूप ही हैं जैसे स्वप्न में घट, पट आदि चैतन्याकाशमात्रस्वरूप हैं ॥ १४७ ॥

इन तीनों भुवनों में आत्मस्वरूप विशुद्ध चैतन्यपदार्थ को छोड़ कर दूसरा कुछ भी पदार्थ वैसे ही नहीं है जैसे स्वप्नकालीन प्रतिभासमात्रस्वरूप नगर में विशुद्धचैतन्य-मात्ररूप आत्मा को छोड़ कर दूसरा कुछ भी तात्त्विक पदार्थ नहीं है ॥ १४८ ॥

जो कुछ विभिन्न दृष्टियाँ हैं तथा जो तीनों कालों में रहने वाले देश, काल और चित्त से युक्त भावात्मक और अभावात्मक पदार्थ हैं, ये सब एकमात्र चैतन्यात्मक आत्म-स्वरूप ही हैं, उससे पृथक् नहीं हैं ॥ १४९ ॥

जो परमार्थतः सबसे श्रेष्ठ है, जो तुम्हारा, 'तत्' पदार्थ का, मेरा तथा समस्त जगत् का स्वरूपभूत है एवं जो स्वयं परिपूर्णस्वरूप है, ज्ञानरूप सामग्री से पूजा करने योग्य उस देव का, प्रथम प्रश्न के उत्तररूप में, मैंने तुमसे कहा ॥ १५० ॥

सभी वस्तुओं का, समस्त जगत् का, दूसरे का, तुम्हार और मेरा चैतन्याकाशरूप परमात्मा ही पारमार्थिक स्वरूप है, दूसरा नहीं ॥ १५१

हिरण्यगर्भ के प्रथमसर्ग से लेकर आजतक चले आ रहे इस संसार में चैतन्याकाशरूप पारमार्थिक शरीर को छोड़ कर दूसरा कुछ भी पदार्थ वैसे ही नहीं है जैसे संकल्पमय पदार्थों तथा स्वप्न-नगर में चैतन्याकाश को छोड़ कर दूसरा कुछ भी पारमार्थिकस्वरूप पदार्थ नहीं है ॥ १५२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में जगत् के परमात्ममयत्ववर्णन नामक कुसुमलता का उनतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २९ ॥

३०

ईश्वर उवाच

एवं सर्वमिदं विश्वं परमात्मैव केवलम् । ब्रह्मैव परमाकाशमेष देवः परः स्मृतः ॥ १ ॥

३०

ईश्वर ने कहा—इस तरह समस्त चराचर विश्व एक-मात्र परमात्मस्वरूप ही है, ब्रह्म ही परम आकाश है और यही सबसे बड़ा देव कहा गया है ॥ १ ॥

तदेतत्पूजनं श्रेयस्तस्मात् सर्वमवाप्यते ।
तदेव सर्गभूः सर्वमिदं तस्मिन् व्यवस्थितम् ॥ २ ॥
अकृत्रिममनाद्यन्तमद्वितीयमखण्डितम् ।
अबहिःसाधनासाध्यं सुखं तस्मादवाप्यते ॥ ३ ॥
प्रबुद्धस्त्वं मुनिश्रेष्ठ ! तेनेदं तव कथ्यते ।
नाऽतिदेवार्चने योग्यः पुष्पधूपचयो महान् ॥ ४ ॥
अव्युत्पन्नधियो ये हि बालपेलवचेतसः ।
कृत्रिमार्चामयं तेषां देवार्चनमुदाहृतम् ॥ ५ ॥
शमबोधाद्यभावे हि पुष्पाद्यैर्वाऽर्चयन्ति हि ।
मिथ्यैव कल्पितैरेवमाकारे कल्पितात्मके ॥ ६ ॥
वसङ्कल्पकृतैः कृत्वा क्रमैरर्चनमादृताः ।
ालाः सन्तोषमायान्ति पुष्पधूपलवार्चनैः ॥ ७ ॥
वसङ्कल्पकृतैरर्थैः कृत्वा देवार्चनं मुधा ।

इस परम देव का पूजन सबसे कल्याणकर है, उसीसे सब कुछ प्राप्त होता है, वही समस्त जगत्-सृष्टि के आरोप का अधिष्ठान है और उसी में यह सब व्यवस्थित है अर्थात् परिच्छिन्न देव का पूजन परिच्छिन्न ही फल देता है और इस परम अपरिच्छिन्न देव का पूजन तो समस्त कामनाओं के पर्यवसान की अवधिभूमि भूमानन्द की प्राप्तिरूप फल देता है, इसलिए इस देव का पूजन सबसे श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

अकृत्रिम आदि-अन्त से रहित, अद्वितीय, अखण्ड तथा बहुवित्तव्यय, आयास आदि बाहरी साधनों से सिद्ध न होने वाला नित्य सुख उसी एकमात्र देव के अर्चन से प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! तुम प्रबुद्ध विवेकी हो अतः मैं तुमसे कहता हूँ कि सबसे बड़े इस आतमदेव की पूजा के लिए महान् पुष्पों एवं धूपों का समूह योग्य नहीं है ॥ ४ ॥

विवेक-बुद्धि से असम्पन्न तथा बालकों के सदृश कोमलचित्त वाले लिए कृत्रिम प्रतिमा-प्रचुर देवार्चन का विधान किया गया है ॥ ५ ॥

शम और आत्मज्ञान के अभाव में अव्युत्पन्नमति बालक मिथ्यारूप ही कल्पित पुष्प आदि से कल्पितस्वरूपात्मक प्रतिमा का निर्माण कर पूजा करते हैं ॥ ६ ॥

आदरपूर्वक अपने सङ्कल्प से रचित स्वल्प पुष्प, धूप आदि सामग्रीरूप उपायों से पूजन कर वे बालक सन्तोष प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

अपने सङ्कल्पों से रचित पदार्थों से देवार्चन सम्पादन कर स्वप्न सदृश मिथ्याभूत विमान, अप्सरा प्रभृति

यतः कुतश्चिन्मिथ्यात्म फलमात्रं नयन्ति ते ॥ ८ ॥
पुष्पधूपार्चनं ब्रह्मन् ! कल्पितं बालबुद्धिषु ।
यत्स्याद्भवादृशां योग्यमर्चनं तद्वदाम्यहम् ॥ ९ ॥
अस्मदादिस्त्वसौ कश्चिद्देवो मतिमतां वर ! ।
देवस्त्रिभुवनाधारः परमात्मैव नेतरत् ॥ १० ॥
शिवः सर्वपदातीतः सर्वसङ्कल्पनातिगः ।
सर्वसङ्कल्पवलितो न सर्वो न च सर्वकः ॥ ११ ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नः सर्वारम्भप्रकाशकृत् ।
चिन्मात्रमूर्तिरमलो देव इत्युच्यते मुने ! ॥ १२ ॥
संवित्सर्वकलातीता सर्वभावान्तरस्थिता ।
सर्वसत्ताप्रदा देवी सर्वसत्तापहारिणी ॥ १३ ॥
ब्रह्म ब्रह्मन्सदसतोर्मध्यं तद्देव उच्यते ।
परमात्मपराभिख्यं तत्सदोमित्युदाहृतम् ॥ १४ ॥

साधनों से मिथ्यारूप ही स्वर्गादि फल भी प्राप्त करते हैं ॥ ८ ॥

बाल बुद्धि पुरुषों के लिए ही पुष्प, धूप आदि द्वारा अर्चन की कल्पना की गई है और आप जैसे अधिकारी पुरुषों के लिए योग्य देवार्चन को मैं कहता हूँ ॥ ९ ॥

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ ! हम लोगों ने कल्पित प्रपञ्च के भीतर चक्षु आदि से दिखाई पड़ने वाला मूर्ति आदि अनिर्वचनीय मायामय देव ही है । समस्त त्रिभुवन का आधारभूत एकमात्र परमात्मा ही पारमार्थिक देव है अन्य नहीं ॥ १० ॥

समस्त ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवताओं से तथा समस्त मनोवृत्तियों से परे एवं समस्त पदों से दुर्ज्ञेय शिव ही परम देव है और समस्त विषयभोगों के सङ्कल्पों से वेष्टित ब्रह्मा, विष्णु आदि स्वरूप देव साधन से भी पूर्ण नहीं हैं और सर्वविध सुखभोगरूप फलों से भी परिपूर्ण नहीं हैं ॥ ११ ॥

हे मुने ! दिक्कृत, कालकृत आदि परिच्छेदों से रहित समस्त घटादि कार्यों का प्रकाश करने वाला, निर्मल चैतन्यमात्रस्वरूप परब्रह्म ही देव कहा जाता है ॥ १२ ॥

समस्त कल्पनाओं से रहित सकल भावपदार्थों के भीतर रहनेवाली, निखिल पदार्थों में सत्तास्फूर्ति प्रदान करनेवाली तथा अखिल पदार्थों की सत्ता का अपहरण करनेवाली संवित् देवी ही देव है ॥ १३ ॥

हे ब्रह्मन् ! सत् और असत् अन्तरालवर्ती साक्षि-चिन्मात्ररूप अथवा अधिष्ठानरूप होने ने मध्यभूत वह ब्रह्म चैतन्य ही देव कहा जाता है । वही सूर्य, चन्द्र,

महासत्तास्वभावेन सर्वत्र समतां गतम् ।
महाचिदिति संप्रोक्तं परमार्थ इति श्रुतम् ॥ १५ ॥
स्थितं सर्वत्र सर्वं न लतास्वन्तर्यथा रसः ।
सत्तासामान्यरूपेण महासत्तात्मनाऽपि च ॥ १६ ॥
यच्चित्तत्त्वमरुन्धत्या यच्चित्तत्त्वं तवाऽनघ ! ।
यच्चित्तत्त्वं च पार्वत्या यच्चित्तत्त्वं गणेषु च ॥ १७ ॥
चित्तत्त्वं यन्ममेदं च चित्तत्त्वं यज्जगत्त्रये ।
तद्देव इति तत्त्वज्ञा विदुरुत्तमबुद्धयः ॥ १८ ॥
पादपाण्यादिमानन्यो यो वा देवः प्रकल्प्यते ।
संविन्मात्रादृते ब्रह्मन् ! किं सारः किल कथ्यताम् ॥१९॥
चिन्मात्रमेव संसारसारः सकलसारताम् ।
गतः स देवः सर्वोऽहं तस्मात् सर्वमवाप्यते ॥ २० ॥
न स दूरे स्थितो ब्रह्मन्न दुष्प्रापः स कस्यचित् ।
संस्थितः स सदा देहे सर्वत्रैव च खे तथा ॥ २१ ॥
स करोति स चाऽश्नाति स बिभर्ति प्रयाति च ।
स निःश्वसिति संवेत्ता सोऽङ्गान्यङ्गानि वेत्ति च ॥ २२ ॥
सोऽस्यां विचित्रचेष्टायां प्रकाशिन्यां च तद्वशात् ।
तत्स्वरूपनिबद्धायां पुर्यामास्ते मुनीश्वर ! ॥ २३ ॥
शरीरावसथायां च चलायां तत्प्रसादतः ।
सोऽस्यां गहनकोशायां हृद्गुहायां गुहेश्वरः ॥ २४ ॥
मनःषष्ठेन्द्रियाचारसत्तातीतामलात्मनः ।
तस्य संव्यहारार्थं संज्ञा चिदिति कल्पिता ॥ २५ ॥
स एष चिन्मयः सूक्ष्मः सर्वव्यापी निरञ्जनः ।
इमं भास्वरमाभासं करोति न करोति च ॥ २६ ॥
सा चिदत्यन्तविमला जगदर्थं जगत्क्रियाम् ।
इमां रञ्जयति प्राज्ञ ! रसेनेव मधुर्लताम् ॥ २७ ॥

अग्नि, करण एवं ज्योतियों की अपेक्षा श्रेष्ठ आत्मस्वरूप सर्वावभासक स्वरूपवाले प्रकाश से युक्त 'ॐ' यह व्यवहृत हुआ है ॥ १४ ॥

त्रिकालाबाधित सर्वानुगत सत्त्व-स्वभाव से उसने सर्वत्र समरूपता प्राप्त वह महाचैतन्य प्रकाशकों का भी प्रकाशक कहा जाता है और वही सबसे श्रेष्ठ प्रयोजन पारमार्थिक स्वरूप श्रुतियों में प्रतिपादित है ॥ १५ ॥

लता के अन्दर स्थित रस की तरह वह सर्वात्मरूप देव व्यवहार काल में सर्वत्र अनुगत होने के कारण सत्तासामान्यरूप से स्थित है और सर्वबाधकाल में भी महासत्तारूप से स्थित है ॥ १६ ॥

हे पापशून्य ! अरुन्धती का चैतन्यस्वरूप तुम्हारा चैतन्यतत्त्व पार्वतीजी का चैतन्यस्वरूप गणों में चैतन्यात्मता मुझमें यह चैतन्यस्वरूप और तीनों जगत् में विराजमान को ही उत्तममति तत्त्वज्ञ लोग देवतारूप जानते हैं ॥ १७-१८ ॥

हे ब्रह्मन् ! हाथ, पैर आदि से समन्वित कल्पित अन्य देवगण संविन्मात्रस्वरूपता का परित्यागकर दूसरी कौन-सी सारभूत तत्त्व हो सकते हैं, इसे आप कहिए ॥ १९ ॥

इस दृश्य संसार का सार एकमात्र चिदात्मा ही है, इसलिए सकल सारभूत वस्तुओं की भी साररूपता को प्राप्त वह परिपूर्ण देव ही मैं हूँ, उसी से सब कुछ उसी में प्राप्त किया जाता है ॥ २० ॥

हे ब्रह्मन् ! न तो वह दूर ही स्थित है और न किसी के लिए दुष्प्राप्य ही है। वह सदा इसी शरीर तथा सम्पूर्ण आकाश में सर्वत्र स्थित है ॥ २१ ॥

वही आत्मदेव क्रिया करता है, वही खाता है, वही पालन करता है, वही जाता है, वही श्वास लेता है, वही गाता है और वही अङ्ग-अङ्ग को जाता है ॥ २२ ॥

हे मुनीश्वर, इन चित्र-विचित्र चेष्टाओं से युक्त, उसी के कारण चेतनात्मक तथा उसी के स्वरूप से सम्बद्ध इस शरीररूपी नगरी में वही निवास करता है ॥ २३ ॥

शरीररूपी विशाल घर से समन्वित उसके प्रसाद से संचरणशील तथा दुर्विज्ञेय अन्नमय आदि बहिःकोशों से समन्वित इस बुद्धिरूप गुहा में वही आनन्दमय कोशरूप गुहा का ईश्वर होकर स्थित है ॥ २४ ॥

मनको लेकर छः इन्द्रियों प्रवृत्ति-सत्ता से रहित तथा निर्मल स्वरूप उस आत्मदेव का उपदेशादि व्यवहार के लिए 'चित्' यह कल्पनिक नाम पड़ा है ॥ २५ ॥

वही यह परमात्मा चिद्रूप, सूक्ष्म, सर्वव्यापी और माया रहित है। वही प्रकाश स्वरूप आसमान आरोप-काल में इस भास्वर संसारिक आभास का निर्माण करता है और भासमान के अपवाद-काल में निर्माण नहीं भी करता है ॥ २६ ॥

हे प्राज्ञ ! अत्यन्त निर्मल वह चित् है। जैसे वसन्त ऋतु रस से लता को शोभित करती है, वैसे ही वह इन जागतिक क्रियाओं को जगत् के लिए शोभित करती है ॥ २७ ॥

चारवो ये चमत्काराश्चितश्चिति यथा स्थितम् ।
चमत्कुर्वन्ति किल ते तेन केचिन्नभोभिधाः ॥ २८ ॥
केचिज्जीवाभिधानाश्च केचिच्चित्ताभिधानकाः ।
केचित् कलाभिधानाश्च केचिद्देशाभिधानकाः ॥ २९ ॥
केचित्क्रियाभिधानाश्च केचिद्द्रव्याभिधानकाः ।
केचिद्भावविकारादिजात्यौचित्याभिधानकाः ॥ ३० ॥
प्रकाशाभिधानाः केचित् केचिच्छैलतमोभिधाः ।
अर्केन्द्राद्यभिधा केचित् केचिद्यक्षाभिधानकाः ॥ ३१ ॥
निरिच्छस्वस्वभावेन वसन्तेन यथाऽङ्कुरः ।
तन्यते तद्वदेवेयं जगल्लक्ष्मीश्चिदात्मना ॥ ३२ ॥
चिदेवाऽऽसु समग्रासु सर्वदैवैकिकैव हि ।
त्रैलोक्याम्भोधिसंस्थासु शरीरजलजालिका ॥ ३३ ॥
शरीरपङ्कजभ्रान्तमनोभ्रमरसंभृताम् ।

चैतन्य के आरोप्य में सत्तास्फूर्ति प्रदानरूप सुन्दर चमत्कार चैतन्य में माया शबल द्वारा पहले काम, कर्म और वासना के अनुसार जो कोई अवस्थित हैं—उनका आविर्भाव करते हैं। उन चमत्कारों में कोई आकाश नाम वाले हैं ॥ २८ ॥

कोई जीव नाम वाले हैं, कोई चित्त नाम वाले हैं, कोई कला नाम वाले हैं, कोई देश नाम वाले हैं ॥ २९ ॥

कोई क्रिया नामवाले हैं, कोई द्रव्य नाम वाले हैं और उनमें कोई 'जायते, अस्ति, वर्धते' आदि भावविकार तथा विभिन्न गुणों की जाति के वैचित्र्य और औचित्य से अन्यान्य चित्र-विचित्र नाम वाले हैं ॥ ३० ॥

उनमें कोई प्रकाश नामवाले हैं, कोई पर्वत, अन्धकार आदि नामवाले हैं, कोई सूर्य, इन्द्र आदि नामवाले हैं कोई यक्ष नामवाले हैं ॥ ३१ ॥

इच्छाशून्य स्वभाववाले इस चिदात्मा द्वारा यह जगत् की शोभा वैसे ही विस्तारित होती है 'जैसे अपने इच्छाशून्य स्वभाव से युक्त वसन्त ऋतु द्वारा अंकुर विस्तारित होता है ॥ ३२ ॥

इन संपूर्ण त्रैलोक्यरूपी समुद्रों के तात्त्विक स्वरूपों का विचार करनेपर अकेली चिति ही सदा उनके वास्तविक स्वरूपभूत जल-समूह के स्थान में स्थित है ॥ ३३ ॥

शरीररूपी कमल में भ्रमणशील मनरूप भ्रमर द्वारा संचित सङ्कल्परूपी मधुसत्ता का अपने में आरोपित

आस्वादयति सङ्कल्पमधुसत्तां चिदीश्वरी ॥ ३४ ॥
ससुरासुरगन्धर्वं सशैलार्णवकं जगत् ।
चिति स्थितं प्रवहति जलावर्ते जलं यथा ॥ ३५ ॥
बन्धचित्तमयाचारचारुचञ्चुरचक्रिकम् ।
संसारचक्रं चिच्चक्रे भ्राम्यति भ्रमभाजनम् ॥ ३६ ॥
चिच्चतुर्भुजरूपेण जघानाऽसुरमण्डलम् ।
कालो जलदखण्डेन सायुधेन यथाऽऽतपम् ॥ ३७ ॥
चित्त्रिनेत्रतया ब्रह्मन् ! वृषशीतांशुचिह्नया ।
गौरीकमलिनीवक्त्रपद्मषट्पदतां गता ॥ ३८ ॥
विष्णोः पद्मालितामेत्य चिद्ध्यानाधीनमानसा ।
त्रयीनलिन्याः सरसीं धत्ते पैतामहीं स्थितिम् ॥ ३९ ॥
चितो ब्रह्मन् ! विचित्राणि शरीराणीह भूरिशः ।
पत्राणीव तरोर्हेम्नि केयूरादिक्रियेव च ॥ ४० ॥

समस्त पदार्थों के अवभासन में समर्थ चिति ही आस्वाद लेती है ॥ ३४ ॥

जैसे जल-भँवरी में जल घूमता है वैसे ही देव, दानव अन्धर्वों तथा पर्वत, समुद्र आदि से समन्वित यह सम्पूर्ण जगत् चैतन्य में स्थित होकर घूमता रहता है ॥ ३५ ॥

बन्धन में डालनेवाले कर्तृत्व-भोक्तृत्वात्मक चित्त-विकार आचार से सुन्दर एवं चपल व्यष्टिजीवों के संमरण-चक्रों से युक्त जीवसमष्टि संसाररूप चक्र, भ्रम का आश्रय हो मायाशबल ब्रह्मरूप चक्र में घूमता रहता है ॥ ३६ ॥

जैसे वर्षाऋतु इन्द्रधनुष से युक्त मेघ-खण्डरूप से आतप का विनाश कर देती है वैसे ही चिति ने ही आयुधों से परिपूर्ण चतुर्भुजरूप से समस्त असुरसमूह का विनाश कर दिया था ॥ ३७ ॥

हे ब्रह्मन् ! चिति ने ही वृषभ और चन्द्रमा के चिह्नों से युक्त त्रिनेत्ररूप धारण कर गौरीरूपी कमलिनी के मुखपद्म में भ्रमररूपता को प्राप्त की है ॥ ३८ ॥

चिति ही भगवान् नारायण के नाभि-कमल में भ्रमर-स्वरूपता प्राप्तकर ध्यान से आसक्त मनवाली वेदरूपी कमलिनी का महान् सरोवरस्वरूप ब्रह्माजी की आकृति धारण करती है ॥ ३९ ॥

हे ब्रह्मन् ! चिति के चित्र-विचित्र अनेक प्रकार के शरीर वैसे ही यहाँ दिखलाई पड़ते हैं जैसे वृक्ष के अनेक पत्ते होते हैं अथवा जिस प्रकार सुवर्ण में चित्र-विचित्र केयूर आदि का निर्माण होता है ॥ ४० ॥

चित्समस्तसुरानीकपरिवन्दितपादया ।
त्रैलोक्यचूडामणितां धत्ते वासवलीलया ॥ ४१ ॥
चित्सुभासुरतामेत्य त्रैलोक्योदर अम्बरे ।
पतत्युदेति संयाति स्वात्मन्येवाऽब्धिवारिवत् ॥ ४२ ॥
चिच्चन्द्रिका चतुर्दिक्षु अवभासं वितन्वती ।
विकासयति निःशेषभूतसत्ताकुमुद्वती ॥ ४३ ॥
चिद्दर्पणमहालक्ष्मीस्त्रिजगत्प्रतिबिम्बितम् ।
गृह्णात्यनुग्रहेणाऽन्तः स्वगर्भमिव गर्भिणी ॥ ४४ ॥
चिच्चतुर्दक्षभूतानां मण्डलानि महन्ति च ।
भूतीकरोति वारिश्रीः समुद्रस्वमिवाऽम्बुधिः ॥ ४५ ॥
विचित्रालोककुसुमा घनसङ्कल्पपल्लवा ।
व्योमकेदारिकारूढा सत्तौघफलशालिनी ॥ ४६ ॥
जीवजालरजःपुञ्जवासनारसरञ्जिता ।

चिति ही समस्त देवताओं की सेना से चारों ओर बन्दित-चरणवाली इन्द्रलीला के द्वारा त्रैलोक्य में वन्दनीयता धारण करती है ॥ ४१ ॥

जैसे समुद्र में जल उदय, चलायमान और विलीन होता है वैसे ही त्रिलोकी के अन्दर आकाश में सूर्य आदि तेजोरूपता प्राप्तकर यह चैतन्य अपने चलायमानस्वरूप में ही उदय और विलीन होता है ॥ ४२ ॥

चारों दिशाओं में प्रकाश का विस्तार कर चितिरूपी चन्द्रिका समस्त भूतसत्तारूपी कुमुदिनी का विकास करती है ॥ ४३ ॥

जैसे गर्भिणी अपने भीतर अपना गर्भ-धारण करती है वैसे ही चितिरूपी दर्पण की महालक्ष्मी स्वच्छ भस्वर-स्वरूप शोभा या वैष्णवी माया अनुग्रहपूर्वक अपने ही भीतर तीनों जगत् का प्रतिबिम्ब धारण करती है ॥४४॥

चितिसत्ता भी चौदह भुवनों में अवस्थित भूतों के बड़े-बड़े समूहों की वैसे ही स्वरूपसत्ता का सम्पादन करती है जैसे रसशक्ति जलसमूहरूप होकर समुद्र की स्वरूपसत्ता का सम्पादन करती है ॥ ४५ ॥

चिति ही मायाकाशरूपी क्यारी में हिरण्यगर्भरूप से अङ्कुरित, घनीभूत सङ्कल्परूपी पल्लवों से एवं चित्र-विचित्र आलोकरूपी फूलों से सुशोभित और समस्त पदार्थों में सत्यस्वरूपतारूप फल देनेवाली एक तरह की लता है ॥ ४६ ॥

चिद्रूपी यह लता अनेकविध जीवों के समूहरूप धूलि-पुञ्ज में वासनारूपी जलसे सिंचित है, उसके चारों ओर सविकल्पक ज्ञानरूप छाल लगी है। चित्तवृत्तिरूप कलियों

संवेदनत्वग्वलिता चित्तेहाकलिकाकुला ॥ ४७ ॥
अतीतासंख्यत्रिजगत्केसरोज्ज्वलरूपिणी ।
अनारतस्पन्दमहाविलासोल्लासहासिनी ॥ ४८ ॥
सर्वर्तुपर्वपरुषा जडशैलादिगुल्मका ।
विग्रहग्रन्थिवलिताऽऽमूलाग्रपरिवर्तिता ॥ ४९ ॥
चिल्लतेयं विकसिता पेलवं सदसद्वपुः ।
विचित्रं दृश्यकुसुमं परामर्शासहं बहु ॥ ५० ॥
अनयेह हि सर्वत्र च्छायाच्छमिव जन्यते ।
मन्यते तन्यते वस्तु गीयते क्रियतेऽपि च ॥ ५१ ॥
महाचिताऽनया नित्यं भासन्ते भास्करादयः ।
देहाः स्वदन्ते च मिथस्तत्सच्चिज्जडविभ्रमैः ॥ ५२ ॥
चिता चाऽऽवर्तवर्तिन्या सिद्धान्येव प्रनृत्यति ।
जगज्जालरजोलेखा तत्सत्तादृश्यदेहिनी ॥ ५३ ॥

से वह भरी है ॥ ४७ ॥

अतीतकालीन असंख्य त्रिजगत्-रूपी केसरों से उसका स्वरूप उज्ज्वल है। निरन्तर चंचल महाविलासों से जनित उल्लास ही उसका हास (विकास) है। समस्त ऋतुरूपी पोरों से वह अत्यन्त कठिन है, जड़ पर्वत आदि ही उसमें गुल्म हैं ॥ ४८ ॥

जरायुज, अण्डज आदि चतुर्विध शरीररूपी ग्रन्थियों से वेष्टित तथा प्रवृत्तिरूपी प्रतानों से यह आमूलचूड आवृत्त है ॥ ४९ ॥

इस प्रकार की चित्रूपी लता विकसित होकर स्थित है, इसके द्वारा वास्तव में युक्तियों से सिद्ध न हो सकने वाले अत्यन्त कोमल, सदसत्-आकृति पुष्पसमूह विकसित हो रहे हैं ॥ ५० ॥

चित्र-विचित्र तथा चन्द्रकान्ति के सदृश अत्यन्त विस्पष्ट दृश्यरूपी अनेक कुसुमों का—सर्वत्र उत्पादन, अभिमान और विस्तार इसी चिति से किया जाता है। इसी से वस्तु का कथन और निर्माण भी होता है ॥ ५१ ॥

इसी महाचैतन्य से सूर्य आदि सदा प्रकाशित होते हैं और उसी चिति के स्वरूपभूत सत्य, प्रकाश तथा शरी-रादि जड़-पदार्थों के अविवेक से जनित वास्तव में अमंगल रूप भोक्तृ-भोग्यतारूप विभ्रमों से दम्पती के शरीर दूसरे के प्रीतिभाजन होते हैं ॥ ५२ ॥

एकमात्र चिति से ही सिद्ध और उसीकी सत्ता के कारण दर्शनयोग्य आकार से युक्त झंझावात के आवर्त में रहने वाली जगत्समूहरूपी धूलिरेखा चित् से व्यतिरिक्त के समान होकर नाचती रहती है ॥ ५३ ॥

चित्सर्वं जगदारम्भमिमं प्रकटयत्यलम् ।
त्रैलोक्यदीपकशिखा दीपो वर्णाश्रयं यथा ॥ ५४ ॥
चिच्चन्द्रबिम्बे विमले शशवत्प्राप्य सङ्गमम् ।
सर्वत्र लक्ष्यतामेति पदार्थश्रीर्जगद्गता ॥ ५५ ॥
चिद्रसायनसेकेन पदार्थपटलावली ।
रूपमेति फलं चैव प्रावृट्सिक्तेव सल्लता ॥ ५६ ॥
चिच्छाययैव सर्वस्य जाड्यं सम्यगुदेति च ।
सर्वस्याऽस्य शरीरस्य गृहस्येव तमस्त्विह ॥ ५७ ॥
चिच्चमत्कृतयो देहे न भवेयुरिमा यदि ।
त्रैलोक्यदेहास्त्यक्त्वैते न स्पृशेयुः किलाऽऽकृतिम् ॥५८॥
चिदाकाशप्रकाशेऽस्मिन् सङ्कल्पशिशुधारिणी ।
क्रियाकुलवधूर्देहगृहे स्फुरति चञ्चला ॥ ५९ ॥
चिदालोकं विना कस्य रसनाग्रे स्फुरन्नपि ।
कथं कदा प्रकटतामेति दृष्टः क्व वा रसः ॥ ६० ॥
शृण्वङ्ग स्वाङ्गशाखोऽपि कुन्तलाललितोऽप्यलम् ।
चिन्मज्जनं विना देहवृक्षः क इव राजते ॥ ६१ ॥
वर्धते विलुठत्यत्ति चिच्चराचरकारिणी ।
चिदेवाऽस्तीतरन्नाऽस्ति चिन्मात्रमिदमुत्थितम् ॥ ६२ ॥

जैसे प्रसिद्ध दीपक रूपवान् द्रव्य को प्रकाशित करता है वैसे ही त्रैलोक्य के प्रकाशन के लिए दीपक की शिखा-रूप यह चिति ही इस समस्त जगत् के कार्यों को भली-भाँति प्रकाशित करती है ॥ ५४ ॥

निर्मल चितिरूपी चन्द्रबिम्ब में खरगोश की तरह सम्बन्ध प्राप्त कर ही यह जगत् में अवस्थित पदार्थ की शोभा सर्वत्र दिखाई पड़ती है ॥ ५५ ॥

जैसे वृष्टि से सिंचित उत्तम लता फल धारण करती है वैसे ही चितिरूपी अमृत के सिंचन से यह पदार्थ-समूहों की पंक्ति ही उस प्रकार रूप और फल धारण करती है ॥ ५६ ॥

जैसे समस्त घरों के अन्दर प्रकाश-छाया से अन्धकार का भली प्रकार उदय होता है वैसे ही चित् की छाया से ही इन सम्पूर्ण शरीरों के अन्दर जड़ता का भलीभाँति उदय होता है, इसका आशय व्यक्त करते हुए संस्कृत व्याख्या के अनुसार अच्युता ग्रन्थमाला के अनुवाद में कहा गया है कि पञ्चीकरण-प्रक्रिया के अनुसार यद्यपि घर भी चारों ओर तेज से व्याप्त है, क्योंकि उसमें तेज का भी संमिश्रण हुआ है, इससे उसके भीतर अन्ध-कार की स्थिति हो नहीं सकती; तथापि तेज की जो भास्वररूपता है उसके पञ्चीकरण में संमिलित अन्यान्य पृथ्वी आदि भूतखण्डों से तिरस्कृत होने के कारण बाह्य प्रदेश में अभिव्यक्त सूर्य-प्रकाश की व्याप्ति-दशा में तज्ज-नित छाया से भीतर उसका जिस प्रकार आविर्भाव होता है, उसी प्रकार घटादि के अधिष्ठानभूत चैतन्य की भास्वर-रूपता के भी अध्यस्त पदार्थ से अभिभूत होने के कारण बाह्य प्रदेश में चाक्षुषवृत्ति आदि के द्वारा अभिव्यक्त हुई चिद्व्याप्ति के स्फुरण-काल में उससे जनित छाया से जड़ता का भीतर उदय होता है ॥ ५७ ॥

यदि देह में ये चैतन्य के चमत्कार न हो तो तीनों लोकों में रहने वाले साकार पदार्थ छाया और जड़ता का त्याग कर दूसरे किसी प्रकार की आकृति का ग्रहण न करेंगे । आशय यह है कि छाया और जड़ता का परित्याग कर आकृति साधक दूसरा कोई पदार्थ नहीं है जैसे सूर्य आदि के प्रकाश से ही घर, महल आदि चित्र-विचित्र आकृतियों की सिद्धि होती है, वैसे ही देह के अन्दर अभि-व्यक्त प्रमातृ चैतन्य के चमत्कार से ही गाय, घोड़ा, घड़ा, कपड़ा आदि चित्र-विचित्र आकृतियों की सिद्धि होती है, दूसरे प्रकार से नहीं ॥ ५८ ॥

चैतन्याकाश के प्रकाश से युक्त इस देहरूपी घर में सङ्कल्परूपी लड़कों को धारण करने वाली, विहित एवं निषिद्ध क्रियाओं में प्रवृत्तिरूप चंचल कुलवधू परिस्फुरित होती है ॥ ५९ ॥

चित्प्रकाश के बिना किसी व्यक्तिविशेष की जीभ के अग्रभाग में व्याप्त हो रहा भी रस किसी प्रकार किसी समय कहीं पर अनुभव में आता हो, ऐसा क्या देखा गया है ? ॥ ६० ॥

हे प्रिय ! सुनो, इस देहरूपी वृक्ष में हाथ, पैर आदि अपने अङ्ग ही शाखाएँ हैं और केशों का समूह ही सुन्दर लताओं का समूह है; फिर भी यह वृक्ष क्या पर्याप्तरूप से चैतन्यसम्बन्ध के बिना किसी तरह शोभित हो सकता है ? ॥ ६१ ॥

यह चिति बढ़ती है, लुढ़कती है और भक्षण करती है । चर-अचर पदार्थों का निर्माण करनेवाली यह चिति ही है, अन्य नहीं इसलिए एकमात्र चितिस्वरूप ही यह उत्पन्न जगत् है अर्थात् जैसे जल के अधीन तरङ्ग आदि समस्त भावपदार्थ परमार्थतः जलस्वरूप ही होते हैं, वैसे ही चैतन्य के अधीन जन्म, वृद्धि आदि समस्त भावस्वरूप जगत् परमार्थतः चैतन्यमात्रस्वरूप ही है ॥ ६२ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्तवांस्तदा त्र्यक्षः सुधांशुस्वच्छया गिरा ।
पुनः पृष्टो मया राम ! सुधांशुस्वच्छया गिरा ॥ ६३ ॥
यदि सर्वगता देव ! चिदस्त्येका तदात्मकः ।
तदयं चाऽवनिस्फारमय्यन्धेद न चेतति ॥ ६४ ॥
अयं चित्त्वात् पुरा भूत्वा चिद्धीनः संप्रति स्थितः ।
इतीयं कल्पना लोके प्रत्यक्षानुभवा कथम् ॥ ६५ ॥

इश्वर उवाच

शृण्वेतदखिलं ब्रह्मन् ! यदा पृष्टं वदामि ते ।
महानयं त्वया प्रश्नः कृतो ब्रह्मविदां वर ! ॥ ६६ ॥
चिदस्ति हि शरीरे ह सर्वभूतमयात्मिका ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीराम जी ! चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल वाणी से त्रिनेत्र श्रीशिवजी के द्वारा ऐसा कहने पर मैंने भी चन्द्रमा की किरणों के सदृश निर्मल वाणी से उनसे पूछा ॥ ६३ ॥

हे देव ! यदि एक चिति ही सर्वत्र परिव्याप्त है तो तत्स्वरूप यह शरीर क्यों अन्ध अर्थात् जड़ के समान है चैतन्य क्यों नहीं है अर्थात् निद्रा, मूर्च्छा, मरण आदि अवस्थाओं एवं अन्यान्य दृश्यों में मृत्तिकाप्रचुर भूत-विकाररूप चक्षु आदि इन्द्रियों से शून्य भित्ति की तरह नहीं चमकती है ॥ ६४ ॥

ये देह आदि दृश्यभाव से पहले और जीवनदशा में चेतन होकर दृश्य एवं मरण आदि दशा में चैतन्य से हीन रहते हैं । लोक में यह कल्पना, प्रत्यक्ष अनुभवरूप है किस तरह होती है ? अर्थात् चैतन्य के अविनाशिस्वभाव और अपरिणामी होने से उसमें किसी तरह की जड़ता हो ही नहीं सकती है ॥ ६५ ॥

'यथा तच्चेतनस्यैव जीवादित्वं तदुच्यताम्' इस पूर्व प्रश्न का उत्तर बिना सुने ही वसिष्ठजी ने यह एक और दूसरा प्रश्न किया है, तो एक साथ दोनों प्रश्नों का उत्तर देने की इच्छावाले भगवान् श्रीशङ्कर कहते हैं—'शृणु' इत्यादि से ।

ईश्वर ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आपने जो प्रश्न किया है, वह (पहले किये गये प्रश्नों के उत्तरों से युक्त सब कुछ) में आप से कहता हूँ; इसे सुनिए । हे तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ ! आपने यह एक बहुत बड़ा प्रश्न किया है ॥ ६६ ॥

इस शरीर में सर्वभूतमयात्मिका चिति दो प्रकार की है, एक तो व्यष्टि-समष्टि-बुद्धि में आसक्त स्वभाव रखने

चलोन्मुखात्मिकैका तु निर्विकल्पा परा स्मृता ॥ ६७ ॥
सङ्कल्पबुद्धा सैवाऽन्तः स्वयमन्येव संस्थिता ।
सङ्कल्पितेतरवरा दौःशील्यं स्त्री यथा गता ॥ ६८ ॥
स एव हि पुमान् कोपाद्यथेहाऽन्य इव क्षणात् ।
भवत्येवं विकल्पाङ्का चित्स्वरूपाऽन्यतां गता ॥ ६९ ॥
विकल्पकलिपता ब्रह्मंश्चित्स्वरूपपरिच्युता ।
जाड्यं क्रमाद्भावयन्ती प्रयाति कलनापदम् ॥ ७० ॥
चित्स्वयं चेत्यतामेति साकाशपरमाणुताम् ।
शब्दबीजात्मिकां पश्चाद्वाततन्मात्रगामिनी ॥ ७१ ॥
देशकालविभागान्ता तन्मात्रवलिता क्रमात् ।
जीवो भूत्वा भवत्याशु बुद्धिः पश्चादहं मनः ॥ ७२ ॥

वाली विज्ञानमय शब्द से कही जानेवाली कर्तृभोक्तृ-स्वभाव से युक्त है और दूसरी अशेष विकल्पों से शून्य कूटस्थ है ॥ ६७ ॥

वह चिति ही सङ्कल्प से अपनी आत्मा को ही जीवात्मा समझती हुई भीतर स्वयं अन्य के समान होकर वैसे ही अवस्थित है जैसे सुन्दर शीलवाली स्त्री स्वप्न में में सङ्कल्पित दूसरी उपपति से युक्त होकर दुःस्वभाव-वाली होकर अन्य के समान प्रतीत होती है ॥ ६८ ॥

यह चित् भी सङ्कल्प-विकल्पात्मक चिह्नों से युक्त होकर दूसरे स्वरूपवाली वैसे ही हो जाती है जैसे इस संसार में सुशील पुरुष क्रोधवश क्षणभर में राक्षस-सा क्रूर हो जाता है ॥ ६९ ॥

हे ब्रह्मन् ! विरुद्ध कल्पनाओं से भावित अपने स्वरूप से च्युत चिति क्रमशः जड़तादात्म्य की भावना कर अपनी ही कल्पना से सविकल्प बुद्धि का विषय हो जाती है ॥ ७० ॥

स्वयं चिति ही आकाशसहित सूक्ष्म-भूतों की परमाणु स्वरूपता; शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धात्मक भोग्यों की बीजरूप चेत्यता मायोपलक्षित चैतन्य की विषयता प्राप्त करती है और उसके बाद समष्टि-प्राणरूपता को प्राप्त करती है ॥ ७१ ॥

यह चिति पञ्चीकरण के द्वारा सूक्ष्म भूतों से वेष्टित क्रमशः सातों द्वीप तथा चौदह लोकरूप देशविभाग एवं निमेष से लेकर दो परार्धपर्यन्त कालविभाग से युक्त हो जाती है । अनन्तर वह प्राणधारण से जीवरूप होती हुई तत्काल ही बुद्धि, अहङ्कार मन और चित्तस्वरूप हो जाती है ॥ ७२ ॥

मनस्त्वं समुपायाता संसारमवलम्बते ।
चण्डालोऽस्मीति मननाच्चण्डालत्वमिव द्विजः ॥ ७३ ॥
सङ्कल्पिता प्रबोधेन जाड्या विश्वप्रबोधिनी ।
शबलं रूपमासाद्य सङ्कल्पाद्यात्यनारतम् ॥ ७४ ॥
अनन्तसङ्कल्पमयी जाड्यसङ्कल्पपीवरा ।
चिज्जाड्यान्मोहमायाति पयः पाषाणतामिव ॥ ७५ ॥
ततश्चित्तं मनोमोहो मायेति विहिताभिधा ।
जाड्यं निपुणमाश्रित्य संसारे जायते मुने ! ॥ ७६ ॥
मोहमान्द्यमुपायाता तृष्णा निगडपीडिता ।
कामक्रोधभयोपेता भावाभावातिपातिनी ॥ ७७ ॥
त्यक्तानन्तनिजाभोगा व्यवच्छेदविकारिणी ।
दुःखदावानलातप्ता शोकाशिवकृशाशया ॥ ७८ ॥
इयमस्मीति भावेन शून्येन विकलीकृता ।

जैसे 'मैं चण्डाल हूँ' इस भावना से ब्राह्मण चण्डाल रूपता का अवलम्बन करता है वैसे ही मनरूपता को प्राप्त चिति संसार का अवलम्बन कर लेती है ॥ ७३ ॥

ब्रह्मचिति ही अज्ञानयुक्त स्वरूप की प्राप्ति कर देह और जीव के आकार से सङ्कल्पित हो अज्ञानयुक्त-जड़ता-वश असर्वज्ञ हो जाती है। अनन्तर बार-बार भोगों के सङ्कल्पों से निरन्तर संसारभागिनी होती है ॥ ७४ ॥

जैसे जल पाषाणरूपता बरफरूपता प्राप्त करता है वैसे ही अह चिति ही अनन्त सङ्कल्पों से ओतप्रोत तथा जड़वा के सङ्कल्प से स्थूल जड़ता से जीवनरूपता का भ्रम प्राप्त करती है ॥ ७५ ॥

हे मुने ! अनन्तर वही चित्त, मन, मोह, माया— इन संज्ञाओं का निर्माणकर निपुणता से जड़ता का आश्रयणकर संसार में उत्पन्न होती है ॥ ७६ ॥

अनन्तर मोहरूपी मन्दता को प्राप्त तृष्णारूपी हथकड़ी पड़ने के कारण पीडित काम, क्रोध एवं भय से ग्रस्त, वैभव और दरिद्रतारूपी गर्तों में स्वयं गिरी हुई होती है ॥ ७७ ॥

अपने असीम विस्तृत स्वरूप का परित्याग कर देने वाली, स्त्री, पुत्र आदि के वियोगों में शोक आदि विकारों से ग्रस्त हुई, दुःखरूपी दावानल से निरन्तर सन्तप्त हुई, शोक और अशुभों से कृपण, होती है ॥ ७८ ॥

प्रत्यक्ष दुःख, मोह आदि स्वभाववाली ही मैं हूँ, इस शून्यात्मक भ्रम से व्याकुल हुई, एकमात्र देह में आस्था रखनेवाली महान् दीनता को प्राप्त करती है ॥ ७९ ॥

मोहरूपी महाकीचड़ में जीर्ण जंगली हथिनी की तरह

देहमात्रगृहीतास्था परं दैन्यमुपागता ॥ ७९ ॥
मग्ना मोहमहापङ्के जीर्णेव वनदन्तिनी ।
भावाभावलतादोलापरिलोलशरीरका ॥ ८० ॥
असारापारसंसारविकारव्यवहारिणी ।
तापोपतप्तहृदया रागतेजोनुरञ्जिता ॥ ८१ ॥
निजयूथपरिभ्रष्टा मृगीवाऽवशतां गता ।
आविर्भावोदिताकारा तिरोभावेऽस्तमागता ॥ ८२ ॥
स्वसङ्कल्पोपयातासु भीता संभ्रमदृष्टिषु ।
पलायते वाऽप्यन्यासु वेतालेष्विव बालिका ॥ ८३ ॥
उष्ट्रीव मधुरं बिन्दुं वाञ्छते भावितं सुखम् ।
अवान्तरपरिभ्रष्टा दोषाद्दोषं पतत्यधः ॥ ८४ ॥
परं वैषम्यमायाति सङ्कटात् सङ्कटं गता ।
दुःखाद्दुःखं निपतिता विपदो विपदि स्थिता ॥ ८५ ॥

फँसी हुई, वैभव और दरिद्रता रूपी लता-हिंडोलों से चारों ओर चंचल शरीरवाली निःसार और असीम संसार के विकारों में व्यवहार करनेवाली, अनेक प्रकार के तापोंसे सन्तप्त हृदयवाली, राग और क्रोध से निरन्तर व्याप्त अपने झुण्ड से बिछुड़ी हुई हिरनी के मान परवश हुई, वैभवों या भूतमात्राओं के आविर्भाव काल में हृष्ट या अभिव्यक्ति हुई और उनके तिरोभाव में दीनता या तिरोभाव को प्राप्त होता है ॥ ८०-८२ ॥

अपने सङ्कल्प से प्राप्त हुई अन्य विभ्रम दृष्टियों में भयभीत होकर यह वैसे ही भाग जाती है; जैसे वेतलों के बीच से बालिका भाग जाती है ॥ ८३ ॥

ऊँटिनी काँटे और नीम के पत्ते खाते समय अपनी वासना से भावित स्वल्प मधुर रस की अभिलाषा करती है, वैसे दुःखमय विषयों के रहते चिति उनसे सुख की अभिलाषा करती है। बीच ही में भ्रष्ट होकर एक दोष से दूसरा दोष प्राप्तकर नीचे की ओर गिरती जाती है। यह चिति भी उन्नत विषय विषयवृक्ष के ऊपर सुखरूपी मधु-बिन्दु चाटने की अभिलाषा से चढ़ने की इच्छा कर रही बीच में ही वैसे ही फिसलकर नीचे की ओर गिरती जाती है। जैसे ऊँटिनी विषम ऊँचे तटपर उगे हुए वृक्ष के अग्र-भाग में सम्बद्ध मधु-पटल में अवस्थित मधु-बिन्दु चाटने की इच्छा से वृक्ष पर चढ़ने की लालसा करती हुई किये गये एक साथ अगले पैरों के उन्नयन से ही अपने विशाल देह भार के कारण बीचमें ही फिसलकर नीचे की ओर विषम प्रदेश में गिरती जाती है ॥ ८४ ॥

इस प्रकार चिति एक सङ्कट से दूसरे सङ्कट

नानानर्थगणोपेता चेष्टापरवशाशया ।
कष्टात् कष्टमनुप्राप्ता परितापानुतापिनी ॥ ८६ ॥
क्रमादाबद्धवैदग्ध्याद्वैदग्ध्याङ्गमुपागता ।
विचित्रबन्धनिर्माणपराक्रमपदं गता ॥ ८७ ॥
सर्वतः शङ्कते भीता प्राणात्ययमुपागता ।
क्षीणतोयेव शफरी विवर्तनपरायणा ॥ ८८ ॥
बाल्ये विवशसर्वार्था यौवने चिन्तयाऽऽवृता ।
वार्धकेऽप्यतिदुःखार्ता मृता कर्मवशीकृता ॥ ८९ ॥
जायते स्वर्गनगरे नागी पातालकोटरे ।
आसुरी दैत्यविवरे नरस्त्री वसुधातले ॥ ९० ॥
राक्षसी राक्षसाधारे वानरी वनकोटरे ।
सिंही गिरीन्द्रशिखरे किन्नरी कुलपर्वते ॥ ९१ ॥

को प्राप्त एक दुःख से दूसरे दुःख में गिरी हुई एक विपत्ति से दूसरी विपत्ति में पहुँची हुई उत्तरोत्तर अत्यन्त विषम स्थिति प्राप्त करती है ॥ ८५ ॥

यह चिति अनेक अनर्थ-समूहों से युक्त चेष्टाओं से परवश हृदयवाली नरक आदि भूमियों में एक कष्ट से दूसरे कष्ट को प्राप्त कर चारों ओर के तापों से निरन्तर सन्तप्त हुआ करती है ॥ ८६ ॥

अनन्तर क्रमशः मनुष्य शरीर का लाभ होनेपर भी बाल्यकाल से लेकर व्यवहार निपुणता के अभ्यास से प्राप्त कौशल द्वारा काव्य, नाटक, तर्क आदि के अभ्यास में तत्पर यह चिति अपने बन्धन के निर्माण में अपेक्षित पराक्रम के ही पद को प्राप्त है, मोक्षोपयोगी विवेक-पद को प्राप्त नहीं करती है ॥ ८७ ॥

यह चिति क्रम से अन्तिम अवस्था प्राप्त कर प्राण-विनाशदशा को प्राप्त चारों ओर से भीत होकर वैसे ही शङ्कित हो जाती है, जैसे क्षीणजला अतएव भूमि में लोटपोट में तत्पर मछली शङ्कित हो जाती है ॥ ८८ ॥

चिति के समस्त विषय बाल्यकाल में पराधीन रहते हैं, यौवन काल में धनादि-चिन्ता से उसका विवेक आवृत हो जाता है। वृद्धावस्था में अनेकविध दुःखों से पीड़ित रहती है और समय आने पर अपने कर्मों से वशीकृत होकर मर जाती है ॥ ८९ ॥

कर्मगतिवश कभी स्वर्ग-नगर में उत्पन्न होती है, कभी पातालकुहर में नागिन हो जाती है, कभी दैत्यों के विवरों में आसुरी बन जाती है कभी इस पृथ्वी में मनुष्य स्त्री बन जाती है ॥ ९० ॥

यह चिति राक्षसों के आश्रय-स्थान में राक्षसी बन

विद्याधरी देवगिरौ व्याली च वनगर्तके ।
लता तरौ खगी नीडे वीरुत् सानौ वने मृगी ॥ ९२ ॥
शेते नारायणोऽम्भोधौ ध्यानी ब्रह्मपुरेऽब्जजः ।
कान्तागतो हरः शैले स्वर्गे सुरवरो हरिः ॥ ९३ ॥
दिनं करोति तीक्ष्णांशुर्वर्षत्यम्बुधरो जलम् ।
करोति श्वसनं संवित् सपर्वतमहोदधिम् ॥ ९४ ॥
ऋतुचक्रं प्रवहति सहसा कालमण्डलम् ।
दिनरात्रितयोपैति तेजस्तिमिरतां क्रमात् ॥ ९५ ॥
क्वचिद्बीजरसोल्लासा क्वचित्पाषाणमौनिनी ।
क्वचिन्नदी रसवती क्वचित् कुमुदविस्तृतिः ॥ ९६ ॥
क्वचित्फलावलीपाकैः क्वचित्काष्ठानलादिभिः ।
क्वचिच्छैत्यहिमद्वारि क्वचित् खादि न किञ्चन ॥९७॥

जाती है, अरण्य के कोटर में बानरी बन जाती है कभी कर्मवश हिमालय आदि कुलपर्वतों पर किन्नरी बन जाती है ॥ ९१ ॥

यह चिति कभी अपनी कर्मगति से सुमेरु पर्वत पर विद्याधरी बन जाती है, अरण्यविलों में सर्पिणी बन जाती है, वृक्ष पर लता बन जाती है, घोसले में चिड़िया बन जाती है, शिखर पर गुल्मिनी बन जाती है तो कभी बन में हिरनी बन जाती है ॥ ९२ ॥

चिति ही नारायण होकर समुद्र में नींद लेती है, ब्रह्मा होकर ब्रह्मपुर में ध्यान करती है, आधे अङ्ग में कान्ता से संवलित महादेवजी का रूप धारण कर हिमालय पर्वत पर निवास करती है और स्वर्ग में सुरश्रेष्ठ हरि का रूप धारण कर विराजमान रहती है ॥ ९३ ॥

संवित् ही सूर्य बन कर दिवस का निर्माण करती है, मेघ बन कर जल की वर्षा करती है, वायु बन कर वायु का व्यापार करती है एवं पर्वत और महोदधि बन कर पर्वत और महोदधि का व्यापार करती है ॥ ९४ ॥

संवित् ही ऋतुघटित संवत्सर का चक्र घुमाती है, सहसा युग, मन्वन्तर आदि काल का निर्माण करती है एवं दिन और रात्रिरूप से क्रमशः प्रकाश एवं अन्धकार रूप बन जाती है ॥ ९५ ॥

चिति ही कहीं वृक्ष आदि में बीजरूप तथा उसकी अङ्कुरता में हेतु रसात्मक उल्लास से परिपूर्ण हो जाती है, कहीं पाषाणरूपिणी होकर निश्चल पत्थर बन जाती है, कहीं पर जलपूर्ण नदी हो जाती है और कहींपर कुमुदरूप से फैल जाती है ॥ ९६ ॥

चिति ही कहीं पर फलपङ्क्तियों के पाकों से उपल-

क्वचिदुज्ज्वलिताकारा क्वचित्कष्टा शिला क्वचित् ।
क्वचिन्नीलाऽथ हरिता क्वचिदग्निः क्वचिन्मही ॥९८॥
सर्वात्मत्वात् सर्वगत्वात् सर्वशक्तित्वयोगतः ।
सर्वात्वादेवंरूपैव खादप्यच्छैव सा परा ॥ ९९ ॥
चिच्चिनोति यथाऽऽत्मानं येन यत्र यदा यदा ।
तत्तथाऽनुभवत्यम्बु स्पन्दाद्वीच्यादितां यथा ॥१००॥
हंसी क्रौञ्ची बकी काकी सारसी तुरगी वृकी ।
बकी बलाका हरिणी वानरी किन्नरी शुनी ॥१०१॥
वटिका पिङ्गली शाली मक्षिका भ्रमरी शुकी ।
धीः श्रीर्ह्रीः प्रीती रतिश्च शंबरी शर्वरी शशी ॥१०२॥
एतास्वन्यासु चाऽन्यासु परिभ्रमति योनिषु ।
विवर्तमानसंसारे जलावर्ते तृणं यथा ॥१०३॥

क्षित रहती है, कहीं काठ, अनल आदि से उपलक्षित रहती है, कहीं पर शीततावश हिम के सदृश आचरण कर रहे जल से युक्त रहती है और कहीं आकाश और वायु बन कर रहती है और कहीं अन्यरूप बन कर रहती है ॥ ९७ ॥

चिति ही कहीं उज्ज्वलित आकार वाली, कहीं कुश-कण्टक आदि से दुर्गम, कहीं शिलारूप, कहीं नीलरूप, कहीं हरितरूप, कहीं अग्निरूप और कहीं महीरूप बन जाती है ॥ ९८ ॥

चिति ही सबकी आत्मा, सर्वत्र व्यापक एवं माया के योग से सर्वस्वरूप होने के कारण वैसे ही जगत्-रूप हो जाती है । परमार्थ-दशा में तो वह परा चिति आकाश से भी अत्यन्त निर्मल एवं व्यापक ही है ॥ ९९ ॥

चिति जब जहाँ पर जिस भाव से जिस तरह अपनी आत्मा का विवर्त के द्वारा उपचय करती है, तब वहीं पर उसी भाव का अनुभव वैसे ही करती है जैसे जल स्पन्दन से तरङ्ग आदि रूपता का अनुभव करता है ॥ १०० ॥

यह चिति हंसी, क्रौंची, बगुली, काकी, सारसी, घोड़ी, वृकी, ऊँचे पैर और चोंच वाली भिन्न जाति की बगुली, अत्यन्त धवल तूलकण्ठ जाति की बलाका, हिरनी, बानरी, किन्नरी, कुत्ती, वटिका, पिङ्गली, मैना, मक्खी, भौंरी, सुग्गी, धी, श्री, लज्जा, प्रीति, रति, माया, रात्रि और शशी—इन योनियों में तथा इनसे भिन्न अन्यान्य योनियों में देह-विशेषों में इस विवर्तमान संसार में वैसे ही घूमती रहती है, जैसे जलावर्त में तिनका ॥१०१-१०३॥

यह चिति अपने शब्द से गदही की तरह अपने ही

बिभेत्यथ स्वसङ्कल्पात् स्वशब्दादिव गर्दभी ।
नाऽनया सदृगन्याऽस्ति मुग्धा बाला चलाऽबला ॥१०४॥
एषा सा कथिता तुभ्यं जीवशक्तिर्महामुने ! ।
प्राकृताचारविवशा वराकी पशुधर्मिणी ॥१०५॥
कर्मात्मेत्यभिधां प्राप्ता शोच्याऽस्य परमात्मनः ।
अनन्तं दुःखबहुलं स्वयं विभ्रममाश्रिता ॥१०६॥
असदेवाऽनयाऽऽक्रान्तं विनाशि सहजं मलम् ।
तण्डुलेनेव कञ्चूकमनन्ययाऽव्यवस्थितम् ॥१०७॥
अनन्तविभवभ्रष्टा दौर्भाग्यपरितापिनी ।
शोचन्ती प्राप्य जीवत्वं भर्तृहीनेव नायिका ॥१०८॥
जडगतेरवलोकय शक्ततां
निजपदस्मरणेन विनेह चित् ।

सङ्कल्प से डरती है । इसके समान दूसरी कोई भी मुग्धा, चञ्चला एवं अबला बाला नहीं है ॥ १०४ ॥

हे महामुने ! यह चिति तुमसे उस बेचारी प्राकृत आचारों से पराधीन एवं पशुओं के सदृश अनियन्त्रित धर्मवाली जीवशक्ति का निरूपण किया है ॥ १०५ ॥

यह चिति असीम दुःखपूर्ण विभ्रमों का स्वयं आश्रयण करने वाली 'कर्मात्मा' कर्मानुसार स्वभाव इस नाम को प्राप्त करती है । इस परमात्मा की यह शक्ति सचमुच शोचनीय है ॥ १०६ ॥

यह चिति अपने से भिन्न सत्ता-स्फूर्ति से रहित, अविद्या से अनियत, विनाशी और स्वाभाविक मलरूप असत् के ऊपर ही वैसा ही आक्रमण किया है, जैसे तण्डुल ने तुष के ऊपर किया है ॥ १०७ ॥

यह चिति असीम विभवों से भ्रष्ट तथा दौर्भाग्यरूप परिताप से परितप्त जीवरूपता प्राप्त कर वैसे ही शोक-विमग्न हो जाती है, जैसे पतिविहीना नायिका होती है ॥ १०८ ॥

जड़गति अविद्या की सामर्थ्य देखो ! जिससे कि पूर्ण-ब्रह्मस्वभाव होती हुई भी शरीरावच्छिन्न चिति अपनी निरतिशयानन्द पूर्णस्वभावता का स्मरण किये बिना मैं शरीरमात्र परिच्छिन्न हूँ, थोड़ा पुण्य क्षीण होने पर मैं न्यून हो गई, इस प्रकार समझ कर अपने पतन के लिए वैसे ही नीचे की ओर गिरती जाती है, जैसे मेघ, समुद्र आदि से उपलक्षित समस्त जगत् को अपने उदर में समा लेने की सामर्थ्य से युक्त होते हुए भी रहँट की घरियों में

**व्रजति कष्टमधःपतनाय या	यदरघट्टघटीघनपीठवत्	॥१०९॥**

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिवपूजोपाख्याने चेत्योन्मुखचिद्विचारो नाम त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

प्रविष्ट आकाश अपने स्वभाव का स्मरण किये बिना घटी मात्र से परिच्छिन्न तथा अल्प गिरने से खाली हो गया, मान कर बार-बार अपने पतन के लिए नीचे की ओर गिरता जाता है, यह बड़ा कष्ट है ॥ १०९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय के निर्वाणप्रकरण में शिवपूजोपाख्यान में चेत्योन्मुखचिद्विचार नामक कुसुमलता का तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३० ॥

३१

ईश्वर उवाच

चिनोत्यलीकमेवैवं सदुःखाऽस्मीति भावनात् ।
चित्स्वप्नक्षीबतामोहपतिता संभ्रमे यथा ॥ १ ॥
अमृताऽपि मृताऽस्मीति विपर्यस्तमतिर्वधूः ।
यथा रोदित्यनष्टैव नष्टाऽस्मीति तथैव चित् ॥ २ ॥
अकारणं विपर्यस्ता मतिर्भ्रान्तमपि स्थिरम् ।
यथा जगत्पश्यतीदं तथाऽहन्ताभ्रमाच्चितिः ॥ ३ ॥
चित्तं हि कारणं त्वस्याः संसारानुभवे चितेः ।
न च तत्कारणं किञ्चिच्चित्त्वान्यत्वात्यसंभवात् ॥ ४ ॥
एवं हि कारणाभावाच्चेत्यस्याऽसम्भवादिति ।
नाऽसौ चित्तं ततश्चेत्यं यत्नतश्चेत्यते यया ॥ ५ ॥
न दृश्यदर्शनद्रष्टृरूपं तैलमिवोपले ।
न कर्तृकर्मकरणं दृशीन्दाविव कृष्णता ॥ ६ ॥
न मातृमेयमानानि नभसीव नवाङ्कुरः ।
न चिच्चेतनचेत्यादि नन्दने खदिरो यथा ॥ ७ ॥
नाऽहत्वन्त्वन्त्वतत्त्वादि पर्वतत्वमिवाऽम्बरे ।
स्वदेहत्वान्यदेहत्वे शङ्खत्वमिव कज्जले ॥ ८ ॥

३१

ईश्वर ने कहा—उसी प्रकार अज्ञान-कीचड़ में फँसी हुई यह चिति भी अज्ञान काल में 'मैं दुःखी हूँ, इस भावना से पूर्ववर्णित मिथ्या ही वैसे ही जीवजगद्भाव बटोरा करती है जैसे स्वाप्निक मदिरा-मद से जनित मोह में गिरी हुई मुग्धा स्त्री सम्भ्रमकाल में 'मैं दुःखी हूँ,' इस भावना से मिथ्या ही दुःख बटोरा करती है ॥ १ ॥

यह चिति भी मैं नष्ट हो गई, मैं मर गई, इस प्रकार भावना करती हुई झूठमूठ वैसे ही रोती रहती है जैसे विपरीत-मतियुक्त मुग्धा स्त्री मरी हुई न होने पर भी मैं मर गई, नष्ट न हुई भी मैं नष्ट हो गई, इस प्रकार भावना करती हुई रोती रहती है ॥ २ ॥

ठीक उसी प्रकार यह चिति भी अहन्ता के भ्रम से असत्य इस सम्पूर्ण संसार को बिना कारण वैसे ही सत्य देखती है जैसे विपरीत बुद्धि कुम्भकार के घूमते हुए भी चाक को बिना निमित्त के ही स्थिर देखती है ॥ ३ ॥

चित्त ही इस चिति के संसारानुभव में कारण है, वह कारणरूप चित्त कोई पदार्थ नहीं है; क्योंकि वह चित् या उससे भिन्न अचित् दोनों में से कोई नहीं हो सकता है। यदि अचित् रूप मानेंगे, तो वह जगत् के अन्तर्गत हो जोने से जगत्कल्पक ही नहीं हो सकता है ॥ ४ ॥

इस प्रकार चित्तरूप कारण का अभाव सिद्ध होने से चेत्य का अर्थात् जगद्रूप विषय का भी अभाव सिद्ध है। इसलिए जिस चिति के द्वारा श्रमपूर्वक चित्त अनुभूत होता है, वह चिति चित और उसके अधीन चेत्य स्वरूप नहीं है, अपितु शुद्ध रूप ही है ॥ ५ ॥

चित्त के निषेध से ही चिति में चक्षु आदि इन्द्रिय प्रयुक्त दृश्य, दर्शन और द्रष्टारूप त्रिपुटी का निषेध भी सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं—'न' इत्यादि से।

शुद्ध चिति में दृश्य, दर्शन और द्रष्टा का रूप वैसे ही नहीं रहता जैसे पत्थर में तेल नहीं रहता। चिति में कर्ता, कर्म और करण वैसे ही नहीं रहते जैसे चन्द्रमा में कालिमा नहीं रहती ॥ ६ ॥

चिति में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण इन तीनों का वैसे ही अभाव है जैसे आकाश में नवीन अङ्कुर का। चिति में चित्तवृत्ति, चेतन अर्थात् चित्तिवृत्ति के आश्रय और चेत्य वैसे ही वृत्ति के विषय आदि का अभाव है। जैसे नन्दन-वन में खैर के वृक्ष का अभाव है ॥ ७ ॥

चिति में अहन्ता, त्वन्ता और तत्ता आदि वैसे ही नहीं है जैसे आकाश में पर्वतत्व नहीं है, चिति में स्वदेहत्व और

नानाऽनाना न चाऽप्यन्तरणाविव सुमेरवः ।
न च शब्दार्थशब्दश्रीर्महोषरलता यथा ॥ ९ ॥
नेति नेति न चैवाऽर्कमण्डले रजनी यथा ।
न वस्तुतावस्तुते च तुषारे तु यथोष्णता ॥ १० ॥
न शून्यताशून्यते वा शिलाकोश इव द्रुमः ।
शून्यताऽशून्यता नाम महती ख इवाऽखता ।
केवलं केवलीभावस्वच्छतैवाऽवशिष्यते ॥ ११ ॥
न चित्तात् कस्य चिद्दोषाज्जातयैतदवाप्यते ।
तत्सर्वभावनामात्रेणाऽनर्थः प्रकृतः स्थितः ॥ १२ ॥
तज्ज्ञेऽप्यभावनामात्रेणाऽनर्थं उपशाम्यति ।
तज्ज्ञेऽप्यभावनामात्राद्दृतेऽन्यत्रोपयुज्यते ॥ १३ ॥

अन्यदेहत्व वैसे ही नहीं रहते जैसे काजल में शङ्खत्व नहीं रहता ॥ ८ ॥

इसमें अनेक प्रकार के जीव तथा प्रत्येक शरीर में आत्मा के अभेदाध्यास भी अर्थ अर्थात् नाम स्वरूप नहीं रहते । जैसे परमाणु के अन्दर सुमेरु नहीं रहते वैसे ही इसमें शब्द और अर्थ अर्थात् नाम रूप की कथा तो वैसे ही नहीं है, जैसे महा ऊसर भूमि में लता की ॥ ९ ॥

जैसे सूर्य-मण्डल में रात्रि वैसे ही इस चिति में 'नेति' इत्यादि निषेधपरक श्रुतियाँ नहीं हैं, इसमें वस्तु से अतिरिक्त वस्तुत्व और अवस्तुत्वरूप धर्म भी वैसे ही नहीं रहते जैसे तुषार में उष्णता नहीं रहती ॥ १० ॥

जैसे शिला के गर्भ में वृक्ष नहीं है वैसे ही इस चिति में शून्यता और अशून्यता वैसे ही है । आकाश में अनाकाशता की तरह भिन्न-भिन्न वादियों के द्वारा कल्पित जैसे प्रसिद्ध महती शून्यता और अशून्यता विचार करनेपर नहीं रहती केवल केवलीभाव लक्षण स्वरूप स्वच्छता ही अवशेष रहती है, न कि अणुमात्र भी उससे कुछ भिन्न है ॥ ११ ॥

यह चिति चिति के दोषभूत हिरण्यगर्भ के चित्तरूप निमित्त से उत्पन्न इन दुःखों को प्राप्त करती है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु हिरण्यगर्भ द्वारा उत्पन्न किये गये देह, इन्द्रिय और उनके विषय उन सब में 'अहम्', 'मम' तथा 'ये सब अर्थ सत्य हैं' इत्यादि केवल भावनामात्र से ही यह संसार रूप अनर्थ उपस्थित हुआ है ॥ १२ ॥

तत्त्वज्ञ पुरुष में 'अहम्', 'मम' तथा 'ये संसारिक पदार्थ सत्य हैं' इस प्रकार की भावनाओं के अभाव से ही यह सम्पूर्ण अनर्थ अपने-आप सम्यक् शान्त हो जाता है

न तृणं न च त्रैलोक्यमिति स्वायत्तताऽत्रया ॥ १४ ॥
स्वायत्त एव चैषोऽर्थो दुःसाध्यो भावनास्थितः ।
यद्यत्र साध्यते पुंसा तत्कथं क्वेव लभ्यते ॥ १५ ॥
निर्विकल्पाऽद्वितीया चिद्याऽसौ सकलगा सती ।
परमैका परा साच्छा दीपिका तेजसामपि ॥ १६ ॥
सैषाऽवभासनकरी सर्वगा नित्यनिर्मला ।
नित्योदिता निर्मनस्का निर्विकारा निरञ्जना ॥ १७ ॥
घटे पटे वटे कुडचे शकटे वानरे खरे ।
असुरे सागरे भूते नरे नागे च संस्थिता ॥ १८ ॥
साक्षिवत्तिष्ठति सती स्पन्दते न च कुत्रचित् ।
दीपः प्रकाशनायेव करोति न पुनः क्रियाम् ॥ १९ ॥

और तत्त्वज्ञ पुरुष में भी सारी भावनाओं के अभाव के बिना सम्पूर्ण दुःख प्राप्त होते हैं ॥ १३ ॥

तव-ममात्मक जो भावना है, वही इस दुःखादि की प्रसक्ति में कारण है, उस भावना में पुरुष की स्वतन्त्रता है वह भावना कर सकता है और नहीं भी कर सकता है ऐसी स्थति में त्रैलोक्य का परित्याग भी वैसे ही दुःसाध्य नहीं है जैसे तृण का परित्याग दुःसाध्य नहीं है ॥ १४ ॥

यह संसार रूपी अनर्थ स्वाधीन होनेपर भी दुःसाध्य है । जिस कार्य को पुरुष अपने प्रयत्न से सिद्ध नहीं करता है वे कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? साधारण तृण को भी बिना हाथ फैलाये प्राप्त नहीं किया जा सकता है ॥१५॥

निर्विकल्पक, अद्वितीय परब्रह्म स्वरूपिणी सर्वव्यापक प्रकाशिका सकल तेजों की स्वच्छ और अत्युत्कृष्ट चिति पुरुष की केवल एक भावना से प्राप्तव्य है ॥ १६ ॥

यह चिति सम्पूर्ण पदार्थों का अवभास करने वाली सर्वव्यापक, नित्य, निर्मल, नित्योदित, मन से रहित, सकल विकारों से रहित और निरञ्जन है ॥ १७ ॥

घट और पट में, वट और कुडच में, शकट और बानर, में गदहे और असुर में, सागर और भूत में, तथा नर और नाग में सर्वत्र एक वही संस्थित है ॥ १८ ॥

यह चिति भी साक्षी की तरह केवल चुपचाप अपने स्वरूप में वैसे ही बैठी रहती है । जैसे प्रदीप पदार्थों के प्रकाशन के लिए कोई दूसरी क्रिया नहीं करता, केवल अपने स्वरूप स्थिति से ही प्रकाशन में समर्थ हो जाता है, चलने फिरने और हिलने-डोलने में समर्थ रहती हुई भी कहीं पर हिलने-डोलने या चलने-फिरने का नाम तक नहीं लेती है ॥ १९ ॥

मलिनाऽप्यमुनैषा सा विकल्पाढ्या विकल्पिनी ।
जडे वाऽप्यजडाभासा न सर्वा सर्वगैव च ॥ २० ॥
निर्विकल्पा परा सूक्ष्मा चिच्चिनोति स्वसंविदम् ।
वातावाताङ्गमर्मादि यथा यन्त्रादिवेष्टने ॥ २१ ॥
रूपालोकमनस्कारावलिता चिदबोधतः ।
बोधतश्चैव भवति निद्रां सदसती यतः ॥ २२ ॥
सा परैव चिदत्यच्छा चिन्तामायाति चेतनात् ।
साधुरेव यथाऽसाधुर्भाविते दुर्जनैषणाः ॥ २३ ॥
मलेन स्वर्णमायाति ताम्रतां मलमार्जनात् ।
पुनः कनकतामेति यथा चित्परमा तथा ॥ २४ ॥

वह चिति केवल देहादि भाव से वास्तव में मलिन हो गई है अर्थात् विविध रागद्वेषादि दोषों से सम्पृक्त है । किसी प्रकार का विकल्प न रहने पर भी विविध विकल्पों से युक्त हो गई है। अजड होती भी जड़ के समान भासमान एवं सर्वगामिनी होती हुई भी असर्वगामिनी है ॥ २० ॥

निर्विकल्प अर्थात् विकल्प से शून्य सर्वगामिनी एवं अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप परा चिति प्राणप्रधान लिङ्ग शरीरमें प्रतिबिम्ब भाव से अनुगत हाथ, पैर एवं हृदय आदि स्थान तथा बहत्तर हजार नाडियों को व्याप्त कर अर्थात् उनमें प्रवेश कर सर्वत्र पहुँची हुई अपनी संविद् का अपने उतने ही शरीर में जबर्दस्ती खींचकर वैसे ही उपचय करती है, जैसे लम्बा और सूक्ष्म रेशम आदि तन्तु टेकुआ आदि के ऊपर वेष्टन करने पर अत्यन्त लम्बा होनेपर भी अपने को उतने ही स्थान में उपसंहृत कर बेर आदि के आकार में उपचय प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

इसी उपचय के कारण जाग्रत् पुरुष की चिति बाह्य रूप आदि विषयों के अवलोकन एवं मानसिक व्यापारों से वेष्टित होकर बीज की पक्षपातिनी होती है और निद्रा युक्त ले रहे पुरुष की चिति स्वप्न में वासनामय रूप आदि के अवलोकन एवं मनो व्यापारों से वेष्टित हो भीतर बोध और बाहर अबोध इन दो पक्षों का अवलम्बन करती है । इसी प्रकार सुषुप्ति में अज्ञानमात्र की साक्षिणी एवं 'मैंने कुछ भी नहीं जाना' इस प्रकार उठे हुए पुरुष के स्मरण से सदसदात्मक होती हुई भी चिति असत्प्राय होकर अबोधपक्ष का अवलम्बन करती है ॥ २२ ॥

अत्यन्त स्वच्छ परा चिति ही देहादि में तादात्म्याभिमान करने से वैसे ही तदनुकूल प्राप्ति की और प्रतिकूल परिहार आदि की चिन्ता करती है, जैसे साधु पुरुष दुर्जन-सङ्गति से चिरकाल तक चित्त के संस्कृत होनेपर दुर्जन की इच्छाएँ लेकर असाधु हो जाते हैं और स्वयं जड़ देहादिरूप हो जाती हैं ॥ २३ ॥

अज्ञान रूप मल का शोधन करने से परम चिति वैसे ही अपने विशुद्ध स्वरूप में हो जाती है जैसे मालिन्य से सुवर्ण ताम्ररूप हो जाता है और मल का शोधन करने से फिर सुवर्णरूप हो जाता है ॥ २४ ॥

स्वारोपशान्त्या स्वादर्शो यथैति प्रतिमास्थितिम् ।
तथा सर्गमिवाऽऽगम्य बोधात्स्वं याति तत्पदम् ॥ २५ ॥
अभाववेदनादस्याः संसारः संप्रवर्तते ।
स्वभाववेदनादेष त्वसदेवोपशाम्यति ॥ २६ ॥
यदा चित्त्वाच्चिनोत्यन्तरन्यतामसतीं तदा ।
अहन्तामिव संप्राप्य नश्यतीवाऽप्यनाशिनी ॥ २७ ॥
ईषत्स्पन्दादधो याति भृगुप्रान्तात्तरोः फलम् ।
यथा तथैव संवित्तेरधःपातो महानिव ॥ २८ ॥
रूपादीनां तु सत्तैषा चित एवाऽमलैव चित् ।
द्वित्वैकत्वे त्वबोधोत्थे बोधेन विलयं गते ॥ २९ ॥

अज्ञान से जड़ता, जीवता आदि सृष्टि को प्राप्त कर स्थित चिति भी तत्त्वज्ञान से अपना स्वच्छतारूप कैवल्यपद वैसे ही प्राप्त करती है जैसे सुन्दर दर्पण अपने ऊपर आरोपित मल के दूर होनेपर बार-बार प्रतिबिम्ब की अभिव्यक्ति के योग्य स्वच्छतारूप स्थिति प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

असत्-रूप अज्ञान के लाभ से चिति का संसार बढ़ता जाता है और सच्चिदानन्द स्वरूप चितिस्वभाव के ज्ञान से यह संसार असत्-रूप होकर शान्त हो जाता है ॥ २६ ॥

चयनस्वभाव होने के कारण चिति अपने भीतर असत्-रूप भिन्नता का संचय करती है, अहन्ता स्वरूप को प्राप्त करती हुई स्वयं अविनश्वर स्वभाव होती हुई भी एक तरह नष्ट हो जाती है ॥ २७ ॥

अज्ञान के स्पन्दन से संवित्त का यह जीवभाव भी एक तरह का वैसे ही महान् अधःपात है जैसे थोड़े से स्पन्द से पर्वत के तट-प्रान्त-प्रदेश में स्थित वृक्ष से फल का अधःपात होता है ॥ २८ ॥

रूप आदि विषयों की यह सत्ता चिति की ही है। चिति स्वयं निर्मल ही है । भेद और अभेदाध्यास एकमात्र अज्ञान से जनित हैं और वे ज्ञान से विलीन हो जाते हैं ॥ २९ ॥

सत्तामात्रेण चित्तस्य बोधश्चित्तेन्द्रियादिषु ।
आलोकसत्तामात्रेण व्यवहारः क्रियास्विव ॥ ३० ॥
वातात् कनीनिकास्पन्दस्तद्द्योमिर्दृष्टिरुच्यते ।
तद्वाह्यवति तद्रूपरूपबोधस्तु चित्परा ॥ ३१ ॥
त्वङ्मारुतौ जडौ तुच्छौ तत्सङ्गः स्पर्श उच्यते ।
मननं स्पर्शसंवित्तिस्तत्संवित्तिस्तु चित्परा ॥ ३२ ॥
गन्धतन्मात्रपवनसम्बन्धो गन्धसंविदः ।
आसां तु मनसा हीनं वेदनं परमैव चित् ॥ ३३ ॥
शब्दतन्मात्रश्रवणवातसङ्गान्मनो विना ।
सुषुप्तसदृशी संवित् परमा चिदुदाहृता ॥ ३४ ॥
क्रियोन्मुखत्वं सङ्कल्पात् सङ्कल्पो मननक्रमः ।
मननं चित्तकालुष्यमात्मा चिन्निर्मला भवेत् ॥ ३५ ॥

जैसे केवल आलोक-सत्ता से क्रियाओं में व्यवहार होता है वैसे ही केवल चित्तसाक्षी की सत्ता से ही चित्त, इन्द्रिय आदि में ज्ञात होता है ॥ ३० ॥

चिति-सन्निधि से प्रेरित व्यानवायुरूप निमित्त से चक्षु की कनीनिकाओं में स्पन्दन होता है। उसमें अवस्थित प्रकाश चक्षु कही जाती है। उस चक्षु के द्वारा, नाली द्वारा जल के सदृश, बाहर की ओर प्राप्त कराये गये अन्तःकरण से व्याप्त घट आदि में उसीके समान आकार वाले नील, पीत आदि रूप एवं उसकी (घट आदि की) आकृति का बोध होना ही परा चिति है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार स्पर्शेन्द्रिय से होने वाले त्रिपुटी-भानस्थल में भी त्वगिन्द्रिय और वायु दोनों जड़ एवं स्वतः सत्ता-स्फूर्ति शून्य है, इसलिए चिति की सत्ता स्फूर्ति के बल से ही त्वचा और पवन का सम्बन्ध होता है और वही सम्बन्ध स्पर्शेन्द्रिय-कल्पना का निमित्त होने से स्पर्श कहा जाता है। उसके द्वारा उससे सम्बद्ध शीत, उष्ण आदि द्रव्यों में शीताद्याकार मनोवृत्ति स्पर्शज्ञान कहा जाता है और स्पर्शज्ञान से युक्त विषयपर्यन्त त्रिपुटी का प्रकाश पर साक्षी चिति है ॥ ३२ ॥

घ्राणेन्द्रिय और गन्ध-तन्मात्रा का नासा-पुट में प्रवेश करने वाले पवन द्वारा किया गया उनका सम्बन्ध गन्धाकार अन्तःकरणवृत्तियों का निमित्त होने से गन्ध-संवित् कहलाती है। गन्धाकार अन्तःकरणवृतियों की त्रिपुटियों की अन्तःकरण से विविक्त प्रकाशात्मक ज्ञान साक्षी चैतन्य ही है ॥ ३३ ॥

शब्दतन्मात्रा और श्रवणेन्द्रिय का व्यानवायु के संसर्ग से उत्पन्न मनोवृत्तिरूप शब्दसंवित्तियों में मन का अंश छोड़कर सुषुप्ति के समान निर्विकार साक्षीरूपा संवित्ति ही परम चिति है। रसनेन्द्रियजनित त्रिपुटी के साक्षात्कार में भी साक्षी चैतन्य का पृथक्करण कर अनुभव करना चाहिए ॥ ३४ ॥

कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति में तत्परता सङ्कल्प से होती है, सङ्कल्प मननजनित है, मनन चित्त की कलुषता के कारण होता है और उन सबका साक्षी आत्मरूपा चिति निर्मल निर्मुक्त है ॥ ३५ ॥

चित्प्रकाशात्मिका नित्या स्वात्मन्येवाऽत्र संस्थिता ।
इदमन्तर्जगद्धत्ते सन्निवेशं यथा शिला ॥ ३६ ॥
अद्वितीया दधानेदं विकारादिविवर्जितम् ।
नास्तमेति न चोदेति स्पन्दते नो न वर्धते ॥ ३७ ॥
सङ्कल्पाज्जीवतामेत्य निःसङ्कल्पात्मनाऽऽत्मना ।
चिज्जडं नो जडं भावं भावयन्ती स्वसंस्थिता ॥ ३८ ॥
रथस्त्वस्याश्चितेर्जीवो जीवस्याऽहङ्कृती रथः ।
अहङ्कृते रथो बुद्धिस्ततो बुद्धेर्मनो रथः ॥ ३९ ॥
मनसस्तु रथः प्राणः प्राणस्याऽक्षगणो रथः ।
अक्षौघस्य रथो देहो देहस्य स्पन्दनो रथः ॥ ४० ॥
स्पन्दनं कर्म संसारे जरामरणपञ्जरम् ।
एवं प्रवर्तितं चक्रमिदमादिविभूतिजम् ॥ ४१ ॥

अपने स्वरूप में ही स्थित प्रकाशस्वरूप सत्य चिति भी अपने भीतर यह जगत् वैसे ही धारण करती है जैसे स्फटिक-शिला अपने भीतर अरण्य, पर्वत, नदी आदि का प्रतिबिम्ब धारण करती है ॥ ३६ ॥

विकार आदि के बिना इस जगत् को धारण करनेवाली अद्वितीया यह चिति न अस्त होती है, न उदित होती है, न स्पन्दित होती है और न बढ़ती ही है ॥ ३७ ॥

सङ्कल्पशून्यस्वरूप यह चिति स्वयं सङ्कल्प से जीवरूपता को प्राप्तकर जड़ जगत् का स्वरूप चैतन्य है, इस प्रकार की भावना से वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है ॥ ३८ ॥

इस चिति का रथ जीव है, जीव का रथ अहङ्कार है, अहङ्कार का रथ बुद्धि है और बुद्धि का रथ मन है ॥ ३९ ॥

मन का रथ प्राण है, प्राण का रथ इन्द्रियसमूह है, इन्द्रियसमूह का रथ देह है और देह का रथ कर्मेन्द्रिय है ॥ ४० ॥

सभी रथों का कर्म संसार में परिभ्रमण है। जरा एवं मरण धर्मवाले देहरूपी पिंजड़े में जीवरूपी पक्षी का

प्रतिभासत एवाऽऽत्मन्यसत्स्वप्न इवाऽऽततः ।
मनागपि न सत्यात्म मृगतृष्णाम्बुवत्स्थितम् ॥ ४२ ॥
रथस्त्वत्र स्मृतः प्राणः कल्पनाया मुनीश्वर ! ।
यत्र प्राणमरुत्तत्र मननं परितिष्ठति ॥ ४३ ॥
आलोकश्रीः स्थिता यत्र रूपं तत्रैव राजते ।
प्राणो बली स्थितो यत्र तदेव परिवेपति ।
यत्प्रयाति वनं वात्या तदेव परिघूर्णते ॥ ४४ ॥
मनस्याकाशसंलीने न प्राणः परिवेपति ।
तेजस्यसत्तामायाते न रूपमिव राजते ॥ ४५ ॥
प्राणे प्रशान्ते मरुति मनोऽन्तर्न मनागपि ।
वात्यायामुपशान्तायां रजो न परिकम्पते ॥ ४६ ॥
यत्र प्राणो मरुद्याति मनस्तत्रैव तिष्ठति ।
यत्र यत्राऽनुसरति रथस्तत्रैव सारथिः ॥ ४७ ॥

आदिकारण ईश्वर की मायारूपी ऐश्वर्य से उत्पन्न यह दोलाचक्र घूमता रहता है ॥ ४१ ॥

विशाल स्वप्न की तरह आत्मा में प्रतिभामान मृगतृष्णिका जल के सदृश आभासरूप से स्थित असदात्मक यह जगद्रूप चक्र नाममात्र भी सत्य नहीं हो सकता है ॥ ४२ ॥

हे मुनीश्वर ! मानस कल्पना का निमित्त होने से यहाँ पर मन का रथ प्राण कहा गया है । जहाँ पर प्राण-वायु रहता है, वहींपर मननात्मक सङ्कल्प की स्थिति रहती है ॥ ४३ ॥

जहाँ पर प्रकाश लक्ष्मी रहती है, वहीं पर रूप प्रकाशित होता है । सूत्ररूप होने के कारण सबका धारण और संचालन करने में समर्थ बलवान् प्राण-वायु जहाँ स्थित रहती है, वही स्पन्दित होता है । वही वन कम्पित होता है जिस वन की ओर आँधी जाती है ॥ ४४ ॥

जैसे तेज का अभाव हो जानेपर रूप प्रकाशित नहीं होता है वैसे ही हृदय-आकाश में मन के विलीन हो जानेपर प्राण-वायु कम्पित नहीं होती है ॥ ४५ ॥

जैसे आँधी के शान्त हो जानेपर धूलि कम्पित नहीं होती है वैसे ही प्राण-वायु के भली-भाँति शान्त हो जाने पर मन भीतर से तनिक भी कम्पित नहीं होता है ॥४६॥

जहाँपर प्राण-वायु जाता है, वहींपर मन रहता है । सारथि भी वहीं रहता है जहाँ-जहाँ रथ जाता है ॥४७॥

प्राण के द्वारा प्रेरित चित्त उसी क्षण देशान्तर में वैसे ही चला जाता है जैसे क्षेपण-यन्त्र से फेंका गया पाषाण तत्काल देशान्तर में चला जाता है, वहाँ प्राण का

प्राणसंप्रेरितं चित्तं याति देशान्तरे क्षणात् ।
क्षेपणोन्मुक्तपाषाण इव तत्राऽन्यथा क्षयि ॥ ४८ ॥

यत्र पुष्पं तत्र गन्धो यत्राऽग्निस्तत्र सोष्णता ।
यत्र प्राणो मनो याति यत्रेन्दुस्तत्र तच्छविः ॥ ४९ ॥

संवित्तिः पवनस्पन्दान्नाडीसंस्पर्शनश्च सः ।
संवित्तिस्फारता चित्तमनस्तत्प्राणकोटरे ॥ ५० ॥

सर्वत्र विद्यते संविद्व्योमस्वच्छा जडाजडे ।
क्षुभ्यन्तीव तु सा प्राणस्पन्दादित्यनुभूयते ॥ ५१ ॥
सत्तामात्रस्वरूपेण जडेषु समवस्थिता ।
प्राणसंबोधिता वेत्ति वेदनात्मतया जडे ॥ ५२ ॥
नानास्फारसमुल्लासैर्यः पूर्वं परिवल्गति ।
प्राणेऽतीते त्वमनसः स एवाऽऽशु न वेपति ॥ ५३ ॥

निरोध होने पर मन क्षीण हो जाता है ॥ ४८ ॥

जहाँ पुष्प रहता है, वहाँ गन्ध रहती है; जहाँ आग रहती है, वहाँ उष्णता रहती है; जहाँ समष्टि-यष्टि प्राण रहता है, वहाँ मन जाता है एवं जहाँपर चन्द्र और चन्द्रांश मन रहता है, वहीं चांदनी और मनोवृत्तियाँ रहती हैं ॥ ४९ ॥

संवित् वायु के स्पन्द से होता है, उस वायु का समस्त अङ्गों में अन्नरस के प्रवेश के लिए सब नाड़ियों के साथ स्पर्श होता है और चित्त एवं मन से युक्त लिङ्ग-शरीररूप प्राणकोटर में चिति का, बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से द्विगुणीकरण द्वारा, विस्पष्ट रूप भी उसी वायु से होता है ॥ ५० ॥

आकाश की तरह अत्यन्त स्वच्छ संवित् सभी जड़ और अजड़ स्थलों में रहती है, परन्तु लिङ्गशरीर में प्राणों के स्पन्दन से स्पष्ट अभिव्यक्ति के द्वारा वह एक तरह से संचलन कर रही के समान अनुभूत होती है ॥ ५१ ॥

सत्तामात्रस्वरूप से सब जड़ पदार्थों में सम्यग् रूप से स्थित वह चिति एकमात्र जड़ देह में ही प्राण-वायु द्वारा उद्बोधित होकर आध्यासिक चित्ततादात्म्य की सामर्थ्य से सृष्टि आदि को ज्ञानरूप से जानती है ॥५२॥

जीवनदशा में अनेक विस्तृत चमकीले उल्लासों से जो देह व्यवहार करती है, वही देह प्राण-वायु के चले जानेपर मन के न रहने से तत्क्षण ही कम्पनशून्य हो जाती है ॥ ५३ ॥

पुर्यष्टके चित्परमा स्वे मुने ! प्रतिबिम्बति ।
आदर्श एव प्रतिमा दृश्यते नोपलादिषु ॥ ५४ ॥
मनः पुर्यष्टकं विद्धि सर्वकार्यैककारणम् ।
तदेव भेदैः कथितमन्यैः स्वाशयकल्पितैः ॥ ५५ ॥
यस्मादुदेति कलनाकुलदृश्यजालं
यत्तत्र च स्थितवदित्यनुभूतमुच्चैः ।
यस्मान्मनो विपरिवर्तति देहदृष्ट्या
सर्वं तु तत्परमवस्त्विति विद्धि विभ्रम् ॥ ५६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
मनःप्राणैक्यप्रतिपादनं नामैकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

हे मुने ! यह परम चैतन्य अपने पुर्यष्टक में (पाँच भूत, अन्तःकरण, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों से युक्त तथा अविद्या, काम एवं कर्मों से भरा लिङ्गशरीर पुर्यष्टक है ।) प्रतिबिम्बित होता है । स्वच्छ दर्पण में ही प्रतिमा दिखलाई पड़ती है मलिन पत्थर आदि में प्रतिमा नहीं दिखाई देती है ॥ ५४ ॥

समस्त कार्यों का एकमात्र कारण पुर्यष्टक मन ही है, यह जान लीजिए उसी को अन्य आचार्यों ने अपने अभिप्राय के अनुसार कल्पित शिष्यबोधोपयोगी उपायों से पुर्यष्टक कहा है ॥ ५५ ॥

अनेक प्रकार की कल्पनाओं से ग्रस्त यह दृश्यसमूह चिति में ही उदित होता है, उसी में स्थित और लीन भी हो जाता है एवं मन ही देहदृष्टि से भ्रमग्रस्त होता है, यह ज्ञानियों के द्वारा अनुभूत है, इसलिए यह सम्पूर्ण विश्व परब्रह्मस्वरूप ही है, दूसरा नहीं, यह समझिए ॥ ५६ ॥

इस प्रकार ऋषी-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में मन-प्राण का ऐक्य प्रतिपादन नामक कुसुमलता का एकतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३१ ॥

३२

ईश्वर उवाच

मुने ! शृणु कथं कार्यकारिणी स्पन्दशालिनी ।
चरन्ती च तनुं पुंसामुपैति परमाभिधाम् ॥ १ ॥
प्राक्तनैस्तैर्निहन्त्येव स्वमनोमननेहितैः ।
कर्मव्रातैर्विचित्रेहैः परिपीवरतां गतैः ॥ २ ॥

३२

श्रीमहेश्वर ने कहा—हे मुने ! चिति किस प्रकार ऐहिक एवं पारलौकिक कार्यों को करने वाली होती है और उन कर्मों के अनुकूल देहादि में स्पन्दशील होती हुई किस प्रकार जाती है, नहाती है, खाती है और याग करती है तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं देवदत्त आदि शब्दों से व्यवहार करने की योग्यता प्राप्त करती है, आप सुनिए ॥ १ ॥

देह-स्पन्दन में चित्प्रतिबिम्बभूत जीव का चलन कारण है और जीव के चलन में जीवोपाधिभूत पुर्यष्टकात्मक मनोरूप से परिणत हुई, चिति के वास्तविक स्वभाव का तिरोधान करने वाली मायाशक्ति कारण है । उस मायाशक्ति की मनोरूप परिणति में पूर्व-पूर्व देहों के अन्तिम परिणाम से संचित कर्म-समूह ही कारण है, बृहदारण्यक में भी 'कर्म हैव तदूचतुः कर्मैव तत्प्रशशंसतुः'[१] इत्यादि श्रुतियों से कर्म ही ग्रह, अतिग्रहरूप बन्धन का कारण निश्चित किया गया है, इस आशय से कहते हैं— 'प्राक्तनैः' इत्यादि से ।

हे ब्रह्मन्, अनादिमायारूप यह ब्रह्मशक्ति अपनी आवरणशक्ति द्वारा पहले अपने आश्रय ब्रह्म को 'नाऽस्ति', 'न भाति' इस प्रकार प्रतीति के योग्य बना ही देती है,

---

१. विचार काल में एकान्त में स्थित उन दोनों ने कर्म को ही कार्य कारण का उपादान कारण कहा । केवल कहा ही नहीं, अपितु काल और ईश्वर आदि से स्वीकृत अन्य कारणों में कर्म की ही उन्होंने प्रशंसा की यानी उसे ही प्रधान कारण माना (बृह० ३।२।१३) ।

उपनिषदों में मुक्ति के प्रतिबन्धक ग्रह और अतिग्रह बतलाए गये हैं । उनमें प्राण, जिह्वा, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, हाथ और त्वचा ये आठ ग्रह तथा अपान, रस, नाम, रूप, शब्द, काम, कर्म एवं स्पर्श ये आठ अतिग्रह नाम से परिगणित हैं ।

मनस्तया गता शक्तिः सज्जडेवाऽऽगता चितेः ।
सा स्फुरत्यनया ब्रह्मन्नुचिता शक्तिभूतया ॥ ३ ॥
अस्याः प्रसादादिह सा चित्कलङ्कवती मुने ! ।
जगद्गन्धर्वनगरं करोति न करोति च ॥ ४ ॥
चित्ताद्यसत्तया देहो मूकस्तिष्ठति कुड्यवत् ।
तत्सत्तया हि स्फुरति नभःसंप्रेरिताश्मवत् ॥ ५ ॥
यथा स्फुरत्यतिजडमयोऽयस्कान्तसन्निधौ ।
तथा स्फुरति जीवोऽयं सति सर्वगते परे ॥ ६ ॥
सर्वस्थयाऽऽत्मशक्त्यैव जीव एष स्फुरत्यलम् ।
मुकुरो बिम्बमादत्ते द्रव्यात्मन्यस्थितादपि ॥ ७ ॥
प्रविस्मृतस्वभावत्वाज्जीवोऽयं जडतां गतः ।
मोहाद्विस्मृतभावत्वाच्छूद्रतामिव सद्द्विजः ॥ ८ ॥
प्रविस्मृतस्वभावा हि चिच्चित्तत्वमुपागता ।
मोहापहृतचित्तत्वात् सुमहानिव दीनताम् ॥ ९ ॥
जडयाऽवशया देहो वातशक्तिसमानया ।
सञ्चाल्यते तदनया वारीव वीचिमालया ॥ १० ॥
कर्मात्मना वराकेण जीवेन मनसाऽमुना ।
चाल्यन्ते देहयन्त्राणि पाषाणा इव वायुना ॥ ११ ॥

तदनन्तर प्राक्तन परिपुष्टता को प्राप्त (अनादिकाल से लेकर किये गये संचय से परिपुष्टता को प्राप्त) विविध काम-वासनाओं से युक्त एवं अपने मन से किये गये मननों से चेष्टित कायिक-वाचिक चेष्टारूप विहित-निषिद्ध कर्म-समूहात्मक कारणवश पुर्यष्टकरूप मनोभाव से परिणत होती हुई वह अपने अधिष्ठानभूत चित्-सत्ता से चित् की तरह और अपने स्वभाव के बल से जड़ की तरह—यों मिश्र-भाव को प्राप्त होती है। तदनन्तर ज्ञान और कर्म के व्यवहार योग्य होती हुई वह मायाशक्ति ही अपनी शक्तिभूत इस ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय आदि इन्द्रिय-प्रणालिका से द्रष्टा- दर्शन और दृश्य आदि नव तरह के संसाररूप में नाचती है, इससे और दूसरा कुछ नहीं है ॥ २, ३ ॥

हे मुने, इसी मायाशक्ति के विचार एवं अविचार-स्वरूप प्रसाद से इस संसार में क्रमशः कलङ्कयुक्त होती हुई वह चिति जगत्-रूपी गन्धर्वनगर का निर्माण करती है और नहीं भी करती है यानी अविचार से निर्माण करती है और विचार से निर्माण नहीं भी करती ॥ ४ ॥

तब ब्रह्म-चिति के सान्निध्य से देह ही सबका निर्माण करेगा, चित्त आदि की कल्पना की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं—'चित्ताद्य०' इत्यादि से।

चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार के न रहने से यह देह भित्ति की तरह जड़ होकर मूक रहती है और उनके रहने से तो, आकाश में फेंके गये पत्थर की तरह, यह स्फुरित (व्यापारशील) होती है ॥ ५ ॥

जीव के प्राण एवं कर्मेन्द्रियों से होने वाले व्यापारों से सन्निधानमात्र से ब्रह्म साधारण कारण है, यों कहते हैं—'यथा' इत्यादि से ।

जिस प्रकार अत्यन्त जड़ लोहा लोहचुम्बक के सान्निध्य से स्फुरित (संचरणशील) होता है, उसी प्रकार सर्व-व्यापी सदात्मक इस परब्रह्म के सान्निध्य से यह जीवात्मा प्रस्फुरित होता है ॥ ६ ॥

बुद्धि आदि के प्रकाश और ज्ञानेन्द्रियों के प्रयोजनों में (विषयों के ज्ञानों में) अपने प्रतिबिम्ब के समर्पण द्वारा चिति असाधारण कारण है, इस आशय से कहते हैं—'सर्वस्थया' इत्यादि से ।

सर्वत्र स्थित आत्मरूप इस चिच्छक्ति से ही यह जीव पर्याप्तरूप से अपने और दूसरे के प्रकाशन में समर्थ होता है [यदि शङ्का हो कि भौतिक होने से द्रव्यस्वभाव में अवस्थित जीव का उपाधिभूत यह लिङ्ग शरीर अद्रव्य-स्वभाव (गुण और कर्म के अनाश्रय) ब्रह्म का प्रतिबिम्ब कैसे ग्रहण करेगा, क्योंकि द्रव्य में द्रव्य का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, ऐसा नियम है, तो इस पर कहते हैं—'मुकुरो' से ।] द्रव्यस्वभाव में अवस्थित न होते हुए भी गुण, क्रिया, जाति आदि से दर्पणरूप द्रव्य प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है ॥ ७ ॥

जैसे मोह से अपना स्वभाव भूल जाने के कारण अभक्ष्यभक्षण आदि में प्रवृत्त सद्ब्राह्मण शूद्रता प्राप्त करता है वैसे ही यह जीव अपना विशुद्ध चैतन्यात्मक स्वरूप भूल गया है, इसलिए उसने जड़ता प्राप्त की है ॥ ८ ॥

जैसे मोह से चित्त का तिरोधान हो जाने के कारण अपने स्वरूप को विस्मृत गाधि, लवण, हरिश्चन्द्र आदि बड़े-बड़े लोगों ने दीनता प्राप्त की है, वैसे ही अपना विशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव जाने के कारण इस चिति ने चित्त के जड़त्व, मलिनत्व आदि धर्म प्राप्त किया है ॥९॥

जैसे तरङ्ग-पङ्क्ति से पानी संचालित होता है वैसे ही वातशक्ति (प्राण) के साथ एकता की प्राप्ति होने से प्राण के समान पराधीनता को प्राप्त जड़रूप इस चिति के द्वारा यह देह संचालित होती है ॥ १० ॥

क्रिया स्वभाव को प्राप्त, मनन शक्तियुक्त उपाधि-परवश होने से अत्यन्त दीन इस जीव के द्वारा, देहरूप

शरीरशकटानां हि कर्षणे परमात्मना ।
मनःप्राणोदयौ ब्रह्मन् ! कृतौ कर्मकृतौ दृढौ ॥ १२ ॥
चिज्जडं तूररीकृत्य रूपं जीवत्वमेत्य च ।
मनोरथमुपारुह्य वहत्प्राणतुरङ्गमम् ॥ १३ ॥
क्वचिज्जातपदार्थत्वं क्वचिन्नष्टपदार्थताम् ।
क्वचिद्बहुपदार्थत्वं क्वचिदेकपदार्थताम् ॥ १४ ॥
गतेव भिन्नेवाऽस्त्येवमत्यजन्ती निजं पदम् ।
जलतेव तरङ्गत्वं सैवाऽसदसदोदिता ॥ १५ ॥
उपजीव्याऽऽत्मनो रूपं परं स्फुरति वृत्तिषु ।
आलोकमुपजीव्येमं रूपश्रीर्दृश्यगा यथा ॥ १६ ॥
परमात्मनि चित्तत्त्वे स्थिते सति निरामये ।
जीवो जीवति सालोकं दीपे सति गृहं यथा ॥ १७ ॥

यन्त्र वैसे ही संचालित किये जाते हैं जैसे पाल आदि उपाधि के वशीभूत वायु के द्वारा नाव में स्थित पत्थर अपने अभीष्ट स्थान की ओर संचालित किये जाते हैं ॥ ११ ॥

हे ब्रह्मन् ! परमात्मा ने ही शरीररूपी गाड़ी खींचने के लिए मनःशक्ति और प्राण-शक्ति—ये दो सुदृढ़ नौकर या बैल उत्पन्न किये हैं ॥ १२ ॥

पहले जड़ रूप स्वीकार कर और अनन्तर जीव रूप प्राप्तकर प्राणरूप घोड़ों से खींचे जा रहे मनरूपी रथपर आरूढ होकर यह चिति कहीं जगत् एवं स्वप्न-अवस्था में आविर्भूत पदार्थों की स्वरूपता, उन्हीं अवस्थाओं में बहुपदार्थता, सुषुप्ति-अवस्था में तिरोभूत समस्त पदार्थों की स्वरूपता एवं उसी अवस्था में एकमात्र अविद्यारूप पदार्थ-स्वरूपता को प्राप्त हुई-सी भिन्न-भिन्न-सी होकर स्थित रहती है। इस प्रकार परिणत होने पर भी अपना पारमार्थिक स्वरूप न छोड़ती हुई यह चिति वैसे ही स्थित रहती है, जैसे तरङ्ग अपनी पारमार्थिक जलरूपता न छोड़ता हुआ स्थित रहता है। वही चित् तत्त्वदृष्टि से असत्-जाग्रत्-अवस्था की तरह एवं व्यावहारिक दृष्टि से भी असत् स्वप्न की तरह किञ्चित् होती है ॥ १३—१५ ॥

मन की वृत्तियों में प्रतिफलित आत्मा की चैतन्य सत्ता का आश्रयकर रह जीव-जगत् वैसे ही प्रस्फुरित होता है जैसे इस सूर्य आदि प्रकाश का आश्रयण कर घटादि पदार्थों में स्थित रूप शोभा प्रस्फुरित होती है ॥ १६ ॥

जैसे दीपक की स्थिति रहने पर घर प्रकाशमय जीवन धारण करता है। वैसे ही पारमार्थिक चिन्मात्र स्वरूप से युक्त, विकाररहित परमात्मा की स्थिति रहने पर ही

आधयो व्याधयश्चैव प्रयान्त्यस्य प्रपीनताम् ।
अपामिव तरङ्गत्वं वीचित्वस्येव फेनता ॥ १८ ॥
आधिव्याधिभिराकीर्णशरीराम्भोजषट्पदः ।
जीवो वैषम्यमायाति तरङ्गत्वे यथा पयः ॥ १९ ॥
चिच्छक्तिः सर्वशक्तित्वान्नाऽहं चिदिति भावनात् ।
अत्र सैवैति वैवश्यं सूर्यो दीप्तैरिवाऽम्बुदैः ॥ २० ॥
वैवश्याच्च्यवती मौढ्यान्न विन्दत्यात्मसंविदम् ।
घनजाड्यपराभूतः स्वाङ्गवदलनं यथा ॥ २१ ॥
प्राप्य चाऽप्यनुसन्धानमस्या मोहो विनश्यति ।
घनमोहरतो जन्तुः स्वकार्यस्मरणं यथा ॥ २२ ॥
यदाऽङ्गसंविदां वातस्पन्दशक्तिः प्रमोषतः ।
न करोत्यनुसन्धानं कुष्ठी स्पन्दैषणं यथा ॥ २३ ॥

यह जीव अपना प्रकाशमय जीवन उस प्रकार धारण करता है ॥ १७ ॥

जैसे जल का तरङ्ग रूप और उस तरङ्ग रूप का फेनरूप उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करती हैं। वैसे ही अज्ञान अवस्था में इस जीव की आधियाँ एवं व्याधियाँ उस प्रकार उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

जैसे तरङ्गरूप के होनेपर जल विषमता प्राप्त करता है, वैसे ही आधि एवं व्याधि से आक्रान्त शरीररूपी कमल का भ्रमर यह जीव दैन्य, दुःख आदि विषमता को प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

सर्वशक्ति रूप होने पर भी वही चिच्छक्ति 'मैं चित् नहीं हूँ' इस भावना से इस देह में दीनता आदि विवशता को वैसे ही प्राप्त करती है जैसे सूर्य दर्शक की दृष्टि में अपने ही द्वारा प्रकाशित हुए मेघों से आदर्शनीयता, मलिनता आदि विवशता को प्राप्त करती है ॥ २० ॥

मदिरा आदि के घन मद से आक्रान्त हुआ पुरुष खड्ग आदि से अपना अङ्गच्छेदन नहीं जानता। वैसे ही मलिनता आदि विवशता के कारण ज्ञान की अनधिकारिणी योनियों में जन्म-ग्रहण कर रही यह चिच्छक्ति मूढता से अपना स्वरूप उस प्रकार नहीं जानती ॥ २१ ॥

अपने स्वरूप का स्मरण कर इस चिच्छक्ति का मोह वैसे ही नष्ट हो जाता है। जैसे मद आदि से जनित घनीभूत मोह में फँसा हुआ जीव कुछ समय के बाद अपने कर्मों का स्मरण कर मोहित हो जाता है ॥ २२ ॥

जैसे कोढ़ी पुरुष अपने गलित अङ्गुलि आदि अङ्गों के स्पन्दन की इच्छा नहीं करता है जब प्राण की स्पन्दन-शक्ति—अङ्ग-संवित्तियों का हृदय में लिङ्गोपसंहार से

असंवित्स्पन्दतो देहे पद्मपत्रं हृदि स्थितम् ।
न स्फुरत्यपरामृष्टं दारुपात्रं यथा बहिः ॥ २४ ॥
निःस्पन्दे पद्मपत्रेऽन्तः प्राणाः शाम्यन्ति प्रयान्त्यमी ।
तालवृन्ते यथाऽस्पन्दे बहिः पवनशक्तयः ॥ २५ ॥
प्राणे शान्तेतरस्पर्शे जीवो निष्पूर्णमूकताम् ।
याति शान्ते नभोवायौ न दृश्यत्वं यथा रजः ॥ २६ ॥
विरजं विगताधारं मनो हि शिष्यते मुने ! ।
तिष्ठत्यात्मपदं लब्ध्वा जलादितरुबीजवत् ॥ २७ ॥
इति वैकल्यमायातैः कारणौघैः समन्ततः ।
पुर्यष्टके शमं याते देहः पतति निश्चलः ॥ २८ ॥
चिच्चेत्यचेतनान्मोहात् स्पन्दमायान्ति वासनाः ।
तदोरिता स्मरत्यन्तरन्यद्विस्मरवि स्वयम् ॥ २९ ॥
हृत्पद्मपत्रस्फुरणात् स्फुटं पुर्यष्टकं भवेत् ।

प्रमोष हो जानेके कारण हाथ, पैर आदि का—अनुसन्धान नहीं करती है वैसे ही वह कम्पित नहीं होता है जैसे कि लोक में यज्ञ में ऋत्विजों द्वारा अस्पृष्ट काष्ठपात्र कम्पित नहीं होता है ॥ २३, २४ ॥

जैसे लोक में पंखे के कम्पन शून्य हो जाने पर पवन की शक्तियाँ विलीन हो जाती हैं । वैसे ही हृदय-प्रदेश में स्थित उस पद्म, पत्र के कम्पन शून्य हो जाने पर ये प्राण भीतर तेज में विलीन हो जाते हैं ॥ २५ ॥

जैसे आकाश-वायु के शान्त हो जाने पर रजःकरण कारणरूपता को प्राप्त हो जाता है वैसे ही प्राण-वायु का दूसरों के साथ सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने पर यह जीव रूपात्मक उपाधियों के विलय से निराबाधपूर्ण तथा नामात्मक उपाधियों के विलय से मूक कारणात्मा के स्वरूप को प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

हे मुने ! रजोगुण प्रधान अपने आधारभूत प्राण-वायु के शान्त हो जाने से रजोगुण से शून्य और आधाररहित हुआ मन भी प्राण के ही साथ कारणरूप पद को प्राप्तकर उसी रूप से अवशिष्ट रह जाता है जैसे जल आदि भूतमात्राओं से मिश्रित पार्थिव वृक्ष-बीज दूसरा अङ्कुर उत्पन्न करने के लिए तत्पर होकर स्थित रहता है, वैसे ही यह मन भी दूसरी देह का आविर्भाव करने के लिए तत्पर होकर स्थित रहता है ॥ २७ ॥

इस प्रकार चारों ओर से कारण-समूहों के विलीन हो जाने के कारण पुर्यष्टक के शान्त हो जानेपर यह शरीर निश्चेष्ट होकर गिर जाता है ॥ २८ ॥

अपने स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न चिति में विषया-

हृत्पद्मयन्त्रे वहनाद्रुद्धे पुर्यष्टकं क्षयि ॥ ३० ॥
देहे पुर्यष्टकं यावदस्ति तावत्स जीवति ।
शान्ते पुर्यष्टके देहो मृत इत्युच्यते द्विज ! ॥ ३१ ॥
विरुद्धमलसम्बोधाच्छेदभेददशावशात् ।
न प्रस्फुरति हृत्पद्मयन्त्रमभ्यन्तरे यदा ॥ ३२ ॥
तदा पुर्यष्टकं शान्तिमुपैति गगने शनैः ।
संरोधिते वातयन्त्रे यथा पवनसन्ततिः ॥ ३३ ॥
स्वसंवित्तिवशाज्जीवो वैवश्यमुपगच्छति ।
पद्मयन्त्रं शरीरस्थं प्रवाहं याति नित्यदा ॥ ३४ ॥
वासना विमला येषां हृदयान्नाऽपसर्पति ।
स्थिरैकरूपजीवास्ते जीवन्मुक्ताश्चिरायुषः ॥ ३५ ॥
संरुद्धे पद्मयन्त्रे हि प्राणे शान्तिमुपागते ।
देहः पतत्यधैर्योऽयं काष्ठलोष्टसमः क्षितौ ॥ ३६ ॥

कारता के ज्ञान से वासनाएँ स्पन्दित होती हैं । स्पन्दित वासनाओं से प्रेरित यह चिति अपने भीतर पूर्व काल के भोक्तृत्व आदि का स्मरण करती है और दूसरा अपना स्वरूप स्वयं भूल जाती है ॥ २९ ॥

हृदयरूप पद्म-पत्र के स्फुरण से यह पुर्यष्टक स्पष्ट हो जाता है और हृदय कमलरूप यन्त्र जब चलने से निश्चल हो जाता है, तब वह भी विनष्ट हो जाता है ॥३०॥

हे द्विज ! देह में पुर्यष्टक के विद्यमान रहने तक शरीर जीवित रहती है तथा देह में पुर्यष्टक के विलीन होने पर देह 'मृत' कही जाती है ॥ ३१ ॥

जैसे पंखा रोक देनेपर हवा की परम्परा आकाश में विलीन हो जाती है वैसे ही परस्पर विरुद्ध वात, पित्त और कफ नामक मलों तथा वासना के मलभूत राग, द्वेष आदि दोषों के प्रकोप से एवं शस्त्र आदि से किये गये देह के छेदन-भेदन आदि अवस्थावश जब यह हृदय-कमलरूप यन्त्र देह के अन्दर स्पन्दित नहीं होता तब यह पुर्यष्टक धीरे-धीरे विलीन हो जाता है ॥ ३२-३३ ॥

शरीर को हृदय-कमलरूपी यन्त्र के सदा चलते रहने तक यह जीव अपने सङ्कल्पवश मरण आदि हजारों दुःखों को प्राप्त करता रहता है ॥ ३४ ॥

जिनके हृदय से राग, द्वेष आदि मलों से रहित वासना नहीं हटती, वे अटल एवं समान रूपवाले जीव जीवन्मुक्त होकर दीर्घायु रहते हैं ॥ ३५ ॥

पद्म-यन्त्र के रुक जाने तथा तेज में प्राण के विलीन हो जाने पर धृतिशून्य यह देह पृथ्वीपर लकड़ी और ढेला आदि की तरह गिर जाती है ॥ ३६ ॥

यथैव व्योममरुति लीनं पुर्यष्टकं भवेत् ।
तथैव तत्रैव तदा लयमेति मनो मुने ! ।। ३७ ।।
सुचिराभ्यस्तभावं तु वासनाखचितं मनः ।
यत्र तत्र भ्रमत् स्वर्गनरकादि प्रपश्यति ।। ३८ ।।
शरीरं शवतामेति मनोमारुतवर्जितम् ।
गते गृहजने दूरं गृहं संशून्यतामिव ।। ३९ ।।
सर्वगा चिच्चेतनतो जीवीभूय मनः स्थिता ।
पुर्यष्टकवपुर्भूत्वा साऽऽतिवाहिकदेहिनी ।। ४० ।।
तन्मात्रपञ्चकं चित्तं क्रोडीकृत्य व्यवस्थिता ।
स्वप्नभ्रमवदाकारं भावात् स्थूलं प्रपश्यति ।। ४१ ।।
दृढभावनया पश्चात्तत्रैव रसशालिनी ।
आतिवाहिकदेहत्वं विस्मरत्यखिलं क्षणात् ।। ४२ ।।
असत्येव शरीरेऽस्मिन् कृतकृत्रिमभावना ।

हे मुने ! ज्योंही हृदयाकाश के प्राण में इस पुर्यष्टक के लीन हो जाने पर मन प्राण में ही विलीनता को प्राप्त करता है ।। ३७ ।।

तत्-तत् भोग करने के योग्य शरीर आदि पदार्थों का चिरकाल से अभ्यास सम्पन्न तथा वासना से परिपूर्ण यह मन इधर-उधर घूमता-फिरता हुआ स्वर्ग, नरक आदि देखता रहता है ।। ३८ ।।

मन एवं प्राण से शून्य हुआ यह शरीर वैसे ही शवरूप हो जाता है जैसे घर के लोगों के घर छोड़कर दूर चले जानेपर घर शून्य हो जाता है ।। ३९ ।।

सर्वव्यापक चिति ही मन में स्थित होकर चेतन से जीव बनकर मनोरूप में स्थित हो जाती है । अनन्तर पुर्यष्टक शरीर धारण कर आतिवाहिक देहवाली हो जाती है ।। ४० ।।

पञ्चतन्मात्राओं के समूहभूत आतिवाहिक देह नाम वाले पुर्यष्टक चित्त को गोद में लेकर स्थित यह चिति ही अपने सङ्कल्प से, स्वप्न भ्रम की तरह अपनी स्थूल आकृति देखती है ।। ४१ ।।

अनन्तर दृढ़ भावना के द्वारा उसी स्थूल शरीर में अहङ्कारशक्ति से युक्त यह चिति क्षण में ही सम्पूर्ण अति-वाहिकदेहता को भूल जाती है ।। ४२ ।।

असत्-स्वरूप लक्षणवाले स्थूलशरीर में ही कृत्रिम अहंभावना सम्पन्न यह चिति असत्यभूत इस जगत् में आरोप द्वारा सत्यता को प्राप्त कराती है और सत्यभूत असत्यता की अर्थात् अपने ब्रह्मभाव में 'नाऽस्ति', 'न

नयत्यसत्यं सत्यत्वं सत्यं चाऽसत्यतामपि ।। ४३ ।।
सर्वगा हि चिदंशेन जीवीभूयाऽभवन्मनः ।
मनः पुर्यष्टकरथमाक्रामति ततो जगत् ।। ४४ ।।
पुर्यष्टकं वातमयं देहमुत्थापयत्यलम् ।
हृत्स्पन्दिवेताल इव जीवतीत्युच्यते तदा ।। ४५ ।।
क्षीणे पुर्यष्टके चित्तं यदा व्योमनि लीयते ।
तदा स्फुरति देहोऽयं मृत इत्युच्यतेऽपि च ।। ४६ ।।
स्वभाववशतो जीवो विस्मृत्याऽशक्तिमृच्छति ।
वैवश्यात् कालवशतः पर्णं जर्जरतामिव ।। ४७ ।।
जीवशक्त्याऽपरामृष्टे निरुद्धे पद्मयन्त्रके ।
प्राणे संरोधमायाते म्रियते मानवो मुने ! ।। ४८ ।।
यथा जातानि जातानि चाऽन्यान्यन्यानि कालतः ।
वृक्षात् पर्णानि शीर्यन्ते शरीराणि तथा नृणाम् ।। ४९ ।।

भाति' इत्यादि प्रतीति-योग्यतारूप प्राप्त करती है ।।४३।।

सर्वगामिनी इस चिति ने ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित अपने अंश से जीवरूप होकर मनरूपता प्राप्त की है । वह मन पुर्यष्टकरूपी रथ पर चढ़ कर इस जगत् में यत्र-तत्र घूमता रहता है ।। ४४ ।।

सूत्रात्मा प्राणवायु से परिपूर्ण इस पुर्यष्टकरूप शरीर को पर्याप्तरूप से जब ऊपर उठाता है, तब हृदय में प्रवेश कर स्पन्दनशील वेताल से युक्त शव की तरह 'यह देह जीती है' इस प्रकार लोगों द्वारा कहा जाता है ।। ४५ ।।

पुर्यष्टक के क्षीण हो जाने पर यह चित्त जब हृदय-काश में विलीन हो जाता है तब यह देह—काष्ठ, ढेला आदि की तरह—स्पष्ट अचेतन प्रतीत होती है उस समय लोगों के द्वारा 'यह देह मर गई' इस प्रकार भी कहा जाता है ।। ४६ ।।

जैसे पत्ता जीर्णता प्राप्त करता है वैसे ही यह जीव अज्ञानवश अपनी अजर-अमर ब्रह्मस्वरूपता को भूलकर कालवश प्राप्त वृद्धदेह में रहने वाली अशक्तता स्वयं विवशता से प्राप्त करता है ।। ४७ ।।

हे मुने ! जीवसम्बन्धिनी पूर्व-पूर्व भोक्ता आदि भावों की स्मृतिरूप शक्ति से असम्बद्ध हो जाने पर, पद्म-यन्त्र के निश्चल हो जाने पर तथा प्राण के रुद्ध हो जाने पर यह मनुष्य मर जाता है ।। ४८ ।।

जीवों के ये शरीर भी वैसे ही झड़ जाते हैं जैसे विभिन्न विभिन्न पत्ते उत्पन्न हो-होकर समय पाकर वृक्ष से झड़ जाते हैं ।। ४९ ।।

जायन्ते च म्रियन्ते च शरीराणि शरीरिणाम् ।
पादपानां च पर्णानि का तत्र परिदेवना ॥ ५० ॥
चिदम्बुधौ स्फुरन्त्येता देहबुद्बुदपङ्क्तयः ।
इतश्चाऽन्या इतश्चाऽन्या एतास्वास्था न धीमतः ॥५१॥
सर्वगाऽपि चिदेतस्मिंश्चेतसि प्रतिबिम्बति ।
पदार्थमन्तरादत्ते नाऽन्यो हि मुकुरादृते ॥ ५२ ॥
चिदमलनभसि प्रयत्नरूपाः
परिविततते तदतन्मयाः स्फुरन्ति ।
कलकलमुखराः स्फुटाभिरामा
विविधशरीरविमोहतापनाय ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे देहपातविचारो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

उनके विषय में क्या शोक है ? क्योंकि जीवों के ये शरीर और वृक्षों के पत्ते उत्पन्न और नष्ट हुआ ही करते हैं ॥ ५० ॥

चैतन्य-समुद्र में ये देहरूपी बुद्बुदों की पंक्तियाँ यहां एक प्रकार की तो दूसरी जगह दूसरे प्रकार की होकर स्फुरित होती हैं, बुद्धिमानों की इनमें आस्था नहीं रहती है ॥ ५१ ॥

सर्वत्र व्याप्त भी यह चिति इसी चित्त में प्रतिबिम्बित होती है, क्योंकि दर्पण के बिना दूसरा कोई भी अपने भीतर पदार्थों का ग्रहण नहीं करता है ॥ ५२ ॥

चारों ओर से परिपूर्ण इस निर्मल चैतन्याकाश में पहले के अपने शुभाशुभ प्रयत्नों के परिणामस्वरूप; सुख, दुःख आदि फलों के भोग के समय हास्य, रोदन आदि कोलाहलों से मुखरित, चित् और अचित् से प्रचुर जीव-जगद्रूपी कल्पनाएँ व्यक्तरूप में अभिराम अर्थात् सुन्दर होती हुई भी विविध शरीरों के द्वारा जन्म, मरण आदि भ्रान्ति से आत्मा को मोहित करने और संताप करने के लिए प्रतिभासित होती हैं ॥ ५३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में देहपातविचार नामक कुसुमलता का बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३२ ॥

३३

वसिष्ठ उवाच

चन्द्रार्धशेखरधर ! चित्तत्त्वस्य महात्मानः ।
अनन्तस्यैकरूपस्य द्वित्वं कथमुपागतम् ॥ १ ॥
कथं च तन्महादेव ! रूढं पर्यायसङ्कुलम् ।
भवेद्दुःखोपघाताय प्रज्ञया विनिवारितम् ॥ २ ॥

३३

महाराज वसिष्ठ जी ने कहा—हे मस्तक में अर्धचन्द्र को धारण करने वाले ! व्यापक स्वरूप अनन्त एवं अद्वितीय स्वरूप चैतन्य तत्त्व में द्वित्व कैसे हुआ ? आशय यह है कि चितितत्त्व अनन्त है दिक् कृत, कालकृत एवं वस्तुकृत—इन तीन प्रकार के उपाधियों से रहित एकरूप सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदों से शून्य है; उसमें सजातीय जीव रूप और विजातीय जड़-जगद्रूप द्वित्व कैसे हुआ ?॥ १ ॥

हे महादेव ! दूसरा यह प्रश्न है कि अनेक बन्धनों से ग्रस्त चिर कालिक अनुवृत्ति से रूढ़ वह भेद दुःख-विनाश के लिए तत्त्वज्ञान से कैसे निवारित होगा ? इसका आशय व्यक्त करते हुए संस्कृत व्याख्या के अनुसार अच्युतग्रन्थमाला की टिप्पणी में कहा गया है कि यदि यह मान लिया जाय कि किसी तरह के निमित्त के बिना यों ही चिति तत्त्व में यह भेद आ गया है तो संकोच में प्रमाण न होने के कारण कोटि-कोटि बन्धनों से व्याप्त तथा दीर्घकालीन अनुवृत्ति से रूढ़ वह भेद तत्त्व ज्ञान से, जो एकत्व और आगन्तुकत्व से दुर्बलतम है, निवारित होकर आत्यन्तिक दुःख का उपशम कैसे करेगा, क्योंकि निमित्त के बिना आकस्मिक हुए किसी एक पदार्थ का भी उच्छेद हो नहीं सकता, किसी तरह किसी एक पदार्थ का उच्छेद हो भी गया, तो भी दूसरे असीम बन्धनों के बच जाने के कारण बार-बार दूसरे निर्निमित्त बन्धनों की उत्पत्ति का निरसन हो नहीं सकता। यदि कहो कि पूर्वोक्त ब्रह्मशक्ति रूप माया-निमित्त से हुआ मिथ्या रूप ही वह द्वैत प्रपञ्च है, यह मानने पर किसी दोष की प्राप्ति नहीं हो सकती, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस पर यह प्रश्न होता है कि क्या वह माया शक्ति आगन्तुक है अथवा स्वाभाविक है ? प्रथम पक्ष में (आगन्तुक पक्ष में) भी वह स्वयं उत्पन्न

ईश्वर उवाच

सर्वशक्ति हि तद्ब्रह्म सदेकं विद्यते यदा ।
तदा निर्मूल एवाऽयं द्वित्वैकत्वकलोदयः ॥ ३ ॥
सति द्वित्वे किलैकं स्यात् सत्येकत्वे द्विरूपता ।
कले द्वे अपि चिद्रूपे चिद्रूपत्वात्तदप्यसत् ॥ ४ ॥

एकाभावादभावोऽत्र एकत्वद्वित्वयोर्द्वयोः ।
एकं विना न द्वितीयं न द्वितीयं विनैकता ॥ ५ ॥
कार्यकारणयोरेकसारत्वादेकरूपता ।
फलान्तस्याऽपि बीजादेर्विकारादिह कल्पना ॥ ६ ॥

हुई या दूसरे के सम्बन्ध से,—यों जब विचार करेंगे, तो अनिर्मोक्ष एवं अनवस्था आदि दोषों की ही प्रसक्ति होगी। मायाशक्ति के स्वाभाविकत्व पक्ष में, अग्नि में से उष्णता की तरह, ब्रह्म में से उसका निवारण न कर सकने के कारण एक तो अनिर्मोक्ष दोष और दूसरा एक रस रूपता की प्रतिपादक श्रुतियों के साथ विरोध होगा। किञ्च, मायाशक्ति मिथ्या है, यह मान लिया जाय तो वह अत्यन्त असत् पदार्थ रूप हो जायगी। ऐसी स्थिति में असत् के कार्योत्पादक न हो सकने के कारण फिर वही घुमा-फिरा कर बात आ गई कि द्वैतोत्पत्ति निर्हेतुक ही है। यदि उसे सत्य मान लिया जाय तो, ज्ञान से उसकी निवृत्ति न हो सकने कारण अनिर्मोक्ष दोष, यों दोनों ओर से रस्सी कसी जायगी। पदार्थ स्वरूप का निष्कर्ष निकालने में कोई सद्रूप और असद्रूप ही ठहरता है। इन दो प्रकारों से भिन्न कोई तीसरा प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती। यदि तीसरे प्रकार की मान ली जाय, तो भी उसी प्रकार से ज्ञानोत्तर भी द्वैत का निरसन नहीं हो सकता। कोई ज्ञानी यह चाहे कि उस तीसरे प्रकार का पहले या दूसरे प्रकार रूप में हम निर्माण कर लेंगे, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान कारक नहीं है, अन्य अन्य रूप हो नहीं सकता, स्वरूप परिवर्तन देखा नहीं जाता, उत्पादित नश्वर होता है, अतः पुनर्बन्धन का निवारण भी नहीं हो सकेगा ॥ २ ॥

हम जीवजगत् आदि द्वैतप्रपञ्च का प्रमाणों से उपपादन करने के लिए प्रवृत्त नहीं हुए हैं, किन्तु मोह के कारण अनादि काल से लेकर भ्रान्ति से प्राप्त उस प्रपञ्च का, अध्यारोपावदन्याय का आश्रयण कर, अपवाद करने के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं। अध्यारोप में जो सृष्टि के प्रारम्भ काल में काम, कर्म, वासना आदि निमित्तकारण; ब्रह्म, अविद्या आदि उपादानकारण; आकाश आदि पदार्थों की उत्पत्ति का क्रम; व्यष्टि, समष्टि, स्थूल आदि विभाग एवं अन्नमय आदि कोश-भेदों की कल्पना की जाती है वह सब स्वयं यद्यपि असत्य है; तथापि सत्य वस्तु का परिचय कराने के लिए उपयोगी होने के कारण श्रुति ने उसकी कल्पना की है और परमार्थ सत्य वस्तुरूप प्रयोजन के सर्वसम्मत होने के कारण इतरवादियों की कल्पनाओं की अपेक्षा उत्कृष्ट है। अतः श्रोताओं का विश्वास सम्पादन करने लिए लोकदृष्टि से ही युक्तियों द्वारा शास्त्रों में उसका समर्थन किया गया है। जब सर्वात्मक प्रत्यगात्मा का परिचय हो जाता है, तब सर्वात्मा में अद्वितीयत्व के बोधन के लिए परमार्थ दृष्टि का आश्रय लेकर प्रपञ्च का अपवाद किया ही जाता है। इसलिए आत्मा में एकत्व का स्वीकार कर उससे विरुद्ध द्वित्व के असम्भव का प्रतिपादन तुम्हारे अपने स्वीकृत पक्ष से विरुद्ध और सिद्धान्त से विरुद्ध है, इसके ऊपर दृष्टि क्यों नहीं डालते, इस आशय से भगवान् कहते हैं—'सर्वशक्ति' इत्यादि से।

ईश्वर ने कहा—व्यवहार-दृष्टि से ब्रह्म सर्वशक्ति से समन्वित है और परमार्थ-दृष्टि से एक ओर सदात्मक ही है, व्यवस्थित दो दृष्टियों को अङ्गीकार करने पर सर्वशक्तिरूप दृष्टि के एक देश से उदित हुई द्वित्व-एकत्व रूप कल्पना से युक्त उक्त आक्षेप निर्मूल है। व्यवहार दृष्टि से परमात्मा में द्वित्व आदि कल्पनाओं का आरोप होता है और परमार्थ दृष्टि से अपवाद होता है ॥ ३ ॥

सद्ब्रह्म में द्वित्व के प्रसिद्ध हो जाने पर उसका निषेध करने के लिए एकत्व की कल्पना की जाती है, एवं उसी ब्रह्म में एकत्व के सिद्ध हो जाने पर वही एकत्व दूसरे एकत्व को लेकर द्वित्व के रूप में कल्पित होता है, आश्रय यह है कि दोनों की कल्पनाएँ परस्पर सापेक्ष होने के कारण वे दोनों ही तुल्यकक्ष है। दोनों कल्पनाएँ चिद्रूप ही हैं। चिद्रूप होने के कारण वह द्वित्व अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखती है। एकत्व धर्म को भी चैतन्य से अतिरिक्त मानाने पर चिदेकरस स्वरूपता का व्याघात हो जायगा। अतः दोनों असत्-रूप हैं ॥ ४ ॥

यहाँ पर एक वस्तु का अभाव होने से एकत्व और द्वित्व दोनों का अभाव है, एक के बिना द्वित्व नहीं रह सकता है और द्वित्व के बिना एकत्व नहीं होती है ॥५॥

परमार्थतः अनुगत कारण ही कार्य और कारण दोनों में एकमात्र तत्त्व है, अतः उन दोनों की एकरूपता ही रहती है। प्रकृत में भी नानात्व की कल्पना वैसे ही होती

चित्त्वं चेत्यविकल्पेन स्वयं स्फुरति तन्मयम् ।
विकारादि तदेवाऽन्तस्तत्सारत्वान्न भिद्यते ।। ७ ।।
विकारादिविकल्पोऽयं तत्र उत्थाय वस्तुषु ।
याति सार्थकतां नानाकार्यकारणतादिभिः ।। ८ ।।
तरङ्गाः सलिले येऽपि तोये शैलस्य ते समाः ।
शशशृङ्गसमः सोऽपि यस्य सत्यः शशाङ्कुरः ।। ९ ।।
वस्तुबोधोऽत्र संधत्ते तत्राऽलं वाग्विकल्पनैः ।
व्यवच्छेदादि दुश्छेद्यं वचो वाच्यात् किल द्विज ! ।।१०।।
ब्रह्मणः सर्वशक्तित्वं तत्त्वतो न विभिद्यते ।
तरङ्गकणकल्लोलजलौघ इव वारिणः ।। ११ ।।
पुष्पपल्लवपत्रादि लताया नेतरद्यथा ।
द्वित्वैकत्वजगत्त्वादि त्वन्त्वाहन्त्वं तथा चितेः ।। १२ ।।

है। जैसे बीज आदि के पुनः फलरूप में पर्यवसित होने पर 'वही यह है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञायमान अनुस्यूत द्रव्य में एकमात्र विकार से ही नानात्व की कल्पना होती है ।। ६ ।।

जगद्रूप चेत्य के विकल्प से चेत्यमय होकर चितितत्त्व स्वयं स्फुरित होता है। विकार आदि जितने पदार्थ हैं, वे सबके सब तत्स्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं; क्योंकि उन विकारों का भीतरी तत्त्व वही चिति है ।। ७ ।।

ये षड्भावविकारात्मक तथा उनके आश्रय घट आदि स्वरूप प्रपञ्च विकल्पात्मक हैं, वह एकमात्र सद्वस्तु से ही आविर्भूत होकर जलाहरण आदि अनेकविध कार्यकारणता आदि से वस्तुओं में सार्थकता प्राप्त करते हैं ।। ८ ।।

जिस तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में खरगोश से समुत्पन्न धान और जौ आदि के अङ्कुर भी ब्रह्मस्वरूप होने के कारण जब सत्यरूप हैं, तब उसकी दृष्टि में जल में प्रसिद्ध तरङ्ग भी पर्वत के मस्तक पर कल्पित जल के तरङ्ग के सदृश ही हैं और वह पर्वत भी खरगोश के सींग के समान असद्रूप ही है; क्योंकि स्वतः असत्त्व और ब्रह्म की सत्ता की कल्पना तीनों में समान हैं ।। ९ ।।

हे द्विज ! इस संसार में अज्ञानजनित सम्पूर्ण पदार्थों में परस्पर एक-दूसरे से भिन्नतारूप पार्थक्य तत्त्वसाक्षात्कार ही एकता में पर्यवसित कर देता है। टूटे-फूटे अनेक टुकड़ों को एक में जोड़ देने की तरह एकता में पहुँचा देता है ।। १० ।।

तात्त्विक दृष्टि से देखने पर तो ब्रह्म की समस्त जगत् के आकार में दृश्यमान मात्त्विक रूपता वास्तव में

देशकालविकारादिः कृतो भेदश्चितस्तु यः ।
तच्चिदेतदसत्प्रोक्तं न प्रश्नोऽत्र तवोचितः ।। १३ ।।
देशकालक्रियासत्तानियत्याद्याश्च शक्तयः ।
चिदात्मिका एव चितः सत्त्वात् संपतिताः स्वतः ।।१४।।
चित्तत्त्वं चित्तचेत्येहं चिद् ब्रह्माद्यभिधा स्मृता ।
यथा वीच्याद्यभिधार्हं स्थितमम्बुतरङ्गकम् ।। १५ ।।
असंभवत्तरङ्गस्य चिद्विलासमहाम्बुधेः ।
तरङ्गितत्वमिव यत्तत्तावच्चेत्यसङ्गिता ।। १६ ।।
तदेतत्परमं ब्रह्म सत्येश्वरशिवादिभिः ।
शून्यैकपरमात्मादिनामभिः परिगीयते ।। १७ ।।
एवंरूपपदातीतं यद्रूपं परमात्मनः ।
यत्तु नामाऽहममलं विषयो न गिरां च तत् ।। १८ ।।

ब्रह्म से वैसे ही विभक्त नहीं रहती है जैसे तरङ्ग, कण, कल्लोल और जलप्रवाह जल से विभक्त नहीं रहते ।।११।।

द्वित्व, एकत्व, जगत्त्व, त्वन्त्व, अहन्त्व आदि भी चिति से वैसे ही भिन्न नहीं हैं जैसे फूल, कोपल, पत्ता आदि लता से वास्तव में भिन्न नहीं हैं ।। १२ ।।

देश, काल, विकार आदि किया गया चिति का चितिस्वरूप ही है। जब चिति में द्वैत नहीं हैं तब उसमें भेद कहाँ से आया ? यह असत् कहा है असद्विषय में तुम्हें प्रश्न करना उचित नहीं है ।। १३ ।।

देश, काल और क्रिया की सत्ता एवं नियति आदि शक्तियाँ स्वयं चिति की सत्ता से ही सत्तायुक्त होकर स्थित हैं, इसलिए चितिस्वरूप ही हैं ।। १४ ।।

चित्त, चेत्य और उनकी चेष्टाओं का समूहरूप रूप-प्रपञ्च एवं ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त नाम प्रपञ्च भी चितिस्वरूप होकर वैसे ही अवस्थित है जैसे जल, तरङ्ग आदि में अनुगत जलसामान्य वीचि आदि नाम योग्य होकर स्थित है ।। १५ ।।

तरङ्गों की तनिक भी सम्भावना से शून्य चिद्विलास-रूपी महासागर का, तरङ्गवत्ता की तरह विवर्तनव्यापार चेत्य के साथ उसका सम्बन्ध है ।। १६ ।।

वही यह चितितत्त्व परम ब्रह्म, सत्य, ईश्वर, शिव आदि तथा शून्य, एक, परमात्मा आदि अनेक प्रकार के नामों से कहा जाता है ।। १७ ।।

नामों एवं रूपों तथा सामने दिखाई दे रहे साकार रूपों से अतीत परमात्मा का स्वरूप अशेष मलों से रहित अहंपदार्थ है, वह वाणी और मन का विषय नहीं है ।।१८।।

यदिदं दृश्यते तस्यास्तल्लताया महाचितेः ।
फलपल्लवपुष्पादि न भिन्नं तन्मयं यतः ॥ १९ ॥
महाविद्योपनयना चिद्भवत्यभिधा सती ।
सा जीवत्वेन बाह्यत्वं तदा द्वीन्द्विव पश्यति ॥ २० ॥
स्वयमन्यैवमस्मीति भावयित्वा स्वभावतः ।
अन्यतामिव संयाति स्वविकल्पात्मिकां स्वतः ॥ २१ ॥
अकलङ्केन रूपेण रूपं यत्सकलङ्कवत् ।
संसारसरितं प्राप्य चेतनेनैव चेतति ॥ २२ ॥
चिद्वपुः स्वयमेतेन ह्येकतामेति जीवताम् ।
चित्तत्त्वस्याऽवभासेन जीवो जीवति तन्मयः ॥ २३ ॥
आतिवाहिकदेहोऽपि जीवतां समुपागतः ।
भावनापञ्चकं भूत्वा द्रव्यमस्मीति वेत्त्यलम् ॥ २४ ॥
तद्द्रव्यं प्राणिना भुक्तमाशु गच्छति वीर्यताम् ।
ततोऽहं प्राणवान् जातो वेत्तीत्यनुभवात्मकम् ॥ २५ ॥
अहन्तादिक्रमेणाऽऽशु पञ्चकानुभवभ्रमात् ।
स्थावरं जङ्गमं सर्वं वेत्ति तत्तद्भवत्यलम् ॥ २६ ॥
काकतालीययोगेन दृढाभ्यासक्षयेण च ।
वासनान्तरसंश्लेषात् सूक्ष्ममाकारमुज्झति ॥ २७ ॥
द्वित्वस्वसंविदा द्वित्वमेकस्यैव प्रवर्तते ।
पुंसो वेतालसङ्कल्पाद्वेताल इव भासुरः ॥ २८ ॥
अद्वित्ववेदनाद् द्वित्वमात्मनोऽपि निवर्तते ।
न करोमीति सङ्कल्पात् पुरुषस्येव कर्तृता ॥ २९ ॥
द्वित्वसङ्कल्पतो द्वित्वमेकस्यैव प्रवर्तते ।
अद्वित्वसंविदा द्वित्वमनेकस्याऽपि नश्यति ॥ ३० ॥
परमात्मतया द्वित्वं न किलाऽऽत्मनि विद्यते ।
अविकारादिमत्त्वेन सर्वगत्वेन सर्वदा ॥ ३१ ॥

दृश्यमान यह संसार उस महाचितिरूपी लता के तत्स्वरूप फल, पल्लव तथा पुष्प आदि रूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं ॥ १९ ॥

वह चिति जब अविद्या रूपी विचित्र रङ्गों से रंगे गये उप नेत्र पहन लेती है, तब जीव नाम धारण करती हुई वह बाह्य जीव-जगद्भाव को, दो चन्द्रमा की तरह देखती है ॥ २० ॥

'मैं ब्रह्म से भिन्न अचिद्रूप हूँ' इस प्रकार अज्ञान से भावना कर मानो चिति स्वयं ही अपना सङ्कल्पात्मक अन्य रूप प्राप्त कर लेती है ॥ २१ ॥

चिति कलङ्कनिर्मुक्त रूप से सदा अवस्थित है; कलङ्कयुक्त पुर्यष्टक रूप को उसकी कल्पना है, उस रूप से संसार रूपी नदी में पहुँच कर उपाधि युक्त चेतन से ही स्फुरित होती है ॥ २२ ॥

चैतन्य शरीर चिति स्वयं इस पुर्यष्टक शरीर से तादात्म्याध्यास स्वरूप जीवता प्राप्त कर चित्तत्त्व के प्रकाश से चित्प्रचुर होता हुआ जीव प्राणान आदि क्रिया प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

जीवरूपता को प्राप्त यह लोकान्तरगामी सूक्ष्मशरीर-रूप चिति पञ्चभूतात्मक-स्थूलदेहविषयक संस्कारस्वरूप हो देह-प्राप्ति के लिए 'मैं धान, जव, तिल, उड़द आदि द्रव्यरूप हो गई हूँ, यह भलीप्रकार जानती हूँ'' ॥ २४ ॥

प्राणियों द्वारा खाया गया वह द्रव्य तत्काल वृक्ष आदि में बीज आदि स्वरूप हो जाता है । अनन्तर अनुभवात्मक ब्रह्म ही स्त्रियों में सेचनक्रम से 'मैं स्थूल-देहस्वरूप हूँ' यह जानता है ॥ २५ ॥

ब्रह्म ही अहन्ता आदि क्रम से तत्काल जनित स्थूल-देहानुभवस्वरूप भ्रम के कारण चक्षु आदि के द्वारा स्थावर-जङ्गमरूप समस्त बाह्य जगत् जानता है । पुनः उसकी वासना से स्वयं भी पर्याप्तरूप से पदार्थ-स्वरूप हो जाता है ॥ २६ ॥

दृढ़ अभ्यस्त वासना के तिरोभाव में और चिरकाल से व्यवहित हाथी आदि में अहंभाव-वासना के आविर्भाव में कर्म वैसे ही निमित्त है जैसे कौए और तालवृक्ष के आकस्मिक सम्बन्ध में कौए के मरण में प्रयोजक हेतु कर्म ही है, दूसरा कोई नहीं वह अन्य उद्भूत अश्व आदि की वासना के सम्बन्ध से चिरकाल से अभ्यस्त सूक्ष्म मशक आदि आकार का त्याग करता है ॥ २७ ॥

जैसे पुरुष की वेताल-कल्पना से उसमें भयङ्कर भासुर वेताल प्रवृत्त हो जाता है वैसे ही अपने ही द्वैत-सङ्कल्प से एक में ही द्वैत की प्रवृत्ति हो जाती है ॥२८॥

आत्मा का भी द्वैत अद्वैत-भावना से वैसे ही हो जाता है जैसे 'मैं कुछ नहीं करता' इस तरह के संकल्प से पुरुष में कर्तृत्व निवृत्त हो जाता है ॥ २९ ॥

अद्वितीय वस्तु में भी द्वैतसंकल्प से द्वित्व की प्राप्ति होती है और अद्वैत भावना से अनेकात्मक जगत् का द्वित्व नष्ट हो जाता है ॥ ३० ॥

विकार आदि से शून्य, सदा सर्वगामी तथा परमात्मा के स्वरूपभूत आत्मा में कभी द्वैतभाव नहीं रहता है ॥ ३१ ॥

यत्स्वसङ्कल्परचितमसङ्कल्पक्षयं हि तत् ।
यथा मुने ! मनोराज्यं गन्धर्वनगरं यथा ॥ ३२ ॥

तथा सङ्कल्पने क्लेशो न सङ्कल्पविनाशने ।
सङ्कल्पयक्षो गन्धर्वपुर्याः सृष्टौ न तु क्षये ॥ ३३ ॥

पुष्टसङ्कल्पमात्रेण यदिदं दुःखमागतम् ।
तदसङ्कल्पमात्रेण क्षयि काऽत्र कदर्थना ॥ ३४ ॥

यत्किञ्चिदपि सङ्कल्प्य नरो दुःखे निमज्जति ।
न किञ्चिदपि सङ्कल्प्य सुखमव्ययमश्नुते ॥ ३५ ॥

सङ्कल्पव्यालनिर्मुक्ता न यदा तव चेतना ।
न तदा नन्दनोद्याने त्वमुच्चैः परिराजसे ॥ ३६ ॥

स्वविवेकानिलैः कृत्वा सङ्कल्पजलदक्षयम् ।
परां निर्मलतामेहि शरदीव नभोन्तरम् ॥ ३७ ॥

सङ्कल्पसरितं मत्तां मणिमन्त्रेण शोषय ।
तत्रोह्यमानमात्मानं समाश्वास्य भवाऽमनाः ॥ ३८ ॥

हे मुने ! अपने सङ्कल्प से निर्मित मनोराज्य और गन्धर्वनगर की तरह अपने संकल्प से बनायी गई वस्तु संकल्प के अभाव से नष्ट हो जाती है ॥ ३२ ॥

किञ्च, मानसिक प्रयत्न के द्वारा किसी की रचना करने में तो श्रम होता भी है, परन्तु संकल्प का विनाश करने में तो कुछ भी श्रम नहीं होता है मन के मनोरथों से रचित नगरों के निर्माण में एकमात्र संकल्प ही, असंभावित रचना में समर्थ होने के कारण, दिव्य शिल्पी प्रसिद्ध है, उन नगरों के विनाश में नहीं ॥ ३३ ॥

केवल दृढ़ संकल्प से यह संसाररूपी दुःख प्राप्त हैं, वह केवल संकल्प के अभाव से ही नष्ट हो जायेगा, फिर इस विषय में क्या क्लेश है ? ॥ ३४ ॥

थोडा भी संकल्प कर मनुष्य दुःख में डूब जाता है और कुछ भी संकल्प न कर वह अविनाशी सुख पाता है ॥ ३५ ॥

तुम्हारी बुद्धि के संकल्परूप सर्प से निःशेष मुक्त होने, सर्वविध गुणों से उत्कृष्ट नन्दन-वन में उच्च स्थान पर स्थित भी तुम क्लेशरहित होकर शोभित नहीं हो सकते ॥ ३६ ॥

अपने विवेकरूपी पवन से संकल्परूपी मेघों का विनाशकर, शरत्काल में आकाश-मण्डल की तरह तुम उत्तम निर्मलता को प्राप्त करो ॥ ३७ ॥

अविवेकरूप प्रबल प्रवाह से उमड़ रही उन्मत्त संकल्परूप नदी को तुम मणिमन्त्र से सुखा दो । उसमें बह रहे आत्मा को धैर्य देकर मन से रहित हो जाओ ॥ ३८ ॥

सङ्कल्पानिलनिर्धूतं भ्रान्तं पर्णतृणांशवत् ।
भूताकाशे चिदात्मानमवलम्ब्य विलोकय ॥ ३९ ॥

स्वसङ्कल्पनकालुष्यं विनिवार्याऽऽत्मनाऽऽत्मनः ।
परं प्रसादमासाद्य परमानन्दवान् भव ॥ ४० ॥

सर्वशक्तिमयो ह्यात्मा यद्यथा भावयत्यलम् ।
तत्तथा पश्यति तदा स्वसङ्कल्पविजृम्भितम् ॥ ४१ ॥

सङ्कल्पमात्रमेवेदं जगन्मिथ्यात्वमुत्थितम् ।
असङ्कल्पनमात्रेण ब्रह्मन् ! क्वाऽपि विलीयते ॥ ४२ ॥

सङ्कल्पवातवलितं जन्मजालकदम्बकम् ।
असङ्कल्पानिलस्पर्शाद्विश्राम्यति परे पदे ॥ ४३ ॥

तृष्णाकरञ्जलतिकामिमां रूढिमुपागताम् ।
सङ्कल्पमूलोद्धरणात् परिशोषवतीं कुरु ॥ ४४ ॥

प्रतिभाससमुत्थानं प्रतिभासपरिक्षयम् ।
यथा गन्धर्वनगरं तथा संसृतिविभ्रमः ॥ ४५ ॥

विवेक के द्वारा संकल्परूप पवन से कम्पित पत्तों एवं तिनकों के टुकड़ों की तरह प्राणिमात्र के हृदयाकाश में भ्रमण कर रहे इस चिदात्मा के साक्षात्कार करो ॥ ३९ ॥

स्वयं अपनी सङ्कल्पात्मक कालिमा का निवारण कर आत्मा की उत्तम विशुद्धता प्राप्तकर अविनाशी आनन्दस्वरूप हो जाओ ॥ ४० ॥

यह आत्मा समस्त शक्तियों से परिपूर्ण है, अतः कभी वह किसी वस्तु की जैसी जब पर्याप्तरूप से भावना करता है, अपने संकल्प से विजृम्भित उस वस्तु को उसी समय वैसी ही देखता है ॥ ४१ ॥

हे ब्रह्मन् ! यह उत्पन्न मिथ्यारूप जगत् एकमात्र संकल्पात्मक है, अतः केवल संकल्प के अभाव से कहीं विलीन हो जाता है ॥ ४२ ॥

सङ्कल्परूपी पूर्वी हवा से व्यथित जन्मस्वरूप मेघों का समूह असंकल्परूप पश्चिमी हवा के स्पर्श से ब्रह्माकाश में विलीन हो जाता है ॥ ४३ ॥

संकल्परूप जड़ उखाड़कर अत्यन्त दृढ इस तृष्णारूपी करंजलता को तुम सुखा डालो ॥ ४४ ॥

यह संसाररूप विभ्रम की उत्पत्ति और विनाश भी वैसे ही एकमात्र प्रतिभासस्वरूप ही है जैसे गन्धवनगर की उत्पत्ति और विनाश एकमात्र प्रतिभासस्वरूप ही है ॥ ४५ ॥

प्रभुरस्मीति विस्मृत्य तावच्छोचति भूमिपः ।
भूमिपोऽस्मीति सञ्जाता यावन्नाऽस्य हृदि स्मृतिः ॥४६॥
नाऽस्य तज्जातया ब्रह्मन् ! प्राक्स्मृतिर्वर्तमानया ।
शरदेवोपगतया प्रावृड् जाड्याऽपवारिणी ॥ ४७ ॥
घनप्रवाहा याऽकस्माच्चित्तेहा सैव वर्धते ।
य एवोच्चैः स्वरस्तन्त्र्याः स एवाऽऽक्रामति श्रुतिम् ॥४८॥
अहमेकोऽहमात्माऽस्मीत्येकां भावय भावनाम् ।
तया भावनया युक्तः स एव त्वं भवस्यलम् ॥ ४९ ॥
एवं ह्यसंभवदिदं त्वविराभास्वत्
तत्सत्त्वमुत्तमपदं परमेकदेवः ।
पूजासु पूजकसुपूजनपूज्यरूपं
किञ्चिन्न किञ्चिदिव चित्तपदैकमूर्तिः ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
द्वैतैक्यप्रतिपादनं नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

जगत् का प्रतिभास अज्ञान रहने तक शोक का कारण है, अज्ञान का विनाश हो जानेपर तो वह शोक में कारण नहीं है ।

'मैं राजा हूँ' इस अपने असली स्वरूप को भूलकर राजा तभी तक शोक करता है जबतक इस प्रकार उसके हृदय में 'मैं राजा हूँ' अपने वास्तव स्वरूप की स्मृति उत्पन्न नहीं हो जाती है अर्थात् जगत् का प्रतिभास सही शोक का कारण है ॥ ४६ ॥

इस राजा और तत्त्ववित् को गुरु के उपदेश से उत्पन्न हुई 'मैं राजा हूँ' 'मैं ब्रह्म हूँ' इस स्मृति से निरस्त प्राचीन दुःखों की स्मृति अपनी जड़ता से आच्छादन करने में वैसे ही सामर्थ्य नहीं रखती जैसे उपस्थित शरद्-ऋतु से निरस्त वर्षाऋतु, मेघरूप जड़ता से शरत् का आच्छादन करने में सामर्थ्य नहीं रखती ॥ ४७ ॥

जो, चित्तवृत्ति अकस्मात् उत्तरोत्तर सुदृढ़रूप से बढ़ती जाती है, वह दूसरे को वैसे ही दबाती जाती है, जैसे वीणा के तार और मन्द दो स्वरों में जो ऊँचा स्वर होता है, वह दूसरे को दबाकर कान पर आरूढ़ हो जाता है ॥ ४८ ॥

मैं अद्वितीय शिवरूप देव हूँ, वही देवस्वरूप आद्वितीय शिव तुम्हारे अहङ्कार से उपलक्षित, नित्य, अपरोक्ष, चिदेकरस-स्वरूप मैं ही हूँ, एकमात्र अविच्छिन्न इस स्मृति धारा की तुम भावना करो । उस प्रकार की देव पूज्यरूप भावना से युक्त तुम अवश्य ही शिवरूप हो जाओगे, दूसरी बाह्य-पूजा से नहीं ॥ ४९ ॥

तुम अद्वितीय-ब्रह्मभावमयी ही पूजा करो, दूसरी बाह्य-पूजा नहीं तुम्हारे जैसे ज्ञानियों के योग्य यह बाह्य-पूजा नहीं है, बाह्य-पूजा तुच्छ फलों में इच्छा रखने वाल अज्ञानी जनों के लिए ही योग्य है । तुम्हारे योग्य उपास्य उत्तमपदस्वरूप परमार्थ सत्तात्मक परब्रह्म ही एकमात्र देव है, उसकी पूजा में पूजन सुन्दर षोडशोपचार से पूजन एवं पूज्य कुछ भी नहीं है, वे उसकी पूजा में तुच्छ पदार्थ के समान है, क्योंकि ये सामग्रियाँ मन की एकमात्र कल्पना ही हैं ॥ ५० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामयण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
द्वैतैक्यप्रतिपादन नामक कुसुमलता का तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३३ ॥

३४

ईश्वर उवाच

इत्थं स्थितमिदं विश्वं सदसद्देवरूपि च ।
द्वैतैक्यपदनिर्मुक्तं युक्तं द्वैतैक्यमप्यतः ॥ १ ॥
चितेः कलङ्कवैरूप्यमिति संसारतां गतम् ।
अकलङ्कमसंसारि तच्चाऽभिन्नाद्वयात्मकम् ॥ २ ॥

३४

ईश्वर ने कहा—इस प्रकार इस देवपूजा से पूजित यह जगत् बाध-दृष्टि से असत् एवं अधिष्ठान-दृष्टि से सत् और देवस्वरूप होकर स्थित है, परमार्थ दशा में यह विश्व और एकत्व से विनिर्मुक्त एवं व्यवहार दशा में द्वित्व और एकत्व से युक्त भी है ॥ १ ॥

चिति ने मोहकृत जड़ता की कल्पना से अपने में संसाररूपता प्राप्त की है तथा मोहरूपी कलङ्क से रहित वह असंसारी है । इसलिए वह अभिन्न और अद्वयात्मक है ॥ २ ॥

इयमस्मीति संप्राप्तकलङ्का चिन्निबध्यते ।
एतामेव कलां बुद्ध्वा स्वकाभिन्नां विमुच्यते ॥ ३ ॥
चिदर्थाकारताभावाद् द्वित्वात् सत्त्वं समुज्झति ।
सुखादिमिलितां धत्ते न सत्यां सदिति क्षणात् ॥ ४ ॥
शुद्धा निरंशा सत्या वाऽसत्या वेत्येवमादिभिः ।
विमुक्ता नामशब्दार्थैः सर्वैः सर्वात्मिकाऽपि खम् ॥ ५ ॥
सर्वं निरुपमं शान्तं मनसैतत्त्रिमार्गगम् ।
ब्रह्मेदं बृंहितं ब्रह्मशक्त्याऽऽकाशविकासया ॥ ६ ॥
मनसा मनसि छिन्ने स्वेन्द्रियावयवात्मनि ।
सत्यालोकाज्जगज्जाले प्रच्छन्ने विलयं गते ॥ ७ ॥
छिद्यते शीर्णसंसारकलना कल्पनात्मिका ।
भृष्टबीजोपमा सत्ता जीवस्य इतिनामिका ॥ ८ ॥
पश्यन्ती नाम कलितोत्सृजन्ती चेत्यचर्वणाम् ।

'मैं दृश्य देहादिस्वरूप हूँ' इस प्रकार मोह को प्राप्त चिति संसार में फँस जाती है और दृश्य के प्रकाशन में समर्थ इसी चित्कला का अपने से अभिन्नरूप अनुभव कर संसार के बन्धन से निर्मुक्त हो जाती है ॥ ३ ॥

अर्थाकार की भावना से द्वैतभाव प्राप्त यह चिति अपनी अखण्ड सत्ता को विस्मृत हो जाती है और देह के सुख-दुःख आदि से मिली हुई असत्यरूप अपनी स्थिति को क्षणभर में 'सत्यरूप है' इस प्रकार का निश्चय कर लेती है ॥ ४ ॥

विमल, अवयवों से शून्य, सत्य या असत्य—इस तरह के भिन्न-भिन्न सभी कल्पित नाम-रूपों से रहित यह चिति, व्यवहार-काल में सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक होती हुई भी शून्यस्वभावा ही है ॥ ५ ॥

पूर्ण, अनुपम एवं शान्तस्वभाव ब्रह्म ही आकाश की तरह पहले विकसित होने वाली अपनी मायाशक्ति से जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति; सृष्टि, स्थिति और संहार या आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—इन तीन मार्गों से प्रवृत्त मन के द्वारा इस जगत् के रूप में विस्तार को प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

मन के द्वारा सत्यभूत ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार से अपनी चक्षु आदि इन्द्रियों के व्यापारों में हेतुभूत मन के छिन्न-भिन्न हो जानेपर प्रच्छन्न जगत्-रूपी जाल विलीन हो जाता है और अनन्तर कल्पनारूप जर्जर इस संसार की कलना नष्ट हो जाती है ॥ ७-८ ॥

शरत्काल के आकाशमण्डल की तरह मानसिक

मनोमोहाभ्रनिर्मुक्ता शरदाकाशकोशवत् ॥ ९ ॥
शुद्धा चिद्ध्रुवमात्रस्था चेत्यचिच्चापलं गता ।
समस्तसामान्यवती भवतीर्णभवार्णवा ॥ १० ॥
अपुनर्भवसौषुप्तपदपाण्डित्यपीवरी ।
परमासाद्य विश्रान्ता विश्रान्ता वितते पदे ॥ ११ ॥
एतत्ते मनसि क्षीणे प्रथमं कथितं पदम् ।
द्वितीयं शृणु विप्रेन्द्र ! शक्तेरस्याः सुपावनम् ॥ १२ ॥
एषैव मनसोन्मुक्ता चिच्छक्तिः शान्तिशालिनी ।
सर्वज्योतिस्तमोमुक्ता वितताऽऽकाशसुन्दरी ॥ १३ ॥
घनसौषुप्तलेखावच्छिलान्तःसन्निवेशवत् ।
सैन्धवान्तःस्थरसवद्वातान्तःस्पन्दशक्तिवत् ॥ १४ ॥
कालेन यत्र तत्रैव परां परिणतिं यदा ।
शून्यशक्तिरिवाऽऽकाशे परमाकाशगा तदा ॥ १५ ॥

मोहरूपी बादलों से निर्मुक्त अवस्था चित्त के विषयों की बार-बार प्रीतिपूर्वक अनुस्मरण का परित्याग कर रही 'पश्यन्ती' नाम से योगियों द्वारा व्यवहृत होती है ॥ ९ ॥

पहले चित्त के सङ्कल्प आदि विषयों से उपहित चिति चञ्चलता को प्राप्त कर इस अवस्था में वह अपने एकमात्र चैतन्य-स्वभाव में स्थित होकर समस्त उपाधियों से विनिर्मुक्त हो जाती है। समस्त पदार्थों की सत्तारूप से अवशिष्ट होकर जीवित अवस्था में ही संसाररूपी समुद्र को पार कर जाती है ॥ १० ॥

अविनाशी निरतिशयानन्द स्वरूप आत्म प्राप्ति रूपी पाण्डित्य से स्थूल वह चिति परम पद प्राप्तकर समस्त श्रमों से निर्मुक्त होती हुई व्यापक ब्रह्मपद में विश्राम करती है ॥ ११ ॥

हे विप्रेन्द्र ! मन के विनष्ट हो जाने पर सबसे पहली प्राप्त स्थिति तुम से कही गई। अब इस चिति शक्ति की परम पवित्र दूसरी स्थिति सुनो ॥ १२ ॥

मन से वर्जित यही चितिशक्ति शान्ति से सुशोभित, सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियों से एवं अन्धकार, अज्ञान आदि जड़ता से विनिर्मुक्त तथा विस्तृत आकाश की तरह परम सुन्दर है ॥ १३ ॥

जैसे पवन आदि क्षोभ उत्पन्न करने वाले पदार्थों के अभाव में जल चाञ्चल्य स्वरूप पवन कला चलन का और पुष्पलेखा सुगन्धि का परित्याग करती है। वैसे ही निबिड़ सुषुप्ति-स्थिति की झलक के समान पाषाणशिला के भीतरी अवयव गठन के सदृश, सैंधव नमक के अन्दर स्थिति रस के

चेत्यांशोन्मुखतां नूनं त्यजत्यम्बिव चापलम् ।
वातलेखेव चलनं पुष्पलेखेव सौरभम् ॥ १६ ॥
कालताकाशते त्यक्त्वा सकले सकलाकला ।
न जडा नाऽजडा स्फारा धत्ते सत्तामनामिकाम् ॥१७॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमहासत्तापदं गताम् ।
तुर्यतुर्यांशकलितामकलङ्कामनामयाम् ॥ १८ ॥
काञ्चिदेव विशालाक्ष ! साक्षिवत् समवस्थिताम् ।
सर्वतः सर्वदा सर्वप्रकाशस्वादुतत्पराम् ॥ १९ ॥
एषा द्वितीया पदता कथिता तव सुव्रत ! ।
तृतीयं शृणु वक्ष्यामि पदं पदविदां वर ! ॥ २० ॥
एषा दृक्चेत्यवलनादनामार्थपदं गता ।

समान और वायु के अन्तर्गत विद्यमान स्पन्दनशक्ति के सदृश जब पहली भूमिका अभ्यास के द्वारा समय पाकर पूर्णरूप से परिपक्व हो जाती है तब आकाश में विद्यमान शून्य शक्ति की तरह चिदेकघन ब्रह्माकाशभाव प्राप्तकर वह विषयोन्मुखता का परित्याग करती है ॥ १४–१६ ॥

क्रियात्मक काल की कला से तथा आकाश की अपेक्षा रखनेवाली परिच्छिन्न वस्तुरूप आकाश की कला से युक्त कालरूपता और आकाशरूपता का, कलाओं के परित्याग से परित्याग कर समस्त दृश्यमात्र की कल्पना न करनेवाली, जड़ता और अजड़ता से शून्य विशुद्धस्वभाव चिति—शब्दों से निर्वचन के अयोग्य—सत्ता को धारण करती है ॥ १७ ॥

देशकृत एवं कालकृत परिच्छेद से शून्य सर्वातिशायी, त्रिकालाबाधित सत्तापद को प्राप्त जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से चतुर्थ विराट् हिरण्यगर्भ और अव्याकृत से चतुर्थांश है, उससे प्रकाशमान सर्वविध कलङ्कों और रोगोंसे रहित सत्ता का चितिशक्ति परिग्रह करती है ॥ १८ ॥

हे विशालाक्ष ! किसी एक ऐसी अनिर्वचनीय सत्ता का चितिशक्ति परिग्रह करती है, साक्षी की तरह प्रकाशमान होकर अवस्थित रहती है और सबकी हेतु, सब काल में विद्यमान समस्त वस्तुओं के प्रकाशों तथा आनन्दों से श्रेष्ठ और स्पृहणीयतर है ॥ १९ ॥

हे सुव्रत ! तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ ! यह द्वितीय भूमिका आपसे कही, तृतीय भूमिका का निरूपण करता हूँ, सुनिये ॥ २० ॥

यह चिति तृतीय भूमिका में ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति और उस वृत्ति का विषय ब्रह्म—इन दोनों का नीरक्षीर-न्याय से एकीकरण हो जाने के कारण ग्राहक अंश और

ब्रह्मात्मेत्यादिशब्दार्थादतीतोदेति केवला ॥ २१ ॥
स्थैर्येण कालतः स्वस्था निष्कलङ्का परात्मना ।
तुर्यातीतादिनामत्वादपि याति परं पदम् ॥ २२ ॥
सा परा परमा काष्ठा प्रधानं शिवभावतः ।
चित्येका निरवच्छेदा तृतीया पावनी स्थितिः ॥ २३ ॥
चिरमस्यां प्रतिष्ठायां सर्वाध्वाऽध्वगदूरगा ।
सा ममाऽप्यङ्ग वचसां न समायाति गोचरम् ॥ २४ ॥
त्रिमार्गकलनातीतमिति ते कथितं मुने ! ।
तिष्ठ तस्मिन् पदे नित्यमिति देवः सनातनः ॥ २५ ॥
एतन्मयमिदं विश्वं मुने ! तन्मयवेदनात् ।
सत्यसंवेदनान्नेदं न च नेदं मुनीश्वर ! ॥ २६ ॥

ग्राह्य अंश से शून्यरूप स्थिति को प्राप्त हो जाती है, ब्रह्म, आत्मा इत्यादि शब्द और अर्थों से निर्मुक्त विशुद्ध-रूप से यह चिति उदित होती है ॥ २१ ॥

जन्म आदि छः भावविकारों से शून्य यह तृतीय भूमिका काल से भी विचलित नहीं होती, अज्ञान आदि अन्धकार से विनिर्मुक्त वह स्वयं ही कलङ्कों से रहित है। तुर्यातीत आदि उसका नाम होने से भी वह सर्वातिशायी परमपुरुषार्थरूप है ॥ २२ ॥

वह सभी उत्तमोत्तम अवस्थाओं की परम अवधि है, परम मङ्गलरूप होने के कारण समस्त मङ्गलों में प्रधान मङ्गल है, सर्पमुख्य विच्छेदशून्य चिति ही तृतीय पावनकरी स्थिति है ॥ २३ ॥

चिरकालतक इस भूमिका में स्थिति सब मार्गों से प्रसिद्ध छः मार्गों से और श्रुतिप्रसिद्ध धूम, अर्चि आदि मार्गों से तथा उन मार्गों के द्वारा अपनी-अपनी उपासनाओं के अनुसार उन लोक को प्राप्त उपासकों से भी दूरवर्ती है। वह मेरी भी वाणी का विषय नहीं है, स्वयं ही वह अनुभूत होती है ॥ २४ ॥

हे मुने ! मैंने तुमसे जाग्रत् आदि तीन मार्गों, कल्पना तथा कल्पनासापेक्ष तुर्यत्वसंख्या से अतीत पद कहा, तुम सदा उसी पद में अवस्थित रहो। वही पद अविनाशी पूज्य देव है ॥ २५ ॥

हे मुने ! इस समस्त जगत् का उपादान तृतीयपदरूप देव है, यह समस्त विश्व इस विज्ञान से तन्मय बन जाता है। हे मुनीश्वर ! उपादान से अतीत अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व के विज्ञान से यह नहीं है और यह नहीं भी नहीं है ॥ २६ ॥

नेदं प्रवर्तते किञ्चिन्नेदं किञ्चिन्निवर्तते ।
शान्तं समसमाभासं प्रथते स्वस्य कोशवत् ॥ २७ ॥
अद्वैतैक्यादसंक्षोभाद् घनचेतनया तया ।
अविकारादिमत्त्वाच्च नित्यानित्यतया चिरम् ॥ २८ ॥
चिद्घनत्वाच्छिशुशिलाकोशानां जगतामपि ।
मनागपि न भेदोऽस्ति सतामप्यसतामपि ॥ २९ ॥
समस्तं सुशिवं शान्तमतीतं वाग्विलासतः ।
ओमित्यस्य च तन्मात्रा तुर्या सा परमा गतिः ॥ ३० ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवानमलदृक्परिणामतोऽस्मिन्
पारे पदे समुपशान्तरवाभिधाने ।
तूष्णीमतिष्ठदमुना मुनिना च सार्धं
विश्रान्तवृत्तिरथ तत्र मुहूर्तमीशः ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
श्रीपरमेश्वरोपदेशो नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

यह न कुछ प्रवृत्त होता है और न कुछ निवृत्त ही होता है। अपने उदर की तरह केवल शान्त, एकरूप से प्रतीयमान आकाश आदि एकरूप पदार्थों की अपेक्षा अधिक एकरूप भासित होनेवाला वह केवल प्रकाशित होता है ॥ २७ ॥

प्रलयकालीन समुद्र के समान द्वैत के साथ ऐक्य का अभाव होनेपर भी स्वात्मा में संक्षोभ होना चाहिए किन्तु सैंधव-खण्ड के घनीभूत होनेपर भी उसके रस में द्रवत्व आदि विकार जैसे देखा जाता है, वैसे ही यहाँपर भी अवश्य कुछ विकार होना चाहिए, किन्तु अद्वैत के साथ एकता घनीभूत चेतनरूप होने के कारण संक्षोभ का अभाव, विकार आदि का अभाव, चिरकालिक नित्य भी काल, आकाश आदि की अनित्यता की सम्पादक तथा चिद्घन होने के कारण चिति के साथ सत्-पदार्थों का या बालकसदृश अज्ञानियों द्वारा कल्पित आकाश में शिला कोश की तरह अनिर्वचनीय सम्पूर्ण जगत् का तनिक भी भेद नहीं है ॥ २८, २९ ॥

सम्पूर्ण संसार शान्त, सुशिव एवं वाणी के व्यापार से अतीत स्वरूप है। विराट् आदिरूप आकार आदि मात्रा-भेद से कल्पित चार पादों से विभक्त 'ॐ' इस अक्षर की अर्धमात्रा नाद, बिन्दु, शक्ति और शान्तानामक मात्राओं में चौथी शान्तानाम की मात्रा ही परमगति है ॥ ३० ॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—शङ्करजी ने उपदेश दिया, अनन्तर जहाँ पर प्रणव की अर्धमात्र का चरम भाग बिलकुल उपशान्त हो जाता है, ऐसे शान्तरवनामक सर्व-संसार के पारभूत तुरीय के तुरीय पद में भूमानन्दचिति-रूपी विमलदृष्टि के साथ एकरसरूप हो जाने से परिणा-मतः वृत्तियों को विश्रान्त कर मन की परम पद में विश्रान्ति होने पर उसके अधीन सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापार समाप्त हो जाने से भगवान् शङ्करजी उस वसिष्ठ जी के आश्रम में क्षणभर तक निश्चेष्ट होकर चुपचाप बैठ गये ॥ ३१ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
श्रीपरमेश्वरोपदेश नामक कुसुमलता का चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३४ ॥

३५

वसिष्ठ उवाच

ततो मुहूर्तेन हरो गौरीकमलिनीसरः ।
मद्विकासोन्मुखः स्वैरं विकासं बहिराददे ॥ १ ॥
दृक्चयो द्योतयामास मुखाकाशतलोदितः ।
बोधं समुद्गकादर्कं अंशुराशिरिवोद्गतः ॥ २ ॥

३५

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर क्षणभर में गौरीरूप कमलिनी के सरोवर महादेवजी ने मुझे ज्ञान देने के लिए—उत्सुक होकर अपनी इच्छा से उन्होंने अपनी आँखें खोल दीं ॥ १ ॥

भगवान् शङ्कर के निर्मल और त्रिपुण्ड्ररूपी शरत्का-लीन अभ्ररेखा से अङ्कित होने के कारण मुखरूपी आका-शतल में उदित हुए चन्द्र, सूर्य और अग्निरूपी नेत्रों के समूह ने समाधि का व्युत्थान वैसे ही अभिव्यक्त किया जैसे मेघों के बीच से अथवा आकाश और पृथिवी के बीच से उदित किरणों का समूहस्वरूप सूर्य दिवस को अभिव्यक्त करता है ॥ २ ॥

ईश्वर उवाच

मुने ! मननमाहूय स्वसत्तैवाऽऽशु मीयताम् ।
त्वमर्थं माऽऽहराऽनर्थं पवनः स्पन्दतामिव ॥ ३ ॥
द्रष्टव्यमिह यत्किञ्चित्तद्दृष्टं किं समं भ्रमैः ।
न हि हेयमुपादेयं चेह पश्यामि तद्विदः ॥ ४ ॥
शान्त्यशान्तिमयानेतान् विकल्पान् दलयन्नसिः ।
धीरोऽसि नाऽन्यथाऽऽस्थित्वा त्वमेव भव चाऽऽत्मदृक्॥५॥
इमां दृश्यदशामाशु बाह्यबोधाय वा पुनः ।
समाश्रित्य मदुक्तं त्वं शृणु तूष्णीं स्थितेन किम् ॥ ६ ॥
इत्युक्त्वा बाह्यबोधस्त्वं मा भवेति त्रिशूलधृक् ।
प्राणेनेदं देहगेहं परिस्फुरति यन्त्रवत् ॥ ७ ॥
प्राणहीनं परिस्पन्दं त्यक्त्वा तिष्ठति मूकवत् ।
चालनी पावनी शक्तिः शक्तिः संवेदनी चितिः ॥ ८ ॥
साऽमूर्ता खादपि स्वच्छा सत्सत्तैवाऽत्र कारणम् ।
विनश्यतः प्राणदेहौ वियोगान्मरुदेव च ॥ ९ ॥
चिदात्मा खादपि स्वच्छो न विनश्यति किं भ्रमैः ।
मनःप्राणमये देहे चित्तत्त्वं परिजायते ॥ १० ॥
मुकुरे ह्यमलाभासे प्रतिबिम्बं प्रवर्तते ।
सदप्यग्रगतं वस्तु प्रतिबिम्बक्रियां विना ॥ ११ ॥
यथा नाऽस्ति मलोपेते मुकुरे मुनिनायक ! ।
तथा नाऽस्ति गतप्राणे विद्यमानेऽपि देहके ॥ १२ ॥
सर्वगाऽपि चिदुच्छूनबोधात् स्पन्दादिकं प्रति ।
बोधात् कलङ्कविमला चिदेव परमं शिवम् ।
विदुर्देवं तदाभासं सर्वसत्तार्थदं तथा ॥ १३ ॥

ईश्वर ने कहा—हे मुने ! तुम पहले विचार को सन्निधि में लाकर अपने प्रत्यगात्मा के पारमार्थिक स्वरूप का प्रमाणों से शीघ्र निर्धारण करो। उक्त प्रत्यगात्मा में बहिर्मुखता के आपादन द्वारा सम्पूर्ण अनर्थों के मूलभूत युष्मत्-प्रत्यय के योग्य अचिदंश का ग्रहण मत करो, यह त्वमर्थ भी आत्मा को वैसे ही जड़ता आदि अनर्थों से युक्त बनाता है जैसे स्पन्दनशक्ति का नयन कर रहा पवन अचल ही आकाश को ताप, रज, जड़ता आदि से युक्त बनाता है ॥ ३ ॥

तत्त्वज्ञ को देखे गये या न देखे गये भ्रमों के साथ प्रयोजन ही क्या रहा ? भ्रम-विषयों में तत्त्वज्ञानी के लिए कोई हेय या उपादेय नहीं रहता, यह मैं भली-भाँति जानता हूँ ॥ ४ ॥

स्वीकृत इष्ट और परिहृत अनिष्ट विषय जब चित्त के आश्वासन में साधन होने पर वे शान्तिमय हो जाते हैं और जब विक्षेप के हेतु होने पर अशान्तिमय हो जाते हैं। शान्तिमय और अशान्तिमय इन विकल्पों का दलन करने पर तुम धीर और तलवाररूप हो। वैसा नहीं करने पर धीर नहीं हो। इसलिए आस्था रखकर तुम आत्मदृक् और धीर बन जाओ ॥ ५ ॥

ब्रह्मज्ञान के लिए शीघ्र ही श्रवण आदि में अनुकूल इस बाह्यदृष्टि का समाश्रयण कर मेरे द्वारा कथित तुम सुनो। आत्मज्ञान के प्रयत्न के बिना चुपचाप बैठे रहने में कौन-सा पुरुषार्थ होगा ? ॥ ६ ॥

त्रिशूलधारी भगवान् शङ्कर ने दूसरा कल्प कहकर तुम बाह्यदेह आदि में आत्मज्ञानी मत बनो। [देह की क्रियाशक्ति जैसे पराधीन है, वैसे ही चेतनशक्ति भी पराधीन है। इसलिए देह में आत्मा की प्रसक्ति नहीं हो सकती, इस अभिप्राय से प्राण के अधीन देह की चेष्टा है,] यन्त्र की तरह प्राण से ही यह देह रूपी घर स्फुरित होता है ॥ ७ ॥

प्राण-वायु से शून्य देह रूपी घर संचालन छोड़ कर मूक के समान स्थित रहता है। देह रूपी घर में चलनानुकूल क्रियाशक्ति प्राणवायुप्रयुक्त है और संवेदनशक्ति तो आत्मचिति ही है ॥ ८ ॥

चितिशक्ति अमूर्त और आकाश से भी स्वच्छ है। उस चिति की सत्ता ही उसके अविनाशिता में हेतु है। क्रियाशक्ति का मूल प्राण और क्रियाश्रय देह दोनों नष्ट हो जाते हैं और देह-वियोग से ही प्राणवायुस्वरूप हो जाता है ॥ ९ ॥

आकाश से भी स्वच्छ चिदात्मा नष्ट नहीं होता। भ्रमों से उसका क्या होगा ? क्योंकि लिङ्गदेह से संवलित मनःप्राणमय देह में आवरण रहित चितितत्त्व की ही अभिव्यक्ति होती है ॥ १० ॥

हे मुनिनायक ! निर्मल आभासवाले दर्पण में किसी तरह की प्रतिबिम्ब क्रिया के बिना भी वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है। देह के विद्यमान रहनेपर भी प्राण के निकल जाने से उसमें चिति का प्रतिबिम्ब वैसे ही नहीं पड़ता। जैसे मलयुक्त दर्पण में सामने उपस्थित विद्यमान भी वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता ॥ ११, १२ ॥

सर्वव्यापक चिति बाह्य घटादि-आकार से स्थूल बुद्धि वृत्ति से देह स्पन्दन आदि के प्रति समर्थ होती है। ब्रह्माकारज्ञान से मायाकलङ्क से निर्मुक्त वह परम शिव परम-कल्याण स्वरूप हो जाती है। अभिव्यक्ति बह चिति ही

स हरिः स शिवः सोऽजः स ब्रह्मा स सुरेश्वरः ।
अनिलानलचन्द्रार्कवपुः स परमेश्वरः ॥ १४ ॥
स एष सर्वगो ह्यात्मा चित्खनिश्चेतनः स्मृतः ।
देवेशो देवभृद्धाता देवदेवो दिवः पतिः ॥ १५ ॥
महाचितः समुल्लासं मुह्यन्तीव न केचन ।
ये नाम ते जगत्येते ब्रह्मविष्णुहरादयः ॥ १६ ॥
परस्मात् परिनिर्याता ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
कणास्तप्तायस इव वारिधेरिव बिन्दवः ॥ १७ ॥
तेष्विव भ्रमभूतेषु जातेष्विव परात् पदात् ।
स्थितेषु भ्रमबीजेषु कल्पनाजालकर्तृषु ॥ १८ ॥
सहस्रशतशाखेयमविद्योदेति पीवरी ।
वेदवेदार्थवेदादिजीवजालजटावली ॥ १९ ॥

सम्पूर्ण पदार्थों की सत्तारूप स्फूर्ति का प्रदान करने वाली है और वही देवता स्वरूप है ॥ १३ ॥

वही हरि है, वही शिव है, वही हिरण्यगर्भ है, वही चतुर्मुख ब्रह्मा है, वही देवताओं का पति इन्द्र है, वही वायु, वह्नि, चन्द्र एवं सूर्य रूप है और वही परमेश्वर रूप है ॥ १४ ॥

वही सर्वत्र व्यापक आत्मा है, सर्व चैतन्याकार चेतन देवेश, देवभृत्, धाता, देवदेव और स्वर्गस्वामी है ॥१५॥

महाचैतन्य के जगदात्मक समुल्लास की ओर मुग्ध न होने वाले ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि उत्तम देवताओं के स्वरूपों में प्रसिद्ध हैं ॥ १६ ॥

परम चिति से चारों ओर से निकले हुए ब्रह्मा, विष्णु महादेव आदि तपे हुए लाल-लाल लोहे के गोले से निकले अग्नि-कणों की तरह और समुद्र से निकले जल बिन्दुओं की तरह परम चैतन्य के ही एक अंशरूप हैं ॥१७॥

परम पद रूप ब्रह्म से अनुत्पन्न अज्ञानवश परम पद स्वरूप ब्रह्म से उत्पन्न की तरह प्रतीयमान, एकमात्र भ्रम स्वरूप उन पदार्थों की तथा भ्रमों में हेतुभूत उन्हीं अनेक कल्पनाओं के करने वाले मन स्थिति में ही हजारों शाखा-प्रशाखाओं में फैल कर वेद, वेदार्थ—सृष्टि के आदिम क्रम, साङ्गोपाङ्ग क्रिया-कलाप, उपासनाएँ एवं ब्रह्मतत्त्व के बोधोपयोगी उपाय—और वेद आदि में अधिकारी जीव तथा उनकी काम, कर्म और वासना, जन्म, मरण आदि अनर्थ रूप जटा—इन सबकी स्वरूप भूत यह अविद्या उत्तरोत्तर स्थूलतम होकर स्फुरित होती है ॥ १८, १९ ॥

इसी से देश और काल की सम्पत्ति के अनुसार

ततस्तस्या अनन्तायाः प्रसृतायाः पुनः पुनः ।
संपन्नदेशकालायाः क्रमः स्याद्वर्णनासु कः ॥ २० ॥
ब्रह्मविष्णुहरादीनामतोऽयं परमः पिता ।
मूलबीजं महादेवः पल्लवानामिव द्रुमः ॥ २१ ॥
सर्वसत्त्वाभिधः सर्वः सर्वसंवेदनैककृत् ।
सर्वसत्ताप्रदो भास्वान् वन्द्योऽभ्यर्च्यश्च तद्विदः ॥ २२॥
प्रत्यक्षवस्तुविषयः सर्वत्रैव सदोदितः ।
संवेदनात्मकतया गतया सर्वगोचरम् ॥ २३ ॥
न तस्याऽऽह्वानमन्त्रादि किञ्चिदेवोपयुज्यते ।
नित्याहूतः स सर्वस्थो लभ्यते सर्वतः स्वचित् ॥ २४ ॥
यां यां वस्तुदशां याति तत एव मुने ! शिवम् ।
स्वरूपं समवाप्नोति रूपालोकमनोदृशाम् ॥ २५ ॥

पुनः पुनः कोटि-कोटि पदार्थों के स्वरूप में फैली हुई असीम उस स्थूलतम अविद्या का वर्णन करने में कौन पुरुष समर्थ हो सकता है। अथवा उस प्रकार को असीम अविद्या का वर्णन करने पर कौन प्रयोजन सिद्ध होगा ॥ २० ॥

ब्रह्मा, हरि, हर प्रभृति देवताओं का भी देहरूप उपाधि का परिग्रह आविद्यक ही है, इसलिए यह चैतन्य स्वरूप महादेव उनका भी परम पिता है। चैतन्यात्मा महादेव वैसे ही मूलबीज हैं जैसे पल्लवों का मूलबीज वृक्ष है ॥ २१ ॥

चैतन्यात्मक महादेव-तत्त्व का परिचय पाने वाले के लिए वही तत्त्व वन्दनीय और पूजनीय है, सब प्राणियों का बल और अभिधान वही है। वही सर्वात्मक, प्रकाशरूप, समस्त ज्ञानों का एकमात्र उत्पादक और सबमें सत्तास्फूर्ति का प्रदान करने वाला है ॥ २२ ॥

तत्त्वज्ञानी का इन्द्रियाँ और वस्तु प्रकाशरूप होने के कारण वही विषय होता है, दूसरा नहीं। वह सर्वत्र सदा उदितस्वभाव है एवं ज्ञानात्मक होने के कारण सर्वविषय है ॥ २३ ॥

समीप में बैठाने के लिए आह्वान और प्रकाशन के लिए मन्त्र आदि कुछ भी उसके लिए उपयुक्त नहीं होते वह सदा आहूत एवं सर्वत्र स्थित है, वह अपने चैतन्य से चारों ओर उपलब्ध हो जाता है ॥ २४ ॥

हे मुने ! यह शिवात्मक चिति जिस वस्तुस्थिति ओर जाती है, वहीं पर विषय, विषयप्रकाश, विषय नात्मक मन और उनकी साक्षीभूत दृष्टि स्वयं ही इ स्वरूप धारण कर लेती है॥ २५ ॥

आद्यं पूज्यं नमस्कार्यं स्तुत्यमर्घ्यं सुरेश्वरम् ।
एनं तं विद्धि वेद्यानां सीमान्तं महतामपि ॥ २६ ॥
एतमात्मानमालोक्य जराशोकभयापहम् ।
संभृष्टबीजवज्जन्तुर्न भूयः परिरोहति ॥ २७ ॥
सकलजन्तुषु यस्त्वभयप्रदं
विदितमाद्यमुपास्यमयत्नतः ।
त्वमजमात्मगतं परमं पदं
भवसि किं परिमुह्यसि दृष्टिषु ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
महादेवस्य पूज्यसीमान्तत्वकथनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

समस्त पूजा आदि व्यवहारों में प्रथमोपस्थित पूजा योग्य, नमस्कारयोग्य, स्तुतियोग्य, अर्घ्ययोग्य और निखिल देवताओं का स्वामी वही चितितत्त्व है, यह तुम जान लो। बड़े-बड़े ज्ञातव्य पदार्थों की भी यही चरम सीमा है ॥ २६ ॥

इस वार्द्धक्य, शोक एवं भय के विनाशक आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर मनुष्य फिर संसार में भूँजे गये बीज की तरह अङ्कुरित नहीं होता ॥ २७ ॥

हे विप्रेन्द्र ! जिसका ज्ञान होने पर समस्त जन्तुओं में अभय देता है, जो सबकी अपेक्षा आद्य है और जो अनायास उपासनायोग्य है, वह अज, परम एवं हस्तगत परमपदस्वरूप तुम्हीं हो, अतः बाह्य-दृष्टियों में क्यों मोह करते हो ? ॥ २८ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में महादेव के पूज्यसीमान्तत्वकथन नामक कुसुमलता का पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३५ ॥

३६

ईश्वर उवाच

ततश्चिद्रूपमेवैकं सर्वसत्तान्तरास्थितम् ।
स्वानुभूतिमयं शुद्धं देवं रुद्रेश्वरं विदुः ॥ १ ॥
बीजं समस्तबीजानां सारं संसारसंसृतेः ।
कर्मणां परमं कर्म चिद्धातुं विद्धि निर्मलम् ॥ २ ॥
कारणं कारणौघानामकारणमनाविलम् ।
भावनं भावनौघानामभाव्यमभवात्मकम् ॥ ३ ॥
चेतनं चेतनौघानां चेतनात्मनि चेतनम् ।
स्वं चेत्यचेतनं चेत्यपरमं भूरिभावनम् ॥ ४ ॥
आलोकालोकममलमनालोक्यमलोकजम् ।
आलोकं बीजबीजौघं चिद्घनं विमलं विदुः ॥ ५ ॥
असत्यं सन्मयं शान्तं सत्यासत्यविवर्जितम् ।
महासत्तादिसत्तान्ते चिन्मात्रं विद्धि नेतरत् ॥ ६ ॥

३६

ईश्वर ने कहा—इस चितिरूप आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर पुरुष फिर संसार में उत्पन्न नहीं होता है इसलिए समस्त भावपदार्थों के भीतर रहने वाले अपने अनुभव स्वरूप एकमात्र विशुद्ध प्रकाशमय चितितत्त्व को ही मुनिलोग संसार-रोग का अपहरण करने वाला रुद्र रूप ईश्वर जानते हैं ॥ १ ॥

तुम इसी निर्मल चितितत्त्व को अखिल बीजों का बीज, संसाररूप सृष्टि का परम सार और वेदोदित कर्मों में परम कर्म जानो ॥ २ ॥

वह चितितत्त्व निखिल कारणों की क्रियाशक्तिओं का कारण और अपनी सत्ता से समस्त भावों में सत्ताप्रदान करने वाला है। परमार्थ दृष्टि से न वह किसी का कारण है और न किसी का कार्य है, क्योंकि वह विशुद्ध और अजन्मा है ॥ ३ ॥

समस्त बुद्धिवृत्तियों का प्रकाशक, जीव के अन्दर रहने वाला सारभूत चेतन, बाह्य वेद्यों का भी चेतन बुद्धिवृत्ति के सम्बन्ध से जनित अभिव्यक्ति से विषयों का प्रकाश करने वाला प्रत्यग्रूप चेतन वही चेत्यों का परम अधिष्ठानभूत तत्त्व और अपने को ही माया से अनेक रूप में भावना कर लेने वाला वही है ॥ ४ ॥

मुनि लोग उसीको चक्षु आदि एवं सूर्य आदि प्रकाशों का प्रकाशक, स्वयं चक्षु, सूर्य आदि प्रकाशों से प्रकाशित न होने वाला, अलौकिक, स्वयं अकेला ही समस्त बीजों के बीजरूप से स्थित, प्रकाश और निर्मल चिद्घन कहते हैं ॥ ५ ॥

वह सद्रूप, शान्त एवं व्यवहारिक और प्रातिभासिक अवस्थाओं से रहित वर्जित है। जगत्सत्ता और अव्याकृत-सत्ता के बाध-काल में साक्षीरूप से विद्यमान चिन्मात्र-

स्वयं भवति रागात्मा रञ्जको रञ्जनं रजः ।
स्वयमाकाशमप्याशु कुड्यं भवति मण्डितम् ॥ ७ ॥
अस्मिंश्चिच्चेतसि स्फारे जगन्मरुमरीचयः ।
स्फुरिताः प्रस्फुरिष्यन्ति प्रस्फुरन्ति च कोटयः ॥ ८ ॥
स्वसत्तामात्रसम्पन्नं पदमस्मिन् स्वतेजसि ।
न किञ्चन च सम्पन्नमन्यदौष्ण्यादिवाऽनले ॥ ९ ॥
गर्भीकृतमहामेरुं परमाणुसमं विदुः ।
आच्छादितमहामेरुं परमाणुसमं विदुः ॥ १० ॥
गर्भीकृतमहाकल्पो निमेषोऽसावुदाहृतः ।
आक्रान्तकल्पेनाऽनेन न संत्यक्ताऽनिमेषता ॥ ११ ॥
बालाग्रकादप्यणुना व्याप्ताऽनेनाऽखिला मही ।
सप्ताब्धिवसनाऽप्युर्वी नाऽस्यान्तमधिगच्छति ॥ १२ ॥
अकुर्वन्नेव संसाररचनां कर्तृतां गतः ।
कुर्वन्नेव महाकर्म न करोत्येव किञ्चन ॥ १३ ॥
द्रव्यमप्येष निर्द्रव्यो निर्द्रव्योऽपि हि द्रव्यवान् ।
अकायोऽपि महाकायो महाकायोऽप्यकायवान् ॥ १४ ॥
अद्याऽप्येष सदा प्रातः प्रातरप्यद्यतां गतः ।
न वाऽद्यमद्य न प्रातस्त्वद्य प्रातश्च वा सदा ॥ १५ ॥
भिण्डि भिण्डि खिले मत्ता पुरुपिच्छिलिसालघम् ।
विविच्चलित्सदालोका लासो गुलुगुलुः शिली ॥ १६ ॥
इत्याद्यनर्थकं वाक्यं तथा सत्यं स एव च ।
न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यत्त्वसौ ॥ १७ ॥
यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
येश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ १८ ॥

स्वरूप वस्तु वही चितितत्त्व है, दूसरा नहीं, यह तुम जानो ॥ ६ ॥

चितितत्त्व स्वयं ही रञ्जनबीजावस्था में रागात्मक, विषयस्मृत काल में चित्त-क्षोभक होने के कारण रंजक-स्वरूप, विषयसम्बन्ध-दशा में रञ्जनरूप, विषयवियोग-दशा में चित्त की मलिनता का कारण होने से रजोरूप हो जाता है और वह स्वयं अमूर्तस्वरूप होते हुए भी शीघ्र ही चित्र आदि से रञ्जित मूर्तिरूप हो जाता है ॥ ७ ॥

इस चितिरूपी विशाल चित्त में पहले कोटि-कोटि जगद्रूपी मरुभूमियों की मरीचिकाएँ प्रस्फुरित हुई हैं, प्रस्फुरित होंगी और प्रस्फुरित हो रही हैं ॥ ८ ॥

आत्मतत्त्व में अपनी एकमात्र सत्ता से जगत्‌नामधारी वैलक्षण्य प्रतीत होने पर भी वास्तव में वह कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार अग्नि में ज्वाला, विस्फुलिङ्ग, प्रकाश आदि वैलक्षण्य प्रतीत होने पर उष्णस्वभाव अग्नि से दूसरा कुछ भी नहीं है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए ॥ ९ ॥

महान् मेरुपर्वत को अपने उदर में चिति ने समा लिया है फिर भी परमाणु के सदृश वह परम सूक्ष्म है, इसने महान् मेरुपर्वत को ढँक दिया है और परमाणु के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म है—ऐसा मुनि लोग कहते हैं ॥१०॥

उस चितितत्त्व ने महान् कल्प जैसे काल को अपने उदर में समा लिया है और वह निमेषमात्र कालस्वरूप है, यह भी मुनि लोग कहते हैं। इसने महान् कल्परूपी काल के ऊपर अपना पैर जमा रक्खा है; किन्तु अपनी निमेष-मात्रस्वरूप कालरूपता का भी परित्याग नहीं किया है ॥ ११ ॥

यह चितितत्त्व केश के अग्रभाग से भी सूक्ष्मतम होने पर भी इसने समस्त पृथिवी व्याप्त कर रक्खी है। सात समुद्ररूप वस्त्र वाली पृथिवी भी इसकी अन्तिम सीमा प्राप्त नहीं कर सकती है ॥ १२ ॥

कुछ न करते हुए भी उसने इस महान् संसार-रचना के प्रति कर्तृता प्राप्त की है और यह बड़ा कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता है ॥ १३ ॥

यह द्रव्यस्वरूप होकर भी द्रव्यरहित, द्रव्यरहित होकर भी द्रव्ययुक्त, शरीरवर्जित होकर भी ब्रह्माण्डरूप शरीर वाला और ब्रह्माण्ड-शरीर होकर भी शरीररहित है ॥ १४ ॥

यह साठ घड़ी का अद्यस्वरूप होकर भी निरन्तर प्रातःकालरूप=प्रारम्भ के त्रिमुहूर्तात्मक कालरूप है। प्रातःकालस्वरूप होता हुआ भी अद्यस्वरूपता को प्राप्त करता है। वास्तव में न तो वह मुहूर्तरूप है, न अद्यरूप है और न प्रातःकालस्वरूप ही है, या सदा अद्यस्वरूप और प्रातःकालस्वरूप ही है ॥ १५ ॥

उन्मत्त जैसे भिंडि-भिंडि, खिल-खिल, पुरुपित्, छिलि, सालघ, विवित्, चलित्, लास, गुलुगुलु, शिली इत्यादि—वाक्यों का उच्चारण करते हैं, वे निरर्थक वाक्य भी तत्स्वरूप ही हैं तथा सार्थक वेदशास्त्रादि शब्दसमूहस्वरूप भी वही है। वस्तुतः ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो इस चितितत्त्व में आरोपित होकर सत्ता न प्राप्त करता हो। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो चितितत्त्वस्वरूप न हो ॥ १६, १७ ॥

जिस परमात्मा में, यह समस्त प्रपञ्च विद्यमान है,

यत्रान्तरालगहनेन विलासवत्या
हेलविलोलघनसर्जितयामलेन ।
मल्लेन पल्लवदलामलमालितानां
लक्ष्मीलताऽविरलिता वलितेव मुष्टिः ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे परमेश्वरवर्णनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

जिससे यह सब उत्पन्न हुआ है, जो सर्वस्वरूप है, जो चारों ओर से व्याप्त है एवं जो सर्वमय है, उस सर्वात्मक परमात्मा को बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ १८ ॥

[इस श्लोक की लोकतः और परमार्थतः सत्यार्थता बतलाई गई है। लोकतः इससे किसी वृक्ष का या भगवान् विष्णु का वर्णन किया गया है। **वृक्षपक्ष में**—] न मुर्झाये हुए पल्लवों और हरे पत्तों से मालित लताओं के प्रियतम अर्थात् चारों ओर लताओं से आलिङ्गित; अतएव तने, कोटर और शाखाओं के भीषण अन्तरालों में गहन यानी किसी के चढ़ने के अयोग्य एवं स्वयं म्लानि से वर्जित इस वृक्ष ने फूल, फल, कोपल, भँवरा, पक्षी आदिरूप सम्पत्ति के कारण विलासपूर्ण अपनी शोभा से—जिसने कि अपनी शोभा से अवहेलापूर्वक मेघों के विद्युत्संवलन से स्निग्ध शिशिर-ऋतु की श्यामता से जनित सौन्दर्यातिशयरूप विभ्रम-सर्जनों को तिरस्कृत कर दिया है—अन्य वृक्षों, अन्य वनों या समस्त जगत् में प्रसिद्ध लक्ष्मीलता को अपने अन्दर ही समा लेने के कारण उसे मानो बँधी मुट्ठी की तरह संकुचित कर रक्खा है। **विष्णुपक्ष में**—पल्लवों और पत्तों से जनित निर्मल माला से शोभित पुरुषों में श्रेष्ठ, परमार्थरूप से और वस्त्र, भूषण आदि से निर्मल, उदर में चौदह भुवनों के रखने के कारण अत्यन्त गहन भगवान् विष्णु ने जगन्मोहन, सौन्दर्य आदि विलासपूर्ण अपनी देहलक्ष्मी से—जिसने कि अवहेलापूर्वक मेघसर्जितों को तरलित कर दिया है—अपने को आलिङ्गन दे रही लक्ष्मीरूपी ललना भी बँधी मुट्ठी की तरह अभिन्न कर रक्खी है। गर्जितपाठ के अनुसार भीतर विचित्र काम, कर्म और वासना से गहन हुए अज्ञानस्वरूप मल से तथा पल्लवरूप सूक्ष्मभूतों, उनके कार्यरूप दलस्थानीय स्थूल-भूतों और भुवनमदों से मालित जगत् की जो लक्ष्मीलता है, उसे लीलावश आकाश में चंचल मेघों की गर्जना की तरह गर्जन करने वाली 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यश्रुति से विलास कर रही ब्रह्मविद्यारूपी करिणी ने मल्ल के द्वारा प्रतिमल्ल को मारने के लिए बँधी हुई मुट्ठी की तरह चिदेकरसस्वरूप कर दिया है] ॥ १९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में परमेश्वरवर्णन नामक कुसुमलता का छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

३७

ईश्वर उवाच

इत्यादिकानां शब्दानामर्थश्रीः सत्यरूपिणी ।
तस्मिन् सर्वेश्वरे सर्वसत्तामणिसमुद्गके ॥ १ ॥
का नाम विमलाभासास्तस्मिन् परमचिन्मणौ ।
न कचन्ति विचिन्वन्ति विचित्राणि जगन्ति याः ॥ २ ॥
एषा बीजकणान्तःस्था चित्सत्ता स्ववपुर्मयम् ।
लब्ध्वा मृत्कालवार्यादि करोत्यङ्कुरमोदनम् ॥ ३ ॥

३७

ईश्वर ने कहा—जिस परब्रह्म परमात्मा में 'भिण्डि, भिण्डि', इत्यादि पूर्वसर्ग के अन्तिम भाग में दर्शित निरर्थक शब्दों की भी अर्थश्री सत्यप्राय हो जाती है, समस्त जगत्सत्तास्वरूप मणि के पिटारीरूप मायाशबल सब के नियन्ता उस परमात्मा में जो बीजरूप शक्तियाँ अनेकविध चित्र-विचित्र जगत् का आरोप करती हैं, उनमें ऐसी कौन हैं—जो विस्पष्ट होकर आविर्भूत नहीं होती ? [इसका उदाहरण अच्युत ग्रन्थमाला में इस प्रकार दिया है] ॥ १-२ ॥

'जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां
द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि ।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा
राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्घः ॥'

इस श्लोक का भी लौकिक या परमार्थिक अर्थ एक-मात्र ब्रह्मसत्ता से ही किया जा सकता है। उनमें लौकिक अर्थ इस प्रकार है—कोई एक मद्रासी, जो कम्बल और उपानहों से (जूतों से) युक्त बूढ़े बैल के समान गुण-धर्म वाला होने से जरद्गव वाहीक था, अपने घर के द्वार पर

फेनावर्तविवर्तान्तर्वर्तिनी रसरूपिणी ।
कठिनेन्द्रियसम्बन्धे करोति स्पन्दमम्भसाम् ॥ ४ ॥
एषा कुसुमगुच्छेषु रसरूपेण संस्थिता ।
कचति घ्राणरन्ध्रेषु करोति परिफुल्लताम् ॥ ५ ॥
शिलाङ्गस्था शिलाङ्गाभामसतीं सत्यतापदम् ।
सर्गाधारदशां धत्ते गिरीन्द्रः स्थितिलीलया ॥ ६ ॥

बैठकर भद्र देश में प्रसिद्ध गीतों को गाता था। उसे कोई ब्राह्मणी—जो कि लशुन से शान्त होने वाले रोग से ग्रस्त पुत्र के साथ किसी आवश्यक कार्य से समुद्र की ओर जाने वाली थी और साथ-साथ वहाँ पर पुत्र का जीवन भी चाह रही थी—'यह (मद्रासी) लवण समुद्र की ओर से आया है' यों लोगों से सुनकर अत्यन्त आदरपूर्वक सम्बोधित करती हुई पूछती है—हे राजन्, लवण समुद्र में लहसुन का भाव क्या है अर्थात् क्या वहाँ लहसुन सस्ता है या महँगा है ? इसी श्लोक का परमार्थिक अर्थ इस प्रकार है—कम्बल के समान आवरण करने वाली अविद्या से तथा पादुका प्राय लिङ्गशरीर से चक्षु आदि द्वारों पर विषय-भोग से स्थित हुआ बूढ़े बैल के समान यह जीव पुत्र आदि के मङ्गल-गीतों को ही बहिर्मुख होकर गाता है, अपने स्वरूप को बिलकुल नहीं देखता। उसे इस प्रकार पाकर पुंनामक संसार-नरक से उद्धार करने वाले ब्रह्मात्मरूपताज्ञानस्वरूप पुत्र की इच्छा कर रही, ब्राह्मणी की तरह, ब्रह्मसम्बन्धिनी श्रुति उससे पूछती है—हे राजन् अर्थात् स्वयं प्रकाशरूप से विराजमान और अपने चैतन्य से सम्पूर्ण जगत् को रञ्जित करने वाले हे आत्मदेव, सभी अविद्या, काम और कर्म के बीजों का विनाशक होने से समुद्र की तरह ऊषर प्राय, परम शुद्ध तुम्हारे स्वरूप के रहते हुए अत्यन्त अपवित्र होने से ब्राह्मण द्वारा अभोग्य लशुनतुल्य भोज्यों के विषय में तुम मूल्य ही क्या विचारते हो ? अतः बाह्यदृष्टि छोड़कर स्वात्माराम हो जाओ। इस आशय से वह पूछती है—'यह आत्मा कौन है, जिसकी हमलोग उपासना करते हैं, वह कौन-सा आत्मा है ? जगत् के कारण ब्रह्म का स्वरूप है ? हम कहाँ से उत्पन्न हुए' इत्यादि। इसी प्रकार दस दाडिमाडि वाक्यों में भी अर्थसत्ता समझनी चाहिए। 'भिडि भिडिम्' इत्यादि श्लोक की तो, जो कि बाल, मत्त आदि के अस्पष्ट कथन का अनुकरण करता है, अनुकार्य अर्थ से ही अर्थवक्ता जाननी चाहिए। अनुकार्य तो अव्यक्त ही है, अतः उसमें (अनुकार्य में) वाक्यता ही नहीं है।

पवनस्पन्दकोशात्मरूपिणीव त्वगिन्द्रियम् ।
संसाधयत्यात्मसुतं पितेवाऽऽत्मतया तया ॥ ७ ॥
अशेषसारसंपिण्डमध्यात्मानं स्वसिद्धये ।
भावयित्वा न किञ्चित्त्वमिव खत्वं करोत्यलम् ॥ ८ ॥
स्वसत्ताप्रतिबिम्बाभमाकाशमुकुरोदरे ।
धत्ते कल्पनिमेषाङ्कं कालाख्यममलं वपुः ॥ ९ ॥

व्रीहि आदि बीजकणों के अन्दर रहने वाली यह दैवी चितिसत्ता खेत में परिष्कृत मिट्टी, काल, जल आदि सहकारी कारणों को प्राप्त कर प्रथम अंकुर पैदा करती है अनन्तर क्रमशः तण्डुल होकर स्वशरीरमय साक्षात्-पुरुष के खाने योग्य ओदन बनाती है ॥ ३ ॥

फेन एवं आवर्तरूप रूपान्तर जिसके भीतर रहते हैं, वह रसरूपा ईश्वर शक्ति अथवा फेन आदि में अनुगत रस सामान्यरूपा ईश्वरशक्ति कठिन शिलातल के साथ या जिह्वा इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होने पर जल का निम्नप्रदेश में उपसर्पणरूप या उदर में उपसर्पणरूप स्पन्दन उत्पन्न करती है ॥ ४ ॥

पुष्पगुच्छों में मकरन्दयुक्त गन्धरूप से स्थित यही ईश्वरशक्ति नासिका के पुटों में प्रकाशित होती है और उन्हें चारों ओर से आमोदित कर देती है ॥ ५ ॥

यह चित्सत्ता शिला के गर्भ में स्थित होकर शिला प्रतिमा की तरह तत्त्वतः पृथक्सत्ता न होने पर भी व्यावहारिक सत्तावाली 'यह कार्य है और यह उसका आश्रय है' इस प्रकार भेदविकल्पदशा को अविकृत होकर वैसे ही धारण करती है जैसे विकारशून्य पर्वतराज तृण, वृक्ष, लता आदि कार्यों को धारण करता है ॥ ६ ॥

समस्त क्रियाओं के आधारभूत पवनप्राय हुई वह चितिशक्ति त्वगिन्द्रिय को स्पर्श ग्रहण करने के लिए वैसे ही अनुकूल बना देती है जैसे वह चितिशक्ति प्रवृत्तिशक्तिवश संसारिणी होती है ॥ ७ ॥

निवृत्तिशक्तिवश समस्त जगत् की सत्ताओं के एकघनरूप आत्मा को लेकर श्रवण, मनन आदि उपायों से अपने मोक्ष के लिए 'नेति नेति' इस प्रतिशोध से मानो सब जगत् को वैसे ही भलीभाँति शून्यात्मक आकाशरूप कर देती है ॥ ८ ॥

यही शक्ति महाकाशरूप दर्पण के अन्दर अपनी सत्ता के प्रतिबिम्ब के समान कल्प-निमेष नामक निर्बल कालात्मक शरीर धारण करती है ॥ ९ ॥

आमहापञ्चमेशानं परिणाममया इमे ।
इदमित्थमिदं नेति नियतिर्भवति स्वयम् ॥ १० ॥
साक्षिणि स्फार आभासे गृहे दीप इव क्रियाः ।
सत्ये तस्मिन् प्रकाशन्ते जगच्चित्रपरम्पराः ॥ ११ ॥
परमाकाशनगरनाट्यमण्डपभूमिषु ।
स्वशक्तिवृत्तं संसारं पश्यन्ती साक्षिवत्स्थिता ॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

शिवस्यास्य जगन्नाथ ! शक्तयः काः कथं स्थिताः ।
साक्षिता का च किं तासां वृत्तं स्यात् कियदेव तत् ।१३।

ईश्वर उवाच

अप्रमेयस्य शान्तस्य शिवस्य परमात्मनः ।
सौम्य ! चिन्मात्ररूपस्य सर्वस्यानाकृतेरपि ॥ १४ ॥
इच्छासत्ता व्योमसत्ता कालसत्ता तथैव च ।
तथा नियतिसत्ता च महासत्ता च सुव्रत ! ॥ १५ ॥

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और ईशान—इस उत्तरोत्तर उत्कर्ष वाले देवताओं में पञ्चम ईशान सदाशिव-पर्यन्त सब उस चितिशक्ति के ही परिणामस्वरूप हैं। यह इस प्रकार हो और यह इस प्रकार न हो सब कार्यों की व्यवस्था करने वाली मूलशक्ति भी स्वयं चितिसत्ता है ॥ १० ॥

साक्षीरूपी उस प्रकाशात्मक अबाधित सत्यस्वरूप अपरिछन्न चितितत्त्व के रहने पर ही जगत्-रूप चित्र की परम्पराएँ वैसे ही प्रकाशित होती हैं जैसे घर में दीपक के रहने पर समस्त घरभर की क्रियाएँ होती हैं ॥ ११ ॥

वही चितिसत्ता गन्धर्वनगर के नाट्य-मण्डप की भूमि रूप जाग्रत आदि अवस्थाओं में अपनी शक्ति से जनित यह संसार देखती हुई साक्षी की तरह उदासीन होकर अवस्थित रहती है ॥ १२ ॥

महर्षि वसिष्ठजी ने कहा—हे जगत् के नाथ ! इस सदाशिव की सामान्यतः कौन-सी शक्तियाँ हैं, वे किस तरह से रहती हैं, उनकी क्या साक्षिता है, उनका व्यवहार क्या है और वह कितना है ? ॥ १३ ॥

ईश्वर ने कहा—हे सौम्य सुव्रत ! वास्तव में जिसका कोई भी आकार नहीं है, जो सर्वात्मक है तथा साधारण जन जिसका परिज्ञान नहीं कर सकते, उस शान्त, चिन्मात्ररूप सदाशिव परमात्मा की इच्छासत्ता, व्योमसत्ता, वैसे ही तीसरी कालसत्ता तथा नियतिसत्ता और महासत्ता—ये पाँच शक्तियाँ हैं ॥ १४, १५ ॥

ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, प्रवृत्तिशक्ति और निवृत्ति-

ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः कर्तृताऽकर्तृताऽपि च ।
इत्यादिकानां शक्तीनामन्तो नास्ति शिवात्मनः ॥१६॥

वसिष्ठ उवाच

शक्तयः कुत एवैता बहुत्वं कथमासु च ।
उदयश्च कथं देव भेदाभेदश्च कीदृशः ॥ १७ ॥

ईश्वर उवाच

शिवस्यानन्तरूपस्य सैषा चिन्मात्रताऽऽत्मनः ।
एषा हि शक्तिरित्युक्ता तस्माद्भिन्ना मनागपि ॥ १८ ॥
ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वसाक्षित्वादिविभावनात् ।
शक्तयो विविधं रूपं धारयन्ति बहूदकम् ॥ १९ ॥
एवं जगति नृत्यन्ति ब्रह्माण्डे नृत्यमण्डपे ।
कालेन नर्तकेनेव क्रमेण परिशिक्षिताः ॥ २० ॥
यैषा परापराभासा सैषा नियतिरुच्यते ।
क्रियाऽथ कृतिरिच्छा वा कालेत्यादिकृताऽभिधा ॥२१॥

शक्ति—इस प्रकार सामान्यतः परिगणित होने पर भी सदाशिवस्वरूप परमात्मा की इन शक्तियों का अन्त नहीं है ॥ १६ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—हे देव ! ये शक्तियाँ किस निमित्त से होती हैं ? उनमें बहुत्व कैसे आया ? उनका उदय कैसे हुआ ? एवं शक्ति और शक्तिमान् दोनों में परस्पर विरुद्ध भेद और अभेद किस युक्ति से रह सकते हैं ? ॥ १७ ॥

ईश्वर ने कहा—अनन्त असीम आकारवाले सदाशिव-रूपी आत्मा की यह चिन्मात्ररूपता ही माया है और यही उसकी शक्ति कही जाती है। वह चिति से तनिकमात्र भिन्न-सी प्रतीत होने पर भी वास्तव में कुछ भी भेद नहीं है ॥ १८ ॥

ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, साक्षित्व, आदि कल्पनाओं से परमात्मा की ये शक्तियाँ वैसे ही विविध स्वरूप धारण करती हैं। जैसे तरङ्ग आदि भेद कल्पनाओं से उदक विविध रूप धारण करता है ॥ १९ ॥

गमनशील ब्रह्माण्डरूपी नृत्य-मण्डप में ऋतु, मास आदि काल-नियति-क्रम से महाकालरूपी नट से उत्तम रीति से शिक्षित शक्तिरूपिणी नटियाँ नाचती हैं ॥ २० ॥

दो परार्ध कालरूप और अवान्तर कल्प तथा उसके अवश्य कालरूप यह मायाशक्ति ही नियति कही जाती है। ईश्वर की क्रिया, कृति, इच्छा या काल इत्यादि उसके नाम वादियों द्वारा रक्खे गये हैं। हम लोग तो कलनामात्र रूप होने के कारण काल और कल्पनारूप होनेसे कल्प—इस प्रकार विकल्पप्रयुक्त ही उसके नाम मानते हैं ॥२१॥

आमहारुद्रपर्यन्तमिदमित्थमिति स्थितेः ।
आतृणाद्यब्जजस्पन्दं नियमान्नियतिः स्मृता ॥ २२ ॥
नियतिर्नित्यमुद्वेगवर्जिताऽपरिमार्जिता ।
एषा नृत्यति वै नृत्यं जगज्जालकनाटकम् ॥ २३ ॥
नानारसविलासाढ्यं विवर्ताभिनयान्वितम् ।
कल्पक्षणहतानेकपुष्करावर्तघर्घरम् ॥ २४ ॥
सर्वर्तुकुसुमाकीर्णं धारागोलकमन्दिरम् ।
भूयो भूयः पतद्वर्षभूरिस्वेदजलोत्करम् ॥ २५ ॥
पयोदपल्लवालोलनीलाम्बरकृतभ्रमम् ।
पूर्णसंशुद्धसप्ताब्धिरत्नौघवलयाकुलम् ॥ २६ ॥
यामपक्षदिनप्रेक्षाकटाक्षोद्भासिताम्बरम् ।

यह कालशक्ति—तृण से लेकर महारुद्रपर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं, उन सबमें 'इस पदार्थ को इस आकार के रूप में ही रहना चाहिए' एवं तृण से लेकर ब्रह्मापर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उनमें 'इस पदार्थ में इस तरह का ही विकार होना चाहिए' इस प्रकार आकार-स्थिति और विकारस्थिति का नियमन करने के कारण—नियति कही जाती है ॥ २२ ॥

यह नियति तत्त्वबोध से परिमार्जित होने तक सर्वविध उद्वेगों को छोड़कर प्रतिदिन निरन्तर जज्जालरूपी नाटक स्वरूप नाच नाचती रहती है ॥ २३ ॥

वह नृत्य नाना प्रकार के करुणा आदि रस-विलासों से परिपूर्ण और विवर्तरूप अभिनय से समन्वित है। प्रलय-क्षण, उस नाटच का उपसंहार काल है, विद्युत् के आघातों से बजाये गये पुष्करावर्त नामक मेघ ही वाद्य-विशेषों का कार्य करते हैं ॥ २४ ॥

समस्त ऋतुरूपी कुसुमों से व्याप्त उस नियति का वह नाटच वर्षा-धाराओं से ब्रह्माण्ड-गोलकरूपी महानाटच-शाला में प्रवृत्त होता है। बार-बार गिर रहे वर्षण से जनित प्रचुर स्वेदरूपी जलराशि से निरन्तर आकुल रहता है ॥ २५ ॥

मेघरूपी बड़े-बड़े किनारों से चंचल नील-आकाशरूपी वस्त्रों से दिन-रात आदि अनेक तरह के वेष-भ्रम उसमें बनाये गये हैं और पूर्ण विशुद्ध सप्त-समुद्ररूप रत्न-समूहों से खचित कंकणों से उक्त नियति-नृत्य सदा ध्वनित होता रहता है ॥ २६ ॥

उस नृत्य में आकाशमण्डल याम, पक्ष, दिन आदि

मज्जनोन्मज्जनव्यग्रकुलाद्रिकुलशेखरम् ॥ २७ ॥
भ्रमच्छशिमणिप्रोतगङ्गामुक्ताफलत्रयम् ।
संदृष्टादृष्टसंध्याभ्रविलोलकरपल्लवम् ॥ २८ ॥
अनारतरणल्लोललोकालङ्कारकोमलम् ।
भूरिभूतलपातालनभस्तलपदक्रमम् ॥ २९ ॥
मग्नोन्मग्नमहानेकताराघर्मकणोत्करम् ।
चन्द्रार्ककुण्डलस्पन्दस्मितस्फुटनभोमुखम् ॥ ३० ॥
कल्पितानेकब्रह्माण्डकपाटकवितानकम् ।
लुठल्लोकान्तरव्यूहध्वनन्मुक्ताङ्कपल्लवम् ।
सुखदुःखदशादोषभावाभावरसान्तरम् ॥ ३१ ॥
अस्मिन् विकारवलिते नियतेर्विलासे
संसारनाम्नि चिरनाटकनाटचसारे ।

प्रेक्षण-कटाक्षों से जगमगा रहा है। तिरोधान और उद्घाटन से व्यग्र कुलपर्वतरूप सिर के अग्रभाग के भूषण उसमें शोभित होते हैं ॥ २७ ॥

घूमते हुए चन्द्र और सूर्य से ग्रथित गङ्गारूपी मोतियों के तीन हारों से युक्त तथा स्पष्ट और अस्पष्ट संध्याकालीन अभ्ररूपी चंचल करपल्लवों से वह समन्वित है ॥ २८ ॥

वह नृत्य निरन्तर शब्द कर रहे चंचल मनुष्य या चतुर्दश भुवनरूपी अलङ्कारों से अत्यन्त मञ्जुल है। नृत्य में नियति-नटी के चरण-विन्यास का स्थान विस्तीर्ण भूतल, पातल और नभस्तल है ॥ २९ ॥

नियति-नृत्य में उदित और अस्तमित महान् चमकीले तारे ही स्वेद-बिन्दुओं का समूह है। वहाँ चन्द्र और सूर्य रूपी कुण्डलों के स्पन्दरूप हल की मुसकान से उस नटी का आकाशरूप मुखमण्डल झलक रहा है ॥ ३० ॥

उस नृत्य में ब्रह्माण्डों की भित्तियाँ ही कपाटक की तरह परदे बनाये गये हैं। असुरों द्वारा व्याकुल किये गये ऊपर-नीचे के लोकों के समूह उस नृत्य की नर्तकी के शब्द कर रहे मोतियों से गुथे हुए परिधानीय वस्त्र के भीतरी कपड़ों के पल्ले हैं। उसमें सुख-दुःख की आविर्भाव आदि दशा और उससे होनेवाले दोष ही स्थायिभाव, अनुभाव, विभाव, संचारिभाव और शृङ्गार आदि रस के भेद हैं ॥ ३१ ॥

नाटचशास्त्र में प्रसिद्ध स्वेद, स्तंभ, रोमांच आदि विकारों से व्याप्त चिरकाल से प्रवृत्त इस संसार नामक नाटक के नाटचों में सारभूत नियति-नटी के विकास में अधिपति होकर देखने वाला सदा उदितस्वभाव यह

साक्षी सदोदितवपुः परमेश्वरोऽय- मेकः स्थितो न च तया न च तेन भिन्नः ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
नियतिनृत्यं नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

प्रत्यग्रूप परमेश्वर अद्वितीय होकर स्थिति है। वह परमार्थतः उस नटी और नाटच से भिन्न नहीं है ॥३२॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
नियतिनृत्य नामक कुसुमलता का सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३७ ॥

३८

ईश्वर उवाच

एष देवः स परमः पूज्य एष सदा सताम् ।
चिन्मात्रमनुभूत्यात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ॥ १ ॥
घटे पटे वटे कुडचे शकटे वानरे स्थितः ।
शिवो हरो हरिर्ब्रह्मा शक्रो वैश्रवणो यमः ॥ २ ॥
बहिरन्तश्च सर्वात्मा सदा स्वात्मा सुबुद्धिभिः ।
विविधेन क्रमेणैष भगवान् परिपूज्यते ॥ ३ ॥
बहिस्तावन्महाबुद्धे ! क्रमेण परिपूज्यते ।
येन तच्छृणु तत्त्वज्ञ ! श्रोष्यस्थन्तःक्रमं ततः ॥ ४ ॥
पूजाक्रमेषु सर्वेषु देहगेहं पवित्रकम् ।
त्याज्यं देहावबोधात्म परं यत्नात् पवित्रकम् ॥ ५ ॥
पूजनं ध्यानमेवाऽन्तर्नाऽन्यदस्त्यस्य पूजनम् ।
तस्मात्त्रिभुवनाधारं नित्यं ध्यानेन पूजयेत् ॥ ६ ॥
चिद्रूपं सूर्यलक्षाभं समस्ताभासभासनम् ।
अन्तस्थचित्प्रकाशं स्वमहन्तासारमाश्रयेत् ॥ ७ ॥
अपारपरमाकाशविपुलाभोगकन्धरम् ।
अनन्ताधस्तनाकाशकोशपादसरोरुहम् ॥ ८ ॥
अनन्तदिक्तटाभोगभुजमण्डलमण्डितम् ।
नानाविधमहालोकगृहीतपरमायुधम् ॥ ९ ॥

३८

श्री माहेश्वर ने कहा—नियति के नाटक का साक्षीभूत यह चिदात्मा सबसे बड़ा देव है, यही देव सदा साधुजनों के पूजन योग्य है। यही समस्त वस्तुओं का आश्रय, सर्वव्यापी, चिन्मात्ररूप तथा अनुभवात्मक है ॥ १ ॥

घड़े में, कपड़े में, वट में, भित्ति में, शकट में और वानर में यही स्थित है। परम देव शिव, हर, हरि, ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर, और यम स्वरूप यही है ॥ २ ॥

सबके स्वरूप भूत छः प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण इसी अपने आत्मदेव की बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकारों से तत्त्वज्ञों द्वारा निरन्तर पूजा की जाती है ॥ ३ ॥

हे महाबुद्धे ! जिस बाह्य क्रम से इस आत्मदेव का पूजन किया जाता है, उसे सुनें। अनन्तर हे तत्त्वज्ञ ! आप पूजन का आभ्यन्तर क्रम सुने ॥ ४ ॥

महर्षे, पूजन के जितने संस्कार एवं स्नान, आचमन आदि से पवित्र यह देहरूप घर प्रत्यनपूर्वक छोड़ देना चाहिए और देह के साक्षी परम पवित्र चित्प्रकाश स्वरूप का, प्रयत्नपूर्वक परिशोधन कर ग्रहण करना चाहिए ॥५॥

ध्यान ही पूजा की सामग्री और स्वयं पूजन-क्रिया है, इसके सिवा दूसरी कोई भी वस्तु इसकी पूजन सामग्री या पूजा नहीं है, इसलिए तीनों भुवनों के आधारभूत इस आत्मदेव की ध्यान से निरन्तर पूजा करनी चाहिए ॥६॥

चिद्रूप लाखों सूर्यों के समान देदीप्यमान, सूर्य आदि समस्त प्रकाशक तेजों एवं बुद्धिवृत्तियों के अवभासक, अहम्भाव के सारभूत अहम्भाव के परित्याग से अवशिष्ट विशुद्ध आत्मस्वरूप तथा सबसे परे विद्यमान चित्प्रकाश का आश्रयण करना चाहिए ॥ ७ ॥

इस नियति-नाटक के साक्षी परमात्मा का असीम सबसे बड़े आकाश का विपुल विस्तार उसका कण्ठप्रदेश है; असीम नीचे के आकाश का विस्तार उसका चरण-सरोज है ॥ ८ ॥

सीमा शून्य दिशाओं के किनारों का वही उसका भुजमण्डल है और उसी से वह शोभायमान है; उन हाथों में उसने विविध ब्रह्माण्डों में विद्यमान बड़े-बड़े सत्य आदि लोकरूप श्रेष्ठ आयुधों का ग्रहण किया है ॥ ९ ॥

हृत्कोशकोणविश्रान्तब्रह्माण्डौघपरम्परम् ।
प्रकाशपरमाकाशपारगापारविग्रहम् ॥ १० ॥
अध ऊर्ध्वं चतुर्दिक्षु विदिक्षु च निरन्तरम् ।
ब्रह्मेन्द्रहरिरुद्रेशप्रमुखामरमण्डितम् ।
इमां भूतश्रियं तस्य रोमालिं प्रविचिन्तयेत् ॥ ११ ॥
विविधारम्भकारिण्यस्त्रिजगद्यन्त्ररज्जवः ।
इच्छाद्याः शक्तयस्तस्य चिन्तनीयाः शरीरगाः ॥ १२ ॥
एष देवः स परमः पूज्य एष सदा सताम् ।
चिन्मात्रमनुभूत्यात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ॥ १३ ॥
घटे पटे वटे कुड्ये शकटे वानरे स्थितः ।
शिवो हरो हरिर्ब्रह्मा शक्रो वैश्रवणो यमः ॥ १४ ॥
अनन्तैकपदाधारसत्तामात्रैकविग्रहः ।
विवर्तितजगज्जालः कालोऽस्य द्वारपालकः ॥ १५ ॥

उसके हृदय-कोश के एक कोने में ब्रह्माण्ड-समूहों की पंक्तियों की पंक्तियाँ विश्राम ले रही है; वह प्रकाशस्वरूप एवं तम से परे है और उसके स्वरूप का पार नहीं पाया जा सकता ॥ १० ॥

वह नीचे-ऊपर, चारों दिशाओं एवं उपदिशाओं में ब्रह्मा, इन्द्र, हरि, हर, आदि प्रमुख देवस्वामियों से निरन्तर परिवृत है। उस असीम आत्मचैतन्य की यह चतुर्विध भूतों की शोभा एक तरह की रोम-राजियाँ हैं, इस प्रकार जानना चाहिए ॥ ११ ॥

इस जगत्-त्रय में विभिन्न प्रकार के पदार्थों का निर्माण करने के लिए विनिर्मित यन्त्ररज्जुओं के समान ये इच्छा आदि शक्तियाँ उसके शरीर में रहने वाली नाडियाँ इस प्रकार जाननी चाहिए ॥ १२ ॥

नियति के नाटक का साक्षीभूत यह चिदात्मा ही वह परम देव है। यही समस्त पदार्थों का आश्रय, सर्वव्यापक अनुभवात्मक और चैतन्यमात्रस्वरूप है। चिदातमा ही सज्जनों द्वारा सर्वदा पूजनीय है ॥ १३ ॥

घट में, पट में, वट में, भित्ति में, शकट में और वानर में वही स्थित है। यही परमदेव शिव, हर, हरि, ब्रह्मदेव, इन्द्र, कुबेर और यम स्वरूप है ॥ १४ ॥

असंख्य पदों से बोधित होने वाली तथा उन आकृतियों को छोड़कर एक 'अस्ति' पद से बोधित होने वाली सत्तारूप एकमात्र देह से युक्त, इस जगज्जाल का उत्पादक महाकाल इस आत्मदेव का अविशुद्ध-दशा में आत्मा के अन्दर प्रवेश करते समय मन को रोक देने वाला और विशुद्धि-दशा में प्रवेश करते समय अनुकूल रहने वाला एक तरह से द्वाररक्षक है ॥ १५ ॥

सशैलभुवनाभोगमिदं ब्रह्माण्डमण्डलम् ।
देहकोणेऽस्य कस्मिंश्चित् स्वाङ्गावयवतां गतम् ॥ १६ ॥
विचिन्तयेन्महादेवं सहस्रश्रवणेक्षणम् ।
सहस्रशिरसं शान्तं सहस्रभुजभूषणम् ॥ १७ ॥
सर्वत्रेक्षणशक्त्याढ्यं सर्वतो घ्राणशक्तिकम् ।
सर्वतः स्पर्शनमयं सर्वतो रसनान्वितम् ॥ १८ ॥
सर्वत्र श्रवणाकीर्णं सर्वत्र मननान्वितम् ।
सर्वतो मननातीतं सर्वतः परमं शिवम् ॥ १९ ॥
सर्वदा सर्वकर्तारं सर्वसङ्कल्पितार्थदम् ।
सर्वभूतान्तरावस्थं सर्वं सर्वैकसाधनम् ॥ २० ॥
इति संचिन्त्य देवेशमर्चयेद्विधिवत्ततः ।
विधानमर्चनस्येदं शृणु ब्रह्मविदां वर ! ॥ २१ ॥
स्वसंविदात्मा देवोऽयं नोपहारेण पूज्यते ।
न दीपेन न धूपेन न पुष्पविभवार्पणैः ॥ २२ ॥

पर्वतों एवं चौदह भुवनों के असीम विस्तार से युक्त यह ब्रह्माण्ड-मण्डल इस आत्मदेव के किसी एक देहकोण में स्थित होकर उसके अङ्ग में अवयवरूप उसका एकदेश हो गया है ॥ १६ ॥

हजारों कान एवं आँखें हैं, हजारों मस्तक हैं और हजारों भुजाओं से विभूषित शान्तस्वभाव महादेवजी का चिन्तन करना चाहिए ॥ १७ ॥

सभी जगह दर्शन-शक्ति से परिपूर्ण ,चारों ओर घ्राण-शक्ति से समन्वित सर्वतः स्पर्शन-शक्ति से युक्त चारों ओर रसना-शक्ति से परिपूर्ण सर्वत्र श्रवण-शक्ति से व्याप्त सर्वत्र मननशक्ति वाला सर्वथा मनन से अतीत और सभी ओर सर्वश्रेष्ठ कल्याणस्वरूप उस आत्मदेव का चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार विश्वरूप से चिन्तन करने पर भी वास्तव में आत्मदेव असङ्ग एवं अद्वितीय ही है ॥१८,१९॥

समस्त पदार्थों के कर्ता, सबको अपने-अपने सङ्कल्पों के अनुसार समस्त पदार्थों का प्रदान करने वाले सब भूतों के रहनेवाले और सभी के एकमात्र साधन सत्ता स्फूर्ति प्रदान करनेवाले सर्वरूप उस आत्मदेव का चिन्तन करना चाहिए ॥ २० ॥

हे ब्रह्मज्ञों में श्रेष्ठ महर्षे ! इस प्रकार ध्यान कर उस देवाधिदेव की विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिए। उस देव की पूजा का यह विधान तुम सुनो ॥ २१ ॥

स्वानुभव स्वरूप इस आत्मचैतन्य का पूजन न गन्ध आदि के उपहार से, न दीप से, न धूप से और न फूल एवं धन के समर्पण से हो सकता है ॥ २२ ॥

नाऽन्नदानादिदानेन न चन्दनविलेपनैः ।
न च कुङ्कुमकर्पूरभोगैश्चित्रैर्न चेतरैः ॥ २३ ॥
नित्यमक्लेशलभ्येन शीतलेनाऽविनाशिना ।
एकेनैवाऽमृतेनैष बोधेन स्वेन पूज्यते ॥ २४ ॥
एतदेव परं ध्यानं पूजैषैव परा स्मृता ।
यदनारतमन्तःस्थशुद्धचिन्मात्रवेदनम् ॥ २५ ॥
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ् जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन् शुद्धसंविन्मयो भवेत् ॥ २६ ॥
ध्यानामृतेन संपूज्य स्वयमात्मानमीश्वरम् ।
परमास्वादयुक्तेन मुक्तेन कुसुमेहितैः ॥ २७ ॥
ध्यानोपहार एवाऽऽत्मा ध्यानं ह्यस्य समीहितम् ।
ध्यानमर्घ्यं च पाद्यं च शुद्धसंवेदनात्मकम् ॥ २८ ॥
ध्यानसंवेदनं पुष्पं सर्वं ध्यानपरं विदुः ।
विना तेनेतरेणाऽयमात्मा लभ्यत एव नो ॥ २९ ॥
ध्यानात् प्रसादमायाति सर्वभोगसुखश्रियः ।
अयमात्मा मुने ! भुङ्क्ते देहरूपो गृहे यथा ॥ ३० ॥
ध्यानेनाऽनेन सुमते ! निमेषांस्तु त्रयोदश ।
मूढोऽपि पूजयित्वेशं गोप्रदानफलं लभेत् ॥ ३१ ॥
पूजयित्वा निमेषाणां शतमेकमिति प्रभुम् ।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ३२ ॥
पूजयित्वा स्वयमात्मानं घटिकार्धमिति प्रभुम् ।
अश्वमेधसहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ३३ ॥

न अन्नदान आदि दानों से, न चन्दन के विलेपनों से, न कुंकुम, कर्पूर एवं नैवेद्यों से और न छत्र, चँवर, दर्पण आदि के समर्पण से ही इस देव की पूजा की जा सकती है ॥ २३ ॥

किसी भी प्रकार के कष्ट के बिना प्राप्त होने योग्य शीतल, अविनाशी अमृतस्वरूप एकमात्र स्वरूप के साक्षात्कारात्मक अखण्डवृत्ति के प्रवाह में प्रतिबिम्बित स्वात्मस्वरूपबोध से ही सदा इस देव की पूजा की जा सकती है ॥ २४ ॥

यह हृदयप्रदेश में स्थित शुद्धचैतन्यमात्रस्वरूप आत्मा का अविच्छिन्न संवेदन है, यही सब ध्यानों में श्रेष्ठ ध्यान है और यही सब पूजाओं में प्रधान पूजा कही गई है ॥ २५ ॥

देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, खाते, जाते, सोते, श्वास-प्रश्वास लेते, बोलते, मलादि छोड़ते और इष्ट का ग्रहण करते किसी भी समय पुरुष को शुद्धसंविदात्मक आत्मा के ध्यान में ही तत्पर रहना चाहिए ॥ २६ ॥

प्रत्यगात्मा के स्वयं ही शोधन से उसमें निरतिशय आनन्दस्वरूपता का आविर्भाव कर नित्य निरतिशय आनन्दैकरस रूप के साथ परम शिव को उसे समर्पण करनारूप है । उत्कृष्ट आस्वाद से युक्त तथा कुसुमसमर्पण आदि बाह्य-चेष्टाओं से निर्मुक्त ध्यानरूप अमृत से ईश्वर-स्वरूप अपने इस आत्मदेव की स्वयं ही पूजा करके शुद्ध-चैतन्यात्मक हो जाना चाहिए ॥ २७ ॥

यहाँ 'परमास्वादयुक्तेन' यह जो कहा गया है, उसका भाव यह है कि मनुष्य द्वारा भगवान् को जो फल आदि लौकिक विषयों का समर्पण है, वह साक्षात् अविच्छिन्न सुख का समर्पण नहीं है, किन्तु परम्परया कुछ थोड़ा-सा उसका सुख अभिव्यक्त होता है । जैसे मुट्ठीभर धान देने से क्षुधा-पीड़ित की पूरी तरह से क्षुधा निवृत्त नहीं होती, किन्तु कुछ थोड़ी-सी उसे प्रसन्नता होती है, वैसे ही उक्त पूजा भी भगवान् को पर्याप्तरूप से प्रसन्न नहीं कर सकती और यह पूजन तो परम आस्वादयुक्त है । अतः वही पूजन उस देव के लिए अनुरूप पूजन कहा गया है, न कि पुष्प आदि ।

इस आत्मदेव के लिए शुद्ध संवेदन रूप ध्यान ही है । प्रियतम वस्तु होने से ध्यान ही उसके लिए उपहार है । ध्यान ही उसका अर्घ्य और पाद्य है ॥ २८ ॥

ध्यान से अभिव्यक्त चैतन्य ही पुष्प है, पूजा के अन्य सम्पूर्ण उपचार ध्यान की समता नहीं कर सकते, ऐसा मुनि लोग कहते हैं । अतः ध्यान को छोड़कर और किसी भी दूसरे उपाय से आत्मदेव प्राप्त नहीं किया जा सकता है ॥ २९ ॥

हे मुने ! यह आत्मदेव ध्यान से ही अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति प्राप्त करता है । वह मनुष्य से लेकर हिरण्य-गर्भपर्यन्त सभी जीवों के विषय सुख की सम्पत्तियों का उपयोग के समान उपभोग करता है, देहाभिमानी के अपने घर में सम्पत्तियों का उपयोग करता है ॥ ३० ॥

हे सुमते ! अतत्त्वज्ञ पुरुष भी तेरह निमेष पर्यन्त इस ध्यान से आत्मदेव की पूजा करे, तो वह एक गो-दान करने का फल प्राप्त करता है ॥ ३१ ॥

एक सौ निमेषपर्यन्त इस ध्यान से देव की पूजाकर मनुष्य अश्वमेधयज्ञ का फल प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥

आधी घड़ी पर्यन्त इस अपने आत्मरूप ईश्वर की पूजा कर मनुष्य हजार अश्वमेधयज्ञों का फल प्राप्त करता है ॥ ३३ ॥

ध्यानबल्युपहारेण स्वयमात्मानमात्मना ।
घटिकां पूजयेद्यस्तु राजसूयं लभेत सः ॥ ३४ ॥
मध्याह्नपूजनादित्थं राजसूयैकलक्षभाक् ।

ध्यानरूप बलि के उपहार से स्व-स्वरूप आत्मा की स्वयं एक घड़ीभर पूजा करने पर वह राजसूययज्ञ का फल प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

अच्युतग्रन्थमाला की टिप्पणी में यह कहा गया है शङ्का हो कि आधी घड़ी ध्यान करने से यदि हजार अश्वमेध का फल होता है, तो एक घड़ी ध्यान करने पर उससे अधिक फल बतलाना चाहिए। ऐसी स्थिति में एक घड़ी ध्यान का राजसूयफल कहना कैसे युक्तिसंगत होगा ? क्योंकि अश्वमेधफल की अपेक्षा राजसूय का फल कभी-भी अधिक नहीं है। बृहदारण्यक के भुज्युप्रश्न में (३।३।२) 'क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्नयान्ययं लोक:' (अश्वमेधयज्ञ करने वाले यजमान कहाँ जाते हैं ? [इस प्रकार भुज्यु के प्रश्न करने पर उनकी गति बतलाने की इच्छा से महर्षि याज्ञवल्क्य भुवन-कोश का परिमाण बतलाते हैं] यह लोक बत्तीस देवरथाह्नय—सूर्यरथ के अहोरात्र निरवच्छिन्न गमन से जितना देश नापा जा सकता है, वह एक देवरथाह्नय है, उसके बत्तीस गुने—परिमाण का है) इत्यादि श्रुति से पृथिवी, समुद्र आदि का परिमाण बतलाकर उसके बाद 'तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकाया: पत्रं तावानन्तरेणाकाश:' (व्यवहार में छुरे का अग्रभाग जितने परिमाण का होता है अथवा मक्खी का पंख जितने परिमाण का होता है, उतने ही परिमाण का ब्रह्माण्ड के कपालों की सन्धि में अवकाश है) इस श्रुति से ब्रह्माण्ड के दो कपालों की संधि बतलाकर 'तानिन्द्र: सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि स्थित्वा तत्रागमयद्यत्राऽश्वमेधयाजिनोऽभवन्' (उन अश्वमेधयाजियों को इन्द्ररूप परमेश्वर ने पक्षी का रूप धारण कर वायु को समर्पित किया। पश्चात् वायु ने उन्हें स्वात्मस्वरूप बना कर वहाँ पहुँचाया, जहाँ पहले के अश्वमेधयाजी थे) इत्यादि श्रुति से अश्वमेधयाजियों को सूक्ष्म ब्रह्माण्डकपाल की संधि से वायु ने बाहर निकाल कर समस्त कर्म-फलों के उत्कर्ष से युक्त श्रेष्ठ स्थान में प्राप्ति कराई है, यह विरोध हो गया। इसी प्रकार 'ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयो:' (ब्रह्महत्या से बढ़कर कोई पाप नहीं और अश्वमेध से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है) यह भी प्रसिद्ध है। पूर्वरामायण के श्लोपाख्यान में श्रीरामजी ने 'नाऽश्वमेध परो यज्ञ: प्रियश्चैव महात्मन:' (अश्वमेध से बढ़कर कोई कोई दूसरा यज्ञ नहीं है और महात्माओं को भी उसे छोड़ दूसरा कोई यज्ञ प्रिय नहीं है) यह जो कहा है, उससे भी विरोध होगा। इसी प्रकार शारीरक भाष्य में भगवान् भाष्यकार ने 'इतरकर्मिणां धूमादिमार्गेण चन्द्रमण्डलप्राप्तिरेव, अश्वमेधयाजिन एकस्य त्वर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकावाप्ति:' इत्यादि सिद्धान्त किया है। अत: यह सिद्ध हुआ कि राजसूय की अपेक्षा अश्वमेध का फल अधिक है। तो उस पर यही समाधान किया जा सकता है कि बाद में कहे गये फल से पूर्व में कहे गये फल का बाध नहीं होता। इसलिए उपर्युक्त सभी वचनों की सङ्गति लग सकती है। सारांश यह है कि जहाँ आधी घड़ी पूजन से हजार अश्वमेध यज्ञों का फल होता है, वहाँ एक घड़ीभर पूजन करने से उससे दुगुना यानी दो हजार अश्वमेधों का फल तो प्राप्त ही है। और वहाँ राजसूय का स्वाराज्य-प्राप्तिरूप फल आदि कहा गया हो, तो वह इतर अश्वमेध याजियों के ऊपर स्वराज्य-प्राप्ति में पर्यवसित होता है उससे तो जैसे प्रज्ञाओं से राजा को भोग अधिक प्राप्त होता है, वैसे ही घटिकापूजक का भोगोत्कर्ष ही सिद्ध होता है। इस पर शङ्का हो कि यहाँ 'तक्रकौण्डिन्य' न्याय का आश्रयण करेंगे तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि वाक्य व्यर्थ हो जायगा। ऐसी परिस्थिति में महाभाष्य में कहा है कि निश्चय ही संभव न होने पर सामान्य का विशेष से बाध होता है और यदि संभव हो तो दोनों ही होंगे—'असति खल्वपि संभवे बाधनं भवति अस्ति च संभवो यदुभयं स्यात्'। यहाँ पर 'अपच्छेदाधिकरण' न्याय का भी अवसर नहीं हो सकता, अदक्षिणत्व और सर्ववेदसदक्षिणत्व की तरह ब्रह्मलोक और यहाँ का स्वाराज्य इन दो फलों में परस्पर विरोध नहीं है, यही विशेष सूचित करने के लिए प्रस्तुत श्लोक में 'तु' शब्द दिया गया है।

दिवसं पूजयित्वैवं परे धाम्नि वसेन्नरः ॥ ३५ ॥
एषोऽसौ परमो योग एषा सा परमा क्रिया ।
बाह्यसंपूजनं प्रोक्तमेतदुत्तममात्मनः ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार मध्याह्न काल तक पूजन करने से एकलक्ष राजसूय यज्ञों का फल प्राप्त होता है। और इसी प्रकार दिनभर पूजन करने से मनुष्य परम धाम में वास करता है ॥ ३५ ॥

जो आत्मदेव का उत्तम बाह्यपूजन मैंने तुमसे कहा है, यही परम योग है, यही वह परम कर्म है ॥ ३६ ॥

एतत् पवित्रमखिलाघविघातहेतुं
यस्त्वाचरिष्यति नरः क्षणमप्यखिन्नः ।
तं वन्दयिष्यति सुरासुरलोकपूगः
प्राप्तास्पदं जगति मामिव मुक्तमात्मन् ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
बाह्यपूजनं नामाऽष्टात्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

हे आत्मरूप ! समस्त पापों के विनाश का साधन एवं पवित्र यह उक्त प्रकार का ध्यानरूप पूजन कोई मनुष्य विक्षेप और खेद से रहित होकर एक क्षण भी करता, क्रमशः समस्त बन्धनों से निमुक्त होकर ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त उसकी वन्दना जगत् में जैसी मेरी वन्दना सुर एवं असुर लोगों का समूह—करता है वैसा ही करेगा ॥ ३७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
बाह्यपूजन नामक कुसुमलता का अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३८ ॥

३९

ईश्वर उवाच

पावनं पावनानां यद्यत्सर्वतमसां क्षयः ।
तदिदानीं प्रवक्ष्येऽहमन्तःपूजनमात्मनः ॥ १ ॥
गच्छतस्तिष्ठतश्चैव जाग्रतः स्वपतोऽपि च ।
सर्वाचारगता पूजा नित्यं ध्यानात्मिका त्वियम् ॥ २ ॥
नित्यमेव शरीरस्थमिमं ध्यायेत् परं शिवम् ।
सर्वप्रत्ययकर्तारं स्वयमात्मानमात्मना ॥ ३ ॥
शयानमुत्थितं चैव व्रजन्तमथवा स्थितम् ।
स्पृशन्तमभितः स्पृश्यं त्यजन्तमथवाऽभितः ॥ ४ ॥
भुञ्जानं संत्यजन्तं च भोगानाभोगपीवरान् ।
बाह्यार्थपरिकर्तारं सर्वकार्यस्वरूपदम् ॥ ५ ॥
देहलिङ्गेषु शान्तस्थं त्यक्तलिङ्गान्तरादिकम् ।
यथाप्राप्तार्थसंवित्त्या बोधलिङ्गं प्रपूजयेत् ॥ ६ ॥
प्रवाहपतितार्थस्थः स्वबोधस्नानशुद्धिमान् ।
नित्यावबोधार्हणया बोधलिङ्गं प्रपूजयेत् ॥ ७ ॥
आदित्यभावनाभोगभाविताम्बरभास्वरम् ।
शशाङ्कभावनाभोगभावितेन्दुतयोदितम् ॥ ८ ॥

३९

ईश्वर ने कहा—जो पवित्र करने वालों को पवित्र करने वाला जो सम्पूर्ण अज्ञानों का नाश करने वाला आत्मदेव का वह अन्तःपूजन अब मैं आप से कहता हूँ ॥ १ ॥

जा रहे, बैठ रहे, जाग रहे तथा सो रहे पुरुष के सभी व्यवहारों में सर्वदा अनुगत यह पूजा भी ध्यानात्मिकता ही है ॥ २ ॥

शरीर में स्थित, सन्निधिमात्र से समस्त ज्ञानों के उत्पादक एवं बोधक परमकल्याणस्वरूप इस आत्मदेव शिव का अपने अन्तःकरण से नित्य ही ध्यान करना चाहिए ॥ ३ ॥

सोते हुए अथवा जागते हुए, जाते हुए अथवा बैठे हुए और चारों ओर स्पर्श आदि विषयों का उपभोग करते अथवा उद्वेग के कारण उन्हें छोड़ते हुए विपुलता और जड़ता से पूर्ण भोगों का उपभोग करते हुए या उनका त्याग करते हुए अपने अध्यारोप द्वारा जाग्रत् आदि विषयों का निर्माण करने वाले, समस्त कार्यों में अपनी सत्ता देने वाले और देहस्वरूप पद्मासन आदि आसन लगाकर स्थित हुई तथा सामने हाथ फैलाकर बद्धाञ्जलि शिवलिङ्गात्मक देह से लिङ्गों में—मिट्टी, लकड़ी, शिला आदिरूप विभिन्न लिङ्गान्तर आदि अन्य स्वरूपों का परित्याग कर विक्षेपरहित स्वरूप से अवस्थित चैतन्य स्वरूप लिङ्ग की प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त अर्थज्ञानरूप सामग्री से पूजा करे ॥ ४-६ ॥

प्रारब्ध के प्रवाह से प्राप्त भोगों में स्थित, अशुद्धि के प्राप्त होनेपर भी बार-बार असङ्ग एवं विशुद्ध अपने ज्ञानस्वरूप स्नान से प्राप्त शुद्धि से युक्त पुरुष निरन्तर ज्ञानरूप पूजासामग्री से बोधात्मक लिङ्ग की पूजा करे ॥ ७ ॥

बाहर एवं भीतर सारे आकाश में व्याप्त अखण्डित और अद्वितीय आदित्यमण्डल की अपने में भावना कर सम्पूर्ण आकाशमण्डल में उदित अखण्डित तादृश चन्द्रमण्डल की भावना कर अपने में आदित्यमण्डल की भावना कल्पित विस्तृत अवयवसंस्थान से परिपूर्ण हृदय और बाह्य आकाश में देदीप्यमान, चन्द्रमण्ड की अपने में भावना करने कल्पित विस्तृत अपने अवयबसंस्थान से परिपूर्ण आकाश में चन्द्ररूप से उदित शिव की ध्यान करें ॥ ८ ॥

प्रतिभासपदार्थौघनित्यावगतसंविदम् ।
द्वारैर्वहन्तं शारीरैर्मुखे प्राणस्वरूपिणम् ॥ ९ ॥
रसीकृत्य रसं प्राणस्वान्तोदात्ततुरङ्गमम् ।
प्राणापानरथारूढं गूढमन्तर्गुहाशयम् ॥ १० ॥
ज्ञातारं ज्ञेयदृष्टीनां कर्तारं सर्वकर्मणाम् ।
भोक्तारं सर्वभोज्यानां स्मर्तारं सर्वसंविदाम् ॥ ११ ॥
सम्यक्संविदिताङ्गौघं भावाभावनभावितम् ।
आभासभास्वरं भूरि सर्वगं चिन्तयेच्छिवम् ॥ १२ ॥
निष्कलं सकलञ्चैव देहस्थं व्योमचारिणम् ।
अरञ्जितं रञ्जितं च नित्यमङ्गाङ्गसंविदम् ॥ १३ ॥
मनोमननशक्तिस्थं प्राणापानान्तरोदितम् ।
हृत्कण्ठतालुमध्यस्थं भ्रूनासापुटपीठगम् ॥ १४ ॥

बाह्य एवं आभ्यान्तर बुद्धिवृत्तिरूप प्रतिभासों और उनसे प्रतिभासित पदार्थसमूहों में अनुस्यूतरूप से निरन्तर अनुभूत संविदात्मक ज्ञानरूप, शरीर के मुख आदि द्वारों से बाहर विषय-प्रदेशों में अपने आभासों को प्राप्त कराने वाले, मुख में प्राणस्वरूप शिव का ध्यान करें ॥ ९ ॥

शब्द आदि विषयों को अपने आनन्दरूपी रस से ही मधुर बनाकर स्वाद ले रहे, प्राण एवं मन रूपी दो उत्कृष्ट घोड़ों से युक्त, प्राण एवं अपानरूपी रथ पर आरूढ़, अन्दर से अत्यन्त गूढ़, हृदयरूपी गुहा में अवस्थित शिव का ध्यान करें ॥ १० ॥

ज्ञातव्य ज्ञानों के ज्ञाता, सम्पूर्ण कर्मों के कर्ता, सम्पूर्ण भोज्य पदार्थों के भोक्ता और समस्त ज्ञानों के स्मर्ता ध्यान करें ॥ ११ ॥

सम्पूर्ण अङ्गसमूहों का भली प्रकार ज्ञान सम्पन्न विषयों की भावना और अभावना से लक्षित सम्पूर्ण प्रकाशों से भी अधिक प्रकाशरूप तथा सर्वव्यापी परम शिव का ध्यान करें ॥ १२ ॥

परमार्थतः कलाशून्य और व्यवहारतः कला से युक्त, देह-स्थित, हृदयाकाश में विचरणशील, परमार्थतः राग-शून्य और व्यवहारतः सराग तथा निरन्तर अङ्ग-प्रत्यङ्ग-व्यापी बोधस्वरूप शिव का ध्यान करें ॥ १३ ॥

मन की मननात्मिका शक्ति में अवस्थित प्राण एवं अपान के मध्य में उदित हृदय, कण्ठ और तालु के मध्य में अवस्थित तथा भौं और नाक के अग्रभागरूप पीठपर आसीन बोधरूप शिव का ध्यान करें ॥ १४ ॥

शैवशास्त्र में प्रसिद्ध छत्तीस तत्त्वों के चरमस्थान में अन्तिम कोटि में स्थित काली, रौद्री, कलविकरणी आदि

षट्त्रिंशत्पदकोटिस्थमुन्मन्यन्तदशातिगम् ।
कुर्वन्तमन्तःशब्दादींश्चोदयन्तं मनःखगम् ॥ १५ ॥
विकल्पिन्यविकल्पे च द्विविधे वाक्पथे स्थितम् ।
तिले तैलमिवाऽङ्गेषु सर्वेष्वेवाऽन्तरं स्थितम् ॥ १६ ॥
कलाकलङ्करहितं कठिनं च कलागणैः ।
एकदेशे सुहृत्पद्मे सर्वदेहे च संस्थितम् ॥ १७ ॥
चिन्मात्रममलाभासं कलाकलनकल्पनम् ।
प्रत्यक्षदृश्यं सर्वत्र स्वानुभूतिमयात्मकम् ॥ १८ ॥
प्रत्यक्चेतनमात्मीयमर्थित्वेन पुनः स्थितम् ।
पदार्थानामुपेत्याऽऽशु क्षणाद् द्वित्वमिवाऽऽगतम् ॥ १९॥
सहस्तपादावयवः सकेशनखदन्तकः ।
स्वदेहसंविदाभासो देवोऽयमिति भावयेत् ॥ २० ॥

शक्तियों के विभाग में मनोन्मनी-नामक शक्ति की अन्त-दशा को भी लाँघकर अवस्थित शिवयोग में प्रसिद्ध सबीज समाधिरूप उन्मन्यन्त-दशा को पार कर अवस्थित निर्बीज समाधिरूप भीतर शब्द आदि विषयों को उत्पन्न करने वाला और मनरूपी पक्षी को प्रेरित करने वाले उस बोधरूप शिव का ध्यान करें ॥ १५ ॥

व्यवहाररूप विकल्पदशा में वाच्यरूप तथा निर्बीज समाधि और मोक्षदशा में लक्ष्यरूप दो प्रकार के शब्द मार्गों में स्थित तिल में तेल की तरह सभी अङ्गों के अन्दर अवस्थित उस बोधात्मक शिव का ध्यान करें ॥ १६ ॥

कलाओं की कल्पनाओं से शून्य और स्थूलदेहरूप से परिणत भूत मात्राओं से कठिन मूर्त स्वरूप देह के एकदेश भूत सुन्दर हृदय-कमल में और सम्पूर्ण देह में स्थित उस बोधलिङ्ग का चिन्तन करें ॥ १७ ॥

चैतन्यमात्रस्वरूप और निर्मल आभासस्वरूप अध्यास-रूप विकल्पों का अधिष्ठान सर्वत्र प्रत्यक्ष-दृश्य तथा अपने अनुभव का स्वरूप उस बोधरूप लिङ्ग की उपासना करें ॥ १८ ॥

स्वकीय प्रत्यगात्मस्वरूप अपना स्वरूप भूल जाने के कारण भोगार्थिरूप स्थित और स्वयं ही अपने से अतिरिक्त पदार्थों का वेष-धारण कर शीघ्र अपने संकेत से ही द्वित्व प्राप्तकर स्थित ऐसे बोध शिव का ध्यान करें ॥ १९ ॥

हाथ, पैर, आदि अवयवों से युक्त केश, नख एवं दाँतों से समलङ्कृत और स्वदेहसंवित्तिरूपी परिचायिका समन्वित परम शिवरूप आत्मदेव इस देव की उपासना करें ॥ २० ॥

विचित्राः शक्तयो बह्वचो नानाचारा मनोदृशाम् ।
उपासते माममिशं पत्न्यः कान्तमिवोत्तमम् ॥ २१ ॥
मनो मे द्वारपालोऽयं निवेदितजगत्त्रयः ।
चिन्तेयं मे प्रतीहारी द्वारस्था शुद्धरूपिणी ॥ २२ ॥
शक्तिर्ममात्मिका बुद्धिः क्रिया चैव वराङ्गना ।
ज्ञानानि च विचित्राणि भूषणान्यङ्गगानि मे ।
कर्मेन्द्रियाणि द्वाराणि बुद्धीन्द्रियगणैः सह ॥ २३ ॥
अयं सोऽहमनन्तात्मा व्यवच्छेदोज्झिताकृतिः ।
तिष्ठामि भरितैकात्मा पूर्णः सर्वाविपूरकः ॥ २४ ॥
इति देवीमुपाश्रित्य स्वच्छामात्मचमत्कृतिम् ।
देवत्वपरिपूर्णोऽन्तरदीनात्माऽवतिष्ठते ॥ २५ ॥
नाऽस्तमेति न चोदेति न तुष्यति न कुप्यति ।

बाह्येन्द्रियों की पृथक्-पृथक् व्यापारभूत, चित्र-विचित्र अनेक रूप, रस आदि का ग्रहण करने में सामर्थ्यरूप मेरी समस्त इन्द्रियों में शक्ति एवं प्राण देने वाले जीवात्मारूप देव की जैसे पत्नी अपने पति की सेवा करती है वैसे ही सेवा करें ॥ २१ ॥

तीनों लोक का वृतान्त विज्ञापित करने वाला मन मन ही देवस्वरूप मेरा द्वारपाल हैं और इस प्रकार बाह्यार्थविषयिणी चिन्ता ही द्वार पर स्थित सन्मात्रगोचर होने से शुद्धस्वरूपा अथवा परम विश्वसनीया मेरी अन्तः-पुर का प्रतिहारी है ॥ २२ ॥

अपनी तरह दूसरों के भी प्रेम की विषय ज्ञानशक्ति और प्राणशक्ति दो जीवात्मा की पत्नियाँ हैं। चित्र-विचित्र शास्त्रीय एवं लौकिक ज्ञान ही मेरे शरीरगत आभूषण हैं। बाह्य-प्रदेश में गमन की साधन ज्ञानेन्द्रिय-समूहों के साथ वाक् आदि कर्मेन्द्रियाँ ही मेरे घर के द्वार हैं ॥ २३ ॥

परिच्छेद शून्य आकारवाला, अनन्त स्वरूप, सम्पूर्ण पदार्थों से परिपूर्ण, अन्तर्यामी होने के कारण सब वस्तुओं का पूरक एवं अखण्ड अद्वितीयरूप होकर अपरोक्षरूप से प्रतीयमान मैं जीवात्मा ही शिवस्वरूप और मैं स्थित हूँ ॥ २४ ॥

इस प्रकार स्वच्छ और अलौकिक प्राक्तत्त्व का परिचय प्राप्तकर देवत्व से परिपूर्ण यह जीवात्मा भीतर खेद शून्य वस्तु स्वरूप होकर स्थित है ॥ २५ ॥

वह न तो अस्तिमित होता है और न उदित होता है। न तो वह सन्तुष्ट होता है और न क्रुद्ध ही होता है।

न तृप्तिं न क्षुधं याति नाऽभिवाञ्छति नोज्झति ॥ २६॥
समः समसमाचारः समाभासः समाकृतिः ।
सौम्यतामलमायातः समन्तात् सुन्दराशयः ॥ २७ ॥
अदेहमेक एवाऽसावव्युच्छिन्नमहामतिः ।
देवार्चनं करोत्येव दीर्घदीर्घमहर्निशम् ॥ २८ ॥
वित्तत्त्वचलितो देहो देवोऽस्य समुदाहृतः ॥ २९ ॥
यथाप्राप्तेन सर्वेण तमर्चयति वस्तुना ।
समया सर्वया बुद्धया चिन्मात्रं देवचित्परम् ॥ ३० ॥
यथाप्राप्तक्रमोत्थेन सर्वार्थेन समर्चयेत् ।
मनागपि न कर्तव्यो यत्नोऽत्राऽपूर्ववस्तुनि ॥ ३१ ॥
प्राप्तदेहतया नित्यं तथाऽर्थक्रियायाऽनया ।
कामसंसेवनेनाऽथ पूजयेच्छोभनं विभुम् ॥ ३२ ॥

न तो वह तृप्ति को प्राप्त होता है और न क्षुधित ही होता है। न कुछ वह चाहता है और न कुछ छोड़ता ही है ॥ २६ ॥

भीतर सम और बाहर जीवन्मुक्तों के समान आकार वाला, सब प्राणियों के चित्त में एक रूप से अवभासमान, निर्विकार होने से सर्वदा समान आकृति से युक्त जीवन्मुक्त-दशा को प्राप्त चारों ओर सुन्दर आश्रय से शोभित देवपूजा ही करता रहता है ॥ २७ ॥

अद्वितीय यह जीवात्मा देवपात पर्यन्त अखण्ड तत्त्व-ज्ञान से युक्त चिरकाल तक रात-दिन यह देव-पूजन ही करता रहता है ॥ २८ ॥

चैतन्य तत्त्व से परिचालित शरीर ही इसका देव है ॥ २९ ॥

अनायास प्राप्त सम्पूर्ण ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान रूप वस्तु से रागादि शून्य एवं सम्पूर्ण इन्द्रियों से जन्य ज्ञान के द्वारा इन्द्रियों की वृत्तियों में प्रतिबिम्बत चैतन्य से उसके बिम्बभूत चैतन्यमात्ररूप उस देव की जीवात्मा पूजा करता है ॥ ३० ॥

यथा प्राप्त व्यापारों से सिद्ध बाह्य एवं आभ्यन्तर वस्तुओं से उसकी भलीभाँति पूजा करनी चाहिए। इस अपूर्व देवपूजा में किंचित् भी प्रयत्न नहीं करना चाहिए ॥ ३१ ॥

प्राप्त हुए अपने शरीर के लिए उचित शास्त्रानुसार व्यवहारों से और देह-धारण के निमित्तभूत अन्न-पान आदि सेवन से उस सुन्दर व्यापक आत्मदेव की नित्य पूजा करनी चाहिए ॥ ३२ ॥

भक्ष्यभोज्यान्नपानेन नानाविभवशालिना ।
शयनासनयानेन यथाप्तेनाऽर्चयेच्छिवम् ॥ ३३ ॥
कान्तान्नपानसंभोगसंभारादिविलासिना ।
सुखेन सर्वरूपेण संबुद्ध्याऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ ३४ ॥
आधिव्याधिपरीतेन मोहसंरम्भशालिना ।
सर्वोपद्रवदुःखेन प्राप्तेनाऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ ३५ ॥
समस्तैश्च समस्तानां चेष्टानां जगतः स्थितेः ।
मृतिजीवितस्वप्नाद्यैः प्राप्तैरात्मानमर्चयेत् ॥ ३६ ॥
दारिद्र्येणाऽथ राज्येन प्रवाहपतितात्मना ।
विचित्रचेष्टापुष्पेण शुद्धात्मानं समर्चयेत् ॥ ३७ ॥
नानाकलहकल्लोलललनोल्लासशालिना ।
रागद्वेषविलासेन सौम्यमात्मानमर्चयेत् ॥ ३८ ॥
सतां हृदयगामिन्या रूढया शशिशीतया ।

यथा प्राप्त अर्थात् सप्राप्त भक्ष्य, भोज्य और अन्न-पान से तथा विविध ऐश्वर्य से युक्त शयन, आसन एवं सवारी से उस शिव की पूजा करनी चाहिए ॥ ३३ ॥

कान्ता, अन्न-पान, आदि संभोग-सामग्री के विलास से युक्त सब प्रकार के सुखों से आत्मा को यथार्थरूप से जानकर उसकी पूजा करनी चाहिए ॥ ३४ ॥

यथा प्राप्त आधियों एवं व्याधियों से व्याप्त, मोह तथा क्रोध से परिपूर्ण समस्त उपद्रवों एवं दुःखों से उस आत्मदेव की पूजा करनी चाहिए ॥ ३५ ॥

यथाप्राप्त जगत्सम्बन्धी समस्त चेष्टाओं के फलों से जीवन, मरण और स्वप्न आदि से उस आत्मदेव की पूजा करनी चाहिए ॥ ३६ ॥

प्रवाहपतितस्वरूप दरिद्रता अथवा राज्य से और चित्र-विचित्र चेष्टारूप फूलों से विशुद्धस्वरूप उस आत्म-देव की पूजा करनी चाहिए ॥ ३७ ॥

विविध प्रकार के कलहों के तरङ्गों एवं कामिनियों के उल्लासों से शोभित राग और द्वेष के विलास से उस सौम्य आत्मदेव की पूजा करनी चाहिए ॥ ३८ ॥

तब क्या कलह करने में भी तत्पर होना चाहिए ? इसपर नहीं, ऐसा कहते हैं—'सताम्' इत्यादि से ।

सज्जनों के हृदय में रहनेवाली, चन्द्रमा की तरह शीतल, मधुरस्वभाव रूढ़ मैत्री से हृदय-प्रदेश में स्थित उस आत्मदेव की पूजा करे ॥ ३९ ॥

कलह आदि के न होने में उपाय बतलाते हैं—'उपेक्षया' इत्यादि से ।

मैत्र्या माधुर्यधर्मिण्या हृत्स्थमात्मानमर्चयेत् ॥ ३९ ॥
उपेक्षया करुणया सदा मुदितया हृदि ।
शुद्धया शक्तिपद्धत्या बोधेनाऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ ४० ॥
आकस्मिकोपयातेन स्थितेनाऽनियतेन च ।
भोगाभोगैकभोगेन प्राप्तेनाऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ ४१ ॥
भोगानामनिषिद्धानां निषिद्धानां च सर्वदा ।
त्यागेन वाऽतिरागेण स्वात्मानं शुद्धमर्चयेत् ॥ ४२ ॥
ईहितानीहितौघेन युक्तायुक्तमयात्मना ।
त्यक्तेनाऽऽत्तेन चाऽर्थेन ह्यर्थानामीशमर्चयेत् ॥ ४३ ॥
नष्टं नष्टमुपेक्षेत प्राप्तं प्राप्तमुपाहरेत् ।
निर्विकारतयैतद्धि परमार्चनमात्मनः ॥ ४४ ॥
सर्वदैव समग्रासु चेष्टानिष्टासु दृष्टिषु ।
परमं साम्यमाधाय नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ ४५ ॥

उपेक्षा से, दया से, हृदय में नित्य प्रसन्नता से, शुद्ध क्रोधादि के निग्रह की सामर्थ्य-पद्धति से और ज्ञान से उस आत्मदेव की पूजा करे ॥ ४० ॥

इसी प्रकार विषय-भोगों में लम्पट भी न होना चाहिए, इस आशय से कहते है—'आकस्मिको०' इत्यादि से ।

निर्निमित्त प्राप्त और अनियत स्थित भोग-समूहों के बीच प्राप्त हुए किसी एक के किसी समय के भोग से आत्मदेव की पूजा करे ॥ ४१ ॥

शास्त्र से अनिषिद्ध और निषिद्ध भोगों के सर्वदा त्याग से अथवा कहीं अनिषिद्ध भोगों में राग से शुद्ध-स्वरूप अपने आत्मदेव की पूजा करे [यहाँपर पहला पक्ष मुख्य है और दूसरा पक्ष गौण है, यह जाना चाहिए ।] ॥ ४२ ॥

अयुक्तात्मा से छोड़े गये और युक्तात्मा से ग्रहण किये गये इष्ट-अनिष्टसमूहरूप विषयों से विषयों के भोक्ता उस आत्मदेव की पूजा करें ॥ ४३ ॥

अब मुख्यपूजा का सार बतलाते हैं—'नष्टम्' इत्यादि से ।

नष्ट पदार्थ तो नष्ट ही है, अतः उसकी अपेक्षा करे यानी उसका सोच न करे । और प्राप्त पदार्थ प्राप्त ही है, अतः उसका ग्रहण करे । महर्षे, निर्विकार होकर ऐसा करना ही आत्मदेव की पूजा है [यह तुम जानो] ॥ ४४ ॥

सम्पूर्ण इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थों में सर्वदा ही परम समानता का आश्रयण कर निरन्तर आत्म-पूजारूप व्रत करना चाहिए ॥ ४५ ॥

सर्वं विन्देत सुशुभं सर्वं विद्याच्छुभाशुभम् ।
सर्वमात्ममयं कुर्यान्नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ ४६ ॥
आपातरमणीयं यद्यच्चाऽऽपातसुदुःसहम् ।
तत्सर्वं सुसमं बुद्ध्वा नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ ४७ ॥
अयं सोऽहमयं नाऽहं विभागमिति संत्यजेत् ।
सर्वं ब्रह्मेति निश्चित्य नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ ४८ ॥
सर्वदा सर्वरूपेण सर्वाकारविकारिणा ।
सर्वं सर्वप्रकारेण प्राप्तेनाऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ ४९ ॥
अनीहितं परित्यज्य परित्यज्य तथेहितम् ।
उभयाश्रयणेनाऽपि नित्यमात्मानमर्चयेत् ॥ ५० ॥
न वाञ्छता न त्यजता दैवप्राप्ताः स्वभावतः ।
सरितः सागरेणेव भोक्तव्या भोगभूमयः ॥ ५१ ॥
उद्वेगो नाऽनुगन्तव्यस्तुच्छातुच्छासु दृष्टिषु ।

'यह जगत् ब्रह्मरूप ही है' इस दृष्टि से सब पदार्थ शुभ ही हैं, यों जानना चाहिए। ब्रह्मसंवलित मायारूपता दृष्टि से तो सब शुभाशुभसंमिश्र है, यों जानना चाहिए। इस प्रकार दोनों ही तरह से समता होने के कारण वैषम्यदर्शन का कोई कारण न होने से 'यह सब आत्ममय है अथवा आत्मप्रचुर है' यों भावना करनी चाहिए। इस प्रकार सदा आत्म-पूजारूप व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए ॥ ४६ ॥

जो आपाततः (ऊपर-ऊपर से यानी दृष्टिमात्र से) रमणीय (सुख या सुखसाधन) प्रतीत होता हो और जो आपाततः सुदुःसह (दुःखरूप या दुःखसाधन) प्रतीत होता हो, उन सबको उक्त रीति से भलीप्रकार समानरूप जानकर निरन्तर आत्म-पूजास्वरूप व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए ॥ ४७ ॥

'यह वही मैं हूँ' और 'यह मैं नहीं हूँ' इस प्रकार के भेद को छोड़ देना चाहिए तथा 'यह सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार निश्चय कर निरन्तर आत्म-पूजारूप व्रत का करना चाहिए ॥ ४८ ॥

यथाप्राप्त सब तरह के आकाररूप विकारों से युक्त सभी प्रकारों एवं समस्त रूप और नामों से सर्वात्मक उस आत्मदेव का सदा पूजन करना चाहिए ॥ ४९ ॥

अभिलषित वस्तु का परित्याग कर और अनभिलषित वस्तु का परित्याग कर एवं 'सभी आत्ममात्ररूप हैं' इस बुद्धि से उन दोनों को स्वीकार कर नित्य आत्मदेव की पूजा करनी चाहिए ॥ ५० ॥

अप्राप्त वस्तु की इच्छा न कर और प्राप्त वस्तु को न छोड़ स्वभावतः दैव से प्राप्त सुख-दुःख के हेतुभूत विषयों का अविकृत होकर वैसे ही उपभोग करें, जैसे अविकृत होकर समुद्र नदियों का उपभोग करता है ॥५१॥

व्योम्ना चित्रपदार्थेषु पतितो ह्याततेष्विव ॥ ५२ ॥
देशकालक्रियायोगाद्यदुपैति शुभाशुभम् ।
अविकारं गृहीतेन तेनैवाऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ ५३ ॥
आत्मार्चनविधानेऽस्मिन् प्रोक्ता द्रव्यश्रियस्तु याः ।
एकेनैव समेनैता रसेन परिभाविताः ॥ ५४ ॥
नाऽम्ला न कटव्यो नो तिक्ता न कषायाश्च काश्चन ।
चित्रैरपि रसैर्दिग्धा मधुरा एव ताः किल ॥ ५५ ॥
समतामधुरा रस्या रसशक्तिरतीन्द्रिया ।
तया यद्भावितं चेत्यममृतं तत्क्षणाद्भवेत् ॥ ५६ ॥
समतामृतरूपेण यद्यन्नाम विभाव्यते ।
तत्तदायाति माधुर्यं परमिन्दोरिव च्युतम् ॥ ५७ ॥
समताकाशवद्भूत्वा यत्तु स्याल्लीनमानसम् ।
अविकारमनायासं तदेवाऽर्चनमुच्यते ॥ ५८ ॥

अपमान आदि की तथा अतुच्छ वध, बन्ध, सर्वस्व-नाश आदि की परिस्थितियों में प्रसक्त उद्वेग को पुरुष वैसे ही प्राप्त न करे जैसे चिरकाल से अनुवृत्त सरल, टेढ़े, शीत, दाह आदि चित्र-विचित्र पदार्थों में आकाश उद्वेग को प्राप्त नहीं करता है ॥ ५२ ॥

देश, काल और कर्म के सम्बन्ध से शुभ या अशुभ जो भी वस्तु प्राप्त हो किसी प्रकार की विकृति बिना गृहीत उसी वस्तु से आत्मदेव का पूजन करे ॥ ५३ ॥

इस आत्म-पूजा के विधान में जो द्रव्य सम्पित्तियाँ बतलाई गई हैं, वे सब एकमात्र समतारूप रस से भरी जाने पर न कोई खट्टी होती है और न कड़वी होती हैं; न तिक्त होती हैं और न कसैली ही होती हैं। परस्पर विरुद्ध चित्र-विचित्र रसों से भरी हुई भी वे मधुररसवती ही हो जाती है ॥ ५४-५५ ॥

रसशक्ति प्रदर्शित आत्मा समता से मधुर है, आस्वादन करने योग्य है और अतीन्द्रिय है। उससे भावितचेत्य तत्क्षण ही अमृततुल्य मधुर हो जायगा ॥ ५६ ॥

समतारूप अमृत से भावित सभी वस्तु चन्द्रमा से टपके हुए अमृत की तरह परम मधुरता को प्राप्त होती है ॥ ५७ ॥

ब्रह्मैक्यदर्शनस्वरूप समता से स्वयं आकाश की तरह निर्विकार मन के लयपूर्वक अनायास अवस्थिति ही मुख्य देवार्चन कही जाती है ॥ ५८ ॥

पूर्णेन्दुनेव पूर्णेन भाव्यं समसमत्विषा ।
स्वच्छेन चिद्घनैकेन ज्ञेनाऽप्युपलरूपिणा ॥ ५९ ॥
अन्तराकाशविशदो बहिःप्रकृतकार्यकृत् ।
रञ्जनामिहिकामुक्तः सम्पूर्णो ज्ञ उपासकः ॥ ६० ॥
स्वप्नेऽप्यदृष्टहृल्लेखमज्ञानाभ्रपरिक्षये ।
शान्ताहन्तादिमिहिकं ज्ञः शरद्व्योम राजते ॥ ६१ ॥
सोमार्कमस्तमितमानसमातृमेयं
सद्यःप्रसूतशिशुवेदनवद्वितानम् ।
पश्यन् प्रशान्तमति चेतनचित्तबीजं
जीवन्ननुत्तमपदस्थित एव तिष्ठ ॥ ६२ ॥
देशकालकरणक्रमोदितैः सर्ववस्तुसुखदुःखविभ्रमैः ।
नित्यमर्चय शरीरनायकं तिष्ठशान्तसकलेहया धिया॥६३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
देवार्चनविधिर्नाम एकोनचत्वारिंः सर्गः ॥ ३९ ॥

चैतन्यमात्रस्वरूप, अद्वितीय ज्ञानी को भी पूर्ण चन्द्र की तरह परिपूर्ण, समता से समान प्रकाश युक्त; स्वच्छ और स्फटिकशिला की तरह निर्मल एवं दृढ़ होना चाहिए ॥ ५९ ॥

भीतर आकाश की तरह विशाल और बाहर प्राकृत कार्यों को सम्पन्न करने वाला रञ्जनारूप हिम मुक्त एवं पूर्ण तत्वज्ञ वही मेरा मुख्य पूजक है ॥ ६० ॥

अज्ञानरूप मेघों के नष्ट होने पर स्वप्न में भी देखने वाला काम आदि नहीं तथा जिसका अहन्तारूप कुहरा शान्त है, वह तत्वज्ञ शरदकालीन आकाश की तरह शोभित होता है ॥ ६१ ॥

आनन्दामृत से परिपूर्ण स्वयं चन्द्रमारूप जो अपने निष्कलङ्क प्रकाश के आधिक्य से सूर्य हो गया है, जिसमें मनोवृत्ति प्रमा, प्रमाता और प्रमेय—यह भेद चला गया है, तत्क्षण उत्पन्न हुए बालक के ज्ञान की तरह विकल्प विस्तार से शून्य, चिदाभास एवं चेतन के मूलभूत उस स्वात्मशिव को प्रशान्त चित्तपूर्वक देखते हुए तुम अत्युत्तम जीवनमुक्त-पद में स्थित होकर उसी रूप से अवस्थित हो जाओ ॥ ६२ ॥

देश, काल और पुरुषव्यापारों के क्रमों से उत्पन्न सम्पूर्ण वस्तुओं के सुख-दुःखात्मक विलासों से शरीर के अधिपति इस आत्मदेव की पूजा करो और जिससे सम्पूर्ण मनोरथ चले गये हैं, ऐसी बुद्धि से उपलक्षित होकर स्थित हो जाओ ॥ ६३ ॥

इस प्रकार ऋषी-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के निर्वाणप्रकरण में देवार्चनविधि नामक कुसुमलता का उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३९ ॥

४०

ईश्वर उवाच

यथाकालं यथारम्भं न करोषि करोषि यत् ।
चिन्मात्रस्य शिवस्याऽन्तस्तदेवाऽर्चनमात्मनः ॥ १ ॥
तेनैवाऽऽह्लादमायाति याति प्रकटतां तथा ।
तथा स्थितेन रूपेण स्वेनैव स्वयमीश्वरः ॥ २ ॥
रागद्वेषादिशब्दार्था नाऽऽत्मन्यन्यतयाऽमले ।
संभवन्ति पृथग्रूपा वह्नौ वह्निकणा इव ॥ ३ ॥
यद्यद्राजत्वदीनत्वसुखदुःखादिवेदनम् ।
आत्मीयं परकीयं च तत्तदर्चनमात्मनः ॥ ४ ॥

४०

ईश्वर ने कहा—यथा समय और यथाशक्ति तुम जो भी कर्म करते हो या नहीं करते हो वह चैतन्यमात्र स्वरूप शिवात्मक आत्मा का अन्तः पूजन है ॥ १ ॥

उस पूजन से ही आत्मा अपने परमार्थिक निरतिशय आनन्दस्वरूप को प्राप्त करता है और स्व-स्वरूप से ही स्वयं यह ईश्वररूप जीवात्मा आविद्यक आवरणों का अभाव भी प्राप्त करता है ॥ २ ॥

निर्मल आत्मा में राग, द्वेष आदि शब्द और उनके अर्थ आत्मा से अर्थ आत्मा से अन्य होकर पृथक्-रूप से उस प्रकार नहीं रह सकते, जैसे अग्नि में वैसे ही अग्नि-कण नहीं रह सकते हैं ॥ ३ ॥

आत्मीय और परकीय, दरिद्रता, सुख, दुःख, प्यास आदि का जो-जो वेदनरूप समर्पण है, वह सब इस आत्म-देव का ही पूजन है ॥ ४ ॥

विश्वसंवित्तिरेवाऽर्चा नित्यस्याऽऽत्मन एव च ।
घटाद्यात्मतया ब्रह्म स्वयमात्मा तथैव च ॥ ५ ॥
शिवं शान्तमनाभासमेकं भास्वरमागतम् ।
जगत्प्रत्ययवत् सर्वमात्मरूपमिदं स्थितम् ॥ ६ ॥
अहो नु चित्रमात्मैव घटाद्यन्यद्व्यवस्थितम् ।
जीवादिस्वस्वभावोऽन्तर्नूनं विस्मृतिमानिव ॥ ७ ॥
सर्वात्मकस्याऽनन्तस्य शिवस्याऽन्तः किलाऽऽत्मनः ।
पूज्यपूजकपूजाख्यो विभ्रमः प्रोदितः कुतः ॥ ८ ॥
नियताकारशान्ते न च संभवतीश्वरे ।
यत्र सङ्कल्प्यते ब्रह्मन् ! पूज्यपूजामयः क्रमः ॥ ९ ॥
पूज्यपूजाद्यवच्छिन्नो देवो नित्यामलात्मनः ।
सर्वशक्तेरनन्तस्य नेश्वरत्वस्य भाजनम् ॥ १० ॥
त्रिजगत्प्रसृताच्छाच्छसंविद्रूपस्य चाऽऽत्मनः ।
नेश्वरस्याऽऽकृतेर्ब्रह्मन् व्यपदेशो हि युज्यते ॥ ११ ॥
देशकालपरिच्छिन्नो येषां स्यात् परमेश्वरः ।
अस्माकमुपदेश्यास्ते न विपश्चिद्विपश्चिताम् ॥ १२ ॥
तदीयां दृष्टिमुत्सृज्य तथेमामवलम्ब्य च ।
समः स्वच्छमनाः शान्तो वीतरागो निरामयः ॥ १३ ॥
कामोपहारैरभितो यथाप्राप्तैरखिन्नधीः ।
आत्मानमर्चयंस्तिष्ठ सुखदुःखशुभाशुभैः ॥ १४ ॥
अधिगतवति साधौ चैकमेवाऽनुरूपं
त्वयि तरलितजीवे जन्मदुःखादि किञ्चित् ।
न लगसि परिशून्ये सर्वतः स्फाटिकाङ्गे
नवसदन इवाङ्के निष्कलङ्के कलङ्कः ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे देवतातत्त्वविचारो नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

आकाश आदि स्वरूप एवं जाग्रत आदि स्वरूप विश्व का अध्यारोप है, वही शिवस्वरूप आत्मा तथा प्रत्यगात्मक का पूजन है, जैसे आकाशादि-क्रम से घटरूप होकर ब्रह्म उससे अलंकृत होता है, स्वयं प्रत्यगात्मा भी जाग्रत आदि क्रम से घटादिस्वरूप होकर उससे वैसे ही अलंकृत होता है ॥ ५ ॥

शिव, शान्त, अन्य से अप्रकाशित, स्वप्रकाश ब्रह्मरूप या प्रत्यगात्मरूप आत्मा ही जगत्-शब्दों से व्यवहृत है, जगद्रूपी यह समस्त प्रपञ्च उसी आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित तथा उसी की स्थिति से स्थित है ॥ ६ ॥

आश्चर्य की बात है कि प्रत्यगात्मा ही अपने भीतर का अपना वास्तव स्वरूप भूलकर और जीव आदि के स्वभावों को अपना स्वभाव समझकर घट, पट आदि जगत् के रूप में व्यस्थित है ॥ ७ ॥

सर्वस्वरूप, असीम, कल्याणमय आत्मा के भीतर पूज्य पूजक और पूजारूप परिच्छेदात्मक त्रिपुटी का विभ्रम कहाँ से आया ? ॥ ८ ॥

हे ब्रह्मन् ! परिच्छिन्न आकार वाली मूर्ति में पूज्य, पूजा आदि त्रिपुटी-क्रम की कल्पना कर उस मूर्ति आदि परिच्छिन्न आकृति से रहित ईश्वर में वह पूज्य, पूजा आदि का क्रम नहीं हो सकता है ॥ ९ ॥

पूज्य, पूजा आदि त्रिपुटी से युक्त देव सदा निर्मल-स्वरूप, समस्त शक्तियों से परिपूर्ण एवं अनन्त स्वरूप ईश्वर का आधार नहीं हो सकता है ॥ १० ॥

हे ब्रह्मन् तीनों जगत् में व्याप्त स्वच्छातिस्वच्छ संविद्रूपी आत्मस्वरूपता ईश्वर की आकृति वाणी से व्यवहार भी नहीं किया जा सकता है ॥ ११ ॥

हे विद्वन् ! देश, काल आदि से परिच्छिन्न ईश्वर को मनाने वाले विद्वान् है, हम लोगों के तत्वोपदेश के पात्र नहीं है ॥ १२ ॥

अज्ञानी की परिच्छिन्न दृष्टि का परित्याग कर और अपनी इस अपरिच्छिन्न दृष्टि का अवलम्बन कर सम, निर्मलमन, शान्त, वीताराग, स्वस्थ और खेदशून्य बुद्धि-युक्त होकर आप आत्मरूपी शिव की ध्यान करें ॥ १३ ॥

आप विधिवश प्राप्त सुख, दुःख, शुभ, आदि कामोप-भोगों से आत्मदेव करते हुए स्थिर रहो ॥ १४ ॥

सब अङ्गों में स्फटिकशिला तथा पास में चारों ओर नील, रक्त आदि दूसरी वस्तुओं से शून्य जैसे नवीन गृह में प्रतिबिम्ब या लेप दोनों तरह से नील आदि रङ्गों के कलङ्क नहीं लगते, वैसे ही शोधन के द्वारा देह से पृथक् जीव को अवगत करने वाले अमानित्व आदि गुणों से युक्त अनुरूप अद्वितीय अपने स्वरूप को पूज्य, पूजक आदि तत्व के विमर्श के साथ—पहचान लेने वाले, माया कलङ्क से वर्जित और सर्वतः माया के कार्यरूप प्रपञ्च से शून्य आप में जन्म आदि के कोई कलङ्क नहीं लगते हैं ॥ १५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में देवतातत्त्वविचार नामक कुसुमलता का चालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४० ॥

४१

वसिष्ठ उवाच

शिवः किमुच्यते देव ! परं ब्रह्म किमुच्यते ।
आत्मा किमुच्यते नाथ ! परमात्मा किमुच्यते ॥ १ ॥
तत्सत्किञ्चिन्न किञ्चिच्च शून्यं विज्ञानमेव च ।
इत्यादिभेदो भगवंस्त्रिलोकेश ! किमुच्यते ॥ २ ॥

ईश्वर उवाच

अनाद्यन्तमनाभासं सत्किञ्चिदिह विद्यते ।
इन्द्रियाणामगम्यत्वाद्यन्न किञ्चिदिव स्थितम् ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

यदिन्द्रियाणां बुद्ध्यादियुक्तानामप्यदृश्यताम् ।
गतं तत्कथमीशान ! त्वशङ्कैनोपगम्यते ॥ ४ ॥

ईश्वर उवाच

यो मुमुक्षुरविद्यांशः केवलो नाम सात्त्विकः ।
सात्त्विकैरेव सोऽविद्याभागैः शास्त्रादिनामभिः ॥ ५ ॥
अविद्यां श्रेष्ठया श्रेष्ठां क्षालयन्निह तिष्ठति ।
मलं मलेनाऽपहरन् युक्तिज्ञो रजको यथा ॥ ६ ॥

४१

वसिष्ठजी ने कहा—हे देव ! पूज्यतत्व स्पर्श नहीं करने पर 'शिव' यह नाम किस कारण से कहा जाता है एवं परब्रह्म इत्यादि शब्द भी किस कारण से कहे जाते हैं ! हे नाथ, आत्मा शब्द कैसे कहा जाता है और परमात्मा कैसे कहा जाता है ॥ १ ॥

हे त्रिलोकेश! हे भगवन्! 'ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।' इत्यादि व्यपदेशों में 'तत्', 'सत्', 'किञ्चित्', 'न किञ्चित्', 'शून्य' और विज्ञान आदि भेद एक दूसरे से एक दूसरे का भेद करने वाले प्रवृत्ति निमित्त अर्थों से युक्त नाम विशेष कैसे कहे जाते हैं ॥ २ ॥

आशय यह है कि 'सत्' नाम का प्रवृत्ति निमित्त सत् से भिन्न मानने की आवश्यकता नहीं है, 'सत्' नाम के अर्थ में अन्य किसी दूसरे व्यावर्त्य पदार्थ के प्रसिद्ध न होने से व्यावृत्ति की अपेक्षा ही नहीं है। सत् स्वयं ही असत् से व्यावृत्त होने के कारण प्रवृत्तिनिमित्त व्यावर्तक धर्म से व्यावृत्ति की अपेक्षा भी नहीं रखता है। अन्यथा अतः उस प्रवृत्तिनिमित्त की भी, असद्रूप सत् की व्यावृत्ति नहीं कर सकता है। सत्ता अवश्य माननी पड़ेगी, तुल्यन्याय से सद्रूप प्रवृत्तिनिमित्त में भी सत्शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त दूसरा कहना पड़ेगा, इस प्रकार उत्तरोत्तर में भी अन्य-अन्य प्रवृत्ति निमित्त के मानने पर अनवस्था दोष होगा।

'किञ्चित्' और 'न किञ्चित् शब्द भी इन्द्रियावेद्यार्थक हैं, इन्द्रियवेद्य धर्मों से उनका निर्देश नहीं हो सकता अतः व्यावृत्ति से निरपेक्ष उनकी इन्द्रियावेद्यरूप अर्थ में प्रवृत्ति हो सकती है। अव्यावृत्त और व्यावर्तक धर्म से शून्य शब्द अर्थबोध नहीं कराते हैं यह नहीं कह सकते हैं अव्यावृत्त एवं निर्धर्मक—इन शब्दों की बोधजनकता सर्वानुभवसिद्ध है। 'वहाँ निर्धर्मकत्व ही धर्म है और अव्यावृत्ति ही व्यावृत्तों से व्यावृत्त है यह कह नहीं सकते 'मेरी माँ बन्ध्या है' कहना वदतोव्याघात होगा। इसके समान ही यह शिव आदि शब्दों को भी निर्दोष, निरतिशय आनन्दस्वरूपमात्र में निमित्त निरपेक्ष ही प्रवृत्ति आनन्दस्वरूपप्रयुक्त ही शिव में दुःख आदि की व्यावृत्ति हो सकती है, नामभेदों में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है,

ईश्वर ने कहा—आदि और अन्त के परिच्छेदों से रहित अर्थात् पृथक्भूत प्रकाशान्तर की अपेक्षा से शून्य स्वयंज्योतिःस्वरूप सद्वस्तु अपनी महिमा में अपने आप विद्यमान है किञ्चित् शब्दाभिधेय है देश, काल, धर्म, जाति आदि दूसरों की अपेक्षा रखने वाली सत्ता और पराधीन व्यावृत्ति से स्थित नहीं वह इन्द्रियों की होने से इसलिए 'न किञ्चित्' शब्दाभिधेयरूप से भी है।। ३ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे ईशान ! जो बुद्धि आदि से युक्त बाह्य इन्द्रियों की दृष्टि के बाहर उस परम ब्रह्म का उपाय के असंभव की आशंका से रहित अधिकारी द्वारा कैसे साक्षात्कार किया जाता है ! बुद्धि से भी गम्य न होने से उसके परिज्ञान में कोई उपाय नहीं है, अतः उस ब्राह्म का सद्रूप होने पर भी परिज्ञान कैसे होगा ॥ ४ ॥

ईश्वर ने कहा—मोक्ष की इच्छा रखनेवाला मनःस्वरूप, शम, दम आदि साधन से परिशुद्ध होने के कारण केवल सात्त्विक अविद्यांश— सच्छास्त्र, सद्गुरु और सत्सङ्ग आदि नामधारी सात्त्विक अविद्या-विभागों से सम्पादित श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से लेकर साक्षात्कार पर्यन्त अपनी वृत्ति-परम्परा से अनेक जन्मों के संचित यज्ञ, दान आदि सुकृतों का संभार के कारण श्रेष्ठ स्वकार्य स्वरूप अविद्या का क्षालन कर—इस संसार में चिरकाल तक वैसे ही स्थित है, जैसे कपड़ा धोने अत्यन्त कुशल धोबी मल से मल का अपहरण कपड़ों को साफ कर संसार में स्थित रहता है अर्थात् शुद्ध सात्त्विक ब्रह्माकार वृत्ति अविद्या का आवरण दूर करती है। अविद्या का आवरण हट जाने पर स्वप्रकाश स्वरूप ब्रह्म तत्त्वतः प्रकाशित

काकतालीयवत्पश्चादविद्याक्षय आगते ।
प्रपश्यत्यात्मनैवाऽऽत्मा स्वभावस्यैष निश्चयः ॥ ७ ॥
यथाकथञ्चिदङ्गारे निघृष्य क्षालयञ्छिशुः ।
करनैर्मल्यमाप्नोति कार्ष्ण्याङ्गारक्षये यथा ॥ ८ ॥
यथाकथञ्चिच्छास्त्राद्यैर्भागैर्भागं विचारयेत् ।
सात्त्विकस्तामसो भागो द्वयोरात्मोदयस्तथा ॥ ९ ॥
पश्यत्यात्मानमात्मैव विचारयति चाऽऽत्मना ।
आत्मैवेहाऽस्ति नाऽविद्या इत्यविद्याक्षयं विदुः ॥ १० ॥
यावत्किञ्चिदिदं वस्तु नाना नाऽऽत्माऽवगम्यताम् ।
क्रमा गुरूपदेशाद्या नाऽऽत्मज्ञानस्य कारणम् ॥ ११ ॥
गुरुर्हीन्द्रियवृत्तात्मा ब्रह्म सर्वेन्द्रियक्षयात् ।

हो जाता है। इसका यही साक्षात्कार है, बुद्धिवृत्ति में अभिव्यक्त चिद्व्याप्तिरूप साक्षात्कार नहीं है ।। ५–६ ॥

चिरकाल तक अभ्यास करने के कारण, ककतालीय न्याय की तरह भाग्य के परिपाक से उत्पन्न पूर्णब्रह्माकार-वृत्ति से अविद्या का निःशेष उच्छेद हो जाने पर आवरण शून्य आत्मा स्वयं ही अपना स्वरूप देखने लगता है परमार्थिक अपने प्रकाश स्वरूप स्वभाव में अवस्थित हो जाता है। आत्मा के स्वभाव का स्वप्रकाश स्वरूप से परिशेष रहना ही—असंदिग्ध और अविपर्यस्त साक्षात्कार है ॥ ७ ॥

कोयले के दो टुकड़ों को लेकर बालक, जो एक दूसरे को परस्पर घिसकर खेल खेलने का अभ्यासी है, खिलवाड़ करता हुआ उन दोनों कोयलों के नष्ट न होने तक हाथ कर दिये जाने पर भी बार-बार उसे घिसते रहने से हाथ की निर्मलता प्राप्त नहीं होती, परन्तु यथा-कथञ्चित् घिसने से उत्पन्न हुई धूलि परम्परारूप कालिमा के साथ-साथ उन कोयलों के नष्ट हो जाने पर तो हाथ साफ करता हुआ वही (लड़का)—फिर दूसरे कोयलों के न मिलने से—अपने आप हुई हाथ की निर्मलता स्वतः ही प्राप्त होती है ॥ ८ ॥

सात्त्विक और तामस अविद्याभाग अपने सहायक स्वरूप दूसरे शास्त्र आदि भागों से यथाकथञ्चित् यदि आत्मा स्वरूप का विचार करें, तो दोनों भागों का नाश और निर्मल आत्मस्वरूप की प्राप्ति सिद्ध हो सकती है ॥९॥

आत्मा ही आत्मा को देखता है और आत्मारूप से उसका विचार करता है। इस संसार में एकमात्र आत्मा ही विद्यमान है, न कि अविद्या, इसे ही अविद्या का क्षय कहते हैं ॥ १० ॥

यद्वस्तु यत्क्षये प्राप्यं तत्तस्मिन् सति नाऽऽप्यते ॥ १२ ॥
अकारणान्यपि प्राप्ता भृशं कारणतां द्विज ! ।
क्रमा गुरूपदेशाद्या आत्मज्ञानस्य सिद्धये ॥ १३ ॥
क्रमे गुरूपदेशानां प्रवृत्ते शिष्यबोधतः ।
अनिर्देश्योऽप्यदृश्योऽपि स्वयमात्मा प्रसीदति ॥ १४ ॥
शास्त्रार्थैर्बुध्यते नाऽऽत्मा गुरोर्वचनतो न च ।
बुध्यते स्वयमेवैष स्वबोधवशतस्ततः ॥ १५ ॥
गुरूपदेशशास्त्रार्थैर्विना चाऽऽत्मा न बुध्यते ।
एतत्संयोगसत्तैव स्वात्मज्ञानप्रकाशिनी ॥ १६ ॥
गुरुशास्त्रार्थशिष्याणां चिरसंयोगसत्तया ।
अहनीव जनाचार आत्मज्ञानं प्रवर्तते ॥ १७ ॥

जो कुछ यह अनेक वस्तु है, इसे आप आत्मा न समझें और न इन गुरूपदेश आद क्रमों को आत्मज्ञान में कारण भी न समझें ॥ ११ ॥

क्योंकि इन्द्रियोंसे घटित पुर्यष्टक स्वरूप गुरु है और ब्रह्म तो सम्पूर्ण इन्द्रियों के क्षय से प्राप्य है। जिसका नाश होने पर जो वस्तु प्राप्त होती है, वह वस्तु उसके उपस्थित रहने पर कभी प्राप्त नहीं हो सकती है ॥ १२ ॥

हे द्विज ! गले में धारण किये हुए विस्मृत हार की, पुनः किसी अन्य के द्वारा सूचना दिये जाने पर प्राप्ति की तरह आत्मज्ञान के लाभ के लिए गुरु के उपदेश आदि क्रम कारणरूप न होते हुए भी अत्यन्त कारणता को प्राप्त हो गये हैं। आशय यह है कि गले से हार पहन कर विस्मृति से हार को इधर-उधर खोजता है और कोई यह कहता है कि हार तो आपके गलेमें ही है प्राप्त भी अप्राप्त के समान होने पर पुनः प्राप्त की तरह होती है। यही आत्मज्ञान की स्थिति है ॥ १३ ॥

गुरूपदेशों का क्रम प्रवृत्त हो जाने पर अनिर्देश्य और अदृश्य भी आत्मा शिष्य को बोध हो जाने से स्वयं अभिव्यक्त हो जाता है ॥ १४ ॥

न शास्त्रार्थों से और न गुरु के वचनों से ही यह आत्मा अवगत होता है, किन्तु यह स्वयं ही अपने बोध से जाना जाता है ॥ १५ ॥

गुरु के उपदेशों और शास्त्रार्थों के बिना यह आत्मा अवगत नहीं होता है क्योंकि इन सबके संयोग की सत्ता ही स्वात्मज्ञान की प्रकाशिका है ॥ १६ ॥

गुरु, शास्त्रार्थ और शिष्यों के चिर संयोग की सत्ता से, दिनों में लोगों के आचार की तरह आत्मज्ञान प्रवृत्त होता है ॥ १७ ॥

कर्मबुद्धीन्द्रियाद्यन्तसुखदुःखादिसंक्षये ।
शिव आत्मेति कथितस्तत्सदित्यादिनामभिः ॥ १८ ॥
यत्रेदमखिलं नाऽस्ति तद्रूपेणैव चाऽस्ति वा ।
तदाकाशादच्छतरमनन्तं सदिवाऽस्ति हि ॥ १९ ॥
अविश्रान्ततया यत्र तनुविद्यैर्मुमुक्षुभिः ।
विचित्रशुद्धमननकलङ्ककलितात्मभिः ॥ २० ॥
अदूर एव तिष्ठद्भिर्जीवन्मुक्तस्य दृक्पथे ।
मोक्षोपासकबोधाय शास्त्रार्थरचनाय च ॥ २१ ॥
ब्रह्मेन्द्ररुद्रप्रमुखैर्लोकपालैः सुपण्डितैः ।
पुराणवेदसिद्धान्तसिद्धये भावितात्मभिः ॥ २२ ॥
चिद्ब्रह्म शिव आत्मेशपरमात्मेश्वरादिका ।
एतस्मिन् कल्पिता संज्ञा निःसंज्ञे पृथगीश्वरे ॥ २३ ॥
एवमेतज्जगत्तत्त्वं स्वं तत्त्वं शिवनामकम् ।
सर्वथा सर्वदा सर्वसर्वं यत्सुखमास्व भोः ॥ २४ ॥

'तत्', 'सत्' इत्यादि नामों से कर्मेन्द्रिय, बुद्धीन्द्रिय आदि का नाश तथा सुख, दुःख आदि का क्षय होने पर शिव स्वरूप आत्मा ही कहा गया है ॥ १८ ॥

बाध काल में यह सम्पूर्ण जगत् जहाँ विद्यमान नहीं रहता और आरोप-काल में तद्रूप से विद्यमान रहता है, व्यावहारिक सत् से विलक्षण वह अधिष्ठान तत्त्व है। अतः सत् की तरह त्रिकाल में विद्यमान वह आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ और अनन्त है ॥ १९ ॥

परमार्थ स्वरूप में विश्रान्त न होने के कारण अल्पज्ञानी, अधिकारी जीवों को सांसारिक बन्धनों से छुड़ाने की चाह रखने वाले, विचित्र जगत् और शुद्ध तत्त्व के मनन रूप कलङ्क से युक्त मन वाले और परमार्थ के समीपवर्ती जीवन्मुक्त के दृष्टि-पथ में स्थित हो रहे विशुद्ध अन्तःकरण वाले महा पण्डित मुमुक्षु लोकपाल प्रमुख ब्रह्मा, इन्द्र और रुद्र मोक्ष के लिए उपासना करने वाले अपने भक्तों के बोध के लिए, शास्त्रार्थ की रचना के लिए तत्त्व और तत्त्वज्ञान के उपायों का भली-भाँति उत्पादन करने वाले पुराण, वेद और भगवान् वेदव्यास के सूत्रों की सार्थकता के लिए बिना संज्ञावाले इस ईश्वर में चिद्, ब्रह्म, शिव, आत्मा, ईश, परमात्मा और ईश्वर आदि पृथक्-पृथक् संज्ञाओं की कल्पना कर रक्खी है ॥ २०–२३ ॥

हे वसिष्ठजी ! इस तरह आकाश आदि जगत् के आरोप का अधिष्ठान जनतत्त्व एवं तीनों अवस्थाओं के आरोप का अधिष्ठाता शिव नामक स्व-तत्त्व, सर्वदा सब

शिव आत्मा परं ब्रह्मेत्यादिशब्दैस्तु भिन्नता ।
पुरातनैर्विरचिता तस्य भेदो न वस्तुतः ॥ २५ ॥
एवं देवार्चनं नित्यं ज्ञः कुर्वन् मुनिनायक ! ।
यत्राऽस्मदादयो भृत्यास्तत्प्रयाति परं पदम् ॥ २६ ॥

वसिष्ठ उवाच

अविद्यमाननेवेदं विद्यमानमिव स्थितम् ।
यथा तन्मे समासेन भगवन् ! वक्तुमर्हसि ॥ २७ ॥

ईश्वर उवाच

योऽसौ ब्रह्मादिशब्दार्थः संविदं विद्धि केवलम् ।
स्वच्छमाकाशमप्यस्य स्थूलं मेरुरणोरिव ॥ २८ ॥
सा वेद्यमिह गच्छन्ती याति चिन्नामयोग्यताम् ।
अप्यवेद्यवती नूनमुन्मन्यन्तपदस्थिता ॥ २९ ॥
क्षणाद्भावितवेद्यत्वादहन्तामनुगच्छति ।
पुरुषत्वात् पुमान् स्वप्ने वनवारणतामिव ॥ ३० ॥

तरह से सम्पूर्ण वस्तुओं के सब भावों का निर्वाहक केवल ब्रह्म-सुखरूप ही है, अणुमात्र भी दूसरा नहीं है, यह निश्चय कर आप स्थित रहें ॥ २४ ॥

आत्मा और परब्रह्म इत्यादि नामों से भिन्नता की रचना प्राचीन लोगों ने की है, वस्तुतः उसमें कुछ भी भेद नहीं है ॥ २५ ॥

हे मुनिनायक ! इस प्रकार देवार्चन करने वाला ज्ञानी पुरुष उस परम पद में पहुँच जाता है, जिस परम शिव पद में एक-एक गुण के अभिमानी हम सब भी अनुचरों की तरह सृष्टि आदि कर्मों में लगाये गये हैं ॥ २६ ॥

श्री वसिष्ठ जी ने कहा—हे भगवन् ! जिस प्रकार अविद्यमान ही यह जगत् विद्यमान की तरह स्थित है, वह संक्षेप रूप से मुझसे कहने की कृपा कीजिए ॥ २७ ॥

ईश्वर ने कहा—प्रतीयमान ब्रह्म, परमात्मा, परज्योति इत्यादि शब्दों का अर्थ विशुद्ध संवित् (चिति) ही समझिए। इसका प्रथम आरोपरूप आकाश वैसे ही महान् है, जैसे अणु से मेरु ॥ २८ ॥

वास्तव में अवेद्यवती निर्विकल्पक समाधि में प्रसिद्ध चिदानन्दैकरस-स्वभाव में स्थित संवित् जब विषय-गोचर संस्कारों के उद्बोध से विषय-कल्पनाओं में उन्मुख होती है तब प्रकाशन करने से 'चित्' इस क्रियानिमित्त नाम के योग्य बन जाती है ॥ २९ ॥

जैसे स्वप्न में पुरुष अपना पुरुषत्वधर्म छोड़कर हाथी की भावना से जंगली हाथी की रूपता को प्राप्त कर लेता

अस्याहन्तादिरूपाया देशतां कालतां गताः ।
संपद्यन्ते ततः शून्यरूपिण्यः सख्य एव ताः ॥ ३१ ॥
ताभिः संवलिता सैव सत्ता जीवाभिधानिका ।
भवति स्पन्दविज्ञाना पवनस्येव लेखिका ॥ ३२ ॥
जीवशक्तिस्तथाभूता निश्चयैकविलासिनी ।
बुद्धितामनुयाता सा भवत्यज्ञपदे स्थिता ॥ ३३ ॥
शब्दशक्त्या क्रियाशक्त्या ज्ञानशक्त्याऽनुगम्यते ।
प्रत्येकं प्रस्फुरत्यन्तरप्रदर्शितरूपया ॥ ३४ ॥
मिलित्वैष गणः क्षिप्रं स्मृतिं समनुकूलयन् ।
मनो भवति भूतात्म बीजं सङ्कल्पशाखिनः ॥ ३५ ॥
आतिवाहिकदेहोक्तिभाजनं ताद्विदुर्बुधाः ।
अन्तःस्थया ब्रह्मशक्त्या ज्ञरूपं स्वात्मनाऽऽत्मदृक् ॥३६॥

है वैसे ही क्षण भर में ही विषयों में तादात्म्यभावना से अहङ्काररूप को प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

अहङ्काररूपता को प्राप्त इस चिति की पहले देश-कालरूपता में प्राप्त कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं। अनन्तर वे शून्यरूप कल्पनाएँ स्वयं ही उसकी सखी के रूप में अवस्थित हो जाती हैं ॥ ३१ ॥

देश और काल की कल्पनाओं से संवलित चित्सत्ता 'अहम्' इस अभिमान में हेतु संस्कारों के उद्‌बोध से स्पन्दन और विज्ञान से युक्त वायु लेखा के समान आभ्यन्तर प्राणस्पन्द-शक्ति से युक्त 'जीव' संज्ञावाली हो जाती है ॥ ३२ ॥

जीवशक्ति वैसी एसमात्र निश्चयरूप विलासवाली होकर बुद्धिरूपता अनुसरण कर अज्ञपद में स्थित हो जाती है ॥ ३३ ॥

कायिक, वाचिक और मानसिक व्यवहारों के संस्कारों के उद्‌बोध से तात्त्विक आत्मस्वरूप को छिपा रखनेवाली शब्द व्यवहार में हेतु शब्दशक्ति क्रिया-शक्ति और ज्ञान व्यवहार में हेतु ज्ञानशक्ति— ये तीनों ही शक्तियाँ व्यवहार हेतु अहन्ता के पीछे-पीछे दौड़ती फिरती हैं, प्रत्येक का हृदय के अन्दर स्फुरण हुआ करता है ॥ ३४ ॥

यह अहङ्कारादिसमूह शब्दशक्ति आदि से अनुगत होकर शीघ्र स्मरणशक्ति की भली-भाँति कल्पना कर सङ्कल्परूपी वृक्ष का बीजभूत, पञ्चभूतात्मक मन बन जाता है ॥ ३५ ॥

ज्ञानी लोग मन को ही 'आतिवाहिक' देह का विषय बतलाते हैं। भीतर में स्थित आवरणरहित साक्षीस्वरूप

सम्पद्यमाना एवाऽस्मिश्चेतसीमा हि शक्तयः ।
पश्चादिह बहिष्ठास्ता उद्यन्त्यनुदिता अपि ॥ ३७ ॥
वातसत्ता स्पन्दसत्ता स्पर्शसत्ता तथैव च ।
त्वक्सत्ता तेजसां सत्ता तथा सत्ता प्रकाशिनी ॥ ३८ ॥
रूपसत्ता जलसत्ता स्वादुसत्ता तथैव च ।
तथैव रससत्ता च गन्धसत्ता तथैव च ॥ ३९ ॥
भूसत्ता हेमसत्ता च पिण्डसत्ता च पीवरी ।
देशसत्ता कालसत्ता सर्वाढ्याकारवर्जिता ॥ ४० ॥
सर्वसत्तागणं चैतत् क्रोडीकृत्य स्वरूपवत् ।
स्फुरत्याश्रित्य पत्रादि बीजं बीजादितां गतम् ॥ ४१ ॥
एतत्पुर्यष्टकं विद्धि देहोऽयं चाऽऽतिवाहिकः ।
अपारबोधमेतत्तु स्फुरत्यङ्ग विभागवत् ॥ ४२ ॥

ब्रह्मशक्ति से व्याप्त हो प्रमातृस्वरूप बन जाता और स्वसाक्षी आत्मा की स्वप्रकाशता के कारण आत्मा को जानता है ॥ ३६ ॥

ये कल्पनाएँ पहले इस चित्त में उत्पन्न कोकर पीछे फिर बाह्य दृश्याकार में परिणत हो, उदित न होकर भी उदित होती हैं ॥ ३७ ॥

अनन्तर वायु की सत्ता तथा उसका प्रकाश करनेवाली स्पन्द सत्ता; स्पर्श की सत्ता और उसका प्रकाश करनेवाली त्वगिन्द्रिय की सत्ता एवं सम्पूर्ण तेजों की सत्ता और तेजः सत्ताओं का प्रत्यक्ष ज्ञान करानेवाली चक्षुरिन्द्रिय की सत्ता स्वरूप हो जाती है ॥ ३८ ॥

रूपसत्ता, जलसत्ता और वैसे ही स्वाद की सत्ता एवं स्वाद बतलाने वाली रसनेन्द्रिय की सत्ता और उसी प्रकार गन्ध की सत्ता बन जाती है ॥ ३९ ॥

एवं पृथ्वी की सत्ता चाँदी और सुवर्णमय ब्राह्माण्ड-खर्परों की सत्ता एवं अत्यन्त विपुल ब्रह्माण्ड-पिण्ड की सत्ता, देशसत्ता और समस्त आढ्य आकारों से वर्जित काल की सत्ता बन जाती है ॥ ४० ॥

इन सब सत्ताओं के समूह को अपने स्वरूप की तरह गोद में लेकर अर्थात् तादाम्यभाव से इन सबका संग्रह कर—जैसे बीज अपने उत्तरोत्तर परिणाम से अङ्कुर, काण्ड, शाखा और प्रशाखाओं में फैल कर पत्ते आदि का आश्रयण कर अर्थात् पत्ते आदि को अपने से पृथक् न समझ स्फुरित होता है; वैसे ही उपर्युक्त सब सत्ताओं को अपने से अभिन्न समझ कर बैठे रहने वाले को आप स्थूलादि तीन देह वाला पुर्यष्टक समझें। यही वासनात्मक होने से आतिवाहिक देह भी कहा जाता है। अपरिच्छिन्न

एवमाद्यङ्ग सम्पन्नं सम्पन्नं न च किञ्चन ।
न ज्ञानं न च तद्रूपं न विदाऽचितचेतनम् ॥ ४३ ॥
परं परे प्रस्फुरितं केवलं केवलात्म सत् ।
जलपीठस्य जठरे जलद्रवविलासवत् ॥ ४४ ॥
संवित्संवेदनैकात्म पृथगेतदचेतनम् ।
सम्पद्यते परिज्ञातं सङ्कल्पनगरोपमम् ॥ ४५ ॥
संवेदनात् परिज्ञानाच्छिवतामेव गच्छति ।
अज्ञातमेव वा यत्तत् कथं गच्छति वस्तुताम् ॥ ४६ ॥
अथैतद्विन्दते स्वान्तः सङ्कल्पादंशतां स्वतः ।
तन्मात्रसत्ता तस्याऽणोरेतां पश्यति देहके ॥ ४७ ॥
सर्वं स्थूलत्वमापन्नं तदेवाऽऽशु प्रपश्यति ।
तस्य तन्मात्ररन्ध्राणि यथादेशं प्रपश्यति ॥ ४८ ॥
ततः पुरुषरूपैकभावनात् पुरुषाकृतिम् ।

चित्स्वरूप ब्रह्म ही विभाग वाला होकर स्फुरित होता है ॥ ४१-४२ ॥

हे प्रिय ! अज्ञानियों की दृष्टि से कहा गया सब कुछ सम्पन्न है, परन्तु तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि से तो वह कुछ भी सम्पन्न नहीं है। वास्तव में न कोई ज्ञान है, न पुर्यष्टक रूप आकृति है और न चिदाभास से अचित् का चेतन ही होता है ॥ ४३ ॥

परब्रह्म में अद्वितीय सद्रूप ब्रह्म ही केवल वैसे ही रहा है जैसे जल के आधारभूत समुद्र के उदर में जल ही जल-तरङ्ग के विलास में परिस्फुरित होता रहता है ॥ ४४ ॥

सब दृश्यसमूह संविद्रूप ही है, इस प्रकार का ज्ञान होने पर सब एकात्मक है। संविद् से पृथक् करने पर यह यह दृश्य समूह, सङ्कल्प नगर की तरह भासक शून्य वृत्ति-चेतन परिज्ञात होता है ॥ ४५ ॥

यथार्थ परिज्ञान से दृश्य जगत् शिवरूपता को प्राप्त हो जाता है। ज्ञात न होने पर वह वस्तु स्वरूपता को कैसे प्राप्तकर सकता है ? ॥ ४६ ॥

चिन्मात्रस्वभाव होती हुई भी यह वस्तु संकल्प के कारण अपने अन्दर ही दृश्यांशता को प्राप्त कर लेती है सङ्कल्प द्वारा कल्पित वस्तुएँ मिथ्या ही हुआ करती है, इसलिए परमसूक्ष्म उस आत्मा की सूक्ष्ममात्रस्वभाव से प्रथम कल्पित सूक्ष्मदेह में ही चिरकाल के अभ्यास के कारण स्थूलता का अवलोकन करती है ॥ ४७ ॥

स्थूलदेह के सम्बन्ध से सब आन्तरिक कोषचतुष्टय तथा स्थूलता को प्राप्त बाह्य विषय समूहों का, ब्रह्म ही तत्काल अपनी कल्पना से अवलोकन किया करता है।

काकतालीयवद्दृष्ट्वा तुष्टं पुष्टं भवत्यलम् ॥ ४९ ॥
जीवदेतदवस्थाकं स्थितं पश्यति देहकम् ।
असन्तमेव गन्धर्वपुरं स्वप्ननरं यथा ॥ ५० ॥

वसिष्ठ उवाच

गन्धर्वनगराकारमपि स्वप्ननरोपमम् ।
जगद्दुःखाय दुःखस्य काऽत्र युक्तिः परिक्षये ॥ ५१ ॥

ईश्वर उवाच

वासनावशतो दुःखं विद्यमाने च सा भवेत् ।
अविद्यमानं च जगन्मृगतृष्णाम्बुभङ्गवत् ॥ ५२ ॥
अतः किं वास्यते केन कस्य वा वासना कुतः ।
कथं स्वप्ननरेणाऽङ्ग मृगतृष्णाम्बु पीयते ॥ ५३ ॥
सद्रष्टरि तु साहन्ते समनोमननादिके ।
अविद्यमाने जगति यत्सत्तत् परिदृश्यते ॥ ५४ ॥

बाह्य रूप आदि के दर्शन में वह उस देह के विषयों के अनुसार अपने-अपने कार्यों में चतुरिन्द्रिय आदि स्वरूप द्वारों का जो व्यवस्थित भली-भाँति अवलोकन किया जाता करता है ॥ ४८ ॥

अनन्तर आन्तर कोषों में पुरुष के आकार के साथ तादाम्य की भावना अपने में पुरुष की आकृति देखता है और उसे काकतालीय-न्याय से अकस्मात् व्यवहार में समर्थ देखकर अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट हो जाता है ॥ ४९

इस अवस्था में स्थित जीवन धारण कर रहे असत् स्वप्नावस्था के मनुष्य और गन्धर्व-नगर की तरह इस असत् तुच्छ शरीर को देखता रहता है ॥ ५० ॥

महाराज वसिष्ठ जी ने कहा—इस जगत् की आकार का गन्धर्वनगर के उपमा भले ही स्वप्न के नर से दी जाय फिर भी दुःख के लिए तो यह उपस्थित ही है। इसलिए दुःख के परिक्षय के लिए कौन-सी युक्ति यहाँ है ॥ ५१ ॥

ईश्वर के कहा—वासना के कारण दुःख उत्पन्न होता और विद्यमान वस्तु में वह वासना हुआ करती है। मृग-तृष्णा के जल के तरङ्ग के समान यह जगत् मिथ्या ही है ॥ ५२ ॥

हे प्रिय ! इसलिए किससे कौन वासित होगा और किसको कहाँ से वासना होगी ! भला कैसे स्वप्नावस्था का पुरुष मृगतृष्णा के जल का पान कर सकता ? ॥ ५३ ॥

जब द्रष्टा के साथ अहन्ता से युक्त और मन तथा मनन आदि के साथ इस जगत् का परिशेष में अस्तित्व ही नहीं रहता है तब सद्वस्तु वही अवशिष्ट रह जाती है ॥ ५४ ॥

यत्र नो वासना नैव वासको नैव वास्यता ।
केवलं केवलीभावः संशान्तकलनभ्रमः ॥ ५५ ॥
यस्य सत्योऽप्यसत्यो वा शून्य एव हि यक्षकः ।
विलीनस्तस्य कैवल्यात् किमन्यदवशिष्यते ॥ ५६ ॥
शून्य एव हि वेताल इवेत्थं चित्तवासना ।
उदितेयं जगन्नाम्नी तच्छान्तौ शान्तिरक्षता ॥ ५७ ॥
अहन्तायां जगति च मृगतृष्णाजले च यः ।
सास्थस्तं धिग्घतनरं नोपदेश्यस्त्वसाविति ॥ ५८ ॥
जीवं विवेकिनमिहोपदिशन्ति तज्ज्ञा
नो बालमुद्भ्रममसन्मयमार्यमुक्तम् ।
अज्ञं प्रशास्ति किल यः कनकावदातां
स स्वप्नदृष्टपुरुषाय सुतां ददाति ॥ ५९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे जगन्मिथ्यात्वप्रतिपादनं नामैकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

न तो कोई वासना वहाँ पर रहती है, न कोई वासक रहता है और न कोई वासना का विषय ही रहता है। एकमात्र कलना का भलीभाँति शान्त भ्रम चिन्मात्रस्वभाव ही रहता है ॥ ५५ ॥

व्यावहारिक या प्रातिभासिक दुष्ट संसाररूप यक्ष शून्य स्वरूप होने के कारण जिस प्रौढ़ की दृष्टि में नित्यविलीन ही है, उसकी दृष्टि में चिन्मात्र कैवल्य के सिवा कोई और दूसरा क्या अवशिष्ट रह सकता है ! ॥ ५६ ॥

शून्य में ही इस प्रकार वेताल की तरह यह जगत् नाम की चित्तवासना उत्पन्न हुई है, उसकी शान्ति हो जाने पर अक्षत शान्ति ही अवशिष्ट रहती है ॥ ५७ ॥

जिस मनुष्य की आस्था अहन्ता में, जगत् तथा मृग-तृष्णा के जल में दृढ़ है, उस हत पुरुष को बार-बार धिक्कार है, वह मूर्ख इस प्रकार के उपदेश के योग्य ही नहीं है ॥ ५८ ॥

आत्मज्ञानी विशिष्ट अधिकार प्राप्त जीव को ही इस जगत् में उपदेश दिया करते हैं न कि अधिकार प्राप्त न होने से अनेक प्रकार की भ्रान्तियों से ग्रस्त आर्यों द्वारा उपेक्षित एवं असद्रूप देह आदि में अभिमान रखने के कारण असन्मय ऐसे अनधिकारी अज्ञानी जीव को जो उपदेश के के समान समान देता है, वह मानो सोने सुन्दरी अपनी कन्या को स्वप्न में देखे गये पुरुष को देता है ॥ ५९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय के निर्वाणप्रकरण में जगन्मिथ्यात्वप्रतिपादन नामक कुसुमलता का एकतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४१ ॥

४२

वसिष्ठ उवाच

ततः स जीवो भगवन् ! दृष्टवान् देहसंभ्रमम् ।
आदिसर्गे नभःसंस्थः कामवस्थामुपैति हि ॥ १ ॥

ईश्वर उवाच

परस्मात् परमे व्योम्नि पूर्वोक्तक्रमतो वपुः ।
जीवः पश्यति संपन्नं स च स्वप्ननरो यथा ॥ २ ॥
सर्वगत्वाच्चिद्घनस्य कार्यं स्वप्ननरोऽपि हि ।
यथा करोत्याशु तथा जीवोऽद्यापि शरीरधृक् ॥ ३ ॥
सनातनोऽहमव्यक्तः पुमानित्यभिधां ततः ।
करोत्यात्मनि तेनाऽऽशु प्रथमः प्रथितः पुमान् ॥ ४ ॥
एवं स सर्गे कस्मिंश्चित् प्रथमोऽथ सदाशिवः ।
कस्मिंश्चिद्विष्णुरित्युक्तो नाभ्युत्पन्नः पितामहः ॥ ५ ॥

४२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे भगवन् ! कल्प के प्रथम अध्यासक्रम में देहविभ्रम का द्रष्टा वह जीव आकाश में स्थित किस अवस्था को प्राप्त करता है ? ॥ १ ॥

ईश्वर ने कहा—उसी प्रकार वह जीव भी परम सूक्ष्म चिदाकाश में बना हुआ शरीर वैसे ही देखता है। जैसे स्वप्न-मनुष्य अति सूक्ष्म नाडियों में अत्यन्त विस्तृत ब्रह्माण्ड को देखता है ॥ २ ॥

शरीरधारी जीव भी ब्रह्माण्डरूप कार्य वैसे ही करता है जैसे आज भी स्वप्नमनुष्य चैतन्यघन आत्मा के सर्वत्र व्यापक होने से ब्रह्माण्डरूप कार्य करता है ॥ ३ ॥

मैं सनातन अव्यक्त 'पुरुष' हूँ, इस प्रकार पुरुष-नाम का अपने ही स्वरूप में इसके बाद वह निर्माण करता है और उसी से प्राथमिक पुरुष के रूप में शीघ्र प्रकाशित होता है ॥ ४ ॥

वही जीव किसी सर्ग में इस प्रकार पहला पुरुष सदाशिव होता है, अनन्तर किसी सर्ग में विष्णु, किसी तीसरे सर्ग में विष्णु की नाभि से उत्पन्न ब्रह्मा कहा जाता है ॥ ५ ॥

पितामहः स कस्मिंश्चित् कस्मिंश्चिदपि चेतरः ।
स च सङ्कल्पपुरुषः सङ्कल्पान्मूर्तिमास्थितः ॥ ६ ॥
पुष्टः प्रथमसङ्कल्पस्तां मनोमूर्तिमास्थितः ।
यद्यथा कल्पयत्याशु तत्तथाऽनुभवत्यलम् ॥ ७ ॥
तत्त्वसद्रूपमखिलं शून्यवेतालको यथा ।
भ्रमदृष्ट्या तु सद्रूपमित्यहन्ता जगद्गतिः ॥ ८ ॥
द्रष्टादिपुरुषस्त्वेवं स्वयं सम्पद्यते हि यः ।
स निमेषं प्रति व्योम समुदेत्यथ नीयते ॥ ९ ॥
निमेष एव कल्पो यो महाकल्पपरम्पराम् ।
प्रतिभासविपर्यासमात्रेणाऽनुभवत्यलम् ॥ १० ॥
परमाणौ परमाणौ व्योम्नि व्योम्नि क्षणे क्षणे ।
सर्गकल्पमहाकल्पभावाभावा भवन्ति ते ॥ ११ ॥

वह किसी सर्ग में पितामह कहा जाता है किसी सर्ग में दुर्गा, भैरव, विनायक आदि कहा जाता है, परन्तु वह सदाशिव आदि पुरुष सङ्कल्पमय है और सङ्कल्प से ही आकार प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

सूक्ष्म भूतों की सृष्टि के द्वारा पुष्ट प्रथम सङ्कल्प ही उस समष्टिव्यष्टि-स्वरूप मनोमय मूर्ति प्राप्तकर हिरण्यगर्भ होकर जिस तरह से जिस भुवन, प्रजा, सृष्टि आदि की कल्पना करता है, उसी तरह से उसे व्यवहार योग्य अनुभव करता है ॥ ७ ॥

यह समस्त प्रपञ्च तत्त्वदृष्टि से असत् और भ्रमदृष्टि से सद्रूप वैसे ही भासमान होता है, जैसे शून्य स्वरूप वेताल तात्त्विक दृष्टि से असद्रूप और भ्रमदृष्टि से सद्रूप में भासमान होता है, इसलिए जगत् का विज्ञान केवल अहन्ता ही है ॥ ८ ॥

उक्त रीति जो स्वरचित वस्तु के प्रति आदिपुरुष द्रष्टारूप ही निमेषमात्र काल में एकमात्र अपने स्वरूप के पर्यालोचन से चिदाकाश स्वरूप हो जाता है और स्वरूप का विस्मरण होने पर निमेषमात्र काल में ही अनन्त और असीम संसार के प्रति ले जाता है ॥ ९ ॥

वह निमेष ही कल्पना में समर्थ है, वह प्रविभास के विपर्यास से महाकल्पों की परम्परा का भलीभाँति अनुभव करता है ॥ १० ॥

परमाणु-परमाणु में, व्योम-व्योम में तथा क्षण-क्षण में भी वे सृष्टि, कल्प और महाकल्प के आविर्भाव और तिरो भाव हुआ करते हैं ॥ ११ ॥

वासनागति की समानता से कतिपय व्यक्ति अन्योन्य-

दृश्यन्ते केचिदन्योन्यं साधर्म्याद्वासनागतेः ।
मिथः केचिन्न दृश्यन्ते दृष्टेनाऽथ सदात्मना ॥ १२ ॥
सर्गाः सर्गेण सर्वत्र संभवन्ति न ते शिवे ।
भवन्ति परमे व्योम्नि व्योमरूपा इति स्वयम् ॥ १३ ॥
स्वयं च सदसद्रूपा लीयन्ते स्वप्नशैलवत् ।
सर्गैर्न देश आक्रान्तो न च कालो न कर्तृता ॥ १४ ॥
न चैते सत्स्वरूपा वा न कल्प्यं नाऽपि च क्षणः ।
न चेदं जायते किञ्चिन्न च किञ्चन नश्यति ॥ १५ ॥
सर्वं सङ्कल्परूपेण चिच्चमत्कुरुते चिति ।
स्वप्नपत्तननिर्माणपातोत्पातनवज्जगत् ।
न देशकालक्रमणं करोति च मनागपि ॥ १६ ॥

दर्शन आदि व्यवहार के योग्य देखे जाते हैं और कोई अधिष्ठान सद्रूप आत्मा के ज्ञात हो जाने से परस्पर व्यवहार योग्य नहीं देखे जाते ॥ १२ ॥

वे सर्ग सर्गरूप से स्थित जीव के द्वारा सम्भाव्यमान होकर ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए परमचिदाकाशस्वरूप परमात्मा में वे उत्पन्न नहीं होते हैं क्योंकि वहाँ पर वे चिदाकाशस्वरूप में ही पर्यवसित हैं ॥ १३ ॥

स्वप्नकालीन पर्वत की तरह ये सर्ग सद्रूप और असद्रूप होकर विलीन हो जाते हैं। देश और काल भी सर्गों से पहले इसी तरह अक्रान्त नहीं थे और न सर्गों की कर्तृता ही थी ॥ १४ ॥

ये सर्ग सत्स्वरूप नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर 'सर्ग' और 'सत्' दोनों पद एक दूसरे के पर्याय हो जाने से सर्ग की अविनाशापत्ति हो जायगी। सर्ग में अध्यस्त भी सत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि स्वयं असद्-रूप सर्ग में सत्वाध्यास की अधिष्ठानरूपता ही सिद्ध नहीं हो सकती है। सर्ग में क्षणरूप सत्व भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि क्षणरूप सत्व प्रतीतिकालपर्यन्त नहीं ठहर सकता है। यदि अत्यन्त अप्रतीत में भी सत्ता मान ली जाय तो गगन कुसुम आदि अलीक पदार्थों में भी सत्व की आपत्ति हो जायगी। न तो यह सर्ग कुछ उत्पन्न ही होता है और न कुछ विनष्ट ही होता है ॥ १५ ॥

वैसे ही स्वप्न में नगर निर्माण, पतन और उत्पतन चमत्कृत होता है और तनिक भी देश और काल से सम्बन्ध नहीं करता। चिति ही सम्पूर्ण प्रपञ्च को सङ्कल्प-रूप से अपने में चमत्कृत करती है ॥ १६ ॥

यथा सङ्कल्पशैलेन देशकालाद्यनन्तकम् ।
आक्रान्तमपि नाऽऽक्रान्तं तथैव जगता सता ॥ १७ ॥
अथ नाऽऽक्रान्तमक्रान्तमिव सङ्कल्पमेरुणा ।
यथोच्चैर्देशकालादि तथैव जगता सता ॥ १८ ॥
सम्पद्यते यथा योऽसौ पुरुषः सर्वकारकः ।
अनेनैव क्रमेणेह कीटः सम्पद्यते क्षणात् ॥ १९ ॥
तस्थुषामेवमेवेह जातयो हि चतुर्विधाः ।
रुद्राद्यास्तृणपर्यन्ता सम्पद्यन्ते क्षणं प्रति ॥ २० ॥
परमाणूपमाः सन्ति तथा केचिदणूपमाः ।
एष एव क्रमस्तेषां सति वाऽसति सर्गके ॥ २१ ॥
अस्याः संसारमायाया एवम्भूतार्थभावनात् ।
भेदोपशान्तावभ्यासाद्भवत्युपगतः शिवः ॥ २२ ॥
निमेषशतभागार्धमात्रमेव परा चितिः ।
स्वरूपतश्चेल्लुठिता सैषोदेत्यनवस्थितिः ॥ २३ ॥

व्यावहारिक सत्ता से युक्त इस जगत् देश, काल आदि से आक्रान्त होने पर भी वे वास्तव में वैसे ही आक्रान्त नहीं कहे जा सकते जैसे सङ्कल्पमय पर्वत से असीम देश, काल आदि के आक्रान्त नहीं कहे जा सकते हैं ॥ १७ ॥

व्यावहारिक जगत् से अनाक्रान्त भी देश, काल आदि सङ्कल्प-काल में वैसे ही आक्रान्त के समान प्रतीत होते हैं जैसे उन्नतरूप से अवस्थित सङ्कल्पमय मेरुपर्वत से वास्तव में आक्रान्त न हुए ही देश, काल आदि सङ्कल्पकाल में आक्रान्त-से प्रतीत होते हैं ॥ १८ ॥

ऐहिक और आमुष्मिक सभी क्रियाओं में समर्थ पुरुष है, जिस क्रम से उत्पन्न होता है, उसी क्रम से यहाँ क्षण में कीट भी हो जाता है ॥ १९ ॥

इस ब्रह्माण्ड में स्थावरों की योनियाँ भी वैसे ही उत्पन्न होती है, अजण्ड आदि चार प्रकार की जातियाँ और रुद्र से लेकर तृणपर्यन्त सभी पदार्थ वैसे ही माया-धिष्ठाता के सङ्कल्पकाल में उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २० ॥

कोई सर्ग वासना की सूक्ष्मता के कारण परमाणु के समान सूक्ष्म हैं और कोई सर्ग वासना के स्वल्प विकास से त्रसरेणु के समान बड़े हैं, यही क्रम भूत एवं भावी सर्ग के विषय में भी जानना चाहिए ॥ २१ ॥

परमार्थिकदृष्टि से चिन्तन करने से अनिर्वचनीय इस संसारमाया का विभेद विनष्ट हो जाता है, अनन्तर अभ्यास से शिवरूप पूज्यतत्व प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

निमेषमात्र के किये गये सौ भागों में से किसी एक के आधे भागमात्र कालपर्यन्त ही यदि परा चिति अपने वास्तव स्वरूप से पतित हो जाय, तो वही महान् अनर्थ-रूप से उदित हो जाती है ॥ २३ ॥

सा ज्ञरूपा शिलाकाश इव चित् स्वात्मनि स्थिता ।
तदनाद्यवभासात्म ब्रह्मशब्देन गीयते ॥ २४ ॥
अस्मिन् प्रौढिं गते सर्गे महाचिद्द्योतनं न च ।
सङ्गतासत्यदिग्देशकालांशपरमाणुता ॥ २५ ॥
जीवतामामता भूततन्मात्रवलनाक्रमात् ।
भवत्यङ्ग मृगीवीरुत्कीटदेवासुरादिकम् ॥ २६ ॥
यस्मिन्नित्ये ततेऽनन्ते दृढे स्रगिव तिष्ठति ।
सदसद्ग्रथितं विश्वं विश्वगे विश्वकर्मणि ॥ २७ ॥
न तद्दूरे न निकटे नोर्ध्वे नाऽधो न ते न मे ।
न पूर्वं नाऽद्य न प्रातर्न सन्नाऽसन्न मध्यमम् ॥ २८ ॥
अनुभवकलनामृतेऽस्य माता
भवति न सर्वविकल्पनेष्वसत्सु ।
फलदुरुविभवा प्रमाणमाला
स्थितिमुपयाति न वारिणीव वह्निः ॥ २९ ॥

तत्त्ववित् पुरुषों के द्वारा अनुभूत होनेवाली, शिलाकाश की तरह अपने स्वरूप में अवस्थित चिति ही सूर्य आदि प्रकाशों से प्रकाशित न होनेवाले जन्मशून्य ब्रह्म-चैतन्यस्वरूप है, अतः वह ब्रह्मशब्द से कही जाती है ॥ २४ ॥

इस सर्ग के प्रौढ़ हो जानेपर महाचैतन्य का प्रकाश नहीं होता और मिथ्याभूत दिक्, देश और काल से जनित परिच्छेदों से आत्मा में मशकपर्यन्त महान् सूक्ष्मता और क्षुद्रता प्राप्त हो जाती है ॥ २५ ॥

हे प्रिय मुने ! ब्रह्मचिति उपाधिवश जीवभाव को प्राप्त होकर देह, इन्द्रिय आदि के संवलन-क्रम से मृगी, लता, कीट, देव, असुर आदिरूप हो जाती है ॥ २६ ॥

नित्य, व्यापक, अनन्त, दृढ़ और विश्व के अन्दर रहनेवाले विश्व के कर्ता जिस परब्रह्म में माला की तरह सत् एवं असत् से ग्रथित जगत् रहता है ॥ २७ ॥

विवेक होनेपर वह न दूर है, न समीप है, न ऊपर है, न नीचे है, न तुम्हारा है, न मेरा है, न पहले था, न आज है, न प्रातःकाल में है, न सत् है, न असत् है और न सत् और असत् के मध्य में रहनेवाला है ॥ २८ ॥

सभी विकल्पों के असद्रूप होने से इस आत्मतत्त्व का अनुभव करनेवाला स्वप्रकाश चैतन्य को छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ नहीं हो सकता है, बड़े-बड़े व्यवहार-विभवों का प्रसव करनेवाली लौकिक प्रमाणमाला इस परमतत्त्व में वैसे ही अपनी स्थिति नहीं बना सकती, जैसे जल में अग्नि अपनी स्थिति नहीं बना सकती है ॥ २९ ॥

यथा पृष्टं मुने ! प्रोक्तं त्वयि कल्याणमस्तु ते ।
दिशं प्रयामोऽभिमतामगच्छोत्तिष्ठ पार्वति ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा नीलकण्ठोऽसौ त्यक्तपुष्पाञ्जलौ मयि ।
ततार परिवारेण सममम्बरकोटरम् ॥ ३१ ॥

तस्मिन् गते त्रिभुवनाधिपतावुमेशे
स्थित्वा क्षणं तदनुसंस्मृतिपूर्वमेव ।
अङ्गीकृतं नवपवित्रधिया मयाऽऽत्म-
देवार्चनं शमवतैव जिहासितं तत् ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे परमात्माभिधानं नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

हे मुने ! जैसा तुमने पूछा, वैसा ही मैंने उत्तर भी दिया। तुम्हारा कल्याण हो। अब हम लोग अपनी अभिमत दिशा की ओर आ रहे हैं। हे पार्वतीजी, आइये, उठिये ॥ ३० ॥

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—इस प्रकार कहकर जिसपर मेरे द्वारा पुष्पाञ्जलि समर्पित कर दी गई थी वह नीलकण्ठ भगवान् शङ्कर अपने परिवार के साथ आकाश कोटर की ओर चले गये ॥ ३१ ॥

त्रिभुवन अधिपति उमापति के जाने के बाद क्षणभर चुप रह कर उनका स्मरण करते हुए उनके द्वारा उपदिष्ट नित्य अपरोक्ष आत्मरूप देवता का पूजन नवीन और श्रद्धा आदि से पवित्र बुद्धि से अङ्गीकृत किया और पहले का वह जड़ देवार्चन छोड़ दिया ॥ ३२ ॥

इस प्रकार ऋषी-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में परमात्माभिधान नामक कुसुमलता का बयालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४२ ॥

४३

वसिष्ठ उवाच

एतदुक्तं परं तेन स्वयमेव च वेद्म्यहम् ।
राम ! त्वमपि जानीषे यथेदं समवस्थितम् ॥ १ ॥
यत्राऽलीकमलीकेन किलाऽलीके विलोक्यते ।
तस्यां संसारमायायां किं सत्यं किमसन्मयम् ॥ २ ॥
यथा येन विकल्पेन यद्विकल्पेन कथ्यते ।
तथा तेनाऽऽत्मकल्पेन नगताऽप्यनुभूयते ॥ ३ ॥
यथा द्रवत्वं पयसि यथा स्पन्दो नभस्वति ।
यथा नभसि शून्यत्वं तथा सर्गत्वमात्मनि ॥ ४ ॥
ततः प्रभृति तेनैव क्रमेणाऽर्चनमात्मनः ।
अद्य यावद्गतव्यग्रः कुर्वन्नहमवस्थितः ॥ ५ ॥
अनेनाऽर्चाविधानेन मयेमे राम ! वासराः ।
अखिन्नेनाऽतिवाह्यन्ते व्यवहारपरा अपि ॥ ६ ।
यथाप्राप्तैः क्रियाचारकुसुमैरात्मनोऽर्चनम् ।
व्युच्छिन्नमपि व्युच्छिन्नं न कदाचिदहर्निशम् ॥ ७ ॥

४३

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—हे श्रीरामजी ! महादेव शङ्कर जी ने सर्वोत्कृष्ट यह स्वात्मशिवार्चनरूप पूजन मुझसे कहा और मैं भी उसे जानता हूँ। इस जगत् का स्वरूप जिस तरह अवस्थित है उसे आप भी जानते ही हैं ॥ १ ॥

भद्र, जिस असद्रूप मायारूप भ्रम में असद्रूप उपाधि से घटित होने के कारण असद्रूप जीव असत् ही जगत् देखता है, उस असदात्मक संसारमाया में क्या सत्य हो सकता है और क्या असत्य हो सकता है ? ॥ २ ॥

अनेक तरह की कल्पना करनेवाले कवियों के द्वारा विविध भावों की कल्पनारूप काव्य-रचना से जिस प्रकार कहा जाता है उस तरह श्रवण कर अनुभव करते हैं। यदि उन्हें यह अनुभव नहीं होता तो काव्यार्थानुभव-चमत्कार का आस्वाद नहीं होता ॥ ३ ॥

आत्मा में सर्गत्व स्वभाव वैसे ही है जैसे जल द्रवत्व स्वभाव है, जैसे वायु में स्वन्दनत्व स्वभाव है अं जैसे आकाश में शून्यत्व स्वभाव है ॥ ४ ॥

तब से लेकर आजतक उसी क्रम से मैं व्यग्रता छोड़ कर आत्मा का अर्चन करता हुआ अवस्थित रहता हूँ ॥ ५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! इस पूजन-विधान से व्यवहारपूर्ण इन दिनों मैं खेदरहित होकर व्यतीत कर रहा हूँ ॥ ६ ॥

दिन-रात समयानुसार प्राप्त क्रियाचाररूप कुसुमों से आत्मा का पूजन करता हूँ। सुषुप्ति-काल में वह उच्छिन्न हुआ प्रतीत होनेपर भी वास्तव में किसी भी समय वह

ग्राह्यग्राहकसम्बन्धे सामान्ये सर्वदेहिनाम् ।
योगिनः सावधानत्वं यत्तदर्चनमात्मनः ॥ ८ ॥
दृष्ट्याऽनया रघुपते ! सङ्गमुक्तेन चेतसा ।
संसारविरलारण्ये विहराऽस्मिन्न खिद्यसे ॥ ९ ॥
दुःखे महति संप्राप्ते धनबन्धुवियोगजे ।
एतां दृष्टिमवष्टभ्य विचारं कुरु सुव्रत ! ॥ १० ॥
सुखदुःखे न कर्तव्ये धनबन्धूदयक्षये ।
एवंप्राया एव सर्वा नित्यं संसारदृष्टयः ॥ ११ ॥
जानास्येव गतिं चित्रां विषयाणां प्रमाथिनीम् ।
यथाऽऽयान्ति यथा यान्ति यथा परिभवन्ति च ॥ १२॥
एवमेव प्रवर्तन्ते प्रेमाणि च धनानि च ।
एवमेवाऽवहीयन्ते निमित्तैरविचारितैः ॥ १३ ॥
न तास्तव न तासां त्वं निर्मलाऽन्तर्जगत्क्रियाः ।
इदमित्थं जगत्किञ्चित् किं मुधा परितप्यसे ॥ १४ ॥

उच्छिन्न नहीं होता है, सुषुप्ति-काल में भी 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' उठने के बाद हुए इस स्मरण-साधन अविद्यावृत्तिरूप पुष्प से अर्चन हो सकता हीं है ॥ ७ ॥

ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध सभी देहधारियों में साधारण ही है; किन्तु योगियों की सावधानता ही आत्मा का अर्चन है ॥ ८ ॥

हे रघुपते ! इस दृष्टि का अवलम्बन कर आसक्ति रहित चित्त से इस संसाररूपी विरल जङ्गल में विचरण करें ऐसा करने पर आप खिन्न नहीं रह सकते ॥ ९ ॥

हे सुव्रत ! धन और बन्धुओं के वियोग से जनित असीम दुःख के प्राप्त होने पर इस दृष्टि का अवलम्बन कर आप विचार करें ॥ १० ॥

धन और बन्धुओं का आगम और नाश होने पर हर्ष और विषाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये सभी संसार के अनुभाव सदा विनश्वर हैं ॥ ११ ॥

व्यग्रता उत्पन्न करनेवाली विषयों की चित्र-विचित्र परिस्थितियाँ—पहले जिस तरह आती हैं, जिस तरह जाती हैं और जिस तरह स्वासक्त पुरुष को पराजित करती हैं, यह—आप जानते ही हैं ॥ १२ ॥

प्रेम और धन इसी प्रकार अविचारित हेतुओं से आते रहते हैं और चले भी जाते हैं ॥ १३ ॥

हे निर्मल ! जगत् के व्यवहार न तो आपके अन्दर हैं और न आप ही उसके अन्दर हैं। इस प्रकार यह जगत् तुच्छ है, इसलिए आप क्यों व्यर्थ संतप्त होते हैं ? ॥१४॥

त्वमिहाऽसि जगद्रूपं चिन्मात्रविततातकृते ।
निजावयवकावृत्तौ कः क्रमो हर्षशोकयोः ॥ १५ ॥
तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत् ।
अतस्तव कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥ १६ ॥
इति चिच्चक्रचाञ्चल्ये चिन्मये जगदम्बुधौ ।
तरङ्गजाले चाऽम्भोधौ कः क्रमो हर्षशोकयोः ॥ १७ ॥
चिदेकतानतामेत्य सौषुप्तीमागतः स्थितिम् ।
अद्य प्रभृति राम ! त्वं तुर्यावस्थात्मको भव ॥ १८ ॥

समः समसमाभासो भास्वद्वपुरुदारधीः ।
तिष्ठाऽऽत्मार्चारतो नित्यं परिपूर्ण इवाऽर्णवः ॥ १९ ॥
एतत्त्वं श्रुतवान् सर्वं स्थितस्त्वं परिपूर्णधी ।
यदिच्छसीतरत्प्रष्टुं तत्पृच्छ रघुनन्दन ! ।
यत्पृष्टं प्रथमे कल्पे तदद्य परिचोदय ॥ २० ॥

हे चिन्मात्र स्वरूप विशाल आकृति वाले श्रीरामभद्र ! आप यहाँ जगद्रूप ही हैं, ऐसा अनुभव करें। ऐसा अनुभव करने पर भी आपको अपने अवयवों के परिवर्तन की तरह हर्ष और शोक का प्रसङ्ग ही क्या है ? ॥ १५ ॥

हे तात ! आप चिन्मात्र स्वरूप आप से यह जगत् पृथक् नहीं है। इसलिए आपको हेय और उपादेय की कल्पना किस प्रकार और कहाँ होगी ? ॥ १६ ॥

चिन्मय जगत्-सागर में चिद्रूप जगदात्मक चक्र की चञ्चलता होने पर और समुद्र में तरङ्ग समूह होने पर हर्ष और शोक का क्या प्रसङ्ग है ? ॥ १७ ॥

हे श्रीरामजी ! एकमात्र चैतन्य स्वरूपता प्राप्तकर और इसके बाद सुषुप्तिकालीन स्थिति प्राप्तकर आप आज ही से तुरीयावस्था स्वरूप हो जायें ॥ १८ ॥

स्वयं सर्वविध वैषम्यों से निर्मुक्त, ब्रह्म के साथ एकरस स्वरूपतापन्न जगद्-रूप अभासों से युक्त, तेजस्वि-शरीर और उदार बुद्धि होकर सदा आत्म-पूजन में तत्पर हो आप समुद्र की तरह परिपूर्णरूप से स्थित रहिये ॥१९॥

हे रघुनन्दन ! यह सब अपने सुना और परिपूर्णबुद्धि होकर आप स्थिति हैं। जो कोई दूसरा इस विषय में पूछना चाहते हों, तो उने उसे पूछिए और पहले विचारारम्भ में वैराग्य-प्रकरण में अर्थात् आपके प्रश्न किये गये कोई उत्तर के बिना रह गया हो तो उसे भी आज आप पूछिये ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

इदानीं संशयो ब्रह्मन् विनिवृत्तो विशेषतः ।
ज्ञातं ज्ञातव्यमखिलं जाता तृप्तिरकृत्रिमा ।। २१ ।।
न मुनेऽस्ति मलं द्वित्वं न चेत्यं न च कल्पनम् ।
तदा ममाऽभूदज्ञानं प्रशान्तमधुना तु तत् ।। २२ ।।
कलङ्क आत्मनोऽस्तीति तदज्ञानवशेन या ।
भ्रान्तिरासीदिदानीं सा निवृत्ता त्वत्प्रसादतः ।। २३ ।।
न जायते न म्रियते न चैवाऽऽत्मा कलङ्कितः ।
सर्वं च खल्विदं ब्रह्ममयमित्युदितोऽस्म्यलम् ।। २४ ।।
प्रश्नेभ्यः संशयेभ्यश्च वाञ्छितेभ्यश्च सर्वतः ।
शुद्धं मे निर्मलं चेतस्त्वष्ट्रा यन्त्रभ्रमादिव ।। २५ ।।
सर्वाचारोपदेशेषु प्राप्तप्रोक्तेषु साधुभिः ।
निराकाङ्क्षी स्थितोऽस्म्यन्तः सुमेरुः कनकेष्विव ।।२६।।

श्रीरामजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आज विशेषरूप से मेरा संशय निवृत्त हो गया है । मैंने समस्त ज्ञातव्य तत्त्व जान लिया है और मुझे स्वाभाविक तृप्ति भी हो गई है ।। २१ ।।

हे मुने ! अब मुझे में न अज्ञान है, न जीव और ब्रह्म का भेद है, न चेत्य है और न मन ही है । जो अज्ञान मुझ में पहले था, वह इस समय नष्ट हो गया है ।। २२ ।।

अज्ञानवश 'आत्मा में कलङ्क है' इस प्रकारकी भ्रान्ति आपके प्रसाद से से इस समय निवृत्त हो गई ।। २३ ।।

आत्मा न तो उत्पन्न होता है, न मरता है और न कलङ्क युक्त ही रहता है । 'यह सब जगत् ब्रह्ममय है' इस प्रकार साक्षात्कार हो जाने से मैं सम्यक् उदय को प्राप्त हो गया हूँ ।। २४ ।।

जैसे बढ़ई द्वारा यन्त्र पर किये तक्षण से लकड़ी आदि सूर्य-बिम्ब-से भास्वर हो जाते हैं । वैसे ही सब प्रकार के प्रश्नों से, संशयों से और इच्छित पदार्थों से निवृत्त मेरा मन निर्मल हो गया है और भास्वर हो गया ।। २५ ।।

महाराज, साधुओं द्वारा समीप में आये हुए शिष्यों को कहे गये सभी तरह के साधनोपदेशों की भीतर आकांक्षा न करता हुआ मैं भी वैसे ही स्थित हूँ । जिस प्रकार सुमेरु पर्वत सुवर्णों की अभिलाषा न करता हुआ स्थिति है ।। २६ ।।

चराचरात्मक इस संसार में ऐसी कोई चिरलभ्य वस्तु नहीं है, जिसकी मुझे इच्छा हो; ऐसी कोई अनुपलभ्य वस्तु नहीं है, जो मुझे अभिलषित हों; ऐसी कोई वस्तु

न तदस्त्यस्ति यत्राऽऽशा न तदस्ति यदीप्सितम् ।
न तदस्ति यदादेयं हेयं मध्यं चराचरे ।। २७ ।।
इदं हेयमुपादेयमिदं सदिदमप्यसत् ।
इति चिन्ताभ्रमः शान्तो निपुणं परमो मुने ! ।। २८ ।।
न स्वर्गमभिवाञ्छामि द्वेष्मि वाऽपि न रौरवम् ।
आत्मन्येव हि तिष्ठामि मन्दराद्रिरिवाऽभ्रमः ।। २९ ।।
कणशः कीर्णत्रिजत्क्षीरसागरसंसृतिः ।
विश्रान्तश्चिरसंभ्रान्तो निर्भ्रमो राममन्दरः ।। ३० ।।
अवस्त्विदमिदं वस्तु पश्येति कलनाऽस्त्यलम् ।
हृदि तस्य कुसन्देहजालेन ज्वलिताधिकम् ।। ३१ ।।
इदमित्थं जगदिति ज्ञातं येन मुनीश्वर ! ।
स यत्र याति कार्पण्यं जगतस्तन्न लभ्यते ।। ३२ ।।

नहीं है, जो मेरे लिए हेय और उपादेय हो और ऐसी भी कोई वस्तु नही है, जो उपेक्ष्य ही हो ।। २७ ।।

हे मुने ! यह हेय है, यह उपादेय है, यह सत् है और यह असत् है, इस प्रकार का महान् चिन्तारूपी मेरा भ्रम निपुणतापूर्वक विलीन हो गया है ।। २८ ।।

मैं न स्वर्ग की अभिलाषा करता हूँ और न रौरव नरक के साथ द्वेष ही करता हूँ, किन्तु मन्दराचल की तरह भ्रम शून्य होकर अपनी आत्मा ही स्थित हूँ ।।२९।।

परमाणु की तरह कण-कण बनाकर तीनों लोकों को नष्ट कर देने वाले क्षीर-सागर की चारों ओर जो व्याप्ति है, उस व्याप्ति के समान व्याप्ति वाला यह चिरकाल से भ्रम में पड़ा रामरूप मन्दराचल भ्रमशून्य होकर विश्रान्त हो गया है ।। ३० ।।

जिस स्वरूप का यह जगत् दिखाई देता है, उसी स्वरूप का है, उससे भिन्न उसका कोई दूसरा स्वरूप नहीं है—इस प्रकार मूर्ख जानता है, उसके हृदय में ज्वाला के सदृश अधिक सन्तापदायी, कुत्सित संशय-समूहों से होने वाली 'यह वस्तु है और यह अवस्तु है' इस प्रकार की कल्पनाएँ पर्याप्तरूप से उदित होती रहती हैं ।। ३१ ।।

हे मुनीश्वर ! मेरे द्वारा कहे गये इस अर्थ को आप अपने अनुभव से भी प्रमाणित करें और देखिए । उस प्रकार का मूढ़ पुरुष धन आदि विषयों के लिए कृपणता करता है, जगत्-सम्बन्धी वे वस्तुएँ तात्त्विक विचार से हम लोगों को प्राप्त नहीं होती है ।। ३२ ।।

विचित्राकुलकल्लोलाज्जडाद् वृत्तिविवर्जितात् ।
त्वत्प्रसादेन भगवंस्तीर्णाः स्मो भवसागरात् ॥ ३३ ॥
सम्पदामवधिर्ज्ञातो दृष्टः सीमान्त आपदाम् ।
सर्वसारेऽप्यदीनाः स्मः पूर्णाः स्मः परमेश्वर ! ॥ ३४ ॥
यथावभेद्यामपरैर्दलिताशामतङ्गजम् ।
संसारसङ्गरे सम्यग्वीरतामागतं मनः ॥ ३५ ॥
परिगलितविकल्पतामुपेतं
प्रगलितवाञ्छमदीनसारसत्त्वम् ।
त्रिजगति यदतिप्रसन्नरूपं
प्रमुदितमन्तरनुत्तमं मनो मे ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे विश्रान्तिवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

हे भगवान् ! आपके प्रसाद से हम चित्र-विचित्र भूख-प्यास आदि से जनित व्याकुलताओं से परिपूर्ण काम आदिरूप छः तरङ्गों से युक्त तथा विशुद्ध चिदाकारवृत्ति से शून्य होने के कारण जड़रूप इस भवसागर से पार हो गये हैं ॥ ३३ ॥

हे परमेश्वर ! सम्पत्तियों की अवधि हमने जान ली आपत्तियों की सीमा का भी अन्त देख लिया है । हमें सारभूत भूमानन्द में भी दीनता नहीं है और अब हम पूर्णस्वरूप हो गये हैं ॥ ३४ ॥

मेरा मन इस संसाररूप समर-क्षेत्र में आशारूपी हाथियों का विदलन कर शत्रुओं से अभेद्य उत्कृष्ट वीरता को प्राप्त हो गया है ॥ ३५ ॥

समस्त विकल्प छिन्न-भिन्न और इच्छाएँ भी मेरे मन से निकल गई हैं । उसकी स्थिरता भी अकार्पण्य से दृढ़ हो गई है । तीनों लोकों में सबका अतिक्रमण कर प्रसिद्ध पूर्णचन्द्र, क्षीर-सागर, शरदाकाश आदि जितने प्रसन्न-स्वरूप पदार्थ हैं, भीतर से वह खिल उठा है । इसीलिए वह सर्वोत्तम होकर स्थित है ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में विश्रान्ति वर्णन नामक कुसुमलता का तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४३ ॥

४४

वसिष्ठ उवाच

केवलेनेन्द्रियैः सार्धं वर्तमानार्थवर्तिना ।
असंगमेन मनसा यत्करोषि न तत्कृतम् ॥ १ ॥
यथा प्राप्तिक्षणे वस्तु प्रथमे तुष्टये तथा ।
न प्राप्त्येकक्षणादूर्ध्वमिति को नाऽनुभूतवान् ॥ २ ॥
वाञ्छाकाले यथा वस्तु तुष्टये नाऽन्यदा तथा ।
तस्मात् क्षणसुखे सक्तिं बालो बध्नाति नेतरः ॥ ३ ॥
वाञ्छाकाले तुष्टये यत्तत्र वाञ्छैव कारणम् ।
तुष्टिस्त्वतुष्टिपर्यन्ता तस्माद्वाञ्छां परित्यज ॥ ४ ॥
यदि तत्पदमाप्नोऽसि कदाचित् कालपर्ययात् ।
तदहंभावनारूपे न मङ्क्तव्यं त्वया पुनः ॥ ५ ॥

४४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—भद्र, इन्द्रियों के साथ रागादि से शून्य तथा कर्तृत्वाभिमानरूप क्रियासम्बन्ध से वर्जित वर्तमानकालीन प्राप्त पदार्थों का व्यवहार करने वाले अन्तःकरण से यदि आप कुछ करते हों, तो वह किया गया नहीं माना जाता है ॥ १ ॥

जिस तरह प्राप्ति-समय में वस्तु तुष्टिसाधन होती है, उस तरह प्राप्ति के एक क्षण बाद वह तुष्टिसाधन नहीं होती है इस विषय का किसने अनुभव नहीं किया है ॥२॥

लाभ-काल में जैसे विषय तुष्टि के लिए होता है, वैसे ही दूसरे काल में नहीं होता है । इसलिए बालक ही क्षणिक सुख देने वाले विषयों में आसक्ति बाँधता है, दूसरा नहीं ॥ ३ ॥

जो वस्तु इच्छा काल में आनन्द साधन प्रतीत होती है, उसमें एक इच्छा ही मात्र कारण है । परन्तु यह तभी तक बना रहता है जब तक इच्छा रहती है आनन्द विरोधी अभिलाषा से ही आनन्द का विच्छेद हो जाता है, इसलिए आप इच्छा का परित्याग कर दें ॥ ४ ॥

यदि आप तत्पद की प्राप्ति आप ने कर ली हैं, तो किसी समय काल के व्यत्यय से आप अहंभावनारूप कीचड़ में न तो फँसें जायँ ॥ ५ ॥

आत्मज्ञानाचलस्याऽग्रे राम ! विश्रान्तवानसि ।
अहंभावमहाश्वभ्रे न पुनः पातमर्हसि ॥ ६ ॥
यत्स्मृतानन्तसद्ब्रह्मदृष्टेर्ज्ञत्वमेरुशिरःस्थितेः ।
पुनर्गर्भानुकारान्तःपाताले पतनं कुतः ॥ ७ ॥
दृश्यते ते स्वभावोऽयं समतासत्यतामयः ।
मन्ये क्षीणविकल्पोऽसि जातोऽसि हतकालिकः ॥ ८ ॥
स्वभावे संस्थितो राम ! इत्यावेदयतीव मे ।
सौम्य ! पूर्णार्णवप्रख्या समता निर्मला तव ॥ ९ ॥
आशा यातु निराशत्वमभावं यातु भावनम् ।
अमनस्त्वं मनो यातु तवाऽसङ्गेन जीवतः ॥ १० ॥
यां यां वस्तुदृशं यासि तस्यां तस्यामवस्थितम् ।
सत्तासामान्यरूपेण ब्रह्म बृंहितचिद्घनम् ॥ ११ ॥
अज्ञातात्मा निबद्धोऽसि विज्ञातात्मा न बध्यसे ।
राम ! त्वं स्वात्मनाऽऽत्मानं बोधयस्व बलादतः ॥१२॥

हे श्रीरामजी ! आत्मज्ञानरूपी पर्वत की चोटी पर आपने विश्राम कर लिया है, अत: अहंभावरूपी महागर्त में फिर गिरने योग्य नहीं हैं ॥ ६ ॥

जिसने निरन्तर असीम सद्ब्रह्मदृष्टि का स्मरण कर कर लिया है और तत्त्वज्ञानरूप सुमेरु पर्वत के शिखर पर स्थान पा लिया है, उस पुरुष का (गर्भ का) अनुसरण कर जन्म आदि अनर्थ पैदा करने वाले अहंभावरूप अन्त:-पाताल में पतन कैसे हो सकता है ? ॥ ७ ॥

आपका जो यह समता एवं सत्यतामय स्वभाव मुझे दिखाई देती है, इससे मैं अनुमान करता हूँ कि आप विकल्परहित और अविद्यारहित हो चुके हैं ॥ ८ ॥

हे सौम्य श्रीराजी ! अपने चैतन्य स्वभाव में भली-भाँति अवस्थित हैं इसका मुझे प्रत्यक्ष करा रहे हैं। पूर्ण सागर के सदृश निर्मल समता आप में विद्यमान है ॥९॥

भद्र, अनासक्ति से जीवित आपकी आशा निराशा में परिणत हो जाय, भावना अभावना में परिणत हो जाय और मन अमनोरूप में परिणत हो जाय ॥ १० ॥

जिस वस्तु दृष्टि की ओर आप जाते हैं, वस्तु दृष्टि में सामान्यसत्ता स्वरूप से वृद्धिगत चिद्घनरूप ब्रह्म अवस्थित है ॥ ११ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! यदि आत्मा आपको अज्ञात है तो आप पूर्वरूप से बद्ध हैं और यदि आत्मा विज्ञात है तो आप बद्ध नहीं हैं, इसलिए मनन आदि की दृढ़ता से अपनी ही आत्मा द्वारा आत्मा को जाग्रत कीजिए ॥१२॥

आत्माभोग सुख का आस्वाद जिस दशा में नहीं लेता

यत्र न स्वदते वस्तु स्वदते च यथागतम् ।
अवासनत्वं तद्विद्धि साम्यमाकाशकोमलम् ॥ १३ ॥
वासनारहितैरन्तरिन्द्रियैराहर क्रियाः ।
न विक्रियामवाप्नोषि भवत् क्षोभशतैरपि ॥ १४ ॥
ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं त्रयमेकतयाऽऽत्मनि ।
शान्तात्माऽनुभवाऽभव्यं न भूयो भवभागसि ॥ १५ ॥
चित्तोन्मेषनिमेषाभ्यां संसारप्रलयोदयौ ।
वासनाप्राणसंरोधादनिमेषं मनः कुरु ॥ १६ ॥
प्राणोन्मेषनिमेषाभ्यां संसृतेः प्रलयोदयौ ।
तमभ्यासप्रयोगाभ्यामुन्मेषरहितं कुरु ॥ १७ ॥
मौर्ख्योन्मेषनिमेषाभ्यां कर्मणां प्रलयोदयौ ।
तद्विलीनं कुरु बलाद्गुरुशास्त्रार्थसंयमैः ॥ १८ ॥
यथा वातरजःसङ्गस्पन्दात् खं भाववेदनम् ।
तथा चितश्चेत्यतया स्पन्दादिदमुपस्थितम् ॥ १९ ॥

और प्रारब्धवश प्राप्त हुए दु:ख आदि का स्वाद लेता है, उसे आकाश के समान कोमल समतारूप वासना शून्यभाव की दशा जानिये ॥ १३ ॥

आप भीतर से वासना रहित इन्द्रियों द्वारा व्यवहारिक क्रियाएँ करें। ऐसा करने से आप सैकड़ों विक्षोभों की प्राप्ति होने पर भी आकाश की तरह विकार को प्राप्त नहीं होंगे ॥ १४ ॥

आप ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेयरूप इन तीनों को दु:ख आदि को भी उक्त त्रिपुटी में एकीकरण कर एक रूप से अपनी आत्मा में अनुभव करें। इससे आप कूलता नष्ट हो जाने के कारण फिर संसार के भागी होंगे ॥ १५ ॥

मन के उन्मेष और निमेष से संसार की उत्पत्ति विनाश होते हैं, इसलिए पहले वासना और प्राण निरोधकर आप मन का निरोध कर दीजिए ॥ १६ ।

प्राण के उन्मेष और निमेष से संसार का उदय अस्त होता है, इसलिए उसे अभ्यास और प्रकृष्ट योग आप निरुद्ध कीजिए ॥ १७ ॥

अज्ञान के आगम और अपाय से कर्मों का आगम और अपाय होता है, इसलिए बल से गुरूपदिष्ट शास्त्रार्थ और संयमों से आप उसका विलय कर दीजिए ॥ १८ ॥

चिति के चित्तरूप स्पन्दन से चेत्यरूपी यह अनर्थ जल वैसे ही उपस्थित हो जाता है जैसे आकाश वायु और रज के सम्बन्ध एवं स्पन्दन से मलिन, चलन आदि स्वभाववाला ज्ञात हो जाता है ॥ १९ ॥

दृश्यदर्शनसम्बन्धस्पन्देनेयं जगद्गतिः ।
स्फुरत्यालोककुडचादिसङ्गजा वर्णधीरिव ॥ २० ॥
दृश्यदर्शनसम्बन्धस्पन्दाभावे न जायते ।
वेदना भवदाभासा चित्रपुंसामिवाऽऽशये ॥ २१ ॥
चित्तस्पन्दोत्थिता माया तदभावे विलीयते ।
पयःस्पन्दोत्थिता वीचिस्तदभावे विनश्यति ॥ २२ ॥
त्यागेन वासनांशस्य बोधाद्वा प्राणरोधनात् ।
चित्ते निस्पन्दतां याते कुतः स्पन्दस्य संभवः ॥ २३ ॥
असंवित्स्पन्दमात्रेण याति चित्तमचित्तताम् ।
प्राणानां वा निरोधेन तदेव च परं पदम् ॥ २४ ॥
दृश्यदर्शनसम्बन्धे यत्सुखं पारमार्थिकम् ।
तदन्तैकान्तसंवित्त्या ब्रह्मदृष्टया मनःक्षयः ॥ २५ ॥

जैसे अनेक छिद्रों से प्रविष्ट सूर्यप्रकाश और भित्ति के सम्बन्ध से चित्रविचित्र वर्ण बुद्धि स्फुरित होती है। वैसे ही हृदय और दर्शन के सम्बन्धरूप स्पन्दन से यह संसार की गति स्फुरित होती है ॥ २० ॥

जैसे चित्रलिखित पुरुष के हृदय में नहीं होती वैसे ही हृदय और दर्शन के सम्बन्धरूप स्पन्दन का अभाव होने पर हृदय में जगद्रूप आभास की भावना उस प्रकार उत्पन्न नहीं होती ॥ २१ ॥

जैसे जल स्पन्दन से जनित तरङ्ग जल स्पन्दन का अभाव होने पर विलीन हो जाता है वैसे ही चित्त के स्पन्दन से जनित माया चित्त स्पन्दन का अभाव होने पर उस प्रकाश में विलीन हो जाती है ॥ २२ ॥

वासनांश के त्याग से, बोध से अथवा प्राण के निरोध से चित्त के स्पन्दन रहित हो जाने पर कूटस्थत्वप्रच्युतिरूप स्पन्दन कहाँ से उत्पन्न होगा ? ॥ २३ ॥

वृत्तिरूप चित्त स्पन्दन के अभाव मात्र से अथवा प्राण के निरोध से चित्त अचित्तरूपता प्राप्त करता है और वही परम पद है ॥ २४ ॥

विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर अनुभूत परमार्थरूप से ब्रह्म-सुख ही है। उस सुख की परमावधि भूत निरतिशयानन्दपूर्ण आत्मा की ब्रह्मदृष्टि से मन का क्षय सिद्ध हो जाता है ॥ २५ ॥

चित्त जहाँ उदित नहीं होता वह सुख स्वाभाविक ब्रह्मसुखरूप ही है। मरुभूमि में ठण्ढे जल से परिपूर्ण सरोवर की तरह सुख स्वर्गादि भोगभूमियों में नहीं हो सकता है क्योंकि वहाँ चित्त काम, आसूया आदि से कलुषित

यत्र नाऽभ्युदितं चित्तं तत्सुखमकृत्रिमम् ।
न स्वर्गादौ संभवति मरौ हिमगृहं यथा ॥ २६ ॥
चित्तोपशमजं स्फारमवाच्यं वचसा सुखम् ।
क्षयातिशयनिर्मुक्तं नोदेति न च शाम्यति ॥ २७ ॥
बोधाद्भवति चित्तान्तो दुर्बोधाच्चित्तवेदिता ।
बालवेतालवत्तेन मोहश्चैर्घनतां गता ॥ २८ ॥
विद्यमानमपि ह्येतच्चित्तं बोधाद्विलीयते ।
सदसप्यसदिवाऽऽभाति ताम्रं हेमीकृतं यथा ॥ २९ ॥
ज्ञस्य चित्तं न चित्ताख्यं ज्ञचित्तं सत्त्वमुच्यते ।
नामार्थान्यत्वभाक्चित्तं बोधात्ताम्रसुवर्णवत् ॥ ३० ॥
न संभवति चित्तत्वं तेन तत्प्रविलीयते ।
भ्रमः शाम्यति बोधेन नाऽभावो विद्यते सतः ॥ ३१ ॥

रहता है ॥ २६ ॥

चित्तविलय से जनित विस्फार सुख वाणी से भी नहीं कहा जा सकता, केवल अपने अनुभव से ही समझा जा सकता है। विनाश और अतिशय से विनिर्मुक्त अपने अनुभव से ही समझा जा सकता है। विनाश और अतिशय से विनिर्मुक्त वह अनिर्वचनीय सुख न तो उदित होता है और न प्रशान्त ही होता है ॥ २७ ॥

तत्वज्ञान से चित्त का अन्त होता है। भ्रान्तिवश ही चित्त का सद्भाव ज्ञात होता है, बालकल्पित वेताल की तरह भ्रान्ति से मोह भी घनरूपता को प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

ज्ञानी का चित्त बोध से विलीन हो जाता है और सुवर्णीकृत ताम्र की तरह सत् होता हुआ असत्-सा भान होता है ॥ २९ ॥

ज्ञानी का चित्त चित्तनाम का नहीं कहा जाता है ज्ञानी का चित्त सत्त्व कहा जाता है। जैसे ताम्र सोना होकर नामतः और अर्थतः वैसे ही अन्य हो जाता है बोध से ज्ञानी का चित्त नामतः और अर्थतः अन्य हो जाता है ॥ ३० ॥

चित्त का स्वरूप वास्तव में किसी काल में नहीं है, उसका स्वरूप भ्रान्ति जनित है, इसलिए उसका विलय हो जाता है। भ्रान्ति तत्वज्ञान से शान्त हो जाती है। सद्रूप वस्तु का कभी विनाश नहीं होता। इसलिए घटादि का विनाश होने पर भी कपाल आदिरूप से उनका अवशेष दिखाई पड़ने से सद्वस्तु का स्वरूपतः विनाश कहीं पर भी प्रसिद्ध नहीं है ॥ ३१ ॥

अवस्त्वेव विकल्पात्म चित्तादि शशशृङ्गवत् ।
सर्वं तदात्मनस्तस्मात्तद्धि बोधाद्विलीयते ।। ३२ ।।
चित्तं सत्त्वं समायातं किञ्चित्कालं जगत्स्थितौ ।
विहृत्य तुर्यावस्थायां तुर्यातीतं भवत्यतः ।। ३३ ।।
ब्रह्मैव भूरिभुवनभ्रमविभ्रमौघै-
रित्थं स्थितं सममनेकतयैकमेव ।
सर्वात्म संभवति नेतरदङ्ग किञ्चि-
च्चित्तादिकं च न हृदीव हि सन्निवेशः ।। ३४ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
चित्तसत्तासूचनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ।। ४४ ।।

शशशृङ्ग की तरह विकल्परूप चित्तादि अवस्तुभूत ही है, वे सब परमार्थिक रूप आत्मा के विवर्त हैं, इसलिए उनका आत्मज्ञान से विलय हो जाता है ।। ३२ ।।

संसारिक अवस्था में कुछ काल तक सत्वरूपता को प्राप्त यह चित्त तुरीयावस्था में बिहार कर तुरीयातीत हो जाता है। बिहार, समाधि और तत्वसाक्षात्कार पर्यन्त उसकी अवस्था परमार्थिक नहीं रहती है। प्रारब्ध से प्रतिबद्ध अविद्यावश से जनित बाधितानुवृत्ति रहता है। विदेह कैवल्य में आविर्भूत तुर्यातीतावस्था ही उसकी परमार्थ सत्यता है, ।। ३३ ।।

परम सूक्ष्म छिद्र शून्य चिदेकरसघन ब्रह्म में भी समावेश न हो सकने के कारण जगत् भी वैसे ही नहीं है जैसे मनोरथ से कल्पित महल, उपवन, वापी आदि का सन्निवेश हृदय में समावेश न हो सकने के कारण ही वास्तव में कुछ नहीं है, ब्रह्म ही अनेक भुवनरूप भ्रम-विभ्रमों के समूह से स्वयं सम, सर्वात्मक और एकरूप का भी वैसे ही अनेकरूप से स्थित है। वास्तव में दूसरा कुछ नहीं है ।। ३४ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
चित्तसत्तासूचन नामक कुसुमलता का चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। ४४ ।।

४५

वसिष्ठ उवाच

अत्रेमामवबोधाय विस्मयोल्लासकारिणीम् ।
अपूर्वां चैव संक्षेपाद्राम ! रम्यां कथां शृणु ।। १ ।।
योजनानां सहस्राणि विपुलं विमलं स्फुटम् ।
युगैरप्यजरद्रूपमस्ति बिल्वफलं महत् ।। २ ।।
अविनाशरसाधारं सुधामधुरसारवत् ।
पुराणमपि बालेन्दुदलमार्दवसुन्दरम् ।। ३ ।।
व्यूहमध्यमहामेरुं मन्दराद्रिरिवाऽचलम् ।
महाकल्पान्तवात्याया अपि वेगैरचालितम् ।। ४ ।।
योजनायुतकोटीनां कोटिलक्षशतैरपि ।
वैपुल्येनाऽपरिच्छेद्यं मूलमाद्यं जगत्स्थितेः ।। ५ ।।
यस्य बिल्वफलस्योच्चैर्ब्रह्माण्डानि समीपतः ।
हरन्ति लीलां शैलाधो राजिकाकणपद्धतेः ।। ६ ।।

४५

श्री वसिष्ठजी ने कहा—तत्त्वज्ञान के लिए इस विषय में आप आश्चर्य और उल्लास की जनक, अपूर्व, रमणीय यह बिल्वोपाख्यायिका संक्षेप से सुनिये ।। १ ।।

हजारों योजन विस्तृत विमल स्पष्ट एक बहुत बड़ा बिल्वफल है, युगों से जिसका स्वरूप जीर्ण-शीर्ण नहीं हुआ है ।। २ ।।

बिल्वफल वह अविनाशी रस का आश्रय है, उसका सार अमृत की तरह मधुर है, वह पुराना होने पर बालचन्द्र की प्रतिदिन बढ़ने वाली कलाओं की तरह मृदुलता से त्वचा और नेत्रों को सुखकर स्पर्श देने के कारण सुन्दर है ।। ३ ।।

वह भुवनों समूहों के मध्य में स्थित मेरुपर्वत की तरह प्रधान स्तम्भ है, मन्दराचल की तरह दृढ़ है और महाप्रलय की प्रचण्ड वायु के वेग से चालित नहीं होने वाला है ।। ४ ।।

सैकड़ों कोटिलक्ष गुने दस हजार करोड़ योजनों के विस्तार से भी नापा नहीं जा सकनेवाला वही बिल्वफल इस जगत् के धारण एवं नियमन का आद्य मूल है ।। ५ ।।

जैसे पर्वतों के नीचे सूक्ष्मभूत सरसों के कणों की पंक्तियाँ शोभा धारण करती हैं वैसे ही वह ऐसा विल्वफल है कि जिसके समीप में उन्नत सभी ब्रह्माण्ड शोभा धारण करती है ।। ६ ।।

स्यन्दमानरसापूरां स्वाद्वीं रसचमत्कृतिम् ।
यस्याऽतिशेते न कश्चिदपि राघव ! षड्रसः ॥ ७ ॥
न कदाचन पाकेन पातं तेन समेति यत् ।
सदैव पक्वमप्यङ्ग जरसा यन्न बाध्यते ॥ ८ ॥
ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्राद्या जरठाः केचिदेव न ।
यस्योत्पत्तिं विजानन्ति मूलं वा वृन्तमेव च ॥ ९ ॥
अदृष्टाङ्कुरवृक्षस्य त्वदृष्टकुसुमाकृतेः ।
अस्तम्भमूलशाखस्य फलस्याऽस्य महाकृतेः ॥ १० ॥
एकपिण्डघनाकारविततस्थौल्यशालिनः ।
यस्योत्पत्तिविकारादिपरिणामो न दृश्यते ॥ ११ ॥
समस्तफलसारस्य फलस्याऽस्य महाकृतेः ।
न मज्जा नाऽष्ठि विततो निर्विकारो निरञ्जनः ॥ १२ ॥
शिलान्तरिव नीरन्ध्रः स्यन्दमानेन्दुबिम्बवत् ।

हे राघव ! इस बिल्वफल से चू रहे रस से परिपूर्ण अत्यन्त स्वादयुक्त रस चमत्कार का कोई भी प्रसिद्ध षड्रस अतिक्रमण नहीं कर सकता है ।। ७ ॥

वैसे रस से परिपूर्ण होने पर भी पाक से वह कभी नहीं गिरता है । भद्र, सर्वदा ही पके हुए उस बिल्वफल को जीर्णता बाधा नहीं पहुँचाती है ॥ ८ ॥

ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र आदि कोई भी चिरजीवी लोग इस बिल्वफल की उत्पत्ति को नहीं जानते और न इसके मूल और टहनी को ही जानते हैं ।। ९ ॥

जिसका अङ्कुर और वृक्ष नहीं देखा गया है, जिसके फूलों का आकार भी नहीं देखा गया है, स्तम्भ, मूल और शाखा से रहित, महान् आकारवाले, एकमात्र पिण्डीभूत चिद्घनाकार अत्यन्त विस्तृत स्वभाव इस फल की उत्पत्ति, विकार, परिणाम आदि कभी भी नहीं दिखाई पड़ते ॥ १०, ११ ॥

समस्त फलों एवं पुरुषार्थों में श्रेष्ठ, महान् आकार वाले इस फल में न गुद्दा है और न गुठली ही है, अतः अत्यन्त विस्तृत यह निर्विकार एवं निरञ्जन ही है ॥ १२ ॥

वह शिला के भीतरी प्रदेश की तरह छिद्र रहित घनीभूत है और अमृत स्राव कर रहे चन्द्रबिम्ब की तरह स्वानुभव से अमृत की तरह स्वाद लेने योग्य यह बिल्व निरतिशय आनन्द स्वरूप रस बहा रहा है ॥ १३ ॥

यह बिल्वफल सम्पूर्ण सुखों का एक निधि है, शीतल प्रकाश देनेवाला है, पर्वत के समान शोभा से युक्त है, अमृत के गोले की कान्ति धारण करता है और आत्मा के कर्मफलों की स्थिति का यानी मनुष्य के आनन्द से लेकर हिरण्यगर्भ के आनन्द पर्यन्त कर्म-फलों की स्थिति का सारभूत पदार्थ है ॥ १४ ॥

रसं स्वसंविदाऽऽस्वाद्यं स्यन्दमान इवाऽमृतम् ॥ १३ ॥
कोशः सकलसौख्यानां शीतलालोककारकः ।
शैलाभोऽमृतपिण्डाभो मज्जा आत्मफलस्थितेः ॥ १४ ॥
तस्मात् परममज्जा तु याऽसौ स्वात्मचमत्कृतिः ।
अनन्तरक्षितो नित्यमनन्यः श्रीफलं गतः ॥ १५ ॥
स्वसन्निवेशवैचित्र्यमन्यत्वफलतां गतम् ।
अत्यजन्त्या तया तन्व्या स्थूलयाऽप्यतिबालया ॥ १६ ॥
इयमस्मीति कलनादसदप्यन्यतामलम् ।
भेदाद्यसंभवदिदं स्वयमुत्पाद्य भावितम् ॥ १७ ॥
अहङ्कलासमुदयसमनन्तरमेव सा ।
वलिताऽऽकाशशब्दाङ्गत्रैलोक्यपरमाणुभिः ॥ १८ ॥
इत्यनुक्रमतो याता संविच्छक्तिस्वरूपताम् ।
मज्जाप्राक्सन्निवेशं स्वं तमेवाऽप्यसमुज्झती ॥ १९ ॥

हिरण्यगर्भ के आनन्द से भी बढ़ कर आत्मा की चमत्कृति है, इस परम अव्यक्त की सारभूत वस्तु है; देश, काल और वस्तु से जनित त्रिविध परिच्छेद से शून्य स्वभाव से उसकी रक्षा हुई है । वास्तव में स्व-स्वरूप आत्मा ही इस बिल्वफलरूपता को प्राप्त है, अतः वह अद्वितीय ही है ॥ १५ ॥

सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, महान् से भी महान्, पुराना होने पर भी वृद्धि आदिविकारों से रहित न अत्यन्त बालस्वरूप तथा अपने में अध्यस्त भेदमात्र की फलरूपता में पर्यवसित एकमात्र चैतन्यात्मक रस के सारभूत परमार्थिक स्वकीय सन्निवेशवैचित्र्य का त्याग न करती है उस स्वात्मचमत्कृति ने 'यह देहादि मैं हूँ' इस प्रकार की कल्पना के द्वारा असत् और अन्यता की आपादक अविद्यारूप मल के असं-भावित भूत, भुवन आदि भेदों के रूप से स्वयं ही उत्पा-दन कर केवल भावना है, वास्तव में भावना नाम की कोई वस्तु न होने से यह अद्वितीय है ॥ १६-१७ ॥

व्यष्टि-समष्टिरूप से अहङ्कार की उत्पत्ति होने के बाद ही वह आत्मचमत्कृति आकाश और आकाश के गुण शब्दरूपी अङ्कों से युक्त समष्टिरूप शरीरों के परमाणुओं से संवलित हो जाती है ॥ १८ ॥

अपने पहले के चैतन्यात्मक सारस्वरूप रचना का अत्याग कर यह चिति इस प्रकार क्रमशः व्यवहार में समर्थ स्वरूपता को प्राप्त कर लेती है ॥ १९ ॥

संविच्छक्त्या तया तत्र ततस्तरलरूपया ।
निज एव समे रूपे दृगित्थं संप्रसारिता ॥ २० ॥
इदं व्योममहानन्तमिदं कालमयी कला ।
इयं नियतिरित्युक्ता क्रियेयं स्पन्दरूपिणी ॥ २१ ॥
अयं सङ्कल्पविस्तारस्त्वयमाशान्तरभ्रमः ।
रागद्वेषस्थितिरियं हेयोपादेयधीरियम् ॥ २२ ॥
इयं त्वत्ता त्वियं मत्ता तत्तेयं संस्थिता स्वयम् ।
ब्रह्माण्डौघोऽयमूर्ध्वस्थः स्वयमङ्गोर्ध्वमप्यधः ॥ २३ ॥
अयं पुरः पार्श्वतोऽयं पश्चादाराद्दवीयसी ।
इदं भूतं वर्तमानं भविष्यत्त्विदमित्यपि ॥ २४ ॥
इदमन्तःस्थितानल्पकल्पनाम्भोरुहालयम् ।
ब्रह्माण्डमण्डपापीडक्रीडामण्डपमण्डलम् ॥ २५ ॥
अनन्तकलनातत्त्वपरिपल्लविता हरेः ।

व्यवहारसमर्थस्वरूपता को प्राप्त करने के बाद चञ्चलस्वरूप वाली उस चितिशक्ति ने अपने निर्विकार रूप में ही इस तरह की जगदाकार दृष्टि फैलाई है ॥ २० ॥

यही चितिशक्ति महान् एवं अनन्त आकाशरूप है, यही काल की क्षण, घड़ी, दिन, मास, वर्ष, कल्प आदि कला है। यही 'नियति' इस नाम से कही गई है और यही स्पन्दनरूपिणी क्रिया है ॥ २१ ॥

यही चितिशक्तिस्वरूप ब्रह्म संकल्प का विस्तार है, यही दूसरी दिशा में दूसरी दिशा का भ्रम है, यही चितिशक्ति राग-द्वेष की अवस्था है और यही हेय ओर उपाहेय बुद्धि है ॥ २२ ॥

यही चितिशक्ति त्वद्रूप है, यही 'मत्ता' अहंरूप है और यही स्वयं 'तत्ता' रूप अर्थात् ब्रह्मरूप होकर स्थित है। यही चितिशक्तिस्वरूप आत्मा ऊपर के ब्रह्माण्डों का समूह है और स्वयं यह ऊपर तथा नीचे भी स्थित है ॥ २३ ॥

यही चितिशक्तिस्वरूप आत्मा आगे है, यही दोनों ओर पीछे, समीप और दूरतर है। यही ब्रह्म भूत एवं वर्तमान वस्तुरूप है और यही भविष्यत् भी है ॥ २४ ॥

इसी ब्रह्म में कल्पनारूपी कमलों के आश्रय में अनन्त जीव भीतर अवस्थित है, यही ब्रह्माण्ड-मण्डप का शिखा-भूषण है और उसकी क्रीडा के मण्डप का मण्डल है ॥ २५ ॥

यही चितिशक्ति अनन्त रचनाओं के रहस्यों से चारों ओर पल्लवित नारायण का हृदय-कमल और लोकरूपी कमलगट्टों की माला का छत्ता है ॥ २६ ॥

हृदब्जकर्णिका चेयं लोकपद्माक्षमालिका ॥ २६ ॥
इयं ‌कीर्णमहारुद्रगणापूरितकोटरा ।
दीर्घाभ्रसरणिर्भ्रान्तिध्वंसनेभ्यः प्रभाविनी ॥ २७ ॥
इयं मेरुः ककुभ्यत्र जगत्पङ्कजकर्णिका ।
स्फुरदिन्दुमधूल्लासलम्पटामरषट्पदा ॥ २८ ॥
इयमुद्दामसौगन्ध्यस्वर्गश्रीपुष्पमञ्जरी ।
जगज्जरठवृक्षस्य रजोनरकमूलिनः ॥ २९ ॥
इयं च ताराकिञ्जल्का ब्रह्मार्णवतटस्थिता ।
अपारापारपर्यन्ता व्योमलीलासरोजिनी ॥ ३० ॥
इयं क्रियापरिग्राहा तरङ्गतरलावली ।
सर्गावर्तविधानस्थभूरिभूतपरम्परा ॥ ३१ ॥
इयत्तया प्रसरिणी क्षणकल्पादिपल्लवा ।
तेजःकेसरिणी कालनलिनी व्योमपङ्कजा ॥ ३२ ॥

इस चितिशक्ति के कोटर चारों ओर व्याप्त महारुद्र के गणों से भरे हैं, यही लम्बी आकाशरूपा सरणि है और विषयों में लम्पट स्वर्गस्थ जनों के अधःपात में निमित्त होने के कारण ऊपर प्रभाव रखने वाली भी यही है ॥ २७ ॥

यही इस उत्तर दिशा में स्थित मेरुपर्वत है और जगत्-रूपी कमल का वह छत्ता है, जहाँ स्फुरित हो रहे चन्द्ररूप मधु के अमृत-मकरन्द में देवतारूप भ्रमर लम्पट है ॥ २८ ॥

रजोगुण के कार्य, राग आदि से एवं दुःखों से जिसकी जड़ बनी है, ऐसे जगद्रूप पुराने वृक्ष के उत्कट सुगन्धि से युक्त स्वर्ग-शोभारूप फूलों की मञ्जरी यही चितिशक्ति है ॥ २९ ॥

यही चितिशक्ति तारा-गणरूप केसरों से समन्वित, ब्रह्माण्डरूपी समुद्र के तीरपर स्थित, ऊपर अपार सीमा-वाली व्योमाकार कमलिनी या सरोवर ही है ॥ ३० ॥

जिसमें चारों ओर कर्मस्वरूपी मगर विद्यमान है ? जिसमें तरङ्गों की तरह चञ्चल, मास, ऋतु आदि की पँक्तियाँ है प्रजोत्पादनरूप भँवरों के कार्यों में स्थित भूत परम्पराओं से युक्त है ॥ ३१ ॥

प्राणियों के आयुःपरिमाण से विस्तृत, क्षण, कल्प-आदि पल्लवों से युक्त, तेजों से अग्नि, सूर्य, चन्द्र, आदि से केसरों वाली और आकाशरूप कमलों से समन्वित काल-रूपी नलिनी सरोवर यही चितिशक्ति है ॥ ३२ ॥

इमा भावविकाराढ्या जरामृतिविषूचिकाः ।
विद्याविद्याविलासाढ्या इमाः शास्त्रार्थदृष्टयः ॥ ३३ ॥
इति सा तस्य बिल्वस्य निजमज्जाचमत्कृतिः ।
सङ्कल्पसन्निवेशान्तरेवैवं कृतसंस्थितिः ॥ ३४ ॥
शान्ता स्वस्था निराबाधा सौम्या भावनयोज्झिता ।
कर्तृत्वमप्यकर्तृत्वं कृत्वाऽकृत्वेव संस्थिता ॥ ३५ ॥
एषैकिकैव विविधेव विभाव्यमाना
नैकात्मिका न विविधा ननु सैव सैव ।
सत्यास्थिता सकलशान्तिसमैकरूपा
सर्वात्मिकाऽतिमहती चितिरूपशक्तिः ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे बिल्वोपाख्याने पञ्चचत्वारिंशः सर्ग ॥ ४५ ॥

भाव विकारों से परिपूर्ण जरा-मरणरूपी महामारियाँ सब यह चितिशक्ति ही है । विद्या एवं अविद्या के विलास से पूर्ण ये शास्त्रीयविषयों की दृष्टियाँ भी यही चितिशक्ति है ॥ ३३ ॥

उस बिल्वफल के स्वकीय सार की चमत्कृति यह वर्णित है उसी ने व्यष्टि एवं समष्टि के संकल्प-सन्निवेश के भीतर ही अपनी स्थिति की है ॥ ३४ ॥

सर्वोपद्रवों से रहित अपने स्वरूप में स्थित, सर्वविध पीडाओं से शून्य, सौम्य तथा कल्पनाओं से रहित यह चितिशक्ति वास्तव में पदार्थों की रचना न करने के कारण कृतिशून्य होती हुई भी पदार्थ रचना कर कृतियुक्त के समान अवस्थित है ॥ ३५ ।

वास्तव में एकस्वरूप भी यह चितिशक्ति अज्ञानियों द्वारा नाना प्रकार की-सी कल्पित की जा रही है । वह न एकात्मिका है और न विविध ही है, किन्तु वह एकत्वरूप है और एकत्व भी तत्स्वरूप ही है । वह सत्यस्वरूप होकर अवस्थित है, द्वैत-विकल्पों की शान्ति हो जाने से सम, एकरूप और सर्वात्मिका है । मैंने आप से अत्यन्त महान् ब्रह्मशब्द से लक्षित होने वाली चिति शक्ति का वर्णन किया है ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में बिल्वोपाख्यान नामक कुसुमलता का पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४५ ॥

४६

श्रीराम उवाच

भगवन् सर्वसारज्ञ त्वयैषा बिल्वरूपिणी ।
महाचिद्घनसत्तेह कथितेति मतिर्मम ॥ १ ॥
चिन्मज्जारूपमखिलमहन्तादीदमाततम् ।
न मनागपि भेदोऽस्ति द्वैतैक्यकलनात्मकः ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

यथा ब्रह्माण्डकूष्माण्डमज्जा मेर्वादिसंस्थितिः ।
तथा चिद्बिल्वमज्जेयं ब्रह्माण्डादिजगत्स्थितिः ॥ ३ ॥
सृष्टिचिद्बिल्वमज्जा स्यात् स्वाधारान्यत्वसंभवे ।
विनाशः सर्वगस्याऽस्य न चैतत्संभवत्यलम् ॥ ४ ॥
चितेर्मरीचबीजस्य जगदाख्या चमत्कृतिः ।
स्थिता सौषुप्तसौम्यान्तः शिलान्तःसन्निवेशवत् ॥ ५ ॥

४६

श्रीरामजी ने कहा—सभीसार तत्त्व को जानने वाले हे भगवन् ! अभी अपने बिल्वफल के रूप से महा चैतन्य घन की सत्ता का ही वर्णन किया है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥ १ ॥

विस्तार को प्राप्त ये अहन्ता आदि पदार्थ चैतन्य सार स्वरूप हैं, द्वित्व-एकत्व की कल्पनारूप भेद तनिक उसमें भी नहीं है ॥ २ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—चैतन्यात्मक इस बिल्व फल की मज्जा ब्रह्माण्ड आदि जगत् की वैसे ही स्थिति है जैसे ब्रह्माण्डरूप कूष्माण्ड की मज्जा मेरु पर्वत आदि की स्थिति है ॥ ३ ॥

सृष्टि स्वरूप चैतन्यात्मक इस बिल्व फल की मज्जा-रूप आधेय से खर्पर स्थानीय स्वाधार यदि कोई दूसरा हो तो मज्जा उसके अन्दर की परिणाम स्वरूप वैसे ही हो सकेगी जैसे बिल्व फलका खप्पड़ उस फल की मज्जा रूपी गुद्दी का आधार होता है ॥ ४ ॥

मरीच-बीज की तरह चिति की जगत्-नामक यह चमत्कृति सुषुप्ति के समान विकार-रहित शान्त चिति में, शिल्पकार के मन से कल्पित शिला के अन्दर पद्म-वन की रचना की तरह विवर्तरूप से ही स्थित है ॥ ५ ॥

अत्रेमामिन्दुवदन ! चित्रां विस्मयकारिणीम् ।
वर्ण्यमानां मया रम्यामन्यामाख्यायिकां शृणु ॥ ६ ॥
स्निग्धा स्पष्टा मृदुस्पर्शा महाविस्तारशालिनी ।
निबिडा नित्यमक्षुब्धा क्वचिदस्ति महाशिला ॥ ७ ॥
तस्यामन्तः प्रफुल्लानि पद्मानि सुबहून्यपि ।
सरस्यामिव रम्याणि तान्यनन्तानि सन्ति वै ॥ ८ ॥
अन्योन्यप्रोतपत्राणि मिथो विघटितानि च ।
मिथश्चोपनिगूढानि गूढानि प्रकटानि च ॥ ९ ॥
अधोमुखान्यूर्ध्वमुखान्यपि तिर्यङ्मुखानि च ।
मिथो मिलितमूलानि मिथः प्रोतमुखान्यपि ॥ १० ॥
कर्णिकाजालमूलानि मूलान्तःकर्णिकानि च ।
ऊर्ध्वमूलान्यधो मूलान्यमूलानीतराणि च ॥ ११ ॥

हे चन्द्र के समान मुखवाले श्रीराम ! इस प्रसङ्ग में कभी न सुनी गई आश्चर्यजनक, रमणीय और अन्य आख्या-ब्रह्मशिलाख्यायिका को आप श्रवण कीजिए ॥ ६ ॥

चित्त-प्रेम का आस्पद होने से स्निग्ध स्वयं प्रकाश से स्पष्ट प्रतीयमान; सुख की हेतु मृदुल स्पर्शवाली, असीम होने के कारण महाविस्तार से युक्त, सन्तत होनेसे निबिड, नित्य एवं अक्षुब्ध स्वभाववाली एक महती शिला है ॥७॥

जैसे सरसी में खिले हुए अधिक रमणीय कमल विराजमान होते हैं वैसे ही उस महा-शिला के भीतर मन की कल्पनाओं से अनन्त सभी भुवनादिरूप कमल विराज रहे हैं ॥ ८ ॥

उनमें से कुछ तो परस्पर गुथे गये पत्तों से समन्वित हैं कुछ परस्पर सम्बन्धरहित हैं और कुछ परस्पर एक-दूसरे से साक्षात् संश्लिष्ट हैं। कुछ गुप्त हैं कुछ प्रकट भी हैं ॥ ९ ॥

उनमें कुछ नीचे मुँहवाले हैं, कुछ ऊर्ध्व मुखवाले हैं और कुछ तिरछे मुँहवाले भी हैं। कुछ परस्पर मिले हुए मूलों से युक्त हैं तो कुछ परस्पर गुथे मुँहवाले भी हैं ॥ १० ॥

कुछ के मूल कमलों के छत्तों में हैं तो कुछ के मूल के अन्दर ही बीजकोश हैं। उन भुवन रूप कमलों के बीच किन्हीं के मूल ऊपर हैं, किन्हीं मूल नीचे की ओर हैं कुछ मूल रहित हैं तो और कुछ दूसरे तिरछे मूलवाले हैं, अर्थात् स्वर्ग आदि भुवनों का आधार ऊपर में स्थित ध्रुव-मण्डल है, पाताल लोक भू-लोक भुवनों का आश्रय नीचे की ओर है अर्थात् बाह्य स्थिति कूर्म है; शिवलोक, विष्णु-लोक नित्य है, अतः मूलरहित हैं ॥ ११ ॥

तेषां च निकटे सन्ति शङ्खाः शतसहस्रशः ।
चक्रौघाश्च महाकाराः पद्मवत्सन्निवेशिनः ॥ १२ ॥

श्रीराम उवाच

सत्यमेतन्मया दृष्टा तादृशी सा महाशिला ।
शालग्रामे हरेर्धाम्नि विद्यते पारिवारिणी ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवमेतद्विजानासि दृष्टवानसि तां शिलाम् ।
यो यश्च तत्र वै प्राणः समस्ताद्गगनन्तरः ॥ १४ ॥
मया त्वियमपूर्वैव शिलेह कथिता तव ।
यस्यामन्तर्महाकुक्षौ सर्वमस्ति च नाऽस्ति च ॥ १५ ॥
चिच्छिलैषा मयोक्ता ते यस्यामन्तर्जगन्ति वै ।
घनत्वैकात्मकत्वादिवशादेषा शिलैव चित् ॥ १६ ॥

और उन्हीं कमलों के समीप सैकड़ों-हजारों कमल-मुकुल के समान आकृतिवाले महाकार शङ्ख तथा विकसित कमल की तरह आकृतिवाले बड़े-बड़े चक्र-समूह भी हैं शङ्ख शब्द नक्षत्रादि चक्र शब्द से द्वीप कहा गय है ॥ १२ ॥

[शङ्ख शब्द से नक्षत्र; ग्रह, तारकागण आदि ज्योतिर्मण्डल ही विवक्षित हैं, क्योंकि समुद्र की तरह नीले आकाश में वे शंख-समूह की तरह भासते हैं। इसी प्रकार चक्रशब्द से मण्डलाकार द्वीप ही विवक्षित हैं, क्योंकि वे चक्रधारी की तरह आभासमान समुद्रों से उपलक्षित हैं, यह जान लेना चाहिए।]

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—आप के द्वारा वर्णित शिला सच है। शालग्राम नामक हरि के क्षेत्र में एक महा-शिला स्थित है, वह पद्म-वन के चिह्न से युक्त है, वह मैंने अपनी आँखों देखी है ॥ १३ ॥

महाराज वसिष्ठ जी ने कहा—मैंने जिस शिला का दृष्टान्त दिया है, वह मैंने देखी है, इस प्रकार आप व स्मरण ठीक ही है, और दार्ष्टान्तिक चिदात्मा जैसा छि शून्य चिद्घन, सम, प्राण का भी प्राण—निरतिशयानन्द स्वरूप है, उसके विषय में जो आपने देखा है, उसका १. आप स्मरण करते हैं ॥ १४ ॥

यहाँपर मैंने यह कोई अपूर्व शिला ही दृष्टान्तरूप से आपके समक्ष उपस्थित की है, जिसकी महाकुक्षि वे भीतर यह सब प्रपञ्च व्यवहार काल में विद्यमान रहत है और बाधकाल में अविद्यमान भी रहता है ॥ १५ ॥

आपसे उस चितिरूप शिला को ही मैंने कहा है, र सब जगत् जिसके भीतर विद्यमान हैं। लौकिक शिला के

अप्यत्यन्तघनाङ्गायाः सुनीरन्ध्राकृतेरपि ।
विद्यतेऽन्तर्जगद्वृन्दं व्योम्नीव विपुलानिलः ॥ १७ ॥
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
सन्ति तस्यां शिलायां च सुषिरं न मनागपि ॥ १८ ॥
अस्यामेव घनाङ्गात्मा जगत्पद्मं विजृम्भते ।
एतस्माद्वस्तुतो नाऽन्यदन्यच्छुद्धात्मकं च वा ॥ १९ ॥
शङ्खपद्मादिकं लोकं पाषाणे लिख्यते यथा ।
भूतं भवद्भविष्यच्च शिलायां शालभञ्जिका ।
तथाऽस्ति तत्र तत्सर्वं संस्थानं वस्तुतो यथा ॥ २० ॥
उपलोऽन्तःसन्निवेशो नानाऽत्माऽप्येकपिण्डताम् ।
यथाऽऽदत्ते तथैषा चित् पिण्डाकारैकिकां घनाम् ॥२१॥

सदृश इसमें निबिड़ता, एकरूपता, अभेद्यता आदि गुण होने के कारण यह चिति भी एक तरह की शिला ही है ॥ १६ ॥

अत्यन्त घनीभूत अङ्गोंवाली और छिद्रशून्य स्वरूपवाली होते हुए भी इस चितिरूप शिला के अन्दर मायावश यह जगत्-समूह वैसे ही रहता है जैसे आकाश में विपुल पवन रहता है ॥ १७ ॥

मायावश उस चिति रूप शिला में स्वर्ग, पृथिवी, वायु आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाओं को विद्यमान रहने पर भी उसमें तनिक भी छिद्र नहीं है ॥ १८ ॥

इसी चितिरूप शिला में घनीभूत अवयवोंवाला जगद्रूपी कमल विकसित है। यह उससे पृथक् भासित होता है; किन्तु वास्तव में उससे पृथक् नहीं है और न शुद्धिचित्स्वरूप ही है, केवल मायारूप ही वह है ॥ १९ ॥

श्री रामजी, एकमात्र मन की कल्पना से इस चितिरूप शिला में भूत, वर्तमान और भविष्यत्—सब प्रपञ्च वैसे ही चित्रित किया गया है जैसे पत्थर में चित्रकार की मनःकल्पना से शङ्ख, कमल आदि चित्र निर्मित किये जाते जाते हैं, शिला में जैसे शालभाञ्जिका (पुतली) आदि वास्तव-से प्रतीत होते हैं, पर शिलारूप ही है; वैसे ही चिति-शिला में सभी संस्थान वास्तव-से प्रतीत होने पर भी वास्तव में चितिरूप ही हैं ॥ २० ॥

जैसे भीतर स्थिति शङ्ख, कमल आदि आकारों से युक्त पत्थर अनेक-रूप से प्रतीयमान होने पर भी घनीभूत एक पिण्डरूपता को वैसे ही स्वीकार करता है ॥ २१ ॥

चिति के स्वरूप से अभिन्न होने पर भी यह सर्ग उससे अन्य परिच्छिन्न आकारवाला होकर उससे भिन्न-सा वैसे ही भासमाता हो, जैसे पाषाण-शिला के भीतर शिल्पी द्वारा लिखित कमल, उस शिलाकोश से अभिन्न होने पर

यथा पद्मः शिलाकोशादभिन्नस्तद्वपुर्मयः ।
तथा सर्गश्चितो रूपादभिन्नोऽपि वपुर्मयः ॥ २२ ॥
सुषुप्तावस्थया चक्रपद्मलेखाः शिलोदरे ।
यथा स्थिताश्चितेरन्तस्तथेयं जगदावली ॥ २३ ॥
शिलान्तः पद्मलेखाली मरिचान्तश्चमत्कृतिः ।
नोदेति नाऽस्तमायाति यथा सर्गस्तथा चितौ ॥ २४ ॥
यथा पुरन्ध्रचां मर्त्योऽन्तर्मज्जा वा बिल्वगा यथा ।
तथाऽनन्तविकाराढ्या चितौ ब्रह्माण्डमण्डली ॥ २५ ॥
विकारादि तदेवेति मुधैवोक्तिरनर्थिका ।
तत्तां समुपयात्याशु जलबिन्दुरिवाऽम्भसि ॥ २६ ॥

भी अपने परिच्छिन्न आकार से युक्त होकर उससे भिन्न-सा भासमान होता, पर वास्तव में भिन्न नहीं है ॥ २२ ॥

मन की कल्पना से पूर्व चितिशिला के भीतर ये जगद्रूपी पंक्तियाँ अव्याकृत अवस्था से वैसे ही अवस्थित हैं। जैसे टाँकी से छेदन करने पूर्व शिला के भीतर चक्र पद्म आदि की पंक्तियाँ अभिव्यक्त अवस्था से अवस्थित रहती हैं ॥ २३ ॥

इस चिति में भी यह सर्ग वैसे ही न उदित होता है और न अस्तमित ही होता है जैसे शिला और मरीच के रहते शिला के भीतर कल्पित पद्म-लेखा की पंक्ति एवं मरीच के भीतर स्थित तीक्ष्णतारूप चमत्कृति (कटुरस की स्फूर्ति) स्वाभाविक होने से न उत्पन्न होती है और न वह नष्ट ही होती है क्योंकि अपने आश्रय शिला आदि की जबतक स्थिति रहेगी तबतक दोनों का न उदय ही हो सकता है और न नाश ही हो सकता है ॥ २४ ॥

इस चिति में अनन्त विकारों से परिपूर्ण ब्रह्माण्ड-समूह वैसे ही सदैव रहता है जैसे सच्चरित्र पतिव्रता स्त्री के मन में उसका प्रिय पति सदैव रहता है, अथवा बिल्वफल के अन्दर मज्जा सदैव रहती है ॥ २५ ॥

भद्र ! ब्रह्माण्ड के विकार आदि चैतन्यमात्रस्वरूप हैं—यह कहना अर्थशून्य है, अतः यह कहना व्यर्थ ही है विकारी ब्रह्माण्ड के चैतन्यमात्रस्वरूप होने पर तब ब्रह्माण्ड के विकारभूत भुवन, शरीर आदि की चिन्मात्र-स्वरूपता अर्थतः ही सिद्ध हो जाती है, फिर अर्थशून्य होने के कारण वैसा कहना निष्फल होगा। ये विकार आदि ब्रह्माण्डों में चैतन्यमात्रस्वरूपता का साक्षात्कार करने के क्षण में ही जल में जल बिन्दु की तरह चैतन्य-मात्रस्वरूप हो जाते हैं, अणुमात्र भी उससे पृथक् नहीं रह जाते हैं ॥ २६ ॥

अनन्तत्वाच्चितेरेतद्विकारादि चितेरिति ।
उक्त्या सम्पद्यते यच्च तल्लयेन विलीयते ॥ २७ ॥
ब्रह्मैवेदं विकारादि विकाराद्यर्थवर्जितम् ।
वर्जनावर्जनेऽर्थस्य ब्रह्मैवाऽनन्ततावशात् ॥ २८ ॥
ब्रह्म स्थितं विकारादि ब्रह्मैवोत्पादितं क्रमात् ।
अत्राऽन्यार्थमिदं विद्धि मृगतृष्णाम्भसा समम् ॥ २९ ॥
बीजं पुष्पफलान्तस्थं बीजान्तर्नाऽन्यदात्मकम् ।
यादृशी बीजसत्ता सा भवन्ती यात्यथोत्तरम् ॥ ३० ॥
चिद्घने चिद्घनत्वं यत् स एव त्रिजगत्क्रमः ।
एकत्वमेतयोर्द्वित्वमेकाभावे द्वयोः क्षतिः ॥ ३१ ॥
जगदन्यभवोद्भूतिर्न कदाचित्तदीदृशम् ।
चिदचिन्न कदाचिच्च द्वयमन्तर्मिथोऽद्वयम् ॥ ३२ ॥

अनन्त शक्तिसम्पन्न चिति के होने के कारण विकार आदि की यह सृष्टि उस चिति से विकार आदि नाम पूर्वक ही हुई है, इसलिए उक्तिमात्र से सिद्ध उक्ति के प्रलय से लीन हो जायगा ॥ २७ ॥

ब्रह्म अनन्त है, अतः ये भुवन आदि विकारादि अर्थों से शून्य ब्रह्मरूप ही हैं। विषयों का ग्रहण और अग्रहण भी ब्रह्मरूप ही है ॥ २८ ॥

ब्रह्म ही विकार आदिरूप से अवस्थित है और ब्रह्म ही क्रमशः विकार आदि के रूप में उत्पन्न किया गया है। इस चिति-शिला के भीतर प्रतीत विकारादि अर्थ आप मृगतृष्णा-जल के सदृश ही असद्रूप ही जानिए ॥२९॥

फूल से लेकर फलतक अपने कार्यों में बीज अनुस्यूत-रूप से रहता है, अतः बीज के भीतर फूल, फल आदि बीज को छोड़कर दूसरा कुछ भी नहीं है; क्योंकि अङ्कुर आदि पूर्व-पूर्व विकारों में बीजशक्ति विद्यमान रहती है, वही उसके बाद उत्तर-काल में काण्डा, शाखा, पल्लव आदि रूपों में परिणत हो जाती है ॥ ३० ॥

चिद्घन इस आत्मा में चिद्घनत्व ही तीनों जगत् का बीज है; एकत्व की कल्पना के अधीन ही द्वित्व-कल्पना होने से अकल्पित चिन्मात्र ही तत्त्व है, अतः चिद्घनरूप बीज और उसके कार्य जगत् में एकत्व ही द्वित्व है, क्योंकि एक के अभाव में दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

बीज और उसके कार्य जगत् की उत्पत्ति चिति से अतिरिक्त जाड्य की कल्पना से ही होती है। चिति का वह रूप कभी-भी जड़स्वभाव नहीं हो सकता और न चिति कभी अचित् हो सकती है। बिल्व के भीतर मज्जा आदि की तरह ये बीज और कार्य एक-दूसरे से अभिन्न ही हैं ॥ ३२ ॥

महाशिलान्तरे भेदो लेखात्माऽस्ति यथा बहु ।
तदन्यानन्यमज्जादि चिद्घने त्रिजगत्तथा ॥ ३३ ॥
रेखोपरेखावलिता यथैका पीवरी शिला ।
तथा त्रैलोक्यवलितं ब्रह्मैकमिति दृश्यते ॥ ३४ ॥
एतच्छिलान्तरब्जादि यथा नित्यं सुषुप्तकम् ।
नाऽस्तमेति न चोदेति तथाऽहन्ता जगद्गतिः ॥ ३५ ॥
यथा शिलान्तर्लेखादि भिद्यते न शिलान्तरात् ।
तत्सारत्वाज्जगत्कर्तृकर्तृत्वादिजगच्चितिः ॥ ३६ ॥
यथा शिलान्तरब्जानां स्पन्दास्पन्दभवाभवाः ।
विषयत्वं न गच्छन्ति कर्तारो जगतस्तथा ॥ ३७ ॥
नेदं कदाचित् क्रियते न कदाचन नश्यति ।
अद्रिवत्प्रभवोल्लासविलासावेदनात्मकम् ॥ ३८ ॥

चिद्घन बिल्वफल में मज्जादिरूप त्रिजगत् कल्पना-वश उससे वैसे ही भिन्न है, वास्तव में उससे अनन्य है जैसे महाशिला के भीतर विद्यमान अनेक तरह भेद लेखनात्मक ही है ॥ ३३ ॥

अद्वितीय ब्रह्म ही त्रैलोक्य से संवलित प्रसिद्ध जग रूप से वैसे ही दीखता है जैसे रेखा एवं उपरेखाओं संवलित एक ही स्थूलशिला दीखती है ॥ ३४ ॥

इस चितिशिला में अहङ्कार और जगत् की गति भी वैसे ही न उदित होती है और न अस्तमित ही होती है जैसे इस लौकिक शिला के भीतर सर्वदा स्थित शि के वासनास्वरूप कमल आदि न उदित होते हैं अ अस्तमित ही होते हैं ॥ ३५ ॥

कर्तृत्व आदि जगत् एक मात्र चैतन्यरूप हो चिति से वैसे ही भिन्न नहीं हैं, चितिरूप ही हैं जैसे शि के भीतर की रेखा आदि शिला के आभ्यन्तर से भि नहीं हैं, [किन्तु शिलामय ही हैं]; जीव एवं ईश्वर रूप है ॥ ३६ ॥

आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से जगत् के कर्ता ज ईश्वर आदि कोई भी वैसे ही उससे पृथक् सिद्ध न होते है, जैसे शिला के भीतर स्थित कमलों की गति ए अगति, आविर्भाव और तिरोभाव शिला के तत्त्व-साक्षात्कार से शिला से पृथक् विषयता को प्राप्त नहीं होते यानी वे शिला से भिन्न सिद्ध नहीं होते हैं ॥ ३७ ॥

वस्तुतः पर्वतकूट की तरह उत्पत्ति, उल्लास एवं विलास रूप विकारों को प्राप्त न करनेवाला ब्रह्म का

यथा यत्र यदाकारं तथा तत्र तदेव हि ।
ब्रह्मसत्तात्मकं सर्वं सुषुप्तस्थमिव स्थितम् ॥ ३९ ॥
भूरिभावविकाराढ्यो योऽयं जगदुरुभ्रमः ।
सुषुप्तमेव तद्विद्धि शिलान्तःपङ्कजादिवत् ॥ ४० ॥
नित्यं सुषुप्तपदमेव जगद्विलासः
सम्यक्प्रशान्तसमचिद्घनखात्मकत्वात् ।
पद्माः शिलान्तरिव सर्गदशास्त्वसारा
दृष्टा न देहमुपयान्ति कदाचिदेव ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिलाकोशोपदेशो नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

स्वरूपभूत यह जगत् न कभी किसी से किया गया है और न कभी नष्ट ही होता है ॥ ३८ ॥

वह ब्रह्म भी कल्पना प्रयुक्त सब भेद वैसे ही सहन करता है जैसे जिस आकार में जहाँ कल्पना की जाती है वहाँपर, उस तरह के उस आकार में ब्रह्म हो जाता है। यह सब जगत् ब्रह्मसत्तात्मक ही है और सुषुप्तस्थ की तरह स्थित है यानी जैसे प्रत्येक जीव विचित्र स्वाप्निक विषयों की कल्पनाओं के भेदों को अविरोध से सहता है ॥ ३९ ॥

जैसे शिला के भीतर कमल आदि अनुन्मिषित वासना मात्र हैं वैसे ही प्रभूत भावविकारों से परिपूर्ण यह जगद्रूप महात् भ्रम है, उसे उस प्रकार अनुन्मिषित वासनामात्र समझें ॥ ४० ॥

श्रीरामजी भली-भाँति शान्त एवं सम चिद्घन ब्रह्माकाशस्वरूप होने से यह जगत् का विलास सर्वदा अनुन्मिषित वासनामात्र ही है, शिला के भीतर स्थित कमलों की तरह तुच्छ सर्गादि-दशाएँ आत्मा के भीतर देखी जाने पर भी कभी स्वरूप-स्थिति नहीं प्राप्त कर सकती है ॥ ४१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में शिलाकोशोपदेश नामक कुसुमलता का छियालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४६ ॥

४७

वसिष्ठ उवाच

चित्तत्त्वस्य फलस्येव चितः स्वापापरः क्रमात् ।
स्वसत्तासन्निवेशेन यः स सर्ग इति स्थितः ॥ १ ॥
देशकालक्रियादीनामपि तन्मयरूपतः ।
इदमन्यदिदं चाऽन्यदिति नाऽत्रोपपद्यते ॥ २ ॥
समस्तशब्दशब्दार्थवासनाकलनाविदः ।
एकात्मत्वादसच्चेदमिति संकथ्यते कथम् ॥ ३ ॥
फलस्याऽन्तःसन्निवेशो नामानुक्रमतो यथा ।
चितः स्वसत्ताघनताऽनाना नाना स्थिता तथा ॥ ४ ॥
अनानैवाऽपि नानेव क्षुब्धेवाऽक्षुभितैव च ।
यथा फलान्तःस्वासत्ता चिदन्तःसिद्धयस्तथा ॥ ५ ॥

४७

वसिष्ठजी ने कहा—फल के समान चितितत्त्व के अन्तःस्थित यह जगत् प्रसिद्ध स्वाप से भिन्न एक तरह से चिति का स्वाप ही है, वह क्रम से चितिसत्ता द्वारा कल्पित अवयव-विन्यास से प्रवृत्त है और वह चिति की समनता वाला चिद्गत भेदस्वरूप नहीं है ॥ १ ॥

देश, काल, क्रिया आदि भी अपने अधिष्ठानभूत चैतन्यमात्रस्वरूप होने से 'यह अन्य है', 'यह अन्य है' इस प्रकार की कल्पना यहाँ नहीं की जा सकती है ॥ २ ॥

निखिल शब्दों, उनके अर्थों, उनकी वासनाओं और तत्प्रयुक्त सङ्कल्प-विकल्प आदि कल्पनाओं को जानने वाला जब जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में भी एकरूप होने के कारण सत्यस्वरूप है। अतः 'यह सर्व असत् ही है' यह कैसे कहा जा सकता है ? ॥ ३ ॥

चिति की अपनी चिद्घनरूप सत्ता वैसे ही एक और नाना रूप होकर स्थित है जैसे फल के भीतर वृक्ष, अङ्कुर आदि की रचना का अनुक्रम रहता है ॥ ४ ॥

वह चिति अद्वितीय होने पर भी अनेक के समान है और क्षोभ रहित होती हुई भी क्षुब्ध-सी है। इस चिति के भीतर विद्यमान जगद्-रूप सिद्धियों की वैसे ही अतिरिक्त सत्ता नहीं है जैसे फल के भीतर विद्यमान अङ्कुर, मज्जा आदि की फल से अतिरिक्त सत्ता नहीं है ॥ ५ ॥

जगन्नगरमादर्शे चितः स्वं प्रतिबिम्बितम् ।
कचतीवाऽकचदपि शिलान्तःसन्निवेशवत् ॥ ६ ॥
परमे चिन्मणौ सन्ति जगत्कोटिशतान्यपि ।
चिन्तामणावनन्तानि फलानीवार्ऽपितान्यलम् ॥ ७ ॥
चित्समुद्गक एवेदं तदङ्गोत्कीर्णमाततम् ।
जगन्मौक्तिकमाभाति तदंशमयमन्यवत् ॥ ८ ॥
अहोरात्रं विकरयन् वेदनावेदनान्यलम् ।
चिदादित्यः स्थितो भास्वाञ्जगद्द्रव्याणि दर्शयन् ॥ ९ ॥
समुद्रकोटरावर्तपयःस्पन्दविलासवत् ।
अनानैव च नाना चिच्छिलान्तःसन्निवेशवत् ॥ १० ॥
यदस्ति तच्चिति शिलाशरीरे शालभञ्जिका ।
यन्नाऽस्ति तच्चिति शिलाशरीरे शालभञ्जिका ॥ ११ ॥

शिला के भीतर चित्रित कमल आदि की तरह यह जगत् यह जो कहा गया है, उसका भी तात्पर्य यही है कि दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर की तरह चिति का अपना रूप ही, वास्तव में प्रतिबिम्बित भी नहीं होता है और प्रतिबिम्बित भी होता है ॥ ६ ॥

परमचितिस्वरूप मणि में सौ करोड़ जगत् भी वैसे ही रहते हैं जैसे चिन्तामणि में चिन्तकों के अनन्त फल पर्याप्तरूप से समर्पित रहते हैं ॥ ७ ॥

चितिरूप मुक्ता-कोष में ही यह विस्तृत जगत्-रूपी मोती उसी के गर्भ में उत्पन्न होकर उसके अंशरूप होकर भी अन्य के समान भासमान है ॥ ८ ॥

देदीप्यमान यह चितिरूप सूर्य अनुभव और अननुभव रूप अहोरात्र का विभागकर जगद्रूप द्रव्यों को सम्यक् प्रकाशित कर अपनी आत्मा में ही स्थित है ॥ ९ ॥

समुद्र के गर्भ में स्थित आवर्त, तरङ्ग आदिरूप जल-स्पन्दन के विलास की तरह और शिला के भीतर खोदे गये कमल की तरह अद्वितीय ही यह चिति जगद्रूप से अनेकरूप में आसमान है ॥ १० ॥

वर्तमान जगत् चित्ति में मानो पाषाण-शिला में खुदी गई प्रतिमा के सदृश है। वर्तमान काल में जो जगत् नहीं हैं भूत एवं भविष्यत्कालिक जगत् मानो चिति में पाषाण-शिला में न खुदी गई प्रतिमा के सदृश है ॥ ११ ॥

भावपदार्थ एवं अभावपदार्थ में सत्यभूत चिति-तत्त्व मज्जा के सदृश ही है। बिल्व आदि पदार्थों की शोभा का तत्त्व मज्जा ही है, इसलिए वह जगत् आदि मज्जामय ही है ॥ १२ ॥

अद्वय चितिशिला को छोड़कर यह जगदादि शब्द

भावाभावेषु यत्सत्यं चिन्मज्जाकल्पमेव तत् ।
मज्जासारा वदार्थश्रीस्तन्मयं स्यात्तदेव हि ॥ १२ ॥
पद्मनानादिशब्दार्थस्त्यक्त्वा यद्वच्छिलोदरम् ।
नाना तद्वदिदं नाना तदेतन्मयमद्वयम् ॥ १३ ॥
नानाऽप्येकतयाऽनाना पद्मबिम्बं शिलोदरम् ।
यथा तदविभागात्म तथेदं चिद्घनान्तरम् ॥ १४ ॥
यथाऽमलपयःकोशः स्थलधियां तु भानुभाः ।
सन्नेवाऽसन्निवैवं चिन्नैव त्वं सदसद्वपुः ॥ १५ ॥
यथा सम्यक् पयोराशिः कोटरे कलनोन्मुखम् ।
द्रवत्वात् स्पन्दतेऽस्पन्दं तथेदं चिद्घनान्तरम् ॥ १६ ॥
चिच्छिलाशङ्खपद्मौघस्तन्मयत्वेऽप्यतन्मयः ।
जगद्विद्धि सपद्मादिपदार्थं चिच्छिलान्तरम् ॥ १७ ॥

और उनके अर्थ अनेक प्रकार से वैसे ही भासते हैं; वास्तव में चितिशिलोदर से पृथक् उनका अस्तित्व नहीं है, किन्तु चितिशिलामय ही है जैसे कमल आदि शब्द और उनके अनेक अर्थ शिलोदर को छोड़कर अनेक रूप से प्रतीत होते हैं, वास्तव में शिलोदर से उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है ॥ १३ ॥

जैसे प्राकृत शिला के भीतर का पद्म-बिम्ब एक हो जाता है वैसे ही यदि चिति से अविभक्तस्वरूप ही यह जगत् चिति से पृथक् नहीं करते तो नाना होने पर भी एकमात्र चिति-शिला के भीतर स्थित जगत् चैतन्यात्मा की एकता से अद्वितीय हो जाता है ॥ १४ ॥

सद्रूप चितिस्वभाव आप भी असत् जगत् आदिरूप से वैसे ही भासमान हैं। परमार्थतः सद्रूप आप असत् जगद्रूप नहीं हैं जैसे मरु-मरीचिका मृग की दृष्टि में निर्मल जल-राशि ही है और 'यह स्थल ही है' इस प्रकार विवेक बुद्धि वाले विद्वानों की दृष्टि में वह सूर्यातप ही है यहाँ सत्स्वरूप ही आतप आदि असत् जल-राशि आदि के रूप से भासमान है ॥ १५ ॥

स्पन्दरहित चितिशिला का मध्य कल्पना होकर वैसे ही संचलित-सा होता है जैसे समुद्र के मध्य द्रवत्व होने से भली-भाँति संचलित होता है ॥ १६ ॥

कमल आदि पदार्थों से युक्त इस जगत् को शिला के भीतर ही स्थित समझें। चिति-शिला के भीतर रहने वाले ये शङ्ख, पद्म आदि के सङ्घात परमार्थतः चिन्मय होने पर भी अविद्यावश अचिन्मय के समा भासमान होते हैं ॥ १७ ॥

महाशिलाघनोऽप्येष चिद्घनस्थं शिलोदरम् ।
अरन्ध्रो निर्द्वयोऽच्छोऽजः संशान्तः सन्निवेशवत् ॥ १८॥
तपतीदं जगद्ब्रह्म शरत्काल इवाऽमलम् ।
स्फुरतीदं जगद्ब्रह्म सौम्यः सोम इव द्रुतः ॥ १९ ॥
ब्रह्मणीदं सुषुमाभं नाऽस्त्यनाशं शिलाब्जवत् ।
ब्रह्मत्वं ब्रह्मणि यथा तथैवेदं जगत्स्थितम् ॥ २० ॥
नाऽनयोर्विद्यते भेदस्तरुपादपयोरिव ।
यानीमानि जगन्तीह नाऽन्यत्तानि चिदाकृतेः ॥ २१ ॥
भावाभावादि नाऽस्त्येषां तस्या इव कदाचन ।
ब्रह्मैव जगदाभासं मरुतापो यथा जलम् ॥ २२ ॥
ब्रह्मैवाऽऽलोकनाच्छुद्धं भवत्यम्बु यथाऽऽतपात् ।

यह दृष्टान्तरूप से कही गई महाशिला चिद्घन में स्थित शिलोदर चितिरूप ही है। छिद्र रहित, अद्वितीय, निर्मल, नित्य और शान्तस्वरूप वह मिथ्यासन्निवेश की तरह भासमान है ।। १८ ॥

'निर्मल यह ब्रह्म इस जगत् को प्रकाशित करता है' यह व्यवहार शरत्काल की तरह है 'यह ब्रह्म जगद्रूप से स्फुरित् होता है' यह भी व्यवहार नयनानन्दकारी अमृत-द्रुत सोम के समान है ।। १९ ॥

वासनामात्रस्वरूप होने से सुपुप्ततुल्य यह जगत् भी अपने जगद्रूप से वैसे ही ब्रह्म में नहीं है अर्थात् असत् है एवं ब्रह्मरूप से सत् भी है जैसे शिला-कमल कमलरूप से नित्य ही असत् है क्योंकि यह जगत् भी ब्रह्मरूप होने से ब्रह्म में वैसे ही स्थित है जैसे ब्रह्मत्व ब्रह्म में स्थित रहता है ।। २० ।।

'जगत्' और 'ब्रह्म' शब्द के अर्थ में भी वैसे ही भेद नहीं है, जैसे 'तरु' और 'पादप' शब्द के अर्थ में भेद नहीं है, क्योंकि यहाँ जो जगत् दीख रहे हैं, वे सब चिदात्मा से भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं हैं ।। २१ ।।

चिति के स्वरूप की तरह जगत् के भी भाव, अभाव आदि विकार कभी नहीं होते; क्योंकि ब्रह्म ही जगद्रूप से वैसे ही भासमान होता है जैसे मरु-मरीचिका जलरूप से भासमान है ।। २२ ।।

मेरु आदि अत्यन्त स्थूल-पदार्थ भी तत्त्व-दृष्टि से देखने से वैसे ही शुद्धत्व एवं अस्थूलत्व आदि धर्म युक्त ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं जैसे आतप से बर्फ आदि केवल जलरूप ही हो जाते हैं, इसलिए तृण, गुल्म आदि से लेकर ब्रह्माण्डान्त बाह्य-जगत् का और चित्त से लेकर हिरण्यगर्भान्त आन्तर जगत् का जो, जल के सदृश उत्तरोत्तर

मेर्वादिस्तृणगुल्मादेश्चित्तादेर्जगतोऽपि च ।
परमाम्बुविभागेन यद्रूपं तत्परं विदुः ॥ २३ ॥
तत्समूहस्तदेवोच्चैश्चित्तं मेरुतृणादिकम् ।
यत्सौक्ष्म्येऽपि हि सारात्म स्थौल्ये सारतरं हि तत् ॥२४॥
यथा रसात्मिका शक्तिः परमाणुतयाऽनघ ! ।
स्थिता जगत्पदार्थेषु पायसी ब्रह्मता तथा ॥ २५ ॥
रसशक्तिर्यथा नाना तृणगुल्मलताम्भसाम् ।
तथा नानातयोदेति सैवाऽसैवेव ब्रह्मता ॥ २६ ॥
यैषा रूपविलासानामालोकपरमाणुता ।
गुणगुण्यर्थसत्तात्मरूविण्यासां परात्मता ॥ २७ ॥
चिति चित्तेऽस्ति मेर्वादि तदभिव्यञ्जनात्मनि ।
पिच्छपक्षौघकाठिन्यं मयूराण्डरसे यथा ॥ २८ ॥

परमसूक्ष्मतम भूतसूक्ष्म से अव्याकृत अक्षरतक के विभाग द्वारा, अन्त में रूप अवशिष्ट रहता है; वही परब्रह्म है, ऐसा ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ।। २३ ।।

पञ्चीकृत मेरु, तृण आदि स्थूल-भूत अपञ्चीकृत सूक्ष्म-भूतों का समूह ही है और अपञ्चीकृत भूत तो चित्त ही है, दृढ़ता से क्रमशः विचार करने पर ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। सूक्ष्म वस्तु में साररूप से अनुभूत निश्चय स्थूल वस्तु में सारतररूप से अनुभूत होता है ॥ २४ ॥

हे पापशून्य ! जगत् के स्थूल पदार्थों में स्थित होकर ब्रह्मशक्ति भी वैसे ही प्रत्यक्षविषय होती है जैसे परमाणु रूप से विद्यमान रसस्वरूपा जलशक्ति स्थूल जल में स्थित होकर प्रत्यक्षविषय होती है ।। २५ ।।

वही ब्रह्मरूपता नानारूपों से वैसे ही उदित होती है जैसे तृण, गुल्म आदि पदार्थों में स्थित नाना जलों में पदार्थों के वैचित्र्य से रसशक्ति नानारूपों से उदित होती है ॥ २६ ॥

नील, पीत आदि चित्र-विचित्र रूपों में जो यह आलोकपरमाणुता सूक्ष्मभूत सत्ता है, वह ब्रह्मसत्तारूप ही है। ब्रह्मसत्ता भी इत घटादिव्यक्तियों के गुण, गुणी आदि स्वरूप अवान्तर वैजात्य की सिद्धि के लिए उपयुक्त सत्तारूप हो जाती है ॥ २७ ॥

जैसे मोर के उपादान-कारणरूप अण्डे के रस में चित्र-विचित्र मोर पंखों का समूह एवं कठिनता स्थित रहती है वैसे ही सर्वथा तिरोभाव-दशा में मायाशबलित चिति में और अर्ध-तिरोभाव-दशा में चित्त में, स्थूल-कार्यों के अभिव्यञ्जकस्वरूप मेरु आदि स्थूल-कार्यों का समूह स्थित है ॥ २८ ॥

चितितत्त्वेऽस्ति नानाता तदभिव्यञ्जनात्मनि ।
विचित्रपिच्छिकापुञ्जो मयूराण्डरसे यथा ॥ २९ ॥
यथा नानात्मिके ह्येव बर्ह्यण्डरसबर्हिते ।
विवेकदृष्ट्या दृष्टे ते तथा ब्रह्म जगत्स्थितम् ॥ ३० ॥
स नानातोऽप्यनानातो यथाऽण्डरसबर्हिणः ।
अद्वैतद्वैतसत्तात्मा तथा ब्रह्मजगद्भ्रमः ॥ ३१ ॥
यथा सदसतोः सत्तासमतायामवस्थितिः ।
यतः सदसतो रूपं भावस्थं विद्धि तं परम् ॥ ३२ ॥
नानाऽनानात्मकमिदं त्वनुभूतं न सम्भवम् ।
चिज्जगद्वलनं पश्य बर्ह्यण्डे रसबर्हिणम् ॥ ३३ ॥
यथा जगति चित्तत्वं चित्तत्वे यज्जगत्तथा ।
नानाऽनानात्मकैकं च मयूराण्डरसो यथा ॥ ३४ ॥
नानापदार्थभ्रमपिच्छपूर्णा
जगन्मयूराण्डरसश्चिदाद्या ।
मयूररूपं त्वमयूरमन्तः
सत्तापदं विद्धि कुतोऽस्ति भेदः ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
चिद्घनोपदेशो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

जगत् के अभिव्यञ्जनस्वरूप चिति-तत्त्व में भी नानारूपता वैसे ही भासमान होती है जैसे मयूराण्ड के रस में चित्र-विचित्र पंखों का समूह भासमान होता है ॥ २९ ॥

जगत् और ब्रह्म भी काल्पनिक भेद-दृष्टि से भिन्नरूप से वैसे ही हैं, वास्तव में जगत् ब्रह्मरूप ही स्थित है जैसे मोर के अण्डे का रस और मोर-पंख काल्पनिक भेद-दृष्टि से भिन्नरूप से भासमान होते हैं ॥ ३० ॥

ब्रह्मात्मक जगद्भ्रम भी कल्पित नानारूप होने पर भी परमार्थतः वैसे ही एकरूप होने से द्वैताद्वैतात्मक है जैसे वह मयूराण्ड में रसात्मक मयूर कल्पित नानारूप होने पर भी परमार्थः एकरूप होने से द्वैताद्वैतात्मक होता है ॥ ३१ ॥

उसका द्वैत एवं अद्वैत रूप भी वैसे ही हो सकता है जैसे ब्रह्म सत्यरूप है और जगत् भ्रमरूप है, सत्तासामान्यरूप में सत् एवं असत् की अवस्थिति होती है, असत् का निरूपण भी सत्-पदार्थ के बिना नहीं हो सकता, इसलिए सत्-असत् दोनों का तत्त्व सद्वस्तुरूप भाव में ही पर्यवसित है और उस सद्रूप में पर्यवसित को आप परब्रह्म ही जानिए ॥ ३२ ॥

और उस तत्त्व का स्वरूप, अद्वितीय होने के कारण भिन्न एवं अभिन्न स्वभाव से अनुभूत जगत् नहीं हो सकता है चैतन्य और जगदात्मक माया को वैसे ही एकरूप और नानारूप देखिए जैसे आप मयूराण्ड में रस और मयूर एकरूप और नानारूप देखते हैं ॥ ३३ ॥

मयूर में मयूराण्डरस भी वैसे ही अनुस्यूत है जैसे जगत् में चैतन्यात्मक तत्त्व अनुस्यूत है, मयूराण्डरस में मयूर भी वैसे ही लीन है जैसे चिति-तत्त्व में जगत् लीन है, वह नानारूप भी है और वैसे ही एकरूप भी है ॥३४॥

अनेकविध पदार्थ-भ्रमरूप पंखों से परिपूर्ण आद्य ब्रह्म-चिति ही जगद्रूप मोर के अण्डे का रस है। उसमें भासमान होने वाली मयूरस्वरूप जगदात्मक वस्तु मयूर भिन्न सत्तास्वरूप परमार्थवस्तु ब्रह्म है। वहाँ भेद का अवसर ही कहाँ है ? ॥ ३५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
चिद्घनोपदेश नामक कुसुमलता का सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४७ ॥

४८

वसिष्ठ उवाच

यत्राऽनुदितरूपात्म सर्वमस्तीदमाततम् ।
मयूर इव बीजेऽन्तस्तदहन्तादिगादि च ॥ १ ॥
यत्र नाऽभ्युदितं किञ्चित्तत्र सर्वं च विद्यते ।
तदत्राऽप्यङ्गिराः स्वर्गसुखसारेण बिम्बति ॥ २ ॥

४८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—मयूराण्ड के भीतर मयूर की तरह भीतरी अहन्ता आदि और बाह्य दिशा आदिरूप यह सब व्यापक जगत् शुद्ध पदार्थ में तीनों काल में भी अनुत्पन्नस्वरूप होकर स्थित है ॥ १ ॥

जहाँपर परमार्थतः कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ है, उसी में मायावश बाह्य, आन्तर आदि सब जगत् रहता है और इस देह में भी वही तत्त्व अङ्गों का रसरूप प्राण होकर स्वर्ग आदि चित्त-वृत्तियों के भेद से होनेवाले विचित्र भोगों के आकार से स्फटिक, दर्पण आदि में चन्द्रबिम्ब की तरह प्रतिबिम्बित होता है ॥ २ ॥

तथा च मुनयो देवा गणाः सिद्धा महर्षयः ।
आस्वादयन्तः स्वं रूपं सदा तुर्यपदे स्थिताः ॥ ३ ॥
एते ये स्तब्धनयनदृष्टयो निर्निमेषिणः ।
ते दृश्यदर्शनासङ्गस्पन्दत्यागे व्यवस्थिताः ॥ ४ ॥
नाऽऽस्थिता भावना येषां स्थितानामपि कर्मसु ।
संवित्संवेद्यसम्बन्धस्पन्दत्यागे च ये स्थिताः ॥ ५ ॥
प्राणो न स्पन्दते येषां चित्रस्थवपुषामिव ।
मनो न स्पन्दते येषां चित्रस्थवपुषामिव ।
चित्तचेत्यसमासङ्गत्यागे ते स्वपदे स्थिताः ॥ ६ ॥
स्पन्दात् संसाधयन्त्यर्थं तेनांशेनेश्वरो यथा ।
तथैव चित्तचेत्यादिस्पन्दात् कुर्वन्ति संस्थितिम् ॥ ७ ॥
यथाऽऽह्लादयति स्वच्छः पल्लवं रश्मिरैन्दवः ।

अपने आत्मस्वरूप भूमानन्द का आस्वाद ले रहे मुनि देवता, गण, सिद्ध और महर्षि लोग सर्वदा तुरीय पद में स्थित हैं ॥ ३ ॥

निमेषरहित वे योगी की नेत्र-गोलक तथा तद्गत इन्द्रियाँ स्थिर हैं और दृश्य एवं दृष्टि के सम्बन्ध त्याग प्रयुक्त स्पन्द-त्याग के लिए सन्नद्ध हैं ॥ ४ ॥

जो बाह्य विषयों में सत्यता की भावना तनिक भी नहीं करते, जो पुरुष विषयेन्द्रिय-सम्बन्धों के परित्यागरूप समाधि में निरत हैं, चित्रलिखित देहधारियों की तरह जिनका प्राण-स्पन्द नहीं होता और चित्रलिखित देह-धारियों की तरह जिनका मन भी गतिशील नहीं रहता; वे सब उस अपने भूमानन्दपद में चित्त एवं चेत्य की आसक्ति का त्याग कर समान रूप से स्थित हैं ॥ ५–६ ॥

षष्ठादि भूमिकाओं में पहुँचे हुए योगीजन भीतर ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति-धारारूप स्पन्द से उसी अंश द्वारा निरतिशय आनन्द का आस्वादन स्वरूप परमपुरुषार्थ की साधना करते हैं। बाहर भी चित्त, चेत्य आदि के स्पन्द से व्यवहार-मर्यादा को वैसे ही चलाते ही हैं। जैसे जगदीश्वर भीतर सर्वदा ही अपने स्वरूपानन्द में स्थित हुआ भी बाहर माया द्वारा जगत् की व्यवस्था का पालन करता है ॥ ७ ॥

जैसे चन्द्र-किरणें वृक्षों के पल्लवों के भीतर घुसकर आह्लाद पहुँचाती हैं, वैसे ही उन लोगों के व्यवहार में बाह्य विषयों में बुद्धिवृत्तियों का सङ्गम होनेपर भी त्रिपुटी में अभिव्यक्त निरतिशय आनन्दरूप आत्मा आह्लाद पहुँचाता है ॥ ८ ॥

तथाऽऽत्मा ह्लादयत्यन्तर्दृश्यदर्शनसङ्गमे ॥ ८ ॥
बिम्बाद् दूरं प्रयातस्य भित्तावपतितस्य च ।
यदिन्दोस्तेजसो रूपं तद्रूपं शुद्धसंविदः ॥ ९ ॥
न दृश्यं नोपदेशार्हं नाऽत्यासन्नं न दूरगम् ।
केवलानुभवप्राप्यं चिद्रूपं शुद्धमात्मनः ॥ १० ॥
न देहो नेन्द्रियप्राणौ न चित्तं न च वासना ।
न जीवो नाऽपि च स्पन्दो न संवित्तिर्न वै जगत् ॥११॥
न सन्नाऽसन्न मध्यं च शून्याशून्यं न चैव हि ।
न देशकालवस्त्वादि तदेवाऽस्ति न चेतरत् ॥ १२ ॥
एतैः सर्वैर्विनिर्मुक्तं हृदि कोशशतेन च ।
यत्रैतत् स्पन्दते दृश्यं तत्तदात्मपदं भवेत् ॥ १३ ॥
यच्च नाऽऽद्यं न कल्पान्तं न वस्त्वाद्यनिलादिभिः ।
इह चाऽमुत्र सद्रूपादन्यथा भवति क्वचित् ॥ १४ ॥

जैसे चन्द्ररूप बिम्ब से दूर तक फैली हुई तथा भित्ति में नहीं गिरी हुई शुद्ध आकाश प्रदेश में रहनेवाली चन्द्रमा की ज्योत्स्ना का रूप है, वैसे ही परमात्मा के विक्षेप रहित आह्लाद का रूप है, उपर्युक्त योगी महात्मा उसी रूप का अनुभव करते हैं ॥ ९ ॥

आत्मा का शुद्ध चिद्रूप न तो दृष्टि का विषय और न उपदेश के योग्य न तो अत्यन्त समीप और न दूरवर्ती किन्तु केवल योगियों के अनुभव से ही गम्य है ॥ १० ॥

शुद्ध चिदात्मा का अनुभवगम्य रूप न देहस्वरूप इन्द्रिय एवं प्राणरूप न चित्तस्वरूप न वासनारूप न जीव-रूप है, न स्पन्दस्वरूप न ज्ञानरूप और न जगद्रूप ही है ॥ ११ ॥

वह रूप न सद्रूप और न सत् एवं असत् के मध्यवर्ती अनिर्वचनीय न तो शून्य स्वरूप न अशून्य स्वरूप और देश, काल एवं वस्तु जनित परिच्छेद आदिरूप भी नहीं है, किन्तु ब्रह्म स्वरूप ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं है ॥ १२ ॥

देह आदि समस्त पदार्थों से ब्रह्म विनिर्मुक्त है और अत्यन्त भूत एवं भावी देह-कोशों से युक्त चित्त में जिसके रहनेपर यह दृश्य जगत् आविर्भाव, तिरोभाव आदिरूप से स्पन्दित होता है, वह सन्मात्र स्वरूप आत्मपद ब्रह्म ही है ॥ १३ ॥

वह ब्रह्म न महाकल्प के आदिकाल में विद्यमान अव्याकृत नामक कारणरूप और न प्राकृतादि प्रलय स्वरूप ही है। सृष्टिकाल में भी इहलोक अथवा परलोक में वायु, वह्नि आदि से जनित शोषण, दहन, क्लेदन, भेदन आदि

जायन्ते च म्रियन्ते च देहकुम्भाः सहस्रशः ।
सबाह्याभ्यन्तरस्यास्य नाऽऽत्माकाशस्य खण्डना ॥१५॥
तच्च देहादि सकलमात्मैवाऽऽत्मविदां वर ! ।
केवलं बोधवैरूप्यादीषत् पृथगिव स्थितम् ॥ १६ ॥
विष्वगात्ममयं विश्वं ज्ञातं बुद्ध्या सुसिद्धया ॥ १७ ॥
प्रज्वलन्नपि कार्येषु निर्वाणो निर्ममो भव ।
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥ १८ ॥
तत्सर्वं ब्रह्म निर्धर्म निर्गुणं निर्मलात्मकम् ।
निर्विकारमनाद्यन्तं नित्यं शान्तं समात्मकम् ॥ १९ ॥
कालक्रियाकरणकर्तृनिदानकार्य-
जन्मस्थितिप्रलयसंस्मरणादि सर्वम् ।
ब्रह्मेति दृष्टवत एव तवाऽऽत्मदृष्ट्या
भूयोऽपि किं भ्रमणमङ्ग समङ्ग एव ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मैकात्मप्रतिपादनं नामाष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

विकारों से कहीं भी सद्रूप से च्युत न होने के कारण वह सविकार वस्तुरूप और विकाररूप भी नहीं है ॥ १४ ॥

हजारों देहरूप घड़े उत्पन्न और नष्ट होते हैं, किन्तु बाहर एवं भीतर व्याप्त इस आत्म-स्वरूप आकाश का नाश नहीं होता है ॥ १५ ॥

आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ ! देहादि सम्पूर्ण जगत् आत्म-रूप ही है, एकमात्र बोध की विरूपता से = भ्रमात्मक ज्ञान से ही किञ्चित् पृथक् के समान स्थित भासमान होता है, यह आप जानिए ॥ १६ ॥

परिष्कृत बुद्धि से यह विश्व आत्मस्वरूप है, यह अपने जान लिया है ॥ १७ ॥

योग्य व्यवहारों में दीप्ति सम्पन्न होकर आप शान्त एवं मामता शून्य हो जाएँ । स्थावर एवं जङ्गम स्वरूप जो कुछ यह जगत् दीखता है, वह सब धर्मशून्य, गुण रहित, निर्मल स्वरूप, निर्विकार, आदि एवं अन्त से रहित, सर्वदा शान्त तथा समस्वभाव ब्रह्मरूप ही है ॥ १८–१९ ॥

'काल, क्रिया, करण, कर्ता, कारण, कार्य, जन्म, स्थिति, प्रलय, स्मरण आदि सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार आत्मदृष्टि से देखते हुए आपका क्या फिर भी संसार में भ्रमण हो सकता है ? आप वस्तुतः समस्वरूप ही हैं अर्थात् ब्रह्म-स्वरूप प्राप्त कर चुके हैं ॥ २० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में ब्रह्मैकात्माप्रतिपादन नामक कुसुमलता का अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

४९

श्रीराम उवाच

यदि नाऽस्ति विकारादि ब्रह्मन् ! ब्रह्मणि बृंहिते ।
तदिदं कथमाभाति भावाभावमयं जगत् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

अपुनःप्रागवस्थानं यत्स्वरूपविपर्ययः ।
तद्विकारादिकं तात ! यत्क्षीरादिषु वर्तते ॥ २ ॥
पयस्तां पुनरभ्येति दधित्वान्न पुनः मया ।
बुद्धमाद्यन्तमध्येषु ब्रह्म ब्रह्मैव निर्मलम् ॥ ३ ॥
क्षीरादेरिव तेनाऽस्ति ब्रह्मणो न विकारिता ।
अनाद्यन्तविभागस्य न चैषोऽवयविक्रमः ॥ ४ ॥

३७

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! नित्यनिरतिशय वृद्धि से युक्त त्रिविध परिच्छेदों से शून्य ब्रह्म में विकार और आरम्भ न होने पर भाव और अभाव स्वरूप संसार का भान कैसे होता है ? ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे तात ! दूध आदि में दधि आदि कार्य पुनः दूध आदिरूप अपनी पूर्वावस्था से रहित तथा दूध आदि के स्वरूप से विपरीत रहते हैं, वे ही विकार, संस्कार और परिणाम आदि शब्दों से कहे जाते हैं ॥ २ ॥

दही बन जाने पर दूध पुनः अपनी दूधरूप पूर्वावस्था में नहीं आता । आदि, मध्य और अन्त किसी भी दशा में ब्रह्म तो निर्विकार ब्रह्मरूप ही अवगत होता है ॥ ३ ॥

इससे दूध आदि के समान ब्रह्म में विकारिता नहीं है । आदि और अन्त के विभाग से रहित ब्रह्म में यह अवयवी का आरम्भ-क्रम नहीं हो सकता है ॥ ४ ॥

मस्याऽऽद्यन्तयोर्येयं दृश्यते विकृतिः क्षणात् ।
विदः संभ्रमं विद्धि नाऽविकारेऽस्ति विक्रिया ॥ ५ ॥
संवेद्यं न संवित्तिस्तत्र ब्रह्मणि विद्यते ।
ाद्ब्रह्मशब्दकथितं निःसम्बन्धचिदात्मवत् ॥ ६ ॥
ादृगाद्यन्तयोर्वस्तु तादृगेव तदुच्यते ।
ध्ये यस्य यदन्यत्वं तदबोधाद्विजृम्भितम् ॥ ७ ॥
ात्मा त्वाद्यन्तमध्येषु समः सर्वत्र सर्वदा ।
वमप्यन्यत्वमायाति नाऽऽत्मतत्त्वं कदाचन ॥ ८ ॥
ारूपत्वात्तथैकत्वान्नित्यत्वादयमीश्वरः ।
शं भावविकाराणां न कदाचन गच्छति ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

वेद्यमाने सदैकस्मिन् ब्रह्मण्येकान्तनिर्मले ।
ंविद्भ्रमस्वरूपाया अविद्यायाः क आगमः ॥ १० ॥

वसिष्ठ उवाच

ह्मतत्त्वमिदं सर्वमासीदस्ति भविष्यति ।
निर्विकारमनाद्यन्तं नाऽविद्याऽस्तीति निश्चयः ॥ ११ ॥

यस्तु ब्रह्मेति शब्देन वाच्यवाचकयोः क्रमः ।
तत्राऽपि नाऽन्यताभावमुपदेष्टुं क्रमो ह्यसौ ॥ १२ ॥

त्वमहं जगदाशाश्च द्यौर्भूश्चाऽप्यनलादि वा ।
ब्रह्ममात्रमनाद्यन्तं नाऽविद्याऽस्ति मनागपि ॥ १३ ॥

नामैवेदमविद्येति भ्रममात्रमसद्विदुः ।
न विद्यते या सा सत्या कीदृग्राम भवेत्किल ॥ १४ ॥

श्रीराम उवाच

उपशमप्रकरणे ह्यस्तने तु त्वयेरितम् ।
अविद्येयं तथेत्थं च विचार्यत इति प्रभो ! ॥ १५ ॥

वसिष्ठ उवाच

एतावन्तमबुद्धस्त्वमभूः कालं रघूद्वह ! ।
कल्पिताभिः किलैताभिर्बोधितोऽसि स्वयुक्तिभिः ॥१६॥

समस्वरूप का आदि और अन्त में क्षण भर के लिए देखाई देने वाला विकार उसे आप संवित् का विवर्त समझें क्योंकि अविकारी ब्रह्म में कोई विकार नहीं हो सकता अर्थात् सभी दशाओं में एकरूप से रहनेवाले ब्रह्म में विषमता का प्रतिभास ही विवर्त है ॥ ५ ॥

ब्रह्म न तो संवेद्य (विषय) और न संवित्ति ही विद्यमान रहती है अर्थात् ब्रह्म में दृश्य-दर्शन का सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध रहित होने पर भी 'निःसम्बन्ध', 'चिदात्मा' आदि शब्दों की तरह वह 'ब्रह्म' शब्द से भी कहा गया है ॥ ६ ॥

[मध्य में ब्रह्म का विकार से स्पर्श नहीं होता, यह कैसे मालूम पड़ता है ? ऐसी यदि कोई शङ्का करे तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि आदि और अन्त में विकार-स्पर्श न करने का जो स्वभाव निश्चित है, यही मध्य में भी विकारासंस्पर्श में हेतु है, यह कहते हैं—'यादृगा०' इत्यादि से ।]

आदि और अन्त में जिस रूप में वस्तु विद्यमान रहती है, वह स्वरूप की कही जाती है। मध्य में दिखाई देने वाली उसकी अन्यरूपता केवल अज्ञान के कारण ही दिखाई देती है ॥ ७ ॥

आदि, अन्त और मध्य में सर्वत्र आत्मा सदा एकरूप है। स्वस्वरूप आत्मतत्त्व कभी-भी विषमता को प्राप्त नहीं करता है ॥ ८ ॥

रूप रहित एक तथा नित्य स्वरूप होने से यह परब्रह्म परमात्मा भाव-विकारों के अधीन कभी भी नहीं जाता है ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—सदा एकरूप तथा अत्यन्त निर्मल-स्वरूप सदात्मक ब्रह्म में चिति-भ्रमरूप अविद्या का का आगमन कैसे होगा ? ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—निर्विकार, आदि और अन्त रहित यह सब पूर्ण ब्रह्मतत्त्व था, इस समय है और आगे चलकर भी रहेगा। अविद्या का अस्तित्व नहीं है, यह मेरा निश्चय है ॥ ११ ॥

'ब्रह्म' इस शब्द से वाच्य एवं वाचक का जो एक प्रकार से उपक्रम करते हैं, वहाँ पर भी हम अन्यरूपता अस्तित्व का उपदेश नहीं हैं; किन्तु उपदेश देने के लिए केवल क्रम की कल्पना करते हैं ॥ १२ ॥

तुम और मैं, यह संसार और दिशाएँ, आकाश और पृथ्वी अथवा अनल आदि [जो कुछ भी आप देख रहे हैं, वे] सब आदि और अन्त से शून्य केवल ब्रह्ममात्र हैं, अविद्या तो लेशमात्र भी नहीं है ॥ १३ ॥

'अविद्या' इस नाम को भ्रममात्र और असद्रूप समझें। श्रीरामचन्द्रजी ! जो विद्यमान ही नहीं है, वह सत्य किस तरह हो सकता है ? ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे प्रभो ! कल के उपशम-प्रकरण में आपने कहा था कि मनुष्य को जैसी भ्रान्ति होती है, वैसी ही यह अविद्या है, इसका मैं इस प्रकार विचार करता हूँ ॥ १५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे रघूद्वह ! इतने समय तक

अविद्येयमयं जीव इत्यादिकलनाक्रमः ।
अप्रबुद्धप्रबोधाय कल्पितो वाग्विदां वरैः ॥ १७ ॥
अप्रबुद्धं मनो यावत्तावदेव भ्रमं विना ।
न प्रबोधमुपायाति तदाक्रोशशतैरपि ॥ १८ ॥
युक्त्यैव बोधयित्वैष जीव आत्मनि योज्यते ।
यद्युक्त्याऽऽसाद्यते कार्यं न तद्यत्नशतैरपि ॥ १९ ॥
सर्वं ब्रह्मेति यो ब्रूयादप्रबुद्धस्य दुर्मतेः ।
स करोति सुहृद्वृत्त्या स्थाणोर्दुःखनिवेदनम् ॥ २० ॥
युक्त्या प्रबोध्यते मूढः प्राज्ञस्तत्त्वेन बोध्यते ।
मूढः प्राज्ञत्वमायाति न युक्त्या बोधनं विना ॥ २१ ॥
एतावन्तमबुद्धस्त्वं कालं युक्त्या प्रबोधितः ।
इदानीं संप्रबुद्धस्त्वं मया येनाऽवबोध्यसे ॥ २२ ॥
ब्रह्माऽहं त्रिजगद्ब्रह्म त्वं ब्रह्म खलु दृश्यभूः ।

आप अज्ञानी होकर थे। अब तो कल्पित इन अपनी युक्तियों से आप प्रबुद्ध हो चुके हैं ॥ १६ ॥

वेदरूप वाणी का रहस्य जानने वालों में सर्वश्रेष्ठ विद्वानों ने 'यह अविद्या है और यह जीव है' इत्यादि कलना-क्रम की कल्पना वह अज्ञानी जनों को बोध देने के लिए की ही है ॥ १७ ॥

मन जब तक प्रबुद्ध नहीं हो जाता तब तक अविद्या आदि शास्त्रीय व्यवहारों की कल्पना के बिना सैकड़ों आक्रोशों से भी वह प्रबोध को प्राप्त नहीं कर सकता है ॥ १८ ॥

केवल युक्ति से बोध कराकर इस जीव को आत्मा में नियुक्त कर सकते हैं, जो कार्य युक्ति से सुसम्पादित होता है, वह अन्य सैकड़ों उपायों से नहीं होता है ॥१९॥

अज्ञानी दुर्मति के सामने 'यह सब कुछ ब्रह्म है' इस प्रकार का जो विद्वान् उपदेश देता है, मानो वह अपना मित्र समझकर एक ठूंठे वृक्ष के सामने दुःखनिवेदन करता है ॥ २० ॥

मूर्ख युक्ति से और प्राज्ञ तत्त्व से प्रबोधित होता है। युक्ति से बोध कराये बिना मूर्ख प्राज्ञदशा को प्राप्त नहीं कर सकता है ॥ २१ ॥

इतने समय तक अप्रबुद्ध आपको मैंने युक्तियों से प्रबुद्ध कर दिया है। प्रबुद्ध आप अब जिस प्रकार के उपदेश से बोधित किये जायँगे, उसे आप सुनें ॥ २२ ॥

मैं ब्रह्म हूँ, तीनों जगत् ब्रह्म है, आप ब्रह्म हैं और यह दृश्य पृथिवी ब्रह्म ही है; ब्रह्म से अतिरिक्त कोई

द्वितीया कलना नाऽस्ति यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २३ ॥
असंवेद्यमहासंवित् कोटिमात्रं जगत्त्रयम् ।
एकप्रत्ययवानन्तः कुर्वन्नपि न लिप्यसे ॥ २४ ॥
भारूपश्चेतनो व्यापी परमात्माऽहमित्ययम् ।
राघवाऽनुभवान्तस्त्वं तिष्ठन्गच्छञ्छ्वसन्स्वपन् ॥२५॥
निर्ममो निरहङ्कारो बुद्धिमानसि साधु चेत् ।
तद्ब्रह्मावेदनं शान्तं सर्वभूतस्थितं भव ॥ २६ ॥
तदनाद्यन्तमाभासं सत्त्वमेव परं पदम् ।
स्थितोऽसि सर्वगैकात्मशुद्धसंविन्मयात्मकः ॥ २७ ॥
यद्ब्रह्मात्माऽपि तुर्यश्च याऽविद्या प्रकृतिश्च या ।
तदभिन्नसदेकात्म यथा कुम्भशतेषु मृत् ॥ २८ ॥
नाऽऽत्मनः प्रकृतिर्भिन्ना घटान्मृन्मयता यथा ।
सन्मृन्मात्रं यथा चाऽन्तरात्मैवं प्रकृतिः स्थिता ॥ २९ ॥

दूसरी कल्पना ही नहीं है। इसलिए आप जैसा चाहें वैसा ही करें ॥ २३ ॥

ये तीनों जगत् समस्त भ्रान्तियों के बाध की चरम सीमाभूत, लौकिक ज्ञान की अविषय महाचिति के स्वरूप-भूत ही हैं। अपने हृदय के भीतर इस और उस महा संवित् में एक प्रतीति से युक्त हो सांसारिक कार्यों का सम्पादक आप उनसे लिप्त नहीं हो सकते ॥ २४ ॥

हे श्रीराघव ! स्थित, जा रहे, श्वास ले रहे तथा शयन कर रहे आप अपने हृदय में 'सर्वव्यापी चैतन्य प्रकाशस्वरूप यह परमात्मा मैं ही हूँ' ऐसा अनुभव करें ॥ २५ ॥

हे श्रीराघव ! आप भली-भाँति अभिमान से शून्य, ममता से रहित और बुद्धिमान् हैं तो सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित, सर्वोपद्रवशून्य, शान्त, चिदेकरस ब्रह्मरूप हो जाँए ॥ २६ ॥

सर्वव्यापी, एकरूप, शुद्ध संवित्स्वरूप आप श्रुति-प्रसिद्ध, आदि और अन्त से रहित, प्रकाशात्मक परम-पदस्वरूप होकर स्थित हैं ॥ २७ ॥

ब्रह्म, तुरीय, आत्मा, अविद्या, प्रकृति तथा जगत् आदि से प्रसिद्ध पदार्थ सब उसी प्रकार अभिन्न सन्मात्ररूप हैं, जिस प्रकार सैकड़ों घड़ों में मिट्टी है ॥ २८ ॥

आत्मा से प्रकृति वैसे ही पृथक् नहीं है जैसे घट से मृण्मयता पृथक् नहीं है। प्रकृति में रहनेवाली सद्रूपता वैसे ही आत्ममात्र स्थित है जैसे घट के अन्दर रहनेवाली मृन्मयता सद्रूप मृत्तिकामात्र है ॥ २९ ॥

आवर्तः सलिलस्येव यः स्पन्दस्त्वयमात्मनः ।
प्रोक्तः प्रकृतिशब्देन तेनैवेह स एव हि ॥ ३० ॥
यथैकः स्पन्दपवनौ नाम्ना भिन्नौ न सत्तया ।
तथैकमात्मप्रकृती नाम्ना भिन्ने न सत्तया ॥ ३१ ॥
अबोधादेतयोर्भेदो बोधेनैव विलीयते ।
अबोधात् सन्मयो याति रज्ज्वां सर्पभ्रमो यथा ॥३२ ॥
चित्क्षेत्रे कलनाबीजं यदेतत्पतति स्फुरन् ।
चित्ताङ्कुरं तदेतस्माद्भाविसंसारखण्डकः ॥ ३३ ॥
एतदेवाऽऽत्मविज्ञानाद्दग्धं सद्वासनाजलैः ।
संसिक्तमपि यत्नेन न भवत्यङ्कुरक्षमम् ॥ ३४ ॥
नो चेत् पतति चित्क्षेत्रे कलनाबीजकं ततः ।
चित्ताङ्कुरा न जायन्ते सुखदुःखफलद्रुमाः ॥ ३५ ॥
द्वित्वं जगत्यसदुपात्तमबोधजातं
बोधक्षयं जहिहि बोधमुपागतोऽसि ।
आत्मैकभावविभवेन भवाऽभयात्मा
नास्त्येव दुःखमिति नः परमार्थसारः ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे संसृतिविचारयोगो नाम एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

जल के आवर्त की तरह यह आत्मा का विवर्तन ही प्रकृतिशब्द से कहा गया है और सन्मात्रस्वभाव से अपने विवर्त में वह आत्मा ही है, अन्य नहीं है ॥ ३० ॥

आत्मा और प्रकृति ये दोनों एक हैं और नाम से भिन्न होते हुए भी वैसे ही सत्ता से भिन्न नहीं हैं जैसे वायु और उसका स्पन्दन एक ही पदार्थ हैं और नामतः दोनों भिन्न होते हुए भी सत्ता से वे भिन्न नहीं हैं ॥ ३१ ॥

बोध न होने से इनमें वैसे ही भेद मालूम पड़ता है जैसे अबोध से सन्मात्र सर्पभ्रम रज्जु में रूपान्तर को प्राप्त हो जाता है और वह भेद बोध से ही पुनः विलीन हो जाता है ॥ ३२ ॥

चिद्रूपी खेत में जो यह कल्पनारूपी बीज गिरता है, वही चित्तरूपी अङ्कुर हो उससे स्फुरित होता हुआ भावी संसाररूपी जङ्गल का एक खण्ड तैयार हो जाता है ॥३३॥

आत्मज्ञान से दग्ध यही कल्पनारूपी बीज चिद्रूपी खेत में वासनारूपी जल से यत्नपूर्वक भली-भाँति सिञ्चन किया गया भी अङ्कुर के उत्पादन में समर्थ नहीं होता है ॥ ३४ ॥

चिद्रूपी खेत में कल्पनारूपी बीज यदि न बोया जाय तो उससे उन चित्तरूपी अङ्कुरों की उत्पत्ति भी न होगी जिनसे सुख-दुःखरूपी अनेक फल देनेवाले शरीर-रूपी वृक्ष बनते हैं ॥ ३५ ॥

आप ज्ञान सम्पन्न हैं, इसलिए जगत् में भ्रान्ति से गृहीत असत् द्वित्व अज्ञान से जनित और ज्ञान से विनाशी है, आप इसे परित्याग कर दें। अब आप आत्मैकत्वरूप निरतिशयानन्दरूपी विभव से भय रहित हो जाएँ। आप में तो तीनों काल में दुःख नहीं ही है, यही मेरे उपदेश का परमसार है ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में संसृतिविचारयोग नामक कुसुमलता का उनचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४९ ॥

५०

श्रीराम उवाच

ज्ञातं ज्ञातव्यमखिलं दृष्टं द्रष्टव्यमक्षतम् ।
परेण परिपूर्णाः स्मो ब्रह्मज्ञानामृतेन ते ॥ १ ॥
पूर्णात् पूर्णमिदं पूर्णं पूर्णात्पूर्णं प्रसूयते ।
पूर्णेनाऽऽपूरितं पूर्णं स्थिता पूर्णे च पूर्णता ॥ २ ॥

५०

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! मैंने सभी जानने योग्य पदार्थों को जान लिया और अविनाशी द्रष्टव्य वस्तु का अवलोकन भी कर लिया । अब हमलोग आपके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मज्ञानरूपी अमृत-पान से भली-भाँति परिपूर्ण हो चुके हैं ॥ १ ॥

पूर्ण ब्रह्म से निकल कर एवं शरीररूप उपाधि में प्रवेश कर नख के अग्रभागपर्यन्त व्याप्त यह जीव परमार्थतः पूर्णब्रह्मरूप ही है; क्योंकि पूर्ण ब्रह्म से आकाशादिक्रम पूर्वक व्यष्टि-समष्टि-उपाधि से उत्पन्न वह पूर्णरूप ही उत्पन्न होता है 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस ज्ञान से परिच्छिन्नता का समूल विनाश हो जाने पर पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण ही जीव-तत्त्व अखण्ड ऐक्य से पूरित हो जाता है, तब कल्पित अपूर्णताभ्रम के नष्ट हो जाने से पूर्ण ब्रह्म की पूर्वस्थित पूर्णता ही अवस्थित रह जाती है ॥ २ ॥

लीलयेदं तु पृच्छामि भूयोबोधाभिवृद्धये ।
बालस्येव पिता ब्रह्मन्न कोपं कर्तुमर्हसि ॥ ३ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।

बहुत लोगों के ज्ञान की वृद्धि के लिए लीलावश मैं आपसे यह प्रश्न पूछता हूँ। हे ब्रह्मन् ! बालक के लीलाप्रश्न में पिता के सदृश आप क्रोध न करें ॥ ३ ॥

चूँकि अर्थों के अनुभवों का उल्लेख सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में ही देखा जाता है ('मेरे हृदय में अमुक अर्थ का अनुभव हुआ' यों सभी प्राणी अपने-अपने अनुभवों का उल्लेख करते हैं, ऐसा दिखाई पड़ता है), प्रियाप्रियदर्शन-जनित सुख-दुःखों का अनुभव हृदय में ही होता है और दीर्घकाल के अनुभूत बाह्य विषयों का स्मरण भी हृदय में ही देखा जाता है; इसलिए यह कहना आवश्यक है कि बाह्य विषयों का अनुभव हृदय में ही होता है। इस स्थिति में चक्षु आदि जितनी इन्द्रियाँ हैं, उनमें बाह्य स्थित अर्थों को हृदय में लाने की शक्ति नहीं है, और वे स्वयं जड़ होने के कारण बाहर जाकर, अनुभव कर और फिर लौटकर बाह्य अर्थों का वर्णन करने में समर्थ भी नहीं हैं; अतः चक्षु आदि के गोलकों को छोड़कर इन्द्रियों का दूसरा स्वरूप मानना निरर्थक ही है।

यहाँपर यह मानना भी अयुक्त है कि अन्तःकरण अवच्छिन्न जीवचैतन्य ही इन्द्रिय द्वारा बाहर निकलकर घट आदि बाह्य विषयों से सम्बद्ध होकर उन बाह्य विषयों का अनुभव करेगा ? क्योंकि ऐसा माननेपर 'मेरे हृदय में विषयानुभव हुआ' यह न कहकर लोग ऐसा कहने लगेंगे कि 'मेरे बाहर विषयानुभव हुआ', इसी तरह प्रियाप्रियदर्शनप्रयुक्त सुखदुःखानुभव भी हृदय से बाहर ही होगा और कालान्तर में अनुभूत बाह्य विषयों का हृदय में स्मरण न होकर बाहर ही होने लगेगा—जो सर्वथा विपरीत है, जबतक विषयों का हृदय में प्रवेश नहीं होगा तबतक उनका हृदय के अन्दर अनुभव हो ही नहीं सकता। यदि इस विषयपर यह कहें कि बाहर निकली हुई अन्तः-करणवृत्ति विषयों के सम्बन्ध से विषयाकारता-लाञ्छन, जिनका नाम संस्कार है, लेकिन भीतर प्रवेशकर, नट के सदृश विषयाकार का अनुकरण कर रही विषयों का अनुभव अथवा स्मरण कराती है ? तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि घटादि विषयों का अनुभव आदि आपके कथनानुसार घटाकारक संस्कार रूप लाञ्छन से युक्त होगा तो भ्रम और प्रमा दोनों में कोई भेद न हो सकने से

विद्यमानमपि ब्रह्मन् ! दृश्यमानमपि स्फुटम् ॥ ४ ॥
कथं मृतस्य वै जन्तोर्विषयं स्वं न पश्यति ।
जीवतश्च कथं सर्वं विषयं स्वं प्रपश्यति ॥ ५ ॥

सर्वत्र ज्ञानों में विश्वास उठ जायगा; और घट आदि विषयों में बाह्यत्व का जो अनुभव होता है, वह भी नहीं होगा। इन सब तर्कों से यह निष्कर्ष निकला कि अनुभव तो एक भीतरी पदार्थ है और घटादि बाहर के पदार्थ हैं, इन दो वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध न हो सकने के कारण बाह्यार्थों को किसी भी तरह अनुभव पर चढ़ाया नहीं जा सकता।

इसीलिए नैयायिक प्रभृति अनुभव का विषयों के के साथ विषयविषयिभावरूप एक स्वरूप सम्बन्ध मानते हैं, न कि संयोग आदिरूप; परन्तु उनका यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि विषयविषयिभावरूप स्वरूप सम्बन्ध किसी खास विषय के साथ सम्बद्ध तो है नहीं, सब के साथ समानरूप है, इसलिए अमुक अनुभव में अमुक ही विषय है—इस प्रकार ज्ञान में विषयों की व्यवस्था नहीं हो सकती। इस पर यदि यह कहा जाय कि 'पहले आत्मा मन के साथ सम्बद्ध होता है, अनन्तर मन इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है और फिर इन्द्रियाँ विषयों के साथ सम्बद्ध होती हैं'—इस क्रम से ज्ञानाश्रय-आत्म-संयुक्तमनःसंयुक्त-इन्द्रियसंयोग आदिरूप परम्परा सम्बन्ध से ज्ञान में विषय व्यवस्था हो सकती है ? तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का परम्परा सम्बन्ध अनुगत न होने के कारण स्मृति, अनुमिति आदि में अनुगत तत्-तत् विषयों की व्यवस्था नहीं कर सकता। अपिच, यह परम्परा सम्बन्ध बाह्य अर्थों में अपरोक्षत्व का सम्पादक है, फिर भी आप जब उसे विषय व्यावस्थापक मानते हैं तब तथा कथित स्वरूप सम्बन्ध मानना व्यर्थ ही है। इसी युक्ति से सम्बन्ध द्वारा विषय जिस ज्ञान की अभिव्यक्ति करता है, वही अर्थ उस ज्ञान का विषय होता है—यह बात भी खण्डित हो जाती है, क्योंकि इन्द्रिय आदि जो भी ज्ञानाभिव्यक्ति में हेतु हैं, वे सब उस ज्ञान के विषय हो जायँगे।

हे ब्रह्मन् ! मृत प्राणी के शरीर में श्रोत्र-गोलक, चक्षुर्गोलक, त्वग्गोलक, रसना-गोलक और घ्राण-गोलक—विद्यमान और स्पष्ट दिखाई देते हैं, फिर भी वे अपने-अपने विषयों का ग्रहण क्यों नहीं करते और जीवित प्राणी के शरीर में वे सब अपने-अपने विषयों का ग्रहण कैसे करते हैं ? ॥ ४, ५ ॥

कथं घटादिबाह्यत्वमिन्द्रियाणि जडान्यपि ।
शरीरेऽनुभवन्त्यन्तः पुनर्नाऽनुभवन्त्यपि ॥ ६ ॥
अयःशलाकोपमयोर्घटादीन्द्रिययोः किल ।
अश्लिष्टयोरन्तरसौ कथं तन्नोदिता मिथः ॥ ७ ॥
जानन्नपि यदेतान् वै विशेषाञ्छतधा पुनः ।
पृच्छामि तदशेषेण कथयस्वाऽनुकम्पया ॥ ८ ॥

वसिष्ठ उवाच

इन्द्रियाद्यपि चित्तादि घटाद्यपि न किञ्चन ।
पृथक् संभवतीहाऽङ्ग निर्मलाच्चेतनादृते ॥ ९ ॥
गगनादपि याऽच्छा चित्तया रूपं स्वमात्मना ।
चित्त्वात् पुर्यष्टकत्वेन भाववृत्त्यैव भावितम् ॥ १० ॥
तदेव च प्रकृतितां गतं जगदवस्थितेः ।
तस्या अवयवाज्जातमिन्द्रियादि घटादि च ॥ ११ ॥
पुर्यष्टकत्वमायातं यच्चित्तं स्वस्वभावतः ।
स्व एवाऽवयवस्तस्मिन् घटादि प्रतिबिम्बति ॥ १२ ॥

श्रीराम उवाच

जगत्सहस्रनिर्माणमहिम्नो दर्पणस्य च ।
पुर्यष्टकस्य भगवन् ! रूपं कथय कीदृशम् ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

अनाद्यन्तं जगद्बीजं यद्ब्रह्माऽस्ति निरामयम् ।
भारूपं शुद्धचिन्मात्रं कलाकलनवर्जितम् ॥ १४ ॥
कलनोन्मुखतां यातमन्तर्जीव इति स्मृतः ।
स जीवः खलु देहेऽस्मिञ्चिनोति स्पन्दते स्फुटम् ॥१५॥

जड स्वरूप भी ये इन्द्रियाँ शरीर के भीतर घटादि बाह्य पदार्थों का अनुभव कैसे करती हैं और पुनः अनुभव क्यों नहीं करती हैं ॥ ६ ॥

भिन्न-भिन्न प्रदेश में गड़ी दो लोह-शलाकाओं की तरह परस्पर अत्यन्त न मिले हुए घटादि विषय एवं इन्द्रियों की आप से कही जा रही परस्पर आकर्षणशीलता और उसमें भी नेत्र आदि अल्प विवरों के भीतर घट आदि स्थूल पदार्थों का प्रवेश होना, यह कैसे होता है ? अर्थात् इन्द्रियों के साथ संश्लिष्ट विषय इन्द्रियों का आकर्षण कर सकते हैं, असंश्लिष्ट होकर नहीं; क्योंकि घट आदि से असंश्लिष्ट रज्जु कभी घटादि का आकर्षण नहीं करती है और गोलक-प्रदेशों के समीप न जाने वाले घटादि का उनसे सम्बन्ध भी नहीं हो सकता तथा न तो रज्जु की तरह इन्द्रियाँ घट आदि का संश्लेष या आकर्षण करती हैं—यह प्रसिद्ध ही हैं; क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रदेशों में गड़ी हुई दो लोह-शलाकाओं की तरह वे दोनों भिन्न देशस्थ हैं ॥ ७ ॥

इन विशेषों को जानते हुए भी मैं अज्ञानियों पर अनुग्रह करने के लिए ही फिर-फिर सैकड़ों बार आपसे जो पूछता हूँ, उसे आप कृपापूर्वक पूर्णरूप से कहिए ॥८॥

श्री वसिष्ठ जी ने कहा—इस व्यवहार-भूमि में निर्मल चिति के अलावा इन्द्रिय चित्त घट आदि किसी भी अन्य पदार्थ का पृथक् अस्तित्व संभव नहीं है ॥ ९ ॥

गगन से भी अत्यन्त निमल चित् होने के कारण माया शबल-स्वभाव इन्द्रियादि घटित पुर्यष्टकरूप से अपने स्वरूप की पूर्व-पूर्व वासनाओं के अनुसार कल्पना करती है ॥ १० ॥

माया शबल कल्पित रूप जगत् के अवस्थान में वही प्रकृति बन गया है। उसी प्रकृति के अवयवों से इन्द्रिय आसि प्रमाण एवं घट आदि प्रमेय उत्पन्न हैं ॥ ११ ॥

इस प्रकार पुर्यष्टक रूपता को प्राप्त चिद्रूप तत्त्व अपने चित्त आदि से घटित स्वभाव के कारण स्वयं चित्त वृत्ति नाम का अवयव हो जाता है। उस चित्त-वृत्ति नामक अवयव में घट आदि बाह्य विषय बाह्याकार से ही प्रतिबिम्बित हैं। अर्थात् मृत-देह में तो पुर्यष्टक घटित लिङ्गदेहात्मक जीव की—अपनी कल्पना से ही बाहर निकल जाने के कारण दर्शन आदि की सामर्थ्य ही नहीं रहती ॥ १२ ॥

श्री रामचन्द्र जी ने कहा—हे भगवन् ! हजारों जगत् के निर्माण की महिमा वाले और उन जगत् के लिए दर्पणभूत उस पुर्यष्टक का स्वरूप किस प्रकार का है ? इसको आप कहें ॥ १३ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—श्रीरामभद्र, आदि और अन्त रहित विकार वर्जित, प्रकाशस्वरूप, शुद्धचैतन्यमात्रस्वरूप, माया के आक्रमण से रहित तथा जगत् का कारण जो ब्रह्मतत्त्व है, वह पहले आकाश आदि सूक्ष्मभूतों की रचना कर अपञ्चीकृत उन भूतों से लिङ्गदेह और पञ्चीकृत उन भूतों से ब्रह्माण्ड की रचना करता है। वह ब्रह्मतत्त्व ही उस ब्रह्माण्ड के भीतर प्रतिबिम्बात्मक कल्पना की उन्मुखता को प्राप्त कर अभिमानवश सूत्रात्म-प्राणों को धारण करता है और वह 'जीव' कहा जाता है। वह इस देह में वासनाओं तथा अङ्गों के उपचय से पुष्ट होता है और पुष्ट जीव बाह्य एवं आभ्यन्तर व्यापाररूप चेष्टाएँ भली-भाँति किया करता है ॥ १४, १५ ॥

अहंभावादहङ्कारो मननान्मन उच्यते ।
बोधनिश्चयतो बुद्धिरिन्द्रदृष्टेस्तथेन्द्रियम् ॥ १६ ॥
देहभावनया देहो घटभावनया घटः ।
एष एव स्वभावात्मा जनैः पुर्यष्टकं स्मृतः ॥ १७ ॥
ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वसाक्षित्वाद्यभिपातिनी ।
या संविज्जीव इत्युक्ता तद्धि पुर्यष्टकं विदुः ॥ १८ ॥
काले काले ततो जीवस्त्वन्योऽन्यो भवति स्वतः ।
भाविताकारयाऽनन्तवासनाकणिकोदयम् ।
पुर्यष्टकस्वभावेन कालेनाऽऽकारमृच्छति ॥ १९ ॥
यथावासनतः सेकाद्बीजं पल्लवतामिव ।
आकारोऽहं शरीरादि स्थावरादि चरादि च ॥ २० ॥
नाऽहमाद्यश्चिदात्मेति मिथ्याज्ञानेन चेतति ॥ २१ ॥

अपने शुद्ध चैतन्यमात्रस्वरूप का विस्मरण होनेपर देह आदि में 'अहम्' अभिमान से वह 'अहङ्कार' कहा जाता है; सङ्कल्प आदिरूप व्यापार से 'मन' कहलाता है, सङ्कल्प आदिरूप व्यापार से 'मन' कहलाता है, बोध के निश्चयात्मक व्यापार से 'बुद्धि' कहलाता है और इन्द्ररूप आत्मा द्वारा दृष्ट यानी तत्तत् कर्मों से उपार्जित होने के कारण इन्द्रिय कहलाता है ॥ १६ ॥

वही देहरूप भावना से 'देह' बनता है और घटाकार भावना से घट। समस्त व्यापारों में साधारणस्वभावरूप यह आत्मा विद्वानों द्वारा 'पुर्यष्टक' कहा गया है ॥ १७ ॥

अध्यासवश ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, साक्षित्व आदि धर्मों से युक्त ही चैतन्यांश की प्रधानता से 'जीव' कहा गया है। और जडांश की प्रधानता से उसकी ही विद्वान् लोग 'पुर्यष्टक' भी कहते हैं अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों से 'मैं ज्ञाता हूँ', कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से 'मैं कर्ता हूँ', उन ज्ञानकर्मेन्द्रियों के व्यापारों से जनित सुख-दुःखों का आश्रय होने से 'मैं भोक्ता हूँ', उदासीन होकर सबका प्रकाशन करने से 'मैं साक्षी हूँ' ॥ १८ ॥

['अहङ्कारकलायुक्तं बुद्धिजीवसमन्वितम् तत्पुर्यष्टकमित्युक्तं भूतहृत्पद्मषट्पदः ॥' इस लक्षण से लक्षित पुर्यष्टक का ही यह प्रकारान्तर से वर्णन है।]

अनन्तर अध्यासवश स्वात्मरूप बुद्धिवृत्तियों से वही जीव समय-समय पर काम, क्रोध, हर्ष, विषाद आदि द्वारा स्वयं ही अनेकरूप हो जाता है। और काल पाकर अपने पुर्यष्टक स्वभाव उस आकार को प्राप्त करता है, जिसमें अनन्त वासनारूपी कणिकाओं का उदय होता है ॥ १९ ॥

वासना के अनुसार समष्टि-व्यष्टयात्मक उस जीव के भी मैं, शरीर आदि, स्थावर आदि एवं जङ्गम आदि सब जगत् आकार वैसे ही होते हैं जैसे सिंचन से बीज के पल्लव आदि आकार होते हैं ॥ २० ॥

इसलिए 'आद्य चिदात्मा मैं नहीं हूँ, किन्तु शरीर आदि आकार वाला ही मैं हूँ' इस प्रकार मिथ्या ज्ञान से यह देखने लगता है ॥ २१ ॥

भ्रमत्येव जगज्जीवो वासनावलितश्चिरम् ।
ऊर्ध्वाधोगमनैरब्धौ काष्ठं वीचिहतं यथा ॥ २२ ॥
कश्चिद्विशुद्धजातित्वाद्भवबन्धादनन्तरम् ।
बुद्ध्वाऽऽत्मानं समभ्येति पदमाद्यन्तवर्जितम् ॥ २३ ॥
कश्चित् कालेन बहुना भुक्तयोनिगणातुरः ।
आत्मज्ञानवशादेति परमं पदमात्मनः ॥ २४ ॥
एवंरूपश्च सुमते जीवो ! यातः शरीरताम् ।
नेत्रादिना घटाद्यन्तर्यथा वेत्ति तथा शृणु ॥ २५ ॥
चित्त्वस्य कलनान्तस्य संप्रयातस्य जीवताम् ।
मनःषष्ठेन्द्रियग्रामो देहोऽयमवतिष्ठते ॥ २६ ॥
यदाऽन्यः सर्वदेहेभ्यः खे पतत्यक्षरूपिणा ।
तदा तज्जीवसंस्पर्शाज्जीवात्मैकत्वमृच्छति ॥ २७ ॥

वासनाओं से वेष्टित जीव चिरकाल तक स्वर्ग-नरक में आवागमनों द्वारा जगत् में वैसे ही घूमता रहता है, जैसे समुद्र में तरङ्गों से ताडित काष्ठ घूमता है ॥ २२ ॥

सनक आदि के समान कोई तो विशुद्ध जाति के प्रभाव से कल्प के प्रारम्भ में ही अर्थात् पूर्वकल्प के सांसारिक बन्धन के बाद प्रथम जन्म में ही आत्मा का तत्त्वतः ज्ञान कर आदि एवं अन्त से शून्य परम पद को प्राप्त करते हैं ॥ २३ ॥

बहुत काल तक अनेक योनियों में प्राप्त सुख-दुःखादि भोगों के बाद व्याकुल कोई पुरुष आत्मज्ञान द्वारा परमपद प्राप्त करता है ॥ २४ ॥

सुमते ! श्रीरामजी ! शरीररूपता को प्राप्त यह जीव नेत्र आदि के द्वारा घटादि बाह्य विषयों का जिस प्रकार भीतर अनुभव करता है, वह आप सुनें ॥ २५ ॥

जीवरूपता को प्राप्त चैतन्य का मन के साथ छः इन्द्रियों से समन्वित यह शरीर में व्याप्त परिमित होकर स्थित रहता है। जीव चैतन्य सर्वदा देहपरिमित होकर देह के अन्दर रहने वाले सुख, दुःख आदि का ही सम्बन्धवश अनुभव करता है, देह से बाहर रहने वाले का नहीं ॥ २६ ॥

अन्य बाह्य घट आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष के समय

बाह्यार्थवेदने नित्यं सम्बन्धोऽक्षस्य कारकः ।
समन्वितस्य चित्तेन न मुक्तस्य कदाचन ॥ २८ ॥
यद्यदच्छतरं तस्मिन्नभःस्थं प्रतिबिम्बति ।
जीवेन भवति श्लिष्टो बहिर्जीवोऽप्यजीवति ॥ २९ ॥
निघृष्टनवरत्नाभे यदा नयनतारके ।
तदा तयोर्बाह्यगतः पदार्थः प्रतिबिम्बति ॥ ३० ॥
जीवेन भवति श्लिष्टः प्रतिबिम्बतया ततः ।
जीवज्ञेयत्वमायाति बाह्यं वस्त्विति राघव ! ॥ ३१ ॥
यत्संश्लेषमुपायाति तद्बालोऽपि हि विन्दति ।
पशुर्वा स्थावरो वाऽपि जीवः कस्मान्न वेत्स्यति ॥ ३२॥
अच्छस्य नयनस्याऽथो रश्मयो जीववेष्टिताः ।

जैसे तालाब से झटके से उछला हुआ जल नाली द्वारा क्यारियों में पहुँचता है, वैसे ही सब देहों से उद्रिक्त जीव चैतन्य चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारों से घटादिपर्यन्त बाह्य विषय तक के आकाश में जाता है। उन घटादि विषयों का नेत्र आदि द्वारों से निकले हुए जीव चैतन्य के साथ स्वाकारवृत्तिव्याप्ति द्वारा सम्बन्ध हो जाने से वे विषमता प्राप्त करते हैं ॥ २७ ॥

बाह्य विषयों के ज्ञान में इन्द्रिय सन्निकर्ष ही सदा कारण है और वह इन्द्रियों का सम्बन्ध चित्त से युक्त जीवित पुरुष में ही संभव है, मृत अथवा मुक्त पुरुष में कभी नहीं ॥ २८ ॥

अन्तःकरणवृत्ति रूप या नयनरश्मिरूप अत्यन्त स्वच्छ वस्तु में बाह्यकाश में स्थित घटादि विषय प्रतिबिम्बित होते हैं, और वह प्रतिबिम्ब अन्तःकरण वृत्ति के अन्तर्गत जीव चैतन्य के साथ संश्लिष्ट हो जाता है अर्थात् जीव बाहर विद्यमान रह कर भी वह बाहर प्राणों को धारण नहीं करता। अर्थात् प्राण की व्याप्ति रहती है, वहीं अहन्ताभिमान होता है, बाहर नहीं ॥२९॥

आवरण आदि दोषों से शून्य होने के कारण जब आँखों के तारे, सान पर घिसे गये नवीन नीलम-मणि की तरह चमकते रहते हैं तब उनमें घटादिप्रतिबिम्बयुक्त चित्तवृत्ति प्रवेश करती है, इसी से बाहर-स्थित घटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है, यह कहा जाता है ॥३०॥

हे श्रीराघव ! अनन्तर उस प्रकार आँखों के तारों में प्रविष्ट घटादि पदार्थ, हृदय में प्रतिबिम्ब पड़ने से अहमभिमानी जीव के साथ संयुक्त हो जाता है। इस प्रकार बाहर ही भासमान घटादि बाह्य-पदार्थ अहङ्कारी जीव द्वारा हृदय में ज्ञेय हो जाता है ॥ ३१ ॥

जो वस्तु सम्बन्ध को प्राप्त होती है, उसे बालक भी अथवा पशु भी जान लेता है। किं बहुना ? जब स्थावर पदार्थ भी अपने साथ सम्बद्ध वस्तु को जान लेता है तब जीव अपने से सम्बद्ध वस्तु को क्यों नहीं जान लेगा ? 'लजालु' नाम का एक पौधा स्पर्श मात्र से अपने पत्तों को सिकोड़ लेता है—यह देखा जाता है। इसी से अनुमान कर यह जाना जा सकता है कि सब स्थावर अपने से सम्बद्ध वस्तुओं का परिज्ञान करते हैं ॥ ३२ ॥

क्रोडीकुर्वन्त्यलं दृश्यं जीवस्तत्त्वेन विन्दति ॥ ३३ ॥
एष एव क्रमः स्पर्शे सम्बन्धः प्रत्ययोद्भवः ।
रसे गन्धे च कथितो जीवसंस्पर्शसंभवः ॥ ३४ ॥
शब्दस्त्वाकाशनिष्ठत्वात् कर्णाकाशगतः क्षणात् ।
जीवाकाशं विशत्यन्तरित्थमिन्द्रियसंविदः ॥ ३५ ॥

श्रीराम उवाच

दृश्यते मानसादर्शे यन्त्रदार्वौदरेषु तत् ।
प्रतिबिम्बितमेतन्मे ब्रूहि ब्रह्मन् ! किमात्मकम् ॥ ३६ ॥

वसिष्ठ उवाच

अत्यन्तजडयोरेव जीवयोरिव तन्मिथः ।
प्रतिबिम्बं दृशो भ्रान्ति विद्धि वेद्यविदां वर ! ॥ ३७ ॥

जीव चैतन्य के साथ सम्बद्ध गोलक से भिन्न, स्वच्छतम चक्षुरिन्द्रिय की रश्मियाँ दृश्य घटादि विषयों का पूर्ण रूप से सम्बन्ध प्राप्त करती हैं, अनन्तर जीव उन्हें तत्त्वतः जान लेता है ॥ ३३ ॥

जीव संस्पर्श से होने वाला यह स्पर्श, रस और गन्ध का परिज्ञान कराने में हेतु कहा गया है ॥ ३४ ॥

शब्द तो आकाश में रहता है, अतः क्षणभर में ही उसका वृत्तिप्रतिबिम्ब के बिना भी साक्षात् श्रोत्र द्वारा भीतर जीवाकाश में प्रवेश हो जाता है। इसी रीति के अनुसार इन्द्रियों से विषयों का परिज्ञान होता है ॥३५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—ब्रह्मन्, मानसवृत्ति दर्पण, मणि, जल, और यन्त्रघृष्ट काष्ठ में घट, मुख, प्रभा आदि के जो प्रतिबिम्ब हैं, उनका स्वरूप क्या है ? यह आप मुझ से कहो ॥ ३६ ॥

श्री वसिष्ठजी ने कहा—तत्त्वज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीराम जी ! जैसे चिति के प्रतिबिम्ब स्वरूप समष्टि-व्यष्टचात्मक जीवों का स्वरूप बिम्बभूत चित् के सत्य होने पर भी चैतन्यात्मा की भ्रान्ति है, वैसे ही अत्यन्त जडस्वरूप मुख एवं दर्पण का या घट एवं चित्तवृत्ति का परस्परसापेक्ष प्रतिबिम्ब भी चैतन्यात्मा की भ्रान्ति ही है, यह आप जानें ॥ ३७ ॥

तावन्मात्रं जगत्त्वेतद्विश्वासो मा तवाऽस्त्विह ।
अहमित्यादिस्तरङ्गो वर्तमानं सदा जलम् ॥ ३८ ॥
परामभोधौ तु नाऽस्त्येव देशकालक्रियादिकम् ।
तन्मयैकतया नित्यमात्मा सर्वत्र सर्वगः ॥ ३९ ॥
नित्यमसक्तमतिर्मुदितात्मा
शान्तमृषासुखदुःखविदन्तः ।
तिष्ठ निविष्टमतिः समताया-
मस्तसमस्तभवामयमायः ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अक्षसंवेदनविचारयोगोपदेशो नाम पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

यह जगत् भी भ्रान्ति मात्र है। आप को इस जगत् में विश्वास नहीं करना चाहिए। यह अहङ्कार आदि प्रपञ्च तरङ्ग स्थानीय है, अतः चिति-जल से पृथक् उसकी सत्ता कभी नहीं हो सकती; क्योंकि, सत्तावान् तो सर्वदा चितिरूपी जल ही है ॥ ३८ ॥

परम चितिरूप समुद्र में तो देश, काल, क्रिया आदि सदा एकमात्र तद्रूप होने से पृथक् नहीं ही हैं। आत्मा सदा सब जगह सब में रहने वाला है ॥ ३९ ॥

सदा विषयासक्त बुद्धि से रहित प्रसन्नात्मा, हृदय में मिथ्याभूत सुख-दुःख का अनुभव करने वाली बुद्धि से समस्त संसार रूप रोगात्मक माया से रहित तथा ब्रह्म स्वभाव समता में प्रविष्टमति होकर अपने स्वरूप में स्थित रहिए ॥ ४० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में अक्षसंवेदनविचारयोग उपदेश नामक कुसुमलता का पचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५० ॥

५१

वसिष्ठ उवाच

न पुनर्भवतः पूर्वं सम्पन्नाश्चक्षुरादयः ।
यथा कमलजस्यैतत् सर्वमेव त्वया श्रुतम् ॥ १ ॥
ब्रह्मपुर्यष्टकस्याऽऽदावर्थसंविद्यथोदिता ।
पुर्यष्टकस्य सर्वस्य तथैवोदेति सर्वदा ॥ २ ॥
विद्धि पुर्यष्टकं जीवो यो गर्भस्थेन्द्रियोदयः ।
यद्यथा भावयत्याशु तत्तथा परिपश्यति ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाख्यं विद्धि संवेदनं स्वकम् ।
सम्पन्नं च यथा तत्ते प्रोक्तमाद्यमनःस्थितौ ॥ ४ ॥
शुद्धा संवित् संभवन्ती संवेदनमनिन्दितम् ।
ततोऽहंवेदनानन्तजीवपुर्यष्टकान्विता ॥ ५ ॥
न त्वेकत्वादनन्तत्वादवेद्यत्वादनामये ।
अभावत्वादनेकत्वादशून्यत्वात् परास्तिता ॥ ६ ॥

५१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—कमलजन्मा हिरण्यगर्भ की तरह सृष्टि के पहले ब्रह्मस्वभाव में स्थित आपके भी चक्षु आदि उत्पन्न नहीं हुए थे, यह सब आपने सुन ही लिया है ॥ १ ॥

सभी व्यष्टिपुर्यष्टकों का भी अर्थ-ज्ञान सर्वदा वैसे ही उदित होता है। जैसे हिरण्यगर्भात्मक समष्टिपुर्यष्टक का सर्ग के आदि में व्यवहार योग्य अर्थ-ज्ञान उदित होता है ॥ २ ॥

व्यष्टि-जीव गर्भ में ही चक्षु आदि इन्द्रियों के प्रादुर्भाव से सम्पन्न पुर्यष्टक स्वरूप हो जाता है, वह तभी से जिस व्यवहर्तव्य वस्तु की जैसी भावना करता है; जैसी उसे अपनी भावना से तत्काल ही देखने लगता है, यह आप जानें ॥ ३ ॥

व्यष्टि जीवरूप आपका भी संवेदन वैसे ही हो जाता है, यही मैंने कहा—यह फलतः निकलता है, यह आप जानिए। जैसे हिरण्यगर्भ के मनोव्यापार में उसका निजी संवेदन चैतन्य इन्द्रिय और इन्द्रियों का विषय स्वरूप हो जाता है ॥ ४ ॥

सृष्टि के पहले व्यष्टि एवं समष्टि के रूप में आ रही संवित् एकरूप और शुद्ध ही थी। अनन्तर सृष्टि काल में वह संवित् अहमभिमानी असंख्य जीवपुर्यष्टकों से समन्वित हो जाती है किन्तु उसका संवेदन स्वरूप तो निष्कलङ्क ही रहता है ॥ ५ ॥

अद्वितीय, असीम और अवेद्य होने से निर्विकार इस चिति में दूसरे किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है क्योंकि वे अन्य पदार्थ देशकृत, कालकृत, और वस्तुकृत परिच्छेदों एवं स्थूलता से युक्त हैं ॥ ६ ॥

चेत्यादिबुद्ध्या तत्किञ्चिन्न मनस्तां च गच्छति ।
न च जीवत्वमायाति न च पुर्यष्टकात्मिका ॥ ७ ॥
न विद्यादिविलासोऽस्ति सोऽस्ति नाऽस्तीव यः सदा ।
परमात्मेति कथितो मनःषष्ठेन्द्रियातिगः ॥ ८ ॥
तस्मात् संपद्यते जीवश्चिन्मूर्तिर्मननात्मकः ।
भ्रमः केवलमित्याद्य उपदेशाय गीयते ॥ ९ ॥
यतः कुतश्चित् संपन्ने त्वविद्यामय आमये ।
उपदेश्योपदेशेन प्रविलीने विचारणात् ॥ १० ॥
प्रशान्तसकलाकारं ज्ञानं तत्राऽवशिष्यते ।
यत्राऽऽकाशमपि स्थूलमणाविव महाचलः ॥ ११ ॥
यत्रोद्यदाचारमपि सदप्यसदिव स्थितम् ।
जगज्जान्विषयांस्त्यक्त्वा काये त्वं तिष्ठ निर्मले ॥ १२ ॥
असन्मयमविद्याया रूपमेव तदेव हि ।

'चिति मन आदि के स्वरूप में जाती हैं' इत्यादि जो कहा गया है वह केवल चिन्तनीय, मननीय आदि वस्तु विषयक बुद्धिवृत्ति के अध्यारोप से ही कहा गया है; इस लिए चिति परमार्थतः मनोरूपता को कभी प्राप्त नहीं करती । इस तरह वह न तो जीवरूपता को प्राप्त होती है और न पुर्यष्टक रूपता से ही युक्त होती है ॥ ७ ॥

तत्त्वज्ञानात्मिका विद्या और चरमप्रमाणभूत मनन आदि के विलास का कुछ भी अस्तित्व नहीं है; 'नहीं ही है' ऐसा अज्ञानियों द्वारा सोचा जाता है, वह सदा ही विद्यमान है; वही 'परमात्मा' इस नाम से कहा गया है और वह मन के साथ छः इन्द्रियों का अविषय है ॥ ८ ॥

'उस परमात्मा से चैतन्यस्वरूप जीव उत्पन्न होता है' इत्यादि मननात्मक कल्पना एकमात्र शिष्यों को समझाने के लिए ही कही गई है ॥ ९ ॥

विचार द्वारा उपदेश्य को उपदेश देने के बाद चरम प्रमाण मननात्मक विचार से जिस किसी अज्ञात मूल से उत्पन्न अविद्यारूप रोग के शान्त हो जानेपर सम्पूर्ण आकारों से रहित स्वरूपज्ञान अवशिष्ट रहता है, जहाँ परमाणु में सुमेरु पर्वत की तरह आकाश भी स्थूलरूप हो जाता है ॥ १०, ११ ॥

व्यावहारिक सत्यभूत भी पदार्थ जहाँ शून्य की तरह स्थित हैं, उस निर्मल सत्यस्वरूप ब्रह्मपद में जगत् में उत्पन्न विषयों को छोड़ कर आप निर्मल शरीर होकर स्थित रहें ॥ १२ ॥

अविद्या का वही प्रसिद्ध असद्रूप ही स्वरूप है यतः भलीप्रकार देखी जा रही भी अविद्या नहीं दीख पड़ती,

यद्वीक्षिता सती नूनं नश्यत्येव न दृश्यते ॥ १३ ॥
आलोकितं नाम कथमवस्तु किल लभ्यते ।
प्रयत्नेनाऽपि संप्राप्तं मृगतृष्णाम्बुकैरिव ॥ १४ ॥
असदेव सदेवाऽसदज्ञानादस्य सत्यता ।
ज्ञानाद्यथास्थितं वस्तु दृश्यते नश्यति भ्रमः ॥ १५ ॥
अविद्याया विचारोऽयं जीवपुर्यष्टकादिका ।
अप्यत्यन्तमसत्यायाः कल्पना कल्पिताऽऽत्मनः ॥ १६ ॥
तस्यास्त उपदेशाय सेयं जीवादिकल्पना ।
कृता शास्त्रैः प्रबोधाय तां त्वमेकमनाः शृणु ॥ १७ ॥
जीवत्वमिव संप्राप्ता पुर्यष्टकपदस्थिता ।
कलाकलङ्ककलिता चितिराबोधनोन्मुखी ।
यद्यथा भावयत्याशु तत्तथाऽनुभवत्यलम् ॥ १८ ॥
सत्यो भवत्वसत्यो वा बालेन निशि यक्षकः ।
पञ्चतन्मात्रकलनां संभावयति सत्तया ॥ १९ ॥

किन्तु नष्ट ही हो जाती है ॥ १३ ॥

मृगतृष्णा जल दिखाई दिया, पर उसे प्रयत्न से भी किसी ने भी कहीं पाया है क्या ? अर्थात् किसी ने कहीं नहीं पाया है, क्योंकि, वह अवस्तुभूत पदार्थ हैं, अतः भ्रान्तिवश देखे गये भी वे किस तरह पाये जा सकते हैं ? ॥ १४ ॥

असत् पदार्थ ही सत्रूप में भासित होता है । उसकी सत्यता असद्रूप अविद्या से ही है । ज्ञान से तो जो वस्तु जिस प्रकार की रहती है, वह उसी प्रकार की दिखाई देती है और भ्रम नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

अत्यन्त असद्रूप भी अविद्या की जीव, पुर्यष्टक आदि कल्पना सत्य आत्मा के सन्निधान से की गई है, यह विचार भी अविद्या से होता है ॥ १६ ॥

आप-जैसे अधिकारी जीवों को उपदेश देने के लिए उस अविद्या की ही जीव आदि के रूप में कल्पना की गई है । इसलिए प्रबोध के लिए एकचित्त होकर आप उसे सुनें ॥ १७ ॥

जीवरूपता को प्राप्त के समान पुर्यष्टकरूप पद में स्थित, मायारूपी कलङ्क से वेष्टित तथा जीव को बाह्य विषयों का दर्शन करने के लिए उत्सुक यह चिति जैसी भावना जिसकी रहती है, भलीभाँति उसका वैसा ही अनुभव कर लेती है ॥ १८ ॥

बालक के द्वारा रात्रि में कल्पित यक्ष की तरह फिर वह सत्य हो या असत्य ही हो, यह जीवचिति 'पञ्चतन्मात्राओं के पञ्चीकरणरूप शरीर की कल्पना सत्य ही है' ऐसी संभावना करती है ॥ १९ ॥

तत्राऽऽत्मनि तथा रन्ध्रान् प्रपश्यति तथोदितान् ॥२०॥
एभ्य एव समुत्पन्नं बहिःस्थं भूतपञ्चकम् ।
पश्यत्यनन्यदन्याभं शाखाशतमिवाऽङ्कुरः ॥ २१ ॥
इदमन्तरिदं बाह्यमिति निश्चयवांस्ततः ।
जीवो भावं यथाऽऽदत्ते तत्तथा द्रढयत्यथ ॥ २२ ॥
रश्मिजालमिवेन्दोर्यदात्मनः प्रतिभासनम् ।
बाह्यस्पर्शतया तेन तदेवाऽऽशूररीकृतम् ॥ २३ ॥
मरिचस्येव यत्तैक्ष्ण्यं शून्यत्वमिव खस्य यत् ।
आत्मनो वेदनं यच्च तदेवाऽन्यदिव स्थितम् ॥ २४ ॥
अत्रैव निश्चयं बद्ध्वा नियमः सुदृढीकृतः ।
अनेनेत्थमनेनेत्थं भाव्यमित्यवखण्डितम् ॥ २५ ॥

उस देहरूप आत्मा में उत्पन्न इन्द्रिय द्वारों को भी उसी प्रकार देखती है ॥ २० ॥

इन्हीं पञ्चतन्मात्राओं से उत्पन्न बाहर-स्थित परमार्थत: उससे दूसरे नहीं पञ्चमहाभूतों को इन्द्रियरूप द्वारों से वैसे ही वह भिन्न के समान देखती है, जैसे सैंकड़ों शाखाओं को अङ्कुर ॥ २१ ॥

अनन्तर 'ये इन्द्रिय, मन, प्राण आदि आन्तर पदार्थ हैं और ये घट आदि बाह्य पदार्थ है' ऐसा निश्चय सम्पन्न जीव जिसकी जैसी वासना कर लेता है, उसे उसी रूप से दृढ कर लेता है ॥ २२ ॥

चन्द्रमा की किरणों की तरह आत्मा का सुखरूप से ज्ञान ही इस जीव ने बाह्य विषयों के सुखानुभवरूप से शीघ्र स्वीकार कर लिया है ॥ २३ ॥

मरिच से अभिन्न मरिच की प्रसिद्ध तीक्ष्णता और आकाश से अभिन्न आकाश की प्रसिद्ध शून्यता के सदृश आत्मा से अभिन्न प्रसिद्ध आत्मा का ज्ञान ही अन्य-सा होकर स्थित है। अर्थात् स्वाभाविक आत्मज्ञान ही अज्ञान वश भिन्न-सा अहमाकार आत्मा का धर्म बन कर स्थित है ॥ २४ ॥

सांसारिक विषयभोग में ही पुरुषार्थ की परिसमाप्ति है, यह मत स्थिर कर नश्वर सुख को लक्ष्य कर उसने 'इन लौकिक कर्मों से यह सुख होता है और इन पारलौकिक कर्मों यह सुख होगा' इस नियम को सुदृढ़ कर दिया है ॥ २५ ॥

उन दोनों प्रवृत्तिनियमों में एक तो स्वाभविक राग आदि दोषों से जनित है और दूसरा शास्त्रजनित है।

स्वभावेतरनामाऽसौ स्वसङ्कल्पमयात्मकः ।
कश्चित् कदाचिद्भवति स्वभावेनैव नाऽन्यथा ॥ २६ ॥
आत्मनैवेदमखिलं सम्पन्नं द्वैतमद्वयम् ।
खण्डो मधुरसेनेव मृदेव च महाघटः ॥ २७ ॥
सन्निवेशविकारादि देशकालादिसंभवात् ।
संभवत्यत्र न त्वीशे देशकालाद्यसंभवात् ॥ २८ ॥
इतः पुष्पमितः पत्रमहमित्युदितो यथा ।
खण्डे स्वात्मनि नः सत्तारसोऽद्वित्वे द्वितां वहन् ॥ २९ ॥
इतः पट इतः कुड्यमित्यादितस्तथा ।
सर्वात्मनाऽऽत्मनि ब्रह्म विद्धि त्वं द्वित्वमाहरत् ॥ ३० ॥
अद्याङ्कुरोऽहमद्यार्करुगहं त्वद्य वारिदः ।
यथेति तिष्ठत्यम्भोदस्तथाऽऽत्मा सदसद्वपुः ॥ ३१ ॥

दोनों ही नियम सङ्कल्परूप हैं। उन दोनों में से कदाचित् कोई एक ही स्वाभाविक पुरुष प्रयत्न से ही दूसरे को दबा कर होता है, अन्यथा नहीं ॥ २६ ॥

द्वैत एवं अद्वैत रूप यह सम्पूर्ण जगत् जैसे ईख के रस से खाँड़ और मिट्टी से महाघट वैसे ही आत्मा से ही बना है ॥ २७ ॥

देश, काल आदि से परिच्छिन्न होने के कारण अवयव विन्यास, विकार आदि हो सकते हैं; परन्तु ब्रह्म में तो देशकृत, कालकृत आदि परिच्छेदों के न होने से वे विकार आदि नहीं हो सकते हैं ॥ २८ ॥

जैसे वृक्ष में प्रविष्ट जल, 'यहाँ मैं पत्र हूँ', यहाँ 'मैं फूल हूँ' इत्यादि विचित्ररूप से उदित होकर एक होने पर भी अनेकता को धारण करता हुआ देखा जाता है, हम लोगों की आत्मा में प्रसिद्ध सत्ता वाले ब्रह्म ने भी वैसे ही 'यहाँ मैं पट हूँ', 'यहाँ मैं कुड्य हूँ' इत्यादि भेदों से सम्पूर्ण जगदाकार से आत्मा में द्वित्व को धारण कर लिया है, यह आप जानें ॥ २९, ३० ॥

यह आत्मा भी काल भेद से भाव और अभाव का आकार होकर वैसे ही स्थित रहता है जैसे मेघ कालभेद से—पहले ग्रीष्म-ऋतु में 'मैं सूर्यतापरूप हूँ' इस प्रकार अभेद भावना कर सूर्यतापरूप से फिर वर्षाऋतु के प्रारम्भ में वृष्टि करने के समय 'मैं जल इस प्रकार बरसाने वाला हूँ' जल प्रदरूप से और फिर पृथ्वी में प्रवेश द्वारा अङ्कुर के अन्दर जलरूप से उसका प्रवेश होने पर 'मैं अङ्कुररूप हूँ' इस प्रकार अङ्कुररूप में—स्थित रहता है ॥ ३१ ॥

इति भाव्यमनेनेदमित्थं सर्वेश्वरे ततम् ।
क्रमं खण्डयितुं लोके कस्य नामाऽस्ति शक्तता ॥ ३२ ॥
आदर्शस्वच्छ आकाशे नैव स्वः प्रतिबिम्बति ।
व्यतिरेकासंभवतः कचत्येव हि केवलम् ॥ ३३ ॥
ब्रह्मणि त्वात्मनाऽऽत्मैव स्थितः कचति बिम्बति ।
द्वैती भवत्यदेहोऽपि चिन्मयत्वात् स्वभावतः ॥ ३४ ॥
यद्यथैवाऽऽत्मकचनं वेत्ति तं भवताऽऽत्मना ।
असत्यमपि तन्नेह व्यभिचारी कदाचन ॥ ३५ ॥
हेमत्वकटकत्वे द्वे सत्यासत्यस्वरूपिणी ।
हेम्नि भाण्डगते यद्वच्चित्त्वाचित्त्वे तथाऽऽत्मनि ॥३६॥
सर्वगत्वाच्चितेश्चित्त्वं नित्यं मनसि विद्यते ।

इस वस्तु से यह कार्य इस प्रकार हो इस प्रकार परब्रह्म में कल्पित प्रसिद्ध क्रम को इस जगत् में ऐसा कौन जीव है, जो तोड़ सकता है ॥ ३२ ॥

दर्पण की तरह स्वच्छ आकाश में अपना भाग (आकाश-भाग) या अपना कार्य प्रतिबिम्बित नहीं ही होता, क्योंकि आकाश में या उसके कार्यभूत अन्य भूतों में आकाश का भेद नहीं रहता अर्थात् भिन्न वस्तु में प्रतिबिम्ब पड़ता है किन्तु केवल आकाश प्रतिबिम्ब शून्य दर्पण के मध्य के समान निर्मलरूप से शोभित होता है ॥३३॥

अविद्या संवलित ब्रह्म में तो अपने स्वरूप से स्थित आत्मा ही समस्तवस्तुशक्ति रादि रूप से शोभित होता है, जीवरूप से प्रतिबिम्बित होता है और स्वभावतः चिन्मय होने से देहरहित होता हुआ भी वह भेदबुद्धि से द्वितीय के समान प्रतीत होता है ॥ ३४ ॥

सर्ग के आदि में जिस वस्तु स्वभाव से आत्मा का प्रकाश होता है, असत्य भी उस स्वभाव को सत्य आत्मा द्वारा सत्यरूप से जानता है और वह नियम कभी भी व्यभिचरित नहीं होता है ॥ ३५ ॥

आत्मा में भी चित्त्व और अचित्त्व दोनों वैसे ही रहते हैं जैसे भूषण में स्थित सुवर्ण में अर्थात् सुवर्ण के आभूषण में सत्य एवं असत्यरूप सुवर्णत्व और कटकत्व दोनों रहते हैं ॥ ३६ ॥

चिति के सर्वव्यापी होने से उसके सर्वप्रथम कार्य मन में सर्वदा वैसे ही चितिरूपता रहती है जैसे कटक में नित्य ही सुवर्णरूपता रहती है और जड़रूपता तो किसी

हेमत्वं कटकस्येव जडभावः स्थितोऽन्यदा ॥ ३७ ॥
चित्त्वजा[1]ड्यात्मकं चित्तं दृढं भावयति स्वयम् ।
यथा यदैव यद्भावं तथा भवति तत्तदा ॥ ३८ ॥
काले काले चिता जीवस्त्वन्योऽन्यो भवति स्वयम् ।
भाविताकारवानन्तर्वासनाकलिकोदयात् ॥ ३९ ॥
स्वप्ने दृष्टो यथा ग्रामो याति सत्ताऽन्यतेक्षणात् ।
देहाद्देहं तथा याति देहोऽयं प्रतिभात्मकः ॥ ४० ॥
प्रतिभासो यथा स्वप्ने नरः कुड्यं पटो भवेत् ।
भवत्यसत्यमेवेदं देहान्तरमिदं स्वतः ॥ ४१ ॥
असत्यमेव म्रियते त्वसत्यं जायते पुनः ।
जीवः स्वप्रतिभासेन स्वप्नवत् स्वान्यरूपवत् ॥ ४२ ॥

समय अर्थात् अध्यास के समय में विद्यमान रहती है ॥३७॥

चेतन और जड स्वरूप यह चित्त स्वयं जब जिस किसी पदार्थ की जिस प्रकार दृढ़ भावना करता है, अर्थात् जब देव, नर, स्थावर आदिरूप से देवादि के स्वरूप की भावना करता है, तब उस प्रकार का वह हो जाता है ॥ ३८ ॥

चैतन्य से वासनारूपी कलियों का विकास होता है; उसी से यह जीव विचित्र तरह से भावित आकार वाला होकर समय-समय पर स्वयं भिन्न-भिन्न रूप का हो जाता है ॥ ३९ ॥

देहभूत यह जीव भी एक देह से दूसरी देह को वैसे ही प्राप्त हो जाता है, जैसे स्वप्न में दिखाई पड़ा ग्राम वनादिसत्तारूपी भिन्नता के अवलोकन से वनादिभाव को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि यह स्वप्न के समान ही प्रतिभासात्मक है ॥ ४० ॥

मरण-मूर्च्छा में भी प्रतिभासमान असत्यरूप ही यही शरीर यह दूसरा शरीर अपने-आप वैसे ही बन जाता है जैसे स्वप्न में दिखाई दे रहा मनुष्य शीघ्र ही भित्ति बन कर पट बन जाता है ॥ ४१ ॥

स्वप्न अपने प्रतिभास से अपनी दूसरी देह की तरह यह जीव असत्य ही मरता है और फिर असत्य ही उत्पन्न होता है। (मरने वाले का मरण और जन्म भी प्रातिभासिक ही है। जी रहे लोगों को तो अपनी अविद्या से कल्पित ही उसकी देह के दाह आदि का दर्शन होता है न कि उसकी वासनामय देह का) ॥ ४२ ॥

---

१. 'चित्तजाड्यात्मकम्' इस पाठ के अनुसार 'चित्त का जाड्य अर्थात् जडदेहविषयाकार, 'तत्स्वरूप' यह अर्थ समझना चाहिए।

कालेनैतादृशं रूपमिदं नाऽन्यत्वमेति वै ।
प्रकृतं निश्चयारूढं भ्रमन्त्येते भवः स्वतः ॥ ४३ ॥
वस्तु दृष्टमदृष्टं च स्वप्ने समनुभूयते ।
जीवस्वप्ने जगद्रूपं विद्धि वेद्यविदां वर ! ॥ ४४ ॥
अजाग्रद्दृष्टिदृष्टो यः स्वाभिधानादिनेरितः ।
न स्वप्नो विद्यते तस्मादच्छात्मा चितिमात्रकम् ॥४५॥
अद्याऽपूर्वाभिधं स्वप्ने यथा पश्यति नाऽन्यथा ।
अग्रदृष्टं तथैवाऽर्थं चेतनं चित् प्रपश्यति ॥ ४६ ॥
प्राक्तनी वासनाऽद्याऽपि पौरुषेणाऽवजीयते ।
ह्यः कुकर्माऽद्य यत्नेन प्रयाति हि सुकर्मताम् ॥ ४७ ॥

वर्तमान शरीर बाल्य, यौवन आदि अवस्थाओं के भिन्न होने पर भी 'वह यही शरीर है' इस प्रत्यभिज्ञात्मक निश्चय का विषय होता है। परन्तु ये भूत एवं भविष्यत् शरीर तो वैसी प्रत्यभिज्ञा के विषय नहीं हैं, उक्त प्रत्यभिज्ञा के न होने से दूसरों द्वारा 'कालतः अन्य हैं और वस्तुतः अन्य नहीं है' इत्यादि भ्रान्ति को प्राप्त होते हैं। अतः उनकी जीव से ही उत्पत्ति है अर्थात् वासना से ही उनका उद्भव है ॥ ४३ ॥

हे तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ श्रीराम ! यह जगद्रूप तो जीव का एक स्वप्न ही है, यह आप जानें। स्वप्न में इस जन्म में दृष्ट एवं अदृष्ट वस्तुओं का अनुभव होता है, इसलिए पूर्व में अदृष्ट देवादिशरीरों की वासना होने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है ॥ ४४ ॥

उस परमात्मा को उक्त तीनों लक्षणों वाला स्वप्न ही नहीं हो सकता है, जाग्रत् काल में कभी भी उसका अनुभव न होने से उसकी वासना ही अप्रसिद्ध है, अतः वासनामय नहीं हो सकता। इसलिए यह निर्मलात्मा एकमात्र चिति ही है ॥ ४५ ॥

वही चिदात्मा जीव होकर आज अभिनव वर्तमान विषय को जैसे चित्स्वभाव होने से ही देखता है, जड़स्वभाव होने से नहीं वैसे ही आगे देखे जाने वाले विषयों को भी देखता है ॥ ४६ ॥

आज भी पुरुष प्रयत्न से पहली वासना पर वैसे ही विजय प्राप्त की जा सकती है जैसे कल के किये गये कुकर्म अर्थात् अनुचित कर्म आज के प्रयत्न से सुकर्मता को प्राप्त होते हैं ॥ ४७ ॥

प्राणियों की चक्षु आदि इन्द्रियाँ देशकृत और कलकृत भेदों से इस संसार सागर में उतराती और डूबती रहती हैं। वे बिना मोक्ष के शान्त नहीं होती हैं ॥ ४८ ॥

मोक्षादृते न शाम्यन्ति जीवतां चक्षुरादयः ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति केवलं देशकालतः ॥ ४८ ॥
चितः स्वकलनात्तस्य देहोऽग्र इव तिष्ठति ।
पञ्चात्मा भावितोऽसत्यो महायक्षः शिशोरिव ॥ ४९ ॥
मनोबुद्धिरहङ्कारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम् ।
इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिकः ॥ ५० ॥
अमूर्त एव चित्तात्मा खत्वमस्याऽतिपीनता ।
वातताऽस्य महागुल्मो देहताऽस्य सुमेरुता ॥ ५१ ॥
विरजस्त्वक्रमेणैव निरवस्थस्तु मुक्तिभाक् ।
सुषुप्तैकावस्थाऽस्य जडाः क्रोडीकृता यया ॥ ५२ ॥

मोक्ष नहीं होने तक इस चिति की अपनी देहाकार की कल्पना करने वाली वासना सदा बनी ही रहती है, इसलिए इस जीव की अपनी वासना ही पाञ्च भौतिक देह होकर उस प्रकार आगे खड़ी हुई के समान दिखाई पड़ती है; जिस प्रकार बालक के आगे कल्पित असत्य महायक्ष खड़ा हुआ-सा रहता है, (मोक्ष के बिना देहादि की निवृत्ति नहीं हो सकती) ॥ ४९ ॥

मन, बुद्धि, अहङ्कार एवं पाँच सूक्ष्मतन्मात्राएँ—इन आठों का समूह पुर्यष्टक कहा गया है और यही 'आतिवाहिक' देह है ॥ ५० ॥

आप द्वारा कथित मूर्तरूप पुर्यष्टक तब होगा जब पञ्चीकरण अमूर्तरूप तन्मात्राओं की स्थूलता होगी। यह सूक्ष्मतन्मात्र स्वरूप लिङ्गात्मा तो अमूर्त ही है। इसकी पञ्चीकृत आकाशरूपता, जो कि निरवधि स्थूल है, नहीं हो सकती, करोड़ों अमूर्त वासनाओं को मिलाने पर भी कहीं स्थूलता नहीं दिखाई पड़ती। जब इस पुर्यष्टक आकाश रूपता ही दुर्लभ है तब उसकी स्थूल वायु रूपता बड़ी-बड़ी तानोंवाले वृक्ष की तरह अत्यन्त ही असंभव है जब स्थूलभूतों का ही पुर्यष्टक संभव नहीं है तब इसकी देहता वैसा ही अत्यन्त असंभव है, जैसे अतिसूक्ष्म परमाणु की सुमेरुता। यह भौतिक देह तक ही पुर्यष्टक है यह नहीं कह सकते यह आशय है ॥ ५१ ॥

यदि यह देहादिप्रपञ्च मनोमात्र ही है अर्थात् एक कल्पना ही है तो वैराग्य आदि के अभ्यास—मन को रागद्वेष शून्य कर देने पर यह जीव शमादि-साधन चतुष्टय से सम्पन्न हो जाता है और महावाक्यों के द्वारा ज्ञानोदयक्रम से मनःकल्पित स्वप्नप्राय प्रपञ्च और उसकी मूलभूत अविद्या का बाध होकर कार्य एवं कारण स्वरूप अवस्थात्मक दोनों बन्धों से शून्य जीव को मुक्ति प्राप्त

स्वप्ननाम्नी तथाऽवस्था देहप्रत्ययशालिनी ।
आमोक्षं भ्रमतीहाऽयमिति स्थावरजङ्गमैः ॥ ५३ ॥
कदाचिद्धि सुषुप्तस्थः कदाचित् स्वप्नवत् स्थितः ।
आतिवाहिकदेहोऽयं सर्वस्यैवाऽवतिष्ठते ॥ ५४ ॥
यदा सुषुप्तभावस्थो भाविदुःस्वप्नवेधितः ।
तदा कालानलसमस्तिष्ठत्यनुदिताकृतिः ॥ ५५ ॥
स्थावराद्यास्ववस्थासु कल्पवृक्षदशासु च ।
भवत्येव सुषुप्तस्थो घनमोहशिलाघनः ॥ ५६ ॥
सुषुप्तताऽस्य जडता स्वप्नोत्थेयं हि संसृतिः ।
यः प्रबोधोऽस्य सा मुक्तिस्तज्जाग्रद्या तु तुर्यता ॥ ५७ ॥
जीवप्रबोधान्मुक्तिर्हि प्रबोधात् परमात्मताम् ।
सोऽभ्येति क्षालितमलं ताम्रं कनकतामिव ॥ ५८ ॥
जीवप्रबोधान्मुक्तिर्या सा चेह द्विविधोच्यते ।
एका जीवन्मुक्ततेति द्वितीया देहमुक्तता ॥ ५९ ॥
जीवन्मुक्तिर्हि तुर्यत्वं तुर्यातीतं पदं ततः ।
बोधो जीवः प्रबोधोऽयं स च बुद्धिप्रयत्नतः ॥ ६० ॥
ज्ञातप्रमाणो जीवोऽन्तर्यो जानातीह तन्मयः ।
पश्यतीमं भयं चैव सुदीर्घस्वप्नविभ्रमम् ।
मिथ्योदितः स्वहृदये स्वस्थ एव शिलीकृते ॥ ६१ ॥
जीवानामन्तरे त्वन्यन्न किञ्चिच्चित्कलां विना ।
तामेवाऽन्यतया पश्यन् मुधैव परिशोचति ॥ ६२ ॥

होती है। स्थूलभूत भौतिक मूर्तप्रपञ्च की भी सत्ता मानने पर तो उस प्रकार के प्रपञ्च का ज्ञान से बाध दिखाई न पड़ने पर मुक्ति नहीं हो सकती है। जिसने जड़स्वरूप देहादि सब प्रपञ्च को वासनारूप से उपसंहार कर गोद में लिया है, वह जीव की सुषुप्ति नामक एक अवस्था है ॥ ५२ ॥

देह प्रतीति से समन्वित स्वप्न नामक की दूसरी अवस्था है। इस तरह दिखाई दे रहे प्रकारों से स्थावर कर एवं जङ्गम आकारों से यह आतिवाहिक देह ही मोक्षप्राप्ति पर्यन्त इस संसार में घूमती है ॥ ५३ ॥

सब की यह आतिवाहिक देह कभी तो सुषुप्तावस्था में स्थित रहती है और कभी स्वप्नावस्था में स्थित रहती है ॥ ५४ ॥

सुषुप्तावस्था में स्थित यह आतिवाहिक देह जब वासना रूप से भीतर प्रविष्ट भविष्यत् दुःस्वप्नों से विद्ध स्मृतिशून्य और अनुदित आकार वाली हो जाती है, तब चिति के प्रतिबिम्ब से खचित होने से तथा अपने में सम्पूर्ण जगत् का उपसंहार कर लेने से वह प्रलयकालीन अग्नि के समान प्रदीप्त होकर स्थित रहती है ॥ ५५ ॥

स्थावर आदि अवस्थाओं में तथा कल्पवृक्ष की अवस्थाओं में भी * पाषाण-शिला के समान घनीभूत जड़ता वाली यह आतिवाहिक देह सुषुप्ति-अवस्था में ही स्थित रहती है इस पद्य में 'च' शब्द 'अपि' के अर्थ में प्रयुक्त है, अतः कल्प वृक्षों में पुण्याधिक्य से कृमि, क्षुधा आदि दुःखों के न होने से आनन्द का आधिक्य है, किन्तु मनुष्य के समान ज्ञान न होने तमोमयता है ॥ ५६ ॥

इस देह की सुषुप्तावस्था में स्थिति जड़ता है, स्वप्नावस्था से ही उत्पन्न यह संसार है, इसका तत्त्वज्ञान ही मुक्ति है और जाग्रदवस्था ही तुर्यरूपता है ॥ ५७ ॥

जीव के तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है जैसे मल धो दिये जाने पर विशुद्ध हुआ ताँबा सुर्वणरूपता के समान प्राप्त हो जाता है वैसे ही उसी तत्त्वज्ञान से वह परमात्मस्वरूपता को प्राप्त हो जाता है ॥ ५८ ॥

जीव के तत्त्वज्ञान से प्राप्त मुक्ति शास्त्रों में दो प्रकार की बतलायी गई है—एक जीवन्मुक्ति और दूसरी देहपात से होने वाली कैवल्यमुक्ति ॥ ५९ ॥

जीवन्मुक्ति ही तुरीयावस्था है। उसके बाद तुरीयातीत ब्रह्मपद है। तत्त्वज्ञान होने से यह जीव प्रबोधस्वरूप हो जाता है अर्थात् उत्कृष्ट चैतन्यात्मक ब्रह्मरूप हो जाता है और यह तत्त्वज्ञान या बोध पुरुष प्रयत्न से साध्य है ॥६०॥

इस व्यवहार-भूमि में जो जीव 'परमार्थतः मेरा यह परिमाण है और यह मेरा स्वरूप है' इस प्रकार का ज्ञान कर लेता है, वह सबके भीतर स्थित साक्षिभूत चिदात्ममय हो जाता है और जो जीव उपर्युक्त ज्ञान से शून्य रहता है, परमार्थतः उसके ब्रह्मनिष्ठ होने पर भी अज्ञानवश वह शिला की तरह दृढीकृत अपने हृदय में दीर्घतम संसार स्वप्न-भ्रान्तिरूप तीव्र भय को देखता रहता है ॥ ६१ ॥

जीव के भीतर चितिकला के सिवा और दूसरा कुछ भी नहीं है, यह उसे ही अन्यरूप से देख कर व्यर्थ में सोच किया करता है ॥ ६२ ॥

* प्रस्तुत श्लोक में 'च' शब्द अप्यर्थक है यानी उसका 'भी' यह अर्थ है। एवञ्च, कल्पवृक्षों में पुण्य के आधिक्य से कृमि, कीट क्षुधा, तृषा आदि दुःखों के न होने से यद्यपि आनन्द अधिक है; तथापि उनमें मनुष्य आदि के समान ज्ञान नहीं है, किन्तु अत्यन्त तमोमयता ही है, यह भाव है।

जीवाणोरन्तरे त्वन्यन्न किञ्चित्परमादृते।
यत्र तत्र जगद्दृष्टमहो मायाविजृम्भितम् ॥ ६३ ॥
स्थाल्यन्तःक्वथदम्बूनां यथा नाना भ्रमोदयः ।
जीवाणूनां तथैवाऽन्तर्मिथ्यासंसरणोदयः ॥ ६४ ॥
बन्धोऽस्य वासनाबन्धो मोक्षः स्याद्वासनालयः।
वासनान्तन्तोऽस्य सौषुप्ती स्वप्ने विस्फुरति स्थितिः ।६५।
घनवासनमोहोऽयं जीवः स्थावरतादिभाक् ।
मध्यस्थवासनस्तिर्यक् पुरुषस्तनुवासनः ॥ ६६ ॥
यदाऽन्तर्जीवितेनाऽन्तो बहिर्जाता घटादयः ।
जीवैक्यादुभयोः सत्ता ग्राह्यग्राहकयोस्तदा ॥ ६७ ॥
आत्माऽनात्मसमालीढो बहिरन्तर्यदा चिता ।
तदा ग्राह्यग्रहणधीर्मृगतृष्णेव सोदया ॥ ६८ ॥
नेह संत्यज्यते किञ्चिन्नेह किञ्चिन्न गृह्यते ।
बाह्यान्तरकलाकारश्चिदात्मैकः प्रकाशते ॥ ६९ ॥
त्रिजगच्चिच्चमत्कारस्त्वलं भेदविकल्पनैः ।
शोभिताः स्मश्चिति चिरात् सबाह्याद्यं न विद्यते ॥७०॥
अब्धिर्यथा जलमपास्तसमस्तभेदः
खादच्छमेव सकलं द्रवमेकशुद्धम् ।
सर्वं तथेदमपहस्तितभेदजात-
माद्यं परं पदमनामयमेव बुद्धम् ॥ ७१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
इन्द्रियार्थोपलम्भविचारो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

जीवरूप परमाणु के भीतर तो परम महत् ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, जहाँ-तहाँ यह जो जगत् आँखों के सामने आ पड़ा है, वह माया का ही विलास है ॥ ६३ ॥

जीवरूप परमाणु के भीतर मिथ्या संसार वैसे ही उत्पन्न होता है जैसे बटलोई के भीतर खौल रहे जल में नानात्व का भ्रम उत्पन्न होता है ॥ ६४ ॥

वासनाओं का बन्ध ही इस जीवाणु का बन्ध है, वासनाओं का नाश ही इसका मोक्ष है और वासनाओं का अन्त=अवधि ही इसकी सुषुप्ति अवस्था है, तुर्य और तुर्यातीत ये दोनों पद वासनाशून्य होते हैं और वह स्वप्न में चित्र-विचित्र रूप से स्फुरित होती है ॥ ६५ ॥

यह जीव घनीभूत वासनाओं के मोह से युक्त स्थावर आदि योनियों का भागी होता है जब मध्यम प्रकार की वासनाओं से युक्त होता है तब पशु, पक्षी आदि योनियों का भागी होता है और जब तनुवासनाओं से समन्वित होता है तब मनुष्य, देव, गन्धर्व आदि योनियों में प्राप्त होता है। (वासनाओं के क्षय के तारतम्य से उत्तरोत्तर शुभयोनि की प्राप्ति होती है) ॥ ६६ ॥

सुषुप्ति की विच्युति के समय जब देह के भीतर नख के अग्रभाग से लेकर व्याप्त प्राणों में अहम्भाव से 'देह-परिमाण वाला ही मैं हूँ' जब यह परिच्छेद होता है तब घट आदि पदार्थ बाहर उत्पन्न हो जाते हैं। तब चक्षु आदि द्वारों से निकले हुए अन्तःकरण द्वारा बाहर निकला हुआ अन्तःकरण वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यात्मा जीव बाह्य घटादि विषयों के साथ व्याप्त रहता है। पश्चात् 'मैं घट को जानता हूँ' यह ग्राह्य एवं ग्राहक की वासनात्मिका सत्ता तत्तत् वैचित्र्य से स्पष्टतः अभिव्यक्त हो जाती है ॥ ६७ ॥

अन्दर रहने वाला जीव बारह अनात्मपदार्थों पर जब आरूढ़ हो जाता है, तब ग्राह्यग्राहकवासना, मृगतृष्णा की तरह अध्यस्तविभाग से प्रकट हो जाती है ॥ ६८ ॥

आत्मा यहाँ न किसी का त्याग करता है और न किसी का ग्रहण ही करता है। वास्तव में आत्मा से भिन्न किसी का अस्तित्व नहीं है। अतः यहाँ बाह्य और आन्तर कलाओं के आकार वाला एकमात्र चिदात्मा ही प्रकाश है ॥ ६९ ॥

जगत् चैतन्यात्मा का एक चमत्कार ही है। इसलिए भेदक सङ्कल्पों से क्या प्रयोजन है ? तत्त्वज्ञान से अपने चैतन्य स्वरूप में चिरकाल से चिति विराजमान हैं। तीनों कालों में यह बाह्य-आन्तर जगत् कालत्रय में भी नहीं है ॥ ७० ॥

तत्त्वतः विचारा गया यह जगत् भी तत्त्वतः ज्ञात वासनाकालीन समस्त विभेदों से वैसे ही शून्य विकार वर्जित केवल परमपद ब्रह्मस्वरूप है जैसे समुद्र तरङ्ग आदि समस्त विभेदों से शून्य आकाश से भी स्वच्छ— सम्पूर्ण रूप से केवल विशुद्ध द्रवात्मक जलस्वरूप ही है ॥ ७१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय के निर्वाणप्रकरण में
इन्द्रियार्थोपलम्भविचार नामक कुसुमलता का इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५१ ॥

५२

वसिष्ठ उवाच

यो जीवस्याऽऽदितः स्वप्नो नानाकलनकोमलः ।
तमिमं विद्धि संसारं न सत्यं नाऽप्यसन्मयम् ॥ १ ॥
न पुंस इव जीवस्य स्वप्नः संभवति क्वचित् ।
तेनैते जाग्रतो भावा जाग्रत्स्वप्नकृतोऽत्र हि ॥ २ ॥
जीवस्वप्नमिमं दीर्घं क्षिप्रताप्रतिभासतः ।
असत्यमप्यवस्तुत्वाद्विद्धि वेद्यविदां वर ! ॥ ३ ॥
स्वप्नात्स्वप्नान्तरमिव गच्छन्तो जीवजीवकाः ।
असत्यमेव पश्यन्ति घनसत्यतयाऽनघ ! ॥ ४ ॥
अजडे जडता तात ! जडे चाऽजडतोदिता ।
असत्ये सत्यता जीवजीवानुभवमोहतः ॥ ५ ॥
भानोरप्यन्तरखिलं पश्यन्तस्त्रिजगद्भ्रमम् ।
भ्रमन्ति स्वप्नसंभ्रान्ता इव जीवा भिदालिभिः ॥ ६ ॥
सर्वगत्वादनन्तत्वात् स्वस्य जीवस्य जीवतः ।
यद्भावयन्ति चेतन्ति तदेवाऽऽश्रिति सत्यवत् ॥ ७ ॥
पुण्डरीकाक्षनिर्दिष्टामसंसक्तिगतिं शुभाम् ।
यामालिङ्ग्य महाबाहो ! जीवन्मुक्तो महामुनिः ॥ ८ ॥
पाण्डोः पुत्रोऽर्जुनो नाम सुखं जीवितमात्मनः ।
क्षिपयिष्यति निर्दुःखं तथा क्षेपय जीवितम् ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

भविष्यति कदा ब्रह्मन् ! सोऽर्जुनः पाण्डुनन्दनः ।
कीदृशीं च हरिस्तस्य कथयिष्यत्यसक्तताम् ॥ १० ॥

वसिष्ठ उवाच

अस्ति सन्मात्रमात्मेति परिकल्पितनामकम् ।
स्थितमात्मन्यनाद्यन्ते नभसीव महानभः ॥ ११ ॥

५२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—सम्पूर्ण जीवसमष्टि स्वरूप हिरण्यगर्भ का अनेक कल्पनाओं से रमणीय और यही प्रथम स्वप्न है, हम लोगों का 'जग्रत् संसार' है, यह आप जानें। वह संसार न सत्यरूप है और न असत्यरूप ही है ॥ १ ॥

व्यष्टि रूप हम लोगों के जाग्रत्-काल के प्रसिद्ध ये भूत-भुवनादिभाव उस हिरण्यगर्भ की भी जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में उदति तत्त्वत: स्वप्न से भिन्न नहीं हैं ॥ २ ॥

तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र, तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में असत्यभूत और अवस्तु-स्वरूप होने के कारण संसार को उस समष्टि-जीव का=हिरण्यगर्भ का व्यष्टि रूप हम लोगों के स्वप्न के समान शीघ्र बाध का प्रतिभास न होने एक लम्बा स्वप्न समझें। प्रपञ्च में स्वप्न-वैधर्म्य का भ्रम उसकी दीर्घता ही एकमात्र कारण है ॥ ३ ॥

हे अनघ ! एक स्वप्न से मानो दूसरे स्वप्न का अनुभव कर रहे समष्टि-जीव के एकदेशभूत व्यष्टि-जीव असत्य-वस्तु का ही अकाटच सत्यरूप से अवलोकन किया करते हैं ॥ ४ ॥

हे तात ! समष्टि-जीवक एकदेशभूत व्यष्टि-जीव के अनुभव स्वरूप भ्रान्ति से जड़ता शून्य ब्रह्म में भूत-भुवनादि की जड़ता, अहङ्कार से लेकर देहपर्यन्त सभी जड़-पदार्थों में आत्मत्वाभिमान से अजड़ता एवं असत्य में सत्यता उदित हुई है ॥ ५ ॥

प्रकाश के प्रकाशक ब्रह्मरूप सूर्य के भीतर सम्पूर्ण तीनों लोकों का भ्रम देख रहे स्वप्न में संभ्रान्त-से सब जीव भेद-कल्पनाओं की परम्पराओं से संसार में भ्रमण किया करते हैं ॥ ६ ॥

स्वयं व्यष्टि रूप होने के कारण ही समष्टि-जीव की अपेक्षा भी अत्यन्त जीवभूत परमार्थत: सर्वगामी और अत्यन्त, अतएव परिच्छेद शून्य सत्यस्वरूप होने के कारण जिस-जिस की भावना करते हैं; उसमें आसक्ति होने से अपनी सत्ता के आरोप द्वारा उसको शीघ्र ही सत्य-सा समझ लेते हैं ॥ ७ ॥

महाबाहो श्रीराम जी ! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से उपदिष्ट, शुभफलदायक उस अनासक्ति-योग का आप श्रवण करें जिसका अवलम्बन कर प्राणी जीवन्मुक्त महामुनि बन जाता है ॥ ८ ॥

आप भी दुःख रहित अपना जीवन वैसे ही बिता दीजिए जैसे अर्जुन नामधारी महाराज पाण्डु का पुत्र जीवन्मुक्ति रूप सुख से युक्त अपना जीवन शीघ्र बिता देगा। यहाँ अर्जुन व्यतीत करेगा, इसके द्वारा रामचन्द्र जी त्रेता में और अर्जुन जी उसके बाद की स्थिति सूचित की गई है ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! वह पाण्डुनन्दन कब उत्पन्न होगा और उसकी अनासक्ति का वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण किस तरह करेंगे ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—आकाश में महाकाश की तरह परिकल्पित नाम वाला सन्मात्र स्वरूप यह आत्मा आदि और अन्त से शून्य अपनी महिमा में ही प्रतिष्ठित है ॥ ११ ॥

दृश्यते विमले तस्मिन्नयं संसारविभ्रमः ।
कटकादि यथा हेम्नि तरङ्गादि यथाऽम्भसि ॥ १२ ॥
चतुर्दशविधा भूतजातयः प्रस्फुरन्त्यलम् ।
तस्मिन् संसारजालेऽस्मिञ्जाले शकुनयो यथा ॥ १३ ॥
तत्रैते यमचन्द्रार्कशक्राद्याः शंसितक्रमाः ।
भूतपञ्चकसंसारलोकपालत्वमागताः ॥ १४ ॥
इदं पुण्यमुपादेयं हेयं पापमिदं त्विति ।
तैः स्वसङ्कल्पघटिताद्वेदनात् स्थापिता स्थितिः ॥ १५॥
तस्याऽद्य यावदनघ ! प्रवाहपतिते निजे ।
कर्मण्यचलसंकाशस्थिरं चित्तमवस्थितम् ॥ १६ ॥
भगवान् स यमः किञ्चिद्गते प्रतिचतुर्युगे ।
तपः प्रकुरुते भूतदलनात् पापशङ्कया ॥ १७ ॥
कदाचिदष्टौ वर्षाणि दश द्वादश वाऽपि च ।

निर्मल, सन्मात्र स्वरूप परमात्मा में यह संसार-विभ्रम अर्थात् जगद् विलास वैसे ही दिखलाई पड़ता है जैसे सुवर्ण में कटक आदि तथा जल में तरङ्ग आदि दिखाई पड़ते हैं ॥ १२ ॥

दृष्टिगोचर हो रहे इस संसार रूपी जाल में फँसी हुई चौदह प्रकार की जीव-जातियाँ छुटकारा पाने में असमर्थ होकर वैसे ही आवश्यकता से अधिक फुदक रही हैं यानी उछल-कूद मचा रही है जैसे जाल में फँसी हुई चिड़ियाँ भागने में असमर्थ होकर एकमात्र अपने पर फड़-फड़ाती रहती हैं ॥ १३ ॥

उन जीव-जातियों के बीच पाञ्च भौतिक संसार में श्रुति, स्मृति आदि से वर्णित चरित्र वाले यम, चन्द्र, सूर्य, इन्द्र आदि तत्-तत् लोक के अधिपति हो चुके हैं ॥ १४ ॥

श्रुति, स्मृति और सदाचार से विहित होने से यह पुण्य है, इसलिए ग्राह्य है तथा श्रुति, स्मृति और सदाचार से निषिद्ध होने से यह पाप है, इसलिए त्याज्य है। इस प्रकार उन लोगों ने अपने-अपने अधिकार के अनुसार सङ्कल्प घटित ज्ञान से मर्यादा बना रक्खी है ॥ १५ ॥

हे अनघ ! उस यमराज का चित्त सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आजतक प्रवाहपतित अपने अधिकार-कर्म में पर्वत के सदृश अडिग होकर, ज्यों का त्यों स्थित है ॥ १६ ॥

वे भगवान् यमराज, प्रतिचतुर्युग में कुछ समय समाप्त हो जाने पर या द्वापर के अन्त में जीवों के नाश से जनित पाप की आशङ्का होने से कदाचित् कुछ

कदाचिदष्टौ पञ्च सप्तादि कदाचित् षोडशाऽपि च ।१८।
उदासीनवदासीने तस्मिन्नियमसंस्थितौ ।
न हिनस्ति जगज्जाले मृत्युर्भूतानि कानिचित् ॥ १९ ॥
तेन नीरन्ध्रभूतौघनिःसञ्चारं महीतलम् ।
भवति प्रावृषि स्वेदी कुञ्जरो मशकैरिव ॥ २० ॥
अथैतानि विचित्राणि भूतानि बहुयुक्तिभिः ।
क्षिपयन्ति सुरा राम ! भुवो भारनिवृत्तये ॥ २१ ॥
एवं युगसहस्राणि व्यवहारशतानि च ।
समतीतान्यनन्तानि भूतानि च जगन्ति च ॥ २२ ॥
वैवस्वतोऽद्य तु यमो य एष पितृनायकः ।
अनेन त्वधुना साधो ! परिक्षीणेषु केषुचित् ॥ २३ ॥
युगेष्वघविघाताय वर्षाणि द्वादशात्मना ।
व्रतचर्येह कर्तव्या दूरास्तजनकर्षणा ॥ २४ ॥

तपस्या भी करते हैं ॥ १७ ॥

कभी तो आठ वर्ष, कभी दस अथवा बारह वर्ष, कभी पाँच या सात वर्ष और कभी सोलह वर्ष तक भी वे तपस्या करते रहते हैं ॥ १८ ॥

उस यमराज के उदासीन के समान तपस्या में आसीन रहने पर संसार रूपी जाल में फँसे हुए जीवों का मृत्यु नाश नहीं करती है ॥ १९ ॥

उस समय किसी भी प्राणी की हिंसा न होने के कारण यह पृथिवी—वर्षा-ऋतु में मच्छरों से पसीने से सराबोर हाथी के समान अनेक विध जीव-समूहों से सञ्चार के अयोग्य बन जाती है ॥ २० ॥

हे श्री राम ! अनन्तर जब यह पृथिवी प्राणियों के भार से दबने लगती है तब उस पर पड़ी बोझ की निवृत्ति के लिए भगवान् कृष्णचन्द्र आदि सब देवता अनेक प्रकार की युक्तियों से अपने अंशावतार तथा महाभारत की लड़ाई आदि अनेक उपायों से इन विचित्र प्राणियों को मार डालते हैं ॥ २१ ॥

इस तरह हजारों युग, सैकड़ों व्यवहार तथा अनन्त जीव एवं जगत् व्यतीत हो चुके हैं ॥ २२ ॥

हे साधो ! यह वैवस्वत यम है, वह आज पितरों का नियामक है; अब इसे भी युगों के व्यतीत हो जाने पर अपने पापों के विनाश के लिए बारह वर्ष तक अहिंसादि-घटित निर्विकल्पक समाधि रूप व्रतचर्या (तपश्चर्या) करनी पड़ेगी, जिसमें मनुष्यों का उत्पीडन कोसों दूर निकल जायगा यानी पापियों का कोई दण्डदाता न रहेगा ॥ २३, २४ ॥

तेनेयमुर्वी नीरन्ध्रा भूतैर्मर्त्यैरमृत्युभिः ।
दीना प्रपन्नगुल्मेव भारभूतैर्भविष्यति ॥ २५ ॥
भूर्भारपरिभूताङ्गी हरिं शरणमेष्यति ।
कान्ता दस्युपराभूता दीना पतिमिव प्रिया ॥ २६ ॥
हरिर्देहद्वयेनाऽथ महीमवतरिष्यति ।
देवांशैरखिलैः सार्धं नरनारायणं गतैः ॥ २७ ॥
वसुदेवसुतस्त्वेको वासुदेव इति श्रुतः ।
देहो भविष्यति हरेर्द्वितीयः पाण्डवोऽर्जुनः ॥ २८ ॥
युधिष्ठिर इति ख्यातो धर्मपुत्रो भविष्यति ।
अम्भोधिमेखलाभूपः पाण्डोः पुत्रः स धर्मवित् ॥ २९ ॥
दुर्योधन इति ख्यातस्तस्य भ्राता पितृव्यजः ।
भविष्यति दृढद्वन्द्वो भीमो बभ्रुरहेरिव ॥ ३० ॥
अन्योऽन्यं हरतोरुर्वीं तयोः सङ्ग्रामलोलयोः ।
अष्टादशाऽऽत्राक्षौहिण्यो घटिष्यन्त्यत्र भीषणाः ॥ ३१ ॥
तत्क्षयेण विभारत्वं भुवो विष्णुः करिष्यति ।
राघवाऽर्जुनदेहेन बृहद्गाण्डीधन्वना ॥ ३२ ॥
विष्णोरर्जुननामादौ प्राकृतं भावमास्थितः ।
हर्षामर्षान्वितो देहो नरधर्मा भविष्यति ॥ ३३ ॥
सेनाद्वयगतान् दृष्ट्वा स्वजनान् मरणोन्मुखान् ।
विषादमेष्यत्युद्योगं युद्धाय न करिष्यति ॥ ३४ ॥
तमर्जुनाभिधं देहं प्राप्तकार्यैकसिद्धये ।
हरिर्बुद्धेन देहेन बोधयिष्यति राघव ! ॥ ३५ ॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नाऽयं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ ३६ ॥

उस व्रतचर्या के कारण यह पृथिवी मृत्युलोक में आगत भार स्वरूप, मृत्युरहित प्राणियों से व्याप्त वन-गुल्मों से सङ्कीर्ण-सी, दीन हो जायगी ॥ २५ ॥

उस समय मनुष्यों के भार से परिपीडित अङ्गों वाली यह दीन पृथिवी शरण पाने के लिए भगवान् विष्णु के समीप वैसे ही आयेगी, जैसे लुटेरों से लुटी गई, अतएव कातर स्त्री अपने पति के समीप आती है ॥ २६ ॥

अनन्तर सम्पूर्ण देवांशों के साथ नर और नारायण के सहायतार्थं उत्पन्न विष्णु भगवान् दो शरीरों से पृथिवी पर अवतार लेंगे ॥ २७ ॥

उनमें एक वसुदेव का पुत्र 'वासुदेव' इस नाम से विख्यात विष्णु का शरीर होगा और दूसरा शरीर पाण्डु का पुत्र 'अर्जुन' इस नाम से विख्यात होगा ॥ २८ ॥

चारों समुद्र रूपी करधनी पहनी हुई पृथिवी का अधिपति एवं धर्म का पुत्र 'युधिष्ठिर' नाम से प्रसिद्ध होगा वह पाण्डुपुत्र 'धर्मज्ञ' होगा ॥ २९ ॥

उसका चचेरा भाई 'दुर्योधन' नाम से विख्यात रहेगा और उस दुर्योधन का वैसा ही प्रतिद्वन्दी योद्धा 'भीम' नामक द्वितीय पाण्डु-पुत्र होगा, जैसा सर्प का प्रतिद्वन्द्वी नकुल है ॥ ३० ॥

परस्पर पृथ्वी का अपहरण कर रहे, युद्ध करने में तत्पर उन दोनों की भयङ्कर अट्ठारह अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्र में होने वाली महाभारत की लड़ाई में इकट्ठी होगी ॥ ३१ ॥

हे राघव ! महान् गाण्डीवधनुर्धारी अर्जुन की देह से उन सेनाओं को नष्ट कर विष्णु भगवान् पृथ्वी को भार से मुक्त कर देंगे ॥ ३२ ॥

युद्ध के प्रारम्भ में अर्जुन नामधारी भगवान् विष्णु का शरीर प्राकृत भाव में स्थित होकर हर्ष और शोक से युक्त मनुष्य धर्मा बनेगा अर्थात् यज्ञ के समान रहेगा ॥३३॥

दोनों सेनाओं में आगत और मरने के लिए तैयार अपने बन्धुओं को देखकर अर्जुन विषाद को प्राप्त करेगा और युद्ध के लिए उद्योग न करेगा ॥ ३४ ॥

हे राघव ! उस अर्जुन नामक देह को, उपस्थित कार्य की सिद्धि के लिए, श्रीविष्णु भगवान् स्वतःसिद्ध आत्मबोध वाली श्रीकृष्ण-देह से उपदेश देंगे ॥ ३५ ॥

यह अज आत्मा न तो कभी उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है। यह न कभी जन्म पाकर पुनः अपने अस्तित्व को प्राप्त करता है और न कभी शरीर का खड्ग आदि से छेदन करने पर इसका छेदन ही होता है। यह अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है अर्थात् १—जन्म, २—स्थिति, ३—वृद्धि, ४—विपरिमाण, ५—अपक्षय और ६—नाश—ये छः भाव विकार हैं, जो ब्रह्म में नहीं रहते। इसीलिए वह (आत्मा) नित्य, कूटस्थ, असङ्ग आदि कहा गया है। [प्रस्तुत श्लोक में यद्यपि 'अज' इस विशेषण से ब्रह्म में समस्त भाव विकार-शून्यता अर्थतः सिद्ध हो जाती है; तथापि शब्दतः यहाँ प्रत्येक विकार का निषेध किया गया है। वहाँ 'न जायते' से पहले और 'न म्रियते' से अन्तिम भाव विकार का ब्रह्म में निषेध कर चुके; अब मध्य पतित चार भाव विकारों का निषेध करना भी प्रसङ्ग प्राप्त है, जिसे 'नाऽयम्' से कर रहे हैं] ॥ ३६ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नाऽयं हन्ति न हन्यते ।। ३७ ।।
अनन्तस्यैकरूपस्य सतः सूक्ष्मस्य खादपि ।
आत्मनः परमेशस्य किं कथं केन नश्यति ।। ३८ ।।
अनन्तमव्यक्तमनादिमध्य-
मात्मानमालोकय संविदात्मन् ।
संविद्वपुः स्फारमलब्धदोष-
मजोऽसि नित्योऽसि निरामयोऽसि ।। ३९ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
अर्जुनोपाख्याने नरनारायणावतारकथनं नाम द्विपञ्चाशः सर्गः ।। ५२ ।।

जो पुरुष उक्त स्वभाव अहं पदार्थ आत्मा को हनन-क्रिया का कर्ता समझता है और जो पुरुष इसे हनन-क्रिया का विषय मानता है—वे दोनों आत्मा को तत्त्वतः नहीं जानते हैं क्योंकि आत्मा न तो मरता है और न मारा ही जाता है। उन दोनों की हन्तृ-हन्तव्यताविषयक भ्रान्ति में अज्ञान ही निमित्त है ।। ३७ ।।

अनन्त, एक रूप, सदात्मक और आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म पर ब्रह्म परमात्मा का किससे किस तरह क्या नष्ट होता है ? ।। ३८ ।।

हे ज्ञानात्मक पार्थ ! तुम अनन्त, अव्यक्त अपने स्वरूप का अवलोकन करो। तुम अपरिच्छिन्न आकार वाले, अतएव किसी प्रकार के दोष को न प्राप्त चैतन्य स्वरूप ही हो। यही कारण है कि तुम अज हो, नित्य हो और निरामय अर्थात् अज्ञान और उसके कार्य से निर्मुक्त हो अतः बन्धुओं में आसक्ति और उनके मरण आदि की सम्भावना से दुःख करना तुम्हें उचित नहीं ।। ३९ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय के निर्वाणप्रकरण में
अर्जुनोपाख्यान नरनारायणवतार कथन नामक कुसुमलता का बावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। ५२ ।।

५३

श्रीभगवानुवाच

अर्जुन ! त्वं न हन्ता त्वमभिमानमलं त्यज ।
जरामरणनिर्मुक्तः स्वयमात्माऽसि शाश्वतः ।। १ ।।
यस्य नाऽहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।। २ ।।
यैव सञ्जायते संविदन्तः सैवाऽनुभूयते ।
अयं सोऽहमिदं तन्म इत्यन्तः संविदं त्यज ।। ३ ।।
अनयैव च युक्तोऽस्मि नष्टोऽस्मीति च भारत ! ।
अभितः सुखदुःखाभ्यामवशः परितप्यसे ।। ४ ।।

५३

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन ! यतः तुम जन्म-मरण आदि छः ऊर्मियों से निर्मुक्त हो, अतएव नित्य हो और अपने भाई-बन्धुओं तथा सम्पूर्ण भूतों के स्वयं साक्षात् आत्मरूप हो, अतः तुम किसी को मारनेवाले नहीं हो। 'मैं हनन करने वाला हूँ' इस प्रकार के अभिमान को छोड़ दो ।। १ ।।

वधादि प्रवृत्ति काल में जिस पुरुष में 'मैं इसे मारता हूँ' यह अभिमान नहीं होता और उसके वधादि उत्तर काल में जिसकी बुद्धि उसके फल हर्ष, शोक आदि से लिप्त नहीं होती है वह पुरुष सम्पूर्ण चतुर्विध भूतजातियों को को मारकर भी किसी एक को भी नहीं मारता; क्योंकि सर्वत्र वधादि विकार के स्पर्श से रहित शाश्वत एकात्म तत्त्व अविकारी ही है तथा मायामात्र होने से देह आदि के सदा असद्रूप होने के कारण ही वन्ध्यापुत्र की तरह वध में उसकी प्रसक्ति नहीं है। इसलिए ईश्वर के समान तत्प्रयुक्त पाप-फल से भी वह निबद्ध नहीं होता है ।।२।।

हृदय-स्थिति आत्मा में देहादि की अभिमानरूपा या और किसी दूसरी तरह की उत्पन्न बुद्धिवृत्ति ही अनुभूत होती है। अतः 'अयम्' कार्यकरण समूह 'सोऽहम्' मारने वाला हूँ मैं, इदम्' इस देह आदि के सम्बन्धी और 'तन्मे' वे बन्धु आदि मेरे हैं, इस तरह की अन्दर उत्पन्न हुई भ्रान्तिवृत्ति का त्याग कर दो ।। ३ ।।

हे भारत ! इसी बुद्धिवृत्ति के कारण 'मैं हन्तृत्वादि प्रयुक्त पापों से मैं नष्ट हूँ' तथा 'अपने बन्धुओं के नाशादि रूप ऐहिक अनर्थों एवं नरकपात आदि पारलौकिक अनर्थों से मैं ग्रस्त हूँ' इत्यादि भ्रान्तियों से पराधीन होकर तुम चारों ओर सुख-दुःखों से परितप्त हो रहे हो ।। ४ ।।

स्वात्मांशैः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि भागशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ ५ ॥
चक्षुः पश्यतु कर्णश्च शृणोतु त्वक् स्पृशत्विदम् ।
रसना च रसं यातु काऽत्र कोऽहमिति स्थितिः ॥ ६ ॥
कलनाकर्मणि रते मनस्यपि महात्मनः ।
न कश्चिदत्राऽहमिति क्लेशभागे क एव ते ॥ ७ ॥
बहुभिः समवायेन यत्कृतं तत्र भारत ! ।
एकोऽभिमानदुःखेन हासायैव हि गृह्यते ॥ ८ ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ९ ॥
अहन्त्वविषचूर्णेन येषां कायो न मारितः ।

अंशों के सदृश स्वात्मा के परिच्छेदक होने के कारण अंशरूप देह, इन्द्रिय आदि सत्त्वादि गुणों के विकार ये सारे कर्म विभागशः किये जाते हैं। परन्तु अहङ्कार से विमोहित अन्तःकरण वाला पुरुष 'मैं ही करने वाला हूँ' यह मानता है ॥ ५ ॥

आँखें देखा करें, कान सुना करें, ये त्वचाएँ स्पर्श किया करें और जिह्वा रसास्वादन लिया करे, इनमें मैं कौन हूँ ? उनमें मद्रूप तो कोई ही नहीं, अतः उनमें मुझे 'मैं' इस रूप से स्थिति करना युक्त नहीं है ॥ ६ ॥

'इस कन आदि अन्तःकरणसंघात के सङ्कल्पादिरूप अपने कार्य में तत्पर रहने पर भी उसमें मैं कोई नहीं हूँ' यह देख रहे तुम महात्मा की दृष्टि में ऐसा कौन पदार्थ लेश भाग में प्रविष्ट है, जिसके विषय में तुम शोक कर हे हो ? ॥ ७ ॥

हे भारत ! अनेक समुदाय ने मिल कर एक साथ जिस कार्य का सम्पादन किया हो, उसमें यदि किसी एक को 'मैंने ही किया है', यह अभिमानजन्य दुःख पकड़ लेता है तो वह हँसी के लिए ही होता है। समुदाय से जनित दुःख के लिए समुदायवर्ती किसी एक को शोच करना ठीक नहीं होता—'न सामवायिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हन्ति' ॥ ८ ॥

योगी देह से, मन से, बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से भी फल की अभिलाषा का त्यागकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं ॥ ९ ॥

अहन्तारूपी विष चूर्ण से जिसका शरीर मारण के लिए व्यापार सम्पन्न है, निर्मुक्त योगी लौकिक एवं शास्त्रीय कर्म कर रहे तथा उसके आनुषङ्गिक फल का उपयोग कर

कुर्वन्तोऽपि हरन्तोऽपि न च ते निर्विषूचिकाः ॥ १० ॥
न क्वचिद्राजते कायो ममतामेध्यदूषितः ।
प्राज्ञोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि दुःशील इव मानवः ॥ ११ ॥
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ।
यः स कार्यमकार्यं वा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ १२ ॥
इदं च ते पाण्डुसुत ! स्वकर्म छात्रमुत्तमम् ।
अपि क्रूरमतिश्रेयः सुखायैवोदयाय च ॥ १३ ॥
अपि कुत्सितमप्यन्यदप्यधर्ममयक्रमम् ।
श्रेष्ठं ते स्वं यथा कर्म तथेहाऽमृतवान् भव ॥ १४ ॥
मूर्खस्याऽपि स्वकर्मैव श्रेयसे किमु सन्मतेः ।
मतिर्गलदहङ्कारा पतिताऽपि न लिप्यते ॥ १५ ॥

रहे फिर भी परमार्थतः न तो कर्म कर रहे हैं और न उसके फल का उपयोग ही कर हैं ॥ १० ॥

प्राज्ञ होने पर भी, अतिबहुज्ञानी होने पर भी दुष्ट प्रकृति, पुरुष जैसे कहीं (लौकिक या शास्त्रीय व्यवहारों में) नहीं शोभायमान होता है वैसे ही ममतारूपी दोष से दूषित शरीर कहीं नहीं शोभायमान, परम पुरुषार्थ के समर्थ नहीं होता है ॥ ११ ॥

जो ममता रहित, अहङ्कार से शून्य, सुख और दुःख होने पर हर्ष-विषाद से रहित तथा क्षमावान् है, वह अवश्यकर्तव्य अथवा लौकिक कर्म करते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता है ॥ १२ ॥

हे पाण्डुपुत्र ! तुम्हारा उत्तम क्षात्रकर्म क्षत्रियों के लिए शास्त्र विहित युद्ध में पीठ न दिखाना आदि अपना कर्म है। वह बन्धुवधरूप होने से क्रूर होता हुआ भी चित्तशुद्धि द्वारा ब्रह्मज्ञानादिरूप सुख का साधन तथा धर्म, राज्य, स्वर्ग आदि अभ्युदय का साधन होने से अतिशय कल्याण रूप ही है ॥ १३ ॥

और दूसरा भी यानी पूजनीय महानुभावों के ऊपर उनके विरुद्ध शास्त्र उठाना आदि अधर्मप्रचुरक्रम से युक्त कुत्सित भी तुम्हारा युद्धकर्म, जिस सत्य स्वरूप शास्त्र प्रामाण्य से श्रेष्ठ है, उसी सत्य से तुम इस युद्ध में अमरण धर्मा विजयी बन जाओ ॥ १४ ॥

जब मूर्ख का भी अपना कर्म श्रेय के हो लिए है तब बुद्धिमान् के स्वकर्म के लिए तो कहना ही क्या ? अहङ्कार से निर्मुक्त बुद्धिमान् की बुद्धि तो पतित होने पर भी महापातकों से लिप्त नहीं होती है ॥ १५ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ! ।
निःसङ्गस्त्वं यथाप्राप्तकर्मवान्न निबध्यते ॥ १६ ॥
शान्तब्रह्मवपुर्भूत्वा कर्म ब्रह्ममयं कुरु ।
ब्रह्मार्पणसमाचारो ब्रह्मैव भवसि क्षणात् ॥ १७ ॥
ईश्वरार्पितसर्वार्थ ईश्वरात्मा निरामयः ।
ईश्वरः सर्वभूतात्मा भव भूषितभूतलः ॥ १८ ॥
संन्यस्तसर्वसङ्कल्पः समः शान्तमना मुनिः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा कुर्वन् मुक्तमतिर्भव ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच

सङ्गत्यागस्य भगवंस्तथा ब्रह्मार्पणस्य च ।
ईश्वरार्पणरूपस्य संन्यासस्य च सर्वशः ॥ २० ॥
तथा ज्ञानस्य योगस्य विभागः कीदृशः प्रभो ! ।

हे धनञ्जय ! ब्रह्मभावापन्न होकर, सङ्ग का त्याग कर तुम कर्मों को करो, क्योंकि आसक्ति रहित होकर यथा प्राप्त कर्म करने वाला उनके फलों से निबद्ध नहीं होता है ॥ १६ ॥

शान्त ब्रह्म शरीर होकर कर्म को ब्रह्ममय कर दो। अपने सत्कर्मों को ब्रह्मार्पण कर देने पर तुम शीघ्र ब्रह्म ही हो जाओगे ॥ १७ ॥

हे पार्थ ! शुभ या अशुभ रूप अपने सब अर्थों को ईश्वर में समर्पित कर तथा अपनी आत्मा को भी ईश्वर में समर्पित कर सांसारिक सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि रूप व्याधियों से रहित होते हुए एवं सर्वभूतों की आत्मा बन कर इस भूतल को विभूषित करते हुए तुम ईश्वर हो जाओ ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! तुम सभी सङ्कल्पों का त्याग कर चुके हो। इसलिए अब सम स्वरूप, शान्त चित्त मुनि बनकर कर्म फल त्याग रूपी संन्यासयोग में आत्मा को युक्त कर कर्म कर रहे तुम मुक्त मति हो जाओ ॥ १९ ॥

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! सङ्ग-त्याग का, ब्रह्मार्पण का, ईश्वरार्पण रूप का, सर्वथा संन्यास का तथा ज्ञान और योग का कैसा विभाग है ? । हे प्रभो, मेरे महामोह की निवृत्ति के लिए यह सब क्रमशः कहिए ॥ २०, २१ ॥

श्री भगवान् ने कहा—सब सङ्कल्पों की अर्थात् कामनाओं की भलीभाँति संशान्ति हो जाने पर सघन वासनाओं से शून्य भावना करने योग्य कुछ भी रूप न रखने वाला विशुद्ध चिन्मात्रतत्त्व वही परब्रह्म कहा गया है ॥ २२ ॥

क्रमेण कथयैतन्मे महामोहनिवृत्तये ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

सर्वसङ्कल्पसंशान्तौ प्रशान्तघनवासनम् ।
न किञ्चिद्भावनाकारं यत्तद्ब्रह्म परं विदुः ॥ २२ ॥
तद्द्योगं विदुर्ज्ञानं योगं च कृतबुद्धयः ।
ब्रह्म सर्वं जगदहं चेति ब्रह्मार्पणं विदुः ॥ २३ ॥
अन्तःशून्यं बहिःशून्यं पाषाणहृदयोपमम् ।
शान्तमाकाशकोशाच्छं न दृश्यं न दृशः परम् ॥ २४ ॥
तत ईषद्व्युत्थानमीषदन्यतयोदितम् ।
स जगत्प्रतिभासोऽयमाकाशमिव शून्यता ॥ २५ ॥
भावोऽहमिति कोऽप्येष प्रत्येकमुदितश्चितेः ।
कोटिकोटचंशकलितः क इवैनं प्रति ग्रहः ॥ २६ ॥

अज्ञान की निवृत्ति रूप फल से उपहित ब्रह्माकार से परिपूर्ण चित्त की वृत्ति को परिपक्व बुद्धिवालों ने ज्ञान कहा है और अज्ञान निवृत्त्युपहित ब्रह्माकार के अनुकूल प्रवाह मात्र स्वरूप चित्तवृत्ति को योग कहा है। [अभिमान विषय जगत् और अभिमान करने वाले अहङ्कार का ब्रह्म ज्ञान से बाध ही मुख्य ब्रह्मार्पण है, तथा 'सम्पूर्ण संसार ब्रह्म है', और 'मैं ब्रह्मरूप हूँ'—इस प्रकार के ब्रह्मज्ञान से बाध को ब्रह्मार्पण कहा है ॥ २३ ॥

वह ब्रह्म भीतर बाहर भी शून्य है और उसकी उपमा पत्थर के हृदय से दी जा सकती है। वह शान्तस्वरूप है, आकाश-कोश के समान अत्यन्त स्वच्छ है। वह दृश्य स्वरूप नहीं है [सम्पूर्ण दृश्यों का निषेध हो जाने पर दृश्य स्वरूप होने के कारण द्रष्टा का भी निषेध क्यों नहीं होगा ? ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—और न द्रष्टा से अलग है। द्रष्टा में दृश्यता का निषेध उस समय हो सकता, जब द्रष्टा के अतिरिक्त कोई दूसरा द्रष्टा होता, किन्तु सभी दृश्यों का निषेध हो जाने पर कोई अन्य द्रष्टा रह ही नहीं जाता है ॥ २४ ॥

प्रदर्शित स्वभाव ब्रह्म से कुछ दूसरे रूप से उदित कुछ थोड़ा-सा समुत्थान ही यह जगत् का प्रतिभास है और वह गन्धर्व-नगर के आकाश की तरह शून्य स्वरूप ही है ॥ २५ ॥

'मैं' इस प्रकार का कोई एक अनिर्वचनीय भाव अर्थात् अहङ्काराध्यास प्रत्येक जीव में उत्पन्न चिति के करोड़ों के करोड़ों अंशों से परिकल्पित है। इसके प्रति भला कौन-सा आग्रह है ? ॥ २६ ॥

अपृथग्भूत एवैष पृथग्भूत इव स्थितः ।
पृथक्त्वं हि न पर्यन्तो नाऽहमित्यवगच्छति ॥ २७ ॥
यथेहाऽहं तथेहाऽस्ति घटादीहाऽपि मर्कटः ।
स्वमीहैवं तथाऽम्भोधिः किमहन्तां प्रति ग्रहः ॥ २८ ॥
विकल्पभेदे स्फुरिते संवित्सारमयात्मनि ।
वैचित्र्येण विचित्रेऽपि किमेकत्वेऽपि नो ग्रहः ॥ २९ ॥
इति ज्ञातविभागस्य बुद्धौ तस्य परिक्षयः ।
कर्मणां यः फलत्यागस्तं संन्यासं विदुर्बुधाः ॥ ३० ॥
त्यागः सङ्कल्पजालानामसंसङ्गः स कथ्यते ।
समस्तकलनाजालस्येश्वरत्वैकभावना ।
गलितद्वैतनिर्भासमेतदेवेश्वरार्पणम् ॥ ३१ ॥

'मैं' इस प्रकार का यह अहम्भाव अपने अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म से वास्तव में भिन्न है ही नहीं, केवल अज्ञान से उससे भिन्न के समान स्थित जान पड़ता है; क्योंकि पृथक्त्व का नाम है—परिच्छेद, और वह ब्रह्म नहीं है। ('असद्रूप मैं नहीं हूँ,' इस प्रकार सब कोई जानता है। ऐसी स्थिति में अवगन्ता होने से पृथक्त्व की उपपत्ति और इस प्रकार पृथक्त्व होने से अवगन्ता की उपपत्ति—इन दोनों में किसी एक के त्याग में उपपत्ति रहित पृथक्त्व का ही अवश्य त्याग कर देना चाहिए) ॥ २७ ॥

प्रत्यक्चेतन से घटादि विषयों में होने वाला ममता-भावरूप बन्दर वैसे ही भी पृथक् नहीं है जैसे अहंभाव प्रत्यक्चैतन्य से पृथक् नहीं है, ऐसी परिस्थिति में दोनों प्रकार के भाव, सागर के समान, पूर्ण ब्रह्मरूप ही हैं; इसलिए अहन्ता के प्रति कैसा आग्रह अर्थात् अहन्ता का आग्रह ठीक नहीं है ॥ २८ ॥

तत्-तत् विषयों की विचित्रता से चित्र-विचित्र होकर अहं तथा मम आदि के रूप में सम्पूर्ण विकल्प भेदों का स्फुरण होने पर उनकी सत्ता की स्फूर्ति में निमित्त, तीनों अवस्थाओं में अनुगत, एकमात्र संवित्सारस्वभाव एवं सब विकल्पों के आगम और अपाय में साक्षी होकर स्थित रहने वाले प्रत्यगात्मा में एकत्व का भी स्फुरण होता ही है। इस स्थिति में उसमें भी आग्रह करना युक्त है, फिर वह क्यों नहीं किया जाता ? ॥ २९ ॥

प्रदर्शितरूप में विचार कर सार और असार के विभाग का ज्ञान-सम्पन्न पुरुष की बुद्धि में अहं और ममता के अग्रह के परिक्षय से सब फलों में अस्पृहारूप त्याग अर्थतः सिद्ध हो जाता है। उसे ही ज्ञानियों ने 'संन्यास' कहा है ॥ ३० ॥

अबोधवशतो भेदो नाम्नैवैषां चिदात्मनि ।
बोधात्मा किल शब्दार्थौ जगदेकं न संशयः ॥ ३२ ॥
अहमाशा जगदहं स्वमहं कर्म चाऽप्यहम् ।
कालोऽहमहमद्वैतं द्वैतं चाऽहमहं जगत् ॥ ३३ ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

अर्जुन उवाच

द्वे रूपे तव देवेश ! परं चाऽपरमेव च ।
कीदृशं तत्कदा रूपं तिष्ठाम्याश्रित्य सिद्धये ॥ ३५ ॥

श्रीभगवानुवाच

सामान्यं परमं चैव द्वे रूपे विद्धि मेऽनघ ! ।
पाण्यादियुक्तं सामान्यं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ ३६ ॥

सङ्कल्पसमूहों का त्याग ही असङ्ग (आसक्ति का अभाव) कहा गया है। सभी सङ्कल्प-विकल्प-समूहों में भेदावभासरहित ईश्वरमात्र की एक भावना सभी के उपादानकारण सर्वान्तर्यामी ईश्वर ही कार्यों में प्रवृत्त कराते हैं, यह सब व्यवहार उसीके विलास हैं, इस तरह ईश्वर में तन्मयता की भावना ही (उसमें सभी व्यवहारों को समर्पित कर देना ही) ईश्वरार्पण कहा गया है ॥३१॥

इस चिदात्मा में अज्ञान के कारण इन जीव, जगत् आदि का नाम से ही भेद है, वस्तुतः यह नामरूपात्मक सम्पूर्ण जगत् बोधात्मक है, अतः जगत् ब्रह्ममय है, इसमें संशय नहीं है ॥ ३२ ॥

दिशाएँ मैं हूँ, जगत् मैं हूँ, कर्मों का आश्रय मैं हूँ और कर्म भी मैं ही हूँ। काल मैं हूँ, अद्वैत और द्वैत मैं हूँ तथा अद्वैत और द्वैतरूपी अपने पर और अपर दो रूप और उनसे नियम्य जगत् मैं ही हूँ ॥ ३३ ॥

मुझमें अधिकार के तारतम्य से अपना मन लगाकर स्थित रहो, मुझमें वैसे ही भक्त हो जा अर्थात् श्रवण, कीर्तन आदि नव प्रकार की भक्ति से युक्त हो जाओ, ज्ञानयज्ञ से या कर्मयज्ञ से मेरे यजनशील हो जाओ, मुझे नमस्कार करो और मेरी शरण में रहो। कहे गये दोनों प्रकारों से भी मुझमें चित्त लगाकर साक्षात् या परम्परया स्वात्मभूत मुझको ही प्राप्त करोगे ॥ ३४ ॥

अर्जुन ने कहा—हे देवेश, आपके वे पर और अपर दो रूप कैसे हैं ? और अपनी सिद्धि के लिए किस समय किस रूप का आश्रयण कर मैं स्थित रहूँ ? ॥ ३५ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे पापशून्य अर्जुन ! यह जान लो कि मेरे दो रूप हैं—एक तो सामान्य रूप अर्थात् सर्व

परं रूपमनाद्यन्तं यन्ममैकमनामयम् ।
ब्रह्मात्मपरमात्मादिशब्देनैतदुदीर्यते ॥ ३७ ॥
यावदप्रतिबुद्धस्त्वमनात्मज्ञतया स्थितः ।
तावच्चतुर्भुजाकारदेवपूजापरो भव ॥ ३८ ॥
तत्क्रमात् संप्रबुद्धस्त्वं ततो ज्ञास्यसि तत्परम् ।
मम रूपमनाद्यन्तं येन भूयो न जायते ॥ ३९ ॥
यदि वा वेद्यविज्ञातो भावस्तदरिमर्दन ! ।
तन्ममाऽऽत्मानमात्मानमात्मनश्चाशु संश्रय ॥ ४० ॥
इदं चाऽहमिदं चाऽहमिति यत्प्रवदाम्यहम् ।
तदेतदात्मतत्त्वं तु तुभ्यं ह्युपदिशाम्यहम् ॥ ४१ ॥

जनसाधारण (सुबोध) और दूसरा परम उत्कृष्ट अर्थात् अशुद्ध चित्तवालों से दुरधिगम्य । हाथ आदि से युक्त, शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण करने वाला मेरा सामान्य रूप है ॥ ३६ ॥

मेरा विकारवर्जित, अद्वितीय, आदि और अन्त से रहित परम स्वरूप है; वह ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा आदि शब्दों से कहा जाता है ॥ ३७ ॥

हे पार्थ ! जब तक तुम अप्रबुद्ध होकर अनात्मज्ञरूप से स्थित हो तब तक तो चतुर्भुजाकार देव की पूजा में ही तत्पर रहो ॥ ३८ ॥

अनन्तर तुम चित्तशुद्धिक्रम से संप्रबुद्ध होकर परम उत्कृष्ट, आदि और अन्त से रहित मेरे उस रूप को जान जाओगे, जिसके ज्ञान से प्राणी इस संसार में फिर उत्पन्न नहीं होता है ॥ ३९ ॥

हे शत्रुमर्दन ! यह सगुण देव का भजन मैंने तुमसे चित्तशुद्धि के अभाव की संभावना कर ही कहा है । यदि तुम्हारा चित्त विज्ञानैकस्वभाव ब्रह्म के ज्ञान करने के योग्य हो गया है अर्थात् अपने चित्त को विशुद्ध हुआ मानते हो, तब तो मुझ ईश्वर की पारमार्थिकस्वरूपभूत शोधित तत्पदार्थ आत्मा को और अपनी शोधित त्वंपदार्थ रूप आत्मा को एकरस कर अखण्ड परिपूर्णात्मा का तत्काल आश्रयण करो इसका साक्षात्कार करके तन्मय हो जाओ ॥ ४० ॥

हे पार्थ ! 'यह मैं हूँ' और 'यह भी मैं हूँ' इत्यादि जो मैं कहता हूँ, वह सब इस अपरोक्ष आत्मतत्त्व का ही मैं तुम्हें उपदेश देता हूँ ॥ ४१ ॥

हे अर्जुन ! मैं समझता हूँ कि मेरे उपदेश से तुम भली प्रकार प्रबुद्ध हो चुके हो, ब्रह्मपद में विश्रान्ति पा चुके हो और सर्व-सङ्कल्पों से भी मुक्त हो चुके हो । अब

मन्ये साधुविबुद्धोऽसि पदे विश्रान्तवानसि ।
सङ्कल्पैरवमुक्तोऽसि सत्यैकात्ममयो भव ॥ ४२ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
पश्य त्वं योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ४३ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं भजत्येकत्वमात्मनः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ ४४ ॥
एकत्वं सर्वशब्दार्थ एकशब्दार्थ आत्मनः ।
आत्माऽपि च न सन्नाऽसद्गतो यस्याऽऽशु तस्य तत्॥४५॥
त्रैलोक्यचेतसामन्तरालोको यः प्रकाशकः ।
अनुभूतिमुपारूढः सोऽहमात्मेति निश्चयः ॥ ४६ ॥

तुम सत्य एवं अद्वितीय आत्मस्वरूप होकर स्थित रहो ॥४२॥

हे पार्थ ! योग से युक्त अन्तःकरण वाले और चिर काल के योगाभ्यास से सर्वत्र सन्मात्र का साक्षात्कार करने वाले ब्रह्मज्ञ होकर तुम सम्पूर्ण भूतों में अधिष्ठानरूप से अनुगत आत्मा को तथा उस आत्मा में अध्यस्त सम्पूर्ण भूतों को देखो ॥ ४३ ॥

व्यक्ति ब्रह्मज्ञ 'सब वह ब्रह्म ही है' इस प्रकार ऐक्य का आश्रयणकर सम्पूर्ण भूतों में स्थित आत्मा को भजता है, वह सब प्रकार से अर्थात् समाधि वृत्ति या व्यवहार वृत्ति से स्थित रहता हुआ भी पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता इसी को भागवतोत्तम कहा गया है— सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः, भूतानि भगवत्यात्मनि एव भागवतोत्तमः । (भाग ११) ॥ ४४ ॥

हे अर्जुन ! सर्वशब्द का अर्थ है—एकत्व और वह एक शब्दार्थ आत्मा का स्वभाव है । वह आत्मा 'न सत् है और न असत् है' इस प्रकार किसी को जब अनुभूत होता है तब शीघ्र ही उसे कैवल्य प्राप्त हो जाता है । (सब भूतों में अधिष्ठान रूप से स्थित आत्मा को देखने पर वह सर्व शब्द के अर्थ—अधिष्ठान स्वरूप से अतिरिक्त दूसरे का लाभ न होने से—एकत्व ही होता है । वह एक शब्दार्थ प्रत्यगात्मा के स्वभाव स्वरूप होता है। वह आत्मा भी न सत् है अर्थात् न तीन मूर्तभूतों के स्वभाव वाला है और न असत् है अर्थात् न अवशिष्ट दो सूक्ष्म भूतों के स्वभाव वाला है, किन्तु भूमानन्द चिदेकरसस्वभाव ही हैं । उस प्रकार के स्वभाव से युक्त आत्मा जिसके अनुभवपथ में आता है, उसे उस प्रकार की ज्ञानोत्पत्ति के अव्यवहित उत्तरक्षण में ही जन्म आदि विकारों से रहित, भूमानन्दस्वरूव कैवल्य प्राप्त हो जाता है) ॥ ४५ ॥

त्रैलोक्यपयसामन्तर्यो रसानुभवः स्थितः ।
गव्यानामब्धिजानां च सोऽयमात्मेति भारत ! ॥४७ ॥
अन्तः सर्वशरीराणां यः सूक्ष्मोऽनुभवः स्थितः ।
मुक्तोऽनुभवनीयेन सोऽयमात्माऽस्ति सर्वगः ॥ ४८ ॥
समग्रपयसामन्तर्यथा घृतमिव स्थितम् ।
तथा सर्वपदार्थानां देहानां संस्थितः परः ॥ ४९ ॥
सर्वाम्भोनिधिरत्नानां सबाह्याभ्यन्तरे यथा ।
तेजस्तथाऽस्मि देहानामसंस्थित इव स्थितः ॥ ५० ॥
यथा कुम्भसहस्राणां सबाह्याभ्यन्तरे नभः ।
जगत्त्रयशरीराणां तथाऽऽत्माऽहमवस्थितः ॥ ५१ ॥
मुक्ताफलशतौघानां तन्तुः प्रोतवपुर्यथा ।
तथाऽयं देहलक्षाणां स्थित आत्माऽस्त्यलक्षितः ॥ ५२ ॥
ब्रह्मादौ तृणपर्यन्ते पदार्थनिकुरम्बके ।
सत्तासामान्यमेतद्यत्तमात्मानमजं विदुः ॥ ५३ ॥
तदीषत्स्फुरिताकारं ब्रह्म ब्रह्मैव तिष्ठति ।
अहन्तादि जगत्तादि क्रमेण भ्रमकारिणा ॥ ५४ ॥
आत्मैवेदं जगद्रूपं हन्यते हन्ति वाऽत्र किम् ।
शुभाशुभैर्जगद्दुःखैः किमस्याऽर्जुन ! लिप्यते ॥ ५५ ॥
प्रतिबिम्बेष्विवाऽऽदर्शसमं साक्षिवदास्थितम् ।
नश्यत्सु न विनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ ५६ ॥
इदं चाऽहमिदं नेति इतीदं कथ्यते मया ।
एवमात्माऽस्मि सर्वात्मा मामेवं विद्धि पाण्डव ! ॥५७॥

तीनों लोकों के चित्तों में भीतर प्रकाश करने वाला आलोक है और ज्ञानियों की अनुभूति में साक्षीरूप से आरूढ है ही अहंशब्द का लक्ष्य आत्मा है—यही यथार्थ विचार है ॥ ४६ ॥

हे भारत ! तीनों लोकों में स्थित जलों के भीतर विद्यमान रसानुभव गौ के विकास स्वरूप दूध आदि के भीतर स्थित रसानुभव तथा ईख, मधु आदि के भीतर स्थित रसानुभव ही इदंपदार्थ यह आत्मा है—यही निश्चय है। जो सबके अनुभवों का विषय होता है, उसमें तो अत्यन्त परोक्षता की प्रसक्ति ही नहीं है ॥ ४७ ॥

सम्पूर्ण शरीरों के भीतर विषय समूहों से निर्मुक्त, अतएव सूक्ष्मरूप से स्थित अनुभव ही यह सर्वव्यापी आत्मा है ॥ ४८ ॥

सम्पूर्ण पदार्थों के भीतर अधिष्ठान स्वरूप से और सम्पूर्ण देहों के भीतर प्रकाशक रूप से वह परमात्मा वैसे ही स्थित है जैसे सम्पूर्ण दुग्ध के भीतर घी स्थित ही है ॥ ४९ ॥

बाहर-भीतर प्रकाश करने वाला तेजस्वरूप मैं देहों के भीतर विद्यमान रहता हुआ भी वैसे ही अविद्यमान-सा हूँ जैसे समुद्र के सम्पूर्ण रत्नों में स्थित तेज बाहर और भीतर प्रकाश करता है ॥ ५० ॥

तीनों जगत् में स्थित शरीरों के भी बाहर और भीतर मैं वैसे ही स्थित हूँ जैसे हजारों घटों के बाहर और भीतर आकाश स्थित है (उन घटों के बाहर और भीतर स्थित होता हुआ भी आकाश जैसे अलेपक ही है, वैसे ही शरीरों के बाहर और भीतर स्थित हुआ आत्मा भी अलेपक ही है) ॥ ५१ ॥

लाखों देहों के भीतर स्थित यह आत्मा वैसे ही लक्षित नहीं होता है। जैसे सैकड़ों मोतियों के समूहों के छिद्रों में स्थित प्रोत-आकार वाला तन्तु लक्षित नहीं होता ॥ ५२ ॥

ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त जितने भी पदार्थ-समूहों में सत्ता सामान्य रूप से स्थित को ही नित्य आत्मा जानते हैं ॥ ५३ ॥

इसलिए अनेक प्रकार के भ्रमोत्पादक अज्ञान से क्रमशः अहन्ता आदि तथा जगत्ता आदि से युक्त किञ्चित् स्फुरित आकार वाला वह ब्रह्म ही ब्रह्मरूप से स्थित रहता है ॥ ५४ ॥

यह जगद्रूप आत्मा होने से 'यह मारा जाता है' या 'यह मारता है' इसमें विषय ही क्या है ? अर्थात् न कोई मारता है या न कोई मारा ही जाता है। हे अर्जुन ! शुभ एवं अशुभ स्वरूप जगत् के दुःखों से इसका क्या लिप्त होता है ॥ ५५ ॥

प्रतिबिम्बों के समान नष्ट हो रहे पदार्थों में दर्पण के समान प्रतिबिम्बों के नष्ट होने पर भी दर्पण की तरह साक्षिस्वरूप से स्थित आविनाशी आत्मा को देखने वाला ही सम्यग्दर्शी है ॥ ५६ ॥

हे पाण्डुनन्दन ! 'सम्पूर्ण शरीरों में प्रकाशमान चेतनांश से हीं हूँ' और 'देह, इन्द्रिय आदि जड़ अंश मैं नहीं हूँ'—इस प्रकार का अर्थ विभाग और शब्द विभाग जो मुझसे कहा जाता है, वह दर्पण स्वरूप का परिचय कराने के लिए दर्पणादर्पण विभागकथन के समान आत्म स्वरूप का परिचय कराने के लिए ही कहा जाता है। दर्पण के समान लिप्त न होने वाला अद्वितीय आत्मरूप मैं सर्वात्मा हूँ। उसी तरह का तुम मुझे परमार्थतः जानो ॥ ५७ ॥

इमाः सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
आत्मन्यहन्ताचित्तस्थाः पयःस्पन्दा इवाऽम्बुधौ ॥ ५८ ॥
यथोत्पलत्वं शैलानां दारुत्वं च महीरुहाम् ।
तरङ्गाणां जलत्वं च पदार्थानां तथाऽऽत्मता ॥ ५९ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ ६० ॥
नानाकारविकारेषु तरङ्गेषु यथा पयः ।
कटकादिषु वा हेम भूतेष्वात्मा तथाऽर्जुन ! ॥ ६१ ॥
नानातरङ्गवृन्दानि यथा लोलानि वारिणि ।
कटकादीनि वा हेम्नि भूतान्येवं परात्मनि ॥ ६२ ॥
पदार्थजातं भूतानि बृहद्ब्रह्म च भारत ! ।
एकमेवाऽखिलं विद्धि पृथक्त्वं न मनागपि ॥ ६३ ॥
किं तद्भावविकाराणां गम्यमस्ति जगत्त्रये ।
क्व ते वाऽपि जगत्किं वा किं मुधा परिमुह्यसि ॥ ६४॥
इति श्रुत्वाऽभयं त्वन्तर्भावयित्वा सुनिश्चितम् ।
जीवन्मुक्ताश्चरन्तीह सन्तः समरसाशयाः ॥ ६५ ॥
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपाख्याने अर्जुनोपदेशो नाम त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

जैसे समुद्र में जल का तरङ्गादिस्पन्दन क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं वैसे ही ये अहमभिमान वाले चित्त में रहने वाली सृष्टि-प्रलयात्मक सब तरह की क्रियाएँ वास्तव में आत्मा में प्रवृत्त होती हैं ॥ ५८ ॥

सम्पूर्ण पदार्थों का पारमार्थिक स्वरूप वैसे ही आत्मत्व ही है जैसे पर्वतों का पारमार्थिक स्वरूप पाषाणता ही है, वृक्षों का स्वरूप काष्ठता ही है और तरङ्गों का स्वरूप जलता ही है ॥ ५९ ॥

सम्पूर्ण भूतों में अधिष्ठानरूप से स्थित आत्मा को, उस आत्मा में अध्यस्तरूप से स्थित सम्पूर्ण भूतों को तथा अकर्ता आत्मा को प्रतिबिम्बों की चित्र-विचित्र चेष्टाओं से अलिप्त दर्पण की तरह कर्तृत्व आदि धर्मों से शून्य आत्मा को देखने वाला ही ब्रह्म का साक्षात्कार करता है ॥ ६० ॥

हे अर्जुन ! विविध प्रकार के समस्त भूतों में आत्मा भी वैसे ही अनुगत है, विविध प्रकार के आकारों एवं विकारों वाले तरङ्गों में जैसे जल अनुगत है या कटक आदि में सुवर्ण अनुगत है ॥ ६१ ॥

उसी प्रकार परमात्मा में ये समस्त भूत भी वैसे ही रहते हैं जैसे जल में नाना प्रकार के चञ्चल तरङ्ग समूह रहते हैं या सुवर्ण में कटक आदि रहते हैं ॥ ६२ ॥

हे भारत ! भूत आदि सम्पूर्ण पदार्थ और बृहत् ब्रह्म इन सबको, दर्पण तथा उसमें के प्रतिबिम्ब की तरह एकरूप ही जानो; इनमें लेशमात्र भी पृथक्त्व नहीं है ॥ ६३ ॥

हे पार्थ ! तीनों जगत् में एकमात्र निर्विकार ब्रह्म के ही रहने पर जन्म आदि भावविकारों का आश्रयभूत दूसरा क्या है ? अथवा तुम्हारे बन्धुवध आदि भावविकार भी कहाँ है ? या यह जगत् भी ब्रह्म को छोड़कर दूसरा क्या है ? अतः तुम व्यर्थ ही इनमें मोह क्यों करते हो ? ॥ ६४ ॥

इस प्रकार उपदेशों को सुनकर और निश्चयपूर्वक भीतर ब्रह्म की सम्यक् भावनाकर समचित्त महात्मा लोग जीवन्मुक्त होकर इस व्यवहार-भूमि में विचरण करते हैं ॥ ६५ ॥

हे पार्थ ! मान और मोह से रहित, बाहर के विषयों में आसक्तिशून्य, आत्मज्ञान में निरत, विषयवासनाओं से रहित, सुख, दुःख आदि द्वन्द्वों से निर्मुक्त तथा 'अहम्' 'मम' इत्यादि भेद-ज्ञान से शून्य अमूढमति महात्मा उस अविनाशी परम-पद को प्राप्त करते हैं ॥ ६६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में अर्जुनोपाख्यान में अर्जुनोपदेश नामक कुसुमलता का तिरपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

५४

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो ! शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
मात्रास्पर्शा हि कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ! ॥ २ ॥
ते तु नैकात्मनश्चाऽन्ये क्वाऽतो दुःखं क्व वा सुखम् ।
अनाद्यन्तेऽनवयवे कुतः पूरणखण्डने ॥ ३ ॥
संस्थिता स्पर्शमात्राख्या मात्रास्पर्शभ्रमात्मकः ।
समदुःखसुखो धीरः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥
सर्वत्वादात्मनश्चैते सुभेदाः संस्थिता इव ।
असद्रूपास्त्वसद्रूपं कथं सोढुं न शक्यते ॥ ५ ॥
मनागपि न विद्येते सुखदुःखे तु सर्वशः ।
सर्वत्वादात्मतत्त्वस्य सत्ता कथमनात्मनः ॥ ६ ॥
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।
नाऽस्त्येव सुखदुःखादि परमात्माऽस्ति सर्वगः ॥ ७ ॥
सत्त्वासत्त्वमतो त्यक्त्वा चैतयोर्जगदात्मनोः ।
त्यक्त्वा न किञ्चिन्मध्ये च शेषे बद्धपदो भव ॥ ८ ॥

५४

श्रीभगवान् ने कहा—हे महाबाहो ! पुनः मेरे परमार्थ वचन को सुनो, जिन्हें प्रेम से सुनने की इच्छा तुम कर रहे हो मैं केवल कल्याण की कामना से तुमसे कहता हूँ ॥१॥

हे कौन्तेय ! इन्द्रियों के विषयसम्बन्ध ही शीतोष्णादि अनुभवों से जनित सुख-दुःख देते हैं। हे भारत ! वे इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध सदा उत्पद्यमान और विनश्यमान हैं, अतः उन्हें तुम सहो। [यहाँ शीत और उष्ण शब्द का भाव यह है कि ग्रीष्मकाल में शीत सुखद है और उष्ण दुःखद है; शिशिरकाल में उष्ण सुखद और शीत दुःखद है; इसलिए विषय कभी सुख-दुःखरूप नहीं हो सकते। इसी तरह 'तितिक्षस्व' यह शब्द वैराग्य का भी उपलक्षण है। अतः प्रिय विषयों से विरक्त हो जाओ और अप्रिय विषयों को सहो] ॥ २ ॥

(इन्द्रियाँ, इन्द्रियों का विषयसंसर्ग) सुख-दुःख आदि द्वन्द्व या इनसे भिन्न जो कुछ भी हैं वे सबके सब अद्वय, पूर्णानन्दस्वभाव स्वात्मा से कुछ भी पृथक् नहीं है। अतः उस प्रकार के सर्वत्र आत्मदर्शन से कहाँ सुख और कहाँ दुःख होगा? आदि अन्त से शून्य तथा अवयवरहित स्वात्मा में पूरण और खण्डन कैसे हो सकता है? अर्थात् 'प्रियतम, धन आदि सम्पत्ति से मैं परिपूर्ण हूँ' इस भ्रान्ति से आभिमानिक सुख और उसके वियोग में या अप्रिय वस्तु की प्राप्ति में 'मैं खण्डित हुआ' इस भ्रान्ति से दुःख हो सकता है, परन्तु वह भी निरवयव आत्मा में पूरण और खण्डन का असंभव ज्ञात होने पर निवृत्त हो जाता है ॥ ३ ॥

जिस महामति की विषयों और इन्द्रियों में सत्यता-भ्रान्ति उपशान्त हो जाती है, वह इन्द्रियविषयभ्रमात्मक जीव तत्त्वदर्शी और तुल्य सुख-दुःख होकर अमृतपद के योग्य हो जाता है अर्थात् वह परमानन्द से परिपूर्ण रहता है ॥ ४ ॥

निरतिशय आनन्दरस से परिपूर्ण आत्मा ही सब कुछ है, सुख, दुःख आदि सब विषयभेद एक तरह से सुभेदरूप अर्थात् प्रियतम धन, पुत्र आदिस्वरूप होकर ही अवस्थित हैं। उन द्वन्द्वों में पूर्व-कालीन प्रतिकूलवेदनीयत्व है, उस रूप से तो वे असत्स्वरूप ही हैं, इसलिए वे क्यों नहीं सहे जा सकेंगे ॥ ५ ॥

सभी तरह से सुख-दुःखों का लेशमात्र भी अस्तित्व नहीं है। आत्मतत्त्व ही सर्वस्वरूप है। इसलिए अनात्मा की सत्ता कैसे होगी ? ॥ ६ ॥

दुःख आदि असत् पदार्थों की सत्ता नहीं रहती और आत्मरूप अबाधित सत्-वस्तु की असत्ता नहीं रहती। सत् और असत् वस्तुओं का यही स्वभाव है, विपरीत नहीं; दुःख आदि की सत्ता नहीं है और व्यापक परमात्मा की ही सत्ता है (विकार असद्रूप हों तो पिण्ड आदि में से किसी एक विकार से अस्पृष्ट मृत्तिकारूप प्रकृति के न पड़ने के कारण उसे भी असद्रूप मानेंगे, परिशेष में शून्यता-पत्ति हो जायगी किन्तु यह ठीक नहीं है, कारण विकारों में अनुगत सद्बुद्धि निर्विषयक न हो सकने के कारण स्वतः विकारों के असत्त्व में भी परिशेष में शून्यता नहीं हो सकती। यदि अनुगत वस्तु असत् होती तो 'घटः सन्' इस प्रकार सद्रूप से अनुवृत्ति होती है। इसलिए सन्मात्र ही परिशेष में रहता है। जो विषयों में सदभि-मान होता है, वह अधिष्ठानसत्ता को लेकर ही होता है, स्वतः नहीं ॥ ७ ॥

जगत् सत्य है, और निरतिशय आनन्द-स्वरूप ब्रह्म असत्य है—इन बुद्धियों को छोड़कर तथा जगत् एवं

न हृष्यति सुखैरात्मा दुःखैर्ग्लायति नोऽर्जुन ! ।
दृश्यदृक्चेतनात्माऽपि शरीरान्तर्गतोऽपि सन् ॥ ९ ॥
जडं चित्तादि दुःखस्य भाजनं देहतां गतम् ।
न चैतस्मिन् क्षते क्षीणे किञ्चिदेवाऽऽत्मनः क्षतम् ॥१०॥
जडं देहादि दुःखादेर्यदिदं भोक्तृ संस्थितम् ।
तन्मायाभ्रममेवाऽङ्ग विद्ध्यबोधवशोत्थितम् ॥ ११ ॥
न किञ्चिदेव देहादि न च दुःखादि विद्यते ।
आत्मनो यत्पृथग्भूतं किं केनाऽतोऽनुभूयते ॥ १२ ॥
यदिदं कथयाम्यत्र तेनैवाऽतो विनश्यति ।
भ्रान्तिर्दुःखमबोधोत्था सम्यग्बोधेन भारत ! ॥ १३ ॥
यथा रज्ज्वामहिभयं बोधान्नश्यत्यबोधजम् ।
तथा देहादि दुःखादि बोधान्नश्यत्यबोधजम् ॥ १४ ॥
विश्वग्विश्वमजं ब्रह्म न नश्यति न जायते ।
इति सत्यं परं विद्धि बोधः परम एष सः ॥ १५ ॥
ब्रह्माम्बुधौ तरङ्गत्वं किञ्चिद्भूत्वा विलीयते ।
ब्रह्मावर्ते स्फुरस्यद्य ब्रह्मैवाऽसि निरामयम् ॥ १६ ॥
यावत् कालक्रियादेशास्त्वमहं सैनिका इव ।
ब्रह्मणीव परिस्पन्दा नाऽत्र स्तः सदसद्भ्रमौ ॥ १७ ॥
जहि मानं मदं शोकं भयमीहां सुखासुखे ।
द्वैतमेतदसद्रूपमेकः सद्रूपवान् भव ॥ १८ ॥
पुरुषाक्षौहिणीनां च क्षयेणाऽनुभवात्मना ।
ब्रह्मणा बृंहितं शुद्धं ब्रह्म ब्रह्ममयं कुरु ॥ १९ ॥
असंविदन्सुखं दुःखं लाभालाभौ जयाजयौ ।
शुद्धब्रह्मैकतां गच्छ ब्रह्माब्धिस्त्वं हि भारत ! ॥ २० ॥
लाभालाभसमो भूत्वा भूत्वा नूनं न किञ्चन ।
खण्डवात इवाऽस्पन्दी प्रकृतं कार्यमाचर ॥ २१ ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्करिष्यसि कौन्तेय तदात्मेति स्थिरो भव ॥ २२ ॥

आत्मा के अन्तराल में दोनों के सङ्घटन में हेतुभूत मत और तम को, तुच्छत्व-बुद्धि से छोड़कर अवशिष्ट चिदात्मा में तुम प्रतिष्ठित हो जाओ ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! आत्मा हर्ष, ग्लानि आदि दृश्य पदार्थों का साक्षि-रूप से साक्षात्कार करने वाला चितिस्वरूप है और शरीर के अन्दर रहता भी है, किन्तु वह सुखों से न तो हर्षित होता है और न दुःखों से म्लान ही होता है। (हर्ष आदि दृश्य पदार्थ द्रष्टा के धर्म नहीं हो सकते)॥९॥

शरीररूपता को प्राप्त जड़स्वरूप चित्त आदि ही दुःख के भागी होते हैं। इन चित्त आदि के नष्ट या क्षीण होने पर आत्मा का कुछ भी नष्ट नहीं होता है ॥ १० ॥

हे प्रिय पार्थ ! देह आदि दुःख आदि के भोक्तारूप से अवस्थित यह चित्तादिघटित जडताप्रधान जीवरूप को अज्ञानवश उत्पन्न मायाभ्रम ही तुम जानो ॥ ११ ॥

आत्मा से पृथक्भूत देह आदि कुछ भी नहीं हैं और न दुःख आदि ही अपनी कुछ सत्ता रखते हैं, अतः कौन किसका अनुभव करेगा ? ॥ १२ ॥

हे भारत ! दृश्यमान यह दुःख ब्रह्म के अज्ञान से जनित एक प्रकार की भ्रान्ति ही है, अतः तत्त्वज्ञान से वह नष्ट हो जाता है, इसे मैं तुम्हें बतलाता हूँ ॥ १३ ॥

आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न हुए देह आदि एवं दुःखादि भय आत्मा के तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाते हैं जैसे रज्जु के अज्ञान से उत्पन्न रज्जु में सर्पभय रज्जु के यथार्थ ज्ञान से नष्ट हो जाता है ॥ १४ ॥

यह विश्व नित्य एवं पूर्ण ब्रह्मरूप ही है, वह न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न ही होता है, यही परम सत्य है, यह जानो यही वह उत्तम बोध है ॥ १५ ॥

ब्रह्मरूपी महान् सागर में कुछ तरङ्गरूप उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं, आज बोध के उदयकाल में ब्रह्मावर्त में तुम स्फुरित हो रहे हो, तुम सर्वविधविकार-वर्जित ब्रह्मरूप ही हो ॥ १६ ॥

काल, क्रिया, देश, तुम, मैं आदि जितने पदार्थ हैं वे सब उस सम्राट् के भी सम्राट् परब्रह्म के तरह के सैनिक हैं, वे ब्रह्मात्मा में एक तरह से परिस्पन्दरूप हैं, अतः आत्मा में भावाभाव विकल्प नहीं है ॥ १७ ॥

तुम मान, मद, शोक, भय, इच्छा, सुख-दुःख इन सम्पूर्ण असद्रूप द्वैतप्रपञ्च छोड़ दो और एकमात्र अद्वितीय सद्रूप हो जाओ ॥ १८ ॥

तुम्हारे द्वारा किया जाने वाला अक्षौहिणी सेना का विनाश भी ब्रह्मरूप ही है, अतः क्षय के रूप से भी ब्रह्म ही उपबृंहित है, इसलिए तुम अनुभवरूप शुद्ध ब्रह्म को ही ब्रह्ममय कर दो ॥ १९ ॥

हे भारत ! सुख, दुःख, लाभ, हानि, जय और पराजय किसी पर भी दृष्टि न देकर युद्धोद्यत तुम ब्रह्मरूप हो जाओ, क्योंकि तुम ब्रह्मरूप समुद्र हो ॥ २० ॥

लाभ और अलाभ में समबुद्धि होकर तत्त्वनिश्चय से देहादिरूप न होकर, गुहापरिच्छिन्न वायु के समान कम्पन शून्य हो तुम वर्तमान कार्य को करो ॥ २१ ॥

हे कौन्तेय ! जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो कुछ देते हो और भविष्य

यन्मयो यो भवत्यन्तः स तदाप्नोत्यसंशयम् ।
ब्रह्मसत्यमवाप्तुं त्वं ब्रह्मसत्यमयो भव ॥ २३ ॥
अनपेक्षफलं ब्रह्म भूत्वा ब्रह्मेतिबाधितम् ।
क्रियते केवलं कर्म ब्रह्मज्ञेन यथागतम् ॥ २४ ॥
कर्मण्यकर्म यः पश्यत्यकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स चोक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ २५ ॥
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ! ॥ २६ ॥
कर्मासक्तिमनाश्रित्य तथाऽनाश्रित्य मूढताम् ।
नैष्कर्म्यमप्यनाश्रित्य समस्तिष्ठ यथास्थितम् ॥ २७ ॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

में जो कुछ शास्त्रानुकूल अनुष्ठान करोगे; वह सब आत्म रूप ही है, इस प्रकार की बुद्धि में सुस्थिर हो जाओ ॥२२॥

जो पुरुष अपने हृदय के भीतर जिस आकार से युक्त होता है अर्थात् अपने चित्त में जिस स्वरूप की दृढ़ भावना कर लेता है, वह निःसंशय उसे प्राप्त कर लेता है—यह नियम है। इसलिए ब्रह्मस्वरूप सत्य को प्राप्त करने के लिए तुम ब्रह्मरूप सत्यमय हो जाओ अर्थात् निरन्तर अपने हृदय में ब्रह्माकार की भावना करो ॥ २३ ॥

ब्रह्मज्ञान सम्पन्न वह स्वयं ही सम्पूर्ण कामनाओं की जिसमें परिसमाप्ति रहती है, ऐसा पुरुषार्थरूप ब्रह्मफल बनकर प्रारब्ध वश प्राप्त, 'ब्रह्म' इस भावना से बाधित ही चेष्टारूप कर्म करता है ॥ २४ ॥

जो पुरुष ब्रह्मज्ञानी होने पर कर्म में अकर्म देखता है अर्थात् निष्क्रिय ब्रह्म का अवलोकन करता है और निष्क्रिय ब्रह्म में अविच्युत-प्रतिष्ठारूप अवश्यकर्तव्य कर्म का अवलोकन करता है, वही मनुष्यों में विवेकी पुरुष है; और वही स्वरूपतः तथा फलतः अशेष कर्म करनेवाला है। उसी को विद्वानों ने 'कृत्स्नकर्मकृत्' अशेष कर्मों का कर्ता कहा है ॥ २५ ॥

हे धनञ्जय ! प्रवृत्ति में निमित्तभूत लाभादिरूप कर्म-फल से युक्त मत हो और अकर्म में प्राप्त कर्म के न करने में भी तुम्हें आसक्ति न हो। योग में स्थित होकर अर्थात् सिद्धि-असिद्ध में समदृष्टिरूपी योग में प्रतिष्ठित होकर आसक्ति छोड़कर कर्म करते चलो ॥ २६ ॥

कर्मों में आसक्ति का आश्रयण न कर, तत्त्वदृष्टि में प्रमाद का आश्रयण न कर और नैष्कर्म्य का भी आश्रयण

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥ २८ ॥
आसक्तिमाहुः कर्तृत्वमकर्तुरपि तद्भवेत् ।
मौर्ख्ये स्थिते हि मनसि तस्मान्मौर्ख्यं परित्यजेत् ॥२९॥
परं तत्त्वज्ञमाश्रित्य निरासक्तेर्महात्मनः ।
सर्वकर्मरतस्याऽपि कर्तृतोदेति न क्वचित् ॥ ३० ॥
अकर्तृत्वादभोक्तृत्वमभोक्तृत्वात् समैकता ।
समैकत्वादनन्तत्वं ततो ब्रह्मत्वमाततम् ॥ ३१ ॥
नानातामलमुत्सृज्य परमात्मैकतां गतः ।
कुर्वन् कार्यमकार्यं च नैव कर्ता त्वमर्जुन ! ॥ ३२ ॥
यस्य सव समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ ३३ ॥

न कर सम होकर यथास्थित बैठे रहो अर्थात् अज्ञानजन्य कर्मों में अनासक्तिपूर्वक तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्मात्मक जगत् में असक्ति कर लोककल्याण करना चाहिये ॥ २७ ॥

कर्मफलों में आसक्ति छोड़कर जो पुरुष नित्यतृप्त और निराश्रय होकर स्थित रहता है, वह कर्म में भली-भाँति प्रवृत्त होकर भी कुछ नहीं करता है ॥ २८ ॥

विद्वान् लोग आसक्ति को ही कर्तृत्व कहते हैं, मन में प्रमाद रहने पर कर्म न करनेवाले पुरुष को वह आसक्ति अवश्य होती है, अतः मूर्खता का=मोह का परित्याग कर देना चाहिए, क्योंकि मूर्खता से मोह से ही अनर्थ परम्परा होती है ॥ २९ ॥

परम तत्त्वज्ञान का आश्रयण कर आसक्ति रहित सब कर्मों में तत्पर भी महात्मा में कभी भी कर्तृता उदित नहीं होती है ॥ ३० ॥

कर्तृत्वाभिमान न रहने से अभोक्तृत्व की सिद्धि होती है और भोक्तृत्व के अभाव से समैकरूपता की सिद्धि होती है। समैकरूपता की सिद्धि हो जाने से असीमता और उसके अनन्तर विस्तृत ब्रह्मरूपता की सिद्धि होती है ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन ! अनेकतारूपी मल का त्याग कर परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त कर तुम कार्य या अकार्य को प्रमाद से निषिद्ध कर्मों को सम्पादन करके भी किसी के कर्ता नहीं होओगे ॥ ३२ ॥

जिस पुरुष के सभी कर्म कामसङ्कल्प से वर्जित है ऐसे ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध कर्मवाले उस पुरुष को सभी विद्वान् 'पण्डित' कहते हैं ॥ ३३ ॥

समः सौम्यः स्थिरः स्वस्थः शान्तः सर्वार्थनिस्पृहः ।
यस्तिष्ठति स सव्यग्रोऽप्यलमव्यग्रतां गतः ॥ ३४ ॥
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।
यथाप्राप्तानुवर्ती त्वं भव भूषितभूतलः ॥ ३५ ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥३६॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन ! ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ३७ ॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपाख्याने आत्मज्ञानोपदेशो नाम चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

जो सम, सौम्य, स्थिर, स्वस्थ, शान्त और सब पदार्थों से निस्पृह होकर अवस्थित रहता है, वह कर्मयुक्त होता हुआ भी अकर्मता को प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

हे सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से रही नित्य सत्त्वस्थ, योग एवं क्षेम से शून्य अर्थात् अलब्ध वस्तु के लाभ और लब्ध वस्तु का पालन इन दोनों की चिन्ता से शून्य आत्मवान्, प्रारब्ध प्राप्त विषयों या कर्मों का अनुसरण कर रहे तुम पृथिवी को अलङ्कृत करने वाले हो जाओ ॥ ३५ ॥

जो विमूढात्मा कार्याकार्य के विवेक से शून्य पुरुष मुक्ति के साधन-भूत अपने वैदिक कर्मों को छोड़ कर बाहर से कर्मेन्द्रियों का निरोध कर आँख आदि को बल-पूर्वक मुँद कर मन से इन्द्रियार्थों का शब्दादि विषयों का चिन्तन करता हुआ स्थित रहता है, वह सज्जनों द्वारा मिथ्याचार वाला आत्मवञ्चक कहा जाता है ॥ ३६ ॥

हे अर्जुन ! जो मुमुक्षु विद्वान् ज्ञानेन्द्रियों का मन से संयम कर अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों को राग, द्वेष आदि दोषों से दूर कर कर्मेन्द्रियों से चित्त शुद्धि के उपयोगी श्रौत-स्मार्त कर्मों को ईश्वरार्पण करता है, वह बुद्धि से उसकी अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में प्रविष्ट हो जाती हैं अर्थात् समुद्र रूप प्राप्त कर उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार अचल ब्रह्म में प्रतिष्ठित हुए जिस संन्यासी में सब कामनाएँ मिथ्यात्वबुद्धि से बाधित विषय होती हुई प्रविष्ट हो जाती हैं अर्थात् आत्मा में ही विलीन होकर यकमात्र आत्मरूपता को प्राप्त हो जाती हैं; विषयों की कामना करने वाला पुरुष शान्ति नहीं प्राप्त करता है अपितु वही सम्पूर्ण अनर्थों की थान्तिरूप मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ऋषी-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के निर्वाणप्रकरण में अर्जुनोपाख्यान में आत्मज्ञानोपदेश नामक कुसुमलता का चौवनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥

५५

श्रीभगवानुवाच

न कुर्याद्भोगसंत्यागं न कुर्याद्भोगभावनम् ।
स्थातव्यं सुसमेनैव यथाप्राप्तानुवर्तिना ॥ १ ॥
अनात्मन्यात्मतां देहे मा भावय भवात्मनि ।
अनात्मन्येवाऽऽत्मतां सत्ये भावयाऽभवरूपिणि ॥ २ ॥
देहनाशे महाबाहो ! न किञ्चिदपि नश्यति ।
आत्मनाशे हि नाशः स्यान्न चाऽऽत्मा नश्यति ध्रुवः॥३॥

५५

श्रीभगवान् ने कहा—बुद्धिमान् देह-धारण के साधन अन्नपानादि भोगों का त्याग न करे और भोगों की प्राप्ति के लिए चिन्ता न करे, यानी भोग सौन्दर्य-सम्पादन के लिए व्यसनिता न करे । यथा प्राप्त भोगों का उपभोग करते हुए समभाव से स्थित रहे अर्थात् उनकी प्राप्ति और अप्राप्ति में एक भाव से स्थित रहे ॥ १ ॥

जन्म यादि छः विकार स्वभाव अनात्म रूप देह में आत्मता की भावना मत करो, वरन् जन्मयादि छः विक्रिया शून्य स्वभाव सत्य आत्मा में ही आत्या की भावना करो ॥ २ ॥

हे महाबाहो ! देह का नाश होने पर आत्मा का कुछ भी नष्ट नहीं होता है । आत्मा का नाश होने पर इसका कुछ नाश हो सकता है, किन्तु अविनाशी आत्मा का नाश ही नहीं होता है ॥ ३ ॥

न हि शीर्यत्यचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥ ४ ॥
आसक्तिमाहुः कर्तृत्वमकर्तुरपि तद्भवेत् ।
मौर्ख्यस्थिते हि मनसि तस्मान्मौर्ख्यं परित्यजेत् ॥ ५ ॥
परं तत्त्वज्ञमाश्रित्य निरासक्तेर्महात्मनः ।
सर्वकर्मरतस्याऽपि कर्तृतोदेति न क्वचित् ॥ ६ ॥
अविनाशमनाद्यन्तमात्मानमजरं विदुः ।
नश्यत्यात्मेति दुर्बोधो मा तवाऽस्त्विह दु:खदः ॥ ७ ॥
न तथा परिपश्यन्ति विदितात्मान उत्तमाः ।
पश्यन्त्यनात्मनाऽऽत्मानं स्वमात्मन्यात्ममानिनः ॥ ८ ॥

अर्जुन उवाच

एवं चेत्त्रिजगन्नाथ ! मूढानामपि मानद ! ।
देहनाशे समुत्पन्ने इष्टं नष्टं न किञ्चन ॥ ९ ॥

श्रीभगवानुवाच

एवमेतन्महाबाहो ! न किञ्चिन्नश्यति क्वचित् ।
आत्मैवाऽस्त्यविनाशात्मा किं तस्य क्व विनश्यति ॥१०॥
इदं नष्टमिदं युक्तमिति मोहभ्रमादृते ।
अन्यत्तथा न पश्यामि वन्ध्यास्त्रीतनयं यथा ॥ ११ ॥
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १२ ॥
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्याऽस्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १३ ॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्धयस्व भारत ! ॥ १४ ॥
आत्मा चैकोऽस्ति न द्वित्वमसतः सम्भवः कुतः ।
अविनाशस्त्वनन्तोऽसौ सतो नाशो न विद्यते ॥ १५ ॥
द्वत्वैकत्वपरित्यागे शेषं यत्परिशिष्यते ।
शान्तं सदसतोर्मध्यं तदस्तीह परं पदम् ॥ १६ ॥

सम्पूर्ण परिग्रहों से शून्य देहादि के परिग्रह में निमित्त चित्त से पृथक् आत्मा नष्ट नहीं होता है और युद्धादि कर्म में प्रवृत्त भी वह कुछ नहीं करता है ॥ ४ ॥

अज्ञानवश मन के युक्त रहने पर ही आसक्ति होती है, जिसे कर्तृत्व कहते हैं । कर्म न करने वाले को भी वह आसक्ति मूर्खतापूर्ण चित्त रहने पर होती ही है, अतः मूर्खता छोड़ देनी चाहिए ॥ ५ ॥

परम तत्त्वज्ञान का आश्रयण करने के कारण आसक्तिरहित महात्मा में, सम्पूर्ण कर्मों में तत्पर होने पर भी किसी समय कर्तृता उदित नहीं होती है ॥ ६ ॥

यह आत्मा अविनाशी, आदि और अन्त से शून्य अजर है; इस लिए 'आत्मा नष्ट होता है' यह दुःखदायी दुर्बोध तुम्हें न हो ॥ ७ ॥

उत्तम आत्मज्ञानी लोग 'आत्मा नष्ट होता है, इस रूप से यथार्थ आत्मा को नहीं देखते हैं । वे अनात्मा में ही आत्मा का अवलोकन करते हैं, इसलिए अपनी आत्मा को अनात्म देहादिरूप नहीं देखते ॥ ८ ॥

अर्जुन ने कहा—मेरे समान मूढ का भी सम्मान करनेवाले हे त्रिजगन्नाथ, ऐसी परिस्थिति में देह का नाश हो जानेपर भी मूर्खों की कोई प्रियतम वस्तु नष्ट तो नहीं हुई ॥ ९ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे महाबाहो ! ठीक वैसा ही है जैसा तुम कह रहे हो, कहीं किसी का कुछ नष्ट नहीं होता है, क्योंकि जब आत्मा अविनाशी आत्मा ही है, तब भला उसका कहाँ क्या विनष्ट हो सकता है ? ॥१०॥

जैसे असत् वन्ध्या-स्त्री के पुत्र को नहीं देखता है वैसे ही यह नष्ट हुआ और यह प्राप्त हुआ, इत्यादि मूढ-व्यवहारों को मैं असत् मोहभ्रम के सिवा सद्रूप नहीं देखता है अर्थात् जैसे स्वप्न में भी पुत्रमरण और पुत्रजन्म के भ्रम से अनर्थत्व और अर्थत्व व्यवहार देखा जाता है, वैसे ही मूढों को भी भ्रम से व्यवहार होता है ॥ ११ ॥

सत् से विलक्षण असद्रूप इस जगत् का अस्तित्व नहीं हो सकता और सत्स्वरूप ब्रह्म का असत्त्व नहीं हो सकता है । इस प्रकार सत् और असत् इन दोनों के विषय में सत् सत् ही है और असत् असत् ही है, विपरीत नहीं यह तत्त्वदर्शियों ने निर्णय किया है ॥ १२ ॥

जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस सूक्ष्मतम वस्तु को तुम अविनाशी समझो । इस अविनाशी वस्तु का कोई भी विनाश नहीं कर सकता है ॥ १३ ॥

हे भारत ! परिच्छेदशून्य, अप्रमेय और नित्य शरीरी आत्मा के ये शरीर अनित्य कहे गये हैं, इसलिए तुम युद्ध करने के लिए तैयार हो जाओ ॥ १४ ॥

आत्मा एक है, और द्वैत नहीं ही है; अतः असत् की उत्पत्ति कहाँ से हो सकती है । सत् का नाश नहीं होता, इसलिए यह सद्रूप परमात्मा विनाशशून्य और अनन्त है ॥ १५ ॥

द्वित्व और एकत्व का अर्थात् कारण और कार्य का परित्याग कर देने पर जो सत् (कारण) और असत्

अर्जुन उवाच

तन्मृतोऽस्मीति भगवन्! किंकृता तु नृणां स्थितिः।
कथं स्थितौ च लोकानां तौ स्वर्गनरकौ प्रभो! ॥१७॥

श्रीभगवानुवाच

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
एतत्तन्मात्रजालात्मा जीवो देहेषु तिष्ठति ॥ १८ ॥
स कृष्यते वासनया रज्ज्वेव पशुपोतकः।
स तिष्ठति शरीरान्तः पञ्जरे विहगो यथा ॥ १९ ॥
स कालदेशतो देहाज्जर्जरत्वमुपागतात्।
वासनावशतो याति प्लक्षपर्णाद्रसो यथा ॥ २० ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाऽऽशयात् ॥ २१ ॥

(कार्य) के मध्य में अधिष्ठानरूप सन्मात्र जो शेष बच जाता है, शान्तस्वरूप वह यहाँ परमपद आत्मा है ।।१६।।

अर्जुन ने कहा—हे भगवन्! तब तो 'मैं मृतक हूँ' इस प्रकार मनुष्यों की मरणदशा किस हेतु से प्राप्त होती है? और हे प्रभो! उस स्थिति में प्रसिद्ध स्वर्ग और नरक सुख और दुःख लोगों को कैसे होते हैं? ।। १७ ।।

श्रीभगवान् ने कहा—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन और बुद्धि—इनसे युक्त तन्मात्राओं क समूह स्वरूप ही जीव देहों में स्थित रहता है। अर्थात् पाँच भूतमात्राओं से निर्मित, मन, बुद्धि आदि से घटित व्यष्टिसमष्टिरूप स्थूल-सूक्ष्मभूत देहों में तादात्म्यापत्ति वही उस परमात्मा का जीवभाव है और वही जन्म-मरण एवं सुख-दुःखादि रूप भ्रम की स्थिति में निमित्त है ।। १८ ।।

जैसे रस्सी से बछड़ा। वैसे ही वह जीव वासना से इस तरह खींचा जाता है, वह शरीर के अन्दर वैसे ही बैठा रहता है, जैसे पिंजड़े में पक्षी ।। १९ ।।

जैसे देश और काल से जर्जर हुए पाकर के पत्ते से रस निकल जाता है वैसे देश और काल से जर्जर हुए शरीर से यह जीव वासना लेकर उस तरह निकल जाता है ।। २० ।।

जैसे फूलों से गन्ध लेकर वायु अन्यत्र चला जाता है वैसे ही कान, आँख, त्वचा, जिह्वा और नाक—इन इन्द्रियों को लेकर पूर्व शरीर से दूसरे शरीर में जीव उस तरह चला जाता है ॥ २१ ॥

इसका स्थूल-शरीर भी एकमात्र वासनारूप ही है

वासनावत्त्वमेवाऽस्य देहो नेतरयुक्तिजः।
क्षीयते वासनात्यागे क्षीणे भवति तत्पदम् ॥ २२ ॥
वासनावान् परापुष्टो भूत्वा भ्राम्यति योनिषु।
जीवो भ्रमभराभारो मायापुरुषको यथा ॥ २३ ॥
अक्षस्वभावानखिलाञ्छरीराद्वासनावशः।
जीवो गृहीत्वा संयाति पुष्पाद्गन्धमिवाऽनिलः ॥ २४ ॥
देहो निस्पन्दतामेति जीवे कौन्तेय निर्गते।
निस्पन्दावयवाभोगः शान्तवात इव द्रुमः ॥ २५ ॥
अचेष्टं छेदभेदादिदोषैरायात्यदृश्यताम्।
मृत इत्युच्यते तेन देहो विगतजीवितः ॥ २६ ॥
स जीवः प्राणमूर्तिः खे यत्र यत्राऽवतिष्ठते।
तं तं स्ववासनाभ्यासात् पश्यत्याकारमाततम् ॥ २७ ॥

अर्थात् केवल वासना से ही उत्पन्न हुआ है, अन्य किसी दूसरे कारण से नहीं। अतएव वासना का त्याग होनेपर वह क्षीण हो जाता है और उसके क्षीण हो जानेपर वह स्वयं ही परमपदरूप हो जाता है ।। २२ ।।

यह वासनावेष्टित जीव आत्मभूत अन्नपानादि से ही परिपुष्ट होकर अथवा लिङ्गदेह में अवच्छेद और प्रतिविम्ब भाव से द्विगुणित प्रवेश से परमात्मा द्वारा परिपुष्ट होकर अनेक भ्रमों का भार ढोता हुआ अनेक योनियों में वैसे ही भ्रमण करता है; जैसे माया से जादूगर आकाश में भ्रमण करता है ।। २३ ।।

यह वासनावेष्टित जीव श्रोत्र आदि की सम्पूर्ण शब्दादि-ग्रहणशक्तियों को लेकर वैसे ही इस शरीर से नूतन शरीर में जाता है, जैसे पुष्प से गन्ध लेकर वायु स्थानान्तर में जाता है ।। २४ ।।

हे कौन्तेय! जैसे वायु के शान्त हो जानेपर स्पन्दन-शून्य अपनी शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार से युक्त वृक्ष कम्पनशून्य हो जाता है वैसे ही शरीर से जीव के निकल जानेपर देह उस प्रकार एकदम कम्पनशून्य हो जाती है ।। २५ ।।

छेदन, भेदन आदि दोषों से चेष्टारहित होकर जीव-रहित शरीर जब अदृश्य हो जाता है तब वह 'मृतः' मर गया कहा जाता है ।। २६ ।।

वह प्राणस्वरूप जीव चिदाकाश या भूताकाश में देह, देश, काल, भोग्य आदि जिस भोगजनक अदृष्ट से उद्भूत हुई वासना से युक्त होता है; विस्तृत उस-उस आकार का अपनी वासना के अभ्यास से अवलोकन किया करता है ।। २७ ।।

अयं देहो हि जीवेन त्वसन्नेवाऽवलोकितः ।
अस्य नाशे त्वमप्येवं पश्य मा वा सुषुप्तवत् ॥ २८ ॥
यथैव पश्यस्याकारांस्तेषां नाशांस्तथैव सः ।
आदिसर्गे भावनया किलैष्वेवं विभावतः ॥ २९ ॥
झटित्युद्भवकाले हि यद्यथा दृश्यते पुरा ।
आनिपातं तदेवाऽस्या अविनाभाविसंविदः ॥ ३० ॥
प्राक्तनं वासनामूलं पुरुषार्थेन जीयते ।
यत्नेनाऽद्यतनेनाऽऽशु ह्यस्तनायतनं यथा ॥ ३१ ॥
य एव पुरुषार्थेन दृष्टो बलवता क्षणात् ।
पूर्वोत्तरविशेषांशः स एव जयति स्फुटम् ॥ ३२ ॥
अपि स्फुटति विन्ध्याद्रौ वाति वा प्रलयानिले ।
पौरुषं हि यथाशास्त्रमतस्त्याज्यं न धीमता ॥ ३३ ॥

जीव द्वारा मिथ्यारूप यह शरीर देखा जाता है; इसलिए देहनाश को भी तुम उसी तरह असद्रूप देखो। अथवा सुषुप्त पुरुष की तरह उसे मत देखो अर्थात् जैसे सुषुप्त पुरुष कुछ भी नहीं देखता है; वैसे ही तुम भी देह, देहनाश उसकी असत्यता आदि कुछ भी न देखो ॥ २८ ॥

सृष्टि के आरम्भ में चतुर्मुख ब्रह्माजी ने इन गौ, अश्व आदि आकार वाले पदार्थों में पूर्वसृष्टियों के अनुभवों से जनित वासना द्वारा ही विभावनावश इस तरह के रूपों की केवल कल्पना ही की है, मिट्टी और दण्ड लेकर कुम्हार की तरह किसी का निर्माण नहीं किया है, यह पुराणों में प्रसिद्ध है। वह जिस तरह इनके रूपों की कल्पना करता है, उसी तरह उनके नाशों की भी कल्पना करता है ॥ २९ ॥

उत्पत्ति-काल में प्रथम क्षण में देह, घट आदि का आकार मिथ्याभूत या सत्यभूत सामने जो दीख पड़ता है, वह विनाशपर्यन्त उसी तरह का रहता है, किसी दूसरी तरह का नहीं; क्योंकि अधिष्ठानभूत यह संवित् जो जिस तरह की वस्तु उत्पन्न हुई हो, उसकी उसी तरह की स्थिति में हेतु है और संवित् के सिवा उनकी सत्ता भी नहीं रह सकती ॥ ३० ॥

जैसे आज के प्रायश्चित्त आदि प्रयत्नों से गत दिन का अधर्मानुष्ठान बाधित हो जाता है अथवा आज के दाहरूप प्रयत्न से गत दिन में निर्मित तृण-गृह नष्ट हो जाता है, वैसे ही पहले का वासनारूपी मूल पुरुषार्थ से श्रवण, मनन आदि पुरुष प्रयत्नों से जनित ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति से बाधित हो जाता है, अर्थात् अशुभ वासनाओं से कल्पित देहादि आकार का शुभ वासनाओं के अभ्यास से जनित ब्रह्माकारवृत्ति से समूल विनाश ही उसके वासनामय होने का फल है ॥ ३१ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों में कोई एक पुरुषार्थ 'मेरे लिए यही पुरुषार्थ आवश्यक है' इस अभिनिवेश से देखा जाता है, वही पूर्वोत्तर प्रयत्नों में अपना विशेष महत्त्व रखता है और अन्य को जीत लेता है। अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञान के लिए प्रयत्न करने वालों में 'मोक्ष' का अभिनिवेश मन्द और 'भोग' का अभिनिवेश दृढ होने से ज्ञाननिमित्त प्रयत्नों का पराभव हो जाता है ॥३२॥

विन्ध्याचल के फूटने या प्रलयकालीन झंझावात के बहने पर भी बुद्धिमान् पुरुष को शास्त्रानुसारी प्रयत्न नहीं छोड़ने चाहिए ॥ ३३ ॥

नरकस्वर्गसर्गादि वासनावशतोऽभितः ।
प्रपश्यति चिराभ्यस्तं जीवो जरठमोहधीः ॥ ३४ ॥

अर्जुन उवाच

नरकस्वर्गसर्गादिसंभ्रमेषु जगत्पते ! ।
किमस्य कारणं ब्रूहि जीवस्य जगतः स्थिते ॥ ३५ ॥

श्रीभगवानुवाच

स्वप्नोपमाना तेनेह श्रेयसे वासनाक्षयः ।
चिराभ्यासवशात् प्रौढा संसारभ्रमकारिणी ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

किमुत्था देवदेवेश ! क्षीयते वासना कथम् ।

श्रीभगवानुवाच

मौर्ख्यमोहसमुत्थाना त्वनात्मन्यात्मभावना ।
आत्मज्ञानान्महाबोधाद्विलयं याति वासना ॥ ३७ ॥

अनादि अविद्या से मूढ-बुद्धि यह जीव वासनावश अपने चारों ओर नरक, स्वर्ग, सृष्टि आदि, जो कि उसे चिरकाल से अभ्यस्त हैं, देखता रहता है ॥ ३४ ॥

अर्जुन ने कहा—हे जगत्पते ! जगत् की स्थिति में निमित्त इस जीव का स्वर्ग, नरक, सृष्टि आदि में जो भ्रमण होता है; उससे क्या कारण है ? यह आप मुझ से कहिए ॥ ३५ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—शास्त्रीय प्रयत्नों की शरण न लेकर चिरकाल के अभ्यास से प्रौढ स्वप्न-तुल्या यह वासना संसाररूप भ्रम को देने वाली है, इसलिए तत्त्व-ज्ञान के अभ्यास से समूलवासना का क्षय ही यहाँ तुम्हारे कल्याण के लिए है ॥ ३६ ॥

अर्जुन ने कहा—हे देवदेवेश ! यह वासना किससे उत्पन्न हुई अर्थात् इसका मूल क्या है और वह किस प्रकार नष्ट होती है ? ॥ ३७ ॥

भावितात्माऽसि कौन्तेय ! सत्यं विज्ञातवानसि ।
अयं सोऽहं जना एते ममेति त्यज वासनाम् ॥ ३८ ॥

अर्जुन उवाच

वासनाविलये जीवो विलीनो भवति स्वयम् ।
यो हि यत्सत्तयोच्छूनस्तन्नाशात् स विलीयते ॥ ३९ ॥
जीवे विलयमायाते देशकालान्यथाकृतौ ।
कोऽसौ भाजनतामेति जन्मनो मरणस्य च ॥ ४० ॥

श्रीभगवानुवाच

स्वयं कल्पितसङ्कल्पमात्मरूपं यदाविलम् ।
तदेव वासनाकारं जीवं विद्धि महामते ! ॥ ४१ ॥
अनायत्तमसङ्कल्पमात्मरूपं यदव्ययम् ।
प्रबोधाद्वासनामुक्तं तन्मोक्षं विद्धि भारत ! ॥ ४२ ॥
जीवन्नेव महाबाहो ! तत्त्वं प्रेक्ष यथास्थितम् ।
वासनावागुरोन्मुक्तो मुक्त इत्यभिधीयते ॥ ४३ ॥
यो न निर्वासनो नूनं सर्वधर्मपरोऽपि सः ।
सर्वज्ञोऽप्यभितो बद्धः पञ्जरस्थो यथा खगः ॥ ४४ ॥
दुर्दर्शनस्य गगने शिखिपिच्छिकेव
सूक्ष्मा परिस्फुरति यस्य तु वासनाऽन्तः ।
मुक्तः स एव भवतीह हि वासनैव
बन्धोऽनयस्य ननु तत्क्षय एव मोक्षः ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपाख्याने जीवतत्त्वनिर्णयो नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—अज्ञानस्वरूप मोह से अनात्मभूत वस्तु में आत्मभावनारूप यह वासना उत्पन्न हुई है और महाबोधस्वरूप आत्मज्ञान से तो यह (वासना) विलीन हो जाती है ॥ ३७ ॥

हे कौन्तेय ! तुम पवित्रात्मा हो चुके हो और सत्य का ज्ञान भी तुम्हें हो चुका है । अब तुम 'यह', 'वही मैं' और 'ये लोग मेरे बान्धव हैं' इत्यादि वासना को छोड़ दो ॥ ३८ ॥

अर्जुन ने कहा—जो जिसकी सत्ता से स्थित रहता है, वह उसके नाश से नष्ट होता है; अतः वासना के विलीन हो जानेपर स्वयं जीव भी विलीन हो जायगा । जीव के विलीन हो जाने पर तथा देश और काल का अन्यथारूप होने पर जन्म परमानन्द के आविर्भावस्वरूप परमपुरुषार्थ एवं मरण=आत्यन्तिक अनर्थनाश का कौन भागी होगा यहाँ पर 'जन्म-मरण' शब्द से प्रसिद्ध जन्म-मरण का ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि तत्त्वज्ञ में समूल वासना का नाश होने पर उनकी प्रसक्ति ही नहीं है ॥ ३९, ४० ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे महामते ! ब्रह्म के अपने ही कल्पित सङ्कल्प से कलुषित अविद्या से आवृत रूप को वासनाकृति जीव जानो ॥ ४१ ॥

हे भारत, दूसरे के अधीन न हुआ, तत्त्वज्ञान के कारण वासना से शून्य सङ्कल्परहित और अविनाशी आत्मरूप को तुम 'मोक्ष' जानो ॥ ४२ ॥

हे महाबाहो ! वासनारूप रज्जुबन्धन से छुटा हुआ पुरुष 'मुक्त' कहा जाता है । अतः वासना से निर्मुक्त होकर इसी वर्तमान देह में ही यथास्थित उस तत्त्व को तुम देखो ॥ ४३ ॥

जो वासना से निर्मुक्त नहीं है, भले ही वह समस्त धर्मों में परायण क्यों न हो, समस्त बाह्य विषयों का पण्डित ही क्यों न हो; फिर भी वह वैसे ही चारों ओर से बद्ध है, जैसे पिंजरे में स्थित पंछी ॥ ४४ ॥

अपनी ही माया से आच्छादित हो जाने के कारण स्वरूप-दर्शन में अयोग्य वेदान्तप्रमाण को अप्राप्त जिस परमात्मा के भीतर, आकाश में ऐन्द्रजालिक मोरपंख की तरह नाना प्रकार के भ्रमों को उत्पन्न करने वाली सूक्ष्म वासना जीव-जगद्रूप से प्रस्फुरित होती है; वही परमात्मा अधिकारी शरीर में वेदान्तशास्त्र को प्राप्त कर उदित तत्त्वज्ञान वाला हो समूलवासनारूप बन्ध से मुक्त हो जाता है । क्योंकि इस परमात्मा में समूल वासना ही बन्ध अर्थात् संसार है और उसका क्षय ही मोक्ष है ॥ ४५ ॥

इस प्रकारऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में अर्जुनोपाख्यान जीवतत्त्वनिर्णय नामक कुसुमलता का पचपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५५ ॥

५६

श्रीभगवानुवाच

इति निर्वासनत्वेन जीवन्मुक्ततयाऽर्जुन ! ।
अन्तःशीतलतामेत्य बन्धुदुःखमलं त्यज ॥ १ ॥
जरामरणनिःशङ्क आकाशविशदाशयः ।
त्यक्तेष्टानिष्टसङ्कल्पो वीतरागो भवाऽनघ ! ॥ २ ॥
प्रवाहपतितं कार्यमिदं किञ्चिद्यथागतम् ।
कुरु कार्याणि कर्माणि न किञ्चिदिह नश्यति ॥ ३ ॥
प्रवाहपतितं कर्म स्वमेव क्रियते तु यत् ।
जीवन्मुक्तस्वभावोऽयं सा जीवन्मुक्तता तथा ॥ ४ ॥
इदं कर्म त्यजामीदमाश्रयामीति निर्णयः ।
मूढस्य मनसो रूपं ज्ञानिनस्तु समा स्थितिः ॥ ५ ॥
प्रवाहपतितं कर्म कुर्वन्तः शान्तचेतसः ।
जीवन्मुक्ताः सुषुप्तस्थाः स्फुरन्त्यत्र सुषुप्तवत् ॥ ६ ॥
स्थिरां संस्थितिमायान्ति कूर्माङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो हृदि यस्य स्वभावतः ॥ ७ ॥
विश्वात्मनि तथा विश्वं कालत्रयमयोदितम् ।
अभित्ति त्रिजगच्चित्रं कुरुते चित्तचित्रकृत् ॥ ८ ॥
व्योम्नि व्योमात्मकमपि प्रस्फुटं वृत्तिवर्तिभिः ।
चित्तचित्रकरेणाऽऽदौ चित्रं चित्रं वितानितम् ॥ ९ ॥
पश्चाद्भित्तिः कृता व्योमरूपा चाऽसावहो भ्रमः ।
अपूर्वैवाऽतिमायेयं तृणकुड्यमयी शुभा ॥ १० ॥

५६

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन ! इस प्रकार वासनाशून्य जीवन्मुक्तत्वस्वरूप से तुम भीतर भीतर शीतलता=शान्ति प्राप्त कर बन्धुवधप्रयुक्त दुःख का निःशेषरूप से परित्याग कर दो ॥ १ ॥

हे पापशून्य ! जरा और मरण की शङ्का से रहित आकाश की तरह निर्मल विशाल चित्त तथा इष्ट एवं अनिष्ट विषयों के सङ्कल्पों से रहित हो तुम वीतराग हो जाओ ॥ २ ॥

सज्जनों के व्यवहार-परम्परा से प्राप्त अवश्यकर्तव्यरूप भाग्यवश प्राप्त यह युद्ध-कर्म और दूसरे आवश्यक याग, दान आदि कर्म तुम करो। उससे तत्त्वज्ञान की कुछ भी क्षति नहीं होगी ॥ ३ ॥

शिष्टव्यवहार-परम्परा से प्राप्त स्वधर्मरूप कर्म को सम्पन्न करना जीवन्मुक्तों का स्वभाव ही है; और वही जीवन्मुक्तता है ॥ ४ ॥

'यह कर्म मैं छोड़ता हूँ' और 'इस कर्म को मैं स्वीकार करता हूँ'—इस प्रकार का निर्णण तो एकमात्र अज्ञानियों के मन का स्वरूप है और ज्ञानियों की तो समान स्थिति रहती है ॥ ५ ॥

प्रवाहपतित कर्म का सम्पादक शान्तमना तथा सुषुप्त की तरह अपनी आत्मा में स्थित जीवन्मुक्त महात्मा इस व्यवहार-भूमि में सङ्कल्प-विकल्पों से रहित सुषुप्तात्मा के सदृश निर्विशेष, स्वयं ज्योति एकमात्र आत्मरूप होकर स्फुरित रहते हैं। ॥ ६ ॥

तत्त्वज्ञान से बाधित हो जाने के कारण तुच्छभूत विषयों से अनायास निवृत्त हुई जिसकी इन्द्रियाँ मन के साथ परमात्मा के अन्दर वैसे ही निश्चल स्थित (एक रसता से स्थिरता) प्राप्त करती हैं; जैसे थोड़ा भी विक्षेप होने पर कछुवे के सिर, पैर आदि अङ्ग तत्काल ही भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं, वही जीवन्मुक्त है ॥ ७ ॥

चित्तरूपी चित्रकार विश्व के अधिष्ठानभूत आत्मा के ऊपर अनन्त उन वैचित्र्यों से युक्त तीनों काल में उदित स्वभाव सम्पूर्ण त्रिजगद्रूपी चित्र का भित्ति के बिना निर्माण कर देता है ॥ ८ ॥

अज्ञान स्वरूप स्वयं एकमात्र प्रकाशन के अयोग्य चिदाभासयुक्त अन्तःकरण वृत्तिरूप बत्तियों द्वारा प्रकाशित इस अद्भुत त्रिजगद्रूप चित्र को अज्ञान रूपी आकाश में पहले-पहल चित्तरूप चितेरे ने ही इतने विशाल रूप में परिणत किया है ॥ ९ ॥

[आदिजीव हिरण्यगर्भ के समष्टि मन ने, सत्य सङ्कल्प होने के कारण, सङ्कल्प समकाल में ही यह जगद्रूप चित्र बनाया] अनन्तर उसने उस चित्र की आधार स्वरूप भित्ति करने में सर्वथा अयोग्य चित्रधारण अमूर्त आकाश की रचना की—यह महान् आश्चर्य है; इसीलिए यह भ्रम ही है। यह रचना अपूर्व और माया का भी तिरस्कार करने वाली है, तृणभित्ति के सदृश साररहित होने पर भी यह भ्रान्त दृष्टि से शुभ रूप प्रतीत होती है ॥ १० ॥

न मनागपि भेदोऽस्ति स्फुटमप्युपलब्धयोः ।
इमा या उपलक्ष्यन्ते भित्तयश्चित्तचित्रजाः ॥ ११ ॥
व्योम्नः शून्यतमा विद्धि तास्तामरसलोचन ! ।
क्षणेन चेतसि यथा भ्रान्तौ लोकक्षयोदयौ ॥ १२ ॥
आत्मा जगत्तथैवेदं सबाह्याभ्यन्तरं नभः ।
चिरन्तनमनोराज्यं यत्तस्मात् किल सत्यता ॥ १३ ॥
किन्त्वनालोकितेऽपि स्यात्सत्यं नाऽस्त्येव विभ्रमे ।
क्रमेणाऽऽलोकतः सत्यमालोकेन विलीयते ।
दृश्यमानमपि क्षामं शरदीवाऽभ्रमण्डलम् ॥ १४ ॥
चित्तचित्रकृतश्चित्रे संस्थिताश्चित्रपुत्रिकाः ।
भित्त्यभावादनाकारा बहिस्त्रिभुवनादिकाः ॥ १५ ॥

चित्र स्थलों में चित्रों की आधारभूत भित्तियाँ उन चित्रों से भिन्न प्रतीत होती हैं, परन्तु चित्तरूप चित्रकार द्वारा उत्पन्न प्रतीयमान अज्ञानाकाशरूप भित्तियाँ और चित्रों में—आधार-आधेयरूप भेद स्पष्टतः प्रतीत होने पर भी परमार्थतः उनकी चित्तस्वरूपता होने के कारण—परस्पर कुछ भी भेद नहीं है ॥ ११ ॥

हे कमलनयन ! जैसे स्वप्न में क्षणमात्र में चित्त में होने वाले तीनों लोकों के नाश और उदय शून्य है वैसे ही वे मानसिक चित्र-रचनाएँ आकाश से भी बढ़कर रूप हैं अर्थात् अत्यन्त असत् हैं, यह तुम जानो ॥ १२ ॥

आत्मा, मन और उसका कार्य बाह्य और आभ्यन्तर यह सब जगत् स्वप्न की तरह शून्य है अर्थात् असत् ही है । यह सब चिरकालिक अर्थात् मनोराज्य है इसकी दीर्घ काल तक अनुवृत्ति होती है, इसलिए लोगों को इसमें सत्यत्व की प्रतीति होती है । 'किल' शब्द 'यह तत्त्व नहीं है' यह सूचित करता है ॥ १३ ॥

भ्रान्ति कल्पित पदार्थों में जिस सत्यसङ्कल्पता का तीनों काल में अभाव है, अर्थात् वह तत्त्वतः क्या अदृष्ट-दशा में तत्त्वज्ञान के पहले कभी रह सकती है ? जो वसन्तादि कालक्रम से, बाल्यादि अवस्था क्रम से अथवा छः प्रकार के भाव विकार-क्रम से देखने पर अर्थ-क्रिया सामर्थ्यरूप या और कोई दूसरा प्रसिद्ध व्यावहारिक सत्यत्व उनमें भासमान है, वह तत्त्वज्ञान रूप आलोक से वैसे ही नष्ट हो जाता है; जैसे सूर्य के प्रकाश से दिखाई दे रहा शरत् काल का मेघमण्डल उसी से सूखकर नष्ट हो जाता है ॥ १४ ॥

चित्तरूपी चितेरे के चित्र में अवस्थित त्रिभुवन आदि विचित्र पुतलियाँ आधारभूत भीत के न रहने से बाहर आकार रहित ही हैं ॥ १५ ॥

न ताः सन्ति न वाऽसि त्वं किं केन परिरोध्यते ।
रोध्यरोधकसंमोहं त्यक्त्वा खे विमलो भव ॥ १६ ॥
प्रवृत्तिरेव न व्योम्नः प्रवृत्तिश्चैव खात्मिका ।
अतः कालक्रियाकुड्यकलादिविमलं नभः ॥ १७ ॥
चित्तसंस्थं यथा चित्रं सरूपमखिलात्मकम् ।
व्योम्नः शून्यतमं विद्धि तथेदमखिलं जगत् ॥ १८ ॥
चित्तभित्तौ कृतं चित्रं यच्चिच्चित्रकरेण तत् ।
सर्वशून्यतया व्योम्नो मनागपि न भिद्यते ॥ १९ ॥
यथा प्रकचतश्चित्ते जगन्निर्माणसंक्षयौ ।
क्षणेनैव तथैवेमौ भुविस्थाविति विद्धि हे ! ॥ २० ॥
अद्य क्षीणा मनोराज्ये नानाऽनुभवनात्मनि ।
क्षणभावितमोहेन कल्पना परिकल्पिता ॥ २१ ॥

वास्तव में न तो उनका अस्तित्व है और न तुम्हारा ही अस्तित्व है; इसलिए कौन किससे मारा जाता है ? अतः नाश्य-नाशक का मोह छोड़कर तुम निर्मल बनकर ब्रह्मपद में स्थिर हो जाओ ॥ १६ ॥

चिदाकाश में वधादि की प्रवृत्ति ही नहीं है । कहीं जो प्रातिभासि की प्रवृत्ति है, वह भी ब्रह्माकाशरूप ही है; इसलिए काल, क्रिया, जगद्रूपभित्ति और उस पर चित्र बनाने की कला आदि सब कुछ निर्मल ब्रह्म ही है ॥ १७ ॥

सामने दिखाई दे रहा यह जगत् भी आकाश से भी बढ़कर वैसे ही शून्यरूप है जैसे एकमात्र चित्त में रहने वाला मनोराज्यरूप चित्र समस्त प्रपञ्चस्वरूप होता हुआ भी वास्तव में शून्यस्वरूप होने से असत् ही है; यह तुम जानो ॥ १८ ॥

तत्त्वतः अपरिचित आत्म चैतन्यरूपी चित्रकार के द्वारा चित्तरूप भित्ति के ऊपर रचित चित्र सर्वांश से शून्य होने के कारण असदाकाश से तनिक भी भिन्न नहीं है ॥ १९ ॥

ये चित्तात्मक भू-भित्ति के ऊपर अज्ञात चिति द्वारा चित्रित जगत् के निर्माण और विनाश क्षण भर के लिए वैसे ही प्रतीत होते हैं, जैसे चित्त में मनोराज्य के जगत् का निर्माण और विनाश क्षण भर में ही हो जाता है, यह तुम जानो ॥ २० ॥

मनोराज्य में क्षणिक मोह से अनेक तरह के विषयानुभव वाले परिकल्पित वध्यघातकभावादिरूप तुम्हारी कल्पना आज ही मेरे उपदेश से क्षीण हो जाती है ॥ २१ ॥

असदेव मनोराज्यं कर्तुं शक्तं यथा मनः ।
क्षणस्य कल्पीकरणे तथैव बलवन्मनः ॥ २२ ॥
क्षणं कल्पीकरोत्येतत् तच्चाऽल्पं कुरुते बहु ।
असत् सत्कुरुते क्षिप्रमितीयं भ्रान्तिरुत्थिता ॥ २३ ॥
क्षणेनैव मनोराज्यं प्रतिभातं स्वभावतः ।
यद्विचित्रात्म तदिदं जगज्जालमिति स्थितम् ॥ २४ ॥
सर्गे निर्वाणनिष्ठत्वान्निमेषमयमुत्थितम् ।
प्रतिभामात्रतोऽत्रैव कल्पिता वज्रसारता ॥ २५ ॥
प्रतिभासविपर्यासमात्रं ह्यविदिताकृतेः ।
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा कैव सा वज्रसारता ॥ २६ ॥
चित्तचित्रकृतश्चित्स्थं जगच्चित्रं कदा स्थितम् ।
अकुडचमप्यरङ्गाढचमिदं स्फारमिवाऽग्रतः ॥ २७ ॥

क्षणरूप काल को कल्प बनाने में भी वह (मन) अपने में वैसे ही शक्ति रखता ही है जैसे असत् मनोराज्य का निर्माण करने के लिए मन अपने में शक्ति रखता है ॥ २२ ॥

क्षण को कल्प कर देता है और असत् को उत्पन्न कर देता है—यह जो मन के विषय में आश्चर्य है, वह तो बहुत ही थोड़ा है; उससे भी बढ़कर आश्चर्य यह है कि वह असत् जगत् को भी शीघ्र सद्रूप कर देता है ! इस लिए यह जगद्रूप भ्रान्ति इस प्रकार के आश्चर्य पैदा करने वाले मन की सामर्थ्य से ही उत्पन्न हुई है ॥ २३ ॥

क्षणभर के लिए ही अज्ञानवश जो यह चित्र-विचित्र स्वरूप प्रतीत मनोराज्य दृश्यमान इस प्रपञ्च-जाल के रूप से स्थित है ॥ २४ ॥

ज्ञानियों की दृष्टि में स्वतः नित्यमुक्त आत्मा में अध्यस्त, एकमात्र कल्पना से उत्पन्न प्रतीतिकाल मात्र स्थायी यह तुच्छ जगत् क्षणिक ही है; इसी क्षणिक जगत् में इसके वास्तविक स्वरूप से अपरिचित अज्ञानी लोगों ने दुरुच्छेदता की कल्पना की है ॥ २५ ॥

यह जगत् अज्ञाततत्त्व आत्मा का एकमात्र अन्यथा प्रतिभास है, इसलिए इस तरह के जगत् के आरोप या बाध में भला कौन-सी कठिनाई है ? अर्थात् वज्रसार न होने के कारण उसके उच्छेद में क्या कष्ट है कोई है ही नहीं ॥ २६ ॥

चिति में अध्यस्त चित्तरूप चित्र-निर्माता का जगद्रूप यह चित्र किस समय स्थित रहता है ? यह महान् आश्चर्य है कि अपनी आधारभूत भित्ति से रहित, चित्र के साधन भूत नील, पीत आदि रङ्ग-द्रव्यों से शून्य तह जगत्-चित्र सामने विस्तृत-सा दिखाई दे रहा है ॥ २७ ॥

अहो नु चित्रं निर्भित्ति चित्रमुज्ज्वलमुत्थितम् ।
सुरञ्जनं जगदिति स्फुटं दृष्टिविलोभनम् ॥ २८ ॥
नानातमोमषीलेखं नानातेजोंशुरञ्जनम् ।
नानाकल्पाङ्गवयवं नानारागानुरञ्जितम् ॥ २९ ॥
नानादृष्टिविलासाढचं नानानुभवलोचनम् ।
नानाग्रहोग्रकचनं नानाकाराग्रपश्चिमम् ॥ ३० ॥
व्योमनीलसरःफुल्लताराचन्द्रार्कपङ्कजम् ।
विचित्ररचनोद्युक्तमेघालीपत्रमञ्जरि ॥ ३१ ॥
प्रकोष्ठकाभिलिखितसुरासुरनृपुत्रिकम् ।
परमालोकमङ्कोलयुवताकाशकुडचकम् ॥ ३२ ॥
आकाश एव रचिता प्रतिभैकरङ्गा
मुग्धा जगत्त्रयमनोहरपुत्रिकेयम् ।

अहो, अत्यन्त आश्चर्य है कि यह उज्ज्वल चित्र भी आधार के बिना ही उत्पन्न होकर सामने दिखाई दे रहा है ! यह जगद्रूप चित्र भलीभाँति लोगों का अनुरञ्जन करने वाला है, और दृष्टि, मन आदि को भी लुभाने वाला है ॥ २८ ॥

यह अनेक प्रकार के तमरूपी स्याही से लिखा गया है और नाना प्रकार के तेजःकिरणों से सुहावना है। यह नाना कल्प और उनके अङ्गभूत युग आदिरूप अवयवों से युक्त है तथा नाना प्रकार की अभिलाषाओं से रँगा गया है ॥ २९ ॥

यह नाना प्रकार के दृश्यों के विलासों से परिपूर्ण है, अनेक अनुभवरूप नेत्रों से समन्वित है तथा अनेक प्रकार के ग्रहों से अत्यन्त चमक रहा है। सूर्योदय और सूर्यास्त आदि कालों में इसकी पूर्व और पश्चिम दिशाएँ नाना आकारों से युक्त होती हैं ॥ ३० ॥

इसमें आकाश रूप नील सरोवर में खिले हुए तारे, चन्द्र एवं सूर्य रूप कमल हैं। इस जगद्रूप चित्र में शरद् आदि कालभेदों द्वारा विचित्र रचनाओं से ऊपर सुशोभित मेघपङ्क्तिरूप पत्ते और मञ्जरियाँ लगी हुई हैं ॥ ३१ ॥

इसके त्रिभुवनात्मक चित्रकोष्ठ-भेदों में चारों ओर देव, असुर, मनुष्य आदिरूप पुतलियाँ लिखी गई हैं। परम उत्कृष्ट सूर्य, चन्द्र आदि के आलोक स्वरूप सुधा लेप से तरुण की तरह विराजमान आकाश रूप भित्तियों से यह समन्वित है ॥ ३२ ॥

कामुक चित्तरूप इस चितेरे ने अधिष्ठानभूत ब्रह्मा-

चिन्मात्रचक्रपरिरञ्जितसर्वलोका
लीलाकुला चपलचित्तकचित्रकर्त्री ॥ ३३ ॥
हेमाचलाङ्गलतिका घनकेशपाशा
चन्द्रार्कलोचनविचालनदृष्टलोका ।
धर्मार्थकामविनियन्त्रितशास्त्रवस्त्रा
पातालजालचरणोन्नभूनितम्बा ॥ ३४ ॥
ब्रह्मेन्द्ररुद्रहरिबाहुचतुष्टयोग्रा
सत्त्वावृतोन्नतकुचस्फुरदङ्गयष्टिः ।
सुव्यालवेष्टितमहीतलपद्मपीठा
पत्रीकृताऽचलमहाभुवनोदरी च ॥ ३५ ॥
रात्र्यन्धकारचपलत्वहराक्षिचेष्टा
ताराकरालपुलका पविदन्तपङ्क्तिः ।
चञ्चच्चतुर्दशविधातुलभूतजात-
रोमाञ्चना प्रलयवादकदम्बपुष्पा ॥ ३६ ॥
जीवान्विता गगन एव कृता विचित्रा
व्योमात्मिकाऽचिरविलक्षणचित्रकर्त्री ।
चित्तेन चित्रपरिकर्मविदा त्रिलोकी
नानाविलासवलिता वरपुत्रिकेति ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
अर्जुनोपाख्याने चित्तवर्णनं नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

काश में ही इस जगद्रूपी मुग्ध मनोहर नटी का निर्माण किया है। इस नटी की मुख्य नृत्यशाला प्रतिभा—नव-नवोन्मेषशालिनी बुद्धि ही है, नृत्यशाला में दीपक का कार्य कर रहे साक्षिचैतन्य के प्रतिविम्ब से युक्त और चक्र की तरह परिभ्रमणशील बुद्धिवृत्ति रूप आभूषणों से इसने समस्त लोकों को प्रकाशित किया है और यह नृत्य, हाव, भाव, विलास आदि लीलाओं में सदा व्यस्त रहती है ॥ ३३ ॥

सुवर्णमय ब्रह्माण्ड ही इस नटी की दृढ अङ्गलतिका—शरीरलता है, मेघ ही इसके नटी के केशपाश हैं तथा चन्द्र और सूर्य रूपी नेत्रों के सञ्चालन से यह सम्पूर्ण लोकों का अवलोकन करती है। धर्म, अर्थ और काम अनुकूल प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्र ही इसके दो वस्त्र हैं; इसके पाताल स्वरूप ऊरु, जानु, जङ्घा, गुल्फ, पाद, पार्ष्णी, और अङ्गुलि—इन सात अवयवों वाले दो चरण हैं और उन्नत पृथिवी ही इसका नितम्ब है ॥ ३४ ॥

ब्रह्मा, इन्द्र, शङ्कर और विष्णु—इसकी चार भुजाएँ हैं और उनसे यह समर्थ है। सत्त्वगुणरूप कञ्चुकी से ढँके हुए, उन्नत विवेक और वैराग्य स्वरूप दो कुचों से इसकी देह शोभायमान है; शेष आदि से वेष्टित पृथिवी तल ही इसका पद्माकार पीठ है तथा गोरोचन, कस्तुरी आदि नानाविध वर्णों से पत्र-रचना के स्थान रूप बनाये गये मेरु, अञ्जन, हिमालय आदि नानावर्ण वाले पर्वतों से युक्त महाभुवन मध्यलोक ही इस नटी का उदर है ॥ ३५ ॥

इस त्रिलोकी नटी की चन्द्र-सूर्य रूप आँखों की चेष्टाएँ रात्रि के अन्धकार की मेरुप्रदक्षिणाकरण रूप चपलता को, दूर करती हैं, तारें ही इसके घने पुलक हैं, बिजली ही इसकी दन्तपङ्क्ति है, चञ्चल और परस्पर असमान, भुवन-भेद से चौदह प्रकार के प्राणी ही इसके रोमाञ्च हैं और उन प्राणियों में प्रसिद्ध भूत, भुवन, आदि की प्रलय-कथाएँ ही—चारों ओर सद्बुद्धिरूप केसरों को और श्रोताओं के लिए वैराग्य, सद्वासना रूप सौगन्ध्य को प्रसारित करने के कारण—इसकी पैरतक लटकने वाली कदम्ब-माला के फूल हैं ॥ ३६ ॥

यह समष्टि और व्यष्टिरूप जीव से समन्वित अद्भुत आकाश के समान शून्यरूप है और नाना प्रकार के विलासों से वेष्टित भी है। पूर्व वर्णित त्रिलोकीरूप इस श्रेष्ठ चित्रमयी नटी का चित्र के उपकरणभूत विचित्र वासना, काम एवं कर्मों को प्राप्त शीघ्र ही अद्भुत चित्रों का निर्माण करने में समर्थ चित्तरूप चित्रकार ने अपने अधिष्ठानरूप चिदाकाश में ही चित्रण किया है ॥ ३७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
अर्जुनोपाख्यान में चित्तवर्णन नामक कुसुमलता का छप्पनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५६ ॥

५७

श्रीभगवानुवाच

इदं विद्धि महाश्चर्यमर्जुनेह हि यत् किल।
पूर्वं सञ्जायते चित्रं पश्चाद्भित्तिरुदेति हि॥ १॥
अभित्तावुत्थिते चित्रे दृश्यते भित्तिरातता।
अहो विचित्रा मायेयं मग्नं तुम्बं शिला प्लुता॥ २॥
चित्तस्थचित्रसदृशे व्योमात्मनि जगत्त्रये।
व्योमात्मनस्ते किमियमहन्ताव्योमतोदिता॥ ३॥
सर्वं व्योम कृतं व्योम्ना व्योम्नि व्योम विलीयते।
भुज्यते व्योमनि व्योम व्योम व्योमनि चाऽऽततम्॥४॥
वेष्टितं वासनारज्ज्वा दीर्घसंसृति दामवत्।
वासनोद्वेष्टनेनैव तदिहोद्वेष्टयतेऽर्जुन!॥ ५॥
प्रतिबिम्बं यथाऽऽदर्शे तथेदं ब्रह्मणि स्वयम्।
अगम्यं छेदभेदादेराधारानन्यतावशात्॥ ६॥
अनन्यच्छेदभेदादि ब्रह्मणि ब्रह्मणाऽम्बरम्।
किं कथं कस्य केनैव च्छिद्यते वा क्व भिद्यते॥ ७॥
तेनेह वासनाभावो बोधात् संपन्न एव ते।
यो न निर्वासनो नूनं सर्वधर्मपरोऽपि सन्।
सर्वज्ञोऽप्यतिबद्धात्मा पञ्जरस्थो यथा हरिः॥ ८॥
यस्याऽस्ति वासनाबीजमत्यल्पं चितिभूमिगम्।
बृहत् सञ्जायते तस्य पुनः संसृतिकाननम्॥ ९॥

५७

श्रीभगवान् ने कहा——इस संसार के विषय में सबसे बढ़कर यह आश्चर्य समझो कि पहले तो निराश्रय में जगद्रूप चित्र उत्पन्न होता है और उसके बाद आधाररूप भूत, भुवन आदि विराट् भित्ति उत्पन्न होती है॥ १॥

पहले निराश्रय चित्र के उत्पन्न हो जाने पर पीछे उसकी आश्रयभूत विशाल भित्ति दीख पड़ती है—अहो! यह एक अद्भुत माया है। यह उस तरह की है, जिस तरह तुम्बी जल में डूबती हो और पत्थर की चट्टान तैरती हो॥ २॥

चित्त में स्थित चित्र के समान शून्यस्वरूप तीनों जगत् में चिदाकाशस्वरूप तुम्हें शून्यतारूप अहन्ता कैसे उदय हुई है? अर्थात् इसमें तो आश्चर्य की पराकाष्ठा हो गई है॥ ३॥

चिदाकाश से निर्मित सब कुछ चिदाकाशस्वरूप ही है, चिदाकाश में चिदाकाश के द्वारा चिदाकाश विलीन होता है, चिदाकाश में ही चिदाकाश द्वारा चिदाकाश का उपयोग किया जाता है और चिदाकाश द्वारा चिदाकाश ही विस्तृत हुआ है॥ ४॥

हे अर्जुन! जब तुम जगत् में चिदाकाशता की दृष्टि रखते हो तब तो जिसमें दीर्घ भ्रमण है, ऐसा जगद्रूप यह चित्र रज्जु की तरह फैली हुई वासनारूप रज्जु से यदि वेष्टित होता है; तो वह चिदाकाश भी इस जगत् में वासना के वेष्टन से वेष्टित होता ही है॥ ५॥

जैसे प्रतिबिम्ब अपने आधारभूत दर्पण में स्थित रहता है; वैसे ही अपने अधिष्ठानरूप ब्रह्म से भिन्न न होने के कारण छेदन एवं भेदन के अयोग्य यह जगत् भी, अपने अधिष्ठानभूत ब्रह्म में ही स्थित है॥ ६॥

अर्जुन, जब ब्रह्म में प्रतिभासित छेदन, भेदन आदि सम्पूर्ण व्यवहार और उनका विषय जगत्—ये सब ब्रह्म से अभिन्न होकर एकमात्र चिदाकाशस्वरूप ही हो गये, तब किस कर्ता या करण से किस प्रकार से किस फल के लिए किस देश या किस काल में क्या छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। अर्थात् छेदन आदि व्यवहारवाद ब्रह्म से अतिरिक्त विषयों में देखे गये हैं, इसलिए जब यह जगत् ब्रह्म से अभिन्न ही सिद्ध हो चुका है तब किसी कर्ता या करण से किसी प्रकार से किसी फल के लिए किसी देश या काल में कुछ छिन्न या भिन्न नहीं हो सकता। अतः इन वासनाओं को तुम समूल उखाड़ कर फेंक दो॥ ७॥

इस उपाय के द्वारा बोध से यहाँ पर तुम्हारी वासनाओं का भी ब्रह्मातिरिक्तरूप से अभाव सिद्ध है। जो वासना से निर्मुक्त नहीं है, भले ही वह समस्त शास्त्रीय कर्मों में परायण रहा हो और समस्त बाह्य विषयों का पण्डित हो; फिर भी उस प्रकार वह चारों ओर से अत्यन्त बद्ध है, जिस प्रकार पिंजड़े में स्थित सिंह या तोता॥ ८॥

जिसकी चित्तरूपी भूमि में अणुमात्र भी वासनारूप बीज पड़ा रहता है, अनेक अनर्थों से भरा हुआ संसाररूप जङ्गल पुनः बढ़ जाता है॥ ९॥

अभ्यासाद्धृदि रूढेन सत्यसंबोधवह्निना ।
निर्दग्धं वासनाबीजं न भूयः परिरोहति ॥ १० ॥
दग्धं तु वासनाबीजं न निमज्जति वस्तुषु ।
सुखदुःखादिषु स्वच्छं पद्मपत्रमिवाऽम्भसि ॥ ११ ॥
शान्तात्मा विगतभयोज्झितामिताशो
निर्वाणो गलितमहामनो विमोहः ।
सम्यक् त्वं श्रुतमवगम्य पावनं त-
त्तिष्ठात्मन्यपहृतिरेकशान्तिरूपः ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
अर्जुनोपाख्याने अर्जुनविश्रान्तिवर्णनं नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

अभ्यास से हृदय में रूढ़, तत्त्वज्ञानस्वरूप अग्नि से निःशेष दग्ध वासनारूपी बीज पुनः अङ्कुर-जनन की सामार्थ्य नहीं रखता है ॥ १० ॥

निःशेष दग्ध वासना-बीजों से युक्त तथा स्वच्छ मन जागतिक सुख-दुःखादि वस्तुओं में वैसे ही नहीं डूबता, जैसे पानी में कमल का पत्ता ॥ ११ ॥

तुम असंख्य आशाओं को छोड़ते प्रसिद्ध और पवित्र भगवद्गीतारूप मेरे उपदेश को भली-भाँति समझ कर महान् मोह से शून्यमान और बन्धु-वधादि क्लेशों से रहित हो वासना रहित आत्मा में चित्त का विलय कर शान्त ब्रह्मस्वरूप हो भयशून्य एवं परम निर्वृत होकर स्थित रहो ॥ १२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
अर्जुनोपाख्यान में अर्जुनविश्रान्तिवर्णन नामक कुसुमलता का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५७ ॥

५८

अर्जुन उवाच
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ! ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ १ ॥
श्रीभगवानुवाच
वृत्तयो यदि बोधेन संशान्ता हृदये स्फुटम् ।
तच्चित्तं शान्तमेवाऽन्तर्विद्धि सत्त्वमुपागतम् ॥ २ ॥
अत्र तच्चेत्यरहितं प्रत्यक्चेतननामकम् ।
यत्त्वशेषविनिर्मुक्तं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ॥ ३ ॥
न केचन विदन्त्येते तत्पदं जागतादयः ।
भूतलाद् गगनोड्डीनं विहङ्गमिवोन्नतम् ॥ ४ ॥
प्रत्यक्चेतनमाभासं शुद्धं सङ्कल्पवर्जितम् ।
अगम्यमेनमात्मानं विद्धि दूरं दृशामिव ॥ ५ ॥
सर्वातीतं यदत्यच्छं विना शुद्धं स्ववासना ।
न शक्नोति पदं द्रष्टुं जनदृष्टिरणूनिव ॥ ६ ॥

५८

अर्जुन ने कहा—हे अच्युत ! तुम्हारे प्रसाद से वासना-सहित अज्ञान नष्ट हुआ। भूले हुए कण्ठस्थ हार की तरह स्वतः सिद्ध आत्मतत्त्व का साक्षात्कार मैंने पाया। और उससे सम्पूर्ण सन्देहों के बीजों का नाश होने के कारण बन्धुवध आदि के कर्तव्यता विषयक सन्देह से रहित हो मैं स्थित हूँ। अतः तत्त्व में अवस्थिति करना और यथा प्राप्त व्यवहारों को करना—इस विषय में आपका जो आदेश है, उसका मैं पूर्णतया पालन करूँगा ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—तत्त्वज्ञान से तुम्हारे हृदय में रागादि वृत्तियाँ यदि सर्वथा शान्त हो चुकी हैं तो सवासनात्मक चित्त भी भीतर शान्त होकर निर्वासनता को प्राप्त हो गया है यह तुम जानो। विषयसुखेच्छा जो कि तत्त्वज्ञान से पूर्व विद्वान् के हृदय में स्थित हैं, जब सर्वत्र स्वात्मदृष्टि से क्षीण हो जाते हैं; तब मनुष्य मुक्त हो जाता है और इस शरीर में ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ २ ॥

इस वासनाशून्य सत्त्वावस्था में प्रत्यक्चेतननामक ब्रह्म विषयों से रहित व्यवहार में सर्वस्वरूप और परमार्थ में सर्वतः अशेष-विशेषों से विनिर्मुक्त रहता है ॥ ३ ॥

जैसे भूमि से आकाश में उड़कर दूर-देश में प्राप्त पक्षी को इन्द्रियाँ और अज्ञानी नहीं जाग पाते हैं, वैसे ही प्रत्यगात्मा के पद को ये चक्षु आदि इन्द्रियाँ और अज्ञानी लोग कोई भी नहीं जान पाते हैं ॥ ४ ॥

महाभूत आदि तेरह प्रकार के क्षेत्रों के अवभासक, शुद्धस्वरूप, सङ्कल्प शून्य निर्विषय इस प्रत्यगात्मा को इन्द्रियों से दूर के समान जानो ॥ ५ ॥

जो सर्वातीत, चित्स्वभाव होने से अत्यन्त स्वच्छ और असङ्ग होने के कारण शुद्ध उस ब्रह्मपद को, निदिध्यासननामक आत्मचिन्तन के विना अपनी वासना वैसे ही नहीं देख सकती है जैसे लोगों के नेत्र परमाणुओं को नहीं देख सकते हैं ॥ ६ ॥

यत्प्राप्तौ सर्व एवेमे क्षोणा घटपटादयः ।
वराकी वासना तत्र किं करोतु परे पदे ॥ ७ ॥
यथाऽनलगिरिं प्राप्य हिमलेशो विलीयते ।
शुद्धमासाद्य चित्तत्त्वमविद्या लीयते तथा ॥ ८ ॥
क्व वराकी रजस्तुच्छा वासना भोगबन्धनम् ।
क्व पूरितजगज्जालश्चित्तत्त्वविपुलानिलः ॥ ९ ॥
तावत् स्फुरत्यविद्येयं नानाकारविकारिणी ।
यावन्न संपरिज्ञातः शुद्धः स्वात्माऽयमात्मना ॥ १० ॥
सर्वा दृश्यदृशः क्षीणाः स्वच्छतैवोदिता तथा ।
नभसीव पदे तस्मिन् स्वात्मन्यखिलपूरणे ॥ ११ ॥
समग्राकाररूपं तत् समग्राकारवर्जितम् ।
वागतीतं परं वस्तु केन नामोपमीयते ॥ १२ ॥
विषयविषविषूचिकामतस्त्वं
निपुणमहंस्थितिवासनामपास्य ।
अभिमतपरिहारमन्त्रयुक्त्या
भव विभवो भगवान् भियामभूमिः ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति गदितवति त्रिलोकनाथे
क्षणमिव मौनमुपस्थिते पुरस्तात् ।
अथ मधुप इवाऽऽसिताब्जखण्डे
वचनमुपैष्यति तत्र पाण्डुपुत्रः ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

परिगलितसमस्तशोकभारा
परमुदयं भगवन् ! मतिर्गतेयम् ।
मम तव वचनेन लोकभर्तु-
र्दिनपतिना परिबोधिताऽब्जिनीव ॥ १५ ॥
इत्युक्त्वोत्थाय गाण्डीवधन्वा स हरिसारथिः ।
अर्जुनो गतसन्देहो रणलीलां करिष्यति ॥ १६ ॥
करिष्यति क्षतगजवाजिसारथि-
द्रुतक्षरद्रुधिरमहानदीं भुवम् ।

जिसकी प्राप्ति होने पर ये घट, पट आदि सभी स्थूल पदार्थ भी नष्ट हो जाते हैं उस परमपद के विषय में विचारी परमसूक्ष्मस्वरूपा वासना क्या करे ? ॥ ७ ॥

शुद्ध चितितत्त्व को प्राप्त कर अविद्या भी वैसे ही विलीन हो जाती है जैसे ज्वालामुखी पर्वत को प्राप्त कर हिमलेश बिलकुल विलीन हो जाता है ॥ ८ ॥

कहाँ सम्पूर्ण जगत् को अपने में समा लेने वाला चितितत्त्व रूप विपुल पवन और कहाँ भोगबन्धन रूप रजःकण की तरह क्षुद्र बिचारी वासना ? ॥ ९ ॥

विविध आकार रूप विकारों वाली यह अविद्या तब तक प्रस्फुरित होती है; जब तक शुद्ध स्वरूप यह अपनी आत्मा तात्त्विक रूप से भलीभाँति जान नहीं जाता है ॥ १० ॥

अपने उदर में सम्पूर्ण विश्व को निगल जाने वाले, आकाश की तरह शून्य स्वरूप उस स्वात्मरूप ब्रह्मपद में दृश्यों की सम्पूर्ण दृष्टियाँ क्षीण हो गई हैं तथा विशुद्ध रूपता ही उदित हुई है ॥ ११ ॥

पूर्णरूप समस्त जगदाकारों से वर्जित और वाणी से परे परम वस्तु की किससे उपमा दी जा सकती है ॥ १२ ॥

तुम केवल पूर्ण आत्मा के साक्षात्कार से होने वाली कामनाओं की निवृत्तिरूप मन्त्र-युक्ति से विषयात्मक विष से उत्पन्न महामारी स्वरूप, निरन्तर प्रवृत्ति की हेतु अन्तःकरण स्थित वासना का भलीभाँति निराकरण कर संसार बन्धन से रहित तथा सम्पूर्ण अनर्थों की अभूमि अभय स्वभाव मेरे स्वरूप में ही हो जाओ ॥ १३ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार उपदेश देने के बाद त्रिलोकी के अधिपति भगवान् श्री कृष्णचन्द्र के, श्वेत-कमल में भ्रमर की तरह क्षणभर के लिए मौन धारण कर सामने स्थित हो जाने पर वहाँ पाण्डु पुत्र अर्जुन पुनः यह वचन कहेगा ॥ १४ ॥

अर्जुन ने कहा—सम्पूर्ण लोकों का भरण-पोषण करने वाले आपके वचन से भगवद् गीतारूप उपदेश से जिसका समस्त शोकभार गल गया है ऐसी मेरी यह बुद्धि, जैसे सूर्य से कमलिनी विकसित होती है वैसे परम विकसित हो गई है ॥ १५ ॥

इस प्रकार कह कर और उठकर गाण्डीव-धनुर्धारी, श्रीकृष्ण रूप सारथि वाला वह पाण्डु पुत्र अर्जुन सन्देह-रहित हो रणलीला करेगा ॥ १६ ॥

वह अर्जुन धरातल को जिनमें आहत बड़े-बड़े हाथी, घोड़े, सारथि आदि तत्काल ही बह जायँगे। ऐसी महानदियों से आक्रान्त कर देगा और आकाश को

शरोत्करप्रसरमहारजःस्थली- तिरोहितद्युमणिविलोचनां दिवम् ॥१७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपाख्याने अर्जुनकृतार्थतानाम अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

भी ऐसा बना देगा कि उसका सूर्यरूप नेत्र—बाणों के ढेरों के प्रसरणों से और बिखरी महाधूलियों से निर्मित स्थली से आच्छारित हो जायगा ॥ १७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय के निर्वाणप्रकरण में अर्जुनोपाख्यान में अर्जुनकृतार्थता नामक कुसुमलता का अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५८ ॥

५९

वसिष्ठ उवाच

एतां दृष्टिमवष्टभ्य राघवाऽघविनाशिनीम् ।
तिष्ठ निःसङ्गसंन्यासब्रह्मार्पणमयात्मकः ॥ १ ॥
यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यमात्मानं विद्धि तं परम् ॥ २ ॥
दूरस्थमप्यदूरस्थं सर्वगं तत्स्थमेव च ।
तत्स्थः सत्तामवाप्नोषि तदेवाऽस्यस्तसंशयः ॥ ३ ॥
यत्संवेद्यविनिर्मुक्तं संवेदनमनिर्मितम् ।
चेत्यमुक्तं चिदाभासं तद्विद्धि परमं पदम् ॥ ४ ॥
सा परा परमा काष्ठा सा दृशां दृगनुत्तमा ।
सा महिम्नां च महिमा गुरूणां सा तथा गुरुः ॥ ५ ॥
स आत्मा तच्च विज्ञानं स शून्यं ब्रह्म तत्परम् ।
तच्छ्रेयः स शिवः शान्तः सा विद्या सा परा स्थितिः ।६।
योऽयमन्तश्चितेरात्मा सर्वानुभवरूपकः ।
यत्र स्वदन्ते सर्वाणि स्वात्मद्रव्याणि सत्तया ।
स जगत्तिलतैलात्मा स जगद्गृहदीपकः ॥ ७ ॥

५९

श्री वसिष्ठजी ने कहा—हे राघव ! मेरे द्वारा कही जाने वाली सम्पूर्ण पापों की विनाशक दृष्टि का अवलम्बन कर आप निःसङ्गतारूप त्वंपदार्थशोधभूत सर्वत्याग और सम्पूर्ण जगत् का ब्रह्म में बाध रूप तत्पदार्थ शोधभूत ब्रह्मार्पण—इन दोनों के बाद परिशिष्ट अखण्ड महावाक्य के तात्पर्य शोधभूत सच्चिदानन्दैक स्वरूप मृतात्मा होकर स्थित रहिए ॥ १ ॥

सृष्टिकाल में जिससे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, स्थिति काल में जिसमें सम्पूर्ण जगत् अवस्थित रहता है, संहार काल में जो सम्पूर्ण जगत्स्वरूप हो जाता है, जो तीनों काल में चारों ओर विद्यमान है और इस प्रकार अनित्य प्रपञ्चात्मक होता हुए भी सनातन निरतिशय ब्रह्मरूप को आप 'आत्मा' जानिए ॥ २ ॥

समस्त प्रपञ्चों से बहिर्भूत होने के कारण वह आत्मा दूरस्थ होता हुआ भी सर्वान्तिर्यामी होने से अदूरस्थ ही है, इसी तरह आकाश की तरह सर्वव्यापी होने पर भी, जातिरूप धर्म के समान, वह तत्तत् वस्तुओं में ही रहता है। जब परिच्छन्नरूप से भी उसमें स्थित हुए आप एकमात्र उसी की सत्ता से अपनी सत्ता प्राप्त करते हैं, स्वतन्त्र रूप से नहीं, तब आपको परिच्छेदाभिमान से फल ही क्या मिला ? वास्तव में अपरिच्छिन्न सन्मात्र स्वरूप ही आप हैं; अतः परिच्छेद के संशय से रहित हो जाएँ ॥ ३ ॥

विवेकी पुरुषों द्वारा चिदात्मा के अनुभूयमान दो रूप हैं—एक तो चित्त और उसकी वृत्ति में प्रतिबिम्बित विषयार्थ प्रकाशन, जो कि चित्तनिर्मित है, और दूसरा चित्त, उसकी वृत्ति और उसके विषयों के आगम, अपाय आदि सभी अवस्थाओं के साक्षिभूत संविद्रूप, जो कि नित्यसिद्ध है। वे दोनों यदि विषय और संवेद्य (त्रिपुटी) से विनिर्मुक्त हो जायँ तो परमपद ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं, यह आप जानिए ॥ ४ ॥

चेत्य एवं संवेद्य से विनिर्मुक्त संवित् की वह परा स्थिति आनन्द और उत्कर्ष की परम्परा की परम अवधि है, वही दृष्टियों में सर्वोत्तम दृष्टि है और वही महत्त्वों का परम महत्त्व है तथा वही मान्यों मे परम मान्य है ॥ ५ ॥

वही आत्मा है और वही विज्ञान है, वही शून्यस्वरूप है, वही पर ब्रह्म है, वही कल्याण है, वही शान्तस्वरूप शिव है, वही विद्या है और वही परा स्थिति है ॥ ६ ॥

चिति के भीतर समस्त अनुभव स्वरूप जो यह

स जगत्पादपरसः स जगत्पशुपालकः ।
स तन्तुर्भूतमुक्तानां परिप्रोतहृदम्बरः ॥ ८ ॥
स भूतमरिचौघानां परमा तीक्ष्णता तथा ।
स पदार्थे पदार्थत्वं स तत्त्वं यदनुत्तमम् ॥ ९ ॥
स सतो वस्तुनः सत्त्वमसत्त्वं वाऽसतः स्वतः ।
यः स्ववित्तिविचित्रेण स्वयमात्मैव लभ्यते ॥ १० ॥
सर्वं एव जगद्भावा अविचारेण चारवः ।
अविद्यमानाः सद्भावा विचारविशरारवः ॥ ११ ॥
अहमादौ जगज्जाले मिथ्याभ्रमभरात्मनि ।
को नु भूत्वाऽनुबध्नामि वृत्तिं कथमवाप धीः ॥ १२ ॥
आद्यमध्यान्तमानानि सङ्कल्पकलनान्यहम् ।

आत्मा है, जिसमें सभी अपने पदार्थ सद्रूप से आस्वादित (अनुभूत) होते हैं; वही जगद्रूप तिलों का तैलस्वरूप है और वही जगद्रूपी घर का दीपक है ॥ ७ ॥

वह जगद्रूप वृक्ष का रस अर्थात् सार है, वह जगद्रूप पशु का पालक है, और प्राणी रूप मोतियों के हृदयाकाश रूप मध्य में पिरोया गया एक प्रकार का तन्तु भी वही है ॥ ८ ॥

वह भूतरूप मरीच-समूहों की तीक्ष्णता है तथा वही पदार्थों में पदार्थत्व है। अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों का असाधारण स्वरूप है; जो सर्वोत्तम तत्त्व है, वह भी वही है ॥ ९ ॥

वही सद्वस्तुओं में विद्यमान सत्त्व (सत्यत्व) है और स्वयं वही असद्वस्तु में प्रतिष्ठित असत्त्व भी है, जो आत्मतत्त्वज्ञानरूप अलौकिक उपाय से सबको और स्वयं अपने को आत्मरूप में ही पाता है, अन्य रूप से नहीं ॥१०॥

सद्रूप परमात्मा के विकल्प रूप सभी जगद्भाव, जो कि वस्तुतः अविद्यमान ही हैं, अविचार से सुन्दर प्रतीत होते हैं और विचार से क्षीण हो जाते हैं ॥ ११ ॥

मिथ्याभूत अनेक भ्रमों से व्याप्त इस जगज्जाल में पहले शुद्ध स्वरूप मैं कौन-सा औपाधिक रूप वाला होकर आस्था करूँ ? असङ्ग एवं अद्वय स्वरूप मुझे बुद्धि रूप इपाधि भी कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥ १२ ॥

वह बुद्धि किसी तरह प्राप्त भी हो जाय; फिर भी 'उससे जनित आदि, मध्य, अन्त आदि परिच्छेद और सङ्कल्प कल्पनाएँ—आदि और अन्त से शून्य ब्रह्माकाश मैं ही हूँ, मुझसे अतिरिक्त वे कुछ भी नहीं है'। विचार करने पर ब्रह्मस्वरूप इस प्रकार मुझमें इयत्ता ही कैसी ? ॥ १३ ॥

जो पुरुष 'ब्रह्मस्वरूप मुझमें इयत्ता कैसी' इस प्रकार

ब्रह्माकाशमनाद्यन्तं कैवेयत्ता ममाऽऽत्मनः ॥ १३ ॥
इति निश्चयवानन्तः सम्यग्व्यवहृतिर्बहिः ।
उदयास्तमयोन्मुक्तस्थितिरन्तः स सर्वदा ॥ १४ ॥
नाऽस्तमेति न चोदेति मनः समसमस्थितम् ।
यस्य खस्येव शून्यत्वं स महात्मेह तद्वपुः ॥ १५ ॥
भावाद्वैतपदारूढः सुषुप्तपरया धिया ।
व्यवहार्यपि संक्षोभं नैत्यादर्शनरो यथा ॥ १६ ॥
आदर्शपुरुषस्येव व्यवहारवतोऽपि च ।
न यस्य हृदयोल्लेखो मनागपि स मुक्तिभाक् ॥ १७ ॥
अविभागमिवाऽऽदर्शे चिन्मणौ प्रतिबिम्बति ।
चितेः परमनैर्मल्याद्व्यवहारो यथाऽऽगतः ॥ १८ ॥

के अपने भीतर निश्चय से युक्त रहता है, बाहर से लोकशास्त्र के अवरुद्ध व्यवहारों से युक्त होने पर भी उसकी उस प्रकार स्थिति सर्वदा भीतर उदय एवं अस्त से विनिर्मुक्त ही रहती है ॥ १४ ॥

जिसका मन सम से भी सम ब्रह्म में लीन होकर न उदित और अस्त होता है एवं जिसकी दृष्टि में मन की आकाश के सदृश शून्यरूपता ही है वह महात्मा ही यहाँ ब्रह्मरूप है ॥ १५ ॥

एकमात्र ब्रह्मभावना से अद्वयरूप ब्रह्मपद पर आरूढ हुआ वह महात्मा सुषुप्त पुरुष की तरह सङ्कल्प-विकारों से रहित निर्विकार बुद्धि न व्यवहार करता हुआ भी वैसे क्षोभ नहीं प्राप्त करता है जैसे आदर्श स्थित मनुष्य का प्रतिबिम्ब। एकमात्र भावना से ही अद्वय ब्रह्मपद पर आरूढ हो ? व्यवहार से उस स्थिति से नहीं गिरता है

'भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित् ।
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाऽद्वैतं गुरुणा सह ॥'

सर्वदा भावना से ही अद्वैतभाव करना चाहिए, कभी भी क्रिया से अद्वैत नहीं। तीनों लोकों में अद्वैतभाव करे, परन्तु गुरु से अद्वैत न करे ॥ १६ ॥

व्यवहार सम्पन्न जिस पुरुष के हृदय में, दर्पणस्थ पुरुष की तरह थोड़े भी मानापमान से जनित सुख-दुःख नहीं होते, वह पुरुष मुक्ति का भागी हो जाता है ॥ १७ ॥

दिखाई दे रहा मनुष्यों का व्यवहार दर्पण में चिति रूप मणि में यथा प्राप्त व्यवहार भी चिति में किसी तरह का विकार न करके वैसे ही प्रतिबिम्बित होता है; जैसे किसी प्रकार का विकार न करके ही प्रतिबिम्बित होता है, क्योंकि चिति समस्त विकार मलों से वर्जित है ॥ १८ ॥

चिच्चमत्कृतिरेवेयं जगदित्यवभासते ।
नेहाऽस्त्यैक्यं न च द्वित्वं ममादेशोऽपि तन्मयः ॥ १९ ॥
वाच्यवाचकशिष्येहागुरुवाक्यैश्चमत्कृतैः ॥ २० ॥
आत्मनाऽऽत्मनि शान्तैव चिच्चमत्कुरुते चिति ।
चित्प्रस्पन्दो हि संसारस्तदस्पन्दः परं पदम् ॥ २१ ॥
चित्स्पन्दमनेनेयं परिशाम्यति संसृतिः ।
महाचित्ते नतेऽर्थोंशभावायो भावनाक्षयः ॥ २२ ॥
असन्नपि स्वभावं तत्संवित्स्पन्द उदाहृतम् ।
शून्यत्वमजडं यत्तत् परमाहुश्चितेर्वपुः ॥ २३ ॥
तत्त्वेन भावनायत्ता संसृतिः साऽनुभूयते ।
अभावनामात्रलयात् सा च निःसाररूपिणी ॥ २४ ॥
केवलं केवलीभावात्तद्रूपा सैव शिष्यते ।
चित्स्पन्दमेव संसारचक्रप्रवहणं विदुः ॥ २५ ॥

श्री राम जी, यह एकमात्र चिति का चमत्कार ही जगत्-रूप से भासमान है। इस चिति में न तो एकत्व है और न द्वित्व ही है। मेरा उपदेश भी चिन्मय है ॥१९॥

वाक्य (अर्थ), वाचक (शब्द), शिष्य, ब्रह्मेहा, गुरु और गुरुवाक्यादि स्वरूप व्याख्यान आदि कल्पना रूप चमत्कारों से आपके प्रति दिया जा रहा यह मेरा उपदेश भी चिन्मय रूप ही है ॥ २० ॥

सर्वोपद्रवों से रहित ही वह चिति अपने-आप ही अपने स्वरूपभूत चिति रूपपरिस्पन्द प्रतिबिम्बित होती है। चिति का विवर्त रूपपरिस्पन्द न होना ही मुक्तिरूप परमपद है ॥ २१ ॥

चिति के विवर्त का उपशम हो जाने पर यह संसार शान्त हो जाता है, अपरिच्छिन्न ब्रह्माकार में चित्त के एकरस हो जाने पर जीव-जगद्रूप परिच्छिन्न भावों का परम पुरुषार्थ और भावना-क्षय है ॥ २२ ॥

असद्रूप भी चितिविवर्त जड़ स्वभाव जगत् को बनाता है, इसलिए विवर्तशून्यता ही चिति का अजड़ परम चैतन्यरूप शरीर स्वरूप है—इस प्रकार अनुभवनिष्ठ महात्मा लोग कहते हैं ॥ २३ ॥

अनात्मदर्शनरूप संसार अनात्मभूत जगत् में तत्त्व-भावना के अधीन है, इसी से वह तत्त्वरूप से अनुभूत होता है, उसमें तत्त्व की एकमात्र भावना न होने से तत्त्वभावना का लय हो जाने पर जीवन्मुक्त का संसार बन जाता है, फिर वह जले हुए पट के समान बन्धन में समर्थ नहीं होता है ॥ २४ ॥

विवर्तशून्य केवल आत्मरूप बन जाने के कारण जीवन्मुक्तों को वह संसार चिद्रूप होकर ही अवशिष्ट रहता है ॥ २५ ॥

मातृमानप्रमेयादि कटकादीव हेमनि ।
पृथगस्ति न च स्पन्दश्चितेर्या संसृतिर्भवेत् ॥ २६ ॥
चित्तमेव चितिस्पन्दस्तदबोधो हि संसृतिः ।
अबोधमात्रे चित्स्पन्दः कटकत्वमिवोत्थितम् ।
बोधमात्रविलीनेऽस्मिञ्छुद्धा चिद्राम ! शिष्यते ॥ २७ ॥
स्वभावबोधमात्रेण क्षीयते भोगवासना ।
भोगाभावनमेवेह परमं ज्ञत्वलक्षणम् ॥ २८ ॥
इतो नाऽभिमताः सर्वे ज्ञस्य भोगाः स्वभावतः ।
भवन्ति कोऽतितृप्तो हि दुरन्नं किल वाञ्छति ॥ २९ ॥
एतदेव परं विद्धि ज्ञत्वस्याऽपरलक्षणम् ।
स्वभावेनैव भोगानां यत् किलाऽनभिवाञ्छनम् ॥ ३० ॥
चित्तत्स्पन्दैव सर्वात्मरूपिण्यस्तीति निश्चयः ।
योऽन्तःप्ररूढः स्वभ्यासो ज्ञत्वशब्देन स स्मृतः ॥ ३१ ॥

आत्मा के विवर्त को ही प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय आदि संसार-चक्र की परम्परा कहते हैं। चिति का स्पन्द भी चिति से वैसे ही पृथक् नहीं है जैसे सुवर्ण में कटक आदि सुवर्ण से पृथक् नहीं है, यही संसार है ॥ २६ ॥

चित्त ही चिति का विवर्त है, चितिस्वरूप का अज्ञान ही संसार है। अज्ञान-दशा में ही यह चितिस्पन्द, सुवर्ण में उत्थित कटकरूपता की तरह उत्पन्न हुआ है, अतः एक-मात्र बोध से इस चितिस्पन्द के विलीन हो जाने पर शुद्धरूपा चिति ही अवशिष्ट रह जाती है ॥ २७ ॥

स्वात्मस्वरूप के बोधमात्र से ही भोगवासना क्षीण हो जाती है। भोगवासना का विनाश होने पर अपने-आप सिद्ध हुआ विषयों का अचिन्तन ही यहाँ उत्तम जीवन्मुक्त का स्वरूप समझा है ॥ २८ ॥

आत्मतत्त्वज्ञान के प्रभाव से ही स्वभावतः तत्त्वज्ञ पुरुष को सभी विषय अभीष्ट नहीं होते; क्योंकि ऐसा कौन अत्यन्त तृप्त पुरुष है, जो अस्वादु अन्न की इच्छा करता हो ॥ २९ ॥

जीवन्मुक्तता का दूसरा असाधारण लक्षण आप इसे ही समझिए, जो स्वभाव से ही विषयों की अनभिलाषा है ॥ ३० ॥

'मेरा आत्मचैतन्य ही भोक्ता, भोग्य एवं भोगों के आकार से स्पन्दयुक्त होकर सर्वरूप में स्थित है' इस प्रकार का भीतर उत्तम अभ्यास से युक्त दृढ निश्चय है जो ज्ञत्व-शब्द से=जीवन्मुक्तत्वशब्द से कहा गया है ॥ ३१ ॥

योन भुङ्क्ते भुज्यमानानपि भोगान् स बुद्धिमान् ।
लोकानुरोधसिद्ध्यर्थं स हन्ति लगुडैर्नभः ॥ ३२ ॥
विनाकृत्रिमया बुद्ध्या न सिद्धिरवगम्यते ।
क्वचिदात्मावलोके च स्वाङ्गावदलनैरपि ॥ ३३ ॥
चिच्चेत्यं चेत्यकोटिस्था तावत् पश्यति विभ्रमम् ।
इदं यावदबोधात्मा स्पन्दते स्पन्दरूपिणी ॥ ३४ ॥
सम्यग्बोधोदयोऽन्तः स्यात्स्पन्दास्पन्ददशाक्रमः ।
क्वाऽपि याति च संशान्तदीपवत् साभिधानकः ॥ ३५॥
चितः प्रशान्तरूपाया दीपिकायाः स्वभावतः ।
स्पन्दास्पन्दमयी नेह कथैवाऽस्ति मनागपि ॥ ३६ ॥

शरीररक्षणार्थ लोगों का अनुरोध सिद्ध करने के लिए अन्न आदि विषयों का ऊपर से उपभोग करते हुए भी जो परमार्थतः उपभोग नहीं करता, वही वास्तव में तत्त्वज्ञ है और इस प्रकार लोकानुरोध-सिद्धि के लिए ऊपर से चेष्टाएँ करना मानो दण्ड से आकाश का ताडन करता है। अर्थात् आकाश ताडन सम्भव ही नहीं है एवं निष्फल भी है। तत्त्वज्ञ किसी फल के लिए कर्म नहीं करता है वरन् जीवनयात्रा के द्वारा लोक को शिक्षा देता है और कल्याण करता है ॥ ३२ ॥

कृत्रिम बुद्धि के अर्थात् 'मैं ही सर्वात्मा हूँ' इस प्रकार की सर्वात्मभावनारूप वृत्ति के बिना निरतिशय आनन्दात्मक आत्मतत्त्व नहीं प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि कृत्रिम भी सर्वात्मदर्शन परिच्छिन्न आत्मदृष्टि के निरास द्वारा तत्त्वज्ञान में उपयोगी है; अतएव वह जीवन्मुक्त के लक्षणरूप से कही गई है। कहीं पर अर्थात् शास्त्रों या विद्वानों के अनुभवों में सर्वात्मत्वदर्शन की तरह अपने अङ्गों के अवदलन आदि साहसों का भी यदि आत्मदर्शन में उपयोग प्रसिद्ध होता तो वह भी लक्षण हो सकता; परन्तु वैसी स्थिति नहीं है। 'विनाकृत्रिमया' में 'अकृत्रिमया' ऐसा पदच्छेद कर आत्मस्वरूप के आविर्भाव में अपरिच्छिन्न, आकार से शून्य ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति को छोड़कर अपने अङ्गों के छेदन, भेदन आदि के सदृश कठिनतम साहसों का कुछ भी उपयोग नहीं प्रतीत होता ऐसा अर्थ करना चाहिए ॥ ३३ ॥

इसे चिति के अज्ञान से आवृत रहने तक स्वप्रकाश्य वृत्ति आदि के वर्ग में प्रविष्ट होकर स्वयं ही स्पन्दरूप-सी होती हुई बाह्य-विषयों की ओर जाती है और विभ्रम देखती है ॥ ३४ ॥

भीतर उत्तम तत्त्वज्ञान का उदय हो जाने पर स्पन्दा-

यदस्पन्दस्य मरुतो न सन्नाऽसन्न मध्यगम् ।
रूपं तदेवाऽसंवित्तिस्पन्दायाः प्रशमं चितेः ॥ ३७ ॥
अभिन्नः स्याच्चितः स्पन्दः शुद्धचित्स्फाररूपधृक् ।
न बन्धाय न मोक्षाय स्थित आत्मनि केवलम् ॥ ३८ ॥
चिच्चेन्निरर्थसंवितिनिर्वाणे न च विन्दते ।
तद्बन्धमोक्षपक्षादेर्नामाऽपीह न विद्यते ॥ ३९ ॥
मोक्षोऽस्त्वित्येव बोधोऽन्तः पूर्णताक्षयकारणम् ।
स माऽस्त्वित्यपि बन्धस्ते श्रेयोऽसंवेदनं परम् ॥ ४० ॥
यदनाभासमजडं तद्विद्धि परमं पदम् ।
चितः स्वरूपं संस्थानमचेत्योन्मुखतात्मकम् ॥ ४१ ॥

स्पन्द-दशा का यह क्रम, शान्त दीपक की तरह अपने नाम के साथ न जाने कहाँ चला जाता है ? ॥ ३५ ॥

वास्तव में स्वभावतः प्रशान्तस्वरूप, चितिरूपा दीपिका की यहाँ स्पन्द एवं अस्पन्द रूपा कुछ भी कथा नहीं हो सकती। अश्वघोष के शब्दों में—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नाप्यनन्तम् ।
दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित्
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ ३६ ॥

स्पन्दरहित पवन का रूप न सत् है, न असत् है और न उनके मध्यग यानी अनिर्वचनीय ही है; इसे ही अज्ञान एवं स्पन्द से शून्य चिति का प्रशम अर्थात् 'मोक्ष' जानते हैं ॥ ३७ ॥

चिद्रूप चिति का यह स्पन्दन शुद्धचिति के बृहदाकार ब्रह्माकार को धारण करने पर केवल आत्मा में स्थित यह न बन्ध के लिए अर्थात् बन्ध का भागी और न मोक्ष के लिए ही अर्थात् मोक्ष का ही भागी होता है ॥ ३८ ॥

यह चिति यदि व्यर्थभूत चित्ताकार और उसकी शान्तिरूप इन दो दशाओं को प्राप्त न करे तो इसमें बन्ध, मोक्ष आदि पक्षों की नाममात्र से भी सत्ता न रहे ॥३९॥

'मुझे मोक्ष हो' यह बोध ही आत्मा की पूर्णता के नाश का साधन है और 'वह (मोक्ष) न हो' यह भी आपके बन्ध के लिए साधन है। बन्ध एवं मोक्ष का अज्ञान ही कल्याण है। (मुझे 'मोक्ष हो' इस ज्ञान से भी आत्मा की पूर्णता नष्ट होती है और 'मोक्ष न हो' इससे भी बन्ध होता है, इसलिए बन्ध और मोक्ष का स्मरण न करना ही आपके लिए कल्याणकर है) ॥ ४० ॥

स्वयं प्रकाश, चैतन्यस्वरूप, सब पदार्थों का आश्रय और विषयोन्मुखता से शून्य चिति का स्वरूप ही आप परमपद जानें ॥ ४१ ॥

यः सङ्कल्पनशब्दार्थरूपः स्पन्दो महाचितः ।
बन्धमोक्षादिकार्होऽसौ प्रेक्ष्यमाणः प्रणश्यति ॥ ४२ ॥
प्रेक्षणादेव संशान्ते त्वहंभावे निरास्पदे ।
न विद्मः केन किं कस्य बध्यते वाऽथ मुच्यते ॥ ४३ ॥
सङ्कल्प एव रचिते बुधश्चेदविभागवान् ।
तदसङ्कल्पमस्पन्दं सर्वं जातमवारितम् ॥ ४४ ॥
स्पन्दे स्पन्दमये वाते तन्मयत्वात् सदा चिता ।
संक्षीणे न च संसारो निस्पन्दे चिद्घने स्थिते ॥ ४५ ॥
चित्तेज एव चित्स्पन्द इति बुद्धे निरन्तरम् ।
व्यतिरिक्तश्चितः स्पन्दो न किञ्चिदवशिष्यते ॥ ४६ ॥
अस्मिन् दृश्यमये दीर्घस्वप्ने स्वप्नान्तरं व्रजन् ।
न ज्ञो मोहमुपादत्ते सर्वगत्वात् स्वसंविदः ॥ ४७ ॥
यत्रोदेति प्रसभमनिशं सर्गसंवित्तिसत्ता
यस्मिन्नेते सकलकलनाकारपङ्का गलन्ति ।
उद्यन्त्येते स्वदनसुभगं यत्र सर्वोपलम्भा
ध्यानेनैवं तमवगमय प्रत्यगात्मानमन्तः ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
प्रत्यगात्मावबोधो नामैकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

सङ्कल्पशब्द का वाच्यभूत महाचिति का स्पन्दन ही बन्ध, मोक्ष आदि व्यवहारों का भागी है। तत्त्वदृष्टि से देखने पर वह नष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

तत्त्वज्ञान से अहङ्कार के शान्त होने और आश्रयहीन होने पर तो मैं नहीं जानता कि किसका किससे क्या बद्ध होता एवं क्या मुक्त ही होता है ॥ ४३ ॥

विवेकी पुरुष स्वरचित सङ्कल्प में ही अविभागवान् है अर्थात् 'यह मुझसे सङ्कल्पित है और यह नहीं' इस प्रकार के पूर्वापर-विचार से विभागों को छोड़ देने पर उत्पन्न भी सङ्कल्प बाहर स्पन्दजनन में समर्थ नहीं होकर नष्ट हो जाता है; और अर्थत: यह सब अवारित असङ्कल्प और अस्पन्द रूप हो जाता है ॥ ४४ ॥

यह संसार स्पन्दमय है, इसलिए प्रबुद्ध चैतन्य के द्वारा स्पन्द एवं स्पन्दमय पवन के नष्ट हो जाने पर चिद्घन के स्पन्दरहित होकर सदा स्थित हो जाने पर तन्मूलक संसार भी नष्ट हो जाता है ॥ ४५ ॥

'चित्प्रकाश ही चिति का स्पन्द है' इस प्रकार निरन्तर ज्ञान करने पर यह जीव-जगद्रूप चितिस्पन्द चिति से अतिरिक्त होकर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है ॥ ४६ ॥

दृश्यमय इस दीर्घस्वप्नरूप संसार में जन्मान्तर आदि दूसरे स्वप्न में जा कर भी तत्त्वज्ञ अपने चलन आदि भ्रम को नहीं प्राप्त करता है, क्योंकि संविद्रूप अपना तत्त्वज्ञान सर्वगामी ही है ॥ ४७ ॥

जिसमें ये सम्पूर्ण जगत् के आकारों के अनुभव, रोक पर भी बलपूर्वक निरन्तर अपने आनन्दास्वाद से सुन्दरता पूर्ण उत्पन्न होते हैं, सम्पूर्ण ज्ञानों की स्थिति भी जिसमें उत्पन्न होती है एवं उक्त संवित्तिरूप समस्त कल्पनाओं के आकारस्वरूप पङ्क जिसमें लीन हो जाते हैं; उस प्रत्यगात्मा को आप विचार द्वारा देखिए ॥ ४८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
प्रत्यगात्मावबोध नामक कुसुमलता का उनसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५९ ॥

६०

वसिष्ठ उवाच
एवमाद्यं परं तत्त्वं चिद्घनं परमं पदम् ।
तत्स्था एते महारूपा ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
विभूतिभिः स्फुरन्त्युच्चैर्जनास्तुष्टा नृपा इव ॥ १ ॥
आकाशगमनाद्याभिः क्रीडाभिः क्रीडयते चिरम् ।
तत्स्थेनैव जनेनेह स्वर्गे स्वर्गौकसो यथा ॥ २ ॥

६०

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस तरह सबका आदि, परम तत्त्व चिद्घन ही परमपद से स्थित है। उसी परमपद में स्थित ये महान् आकार वाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि हैं ॥ १ ॥

मानुषानन्द-विभवों से परिपूर्ण सन्तुष्ट राजाओं की तरह, उन्नत विभूतियों से स्फुरित जैसे देवता लोग स्वर्ग में क्रीडा करते हैं, वैसे ही उस ब्रह्मपद में स्थित मनुष्य, गन्धर्व आदि आकाशगमन आदि क्रीडाओं से यहाँ चिरकालतक क्रीडा करते हैं ॥ २ ॥

तत्प्राप्याऽङ्ग न म्रियते तत्प्राप्याऽङ्ग न शोच्यते ।
तत्प्राप्य जीव्यते नाऽङ्ग तत्प्राप्याऽङ्ग न रुध्यते ॥ ३ ॥
अपारपरमाकाशरूपिणः परमात्मनः ।
सत्तासामान्यरूपं चेन्मनागपि विभाव्यते ॥ ४ ॥
तत्त्वं निमेषमात्रेण जन्तुर्मुक्तमना मुनिः ।
कुर्वन् संसारकर्माणि न भूयः परितप्यते ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं यत्र क्षयं गतम् ।
सत्तासामान्यमाभानं मनस्वी स किमुच्यते ॥ ६ ॥

वसिष्ठ उवाच

यद्ब्रह्म सर्वदेहस्थं भुङ्क्ते पिबति वल्गति ।
आदत्ते विनिहन्त्यन्तः संवित्संवेद्यवर्जितम् ॥ ७ ॥
तत् सर्वगतमाद्यन्तरहितं स्थितमर्जितम् ।
सत्तासामान्यमखिलं वस्तुतत्त्वमिहोच्यते ॥ ८ ॥

हे प्रिय श्रीराम ! सम्पूर्ण आनन्दों के उत्कर्ष की परमावधिरूप ब्रह्म को तत्त्वज्ञान से प्राप्त कर यह जीव न तो जीवधर्म क्षुधा आदि से मरता है और न उसे प्राप्त कर शोक करता है। उसे प्राप्त कर तृष्णा आदि से न पीडित होता है और न भित्ति आदि से अवरुद्ध होता है ॥ ३ ॥

असीम परमाकाशस्वरूप उस परमात्मा के सर्वत्र अनुस्यूत सत्तासामान्यात्मक परमार्थ तत्त्व की सांसारिक कर्म करता हुआ साधारण जन्तुशरीर क्षणभर भी स्वल्प भावना करता है ॥ ४ ॥

उक्त भावना से मुक्तमन होकर साधारण जन भी मुनि बन जाता है; और संसार में सन्तप्त नहीं होता है, फिर आप जैसे उत्तम शरीर-वालों के लिए तो कहना ही क्या ? ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्तरूप सर्वद्वैत के नष्ट होने पर ऐसा विशेष रहित पूर्ण चिन्मात्र ही सत्तासामान्यरूप है, क्या यह आप कहते हैं या मन आदि सब विशेषों से युक्त सर्वात्मा ईश्वर सत्तासामान्यरूप है, यह कहते हैं ? ॥ ६ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—जो ब्रह्म सब देहों में स्थित होकर खान, पान और गमन करता है, जो जाग्रत् स्वप्न और सृष्टि काल में वस्तुओं का ग्रहण करता है, जो सुषुप्ति और प्रलय काल में उनका नाश कर देता है तथा जो तुरीयावस्था में संवित् और संवेद्य से वर्जित रहता है; सर्वव्यापी, आदि और अन्त से शून्य, और सर्वदा विद्यमान रहता हुआ भी, कण्ठस्थित विस्मृत हार की नाईं, बोध से प्राप्त हुआ अखिल वस्तुओं का सारभूत वही यहाँ पर सत्तासामान्यशब्द से कहा गया है ॥ ७,८ ॥

तत्स्थितं खतया व्योम्नि शब्दे शब्दतया स्थितम् ।
स्पर्शे स्थितं स्पर्शतया त्वचि तत् त्वक्तया स्थितम् ॥९॥
रसे लीनं रसतया रसनायां तु तत्तया ।
रूपे रूपतया दृष्टं नेत्रे लीनं च दृक्तया ॥ १० ॥
घ्राणे घ्राणतया दृष्टं गन्धे गन्धतयोदितम् ।
पुष्टं कायतया काये भूमावपि च भूतया ॥ ११ ॥
पयस्तया च पयसि वायौ वायुतया स्थितम् ।
तेजस्तया तेजसि च बुद्धौ बुद्धितया गतम् ॥ १२ ॥
मनस्तया मनस्यन्तरहङ्कृत्याऽप्यहङ्कृतौ ।
रूढं संविदि संवित्त्या चित्ते चित्ततयोत्थितम् ॥ १३ ॥
वृक्षे वृक्षतया लग्नं पटे पटतयोदितम् ।
घटे घटतया रूढं वटे वटतयोत्थितम् ॥ १४ ॥
स्थावरे स्थावरत्वेन जङ्गमत्वेन जङ्गमे ।
पाषाणत्वेन पाषाणे चेतनत्वेन चेतने ॥ १५ ॥

वह आत्मा ही आकाश में आकाशरूप से स्थित है, शब्द में शब्दरूप से स्थित है, स्पर्श में स्पर्शरूप से स्थित है और त्वचा में त्वग्रूप से स्थित है ॥ ९ ॥

रस में रसरूप से लीन है और रसनेन्द्रिय में रसनेन्द्रियरूप से लीन है। रूप में रूपस्वरूप से दृष्ट है और नेत्र में नेत्ररूप से लीन है ॥ १० ॥

घ्राणेन्द्रिय में घ्राणरूप से दृष्ट है और गन्ध में गन्ध रूप से उदित है। शरीर में शरीररूप से पुष्ट है और पृथिवी में पृथिवीरूप से पुष्ट है ॥ ११ ॥

दूध में दूधरूप से और वायु में वायुरूप से स्थित है। तेज में तेजरूप से और बुद्धि में बुद्धिरूप से स्थित है ॥ १२ ॥

मन में मनरूप से और अहङ्कार में स्थित है अहङ्कार रूप से, बुद्धि में बुद्धिरूप से आरूढ है और चित्त में चित्तरूप से उठा है ॥ १३ ॥

वृक्ष में वृक्षरूप से लगा है और पट में पटरूप से उदित है। घट में घटरूप से स्थित है और वट में वटरूप से उत्थित है ॥ १४ ॥

स्थावर में स्थावररूप से और जङ्गम में जङ्गमरूप से स्थित है। पाषाण में पाषाणरूप से और चार प्रकार के प्राणियों में चेतनरूप से स्थित है ॥ १५ ॥

अमरेष्वमरत्वेन नरत्वेन नरेषु च ।
तिर्यक्त्वेन च तिर्यक्षु क्रिमित्वेन क्रिमिस्थितौ ॥ १६ ॥
कालक्रमे कालतया ऋतावृतुतया तथा ।
त्रुटिक्षणनिमेषादौ संस्थितस्तत्तया विभुः ॥ १७ ॥
शुक्ले शुक्लतया जातं कृष्णे कृष्णतया स्थितम् ।
क्रियासु स्पन्दरूपेण नियतौ नियमेन च ॥ १८ ॥
संस्थितः संस्थितौ स्थित्या नाशे नाशतया स्थितः ।
उत्पत्तिरूपेणोत्पत्तावास्थितः परमेश्वरः ॥ १९ ॥
बाल्येन बाल्ये विश्रान्तो यौवने यौवनेन च ।
जरसा च जरारूपे मरणे मरणेन च ॥ २० ॥
इति सर्वपदार्थानामभिन्नः परमेश्वरः ।
कल्लोलसीकरोर्मीणामब्धाविव पयोभरः ॥ २१ ॥
नानातैषां स्वसत्यैव सत्येनाऽनेन चैव हि ।
कल्पिता चित्स्वभावेन वेतालः शिशुना यथा ॥ २२ ॥
सर्वत्र संस्थितिमता विगतामयेन
व्याप्तं मयेदमखिलं विविधैर्विलासैः ।
चिद्रूपिणैव कलना कलिताऽऽत्मनेति
मत्वोपशान्तमतिरास्व सुखं महात्मन् ! ॥ २३ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमितो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
विभूतियोगोपदेशो नाम षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

॥ षोडशो दिवसः ॥

देवताओं में देवता रूप मनुष्यों में मनुष्य रूप से स्थित है। तिर्यक् योनियों में तिर्यग् रूप से और क्रिमि-योनियों में क्रिमि रूप से स्थित है ॥ १६ ॥

काल के क्रम में अर्थात् युग, संवत्सर आदि भेदों में काल रूप से और उनके अवान्तर भेद स्वरूप ऋतुओं में ऋतु रूप से स्थित है। त्रुटि, क्षण, निमेष आदि अत्यन्त सूक्ष्मभूत काल भेदों में भी वह व्यापक ब्रह्म ही उन रूप से स्थित है ॥ १७ ॥

शुक्ल वस्तु में शुक्ल रूप से और कृष्ण वस्तु में कृष्ण-रूप से वह क्रियाओं में क्रिया रूप से और दैव में दैव रूप से स्थित है ॥ १८ ॥

वह परमेश्वर स्थिति में स्थिति रूप से संहार में संहार रूप से स्थित है तथा उत्पत्ति में उत्पत्ति रूप से स्थित है ॥ १९ ॥

बाल रूप में बाल्य रूप से, युवा में यौवन रूप से, वृद्ध रूप में वार्धक्य रूप से एवं मृत में मरण रूप से स्थित है ॥ २० ॥

जैसे समुद्र में स्थित कल्लोल, जलकण एवं ऊर्मियाँ जल सामान्य रूप से अभिन्न हैं वैसे ही सब पदार्थों में तत्-तत् रूप से स्थित वह परमेश्वर सत्ता सामान्य रूप से उस तरह उनसे अभिन्न है ॥ २१ ॥

जैसे बालक द्वारा कल्पित वेताल असत्य है वैसे ही सत्य स्वरूप चित्स्वभाव इस परमात्मा द्वारा कल्पित होने से इनकी अनेकरूपता असत्य ही है ॥ २२ ॥

हे महात्मन् ! सर्वत्र स्थिति रखने वाले विकाररहित एवं चैतन्य स्वरूप मैंने स्वयं ही इस जगद्रूप की कल्पना की है। यह सम्पूर्ण विश्व मेरे ही विविध विलासों से व्याप्त है। अतः 'मेरी आत्मा की ही विभूति है, मुझे छोड़ कर और कुछ नहीं है' इस प्रकार तत्त्वज्ञान प्राप्त कर शान्त चित्त होते हुए आप सुखपूर्वक स्थित रहें ॥ २३ ॥

श्रीवाल्मीकि जी ने कहा—मुनि वसिष्ठ जी महाराज के ऐसा कहने पर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल की ओर पधार गये। सभा भी सायंकालीन विधि के लिए मुनिजी को नमस्कार कर उठ गई और रात्रि बीतने पर सूर्य-किरणों के साथ पुनः दूसरे दिन आ गई ॥ २४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
विभूतियोगोपदेश नामक कुसुमलता का साठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६० ॥

॥ सोलहवाँ दिन ॥

६१

श्रीराम उवाच

यथाऽऽस्माकं मुने! स्वप्नपुरपत्तनमण्डलम् ।
तथैव पद्मजादीनां यदि देहपरिग्रहः ॥ १ ॥
तथैवेदं च सञ्जातं यदि सर्वमसन्मयम् ।
तदस्माकं दृढतरः प्रत्ययः कथमुत्थितः ॥ २ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अस्मत्सर्गवदाभाति पूर्वसर्गः प्रजापतेः ।
आजीवप्रतिभासात्मा विद्यते न तु वास्तवः ॥ ३ ॥
सर्वगत्वाच्चितेः सर्वं जीवः सर्वत्र संसृतिः ।
सा चाऽसम्यग्दर्शनोत्था सम्यग्दर्शननाशिनी ॥ ४ ॥

स्वप्नाभः प्रतिभासोऽस्य य एष समुपस्थितः ।
अहन्ताप्रत्ययैकात्मा स एवाऽतिदृढं स्थितः ॥ ५ ॥

स्वप्ने क्षिप्रविनाशित्वं यथा पुंसा न दृश्यते ।
सर्वस्वप्ने तथैवैतद्ब्रह्मणामिह लक्ष्यते ॥ ६ ॥

स्वप्नोऽयं पुरुषस्याऽस्य प्रतिभासस्य यो भवेत् ।
रामाऽस्मदादिसर्वात्मा भवेत्तादृश एव च ॥ ७ ॥

यत्स्वप्नपुरुषाज्जातं तत्स्वप्नपुरुषात्मकम् ।
भवतीत्यनुभूतं हि तद्बीजं तत्फलं यथा ॥ ८ ॥

६१

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुने! जैसे हम लोगों की दृष्टि में स्वप्नकालीन नगर, राजधानी एवं देश भ्रान्ति रूप हैं; वैसे ही यदि हिरण्यगर्भ आदि की दृष्टि में देह धारण और उसी प्रकार उत्पन्न हुआ यह समस्त जगत् असद्रूप भ्रान्ति ही है, तो हम लोगों को ही इस प्रपञ्च में दृढ़तर सत्यत्व बुद्धि क्यों होती है और उन्हें दृढ़तर सत्यत्व बुद्धि क्यों नहीं होती है? आशय यह है कि दृश्यमान सब जगत् यदि परमात्मा की स्वप्न सदृश, भ्रान्ति कल्पित एक विभूति ही है तो ब्रह्मा आदि की दृष्टि में वह स्वप्न के सदृश भ्रान्ति ही अवभासित होती है और हम लोगों की दृष्टि में तो वह स्वप्न के सदृश भ्रान्ति नहीं भासती, किन्तु दृढतर सत्य रूप भासती है। भगवन्, एक ही पदार्थ का इस प्रकार विषमता से मान होने में क्या कारण है? यदि इस पर कहें कि दीर्घ काल से चले आने के कारण हम लोगों को सत्य रूप और दृढतर अनुभूत होती है, तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो ब्रह्मा आदि को, जिनकी आयु दो परार्ध वर्ष की है, हम लोगों की अपेक्षा संसार की चिरकाल तक अनुवृत्ति होने से उसमें (जगत् में) सत्यता एवं दृढता की और भी अधिकता होने लगेगी ॥ १, २ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जब ब्रह्मदेव उपासना कर रहे तब उन्हें तत्त्वज्ञान न रहने से उनकी उस समय की प्रथम सृष्टि, आज हम लोगों के द्वारा अनुभूयमान सृष्टि के समान, चारों ओर से चार प्रकार के भूत-समूह जीवों के प्रतिभास स्वरूप सत्य ही भासमान थी; किन्तु आज तत्त्वज्ञान से उसके बाधित हो जाने के कारण वह अपनी कुछ भी सत्यता (सद्रूपता) नहीं रखती है ॥ ३ ॥

अज्ञान के रहने तक चिति के सर्वव्यापी होने से जीव भी सर्वरूप होता है और सर्वत्र संसार भी सत्य के समान प्रतीत होता है; क्योंकि वह संसृति तत्त्वज्ञान के विरोधी अज्ञान से उत्पन्न होती है और तत्त्वज्ञान से नष्ट होती है ॥ ४ ॥

इसलिए हिरण्यगर्भ को तत्त्वज्ञान से बाधित, स्वप्न तुल्य सुन्दर प्रपञ्च का प्रतिभास उत्पन्न होता है; वही अज्ञनी हम लोगों को अहन्ता-बुद्धि से अत्यन्त दृढ एकरूप होकर स्थित है ॥ ५ ॥

जैसे सो रहे पुरुष को स्वाप्निक भागों के जनक कर्मों से प्रतिरुद्ध होने के कारण स्वप्न में विद्यमान भी शीघ्र विनाशिता नहीं दीख पड़ती, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ के समष्टि स्वप्नरूप इस जगत् में पद्मजों को विद्यमान शीघ्र विनाशिता का बोध होने में भोगजनक अदृष्ट ही प्रतिबन्धक दिखाई पड़ता है ॥ ६ ॥

इस शयनस्थ पुरुष के लिए अनुभूयमान यह प्रसिद्ध हम, तुम आदि के समान समस्त जीव जगत्-स्वरूप स्वप्न के समान ही अनादि अत्यन्त प्रवाहरूप है, वैसा ही प्रजापति का भी स्वप्न है ॥ ७ ॥

जो स्वाप्निक पुरुष से उत्पन्न वह वैसे ही स्वप्न पुरुष रूप है, जैसे आम के बीज से उत्पन्न आम का फल आम्र-बीजरूप है—यह बात भलीभाँति अनुभूत है। अर्थात् आम्रबीज से उत्पन्न आम्र-वृक्ष का फल आम्रबीजरूप ही है, कोई दूसरा नहीं है। स्वप्न पुरुष से उत्पन्न जीव-जगद्रूप संसार भी स्वप्न पुरुषरूप ही है, दूसरा नहीं है ॥ ८ ॥

असत्यमेव तद्विद्धि यदसत्येन साध्यते ।
असत्येऽर्थे समर्थेऽपि न युक्तं भावनं घनम् ॥ ९ ॥
येन तेन परित्याज्यमसद्भावनभावनम् ।
दृढप्रत्ययितं स्वप्नपुरुषाद्यत् समुत्थितम् ॥ १० ॥
भवत्यात्मनि सर्गादि दृढप्रत्ययमेव तत् ।
निमेषमात्रः पौरोऽयं सर्गस्वप्नः पुरः स्थितः ।
तस्मिन्निमेष एवाऽस्मिन् कल्पता परिकल्प्यते ॥ ११ ॥
सुदीर्घस्वप्नखण्डोऽयं यथोदेति प्रजापतेः ।
सर्गाख्यः सर्वभूतानां प्रत्येकमुदितस्तथा ॥ १२ ॥
चित्तत्त्वस्यैव भावेन सर्गवर्गपरम्परा ।
स्फुरत्यम्भो द्रवत्वेन यथाऽऽवर्तविवर्तनैः ॥ १३ ॥
यदा स्वप्नात्मिकैवेयं सर्गलक्ष्मीर्न वास्तवी ।

श्रीरामजी, असत्यभूत मनःकल्पित स्वप्नपुरुष से उत्पन्न वह भी असत्यरूप ही उत्पन्न होता है। इसलिए जन्मान्तर, स्वर्ग, नरक आदि अर्थ क्रियासमर्थ भी असत्यभूत विषयों में दृढ सत्यता की भावना करना ठीक नहीं हैं, यह जानें ॥ ९ ॥

वह भावना ठीक नहीं है, इसलिए स्वप्नपुरुष से उत्पन्न असत् पदार्थों की भावना दृढ सत्य रूप से प्रतीत होने पर भी उसे छोड़ ही देना चाहिए ॥ १० ॥

हम लोगों को भी स्वप्न में जिस सृष्टि का भान होता है, उसमें उस समय दृढ रूपता का ही भान होता है अर्थात् उस समय उसमें मिथ्यात्व बुद्धि नहीं होती, एतावता उसकी सत्यता नहीं मानी जाती; वस्तुतः वर्षाकालीन जल-प्रवाह की तरह निमेष मात्र के लिए ही प्रजापति का यह सृष्टि स्वप्न सामने स्थित है और निमेष मात्र स्वरूप ही इस स्वप्न में कल्परूपता की केवल कल्पना की गई है ॥ ११ ॥

सब प्राणियों में प्रत्येक को दीर्घ स्वप्न का वैसे ही प्रतिभास होता है जैसे प्रजापति को सृष्टि नामक दीर्घतम स्वप्न का प्रतिभास होता है ॥ १२ ॥

उसी प्रकार चिति तत्त्व के अस्तित्व से यह सृष्टि की परम्परा वैसे ही प्रस्फुरित होती है जैसे द्रवत्व के कारण आवर्त रूप परिवर्तनों से जल प्रस्फुरित होता है ॥ १३ ॥

जब यह सृष्टि-शोभा स्वप्न रूप ही है, वस्तुतः सत्य रूप नहीं है; तब सर्गादि के साथ वह प्राजापत्य पद भी प्रलय में ही चला गया अर्थात् अत्यन्त असत् रूप ही हो गया। "न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता ॥"

तदा संभवतीदं वै तत्पदं प्रलयं गतम् ॥ १४ ॥
यद्यथा यादृशं दृष्टं तत्तादृग्विद्यते तथा ।
न हि पर्यनुयोक्तव्याः स्वप्नविभ्रमरीतयः ॥ १५ ॥
न तदस्ति जगत्यस्मिन् यन्न संभवति भ्रमे ।
विचित्रास्त्रिषु लोकेषु दृश्यन्ते वस्तुसृष्टयः ॥ १६ ॥
जलमध्ये ज्वलत्यग्निर्यथाऽब्धौ वडवानलः ।
नगराण्यम्बरे सन्ति यथा वैमानिकाश्रयाः ॥ १७ ॥
शिलास्वब्जानि जायन्ते हेमाद्राविव पादपाः ।
एकान्ते सर्वपुण्यानि सन्ति कल्पतरौ यथा ॥ १८ ॥
शिलाः फलन्ति फलिवद्यथा रत्नगुलुच्छकाः ।
शिलान्तः प्राणिनः सन्ति भेका इव शिलान्तरे ॥ १९ ॥
दृषदो वारि निर्याति चन्द्रकान्तोपलादिव ।
निमेषेण घटो याति पटतां स्वापसंविदि ॥ २० ॥

(न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्ति ही है—यही परमार्थता है ॥१४॥

जो वस्तु जिस प्रकार से जैसी इस संसार में देखी गई है, वह उस प्रकार से वैसी ही विद्यमान है। अतः स्वप्न-भ्रम की रीतियों में किसी भी प्रकार की शङ्का कुशङ्का न करनी चाहिए ॥ १५ ॥

इस जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसका भ्रम में संभव न हो। इस त्रिभुवन में चित्र-विचित्र आश्चर्यजनक वस्तु की सृष्टियाँ दीख पड़ती हैं क्योंकि अघटित घटन सम्पादन में अविद्या समर्थ है ॥ १६ ॥

जल के बीच आग जलती है, जैसे—समुद्र में वाडवानल और आकाश में अनेक नगर हैं, जैसे—देवताओं के स्वर्गादि निवास-स्थान जगत् में चित्र-विचित्र ऐसे अद्भुत आश्चर्य दिखाई पड़ते हैं ॥ १७ ॥

जैसे शिलाओं में कमल उत्पन्न होते हैं, हेमाद्रि-पर्वत में (मृत्तिका रहित प्रदेश में) वृक्ष उत्पन्न होते हैं। कल्पतरु में एक देश में सम्पूर्ण पुण्यों के फलस्वरूप अभिलषित पदार्थ रहते हैं। 'पण्यानि' इस पाठ के रहने पर 'पणन' अर्थात् व्यवहार और उसके योग्य वस्तुएँ यह अर्थ है। यदि 'पुष्पाणि' यह पाठ है, तो उसका अर्थ स्पष्ट है। 'यथा' शब्द उदाहरणार्थक है ॥ १८ ॥

जैसे वृक्षों की तरह शिलाओं में चिन्तामणियों के गुच्छे फलते हैं, शिलाओं के भी भीतर प्राणी रहते हैं, जैसे—शिला के मध्य में मेढक ॥ १९ ॥

पत्थर से पानी बहता है, जैसे—चन्द्रकान्त मणि के पत्थर से। और स्वप्न में क्षण भर में ही घट पट रूपता को प्राप्त करता है ॥ २० ॥

असत्यमपि बुध्येत स्वप्ने स्वमरणं यथा ।
आकस्मिकं जलं व्योम्नि ध्रियते भूतगं यथा ॥ २१ ॥
वितानमिव खे वारि तिष्ठति स्वर्णदी यथा ।
उड्डीयन्ते शिलाः स्थूलाः पक्षवन्तो यथाऽद्रयः ॥ २२ ॥
शिलान्तः प्राप्यते सर्वं ननु चिन्तामणेरिव ।
चिन्तितानि फलन्त्याशु देवोद्यानान्तरेष्विव ॥ २३ ॥
तान्येव न फलन्त्याशु मोक्षादीनां च राघव ! ।
अचेतनोऽपि कुरुते कर्म यन्त्रपुमानिव ॥ २४ ॥
एवमाद्यास्तथाऽन्ये च विचित्रारम्भविभ्रमाः ।
दृष्टाः शम्बरगन्धर्वविलासैरप्यसंभवाः ॥ २५ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यरत्नसञ्चरणीयजाः ।
अर्था गन्धर्वजनिता अनन्ताः सत्यसंभवाः ॥ २६ ॥
असंभवः संभवोऽयमपि भाव्युपपद्यते ।
संभवोऽसंभवः सम्यक् सिद्धये स्वप्नविभ्रमः ॥ २७ ॥
न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा ।
सर्वं सर्वेण सर्वत्र स्वप्ने सर्गाभिधानके ॥ २८ ॥
स्वप्ने निमग्नधीर्जन्तुः पश्यति स्थिरतां यथा ।
सर्गस्वप्ने मग्नबुद्धिः पश्यति स्थिरतां तथा ॥ २९ ॥
भ्रमाद् भ्रमान्तरं गच्छन्स्वप्नात् स्वप्नान्तरं व्रजन् ।
अतिस्थिरप्रत्ययभागिह जीवो विमुह्यति ॥ ३० ॥
श्वभ्रान्तरं श्वभ्रनिपातदोषात्
संप्राप्नुवन् मुग्धमृगः प्रयाति ।
मोहं यथा पातमयैकरूपं
जीवस्तथा संसृतिपातमूढः ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
जगत्स्वप्नकथनं नाम एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

अत्यन्त असत् वस्तुओं का भी ज्ञान होता है, जैसे—स्वप्न में अपने मरण का और पृथ्वी आदि भूतों में स्थित जल अकस्मात् आकाश में भी धारण किया जाता है ॥ २१ ॥

चँदोआ—वितान के समान आकाश में भी जल स्थित रहता है, जैसे मन्दाकिन । स्थूल शिलाएँ भी उड़ती हैं, जैसे—पंख वाले पर्वत ॥ २२ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि शिला के भीतर सब कुछ पाया जा सकता है, जैसे—चिन्तामणि में । इस संसार के भीतर सभी चिन्तित विषय शीघ्र वैसे ही फलते हैं, जैसे—नन्दन-वन के भीतर ॥ २३ ॥

हे राघव ! 'मोक्ष उत्पन्न हो', 'ब्रह्म नष्ट हो', 'प्रपञ्च सत्य हो', 'भोग शाश्वत हो जायँ', 'मर्यादा भङ्ग हो', वेद अप्रमाण हो जायँ' इत्यादि मोक्ष आदि के विषय में सत्य सङ्कल्प लोगों के शीघ्र चिन्तित भी मनोरथ नहीं फलते अर्थात् उत्पन्न नहीं होते है । अचेतन भी कर्म करता है, जैसे—यन्त्र-पुरुष ॥ २४ ॥

पूर्व में उक्त और दूसरे भी असंभावित विचित्र कार्यों के विभ्रम दैत्य विशेष अम्बर और गन्धर्वों की माया के विलासों से देखे गये हैं ॥ २५ ॥

जो देश और काल में मन्त्र प्रयोग आदि क्रियाओं से औषधादि द्रव्यों से मणियों से तथा पिशाच, आदि के सञ्चारों से उत्पन्न हैं, वे विचित्र कार्यों के विभ्रम भी सत्य पदार्थों की तरह अर्थक्रियाकारी अनन्त एवं गन्धर्व नगर के सदृश देखे गये हैं । यहाँ (दूरत्वादि देश में चन्द्रमा का प्रादेशिकत्व आदि और काल में औत्पातिक नभःकबन्ध आदि विभ्रम का उदाहरण है) ॥ २६ ॥

इस समय असंभव भी यह ब्रह्माण्ड-नाश आदि भविष्य में संभव हो जाता है और इस समय संभव भी सृष्टि रूप स्वप्न विभ्रम प्रलय एवं तत्त्वबोध में असंभव स्वरूप विश्रान्ति के लिए समर्थ हो जाती है ॥ २७ ॥

ब्रह्म रूप से देखने पर वैसा कुछ भी नहीं है, जो सत्य न हो; और जगद्रूप से देखने पर तो वैसा कुछ भी नहीं है, जो असत्य ही न हो । सृष्टि नामक हिरण्यगर्भ के इस स्वप्न में सर्वत्र सबसे सब कुछ होता ही है ॥२८॥

सृष्टि रूप स्वप्न में भी निमग्न बुद्धि विषयों की स्थिरता वैसे ही देखता है जैसे स्वप्न में निमग्न बुद्धि प्राणी वस्तुओं की स्थिरता ही देखता है ॥ २९ ॥

संसार में अत्यन्त स्थिर-बुद्धि रखने वाला यह जीव एक भ्रम से दूसरे भ्रम में और एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में मोह को प्राप्त करता है ॥ ३० ॥

संसार में गिराने वाले राग, द्वेष आदि से मूढ यह जीव जिसका गिराना ही एक स्वरूप है, मृग की तरह बीच में से निकल सकना संभव है ही नहीं ऐसे मोह में अर्थात् देहादि रूप गर्त में प्रवेश-भ्रम को वैसे ही प्राप्त होता है जैसे मुग्धमृग गड्ढे में गिराने वाले अपने मोह रूप दोष से एक गड्ढे में गिर कर पुनः दूसरे गड्ढे में गिरता है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
जगत्स्वप्नकथन नामक कुसुमलता का एकसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६१ ॥

६२

वसिष्ठ उवाच

अत्र राघव ! वक्ष्येऽहमितिहासमिमं शृणु ।
यद्वृत्तं कस्यचिद्भिक्षोः किञ्चिन्मननशालिनः ॥ १ ॥
आसीत् कश्चिन्महाभिक्षुः समाध्यभ्यासतत्परः ।
नित्यं स्वव्यवहारेण क्षपयत्यखिलं दिनम् ॥ २ ॥
समाध्यभ्यासशुद्धं तत् तस्य चित्तं क्षणेन यत् ।
चिन्तयत्याशु तद्भावं गच्छत्यम्बिव वीचिताम् ॥ ३ ॥
कदाचित् स समाधानविरतोऽतिष्ठदेकधीः ।
किञ्चित् संचिन्तयामास स्वासनस्थः क्रियाक्रमम् ॥ ४ ॥
तस्य चिन्तयतो जाता प्रतिभेयमिति स्वतः ।
भावयाम्याशु लीलार्थं सामान्यजनवृत्तिताम् ॥ ५ ॥
इति संचिन्त्य चेतोऽस्य स्थितं किञ्चिन्नरान्तरम् ।
स्पन्दसंस्थानसंत्यागमात्रेणाऽऽवर्तनेऽम्बिव ॥ ६ ॥
तेन चित्तनरेणाऽथ कृतं नामाऽऽत्मवाञ्छया ।
जीवटोऽस्मीति सहसा काकतालीयवत्स्थितम् ॥ ७ ॥
जीवटो विजहाराऽथ स स्वप्नपुरुषश्चिरम् ।
स्वप्ननिर्माणनगरे कस्मिश्चित् पुरवीथिषु ॥ ८ ॥
तत्र पानं पपौ मत्तो भृङ्गः पद्मरसं यथा ।
लीलयैव दृढं हृष्टः सुष्वाप घननिद्रया ॥ ९ ॥
स्वप्ने ददर्श विप्रत्वं पाठानुष्ठानतुष्टिमत् ।
प्रतिभामात्रसम्पन्नं चित्ते देशान्तराप्तिवत् ॥ १० ॥
कदाचित् स द्विजश्रेष्ठस्त्वहर्व्यापारनिष्ठया ।
सुष्वापाऽन्तर्व्यवहृतिर्बीजतायामिव द्रुमः ॥ ११ ॥
द्विजोऽपश्यत् स्वयं स्वप्ने सामन्तत्वमथाऽऽत्मनि ।
स सामन्तः कृताहारः कदाचिद्घननिद्रया ॥ १२ ॥

६२

श्री वसिष्ठ जी ने कहा—हे राघव ! 'एक भ्रम से दूसरे भ्रम में जा रहे' इस कहे गये अर्थ में दृष्टान्त भूत किसी एक साधारण मननशील भिक्षुक का वृत्तान्त स्वरूप एक इतिहास कहता हूँ, आप उसे सुनें ॥ १ ॥

समाधि के अभ्यास में तत्पर शम, दम, वैराग्य आदि से सम्पन्न कोई एक परिव्राजक था । वह निरन्तर अपने आश्रमोचित श्रवण, मनन आदि व्यवहारों से पूरा दिन बिताता था ॥ २ ॥

ध्येयाकार की दृढ़ता से चित्त को पूर्व रूप की शून्यता में परिणत सम्पन्न रूप स्वरूप समाधि के अभ्यास से पहले की वासनाओं का त्याग कर देने में समर्थ उस परिव्राजक का वह चित्त, क्षण में जिसका चिन्तन करता था, शीघ्र ही वह उस भाव को वैसे प्राप्त कर लेता था; जैसे जल तरङ्ग भाव को प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

किसी समय समाधि से विरत होकर वह उठा और एकाग्रचित्त होकर अपने ही आसन पर स्थित होकर वह किसी एक क्रियाक्रम का विचार करने लगा ॥ ४ ॥

इस प्रकार विचार कर रहे उस परिव्राजक को स्वतः ही यह सङ्कल्प हुआ कि मैं तत्काल ही लीलावश शास्त्र-संस्कारों से हीन पामरजनों के चेष्टाओं की भावना करूँ ॥ ५ ॥

इस प्रकार विचार करने के बाद उस परिव्राजक का चित्त किसी एक यति धर्म से अनियन्त्रित अन्य पामर पुरुष के रूप में वैसे ही परिणत हो गया जैसे विलोडन करने पर जल अपने पूर्व प्रवाह तथा समस्थिति को छोड़कर नाभि के आकार के सदृश 'भँवर' नामक दूसरे रूप में परिणत होकर स्थित रहता है ॥ ६ ॥

उसके बाद उस चित्त पुरुष ने स्वेच्छा से अपने नाम की 'मैं जीवट हूँ' इस प्रकार कल्पना की और सहसा काकतालीयन्याय से उसी रूप से स्थित हो गया ॥ ७ ॥

अनन्तर स्वप्न पुरुष वह जीवट (भिक्षु) स्वप्न रचित किसी नगर में नगर की गलियों में चिरकाल तक विहार करने लगा ॥ ८ ॥

वहाँ पर निवास कर रहा वह जीवट एक दिन लीलावश वैसा मद्यपान कर ऐसा मत्त हुआ, जैसा भँवरा कमल-मधु का पान कर मत्त होता है । उस मद्य-पान से हृष्ट वह गाढ निद्रा में सो गया ॥ ९ ॥

उस जीवट ने स्वप्न में एकमात्र कल्पना से जनित, वेदाध्ययन तथा सत्कर्मानुष्ठान से सन्तुष्ट ब्राह्मणरूप में अपने को वैसे ही देखा जैसे कल्पनामात्र से चित्त में देशान्तर की प्राप्ति देखी जाती है ॥ १० ॥

किसी दिन विविध दैनिक व्यवहारों में लगे रहने के कारण थका हुआ द्विजश्रेष्ठ वह जीवट, बीज में संस्कार-रूप से स्थित वृक्ष की तरह चित्त में संस्काररूप से स्थित सभी व्यवहारों से युक्त होकर सो गया ॥ ११ ॥

इसके बाद गाढ़ निद्रा को प्राप्त स्वयं उस द्विजराज ने स्वप्न में अपने को मेघमाला-सी घनी हाथी, घोड़े आदि सेनाओं से युक्त माण्डलिक राजा की भाँति देखा ॥ १२ ॥

अपश्यद्राजतां स्वप्ने ककुब्वलयपालिनीम् ।
लालितां भोगपूगेन पुष्पौघेण लतामिव ॥ १३ ॥
स कदाचिन्नृपः स्वस्थः सुष्वापाऽस्तमितेहितः ।
पुरोभाविनिजाचारः स्वकार्यमिव कारणे ॥ १४ ॥
अपश्यत् स्वात्मनि स्वप्ने सुरस्त्रीत्वमनिन्दितम् ।
वृक्षकोशरसोल्लासो मञ्जरीत्वमिवोदितम् ॥ १५ ॥
सा सुरस्त्री रतिश्रान्ता निद्रां गाढामुपागता ।
मृगीत्वमात्मनि स्वैरमावर्तत्वमिवाऽम्बुता ॥ १६ ॥
सा मृगी लोलनयना कदाचिन्निद्रया हृता ।
स्वप्ने ददर्श वल्लीत्वं स्वाभ्यासाद्दृढमात्मनि ॥ १७ ॥
तिर्यञ्चोऽपि प्रपश्यन्ति स्वप्ने चित्तस्वभावतः ।
दृष्टानां च श्रुतानां च चेतः स्मरणमक्षतम् ॥ १८ ॥
सा बभूव लता पुष्पफलपल्लवशालिनी ।
वनदेवीवनोद्यानलतागृहविलासिनी ॥ १९ ॥
बीजान्तःस्थाङ्कुराकाररूपयेहाऽधिरूढया ।
साऽपश्यदन्तःसंवित्त्या स्फुटं लवनमात्मनः ॥ २० ॥
कञ्चित्कालं सुषुप्तस्थं कलया जडतां घनाम् ।
अनुभूय ददर्शाऽथ स्वात्मानं भ्रमरं स्थिरम् ॥ २१ ॥
षट्पदो विजहाराऽथ वने वनलतास्वसौ ।
पद्मिनीषु च फुल्लासु तरुणीष्विव वल्लभः ॥ २२ ॥
प्रियाबिम्बाधरस्वादुरसवत् कौसुमं मधु ।
भ्रमन् कुसुमसङ्घासुमुक्तावल्लीविलासिषु ॥ २३ ॥
स बभूव सरोजिन्यां व्यसनी बिसनालगः ।
क्वचिदेव रतिं ह्येति चेतो जडमतेरपि ॥ २४ ॥
तामाजगाम नलिनीं परिलोलयितुं गजः ।
रम्यवस्तुक्षयायैव मूढानां जृम्भते पदम् ॥ २५ ॥

भोजन सम्पन्न उस माण्डलिक राजा ने किसी दिन गाढ निद्रा द्वारा स्वप्न में समस्त दिङ्मण्डल का पालन करने में समर्थ और पुष्प-समूह से लता की तरह भोग-समूह से युक्त अपनी आत्मा में वह चक्रवर्तिता देखी ॥ १३ ॥

कारण में अपने कार्य की तरह अर्थात् बीज में वृक्ष की तरह भविष्य में फल देने के लिए उन्मुख हुए स्त्री-विषयक आसक्तिरूप आचार से युक्त वह सम्राट् किसी दिन स्वस्थ एवं समस्त चेष्टाओं से रहित हो सो गया ॥ १४ ॥

अनन्तर स्वप्न में वह सम्राट् अपनी आत्मा में अनेक पुरुषों के द्वारा भोग करने पर भी अनिन्दित अप्सरारूपता को वैसे ही देखने लगा, जैसे वृक्ष के कोश में स्थित रस का उल्लास अपने में आविर्भूत मञ्जरीत्व को देखता है ॥ १५ ॥

सुरत से श्रान्त, गाढ निद्रा को प्राप्त उस देवाङ्गना ने (मृगीनयनों की सौन्दर्याभिलाषरूप वासना से) अपनी आत्मा में अभिलषित जैसे जल की साम्यावस्था आवर्त-रूपता देखती है वैसे ही मृगीरूपता देखी ॥ १६ ॥

अनन्तर किसी दिन चञ्चलनेत्रा एवं गाढ निद्रा से आक्रान्त उस मृगी ने अभ्यासवश दृढ स्वप्न अपने में वल्लीत्व को देखा ॥ १७ ॥

दृष्ट एवं श्रुत विषयों के संस्कारों का ग्राहक होने से चित्त दृष्ट एवं श्रुत विषयों का अखण्डित स्मरण किया करता है, इसलिए तिर्यग्योनि जीव भी चित्त के स्वभाव से संस्कारवश स्वप्न देखते हैं, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है ॥ १८ ॥

फूल, फल एवं पल्लवों में आसक्ति रखने के कारण वनदेवियों के वनोद्यान के मध्य में स्थित लतागृह की तरह विलासों से युक्त वह मृगी लता हो गई ॥ १९ ॥

उस लता ने कुछ समय तक साक्षिचैतन्य के द्वारा घनीभूत निद्रा का अनुभवकर, अनन्तर बीज के अन्दर स्थित भावी अङ्कुराकार बुद्धि के सदृश स्वरूप वाली बुद्धि से स्पष्ट अपना छेदन देखा तथा स्वप्न के प्रति उन्मुख उद्बुद्ध हुए भ्रमराकार संस्कार से समन्वित बुद्धि से सुषुप्ति में स्थित अपने को स्थिर भ्रमररूप में देखा ॥ २०, २१ ॥

यह भँवरा भी वन में स्थित वनलताओं और खिली हुई कमलिनियों में वैसे ही विहार करने लगा जैसे युवतियों में उनका प्रिय युवक विहार करता है ॥ २२ ॥

पुष्प-समूहरूप सुन्दर मोतियों की लताओं में विलास करने वाले भ्रमरों के मध्य में घूम रहे उस भँवरे ने रमणी के अधरबिम्ब के सदृश स्वादयुक्त रसवाले कुसुमों के मधु का मकरन्द का पान किया ॥ २३ ॥

वह भँवरा किसी एक कमलिनी में आसक्त हो कमल के नाल में संलग्न हो गया, क्योंकि जड़बुद्धि का चित्त कहीं पर अनुराग कर ही लेता है ॥ २४ ॥

एक समय की बात है उस कमलिनी को उखाड़ फेंकने के लिए कोई एक हाथी आया । ठीक ही है ! मूर्खों की इच्छाएँ रमणीय वस्तुओं का नाश करने में ही बढ़ती हैं ॥ २५ ॥

नलिनी मर्दिता सैव समं तेन स षट्पदः ।
गतो दन्तान्तरं व्रीहिरिव चूर्णत्वमाययौ ॥ २६ ॥
भ्रमरो वारणालोकाद्वारणालोकभावनात् ।
ददर्शाऽऽत्मानमामोदमत्तहस्तितयोदितम् ॥ २७ ॥
शुष्कसागरगम्भीरे गजः खाते पपात ह ।
तमोघनघने शून्ये संसार इव जीवकः ॥ २८ ॥
बभूव वल्लभो राज्ञो महापरबलान्तकः ।
सदा मदबलक्षीबो घूर्णोऽतीव निशाचरः ॥ २९ ॥
कदाचिदसिनिर्स्त्रिशच्छिन्नः सोऽस्तमुपाययौ ।
विवेकानिलनिर्लूनरूपो जीव इवाऽऽत्मनि ॥ ३० ॥
पश्यन् गजघटाकुम्भस्थलाग्रोच्चलितानलीन् ।

उस हाथी ने भ्रमर की आश्रय उस कमलिनी को मर्दित कर ही डाली । उस कमलिनी के नाल के साथ वह भँवर भी हाथी के दाँतों के बीच में बड़कर धान के पौधे के साथ कृष्ण (काले) धान की तरह चबाया जाने से चूर-चूर हो गया ॥ २६ ॥

उस भँवरे ने हाथी के दर्शन से जनित हस्त्याकार भावना से अपने को मद से उन्मत्त हाथी के रूप में तैयार देखा ॥ २७ ॥

जैसे अज्ञानान्धकार से शृङ्खलाबन्धन से भी कठोर शून्य संसार में परवशता आदि दुःखों का अनुभव कर रहा जीव गिरता है वैसे ही शुष्क सागर के समान हाथियों को फँसाने वाले पीलवानों से निर्मित गम्भीर एक गड्ढे में वह हाथी गिरा ॥ २८ ॥

शत्रुओं की महती सेना का नाश करने वाला और सर्वदा मद के बल से उन्मत्त [किसी राजा के द्वारा उस गड्ढे से निकलवा कर शिक्षित वह हाथी] राजा का अत्यन्त प्रीतिपात्र हुआ । किसी समय [उस राजा का किसी राजा से जब रात में ही युद्ध ठन गया तब] रात में निकलकर दीर्घ खड्गों एवं कृपाणों से उस प्रकार छिन्न-भिन्न होता हुआ मृत्यु को प्राप्त किया, जिस प्रकार आत्मा में जीव जीवोपाधि—देहाद्यभिमान वाला जीव विवेकरूप पवन से छिन्न-भिन्न हो जाता है ॥ २९, ३० ॥

हस्ति-समूहों के गण्डस्थलों के अग्रभागों से उड़ी हुई भ्रमर-पङ्क्तियों को देखता हुआ वह हाथी गण्ड स्थित भ्रमर की चिरसङ्गति के संस्कार से पुनः भँवरा हो गया ॥ ३१ ॥

गण्डस्थभ्रमराभ्यासाद्गजो भूयोऽप्यभूदलिः ॥ ३१ ॥
सेवमानो वनलतां पुनरायात् स पद्मिनीम् ।
दुस्त्यजो हि दुरभ्यासो वासनानामबोधिनः ॥ ३२ ॥
तत्र हस्तिखुराक्रान्तः पुनः संचूर्णतां ययौ ।
पार्श्वस्थहंससंवित्त्या बभूव कलहंसकः ॥ ३३ ॥
कलहंसश्चिरतरं योनिष्वन्यासु संल्लुठन् ।
कदाचिद्बहुभिर्हंसैः सङ्गतो विजहार ह ॥ ३४ ॥
ब्राह्महंसात्मिका संवित् सशब्दार्थवती मनाक् ।
तत्र पुष्टाऽस्य तस्याऽन्तः प्रागण्डरसबर्हिवत् ॥ ३५ ॥
स तच्चिन्तां चरन्मृतो दृढव्याधिघुणाहतः ।
तत्संवित्त्यनुसन्धानाज्जातः पद्मजसारसः ॥ ३६ ॥

अनन्तर वनलताओं का सेवन कर रहा वह भँवरा पुनः कमलिनी के पास आ पहुँचा, क्योंकि अज्ञानी जीवों की वासनाओं का दुरभ्यास सर्वथा दुस्त्याज्य ही होता है ॥ ३२ ॥

वहाँ भी पुनः हाथी के खुरों से विताडित वह भँवरा चूर-चूर हो गया और समीप में स्थित हंस के दर्शन से उद्बुद्ध हुई वासना से मधुरभाषी हंस हो गया ॥ ३३ ॥

बहुत समय तक अनेकविध योनियों में भटकता हुआ ("योनिष्वन्यासु संल्लुठन्" इससे 'हंसः पद्मवने भूत्वा विन्ध्यकच्छे च वारणः । हरिणो देहयन्त्रादौ ·········॥" इत्यादि वक्ष्यमाण रीति से बीच में इसके पचासी जन्म हुए हैं, ऐसा मालूम पड़ता है । तथा च, उक्त दो प्रकार के हंसजन्म ग्रहण कर लेने के बाद वह रुद्ररूप हुआ, यह— 'संसारशतपर्यन्ते रुद्रः सोऽहं व्यवस्थितः' ।) वह कलहंस किसी समय एकबार पुनः हंसजन्म प्राप्त कर बहुत से हंसों के साथ विहार करने लगा ॥ ३४ ॥

वहाँ हंसों की सभा में उसने ब्रह्मदेव के हंस के गुण आकार आदि का वर्णन सुना । उससे उसी जन्म में हंस रूप इस भिक्षु के अन्तःकरण में नाम और आकार से समन्वित 'मैं भी ब्रह्महंस हो जाऊँ' इस तरह की वासना जैसे पूर्व में वर्णित अण्डरस में स्थित मोर वैसे ही किञ्चित् घनीभूत हो गई ॥ ३५ ॥

उसीका चिन्तन कर रहा वह भिक्षु व्याधिरूप घुन से दृढ आहत होकर मर गया और उस ब्रह्महंस की नाम एवं आकार वासना के अनुसन्धान से ब्रह्मदेव का वाहन हंस बन गया ॥ ३६ ॥

तत्राऽतिसन्ततविवेकवतो विलासैः
सम्बोधितो विगतलौकिकवस्तुदृष्टिः ।
मुक्तः स्थितो ननु युगान्तविधौ विदेह-
मुक्तेन तेन किमु भावि विभाव्यमेतत् ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे जीवटोपाख्याने स्वप्नशतरुद्रीये भिक्षुसंसारोदाहरणं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

विपुल तथा सर्वदा अनुस्यूत विवेक वाले ब्रह्मदेव के अपने विवेक, वैराग्य, तत्त्वज्ञान आदि उपदेशों के विलासों से उसी जन्म में ब्रह्म-लोक में ही भली-भाँति बोधित, भोग्य पदार्थों में सारदृष्टि से शून्य वह हंस जीवन्मुक्त होकर स्थित हो गया। इस प्रकार जीवित रहते हुए ही जब उसने निरतिशय आनन्दरूप मोक्षसुख की प्राप्त कर ली। दो परार्धवर्ष के अन्त में ब्रह्मदेव के साथ ही विदेह मुक्त भी हो गया। तब उस हंस के लिए इससे अधिक साध्य ही क्या शेष रहा ? यह विद्वान् ही सोचें। (ज्ञान से इसी जन्म में समूल अनर्थों की निवृत्ति एवं निरतिशय आनन्द प्राप्ति के सम्पादित कर लेने और उससे अतिरिक्त पुरुषार्थ के शेष न रहने से वह कृतकृत्य हो गया) ।।३७।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में जीवटोपाख्यान में स्वप्नशतरुद्रीय में भिक्षुसंसारोदाहरण नामक कुसुमलता का बासठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६२ ॥